श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यप्रणीता

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

प्रत्यक्षखण्डान्तं 'बालप्रिया' हिन्दीव्याख्ययाऽग्रे च
'आलोक' संस्कृत-हिन्दीव्याख्यासमलङ्कृता

(सम्पूर्णम्)

व्याख्याकारौ

डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर

आचार्य लोकमणि दाहाल



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

© सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन के किसी भी अंश का किसी भी रूप में पुनर्मुद्रण या किसी भी विधि (जैसे-इलेक्ट्रोनिक, यांत्रिक, फोटो-प्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग या कोई अन्य विधि) से प्रयोग या किसी ऐसे यंत्र में भंडारण, जिससे इसे पुनः प्राप्त किया जा सकता हो, प्रकाशक की पूर्वलिखित अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता है।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (सम्पूर्णम्)

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन

पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

दूरभाष : +91 542 2335263

email : csp_naveen@yahoo.co.in

website : www.chaukhamba.co.in

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

संस्करण 2019 ई०

मूल्य : ₹ 500.00

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)

गली नं. 21-ए, अंसारी रोड

दरियागंज, नई दिल्ली 110002

दूरभाष : +91 11 23286537; 32996391

email : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

•

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)

पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

•

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर

पो. बा. नं. 2113, दिल्ली 110007

दो शब्द

करुणावरुणालय प्रातःस्मरणीय आराध्य गुरुचरणों की निर्व्याज करुणा के परिणामस्वरूप 'बालप्रिया' व्याख्या प्रिय छात्रों एवं पूज्य विद्वानों के कर-कमलों में प्राप्त हो रही है यह अत्यन्त हर्ष का विषय है।

श्रीविश्वनाथ न्यायपञ्चानन भट्टाचार्य निर्मित 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' की जटिल शैली से अध्येतागण विमनस्क होकर घबराते हैं, किन्तु घबरा कर उसके अध्ययन से वे विरत भी नहीं हो सकते, क्योंकि यह ग्रन्थ, दर्शनशास्त्रों के मन्दिर का प्रवेशद्वार है। इस प्रवेशद्वार पर स्वशिरोवनमन करना सभी प्रविविक्षुजनों के लिये अपरिहार्य है। इस विकट परिस्थिति को ध्यान में रखकर मेरे आराध्य-गुरुचरणों ने अत्यन्त कृपावन्त होकर स्नेहपरिप्लुत आशीर्वाद के साथ मुझे आदेश दिया कि न्यायशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में उपस्थित परिस्थिति की जटिल समस्या का शीघ्रातिशीघ्र समाधान का मार्ग यही हो सकता है कि न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पर एक ऐसी व्याख्या हिन्दी भाषा में लिखी जाय, जो सुविस्तृत हो और न्यायशास्त्रीय पद-पदार्थों को अध्येताओं की बुद्धि में अच्छी तरह जमा सके। अतः इस लोकोपकारक कार्य को तुम्हें ही करना है। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है, तुम इस कार्य को कर सकोगे, मुझे विश्वास है।

पूज्य गुरुजी की अनुल्लंघनीय आज्ञा पाकर और उनके आशीर्वाद का अवलम्बकर व्याख्या लिखने का कार्य मैंने प्रारम्भ कर दिया। मंगलवाद तक का व्याख्याग्रन्थ पूज्य गुरुजी की दृष्टि से परिपूत हो ही पाया कि 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' नियम के अनुसार मेरे दुर्दैव के मेघों का उमड़ना शुरू हो गया। ई० सन् १९७७ की मार्च ६ तारीख को मेरे पूज्यगुरुचरण ८० वर्ष की अवस्था में अपने पार्थिव शरीर का त्याग कर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गये। अकस्मात् हुए वज्रपात से मैं आहत, होकर किंकर्तव्यविमूढ हो गया, व्याख्या लिखने का कार्य भी अवरुद्ध हो गया, किन्तु शतवर्षीय मेरे पूज्य पितृचरणों ने उस समय मुझे सांत्वना देते हुए कहा कि सच्छिष्य वही है, जो गुरु की आज्ञा सभी परिस्थितियों में पालन कर उनकी इच्छा को पूर्ण करता है। 'प्रारभ्य चोत्तमगुणा न परित्यजन्ति' यह उत्तम धीर प्रकृति का लक्षण है। अतः उनकी आज्ञा से जो कार्य कर रहे हो उसे शीघ्र पूर्ण करो, जिससे वे सन्तुष्ट होंगे। वे तो अमर हैं, उनका कीर्ति-शरीर आज भी है और सर्वदा

विद्यमान रहेगा। उनकी आज्ञा का बल पाकर मैंने पुनः व्याख्यालेखन का कार्य आरम्भ किया, बराबर प्रतिदिन करता रहा और योगजसन्निकर्ष पर लेखन चल ही रहा था कि मेरे शतवर्षीय पूज्य पितृचरण श्री ई० सन् १९७७ को दिसम्बर २४ तारीख को सायं पाँच बजे अपने पार्थिव शरीर का त्याग कर भगवन्नामोच्चारण करते हुए ही ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गये। पार्थिव शरीर त्यागने के चार दिन पूर्व ही व्याख्या के कतिपय अंशों को उन्होंने सुन लिया था, यह मेरे लिये सन्तोष की बात थी। इस दूसरे वज्रपात से मैं बहुत ही आहत हुआ। सिर पर से छत्र उठ गया, निर्व्याजस्नेह और अहैतुकी कृपा से मुझे परिपुष्ट करने वाले दोनों गुरुजन कर्णधार अपनी आशीर्वाद की नौका में मुझे बैठाकर स्वयं इस विनश्वर संसार से सदा के लिये चल बसे। पश्चात् उनकी आज्ञा और वात्सल्य ने उनकी कर्णधारता को स्वीकार कर मुझे पार पहुँचा ही दिया। मैं अपने दोनों गुरुजनों से कभी भी ऋण मुक्त हो ही नहीं सकता। उनके आशीर्वाद के बलपर ही व्याख्यालेखन समाप्त हुआ और चौखम्भा सुरभारती के संरक्षक बन्धुगणों की कार्यतत्परता एवं उत्साह तथा प्रेरणा से पुस्तक के आकार में यह व्याख्या आज पाठकों के कर कमलों में स्थान प्राप्त कर सकी है। तदर्थ इन बन्धुओं को हार्दिक आशीर्वाद के साथ अनेकानेक धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य समझ रहा हूँ। पुस्तक लेखन का कार्य केवल लेखक पर ही अवलंबित नहीं हुआ करता, बल्कि उसके अंगभूत अनेक कार्यों के सम्पादनार्थ उसे अनेक सहायकों की भी आवश्यकता होती है। तदनुसार इस लेखन कार्य में प्रेसकापी, उसका संशोधन, अनेक बार प्रूफसंशोधन, विषयसूची, चित्रपट, शुद्धिपत्र, लेखश्रवण, यत्र तत्र परामर्श आदि अनेक कार्य आवश्यक रहते हैं। ग्रन्थ सम्पादनार्थ एक सम्पादक की भी आवश्यकता रहती है। तब एक ग्रन्थ की निष्पत्ति हो पाती है।

इस ग्रन्थ में विषयसूची, शुद्धिपत्र, और चित्रपट के निर्माण में मेरे प्रिय छात्र चि० सोमनाथ नेने रिसर्चस्कालर B. H. U., ने बड़े मनोयोग के साथ सहायता दी है, तदर्थ मैं हार्दिक आशीर्वाद के साथ उसके अभ्युदय की कामना कर रहा हूँ। उसी तरह लेखश्रवण तथा यत्र-तत्र परामर्श देने में आत्मीयता के साथ जिन्होंने सहायता दी है, वे हैं उदारचरित्र विद्वान् मेरे कनिष्ठ गुरुबन्धु पण्डितप्रवर श्रीकीर्त्यानन्द झा, न्यायाचार्य, प्राध्यापक दर्शन-विभाग काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, तथा महाकवि रतिनाथ झा, रीडर, दर्शनविभाग, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, एवं मेरी छात्रा डॉ० कु० विमला कर्नाटक प्राध्यापिका आर्ट्सकालेज, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय इन सभी के

अभ्युदय की कामना करता हुआ उन्हें अनेकानेक धन्यवाद देकर मैं अपना कर्तव्य पालन कर रहा हूँ। उसी तरह प्रूफसंशोधन, प्रेसकापी आदि कार्यों को तत्परता के साथ करने में मेरी कन्या कु० मीनामुसलगांवकर एम. ए. और मेरी छात्रा कु० वाराणसी लड्ढा, रिसर्चस्कॉलर काशी हिन्दूविश्वविद्यालय तथा मेरे भ्रातुष्पुत्र चि० श्यामराव एम. ए. वि. लिब. तथा चि० शेखर मुसलगांवकर एम. कॉम. का महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है, तदर्थ उन सभी पुत्रों एवं कन्या और छात्रा के अभ्युदयार्थ उन्हें अनेक आशीर्वाद दे रहा हूँ।

सांगोपांग पुस्तक के सम्पादन में मेरे छात्र डॉ० कमलनयन शर्मा न्याय, मीमांसा, व्याकरण आदि नानाशास्त्राचार्य, एम. ए., पी. एच. डी., अस्थायी मीमांसा प्राध्यापक, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय ने बड़े मनोयोग के साथ महत्त्वपूर्ण सहायता की है, तदर्थ उनके अभ्युदय की कामना करता हुआ उन्हें आशीर्वाद के सहित अनेक साधुवाद प्रदान कर रहा हूँ।

अन्त में प्रूफवाहक, सीसकाक्षरयोजक आदि कर्मचारीगणों को भी जिनकी तत्परता से पुस्तक को मूर्त आकार प्राप्त हो सका है, उन्हें आशीर्वाद दे दे रहा हूँ।

शुभचिन्तक—

—गजाननशास्त्री

भूमिका

अभिवन्द्य गुरुं भक्त्या श्रीराजेश्वरशास्त्रिणम् ।
पूज्यं सदाशिवं तातं कुर्वे व्याख्यां शिशुप्रियाम् ॥

पशु से लेकर मनुष्य तक सभी अपने अपने जीवन की सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। पशुजीवन उसकी सहज-प्रवृत्ति से परिचालित होता रहता है, किन्तु मनुष्य का जीवन उसकी अपनी बुद्धि की सहायता से चलता है। वह अपने बारे में तथा बाह्य जगत् के बारे में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए लालायित रहता है। वह वर्तमान तथा भविष्य के परिणामों पर भी सोचता रहता है। मनुष्य में बुद्धितत्त्व की विशेषता है। उसकी सहायता से वह युक्तिपूर्वक ज्ञान प्राप्त कर पाता है। युक्तिपूर्वक तत्त्वज्ञान के लाभार्थ किये जाने वाले प्रयत्न को ही 'दर्शन' कहते हैं।

शब्द-व्युत्पत्ति के अनुसार यदि विचार करें तो 'दृश्यते अनेन तद् दर्शनम्' जिसके द्वारा देखा जाय उसे 'दर्शन' कहते हैं। मनुष्य के मन में सहज भाव से उठनेवाले प्रश्नों का समुचित उत्तर देकर मनुष्य को सन्तुष्ट करना ही दर्शन का मुख्य ध्येय है। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाना है? मेरा कर्तव्य क्या है? यह सृष्टि (संसार) क्या है? इसका कारण कौन है? यह सृष्टि चेतन है या जड़? अपने जीवन को अच्छी तरह व्यतीत करने के लिए कौन सा सुन्दर उपाय है? इत्यादि अनेक प्रश्न मन में अहर्निश उठते रहते हैं, उन सबका समाधान एकमात्र दर्शनशास्त्र ही करता है। 'दर्शन' को 'शास्त्र' शब्द से भी कहा जाता है। 'शास्त्र' शब्द की निष्पत्ति दो धातुओं से होती है—'शास्' आज्ञा करना और 'शंस्' प्रकट करना या वर्णन करना। विधि या निषेध के रूप में आज्ञा (शासन) देने वाले शास्त्र श्रुति (वेद) स्मृति (धर्मशास्त्र) रूप हैं। इसलिये 'शासन' अर्थ में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग वेद और धर्मशास्त्र के लिए किया जाता है और वर्णन या प्रकट करने वाले शंसक (बोधक) शास्त्र का प्रयोग 'दर्शन' के लिए किया जाता है। इसके द्वारा किसी भी वस्तु के सत्य स्वरूप को बताया जाता है। शासक शास्त्र (वेद, धर्मशास्त्र आदि) क्रिया (अनुष्ठान) परक होता है और शंसक शास्त्र (दर्शन) ज्ञानपरक होता है। दर्शन शब्द के साथ 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग शंसक शास्त्र (बोधक शास्त्र) के अर्थ में ही किया जाता है। धर्मशास्त्र और वेद का कर्मकाण्डभाग कर्तव्याकर्तव्य का मुख्यरूप से विधान करता है,

इसलिए वह 'पुरुष परतन्त्र' है और दर्शनशास्त्र, वस्तु-स्वरूप का वर्णन करता है इसलिये वह 'वस्तुतन्त्र' है[1]।

भारतीय दर्शन की व्यापक तथा उदार दृष्टि

भारतीय दर्शन की दृष्टि बहुत व्यापक और उदार है। भारतीय दर्शन की अनेकानेक शाखाएँ हैं और उनमें परस्पर मतभेद भी हैं, तथापि वे एक दूसरे के विचारों को समझने का प्रयास करती हैं, उनमें एक दूसरे के विचारों की उपेक्षा नहीं की गई है। सभी शाखाएँ परस्पर एक दूसरे की युक्तिपूर्वक उचित समीक्षा करती हैं तभी किसी ठोस सिद्धान्त पर पहुँच पाती हैं। इसी उदार मनोवृत्ति का यह परिणाम है कि भारतीयदर्शन में विचार-विमर्श के लिए एक विशेष पद्धति का निर्माण हुआ है। इस पद्धति के अनुसार प्रथमतः पूर्वपक्ष लिया जाता है, पश्चात् उसका खण्डन करके तब अन्त में सिद्धान्त प्रतिपादित किया जाता है। भारतीयदर्शन की प्रत्येक शाखा का समृद्ध होना, उक्त पद्धति का ही परिणाम है। भारत का प्रत्येक दर्शन, ज्ञान का एक-एक भण्डार है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अपनी व्यापक विभूतियों के वर्णन के प्रसंग में अध्यात्मविद्या (विचारशास्त्र या दर्शनशास्त्र) को अपना ही स्वरूप बताकर उसकी महत्ता (प्रौढ़ता) का समर्थन किया है[२]। मुण्डकोपनिषद् ने ब्रह्मविद्या को सर्वविद्याप्रतिष्ठा के रूपसें बताया है[३]। अर्थ-शास्त्र के प्रणेता कौटिल्य कहते हैं कि आन्वीक्षिकी विद्या, समस्त विद्याओं के लिए प्रकाशरूप दीपक है, तथा समस्त कर्मों के अनुष्ठान का साधनमार्ग है और सब धर्मों का आश्रय है[४]। विचारशास्त्र की स्वतन्त्रता यहाँ जैसी अन्यत्र न कहीं थी और न है।

दर्शन और धर्म

भारत वर्ष में दर्शन और धर्म का तथा तत्त्वज्ञान और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। त्रिविध ताप से नितान्त तप्त हुई जनता की शान्ति के लिए,

---

१. 'शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते।
शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभिः।
शंसनं भूतवस्त्वेकविषयं न क्रियापरम्।

२. अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्'—[गी० १०।३२]

३. स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह –
[मुं० उ० १।१]

४. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥ [कौ. अ. १।२]

दुःखमय संसार से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति के लिए ही भारतीय दर्शनशास्त्रों का आविर्भाव हुआ है। यह विचारशास्त्र (दर्शन शास्त्र) विद्वानों की कमनीय-कल्पना का विलासमात्र नहीं है, अपितु उसका आधिपत्य इस व्यावहारिक सृष्टि-पर है। भारत के बाहर अन्य देशों में दर्शनशास्त्र (विचारशास्त्र) और धर्म का पारस्परिक सम्बन्ध नहीं दिखाई देता, किन्तु भारतवर्ष में दर्शन और धर्म का सुदृढ़ सम्बन्ध सहज लक्षित होता है। दर्शन शास्त्र के द्वारा सुचिन्तित, सुविचारित व्यवहार ही धम है। भारत की दृष्टि में दर्शन और धर्म दो पृथक् नहीं है। दर्शन का व्यावहारिकरूप धर्म है, और धर्म का सैद्धान्तिकरूप दर्शन है। यही कारण है कि धर्म-विचारात्मक मीमांसा को षड्दर्शनों में प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। अतः दार्शनिक वही है जो धर्म का ज्ञाता हो और तदनुरूप आचारसम्पन्न हो तथा धर्म का ज्ञाता और तदनुष्ठाता वही है जो दार्शनिक विद्वान् हो।

भारतीय दर्शन दो भागों में विभक्त किये गये है—आस्तिक तथा नास्तिक। सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा-वेदान्त, ये वैदिक आस्तिक दर्शन हैं। इन्हें षड्दर्शन भी कहते हैं। आस्तिक दर्शन का अर्थ ईश्वरवादी दर्शन नहीं है। इन दर्शनों में से सभी ने ईश्वर की चर्चा नहीं की है। फिर भी उन्हें आस्तिक इसीलिए कहा जाता है कि ये सभी वेद को प्रमाण मानते हैं। आस्तिक का अर्थ 'वेदानुयायी' तथा नास्तिक का अर्थ 'वेदविरोधी' है, अथवा परलोक में विश्वास रखने वाले को 'आस्तिक' तथा परलोक नहीं मानने वाले को 'नास्तिक' कहते हैं। आस्तिक की उक्त दो परिभाषाओं में से किसी में भी 'चार्वाकदर्शन' नहीं आता, इसलिए उसे 'नास्तिकदर्शन' कहा जाता है।

श्री विद्यानिवास भट्टाचार्य के पुत्र **श्री विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य** के द्वारा विरचित **कारिकावली** (भाषापरिच्छेद) तथा उस पर उन्हीं के द्वारा निर्मित **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली** नामक व्याख्यात्मक ग्रन्थ प्रस्तुत किया जा रहा है। इस व्याख्या ग्रन्थ की रचना पुत्रतुल्य प्रिय अपने **राजीव** नामक शिष्य को न्याय-वैशेषिकदर्शनों के सिद्धान्तों का यथार्थज्ञान कराने के लिये उन्होंने की है। इस ग्रन्थ पर दर्शनशास्त्र के अनेक महापण्डितों ने अनेकानेक संस्कृत-व्याख्याओं को लिखकर प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रामाणिकता एवं श्रेष्ठता को स्पष्ट किया है।

न्यायदर्शन के प्रवर्तक महर्षि गोतम हैं, 'अक्षपाद' नाम से भी इसकी प्रसिद्धि है। अतः 'न्यायदर्शन' का दूसरा नाम 'अक्षपाद-दर्शन' भी है। न्यायदर्शन के अध्ययन से युक्तियुक्त विचार तथा आलोचना करने की शक्ति प्राप्त होती है।

अतः उक्तदर्शन को न्यायविद्या, तर्कशास्त्र, आन्वीक्षिकी[1] भी कहते हैं। उक्त दर्शन में 'प्रमाण' का महत्त्व सर्वोपरि होने से इस दर्शन को 'प्रमाणशास्त्र' भी कहते हैं।

उसी तरह 'वैशेषिक-दर्शन' के प्रवर्तक महर्षि कणाद हैं। इनका दूसरा नाम 'उलूक' भी है। इसलिये वैशेषिक दर्शन को 'औलूक्यदर्शन' भी कहते हैं। इस दर्शन में 'विशेष' संज्ञक पदार्थ की विशद विवेचना की गयी है, इस कारण इस दर्शन को 'वैशेषिकदर्शन' कहा जाने लगा। विशेषतः पदार्थों की विवेचना की गयी है, इसलिए इस दर्शन को 'पदार्थ-विज्ञानशास्त्र' भी कहने लगे। न्याय-वैशेषिक दोनों दर्शनों में बड़ी समानता है। दोनों का उद्देश्य मोक्षप्राप्ति कराना है। दोनों के अनुसार समस्त दुःखों का मूल कारण 'अज्ञान' है। इन दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। दोनों दर्शन 'वस्तुवादी' दर्शन हैं। यह वस्तुवाद, अनुभव एवं तर्क पर आधारित है। इतनी समानता रहने पर भी उक्त दोनों दर्शनों में दो मुख्य बातों को लेकर मतभेद लक्षित होता है। (१) न्यायदर्शन में जहाँ चार प्रमाणों–'प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द'–का स्वीकार किया गया है, वहाँ वैशेषिक दर्शन में दो प्रमाणों–प्रत्यक्ष, अनुमान–को ही स्वीकार किया गया है। न्यायदर्शनोक्त उपमान और शब्द दो प्रमाणों को यह दर्शन अनुमान के ही अन्तर्गत मान लेता है।

(२) न्यायदर्शन जहाँ सोलह[2] पदार्थों के नाम गिनाता है, वहाँ वैशेषिक दर्शन केवल सात[3] पदार्थों के नाम गिनाता है। वैशेषिकदर्शन ने 'ज्ञेयत्व' और 'अभिधेयत्व' को ध्यान में रखकर सप्त पदार्थों का परिगणन किया है। वैशेषिक दर्शन ने शब्दबोध्य पदार्थों को दो भागों में विभक्त किया है (१) भावपदार्थ और (२) अभाव पदार्थ। जिस वस्तु की सत्ता (विद्यमानता) है, उसे भाव-पदार्थ कहते हैं और जिसकी सत्ता नहीं है उसे अभाव पदार्थ कहते हैं। यह दर्शन भाव और अभाव दोनों को वास्तविक

---

१. 'प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकीन्यायविद्या न्यायशास्त्रम् ।'–(वात्स्या. १।१।१)

२. न्यायदर्शन के १६ पदार्थ–(१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति और (१६) निग्रहस्थान।

३. वैशेषिकदर्शन के ७ पदार्थ–(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय और (७) अभाव।

समझता है। अतः पदार्थों में भी 'सत्ता' और 'वृत्ति' का अन्तर किया गया है। जो देश तथा काल में वर्तमान रहे वह 'सत्ता' (Ixistance) है, और जिसका दैहिक (Spatial) या कालिक (Temporal) अस्तित्व नहीं है, वह 'वृत्ति' (Subsistence) है। द्रव्य गुण और कर्म ऐसे भाव पदार्थ (Positive entities) हैं, जिनकी 'सत्ता' कही जाती है। न्यायदर्शन के अनुसार द्वितीय पदार्थ 'प्रमेय' है। प्रमाण के द्वारा जो जाने जाते हैं, उन्हें 'प्रमेय'[1] कहते हैं।

उक्त दोनों दर्शनों के पदार्थ-विभाजन को देखने पर किसका विभाजन उचित समझा जाय ? यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। किन्तु दोनों दर्शनों के दृष्टिकोणों को समझने पर जिज्ञासा का समाधान हो जाता है। दोनों ने विभिन्न अर्थों में 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग किया है। वैशेषिक ने सत्तापदार्थ (Ontological categories) की दृष्टि से 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग किया है। जो-जो सत्ताएँ जगत् में हैं, वे सब उक्त छह पदार्थों की ही किसी न किसी कोटि में आवेंगी। अतः वैशेषिक की दृष्टि से छह प्रकार की मूल सत्ताएँ— (Fundamental entities) षट् पदार्थ हैं, और न्यायदर्शन ने 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग, प्रमाणों के द्वारा विज्ञेय विषय (Epistemological Categories) की दृष्टि से किया है। यही न्याय और वैशेषिक के दृष्टिकोण में भिन्नता है। दोनों की पदार्थ-नामावली तथा संख्या में भेद रहते हुए भी परस्पर विरोध नहीं है। सामान्य, विशेष और समवाय ये भाव पदार्थ हैं तथापि सत्तावान् नहीं हैं अर्थात् वे किसी द्रव्य, गुण, कर्म की तरह किसी देश-विशेष तथा काल-विशेष में नहीं रहते, इसलिये उनमें सत्ता (Existence in Time & Space) नहीं, केवल वृत्तिता (Being) मात्र है। जगत् के सम्बन्ध में न्यायदर्शन और वैशेषिकदर्शन के विचार समान हैं। न्यायदर्शन का तत्त्वविचार उसके प्रमाणविचार पर निर्भर है। न्यायदर्शन में उक्त चार प्रमाणों में प्रथम प्रमाण 'प्रत्यक्ष' है। इस पर भारतीय दार्शनिकों ने बड़ा ही सूक्ष्म विचार किया है। 'उस असन्दिग्ध अनुभव को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं, जो इन्द्रिय के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है और यथार्थ भी होता है[2]।' प्रत्यक्ष के इस लक्षण को प्रायः सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं, तथापि कतिपय नैयायिक तथा वेदान्ती इसे स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि

---

१. (१) आत्मा, (२) शरीर, (३) इन्द्रिय, (४) अर्थ, (५) बुद्धि, (६) मन, (७) प्रवृत्ति, (८) दोष, (९) प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म), (१०) फल, (११) दुःख और (१२) अपवर्ग।

२. न्या. सू. १।१।४

इन्द्रियसम्बन्ध के बिना भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है। ईश्वर को सभी विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान बिना इन्द्रियसम्बन्ध के ही होता है, क्योंकि ईश्वर को इन्द्रियाँ नहीं हैं। रज्जु-सर्प की प्रतीति में वास्तविक सर्प के साथ बाह्य इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं रहता, एवं सुखदुःखादि मानसिक भावों का प्रत्यक्ष, बाह्य इन्द्रिय के सम्बन्ध के बिना ही हुआ करता है। इससे यह स्पष्ट है कि उक्त प्रत्यक्षलक्षण (इन्द्रिय-सम्बन्ध···), प्रत्यक्ष ज्ञान के सभी भेदों का सामान्यलक्षण इन्द्रिय सम्बन्ध नहीं, बल्कि 'साक्षात् प्रतीति' है। किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान तब होता है, जब उसका साक्षात्कार होता है, अर्थात् जब उस वस्तु का ज्ञान बिना किसी पुराने अनुभव या बिना किसी अनुमान के होता है[1]। प्रत्यक्ष, लौकिक और अलौकिक दो प्रकार का हो सकता है। लौकिक प्रत्यक्ष भी बाह्य तथा मानस दो प्रकार का होता है। अर्थात् चाक्षुष, श्रोत्र, स्पार्शन, रासन, घ्राणज तथा मानस भेद से लौकिक प्रत्यक्ष के छह प्रकार होते हैं। तथा सामान्यलक्षण, ज्ञान-लक्षण, और योगज भेद से अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का होता है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार छह ज्ञानेन्द्रियों में से पाँच बाह्य और एक अन्तरिन्द्रिय है। घ्राण, जिह्वा, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र इन पाँच बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द का ज्ञान होता है। प्रत्येक इन्द्रिय उस भौतिक तत्त्व से निर्मित है, जिसका विशेष गुण वह जान सकती है। इस कारण ये इन्द्रियाँ भौतिक कहलाती हैं। 'मन' अन्तरिन्द्रिय है, इसके द्वारा आत्मा को इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख तथा दुःख का प्रत्यक्ष होता है। यह बाह्य इन्द्रियों की तरह भूतों से निर्मित नहीं है। लौकिक प्रत्यक्ष के बाह्य और मानस दो भेदों की तरह और भी दो भेद निर्विकल्पक तथा सविकल्पक नाम से किये गये हैं। इन दो भेदों का आधार प्रत्यक्ष का अविकसित और विकसित रूप है। इनके अतिरिक्त प्रत्यक्ष का एक प्रकार और है जिसे 'प्रत्यभिज्ञा' प्रत्यक्ष कहते हैं। अलौकिक प्रत्यक्ष तो हमेशा निश्चित और स्पष्ट होने से सभी सविकल्पक होते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में किसी वस्तु के अस्तित्वमात्र का ज्ञान होता है, वह वस्तु क्या है, यह स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता। इस प्रकार के 'अस्पष्ट प्रत्यक्ष' को 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' कहते हैं। और किसी वस्तु के स्पष्ट तथा निश्चित प्रत्यक्ष को 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' कहते हैं। सविकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु के धर्मों का स्पष्ट ज्ञान रहता है। निर्विकल्पक में वस्तु के अस्तित्वमात्र का ज्ञान होता है, किन्तु सविकल्पक में यह वस्तु

---

१. तर्कभाषा, सि० मुक्ता०, तत्त्वचिन्तामणि।

अमुक है, यह स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के हुए बिना सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वस्तु क्या है यह जानने के लिये उसका अस्तित्व पहले जानना आवश्यक है।

प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष में 'प्रत्यभिज्ञा' की व्युत्पत्ति 'अभिज्ञाम् प्रतिगता इति प्रत्यभिज्ञा' होती है। जिस वस्तु का पहिले साक्षात्कार हो चुका है, उसी का पुनः प्रत्यक्ष होने पर 'प्रत्यभिज्ञा' (Recognition=पहिचान) होती है। साधारण प्रत्यक्ष, इन्द्रियजन्य होता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष इन्द्रिय और पूर्व संस्कार दोनों के योग से उत्पन्न होता है। साधारण प्रत्यक्ष केवल वर्तमानावगाही होता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञा में वर्तमान और भूत (अतीत) दोनों का मिश्रण रहता है।

पूर्वोक्त अलौकिक प्रत्यक्ष के तीन प्रकार श्री गंगेशोपाध्याय ने बताये हैं— सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज। एक वस्तु को देखने से उसकी सजातीय वस्तुओं का भी जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति रहती है। एक वस्तु को देखकर तत्सजातीय वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान, 'सामान्यज्ञान' के बल पर होता है। यह सामान्यज्ञान, अलौकिक सन्निकर्ष से होता है। जैसे किसी एक मनुष्य या गाय आदि पशु को देखकर संसार के सभी मनुष्य और गो जाति का ज्ञान हो जाता है। यह मनुष्यजाति या गोजाति का ज्ञान, अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। अर्थात् मनुष्यव्यक्ति या गोव्यक्ति को देखकर उसे क्रमशः यह मनुष्य और यह गो है जानते हैं, तो यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि हमें उसमें मनुष्यत्व का और गोत्व का (सामान्य=जाति का) भी प्रत्यक्ष अवश्य ही होता है। अन्यथा किसी मनुष्य-व्यक्ति को देखकर या गो व्यक्ति को देखकर हम नहीं कह सकते कि यह मनुष्य है, और यह गो है। अर्थात् व्यक्ति के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ ही उसके मनुष्यत्व का तथा गोत्व का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है। तभी हम संसार भर के मनुष्यत्व-धर्मविशिष्ट या गोत्वधर्मविशिष्ट सभी व्यक्तियों को बिना किसी के बताये जान लेते हैं। सामान्यज्ञान के द्वारा ही इस प्रकार का प्रत्यक्ष होता है, इसलिए इसे 'सामान्यलक्षणप्रत्यक्ष' कहते हैं। ज्ञानलक्षण अलौकिकप्रत्यक्ष तब होता है, जब विभिन्न इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान, आपस में मिलकर एक हो जाते हैं, अर्थात् एक इन्द्रिय, दूसरी इन्द्रिय के ज्ञान का भी जब अनुभव करती है। जैसे नींबू को देखते ही कहा जाता है कि यह खट्टा है, किन्तु खट्टेपन का ज्ञान तो रसनेन्द्रिय से होता है, चक्षुरिन्द्रिय से नहीं, तथापि नींबू के देखते ही अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय से ही जो उसके खट्टेपन का ज्ञान हो रहा है, वह अलौकिक

सन्निकर्ष के बल पर हो रहा है। अतीतकाल में अनेक बार नींबू को देखा है और चूसा भी है। अतः दोनों इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न विषय होते हुए भी उनमें एक संबंध स्थापित हो गया है। अतएव नींबू को देखते ही उसके खट्टेपनका अनुभव भी साथ-साथ हो जाता है। खटाई का वर्तमान अनुभव, खटाई के अतीत ज्ञान पर आधारित है। इसलिये इसे 'ज्ञानलक्षण' प्रत्यक्ष कहते हैं। इसके अनुसार एक इन्द्रिय, दूसरी इन्द्रिय के ज्ञान का अनुभव करती है, जो साधारणतया संभव नहीं है, यह इसकी अलौकिकता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष का तीसरा प्रकार 'योगज' है। इस योगज प्रत्यक्ष के द्वारा भूतकालीन, भविष्यत्कालीन, गूढ़ तथा सूक्ष्म सभी प्रकार की वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है। साधारण लोगों की इन्द्रियशक्ति सीमित होती है। उस सीमित शक्ति से वे लोग सार्वकालिक और गूढ़, सूक्ष्म वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं कर पाते। सार्वकालिक, गूढ-गूढतर, सूक्ष्म-सूक्ष्मतर वस्तुओं का प्रत्यक्ष, योग-साधनासिद्ध सहजप्राप्त अलौकिकशक्तिसम्पन्न व्यक्तियों को ही हो पाता है। जिन व्यक्तियों को अविनाशिनी योगजशक्ति प्राप्त रहती है, उन व्यक्तियों को 'युक्तयोगी' कहते हैं, और जिन्होंने योग में आंशिक सिद्धि प्राप्त की है, उन्हें 'युञ्जानयोगी' कहते हैं। युञ्जान व्यक्ति को योगज शक्ति सहज प्राप्त नहीं रहती, किन्तु उसे उस शक्ति की प्राप्ति के लिए कुछ ध्यान, धारणा करनी पड़ती है।

न्यायदर्शन में उक्त सामान्यलक्षण तथा ज्ञानलक्षण अलौकिक प्रत्यक्ष को वेदान्ती नहीं मानते। वे शास्त्रसम्मत केवल योगजप्रत्यक्ष को ही मानते हैं।[१] इस प्रकार लौकिक तथा अलौकिक भेद से प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद बताये गये हैं। अन्य सभी प्रमाण इस प्रत्यक्षप्रमाण के आधार पर ही आश्रित रहते हैं।

इन प्रमाणों के द्वारा ही 'प्रमेय' का सम्यक् ज्ञान हो पाता है, और प्रमेय के सम्यक् (यथार्थ) ज्ञान होने पर ही मुक्ति का लाभ होता है। अतः न्याय-वैशेषिक दर्शन का आग्रह है कि संसारी मानव को प्रमाणों का ज्ञान प्राप्त करके उनके द्वारा प्रमेय का ठीक-ठीक ज्ञान आवश्य प्राप्त करना चाहिये।

गजाननशास्त्री मुसलगांवकर

---

१. अद्वैतसिद्धि., वेदान्तपरिभाषा

द्वित्राः शब्दाः

नमः परस्मै महते कणादाय महर्षये।
अक्षपादाय सिद्धाय नमो वात्स्यायनाय च ॥

महाप्राज्ञः कौटिल्य उद्घोषयति--

'प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता' ॥ इति।

तत्र प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं सा अन्वीक्षा। प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अनु ईक्षणमन्वीक्षा। तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी। सा च न्यायविद्या न्यायशास्त्रमेव वा। यद्वा श्रवणादनु ईक्षा अन्वीक्षा उन्नयनम्। तन्निर्वाहिका आन्वीक्षिकीति। सैवान्वीक्षिकी परार्थानुमानापरपर्यायं न्यायशास्त्रमपि कथ्यते। प्रयोजनञ्चास्य निःश्रेयसप्राप्तिः। न्यायस्तु प्रमाणैरर्थपरीक्षणम्। समस्तप्रमाणव्यापारादर्थाधिगतिर्न्याय इति। नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेनेति तस्य व्युत्पत्तिरुक्ता। न्याय एव तर्कशब्देनाऽप्युच्यते।

सामान्यतो हि कणादप्रणीतं वैशेषिकशास्त्रं गौतमप्रणीतं न्यायशास्त्रञ्चोभ एव न्यायशास्त्रमिति व्यपदिश्येते। वैशेषिकसूत्रं हि द्रव्यादिसप्तपदार्थप्रतिपादकं न्यायसूत्रञ्च प्रमाणप्रमेयादिषोडशपदार्थव्युत्पादकञ्च। कतिपयपक्षेष्वनयोर्मतवैभिन्न्यमपि दृश्यते, कतिपयपक्षेषु मतैक्यमपि। वैशेषिकनये प्रत्यक्षानुमाने एव प्रमाणे नैयायिकमते चत्वार्येव। आद्यनये चाक्षुषमेव प्रत्यक्षमन्त्यनये तु चाक्षुषघ्राणजराशनस्पार्शनादिभेदेन प्रत्यक्षं बहुविधम्। वैशेषिकनये समवायोऽतीन्द्रियः न्यायनये तु प्रत्यक्ष एव। पीलुपाकवादिनो वैशेषिकाः परमाणुपाकसमर्थकाः पिठरपाकवादिनो नैयायिका द्व्यणुकादावपि पाकस्य समर्थकाः। वैशेषिकनये त्रय एव हेत्वाभासाः—विरुद्धासिद्धसन्दिग्धाः। नैयायिकनये तु पञ्च ते अनैकान्तिकविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीताः। वैशेषिकनये प्रक्षिप्तशरादेरेक एव वेगः, नैयायिकनये तस्य पतनात्पूर्वमन्तः कियन्तो वेगा भवन्ति। एवं द्वित्वसंशयविभागजविभागादावपि तयोर्भेदः परिलक्ष्यते। एवञ्च नैयायिकाः षोडशपदार्थानाहुर्वैशेषिकास्तु षट्स्वेव तेषामन्तर्भावमिच्छन्ति। सत्यपि कतिपयपक्षेऽसमानचिन्तने तयोः साम्यमपि दृश्यते कतिपयपक्षेषु। सामान्यतोऽनयोर्न विरोधोऽपि साहचर्यमेव। तेन कतिपयेष्वेतद्विषयकार्वाचीनग्रन्थेष्वनयोर्मिश्ररूपमेव लभ्यते। यथोक्तमन्नम्भट्टेन तर्कसङ्ग्रहस्योपसंहारे—

'कणादन्यायमतयोर्बालव्युत्पत्तिसिद्धये।
अन्नम्भट्टेन विदुषा रचितस्तर्कसङ्ग्रहः' ॥ इति।

अन्नम्भट्टस्य तर्कसङ्ग्रहः, विश्वनाथस्य भाषापरिच्छेदः, कौण्डभट्टस्य पदार्थदीपिका शिवादित्यस्य सप्तपदार्थी एते चान्ये च बहवो न्यायवैशेषिकोभयमिश्रग्रन्थाः। एषु हि तर्कसङ्ग्रहप्रभृतयो मन्दाधिकारिणां, पदार्थदीपिकाप्रभृतयो मध्यमाधिकारिणां भाषापरिच्छेदप्रभृतय उत्तमाधिकारिणाञ्च ग्रन्थाः। तत्र भाषापरिच्छेदाख्यः कारिकावल्यपरपर्यायः प्रकृतग्रन्थः श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यप्रणीतः।

श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यः श्रीविद्यानिवासभट्टाचार्यतनयः। सोऽपि वङ्गदेशीयः। स विक्रमानन्तराष्टादशशतकपूर्वार्द्धंस्थितिमानिति न्यायसूत्रवृत्तिस्थेन—

'रसवाण(र)तिथौ शकेन्द्रकाले बहुले कामतिथौ शुचौ सिताहे।
अकरोन्मुनिसूत्रवृत्तिमेतां ननु वृन्दाविपिने स विश्वनाथः' ॥

इति पुष्पिकावाक्येन ज्ञायते। तस्य हि पाण्डित्ये तु प्रकृतग्रन्थ एव परमं प्रमाणम्। अस्य हि ज्ञाताः कृतयः—

१. भाषापरिच्छेदः, २. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली भाषापरिच्छेदवृत्तिः, ३. न्यायसूत्रवृत्तिश्च।

तत्र कारिकावली एतद्विषयकग्रन्थकेषु सर्वातिशायित्वेन विराजते। सन्त्यत्र अष्टषष्टयधिकैकशतमिताः कारिकाः। तत्र हि मङ्गलाचरणं, पदार्थविभागः, द्रव्यविभागः, गुणादीनां विभागः, द्रव्यनिरूपणं, तत्रात्मनिरूपणावसरे विभोर्बुद्ध्यादयो गुणाः, बुद्धिस्तु अनुभूतिः स्मृतिश्चेति द्विविधा अनुभूतिश्च चतुर्विधेत्यारभ्य प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दानां निरूपणं, मनोनिरूपणम्, गुणसामान्यनिरूपणं विशेषगुणनिरूपणञ्चेति प्रतिपाद्यविषयाः। तत्र कर्मादीनां तु विभागावसर एव निरूपणं कृतम्। तदेषा प्रथमा कारिका—

'नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय' ॥ इति।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली हि तस्यापरा कृतिः। सा च कारिकावल्या वृत्तिरिति तत्रस्थेन—

'निजनिर्मितकारिकावलीमतिसङ्क्षिप्तचिरन्तनोक्तिभिः।
विशदीकरवाणि कौतुकान्ननु राजीवदयावशंवदः' ॥

इति कथनेन ज्ञायते ग्रन्थाध्ययनेन च। एषा हि मुक्तावली वस्तुतस्तु कारिकाभागस्य विशदीकरणमेव न तु तस्य व्याख्यानमात्रम्। सन्त्यत्र कारिकाभागेऽप्यनुल्लिखिता अपि स्मृतिनिरूपणक्षणप्रक्रियादिविषयाः प्रपञ्चिताः सविस्तरम्। एषा हि मुक्तावली अष्टाभिर्मुक्ताभिर्विराजते। यथा पदार्थसामान्यनिरूपणा प्रथमा मुक्ता, साधर्म्यवैधर्म्यनिरूपणा द्वितीया, आत्मस्वरूपनिरूपणा तृतीया, प्रत्यक्षस्वरूपनाम्नी तुरीया मुक्ता, अनुमानस्वरूपनाम्नी पञ्चमी मुक्ता, उपमानस्वरूपनाम्नी षष्ठी मुक्ता, शब्दखण्डनाम्नी सप्तमी मुक्ता, गुणग्रन्थनाम्नी

अष्टमी च । सामान्यतो मुक्तावलीसहितकारिकावल्याः सन्ति त्रयो भागाः—उद्देशभागः, द्रव्यभागः गुणभागश्चेति । तत्रोद्देशभागे पदार्थानां विभागकथनं, द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावानां विभागकथनपूर्वकं सामान्यपरिचयः, द्रव्यग्रन्थे द्रव्याणां साधर्म्यवैधर्म्यनिरूपणपूर्वकं पृथिव्यादीनां निरूपणं, तत्रैव आत्मगुणप्रसङ्गतः बुद्धिभेदमवलम्ब्य प्रत्यक्षादिप्रमाणानां निरूपणम्, गुणग्रन्थे गुणसामान्यनिरूपणपूर्वकं प्रत्येकगुणविवेचनञ्चेति विषयाः । विभागोऽयमपि पारम्परिक एव । वस्तुतस्तु प्रकृतग्रन्थप्रतिपाद्यविषयाणां चत्वारो विभागाः—पदार्थसामान्यकथनं, द्रव्याणां साधर्म्यवैधर्म्यनिरूपणं, द्रव्यनिरूपणं गुणविवेचनञ्च ।

मुक्तावलीसहितकारिकावल्याः सन्ति बह्व्यष्टीकाग्रन्था अपि । तत्र रुद्रभट्टाचार्यस्य रौद्री, महादेवस्य-प्रकाशः (शब्दखण्डान्तः), तत्तनयस्य दिनकरस्य दिनकरी (स्मृतिखण्डादारभ्य समाप्तिपर्यन्ता) (प्रकाशस्य च रामरुद्रकृता रामरुद्री व्याख्या), राकासुधाकररामनरसिंहपण्डितकृता प्रभाख्या, देवीदत्ततनयनृसिंहदेवशास्त्रिकृता प्रभाख्या, पट्टाभिरामशास्त्रिणो मञ्जूषा (द्रव्यग्रन्थे आकाशनिरूपणपर्यन्तगा), सूर्यनारायणशुक्लस्य मयूखः, पञ्चाननशास्त्रिणः मुक्तावलीसङ्ग्रहः, छज्जूरामशास्त्रिणो मूलचन्द्रिका, मुकुन्दशर्मणोऽभिनवप्रभा, श्रीकृष्णवल्लभस्य किरणावली, नारायणतीर्थस्य न्यायचन्द्रिका, जीवरामस्य जीवरामीयटिप्पणी, ज्वालाप्रसादगौडस्य विलासिनी च काश्चन शताष्टीकाः । टीकाशृङ्खलायामस्यां प्रकृता आलोकव्याख्याऽप्येका । यथा हि कारिकावली उत्तमपात्रमधिकृत्य प्रणीता तथैवैषा व्याख्या कुतज्ञानाय मन्दाधिकारिविषया । अनया हि छात्रवर्गः किञ्चिदप्युपकृतो भवेद्यदि तथाऽहं निजप्रयत्नसाफल्यं मन्येय । टीकैषा प्रतिपदव्याख्यापराऽतोऽस्या अधिकार्यपि प्रतिपदव्युत्पित्सुरेवेति नाश्चर्यम् । विषयप्रघट्टकस्य यत्र तत्र सारांशोऽपि समुपन्यस्त एव ।

अत्रापि तदेव कथ्यते—

'ये नाम केचिदिह नः प्रथमन्त्यवज्ञां
जानन्तु ते हि खलु तान् प्रति नैष यत्नः ।
यत्नस्त्वयं खलु कृतेऽल्पधियां हि तेषां
मुक्तावलीवनविहारसमुत्सुकानाम्' ॥

इति शम् ।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्तु दुर्जनाः काममुत्थापयति सज्जनः ॥

फाल्गुनपौर्णमासी
२०४८ वि०
काशी

लोकमणिदाहालः
नेपालाभिजनः

बहुभिर्विष्टमार्गे हि ग्रन्थेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥

विषयानुक्रमणिका

(प्रत्यक्षखण्डम्)

प्रत्यक्षखण्डे पदार्थसामान्यनिरूपणं नाम प्रथमं प्रकरणम्

प्रत्यक्षखण्डे द्रव्यनिरूपणं नाम द्वितीयं प्रकरणम्

प्रत्यक्षखण्डे बुद्धिनिरूपणं नाम तृतीयं प्रकरणम्

—: o :—

विषयानुक्रमणिका

(अनुमानोपमानशब्दस्मृतिमनोगुणखण्डात्मिका)

कारिकावली

नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय ।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय ॥ १ ॥

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम् ।
समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः ॥ २ ॥

क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः ।
द्रव्याण्यथ गुणा रूपं रसो गन्धस्ततः परम् ॥ ३ ॥

स्पर्शः सङ्ख्या परिमितिः पृथक्त्वं च ततः परम् ।
संयोगश्च विभागश्च परत्वं चापरत्वकम् ॥ ४ ॥

बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वकम् ।
द्रवत्वं स्नेहसंस्कारावदृष्टं शब्द एव च ॥ ५ ॥

उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनं तथा ।
प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पञ्च च ॥ ६ ॥

भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च ।
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥ ७ ॥

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च ।
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते ॥ ८ ॥

परभिन्ना तु या जातिः सैवापरतयोच्यते ।
द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥ ९ ॥

व्यापकत्वात्परापि स्याद् व्याप्यत्वादपरापि च ।
अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः परिकीर्तितः ॥ १० ॥

घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः ।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ॥ ११ ॥

अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः ।
प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥ १२ ॥

एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते ।
सप्तानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वादिकमुच्यते ॥ १३ ॥

द्रव्यादयः पञ्च भावा अनेके समवायिनः ।
सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्या गुणादिर्निर्गुणक्रियः ॥ १४ ॥
सामान्यपरिहीनास्तु सर्वे जात्यादयो मताः ।
पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम् ॥ १५ ॥
अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता ।
कारणत्वं भवेत् तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम् ॥ १६ ॥
समवायिकारणत्वं ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् ।
एवं न्यायनयज्ञैस्तृतीयमुक्तं निमित्तहेतुत्वम् ॥ १७ ॥
यत्समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायिजनकं तत् ।
तत्रासन्नं जनकं द्वितीयमाभ्यां परं तृतीयं स्यात् ॥ १८ ॥
येन सह पूर्वभावः कारणमादाय वा यस्य ।
अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम् ॥ १९ ॥
जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते ।
अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः ॥ २० ॥
एते पञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम् ।
घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम् ॥ २१ ॥
तृतीयं तु भवेद् व्योम कुलालजनकोऽपरः ।
पञ्चमो रासभादिः स्यादेतेष्वावश्यकस्त्वसौ ॥ २२ ॥
समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम् ।
गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् ॥ २३ ॥
अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते ।
क्षित्यादीनां नवानां तु द्रव्यत्वगुणयोगिता ॥ २४ ॥
क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च ।
परापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी ॥ २५ ॥
कालखात्मदिशां सर्वगतत्वं परमं महत् ।
क्षित्यादिपञ्च भूतानि चत्वारि स्पर्शवन्ति हि ॥ २६ ॥
द्रव्यारम्भश्चतुर्षु स्यादथाकाशशरीरिणाम् ।
अव्याप्यवृत्तिः क्षणिको विशेषगुण इष्यते ॥ २७ ॥
रूपद्रवत्वप्रत्यक्षयोगिनः प्रथमास्त्रयः ।
गुरुणी द्वे रसवती द्वयोर्नैमित्तिको द्रवः ॥ २८ ॥
आत्मानो भूतवर्गाश्च विशेषगुणयोगिनः ।
यदुक्तं यस्य साधर्म्यं वैधर्म्यमितरस्य तत् ॥ २९ ॥

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः ।
स्पर्शाद्यष्टौ रूपवेगौ द्रवत्वं तेजसो गुणाः ॥ ३० ॥
स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वं च द्रवत्वकम् ।
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश ॥ ३१ ॥
स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश ।
बुद्ध्यादिषट्कं सङ्ख्यादिपञ्चकं भावना तथा ॥ ३२ ॥
धर्माधर्मौ गुणा एते ह्यात्मनः स्युश्चतुर्दश ।
सङ्ख्यादिपञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे ॥ ३३ ॥
सङ्ख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे ।
परापरत्वे सङ्ख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे ॥ ३४ ॥
तत्र क्षितिर्गन्धहेतुर्नानारूपवती मता ।
षड्विधस्तु रसस्तत्र गन्धस्तु द्विविधो मतः ॥ ३५ ॥
स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः ।
नित्यानित्या च सा द्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा ॥ ३६ ॥
अनित्या तु तदन्या स्यात् सैवावयवयोगिनी ।
सा च त्रिधा भवेद्देहमिन्द्रियं विषयस्तथा ॥ ३७ ॥
योनिजादि भवेद्देहमिन्द्रियं घ्राणलक्षणम् ।
विषयो द्व्यणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः ॥ ३८ ॥
वर्णः शुक्लो रसस्पर्शौ जले मधुरशीतलौ ।
स्नेहस्तत्र द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥
नित्यतादि प्रथमवत् किन्तु देहमयोनिजम् ।
इन्द्रियं रसनं सिन्धुहिमादिर्विषयो मतः ॥ ४० ॥
उष्णः स्पर्शस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम् ।
नैमित्तिकं द्रवत्वं तु नित्यतादि च पूर्ववत् ॥ ४१ ॥
इन्द्रियं नयनं वह्निस्वर्णादिर्विषयो मतः ।
अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शस्तु पवने मतः ॥ ४२ ॥
तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादिलिङ्गकः ।
पूर्ववन्नित्यताद्युक्तं देहव्यापि त्वगिन्द्रियम् ॥ ४३ ॥
प्राणादिस्तु महावायुपर्यन्तो विषयो मतः ।
आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः ॥ ४४ ॥
इन्द्रियं तु भवेच्छ्रोत्रमेकः सन्नप्युपाधितः ।
जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ॥ ४५ ॥

परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः ।
दूरान्तिकादिधीहेतुरेका नित्या दिगुच्यते ॥ ४६ ॥
उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादिव्यपदेशभाक् ।
आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम् ॥ ४७ ॥
शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः ।
तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः ॥ ४८ ॥
मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत् ।
धर्माधर्माश्रयोऽध्यक्षो विशेषगुणयोगतः ॥ ४९ ॥
प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथिः ।
अहङ्कारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः ॥ ५० ॥
विभुर्बुद्ध्यादिगुणवान् बुद्धिस्तु द्विविधा मता ।
अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा ॥ ५१ ॥
प्रत्यक्षमप्यनुमितिस्तथोपमितिशब्दजे ।
घ्राणजादिप्रभेदेन प्रत्यक्षं षड्विधं मतम् ॥ ५२ ॥
घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः ।
तथा रसो रसज्ञायास्तथा शब्दोऽपि च श्रुतेः ॥ ५३ ॥
उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसङ्ख्ये ।
विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिमाणयुक्तम् ॥ ५४ ॥
क्रिया जातिर्योग्यवृत्तिः समवायश्च तादृशः ।
गृह्णाति चक्षुः संयोगादालोकोद्भूतरूपयोः ॥ ५५ ॥
उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः ।
रूपान्यच्चक्षुषो योग्यं रूपमत्रापि कारणम् ॥ ५६ ॥
द्रव्याध्यक्षे त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम् ।
मनोग्राह्यं सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो मतिः कृतिः ॥ ५७ ॥
ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते ।
महत्त्वं षड्विधे हेतुरिन्द्रियं करणं मतम् ॥ ५८ ॥
विषयेन्द्रियसम्बन्धो व्यापारः सोऽपि षड्विधः ।
द्रव्यग्रहस्तु संयोगात् संयुक्तसमवायतः ॥ ५९ ॥
द्रव्येषु समवेतानां तथा तत्समवायतः ।
तत्रापि समवेतानां शब्दस्य समवायतः ॥ ६० ॥
तद्वृत्तीनां समवेतसमवायेन तु ग्रहः ।
प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत् ॥ ६१ ॥

विशेषणतया तद्वदभावानां ग्रहो भवेत् ।
यदि स्यादुपलभ्येतेत्येवं यत्र प्रसज्यते ॥ ६२ ॥
अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः ।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा ॥ ६३ ॥
आसत्तिराश्रयाणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते ।
तदिन्द्रियजतद्धर्मबोधसामग्र्यपेक्ष्यते ॥ ६४ ॥
विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणः ।
योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्ज्ञानभेदतः ॥ ६५ ॥
युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः ।
व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत् ॥ ६६ ॥
अनुमायां ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं न हि ।
अनागतादिलिङ्गेन न स्यादनुमितिस्तदा ॥ ६७ ॥
व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते ।
व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्ध उदाहृतः ॥ ६८ ॥
अथवा हेतुमन्निष्ठविरहाप्रतियोगिना ।
साध्येन हेतोरैकाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यते ॥ ६९ ॥
सिषाधयिषया शून्या सिद्धिर्यत्र न विद्यते ।
स पक्षस्तत्र वृत्तित्वज्ञानादनुमितिर्भवेत् ॥ ७० ॥
अनैकान्तो विरुद्धश्चाप्यसिद्धः प्रतिपक्षितः ।
कालात्ययापदिष्टश्च हेत्वाभासास्तु पञ्चधा ॥ ७१ ॥
आद्यः साधारणस्तु स्यादसाधारणकोऽपरः ।
तथैवानुपसंहारी त्रिधाऽनैकान्तिको भवेत् ॥ ७२ ॥
(पर्वतो वह्निमान् सत्त्वादिति तत्रादिमो भवेत् ।
पृथ्वी नित्या गन्धवत्त्वादिति स्यादपरस्तथा
सर्वं तुच्छं प्रमेयत्वादिति तत्रान्तिमो भवेत् ॥)
यः सपक्षे विपक्षे च भवेत् साधारणस्तु सः ।
यस्तूभयस्माद् व्यावृत्तः स त्वासाधारणो मतः ॥ ७३ ॥
तथैवानुपसंहारी केवलान्वयिपक्षकः ।
यः साध्यवति नैवास्ति स विरुद्ध उदाहृतः ॥ ७४ ॥
आश्रयासिद्धिराद्या स्यात् स्वरूपासिद्धिरप्यथ ।
व्याप्यत्वासिद्धिरपरा स्यादसिद्धिरतस्त्रिधा ॥ ७५ ॥
पक्षासिद्धिर्यत्र पक्षो भवेन्मणिमयो गिरिः ।
ह्रदो द्रव्यं धूमवत्त्वादत्रासिद्धिरथापरा ॥ ७६ ॥

व्याप्यत्वासिद्धिरपरा नीलधूमादिके भवेत् ।
विरुद्धयोः परामर्शे हेत्वोः सत्प्रतिपक्षता ॥ ७७ ॥

साध्यशून्यो यत्र पक्षस्त्वसौ बाध उदाहृतः ।
उत्पत्तिकालीनघटे गन्धादिर्यत्र साध्यते ॥ ७८ ॥
ग्रामीणस्य प्रथमतः पश्यतो गवयादिकम् ।
सादृश्यधीर्गवादीनां या स्यात् सा करणं मतम् ॥ ७९ ॥

वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिर्व्यापार उच्यते ।
गवयादिपदानां तु शक्तिधीरुपमा फलम् ॥ ८० ॥

पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः ।
शब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ॥ ८१ ॥
लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः ।
आसत्तिर्योग्यताकाङ्क्षा तात्पर्यज्ञानमिष्यते ॥ ८२ ॥
कारणं सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते ।
पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तितः ॥ ८३ ॥
यत्पदेन विना यस्याननुभावकता भवेत् ।
आकाङ्क्षा वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम् ॥ ८४ ॥
साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते ।
अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते ॥ ८५ ॥
अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः ।
रूपं रसः स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम् ॥ ८६ ॥
द्रवत्वं स्नेहवेगाश्च मता मूर्तगुणा अमी ।
धर्माधर्मौ भावना च शब्दो बुद्ध्यादयोऽपि च ॥ ८७ ॥
एतेऽमूर्तगुणाः सर्वे विद्वद्भिः परिकीर्तिताः ।
सङ्ख्यादयो विभागान्ता उभयेषां गुणा मताः ॥ ८८ ॥
संयोगश्च विभागश्च सङ्ख्या द्वित्वादिकास्तथा ।
द्विपृथक्त्वादयस्तद्वदेतेऽनेकाश्रिता गुणाः ॥ ७९ ॥
अतः शेषगुणाः सर्वे मता एकैकवृत्तयः ।
बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः ॥ ९० ॥
अदृष्टभावनाशब्दा अमी वैशेषिका गुणाः ।
सङ्ख्यादिरपरत्वान्तो द्रवोऽसांसिद्धिकस्तथा ॥ ९१ ॥
गुरुत्ववेगौ सामान्यगुणा एते प्रकीर्तिताः ।
सङ्ख्यादिरपरत्वान्तो द्रवत्वं स्नेह एव च ॥ ९२ ॥

एते तु द्वीन्द्रियग्राह्या अथ स्पर्शान्तशब्दकाः ।
बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्या गुरुत्वादृष्टभावनाः ॥ ९३ ॥
अतीन्द्रिया विभूनां तु ये स्युर्वैशेषिका गुणाः ।
अकारणगुणोत्पन्ना एते तु परिकीर्तिताः ॥ ९४ ॥
अपाकजास्तु स्पर्शान्ता द्रवत्वं च तथाविधम् ।
स्नेहवेगगुरुत्वैकपृथक्त्वपरिमाणकम् ॥ ९५ ॥
स्थितिस्थापक इत्येते स्युः कारणगुणोद्भवाः ।
संयोगश्च विभागश्च वेगश्चैते तु कर्मजाः ॥ ९६ ॥
स्पर्शान्तपरिमाणैकपृथक्त्वं स्नेहशब्दके ।
भवेदसमवायित्वमथ वैशेषिके गुणे ॥ ९७ ॥
आत्मनः स्यान्निमित्तत्वमुष्णस्पर्शगुरुत्वयोः ।
वेगेऽपि च द्रवत्वे च संयोगादिद्वये तथा ॥ ९८ ॥
द्विधैव कारणत्वं स्यादथ प्रादेशिको भवेत् ।
वैशेषिको विभुगुणः संयोगादिद्वयं तथा ॥ ९९ ॥
चक्षुर्ग्राह्यं भवेद्रूपं द्रव्यादेरुपलम्भकम् ।
चक्षुषः सहकारि स्याच्छुक्लादिकमनेकधा ॥ १०० ॥
जलादिपरमाणौ तन्नित्यमन्यत् सहेतुकम् ।
रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा ॥ १०१ ॥
सहकारी रसज्ञाया नित्यतादि च पूर्ववत् ।
घ्राणग्राह्यो भवेद् गन्धो घ्राणस्यैवोपकारकः ॥ १०२ ॥
सौरभश्चासौरभश्च स द्वेधा परिकीर्तितः ।
स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यस्त्वचः स्यादुपकारकः ॥ १०३ ॥
अनुष्णाशीतशीतोष्णभेदात् स त्रिविधो मतः ।
काठिन्यादि क्षितावेव नित्यतादि च पूर्ववत् ॥ १०४ ॥
एतेषां पाकजत्वं तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित् ।
तत्रापि परमाणौ स्यात् पाको वैशेषिके नये ॥ १०५ ॥
नैयायिकानां तु नये द्व्यणुकादावपीष्यते ।
गणनाव्यवहारे तु हेतुः सङ्ख्याभिधीयते ॥ १०६ ॥
नित्येषु नित्यमेकत्वमनित्येऽनित्यमिष्यते ।
द्वित्वादयः परार्द्धान्ता अपेक्षाबुद्धिजा मताः ॥ १०७ ॥
अनेकाश्रयपर्याप्ता एते तु परिकीर्तिताः ।
अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च नाशस्तेषां निरूपितः ॥ १०८ ॥

अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षाबुद्धिरिष्यते ।
परिमाणं भवेन्मानव्यवहारस्य कारणम् ॥ १०९ ॥
अणु दीर्घं महद्ध्रस्वमिति तद्भेद ईरितः ।
अनित्ये तदनित्यं स्यान्नित्ये नित्यमुदाहृतम् ॥ ११० ॥
सङ्ख्यातः परिमाणाच्च प्रचयादपि जायते ।
अनित्यं, द्व्यणुकादौ तु सङ्ख्याजन्यमुदाहृतम् ॥ १११ ॥
परिमाणं घटादौ तु परिमाणजमुच्यते ।
प्रचयः शिथिलाख्यो यः संयोगस्तेन जन्यते ॥ ११२ ॥
परिमाणं तूलकादौ नाशस्त्वाश्रयनाशतः ।
सङ्ख्यावत्तु पृथक्त्वं स्यात् पृथक्प्रत्ययकारणम् ॥ ११३ ॥
अन्योन्याभावतो नाऽस्य चरितार्थत्वमिष्यते ।
अस्मात् पृथगिदं नेति प्रतीतिर्हि विलक्षणा ॥ ११४ ॥
अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः ।
कीर्तितस्त्रिविधस्त्वेष आद्योऽन्यतरकर्मजः ॥ ११५ ॥
तथोभयक्रियाजन्यो भवेत् संयोगजोऽपरः ।
आदिमः श्येनशैलादिसंयोगः परिकीर्तितः ॥ ११६ ॥
मेषयोः सन्निपातो यः स द्वितीय उदाहृतः ।
कपालतरुसंयोगात् संयोगस्तरुकुम्भयोः ॥ ११७ ॥
तृतीयः स्यात् कर्मजोऽपि द्विधैव परिकीर्तितः ।
अभिघातो नोदनञ्च शब्दहेतुरिहादिमः ॥ ११८ ॥
शब्दाहेतुर्द्वितीयः स्याद्विभागोऽपि त्रिधा भवेत् ।
एककर्मोद्भवस्त्वाद्यो द्वयकर्मोद्भवोऽपरः ॥ ११९ ॥
विभागजस्तृतीयः स्यात् तृतीयोऽपि द्विधा भवेत् ।
हेतुमात्रविभागोत्थो हेत्वहेतुविभागजः ॥ १२० ॥
परत्वञ्चापरत्वञ्च द्विविधं परिकीर्तितम् ।
दैशिकं कालिकञ्चापि, मूर्त एव तु दैशिकम् ॥ १२१ ॥
परत्वं मूर्तसंयोगभूयस्त्वज्ञानतो भवेत् ।
अपरत्वं तदल्पत्वबुद्धितः स्यादितीरितम् ॥ १२२ ॥
तयोरसमवायी तु दिक्संयोगस्तदाश्रये ।
दिवाकरपरिस्पन्दभूयस्त्वज्ञानतो भवेत् ॥ १२३ ॥
परत्वमपरत्वं तु तदीयाल्पत्वबुद्धितः ।
अत्र त्वसमवायी स्यात् संयोगः कालपिण्डयोः ॥ १२४ ॥

अपेक्षाबुद्धिनाशेन नाशस्तेषां निरूपितः ।
बुद्धेः प्रपञ्चः प्रागेव प्रायशो विनिरूपितः ॥ १२५ ॥
अथाऽवशिष्टोऽप्यपरः प्रकारः परिदर्श्यते ।
अप्रमा च प्रमा चेति ज्ञानं द्विविधमिष्यते ॥ १२६ ॥
तच्छून्ये तन्मतिर्या स्यादप्रमा सा निरूपिता ।
तत्प्रपञ्चो विपर्यासः संशयोऽपि प्रकीर्तितः ॥ १२७ ॥
आद्यो देहेष्वात्मबुद्धिः शङ्खादौ पीततामतिः ।
भवेन्निश्चयरूपा या संशयोऽथ प्रदर्श्यते ॥ १२८ ॥
किंस्विन्नरो वा स्थाणुर्वेत्यादिबुद्धिस्तु संशयः ।
तदभावाप्रकारा धीस्तत्प्रकारा तु निश्चयः ॥ १२९ ॥
स संशयो मतिर्या स्यादेकत्राभावभावयोः ।
साधारणादिधर्मस्य ज्ञानं संशयकारणम् ॥ १३० ॥
दोषोऽप्रमाया जनकः प्रमायास्तु गुणो भवेत् ।
पित्तदूरत्वादिरूपो दोषो नानाविधः स्मृतः ॥ १३१ ॥
प्रत्यक्षे तु विशेष्येण विशेषणवता समम् ।
सन्निकर्षो गुणस्तु स्यादथ त्वनुमितौ पुनः ॥ १३२ ॥
पक्षे साध्यविशिष्टे तु परामर्शो गुणो भवेत् ।
शक्ये सादृश्यबुद्धिस्तु भवेदुपमितौ गुणः ॥ १३३ ॥
शाब्दबोधे योग्यतायास्तात्पर्यस्याथ वा प्रमा ।
गुणः स्याद् भ्रमभिन्नन्तु ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा ॥ १३४ ॥
अथ वा तत्प्रकारं यज्ज्ञानं तद्वद्विशेष्यकम् ।
तत्प्रमा न प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम् ॥ १३५ ॥
प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धानवगाहि तत् ।
प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यं संशयानुपपत्तितः ॥ १३६ ॥
व्यभिचारस्याग्रहोऽपि सहचारग्रहस्तथा ।
हेतुर्व्याप्तिग्रहे तर्कः क्वचिच्छङ्कानिवर्तकः ॥ १३७ ॥
साध्यस्य व्यापको यस्तु हेतोरव्यापकस्तथा ।
स उपाधिर्भवेत् तस्य निष्कर्षोऽयं प्रदर्श्यते ॥ १३८ ॥
सर्वे साध्यसमानाधिकरणाः स्युरुपाधयः ।
हेतोरेकाश्रये येषां स्वसाध्यव्यभिचारिता ॥ १३९ ॥
व्यभिचारस्यानुमानमुपाधेस्तु प्रयोजनम् ।
शब्दोपमानयोर्नैव पृथक् प्रामाण्यमिष्यते ॥ १४० ॥

अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम् ।
तन्न सम्यग्विना व्याप्तिबोधं शब्दादिबोधतः ॥ १४१ ॥
त्रैविध्यमनुमानस्य केवलान्वयिभेदतः ।
द्वैविध्यं तु भवेद् व्याप्तेरन्वयव्यतिरेकतः ॥ १४२ ॥
अन्वयव्याप्तिरुक्तैव व्यतिरेकादिहोच्यते ।
साध्याभावव्यापकत्वं हेत्वभावस्य यद्भवेत् ॥ १४३ ॥
अर्थापत्तिस्तु नैवेह प्रमाणान्तरमिष्यते ।
व्यतिरेकव्याप्तिबुद्ध्या चरितार्था हि सा यतः ॥ १४४ ॥
सुखं तु जगतामेव काम्यं धर्मेण जायते ।
अधर्मजन्यं दुःखं स्यात् प्रतिकूलं सचेतसाम् ॥ १४५ ॥
निर्दुःखत्वे सुखे चेच्छा तज्ज्ञानादेव जायते ।
इच्छा तु तदुपाये स्यादिष्टोपायत्वधीर्यदि ॥ १४६ ॥
चिकीर्षा कृतिसाध्यत्वप्रकारेच्छा च या भवेत् ।
तद्धेतुः कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिर्भवेत् ॥ १४७ ॥
बलवद्द्विष्टहेतुत्वमतिः स्यात् प्रतिबन्धिका ।
तदहेतुत्वबुद्धेस्तु हेतुत्वं कस्यचिन्मते ॥ १४८ ॥
द्विष्टसाधनताबुद्धिर्भवेद् द्वेषस्य कारणम् ।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तथा जीवनकारणम् ॥ १४९ ॥
एवं प्रयत्नत्रैविध्यं तान्त्रिकैः परिकीर्तितम् ।
चिकीर्षा कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिस्तथा ॥ १५० ॥
उपादानस्य चाध्यक्षं प्रवृत्तौ जनकं भवेत् ।
निवृत्तिस्तु भवेद् द्वेषाद् द्विष्टसाधनताधियः ॥ १५१ ॥
यत्नो जीवनयोनिस्तु सर्वदाऽतीन्द्रियो भवेत् ।
शरीरे प्राणसञ्चारे कारणं परिकीर्तितम् ॥ १५२ ॥
अतीन्द्रियं गुरुत्वं स्यात् पृथिव्यादिद्वये तु तत् ।
अनित्ये तदनित्यं स्यान्नित्ये नित्यमुदाहृतम् ॥ १५३ ॥
तदेवासमवायि स्यात् पतनाख्ये तु कर्मणि ।
सांसिद्धिकं द्रवत्वं स्यान्नैमित्तिकमथापरम् ॥ १५४ ॥
सांसिद्धिकं तु सलिले द्वितीयं क्षितितेजसोः ।
परमाणौ जले नित्यमन्यत्रानित्यमुच्यते ॥ १५५ ॥
नैमित्तिकं वह्नियोगात् तपनीयघृतादिषु ।
द्रवत्वं स्यन्दने हेतुर्निमित्तं सङ्ग्रहे तु तत् ॥ १५६ ॥

स्नेहो जले स नित्योऽणावनित्योऽवयविन्यसौ ।
तैलान्तरे तत्प्रकर्षाद् दहनस्यानुकूलता ॥ १५७ ॥
संस्कारभेदो वेगोऽथ स्थितिस्थापकभावने ।
मूर्तमात्रे तु वेगः स्यात् कर्मजो वेगजः क्वचित् ॥१५८॥
स्थितिस्थापकसंस्कारः क्षितौ केचिच्चतुर्ष्वपि ।
अतीन्द्रियोऽसौ विज्ञेयः क्वचित्स्पन्देऽपि कारणम् ॥१५९॥
भावनाख्यस्तु संस्कारो जीववृत्तिरतीन्द्रियः ।
उपेक्षानात्मकस्तस्य निश्चयः कारणं भवेत् ॥ १६० ॥
स्मरणे प्रत्यभिज्ञायामप्यसौ हेतुरुच्यते ।
धर्माधर्मावदृष्टं स्याद् धर्मः स्वर्गादिसाधनम् ॥ १६१ ॥
गङ्गास्नानादियागादिव्यापारः स तु कीर्तितः ।
कर्मनाशाजलस्पर्शादिना नाश्यस्त्वसौ मतः ॥ १६२ ॥
अधर्मो नरकादीनां हेतुर्निन्दितकर्मजः ।
प्रायश्चित्तादिनाश्योऽसौ जीववृत्ती त्विमौ गुणौ ॥१६३॥
इमौ तु वासनाजन्यौ ज्ञानादपि विनश्यतः ।
शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्च मृदङ्गादिभवो ध्वनिः ॥ १६४ ॥
कण्ठसंयोगादिजन्या वर्णास्ते कादयो मताः ।
सर्वः शब्दो नभोवृत्तिः श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्यते ॥ १६५ ॥
वीचीतरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता ।
कदम्बगोलकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते ॥ १६६ ॥
उत्पन्नः को विनष्टः क इति बुद्धेरनित्यता ।
सोऽयं क इति बुद्धिस्तु साजात्यमवलम्बते ॥ १६७ ॥
तदेवौषधमित्यादौ सजातीयेऽपि दर्शनात् ।
तस्मादनित्या एवेति वर्णाः सर्वे मतं हि नः ॥ १६८ ॥

इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यकृता कारिकावली समाप्ता ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

भाषापरिच्छेदापराभिधा च कारिकावली

बालप्रियाव्याख्योपेता

—•—

❀ मुक्तावली ❀

(मङ्गलाचरणम्)

चूडामणीकृतविधुर्वलयीकृतवासुकिः ।
भवो भवतु भव्याय लीलाताण्डवपण्डितः ॥ १ ॥

❀ बालप्रिया ❀

(ताण्डवनृत्त के समय) जिसने शिरोभूषणमणि के स्थान में चन्द्रमा को धारण किया और कंकण के स्थान में 'वासुकि' सर्प को धारण किया, ताण्डवनृत्त करने में कुशल (ऐसे वे) शिवजी (सबके) कल्याण के लिए हों अर्थात् सब का कल्याण करें।

उक्त मङ्गलाचरण के द्वारा ताण्डवनृत्त करनेवाले शिवजी की प्रार्थना से यह ध्वनित हो रहा है कि नृत्त-नृत्य आदि का समय आनन्दजनक होता है, उस समय अभीष्ट फल की प्राप्ति होना सम्भव है, यह विचार कर श्री विश्वनाथ-पंचानन भट्टाचार्य ने अपने क्रियमाण ग्रन्थ (मुक्तावलि) की निर्विघ्नतया शीघ्र समाप्ति हो जाय, इस अभीष्ट फल के प्राप्त्यर्थ उन्हीं शिवजी की प्रार्थना की है।

शंका—उपर्युक्त मङ्गलाचरण के श्लोक (पद्य) में कुछ विद्वान् **'समाप्त-पुनरात्तत्व'** नामक दोष प्रदर्शित करते हैं।

उनका यह कहना है—**'समाप्तपुनरादानात् समाप्तपुनरात्तता'** इस लक्षण से जिस प्रकार 'उदयति चन्द्रः कुमुदबन्धुः' में 'चन्द्रः उदयति' इस प्रकार चन्द्र का 'उदयति' क्रिया के साथ अन्वय हो जाने से शान्त आकांक्षावाले 'चन्द्रः' इस विशेष्यवाचक पद का 'कुमुदबन्धुः' इस विशेषण के द्वारा पुनः अनुसन्धान करना उचित नहीं है। अर्थात् निराकांक्ष हुए 'चन्द्रः' पद में पुनः 'कुमुदबन्धुः' यह विशेषण जोड़ना अनुचित (व्यर्थ) है। यही **'समाप्तपुनरात्तत्व'** दोष है। इसी दोष को अन्य शब्दों में इस प्रकार भी कहा जाता है—'क्रियान्वयेन शान्ताकांक्षस्य विशेष्यवाचकपदस्य विशेषणान्तरान्वयार्थं पुनरनुसन्धानं समाप्तपुनरात्तत्वम्'। निर्दिष्ट उदाहरण के समान ही मंगलाचरण के श्लोक में 'भवो भवतु भव्याय' इस

प्रकार अन्वय करने से ही 'भवः' पद की आकांक्षा शान्त हो जाती है, तब पुनः 'लीलाताण्डवपण्डितः' यह विशेषण देना उचित नहीं है, क्योंकि 'भवः' के साथ इस विशेषण (लीलाताण्डवपण्डितः) को अन्वित करने पर (जोड़ने पर) 'भव' के स्मरण करने की पुनः आवश्यकता होती है—यही 'समाप्तपुनरात्तत्व' दोष है। अतः 'लीलाताण्डवपण्डितः' यह विशेषण नहीं देना चाहिये।

समाधान—चन्द्रमा को शिरोभूषण क्यों बनाया ? और क्यों वासुकी सर्प को कर-कंकण बनाया ? यह आकांक्षा होती है। और कार्य की सिद्धि निराकांक्ष होने पर ही होती है, इसलिए 'लीलाताण्डवपण्डितः' यह विशेषण देना उचित ही है, अनुचित नहीं। क्योंकि नृत्त-नृत्य आदि में आभूषणादि की ही तो शोभा है। **अथवा**—'लीलाताण्डवपण्डितः' पद, यहाँ पर विशेष्य है, विशेषण नहीं। अतः 'समाप्तपुनरात्तत्व' नामका काव्यदोष उक्त श्लोक में नहीं है ॥ १ ॥

निजनिर्मितकारिकावलीमतिसङ्क्षिप्तचिरन्तनोक्तिभिः।
विशदीकरवाणि कौतुकान्ननु राजीवदयावशंवदः ॥२॥
सद्रव्या गुणगुम्फिता सुकृतिनां सत्कर्मणां ज्ञापिका
सत्सामान्यविशेषनित्यमिलिताभावप्रकर्षोज्ज्वला ।
विष्णोर्वक्षसि विश्वनाथकृतिना सिद्धान्तमुक्तावली
विन्यस्ता मनसो मुदं वितनुतां सद्युक्तिरेषा चिरम् ॥३॥

मैं (विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य) राजीवनामक शिष्य पर दयावशंगत होने के कारण[1] गोतम-कणादादि प्राचीन महर्षि ग्रन्थकारों के अत्यन्त संक्षिप्त वचनों को लेकर स्वयं रची हुई कारिकावली अर्थात् भाषापरिच्छेद नामक ग्रन्थ के अर्थ को अत्यन्त उत्साह से सुस्पष्ट करता हूँ ॥ २ ॥

मैंने (विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य नाम के चतुर विद्वान् ने) सिद्धान्त-मुक्तावली नामक व्याख्या-ग्रन्थ बड़ा ही युक्तियुक्त निर्माण किया है, और उसे (मुक्तावली को) भगवान् विष्णु के वक्षस्थल पर अर्पण[2] किया है (पहनाया है) यह ग्रन्थ विद्वानों के चित्त को सदा प्रसन्न करता रहे। मुक्तावली ग्रन्थ की मुक्तावली (मोतियों की माला) से उपमा दे रहे हैं। इस ग्रन्थ में नौ द्रव्य, चौबीस गुण, उत्क्षेपणादि पाँच कर्म, सामान्य विशेष, समवाय तथा प्रागभाव आदि अभाव

(१) राजीव नामक शिष्य ने शुश्रूषा तथा श्रद्धा, भक्ति, विनय आदि अपने सद्गुणों से गुरु को इतना प्रसन्न किया था जिससे उनका चित्त दयार्द्र हो उठा और वे दया के अधीन हो गये। सेवा से वशीभूत हुए गुरु शास्त्ररहस्य को अति-शीघ्र शिष्य के हृदय में उतार देते हैं। इसीलिए कहा गया है—'गुरु-शुश्रूषया विद्या'। शुश्रूषा (सेवा) से बढ़कर अन्य कोई उपाय नहीं है।

(२) "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्" इस गीतावचन के अनुसार मुक्तावली के तुल्य अपने रचित ग्रंथ को भागवदर्पण किया गया है।

कहे गये हैं। मुक्तामाला (मोतियों की माला) भी द्रव्यसाध्या (द्रव्य होने से मिलती है), गुणों से (सूत्र से) ग्रथित (गुम्फित) रहती है, उस माला को धारण करनेवाले (पहननेवाले) के भाग्य और सत्कर्म को सूचित करती है, सुन्दर जाति के मोतियों की वह (माला) होती है, महत्त्व-निर्मलत्व (बड़े-छोटे व उजले दाने) आदि से निरन्तर युक्त रहती है, और तेज के अभाव (अन्धकार) में दीपक के समान पदार्थों को प्रकाशित करती है ॥ ३ ॥

❀ कारिकावली ❀

(मङ्गलाचरणम्)

नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय ।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय ॥ १ ॥

अन्वयः—नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय संसारमहीरुहस्य बीजाय तस्मै कृष्णाय नमः ।

नूतनजलधररुचये०—नूतनश्चासौ जलधरो मेघो नूतनजलधरः, नूतनजलधरस्य रुचिरिव रुचिर्यस्य स नूतनजलधररुचिः तस्मै । जिस प्रकार सजल मेघ वृष्टि प्रदान कर जनसमूह को प्रसन्न कर देता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने भक्तजनों की अभिलाषा को पूर्ण कर उन्हें आनन्द प्रदान करें ।

१. **गोपवधूटीदुकूलचौराय०**—गाः पान्तीति गोपाः, गोपानां वधूटयः, गोपवधूटीनां दुकूलानि गोपवधूटीदुकूलानि, चोरयति यः स चौरः, गोपवधूटीदुकूलानां चौरः, तस्मै गोपवधूटीदुकूलचौराय। गौओं का पालन करनेवाले ग्वालों की स्त्रियों के वस्त्रों को चुरानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार ग्वालबालाओं के वस्त्रों का अपहरण किया उसी प्रकार मेरे मिथ्याज्ञान का भी वे अपहरण करें ।

२. **अथवा**—गाः इन्द्रियाणि पान्तीति गोपाः जीवात्मानः तेषां वधूटयः दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानि, ता एव दुकूलानि मोक्षावस्थाऽऽच्छादकत्वात्, तेषां चौरः स्वसहित-यावत्-तत्त्वविषयकश्रवण-मनन-निदिध्यासनद्वारा नाशकः, तस्मै । इन्द्रियों के पालक जो जीवात्मा, उनके दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानस्वरूप वस्त्रों (मोक्षावरणों) को चुरानेवाले अथवा अपना श्रवण-मनन-निदिध्यासन कराते हुए दुःखजन्मप्रवृत्ति आदि का नाश करनेवाले ।

३. **अथवा**—गां पृथ्वीं पातीति गोपो युधिष्ठिरः, तस्य वधूटी द्रौपदी, तस्याः दुकूलानि एकोनसहस्र (९९९) वस्त्राणि तेभ्यः (तदर्थं), चौरः अदृश्यतया सभायां स्थितः, तस्मै ।

अथवा चौराय चौलाय वर्धयित्रे ।

धर्मराज युधिष्ठिर की पत्नी द्रौपदी को नौ सौ निन्यानबे वस्त्र वितरण करने के निमित्त सभा में अदृश्य होकर स्थित रहनेवाले ।

४. **अथवा—'गोपवधूटीदुकूलचौराय'**—गाम् पातीति गोपं मनः, तस्य वधूटी स्त्री यो बुद्धिः, तस्याः दुकूलानि अज्ञानादिवस्त्राणि, तेषां चौराय ।

प्रकार अन्वय करने से ही 'भवः' पद की आकांक्षा शान्त हो जाती है, तब पुनः 'लीलाताण्डवपण्डितः' यह विशेषण देना उचित नहीं है, क्योंकि 'भवः' के साथ इस विशेषण (लीलाताण्डवपण्डितः) को अन्वित करने पर (जोड़ने पर) 'भव' के स्मरण करने की पुनः आवश्यकता होती है—यही 'समाप्तपुनरात्तत्व' दोष है। अतः 'लीलाताण्डवपण्डितः' यह विशेषण नहीं देना चाहिये।

समाधान—चन्द्रमा को शिरोभूषण क्यों बनाया ? और क्यों वासुकी सर्प को कर-कंकण बनाया ? यह आकांक्षा होती है। और कार्य की सिद्धि निराकांक्ष होने पर ही होती है, इसलिए 'लीलाताण्डवपण्डितः' यह विशेषण देना उचित ही है, अनुचित नहीं। क्योंकि नृत्त-नृत्य आदि में आभूषणादि की ही तो शोभा है। **अथवा**—'लीलाताण्डवपण्डितः' पद, यहाँ पर विशेष्य है, विशेषण नहीं। अतः 'समाप्तपुनरात्तत्व' नामका काव्यदोष उक्त श्लोक में नहीं है ॥ १ ॥

निजनिर्मितकारिकावलीमतिसङ्क्षिप्तचिरन्तनोक्तिभिः।
विशदीकरवाणि कौतुकान्ननु राजीवदयावशंवदः ॥२॥
सद्रव्या गुणगुम्फिता सुकृतिनां सत्कर्मणां ज्ञापिका
सत्सामान्यविशेषनित्यमिलिताभावप्रकर्षोज्ज्वला ।
विष्णोर्वक्षसि विश्वनाथकृतिना सिद्धान्तमुक्तावली
विन्यस्ता मनसो मुदं वितनुतां सद्युक्तिरेषा चिरम् ॥३॥

मैं (विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य) राजीवनामक शिष्य पर दयावशंगत होने के कारण[1] गोतम-कणादादि प्राचीन महर्षि ग्रन्थकारों के अत्यन्त संक्षिप्त वचनों को लेकर स्वयं रची हुई कारिकावली अर्थात् भाषापरिच्छेद नामक ग्रन्थ के अर्थ को अत्यन्त उत्साह से सुस्पष्ट करता हूँ ॥ २ ॥

मैंने (विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य नाम के चतुर विद्वान् ने) सिद्धान्त-मुक्तावली नामक व्याख्या-ग्रन्थ बड़ा ही युक्तियुक्त निर्माण किया है, और उसे (मुक्तावली को) भगवान् विष्णु के वक्षस्थल पर अर्पण[2] किया है (पहनाया है) यह ग्रन्थ विद्वानों के चित्त को सदा प्रसन्न करता रहे। मुक्तावली ग्रन्थ की मुक्तावली (मोतियों की माला) से उपमा दे रहे हैं। इस ग्रन्थ में नौ द्रव्य, चौबीस गुण, उत्क्षेपणादि पाँच कर्म, सामान्य विशेष, समवाय तथा प्रागभाव आदि अभाव

---

(१) राजीव नामक शिष्य ने शुश्रूषा तथा श्रद्धा, भक्ति, विनय आदि अपने सद्गुणों से गुरु को इतना प्रसन्न किया था जिससे उनका चित्त दयार्द्र हो उठा और वे दया के अधीन हो गये। सेवा से वशीभूत हुए गुरु शास्त्ररहस्य को अति-शीघ्र शिष्य के हृदय में उतार देते हैं। इसीलिए कहा गया है—'गुरु-शुश्रूषया विद्या'। शुश्रूषा (सेवा) से बढ़कर अन्य कोई उपाय नहीं है।

(२) "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्" इस गीतावचन के अनुसार मुक्तावली के तुल्य अपने रचित ग्रंथ को भागवदर्पण किया गया है।

कहे गये हैं। मुक्तामाला (मोतियों की माला) भी द्रव्यसाध्या (द्रव्य होने से मिलती है), गुणों से (सूत्र से) ग्रथित (गुम्फित) रहती है, उस माला को धारण करनेवाले (पहननेवाले) के भाग्य और सत्कर्म को सूचित करती है, सुन्दर जाति के मोतियों की वह (माला) होती है, महत्त्व-निर्मलत्व (बड़े-छोटे व उजले दाने) आदि से निरन्तर युक्त रहती है, और तेज के अभाव (अन्धकार) में दीपक के समान पदार्थों को प्रकाशित करती है ॥ ३ ॥

❀ कारिकावली ❀

(मङ्गलाचरणम्)

नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय ।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय ॥ १ ॥

अन्वयः—नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय संसारमहीरुहस्य बीजाय तस्मै कृष्णाय नमः।

नूतनजलधररुचये०—नूतनश्चासौ जलधरो मेघो नूतनजलधरः, नूतनजलधरस्य रुचिरिव रुचिर्यस्य स नूतनजलधररुचिः तस्मै। जिस प्रकार सजल मेघ वृष्टि प्रदान कर जनसमूह को प्रसन्न कर देता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने भक्तजनों की अभिलाषा को पूर्ण कर उन्हें आनन्द प्रदान करें।

१. गोपवधूटीदुकूलचौराय०—गाः पान्तीति गोपाः, गोपानां वधूटयः, गोपवधूटीनां दुकूलानि गोपवधूटीदुकूलानि, चोरयति यः स चौरः, गोपवधूटीदुकूलानां चौरः, तस्मै गोपवधूटीदुकूलचौराय। गौओं का पालन करनेवाले ग्वालों की स्त्रियों के वस्त्रों को चुरानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार ग्वालबालाओं के वस्त्रों का अपहरण किया उसी प्रकार मेरे मिथ्याज्ञान का भी वे अपहरण करें।

२. अथवा—गाः इन्द्रियाणि पान्तीति गोपाः जीवात्मानः तेषां वधूटयः दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानि, ता एव दुकूलानि मोक्षावस्थाऽऽच्छादकत्वात्, तेषां चौरः स्वसहित-यावत्-तत्त्वविषयकश्रवण-मनन-निदिध्यासनद्वारा नाशकः, तस्मै। इन्द्रियों के पालक जो जीवात्मा, उनके दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानस्वरूप वस्त्रों (मोक्षावरणों) को चुरानेवाले अथवा अपना श्रवण-मनन-निदिध्यासन कराते हुए दुःखजन्मप्रवृत्ति आदि का नाश करनेवाले।

३. अथवा—गां पृथ्वीं पातीति गोपो युधिष्ठिरः, तस्य वधूटी द्रौपदी, तस्याः दुकूलानि एकोनसहस्र (९९९) वस्त्राणि तेभ्यः (तदर्थं), चौरः अदृश्यतया सभायां स्थितः, तस्मै।

अथवा चौराय चौलाय वर्धयित्रे।

धर्मराज युधिष्ठिर की पत्नी द्रौपदी को नौ सौ निन्यानबे वस्त्र वितरण करने के निमित्त सभा में अदृश्य होकर स्थित रहनेवाले।

४. अथवा-'गोपवधूटीदुकूलचौराय'—गाम् पातीति गोपं मनः, तस्य वधूटी स्त्री यो बुद्धिः, तस्याः दुकूलानि अज्ञानादिवस्त्राणि, तेषां चौराय।

संसारमहीरुहस्य बीजाय—संसारः जन्मस्थितिलयशीलं जगत् स एव महीरुहः वृक्षः तस्य बीजाय निमित्तकारणाय।

जो समस्त संसार का उत्पादक और संरक्षक है उसे मेरे मनोरथों को पूर्ण करने में कौनसी कठिनाई होगी।

तस्मै—'तत्' पद की शक्ति बुद्धिस्थ प्रकारावच्छिन्न में है। यहाँ पर बुद्धिस्थ-प्रकार 'इष्टसिद्धिप्रदातृत्व' है। अतः इष्टसिद्धिप्रदातृत्व गुण से विशिष्ट, 'कृष्णाय' भगवान् कृष्ण को 'नमः' मेरा प्रणाम है।

कृष्णः—'कर्षति सर्वदैव' आनन्दस्वरूप होने से अपने आश्रितों के सकल दुःखों का जो उन्मूलन करता है। 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। कृष्णस्तद्भावयोगाच्चेति कृष्णशब्दस्य व्युत्पत्तिः।'

नवीन मेघ की कान्ति के तुल्य कान्तिसम्पन्न, गोपाङ्गनाओं के वस्त्रों का अपहरण करनेवाले और संसाररूपी वृक्ष के निमित्त कारण, विश्वप्रसिद्ध उस भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को मैं प्रणाम करता हूँ॥ १॥

मन की स्त्री जो बुद्धि, उसके जो अज्ञानादि वस्त्र, उनको चुरानेवाले अर्थात् अज्ञान को दूर करनेवाले। इस विशेषण से यह सिद्ध होता है कि 'नग्न-स्नान धर्मशास्त्र में निषिद्ध है' इस कारण उनके वस्त्र चुराकर भगवान् ने उनको जैसे शिक्षा दी, तद्वत् मेरे दोषों को दूर कर मेरे मनको प्रेरणाद्वारा वही भगवान् श्रीकृष्ण शिक्षा दें, यह ध्वनित होता है।

विघ्नविघाताय[१] कृतं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै निबध्नाति-नूतनेत्यादि।

---

(१) 'विघाताय' पद में 'वि+घात' दो अंश हैं। पहिला उपसर्ग है और दूसरा प्रातिपदिक है। दूसरे पद (प्रातिपदिक) की स्वार्थवाचकता समस्त शास्त्रकारों के मत से निश्चित है, किन्तु उपसर्ग में कुछ लोग वाचकता और कुछ लोग द्योतकता मानते हैं। द्योतकतावादी के पक्ष में तो कोई दोष नहीं है, लेकिन वाचकतावादी के पक्ष में 'घात' प्रातिपदिक का अर्थ ही उत्पत्तिवाले पदार्थ का अभाव होने से 'वि' पद व्यर्थ हो जाता है, तथापि शास्त्रकारों का यह संकेत है कि जहाँ विशिष्टवाचक पद के समीप विशेषणवाचक पद होता है, वहाँ विशिष्टवाचक पद में विशेष्यमात्र की वाचकता होती है। जैसे—सकीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः' महाकवि कालिदास के इस श्लोक में 'कीचका वेणवस्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इस अमरकोष के अनुसार जो वायु से पूर्ण होकर शब्द करने वाले बाँस होते हैं, उन्हीं को 'कीचक' कहते हैं। तब मारुतपूर्णरन्ध्रत्व को कीचक का विशेषण बनाकर रखना व्यर्थ हुआ। इस पर समाधान यह दिया जाता है कि यहाँ पर विशिष्टवाचक पद को विशेष्यमात्र का वाचक समझना चाहिये। अर्थात् 'कीचक' पद का केवल बाँस अर्थ करना और 'मारुतपूर्णरन्ध्रैः' पद का 'पवन से भर कर शब्द करनेवाले' ऐसा अर्थ करना चाहिये। ऐसा करने से विशेषण देना व्यर्थ नहीं होगा। उसी प्रकार प्रस्तुत में भी

कर्तव्य ग्रन्थ[1] की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मंगल[2] किया जाता है। किन्तु ग्रन्थारम्भ में मंगल लिखने का प्रयोजन शिष्यों को शिक्षा देना ही है। उसी उद्देश्य से 'नूतन' इत्यादि श्लोक मंगल के रूप में लिखा गया है।

केवल 'घात' पद का अर्थ 'अभाव' मात्र है, और 'वि'—इस विशेषण के लगाने से 'उत्पत्तिवाले का अभाव' यह अर्थ होता है। अतः वाचक पक्ष में भी कोई दोष नहीं होगा।

(१) इस मुक्तावली ग्रन्थ की **तीन प्रकार (उद्देश्य, लक्षण, परीक्षा)** से प्रवृत्ति हुई है। नाममात्र से वस्तु का जो कथन है, वह (१) **उद्देश्य** है। जैसे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय तथा अभाव। जिस वस्तु का जो असाधारण (मुख्य) धर्म रहता है, वही उस वस्तु का (२) **लक्षण** कहा जाता है, जैसे—गन्ध गुण केवल पृथिवी का ही है अर्थात् पृथ्वी का असाधारण धर्म है, इसलिये 'गन्धवत्त्व' (गन्ध का होना) ही पृथ्वी का लक्षण समझा जाता है। जिस वस्तु का लक्षण किया गया है, वह लक्षण उस वस्तु में सम्भव भी है या नहीं, इस विचार को (३) **'परीक्षा'** कहते हैं। जैसे–'पृथ्वी, जलादि इतर पदार्थों से भेदवाली (भिन्न) है, गन्धवाली (गन्धविशिष्ट=युक्त) होने से'। जो-जो वस्तु, जलादि पदार्थों से भेद करा देनेवाली नहीं है, वह-वह गन्धवाली भी नहीं है, जैसे—जलादि वस्तु। यही शास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति है। इसके बिना किसी भी शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

बुद्धिमान् पुरुषों की शास्त्र में प्रवृत्ति, उसके अनुबन्धों को जाने विना नहीं हो सकती। वे अनुबन्ध चार होते हैं। जैसे-(१) अभिधेय (विषय), (२) प्रयोजन (३) अधिकारी, (४) सम्बन्ध। शास्त्र के सम्बन्ध तथा प्रयोजन को जानकर ही उसके श्रवण करने में श्रोता प्रवृत्त होता है। इस कारण शास्त्र के प्रारम्भ में विषयादि अनुबन्धों को अवश्य बताना चाहिए। अनुबन्धत्वं नाम—'ग्रन्थप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञान-विषयत्वम्।' अतः—'अनुबन्ध' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—पुरुषमनुबध्नाति स्वज्ञानेन प्रेरयति–इति अनुबन्धः।

१. **अभिधेय**—'शास्त्रजप्रमानिवर्त्याज्ञानगोचरोऽभिधेयः'। जिस शास्त्रजन्य प्रमाज्ञान से निवृत्त होने योग्य अज्ञान का जो पदार्थ विषय होता है वही पदार्थ, उस शास्त्र का अभिधेय (विषय) समझा जाता है। जैसे—'न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली' के अध्ययन से पूर्व द्रव्यादि पदार्थों का अज्ञान रहता है, वह अज्ञान उस 'न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली' के अध्ययनजनित यथार्थज्ञान से निवृत्त हो जाता है, अतः **द्रव्यादिपदार्थ**, इस न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' के **अभिधेय** (विषय) हैं।

२. **प्रयोजन**—'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्।' मनुष्य जिस पदार्थ की प्राप्ति के उद्देश्य से उसके साधन (सम्पादन) में प्रवृत्त होता है, उसे **प्रयोजन** कहते हैं।

३. **अधिकारी**–'द्विविध' प्रयोजन-प्राप्तिकामोऽधिकारी' मुख्य अथवा गौण किसी भी प्रकार के प्रयोजन की कामनावाला पुरुष इसका **अधिकारी** होता है।

४. **सम्बन्ध**—सम्बन्धस्त्वनेकविधः—यथा, अभिधेय-शास्त्रयोः प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावः सम्बन्धः। पदार्थतत्त्वज्ञान-शास्त्रयोर्जन्यजनकभावः सम्बन्धः। निःश्रेयस-शास्त्रयोः प्रयोज्य-प्रयोजकभावः सम्बन्धः। तथा निःश्रेयस-पदार्थतत्त्व-ज्ञानयोः प्रयोज्य-प्रयोजकभावः सम्बन्धः। द्रव्यादिपदार्थ-तत्त्वज्ञानयोः विषयविषयि-भावः सम्बन्धः। निःश्रेयसाधिकारिणोः प्राप्य-प्रापकभावः सम्बन्धः। अधिकारि-विचारयोः कर्तृ-कर्तव्यभावः सम्बन्धः।

सम्बन्ध अनेक प्रकार के हैं। जैसे—अभिधेय और शास्त्र का प्रतिपाद्यप्रति-पादक भाव सम्बन्ध है। यहाँ द्रव्यादि अभिधेय प्रतिपाद्य हैं और मुक्तावली प्रति-पादिका है। पदार्थतत्त्वज्ञान तथा ग्रन्थ का जन्य-जनकभाव सम्बन्ध है। यहाँ पर पदार्थतत्त्वज्ञान जन्य है और यह ग्रन्थ उसका जनक है। निःश्रेयस और शास्त्र का प्रयोज्य-प्रयोजकभाव सम्बन्ध है, यहाँ पर निःश्रेयस प्रयोज्य है और यह ग्रन्थ उसका प्रयोजक है। निःश्रेयस और पदार्थ-तत्त्वज्ञान का प्रयोज्य-प्रयोजकभाव सम्बन्ध है। यहाँ पर निःश्रेयस प्रयोज्य है और पदार्थ-तत्त्वज्ञान उसका प्रयोजक है। द्रव्यादिपदार्थ तथा तत्त्वज्ञान का विषय-विषयिभाव सम्बन्ध है। यहाँ पर द्रव्या-दिपदार्थ विषय है और तत्त्वज्ञान विषयी है। निःश्रेयसरूप फल तथा अधिकारी का प्राप्य-प्रापकभाव सम्बन्ध है। फल प्राप्य है और अधिकारी प्रापक है। अधि-कारी और विचार का कर्तृ-कर्तव्यभाव सम्बन्ध है। अधिकारी कर्ता है और विचार कर्तव्य है। इस प्रकार अनुबन्ध-चतुष्टय का निरूपण किया गया।

(२) किसी भी कार्य के आरम्भ में मंगल अवश्य करना चाहिए—यह सिद्धान्त केवल नैयायिकों का ही नहीं, अपितु व्याकरण-महाभाष्यकार आदि का भी है। महाभाष्यकार कहते हैं—'मंगलादीनि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाण्यध्येतारश्च बुद्धियुक्ता यथा स्युरिति' ग्रन्थ के आदि, मध्य तथा अन्त में मंगल अवश्य करना चाहिए। मंगल करने से रचे हुए शास्त्रों का (ग्रन्थों का) प्रसार-प्रचार होता है। उन ग्रन्थों को पढ़नेवाले लोग वीरता से पूर्ण तथा दीर्घायु एवं बुद्धिमान् होते हैं।

यह मंगल तीन प्रकार का होता है–'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्'–१. आशीर्वादात्मक, २. नमस्कारात्मक, ३. वस्तुनिर्देशात्मक। 'परमे-श्वरात् स्वस्य स्वशिष्यस्य वा वाञ्छितार्थप्रार्थनम्–**आशीर्वादः**।' अपने या अपने शिष्य के लिये वाञ्छित अर्थ की प्राप्ति के निमित्त परमेश्वर से प्रार्थना करना ही **आशीर्वाद** है।

'स्वापकर्षबोधानुकूलः स्वीयव्यापारविशेषो नमस्कारः।' प्रणाम के योग्य गुरु अथवा परमेश्वर के प्रति अपनी न्यूनता बोधन करने के लिए प्रणाम करने वाले पुरुष के शरीर-मन-वाणीकृत-व्यापार विशेष को ही **नमस्कार** कहते हैं।

ननु [1]मङ्गलं न विघ्नध्वंसं प्रति न वा समाप्तिं प्रति कारणं विनाऽपि[2] मङ्गलं नास्तिकादीनां ग्रन्थे निर्विघ्नपरिसमाप्तिदर्शनदिति चेत् ?

शंका—विघ्नविनाश अथवा ग्रन्थ की समाप्ति के प्रति मंगलाचरण कारण होता है—इस प्रकार कार्य-कारण भाव मानना उचित नहीं है, क्योंकि मंगलाचरण के विना भी नास्तिकों के ग्रन्थों (किरणावली आदि) की समाप्ति हो गई है, और मंगलाचरण करने पर भी आस्तिकों के ग्रन्थों (बाणभट्ट आदि के कादम्बरी आदि) की समाप्ति नहीं हो पाई।[3] अतः मंगलाचरण को विघ्नविनाश अथवा ग्रन्थ समाप्ति के प्रति कारण कहना उचित प्रतीत नहीं हो रहा है।

'ग्रन्थप्रतिपाद्यवस्तुनो निर्देशनं **वस्तुनिर्देशः**।' ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयरूप वस्तु का निर्देशमात्र करना ही **वस्तुनिर्देश** है। जैसे कुमारसम्भव काव्य के प्रारम्भ में वस्तुनिर्देशात्मक मंगल है। रत्नावली आदि ग्रन्थों में आशीर्वादात्मक मंगल है। इस मुक्तावली ग्रन्थ में नमस्कारात्मक मंगल है।

जिज्ञासा—यदि ग्रन्थकर्ता को मंगल करना ही था तो मन ही मन में कर लेना था, ग्रन्थ में क्यों लिखा ?

समाधान—मन में मंगल करने से ग्रन्थकर्ता की आस्तिकता या नास्तिकता विद्यार्थियों को प्रकट न हो पाती, अतः 'आगे होने वाले विद्यार्थिगण भी ग्रन्थारंभ आदि कार्यारंभ के समय ऐसा ही मंगलाचरण अवश्य किया करें, इस इच्छा से ग्रन्थकर्ता ने मंगलाचरण को ग्रन्थ के आरंभ में लिपिबद्ध करके दिखाया है।

(१) मंगलाचरण और ग्रन्थ-समाप्ति के कार्य-कारणभाव का भंग करने के लिए नास्तिक यह अनुमान-प्रयोग कर सकता है—'मंगलाचरणम् अयुक्तं निष्फलत्वात्।'

उपर्युक्त अनुमान में 'निष्फलत्व' हेतु को यदि कोई स्वरूपासिद्ध [पक्षे हेत्वभावः **स्वरूपासिद्धिः**, अर्थात् पक्ष में हेतु का न रहना, '**स्वरूपासिद्धि**' दोष है, और साध्य का जहाँ सन्देह रहता है अर्थात् जहाँ साध्य (वस्तु) की सिद्धि (अस्तित्व) की जाती है उसे '**पक्ष**' कहते हैं] कहें तो 'मंगलं निष्फलं, फलविशेषशून्यत्वात्' ऐसा अनुमान करेंगे, उससे 'निष्फलत्व' हेतु में दिये गये '**स्वरूपासिद्धि**' दोष का निवारण हो जायगा। और नास्तिक द्वारा किये गये उपर्युक्त अनुमान-प्रयोग से मंगल और समाप्ति के कार्यकारण भाव का भंग हो जायगा। इसी तात्पर्य से "ननु" इत्यादि ग्रन्थ से वादी (नास्तिक) ने शंका की है।

(२) 'मंगलं विघ्नध्वंसं प्रति तथा समाप्तिं प्रति कारणत्वाऽभाववत्, कार्याधिकरणवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, घटं प्रति वेमवत्' यह अनुमान व्यतिरेकव्यभिचार का साधक है।

(३) निर्विघ्नता या ग्रन्थ-समाप्ति के प्रति मंगल यदि कारण हो तो निर्विघ्नता या ग्रन्थसमाप्ति के लिए ग्रन्थारम्भ में मंगल करना उचित है, किन्तु निर्विघ्नता या ग्रन्थसमाप्ति में मंगल की कारणता सिद्ध नहीं हो पा रही है, क्योंकि कार्य-कारण का '**अन्वयसहचार ज्ञान**' [(कारणसत्त्वे कार्यसत्त्वम् अन्वयसहचारः) = कारण के

न, अविगीतशिष्टाचारविषयत्वेन मङ्गलस्य सफलत्वे सिद्धे तत्र च फलजिज्ञासायां, सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वाद्, उपस्थितत्वाच्च समाप्तिरेव फलं कल्प्यते ।

[1]इत्थं च यत्र मङ्गलं न दृश्यते तत्रापि जन्मान्तरीयं तत्कल्प्यते[2] । यत्र च सत्यपि मङ्गले समाप्तिर्न दृश्यते तत्र बलवत्तरो विघ्नो विघ्नप्राचुर्यं वा बोध्यम् । प्रचुरस्यास्यैव बलवत्तरविघ्ननिराकरणकारणत्वम् । विघ्नध्वंसस्तु मङ्गलस्य द्वारमित्याहुः प्राञ्चः ।

रहते कार्य की उत्पत्ति होना अन्वय सहचार है, जैसे—मृत्तिका—कुलाल आदि कारणों के रहने पर घट रूप कार्य की उत्पत्ति होती है । तथा **'व्यतिरेक-सहचार ज्ञान'** (कारणाभावे कार्याभावो व्यतिरेकसहचारः)=कारण के न रहने पर कार्य की उत्पत्ति न होना, व्यतिरेकसहचार है । जैसे—मृत्तिका-कुलाल आदि कारणों के न रहने पर घट रूप कार्य की उत्पत्ति नहीं होती] ये दोनों कारणता के निश्चायक होते हैं, किन्तु ये दोनों यहाँ नहीं हैं । प्रत्युत **अन्वय व्यभिचार ज्ञान** [(कारणसत्त्वे कार्याभावः अन्वयव्यभिचारः)=कारण के विद्यमान होने पर भी कार्य की उत्पत्ति न हो पाना अन्वयव्यभिचार है तथा **व्यतिरेकव्यभिचार ज्ञान** (कारणाभावे कार्यसत्त्वं व्यतिरेकव्यभिचारः)=कारण के न रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति होना व्यतिरेकव्यभिचार है ।] ये दोनों प्रस्तुत में विद्यमान हैं, जो कारणत्व के निश्चय करने में प्रतिबन्धक होते हैं । प्रस्तुत प्रसंग में बाणभट्ट आदि ने अपने काम्बरी ग्रन्थ में मंगलाचरण किया है किन्तु ग्रन्थसमाप्ति नहीं हो पाई । अतः यहाँ पर अन्वयव्यभिचार का ज्ञान हो रहा है, जो कार्यकारणभाव के साधक अन्वयसहचारज्ञान का प्रतिबन्धक है, इसी तरह नास्तिकग्रन्थ (किरणावली आदि) में मंगलाचरण के न होने पर भी ग्रन्थसमाप्तिरूप कार्य की उत्पत्ति हो गई है । अतः वहाँ पर व्यतिरेकव्यभिचार का ज्ञान हो रहा है, जो कार्य-कारणभाव के साधक व्यतिरेकसहचारज्ञान का प्रतिबन्धक है । इस कारण अर्थात् प्रतिबन्धकज्ञान होने के कारण मंगल और ग्रन्थसमाप्ति दोनों के कार्य-कारण भाव का निश्चय नहीं हो पा रहा है ।

(१) विनापि 'मंगलं' इत्यादि ग्रन्थ से पूर्वपक्षवादी ने मंगल तथा समाप्ति के कार्य-कारणभाव का व्यतिरेक-व्यभिचार ही दिखाया है, अन्वयव्यभिचार नहीं दिखाया, किन्तु सिद्धान्ती ने 'यत्र च सत्यपि मंगले' इत्यादि ग्रन्थ से अन्वयव्यभिचार का वारण किया है, अतः पूर्वपक्षीय अन्वयव्यभिचारस्थल में 'कादम्बरी' आदि आस्तिक ग्रन्थों को समझना चाहिये ।

(२) 'नास्तिकग्रन्थः स्वाश्रयपुरुषप्रयत्नजन्यत्वसम्बन्धेन मंगलवान्, स्वप्रतियोगिचरमवर्णघटितत्वसम्बन्धेन समाप्तिमत्वात्, भारतादिवत् ।' यहाँ प्रथम 'स्व' पदसे मंगल का ग्रहण और द्वितीय 'स्व' पद से समाप्ति का ग्रहण करना चाहिये । इस अनुमान से जन्मान्तरीय मंगल की कल्पना हो सकती है ।

नव्यास्तु—मङ्गलस्य विघ्नध्वंस एव फलं समाप्तिस्तु बुद्धिप्रतिभादिकारण-[1] कलापात्।

न चैवं स्वतः सिद्धविघ्नविरहवता कृतस्य मङ्गलस्य निष्फलत्वापत्तिरिति वाच्यम्।

इष्टापत्तेः। विघ्नशङ्कया तदाचरणात्। तथैव शिष्टाचारात्।

सप्रा०—मंगलाचरण करना धर्मशास्त्र विरुद्ध[2] न होने से शिष्टलोग[3] करते चले आ रहे हैं। अतएव निश्चय किया जा सकता है कि मंगलाचरण के करने से कोई न कोई फल अवश्य ही होगा। यहाँ प्रस्तुत प्रसंग में ग्रन्थसमाप्ति[4] ही फल

---

(१) विलक्षण बुद्धि का नाम प्रतिभा है। "बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामि गोचरा। प्रज्ञां नव-नवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः।" इसके अनुसार नवीन-नवीन उन्मेष पैदा होनेवाली प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं।

(२) यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ इस गीतावचन के अनुसार शिष्टपुरुषों के आचार से तथा धर्मशास्त्र से भी लोगों की प्रवृत्ति हुआ करती है, यह बताया गया है।

(३) मंगल की सफलता अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध हो जाती है जैसे—'मंगलं सफलं अविगीतशिष्टाचारविषयत्वात् दर्शादिवत्' मंगल का कोई-न-कोई फल अवश्य ही होता है, अविगीत (अनिन्दित) शिष्टाचार का विषय होने से। जो वस्तु अविगीत शिष्टाचार का विषय रहती है, वह वस्तु सफल ही रहती है। जैसे दर्शादि कर्म अविगीत शिष्टाचार का विषय होने से स्वर्गादिफलवाला है। अनुमान प्रयोग में दिये गये हेतुगत पदों का अर्थ—'बलवदनिष्टाननुबन्धित्वम् अविगीतत्वं'। 'फल-साधनांशे भ्रान्तिरहितत्वं शिष्टत्वम्।' आचारश्चात्र कृतिः।' प्रबल अनिष्ट की अजनकता ही अविगीतत्व है। फल के प्रति तथा उसके साधन के प्रति भ्रान्ति का न रहना ही शिष्टत्व है। यद्यपि आचार का अर्थ 'क्रिया' है। तथापि वह सविषयक नहीं होती, इस कारण यहाँ पर आचार शब्द से **प्रयत्न रूप कृति** का ग्रहण किया गया है। शिष्ट पुरुषों के अविगीत आचार का विषय 'मंगल' है, इसलिये वह (मंगल) सफल है, यह सिद्ध होता है।

(४) मंगल का फल यहाँ पर पशुपुत्रादि नहीं है; किन्तु ग्रन्थ की समाप्ति ही फल है, इस अभिप्राय से यह परिशेषानुमान करते हैं—'मंगलं समाप्तिफलकं समाप्त्यन्याफलकत्वे सति सफलत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा दर्शादिः।' यह अनुमान पूर्वोक्त व्यतिरेकव्यभिचार का वारक है। मंगल, समाप्तिरूपफल का ही जनक है, समाप्ति से अन्य फल का जनक नहीं है, तथापि उसे फल का जनक माना जाता है। अतः जो वस्तु समाप्तिरूपफल का जनक नहीं होती वह वस्तु, उस समाप्तिरूपफल से अन्य फल की जनक होती है और उसे सफल माना जाता है। जैसे दर्शादि पदार्थ। जैसे दर्शादिकर्म समाप्तिरूप फल से भिन्न, स्वर्गादि फलवाले हैं और उन्हें सफल कहा

हो सकता है, क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य किसी फल की सम्भावना नहीं की जा सकती। फल दो ही प्रकार के होते हैं—एक दृष्टफल और दूसरा अदृष्टफल। तब दृष्टफल (समाप्ति) के सम्भव रहते अदृष्टफल (स्वर्ग आदि) की कल्पना करना अनुचित है। तब 'प्रारब्धं मे कर्म निर्विघ्नं परिसमाप्यताम्' इस प्रकार की स्वाभाविक इच्छा रहने से 'समाप्तिरूप प्रसिद्ध फल' ही उपस्थित होता है, अतः मंगलाचरण का दृष्ट फल यहाँ समाप्ति[1] ही है ऐसा अनुमान किया जाता है।

नास्तिक के ग्रन्थ में मंगलरूप कारण के न रहने पर भी समाप्तिरूप कार्य जो दिखाई दे रहा है, वहाँ पूर्वजन्म में कृतमंगल से समाप्तिरूप फल दिखलाई पड़ रहा है—यह कल्पना की जाती है। अर्थात् पूर्वजन्म के मंगलाचरण के प्रभाव से विघ्नों का नाश होकर ग्रन्थ की समाप्ति हो गई है। कादम्बरी आदि ग्रन्थ में जो मंगल के होने पर भी समाप्ति नहीं दीखती, उसका यही कारण है कि वहाँ बलवान्

जाता है, इसलिये उन दर्शादिकर्मों का फल समाप्ति नहीं समझी जाती। मंगल तो वैसा है नहीं, वह समाप्तिभिन्न फल से युक्त हो तो उसे सफल नहीं समझा जायगा। उसे समाप्ति से भिन्नफल का अजनक होते हुए भी सफल माना जाता है। अतः मंगल का फल समाप्ति ही है, यह निश्चित होता है।

कुछ ग्रन्थकार मंगल से समाप्ति होने में श्रुति का प्रमाण भी देते हैं—'समाप्तिकामो मंगलमाचरेत्'—ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति की कामना वाला पुरुष ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण करे। यद्यपि यह श्रुति वर्तमान समय की किसी वेदशाखा में नहीं दीखती, तो भी वेद की अनेक शाखाएँ जो उच्छिन्न हो गई हैं, उनमें अवश्य होगी। मंगल की कर्तव्यता वेदबोधित होने में अनुमान इस प्रकार किया जायगा—'मंगलं वेदबोधितकर्तव्यताकम् अलौकिकधर्मशास्त्राऽनिषिद्धशिष्टाचारविषयत्वात् दर्शादिवत्।' वेद ने बोधित की है कर्तव्यता जिसकी, उसे वेदबोधितकर्तव्यताक कहते हैं। अलौकिक तथा धर्मशास्त्र से अनिषिद्ध शिष्टाचार का विषय होना' यह हेतु है। जो जो वस्तु शिष्टाचार का विषय होती है, वह-वह वस्तु वेद से बोधित-कर्तव्यतावाली भी होती है, जैसे—दर्शादिकर्म। (विधिमन्तरा रागादिप्राप्त-भिन्नः, अलौकिकः। वेदप्रामाण्याभ्युपगन्तृत्वं शिष्टत्वम्) शास्त्र की आज्ञा के बिना केवल राग आदि से जो वस्तु प्राप्त होती है, वह लौकिक है, उससे भिन्न जो हो उसे अलौकिक कहते हैं। वेदों के प्रामाण्य को मानने वाले को शिष्ट कहते हैं।

(१) नास्तिकों के ग्रन्थों में समाप्तिरूप कार्य से पूर्व जन्म के मंगलरूप कारण का अनुमान होता है। जैसे—'अयं नास्तिकः कृतमङ्गलकः विघ्नध्वंसपूर्वकसमाप्तिमत्त्वात् चैत्रवत्।'—यह नास्तिक पूर्वजन्म में मङ्गल का कर्ता रह चुका है, क्योंकि विघ्नों के ध्वंसपूर्वक ग्रन्थ की समाप्ति वाला होने से, जो-जो पुरुष विघ्नों के ध्वंस-पूर्वक ग्रन्थ की समाप्ति वाला होता है, वह वह पुरुष पूर्व-मङ्गल का भी कर्ता है, जैसे—आस्तिक चैत्र।

विघ्न या विघ्नों की बहुलता (समूह) है। वे प्रबल विघ्न या उनके समूह, अल्प मंगल से नष्ट नहीं हो सके। क्योंकि विघ्नों के नाशार्थ प्रचुर (अधिक) मंगलों की आवश्यकता रहती है। एक आभाणक (कहावत) है–'यादृशो यक्षस्तादृशो बलिः'– जैसा यक्ष हो तदनुरूप बलि होना चाहिये। कादम्बरी ग्रन्थ के समाप्त न हो पाने में कारण प्रचुर विघ्न थे। विघ्नों की प्रचुरता को वह स्वल्प मंगल नष्ट नहीं कर पाया, इसलिये मंगल करने पर भी समाप्ति नहीं हो पाई। अतः समाप्ति के प्रति विघ्न-विनाश (विघ्न-ध्वंस) को प्राचीन नैयायिकों ने द्वार (माध्यम) माना है।[1]

इस विषय में चिन्तामणिकार गंगेशोपाध्याय आदि नवीन नैयायिकों का मत[2] है कि मंगल का फल विघ्नध्वंस ही है, समाप्ति तो बुद्धिस्फुरण, प्रतिभा आदि कारणसामग्री से होती है।

---

(१) प्राचीन नैयायिकों का कहना है कि जिस ग्रन्थ में मंगल किया है उस ग्रन्थ की समाप्ति ही मङ्गल का फल है, परन्तु वह मंगल कुछ लोगों के मत से ज्ञान रूप और कुछ लोगों के मत से उच्चारण रूप होने से शीघ्र ही विनाशवान् है और ग्रन्थ की समाप्ति तो बहुत दिन के बाद होगी। अतः शीघ्रविनाशशाली मंगल को कालान्तर में होनेवाली समाप्ति की कारणता (जनकता) किसी अवान्तर व्यापार के बिना साक्षात् सम्भव नहीं हो सकती। इसलिए मंगल और समाप्ति के मध्य (बीच) में उस मंगल से जन्य किसी व्यापार की कल्पना करनी चाहिए। वह व्यापार और कुछ न होकर ग्रन्थसमाप्ति के प्रतिबन्धक दुरितरूप विघ्नों का ध्वंस ही है। मंगलजन्य वह विघ्न-ध्वंस उस समाप्तिरूप कार्य के अव्यवहित पूर्णक्षण में रहता है, इस कारण वह मंगल उस विघ्नध्वंस द्वारा उस ग्रन्थ की समाप्ति का कारण है। जैसे यज्ञरूपक्रिया कालान्तरभावी स्वर्ग का स्वजन्य अपूर्व द्वारा कारण होती है।

(२) किन्तु चिन्तामणिकारादि नवीन नैयायिकों का मत है कि ग्रन्थ की समाप्ति मंगल का फल नहीं है, किन्तु ग्रन्थ समाप्ति के प्रतिबन्धक जो दुरितरूप विघ्न हैं, उन विघ्नों का ध्वंस मात्र ही उस मङ्गल का फल है, और ग्रन्थ की समाप्ति तो उस विघ्नाभावघटित अदृष्ट, बुद्धि स्फूर्ति आदि कारणसामग्री से होती है! मङ्गल तो उस समाप्ति के कारणरूप विघ्नध्वंस का कारण होने से उस समाप्ति के प्रति अन्यथासिद्ध है। जिस कार्य के प्रति जितनी सामग्री इच्छित होती है, उस कारण सामग्री से जो वस्तु भिन्न होती है, वह वस्तु उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होती है।

प्राचीन आचार्य मंगल को विघ्नध्वंस द्वारा समाप्ति का कारण मानते हैं, उनके मत में विघ्नध्वंस तथा समाप्ति ये दोनों कार्य होंगे, अतः गौरव दोष होगा। और केवल विघ्नध्वंस को ही मंगल का कार्य मानने में लाघव रूप गुण होगा इस कारण मंगल का विघ्नध्वंस मात्र ही फल है, यही उचित प्रतीत होता है

शंका--यदि मङ्गल का फल विघ्नध्वंस ही है तो जहाँ विघ्न ही न हो अर्थात् विघ्न का अभाव स्वतःसिद्ध ही हो, वहाँ मङ्गल करना निष्फल ही होगा।

समाधान—इस प्रकार से शंका करना उचित नहीं, क्योंकि ऐसी स्थिति में किया गया मङ्गल आपाततः निष्फल प्रतीत होने पर भी उसका इतना ही फल समझना होगा कि विघ्न के अस्तित्व की आशंका दूर हो जाती है। अतः विघ्न के सन्देह से और शिष्टाचार से मंगल अवश्य करना चाहिए।

न च तस्य निष्फलत्वे तद्बोधकवेदाप्रामाण्यापत्तिरिति वाच्यम्।

शंका--यदि ऐसी जगह का मंगल निष्फल हो जायगा तो मंगलाचरण की प्रतिपादक कल्पित श्रुति (विघ्नध्वंसकामो मङ्गलमाचरेत्) भी अप्रमाण होने लगेगी।

सति विघ्ने तन्नाशस्यैव वेदबोधितत्वात्। अत एव पापभ्रमेण कृतस्य प्रायश्चित्तस्य निष्फलत्वेऽपि न तद्बोधकवेदाप्रामाण्यम्।

समा०—यदि विघ्न होगा तो मङ्गल भी विघ्न का नाश करेगा। उपर्युक्त श्रुति का यही तात्पर्य है। अतएव पाप होने के भ्रम से यदि प्रायश्चित किया जाय तो वहाँ पर पाप न होने से वह प्रायश्चित्त यद्यपि निष्फल है। तथापि प्रायश्चित्त बोधक श्रुति (वेद) को अप्रमाण नहीं माना जाता। अतः पाप होगा तो प्रायश्चित्त से उस (पाप) का नाश अवश्य ही होगा, यही (श्रुति का) तात्पर्य है। (ऐसे स्थलों पर यही समझना चाहिये कि विघ्नों के न रहने पर भी मङ्गलाचरण करना तथा पाप के न रहने पर भी प्रायश्चित्त का करना ये दोनों आगे शुभफल देनेवाले होंगे)।

मंगलं च विघ्नध्वंसविशेषे कारणं विघ्नध्वंसविशेषे च विनायकस्तवपाठादिः।

क्वचिच्च विघ्नात्यन्ताभाव एव समाप्तिसाधनं प्रतिबन्धकसंसर्गाभावस्यैव कार्यजनकत्वात्।

इत्थं च नास्तिकादीनां ग्रंथेषु जन्मान्तरीयमंगलजन्यदुरितध्वंसः, स्वतःसिद्धविघ्नात्यन्ताभावो वाऽस्तीति न व्यभिचार इत्याहुः।

मंगल को विघ्नध्वंस के प्रति कारण बताया, [1]किन्तु वह (मंगल) समस्त विघ्नों के ध्वंस के प्रति कारण हो नहीं सकता। कुछ विघ्नध्वंसों के प्रति वह (मंगल) कारण होता है, और कुछ विघ्नध्वंसों के प्रति गणपति (विनायक) के स्तोत्रपाठ आदि को ही कारण बताया गया है, और कुछ स्थलों पर विघ्नात्यन्ताभाव को ही ग्रन्थ समाप्ति का कारण बताया गया है, अतः इन अनेक प्रकार के

---

(१) **शंका**—मंगल में विघ्नध्वंस की कारणता संभव नहीं होती, क्योंकि 'सर्वे विघ्नाः शमं यान्ति गणेशस्तवपाठतः'—गणेश (विनायक) के स्तोत्र का पाठ करने से सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं—इस वचन से गणेशस्तोत्र पाठ में विघ्नध्वंस की कारणता बताई गई है, तथा धर्मशास्त्रकथित प्रायश्चित्त से भी दुरित (पाप) रूप विघ्नों का ध्वंस होता है। इससे विघ्नध्वंस की कारणता प्रायश्चित्त में भी ज्ञात हो रही है। अतः दोनों जगह मंगल की कारणता संभव नहीं है।

कारणों का यही अनुगम करना उचित होगा कि समस्त (सभी) कार्यों के प्रतिबन्धक (विघ्न) का अभाव ही समाप्ति में कारण होता है। अतः यही कहना होगा कि नास्तिकों के ग्रन्थों में पूर्वजन्म का किया हुआ मंगल इस जन्म के विघ्न का नाशक होता है, अथवा स्वतःसिद्ध विघ्नात्यन्ताभाव ही समाप्ति के प्रति कारण हो जाता है। कादम्बरी आदि ग्रन्थों में किये गये मंगल, के द्वारा कुछ विघ्नों का ध्वंस हो पाया, क्योंकि मंगल स्वल्प और पूर्वजन्मकृत विघ्न अनल्प (बहुतअधिक) हैं। अथवा मंगल करने से पूर्व के विघ्न तो नष्ट हो गये, किन्तु पश्चात् पुनः नवीन विघ्न उत्पन्न हो गये, इसलिए ग्रन्थसमाप्ति नहीं हो पायी, यही कल्पना की जा सकती है। अतः यह सिद्ध हुआ कि मंगल विघ्न-ध्वंस के प्रति कारण है। यह मानने से कार्य-कारणभावभंगरूपी व्यभिचारदोष नहीं हो पाता। यही नवीन नैयायिकों का मत है।

इति मङ्गलवादः।

समा०—समस्त विघ्नध्वंसों में मंगल को कारणता नहीं है, किन्तु विजातीय (किसी विशेष) विघ्नध्वंस में मंगल कारण है और विजातीय (किसी विशेष) विघ्नध्वंस में गणेशस्तोत्रपाठ कारण है। तथा विजातीय (किसी विशेष) विघ्नध्वंस में प्रायश्चित्त कारण है। अतः केवल मंगल को ही विघ्नध्वंस का कारण कहना उचित नहीं है।

शंका—यदि विघ्नध्वंस मात्र ही मंगल का फल हो तो ग्रन्थ समाप्ति की कामना वाले पुरुष की मङ्गल में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये, किन्तु प्रवृत्ति तो प्रत्यक्ष ही दीखती है। कहीं तो स्वतः ही विघ्नों के अत्यन्ताभाव से ग्रन्थसमाप्ति होती है। उस समाप्ति में विघ्नध्वंस को कारण नहीं कहा जा सकता।

समा०—सभी ग्रन्थकर्ता पुरुषों में उस विघ्नध्वंस को ही समाप्ति की कारणता नहीं है, अपितु किसी ग्रन्थकर्ता में उस विघ्नध्वंस को ही समाप्ति की कारणता है, और किसी ग्रन्थकर्ता पुरुष में विघ्नात्यन्ताभाव को ही समाप्ति की कारणता है, तथा किसी ग्रन्थकर्ता पुरुष में विघ्नों के प्रागभाव को ही समाप्ति की कारणता है, और विघ्नों का भेदरूप अन्योन्याभाव तो उन विघ्नों के विद्यमान होने पर भी पुरुषों में रहता है। अतः उन विघ्नों के अन्योन्याभाव को समाप्ति की कारणता कहीं भी संभव नहीं। यद्यपि उन विघ्नों के अत्यन्ताभावजन्य समाप्ति में, तथा उन विघ्नों के प्रागभावजन्य समाप्ति में उस विघ्नवंस को अकारणता है, तथापि स्वजन्य (विघ्नध्वंसजन्य) समाप्ति के प्रति कारणता होने से उस विघ्नध्वंस में उस समाप्ति की कारणता का अभाव सिद्ध नहीं होता। ग्रन्थ समाप्ति के प्रति जो विघ्नाभाव को कारणता है, वह विघ्नध्वंसत्व तथा विघ्नात्यन्ताभावत्व और विघ्नप्रागभावत्व रूप से कारणता नहीं है किन्तु विघ्नसंसर्गाभावत्व रूप से ही विघ्नाभाव को समाप्ति के प्रति कारणता है। वह विघ्नसंसर्गाभावत्व धर्म उन तीनों अभावों में रहता है।

अब उस कारणता के अवच्छेदक का अननुगम होने से वह संसर्गाभावत्वरूप एक ही धर्म उस कारणता का अवच्छेदक है।

अथवा सर्वत्र विघ्नों के अत्यन्ताभाव को ही उस समाप्ति के प्रति कारणता है। विघ्नों के ध्वंस तथा प्रागभाव के द्वारा मंगल को उस समाप्ति के प्रति कारणता नहीं है, क्योंकि जिस वस्तु का जहाँ ध्वंसाभाव या प्रागभाव होता है, उस वस्तु का वहाँ अत्यन्ताभाव भी रहता है। इस कारण उस विघ्नात्यन्ताभाव से ही मङ्गल-स्थल में समाप्ति होने पर उस ग्रन्थ की समाप्ति के प्रति वह मङ्गल तथा मङ्गल-जन्य विघ्नध्वंस तथा उन विघ्नों का प्रागभाव ये तीनों अन्यथा सिद्ध हैं।

मङ्गल का सामान्य लक्षण इस प्रकार किया जाता है—'विघ्नभिन्नत्वे सति विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाऽभावभिन्नत्वे सति प्रारीप्सितविघ्नध्वंसाऽसाधारणकारणं मङ्गलम्'—विघ्नों से भिन्न तथा विघ्नवंस के प्रतिबन्धकाभाव से भिन्न होकर प्रारम्भ करने की इच्छा के विषयभूत कार्य के विघ्नध्वंस का जो असाधारण (मुख्य) कारण हो, वही मङ्गल है। यहाँ पर वह मङ्गल विघ्नों से भिन्न है, तथा विघ्नध्वंसरूप कार्य का जनक जो प्रतिबन्धकाभाव है, उससे भी भिन्न है, तथा प्रारम्भ करने की इच्छा का विषयभूत जो ग्रन्थ है उसके प्रतिबन्धक विघ्नों के ध्वंस का असाधारण कारण है। इस लक्षण में यदि **'विघ्नभिन्नत्वे सति'** न कहा जाय तो उन विघ्नों में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वे विघ्न उस विघ्नध्वंस के जनक प्रतिबन्धकाभाव से भिन्न हैं, तथा प्रारीप्सित ग्रन्थ की समाप्ति के प्रतिबन्धक विघ्नों के ध्वंस में असाधारण कारण भी हैं। जैसे घट के ध्वंस में मुद्गरप्रहार असाधारण कारण होता है। वैसे ही घटरूपी प्रतियोगी भी उस स्व-ध्वंस में असाधारण कारण होता है। तथैव उन विघ्नों के ध्वंस में वह विघ्नरूपी प्रतियोगी भी असाधारण कारण है। अतः उन विघ्नों में होने वाली अतिव्याप्ति के निवारणार्थ उक्तलक्षण में **'विघ्नभिन्नत्वे सति'** यह प्रथम सत्यन्त विशेषण दिया गया है। उसी प्रकार उक्तलक्षण में 'विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाभाव-भिन्नत्वे सति' न कहा जाय तो उस 'विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाभाव में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि प्रतिबन्धक के विद्यमान होने पर किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इस कारण उस विघ्नध्वंस की उत्पत्ति में प्रतिबन्धकाभाव कारण है। अतः विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाभाव में होने वाली अतिव्याप्ति के निवारणार्थ उक्त-लक्षण में 'विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाभावभिन्नत्वे सति'—यह दूसरा सत्यन्तविशेषण दिया गया है। अब यदि उक्त लक्षण में 'प्रारीप्सित' पद न देते तो 'कारीरी' याग में उक्तलक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वह कारीरी याग उन विघ्नों से भिन्न है तथा विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाभाव से भी भिन्न हैं तथा वृष्टि के प्रतिबन्धक जो विघ्न हैं उनके ध्वंस का असाधारण कारण भी है, किन्तु प्रारीप्सित (प्रारम्भ करने की इच्छा का विषय) यहाँ पर मङ्गल है, याग नहीं। अतः 'प्रारीप्सित' पद के देने पर कारीरी याग में होनेवाली अतिव्याप्ति का निवारण हुआ। अब

संसारेति । संसार एव महीरुहो वृक्षस्तस्य बीजाय, निमित्तकारणायेत्यर्थः। एतेन ईश्वरे प्रमाणमपि दर्शितं भवति। तथाहि--यथा घटादिकार्यं कर्तृजन्यं तथा क्षित्यङ्कुरादिकमपि।

न च तत्कर्तृत्वमस्मदादीनां सम्भवतीत्यतस्तत्कर्तृत्वेनेश्वरसिद्धिः।

न च शरीराजन्यत्वेन कर्त्रजन्यत्वसाधकेन सत्प्रतिपक्ष इति वाच्यम्।

अप्रयोजकत्वात्। मम तु कर्तृत्वेन कार्यत्वेन कार्यकारणभाव एव अनुकूलस्तर्कः। 'द्यावाभूमी जनयन्देव एको विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता' इत्यादय आगमा अप्यनुसन्धेयाः ॥ १ ॥

'संसारमहीरुहस्य' बीजाय'—यह विशेषण निमित्तकारणस्वरूप ईश्वर के अस्तित्व में अनुमान प्रमाण की सूचना दे रहा है। जैसे घटात्मक कार्य कुलालात्मक कर्ता के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, वैसे ही अङ्कुरादि से ब्रह्माण्डतक सम्पूर्ण जगद्रूप कार्य भी किसी कर्ता के होने पर ही उत्पन्न हो सकता है। उस अचिन्त्य समस्त जगत् की रचना करने में हम जैसे अल्पज्ञ मनुष्यों की तो सम्भावना नहीं की जा सकती। अतः जो इस जगत् का कर्ता हो, वही **ईश्वर** है।

कुछ लोग यहाँ पर 'सत्प्रतिपक्ष' नामक दोष (विपरीतानुमान) देते हैं। 'जो वस्तु शरीरी (शरीर धारण करने वाले) से उत्पन्न नहीं होती, वह वस्तु, कर्ता से भी उत्पन्न (जन्य) नहीं होती'--ऐसा नियम है। यह जगत् शरीरी से उत्पन्न नहीं हुआ है, अतः इस जगत् का कर्ता भी कोई नहीं हो सकता। इस प्रकार का विरुद्धानुमान देना उचित नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त नियम के मानने में अनुकूल तर्क (युक्ति) नहीं है। इसलिए हमारी बुद्धि के अनुसार (ईश्वर का अस्तित्व मानना--यही नैयायिकों का अपना मत है) जिसका कर्ता न हो वह कार्य भी नहीं है, और न कभी उत्पन्न होगा। तथा जो कार्य है, उसका कर्ता भी है'-इस प्रकार का कार्य-कारण भावरूपी अनुकूल तर्क मिलता है। यही (अनुकूल तर्क) परमेश्वर के अस्तित्व में प्रमाण है। इस प्रकार अनुमानप्रमाण से उसका अस्तित्व सिद्धहोने पर परमेश्वर के शब्दप्रमाणरूपी वेदवाक्य से भी उसका अस्तित्व सिद्ध किया जाता है।

यदि उक्तलक्षण में 'असाधारण' पद न देते तो काल, अदृष्ट आदि साधारण कारणों में अतिव्याप्ति होती। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'असाधारण' पद दिया गया है। क्योंकि (१) ईश्वर, (२) ईश्वर का ज्ञान, (३) इच्छा, (४) प्रयत्न, (५) देश, (६) काल, (७) अदृष्ट, (८) प्रागभाव, (९) प्रतिबन्धकाभाव ये नौ कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण होते हैं।

इति मंगलवादः।

(१) 'संसारमहीरुहः'—इस विशेषण से परमेश्वर के अस्तित्व में 'अनुमान-प्रमाण' की सूचना दी गई है।

शंका—प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकते। 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'—ये चार प्रमाण महर्षि गौतम ने बताये हैं, किन्तु परमात्मा के अस्तित्व में 'प्रत्यक्षप्रमाण' नहीं कह सकते, क्योंकि 'प्रत्यक्ष' दो प्रकार का है—लौकिक और अलौकिक। 'लौकिक प्रत्यक्ष' में छह सन्निकर्ष है—(१) घ्राणज, (२) रासन, (३) चाक्षुष, (४) स्पार्शन, (५) श्रौत्र, (६) मानस। गन्ध के अभाव से ईश्वर में घ्राणज, रस के न होने से रासन, चक्षुः-सन्निकर्ष के न होने से चाक्षुष, स्पर्श के न होने से स्पार्शन, शब्द के न होने से श्रौत्र, स्मरण के न होने से मानस—ये **सभी प्रत्यक्ष वहाँ नहीं हो सकते**। उसी तरह अलौकिक प्रत्यक्ष भी तीन प्रकार का है—(१) सामान्य लक्षण, (२) ज्ञानलक्षण, (३) योगजलक्षण। इन तीनों ज्ञानों के अभाव से ईश्वर का **अलौकिक प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता।**

उसी तरह **अनुमान** से भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि लिंग (धूम आदि) से लिंगी (अग्नि आदि) का ज्ञान ही अनुमान है। ईश्वर का कोई ऐसा लिंग (चिह्न) ही नहीं, जिससे उसका अनुमान हो सके। सादृश्य से उपमान प्रमाण होता है। परन्तु ईश्वर के सदृश भी कोई नहीं है। उसी तरह पद-ज्ञान के न होने से शाब्द प्रमाण से भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

समा०—ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि अनुमान-प्रमाण से होती है। जैसे—'घटादिकार्यं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् पटवत्' यहाँ पर 'घटादिकार्यम्' यह पक्ष है, 'कर्तृजन्यत्व' यह साध्य है, 'कार्यत्वात्' यह हेतु है, 'पटवत्' यह दृष्टान्त है। उसी तरह 'क्षित्यङ्कुरादिकम्' 'कर्तृजन्यम्' 'कार्यत्वात्' 'घटवत्'—यहाँ पर 'क्षित्यङ्कुरादिकम्' पक्ष है, 'कर्तृजन्यत्व'=किसी कर्ता से जन्य होना—यह साध्य है, 'कार्यत्वात्=कार्य होने से—यह हेतु है, 'घटवत्'=घट के समान—यह दृष्टान्त है।

उपर्युक्त ईश्वरास्तित्व के साधक अनुमान में 'सत्प्रतिपक्ष' दोष देते हैं। 'सत्प्रतिपक्ष' नामक दोष का स्वरूप इस प्रकार है—'यस्य (हेतोः) साध्याभाव-साधकं हेत्वन्तरं विद्यते स सत्प्रतिपक्षः' जहाँ एक हेतु, साध्य को सिद्ध करता है, वहाँ दूसरा हेतु यदि साध्य के अभाव को सिद्ध करे तो सत्प्रतिपक्ष दोष होता है। जैसे—'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्' इसके विपरीत 'शब्दः अनित्यः कार्यत्वात् घटवत्'। जिस हेतु का जो साध्य है उस साध्य के अभाव का साधक अर्थात् सिद्ध करनेवाला दूसरा हेतु विद्यमान रहे तो उस हेतु को सत्प्रतिपक्षित कहते हैं। **'शब्द नित्य है श्रावण होने से अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होने के कारण'**। इसके विपरीत **'शब्द अनित्य है कार्य होने से घट की तरह'** इस अनुमान में **''श्रावणत्व'** हेतु का साध्य **'नित्यत्व'** है, उस नित्यत्व का अभाव जो अनित्यत्व है, उस **अनित्यत्व** को सिद्ध करनेवाला दूसरे अनुमान में **'कार्यत्व'** हेतु विद्यमान है। अतः **'श्रावणत्व'** हेतु यहाँ **'सत्प्रतिपक्ष'** दोष से दूषित हो जाता है। उसी तरह प्रस्तुत प्रसंग में भी

'क्षित्यंकुरादिक कर्तृजन्यं, कार्यत्वात् पटवत्' इसके विपरीत **'क्षित्यंकुरादिकं, कर्त्रजन्यं, शरीराऽजन्यत्वात् आकाशवत्'**। ईश्वरवादी के अनुमान में **'कार्यत्व'** हेतु का साध्य **'कर्तृजन्यत्व'** है, उस 'कर्तृजन्यत्व' का अभाव जो **'कर्त्रजन्यत्व'** (कर्तृ + अजन्यत्व) है, उस कर्त्रजन्यत्व को सिद्ध करनेवाला अनीश्वरवादी के अनुमान में 'शरीराऽजन्यत्व' हेतु विद्यमान है, इस कारण 'कार्यत्व' हेतु 'सत्प्रतिपक्ष' दोष से दूषित हुआ है, यह अनीश्वरवादी का कहना है। किन्तु 'सत्प्रतिपक्ष' दोष का आरोप करनेवाले अनीश्वरवादी के पास कोई तर्क (अनुकूल युक्ति) नहीं है। अर्थात् वह यह नहीं कह पा रहा है कि **'यदि कर्त्रजन्यत्व न हो तो शरीराजन्यत्व भी नहीं होता'**। यह तब कह पाता कि जब **कर्त्रजन्यत्व** और **शरीराजन्यत्व** की कहीं व्याप्ति देखी होती। जैसे--धूम और **अग्नि** की व्याप्ति देखने से कहा जाता है कि **यदि अग्नि न हो तो धूम भी नहीं होता,** किन्तु **'कर्त्रजन्यत्व और शरीराऽजन्यत्व'** के कार्य-कारणभाव का व्याप्ति के द्वारा कभी किसी को ज्ञान ही नहीं हुआ है। लेकिन इसके विपरीत ईश्वरवादी के पास अनुकूल तर्क है। वह कह पा रहा है कि **'यदि कर्तृजन्य न हो तो कार्य भी नहीं हो पाता।'** अतः 'कर्तृजन्यत्व' सिद्ध करने में 'कार्यत्व' हेतु उचित ही है, क्योंकि जो कार्य होता है वह कर्ता से जन्य (उत्पन्न) होता है, यह हमने घट-पट आदि सभी कार्यों में देखा है। अनीश्वरवादी के मत में तो 'शरीराऽजन्यत्व' (शरीरजन्यत्वाऽभाव), यह हेतु, अभावरूप है, और कर्त्रजन्यत्व (कर्तृ + अजन्यत्व अर्थात् कर्तृजन्यत्वाऽभाव) रूप साध्य भी अभावरूप है। दो अत्यन्ताभावों में कभी भी कार्य-कारणभाव नहीं होता। इसलिए अनीश्वरवादी द्वारा सत्प्रतिपक्ष दोष का आरोपण करना उचित नहीं है।

अप्रयोजकत्वात्—व्यभिचारशङ्कोत्थाने अनुकूलतर्काऽभावादित्यर्थः। अनीश्वरवादी के अनुमानप्रयोग में यदि कोई व्यभिचारशंका—'शरीराऽजन्यत्वमस्तु कर्त्रजन्यत्वं मास्तु'--करे, तो उस व्यभिचारशंका का निवारक अनुकूल तर्क वह नहीं दे पाता। **तर्क** का स्वरूप बहुधा **'कार्य-कारणभावभंगप्रसंग'** रूप हुआ करता है। अतः वह यदि **तर्क** देगा तो उसे यही देना (कहना) होगा कि **'यदि कर्त्रजन्यत्वं न स्यात् तर्हि शरीराऽजन्यत्वमपि न स्यात्'**। परन्तु ऐसा कहने पर भी अनीश्वरवादी के अनुमानप्रयोग पर की हुई व्यभिचारशंका का निवारण नहीं हो पाता, क्योंकि **'कर्त्रजन्यत्व'** का तथा **'शरीराऽजन्यत्व'** का **कार्य-कारणभाव** यदि कहीं पहिले प्रसिद्ध हो तो उसका **'एवं न स्यात् तर्हि एवं न स्यात्'** कहकर कार्यकारणभावभंग का प्रसंग दिया जाय, किन्तु वह (कार्यकारणभाव) तो कहीं प्रसिद्ध है ही नहीं। इसलिये अनीश्वरवादी का पक्ष अप्रयोजक है। किन्तु **हम ईश्वरवादी के पक्ष में** व्यभिचारशंका का निवर्तक **'यदि कर्तृजन्यत्वं न स्यात् तर्हि कार्यत्वमेव न स्यात्'**--इस प्रकार कार्य-कारणभावभंगप्रसंगरूप अनुकूल तर्क मिल सकता है, क्योंकि कर्तृजन्यत्व का तथा कार्यत्व का परस्पर कार्यकारणभाव प्रसिद्ध

पदार्थान्विभजते[१]—

"द्रव्यं गुणः" इत्यादि कारिका से पदार्थों का विभाग बताते हैं।—

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम् ।
समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः ॥ २ ॥

(**पदच्छेदः**) द्रव्यं, गुणः, तथा, कर्म, सामान्यं, सविशेषकम्, समवायः, तथा, अभावः पदार्थाः सप्त, कीर्तिताः ॥

(**कठिनपदव्याख्या**) सविशेषकम्—विशेष के सहित जो हो वह सविशेष, और सविशेष ही सविशेषक है। इस विग्रह से परमाणुओं के परस्पर भेदसाधकत्वरूप विशेष से विशिष्ट विशेष ही होगा। एवञ्च परमाणुओं के परस्पर भेदसिद्धि के लिये 'विशेष' नामक पदार्थ को स्वीकार किया गया है।

(**अनुवाद**) (१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय, और (७) अभाव—ये **सात पदार्थ** न्यायवैशेषिक सिद्धान्त में बताये गये हैं।

अत्र सप्तमस्याभावत्वकथनादेव षण्णां भावत्वं प्राप्तं तेन भावत्वेन पृथगुपन्यासो न कृतः। एते च पदार्था वैशेषिके प्रसिद्धा नैयायिकानामप्यविरुद्धाः।

है, इस कारण हमारा ईश्वरसाधक अनुमान का 'हेतु' 'सत्प्रतिपक्ष' दोष से दूषित नहीं है।

इति ईश्वरास्तित्ववादः।

—:०:—

(१) **पदार्थान् विभजते**—यहाँ द्वितीया का अर्थ विषयत्व है। 'वि' उपसर्गपूर्वक 'भज' धातु का अर्थ—'स्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकव्याप्यमिथोविरुद्धयावद्धर्मप्रकारकज्ञानानुकूलो व्यापारः' है। 'स्व' पद से 'वि' पूर्वक 'भज' धातु लेना, तत्समभिव्याहृत अर्थात् उसके समीप उच्चरित 'पदार्थ' पद है, उस पदार्थतावच्छेदक (पदार्थत्व धर्म) के व्याप्य मिथो विरुद्ध (परस्पर विरुद्ध) यावत् धर्म (समस्त धर्म) द्रव्यत्व गुणत्व आदि धर्म, तत्प्रकारकज्ञान अर्थात् द्रव्यं, गुणः, कर्म आदि—इत्याकारकज्ञान, तदनुकूलव्यापार 'द्रव्यगुणकर्म' इत्यादि शब्दप्रयोगरूप व्यापार—यह 'वि' पूर्वक 'भज' धातु का अर्थ है। 'ते' प्रत्यय में लट्, तिङ् (आख्यात), और एकवचन है, उनका अर्थ—'काल', 'कृति', और संख्या है। सबको मिलाकर यह अर्थ निष्पन्न हुआ कि 'पदार्थनिष्ठा जो विषयता उसका निरूपक जो पदार्थत्वव्याप्य द्रव्यत्वादिरूप अवान्तरधर्मप्रकारकज्ञान, उस ज्ञान के अनुकूल जो व्यापार तदनुकूल जो वर्तमानकालिक कृति, तद्वान् एकत्वसंख्याविशिष्ट ग्रन्थकार—श्रीमान् विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य है। तथाच—'पदार्थविशेष्यक पदार्थत्वावान्तरधर्मप्रकारकज्ञानानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान्—एकत्वसंख्याविशिष्टोग्रन्थकारः श्रीमान् विश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यः—इति शाब्दबोधः।

प्रतिपादितं चैवमेव भाष्ये । अत एवोपमानचिन्तामणौ सप्तपदार्थभिन्नतया शक्ति-सादृश्यादीनामतिरिक्तपदार्थत्वमाशङ्कितम् ।

पदार्थों के नाम बताकर उनका विभाग कहा जाता है—"**द्रव्यं गुण इति।**" द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, और अभाव —ये सात[1] पदार्थ हैं। इनमें सातवाँ पदार्थ अभाव है, यह कहने से ज्ञात होता है कि बाकी के छह पदार्थ भावस्वरूप हैं। उन छह पदार्थों के लिए ये 'भाव' हैं, यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है। ये सात पदार्थ वैशेषिक (कणाद) शास्त्र में प्रसिद्ध हैं, और गौतमानुयायी नैयायिकों को भी सम्मत हैं। कणादमुनिकृत सूत्रभाष में भी इनका प्रतिपादन अच्छी तरह किया है। अतएव (मूलभूत सात ही पदार्थ होने के कारण) चिन्तामणिनामक ग्रन्थ के उपमान खण्ड में 'शक्ति' तथा 'सादृश्य' इन दो पदार्थों को उक्त सात पदार्थों से भिन्न होने की प्रभाकर मीसांसक के मत से शंका की है। परन्तु पदार्थ तो सात ही हैं।

ननु कथमेत एव पदार्थाः शक्तिसादृश्यादीनामप्यतिरिक्तपदार्थत्वात् ? तथाहि --मण्यादिसमवहितेन वह्निना दाहो न जन्यते, तच्छून्येन तु जन्यते। तत्र मण्यादिना वह्नौ दाहानुकूला शक्तिर्नाश्यते, उत्तेजकेन मण्याद्यपसारणेन च जन्यत इति कल्प्यते।

(**प्रभाकर मीमांसक की शंका**)--'**शक्ति**' और '**सादृश्य**' इन दो अधिक (सात पदार्थों की अपेक्षा अतिरिक्त) पदार्थों की संभावना रहते, '**पदार्थ सात हैं**' यह कहना अनुचित है। उक्त दो पदार्थों (शक्ति और सादृश्य) की अधिक संभावना का उपपादन करते हैं--"**तथाहि**" इति। अग्नि के समीप रहने पर दाह (ऊष्मा) होता है, परन्तु दाह के प्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणि को यदि अग्नि के समीप रख दिया जाय तो अग्नि से दाह नहीं हो पाता अर्थात् अग्नि की 'दाहकत्व' शक्ति नष्ट हो जाती है, और उस चन्द्रकान्तमणि को उसके (अग्नि के) समीप से हटा लिया जाय तो पुनः अग्नि से दाह (ऊष्मा) होने लगता है, अथवा चन्द्रकान्त-मणि के रहने पर भी यदि उत्तेजक सूर्यकान्तमणि (दाहप्रतिबन्धक के भी प्रति-बन्धक) को वहाँ रख दिया जाय तो भी अग्नि से दाह होता है। तात्पर्य यह है कि उत्तेजक मणि के योग से अथवा दाहप्रतिबन्धकमणि के हटा लेने से दाह होता

---

(१) 'पदस्य अर्थ–पदार्थः' इति व्युत्पत्त्या 'अभिधेयत्वं' पदार्थसामान्यलक्षणम्। पद के अर्थ का नाम 'पदार्थ' है। विश्व में असंख्य पद हैं किन्तु 'अर्थ' तो इन सात के सिवाय अन्य कोई भी नहीं है। जितने भी अर्था हैं, सब इन्हीं सात पदार्थों के अन्तर्गत हैं। ईश्वर के ज्ञान का जो विषय है, वही सात पदार्थों का सामान्य (सम्मिलित) लक्षण है। सृष्टि-निर्माण के समय ये ही सात पदार्थ ईश्वर के संकल्प के विषय होते हैं। द्रव्यादि सात पदार्थों के सिवाय हमारे ज्ञान का भी कोई विषय नहीं है।

है अर्थात्[1] उत्तेजक मणि के समीप रहने पर या प्रतिबन्धकमणि के हटा लेने पर अग्नि में दाहक शक्ति उत्पन्न होती है और प्रतिबन्धकमणि के रहने पर अग्नि की दाह शक्ति नष्ट होती है–यह कल्पना की जा सकती है। अतः 'शक्ति' एक अधिक[2] पदार्थ है, यह सिद्ध होता है।

एवं सादृश्यमप्यतिरिक्तः पदार्थः, तद्धि न षट्सु भावेष्वन्तर्भवति सामान्येऽपि सत्त्वात्, यथा गोत्वं नित्यं तथाऽश्वत्वमपीति सादृश्यप्रतीतेः, नाप्यभावे सत्त्वेन प्रतीयमानत्वादिति चेत् ?

न। मण्याद्यभावविशिष्टवह्न्यादेर्दाहादिकं प्रति स्वातन्त्र्येण मण्यभावादेरेव वा हेतुत्वं कल्प्यते।

इसी प्रकार 'सादृश्य' (समानता, तुल्यता) भी पूर्वोक्त सात पदार्थों की अपेक्षा अधिक पदार्थ है। उसे अतिरिक्त (अधिक) पदार्थ मानने में युक्ति यह है कि पूर्वोक्त छह भावपदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय में से किसी में भी उसका अन्तर्भाव नहीं हो रहा है। अतः उक्त द्रव्यादि छह भावपदार्थों के अतिरिक्त 'सादृश्य' भी एक अधिक भावपदार्थ के रूप में सिद्ध हो रहा

---

(१) **उत्तेजक** का यह लक्षण है–'**प्रतिबन्धककोटिप्रविष्टाभावप्रतियोगित्वमुत्तेजकत्वम्**'––कार्य की प्रतिबन्धकोटि में प्रविष्ट जो अभाव हैं, उस अभाव का जो प्रतियोगीपना है, उसका नाम उत्तेजक है। जैसे उत्तेजकरूप सूर्यकान्तमणि अथवा मन्त्रादिकों का अभाव उस दाहरूप कार्य के प्रतिबन्धक कोटि में प्रविष्ट है, उस प्रतिबन्धककोटि में प्रविष्ट अभाव का प्रतियोगीपना उन उत्तेजकरूप मणि, मंत्रादिकों में है, यही उन मणिमंत्रादिकों में उत्तेजकपना है।

(२) **शंका** - वह शक्ति उक्त सात पदार्थों के अन्तर्गत है या भिन्न है ? यदि भिन्न है तो क्या प्रमाण है ?

समा०—शक्ति को सात पदार्थों से भिन्न सिद्ध करते हैं—

शक्तिः सप्तपदार्थभिन्ना उक्तसप्तपदार्थेषु अनन्तर्भूतत्वात् तथाहि–शक्तिः न तावत् द्रव्यात्मिका गुणादिवृत्तित्वात्। अतएव न गुणात्मिका, कर्मात्मिका वा गुणादिवृत्तित्वात्। नापि सामान्य-विशेष-समवायरूपा उत्पत्तिमत्त्वे सति विनाशित्वात्। नापि अभावरूपा सत्त्वेन प्रतीयमानत्वात्।—गुण, कर्मादिकों में पृथ्वी आदि द्रव्य नहीं रहते, और शक्ति तो उन गुण, कर्म आदिकों में भी रहती है, अतः वह शक्ति गुण या कर्मरूप नहीं है। सामान्य, विशेष, समवाय, अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव इन पदार्थों का उत्पत्ति या विनाश नहीं होता, किन्तु शक्ति तो उत्पत्तिविनाशशालिनी है। तथैव शक्ति की उत्पत्ति होने से अनादिप्रागभावरूप भी नहीं है। यद्यपि सामयिकाभाव का उत्पत्ति-विनाश हुआ करता है तथापि शक्ति तो भावपदार्थ है, अतः '**शक्ति**' उक्त सात पदार्थों के अतिरिक्त एक अधिक भावपदार्थ के रूप में सिद्ध हो रही है।

है[1]। क्योंकि जैसे–'गोत्व' जाति नित्य है, वैसे 'अश्वत्व' जाति भी नित्य है— यह अनुभव सभी को होता है। सादृश्य (नित्यत्व), सामान्य (अश्वत्व आदि जाति) के ऊपर रहता है। इस कारण यह नियम सिद्ध होता है कि **'जो पदार्थ सामान्य में अथवा तदितर स्थल में रहे वह पूर्वोक्त छह पदार्थों में नहीं आ सकता।'** यह 'सादृश्य' तो सामान्य और तदितर में रहता है। अतः पूर्वोक्त छह पदार्थों के अन्तर्गत नहीं हो सकता। उसी तरह यह 'सादृश्य' 'अभाव पदार्थ' के भी अन्तर्गत 'अभाव पदार्थ' के भी अन्तर्गत नहीं हो सकता, क्योंकि 'अभाव' असत् स्वरूप है और दृश्यवस्तुरूप भी नहीं है, किन्तु 'सादृश्य' तो 'यह उसके सदृश है' इस सत्व्यवहार से प्रतीत होता है। अतः 'सादृश्य' को अभाव के अन्तर्गत नहीं कह सकते। तस्मात् 'शक्ति और सादृश्य' ये दो अधिक पदार्थ हैं, यह स्वीकार करना चाहिये।

किन्तु यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि प्रतिबन्धकमणि के अभावसहित अग्नि अर्थात् चन्द्रकान्तमणिसंज्ञक प्रतिबन्धकशून्यकाल का अग्नि, दाह के प्रति कारण है। या मणि का अभाव अथवा केवल अग्नि ही दाह के प्रति कारण है—इस प्रकार के कार्य कारणभाव की यहाँ कल्पना करनी चाहिये[2]।

अनेनैव सामञ्जस्येऽनन्तशक्तितत्प्रागभावध्वंसकल्पनाऽनौचित्यात्।

न चोत्तेजके सति प्रतिबन्धकसद्भावेऽपि कथं दाह इति वाच्यम्, उत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य हेतुत्वात्।

सादृश्यमपि न पदार्थान्तरं किन्तु तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्। यथा चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकत्वादिमत्त्वं मुखे चन्द्रसादृश्यमिति ॥२॥

॥ इति पदार्थोद्देशग्रन्थः ॥

—:o:—

(१) 'सादृश्यं षट्पदार्थ—भिन्नः पदार्थः, षड्भावपदार्थान्तर्भूतत्वात्', अथवा 'सादृश्यम् अतिरिक्तः पदार्थः, सामान्येतरवृत्तित्वेसति सामान्यवृत्तित्वात्', 'सादृश्यं न अभावरूपं सत्वेन प्रतीयमानत्वात्' अथवा 'ध्वंस-प्रागभावभिन्नत्वेसति नञा प्रतीतिबोधाजनकत्वात्'। 'सादृश्य' छः पदार्थों से भिन्न है, क्योंकि उन पदार्थों में उसका अन्तर्भाव नहीं होता। अथवा 'सादृश्य' यह अतिरिक्त पदार्थ है, क्योंकि सामान्य (जाति) तथा तदितर में रहता है, और 'सादृश्य' अभावरूप भी नहीं है, क्योंकि भावरूप से प्रतीयमान होता है, तथा 'नहीं है' ऐसी प्रतीति भी नहीं कराता है।

(२) **तात्पर्य**—उत्तेजकरूप मणि-मन्त्रादिकों के अभाव से विशिष्ट जो मणि-मंत्रादि हैं, वे मणि-मंत्रादि उस दाहरूप कार्य के प्रतिबन्धक हैं। उन प्रतिबन्धक मणि-मंत्रादि का अभाव ही उस दाह के प्रति कारण है। (वस्तु के पूर्वरूप की निवृत्तिपूर्वक अर्थात् वह्नि में रखे हुए घटादिकों के पूर्वश्यामरूप नष्ट होने पर जो रूपान्तर की उत्पत्ति है, अर्थात् जो रक्तरूप उत्पन्न होता है उसी को दाह कहते

यह स्वीकार करने से ही यदि सामञ्जस्य[1] (निर्वाह) हो सकता है तो अनन्त शक्ति, उनका ध्वंस तथा उनके प्रागभाव की कल्पना करते बैठना उचित नहीं है। अतः प्रभाकरमीमांसक की अधिक पदार्थ कल्पना अनुचित है।

शंका—प्रतिबन्धकमणि का अभाव दाह के प्रति कारण है, ऐसा माने तो कदाचित् उत्तेजकमणि (सूर्यकान्त) को अग्नि के निकट रखने पर तथा प्रतिबन्धकमणि (चन्द्रकान्त) के रहने पर भी दाह होता है। किन्तु आपके (नैयायिक के) कथनानुसार तो दाह नहीं होना चाहिये, क्योंकि प्रतिबन्धकणि तथा उत्तेजकमणि इन दोनों के होने पर प्रतिबन्धकमणि की अभाव रूप कारण सम्पत्ति तो वहाँ है ही नहीं ?

समा०—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि उत्तेजक शून्यकाल का मणि दाह के प्रति प्रतिबन्धक होता है। यहाँ उत्तेजक शून्यकाल के मणिरूप प्रतिबन्धकता का अभाव दाह के प्रति कारण है, इस प्रकार कार्य-कारणभाव की हम कल्पना

हैं) वह दाहकारणीभूतविशिष्टाभाव—-कहीं तो विशेषणमात्र के अभाव से होता है। और कहीं विशेष्यमात्र के अभाव से होता है और कहीं विशेषण-विशेष्य दोनों के अभाव से होता है। जहाँ वह्नि के समीप प्रतिबन्धक मणिमंत्रादिक विद्यमान हैं तथा उत्तेजक मणि-मंत्रादि भी विद्यमान हैं, वहाँ दाहरूप कार्य की उत्पत्ति होती है, ऐसी जगह उत्तेजकाभावरूप विशेषण का अभाव है, वही दाह का कारण है। और जहाँ वह्नि के समीप वे प्रतिबंधक मणिमंत्रादिक नहीं हैं, परन्तु उत्तेजक मणि-मंत्रादिक हैं, वहाँ भी दाहरूप कार्य उत्पन्न होता है, वहाँ विशेषण-विशेष्य उभयाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव ही उस दाह का कारण है। और जहाँ वह्नि के समीप प्रतिबन्धक तथा उत्तेजक मणिमंत्रादि दोनों विद्यमान नहीं हैं, वहाँ विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव ही दाह का कारण है, उसी से दाहरूपी कार्य उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि कोई भी कारण स्वतंत्ररूप से अर्थात् अकेला ही किसी कार्य को पैदा नहीं कर सकता। किन्तु सहकारी कारण से युक्त होकर ही उत्पन्न करता है। अतः मण्यभावविशिष्ट वह्नि ही दाह के प्रति कारण है, केवल वह्नि नहीं। अथवा मण्यभाव को भी स्वतंत्र कारण मान लिया जाय। मणिसमवधान स्थल में मणि के अभाव से विशिष्ट वह्नि नहीं है, अपितु मणि से विशिष्ट ही वह्नि है, अतः 'मण्यभावविशिष्टवह्नि' रूप कारण के न होने से दाहरूप कार्य नहीं होता। अथवा स्वतंत्ररूप से 'मण्यभाव' रूप कारण नहीं है, अपितु 'मणि' ही है, इसलिये दाह नहीं होता है।

(१) पूर्वोक्त कार्य-कारणभाव की कल्पना करने से यह लाभ है कि जहाँ प्रतिबन्धक 'मणि' आदि अग्नि के समीप नहीं हैं, वहाँ पूर्वोक्त कार्य-कारणभाव के रहने से 'दाह' रूप कार्य की उत्पत्ति होती है। और जहाँ प्रतिबंधक मणि है वहाँ पूर्वोक्त कार्य-कारणभाव के न होने से 'दाह' रूप कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

करते हैं, जिससे उपर्युक्त शंका का समाधान हो जाता है अर्थात् पूर्वोक्त प्रसंग[1] नहीं आता है। इसलिए 'शक्ति' यह अधिक पदार्थ नहीं है। उसी तरह 'सादृश्य' भी अधिक पदार्थ नहीं है। वह तो उपमेय में रहनेवाला एक धर्म है। जैसे—'मुख में चन्द्र का सादृश्य है' इस उदाहरण में मुखरूप उपमेय में रहनेवाला आह्लादकत्व जो धर्म है, वही 'सादृश्य' है। वह सादृश्यघटक धर्म कहीं जातिरूप होता है, जैसे–'घटसदृशः पटः' और कहीं उपाधिरूप होता है, जैसे[2]—'यथा' गोत्वं नित्यं तथा अश्वत्वमपि'। अतः 'सादृश्य' भी अधिक पदार्थ नहीं है यह सिद्ध हो गया ॥ २ ॥

॥ इति पदार्थोद्देशग्रन्थः ॥

———

(१) प्रतिबन्धक तथा उत्तेजक (चन्द्रकान्त तथा सूर्यकान्त) ये दो मणि जहाँ इकट्ठा रहती हैं, वहाँ प्रतिबन्धक की उपस्थिति (सम्पत्ति) होने से दाह नहीं होता। प्रतिबन्धक के अभाव (कारण) की उपस्थिति (सम्पत्ति) से ही दाह होता है। केवल चन्द्रकान्तमणि ही प्रतिबन्धक नहीं, किन्तु उत्तेजक सूर्यकान्तमणि के अभाव-विशिष्ट चन्द्रकान्तमणि के अभाव को दाह के प्रति कारणता है अर्थात् जहाँ सूर्यकान्त तथा चन्द्रकान्त ये दोनों मणि न हों ऐसे अभाव को यहाँ कारणता मानी गई है।

(२) सादृश्य का यही लक्षण है कि 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वं सादृश्यम्' जिस पदार्थ में जिस वस्तु का सादृश्य प्रतीत होता है, उस वस्तु में असाधारणरूप से रहनेवाले जो बहुत सारे धर्म हैं, उनसे युक्त होना ही उस पदार्थ में उस वस्तु का 'सादृश्य' है। जैसे—'चन्द्रसदृशं मुखम्' यहाँ पर मुख तो चन्द्रमा से भिन्न है तथा चन्द्रमा में असाधारणरूप से रहनेवाले जो आह्लादकत्व, वर्तुलत्व, तेजस्वित्व, शीतलत्व आदि अनेक (बहुत) धर्म हैं, उनमें से कितने ही धर्म उस 'मुख' में भी हैं—यही उस मुख में चन्द्र का सादृश्य है। यदि 'तद्गतभूयोधर्मवत्वम्' इतना ही 'सादृश्य' का लक्षण करें तो, प्रतियोगितारूप से सादृश्य का निरूपक जो चन्द्रमा है, उसी में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'भूयोधर्मवत्त्व' चन्द्रमा में विद्यमान हैं ही। इस अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ 'तद्भिन्नत्वे सति' कहना चाहिए। तब चन्द्रमा, चन्द्रमा से भिन्न नहीं है, इस कारण अतिव्याप्ति नहीं है। उक्त लक्षण में 'धर्म' शब्द से 'असाधारणधर्म' समझना चाहिए। अन्यथा 'प्रमेयत्व' आदि साधारण धर्म सब पदार्थों में रहते हैं, तब 'घट' भी 'चन्द्रमा' के सदृश हो जायेगा। किन्तु असाधारणधर्म में तात्पर्य होने से 'घट' में चन्द्रमा का सादृश्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रमेयत्व आदि तो साधारण धर्म हैं, असाधारण नहीं। कोई यत्-किञ्चित् (एक) धर्म न ले, इसलिये 'भूयः' पद दिया गया है। 'घट के सदृश पट है' यहाँ जातिरूप सादृश्य है। 'गोत्व के सदृश अश्वत्व है' यहाँ उपाधिरूप सादृश्य है। तात्पर्य यह है कि यह 'सादृश्य' द्रव्यादि पदार्थों के ही अन्तर्गत है। अतः द्रव्यादि सात ही पदार्थ हैं यह सिद्ध हो गया।

'क्षित्यप्' इत्यादि ग्रन्थ से (ग्रन्थकार) द्रव्यों का विभाग दिखाते हैं—

द्रव्याणि विभजते—

क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः ।
द्रव्याणि,

क्षित्यवित्यादि । क्षितिः पृथिवी, आपो जलानि, तेजो वह्निः, मरुद् वायुः, व्योम आकाशः, कालः समयः, दिग् आशा, देही आत्मा, मन एतानि नव द्रव्याणीत्यर्थः ।

क्षिति=पृथिवी, अप् = जल, तेजः=अग्नि, मरुत्=वायु, व्योम=आकाश, काल = समय, दिक् = दिशा, देहिनः=जीवात्मा और परमात्मा, मनः=अन्तःकरण, द्रव्याणि= मूलभूत वस्तु हैं । अथ[1] =अनन्तर ।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन—ये नव द्रव्य हैं ।

ननु द्रव्यत्वजातौ किं मानम् ?

शंका—अमुक पदार्थ द्रव्य है, यह कैसे जाना जाय ?

न हि तत्र प्रत्यक्षम् प्रमाणं, घृतजतुप्रभृतिषु द्रव्यत्वाग्रहादिति चेत् ?

न, कार्यसमवायिकारणताऽवच्छेदकतया संयोगस्य विभागस्य वा समवायिकारणताऽवच्छेदकतया द्रव्यत्वजातिसिद्धेरिति ।

उत्तर—यह वस्तु द्रव्य है, वह वस्तु द्रव्य है[2], ऐसी अनुगतप्रतीति होने पर जिस वस्तु में द्रव्यत्वरूपी जाति होगी, वही वस्तु द्रव्य समझी जाएगी । यह द्रव्यत्व जाति है—ऐसा मानने में प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो नहीं सकता, क्योंकि घृत, लाख आदि कितने ही विलक्षण पदार्थों में सर्वसाधारण लोगों को 'यह द्रव्य है' ऐसी प्रतीति नहीं होती । सर्वसाधारण लोग तो प्रायः रुपया, पैसा सोना, चाँदी आदि को ही द्रव्य समझते हैं । अतः यह 'द्रव्यत्व' प्रत्यक्ष प्रमाण से गम्य नहीं है । तथापि 'द्रव्यत्व' जाति का ज्ञान, अनुमानप्रमाण से होता है । उसी अनुमान प्रमाण[3] को

---

(१) 'अथ' शब्द का अग्रिम ग्रन्थ से सम्बन्ध है। यहाँ पर पदच्छेद के लिए लिखा गया है ।

(२) 'घट', 'पट' आदि द्रव्य हैं, इस प्रकार की लोकसिद्ध अनुगत प्रतीति होती है । यह प्रतीति किसी अनुगत धर्म के बिना नहीं हो सकती । इस प्रतीति के लिये घट, पट आदि वस्तुओं में अनुगत (सब वस्तुओं=द्रव्यों, पर रहनेवाला) एक धर्म अवश्य मानना होगा, वही धर्म 'द्रव्यत्व' है । द्रव्यों में पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच तत्त्व भूतसंज्ञक हैं । इनमें गुण और क्रिया प्रत्यक्ष रहती है । सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव—ये चार पदार्थ अप्रत्यक्ष अर्थात् कल्पित हैं । 'सामान्य' शब्द का अर्थ 'जाति' है ।

(३) संस्कृत के नैयायिक पण्डित 'द्रव्यत्व' जाति की सिद्धि इस प्रकार करते हैं—"कार्यसमवायिकारणतावच्छेदकतया…… ……द्रव्यत्वजातिसिद्धेः" हम देखते

बताते हैं—'किसी भी कार्य के प्रति अथवा संयोग के प्रति या विभाग के प्रति 'समवाय' सम्बन्ध से द्रव्य कारण होता है'—इस प्रकार कार्य-कारणभाव समझना चाहिये। अतः जो भेद का दर्शक धर्म है, वही 'द्रव्यत्व' नाम की जाति है।

हैं कि संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं, कोई कारण है तो कोई कार्य है। अर्थात् कोई पदार्थ किसी पदार्थ का कारण रहता है तो कोई किसी का कार्य रहता है। कार्य (पदार्थ) में कार्यता धर्म और कारण (पदार्थ) में कारणता धर्म रहता है। जैसे मनुष्य में मनुष्यता धर्म रहता है। प्रत्येक के दो-दो 'अवच्छेदक' हुआ करते हैं—एक 'सम्बन्ध' और दूसरा 'धर्म'। अभिप्राय यह है कि 'कार्यता' और 'कारणता' के भी दो अवच्छेदक हुए—एक 'सम्बन्ध' और दूसरा 'धर्म'। तब जिज्ञासा होती है कि कारणता का तथा कार्यता का अवच्छेदक सम्बन्ध कौन है और अवच्छेदक धर्म कौन है? 'कार्य' अपने 'कारण' में जिस सम्बन्ध से रहता है वह 'कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध' कहा जाता है, उसी प्रकार 'कार्य' पर रहने वाला धर्म 'कार्यतावच्छेदक धर्म' कहा जाता है। साथ ही साथ यह नियम ध्यान में रखना चाहिये—'यो यस्य अवच्छेदको भवति, स तदवच्छिन्नो भवति' जो जिसका अवच्छेदक होता है, वह उससे अवच्छिन्न होता है। पृथिवी आदि अवयवी द्रव्यरूप कार्य घट-पट आदि, अपने कारणरूप अवयवद्रव्य में 'समवाय सम्बन्ध' से उत्पन्न होकर रहते हैं। इस कारण अवयवी द्रव्यनिष्ठ-कार्यता का अवच्छेदक सम्बन्ध 'समवायसम्बन्ध' है। अतः वह कार्यता 'समवायसम्बन्धावच्छिन्ना' हो गई। उसी प्रकार पृथिवी आदि कार्यद्रव्य में 'कार्यत्वधर्म' रहता है, इसलिये वह कार्यत्वधर्म, पृथिव्यादिकार्यद्रव्यनिष्ठ कार्यता का अवच्छेदक हुआ। अतः वह कार्यता कार्यत्व से अवच्छिन्ना हुई। साथ ही साथ यहाँ यह नियम भी ध्यान में रखना होगा कि 'समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले कार्य के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से द्रव्य कारण होता है।' क्योंकि समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले सभी कार्य, द्रव्य में ही रहते हैं। अतः द्रव्यनिष्ठ कारणता का अवच्छेदकसम्बन्ध तादात्म्य ही होगा, तब द्रव्यनिष्ठ कारणता, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना होगी। उसी प्रकार कार्यता और कारणता का आपस में निरूप्य-निरूपकभाव हुआ करता है। कहीं कार्यता से निरूपित कारणता होती है तो कहीं कारणता से निरूपित कार्यता होती है। इतना समझ लेने के बाद द्रव्यत्वजाति का साधक अनुमान इस प्रकार कहना होगा कि "समवायसम्बन्धावच्छिन्ना कार्यत्वावच्छिन्ना या अवयविद्रव्यनिष्ठा कार्यता, तादृशकार्यतानिरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा या समवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्, घटनिष्ठकार्यतानिरूपित-कपालनिष्ठकारणतावत्।" अनुमान प्रयोग में चार बातों की ओर ध्यान अवश्य रखना चाहिये—(१) पक्ष, (२) साध्य, (३) हेतु, (४) दृष्टान्त। उपर्युक्त अनुमानप्रयोग में **'पक्ष'**—द्रव्यनिष्ठकारणता है, उसमें किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नत्व **'साध्य'**

है, कारणतात्व 'हेतु' है; और घटनिष्ठकार्यतानिरूपितकपालनिष्ठकारणतावत्— यह 'दृष्टान्त' है। प्रकृत में 'पक्ष' में जो द्रव्यनिष्ठकारणता है, उसी में किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नत्व' को सिद्ध करते हैं तो द्रव्यनिष्ठा कारणता उसी धर्म से अवच्छिन्ना होगी, जो उस कारणता का अवच्छेदक होगा। अर्थात् द्रव्यनिष्ठ कारणता का जो अवच्छेदक होगा, वह द्रव्यत्व ही होगा। तब द्रव्यनिष्ठा 'कारणता' द्रव्यत्वावच्छिन्ना होगी। एवञ्च द्रव्यनिष्ठा कारणता 'यद्धर्मावच्छिन्ना' हो, उसी धर्म को 'द्रव्यत्व' जाति कहते हैं। इस रीति से उपर्युक्त अनुमान से 'द्रव्यत्वजाति' की सिद्धि की जाती है। अर्थात् 'कार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकतया' द्रव्यत्व जाति की सिद्धि की गई है।

किन्तु वह ठीक प्रतीत नहीं हो रही है, क्योंकि 'कार्यत्व' को ही कार्यता का अवच्छेदक बना दिया गया है। अर्थात् 'स्व' को ही 'स्वयं' का अवच्छेदक बना दिया है। यह अनुचित इसलिये है कि 'कार्यत्व' और 'कार्यता' दोनों एक ही वस्तु होने से 'आत्माश्रय' दोष हो जाता है। इस अरुचि को ध्यान में रखकर ही मूल में "संयोगस्य" कहा गया है। 'संयोगस्य' का अन्वय 'समवायिकारणतावच्छेदकता' के साथ होगा। अर्थात् संयोग का समवायिकारण हुआ—'द्रव्य', उसमें रहनेवाली समवायिकारणता का अवच्छेदक होगा 'द्रव्यत्व', उसीको 'द्रव्यत्व' जाति समझना चाहिये। यहाँ भी उसी प्रकार समझना होगा 'संयोग' गुणपदार्थ है, वह (संयोग) गुण होने से द्रव्य (गुणी) में समवाय-सम्बन्ध से रहेगा। एतावत —संयोगनिष्ठा कार्यता, समवायसम्बन्धावच्छिन्ना होगी। और संयोगनिष्ठकार्यता का अवच्छेदक संयोगत्व होगा। अतः संयोगनिष्ठा कार्यता संयोगत्वावच्छिन्ना होगी। एवञ्च द्रव्यत्वजातिसाधक अनुमानप्रयोग इस प्रकार किया जायगा–'समवायसम्बन्धावच्छिन्ना अथच संयोगत्वावच्छिन्ना या संयोगनिष्ठा कार्यता, तन्निरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा समवायिकारणता (पक्षः) सा, किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना (द्रव्यत्वधर्मावच्छिन्ना) (साध्यम्), कारणतात्वात् (हेतुः), घटनिष्ठकार्यतानिरूपितकपालनिष्ठकारणतावत् (दृष्टान्तः)।' एवञ्च द्रव्यनिष्ठा समवायिकारणता द्रव्यत्वावच्छिन्ना ही होगी। इससे भी द्रव्यत्वजाति की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि द्रव्यनिष्ठा कारणता यद्धर्मावच्छिन्ना हो वही धर्म, द्रव्यत्व जाति कहलाती है। किन्तु यह अनुमानप्रयोग भी उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। उसका कारण यह है कि इस अनुमानप्रयोग में भी संयोगत्वावच्छिन्ना कार्यता अप्रसिद्ध है। क्योंकि संयोगनिष्ठा कार्यता संयोगत्वावच्छिन्ना तभी हो सकती है जब संयोगत्व, संयोगनिष्ठकार्यता का अवच्छेदक हो। लेकिन संयोगनिष्ठकार्यता का अवच्छेदक 'संयोगत्व' हो ही नहीं सकता। क्योंकि अवच्छेदक वही होता है, जो अन्यूनानतिरिक्तवृत्ति धर्म हो। संयोगत्वधर्म जैसे अनित्य संयोग पर रहता है, वैसे ही वह (संयोगत्व) नित्यसंयोग (विभुद्वयसंयोग, कालाकाशसंयोग) में भी रहता है। अतः वह कार्यता के अतिरिक्तवृत्ति है। इस अरुचि को ध्यान में रखकर

मूलकार ने 'विभागस्य' कहा है। इसका अन्वय भी 'समवायिकारणतावच्छेदकता' के साथ समझना चाहिये। विभाग सभी अनित्य होते हैं। यहाँ भी उसी प्रकार समझना होगा—'विभाग' गुण पदार्थ है। वह (विभाग) गुण होने से द्रव्य (गुणी) में समवाय सम्बन्ध से रहेगा। एतावता विभागनिष्ठा कार्यता, समवाय-सम्बन्धावच्छिन्ना होगी। और विभागनिष्ठकार्यता का अच्छेदक विभागत्व होगा। अतः विभागनिष्ठा कार्यता विभागत्वावच्छिन्ना होगी। एवञ्च द्रव्यत्वजातिसाधक अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—समवायसम्बन्धावच्छिन्ना अथच विभागत्वा-वच्छिन्ना या विभागनिष्ठा कार्यता, तन्निरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा समवायिकारणता (पक्षः) सा, किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, (द्रव्यत्वधर्मा-वच्छिन्ना) (साध्यम्), कारणतात्वात् (हेतुः), घटनिष्ठकार्यतानिरूपित कपाल-निष्ठकारणतावत् (दृष्टान्तः)। द्रव्यनिष्ठासमवायिकारणता द्रव्यत्वावच्छिन्ना ही होगी। इससे द्रव्यत्व जाति की सिद्धि निराबाध हो जाती है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य, समस्त कार्य का समवायिकारण है तो संयोग, विभाग और जन्य द्रव्य का भी वही (द्रव्यही) समवायिकारण है। अतः समवायिकारणतावच्छेदक 'द्रव्यत्व' होगा, वही द्रव्यत्वजाति है। इस प्रकार द्रव्यत्वजाति के साधक तीन अनुमान किये गये। उनमें से प्रथम अनुमान में कार्यत्वधर्म को कार्यतावच्छेदक मानने में आत्माश्रय दोष तथा उपस्थितिकृत गौरव होता है, इसलिये द्वितीय अनुमान किया गया। किन्तु उसमें भी नित्यसंयोगवादी के मत से संयोगत्वावच्छिन्ना कार्यता अप्रसिद्ध है। इसलिये तृतीय अनुमान किया। इसमें नित्यविभाग का आश्रय कोई द्रव्य नहीं है, इस कारण विभागत्वावच्छिन्ना कार्यता अप्रसिद्ध नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि 'द्रव्यवृत्तिर्या संयोगस्य विभागस्य वा समवायिकारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् तन्तुवृत्तिकारणतावत्'—पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में रहनेवाली जो संयोगगुणरूप कार्य की अथवा विभागगुणरूप कार्य की समवायिकारणता वह किसी धर्म से अवच्छिन्न होने योग्य है, कारणता होने से, क्योंकि जो-जो कारणता होती है, वह किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्न ही होती है, निरवच्छिन्न कोई कारणता नहीं होती। जैसे तन्तुओं में रहनेवाली पट की सम-वायिकारणता तन्तुत्व धर्म से अवच्छिन्न होती है। वैसे ही यह द्रव्यनिष्ठ कारणता भी किसी धर्म से अवच्छिन्न होगी। प्रकृत में पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में स्थित जो संयोग-विभागरूप कार्य की समवायिकारणता है, उस कारणता की द्रव्यत्व (धर्मरूप) जाति ही अवच्छेदक होती है। 'जो धर्म जिस धर्म के न्यून तथा अधिक देश में न रहे, किन्तु समान देश में रहे उसको 'अवच्छेदक' कहते हैं, ऐसा अवच्छेदक धर्म द्रव्यत्वजाति में ही घटित होता है। क्योंकि संयोग-विभागरूप कार्य की समवायिकारणता उन पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में रहती है और यह द्रव्यत्व जाति (धर्म) भी पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में रहती है। अतः द्रव्यत्व जाति ही इस कारणता का अवच्छेदक है। पृथिवीमात्र में पृथिवीत्व,

जल में जलत्व इत्यादि द्रव्यविभाजक जातियाँ न्यून देश में रहती हैं, और 'सत्ता' अधिक देश में रहती है। अतः वे 'पृथिवीत्व', 'जलत्व' आदि धर्म या 'सत्ता' कोई भी द्रव्यनिष्ठ कारणता की अवच्छेदक नहीं हो सकतीं, किन्तु 'द्रव्यत्व' धर्म ही उसका अवच्छेदक हो सकता है। उस 'द्रव्यत्व' धर्म को ही 'द्रव्यत्वजाति' कहते हैं।

शंका—समवायसम्बन्ध से गुणत्वजाति गुण में यद्यपि रहती है, तथापि 'स्वाश्रयाश्रयत्व' सम्बन्ध से वह गुणत्वजाति द्रव्य में भी रहती है। यहाँ पर 'स्व' शब्द से गुणत्वजाति को लिया, उसके आश्रय रूपादिगुण होंगे, उनके आश्रय पृथिवी आदि नौ द्रव्य होंगे। तब 'गुणत्वजाति' को ही द्रव्यवृत्ति (निष्ठ) कारणता को अवच्छेदक क्यों न माना जाय, 'द्रव्यत्व' जाति को ही क्यों अवच्छेदक माना जा रहा है ?

समा०—पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में साक्षात् (परम्परा से नहीं) सम्बन्ध से सम्बद्ध द्रव्यत्वजातिरूप धर्म का कोई भी बाधक नहीं है। अतः उस साक्षातसम्बद्ध द्रव्यत्व धर्म को छोड़कर, वह अनुमितिज्ञान परम्परयासम्बद्ध गुणत्वजातिरूप धर्म को विषय नहीं करेगा, अपितु साक्षातसम्बद्ध द्रव्यत्वजातिरूप धर्म को ही विषय करेगा।

शंका—जैसे आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व, सामान्यत्व, विशेषत्व, समवायत्व, अभावत्व—ये धर्म जातिरूप नहीं हैं, किन्तु उपाधिरूप हैं, वैसे ही द्रव्यत्व धर्म को जातिरूप न मानकर उपाधिरूप ही क्यों न मान लिया जाय ?

समा०—कारणता, कार्यता, प्रतिबन्धकता, प्रतिबध्यता, तथा पद की शक्यता का अवच्छेदक धर्म, जातिरूप ही होता है, उपाधिरूप नहीं—यह नैयायिकों का सिद्धान्त है।

शंका—जैसे संयोग-विभाग ये दोनों द्रव्य में रहते हैं, वैसे ही रूपादि भी द्रव्य में रहते हैं, तब संयोग-विभाग ही से निरूपित द्रव्यवृत्ति (निष्ठ) समवायिकारणता को लेकर द्रव्यत्वजाति की सिद्धि क्यों की जा रही है, रूपादि गुण-निरूपित द्रव्यनिष्ठसमवायिकारणता को लेकर द्रव्यत्वजाति की सिद्धि क्यों नहीं की जा रही है ?

समा०—जैसे शब्द, रस, रूप, स्पर्श, परत्व आदि गुण—एक, दो तीन, चार, पाँच आदि द्रव्यों में रहते हैं, परन्तु संयोग तथा विभाग ये दोनों तो सभी द्रव्यों में रहते हैं, इस कारण संयोग-विभाग निरूपित कारणता को ही लेकर द्रव्यत्व जाति की सिद्धि की है।

शंका—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व—ये तीन गुण भी सभी द्रव्यों में रहते हैं, तब एतन्निरूपित समवायिकारणता को लेकर द्रव्यत्व जाति की सिद्धि क्यों नहीं की जा रही है ?

ननु दशमं द्रव्यं तमः कुतो नोक्तम्? तद्धि प्रत्यक्षेण गृह्यते। तस्य च रूपवत्त्वात् कर्मवत्त्वाच्च द्रव्यत्वम्। तद्धि गन्धशून्यत्वान्न पृथिवी, नीलरूपवत्त्वाच्च न जलादिकम्। तत्प्रत्यक्षे चालोकनिरपेक्षं चक्षुः कारणमिति चेन्?

'तम' को दसवाँ द्रव्य माननेवाले मीमांसक की[1] शंका—यह **तम** (तमस्) (अन्धकार) नौ द्रव्यों से निराला **दसवाँ द्रव्य** प्रतीत हो रहा है, क्योंकि 'तम' प्रत्यक्ष दीखता है और **'गुणवत्त्वं क्रियावत्त्वं समवायिकारणत्वं वा द्रव्यस्य लक्षणम्'**[2] यह 'द्रव्य' का लक्षण है। **'नीलं तमश्चलति'** कहने से **'तम'** में 'नीलरूप' गुण तथा 'चलनात्मक' क्रिया भी प्रतीत होती है, इस कारण 'तम' को **द्रव्य** कहा जा सकता है। परिगणित नौ द्रव्यों में से किसी में भी इस 'तमोद्रव्य' का अन्तर्भाव भी नहीं हो पा रहा है, इसलिए यह 'तमोद्रव्य' 'नौ द्रव्यों' से अतिरिक्त है उसीका उपपादन करते हैं—'तम' का **पृथिवी में** अन्र्भाव हो नहीं सकता, क्योंकि 'पृथिवी' में **गन्ध गुण** है, 'तम' में नहीं। 'तम' में 'नीलरूप' दिखाई देने से 'जल' आदि में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता। 'आदि' पद से **तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन** को समझना चाहिए। इनमें से किसी में भी 'नीलरूप' नहीं है। 'तम' के प्रत्यक्ष करने में 'आलोक-निरपेक्ष (प्रकाशरहित) चक्षु' कारण होता है, यही 'तम' के प्रत्यक्ष में विशेषता है। एतावता यह 'तम' दसवाँ द्रव्य है।[3]

समा०—ये तीन गुण नित्य तथा अनित्य हैं। और 'नित्यानित्यवृत्तिधर्म तो कार्यता का अवच्छेदक नहीं होता' यह नियम है। संयोग विभाग ये दोनो धर्म तो अनित्य है इस कारण समवायिकारणता के अवच्छेदक होकर द्रव्यत्वजाति को सिद्ध करते हैं।

शंका—यदि संयोग से ही द्रव्यत्वजाति सिद्ध हो सकती है तो विभाग को पुनः क्यों ग्रहण किया ?

समा०—कुछ ग्रन्थकार आकाशादि विभुओं के संयोग को नित्य कहते हैं, तब संयोग तो नित्यानित्यवृत्ति हो जायेगा, इसलिए विभाग को ही समवायिकारणता का अवच्छेदक मानकर द्रव्यत्वजाति की सिद्धि की गई है।

(१) 'तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत्।
प्रसिद्धद्रव्यवैधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति॥' इति मीमांसकानां मतम्।

(२) जो 'समवायसम्बन्ध' से **गुण** या **कर्म** का आश्रय हो और जो किसी का समवायिकारण हो उसी को **द्रव्य** कहते हैं।

(३)अनुमान प्रमाण से भी 'तम' का द्रव्य होना सिद्ध किया जा सकता है—**अनुमानप्रयोग** इस प्रकार होगा—'तमः' द्रव्यं रूपवत्वात् क्रियावत्वाच्च पृथिवीवत्—' 'तम' द्रव्य है, रूपवाला तथा क्रियावाला होने से, जो-जो पदार्थ 'रूप तथा क्रियावाला' होता है, वह वह पदार्थ 'द्रव्य' ही होता है। जैसे 'पृथिवी' रूप तथा क्रियावाली है, इस कारण ही उसे 'द्रव्य' कहा जाता है। इस प्रकार **'तम'** भी रूप तथा 'क्रियावाला' होने से **द्रव्य** है।

अब **अनुमान** से उस 'तम' का **पृथ्वी आदि नौ** द्रव्यों में अन्तर्भाव भी सिद्ध नहीं है, यह दिखाते हैं। **अनुमानप्रयोग** इस प्रकार होगा–'तमः न पृथिवी गन्धशून्यत्वात् जलवत्'––'तम' पृथिवी नहीं, गन्धरहित होने से जो जो द्रव्य गन्धरहित है, वह-वह **पृथिवी** नहीं है। जैसे जल, **गन्ध** से रहित होने के कारण 'पृथिवी' नहीं है। अब जलादि आठों द्रव्यों से 'तम' की भिन्नता बताते हैं-'तमो न जलादिकं' नीलरूपवत्वात् पृथिवीवत्'––वह 'तम' जल आदि अष्टद्रव्यरूप भी नहीं है, नील रूपवाला होने से, जो द्रव्य नील रूपवाले हैं, वे जलादि अष्टद्रव्यरूप नहीं होते हैं, जैसे––'पृथिवी' नील रूपवाली होने से जलादि अष्टद्रव्यरूप नहीं है, वैसे ही तम भी नील रूपवाला होने से जलादि अष्टद्रव्यरूप नहीं है। **अथवा** इस एक ही अनुमान से 'तम' को नौ द्रव्यों से भिन्न सिद्ध किया जा सकता है–– 'तमः, न पृथिव्यादि, स्पर्शरहितत्वेसति रूपवत्वात्, यन्नैवं, तन्नैवं, यथा पृथिव्यादि। 'तम' पृथिवी आदि नौ द्रव्यरूप नहीं है, स्पर्शरहित तथा रूपवाला होने से, जो पदार्थ पृथिवी आदि नौ द्रव्यों से भिन्न नहीं रहता, वह पदार्थ स्पर्शरहित होता-हुआ रूपवाला भी नहीं होता। जैसे 'पृथिवी' आदि नौ द्रव्य, उन पृथिवी आदि नौ द्रव्यों से (स्व से) भिन्न नहीं हैं, इसीकारण स्पर्श से रहित रहकर रूपवाले नहीं हैं, किन्तु स्पर्श के सहित रहते हुए रूपवाले हैं, और यह 'तम' स्पर्श से रहित होता हुआ रूपवाला है। अतः उन पृथिवी आदि नौ द्रव्यों से भिन्न (भेदवाला) है।

इसी आशय को संस्कृत में इस प्रकार से भी कहा जा सकता है––

'तमः अतिरिक्तद्रव्यं, प्रसिद्धनवद्रव्यवैधर्म्यात्'। तथाहि––तमः पृथिव्यनन्तर्भूतम्, समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाधिकरणत्वात्, सुवर्णवत्'। 'तमः जलानन्तर्भूतम्, शीतस्पर्शाभावात्, घटवत्।' 'तमः तेजोऽनन्तर्भूतम् उष्णस्पर्शाभावात् घटवत्।' 'तमः वाय्वनन्तर्भूतम् सदागतिमत्त्वाऽभावात् घटवत्।' तथा 'तमः वाय्वनन्तर्भूतम् स्पर्शाभावात् आकाशवत्।' 'तमः आकाशादि-प्रत्येकपञ्चाऽनन्तर्भूतं समवायेन रूपवत्त्वात् घटवत्।' **एवं** तमः न गुणाद्यन्तर्भूतम् गुणवत्त्वात् इति। तथापि तत्तद्धेतुना जलत्वाभावादेः प्रातिस्विकरूपेण साधनमनुचितम्, एकेनैव 'नीलरूपवत्त्वात्' इति हेतुना जलत्वादिमनस्त्वान्तान्यतमशून्यत्वसाधनसम्भवात्। यह ध्यान में रखकर ही ग्रन्थकार ने 'नीलरूपवत्त्वाच्च' कहा है, अर्थात् 'समवायेन नीलरूपाधिकरणत्वात्'। अब अनुमान इस प्रकार किया जायगा– 'तमः जलतेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनोनन्तर्भूतं समवायेन नीलरूपाधिकरणत्वात्, नीलघटवत्।'

इस 'तम' का लक्षण इस प्रकार होगा––'स्पर्शरहितत्वेसति रूपवत् तमः' आकाशादि 'पाँच द्रव्य' स्पर्शरहित होने पर भी रूपवाले नहीं हैं, इस कारण उनमें 'तम' के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। पृथिवी आदि तीन द्रव्यों में

न, आवश्यकतेजोऽभावेनैवोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। रूपवत्ताप्रतीतिस्तु भ्रमरूपा, कर्मवत्ताप्रतीतिरप्यालोकापसरणौपाधिकी भ्रान्तिरेव। तमसोऽतिरिक्तद्रव्यत्वेऽनन्तावयवादिकल्पनागौरवं च स्यात्। स्वर्णस्य यथा तेजस्यन्तर्भावस्तथा वक्ष्यते।

'उष्णस्पर्श' तथा भास्वर रूपवाला होने से अवश्य माननीय (स्वीकर्तव्य) जो **तेजःपदार्थ** है, उसके अभाव में ही यदि 'अन्धकार' (तम) का व्यवहार हो जाय तो नौ द्रव्यों की अपेक्षा 'तमो' नामक अधिक पृथक् द्रव्य की कल्पना करना उचित नहीं है। अर्थात् आवश्यक प्रौढ प्रकाशक जो तेज पदार्थ है उसी के सामान्याभावरूप तम (अन्धकार) को मानने से ही उपपत्ति (निर्वाह) यदि हो जाती है तो एक अतिरिक्त द्रव्य की कल्पना करते बैठना उचित नहीं है। अतः 'तेज का अभाव' ही **'तम'** है। इसलिए **'तम'** नाम का कोई **दसवाँ द्रव्य नहीं है।**

शंका—यदि 'तम' को **तेजोभावरूप** मानते हैं तो उसमें 'नीलं तमश्चलति' यह रूपवत्ता प्रतीति क्यों होती है? क्योंकि 'अभाव' तो नीरूप (रूपहीन) है।

समा०—आकाश के नीरूप (रूपहीन) होने पर भी 'नीलः आकाशः' यह प्रतीति जैसे भ्रम है, वैसे ही 'नीलं तमश्चलति' यह रूपवत्ता प्रतीति भी भ्रम है। उसी तरह **'चलति,** यह 'कर्मवत्ता' प्रतीति भी **भ्रम है।** जब कोई व्यक्ति 'दीपक' रूप प्रकाश लेकर चलता है, तो उस व्यक्ति की 'अपसरण क्रिया', दीपक आदि में आकर 'अंधकार' में भासित होने लगती है, जिससे **'तम चल रहा है'** ऐसा कहने लगते हैं। अतः तम में चलनक्रिया की प्रतीति आलोक (तेज, प्रकाश) की अपसारणक्रियारूप उपाधि से प्रयुक्त होने के कारण **भ्रमरूप** ही है। अर्थात् 'तम' में 'चलनक्रिया' का ज्ञान **भ्रमरूप** ही है, क्योंकि आलोक के होने पर 'तम'

'रूप' तो है परन्तु 'स्पर्शरहितत्व' नहीं है, अतः उनमें भी उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। यह 'तम' नौ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य है—यह वृद्धों ने भी कहा है—

'तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत्।
प्रसिद्धधर्मवैधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति॥' (न्याय लीलावती)

'तमः द्रव्यं समवायेन कर्मवत्त्वात्'। 'तमः द्रव्यं समवायेन नीलरूपवत्त्वात्'। 'तमः द्रव्यं समवायेन परत्ववत्त्वात्'। 'तमः द्रव्यं समवायेन अपरत्ववत्त्वात्।' 'तमः द्रव्यं समवायेन विभागवत्त्वात्।' 'तमः द्रव्यं समवायेन संयोगवत्त्वात्। 'तमः अतिरिक्तद्रव्यं प्रसिद्धनवद्रव्यवैधर्म्यात्।'

'तम' चलनरूपक्रिया तथा नीलरूप और परत्व-अपरत्व गुणवाला होने से द्रव्यरूप है। और प्रसिद्ध पृथिवी आदि नौ द्रव्यों के वैधर्म्यवाला होने से उन नौ द्रव्यों से भिन्न है। अतः यह 'तम' नाम का दशम द्रव्य सिद्ध हो रहा है।

भागता है। इस युक्ति से यह सिद्ध होता है कि 'तम' कोई अतिरिक्त पदार्थ न होकर आलोकाभाव (तेजोऽभाव) रूप ही है। इस पर भी 'तम' को अतिरिक्त द्रव्य मानने का यदि कोई दुराग्रह करता है तो उसे 'तम' के 'अनन्त अवयव' तथा 'उनके नाश' की भी कल्पना करनी होगी। अर्थात् 'तम' को 'सावयव द्रव्य' मानना होगा, तब कल्पना-प्रयुक्त **गौरव** होगा। अतः इस प्रकार के अनन्तावयवादि कल्पना करने के कारण उपस्थित होनेवाले गौरव को मानने की अपेक्षा **'तेजोऽभाव'** को ही 'तम' कहने में लाघव होगा। हम नैयायिकों के यहाँ 'अभाव' को सप्तम पदार्थ माना जाता है। अतः 'तम' का उसी अभाव पदार्थ में अन्तर्भाव मानना चाहिए। **'तम'** अतिरिक्त द्रव्य नहीं है। एतावता 'द्रव्य' **नौ** ही हैं यह सिद्ध हुआ[1]। **'सुवर्ण'** का भी तेज में ही अन्तर्भाव होता है, यह चर्चा हम तेजोनिरूपण के प्रसंग में करेंगे।

---

(१) 'तम' को अतिरिक्त द्रव्य मानने की जो आशंका **मीमांसकों ने** की है, वह उचित नहीं है। क्योंकि **'महत्त्व-विशिष्ट तथा उद्भूतरूपवाले द्रव्य'** का चाक्षुष-प्रत्यक्ष, 'आलोक-सहकृत-चक्षुरिन्द्रिय' से ही होता है। 'घट-पट आदि द्रव्यों' का प्रत्यक्ष जैसा 'आलोक' (प्रकाश) में होता है, वैसा 'अन्धकार' में नहीं। इससे ज्ञात होता है कि **'तम'** संज्ञक कोई द्रव्य नहीं है, किन्तु वह 'तेज का अभाव' है।

शंका—'प्रकाश' में ही चक्षु से 'द्रव्य' का प्रत्यक्ष हो'—यह कोई सार्वत्रिक नियम नहीं है, क्योंकि रात्रि में प्रकाशाभाव होने पर (प्रकाश के न रहने पर) भी उल्लूपक्षी, बिल्ली, चूहा, राक्षस आदि को दीखता ही है।

समा०—रात्रि में 'प्रकाश' का अत्यन्त (बिल्कुल) अभाव नहीं रहता, अपितु किंचित् आलोक (प्रकाश) रहता ही है। उस थोड़े (किंचित्) प्रकाश से ही उल्लू आदि का 'चक्षुरिन्द्रिय' 'द्रव्य' का प्रत्यक्ष कर लेता है। अर्थात् 'चक्षुरिन्द्रिय' प्रत्यक्ष का कारण होता है।

शंका—जैसे उल्लू, राक्षस, आदि को अँधेरी रात में दीखता है, वैसे ही मनुष्यादिकों को क्यों नहीं दीखता ?

समा०—विलक्षण अदृष्टविशेष से उल्लू आदि का चक्षु, अल्प स्वल्प प्रकाश में ही देख लेता है, किन्तु मनुष्यों का चक्षु, उत्कृष्ट प्रकाश से ही अदृष्ट के कारण देख पाता है। अथवा चाक्षुषप्रत्यक्ष का 'अस्मदीय' यह विशेषण दें तो कोई भी दोष नहीं होगा।

(**मीमांसकों की शंका**)—तेजःसामान्य के अभाव का नाम 'तम' है या तेजोविशेष के अभाव का नाम 'तम' है ? अब **नैयायिक** यदि प्रथम पक्ष का स्वीकार करते हैं तो अत्यन्त 'गाढ़ अन्धकार' में उस 'तम' की प्रतीति नहीं होनी चाहिये। यदि 'तेजोविशेष के अभाव' का नाम 'तम' कहो तो सूर्य के प्रकाशरूप आलोक के विद्यमान होने पर भी 'तम' की प्रतीति होनी चाहिए, क्योंकि यहाँ पर यत्किञ्चित् अग्निचन्द्रादि के तेजोविशेष का अभाव तो है ही।

गुणान्विभजते अथ गुणा इति ।

क्रमप्राप्त गुणों का विभाग करते हैं ।

—अथ गुणा रूपं रसो गन्धस्ततः परम् ॥ ३ ॥
स्पर्शः सङ्ख्या परिमितिः पृथक्त्वं च ततः परम् ।
संयोगश्च विभागश्च परत्वं चापरत्वकम् ॥ ४ ॥
बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वकम् ।
द्रवत्वं स्नेहसंस्करावदृष्टं शब्द एव च ॥ ५ ॥

(१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श, (५) संख्या, (६) परिमिति=परिमाण, (७) पृथक्त्व, (८) संयोग, (९) विभाग, (१०) परत्व, (११) अपरत्व, (१२) बुद्धि, (१३) सुख, (१४) दुःख, (१५) इच्छा, (१६) द्वेष, (१७) यत्न=प्रयत्न, (१८) गुरुत्व, (१९) द्रवत्व, (२०) स्नेह, (२१) संस्कार, (२२) धर्म,

---

समाधान—यह जो कहा गया है कि—'तेज के अभाव' का नाम 'तम' है, उसका तात्पर्य यह है—'प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतानभिभूतरूपवत्तेजःसामान्याभावस्तमः' जो तेज प्रकृष्टमहत्वपरिमाण तथा उद्भूत अनभिभूत रूपवाले हैं, ऐसे समस्त तेजों का जो अभाव है, वही 'तम' है। ऐसे तेज—सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि, मणि आदि हैं। उपर्युक्त लक्षण में यदि 'प्रकृष्ट' पद न देते तो 'त्र्यणुकतेज' के विद्यमान होनेपर भी 'तम' की प्रतीति नहीं होती। यदि 'रूप' का विशेषण 'उद्भूत' पद न दें तो 'चक्षुरिन्द्रियरूप तेज' के विद्यमान होनेपर इस तम की प्रतीति नहीं होती। यदि रूप का विशेषण 'अनभिभूत' पद न दें तो सुवर्णरूप तेज के होनेपर 'तम' की प्रतीति न होती। यदि 'सामान्य' पद न दें तो जहाँ एक सूर्यरूप तेज है, वहाँ चन्द्र अग्नि आदि तेजों का अभाव भी है, अतः वहाँ भी तम की प्रतीति नहीं होनी चाहिये थी। अतः लक्षण ठीक प्रतीत हो रहा है। 'तम' में जो नीलरूप दीखता है, वह 'पृथिवी' का समझना चाहिये। जैसे—'पित्त' होनेपर 'शंख' पीला प्रतीत होता है। उसी प्रकार जो चलनात्मक क्रिया 'तम' में प्रतीत होती है, वह भी 'तम' की नहीं, किन्तु दीपकादितेज के किरणों का प्रतिरोध करनेवाला शरीरादि पार्थिव द्रव्य है, उसकी क्रिया ही 'तम' में प्रतीत होती है।

मीमांसकों की शंका—जैसे तुम **नैयायिकों** ने अन्वयव्यतिरेक से 'तम' को 'तेज' का अभाव माना है, वैसे ही हम **मीमांसक** उस 'तेज' को ही 'तम' का अभाव सिद्ध करते हैं।

समाधान—'अभाव' में स्पर्श तथा रूपादि नहीं रहते, किन्तु 'द्रव्य' में ही रहते हैं। यदि 'तेज' तम का अभाव होता तो अग्नि के अंगारे को हाथ पर रखने से हाथ नहीं जलता, अर्थात् स्पर्श करने पर दाहादि नहीं होते। अतः 'तेज' को **द्रव्य** और 'तम' को **अभावरूप** ही मानना उचित है।

(२३) अधर्म[1], (२४) शब्द। ये चौबीस गुण[2] हैं। 'एव' 'च' ये दो पद कारिका में केवल पादपूर्ति के लिये ही हैं।

एते गुणाश्चतुर्विंशतिसंख्याकाः कणादेन कण्ठतश्च शब्देन च दर्शिताः। तत्र गुणत्वजातिसिद्धिरग्रे वक्ष्यते ॥ ३-५ ॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार—ये चौबीस गुण हैं। इनमें सत्रह (१७) गुण कणाद मुनि ने अपने सूत्र[3] में स्पष्टतया लिखे हैं, शेष सात गुण उसी सूत्र के 'च' कार से सूचित होते हैं। इस प्रकार ये चौबीस गुण इस शास्त्र में कहे गये हैं। इन गुणों में 'गुणत्व' जाति की सिद्धि आगे गुणनिरूपण के अवसर पर करेंगे।

कर्माणि विभजते उत्क्षेपणमिति।

अब क्रमप्राप्त कर्म का विभाग करते हैं।

उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनं तथा।
प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पञ्च च ॥ ६ ॥

कठिन पदों की व्याख्या—(१) उत्क्षेपणम्—"ऊर्द्ध्वदेशसंयोगानुकूला क्रिया" ऊपर के देश से संयोग करानेवाला कर्म अर्थात् ऊपर को फेंकना, (२) अपक्षेपणम्—"अधःसंयोगानुकूला क्रिया" अर्थात् नीचे को फेंकना, (३) आकुञ्चनम्—"प्रसारितस्य संक्षिप्तसम्पादनानुकूला क्रिया" अर्थात् सिकोड़ना, (४) प्रसारणम्—अर्थात् 'विस्तारकरणम्' फैला देना, (५) गमनम्—'उत्तरदेशसंयोगानुकूलो व्यापारः' जो क्रिया उत्तर देश के साथ संयोग (मिलाप) कराती है, उसको गमन कहते हैं। अर्थात् गमन करने के समय पूर्व देश के साथ संयोग का 'ध्वंस' होना तथा उत्तर देश के साथ संयोग का होना, अर्थात् जो व्यापार ऐसा संयोग पैदा करावे उसी का नाम गमन है। कर्माणि—ये पाँच प्रकार के कर्म हैं। कर्म का स्थूल लक्षण तो यह है कि 'क्रियते इति कर्म' अर्थात् जो किया जाय वही कर्म है। शास्त्रीय शब्दों में लक्षण इस प्रकार होगा—जो पदार्थ 'संयोग' तथा 'विभाग' का असमवायिकारण हो और जिसका 'असमवायी वेग' हो वही कर्म है।

उत्क्षेपण, अपक्षेपण आकुञ्चन, प्रसारण और गमन ये पाँच ही कर्म हैं।

कर्मत्वजातिस्तु प्रत्यक्षसिद्धा। एवमुत्क्षेपणत्वादिकमपि ॥ ६ ॥

---

(१) धर्म का अभाव अधर्म नहीं है, किन्तु यह अधर्म, गुणविशेष भाव पदार्थ है।

(२) 'द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्षो गुणः' इति। जो द्रव्य में रहता है और स्वयं अगुणवान् है, उसी प्रकार जो संयोग तथा विभाग का कारण नहीं है, वही गुण है।

(३) "रूपरसगन्धस्पर्शाः, संख्याः, परिमाणानि, पृथक्त्वं, संयोगविभागौ, परत्वाऽपरत्वे, बुद्धयः, सुखदुःखे, इच्छाद्वेषौ, प्रयत्नाश्च गुणाः।"—वै० सू० १।१।६

'कर्म' में 'कर्मत्व' जाति तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है। जैसे मनुष्य उठता है, गमन करता है इस प्रकार अनुगत प्रत्यय (ज्ञान) होने से 'कर्मत्व जाति' को प्रत्यक्ष सिद्ध कहा गया। इसी प्रकार उत्क्षेपणत्वादि जाति को भी प्रत्यक्ष सिद्ध समझना चाहिये ॥ ६ ॥

भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च।
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥ ७ ॥

(१) **भ्रमणम्**-इधर-उधर घूमना, (२) **रेचनम्**-निकलना, (३) **स्यन्दनम्**-बहना, (४) **उर्ध्वज्वलनम्**-ऊपर की ओर अग्नि का जलना अर्थात् लपट, (५) **तिर्यग्गमनम्**-टेढ़ा चलना **गमनादेव लभ्यते**-गमन शब्द के अन्तर्गत ही इन 'भ्रमणादिकों' को जानना चाहिए। अर्थात् ये एक तरह के **गमन ही** हैं।

नन्वत्र भ्रमणादिकमपि पञ्चकर्माधिकतया कुतो नोक्तम् ?

भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, उर्ध्वज्वलन, और तिर्यग्गमन ये पाँच, कर्म, पूर्वोक्त पाँच कर्मों से अधिक प्रतीत होते हैं, तब दस प्रकार के कर्म हैं, ऐसा क्यों नहीं कहा ? इस शंका के समाधानार्थ कहते हैं।

अत आह—भ्रमणमित्यादि ॥ ७ ॥

भ्रमणादिक[1] पाँच कर्म निराले नहीं हैं, इनका गमन में ही[2] अन्तर्भाव हो जाता है। अतः पाँच ही कर्म हैं ॥ ७ ॥

सामान्यं निरूपयति, सामान्यमिति।

अब क्रमप्राप्त सामान्य का निरूपण करते हैं।

सामान्यं द्विविधं प्रोक्त परं चापरमेव च।

कठिन पदव्याख्या-(१) सामान्यम्-जातिः, (२) परं चापरम्-'पर' एवं 'अपर' ये दो भेद 'जाति' के हैं। 'पर' शब्द का अर्थ यहाँ उत्कृष्ट है। 'अपर' की अपेक्षा से 'पर' बहुत पदार्थों में रहता है, यही 'पर' की उत्कृष्टता हैं। अपर' शब्द का अर्थ निकृष्ट है। 'पर' की अपेक्षा 'अपर' कम पदार्थ में रहता है। यही 'अपर' के निकृष्ट होने का कारण है।

---

(१) ये पाँच कर्म घोड़ों की गति से जाने जाते हैं।

(२) शंका—भ्रमणादिकों का जैसे गमन में अन्तर्भाव माना जाता है, वैसे ही उत्क्षेपणादि चारों का भी 'गमन' में अन्तर्भाव क्यों नहीं माना जाता ?

समा०—यद्यपि उक्त रीति से उत्क्षेपणादिकों का भी गमन में अन्तर्भाव हो सकता है तथापि कणादमुनि ने उत्क्षेपणादि पाँच ही प्रकार का कर्म बताया है। अतः उनकी शैली का त्याग करना उचित नहीं है। उत्पत्ति विनाशशाली होने से सभी कर्म अनित्य होते हैं। जिस-जिस मूर्तद्रव्य में जो-जो कर्म उत्पन्न होता है, उस-उस कर्म का वह-वह 'मूर्त द्रव्य' समवायिकारण होता है। वह कर्म, चक्षु तथा त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है।

तात्पर्य यह है कि 'जाति' पदार्थ दो प्रकार का होता है, 'पर' और 'अपर'। द्रव्य, गुण और कर्म पर रहनेवाली (तीनों में समवेत) सत्ताजाति को 'परा' कहते हैं। जो 'जाति' 'परा' नहीं है, उसे 'अपरा' कहते हैं। द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, प्रभृति जाति, 'परा' होती है। इसी प्रकार 'द्रव्य' के अन्तर्गत जो पृथ्वी, जल आदि नौ द्रव्य हैं, तथा 'गुणों' के अन्तर्गत जो रूप, रस आदि चौबीस गुण हैं, उनमें से प्रत्येक पर रहनेवाले जैसे पृथ्वीत्व, जलत्व आदि, उसी तरह रूपत्व, रसत्व आदि अपरा जाति समझी जाती हैं। एवं च 'परा' और 'अपरा' ये दो जातियाँ हैं।

तल्लक्षणं तु नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्। अनेकसमवेतत्वं संयोगादीनामप्यस्त्यत उक्तं नित्यत्वे सतीति। नित्यत्वे सति समवेतत्वं गगनपरिमाणादीनामप्यस्त्यत उक्तमनेकेति। नित्यत्वे सत्यनेकवृत्तित्वमत्यन्ताभावेऽप्यस्त्यतो वृत्तित्वसामान्यं विहाय समवेतत्वमित्युक्तम्।

नित्य (नाश रहित) होकर अनेक पदार्थों में समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाले धर्म को 'सामान्य' (जाति) कहते हैं। अब लक्षण के पदों का प्रयोजन बताते हैं—'नित्य' पद यदि न दें तो 'संयोग', 'विभाग' आदि गुण अनेक पदार्थों में 'समवाय-सम्बन्ध' से रहते हैं। अतः वे भी 'सामान्य' (जाति) हो जायेंगे। इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'सामान्य' (जाति) के लक्षण में 'नित्य' पद दिया गया है। उसके देने से 'संयोगादि' अनित्य होने के कारण वे 'सामान्य' (जाति) नहीं कहे जा सकेंगे। अब 'अनेक' पद लक्षण में न दें तो गगन का जो 'महत्परिमाण' है, वह नित्य है, और वह 'समवाय सम्बन्ध' से गगन में रहता है। अतः गगन-परिमाण' में 'सामान्य' (जाति) के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'अनेक' पद दिया गया है। गगन तो एक ही पदार्थ है, अनेक नहीं। उसमें रहनेवाले 'महत्परिमाण' अनेक पदार्थों में नहीं रहता। अतः लक्षण में 'अनेक' पद के देने से अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब लक्षण में 'समवाय' पद यदि न दें तो 'अत्यन्ताभाव' नित्य है और वह अनेक पदार्थों में भी रहता है। अतः 'अत्यन्ताभाव' में 'सामान्य' (जाति) के लक्षण'

(१) इतर भेद के अनुमापक धर्म को '**लक्षण**' कहते हैं। अर्थात् जो धर्म अन्य वस्तुओं से भेद करावे, उस भेद करानेवाले धर्म को '**लक्षण**' कहते हैं। जैसे—'करचरणादिमत्वं'—'**मनुष्यत्वम्**' यह मनुष्य का लक्षण है। क्योंकि 'करचरणादिमत्त्व' धर्म मनुष्य को अन्य जीव तथा वस्तुओं से भिन्न कराता है। इसलिये 'करचरणादिमत्त्व' मनुष्य का लक्षण है। उसी प्रकार 'गलकम्बलादिमत्त्वं' गो का लक्षण है। जिसके गले में कम्बल (कम्बलाकार लम्बमानचर्म) होता है, उसी को 'गो' कहते हैं। गोमात्र के गले में कम्बल होता है, गो से भिन्न अन्य प्राणि के गले में वह नहीं होता। 'गलकम्बलादिमत्त्व' धर्म के द्वारा गो प्राणि अश्वप्रभृति अन्य प्राणियों से भिन्न होता है। अतएव 'गलकम्बलादिमत्त्व' 'गो' का लक्षण समझा जाता है।

की अतिव्याप्ति[1] हो जायगी। इसलिये 'समवाय' पद 'सामान्य' के लक्षण में दिया गया है। 'अत्यन्ताभाव' समवायसम्बन्ध से कहीं नहीं रहता। 'अत्यन्ताभाव' तो 'दैशिकविशेषणता' नामक **स्वरूपसम्बन्ध** से रहता है। अतः 'सामान्य (जाति) के लक्षण में कोई दोष नहीं है।

---

(१) **अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असम्भव, अन्योऽन्याश्रय** प्रभृति कुछ दोष हैं। लक्षण बनाते समय उक्त दोषों से बचने के लिये उनपर दृष्टि अवश्य रखनी चाहिये। क्योंकि लक्षण वही ठीक होता है, जिसमें किसी प्रकार का दोष न हो। लक्षण सदा निर्दुष्ट होना चाहिये। **अतिव्याप्ति**—अतिव्याप्ति का, प्रकृति-प्रत्यय व्युत्पादित अर्थ—'अत्यन्तव्यापन' है। उसी को लक्षण के माध्यम से बताते हैं—'अलक्ष्ये लक्षणगमनम्'—**अतिव्याप्तिः**। अलक्ष्य में लक्षण का चला जाना ही अतिव्याप्ति है। अर्थात् जो जिसका लक्ष्य नहीं, वहाँ यदि लक्षण चला जाय, तो अतिव्याप्ति नाम का दोष होता है। जैसे—'चेतनावत्त्वम्'....**मनुष्यत्वम्**। मनुष्य के इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है। क्योंकि जैसी मनुष्य में चेतना है, वैसी ही मनुष्यभिन्न 'गो' आदि प्राणियों में भी चेतना (चेतनावत्त्व) धर्म है। इसलिये 'चेतनावान् मनुष्यः' यह लक्षण, लक्ष्यभूत मनुष्य में तथा मनुष्यभिन्न अलक्ष्य 'गो' आदि में भी जाता है। अतः उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है। इसलिये यह लक्षण ठीक नहीं है।

अव्याप्ति—'**अव्याप्ति**' का यौगिक (प्रकृति-प्रत्यय व्युत्पादित) अर्थ यही है कि 'अव्यापन' अर्थात् व्यापन (व्याप्ति) का अभाव, उसी को लक्षण के माध्यम से बताते हैं – 'लक्ष्यैकदेशवृत्तित्त्वम्'—**अव्याप्तिः**। यदि लक्षण, लक्ष्य के एकदेश में ही व्याप्त रहे, सम्पूर्ण लक्ष्य में व्याप्त न हो सके तो '**अव्याप्ति**' नामक दोष होता है। जैसे—'कपिलत्वं गोत्वम्' यह 'गो' का लक्षण यदि किया जाय तो अव्याप्ति-दोष होगा, क्योंकि 'कपिलत्व' धर्म कपिला गो में तो मिलेगा। किन्तु अन्य सफेद, काली, लाल आदि रंगवाली गोओं में 'कपिलत्वं' धर्म नहीं मिलेगा। अतः उक्त लक्षण लक्ष्यमात्र (गोमात्र) में न पहुँचपाने के कारण अव्याप्तिदोष से दूषित हुआ। इसलिए यह लक्षण ठीक नहीं है।

असम्भव—'**असम्भव**' शब्द का यौगिक अर्थ—'संभावना का अभाव' है। इसी अर्थ को लक्ष्य के माध्यम से बताते हैं—'लक्ष्ये लक्षणाऽगमनम्'—**असम्भवः**। लक्ष्य में लक्षण का घटित न हो पाना ही '**असम्भव**' है। जैसे—'एकशफवत्त्वं' 'गोत्वम्' यह लक्षण यदि गाय का किया जाय तो 'एकशफवत्त्वं' धर्म किसी भी गाय में उपलब्ध नहीं होगा। अतः लक्ष्यभूत गो में लक्षण के घटित न होने से यह **असम्भव** दोष होता है। इसलिये यह लक्षण ठीक नहीं है।

अन्योन्याश्रय—जो अन्योन्य (परस्पर) का आश्रय करे, उसे **अन्योन्याश्रय** कहते हैं। उसी को इतरेतराश्रय, या पस्पराश्रय भी कहते हैं। इसी भाव को लक्षण के माध्यम से बताते हैं—'स्वग्रहसापेक्ष-ग्रहसापेक्षग्राहकत्वम्, अन्योन्याश्रयत्वम्'—स्वग्रहः (स्वज्ञानम्) तस्य सापेक्षः (अपेक्षाकारी) यो ग्रहः (ज्ञानम्) तस्य

एकव्यक्तिमात्रवृत्तिस्तु न जातिः । तथा चोक्तम्—

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः' ॥

एकव्यक्तिवादाकाशत्वं न जातिः । तुल्यव्यक्तित्वात् घटत्वं कलशत्वं न जातिद्वयम् । संकीर्णत्वात् भूतत्वं मूर्तत्वं च न जातिः । अनवस्थाभयात् सामान्यत्वं न जातिः । विशेषस्य व्यावृत्तस्वभावस्य रूपहानिः स्यात् अतो विशेषत्वं न जातिः । समवायसम्बन्धाभावात् समवायत्वमभावत्वं च न जातिः ॥

अब 'जाति' किसमें नहीं रहती, यह बताते हैं। श्रीउदयनाचार्य ने अपने किरणावलिग्रन्थ में जाति के बाधक गिनवाये हैं। जैसे—(१) व्यक्ति का भेद न होना अर्थात् व्यक्ति का एक होना, (२) तुल्यता (पर्याय), (३) संकर (मिश्रण), (४) स्थिति न होना, (५) रूप का नाश, (६) असम्बन्ध अर्थात् समवाय न रहना ये छह[१], जाति के बाधक हैं। अब प्रत्येक के उदाहरण बताते हैं—(१) व्यक्ति

सापेक्षः (अपेक्षाकारी) ग्रहो यस्य, तस्य भावः । अर्थात् स्वज्ञान के प्रति जो ज्ञान अपेक्षा करे, उसीं ज्ञान के प्रति पुनः यदि स्वज्ञान अपेक्षा करे तो वहाँ पर **अन्योन्याश्रय** नाम का दोष समझा जाता है। जैसे—'महिषभिन्नत्वं गोत्वम् एवं गोभिन्नत्वं महिषत्वम्' यहाँ पर अन्योन्याश्रय दोष है। क्योंकि गो-ज्ञान करने के समय महिष-ज्ञान आवश्यक एवं महिषज्ञान करने के समय पुनः गो ज्ञान आवश्यक होता है। उसी प्रकार 'जो पिता से जन्य (पैदा) हो वह पुत्र एवं जो पुत्र का जनक हो वह पिता'—यहाँ पर भी अन्योन्याश्रय दोष है, क्योंकि पितृज्ञान का सापेक्ष पुत्रज्ञान है और पुत्रज्ञान का सापेक्ष पितृज्ञान है।

आत्माश्रय—जो अपना ही आश्रय करे उसे आत्माश्रय कहते हैं। 'स्वापेक्षापादकप्रसङ्गत्वम्'—**आत्माश्रयत्वम्** । अर्थात् जो स्व अपेक्षा का आपादक (जनक) हो उसको **आत्माश्रय** कहते हैं। जैसे—'ज्वरघटित उपसर्गयुक्त रोग का नाम ज्वर है' यह ज्वर का लक्षण यदि किया जाय तो आत्माश्रय दोष होगा, क्योंकि यहाँ पर ज्वरज्ञानसापेक्ष ज्वरज्ञान है। अतः इस लक्षण में **आत्माश्रय** दोष अर्थात् अपना ज्ञान कराने के हेतु अपना ही आश्रय करता है। किसी भी वस्तु का लक्षण करते समय दोषों पर दृष्टि अवश्य देनी चाहिये, अन्यथा लक्षण दुष्ट होता है।

(१) मुक्तावलि में कहा था कि 'एकमात्रव्यक्तिवृत्तिस्तु न जातिः' अर्थात् एक-एक व्यक्ति में रहनेवाले आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व आदि धर्मों में 'जाति' शब्द का व्यवहार नहीं हुआ करता। इसी बात को उदयनाचार्य जैसे प्राचीन आचार्यों ने अपने किरणावलीग्रन्थ में 'व्यक्तेरभेदः' इत्यादि छह जातिबाधकों की गणना कर बताया है। जैसे (१) व्यक्ति का अभेद, (२) तुल्यत्व, (३) संकर, (४) अनवस्था,

(५) रूपहानि, (६) असम्बन्ध, ये छह दोष जाति के बाधक होते हैं। आकाश, काल, दिक् इन तीनों में रहनेवाले आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व धर्म को 'जाति' शब्द से नहीं कह सकते। क्योंकि इन धर्मों को 'जाति' शब्द से कहने में (१) 'व्यक्ति का अभेद' दोष बाधक होता है। 'स्वाश्रयनिष्ठ-स्वाश्रय प्रतियोगिक भेदाभावः व्यक्त्यभेदः' यहाँ दोनों 'स्व' शब्दों से आकाशत्व आदि का ग्रहण है। आकाश, काल, दिक् ये तीनों एक-एक व्यक्ति हैं, नाना (अनेक) नहीं। यदि आकाशादि में दूसरे आकाशदि का भेद सिद्ध होता। उन आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व धर्म में स्व-आश्रयनिष्ठ स्व-आश्रय-प्रतियोगिक-भेद का अभाव है। इसी को व्यक्ति का अभेद कहते हैं।

अनेक घटों में जैसे 'अयं घटः, अयं घटः,' यह अनुगत (एकाकार) प्रतीति होती है, वैसे ही उन्हीं घटों में 'अयं कलशः, अयं कलशः' ऐसी प्रतीति भी होती है, क्योंकि 'घट', 'कलश' दोनों पर्याय शब्द हैं अर्थात् एक ही अर्थ के बोधक हैं। अतः उन घटों में दोनों धर्म सिद्ध होते हैं। परन्तु 'घटत्व' धर्म ही 'जाति' शब्द से कहा जाता है, और 'कलशत्व' धर्म को जाति शब्द से नहीं कहा जाता। क्योंकि 'कलशत्व' धर्म के जाति कहलाने में (२) 'तुल्यत्व' दोष बाधक है। 'स्वभिन्नजातिसमनियतत्वं तुल्यत्वम्'--यहाँ 'स्व' शब्द से कलशत्व का ग्रहण करना चाहिए। कलशत्व से भिन्न जो 'घटत्व' जाति है, उस घटत्व जाति का समनियतपना उस 'कलशत्व' धर्म में है। अतः यह 'तुल्यत्व' दोष कलशत्व के जाति कहलाने में बाधक है। घटत्व, कलशत्व ये दो पृथक् जातियाँ नहीं हैं, बल्कि 'घटत्व' ही एक जाति है। कलशत्व की अपेक्षा 'घटत्व' धर्म जाति मानने में वर्णशरीरकृत लाघव होता है, क्योंकि 'घट' ये दो ही अक्षर (वर्ण) हैं, और कलशत्व को जाति मानने में शरीरकृतगौरव होता है, क्योंकि 'क-ल-श' ये तीन अक्षर हैं। अतः 'घटत्व' धर्म ही जाति शब्द से व्यवहार करने योग्य है।

'भूतत्व' और मूर्तत्व आदि धर्म को जाति मानने में (३) संकर दोष बाधक है। 'संकर' का लक्षण 'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकत्र समावेशः संकरः'—परस्पर के अत्यन्ताभाव के साथ समान अधिकरणवाले धर्मों का जो एक अधिकरण में रहना है, उसीको 'संकर' कहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँचों द्रव्यों में 'भूतत्व' है, और पृथिवी, जल, तेज वायु, मन इन पाँचों में 'मूर्तत्व' है। 'मन' में 'भूतत्व' धर्म का अत्यन्ताभाव है। अतः 'मूर्तत्व धर्म 'भूतत्व' धर्म के अत्यन्ताभाव के साथ समान (एक) अधिकरणवाला है। तथा आकाश में 'मूर्तत्व' धर्म का अत्यन्ताभाव है। अतः 'भूतत्व' धर्म 'मूर्तत्व' धर्म के अत्यन्ताभाव के साथ समान (एक) अधिकरणवाला है। इस प्रकार परस्पर अत्यन्ताभाव के साथ समान अधिकरणवाले जो 'भूतत्व' तथा 'मूर्तत्व' दोनों धर्म हैं, वे दोनों धर्म पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चारों में रहते हैं—यही 'संकर' दोष है। अतः भूतत्व-मूर्तत्व दोनों धर्म, 'जातिरूप' नहीं हैं, किन्तु ये 'उपाधि' कहलाते हैं।

सामान्य में 'सामान्यत्व' जाति नहीं हुआ करती। घट और घटत्व में अर्थात् व्यक्ति और जाति दोनों में एक वैजात्य (पर) की कल्पना करते हैं, उसे ही 'सामान्यत्व' कहते हैं। इसी प्रकार 'सामान्य' तथा 'सामान्यत्व' इन दोनों में सामान्यत्वत्व की कल्पना कर जाति बनावेंगे तो अनेक जातियों की कल्पना करनी होगी, तब **अनवस्था** दोष आवेगा। अर्थात् कहीं भी विश्राम नहीं होगा। यदि सामान्य पर दूसरा सामान्य माना जाय तो उस पर भी एक तीसरा, उस पर भी चौथा इस प्रकार उत्तरोत्तर अविश्रान्तधारा चलती रहेगी। इसलिये सामान्य पर सामान्यान्तर नहीं माना जाता। अर्थात् सामान्यत्व धर्म को जाति कहने में (४) 'अनवस्था दोष' बाधक है। तात्पर्य यह है—यह गाय है, यह गाय है इस प्रकार का अनुगत-व्यवहार, किसी अनुगत धर्म के बिना हो नहीं सकता। अतः 'गोत्व' जातिरूप धर्म को माना गया है। उसी तरह–गोत्व, पुरुषत्व, पशुत्व आदि जातियों में 'यह जाति है, यह जाति है' इस 'अनुगतव्यवहार' के लिये सभी जातियों पर एक जातिरूप 'अनुगतधर्म' मान लेना चाहिये। उसके भी जातिरूप होने से पुनः उसमें भी 'यह जाति है', 'यह जाति है' इस प्रकार का व्यवहार चलेगा उसकी उपपत्ति के लिये एक 'अन्य जातिरूप' धर्म मानना होगा। उसके भी 'जातिरूप' होने से पुनः उसमें भी 'यह जाति है', 'यह जाति है' इस प्रकार का व्यवहार चलेगा, तब उसकी उपपत्ति के लिये एक 'अन्य जातिरूप धर्म' मानना होगा। इस तरह मानते चलने पर अनवस्था होगी। अतः कहना होगा कि केवल अनुगतप्रतीति होने मात्र से 'अनुगतधर्म' की कल्पना नहीं की जाती, बल्कि किसी बाधक के न रहने पर ही वैसी कल्पना की जाती है। इसीलिये कहा जाता है-–'बाधकाभावविशिष्टानुगतप्रतीतिविशेष्यत्वस्यैवजातिसाधकत्वम्।'

हेतु के अधिकरण में साध्य का अभाव होना (न रहना) ही व्यभिचार है। उसी कारण 'विशेषत्व' को जाति नहीं कहा जाता। 'अयं विशेषः विशेषान्तराद् भिन्नः विशेषत्वात्'–यहाँ पर विशेषान्तर में 'भेदरूपी साध्य' का अभाव है, किन्तु 'विशेषत्वरूप हेतु' है। अतः यहाँ व्यभिचार है। 'सामान्यशून्यत्वे सति सामान्यभिन्नत्वे सति समवेतत्वं— विशेषस्य लक्षणम्'। यदि 'विशेष' पदार्थ में विशेषत्वधर्म को जाति माना जाय तो 'सामान्याश्रयस्य सामान्यमुखेनैव व्यावर्तकत्वम्'— इस नियम के अनुसार उस 'विशेषत्वधर्म' के द्वारा ही वह 'विशेषपदार्थ' व्यावर्तक बन पायगा। किन्तु 'विशेषपदार्थ' तो सामान्य (विशेषत्वधर्म) के द्वारा व्यावर्तक (भेदसाधक) नहीं होता, बल्कि वह तो अपने स्वरूप से ही भेदसाधक (व्यावर्तक) होता है। अतः विशेष पदार्थ के स्वरूपनाश तथा लक्षणनाश के भय से अर्थात् (५) रूपहानि के भय से विशेषत्वधर्म को जाति शब्द से नहीं कहा जाता। विशेषत्वधर्म तो उपाधिरूप है।

समवाय में समवायत्वधर्म को तथा अभाव में अभावत्वधर्म को भी 'जाति'

के अभेद का उदाहरण—**आकाश एक है**, उसके ऊपर रहनेवाले 'आकाशत्वधर्म' को 'जाति' शब्द से नहीं कहा जाता, क्योंकि अनेक व्यक्तियों पर रहने वाले

शब्द से नहीं कहा जाता, क्योंकि (६) असम्बन्ध दोष (जातिबाधक) वहाँ उपस्थित है। 'असम्बन्ध' का स्वरूप इस प्रकार है—'प्रतियोगिताऽनुयोगितान्यतरसम्बन्धेन समवायाऽभावः असम्बन्धः'—प्रतियोगिता तथा अनुयोगिता इन दोनों में से किसी एक सम्बन्ध से जो 'समवाय का अभाव' रहता है, उसे 'असम्बन्ध' कहते हैं। पृथ्वी आदि द्रव्यों में गुण तथा कर्म 'समवाय सम्बन्ध' से रहते हैं। उस गुण, कर्म के समवायसम्बन्ध के वे गुण, कर्म 'प्रतियोगी' हैं, और पृथ्वी आदि द्रव्य 'अनुयोगी' हैं। अतः वह गुण, कर्म का 'समवाय', 'प्रतियोगितासम्बन्ध' से गुण, कर्म में रहता है, और 'अनुयोगिता सम्बन्ध' से पृथिवी आदि द्रव्यों में रहता है। इस प्रकार द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों पदार्थों में जातिरूपसामान्य समवायसम्बन्ध' से रहता है। उस सामान्य के 'समवाय' का वह सामान्य 'प्रतियोगी' होता है, और द्रव्य, गुण, कर्म 'अनुयोगी' होते हैं। इसी प्रकार 'तन्तु आदि अवयवों' में 'समवाय-सम्बन्ध' से रहनेवाले जो 'पटादि अवयवी' हैं, उन 'पटादि अवयवियों' का समवाय भी 'प्रतियोगिता सम्बन्ध' से उन पटादिकों में रहता है, और 'अनुयोगिता सम्बन्ध' से तन्तु आदि अवयवों में रहता है। सामान्य और विशेष इन दो पदार्थों में कोई भी पदार्थ 'समवायसम्बन्ध' से नहीं रहता। अतः इनमें समवाय ही-'प्रतियोगिता सम्बन्ध' से रहता है। परमाणु, आकाशादि नित्यद्रव्य, किसी भी पदार्थ में 'समवाय सम्बन्ध' से नहीं रहते। अतः इनमें 'समवाय स्वयं अनुयोगिता सम्बन्ध' से रहता है। 'समवाय' तथा 'अभाव' ये दोनों किसी भी पदार्थ में 'समवायसम्बन्ध' से नहीं रहते। तथा 'समवाय' और 'अभाव' में कोई दूसरे पदार्थ भी 'समवाय-सम्बन्ध' से नहीं रहते। इसलिये ये दोनों 'समवाय' के प्रतियोगी तथा अनुयोगी नहीं हैं। इस रीति से 'समवाय' तथा 'अभाव' में 'प्रतियोगिता तथा अनुयोगिता सम्बन्ध' से जो समवाय का अभाव है, उसीको (६) 'असम्बन्ध' कहते हैं। एवञ्च आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व, भूतत्व, शरीरत्व, इन्द्रियत्व, सामान्यत्व, विशेषत्व, समवायत्व, अभावत्व, आदि धर्मों को 'जाति' शब्द से न कहकर 'उपाधि' शब्द से कहा जाता है। यद्यपि द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व तथा पृथिवीत्व, जलत्व आदि को और रूपत्व, रसत्व आदि जातियों को भी 'विभाजक उपाधि' शब्द से बताया जाता है। तथापि यहाँ उपाधि शब्द जाति से भिन्न ही है। यह उपाधि सखण्डोपाधि तथा अखण्डोपाधि भेद से दो प्रकार का होता है। 'बहुपदार्थघटितो धर्मः सखण्डोपाधिः'—जो धर्म अनेक पदार्थों से घटित रहे उसे **'सखण्डोपाधि'** कहते हैं। जैसे—'शब्द'-गुण का जो समवायिकारण हो उसे आकाश कहते हैं। अतः 'आकाश-त्व' धर्म 'शब्द समवायि-कारणत्व' इन अनेक पदार्थों से घटित हुआ, इसलिये उपर्युक्त 'आकाशत्व' आदि धर्म 'सखण्डोपाधि' कहे जाते हैं। **'अखण्डोपाधि'** उस धर्म को कहते हैं, जिस धर्म का किसी प्रकार निर्वचन न किया जा सके। जैसे—

धर्म को ही 'जाति' शब्द से कहा जाता है। (२) तुल्यता (पर्याय) का उदाहरण--घट और कलश ये दोनों पर्याय शब्द हैं। घटत्व और कलशत्व इन दोनों धर्मों को 'जाति' शब्द से नहीं कहा जायगा। किन्तु दोनों पर एक 'घटत्व' जाति ही मानी जाती है।

शंका—जैसे 'घट' तथा 'कलश' इन दोनों में 'घटत्व' धर्म को जाति माना जाता है, उसी प्रकार 'घटत्व' के स्थान में 'कलशत्व' धर्म को ही जाति क्यों नहीं माना जाता ?

समा०—'घटत्व' धर्म को जाति मानने में शरीरकृत लाघव है, अर्थात् 'घट' शब्द में दो अक्षर (वर्ण) हैं और 'कलश' शब्द में तीन अक्षर (वर्ण) हैं। इसलिये दोनों (घट और कलश) में 'घटत्व' धर्म को ही जाति माना जाता है। (३) **संकर का उदाहरण**—भूतत्व और मूर्तत्व ये दोनों जातियाँ नहीं हो सकतीं, क्योंकि जाति का बाधक 'संकर दोष' यहाँ उपस्थित है। (४) **अनवस्थित** (स्थिति न होना) का उदाहरण--सामान्य (घटत्व, द्रव्यत्व आदि) जैसे 'जाति' है, वैसे 'सामान्यत्व' जाति नहीं। उसे भी यदि जाति माना जाय तो 'सामान्यत्व-त्व' और समान्यत्व त्व-त्व आदि भी जातियाँ होने लगेंगी तब 'अनवस्था' नाम का दोष हो जायगा। इस दोष के होने पर यहाँ तक 'जाति' है, ऐसा नियम नहीं रहेगा। इसलिये--'सामान्यत्व' धर्म को जाति शब्द से नहीं कहा जाता। (५) **रूपनाश**--यह स्वरूपनाश तथा लक्षणनाश भेद से दो प्रकार का होता है। स्वरूपनाश का उदाहरण--'विशेष' पर रहनेवाले 'विशेषत्व' धर्म को जाति शब्द से नहीं कहा जाता। विशेषत्व को यदि जाति माना जाय तो 'जाति, अन्यजाति के भेद की दर्शक होती है, अर्थात् दूसरी जाति से भेद के दिखाने का हेतु होती है'--इस नियम के अनुसार परस्पर विशेषों में विशेषत्व भी भेद की दर्शकता का हेतु हो जायगा। अतः केवल व्यभिचार दोष ही नहीं होगा, किन्तु विशेष का जो विशेषान्तर से भेद का दर्शक स्वरूप है (स्वतोभेददर्शकत्व) उसका भी नाश हो जायगा। इसलिये विशेषत्व धर्म को जाति शब्द से नहीं कहा जाता।

ऊपर बता चुके हैं कि 'रूपनाश' दो प्रकार से होता है, एक 'स्वरूपनाश' और दूसरा 'लक्षणनाश'। 'स्वरूपनाश' बता दिया। अब 'लक्षणनाश' को बताते हैं—विशेष के लक्षण में विशेष को--'सामान्यशून्य' ऐसा विशेषण दिया गया है, वहाँ यदि 'विशेषत्व' जाति हो जाय तो 'विशेष' सामान्यशून्य नहीं होगा। तो विशेषण में 'सामान्यशून्यत्वे सति' इस लक्षण का नाश हो जायगा, इसलिये 'विशेषत्व' को जाति नहीं मान सकते। (६) **असम्बन्ध** का उदाहरण—'समवायत्व' और 'अभावत्व' ये दोनों जातिरूप धर्म नहीं हैं। क्योंकि 'जाति' तो 'व्यक्ति' में समवाय

प्रतियोगित्व, अनुयोगित्व आदि धर्म। जातिरूप 'सामान्य' पदार्थ का ग्रहण छह इन्द्रियों से होता है।

सम्बन्ध से रहती है। समवायत्व और अभावत्व ये 'समवाय' तथा 'अभाव' में स्वरूपसम्बन्ध से रहते हैं। वे समवाय सम्बन्ध ये कभी नहीं रहते। इसलिये 'समवायत्व' और 'अभावत्व' को जातिरूप नहीं माना जाता।

द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते ॥ ८ ॥

परभिन्ना च या जातिः सैवापरतयोच्यते ।

द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥ ९ ॥

(१) **द्रव्यादित्रिकवृत्तिः**—द्रव्य आदि त्रिक अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म इन्हीं तीन पदार्थों में (पर) सत्ता की वृत्ति होती है (सत्ता रहती है)। (२) **सत्ता**—'**सत्**'–वर्तमान जिसका धर्म हो उसको '**सत्ता**' कहते हैं। अर्थात् 'द्रव्यं सत्,' 'गुणः सत्', 'कर्म सत्' इस प्रकार की जो अनुगत प्रतीति होती है, वही 'सत्ता' की साधक है। 'यह सत् है', 'यह सत् है' इत्याकारक शब्दप्रयोग जिसके अधीन हैं, वही '**सत्ता**' है। (३) **परतया** उच्यते–'**परा**' नाम से कही जाती है। (४) **जातिः**–कितने ही व्यक्तियों का एक समूह में लानेवाला नैयायिकों का अनुमोदित 'धर्मविशेष' है। जैसे—गोत्व, मनुष्यत्व आदि। (५) **अपरतया उच्यते**—'अपर' नाम से कही जाती है। (६) **द्रव्यत्वादिकजातिः**—'आदि' पद से यहाँ 'गुणत्व', 'कर्मत्व' आदि का परिग्रह किया गया है। (७) **पर-अपरतया उच्यते**—'पर' तथा 'अपर' दोनों नामों से कहा जाता है। भाव यह है कि द्रव्यत्वादि-जाति पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजस्त्व आदि नौ जातियों की अपेक्षा **परा** है, क्योंकि 'द्रव्यत्व' तो नौ द्रव्यों में रहता है, किन्तु 'पृथ्वीत्व' केवल पृथ्वी में ही रहेगा। परन्तु वही द्रव्यत्व 'सत्ता' की अपेक्षा **अपर** है, क्योंकि 'सत्ता' तो द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों में रही और 'द्रव्यत्व' केवल नौ द्रव्यों में ही रहा।

परत्वमधिकदेशवृत्तित्वम्। अपरत्वमल्पदेशवृत्तित्वम्। सकलजात्यपेक्षयाऽधिकदेशवृत्तित्वात् सत्तायाः परत्वं तदपेक्षया चान्यासां जातीनामपरत्वम् ॥ ८–९ ॥

पहिले सामान्य (जाति) का लक्षण बता चुके। अब उसके भेद बता रहे हैं—सामान्य (जाति) **पर** तथा **अपर** भेद से दो प्रकार का है। अधिक जगह रहने से सत्ता (सामान्य जाति) '**पर**' कहलाती है। और न्यून (कम) जगह रहने से 'द्रव्यत्व' 'गुणत्व' आदि जातियाँ '**अपर**' कहलाती हैं। जैसे 'सत्ता' संज्ञक सामान्य द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों ही जगह रहता है। यह सब सामान्यों (जातियों) की अपेक्षा 'पर' है, और द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व ये '**सत्ता**' की अपेक्षा कम जगह में रहते हैं, अर्थात् 'द्रव्यत्व' केवल **द्रव्य पर** ही रहता है, 'गुणत्व' केवल **गुण पर** ही, 'कर्मत्व' केवल **कर्म पर** ही रहता है। अतः द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व ये सत्ता की अपेक्षा **अपर** हैं। उसी तरह पृथ्वीत्व, जलत्व आदि द्रव्यत्व की अपेक्षा कम जगह में रहता है। अतः 'द्रव्यत्व' की अपेक्षा यद्यपि वह **अपर** हुआ तथापि 'द्रव्यत्व'

सत्ता की अपेक्षा अपर है किन्तु पृथ्वीत्व की अपेक्षा पर है। अतः द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व ये तीनों पर भी हैं और अपर भी हैं ॥ ८-९ ॥

व्यापकत्वात्पराऽपि स्याद्व्याप्यत्वादपराऽपि च ।

(१) व्यापकत्व--अधिक देश में रहनेवाला धर्म। (२) व्याप्यत्व—अल्प-देश में रहनेवाला धर्म। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस उदाहरण में 'वह्नि' व्यापक है और 'धूम' व्याप्य है। क्योंकि अयोगोलकादि में भी वह्नि रहता है, किन्तु धूम नहीं। अतः, जहाँ धूम नहीं भी है, वहाँ भी वह्नि है, इसलिये वह्नि अधिक देश में रहा। अतः वह्नि व्यापक है। उसी तरह अधिक देश में रहने के कारण व्यापक होने से 'जाति' परा है, और अल्पदेश में रहने के कारण व्याप्य होने से 'जाति' अपरा भी है।

पृथिवीत्वाद्यपेक्षया व्यापकत्वादधिकदेशवृत्तित्वाद् द्रव्यत्वादेः परत्वं, सत्ताऽपेक्षया व्याप्यत्वाद् अल्पदेशवृत्तित्वाच्च द्रव्यत्वस्यापरत्वम्। तथा च धर्मद्वयसमावेशादुभयमविरुद्धम्।

सत्ता (सामान्य) पर है, क्योंकि वह समवाय-सम्बन्ध से द्रव्य, गुण, कर्म इन अनेक पदार्थों में रहने के कारण[1] व्यापक है, और पृथ्वी की अपेक्षा द्रव्यत्व पर है। सत्ता की अपेक्षा अल्पदेशवृत्ति होने से व्याप्य होने के कारण द्रव्यत्व अपर है, तथा द्रव्यत्व की अपेक्षा अल्पदेशवृत्ति होने से पृथ्वीत्व अपर है। इस रीति से एक में दो धर्मों का रहना दोषावह नहीं है। क्योंकि एक में भी आपेक्षिक दो धर्मों के रह सकने से—परत्व तथा अपरत्व इन दो धर्मों के रहने में कोई विरोध नहीं है। जैसे एक ही स्त्री में पति की दृष्टि से कान्तात्व, पुत्र की दृष्टि से मातृत्व, पिता की दृष्टि से पुत्रीत्व रहता है।

---

(१) जो जातियाँ एक ही अधिकरण में परस्पर इकट्ठी रहती हैं उन्हीं में 'व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध' हुआ करता है। जैसे—घट द्रव्य में 'द्रव्यत्वजाति' रहती है और 'पृथ्वीत्व जाति' रहती है तथा 'घटत्व जाति' रहती है और सत्ता (जाति) भी रहती है। अतः सत्ता (जाति), द्रव्यत्व (जाति), पृथिवीत्व (जाति), घटत्व (जाति) इन चारों जातियों का परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव होता है। अर्थात् 'सत्ताजाति' की 'द्रव्यजाति' व्याप्य है, 'द्रव्यत्वजाति' की 'पृथिवीत्वजाति' व्याप्य है, 'पृथिवीत्व जाति' की 'घटत्वजाति' व्याप्य है।

जो जातियाँ एक अधिकरण में नहीं रहती उनमें 'व्याप्य-व्यापकभाव' नहीं होता। जैसे—'द्रव्यत्वजाति' द्रव्य में, 'गुणत्वजाति' गुण में, 'कर्मत्वजाति' कर्म में रहती है, इस कारण इन जातियों का परस्पर 'व्याप्य-व्यापकभाव' नहीं है। पहले कह चुके हैं कि 'द्रव्यं सत्, गुणः सत्, कर्म सत्' इस प्रकार 'सत्' की अनुगत प्रतीति होती है, इसी कारण इन तीनों में अनुगत होने वाले सत्त्व (सत्ता) धर्म को 'सत्ताजाति' के नाम से कहा जाता है। इसी प्रकार पृथिवी आदि में भी समझना चाहिये।

विशेषं निरूपयति—अन्त्य इति ।

अब क्रमप्राप्त 'विशेष' पदार्थ का निरूपण किया जा रहा है ।

अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः परिकीर्तितः ॥ १० ॥

(१) अन्त्यः—कल्पना के अन्त में जो वर्तमान रहे उसे अन्त्य कहते हैं । अर्थात् जो पदार्थ चरम व्यावर्तक के रूप में हो उसी का नाम **'विशेष'** है । (२) नित्यद्रव्यवृत्तिः— नित्यद्रव्य—परमाणु, आकाश आदि में जिसकी वृत्ति (स्थिति) है । (३) विशेषः—विशेषसंज्ञक पदार्थ है ।

पर सामान्यादिगत चरम-व्यावर्तक धर्म को **विशेष** कहते हैं । **अभिप्राय** यह है कि सावयव पदार्थों में परस्पर भेद की कल्पना हम अवयवभेद से कर सकते हैं, किन्तु निरवयव परमाणु आदि में भेद करनेवाला तो 'विशेष' ही है । क्योंकि वह (विशेष) तो स्वयं ही व्यावृत्त (भिन्न) है इसलिये उसकी व्यावृत्ति के लिये विशेषान्तर (अन्य व्यावर्तक) की अपेक्षा नहीं होती ।

अन्तेऽवसाने वर्तत इत्यन्त्यः, यदपेक्षया विशेषो नास्तीत्यर्थः । घटादीनां द्व्यणुकपर्यन्तानां तत्तदवयवभेदात्परस्परं भेदः, परमाणूनां परस्परभेदको विशेष एव, स तु स्वत एव व्यावृत्तः, तेन तत्र विशेषान्तरापेक्षा नास्तीति भावः ॥ १० ॥

'विशेष'[1]—एकव्यक्ति पर (परमाणु आदि नित्यद्रव्यों पर) रहकर उस

---

(१) निःसामान्यत्वे सति एकमात्र समवेतत्वम्' यह **'यह विशेष का लक्षण है** । जो पदार्थ जातिरूपसामान्य से रहित हो तथा एक व्यक्तिमात्र में समवेत हो उसे **विशेष** कहते हैं । पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों के जितने परमाणु हैं उन सबमें वह 'विशेष' रहता है तथा आकाश, काल, दिशा में और सब आत्माओं में तथैव सबके मनों में 'विशेष' **समवाय सम्बन्ध** से रहता है । 'रूपादि गुण' तथा 'कर्म आदि' भी एक-एक द्रव्यव्यक्ति में रहते हैं, अतः 'एकमात्र समवेत' के साथ 'निःसामान्यत्वे सति' यह सत्यन्त विशेषण भी दिया गया है । तब 'रूपादि गुण' तथा 'कर्मादि' एकद्रव्यमात्रवृत्ति होने पर भी जातिशून्य (निःसामान्य) नहीं है । यदि 'निःसामान्यत्वे सति समवेतत्वम्' इतना ही लक्षण करें तो 'सामान्य' में अतिव्याप्ति होगी । क्योंकि 'सामान्य' सामान्य से शून्य भी है तथा द्रव्यादित्रिक समवेत भी है । अतः 'एकमात्र' पद दिया गया है । 'सामान्य' एक व्यक्ति में समवेत नहीं है । इसी प्रकार 'स्वतोव्यावर्तकत्वं विशेत्वम्' यह भी विशेष का लक्षण कहा जाता है । यह 'विशेष' जिस परमाणु आदि नित्यद्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है, उस परमाणु आदि को दूसरे परमाणु आदि से भिन्न अपने स्वरूप के द्वारा ही करता है । जैसे—'अयं परमाणुः एतत्परमाणोर्भिन्नः एतद्विशेषात्'—यह 'पार्थिव परमाणु' दूसरे 'पार्थिव परमाणु' से भिन्न है, विशेषवाला होने से । अब यह विशेष जैसे 'स्वाश्रयभूत नित्यद्रव्य' का दूसरे 'नित्यद्रव्य' से स्वतः ही व्यावर्तक

व्यक्ति की दूसरी व्यक्ति से भिन्नता का प्रदर्शक जो धर्म (अनिर्वचनीय एक पदार्थ) हो - उसे 'विशेष' कहते हैं। इस 'विशेष' के स्वीकार करने की आवश्यकता यह है कि जैसे-बड़ी व्यक्ति से (घटव्यक्ति से) छोटी व्यक्ति तक (द्वचणुक व्यक्ति) तक जितनी द्रव्य-व्यक्तियाँ हैं उनमें प्रत्येक का भेद-(दूसरों से भिन्नता) है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्तियों के अवयव निराले हैं। प्रत्येक व्यक्तियों के भेद के दर्शक उनके अपने अवयव होते हैं। परन्तु परमाणु व्यक्तियाँ निरवयव (अवयवरहित) हैं। उन व्यक्तियों में परस्पर भेद (भिन्नता) दिखाने के लिये ऐसी कोई भी वस्तु, इन परमाणुओं पर नहीं है, जिससे उन परमाणुओं का परस्पर भेद हो। अतः उन परमाणुओं में भेद बतानेवाला **'विशेष' ही होगा**। उन परमा-

होता है, वैसे ही 'स्वाश्रयभूतद्रव्य' से अपना भी व्यावर्तक होता है। जैसे—'विशेषः द्रव्यादिभिन्नः विशेषात्' यह 'विशेष', द्रव्य से भिन्न है, विशेष होने से। अथवा 'एतद्विशेषः तद्विशेषाद् भिद्यते एतद्विशेषात्'—यह विशेष दूसरे विशेष से भिन्न है, एतद्विशेष होने से। कदाचित् प्रथम विशेष को दूसरे की, दूसरे को तीसरे की अपेक्षा होगी तो 'स्वतोव्यावर्तकत्व' नहीं रहेगा, और अनवस्थादोष उपस्थित होगा। असंख्यात उत्पत्ति, विनाश से रहित, अतीन्द्रिय विशेषों की सिद्धि अनुमान से होती है। वह अनुमान इस प्रकार है—'परमाणुभेदः किञ्चिल्लिङ्गज्ञाप्यः भेदत्वात् कपालभेदज्ञाप्यघटभेदवत्'—सजातीय परमाणुओं का भेद किसी लिङ्ग से ज्ञाप्य होने योग्य है, भेदरूप होने से, जो-जो भेद होते हैं वे वे किसी लिङ्ग से ज्ञाप्य ही होते हैं, जैसे दो घटों का भेद उन दो घटों के समवायिकरण कपालों के ही भेद से ज्ञाप्य होता है, वैसे ही उन परमाणुओं का भेद भी भेदरूप होने से किसी लिङ्ग से अवश्य ज्ञाप्य होगा। अतः वह 'विशेष' ही उनका भेदक है। अथवा एक दूसरे अनुमान से भी विशेष की सिद्धि की जाती है—'आकाशनिष्ठा या समवायिकरणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात्, दण्डनिष्ठकारणतावत्'—आकाश में रहनेवाली जो शब्दगुण की कारणता है, वह किसी धर्म से अवच्छिन्न होने योग्य है, कारणता होने से जो-जो कारणता होती है, वह किसी धर्म अवच्छिन्न ही होती है, जैसे दण्ड में रहनेवाली घट की कारणता दण्डत्वधर्म से अवच्छिन्न होती है। वैसे ही आकाशनिष्ठकारणता भी किसी धर्म से अवश्य अवच्छिन्न होगी। यहाँ आकाशवृत्ति कारणता का वह आकाशवृत्ति 'विशेष' ही अवच्छेदक है। कुछ तो यह कहते हैं कि ईश्वर तथा आकाशस्थित नित्यज्ञान तथा शब्द-गुण ही उन नित्य द्रव्यों को उन्हें भिन्न कर देगा। अतः ईश्वर या आकाश में 'विशेष' को मानना व्यर्थ है। और नवीन नैयायिक भी कहते हैं कि 'विशेष' पदार्थ को मानने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि प्राचीनों ने 'विशेष' की स्वतः व्यावर्तकता मानी है, तो परमाणु स्वतः ही व्यावर्तक हो जायेंगे। इस 'विशेष' पदार्थ को तो कणाद-मुनि ने ही माना है, गौतम-मुनि ने नहीं। इसीलिए कणाद के दर्शन को 'वैशेषिक' दर्शन कहते हैं।

णुओं में रहनेवाले पृथक्-पृथक् जो विशेष हैं उनका भेदक कोई और नहीं है, बल्कि वे विशेष स्वतः ही व्यावृत्त (भिन्न) हैं। विशेष को अलग करने के लिये विशेषान्तर (विशेषत्व) धर्म (जाति) मानने की आवश्यकता नहीं है।

समवायं दर्शयति—घटादीनामिति।

अब छठे पदार्थ 'समवाय' को दिखाते हैं।

घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ॥ ११ ॥

(१) घटादीनाम्—घट-प्रभृति अवयवी वस्तु का। (२) कपालादौ—कपाल-प्रभृति अवयवों में। घटों के बनने की पूर्वावस्था में स्थित द्विधा विभक्तखण्डों को कपाल कहते हैं। (३) द्रव्येषु—पूर्वोक्त क्षिति आदि नौ द्रव्यों में। (४) गुण कर्मणोः—पूर्वोक्त गुण और कर्म का। (५) तेषु—घट आदि में। (६) जातेः—जाति का। (७) 'च'—समुच्चयबोधक हैं। 'च' कार से ही नित्य द्रव्य में 'विशेष' का जो सम्बन्ध है, वह समवाय है। अर्थात् 'कपालादि अवयव' में 'घटादि अवयवी' का जो सम्बन्ध है, उसे समवाय कहते हैं, तथा द्रव्य में गुण और कर्म का जो सम्बन्ध है, उसे समवाय करते हैं। उसी तरह घट आदि में जाति का सम्बन्ध है, उसे समवाय कहते हैं।

अवयवावयविनोर्जातिव्यक्त्योर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्नित्यद्रव्यविशेषयोश्च यः सम्बन्धः स समवायः। समवायत्वं नित्यसम्बन्धत्वम्। तत्र प्रमाणं तु 'गुण-क्रियादिविशिष्टबुद्धिर्विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वाद् दण्डीपुरुष इति विशिष्टबुद्धिवत्' इत्यनुमानम्। एतेन संयोगादिबाधात् समवायसिद्धिः।

नित्यसम्बन्ध को समवाय कहते हैं। जैसे—अवयव (कपाल आदि) और अवयवी (घटादिद्रव्य), जाति और व्यक्ति, गुण और गुणी (द्रव्य), क्रिया (कर्म) और क्रियावान् (द्रव्य), विशेष और नित्यद्रव्य (परमाणु आदि) इनका परस्पर जो सम्बन्ध है, उसे समवाय कहते हैं। इस समवाय के अस्तित्व में अनुमान किया जाता है अर्थात् अनुमान से समवाय का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है।[1]

---

(१) **शंका** - यद्यपि लाघव से एक समवाय के सिद्ध होने से प्राचीन नैयायिकों के मत में दोष नहीं आता, तथापि समवाय को अनेक माननेवाले नवीन नैयायिकों के मत में उक्त अनुमान से समवाय की सिद्धि नहीं हो पाती। समवाय को अनेक मानने से उनके स्वरूप भी अनेक मानने होंगे।

समा०—नवीन नैयायिकों के मत के अनुसार तन्तुरूप अवयवों में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले पट कार्य के प्रति, तादात्म्यसम्बन्ध से तन्तुओं को कारणता होती है। अतः पट में रहनेवाली कार्यता का अवच्छेदकसम्बन्ध समवाय है।

शंका—समवाय की जगह स्वरूपसम्बन्ध को मानकर भी कार्य-कारणभाव की कल्पना हो सकती है।

यह देखा जाता है कि 'विशिष्टज्ञान से विशेषणयुक्त विशेष्य का बोध होता है। जैसे—'दण्डवान् पुरुषः' यह ज्ञान, विशिष्ट ज्ञान है। अतः वह विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध (विशेषणरूप दण्ड का विशेष्यरूप पुरुष के साथ संयोग) विषयक है। इससे यह नियम सिद्ध होता है कि जो विशिष्टज्ञान होता है, वह विशेषणविशेष्य-सम्बन्धविषयक होता है। उसी तरह 'गुणवान् अथवा क्रियावान् घटः' यह ज्ञान भी विशिष्ट ज्ञान है, अतः वह भी विशेषण-विशेष्यसम्बन्धविषयक है—यह अनुमान होता है। यहाँ पर वह सम्बन्ध (विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध) समवाय के सिवा दूसरा और कोई संयोगादि सम्भव हो नहीं सकता। 'दण्डी पुरुषः' यहाँ पर जैसे विशिष्टज्ञान, विशेषण-विशेष्य के संयोग सम्बन्ध को विषय बनाता है, उसी तरह 'अवयववान् अवयवी, गुणवान् गुणी, क्रियावत् द्रव्यम्, जातिमती व्यक्तिः, विशेषवत् नित्यद्रव्यम्'—आदि विशिष्टज्ञानों का विशेष भी विशेषण-विशेष्य दोनों का सम्बन्ध ही होगा। वह सम्बन्ध 'समवाय' के सिवा कोई हो ही नहीं सकता। क्योंकि अवयव, जाति, गुण, क्रिया, विशेष आदि का अपने-अपने द्रव्य के साथ 'संयोग' सम्बन्ध तो हो ही नहीं सकता। क्योंकि संयोग सम्बन्ध तो द्रव्य-द्रव्य का ही होता है—'द्रव्य-द्रव्ययोरेव संयोगः' यह नियम है। इस रीति से 'समवाय' की सिद्धि हो जाती है।

न च स्वरूपसम्बन्धेन सिद्धसाधनमर्थान्तरं वा।

मीमांसकों की शंका का निरसन—'अयुतसिद्ध पदार्थों का स्वरूपसम्बन्ध' कहने वाले मीमांसक के मत में उक्त अनुमान से 'सिद्धसाधन' हुआ। किन्तु समवाय-साधन के उद्देश्य से प्रवृत्त हुए नैयायिक का अभिप्राय यह है कि इस समवाय के स्थानापन्न 'स्वरूप' (विशेष्य-विशेषण के स्वरूप) संज्ञक सम्बन्ध को मानकर दोनों को एक नहीं कह सकते, क्योंकि स्वरूप तो अनेक होते हैं।

अनन्तस्वरूपाणां सम्बन्धत्वकल्पने गौरवाल्लाघवादेकसमवायसिद्धेः।

क्योंकि अनेक स्वरूपों की कल्पना करने से बड़ा गौरव होगा, अतः 'समवाय'-संज्ञक सम्बन्ध एक ही है, यह स्वीकार करना ही चाहिये।

न च समवायस्यैकत्वे वायौ रूपवत्ताबुद्धिप्रसङ्गः।

समा०—किन्तु इस कल्पना से 'जिसमें समवाय से कार्य की उत्पत्ति होती है, वह समवायिकारण है'—यह व्यवस्था नहीं रह पायेगी।

शंका०—जिसमें सम्बद्ध होकर कार्य उत्पन्न हो वह समवायि-कारण है'—ऐसा कहने से भी निर्वाह हो सकता है।

समा०—ऐसा कहने से कपालों में सम्बद्ध जो घट का ध्वंस उसके प्रति भी कपालों को समवायिकारणता माननी होगी, किन्तु यह उचित नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भाव-कार्य में रहनेवाला जो कार्यतारूप धर्म उसका अवच्छेदक-सम्बन्ध 'समवाय' है। एवं नव्यमत में भी समवाय की सिद्धि हो सकती है।

शंका—'समवाय' एक ही है, यह स्वीकार करना उचित नहीं। अन्यथा जैसे 'वायु स्पर्शवान् है' ऐसी प्रतीति सभी को होती है, उसी प्रकार 'वायु रूपवान् है' यह प्रतीति भी सबको होने लगेगी, क्योंकि 'समवाय' तो एक ही है। जो 'वायु' में स्पर्श का समवाय है, वही 'घट' में रूप का समवाय है, दोनों एक ही हो गये। अतः 'वायु में स्पर्श के समवाय' की तरह 'रूप का समवाय' भी उसमें (वायु में) प्रसक्त हो जायगा, इसलिये 'समवाय' को एक नहीं मानना चाहिये।

तत्र रूपसमवायसत्त्वेऽपि रूपाऽभावात्।

उत्तर—यद्यपि 'रूप का समवाय' **वायु** में प्रसक्त (प्राप्त) है, तथापि 'वायु' में 'प्रतियोगित्व'—सम्बन्ध से **रूप का अभाव** होने से (रूप के न रहने के कारण) उक्त प्रतीति की आपत्ति (वायु में रूपवत्ता की प्रतीति) नहीं की जा सकती, क्योंकि हम (नैयायिक) तो 'विशेषण-विशेष्यविशिष्ट ज्ञान' को स्वीकार करते हैं। यहाँ 'विशेषण—(वायु में रूप) ज्ञान' का अभाव है।

न चैवमभावस्य वैशिष्ट्यं सम्बन्धान्तरं सिद्ध्येदिति वाच्यम्।

शंका—'समवाय' आदि जैसे स्वतन्त्र सम्बन्ध है, वैसे ही 'भूप्रदेश में भूतल-पर) घट नहीं है' ऐसी प्रतीति होने पर भूतल में घटाभाव का 'वैशिष्ट्य'-संज्ञक स्वतन्त्र सम्बन्ध क्यों नहीं स्वीकार करते ?

(इति न च वाच्यम्।) तस्य नित्यत्वे भूतले घटानयनानन्तरमपि घटाभाव-बुद्धिप्रसङ्गाद्, घटाभावस्य तत्र सत्त्वात्, तस्य च नित्यत्वात्। अन्यथा देशान्तरेऽपि तत्प्रतीतिर्न स्याद् वैशिष्ट्यस्य च तत्र सत्त्वात्।

समा०—उपर्युक्त शंका करनेवाले से हम ऐसा प्रश्न करते हैं कि वह तुम्हारा 'वैशिष्ट्य' नित्य है या अनित्य है ? यदि नित्य (सर्वदा रहे और नाश-रहित हो) है तो नैयायिकों की मान्यता के अनुसार घट का अत्यन्ताभाव नित्य है, तब घट का 'अत्यन्ताभाव' तथा 'वैशिष्ट्य' ये दोनों **नित्य** हो गये। ऐसा होने पर दोष यह होगा कि 'भूतल प्रदेश में' घट के आ जाने पर भी 'यहाँ घट नहीं है' ऐसी प्रतीति होने लगेगी, किन्तु किसी को भी होती नहीं है। इस आपत्ति के निवारणार्थ यदि घट के 'अत्यन्ताभाव' को **अनित्य** कहें तो 'घटशून्य प्रदेश' में भी 'घट नहीं है' ऐसी प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि 'वैशिष्ट्य' तो वहाँ है ही। किन्तु घटशून्य प्रदेश में 'घट नहीं है' यही प्रतीति सबको होती है।

मम तु मते घटे पाकरक्ततादशायां श्यामरूपस्य नष्टत्वान्न तद्वत्ताबुद्धिः। वैशिष्ट्यस्यानित्यत्वे त्वनन्तवैशिष्ट्यकल्पने तवैव गौरवम्। इत्थं च तत्तत्कालीन तत्तद्भूतलादिकं तत्तदभावानां सम्बन्धः ॥ ११ ॥

शंका—समवाय को एक माननेवाले सिद्धान्ती के मत में भी अग्निसंयोग से रक्त (लाल) हुए 'घट' में पूर्वस्थित 'श्यामरूप' का **समवाय** तो है ही, किन्तु वहाँ (रक्त हुए घट में) श्यामरूपवत्ता बुद्धि होनी चाहिये, किन्तु नहीं होती।

अर्थात् 'श्यामरूपवत्ता बुद्धि' क्यों नहीं होती ? 'वैशिष्ट्य' को न मानकर यदि 'घटाभाव' का भूतलादि में 'स्वरूप' सम्बन्ध भी मानें तो पूर्ववत् 'घटवाले भूतल' में भी 'घटाभाव' की बुद्धि होनी चाहिए थी। किन्तु घटवाले भूतल में 'घटाभाव' बुद्धि किसी को नहीं होती। तो बताइये कि 'घटवद् भूतलम्' में 'घटाभाववद् भूतलम्' बुद्धि क्यों नहीं होती ?

उत्तर देते हैं कि—हमारे[1] मत में तो ('समवाय' को एक माननेवाले सिद्धान्ती के मत में तो) 'श्यामरूप का समवाय' तथा 'रक्तरूप का समवाय' ये दोनों एक ही हैं, तथापि जहाँ 'घट' में अग्नि के संयोग से 'श्यामरूप' का नाश हो गया है

---

(१) (नित्यसम्बन्धः समवायः।) जो पदार्थ नित्य होकर सम्बन्धरूप होता है, वही समवाय है। 'सम्बन्धः समवायः' इतना लक्षण करने से 'संयोग' आदि में अतिव्याप्ति होती है, तथा 'नित्यः समवायः' इतना ही कहने पर 'आकाश' आदि में अतिव्याप्ति होती है, अतः उपर्युक्त लक्षण ही उचित है। यह 'समवाय' किसी भी इन्द्रियजन्य-प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं होता। इसका ज्ञान अनुमान से ही होता है। जैसे—'समवायः अतीन्द्रियः आत्मान्यत्वे सति असमवेतभावत्वात् आकाशादिवत्'—यह 'समवाय' अतीन्द्रिय है, क्योंकि आत्मा से अन्य होकर असमवेतभावरूप है। जो-जो पदार्थ आत्मा से 'अन्य' तथा 'असमवेत' और 'भाव होता है, वह-वह **अतीन्द्रिय** होता है, जैसे—'आकाश' आत्मा से 'भिन्न' है तथा किसी भी पदार्थ में 'समवाय सम्बन्ध' से न रहने के कारण **असमवेत भी** है तथा **भावरूप** भी है। अतः **'आकाश' 'अतीन्द्रिय'** है। उसी प्रकार 'समवाय' भी आत्मा से 'अन्य' तथा 'असमवेत' और 'भावरूप' है। पृथिवी में अनेक प्रकार की वस्तुएँ हैं। समस्त वस्तुएँ साक्षात् अथवा परम्परया किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बन्धित होती हैं। **'समवाय' 'संयोग'**—प्रभृति बहुविध सम्बन्ध हैं। सम्बन्धों के मध्य में **'समवाय-सम्बन्ध'** अत्यन्त अन्तरंग है। क्योंकि 'अयुतसिद्ध (जो कभी पृथक् न हो) पदार्थों के सम्बन्ध' का नाम **समवाय** है अर्थात् पृथक्भूत होकर जिसकी उपलब्धि और उत्पत्ति न हो ऐसे दो पदार्थों का जो सम्बन्ध है। उसे **'समवाय'** कहते हैं। जैसे 'कपालों' के साथ 'घट' का **समवाय सम्बन्ध** है। 'घट', 'कपाल' से 'पृथक् भाव' में उत्पन्न या ज्ञान का विषय नहीं है। उसी प्रकार 'आकाश' के साथ 'शब्द' का 'पृथ्वी' के साथ 'गन्ध' का, 'जल' के साथ 'आस्वाद' का, 'अग्नि' के साथ 'रूप' का एवं 'मनुष्य' के साथ 'मनुष्यत्व' का **'समवाय'** सम्बन्ध होता है। 'शब्द' का 'वायु' के साथ 'संयोग' सम्बन्ध रहता है, क्योंकि **'शब्द'**, 'वायु' का गुण नहीं, तथा 'वायु' और 'शब्द' **अयुतसिद्धपदार्थ** भी नहीं। अतः इनका (शब्द वायु का) 'समवायसम्बन्ध' नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'गन्ध-पुष्प का' **'समवाय सम्बन्ध'** है। 'समवाय सम्बन्ध' नित्य विद्यमान, तथा समवेत होकर 'गुण', 'जाति' तथा 'स्वाश्रय' का परित्याग नहीं करता। 'शब्द', आकाश का परित्याग कर अन्यत्र नहीं

और 'रक्तरूप' उत्पन्न हो गया है, वहाँ 'घट' में श्यामरूप है, ऐसी प्रतीति होने की आपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि वहाँ (श्यामरूप और रक्तरूप का समवाय एक होने से) श्यामरूप का समवाय तो है, परन्तु विशेषण वह (श्यामरूप) नहीं है। अतः पूर्वोक्त 'वैशिष्ट्य नित्य' है, यह मानना उचित नहीं। अब वह 'वैशिष्ट्य अनित्य' है, ऐसा मानना भी उचित नहीं। यदि उसे 'अनित्य' माना जायगा तो भूप्रदेश में 'घट' के आने पर भी पूर्वस्थित घटाभाव के वैशिष्ट्य का नाश होने लगेगा, और यदि वहाँ से 'घट' को हटा लें तो अत्यन्ताभाव का 'वैशिष्ट्य' उत्पन्न होने लगेगा। इस कारण 'वैशिष्ट्य' की अनेक उत्पत्तियाँ तथा अनन्त नाश की कल्पना करने के कारण तुम्हारे पक्ष में (अभाव का वैशिष्ट्य एक पृथक् वस्तु है यह माननेवाले के मत में) गौरव होगा। अतः 'वैशिष्ट्य' को पृथक् न मानकर तत्तत् प्रदेश में 'घट नहीं है' इस प्रकार की प्रतीति जो होती है, उसका एकमात्र कारण यही है कि जिस-जिस वस्तु का अभाव जिस-जिस काल में जिस-जिस भूतल प्रदेश में है अर्थात् तत्तत्कालीन जो तत्तद् भूतल, वही अभाव का सम्बन्ध है और हवी 'स्वरूप सम्बन्ध' है। 'अभाव' का **स्वरूप सम्बन्ध ही** 'नैयायिकों' को मान्य है।

जाता। 'मनुष्यत्व', **मनुष्य** का परित्याग कर 'गो' आदि का आश्रय नहीं करता। 'सम्बन्ध' का स्वीकार किये बिना काम नहीं चलता। बिना 'सम्बन्ध' के किसी के साथ मेल नहीं हो सकता। यदि 'द्रव्य' के साथ 'गुण' का सम्बन्ध न हो तो 'द्रव्य' को **गुणवान्** नहीं कह सकते। हमारे घर के साथ हमारा 'स्वामित्वसम्बन्ध' न हो तो उसको अपना घर नहीं कह सकते। हम जब तक घर में हैं तब तक हमारा सम्बन्ध अवश्य है। उसी प्रकार हमारा 'गुण' जब तक हमसे समवेत है तब तक उसके साथ 'समवाय' सम्बन्ध ही स्वीकार करना चाहिये।

कालिक-सम्बन्ध

'**काल**' के द्वारा जिस वस्तु का सम्बन्ध माना जाता है उसी को '**कालिक-सम्बन्ध**' कहते हैं। जैसे—दस वर्ष बीते कि हम बम्बई में थे, जिस समय हम बम्बई में थे, 'हमारा' तथा 'बम्बई' का उसी समय '**कालिक सम्बन्ध**' था।

परम्परा-सम्बन्ध

एक पदार्थ के द्वारा जो सम्बन्ध कल्पित किया जाय उसे '**परम्परा सम्बन्ध**' कहते हैं। जैसे—'कालिकसम्बन्ध' काल के द्वारा होता है, उसी प्रकार इसे भी समझना चाहिये। 'कालिकसम्बन्ध', 'परम्परासम्बन्ध' का **अपवादक** होता है। एक प्रसंग में जो अगले-अगले सम्बन्ध हैं, उसी को 'परम्परासम्बन्ध' कहते हैं। हमारा तुम्हारा साक्षात् कोई सम्बन्ध न होने पर भी 'परम्परासम्बन्ध' है। तुम जिस देश में रहते हो हम भी उसी देश में रहते हैं, अतएव '**एकदेशवासित्व**' सम्बन्ध हमारा तुमसे है। उसी प्रकार 'एक कुलोत्पन्नत्व' सम्बन्ध 'रघु' तथा 'राम' का है।

अभावं विभजते— अभावस्त्विति ।

अब अवसर प्राप्त अभाव का विभाग करते हैं ।

अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः ।
प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥ १२ ॥
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते ।

अभावः—जो भाव से (सत् प्रतीति से) भिन्न हो, उसे 'अभाव' कहते हैं। **ससंर्गाभावः**—संसर्गका अर्थ 'सम्बन्ध'[1] है । आधेय के साथ जो आधार का सम्बन्ध है, वही 'संसर्गाभाव' है । **'प्रागभावः'**—कार्योत्पत्ति के प्राक् (पहले) जो अभाव हो उसे प्रागभाव कहते हैं । अर्थात् जो वस्तु आगे होगी और होने से पहले उसका जो अभाव हो, उसी को 'प्रागभाव' कहते हैं । **'ध्वंसाभाव'**—ध्वंसरूप जो अभाव है, वही ध्वंसाभाव है । जैसे--'घटो ध्वस्तः'--यहाँ पर दण्ड से घट के टूटने पर जो अभाव है वही ध्वंसाभाव है । **'अत्यन्ताभाव'**— जिसकी उत्पत्ति तथा नाश न हो उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं । ,**अन्योन्याभाव'** इसका अर्थ 'भेद' है । जैसे—यह 'घट' पट नहीं है । अभाव दो प्रकार का है । एक संसर्गाभाव और दूसरा अन्योन्याभाव । इन दोनों में से संसर्गाभाव तीन प्रकार का है—प्रागभाव प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव ।

---

१. यद्यपि 'संसर्ग' का अर्थ सम्बन्धमात्र है, तथापि प्रकृत में 'संसर्ग' शब्द से 'वृत्तिनियामक सम्बन्ध' का ही ग्रहण किया गया है । 'वृत्ति' शब्द का अर्थ-आधेयता है । 'येन सम्बन्धेन आधेयपदार्थः स्वाधारे वर्तते, सः सम्बन्धो वृत्तिनियामक' इत्युच्यते । वह वृत्तिनियामक-सम्बन्ध संयोग, समवाय, स्वरूप, कालिक, दैशिक, विशेषणतादि भेद से अनेक प्रकार का है । इनके अतिरिक्त जो सम्बन्ध हैं वे 'वृत्त्यनियामक' हैं । वे वृत्त्यनियामक सम्बन्ध–गगनादिसंयोग अंगुलिद्वयसंयोग, विषयत्व-विषयित्व अनुयोगित्व-प्रतियोगित्व, निरूपकत्व-निरूप्यत्व, तादात्म्यादि भेद से अनन्त हैं ।

कार्य कारण का तादात्म्य माननेवालों के मत में 'तादात्म्य' भी वृत्तिनियामक है । एवञ्च संसर्गावच्छिन्न (वृत्तिनियामकसम्बन्धावच्छिन्न) प्रतियोगिताकोऽभावः संसर्गाभावः । यस्य अभावः स तस्य प्रतियोगी, प्रतियोगिनो भावः प्रतियोगिता, प्रतियोगिशब्दात् भावे तल् । प्रतियोगिता के अवच्छेदक दो हुआ करते हैं—एक 'धर्म' और दूसरा 'सम्बन्ध' । धर्म और सम्बन्ध से 'प्रतियोगिता' अवच्छिन्न (विशेषित) होती है इस कारण वह (प्रतियोगिता) उनसे अवच्छिन्न कहलाती है । प्रतियोगिता का जो समनियत धर्म हो वह प्रतियोगितावच्छेदक होता है। और प्रतियोगी अपने अधिकरण में जिस सम्बन्ध से रहता है, वह सम्बन्ध' प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्ध कहलाता है । प्रतियोगी जिस धर्म से विशेषित (अवच्छिन्न अर्थात् इतरों से व्यावृत्त) किया जाता है, वह धर्म, प्रतियोगितावच्छेदक धर्म कहलाता है ।

अभावत्वं द्रव्यादिषट्कान्योन्याभाववत्त्वम्[1]। संसर्गेति। संसर्गाभावान्योन्याभावभेदादित्यर्थः। अन्योन्याभावस्यैकविधत्वात्तद्विभागाभावात्संसर्गाभावं विभजते—प्रागभाव इति। संसर्गाभावत्वम् अन्योन्याभावभिन्नाभावत्वम्। अन्योन्याभावत्वं तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावत्वम्। विनाश्यभावत्वं प्रागभावत्वम्। जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम्। नित्यसंसर्गाभावत्वम् अत्यन्ताभावत्वम्।

किसी पदार्थ का लक्षण के द्वारा स्वरूप जाने बिना उसका विभाग करना उचित नहीं। इसलिए प्रथमतः 'अभाव' का लक्षण कहते हैं। पूर्वोक्त द्रव्य आदि छह पदार्थों के अतिरिक्त जो पदार्थ है, वही 'अभाव' पदार्थ है। अर्थात् 'भावभिन्नत्वम् अभावत्वम्'—भावपदार्थों से भिन्न पदार्थ को ही 'अभाव' कहते हैं। 'संसर्गाभाव' और 'अन्योन्याभाव' (भेद) ये ही दो प्रकार के अभाव हैं। इन दो प्रकारों में से 'अन्योन्याभाव' तो एक ही प्रकार का है, उसका कोई अवान्तर भेद नहीं है।

अब 'संसर्गाभाव' का विभाग करते हैं। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव—यह तीन प्रकार का 'संसर्गाभाव' है। संसर्गाभाव का यह लक्षण है कि 'अन्योन्याभाव से भिन्न जो अभाव, उसी को संसर्गाभाव कहते हैं।' जिसकी प्रतियोगिता तादात्म्य-सम्बन्ध से अवच्छिन्न हो, अर्थात् तादात्म्य का (उन-उन वस्तुओं के स्वरूपों का) जो अभाव है, वही 'अन्योन्याभाव' है। पूर्वोक्त संसर्गाभावों में से प्रागभाव आदि का लक्षण इस प्रकार समझना चाहिये—'विनाशी (नाशवान्) जो अभाव है, वह प्रागभाव है।' 'जन्य (उत्पत्तिमान्) जो अभाव है, वह—प्रध्वंसाभाव है।' 'नित्य जो संसर्गाभाव है उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं।' अर्थात् अधिकरण में वस्तु के सम्बन्ध का जो अभाव सदा रहता है, वही अत्यन्ताभाव है।

यत्र तु भूतलादौ घटादिकमपसारितं पुनरानीतं च तत्र घटकालस्य सम्बन्धाघटकतयाऽत्यन्ताभावस्य नित्यत्वेऽपि घटकाले न घटात्यन्ताभावबुद्धिः। तत्रोत्पादविनाशशाली चतुर्थोऽयमभाव इति केचित्।

अत्र ध्वंसप्रागभावयोरधिकरणे नात्यन्ताभाव इति प्राचीनमतम्। श्यामघटे रक्तो नास्तीति रक्तघटे श्यामो नास्तीति धीश्च प्रागभावं ध्वंसं चावगाहते न तु तदत्यन्ताभावं तयोर्विरोधात्।

नव्यास्तु तत्र विरोधे मानाभावाद् ध्वंसादिकालावच्छेदेनाप्यत्यन्ताभावो वर्त्तत इति प्राहुः।

---

(१) अभाव का यह लक्षण अन्योन्याभाव घटित है, और वक्ष्यमाण अन्योन्याभाव का लक्षण भी सामान्य रूप से अभाव घटित है अतः उक्त लक्षण 'अन्योन्याश्रय' दोष से दूषित हुआ, इसलिए 'समवायसामानाधिकरण्यान्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकसत्ताभावत्वम्—अभावत्वम्' अर्थात् उक्त विशेषण विशिष्ट सत्ताभावरूप ही अभाव का निर्वचन करना चाहिये।

यदि अत्यन्ताभाव नित्य है (जो घट की विद्यमान अवस्था में भी रहता है) तो घट के रहने पर भी 'घट नहीं है' इस प्रकार की आपत्ति होनी चाहिये, किन्तु उसका निवारण इस प्रकार करते हैं—जिस समय 'घट नहीं है' यह प्रतीति होती है, उस समय के 'घटाभाव' के सम्बन्ध की वहाँ (घटसद्भाव के स्थान में) कल्पना कर लेंगे। और घट की सत्ता के समय जो सम्बन्ध है उसकी यहाँ कल्पना नहीं करेंगे। तथा जहाँ-जहाँ वह सम्बन्ध सम्भव होगा वहाँ-वहाँ उन-उन अभावों की प्रतीति हो जायगी। और जहाँ-जहाँ सम्भव नहीं है, वहाँ-वहाँ प्रतीति नहीं होगी। एवञ्च जिस भूप्रदेश में जो पूर्व घट था, तदनन्तर वहाँ से उसी घट को उठा लिया और पुनः उसी घट को वहीं पर लाकर रख दिया, ऐसी स्थिति में (घट की स्थिति के समय) घटाभाव का पूर्व सम्बन्ध नष्ट हो गया है। अतः ऐसे स्थल में 'घट नहीं है' इस प्रतीति के होने की आपत्ति भी नहीं हो सकती। 'घट उठा लिया और पुनः वहीं लाकर रख दिया' ऐसे स्थल में कुछ विद्वानों का यह मत है कि—उस स्थल में अत्यन्ताभावरूप—अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि जब घट उठा लिया तब तो अभाव उत्पन्न हो गया और जब वहाँ पर घट ले आये तब वह नष्ट हो गया, ऐसा 'सामयिक'[१] संज्ञक चौथा अभाव (प्रागभाव आदि से भिन्न) है। प्राचीन नैयायिकों का मत यह है कि—किसी वस्तु, के प्रागभाव तथा ध्वंस ये दो अभाव, समवायि कारण के रहने पर तथा इन दो अभावों में से किसी एक अभाव के होने पर वहाँ अत्यन्ताभाव नहीं रहेगा, क्योंकि ध्वंस और प्रागभाव का अत्यन्ताभाव से विरोध है। जैसे -- पाक से (अग्निसंयोग से) घट में प्रथम क्षण में रक्तरूप उत्पन्न होता और द्वितीय तथा तृतीय क्षण में उस रूप का नाश होकर श्यामरूप उत्पन्न होता है, तदनन्तर पाक से श्यामरूप का नाश होने पर पुनः दूसरा रक्तरूप उत्पन्न होता है, ऐसी स्थिति होने पर उस घट में श्यामरूप की स्थिति के समय 'रक्तरूप नहीं' ऐसी जो प्रतीति होती है, उस प्रतीति का विषय पूर्व रक्तरूप का ध्वंस तथा भावी रक्तरूप का प्रागभाव होता है। वह रक्तरूप के अत्यन्ताभाव का विषय नहीं होता यह प्राचीन नैयायिकों का मत है।

नवीन नैयायिकों का मत यह है कि—ध्वंस तथा प्रागभाव के होने पर भी अत्यन्ताभाव की प्रतीति होने में कुछ दोष नहीं। इन दोनों का अत्यन्ताभाव से विरोध मानने में कुछ प्रमाण नहीं मिलता। अतः ध्वंस तथा प्रागभाव के अधिकरण में भी उस समय अत्यन्ताभाव रह सकता है—यह नवीन नैयायिकों का मत है।

नन्वस्त्वभावानामधिकरणात्मकत्वं लाघवात्।

'अभाव' को न माननेवाले प्रभाकरमीमांसक की शंका—'अभाव' यह अधिकरण से भिन्न नहीं, क्योंकि जिस भूप्रदेश में 'घट नहीं है' ऐसी जो प्रतीति होती है, वह 'भूप्रदेश' ही 'अभावस्वरूप' है। अतः 'अभाव' यह भाव की अपेक्षा भिन्न वस्तु नहीं। और ऐसा मानने में लाघव भी है।

(१) समयविशेष में होनेवाले अभाव का नाम 'सामयिकाभाव' है।

इति चेन्न। अनन्ताधिकरणात्मकत्वकल्पनाऽपेक्षयाऽतिरिक्तकल्पनाया एव लघीयस्त्वात्। एवं च आधाराधेयभावोऽप्युपपद्यते। एवं च तत्तच्छब्दगन्धरसाद्यभावानां प्रत्यक्षत्वमुपपद्यते। अन्यथा तत्तदधिकरणानां तत्तदिन्द्रियाणामग्राह्यत्वादप्रत्यक्षत्वं स्यात्। एतेन ज्ञानविशेषकालविशेषाद्यात्मकत्वमभावस्येति प्रत्युक्तमप्रत्यक्षत्वापत्तेः॥ १२॥

नैयायिक उत्तर देता है—घटाभाव, अधिकरण (भूप्रदेशादि) स्वरूप है ऐसा मानने में वे अधिकरण अनेक हैं, तो ये भी (अभाव भी) अनेक हो जायेंगे, यह मानना होगा। ऐसा मानने की अपेक्षा अभाव को अधिकरण से भिन्न (अतिरिक्त) मानने में ही लाघव है। क्योंकि 'घटाभाववद् भूतलम्' कहने पर घटाभाव को जैसे भूतलस्वरूप माना, वैसे ही 'घटाभाववान् पटः', 'घटाभाववान् मठः' आदि स्थलों में भी पट, मठ आदि जो अनन्त अधिकरण हैं, तत्स्वरूप अभाव को भी अनन्त मानना होगा। किन्तु इस प्रकार मानने में महान् गौरव होगा। इस लिये अभाव को अधिकरण की अपेक्षा अतिरिक्त (भिन्न) पदार्थ मानना ही उचित है। दूसरा कारण यह भी है कि 'घटाभाव' को 'सामान्य-धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावरूप' माना जाता है। अर्थात् 'घटत्व' रूप जो सामान्य धर्म, तादृशसामान्यधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावस्वरूप 'घटाभाव' हुआ करता है। और 'सामान्य-धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभाव' तो एक होता है तथा नित्य होता है। तब 'घटाभाव' को अधिकरणस्वरूप मानने पर 'घटात्यन्ताभाव को अनन्त और अनित्य मानना पड़ेगा, क्योंकि 'अधिकरण' अनित्य तथा अनन्त होते हैं। दूसरी बात यह है कि 'अभाव' को अधिकरणस्वरूप न मानने पर 'घटाभाववद्भूतलम्' यहाँ पर आधाराधेयभाव भी ठीक बन जाता है। क्योंकि 'घटाभाव' आधेय है और 'भूतल' उसका आधार है। यदि अभाव को अधिकरण से भिन्न (अतिरिक्त) नहीं मानेंगे तो 'आधाराधेयभाव' नहीं बन सकेगा। अर्थात् अभाव को अधिकरणस्वरूप मानने पर 'घटाभावो भूतलम्' यह प्रतीति होगी। इस प्रतीति में कौन आधार है और कौन आधेय है यह नहीं बताया जा सकेगा। इसी प्रकार आधार आधेय को एक ही मान लेने पर और भी एक दोष प्राप्त होगा—'शब्द में गन्ध तथा रस नहीं' इस प्रतीति में गन्ध के और रस के अभाव का प्रत्यक्ष (शब्द में गन्ध नहीं है अथवा रस नहीं है ऐसा प्रत्यक्ष) घ्राणेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रिय से हुआ करता है, किन्तु अब वह नहीं होगा। किन्तु अभाव को अधिकरणस्वरूप न मानने पर तत्तत् शब्द, गन्ध, रस के अभाव का प्रत्यक्ष भी ठीक बन जाता है। क्योंकि यह नियम है कि 'यो गुणो येनेन्द्रियेण गृह्यते तन्निष्ठा जातिस्तदभावश्च तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते'—जिस इन्द्रिय से जिस गुण का प्रत्यक्ष होता है, उस गुण में रहनेवाली जाति का तथा उस गुण के अभाव का प्रत्यक्ष भी उसी इन्द्रिय से होता है। जैसे—शब्द, गन्ध, रस का प्रत्यक्ष क्रमशः श्रोत्रेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रिय से होता है। ऐसा परिस्थिति में भी यदि अभाव को अधिकरणस्वरूप कहा जाय तो अधिकरण का प्रत्यक्ष, इन इन्द्रियों से नहीं होगा।

जैसे—'शब्दाभाववद् भूतलम्' कहने पर शब्दाभाव का भूतल में प्रत्यक्ष करें तो शब्दाभाव भूतलस्वरूप होने से भूतल का प्रत्यक्ष श्रोत्रेन्द्रिय से नहीं किया जा सकता, क्योंकि श्रोत्र, 'द्रव्य' को ग्रहण नहीं करता अपितु 'गुण' को ग्रहण करता है। इस कारण शब्दाभाव का प्रत्यक्ष भी श्रोत्र से नहीं होगा। उसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय भी गुणग्राहक इन्द्रिय हैं। अतः इनसे भी गन्धाभाव, रसाभाव का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकेगा।

इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार स्पष्ट करते हैं—'अन्यथा तत्तदधिकरणानां तत्तदिन्द्रियग्राह्यत्वात् प्रत्यक्षत्वं न स्यात्' अन्यथा अभाव को अधिकरणस्वरूप मानने पर शब्दाभावस्वरूप भूतलद्रव्य श्रोत्रेन्द्रिय से अग्राह्य होने के कारण शब्दाभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा।

प्रभाकर-मीमांसक का एक यह भी सिद्धान्त है कि जिस अधिकरण में 'अभाव' तादृश ज्ञानरूप है, उसी प्रकार जिसमें अभाव का ज्ञान होता है वह अभाव तादृश कालरूप भी है। इससे (आगे बताये जानेवाले अप्रत्यक्षत्वापत्तिरूप दोष से) अभाव की ज्ञानरूपता तथा कालरूपता का सिद्धान्त भी खण्डित हो जाता है। क्योंकि काल का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता, अतः अभाव को यदि कालस्वरूप माने तो अभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, उसी प्रकार ज्ञान का भी बाह्येन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता अतः अभाव को ज्ञानस्वरूप मानने पर अभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। इस कारण अप्रत्यक्षत्वापत्तिरूप दोष से 'अभाव' को ज्ञानरूप या कालरूप नहीं कह सकते। इस लिए यह 'अभाव'[१] पदार्थ पूर्वोक्त छह भावपदार्थों की अपेक्षा अतिरिक्त है, यह स्पष्ट होता है।

इति बालप्रिया-सहितायां मुक्तावल्यां पदार्थसामान्यनिरूपणं नाम प्रथमा मुक्ता।

—*—

(१) 'अभाव' पदार्थ—संसर्गाभाव एवं अन्योन्याभाव भेद से दो प्रकार का है। प्राचीन नैयायिकों के मत में संसर्गाभाव (प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, सामयिकाभाव) चार प्रकार का है। नवीन नैयायिक 'सामयिकाभाव' को नहीं मानते। 'भाव' से विपरीत 'अभाव' होता है। प्रतियोगी (वस्तु) की सत्ता के पूर्व या पश्चात् जब उसका अभाव रहता है, तब वही (वस्तु) उस (अभाव) का प्रतियोगी होता है। जैसे–घटाभाव का प्रतियोगी 'घट' है। 'प्रागभाव' का लक्षण इस प्रकार है—'अजन्यत्वे सति विनाशित्वम्' अथवा 'अजन्यत्वे सति प्रतियोगि-नाश्यभावत्वम्'—प्रागभावत्वम्। अर्थात् जिस 'अभाव' का जन्म तो न हो तथापि विनाशशील हो वही 'प्रागभाव' है। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु आगे होगी और होने से पहले जिसका अभाव हो, उसी 'अभाव' को 'प्रागभाव' कहते हैं। 'घट' बनने से पहले उसका (घट का) प्रागभाव है। उसी प्रकार अभी 'कल्किअवतार' का प्रागभाव है, क्योंकि कल्कि-अवतार अभी नहीं

हुआ है, जब वह (कल्कि अवतार) हो जायगा तब कल्कि-अवतार का 'अभाव' नष्ट हो जायगा। वैसे ही जब तक पुत्र उत्पन्न न होगा, तब तक उसका (पुत्र का) प्रागभाव ही कहा जायगा। पुत्र के उत्पन्न होने पर वह (अभाव) नष्ट हो जायगा। तथापि दूसरे पुत्र का प्रागभाव तो द्वितीयपुत्र की उत्पत्ति से पहले रहेगा ही 'घटो ध्वस्तः' इस प्रतीति में जिस 'अभाव' का बोध होता है, उस 'अभाव' को ध्वंसाभाव या 'प्रध्वंसाभाव' कहते हैं। ध्वंसरूप जो अभाव है उसे ध्वंसाभाव कहते हैं। उसका लक्षण इस प्रकार है—'जन्यत्वे सति अविनाशित्वं ध्वंसाभावत्वम्' अर्थात् जिस अभाव का जन्म तो है, किन्तु विनाश नहीं है, उसी को 'ध्वंसाभाव' कहते हैं। दण्ड आदि किसी साधन से घट के टूटने पर जो घट का अभाव है, उसे 'ध्वंसाभाव' कहते हैं। यह अभाव दण्ड आदि साधनों से पैदा होता है। और इस 'अभाव' (ध्वंसाभाव) का पुनः अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि वह (ध्वंसाभाव) अविनाशी और जन्य (उत्पत्तिमान्) है। अविनाशी (नित्य) रहनेवाले इस अभाव को 'ध्वंस' नाम से पुकारा जाता है। अत्यन्ताभाव का लक्षण इस प्रकार है—'अजन्यत्वे सति अविनाशित्वम्'। अर्थात् जिस 'अभाव' का जन्म तथा विनाश न हों उसी को 'अत्यन्ताभाव' कहते हैं। अभिप्राय यह है कि 'त्रैकालिक-संसर्गाभाव' को अत्यन्ताभाव कहते हैं, यानी जो अभाव पहले था और वर्तमान में तथा भविष्यत् में भी रहेगा। जैसे—किसी वन्ध्या को पुत्र न हुआ, न होगा, और न अब है, ऐसे स्थल में 'तस्याः पुत्रो नास्ति' इस प्रकार के अभाव को—'अत्यन्ताभाव' कहते हैं। 'अन्योन्याभाव' का लक्षण इस प्रकार है—'तादाम्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम्'—अन्योन्याभावत्वम्। 'तादाम्य' एक सम्बन्ध-विशेष है। अपने में जो अपना सम्बन्ध है उसी को 'तादात्म्य-सम्बन्ध' कहते हैं। जैसे—घट में घट 'तादात्म्य-सम्बन्ध' से रहता है। उसी प्रकार पट आदि में पट आदि 'तादात्म्यसम्बन्ध' से रहता है। ऊपर बता चुके हैं कि जिस वस्तु का अभाव होता है वह वस्तु, उस अभाव की प्रतियोगी होती है। 'भेदरूप अभाव' का नाम 'अन्योन्याभाव' है। जिस अभाव की प्रतियोगिता 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न घट' में भेदरूप है, वह अभाव, 'घट' में नहीं रह सकता, क्योंकि घट में 'घट' तादात्म्यसम्बन्ध से रहता है। अतः तादात्म्यसम्बन्ध से घट में 'घट' का अभाव नहीं रह सकता। क्योंकि 'भाव' और 'अभाव' ये दोनों एक अधिकरण में नहीं रह सकते। घट से अन्य (भिन्न) पट आदि जितने पदार्थ हैं, उनमें 'घट' का भेदरूप-अभाव रहता है। जिस सम्बन्ध से जो पदार्थ जिस जगह (जहाँ पर) नहीं होता, उसी सम्बन्ध से उसी पदार्थ का अभाव उसी जगह रहता है। 'तज्जन्यप्रतियोगिता' में 'तत्सम्बन्धावच्छिन्न' स्वीकार करना भी उचित है। संयोगेन घटो नास्ति' यह कहने पर 'घट' में जो प्रतियोगिता है, वह 'संयोगसम्बन्धावच्छिन्ना है'। उसी प्रकार 'समवायेन घटो नास्ति' कहने पर वही प्रतियोगिता 'समवायसम्बन्धावच्छिन्ना' कहलायेगी। किन्तु 'तद्रूपघटो न घटः' यहाँ उक्त

इदानीं सप्तपदार्थानां साधर्म्यं वैधर्म्यं च वक्तुं प्रक्रमते—सप्तानामिति।

अब द्रव्यादि सात पदार्थों का साधर्म्य अर्थात् अनुगत (समान) धर्म तथा वैधर्म्य अर्थात् विरुद्ध धर्म बताते हैं—'सप्तानाम्' इति ।

सप्तानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वादिकमुच्यते ॥ १३ ॥

सप्तानाम्=द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव इन सातों का । साधर्म्यम् = जिसका समान (तुल्य) धर्म हो, उसको सधर्मा कहते हैं, सधर्मा का जो भाव उसे साधर्म्य कहते हैं, अर्थात् साधारण धर्म । ज्ञेयत्वादिकम्=ज्ञेय= ज्ञान का विषय, उसका जो धर्म उसे 'ज्ञेयत्व' कहते हैं । 'आदि' शब्द से प्रमेयत्व, अभिधेयत्व आदि को समझना चाहिये । प्रमेयत्व=प्रमाविषयता (प्रमा का विषय) अभिधेयत्व=अभिधाविषयता (अभिधा का विषय) । द्रव्यादि सात पदार्थों का साधर्म्य (समानधर्म) ज्ञेयत्व आदि हैं । अर्थात् द्रव्यादि सात पदार्थ हमारे ज्ञेय (ज्ञान के विषय अर्थात् जानने योग्य) हैं । अतः ज्ञेयत्व (ज्ञेयता) ही द्रव्यादि सप्त पदार्थों का साधर्म्य (समानधर्म) है । उसी प्रकार वैधर्म्य का अर्थ होगा विरुद्धधर्म । समस्त पदार्थ, ज्ञान के विषय होने से उनमें ज्ञानविषयता रहती है । इसी प्रकार अभिधेयत्व, प्रमेयत्व आदि भी द्रव्यादि सप्तपदार्थों के समान धर्म हैं ॥ १३ ॥

समानो धर्मो येषां ते सधर्माणः तेषां भावः साधर्म्यं, समानो धर्म इति फलितार्थः । एवं विरुद्धो धर्मो येषां ते विधर्माणः, तेषां भावो वैधर्म्यं, विरुद्धो धर्म इति फलितार्थः । ज्ञेयत्वं ज्ञानविषयता सा च सर्वत्रैवास्ति, ईश्वरादिज्ञानविषयतायाः केवलान्वयित्वात् । एवमभिधेयत्वप्रमेयत्वादिकं बोध्यम् ॥ १३ ॥

॥ इति सप्तपदार्थसाधर्म्यकथनम् ॥

नियम नहीं घट सकता, क्योंकि भेद की प्रतियोगिता 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना' है । वह प्रतियोगिता कभी भी अन्यसम्बन्धावच्छिन्ना नहीं होगी । एवं भेदरूप अभाव से भिन्न अन्य किसी भी अभाव की 'प्रतियोगिता' तादात्म्यसम्बन्धाव-च्छिन्ना नहीं हो सकती । यदि भेद की प्रतियोगिता, तादात्म्यसम्बन्ध से भिन्न किसी सम्बन्ध से अवच्छिन्न हो जाय तो 'घट में घट का भेद रह जायगा', किन्तु भिन्न-सम्बन्ध से 'घट में घट' नहीं रहता, अपितु उसका अभाव अन्य सम्बन्ध से रह सकता है । घट तो 'तादात्म्यसम्बन्ध' से घट में ही रहता है, घट से भिन्न पट में नहीं रहता । अतएव घट में जो तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता है, उसका अभाव घट में नहीं रहेगा, किन्तु पट आदि में रहेगा । जिस स्थान में जो भेदरूप अभाव है, वही 'अन्योन्याभाव' है । 'अन्योन्य' शब्द का अर्थ 'परस्पर' है । परस्पर अभाव का नाम 'अन्योन्याभाव' है ।

जो पदार्थ परस्पर एक धर्म वाले हैं, उनमें रहने वाले धर्म का नाम 'समान धर्म' है। उसी प्रकार जो पदार्थ परस्पर विरुद्ध धर्मवाले हैं उनमें रहनेवाले धर्म का नाम 'विरुद्ध धर्म' है। 'ज्ञेयत्व' शब्द से यहाँ ज्ञान की विषयता समझनी चाहिये। वह ज्ञान की विषयता सर्वत्र विद्यमान है, क्योंकि ईश्वर और योगी की 'ज्ञानीय-विषयता' को केवलान्वयी माना गया है। [विषय में रहने वाले ज्ञानादि से निरूपित धर्म-विशेष को विषयता कहते हैं। तथा यावत् (समस्त) पदार्थों में रहने वाले धर्म को 'केवलान्वयी' कहते हैं] एवं अभिधा को 'संकेत' कहते हैं। उस 'संकेतविषयता' का नाम 'अभिधेयत्व' है। एवं प्रमा का अर्थ पदार्थज्ञान है। और उसकी विषयता का नाम 'प्रमेयत्व' है। यहाँ 'आदि' शब्द से 'अस्तित्व' अर्थात् 'कालसम्बन्धित्व'[1] आदि धर्मों का ग्रहण करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय और अभाव ये सातों पदार्थ, ज्ञेय (ईश्वरीय-ज्ञान के विषय) हैं, तथा ये अभिधेय (किसी एक शब्द के वाच्य यानी अर्थ) हैं। और ये प्रमेय (ईश्वरीय ज्ञान के यथार्थ विषय) हैं। रीति से इन पूर्वोक्त सात पदार्थों का ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व, अभिधेयत्व यही साधर्म्य[2] है ॥ १३ ॥

॥ इति सप्तपदार्थसाधर्म्यकथनम् ॥

---

(१) यहाँ पर 'अस्तित्व' से स्वरूपवत्त्व समझना चाहिए। जिस वस्तु का जो स्वरूप है वही उसका अस्तित्व है'—इस प्राचीनों के व्याख्यान को ध्यान में रखकर ही श्री विश्वनाथ ने सातों पदार्थों का साधर्म्य संगृहीत किया है। 'काल' में कालसम्बन्धित्व' का सम्भव न हो सकने से 'कालसम्बन्धित्वमस्तित्वम्' यह नवीनों का व्याख्यान उचित प्रतीत नहीं हो रहा है।

(२) समानधर्म का नाम साधर्म्य है, तथा विरुद्ध-धर्म का नाम वैधर्म्य है। द्रव्यादि सात पदार्थों के ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व, अभिधेयत्व, अस्तित्व आदि साधर्म्य (समान धर्म) हैं। ज्ञान की विषयता का नाम ज्ञेयत्व है। प्रमा की विषयता का नाम प्रमेयत्व है। 'इस शब्द से सुनने वाले को इस अर्थ का बोध हो' इस प्रकार ईश्वर की इच्छारूप जो संकेत (शक्ति) है, उस संकेत (शक्ति) का ही नाम 'अभिधा' है। किन्तु मीमांसक 'अभिधा को' संकेतग्राह्य मानकर उसे एक अधिक पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। उस अभिधा की विषयता का नाम 'अभिधेयत्व' है। काल के सम्बन्ध का नाम 'अस्तित्व' है। ये ज्ञेयत्वादि धर्म द्रव्यादि सप्तपदार्थों में रहते हैं। यद्यपि जीवात्मा के 'ज्ञान' की तथा 'प्रमा' की विषयता समस्त पदार्थों में संभव नहीं तथापि ईश्वर के ज्ञान की तथा प्रमा की विषयता तो संभव है ही, क्योंकि 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' यह श्रुति भी ईश्वर की सर्वज्ञता का प्रतिपादन करती है। 'साधर्म्य' 'वैधर्म्य' शब्दों में 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' सूत्र से भाव अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय हुआ है। इस भावप्रत्यय के द्वारा 'स्वप्रकृत्यर्थविशेषणीभूतजात्यादि' रूप अर्थ बताया गया है। 'भाव' पदार्थ क्या है ? प्रकृतिजन्यबोधेप्रकारो भावः—

द्रव्यादयः पञ्च भावा अनेके समवायिनः ।

भावाः=भाव पदार्थ। भाव तथा अभाव भेद से पदार्थ दो प्रकार के हैं। द्रव्य गुण कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये ही छह भाव पदार्थ हैं। इनके अतिरिक्त जो पदार्थ है वह 'अभाव' पदार्थ है। 'अनेके'=एक से भिन्न संख्याविशिष्ट 'अनेक' होते हैं। समवायिनः'='समवाय' सम्बन्ध से युक्त। द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य और विशेष ये पाँच पदार्थ अनेक, तथा समवायी (समवाय-सम्बन्ध से युक्त) हैं। अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष इन पाँच पदार्थों का साधर्म्य 'भावत्व' के सहित 'अनेकत्व' और समवायित्व है। द्रव्यादि छह पदार्थों का 'भावत्व' साधर्म्य तो स्पष्ट है, इसलिए उसे न बताकर द्रव्यादि पाँचों का साधर्म्य बताया गया है।

द्रव्यादय इति। द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणां साधर्म्यमनेकत्वं समवायित्वं च। यद्यप्यनेकत्वमभावेऽप्यस्ति तथाप्यनेकत्वे सति भावत्वं पञ्चानां साधर्म्यम्। तथा चानेकभाववृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वमिति फलितोऽर्थः। तेन प्रत्येकं घटादावाकाशादौ च नाव्याप्तिः। समवायित्वं च समवायसम्बन्धेन सम्बन्धित्वं न तु समवायवत्त्वं,सामान्यादावभावात्। तथा च समवेतवृत्तिपदार्थ-विभाजकोपाधिमत्त्वमिति फलितोऽर्थः। तेन नित्यद्रव्येषु नाव्याप्तिः।

॥ इति पञ्चपदार्थसाधर्म्यकथनम् ॥

'समवाय' अनेक नहीं है, किन्तु एक है। 'अभाव' पदार्थ अनेक तो हैं परन्तु वह 'भाव' नहीं है। अतः समवाय तथा अभाव का साधर्म्य 'अनेकत्व' तथा 'भावत्व' के न होने से अन्य पाँच पदार्थों के साथ नहीं हो सकता। केवल द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य और विशेष ये अनेक तथा भाव भी हैं। इसी कारण इन सबका साधर्म्य भी 'अनेकत्व', 'भावत्व' और 'समवायित्व' है। इसी प्रकार 'समवाय' और अभाव किसी भी अधिकरण में समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहते। अतएव समवाय तथा अभाव का साधर्म्य 'समवायित्व' नहीं हो सकता। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष ये सामवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। इसलिए इनका 'समवायित्व' साधारण-धर्म है।

प्रकृति से होने वाले बोध में जो प्रकार हो, वही भाव पदार्थ है। समान-धर्म वालों में जो समान धर्म है, वही 'प्रकार' है। ज्ञान से 'विषयता' निरूपित होती हैं। 'विषय' निरूप्य होता है और 'ज्ञान' निरूपक होता है। 'विषयो निरूप्यः ज्ञानं न निरूपकम्' यह नियम है। ज्ञान और विषय का सम्बन्ध 'निरूप्य-निरूपक-भाव-सम्बन्ध' होता है। 'अत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वं केवलान्वयित्वम्।' सर्वज्ञ परमेश्वर के नित्यज्ञान के विषय तो सम्पूर्ण पदार्थ हैं। अतः 'सम्पूर्ण-पदार्थनिष्ठा ईश्वरज्ञानीय-विषयता' केवलान्वयी है, क्योंकि ईश्वरज्ञानीय-विषयता का कहीं भी अत्यन्ताभाव नहीं है।

तात्पर्य यह है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष इन पाँचों[1] का साधर्म्य (समान धर्म) भावत्व, अनेकत्व, समवायित्व होता है। प्रत्येक घटादि तथा आकाशादि के ऊपर यह साधर्म्य इस प्रकार है—जो वस्तु अनेक होकर भाव स्वरूप होती है, उस पर रहने वाला जो पदार्थविभाजक (पदार्थों के विभाग करने में उपयोगी) धर्म है, वही साधर्म्य है। यह धर्म तो द्रव्यत्व, गुणत्व आदि पाँचों में रहता ही है। उपर्युक्त प्रघट्टक का सरल अर्थ यह है कि 'सप्तम पदार्थ अभाव है' इतने कथनमात्र से ही छह पदार्थों का 'भावत्व' साधर्म्य है, यह स्पष्ट हो जाता है, फिर भी पुनरुक्ति के भय से उसकी उपेक्षा करते हुए ग्रन्थकार पाँचों का साधर्म्य बता रहे हैं—'द्रव्यगुणकर्म०' इत्यादि। कारिका में 'द्रव्यादयः पञ्च' यह उद्देश्य है और 'भावा अनेके' यह विधेय है। इसीलिये मुक्तावलीकार ने 'पञ्चानां' कहा, पञ्चभावानाम्' नहीं कहा। जिसको लक्ष्य करके विधेय की प्रवृत्ति

---

(१) शंका—पहिले तो सात पदार्थों का साधर्म्य कहा, बाद में पाँच का कहा, किन्तु छह पदार्थों का नहीं कहा, यह न्यूनता रह गई।

समा०—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इन छह पदार्थों का 'भावत्व' ही साधर्म्य है। उसमें कुछ चमत्कृत बात के न देखने से ग्रन्थकार ने इस साधर्म्य को नहीं बताया। अतः कोई न्यूनता नहीं है। परन्तु यहाँ इतना अवश्य समझने योग्य है कि 'समवायैकार्थ समवायान्यतरसम्बन्धेन सत्तावत्त्वं भावत्वम्' यही इन छह पदार्थों में 'भावत्व' है। 'समवाय' तथा 'एकार्थसमवाय' इनमें से किसी एक सम्बन्ध से जो 'सत्ताजातिमत्व' अर्थात् 'सत्ताजाति' से युक्त होना ही 'भावत्व' है। द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों में 'सत्ताजाति' समवाय सम्बन्ध से रहती है, और सामान्य, विशेष, समवाय इन तीनों में तो एकार्थसमवाय सम्बन्ध से 'सत्ताजाति' रहती है। क्योंकि छह पदार्थों की प्रतीति 'सत्' रूप से होती है। जैसे—द्रव्यं सत्, गुणः सन्, कर्म सत्, सामान्यं सत्, विशेषः सन्, समवायः सन् इस प्रकार से प्रतीति होती है। जिस द्रव्य, गुण, कर्मरूप एक अर्थ में वह 'सत्ताजाति' समवाय-सम्बन्ध से रहती है, उसी द्रव्यादिरूप एक अर्थ में वे सामान्यादि तीनों पदार्थ भी समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं, इसी का नाम 'एकार्थ-समवाय-सम्बन्ध' है। अतः इन छह पदार्थों का 'भावत्व' साधर्म्य है, और 'अभावत्व' वैधर्म्य है। 'द्रव्य-पदार्थ' पृथ्वी आदि भेद से नौ प्रकार का है। 'गुण पदार्थ' रूपरसादि पदार्थ भेद से चौबीस प्रकार का है। 'कर्म पदार्थ' उत्क्षेपणादिभेद से पाँच प्रकार का है। 'सामान्य पदार्थ' पर, अपर भेद से दो प्रकार का है। 'विशेष पदार्थ' भी प्रत्येक नित्य-द्रव्यवृत्ति होने से असंख्य है। इस रीति से उक्त पाँच पदार्थों में अनेकत्व (अनेकपना) है अतः वह इन पाँचों पदार्थों में 'अनेकत्वविशिष्ट-भावत्वरूपधर्म' का साधर्म्य है। और समवाय तथा अभाव में वह नहीं है—अर्थात् उसका वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) है।

होती है, उसे उद्देश्य या अनुवाद्य कहते हैं। उद्देश्य में प्रकाररूप से (विशेषणरूप से) प्रतीत होने वाले विलक्षणविषयतावान् पदार्थ को विधेय कहते हैं। एवञ्च 'अनेकत्वे सति भावत्वम्' यह विधेय है। केवल 'भावत्वम्' कहें तो 'समवाय' में अतिव्याप्ति होगी, उसके निवारणार्थ 'अनेकत्वे सति' यह सत्यन्त विशेषण दिया है। केवल 'अनेकत्वे सति' कहने पर 'अभाव' में अतिव्याप्ति होगी, उसके निवारणार्थ 'भावत्वम्' कहना पड़ा।

शंका अनेक घटों के रहने पर भी प्रत्येक घट में अर्थात् एक-एक घट में 'एकत्व' ही रहता है, 'अनेकत्व' नहीं और 'आकाश' में भी 'एकत्व' ही रहता है, 'अनेकत्व' नहीं, क्योंकि वह (आकाश) एकव्यक्तिरूप है किन्तु 'भावत्व' तो दोनों में (एक-एक घट में और आकाश में भी) है। अतः 'अनेकत्वे सति भावत्वम्' इस साधर्म्य की आकाश में तथा एक-एक घटादि पदार्थ में 'अव्याप्ति' हो रही है।

समा० - उसी अव्याप्ति का निवारण करने के लिये ग्रन्थकार ने स्वयं 'अनेकभाववृत्तिपदार्थ०' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा साधर्म्य को परिष्कृत किया। अनेक जो भाव अर्थात् घटपटादिव्यक्तियाँ उन पर वर्तमान जो पदार्थविभाजकोपाधि अर्थात् 'पदार्थत्व का साक्षात् व्याप्यधर्म जो द्रव्यत्व आदि, उनसे युक्त' ऐसा कहने पर उपर्युक्त अव्याप्ति दोष नहीं होगा। अर्थात् पदार्थत्वधर्म का साक्षात् व्याप्यधर्म द्रव्यत्व, प्रत्येक घट में और आकाश में रहता ही है, अतः कोई अव्याप्ति दोष नहीं है 'समवायिनः' इति। समवायः एषामस्तीति समवायिनः। यहाँ पर मत्वर्थीय इनि प्रत्यय है। सामान्य और विशेष में कोई भी धर्म समवायसम्बन्ध से नहीं रहता। अतः 'समवायित्व' की अव्याप्ति होगी, इस भ्रम के निवारणार्थ—'समवायित्व' का अभिप्रेत अर्थ बताते हैं—'समवायित्वञ्च०' इति। यहाँ पर 'समवायिपद से 'समवायप्रतियोगित्व' ही अभिप्रेत है। इस विवक्षित अर्थ के करने पर अव्याप्तिदोष नहीं होता, क्योंकि सामान्य और विशेष स्वयं समवाय--सम्बन्ध से रहते हैं। एवञ्च 'समवायित्व' के दो अर्थ होते हैं 'एक' समवायानुयोगित्व--और दूसरा समवायप्रतियोगित्व। पहले अर्थ की विवक्षा करने पर अव्याप्ति दोष होता है, किन्तु दूसरे अर्थ की विवक्षा करने पर वह दोष नहीं होता। 'समवायित्व' के प्रथम अर्थ की दृष्टि से नित्यद्रव्यरूप परमाणुओं में और आकाश आदि में अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि ये (परमाणु, आकाश) समवाय-सम्बन्ध से कहीं नहीं रहते। इस अव्याप्ति को दूर करने के लिये साधर्म्य (समवायित्व) का परिष्कृत स्वरूप बता रहे हैं—'समवेतवृत्ति०' इति। 'समवेतवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वम्' इसका अर्थ यह हुआ कि समवेत (समवाय सम्बन्ध से वर्तमान) घटादि और रूपादिकों में वृत्ति (रहना) है जिसकी, ऐसा जो पदार्थविभाजकोपाधि धर्म यानी पदार्थ का विभाजकोपाधि अर्थात् पदार्थत्व का साक्षात् व्याप्य द्रव्यत्व, गुणत्वादिरूप धर्म, उस धर्मरूप उपाधि से युक्त ही समवायित्व है। ऐसी विवक्षा करनेपर अव्याप्ति दोष नहीं होगा। इस प्रकार जातिघटित विवरण करने से भूतलादि-

चतुष्टय के परमाणुओं में और आकाशादि पाँचों में अव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि उनमें विवक्षित द्रव्यत्वादि-धर्म अपने अपने सम्बन्ध के अनुसार रहते हैं। द्रव्यादि चारों का साधर्म्य 'समवेतसमवेतत्व' (समवेतवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्व) है। अपने कारणस्वरूप कपालादि में समवेत (समवाय-सम्बन्ध से वर्तमान) हुए घट-पटादि में समवेत जो पदार्थविभाजकोपाधि धर्म (पदार्थत्व का साक्षात् व्याप्य-धर्म द्रव्यत्व, गुणत्व आदि तद्वत्व = तद्युक्त होना है।) और—द्रव्यादि पाँचों का साधर्म्य समवायित्व और अनेकत्व है। ऐसा अर्थ करने पर नित्यद्रव्यों में अव्याप्ति नहीं होगी।

सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्या¹ गुणादिर्निर्गुणक्रियः ॥ १४ ॥

आद्य के तीन (द्रव्य, गुण, कर्म) पदार्थों का 'सत्तावत्त्व' समान धर्म है। और गुणादि षट् (गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव) का निर्गुणत्व, निष्क्रियत्व समान धर्म हैं।

सत्तावन्त इति। द्रव्यगुणकर्मणां सत्तावत्त्वमित्यर्थः।

॥ इति आद्यपदार्थत्रयसाधर्म्यकथनम् ॥

गुणादिरिति। यद्यपि गुणक्रियाशून्यत्वमाद्यक्षणे घटादावतिव्याप्तं, क्रिया-शून्यत्वं च गगनादावतिव्याप्तं, तथापि गुणवदवृत्तिधर्मवत्त्वं कर्मवदवृत्तिपदार्थ-विभाजकोपाधिमत्त्वं च तदर्थः। नहि घटत्वादिकं द्रव्यत्वादिकं वा गुणवदवृत्ति कर्मवदवृत्ति वा, किन्तु गुणत्वादिकं तथा, आकाशत्वादिकं तु न पदार्थविभाज-कोपाधिः ॥ १४ ॥

॥ इति गुणादिषट्पदार्थसाधर्म्यकथनम् ॥

द्रव्य, गुण, कर्म ये तीन पदार्थ सत्तावान् हैं, इसी कारण इन तीन पदार्थों का सत्तावत्त्व ही साधर्म्य है। द्रव्य से भिन्न गुणादि षट् पदार्थों का 'निर्गुणत्व,' तथा 'निष्क्रियत्व' साधर्म्य है। 'गुण के अत्यन्ताभावत्व' को निर्गुणत्व कहते हैं तथा 'क्रिया के अत्यन्ताभावत्व' को निष्क्रियत्व कहते हैं। इन गुणादि षट् पदार्थों में किसी प्रकार का कोई 'गुण तथा क्रिया' समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहती। द्रव्य में तो गुण तथा कर्म समवाय सम्बन्ध से रहता ही है। इस कारण निर्गुणत्व और निष्क्रियत्व 'द्रव्य' के वैधर्म्य हैं। यद्यपि उत्पत्तिक्षण² में 'घटादि द्रव्य' भी निर्गुण तथा निष्क्रिय होते हैं, और आकाश, काल, दिक्, आत्मा ये चारों 'विभुद्रव्य' भी क्रियारहित

---

(१) आदौ भवा आद्याः, अत्र "दिगादिभ्यो यत्" (४।३।५५) इति भावार्थे 'यत्'। द्रव्यगुणकर्माणि सत्तावन्ति। सत्तावत्त्वञ्च समवायसम्बन्धेन बोध्यम्।

(२) 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठति' यह नैयायिकों का एक नियम है। आकाशे, कालादौ च विभुपदार्थे क्रियैव न जायते। एवञ्च गुणादीनामुच्यमानं साधर्म्यं द्रव्ये अतिव्याप्तम्, इत्याशंका जायते। तामाशंकां परिहर्तुं जातिघटितवाक्यं विवक्षया प्रदर्शितम्—'गुणवद्वृत्ति' इति।

रहते हैं, अतः अतिव्याप्ति होनी चाहिए। तथापि 'निर्गुणत्व' शब्द का अर्थ 'गुणवाले—पदार्थ में नहीं रहनेवाला धर्मत्व' है, तथा 'निष्क्रियत्व' शब्द का अर्थ 'कर्मवाले पदार्थ में नहीं रहनेवाला और पदार्थविभाजक उपाधिमत्त्वधर्म' है। घटादि-द्रव्यों में रहनेवाले घटत्व, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि धर्म, गुणवाले तथा कर्म-वाले में आवृत्ति नहीं हैं। गुणादिषट्पदार्थों में तो क्रमशः गुणत्व, कर्मत्व, सामान्यत्व, विशेषत्व, समवायत्व और अभावत्व ये छह धर्म, गुणवाले तथा कर्मवाले पदार्थ में अवृत्ति कहे जाते हैं, तथा पदार्थविभाजक उपाधि भी हैं। इस कारण उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न घटादि में तथा आकाशादि विभु द्रव्यों में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। यद्यपि आकाशादि विभु द्रव्य, कर्मवाले में अवृत्ति हैं, तथापि वे (द्रव्य) पदार्थविभाजक उपाधिरूप नहीं हैं। इस कारण आकाशादि में निष्क्रियत्व साधर्म्य की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती।

(क्षेपकपाठः)

यद्वा गुणवद्वृत्तित्वे सति कर्मवद्वृत्तित्वे सति वा सत्ताव्याप्यजातिशून्य-भावत्वं विवक्षितम्। गुणकर्मणोरव्याप्तिवारणाय गुणवद्वृत्तिकर्मवद्वृत्तीति-वा। पुनस्तत्रैवाव्याप्तिवारणाय सत्ताव्याप्येति। व्याप्तिश्च भेदगर्भा निवे-शितेत्यतो न दोषः। द्रव्यगुणान्यतरत्वमादाय तत्रैवाव्याप्तिवारणाय जातीति। अभावेऽतिव्याप्तिवारणाय भावत्वमिति। गुणवद्वृत्तिः सत्ताव्याप्यजातिर्द्रव्यत्वं तच्छून्यत्वं पञ्चानामस्त्येव ॥ १४ ॥

अथवा गुणवाले में रहनेवाली तथा कर्मवाले में रहनेवाली जो सत्ता की व्याप्य 'द्रव्यत्व' जाति है, उससे शून्य 'भावत्व' ही गुणादि (गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय) पाँचों का साधर्म्य है। यहाँ गुण में तथा कर्म में अतिव्याप्ति के निवारण के लिये 'गुणवद्वृत्ति' तथा 'कर्मवद्वृत्ति' कहा गया है। केवल 'सत्ता' के ग्रहण करने से पुनः गुण, कर्म में रहनेवाली अव्याप्ति के वारण के लिए 'सत्ता-व्याप्यजाति' कहा गया है। यहाँ व्याप्य-व्यापकभाव की व्याप्ति भेदगर्भिता विवक्षित है। अन्यथा समानाधिकरणरूप व्याप्ति को स्वीकार करें तो 'स्व' में 'स्व-व्याप्यत्व' के भी होने से 'सत्ता' की व्याप्य जाति 'सत्ता' भी होगी, उस 'सत्ता' से शून्य (रहित) गुण, कर्मादि नहीं हैं। अतः उनमे उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। उस अव्याप्ति के निवारणार्थ भेदगर्भित व्याप्ति का निर्देश किया गया है। भेदगर्भितव्याप्ति का आकार इस प्रकार होगा—'स्वसमानाधिकरणत्वे सति स्व-समानाधिकरणभेदप्रतियोगित्वम्'। यहाँ पर दोनों 'स्व' पदों से व्यापकसत्ता का ग्रहण है। द्रव्य, गुण, कर्म तीनों पर रहने के कारण 'सत्ता' व्यापक है और 'द्रव्यत्व' केवल 'द्रव्य' ही पर रहने के कारण उसकी (सत्ता की) दृष्टि से व्याप्य है। अतः 'द्रव्यत्व' रूप व्याप्यसत्ता का द्रव्य पर भी रहनेवाली व्यापकसत्ता के साथ सामानाधिकरण्य भी है, और गुण पर रहने वाली व्यापकसत्ता के अधिकरण

रूप गुण में रहनेवाला जो 'गुणे द्रव्यत्वं न' गुण पर द्रव्यत्व नहीं इत्याकारक जो भेद, उस भेद का प्रतियोगित्व द्रव्यत्व में होगा, गुण, कर्म में नहीं। तो द्रव्यत्व-रूप व्याप्त-सत्ता से शून्य गुण, कर्मादि हो गये। अतः गुण-कर्म आदि में अव्याप्ति नहीं होगी। सब का तात्पर्य यह हुआ कि भेदगर्भितव्याप्ति को मानने से गुण-कर्म में अव्याप्ति नहीं हो पाती। किन्तु सत्ता का व्याप्य द्रव्यत्व, गुणत्व आदि अन्य तत्त्वरूप अखण्डोपाधिधर्म भी है, उससे शून्य गुणादि नहीं है। इस कारण लक्षण की अव्याप्ति तो बनी ही रहेगी, तो उनके निवारणार्थ 'जाति' पद दिया गया है। 'अभाव' में अतिव्याप्ति को हटाने के लिये 'भावत्व' पद दिया गया है। गुणवाले (द्रव्य) में रहनेवाली सत्ता की व्याप्य जाति 'द्रव्यत्व' है, उससे शून्यत्व अर्थात् 'द्रव्यत्व-रहितत्व साधर्म्य' गुणादि पाँचों में है॥ १४ ॥

सामान्यपरिहीनास्तु सर्वे जात्यादयो मताः ।

सामान्येति । सामान्यानधिकरणत्वं सामान्यादीनामित्यर्थः ।

॥ इति सामान्यादिपदार्थचतुष्टयसाधर्म्यकथनम् ॥

सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सभी सामान्य (जाति) से हीन हैं, अर्थात् इन पर 'समवाय' सम्बन्ध से सामान्य (जाति) नहीं रहता[1]। अर्थात् सामान्यादि सब पदार्थों का 'सामान्यशून्यत्व' समान-धर्म (साधर्म्य है।

शंका—सामान्य (जाति) आदि पर भी 'एकार्थसमवायसम्बन्ध'[2] से सामान्य

---

(१) द्रव्य, गुण, कर्म ये तीन पदार्थ, साधारण प्रतीति के विषय हैं, किन्तु सामान्य विशेष, समवाय और अभाव ये चार पदार्थ, साधारण प्रतीति के गोचर नहीं। इस कारण ये चार पदार्थ कल्पित हैं। क्योंकि द्रव्य, गुण तथा कर्म इन क्लृप्त पदार्थों के ये स्वरूप हैं। जिसकी कल्पना नहीं की जाति उसको 'क्लृप्त' कहते हैं, और जिसकी कल्पना करते हैं, उसको 'कल्पित' पदार्थ कहते हैं। क्लृप्त पदार्थों में 'जाति' स्वीकार की जाति है। कल्पित पदार्थ में 'जाति' स्वीकार करने के समय पूर्वोक्त के अभेदादि अनेक दोष आते हैं जो 'जाति' के प्रतिबन्धक होते हैं।

(२) एकस्मिन् अर्थे समवायेन सत्त्वमेकार्थसमवायः। जैसे—'एकं रूपम्' इस प्रतीति में गुणस्वरूप 'रूप' में 'गुणे गुणानङ्गीकारात्' नियम के अनुसार उसके निर्गुण रहने पर भी एकत्वसंख्यारूप गुण का भान होता है। यद्यपि रूप में एकत्व-संख्या समवायसम्बन्ध से नहीं रहती, तथापि एकार्थसमवायसम्बन्ध से तो रहती ही है। अर्थात् जिस घट आदि में 'रूप' समवायसम्बन्ध से रहता है, उसी घट आदि में 'एकत्व' संख्या भी समवायसम्बन्ध से रहती है। इस कारण 'रूप' और 'एकत्व' का एकार्थसमवायसम्बन्ध हुआ। तथापि इस सम्बन्ध को 'रूप' में एकत्व-निरूपित अधिकरणता का नियामक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जैसे घट में रूप के साथ रूपत्व 'स्वसमवायसमवेतत्व' सम्बन्ध से रहता है, वैसे यह नहीं है।

(जाति) रहता ही है, तब उन्हें (सामान्य आदि को) सामान्य से हीन क्यों कहा जा रहा है, अर्थात् सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव पर जातिरूप धर्म नहीं है यह कैसे स्वीकार किया जाय ?

समा०—यद्यपि 'एकार्थसमवाय-सम्बन्ध से सामान्यादि पदार्थों पर जाति (सामान्य) रूप धर्म रहता है जिससे सामान्यादि पदार्थों को भी सामान्यवान् (जातिमान्) कहा जा सकता है, तथापि उनमें सामान्यनिरूपिता अधिकरणता नहीं है। क्योंकि 'एकार्थसमवायसम्बन्ध' अधिकरणता का नियामक सम्बन्ध नहीं है। इसी अभिप्राय से सामान्यपरिहीनत्व का परिष्कृत स्वरूप 'सामान्यानधिकरणत्व' बताया है।

॥ इति सामान्यादिपदार्थचतुष्टयसाधर्म्यकथनम् ॥

पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम् ॥ १५ ॥

अणुपरिमाण तथा परम महत्परिमाण से भिन्नों का अर्थात् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय-अभाव—इन पदार्थों में 'कारणत्व' साधर्म्य है।

परिमाण्डल्येति पारिमाण्डल्यमणुपरिमाणं, कारणत्वं तद्भिन्नानां साधर्म्यमित्यर्थः। अणुपरिमाणं तु न कस्यापि कारणम्। तद्धि स्वाश्रयारब्धद्रव्यपरिमाणारम्भकं भवेत्। तच्च न सम्भवति, परिमाणस्य स्वसमानजातीयस्वोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमान्महदारब्धस्य महत्तरत्ववदणुजन्यस्याणुतरत्वप्रसङ्गात्। एवं परममहत्परिमाणमतीन्द्रियसामान्यं विशेषाश्च बोध्याः।

'पारिमाण्डल्य' का अर्थ अणुपरिमाण है[1]। पारिमाडल्य (अणुपरिमाण) से भिन्न पदार्थों का 'कारणतारूप' समानधर्म है। 'पारिमाण्डल्य' शब्द द्वयणुकपरिमाण का भी उपलक्षक है। जैसे परमाणुपरिमाण किसी भाव कार्य के प्रति कारण नहीं होता, वैसे ही द्वयणुकपरिमाण, मन का परिमाण तथा आकाश, काल दिशा का परम महत्परिमाण और इन्द्रियों से अगोचर-परमाणु आदि और जाति तथा विशेष ये सब किसी कार्य के प्रति कारण नहीं होते। पूर्वोक्त अणुपरिमाण आदि पदार्थों के बिना बाकी सब पदार्थ किसी न किसी कार्य के प्रति कारण होते ही हैं[2]। तात्पर्य

---

(१) परमाणु तथा द्वयणुक के परिमाण का नाम 'अणुपरिमाण' है।

(२) अणुपरिमाण आदि पदार्थों के बिना बाकी सब पदार्थ किसी न किसी कार्य के प्रति कारण होते ही हैं। इस कारण अणुपरिमाण आदि पदार्थों के बिना बाकी के सब पदार्थों का 'कारणत्व' साधर्म्य है। पूर्वोक्त अणुपरिमाण आदि कारण नहीं होते इसमें युक्ति यह है कि अवयवों का परिमाण अवयवी के परिमाण के कारण होता है। जैसे तन्तु-(अवयव) के परिमाण से पट (अवयवी) का परिमाण उत्पन्न होता है, अतः तन्तु का परिमाण पट के परिमाण के प्रति कारण होता है। और अवयवी का परिमाण (पट का परिमाण) अवयव (तन्तु) के

यह है कि सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव इन चारों का 'सामान्यपरिहीनत्व' (सामान्य-शून्यत्व) साधर्म्य है, तथा परिमाण्डल्य (अणुपरिमाण) एवं द्वयणुक-परिमाण और मन का परिमाण इन सबसे भिन्न परिमाणवाले पदार्थों का 'कारणत्व' साधर्म्य है।

शंका० – किसी कार्य के प्रति 'अणुपरिमाण' को कारण क्यों नहीं माना जाता?

समा०—'अणुपरिमाण' को यदि कारण माना जाय तो स्वाश्रय से आरब्ध (उत्पन्न) हुए द्रव्य के परिमाण का उसे आरंभक कहना होगा यहाँ 'स्व' पद से परमाणु के अणुपरिमाण का ग्रहण करना है। तब 'स्वाश्रय' का अर्थ होगा– 'स्व' = परमाणु के अणुपरिभाण का आश्रय = परमाणु, उससे आरब्ध = उत्पन्न जो 'द्वयणुक द्रव्य', उसके परिमाण का आरंभक (उत्पादक) अणुपरिमाण को ही कहना होगा, परन्तु वह संभव नहीं होगा, क्योंकि परिमाण का यह स्वभाव है है कि वह अपने 'सजातीय उत्कृष्ट परिमाण का जनक होता है।[1] उत्कृष्टता 'तरप्' 'तमप्' प्रत्ययप्रयुक्त होती है। जैसे—कपाल के महत्परिमाण से आरब्ध हुए घट का परिमाण महत्तर होता है। वैसे ही परमाणु के अणुपरिमाण से उत्पन्न द्वयणुक का परिमाण 'अणुतर' होगा। और द्वयणुक के अणुतर परिमाण से उत्पन्न जो त्र्यणुक[2] का परिमाण होगा, वह 'अणुतम' हो जायगा, तब 'त्र्यणुक' का प्रत्यक्ष न होगा, उससे होनेवाले 'घट' का भी प्रत्यक्ष न हो सकेगा। उसी प्रकार परममहत्परिमाण, अतीन्द्रियसामान्य[3] और विशेष[4] ये भी किसी

परिमाण की अपेक्षा उत्कृष्ट (स्वरूपादि से श्रेष्ठ) रहता है, यह अनुभवसिद्ध है। यदि परमाणुपरिमाण द्वयणुक के परिमाण के प्रति तथा द्वयणुक का परिमाण त्र्यणुक के परिमाण के प्रति कारण हो जायगा तो जैसे तन्तुपरिमाण की अपेक्षा पट का परिमाण उत्कृष्ट (बड़ा) है, वैसे ही उस परमाणुपरिमाण की अपेक्षा द्वयणुकपरिमाण तथा द्वयणुकपरिमाण की अपेक्षा त्र्यणुकपरिमाण उत्कृष्ट (अणुतर) होने लगेगा। उसी प्रकार आकाश, काल, दिक् का महत्-परिमाण भी किसी वस्तु के परिमाण के प्रति कारण नहीं माना जाता। यदि कारण मान लें तो उस आकाश आदि से अधिक विभु (व्यापक किंवा बड़ी) ऐसी कोई वस्तु नहीं है, किन्तु अब ऐसी वस्तु होने लगेगी। परन्तु परमाणु से अणु (सूक्ष्म) वस्तु तथा आकाशादि से बड़ी कोई भी वस्तु सम्भव नहीं हो सकती। इस कारण पूर्वोक्त परिमाण किसी कार्य के प्रति कारण नहीं है। किन्तु परमाणुगत द्वित्वसंख्या ही द्वयणुक का कारण है।

(१) 'परिमाणं स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणं जनयती'ति नैयायिकसिद्धान्तः।
(२) 'त्रिभिर्द्वयणुकैरेकं त्र्यणुकमारभ्यते इति' न्यायसिद्धान्तः।
(३) परमाण्वादिनिष्ठं परमाणुत्वादिकमतीन्द्रियसामान्यम्।
(४) स्वतोव्यावृत्तो विशेषपदार्थः।

कार्य के प्रति कारण नहीं होते हैं यह समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि परिमाण्डल्य के समान इनका भी 'अकारणत्व' साधर्म्य है। यह कथन योगिप्रत्यक्ष में विषय को कारण न मानकर ही किया गया है। किन्तु वादी इस रहस्य को न समझकर शंका कर रहा है।

शंका०—योगियों को अपने योगबल से परमाणु का तथा आकाश, काल आदि का प्रत्यक्ष होता है तो परमाणु के अणुपरिमाण का तथा आकाश आदि के परम महत्परिमाण का भी प्रत्यक्ष अवश्य होता होगा। 'विषय के प्रत्यक्ष के प्रति 'विषय' कारण होता है।' इस नियम के अनुसार अणुपरिमाण विषयक प्रत्यक्ष एवं परम-महत्परिमाण-विषयक प्रत्यक्ष के प्रति उस प्रत्यक्ष का विषय जो 'अणुपरिमाण' और 'परम-महत्परिमाण'—उनको 'प्रत्यक्ष' के प्रति विषयविधया कारणता बन जायगी। तब कैसे समझा जाय कि 'अणुपरिमाण' और परम-'महत्परिमाण' किसी भी कार्य के प्रति कारण नहीं हैं।[1] अन्यथा जैसे परमाणु-परिमाण किसी का कारण नहीं वैसे ही काल-दिङ्निष्ठ परममहत्परिमाण, परमाण्वादि पर रहनेवाली परमाणुत्वादि अतीन्द्रियजाति और स्वतोव्यावृत्तात्मक विशेष-पदार्थ ये भी किसी के कारण नहीं होंगे। अतः अणुपरिमाण और परममहत्परिमाण में प्रत्यक्ष के प्रति विषयविधया कारणता हो सकती है।

इदमपि योगिप्रत्यक्षे विषयस्य न कारणत्वम्। ज्ञायमानं सामान्यं न प्रत्यासत्तिः। ज्ञायमानं लिङ्गं नानुमितिकरणमित्यभिप्रायेणोक्तम्। आत्ममानसप्रत्यक्षे आत्मपरममहत्त्वस्य कारणत्वात् परममहत्परिमाणं कालादेर्बोध्यम्।

तस्यापि न कारणत्वमित्याचार्याणामाशय इत्यन्ये। तन्न, ज्ञानातिरिक्त प्रत्येवाकारणताया आचार्यैरुक्तत्वात्॥ १५॥

॥ इति पारिमाण्डल्यभिन्नपदार्थसाधर्म्यकथनम्॥

(१) **शंका**—'विषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन विषयस्य कारणत्वम्' इस नियम के अनुसार योगजसन्निकर्ष से योगिप्रत्यक्ष में विषय को कारण माननेवाले के मत में—योगजसन्निकर्ष से पारिमाण्डल्य के प्रत्यक्ष में पारिमाण्डल्य, परममहत्त्व के प्रत्यक्ष में परममहत्त्व, अतीन्द्रियपरमाणुत्व-गुरुत्वादि जाति के प्रत्यक्ष में परमाणुत्व, गुरुत्व, विशेषपदार्थ के प्रत्यक्ष में **विशेष** को विषयविधया कारणत्व होता है। 'अणुपरिमाण आदि कारण नहीं होते' यह मानना उचित नहीं है, क्योंकि सर्वत्र प्रत्यक्ष के प्रति प्रत्यक्ष का विषय ही कारण होता है। जैसे—घट-प्रत्यक्ष के प्रति 'घट' ही कारण होता है। वैसे ही योगिजनों के योगाभ्यास के बल से अतीन्द्रिय वस्तु भी (परमाणु आदि उसका परिमाण) प्रत्यक्ष का कारण होती है। तत्तत् प्रत्यक्ष के प्रति तत्तत् प्रत्यक्ष का तत्तत् विषय (परमाणु आदि) तथा उसका परिमाण कारण होता है। अतः पारिमाण्डल्य आदि में अकारणत्व कहना उचित नहीं है।

समा०—पारिमाण्डल्य (अणुपरिमाण आदि) से भिन्न पदार्थों को कार्य के प्रति कारणता जो बताई गई है, वह नवीन नैयायिकों के अभिप्राय से ही बताई है। नवीन नैयायिक योगी के प्रत्यक्षज्ञान में विषय को कारण नहीं मानते। जैसे 'प्रभा' सूर्योदय के होने में पूर्वलिङ्ग (पूर्वचिह्न) है, उसी तरह प्रसंख्यान का पूर्वलिङ्ग 'प्रातिभज्ञान' है। अपनी प्रतिभा से उत्पन्न अनौपदेशिक ज्ञान को 'प्रातिभज्ञान' कहते हैं। इस ज्ञान के द्वारा योगी सब कुछ करतलामलकवत् जानता है। योगसूत्रकार पतञ्जलि ने भी "प्रातिभाद्वा सर्वम्" (यो० सू० ३।३३) सूत्र से यही बताया है कि योगी अपनी समाधिभावना के प्रकर्ष से अतीत, अनागत, दूरस्थ सभी वस्तुओं को प्रत्यक्ष करने में समर्थ रहता है। योगजधर्मप्रत्यासत्ति के द्वारा होने वाले योगियों के इस अतीतादि पदार्थविषयक साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) में जैसे विषय के अस्तित्व (सत्ता) की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही परमाणु-परिणाम आदि वर्तमान विषयों के साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) में भी विषय की सत्ता (अस्तित्व) का होना आवश्यक नहीं है, अर्थात् योगियों का प्रत्यक्ष विषयसत्तानिरपेक्ष हुआ करता है। अतः इस प्रकार के योगि-प्रत्यक्ष में परमाणुपरिमाण को, विषयविधया कारणता नहीं है, अर्थात् परमाणुपरिमाण उसके प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता।

शंका—योगियों के प्रत्यक्ष ज्ञान में परिमाणुपरिमाण भले ही विषयविधया कारण न हो, किन्तु सामान्यलक्षणा[1] से होनेवाले ज्ञान में और अनुमिति में परमाणुपरिमाण को कारणता रहती ही है, इस कारण पुनरपि 'पारिमाण्डल्यभिन्नानाम्' यह कथन असंगत ही रहा।

समा०–उक्त आशंका के समाधानार्थ 'ज्ञायमानं सामान्यम्' इत्यादि ग्रन्थ दिया जा रहा है।[2] वर्तमानकाल का जो ज्ञान, उस ज्ञान का विषयभूत जो सामान्य,

---

(१) 'सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति' के बल पर (गोमात्र को गोत्वस्वरूप जान लेना इस प्रकार जाति के बल पर) जातिमान् सर्वगोविषयक अलौकिक प्रत्यक्ष (नहीं देखी हुई भी गौओं का प्रत्यक्ष) जैसे होता है, वैसे ही इन्द्रियों से अगोचर (अविषय) परमाणु आदि का उनकी जाति के सहित ज्ञान योगिजनों को अपने योगाभ्यास के बल से होकर उस जाति के योग से तत्तत् जातिमान् परमाणु आदि का प्रत्यक्ष होता है। इस कारण प्रत्यक्ष के प्रति अतीन्द्रिय-जाति भी कारण होती है।

(२) 'सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से प्रत्यक्ष होता है', यह कहना तो ठीक है, परन्तु उसका तात्पर्य यह है कि सामान्य (जाति) का ज्ञान ही उस प्रत्यक्ष के प्रति कारण है, 'सामान्य' (जाति) कारण नहीं है। तात्पर्य यह है कि केवल लौकिक प्रत्यक्ष के प्रति ही (पाँच प्रकार के सन्निकर्ष से होने वाले प्रत्यक्ष के प्रति) 'विषय' कारण होता है। परन्तु योगी के प्रत्यक्ष के प्रति (अलौकिक प्रत्यक्ष के प्रति) विषय को कारण कहना स्वीकार नहीं है। यदि स्वीकार करें तो योगियों

उसे 'ज्ञायमानसामान्य' कहते हैं। उसी प्रकार वर्तमानकालिकज्ञान का विषयभूत जो लिङ्ग (हेतु) उसे 'ज्ञायमानलिङ्ग' कहते हैं। नवीन नैयायिकों का यह सिद्धान्त है कि 'विशेष' पदार्थ पृथिव्यादिपरमाणुओं का भेदक नहीं है, अपितु 'विशेष' का ज्ञान उन परमाणुओं का भेदक है। उसी प्रकार 'ज्ञायमानसामान्य' प्रत्यासत्ति (अलौकिकसन्निकर्ष) नहीं है, किन्तु सामान्यज्ञानमात्र [१] सामान्य-

---

के योगाभ्यास से भूत, भविष्यत् सब पदार्थ, विषय के सहित उन्हें प्रत्यक्ष होते हैं सो बात नहीं, क्योंकि उस प्रत्यक्ष के समय उस प्रत्यक्ष के प्रति उसे कारण कहें तो जो भूत, भविष्यत् पदार्थरूप विषय, जिनका होना वर्तमान में सम्भव ही नहीं है, उनके न रहने पर भी उन्हें कारण नहीं कहा जा सकता। अतः योगी के प्रत्यक्ष के प्रति विषय कारण नहीं है। इसी अभिप्राय से उक्त चारों में अकारणत्व बताया गया है। अतः पारिमाडल्य आदि में अकारणत्व प्रतिपादक ग्रन्थ अनुचित नहीं है।

प्राचीनों के मत में ज्ञात हुआ (जाना हुआ) हेतु अनुमिति के प्रति कारण होता है। (नवीनों के मत में हेतु का ज्ञान कारण होता है)। प्राचीनों के अनुसार उदाहरण—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में (पर्वतस्वरूपी पक्ष में धूमस्वरूपी हेतु से अग्निस्वरूपी साध्य साधा जाता है) धूम उस अनुमिति के प्रति कारण है। उसी प्रकार यदि हम 'अणुपरिमाण' को हेतु बनाकर प्राचीन मत को प्रमाण कहें तो अणुपरिमाण, अनुमिति के प्रति कारण हो जायगा। इसलिए पूर्वोक्त 'अणुपरिमाण आदि कारण नहीं होते' यह मानना उचित नहीं है।

(१) ज्ञायमानसामान्य को अलौकिक प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष के रूप में कारण (प्रयोजक , माननेवाले के अनुसार परमाणुत्वेन सकलपरमाणुविषयक मानस प्रत्यक्ष में अतीन्द्रियपरमाणु जाति (सामान्य) को भी परमाणुत्वसामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) द्वारा कारण माना जाता है। 'सामान्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'समानानां भावः सामान्यम्' के अनुसार 'सामान्य' शब्द से पारिमाण्डल्य (अणुपरिमाण) का भी ग्रहण होता है। अतः 'परमाणुः अणुपरिमाणवान्' यह ज्ञान होने के पश्चात् 'सर्वे परमाणवः अणुपरिमाणवन्तः' इत्याकारक अलौकिक परमाणु-परिमाणविषयक प्रत्यक्ष 'सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति' से हो जाता है, क्योंकि अलौकिकसम्बन्ध से परमाणु-परिमाण कारण होता है। इसी प्रकार 'सर्वगतः आत्मा परममहत्वपरिमाणवान्' यह प्रत्यक्ष होने के पश्चात् 'सर्वे सर्वगताः कालादयः परममहत्परिमाणवन्तः' यह अलौकिक मानसप्रत्यक्ष 'सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्ति' से होता है। क्योंकि वहाँ अलौकिकसम्बन्धरूपेण परममहत्परिमाण को कारणता है। इसी प्रकार 'नित्यद्रव्यं विशेषवत्' यह ज्ञान होने के बाद 'सर्वाणि नित्यद्रव्याणि विशेषवन्ति' यह अलौकिक विशेषविषयक प्रत्यक्ष, 'सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्ति' से होता है। क्योंकि अलौकिकसम्बन्ध से वहाँ 'विशेष' पदार्थ कारण के रूप में रहता है।

लक्षणाप्रत्यासत्ति है। उसी प्रकार ज्ञायमान-लिङ्ग, अनुमिति का कारण नहीं, किन्तु लिङ्गज्ञानमात्र ही अनुमिति का कारण (हेतु) है।[1]

प्राचीन नैयायिक, परमाणुपरिमाण को भी योगिप्रत्यक्ष में विषयविधया कारण मानते हैं तदनुसार 'परमाणुः अणुपरिमाणवान्' इत्याकारकज्ञान होने के अनन्तर 'सर्वे परमाणवः अणुपरिमाणवन्तः' इत्याकारक परमाणुपरिमाण–विषयक अलौकिक प्रत्यक्ष, सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से होता है। इस अलौकिक-सम्बन्ध से परमाणुपरिमाण भी प्रत्यक्ष का कारण बन जाता है। दूसरी बात यह है कि 'परमाणुः द्रव्यम् अणुपरिमाणात्' इस अनुमति में अणुपरिमाण की कारणता स्पष्ट ही है। अतः मूलकार ने अणुपरिमाण की कारणता का जो निषेध किया है वह नवीनों की दृष्टि से ही किया है।

"आत्ममानस" इति। 'सुखी अहम्, दुःखी अहम्, ज्ञानवानहम्, इच्छावानहम्' इत्याकारक आत्मविषयक मानसप्रत्यक्ष में आत्मा के परमहत्परिमाण की भी कारणता स्पष्ट प्रतीत होती है, क्योंकि 'द्रव्यीयलौकिकप्रत्यक्षं प्रति समवायेन महत्त्वं कारणम्'—किसी द्रव्य के लौकिक प्रत्यक्ष में 'महत्त्व' को समवायसम्बन्ध से कारणता मानी जाती है। इस नियम के अनुसार आत्मनिष्ठ परममहत्परिमाण को छोड़कर आकाशादिनिष्ठ परममहत्परिमाण को कारण नहीं माना जाता। अर्थात् कारणताशून्य परममहत्परिमाण आकाशादिकों का ही समझना चाहिए। कतिपय नैयायिक उदयनाचार्य के आशय को अपनी बुद्धि के अनुसार लगाकर आत्मा के महत्परिमाण को भी कारण नहीं मानते। किन्तु यह उनका कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान के अतिरिक्त कार्यों के प्रति आत्ममहत् परिमाण की कारणता के निषेध में ही उदयनाचार्य का आशय है अर्थात् आत्मवृत्ति परममहत्परिमाण, ज्ञान के प्रति कारण होता है, ज्ञान-भिन्न (ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कार्यों) के प्रति कारण नहीं होता।[2]

---

(१) 'ज्ञायमान हेतु (ज्ञायमान लिंग) अनुमिति के प्रति कारण नही होता, अपितु उस 'हेतु का ज्ञान' (लिंग ज्ञान) ही अनुमिति के प्रति कारण होता है। इसलिए पूर्वोक्त परमाणु आदि जो कहे हैं, वे किसी भी कार्य के प्रति कारण नहीं होते। इनके अतिरिक्त सभी पदार्थ कारण होते हैं यह स्पष्ट हो जाता है। एवं च पूर्वोक्त अणुपरिमाण आदि के बिना बाकी सभी पदार्थों का 'कारणत्व' ही साधर्म्य है।

(२) यद्यपि महत्-परिमाणों में आत्मा का महत्परिमाणमात्र ('ज्ञानवाहनम्, इच्छावाहनम्') इस आत्मविषयक मानस प्रत्यक्ष के प्रति कारण होता ही है, क्योंकि 'द्रव्यीयलौकिकप्रत्यक्षम्प्रति समवायेन महत्त्वं कारणम्' यह नियम है। इसलिये आत्मा के परम-महत्परिमाण को छोड़कर आकाशादि निष्ट परम-महत्परिमाण में किसी के प्रति कारणता नहीं होनी चाहिये। तथापि इस विषय में कुछ विद्वान् नैयायिक—श्रीमदुदयनाचार्य के ग्रन्थ 'कारणत्वं च ज्ञातृधर्मेतर-

अन्यथासिद्धशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता ।
कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम् ॥१६॥
समवायिकारणत्वं ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् ।
एवं न्यायनयज्ञैस्तृतीयमुक्तं निमित्तहेतुत्वम् ॥१७॥
यत्समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायिजनकं तत् ।
तत्रासन्नं जनकं द्वितीयमाभ्यां परं तृतीयं स्यात् ॥१८॥

अन्यथासिद्धिशून्यस्य = अन्य प्रकार से जिसकी सिद्धि नहीं होती। नियता=अवश्यंभाविनी। पूर्ववर्तिता=कार्य के पूर्व जो हो उसे पूर्ववर्ती कहते

कार्यापेक्षया' का ऐसा अभिप्राय निकालते हैं कि ज्ञान को छोड़कर (ज्ञानातिरिक्त) अन्य किसी कार्य के प्रति पूर्वोक्त अणुपरिमाण आदि कारण नहीं होते'। तथा 'आत्मा का परममहत्परिमाण भी किसी कार्य के प्रति कारण नहीं है' किन्तु वे इस ग्रन्थ को नहीं समझ पाते। उस ग्रन्थ को इस प्रकार समझना चाहिये— 'ज्ञान के प्रति (मानस प्रत्यक्ष के प्रति) आत्मा का परिमाणमात्र कारण होता है' ऐसा आचार्य का अभिप्राय है। पूर्वोक्त 'कारणत्वं ज्ञातृधर्मेतरकार्यापेक्षं' इस ग्रन्थ का अर्थ अन्य आचार्यों के मत में अणुपरिमाण आदि सभी, ज्ञान के प्रति कारण होते हैं, किन्तु ग्रन्थकार कहते हैं कि आत्मा का परममहत्परिमाणमात्र ज्ञान के प्रति कारण होता है, ज्ञान के अतिरिक्त में कारण नहीं होता यह आचार्य का आशय है।

(२) 'अन्यथासिद्धिशून्यस्य' यहाँ 'षष्ठी' विभक्ति का अर्थ 'निष्ठत्व' है। इसलिए 'कारणत्व' के लक्षण को इस प्रकार कहना होगा—'अन्यथासिद्धिशून्य—निष्ठा या अवश्यंभाविनी पूर्ववर्तिता अर्थात् कार्योत्पत्त्यव्यवहिते पूर्वस्मिन् क्षणे कार्याधिकारणवृत्तिता, तदेव कारणत्वम्'। कर्योत्पत्ति से अव्यवहित पूर्ववर्तिता तो कदाचित् आनेवाले रासभ (गधा) में भी हो सकती है, तो उसे भी घटोत्पत्ति में कारण कहना होगा। अतः इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ कारिका में 'नियता' कहा गया है। किन्तु यह नियत पूर्ववर्तिता 'दण्डत्व' में भी रहती है। दण्ड की तरह 'दण्डत्व' भी नियमेन घटादिकार्योत्पत्ति के पूर्ववर्ती रहता है। अतः 'दण्डत्व' में 'कारण' के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ कारिका में 'अन्यथासिद्धिशून्यस्य' कहा गया है। एवं च 'कारणत्व' का परिष्कृत लक्षण यह हुआ—'अनन्यथासिद्धिनियतपूर्ववर्तित्वं कारणत्वम्'। इस लक्षण के अनुसार 'दण्ड' घट के प्रति कारण है। न्याय की भाषा में इसी लक्षण को इस प्रकार कह सकते हैं—'अनन्यथासिद्धकार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्त्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वं कारणत्वम्'।

हैं और उसके धर्म को 'पूर्ववर्तिता' कहते हैं। कार्य के पूर्व केवल 'कारण' वर्तमान रहता है, अतः 'पूर्ववर्तिता' का अर्थ हुआ 'कारणता'। समवेतम्=समवायसम्बन्ध से वर्तमान। (जैसे—'अयवयी' का 'अवयवों में स्थित जो सम्बन्ध वह 'समवाय' सम्बन्ध है,) तत्र=समवायिकारण में आसन्नम्=सम्बद्ध (समवायसम्बन्ध से स्थित)। द्वितीयम्=असमवायिकारण। जनकम्=कारण। आभ्यां परम्=इन दो को छोड़ अर्थात् समवायिकारण तथा असमवायिकारण से अन्य। तृतीयम्=निमित्तकारण।

जो अन्यथासिद्धि से शून्य हो अर्थात् जिससे होनेवाला कार्य किसी अन्य प्रकार से न हो सके। और कार्योत्पत्ति के पूर्व जो नियम से रहनेवाला हो, उसे 'कारण' कहते हैं। वह कारण तीन प्रकार का है॥ १६॥

प्रथम का नाम 'समवायिकारण' है, द्वितीय का नाम 'असमवायिकारण' है, और तृतीय का नाम न्यायशास्त्र के विद्वानों ने 'निमित्तकारण' बताया है॥१७॥

जिसमें समवायसम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो उसे 'समवायिकारण' कहते हैं।[1] उस समवायिकारण में समवेत होकर जो कार्य को पैदा करनेवाला हो, उसे असमवायिकारण कहते हैं।[2] इन दोनों कारणों से भिन्न जो कारण है, उसे

---

(१) यस्मिन् समवेतम्=यत्समवेतम्। अर्थात् यस्मिन् समवेतम्=समवायसम्बन्धेन वर्तमानं सत् कार्यमुत्पद्यते, तत्समवायिजनकं=समवायिकारणं ज्ञातव्यम्।

एवं च—'समवायसम्बन्धेन कार्यवत्त्वं समवायिकारणत्वम्। जैसे—तन्तुओं में समवायसम्बन्ध से ही पट की उत्पत्ति होती है, इसलिए तन्तु 'पट के समवायिकारण' कहे जाते हैं।

(२) समवायि-कारण में आसन्न=सन्निहित जो कारण उसे 'असमवायिकारण' कहते हैं। असमवायिकारण दो प्रकार का है। पहला, घट पटादि कार्य के साथ एक तन्तुरूप अर्थ में समवायसन्बन्ध से रहता हुआ जो कारण बने, वह पहले प्रकार का असमवायिकारण है। जैसे—घटादिरूप कार्य समवायसम्बन्ध से 'दो कपालों' में रहता है और उसी में 'कपालद्वयसंयोग' भी समवाय से रहता है, क्योंकि 'गुण-गुणिनोः समवायः' यह नियम है। अतः जन्यद्रव्य के प्रति अवयवसंयोग को असमवायिकारण कहा गया है। दूसरे प्रकार का असमवायिकारण—जो कारण अपने कार्य के समवायिकारण के साथ एक अर्थ में समवायसम्बन्ध से सम्बद्ध होकर कारण होता है, उसे भी असमवायिकारण कहते हैं। जैसे 'पटरूप' के प्रति तन्तुरूप 'असमवायिकारण' होता है। 'तन्तुरूप' का कार्य 'पटरूप' है, उसका 'समवायिकारण' पट है, वह समवाय-सम्बन्ध से 'तन्तुओं' में रहता है और वहीं पर 'तन्तुरूप' भी समवायसम्बन्ध से रहता है, इसलिये पटरूप के प्रति तन्तुरूप को असमवायिकारण कहा जाता है।

निमित्तकारण कहते हैं[1] ॥ १८ ॥

ननु कारणत्वं किम् ? अत आह—अन्यथासिद्धीति। तस्य कारणत्वस्य ॥१६-१७ ॥

इति प्रासङ्गिककारणत्वनिरूपणम्।

—०—

तत्रेति। समवायिकारणे आसन्नं प्रत्यासन्नं कारणं द्वितीयमसमवायिकारणमित्यर्थः।[2]

अत्र यद्यपि तुरीतन्तुसंयोगानां पटासमवायिकारणत्वं स्यात्। एवं वेगादीनामभिघाताद्यसमवायिकारणत्वं स्यात्। एवं नानादिकमपीच्छाद्यसमवायिकारणं स्यात्। तथापि पटासमवायिकारणलक्षणे तुरीतन्तुसंयोगभिन्नत्वं देयम्। तुरीतन्तुसंयोगस्तु तुरीपटसंयोगं प्रत्यसमवायिकारणं भवत्येव। एवं वेगादि कमपि वेगस्पन्दाद्यसमवायिकारणं भवत्येवेति तत्तत्कार्यासमवायिकारणलक्षणे यत्तद्भिन्नत्वं देयम्। आत्मविशेषगुणानां तु कुत्राप्यसमवायिकारणत्वं नास्ति तेन तद्भिन्नत्वं सामान्यलक्षणे देयमेव।

---

(१) जो जिस कार्य की उत्पत्ति से पहिले नियम से रहता हो, और अन्यथा सिद्ध नहीं हो, (जो आवश्यक हो) वह उस कार्य के प्रति कारण होता है। यह कारण, समवायिकारण, असमवायिकारण तथा निमित्तकारण के भेद से तीन प्रकार का है। कार्यमात्र के ये ही तीन कारण होते है। जैसे—'घट' एक कार्य है, उसका निमित्तिकारण 'दण्ड' 'कुलाल' प्रभृति है, 'कपाल' 'कपालिका' ये समवायिकारण हैं, और 'कपाल कपालिका का संयोग' असमवायिकारण है। कहीं कहीं समवायिकारण के नाश होने पर कार्य भी नष्ट हो जाता है। जैसे—'कपालद्वय' के नाश से 'घट' का नाश होता है। कहीं कहीं 'असमवायिकारण' के भी नाश। होने पर कार्य नष्ट हो जाता है। जैसे—परमाणुद्वयसंयोग के नाश से द्वयणुक का नाश। परन्तु निमित्तकारण के नाश होने से कभी भी कार्य का नाश नहीं होता। साधारण तथा असाधारण भेद से पुनः 'कारण' दो प्रकार है। 'कपाल' और 'कपालिका' का संयोग तथा कुलालादि ये 'घट' के असाधारण कारण है। और ईश्वर का ज्ञान, इच्छा, यत्न, काल, प्रागभाव, अदृष्ट, ये कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण हैं। उन तीनों में से समवायिकारण का लक्षण इस प्रकार बताया गया है जिस द्रव्य में जो कार्य समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होता है, वह द्रव्य, उस कार्य के प्रति समवायिकारण होता है।

(२) असमवायिकारण का लक्षण– आत्मा के विशेष संज्ञक गुण के बिना बाकी जो कोई गुण किंवा कर्म, जिस कार्य के साथ अथवा जिस कार्य के समवायिकारण के साथ किसी एक द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहकर जो कार्य उत्पन्न करे, वह गुण किंवा कर्म, उस कार्य के प्रति असमवायिकारण होता है।

पञ्चदशवीं (१५ वीं) कारिका में 'कारणत्वमुदाहृतम्' कहा गया था। अतः 'कारणत्व' (कारणता) पदार्थ क्या है? यह जिज्ञासा होती है, उसके समाधानार्थ ग्रन्थकार स्वयं 'अन्यथासिद्धि' इत्यादि ग्रन्थ से 'असवायिकारण' के लक्षण पर आक्षेप कर रहे हैं—यद्यपि यहाँ 'असमवायिकारण के लक्षणानुसार 'तुरीतन्तु संयोग' को पट का असमवायिकारण होना चाहिये। क्योंकि तुरी 'तन्तु' संयोग, पट के समवायिकारणभूत तन्तुओं में रहता है, और पट का कारण भी है।'

शंका—वेग, अभिघाताख्य संयोग का असमवायिकारण हो जायेगा। क्योंकि 'वेग' अभिघाताख्य संयोग के समवायिकारण में समवायसम्बन्ध से रहता है और अभिघात का कारण भी है। जिस द्रव्य में वेग उत्पन्न होगा, वह वेग उसी द्रव्य में अभिघाताख्य संयोग को उत्पन्न करेगा। और स्पर्श, नोदनाख्य संयोग का असमवायिकारण हो जायगा। तथा ज्ञान, 'इच्छा' का और 'इच्छा' प्रवृत्ति की भी असमवायिकारण हो जायगी क्योंकि ज्ञान, इच्छा के समवायिकारणस्वरूप 'आत्मा' में समवायसम्बन्ध से रहता है और इच्छा का कारण भी है, क्योंकि ज्ञान होने पर ही इच्छा होती है। यहाँ 'आदि' पद 'प्रयत्न' का भी संग्राहक है। किन्तु यह ध्यान में रखना होगा कि 'आत्मा' के विशेषगुण किसी के भी असमवायिकारण नहीं होते। अतः उपर्युक्त असमवायिकारण के लक्षण की उपर्युक्त तत्तत् स्थलों में अति-व्याप्ति होने लगेगी। अर्थात् पट के अमवायिकारण-लक्षण की तुरी तन्तु संयोग में अतिव्याप्ति और अभिघात के असमवायिकारणलक्षण की वेग में अतिव्याप्ति होगी।

समाधान—तत्तत् कार्यों के असमवायिकारण-लक्षणों में 'तत्तद्भिन्नत्व' विशेषण देना चाहिये। लक्षण का आकार इस प्रकार होगा—'तुरीतन्तुसंयोगभिन्नत्वे सति पट समवायिकारणे प्रत्यासन्नत्वे सति (तन्तुसमवेतत्वे सति) पटकार्यंजन-कत्वं (पटकारणत्वं) पटासमवायिकारणत्वम्।' 'चक्रकपालसंयोगभिन्नत्वे सति घटसमवायिकारणे प्रत्यासन्नत्वे सति (कपालसमवेतत्वे सति) घटकार्यंजनकत्वं (घटकारणत्वं) घटासमवायिकारणत्वम्।' इसी प्रकार 'यन्त्रकाष्ठसंयोगभिन्नत्वे सति काष्ठखण्डसमवेतत्त्वे सति यत् काष्ठपुत्तलिका—कारणं' तत् काष्ठपुत्तलिकाया

(१) 'तुरीतन्तुसंयोग' भी अनुयोगित्वरूप से तन्तुसमवेत है, और 'पट' रूप कार्य का जनक भी है अतः उक्त लक्षण का लक्ष्य होने से 'तुरीतन्तुसंयोग' भी 'पट' के प्रति असमवायिकारण हो सकता है।

शंका—'तुरीतन्तुसंयोग' को भी 'पट' के असमवायिकारण के लक्षण का लक्ष्य ही मान लें तो क्या दोष है?

समा०—नैयायिकों ने असमवायिकारण के नाश से कार्य का नाश माना है। यदि 'तुरीतन्तुसंयोग' भी 'पट' का असमवायिकारण होगा, उस के नाश से भी पट का नाश होने लगेगा किन्तु ऐसा होता नहीं, इस कारण 'तद्भिन्नत्व' का निवेश करना चाहिये।

असमवायिकारणम् ।' अभिप्राय यह है—तन्तुओं में समवेत और तुरीतन्तु-संयोग से अन्य होकर 'पट' का कारण होना ही पट का असमवायिकारण है। तुरी-तन्तुसंयोग तो तुरीपटसंयोग के प्रति असमवायिकारण है ही, एवं वेगादि संस्कार भी स्पन्दादि के प्रति असमवायिकारण हैं। तुरी-तन्तुसंयोग के बिना जो गुण किंवा क्रिया पटरूपी कार्य के साथ रहकर और समवाय-सम्बन्ध से तन्तुस्वरूपी द्रव्य में रहती हुई पटस्वरूपी कार्य को उत्पन्न करती है तब वह गुण किंवा क्रिया 'पट' के प्रति असमवायिकारण होती है। प्रथम जाना जाता है, बनन्तर इच्छा होती है, तदन्तर यत्न होता है, यह क्रम है। इस प्रतीति में ज्ञान, इच्छा के प्रति असमवायिकारण है और इच्छा, यत्न के प्रति असमवायिकारण है, परन्तु यह बात हो नहीं पाती, क्योंकि 'आत्मा के विशेष गुण ज्ञान, इच्छा आदि, किसी के प्रति असमवायिकारण होते ही नहीं। ऐसा नैयायिकों का सिद्धान्त है, किन्तु असमवायिकारण का सामान्य-लक्षण आत्मा के ज्ञान, इच्छा आदि विशेष गुणों में प्रसक्त हो रहा है। इस अति-प्रसक्ति के निवारणार्थ असमवायिकारण के इस सामान्य लक्षण में तद्-तद् विशेष गुणों का निषेध किया गया है। अर्थात् 'आत्मविशेषगुणभिन्नत्वे सति' ऐसा निवेश करते हुए लक्षण बनाना चाहिये। एवं च 'ज्ञानादिभिन्नत्वं' यह विशेषण, असमवायिकारण के सामान्य लक्षण में अवश्य देना ही चाहिये। असमवायिकारण के सामान्य लक्षण का आकार यह होगा—'आत्मविशेषगुण-भिन्नत्वे सति समवायिकारण प्रत्यासन्नं कारणम्—असमवायिकारणम्।' 'आत्म विशेषगुणभिन्नत्व का निवेश करने से इच्छा आदि के प्रति ज्ञानादि को तथा अनुमिति के प्रति परामर्श को असमवायिकारणता नहीं हो पाती। प्रत्येक कार्य के असमवायिकारण में निमित्त कारण तथा समवायिकारण का जो परस्पर संयोग है, उससे भिन्नत्व का निवेश करना चाहिये। एवं आत्मा के ज्ञानरूप विशेष गुण के प्रति आत्ममनःसंयोग को असमवायिकारणता तो अवश्य ही माननी होगी। और वही आत्ममनःसंयोग, यदि अन्य विशेष गुणों का भी असमवायिकारण बन सके तो 'आत्मविशेषगुणों' को परस्पर एक दूसरे के प्रति तथा किसी गुणान्तर के प्रति असमवायिकारण मानना व्यर्थ है।

अत्र समवायिकारणे प्रत्यासन्नं द्विविधं कार्यैकार्थप्रत्यासत्त्या कारणै-कार्थप्रत्यासत्त्या च । आद्यं यथा—घटादिकं प्रति कपालसंयोगादिकमसमवायि-कारणम् । तत्र कार्येण घटेन सह कारणस्य कपालसंयोगस्यैकस्मिन्कपाले प्रत्यासत्तिरस्ति । द्वितीयं यथा—घटरूपं प्रति कपालरूपमसमवायिकारणम् । तत्र स्वगतरूपादिकं प्रति समवायिकारणं घटः तेन सह कपालरूपस्यैकस्मिन्क-पाले प्रत्यासत्तिरस्ति । तथा च क्वचित्समवायसम्बन्धेन क्वचित्स्वसमवायिसम-वायसम्बन्धेनेति फलितोऽर्थः ।

इत्थं च कार्यैकार्थकारणैकार्थान्यतरप्रत्यासत्त्या समवायिकारणे प्रत्यासन्नं कारणं ज्ञानादिभिन्नमसमवायिकारणमिति सामान्यलक्षणं पर्यवसन्नम्।

असमवायिकारण उसे कहते हैं जो कारण 'समवायिकारण' में रहे। वह असमवायिकारण, समवायिकारण में दो प्रकार से रहता है। प्रथम प्रकार यह है 'कार्यैकार्थप्रत्यासत्त्या' कार्य के साथ एक अर्थ (अधिकरण) में रहना। जैसे––'घट' रूपकार्य के साथ 'कपालद्वय संयोग' रूप कारण, एक अर्थ (कपाल) में रहता है। अर्थात् घटरूपकार्य भी अपने समवायिकारणरूप 'कपाल' में रहता है। और उसी कपालरूप एक अधिकरण में 'कपालद्वयसंयोग भी एकार्थसमवेतत्वसम्बन्ध से रहता है। इस कारण 'कपालसंयोग' घटकार्य के प्रति—'कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति' द्वारा 'असमवायिकारण' हो जाता है। दूसरा प्रकार यह है—'कपालरूप', घटरूप के प्रति असमवायिकारण होता है यहाँ पर अपने रूप के प्रति समवायिकारण 'घट' है। उस 'घट' के साथ कपालात्मक एक अधिकरण में रूप का परम्परया 'एकार्थसमवेतत्व' सम्बन्ध है ही उसी प्रकार पटरूप के प्रति 'तन्तुरूप' की भी असमवायिकारणता समझनी चाहिये। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि 'प्रत्यासन्न' शब्द का अर्थ है कार्य के साथ असमवायिकारण का सामानाधिकरण्य। वह सामानाधिकरण्य दो प्रकार से होता है एक तो 'कार्यैकार्थरूप' और दूसरा 'कारणैकार्थरूप'। अतः 'कार्यैकार्थप्रत्यासत्त्या' का अर्थ हुआ 'कार्य के साथ एकाधिकरणसम्बन्ध से'। 'कारणैकार्थप्रत्यासत्त्या' का अर्थ हुआ 'कारण के साथ एकाधिकरणसम्बन्ध से'। 'घट' के प्रति 'कपालद्वय' संयोग' असमवायिकारण है, उस असमवायिकारण (कपालद्वयसंयोग) में रहने वाली कारणता का नियामक सम्बन्ध होगा 'समवाय', क्योंकि 'संयोग' गुण है और 'कपाल' द्रव्य (गुणी) है। गुण-गुणी का समवायसम्बन्ध होता है— यह नैयायिकों का सिद्धान्त है। उसी तरह 'घटरूप' के प्रति 'कपालरूप' असमवायिकारण है। उसमें (असमवायिकारण बने हुए कपालरूप में) रहने वाली कारणता का नियामकसम्बन्ध होगा 'स्वसमवायिसमवाय'। यहाँ 'स्व' शब्द से 'कपालरूप' को लेना चाहिये। उसका (कपालरूप का) समवायि होगा कपाल, उस कपाल में समवाय 'घट' का भी है क्योंकि 'अवयवावयविनोः सम्बन्धः समवायः' यह नैयायिकों का नियम है। अर्थात् कपालात्मक समवायिकारक में 'घट' समवेत है (समवायसम्बन्ध से रहता है)। एवं च 'स्वसमवायिसमवेतत्व' सम्बन्ध से कपालरूप को 'घट' में मानकर उसे 'घटरूप' के प्रति असमवायिकारण कहा जाता है। नैयायिकों का यह सिद्धान्त है कि 'कार्यकारणभाव' समानाधिकरणवाले पदार्थों का ही होता है। अर्थात् व्यधिकरणवाले (भिन्न-भिन्न अधिकरण में रहने वाले) पदार्थों का कार्यकारणभाव नहीं हुआ करता। जैसे—घट और कपालद्वयसंयोग इन दोनों का कपालात्मक एक अधिकरण में साक्षात् समवाय सम्बन्ध से सामानाधिकरण्य है। उसी तरह कपालरूप और

घटरूप इन दोनों का भी कपालात्मक एक अधिकरण में सामानाधिकरण्य है। उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में अन्तर इतना ही है कि एक का सामानाधिकरण्य 'साक्षात्' है, दूसरे का 'परम्परया' है। 'घट' में 'घटरूप' साक्षात् 'समवाय' सम्बन्ध से रहता है, किन्तु 'कपालरूप', 'घट' में परम्परया 'स्वसमवायिसमवेतत्व' सम्बन्ध से रहता है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो 'कपालरूप' कपाल में और 'घटरूप' घट में रहने से दोनों (कपालरूप और घटरूप) व्यधिकरण हैं, इस कारण दोनों का कार्यकारणभाव नहीं हो सकेगा।

इतना समझाने के बाद ग्रन्थकार स्वयं असमवायिकारण का निष्कृष्ट लक्षण 'इत्थञ्च' ग्रन्थ से बता रहे हैं। 'कार्य के साथ अथवा कारण के साथ समवायिकारणरूप एक अर्थ में अन्यतर (दोनों में से किसी एक) प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) से रहनेवाला जो ज्ञानादिभिन्न कारण, उसे असमवायिकारण कहते हैं।' यहाँ पर 'कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति'=समवायसम्बन्ध और 'कारणैकार्थप्रत्यासत्ति'=स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध को समझना चाहिये।

आभ्यां समवायिकारणासमवायिकारणाभ्यां परं भिन्नं कारणं तृतीयं निमित्तकारणमित्यर्थः ॥ १८ ॥

इति निमित्तकारणत्वनिरूपणम्।

—०—

अब 'निमित्तकारण के लक्षण को बताते हैं—'आभ्यामिति।' समवायिकारण तथा असमवायिकारण इन दोनों से भिन्न जो कारण, वह 'निमित्तकारण' नाम का तृतीय कारण है। जैसे—घट के प्रति दण्ड आदि, और पट के प्रति तुरी, वेमा आदि निमित्तकारण हैं। सूत्रवेष्टित नली को 'तुरी', और बुनने के दण्ड को 'वेमा' कहते हैं ॥ १८ ॥

इति निमित्तकारणत्वनिरूपणम्।

—०—

येन सह पूर्वभावः कारणमादाय वा यस्य।
अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम् ॥ १९ ॥
जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते।
अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः ॥ २० ॥
एते पञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम्।
घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम् ॥ २१ ॥
तृतीयं तु भवेद्व्योम कुलालजनकोऽपरः।
पञ्चमो रासभादिः स्यादेतेष्वावश्यकस्त्वसौ ॥ २२ ॥

इदानीमन्यथासिद्धत्वमेव कियतां पदार्थानामत आह—येनेति। यत्कार्यं प्रति कारणस्य पूर्ववृत्तिता येन रूपेण गृह्यते कार्यं प्रति तद्रूपमन्यथासिद्धमित्यर्थः। यथा घटं प्रति दण्डत्वमिति।

इति प्रथमान्यथाऽसिद्धनिरूपणम्।

—०—

'कारण' के लक्षण में 'अन्यथासिद्धिशून्यत्व' कहा गया था। अतः जिज्ञासा होती है कि वह अन्यथासिद्धत्व' क्या है? और वह कितने प्रकार का है? इस जिज्ञासा के समाधानार्थ 'इदानीम्' इत्यादिग्रन्थ को उपस्थित किया जा रहा है। अन्यथासिद्धि पाँच प्रकार की है, उनमें से यह १—पहली अन्यथासिद्धि है 'येन सह पूर्वभावः'। जिस कार्य के प्रति कोई वस्तु जिस स्वरूप से (धर्म से) कारण होती है, उस कार्य के प्रति उसका स्वरूप (धर्म) अन्यथासिद्ध है। 'येन सह पूर्वभावः' कहकर अन्यथासिद्धि के स्वरूपलक्षणोंको बताया गया है। 'घट' स्वरूप कार्य के प्रति दण्डत्व, दण्डरूप, आकाश कुलालपिता और रासभ ये पाँच अन्यथासिद्ध समझ जाते हैं। जिस कार्य के प्रति जो वस्तु जिस स्वरूप (धर्म) से कारण होती है, उस कार्य के प्रति उसका स्वरूप (धर्म) अन्यथासिद्ध समझा जाता है। भले ही वह वस्तु उस कार्य के प्रति पूर्ववर्ती हो। पूर्ववर्ती होने मात्र से ही वह उस कार्य के प्रति कारण नहीं हो सकती। जैसे—'घट' के प्रति 'दण्डत्व'। यहाँ पर 'घट' के प्रति 'दण्ड' को 'दण्डत्वेन' रूप से कारणता है, इसलिये 'घट' के प्रति 'दण्ड' तो कारण है, किन्तु 'दण्डत्व' अन्यथा सिद्ध है। क्योंकि 'घट' के प्रति 'दण्डत्व' का कोई उपयोग नहीं है। अर्थात् 'दण्ड' दण्डत्व रूप धर्म से 'घट' के प्रति कारण होता है। इस कारण 'घट' के प्रति 'दण्डत्व' अन्यथासिद्ध है। निष्कर्ष यह है कि जिस रूप से वह कारण बना है, उसका वह 'रूप' अन्यथा सिद्ध है। घट कार्य के प्रति 'दण्ड' किस रूप से कारण है? तो बताना होगा कि वह न तो 'पार्थिव' रूप से, या न किसी अन्य रूप से कारण है, अपितु 'दण्डत्व' रूप से ही वह (दण्ड) कारण है। अतएव 'दण्डत्व' को अन्यथासिद्ध स्वीकार कर लिया गया है। दूसरी बात यह है कि 'दण्डत्व' को कारण मानना निष्प्रयोजन भी है। इसी बात को न्याय की भाषा में इस तरह कहा जायगा—घटम्प्रति दण्डः कारणम्, कारणता दण्डनिष्ठा, तदवच्छेदको धर्मः दण्डत्वम्, अतः तत् (दण्डत्वम्) अन्यथासिद्धम्—एवञ्च 'कारणतावच्छेदकधर्मत्वं प्रथमम् अन्यथासिद्धमिति भावः।

अब द्वितीय अन्यथासिद्ध को बताते हैं—'कारणमादाय वा यस्य'।

द्वितीयमन्यथासिद्धमाह—कारणमिति। यस्य स्वातन्त्र्येणान्वयव्यतिरेकौ न स्तः किं तु कारणमादायैवान्वयव्यतिरेकौ गृह्येते तदन्यथासिद्धम्। यथा दण्डरूपम्।

इति द्वितीयमन्यथाऽसिद्धनिरूपणम्।

—०—

जिसका ग्रहण, कारण के ग्रहणपूर्वक हो, वह भी अन्यथा सिद्ध होता है। अर्थात् किसी कार्य के प्रति जिस वस्तु का अन्वय तथा व्यतिरेक स्वतन्त्ररूप से नहीं बन सकता, अपितु कारण को लेकर ही जिसके अन्वय-व्यतिरेक का निश्चय जिस कार्य के प्रति किया जाय, उस कार्य के प्रति वह वस्तु अन्यथासिद्ध है। जैसे—'घट' के प्रति 'दण्डरूप'। 'घट' के प्रति दण्डरूप का अन्वय—व्यतिरेक अपने कारण 'दण्ड' को लेकर ही बन पाता है, इसलिए 'दण्डरूप' भी 'घट' के प्रति 'दण्डत्व' की तरह अन्यथासिद्ध ही है। क्योंकि दण्ड का रूप 'दण्ड' से पृथक् नहीं किया जा सकता। 'अन्वय' का अर्थ है–'स्वाधिकरणे कार्यसत्त्वम्।' कार्य का अपने अधिकरण में होना। व्यतिरेक का अर्थ है--'स्वाभावाधिकरणे कार्यासत्त्वम्।' अपने अभाव के अधिकरण में कार्य का न होना। इसी अभिप्राय को संस्कृत में इस प्रकार कहा जायगा–'दण्डरूपं घटम्प्रति अन्यथासिद्धम्। दण्डरूपस्य घटम्प्रति न स्वतन्त्रतया पूर्वभावः, किन्तु स्वकारणस्य (दण्डरूपस्य समवायिकारणं दण्डः) दण्डस्य पूर्वभावं गृहीत्वैव दण्डरूपस्यापि घटम्प्रति पूर्वभावो गृह्यते, अतः दण्डरूपं घटोत्पत्तेः पूर्वक्षणे सदपि अन्यथासिद्धमेवेति भावः।

अब तृतीय अन्यथासिद्ध को बताते हैं—'अन्यम्प्रतिपूर्वभावे'।

तृतीयमाह—अन्यं प्रतीति। अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्य प्रत्यन्यथासिद्धत्वम्। यथा घटकादिकं प्रत्याकाशस्य। तस्य हि घटादिकं प्रति कारणत्वमाकाशत्वेनैव स्यात्। आकाशत्वं हि शब्दसमवायिकारणत्वम्। एवं च तस्य शब्दं प्रति जनकत्वं गृहीत्वैव घटादिकं प्रति जनकत्वं ग्राह्यमतस्तदन्यथासिद्धम्।

ननु शब्दाश्रयत्वेन तस्य कारणत्वे काऽन्यथासिद्धिरिति चेत्? पञ्चमीति गृहाण। नन्वाकाशस्य शब्दं प्रति जनकत्वे किमवच्छेदकमिति चेत्? कवत्त्वादिकं विशेषपदार्थो वेति॥ १९॥

इति तृतीयकन्यथासिद्धनिरूपणम्।

—०—

किसी अन्य कार्य के प्रति जिसके कारणत्व (पूर्ववृत्तित्व) का ग्रहण करने के अनन्तर ही जिस कार्य के प्रति उसके कारणत्व का ग्रहण किया जाता है, वह उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। जैसे—घट के प्रति आकाश। 'आकाश' नित्य और व्यापक है। अतः वह कार्य मात्र के प्रति नियत पूर्ववर्ती है। एवं च 'घट' के प्रति भी नियतपूर्ववर्तित्वस्वरूप कारणत्व आकाश में सिद्ध ही है। परन्तु घट के प्रति 'अकाश' को आकाशत्वेनरूपेण कारण मानना होगा। तब 'आकाशत्व' क्या वस्तु है? यह पूछने पर कहना होगा कि 'शब्दसमवायिकारणत्व'। एवं च 'शब्दसमवायिकारणत्व' कहने मात्र से ही 'शब्द' का कारण 'आकाश' है, यह सिद्ध हो जाता है।

इस रीति से 'आकाश' में शब्द के प्रति कारणता (जनकत्व-ता) का निश्चय करके ही घटादिकार्य के प्रति उसमें कारणता (जनकता) का निश्चय कर पाते हैं। ऐसी स्थिति में 'शब्द' के प्रति ही 'आकाश' को कारण माना जाता है और घटादि के प्रति उसे अन्यथासिद्ध ही कहा जाता है।

शंका—आकाश को शब्दसमवायिकारण के रूप में घट के प्रति पूर्ववृत्ति कहने पर 'शब्द' के प्रति आकाश की कारणता गृहीत हो जाती है और घट के प्रति आकाश को अन्यथासिद्ध समझा जाता है, किन्तु 'आकाश' को यदि 'शब्दाश्रय' कहा जाय तब तो 'आकाश' को 'शब्द' का कारण नहीं कह सकते, क्योंकि आकाश तो 'शब्द' का आश्रय प्रतीत होता है, न कि कारण। यदि हम 'आकाश' को 'शब्दाश्रयत्वेन' रूपेण 'घट' के प्रति कारण कहें तो पाँच अन्यथासिद्धों में से वह (आकाश) किस श्रेणी का अन्यथासिद्ध कहलायेगा ?

समा०—वह (आकाश) तीसरे अन्यथासिद्ध के लक्षण में न आकर पञ्चम अन्यथासिद्ध होगा। इस पञ्चम अन्यथासिद्ध को आगे बताया जायगा। अभिप्राय यह है कि 'आकाशः शब्दसमवायिकारणम्' इस लक्षण को त्याग कर आकाशः शब्दाश्रयः' यह लक्षण करें तब भी वह (आकाश) 'घट' के प्रति अन्यथासिद्ध ही रहेगा। क्योंकि अवश्य नियत पूर्ववर्ती कारण से ही कार्योत्पत्ति यदि हो जाती है तो उसके अतिरिक्त सभी कुछ कार्योत्पत्ति के प्रति अन्यथासिद्ध हो जाता है।

शंका—'घट' के प्रति 'आकाश' भले ही कारण न हो, किन्तु 'शब्द' के प्रति तो वह (आकाश) कारण है ही। तब आकाश में रहनेवाली 'कारणता' का 'अवच्छेदक' धर्म कौन होगा ? कारणता का अवच्छेदक धर्म तो अवश्य ही मानना होगा क्योंकि 'निरवच्छिन्नायाः कारणताया असम्भवात्'—'कारणता' कभी भी अवच्छेदक धर्म से रहित नहीं होती।

समा०—'निरवच्छिन्नकारणताया असभवात्' इस नियम के अनुरोध से आकाशीयसमवायिकारणता (आकाश में रहने वाली शब्द की समवायिकारणता) का अवच्छेदक धर्म[1] 'कवत्त्व' 'खवत्त्व' 'गवत्त्व' आदि समझना चाहिये। अर्थात् कारणतावच्छेदक धर्म हुआ 'कवत्त्व' 'खवत्त्व' आदि।

यहाँ ज्ञातव्य विषय यह है कि 'शब्द' की कारणता आकाश में रहती है, उस कारणता का अवच्छेदक (भेददर्शक = भेदक) कोई धर्म तो मानना ही होगा। वह कौन सा धर्म होगा ? यह जिज्ञासा होने पर, वह धर्म 'आकाशत्व' है, यह कहें तो 'आकाशत्व'—शब्द की कारणतास्वरूप ही होगा। तब शब्दकारणतास्वरूप 'आकाशत्व' और तद्भेदक (कारणता का भेदक) 'आकाशत्व' ये दोनों एक ही

(१) कः = ककारः विद्यते समवायेन अस्मिन् इति 'कवत्' तद्भावः कवत्त्वम्'। इसी तरह 'खवत्त्व' 'गवत्त्व' आदि को भी समझना चाहिये।

होंगे,[1] ऐसी स्थिति में दोनों का भेद नहीं समझा जा सकेगा। एवच 'दुर्ज्ञेयत्व' रूप दोष का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः उस कारणता के भेद को प्रदर्शित करने वाले 'क' 'ख' इत्यादि अक्षरों को गाना गया है। एवंच शब्दसमवायिकारणतावच्छेदक 'कवत्त्व' होगा,[2] 'आकाशत्व' नहीं। 'क' यह जो वर्णात्मक शब्द है, तद्वान् 'आकाश' ही होगा अर्थात् 'क' वान् 'आकाश' हुआ, और आकाश ही शब्दमात्र का समवायि कारण है तब कारणतावच्छेदक 'कवत्त्व' होगा, क्योंकि कारण में रहने वाला धर्म ही कारणतावच्छेदक होता है।

शंका—आपने जैसे 'कवत्त्व' को शब्दकारणता का अवच्छेदक माना, वैसे ही विनिगमनाविरहात् 'खवत्त्व' 'गवत्त्व' आदि को भी 'कारणतावच्छेदक' माना जा सकता है। क्योंकि 'क'—वान् की तरह 'ख' वान् अर्थात् 'ख' शब्दवान् भी आकाश है। वैसे ही 'ग' वान् (गशब्दवान्) भी आकाश है तब 'कवत्त्व' 'खवत्त्व' ये सभी कारणतावच्छेदक धर्म हो सकते हैं।

समा०—ककार, खकार आदि वर्ण तो अनेक तथा अनित्य हैं, उनको अवच्छेदक मानने में गौरव होगा। अतः अनेक वर्णों को कारणतावच्छेदक मानने की अपेक्षा एक विशेष पदार्थ को ही आकाशनिष्ठ शब्दजनकता (कारणता) का अवच्छेदक मान लेना उचित होगा। तात्पर्य यह है कि 'कवत्त्व' आदि को अवच्छेदक मानने में गौरव होगा। अर्थात् नाना वर्णों में कारणतावच्छेदकता को मानने पर शरीरकृत गौरव होगा और विनिगमना विरह भी है। इस अस्वारस्य के कारण ग्रन्थकार ने कहा—'विशेषपदार्थो वा' इति। 'विशेष' संज्ञक पदार्थ ही शब्दनिरूपित आकाशनिष्ठकारणता का अवच्छेदक (इतरव्यावर्तक) है, यह मानलेने पर कोई किसी प्रकार का दोष नहीं है।

चतुर्थमन्यथासिद्धमाह--जनकं प्रतीति। यत्कार्यंजनकं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम्। यथा कुलालपितुर्घटं प्रति। तस्य हि कुलालपितृत्वेन घटं प्रति जनकत्वे एवान्यसिद्धिः-कुलालत्वेन जनकत्वेत्विष्टापत्तिः, कुलालमात्रस्य घटं प्रति जनकत्वात्।

इति चतुर्थान्यथासिद्धनिरूपणम्।

--:०:--

अब चतुर्थ अन्यथासिद्ध को प्रदर्शित करते हैं--जनकम्प्रतिपूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते।' जो वस्तु जिस कार्य के उत्पादक के प्रति कारण है उसे जानकर

(१) शब्दस्य समवायिकारणमाकाशः, कारणता आकाशनिष्ठा, कारणतावच्छेदकमाकाशत्वम्, आकाशत्वञ्च शब्दसमवायिकारणतैव। तथाच--स्वावच्छेदकं स्वमेव प्राप्तम् तच्च अनुपपन्नम्, अवच्छेद्यावच्छेदकभावस्य भेदनियतत्वात्।

(२) शब्दसमवायिकारणता 'कवति', शब्दसमवायिकारणतावच्छेदकं 'कवत्त्वम्' न तु आकाशत्वं, येन शब्दसमवायिकारणतैव अवच्छेदिका स्यात्।

बाद में वह वस्तु उस कार्य के प्रति कारण है ऐसा समझने से उस कार्य के प्रति वह वस्तु अन्यथासिद्ध समझी जाती है। इसी को न्याय की भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं––'स्वजन्यतानिरूपितजनकतानिरूपितजनकतावत्त्वं' चतुर्थमन्यथासिद्धमिति। जैसे––घट कार्य के प्रति कुलालपिता। घटकार्य के प्रति कुलाल ही कारण है, अतः उसका (कुलाल का) पिता घट के प्रति अन्यथासिद्ध समझा जाता है। कुलाल का पिता अपने पुत्र कुलाल की उत्पत्ति का कारण है, यह जानने के अनन्तर कुलाल के पिता को कुलालपितृत्त्वेन रूपेण घट के प्रति यदि कारण मानें तो वह कुलालपितृत्वेन रूपेण घट के प्रति अन्यथासिद्ध ही है। तात्पर्य यह है कि कुलाल का पिता समझकर घट के प्राति यदि उसे (पिता को) कारण माना जाय अर्थात् जब कि यह (पिता) घट के कारण (कुलाल) का भी––कारण है तो उसे 'घट' का कारण अवश्य ही मानना चाहिये, किन्तु उसे घट का कारण नहीं माना जाता अपितु उसे अन्यथासिद्ध ही माना जाता है। और वही कुलालपिता यदि कुलालत्वेनरूपेण (कुलालस्वरूप से) घट के प्रति कारण माना जाय अर्थात् यह कुलाल है ऐसा समझकर यदि उसे (पिता को) घट के प्रति कारण कहा जाय तो कोई आपत्ति नहीं है, वह तो अभीष्ट ही है, क्योंकि सभी कुलाल घट के प्रति कारण होते ही हैं। यदि किसी कुलाल ने आजतक किसी घट का निर्माण ही नहीं किया हो, फिर भी उसमें घट निर्माण की स्वरूप-योग्यतारूप कारणता रहती ही है। निष्कर्ष यह है कि बाप और बेटा ये दोनों ही कुम्हार (कुलाल) हैं ऐसा मानकर यदि बाप में कारणता कही जाय तो कोई दोष नहीं है।

पञ्चममन्यथासिद्धमाह––अतिरिक्तमिति। अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसम्भवे तद्भिन्नमन्यथासिद्धमित्यर्थः। अत एव प्रत्यक्षे महत्त्वं कारणम्। अनेकद्रव्यवत्त्वमन्यथासिद्धम्। तत्र हि महत्त्वमवश्यक्लृप्तं तेनानेकद्रव्यवत्त्वमन्यथासिद्धम्।

न च वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, महत्त्वत्वजातेः कारणतावच्छेदकत्वे लाघवात् ॥ २०-२१ ॥

अब पञ्चम अन्यथासिद्ध को बताते हैं—'अतिरिक्तमथापि यद् भवेत् नियतावश्यकपूर्वभाविनः' ॥ २० ॥ नियम से कार्य के पूर्व रहनेवाले के अतिरिक्त जो हो उसे पञ्चम अन्यथासिद्ध कहते हैं। घटोत्पत्ति में दण्ड, चक्र, चीवर, कुलाल, मृत्तिका आदि अवश्य तथा निश्चित हैं और नियम से घट के पूर्व रहनेवाले हैं, इनसे ही घटादिकार्य का होना यदि संभव है, तो इनके अतिरिक्त जो भी हों वे सब घटादिकार्य के प्रति अन्यथासिद्ध समझे जाते हैं। अभिप्राय यह है कि कार्योत्पत्ति में नियतपूर्ववर्ती होने के साथ साथ जिसका स्वीकार किया जाना आवश्यक रहता है, उसे तो उस कार्य का कारण कहते हैं और तदतिरिक्त जो हो उसे उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध कहते हैं। अतएव प्रत्यक्ष में 'महत्त्व' (महत्परिमाण) को कारण

बताया गया है और 'अनेकद्रव्यवत्त्व' (अनेक अवयवभूतद्रव्यों से निर्मित होना) को अन्यथासिद्ध कहा है। क्योंकि वहाँ (प्रत्यक्षात्मक कार्य में) महत्त्व (महत्-परिमाण) को तो अवश्य ही मानना पड़ता है उसके बिना माने काम नहीं चलता इसलिये प्रत्यक्षात्मक कार्य के प्रति वही (महत्त्व) कारण कहा जाता है और 'अनेकद्रव्यवत्त्व' का होना वैसा आवश्यक न होने से उसे अन्यथासिद्ध माना गया है। किसी कार्य की उत्पत्ति में कम से कम वस्तु का पर्याप्त होना ही 'आवश्यक, पदार्थ है। अर्थात् जिसमें कल्पना का लाघव हो उसी को आवश्यक कहते हैं और वही 'कारण' होता है। इसके अतिरिक्त सभी अन्यथासिद्ध रहते हैं। सभी वस्तुओं के प्रत्यक्ष में उन वस्तुओं का 'महत्त्व' कारण होता है। महत्त्व (महत्परिमाण) के बिना किसी वस्तु का प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। इसीलिये तो 'अणु' तथा 'द्वचणुक' का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, क्योंकि अणु तथा 'द्वचणुक' में महत्परिमाण नहीं है। एवंच प्रत्यक्ष के होने में 'महत्त्व' का होना नितान्त आवश्यक है।

शंका—प्रत्यक्ष के होने में 'महत्त्व' जैसे नियतपूर्ववर्ती है वैसे ही 'अनेकद्रव्यवत्त्व'[1] धर्म भी नियत पूर्ववर्ती है, क्योंकि प्रत्यक्ष होनेवाले सभी द्रव्य, सावयव हुआ करते हैं यानी अनेकद्रव्यों से बनते हैं। अतः अनेक द्रव्यवत्त्व को भी प्रत्यक्ष का कारण क्यों न कहा जाय ?

समा०—पहले बता चुके हैं कि किसी भी द्रव्य के प्रत्यक्ष होने में 'महत्त्व' का रहना आवश्यक होता है, जब उसी से काम चल जाता है, तब एक और को मानने की कोई आवश्यकता नहीं होती। अतः अनेक द्रव्यवत्त्व को अन्यथासिद्ध माना गया है।

शंका—जबकि दोनों (महत्त्व और अनेक द्रव्यवत्त्व)—प्रत्यक्षात्मक कार्य के नियतपूर्ववर्ती हैं तो हम विपरीत ही क्यों न मान लें ? अर्थात् अनेक द्रव्यवत्त्व के ही कारण मान लें और 'महत्त्व' को अन्यथासिद्ध कह लें ? तो क्या हानि है ? ऐसी शंका करने पर सिद्धान्ती के पास अपने पक्ष के समर्थन में क्या विनिगमक है ?

समा०—यदि हम प्रत्यक्ष के होने में महत्परिमाण (महत्त्व) को कारण कहें, तो महत्त्व (महत्परिमाण) गुण है, उसमें 'महत्त्वत्व' जाति रहेगी, और वही कारणतावच्छेदक' हो जायगी। यदि 'अनेकद्रव्यवत्त्व' को प्रत्यक्ष का कारण कहेंगे तो कारणतावच्छेदक 'अनेकद्रव्यवत्त्वत्व' होगा। किन्तु वह कोई 'जाति' नहीं है बल्कि अनेक पदार्थों से बनी हुई 'उपाधि' है। उपाधि की अपेक्षा जाति को अवच्छेदक मानने में लाघव माना जाता है। क्योंकि 'जाति' तो एक बाह्य पदार्थ है और 'उपाधि' अनेक वस्तुओं से बनती है। पहले कह चुके हैं कि आवश्यक वही होता है, जिसकी कल्पना में लाघव हो। अतः महत्त्व ही आवश्यक होने से कारण

(१) अनेक द्रव्यों से बना होना, अनेक द्रव्यों में समवेत होना।

कहा जा सकता है और उससे भिन्न 'अनेकद्रव्यवत्त्व'[१] अन्यथा सिद्ध होगा। यही उपर्युक्त विनिगमक सिद्धान्ती के पास है। 'नियतावश्यक पूर्वभाविनः' यहाँ कर्मधारय समास है—नियतश्चासौ आवश्यकः पूर्वभावी च तस्य। अन्यथासिद्ध का यही सामान्यलक्षण हुआ कि 'नियतावश्यक—पूर्वभाविभिन्न यत् स (पञ्चमः) अन्यथासिद्धः।' एवञ्च—'अन्यथासिद्धिशून्यत्वे सति कार्यनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम्' यह कारण का सामान्य लक्षण है। 'कारण' और 'अन्यथासिद्ध' को समझने के साथ ही साथ एक बात और भी समझने की है कि 'लाघव' के तीन प्रकार होते है—(१) शरीरकृत, (२) उपस्थितिकृत, (३) सम्बन्धकृत। प्रत्यक्ष के प्रति अनेकद्रव्यवत्त्व की अपेक्षा 'महत्त्व' को कारण मानने में 'शरीरकृत' लाघव है। गन्ध के प्रति 'रूपप्रागभाव' की अपेक्षा 'गन्धप्रागभाव' को कारण मानने में 'उपस्थितिकृतलाघव' है, क्योंकि रूप की अपेक्षा प्रतियोगिरूप गन्ध की शीघ्र उपस्थिति होती है। घट के प्रति 'दण्डत्व' या 'दण्डरूप' की अपेक्षा 'दण्ड' को कारण मानने में 'सम्बन्धकृतलाघव' होता है, क्योंकि दण्ड का संयोग सम्बन्ध साक्षात् होने के कारण प्रथम उपस्थित होता है, और दण्डत्वादिकों का 'स्वसमवायिदण्डसंयोगसम्बन्ध' तो परम्परया गुरुभूत होने से विलम्ब से उपस्थित होता है।

अन्यथासिद्धों के क्रमशः उदाहरणों को मूलकार ने 'एते पञ्चान्यथासिद्धाः' इत्यादि ग्रन्थ से बताया है।

रासभादिरिति। यद्यपि यत्किञ्चिद्घटव्यक्तिं प्रति रासभस्य नियतपूर्ववर्त्तित्वमस्ति, तथापि घटजातीयं प्रति सिद्धकारणभावैर्दण्डादिभिरेव तद्व्यक्तेरपि सम्भवे रासभोऽन्यथासिद्ध इति भावः।

एतेष्विति। एतेषु पञ्चस्वन्यथासिद्धेषु मध्ये पञ्चमोऽन्यथासिद्ध आवश्यकः, तेनैव परेषां चरितार्थत्वात्। तथाहि—दण्डादिभिरवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिभिरेव कार्यसम्भवे दण्डत्वादिकमन्यथासिद्धम्।

न च वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, दण्डत्वस्य कारणत्वे दण्डघटितपरम्परायाः सम्बन्धत्वकल्पने गौरवात्। एवमन्येषामप्यनेनैव चरितार्थत्वं सम्भवतीति बोध्यम् ॥ २१-२२ ॥

इति पञ्चविधान्यथासिद्धनिरूपणम्।

———

ये पूर्वोक्त पाँच अन्यथासिद्ध हैं, अर्थात् कारण न होकर सिद्ध हैं। इन पाँच अन्यथासिद्धों में से 'दण्डत्व' प्रथम अन्यथासिद्ध है। घटोत्पत्तिरूप कार्य में 'दण्डरूप' आदि द्वितीय अन्यथासिद्ध है। उसी प्रकार घटादि-कार्य के प्रति 'व्योम' (आकाश)

(१) अनेकद्रव्यत्व' भी पाठान्तर उपलब्ध होता है। अतः इस पाठ के पक्ष में 'अनेक द्रव्य हों जिसमें' यह बहुव्रीहि करने से वही अर्थ होगा जो अनेक द्रव्यवत्त्व का होता है।

तृतीय अन्यथासिद्ध है। उसी तरह घटादि-कार्य में 'कुलालपिता' चतुर्थ अन्यथा-'सिद्ध है। और घटादि-कार्य के प्रति 'रासभ' (गधा) प्रभृति पञ्चम अन्यथासिद्ध है। कहीं किसी घट के बनाने के समय किसी गधे पर मिट्टी लादकर ले भी आये या उस समय कोई गधा अचानक उपस्थित हो भी जाय तथापि समस्त घटों के प्रति तो उसका उपस्थित हो जाना सम्भव नहीं, इस कारण घट के प्रति दण्डादिक ही कारण हैं और गर्दभ (रासभ) अन्यथासिद्ध है अर्थात् निष्प्रयोजन है।

पूर्वोक्त पाँच प्रकार के 'अन्यथासिद्धों' में 'पञ्चम अन्यथासिद्ध' आवश्यक है। इस पञ्चम अन्यथासिद्ध का जो लक्षण है वह शेष चारों अन्यथासिद्धों में भी घट सकता है।

शंका०—पञ्चम अन्यथासिद्ध के लक्षण में चारों अन्यथासिद्धों के लक्षण यदि अन्तर्भूत हो जाते हैं तो चारों के लक्षणों को बताने की क्या आवश्यकता थी ?

समा०—चार अन्यथासिद्धों के लक्षणों को बताने की आवश्यकता यह थी कि पढ़नेवाले बालकों (विद्यार्थियों) की बुद्धि विशद हो जाय।

अब पाँचवें अन्यथासिद्ध के लक्षण में ही चारों अन्यथासिद्धों के उदाहरण इस प्रकार हैं—अवश्यक्लृप्त नियतपूर्ववर्ती दण्ड-चक्र-चीवर आदि से ही 'घट' हो सकता है तो उसके प्रति (घट के प्रति) दण्डत्व, दण्डरूप अन्यथासिद्ध हैं।

शंका०—यदि कोई इसके विपरीत अर्थात् 'दण्डत्व' कारण है और 'दण्ड' अन्यथासिद्ध है, कहने लग जाय तो सिद्धान्ती के पास निर्णायक युक्ति (विनिगमक) क्या होगी ?

समा०—इस प्रकार शंका करना उचित न होगा, क्योंकि 'दण्डत्व' को कारण यदि कहेंगे तो 'दण्ड' के द्वारा परम्परा सम्बन्ध की (कारणतावच्छेदकसंबन्ध की) कल्पना करने में गौरव होगा। अर्थात् 'दण्डत्व' घट के प्रति साक्षात् कारण तो हो नहीं सकता, बल्कि वह (दण्डत्व) दण्ड के द्वारा ही कारण बन सकेगा। 'दण्ड' तो घट के प्रति 'स्वजन्यभ्रमण' (स्वजन्यभ्रमिवत्तासम्बन्ध) के द्वारा अर्थात् दण्ड से उत्पन्न हुए चक्कर के द्वारा कारण होता है. सभी ने देखा ही होगा कि कुलाल दण्डे से चाके को घुमाकर ही घट बनाता है। इसलिए 'दण्ड' 'स्वजन्यभ्रमि' द्वारा घटका कारण होता है। किन्तु 'दण्डत्व' 'स्वाश्रयजन्यभ्रमण' (स्वाश्रयजन्यभ्रमिवत्ता-सम्बन्ध) के द्वारा घट का कारण कहा जा सकेगा, साक्षात् नहीं। 'स्व' शब्द से 'दण्डत्व' उसका आश्रय 'दण्ड' उससे उत्पन्न हुए भ्रमण (स्वाश्रयजन्यभ्रमिवत्ता-सम्बन्ध) के द्वारा वह (दण्डत्व) कारण कहलायगा। एवं च 'दण्डत्व' की कारणता 'दण्ड' के द्वारा होती है। ऐसी स्थिति में 'दण्डत्व' के इस कारणता-वच्छेदक-सम्बन्ध में स्वाश्रयतया जबकि 'दण्ड' प्रविष्ट है ही तो लाघवात् 'दण्ड' को ही कारण क्यों न माना जाय, क्योंकि दण्ड के कारणतावच्छेदकसम्बन्ध में 'दण्डत्व' का प्रवेश नहीं है, यही लाघव है। इसी पद्धति से शेष अन्यथासिद्धों को भी इस पञ्चम से ही चरितार्थ समझना चाहिए।

यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि सामान्यतया कारण दो प्रकार का होता है—एक साधारण और दूसरा असाधारण। कार्यमात्र के प्रति जो कारण है उसे साधारण कारण कहते हैं। ये साधारण कारण आठ हैं—ईश्वर, उसका ज्ञान, इच्छा, कृति, प्रागभाव, काल, दिक्, अदृष्ट (धर्माधर्म)। कुछ लोग 'प्रतिबन्धक-सामान्याभाव' को भी नवम साधारण कारण कहते हैं।

किसी कार्य विशेष के प्रति जो कारण हो उसे असाधारण कारण कहते हैं। जैसे–पट के प्रति तन्तु, घट के प्रति कपालादि। इसी प्रसंग में एक विशेषता और भी ध्यान रखने योग्य है। एक कारणता समुदाय में विश्रान्त रहती है जैसे—घट के प्रति दण्डादिनिष्ठा कारणता, इसी को 'दण्डचक्रादिन्यायेन कारणता' कहते हैं। दण्डादिकों में से किसी एक कारण के भी न होने पर घटोत्पत्ति नहीं हो सकती। और दूसरी कारणता वह है, जो प्रत्येक में विश्रान्त, है। जैसे—वह्नि के प्रति तृणारणिमणिसयोगनिष्ठा कारणता। इसी को तृणारणिमणिन्यायेन कारणता कहते हैं। तृणादि कहते हैं। तृणादि कारणों में से किसी एक कारण के रहने पर भी वह्नि की उत्पत्ति हो सकती है॥ २२॥

इति पञ्चमान्यथासिद्धनिरूपणम्।

समवायिकारणवत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्।
गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम्॥ २३॥

'समवायिकारणत्व' अर्थात् समवायिकारण होना, यह केवल द्रव्य का साधर्म्य है। निष्कर्ष यह हुआ कि समवायिकारण केवल द्रव्य ही होगा, द्रव्य के अतिरिक्त कोई भी समवायिकारण नहीं हो सकता। और 'असमवायिकारणत्व' अर्थात् असमवायिकारण होना गुण-कर्म का साधर्म्य है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि असमवायिकारण गुण, कर्म ही होते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म तीनों का समवायिकारण 'द्रव्य' ही होता है। वह (द्रव्य) कभी भी असमवायिकारण नहीं होता और सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव तो किसी प्रकार के भी कारण नहीं होते। असमवायिकारण केवल गुण-कर्म ही होते हैं। जैसे—घट का असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग' तथा पटरूप का असमवायिकारण 'तन्तुरूप' होता है। ये दोनों (संयोग और रूप) असमवायिकारण 'गुण' हैं। इसी तरह कर्म (क्रिया) संयोग-विभाग का असमवायिकारण होता है। कोई पक्षी उड़कर वृक्ष पर बैठता है, तब 'पक्षी' वृक्ष पर बैठता है, तब 'पक्षी' वृक्ष संयोगरूपी कार्य का असमवायिकारण पक्षी उड्डयन क्रिया है, क्योंकि उस संयोग का समवायिकारण वृक्ष और पक्षी दोनों हैं। उनमें से एक समवायिकारण (पक्षी) में क्रिया (उड्डयन) समवेत है, इस रीति से पक्षी में संयोगरूपकार्य और उसका असमवायिकारण (कर्म)

दोनों वर्तमान (प्रत्यासन्न) है। एवंच असमवायिकारणका लक्षण (समवायिकारणे आसन्नं प्रत्यासन्नं कारणम् असमवायिकारणम्) कर्म (क्रिया) में संगत होता है।

समवायीति स्पष्टम्।

गुणकर्मेति। असमवायिकारणत्वं गुणकर्मभिन्नानां वैधर्म्यं न तु गुणकर्मणोः साधर्म्यमित्यत्र तात्पर्यम्। अथवा असमवायिकारणवृत्तिसत्ताभिन्न जातिमत्त्वं तदर्थः तेन ज्ञानादीनामसमवायिकारणत्वविरहेऽपि न क्षतिः॥ २३॥

इति समवाय्यसमवायिकारणत्वरूपसाधर्म्यद्वयकथनम्।

शंका—आत्मा के ज्ञानादि विशेषगुण कहीं भी असमवायी नहीं होते हैं, इसलिये असमवायिकारण के सामान्य लक्षण में 'ज्ञानादिभिन्नत्व' विशेषण देकर अव्याप्ति का निवारण किया जा चुका है। इस कारण उपर्युक्त असमवायिकारणत्व साधर्म्य की ज्ञानादि में अव्याप्ति हो रही है।

समा०—उपर्युक्त आशङ्का का दो प्रकार से समाधान किया जा सकता है। एक समाधान तो यह है—ऊपर जो कहा गया था कि 'असमवायिकारणत्व-गुण-कर्म का साधर्म्य है' अर्थात् गुण-कर्म हमेशा असमवायिकारण ही होते हैं, उसका तात्पर्य यह है कि 'असमवायिकारणत्व' गुण-कर्मों से जो भिन्न (अतिरिक्त) हैं, उनका वैधर्म्य है। अर्थात् गुण-कर्म से भिन्न पदार्थ असमवायिकारण कदापि नहीं होते। साधर्म्य बताने में तात्पर्य नहीं है। अतः ज्ञानादि में अव्याप्ति होने का कोई प्रश्न ही नहीं है।

शंका साधर्म्य के प्रसंग में वैधर्म्य को बताना कहाँ तक संगत है?

समा० असमवायिकारण में रहनेवाली जो सत्ताभिन्न जाति, तादृशजातिमत्त्व ही असमवायिकारणत्व है। जैसे—तन्तुसंयोग, पट के प्रति असमवायिकारण है। उस तन्तुसंयोग में रहनेवाली सत्ताभिन्नजाति गुणत्व' जाति, तद्वत्ता समस्त गुणों में है अर्थात् ज्ञानादि में भी है, क्योंकि ज्ञानादि भी गुणत्वजातिमान् हैं। अतः ज्ञानादि में असमवायिकारणता न होने पर ज्ञानादि में असमवायिकारणत्व साधर्म्य की अव्याप्ति नहीं है। अपितु उनमें भी (ज्ञानादि में भी) ऊपर कहा हुआ साधर्म्य उपलब्ध होता है॥ २३॥

अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते।

नित्य द्रव्यों (पृथिव्यादि चार के परमाणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये छह नित्य द्रव्य हैं) से भिन्न पदार्थों (अनित्यद्रव्य और गुणादिकों) का साधर्म्य 'आश्रितत्व' (किसी दूसरे में रहना) है।[1]

---

(१) क्योंकि ये नित्यद्रव्य किसी अन्य पदार्थ में नहीं रहते। (शंका) ये नित्य-द्रव्य अन्य पदार्थ में क्यों नहीं रहते?

समा० यह नियम है कि 'द्रव्य अपने अवयवों में रहा करता है' इस नियम के

शंका०—कालिक विशेषणता (कालिक संबंध) से नित्यद्रव्य भी काल आदि में रहते हैं। अतः नित्य पदार्थों का भी आश्रितत्व साधर्म्य होगा। किन्तु इनमें 'आश्रितत्व' साधर्म्य नहीं माना गया है अतः अव्याप्ति होगी।

समा०—यहाँ पर आश्रितत्व का अर्थ 'समवाय, संयोग सम्बन्ध से रहना' किया जाता है। क्योंकि ये दो सम्बन्ध ही मुख्यतया वृत्तिनियामकसम्बन्ध[1] कहे जाते हैं। इन्हीं दो सम्बन्धों का वाह्य वस्तु रूप से अस्तित्व माना गया है। काल और दिक् में सभी पदार्थ जो रहते हें, वे इन दोनों में से किसी सम्बन्ध से नहीं रहते, अपितु 'दैशिक विशेषणता' सम्बन्ध से रहते हैं, जो मुख्य सम्बन्ध नहीं है।

नित्यद्रव्याणि परमाण्वाकाशादीनि विहायाश्रितत्वं साधर्म्यमित्यर्थः। आश्रितत्वं तु समवायादिसम्बन्धेन वृत्तिमत्त्वम्, विशेषणतया नित्यानामपि कालादौ वृत्तेः।

कालिकसम्बन्धान्यसम्बन्धेनावृत्तित्वमिति परमार्थः तेन समवायेनावृत्तावपि न क्षतिः।

इति नित्यद्रव्यातिरिक्तसाधर्म्यकथनम्।

परमाणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इन नित्य द्रव्यों के बिना बाकी सब पदार्थ किसी आश्रय पर रहकर ही योग्य होते हैं। इस कारण नित्यद्रव्यों के बिना बाकी बचे सब पदार्थों का आश्रितत्व (किसी पदार्थ में रहना) साधर्म्य है। यहाँ पर आश्रितत्व का अर्थ समवायादि सम्बन्ध से रहना है। इसका तात्पर्य यह है कि 'कालिक-विशेषणता'[2] संज्ञक सम्बन्ध के विना बाकी किसी न किसी सम्बन्ध से रहना। ऐसा अर्थ यदि न करें तो नित्य द्रव्य भी कालिकविशेषणता सम्बन्ध से काल में रहते हैं (उस द्रव्य पर आश्रित होते हैं) तब अतिव्याप्ति का प्रसंग प्राप्त होगा। जब आश्रितत्व का अर्थ 'समवाय-सम्बन्ध से रहना' करते हैं तब 'समवाय' तथा 'अभाव' ये दोनों, नित्य द्रव्यों से भिन्न पदार्थ हैं उनमें आश्रितत्व न रहने से अतिव्याप्ति का प्रसंग प्राप्त न हो सकेगा। निष्कर्ष यह निकला कि ऐसा स्वीकार करने से अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोनों दोष नहीं होते।

अनुसार इसे भी अपने अवयव में ही रहना चाहिये लेकिन परमाणु, आकाश आदि नित्यद्रव्यों के अवयव नहीं हुआ करते, यह भूलना नहीं होगा। इसलिए ये नित्यद्रव्य किसी दूसरे द्रव्य (पदार्थ) में नहीं रहते कहा गया था। किन्तु नित्यद्रव्यों को छोड़कर शेष सभी पदार्थ किसी अन्य आश्रय में रहते हैं। जितने भी अनित्य द्रव्य हैं, वे अपने अवयवों से बने हैं। अतः वे अपने अवयवरूप द्रव्यों में रहते हैं। गुण, कर्म दोनों द्रव्यों में रहते हैं, जाति (सामान्य) व्यक्ति में रहती है, विशेष, नित्यद्रव्य में और समवाय, द्रव्यादि में रहता है।

(१) वृत्तिनियामकः=वृत्तेः आधेयताया नियामकः अवच्छेदकः गमकः इति यावत्।

(२) 'कालिकविशेषणता' यह काल के साथ पदार्थों का एक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध से सब पदार्थ काल में रहते हैं।

क्षित्यादीनां नवानां तु द्रव्यत्वं गुणयोगिता ॥ २४ ॥

इति नवद्रव्यसाधर्म्यंकथनम् ।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन नौ द्रव्यों का साधर्म्य द्रव्यत्व और गुणवत्व है ।

इदानीं द्रव्यस्यैव विशिष्य साधर्म्यं वक्तुमारभते—क्षित्यादीनामिति । स्पष्टम् ॥ २४ ॥

इति द्रव्यमात्रसाधर्म्यकथनम् ।

कारिका में जो 'तु' शब्द है, वह द्रव्यभिन्न साधर्म्यं प्रकरण का भेदक है । अब विशेषरूप से द्रव्य का ही साधर्म्य बता रहे हैं । क्षित्यादि नौ द्रव्यों का साधर्म्य द्रव्यत्व और गुणाश्रयत्व है ॥ २४ ॥

इति नवद्रव्यसाधर्म्यंकथनम् ।

क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च ।
परापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी ॥ २५ ॥

मूर्तत्व=अपकृष्टपरिमाणवत्व अर्थात् परिच्छिन्नपरिमाणवत्व यानी जिस पदार्थ के परिमाण की सीमा (मर्यादा) होती है । उसे 'मूर्तत्व' कहते हैं । परत्व (परत्ववत्त्व), अपरत्व (अपरत्ववत्त्व), मूर्तत्व (मूर्तत्ववत्त्व) क्रियावत्त्व और और वेगवत्त्व ये पाँच क्षिति (पृथ्वी) जल, तेजस् (अग्नि), पवन, (वायु) और मन इन पाँच द्रव्यों के साधर्म्य हैं । प्रत्येक द्रव्य में ये (परत्व, अपरत्व, मूर्तत्व, क्रियावत्त्व और वेगवत्त्व) पाँच धर्म रहते हैं ।

क्षितिरिति । पृथिव्यप्तेजोवायुमनसां परत्वापरत्ववत्वं मूर्तत्वं क्रियावत्त्वं वेगवत्त्वं च साधर्म्यम् । नच यत्र घटादौ परत्वमपरत्वं वा नोत्पन्नं तत्राव्याप्ति-रिति वाच्यं, परत्वादिसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । मूर्तत्वमपकृष्टपरिमाणवत्त्वम् तच्च तेषामेव, गगनादिपरिमाणस्य कुतोऽप्यप-कृष्टत्वाभावात् । पूर्ववत् कर्मवत्त्वं कर्मसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं वेगवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं च बोध्यम् ॥ २५ ॥

इति क्षित्यादिचतुष्टयमनः साधर्म्यंकथनम् ।

शंका—परत्व, अपरत्व ये दिक्कृत (देशसम्बन्धी) और कालकृत (काल-सम्बन्धी) दो प्रकार के होते हैं । दोनों ही प्रकार के ये गुण किसी वस्तु में हर समय नहीं रहते । बल्कि कभी-कभी दो पदार्थों में 'यह इससे सन्निकृष्ट है, अथवा 'यह इससे अल्पतरकाल से सम्बद्ध है या बहुतरकाल से सम्बद्ध है इस प्रकार की अपेक्षा बुद्धि से कुछ समय के लिए (परत्व-अपरत्व) उत्पन्न होते हैं और नष्ट

होते हैं। अर्थात् दिक्कृत परत्वापरत्व में 'इदमस्मात् सन्निकृष्टम्' यह अपेक्षाबुद्धि कारण है और कालकृत परत्वापरत्व में 'अयमस्मात् कनिष्ठः, 'अयमस्माज्ज्येष्ठः' यह अपेक्षाबुद्धि कारण है। किन्तु जिस उत्पन्न विनष्ट या आद्यक्षणावच्छिन्न घटादि पदार्थ में परत्वापरत्व उत्पन्न ही नहीं हुए वहाँ उक्त साधर्म्य की अव्याप्ति होगी।

समा०—परत्ववत्त्व=परत्वाश्रयत्व और अपरत्ववत्त्व=अपरत्वाश्रयत्व का अर्थ यह है—'परत्वादिसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व'=परत्व-अपरत्वादि गुणों के साथ-साथ रहनेवाली द्रव्यत्व की व्याप्यजातिवाला होना। द्रव्यत्व (इस व्यापकजाति) की व्याप्य जातियाँ जो परत्व, अपरत्व गुण के साथ साथ पाई जाती हैं, केवल पाँच ही हैं--पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व और मनस्त्व। तात्पर्य यह है कि परत्व, अपरत्व के अधिकरणस्वरूप जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु मन इनमें रहनेवाली जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति—पृथ्वीत्व जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व और मनस्त्व ये पाँच जातियाँ हैं, तादृशजातिमत्त्व इन पाँच ही में रहेगा। अतः उत्पन्न विनष्ट या आद्यक्षणावच्छिन्न घटादि में अव्याप्ति नहीं होगी।

शंका--उपर्युक्त पाँचों के अतिरिक्त द्रव्यत्व की व्याप्य जाति 'आत्मत्व' भी है, तादृशजातिमत्त्व 'आत्मा' में रहेगा अतः साधर्म्य की अतिव्याप्ति उसमें होगी।

समा०—आत्मा में द्रव्यत्वव्याप्यजाति 'आत्मत्व रहने पर भी, वह (आत्मत्वजाति) परत्व—अपरत्व गुण के साथ साथ कभी भी नहीं रहती, अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। और जिन घट, पटादिकों में 'परत्वापरत्व' जाति उत्पन्न न भी हुई हो, वहाँ द्रव्यत्वव्याप्यपृथ्वीत्व जाति उपलब्ध होती है, इसलिये कोई दोष नहीं है। अपकृष्ट परिमाणवत्त्व (छोटा परिमाण) को मूर्तत्व कहते हैं। यह मूर्तत्व अर्थात् सीमित – परिच्छिन्न परिमाण केवल उन्हीं (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, मन) का है; आकाश (गगन), काल, दिक् आत्मा का परिमाण, किसी से भी अपकृष्ट नहीं है, क्योंकि गगन आदि की अपेक्षया किसीका भी उत्कृष्ट परिमाण प्रसिद्ध नहीं है।

शंका--जब द्व्यणुकादि की उत्पत्ति होती है, उस उत्पत्तिक्षण के समय उसमें (द्व्यणुकादि में) परिमाण उत्पन्न नहीं होता क्योंकि 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियश्च तिष्ठति' यह नियम है, अतः उसमें अव्याप्ति होगी।

समा०--इस अव्याप्ति के वारणार्थ 'अविभुपरिमाणवद्वृत्ति द्रव्यत्वन्यूनवृत्ति-जातिमत्त्व' की विवक्षा करनी चाहिये।

शंका—जिस पाषाण आदि में क्रिया नहीं है, वहाँ कर्मत्व की भी अव्याप्ति होगी।

समा०—उस अव्याप्ति के वारणार्थ 'पूर्ववत्' कहा गया है अर्थात् 'परत्वादि-समानाधिकरण' इत्यादि लक्षण की तरह कर्मवत्त्व का भी अर्थ कर्मसमानाधिकरण-द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' अर्थात् कर्म के अधिकरण में रहनेवाली जो द्रव्यत्वव्याप्य जाति, तादृशजातिमत्त्व—यह अर्थ करना चाहिए। न्याय की भाषा में लापनिका

इस प्रकार होगी--कर्म=घटादिनिष्ठा क्रिया, तत्समानाधिकरणा या द्रव्यत्वव्याप्या जातिः पृथ्वीत्वरूपा, जलत्वरूपा, तेजत्वरूपा, वायुत्वरूपा च, समवायेन तद्वत्त्वस्य क्रियाशून्ये पाषाणादावपि सत्त्वात् लक्षणसमन्वयः।

वेगवत्त्व का भी अर्थ 'वेगवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' अर्थ करना चाहिये। अन्यथा वेगवत्त्व की भी वेगशून्य पाषाणादि में अव्याप्ति होगी। वेगवान् चक्र-आदि में वर्तमान जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति पृथ्वीत्वादिरूपा तद्वत्त्व। ऐसा अर्थ करने से क्रिया तथा वेगशून्य घटादि में भी साधर्म्य चला जाता है। यद्यपि उनमें क्रिया तथा वेग नहीं है, तथापि क्रिया और वेग के अधिकरण में रहनेवाली द्रव्यत्व-व्याप्यजाति पृथ्वीत्व आदि तो विद्यमान है ही, अतः साधर्म्य लक्षण की उनमें अव्याप्ति नहीं होती ॥ २५ ॥

इति पञ्चद्रव्यासाधर्म्यकथनम्।

कालखात्मदिशां सर्वगतत्वं परमं महत्।

इति कालाकाशात्मदिशां साधर्म्यकथनम्।

क्षित्यादि पञ्च भूतानि चत्वारि स्पर्शवन्ति हि ॥ २६ ॥

काल, ख (आकाश), आत्मा, और दिक् इन चार पदार्थों का साधर्म्य सर्वगतत्व और परममहत्त्व है। और क्षिति (पृथ्वी), अप् (जल), तेजस् (अग्नि), वायु और आकाश ये ही पाँच भूत पदार्थ हैं, अतः इनका भूतत्व साधर्म्य है।

कालेति। कालाकाशात्मदिशां सर्वगतत्वं—सर्वमूर्तसंयोगित्वं परममहत्त्वं च साधर्म्यम्। परममहत्त्वं जातिविशेषः; अपकर्षानाश्रयपरिमाणत्वं वा।

इति कालखात्मदिशां साधर्म्यकथनम्।

क्षित्यादीति। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां भूतत्वं साधर्म्यम्। तच्च बहिरि-न्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम् अत्र ग्राह्यत्वं लौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यत्वं बोध्यम्। तेन ज्ञातो घट इत्यादिप्रत्यक्षे ज्ञानस्याप्युपनीतभानविषयत्वात्तद्वत्यात्मनि नाति-व्याप्तिः। न वा प्रत्यक्षाविषयरूपादिमति परमाण्वादावव्याप्तिः, तस्यापि स्वरूप-योग्यत्वात्। महत्त्वलक्षणकरणान्तरासन्निधानाच्च न प्रत्यक्षम्। अथवा आत्मा-वृत्तिविशेषगुणवत्त्वं तत्त्वम्।

इति क्षित्यप्तेजोवाय्वाकाशसाधर्म्यकथनम्।

चत्वारीति। पृथिव्यप्तेजोवायूनां स्पर्शवत्त्वम् ॥ २६ ॥

काल, आकाश, आत्मा, दिक् इन चार द्रव्यों का साधर्म्य सर्वगतत्व अर्थात् सम्पूर्ण मूर्त या परिच्छिन्न परिमाणयुक्तपदार्थों के साथ संयोगसम्बन्ध से युक्त होना, और परममहत्त्व (परममहत्परिमाणवत्त्व) यह साधर्म्य है। सर्वगतत्व और परममहत्त्व दोनों का अर्थ स्थूलदृष्टि से सर्वव्यापक ही प्रतीत होता है। किन्तु

सूक्ष्मदृष्टि से देखनेपर दोनों में कुछ अन्तर प्रतीत होता है। 'सर्वगतत्व' का अर्थ होगा जो सब जगह प्राप्त हुआ हो अर्थात् जिसका प्रत्येक सीमित परिमाण वाले (मूर्त) द्रव्य के साथ संयोग हुआ हो। आकाशादि का प्रत्येक सीमितपरिमाणवाले द्रव्य के साथ संयोग है ही। अब रहा परममहत्त्व (परममहत्परिमाणवत्त्व), उसका निरूपण दो प्रकार से किया जा सकता है। या तो 'परममहत्वत्व' को एक जातिविशेष मान लिया जाय, और वह जातिविशेष जिसमें रहता हो उसे परममहत्परिमाण समझा जाय। यदि 'परममहत्त्वत्व' को जातिविशेष न माने तो परममहत्परिमाण को इस प्रकार बताना होगा कि ऐसा परिमाण, जो मूर्तद्रव्य में न रहता हो अर्थात् जो किसी परिच्छेद या सीमा का आश्रय न हाता हो। 'क्षित्यादि पञ्चभूतानि' की व्याख्या करते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इनका साधर्म्य 'भूतत्व' है यानी ये पाँचों भूत हैं। 'आकाश' को छोड़कर शेष पृथ्वी, जल, तेज, वायु चार पदार्थों का स्पर्श हो पाता है। भूतत्व (भूत) का अर्थ 'बाह्येन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करनेयोग्य विशेषगुण से युक्त रहना'। यहाँ पर ग्राह्यत्व (ग्रहण करने योग्य) का अर्थ लौकिक प्रत्यक्ष की स्वरूपयोग्यता' समझनी चाहिये। अर्थात् लौकिकसन्निकर्षमात्र प्रयोज्य जो बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयता, उसी को स्वरूपयोग्यता कहते हैं। अर्थात् तादृशविषयतावच्छेदकधर्मवत्व ही ग्राह्यत्व पदार्थ है। एवंच भूतत्व का लक्षण यह निष्पन्न हुआ कि 'लौकिकसन्निकर्षमात्रप्रयोज्या या बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षीयविषयता, तादृशविषयतावच्छेदक–धर्मवद्विशेषगुणनिरूपित–समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधिकरणतावत्वम्।' जैसे––चक्षुः संयुक्तसमवायमात्रप्रयोज्या या चक्षुर्जन्यप्रत्यक्षविषयता घटसमवेतरूपनिष्ठा, तदवच्छेदकरूपत्वधर्मवद्विशेषगुणः रूपं, समवायेन तदधिकरणो घटो भूतपदार्थः। साधारणतया 'ज्ञानविषयत्व' ही ग्राह्यत्व समझा जाता है। तथापि यहाँ 'ज्ञान' शब्द से लौकिक प्रत्यक्षात्मकज्ञान समझना चाहिये। और विषयता' शब्द से स्वरूपयोग्यत्वरूप विषयता को समझना चाहिये, यह निष्कर्ष है।

शंका—'ग्राह्यत्व' में 'ज्ञान' पद से लौकिक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान क्यों समझना चाहिये? तथा 'विषयता' पद से स्वरूपयोग्यत्वरूपविषयता को क्यों समझना चाहिये? केवल 'बहिरिन्द्रियजन्य जो ज्ञान तादृशज्ञानविषयतावद्विशेषगुणवत्त्व' इतना ही 'भूतत्व' का अर्थ क्यों न समझा जाय?

समा०––'ग्राह्यत्व' के परिष्कार में 'ज्ञान' पद से अलौकिकप्रत्यक्षात्मक ज्ञान को यदि न लें तो 'भूतत्व' साधर्म्य की 'आत्मा' में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि 'ज्ञातो घटः' इस प्रत्यक्षज्ञान में 'ज्ञान' प्रकार (विशेषण) रूप से भासित हो रहा है, अतः प्रकारीभूत जो ज्ञान, (उसका) 'चक्षुः संयुक्त जो मन, (उससे) संयुक्त हुआ जो आत्मा (उसमें) समवेत (समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली) स्मृति तद्विषयत्वरूप अर्थात् चक्षु संयुक्त मनः संयुक्त आत्मसमवेत स्मृति विषयत्वरूप ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष 'घट' का प्रत्यक्ष होता है। अतः बाह्येन्द्रिय (चक्षु) ः

होनेवाला जो ज्ञान 'ज्ञातो घट': इत्याकारक ज्ञान, उसका विषय होनेवाला विशेषगुण जो 'ज्ञान' तद्वत्ता 'आत्मा' में हो सकती है, इस कारण भूतत्व साधर्म्य की 'आत्मा में अतिव्याप्ति हो जायेगी। किन्तु जब हम 'ज्ञान' पद से लौकिक-प्रत्यक्षात्मकज्ञान का ग्रहण करते हैं तो 'ज्ञातो घटः' यहाँ पर 'ज्ञान' का ज्ञान-लक्षणासन्निकर्ष से लौकिक प्रत्यक्ष नहीं होता। ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष तो अलौकिक सन्निकर्ष है, उस कारण यहाँ पर 'ज्ञान' का अलौकिक प्रत्यक्ष ही होता है। 'ज्ञातोघटः' यह ज्ञानविषयकज्ञान है इस कारण उसे 'अनुव्यवसाय' ज्ञान कहते हैं। और ज्ञानलक्षणासन्निकर्षजन्य जो ज्ञान है, उसे 'उपनीतभान' कहते हैं। ज्ञातो घटः' इस ज्ञान में ज्ञानविशिष्ट 'घट' विशेष्य है और व्यवसायात्मक प्रथमज्ञान, विषय होने के कारण (उसके) विशेषण के रूप में भासित होता है। वहाँ 'घट' के साथ 'चक्षुः संयोग' लौकिक सन्निकर्ष है, और ज्ञानांश में ज्ञानलक्षणा अलौकिक सन्निकर्ष है,। इस कारण ज्ञान में लौकिकविषयता न होने से अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। निष्कर्ष यह कि 'ज्ञातो घटः' इस प्रत्यक्षात्मक अनुव्यवसायज्ञान में 'अयं घटः' यह प्रकारीभूत (विशेषणीभूत) बना ज्ञान है, वह उपनीतभान (ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष) का विषय है। अर्थात् उपनीत हुआ ज्ञानलक्षणा सन्निकर्षाश्रय घट, उसका जो भान अनुव्यवसायात्मकज्ञान, उसका विषय है यानी अलौकिक सन्निकर्षप्रयोज्य जो प्रत्यक्षविषयता, तदाश्रयगुणता होने के कारण तादृशज्ञानगुणवाले आत्मा में अतिव्याप्ति नहीं हो पायगी। अर्थात् ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष का योग होने से आत्मा में भूतत्व सिद्ध नहीं होता।

इसी प्रकार 'विषयता' पद का अर्थ 'स्वरूपयोग्यत्वरूपविषयता' न किया जाय तो परमाणु भी भूतों में है, उनमें भूतत्वलक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि परमाणुओं के रूप आदि जो विशेषसंज्ञकगुण हैं, वे प्रत्यक्षके विषय न होने से परमाणुओं की 'भूत' संज्ञा नहीं हो सकेगी अर्थात् भूतत्व का लक्षण परमाणुओं में घटित न हो सकने से उनमें उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। उस अव्याप्ति के वारणार्थ 'विषयता' पद से 'स्वरूपयोग्यत्वविषयता' समझनी होगी। ऐसा समझने से परमाणुओं के रूप, जो प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं, किन्तु परमाणु तथा उसके रूपादि में लौकिक प्रत्यक्ष की स्वरूपयोग्यता तो है ही, अर्थात् परमाणु में चाक्षुष— प्रत्यक्ष होने के अन्यान्य कारणों के उपस्थित रहने पर भी केवल महत्त्व के न रहने के कारण परमाणु तथा उनके रूपादि का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, क्योंकि चाक्षुष-प्रत्यक्ष के प्रति 'महत्वावच्छिन्न-उद्भूतरूपावच्छिन्न-अलौकिकसंयोगावच्छिन्नचक्षुः संयोग कारण होता है। अतः परमाणु में महत्त्व होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता तथापि चाक्षुष प्रत्यक्ष की स्वरूपयोग्यता तो परमाणु में तथा उसके रूपादि में है ही, तब 'बहिरिन्द्रियजन्य लौकिकप्रत्यक्षनिरूपित स्वरूपयोग्यतावद्विशेषगुण' तो पर-माणु के रूपादि भी हैं, तादृशविशेषगुणवत्त्व परमाणु आदि में भी है, इस कारण परमाणु आदि में अव्याप्ति नहीं है। 'तस्यापि स्वरूपयोग्यत्वात्' इस ग्रन्थ का यही अभिप्राय है।

अथवा 'आत्माऽवृत्ति विशेषगुणवत्त्व' ही 'भूतत्त्व' का लक्षण किया जाय, क्योंकि आगे चलकर ग्रन्थकार स्वयं कह रहे हैं कि 'आत्मानो भूतवर्गाश्च विशेषगुणयोगिनः आत्मा और भूतवर्ग (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) विशेषगुण (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द) वाले हैं। तब आत्मा में न रहनेवाले (अवृत्ति) गन्धादि पाँच जो विशेषगुण (पृथ्वी-आदि पाँच भूतों के विशेष गुण) तादृश विशेषगुणवत्त्व उन्हीं परमाणु सहित पाँच द्रव्यों में ही रहेगा, अतः उन पाँचों के परमाणुओं में अव्याप्ति नहीं है। तथापि आत्मा में अवृत्ति जो परत्व अपरत्व है, उसको लेकर 'मन' में उस भूतत्व लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ उन गुणों में 'विशेष' यह विशेषण जोड़ा गया है। तब परत्व-अपरत्वादि गुण, विशेषसंज्ञक नहीं है, अपितु सामान्यगुण हैं, अतः मन में अतिव्याप्ति नहीं है। 'चत्वारि स्पर्शवन्ति हि'— पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चारों का 'स्पर्शवत्व' साधर्म्य है। अर्थात् पृथ्वी आदि चार भूत स्पर्शवाले हैं। इन चारों में ही स्पर्शगुण उपलब्ध होता है, अन्यत्र नहीं, अर्थात् आकाशादि पाँच द्रव्य में स्पर्श नहीं रहता ॥ २६ ॥

द्रव्यारम्भश्चतुर्षु स्यादथाकाशशरीरिणाम् ।
अव्याप्यवृत्तिः क्षणिको विशेषगुण इष्यते ॥ २७ ॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों का 'द्रव्यारंभकत्व' (नवीनद्रव्य को उत्पन्न करना) साधर्म्य है। अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार द्रव्य किसी एक द्रव्य के उत्पादक हैं। अवयव, अवयवी के उत्पादक होते हैं। अतः चार द्रव्यो का 'द्रव्यारंभकत्व' साधर्म्य माना गया है। अभिप्राय यह है कि क्षिति (पृथ्वी), अप् (जल), तेजस् और वायु ये द्रव्य के समवायिकारण हैं। आकाश किसी द्रव्य का समवायिकारण नहीं अपितु निमित्तकारण है। इसलिये द्रव्यसमवायिकारणता, क्षिति—आदि चार भूतों का साधर्म्य है। आकाश और आत्मा का विशेषगुण अव्याप्यवृत्ति और क्षणिक है अर्थात् आकाश और आत्मा का साधर्म्य अव्याप्यवृत्ति क्षणिकविशेषगुणवत्त्व' है।

द्रव्यारम्भ इति। पृथिव्यप्तेजोवायुषु चतुर्षु द्रव्यारम्भकत्वं साधर्म्यम्। न च द्रव्यानारम्भके घटादावव्याप्तिः, द्रव्यसमवायिकारणवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्।

इति क्षित्यप्तेजोवायूनां साधर्म्यकथनम्।

आकाशशरीरिणामिति। आकाशात्मनामव्याप्यवृत्तिक्षणिकविशेषगुणसत्त्वं साधर्म्यमित्यर्थः। आकाशस्य विशेषगुणः शब्दः, स चाव्याप्यवृत्तिर्यदा किञ्चिदवच्छेदेन शब्द उत्पद्यते तदाऽन्यावच्छेदेन तदभावस्यापि सत्त्वात्। क्षणिकत्वं च तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम्। योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यत्वात्प्रथमशब्दस्य द्वितीयशब्देन नाशः। एवं ज्ञानादीनामपि। ज्ञानादिकं

ऽऽत्मनि विभौ शरीराद्यवच्छेदेनोत्पद्यते तदा घटाद्यवच्छेदेन तदभावोऽस्त्येव। एवं ज्ञानादिकमपि क्षणद्वयावस्थायि। इत्थं चाव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्त्वं क्षणिकविशेषगुणवत्त्वं चार्थः। पृथिव्यादौ रूपादि विशेषगुणोऽस्तीत्यतोऽव्याप्यवृत्तीत्युक्तम्। पृथिव्यादावव्याप्यवृत्तिः संयोगादिरस्तीत्यतो विशेषगुणेत्युक्तम्।

न च रूपादीनामपि कदाचित्तृतीयक्षणे नाशसम्भवात्क्षणिकविशेषगुणवत्त्वं क्षित्यादावतिव्याप्तमिति वाच्यम् चतुःक्षणवृत्ति जन्यावृत्ति जातिमद्विशेषगुणवत्त्वस्य तदर्थत्वात्। अपेक्षाबुद्धिः क्षणत्रयं तिष्ठति, क्षणचतुष्टयं तु न किमपि जन्यज्ञानादिकं तिष्ठति।

रूपत्वादिकं तु क्षणचतुष्टयस्थायिन्यपि रूपादौ वर्तत इति तद्व्युदासः। ईश्वरज्ञानस्य चतुःक्षणवृत्तित्वाज्ज्ञानत्वस्य तद्वृत्तित्वाज्जन्येत्युक्तम्। यद्याकाशजीवात्मनोः साधर्म्यं तदा जन्येति न देयम्। द्वेषत्वादिकमादाय लक्षणसमन्वयात् परममहत्त्वस्य तादृशगुणत्वाच्चतुर्थक्षणे द्वित्वादीनामपि नाशाभ्युपगमाद् द्वित्वादीनामपि तथात्वात्तद्वारणाय विशेषेति। त्रिक्षणवृत्तित्वं वा वाच्यम्। द्वेषत्वादिकमादायात्मनि लक्षणसमन्वयः॥ २७॥

शंका—घट आदि जो कितने ही पूर्ण अवयवी हैं, उनसे कोई अन्य अवयवी द्रव्य उत्पन्न नहीं होते, तो अब घट आदि में द्रव्यारम्भकत्वरूप धर्म नहीं रहा अर्थात् घट से घट उत्पन्न नहीं होता है। अतः घट में द्रव्यारंभकत्वरूप साधर्म्य के न होने से अव्याप्ति होगी।

समा०—'द्रव्यारम्भकत्व' का जातिघटित अर्थ करने पर अव्याप्ति नहीं होगी। द्रव्यारम्भकत्व का यह प्रयोजन है कि किसी एक अवयवरूपी द्रव्य में रहकर तथा द्रव्यत्व जाति की अपेक्षा अल्प स्थान में रहने वाली जो जाति (पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजत्व, और वायुत्व) ऐसी विवक्षा की जा सके। यही जाति इन्ही चार द्रव्यों में रहकर घट में जो अव्याप्ति आती थी, अब नहीं हो सकती। अर्थात् द्रव्य के समवायिकारण में रहनेवाली जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति (पृथ्वीत्वजाति, जलत्वजाति आदि चार जातियाँ हैं) तादृशजातिमत्त्व पृथ्वी, जल आदि सभी में हैं, तथा घटादि में भी हैं, इस कारण घटादि में अव्याप्ति नहीं होती। शेष पाँच पदार्थों में से आकाश काल, दिक् ये द्रव्य एक एक होने से उनमें जाति नहीं रहती और आत्मत्व, तथा मनस्त्व जाति आत्मा और मनस् में रहेंगी जो कदापि समवायिकारण नहीं होते। इस प्रकार साधर्म्य के लक्षण को परिष्कृत कर दिया गया है। अन्त्यावयवयी घट आदि यद्यपि किसी दूसरे नवीन घट को पैदा नहीं करता, तथापि उसमें पृथ्वीत्वजाति तो रहती ही है जो द्रव्यत्वव्याप्य जाति है और द्रव्य के समवायिकारण द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि में रहती है, अतः कोई अव्याप्ति दोष नहीं है।

शंका—द्रव्य समवायिकारण वृत्ति जाति में 'द्रव्यत्वव्याप्य' यह विशेषण क्यों दिया गया है?

समा०--यह विशेषण यदि नहीं देंगे तो द्रव्यसमवायिकारणवृत्ति द्रव्यत्वजाति को तथा सत्ताजाति को लेकर आकाशादि द्रव्यों में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, उसके निरसनार्थ 'द्रव्यसमवायिकारणवृत्तिजाति' में 'द्रव्यत्वव्याप्य' यह विशेषण दिया गया है। द्रव्यत्वजाति तथा सत्ताजाति, द्रव्यत्वजाति की व्याप्य जातियाँ नहीं हैं।

अथाकाशशरीरिणामिति। आकाश तथा शरीरी (आत्मा) का 'अव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्त्व तथा क्षणिकविशेषगुणवत्त्व' साधर्म्य है। अर्थात् दोनों में रहने वाले विशेषगुण अव्याप्यवृत्ति और क्षणिक होते हैं। आकाश का विशेषगुणशब्द है, वह 'अव्याप्यवृत्ति' है। अव्याप्यन्वृत्ति (एकदेशवृत्ति) शब्द का यह अर्थ है कि जो पदार्थ किसी जगह अपने अभाव के साथ रहे, उसी को अव्याप्यवृत्ति कहते हैं। जैसे--शब्द तथा ज्ञान आदि ये पदार्थ अव्याप्यवृत्ति होकर रहते हैं। क्योंकि शब्द, आकाश का विशेषगुण है। जिस समय आकाश में जो शब्द किसी एक प्रदेश में रहता है, उसी समय (आकाश में) उस प्रदेश के अतिरिक्त अन्य प्रदेश में उस शब्द का अभाव भी रहता है, इस कारण वह शब्द अव्याप्यवृत्ति कहा जाता है। जैसे आकाश तो सर्वत्र व्यापक है अर्थात् सभी जगह फैला हुआ है, ऐसी स्थिति में नगाड़े (भेरी) का जो प्रदेश है वह भी आकाश से अवच्छिन्न (युक्त) है। इस कारण जिस समय किञ्चिदवच्छेदेन (भेरीप्रदेशावच्छेदेन) अर्थात् भेरीप्रदेशावच्छिन्न आकाश में शब्द उत्पन्न होता है उसी समय आकाश में अन्यावच्छेदेन (घट-पटाद्यवच्छेदेन) अर्थात् शब्दशून्य घटात्मकप्रदेश से अवच्छिन्न आकाश में शब्दाभाव भी रहता है। निष्कर्ष यह हुआ कि आकाश के व्यापक रहने से वह सभी प्रदेशों से सम्बद्ध है। अतः जिस भेरी प्रदेश में शब्द हो रहा है तद्देशावच्छेदेन आकाश शब्दवान् और घट-पटादि के प्रदेश में शब्द नहीं हो रहा है। तद्देशावच्छेदेन आकाश शब्दाभाववान् भी है, इस कारण यह कह सकते हैं कि एक ही आकाशरूप अधिकरण में शब्द भी है और शब्दाभाव भी है। जहाँ एक ही अधिकरण में प्रतियोगी और उसका अभाव दोनों रहते हैं, उसे अव्याप्यवृत्ति कहते हैं। जैसे एक ही वृक्ष पर कपिसंयोग और उसका अभाव दोनों रहते हैं। अतः कपिसंयोग को अव्याप्यवृत्ति कहा जाता है। ऊपर बता चुके हैं कि आकाश और आत्मा में रहनेवाले विशेषगुण, अव्याप्यवृत्ति और क्षणिक होते हैं यानी अव्ययवृत्ति विशेषगुण वाला होना क्षणिक विशेषगुण वाला होना ही दोनों का साधर्म्य है।

आकाश के विशेषगुणस्वरूप शब्द की अव्याप्यवृत्तिता को बता चुके। अब उसके क्षणिकत्व को देखें। 'शब्द' क्षणिक भी है। क्षणिक उसे कहते हैं, जिसका तृतीय क्षण में ध्वंस (नाश) हो। अर्थात् उस ध्वंस के प्रतियोगी को क्षणिक कहते हैं। नैयायिकों का क्षणिकत्व, बौद्धों के क्षणिकत्व से भिन्न है। बौद्धों के मत में क्षणिक उसे कहते हैं जिसका स्वोत्पत्ति के दूसरे क्षण में ही ध्वंस हो। किन्तु नैयायिक तथा वैशेषिक किसी भी पदार्थ का द्वितीयक्षण में ध्वंस (नाश) नहीं मानते।

इनके मत में प्रथम क्षण में उत्पत्ति और द्वितीय क्षण में स्थिति तथा तृतीय क्षण में ध्वंस होता है। ये स्थिति का भी एक क्षण मानते हैं; किन्तु बौद्धों ने उत्पत्ति क्षण के अतिरिक्त स्थिति का कोई क्षण नहीं माना है। अतः नैयायिकों के मत में 'तृतीय-क्षणवृत्ति ध्वंसप्रतियोगित्व' होना 'क्षणिक' पदार्थ है। अर्थात् जिसका तृतीय क्षण में नाश हो वह क्षणिक है। अतः भेरीप्रदेश में उत्पन्न हुआ जो शब्द है वही हमारे कान तक नहीं पहुँचता, बल्कि वह शब्द अगले दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है और उस अगले शब्द से प्रथम शब्द का ध्वंस हो जाता है। एवं च प्रत्येक शब्द प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षण में अगले दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है और उस अगले उत्पन्न हुए द्वितीय शब्द से प्रथम का तृतीय क्षण में नाश हो जाता है। यानी प्रथम क्षण उत्पत्ति का क्षण है, द्वितीय क्षण उसकी स्थिति का है और तृतीय क्षण उसके नष्ट होने का है। एवंच आकाश का विशेषगुण जो शब्द है वह अव्याप्यवृत्ति भी है और क्षणिक भी है। इसी प्रकार ज्ञानादि विशेषगुणों को भी समझना चाहिये। अर्थात् आत्मा के नौ विशेषगुण हैं उनमें ज्ञान, इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख और प्रयत्न ये छह विशेषगुण अव्याप्यवृत्ति भी हैं तथा क्षणिक भी हैं, और धर्म, अधर्म, भावनाख्यसंस्कार ये तीन गुण केवल अव्याप्यवृत्ति ही हैं, क्षणिक नहीं। 'आत्मा' सर्वव्यापक है तथापि उसका विशेषगुण ज्ञान, आत्मा के उसी प्रदेश में उत्पन्न होता है, जो प्रदेश शरीर से अवच्छिन्न हो, यानी आत्मा के उसी प्रदेश में उस (आत्मा) का अपना शरीर वर्तमान है। घट-पटादि के प्रदेश में भी आत्मा है, किन्तु वहाँ उसका अपना शरीर न होने से (वहाँ) ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस रीति से आत्मा के विशेषगुण ज्ञान आदि आत्मा के एक देश में रहनेवाले होने से वे गुण अव्याप्यवृत्ति हैं। ज्ञान आदि आत्मा के विशेषगुण केवल दो क्षण रहकर तृतीय क्षण में उनका नाश हो जाता है, अतः वे क्षणिक भी हैं। जहाँ कहीं किसी घट-पटादि वस्तु का ज्ञान लगातार कुछ समय तक होता हुआ प्रतीत होता है, वहाँ भी यही समझना चाहिये कि वह एक ही ज्ञान नहीं है, अपितु उसी ज्ञान से उसी प्रकार का दूसरा ज्ञान, पुनः उससे तीसरा ज्ञान, पुनः उससे चौथा ज्ञान उसी तरह अगला अगला ज्ञान उत्पन्न होता रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानादि भी "तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगी' होने से क्षणिक हैं। अतः यह ठीक ही कहा गया है कि अव्याप्यवृत्ति विशेषगुण का होना और क्षणिक विशेषगुण का होना आकाश और आत्मा का साधर्म्य है।

शंका—'अव्याप्यवृत्ति विषशेषगुणवत्त्व' इस साधर्म्य में 'अव्याप्यवृत्ति' यदि न कहें, केवल 'विशेषगुणवत्त्व' इतना ही कहें तो क्या आपत्ति है ?

समा०—'विशेषगुणवत्त्व' इतना ही यदि कहें तो पृथ्वी आदि में भी उसके अपने रूपादि विशेष गुण रहते ही हैं तो 'विशेषगुणवत्त्व' पृथ्वी आदि में भी रहने से उनमें (पृथ्वी आदि में) भी साधर्म्य की अतिव्याप्ति होगी, उस अतिव्याप्ति के 'निरसनार्थ अव्याप्यवृत्ति' कहा गया है। पृथ्वी आदि के रूपादि विशेषगुण अव्याप्य

वृत्ति नहीं हैं बल्कि 'व्याप्यवृत्ति' हैं। अर्थात् वे रूपादि विशेषगुण, पृथ्वी आदि को पूर्णतया व्याप्त करके रहते हैं। अतः अव्याप्यवृत्ति कहने से पृथ्वी आदि में अतिव्याप्ति नहीं हो पाएगी।

शंका—'अव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्त्व' इस साधर्म्य लक्षण में "विशेष' पद क्यों दिया ? केवल 'अव्याप्यवृत्तिगुणवत्त्व' इतना ही कहें तो क्या हानि है ?

समा०—केवल 'अव्याप्यवृत्तिगुणवत्त्व' कहें और उसमें 'विशेष' पद न जोड़े तो 'संयोगादिगुण' जो पृथ्वी आदि में रहते हैं, वे भी अव्याप्यवृत्ति हैं। अतः संयोगादिगुणवाली पृथ्वी आदि में इस साधर्म्य लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसी अतिव्याप्ति के निरसनार्थ लक्षण में 'विशेष' पद जोड़ा गया है। तब संयोगादि तो विशेषगुण नहीं हैं, वे सामान्यगुण हैं। भले ही वे अव्याप्यवृत्ति हों। अतः संयोगादि मे विशेषगुणवत्त्व न होने से पृथ्वी आदि में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

शंका—मुक्तावलीकार ने 'क्षणिकविशेषगुणवत्त्व' यह साधर्म्य बताकर आगे उसका परिष्कार किया कि 'चतुःक्षणवृत्तिजन्याऽवृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्व' इसकी (इस परिष्कार की) आवश्यकता क्यों हुई ?

समा०—पहले यह बता चुके हैं कि 'तृतीय क्षण' में जिसका नाश होता है उसे क्षणिक कहते हैं। किन्तु कभी-कभी रूप आदि का भी किसी विशेष निमित्त (कारण) से तृतीयक्षण में नाश होना सम्भव है। जैसे—प्रथमक्षण में घट पर दण्ड-प्रहार हुआ द्वितीयक्षण में घटनाश हुआ, तृतीयक्षण में उसके रूप का नाश हुआ, क्योंकि घट-रूपनाश, घटनाश के अधीन है। तब तृतीयक्षणवृत्त जो ध्वंस अर्थात् रूपध्वंस (नाश) तत्प्रतियोगि 'क्षणिकत्व' रूप (घटरूप) में रहने से 'रूप भी क्षणिकविशेषगुण हो गया, तादृशरूपवत्ता पृथ्वी आदि द्रव्यों में है ही। इस कारण 'क्षणिक विशेषगुणत्व' साधर्म्य की पृथ्वी आदि में अतिव्याप्ति हो जायगी, उसके निरसनार्थ उपर्युक्त परिष्कार करने की आवश्यकता हुई।

'चतुःक्षणवृत्तिजन्यावृत्तिजातिमद् विशेषगुणवत्त्व' यह अर्थ 'क्षणिकत्व' का करने पर अव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि चारक्षण रहनेवाला जन्य पदार्थ 'रूप' आदि भी हैं, उसमें 'रूपत्व' आदि जाति विद्यमान (वृत्ति) है ही, और अवृत्तिजाति अर्थात् चतुःक्षणवृत्ति रूपादिजन्यपदार्थ में न रहनेवाली जाति 'ज्ञानत्व, शब्दत्व' आदि जाति ही होगी, तादृशजातिमान् (वैसी जाति का) विशेषगुण ज्ञान, शब्द आदि होंगे। तद्वता आत्मा में, आकाश में ही होगी, पृथिवी में तो होगी नहीं, इस कारण पृथिवी आदि में अतिव्याप्ति नहीं पायेगी। कोई भी जन्यज्ञान चारक्षण नहीं रहता। अपेक्षाबुद्धि (अयमेकः अयमेकः इमौ द्वौ इत्याकारिका) तीन क्षण ही रहती है। रूपत्वजाति तो तीन, चार या उससे भी अधिक क्षण रहनेवाले रूप में भी रहती है। अतः कदाचित् तृतीयक्षण में रूप आदि का नाश होने पर भी कोई दोष नहीं अर्थात् रूपत्वादि जाति को लेकर पृथ्वी आदि में अतिव्याप्ति हो सकेगी।

शंका—'चतुःक्षणवृत्तिजन्यावृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्व' इस—क्षणिकत्व के परिष्कृतलक्षण में 'जन्य' पद क्यों दिया है ? केवल इतना ही कहते कि 'चतुः क्षणवृत्ति, जो हो उसमें अवृति जो जाति तादृश जातिमद्विशेषगुणवत्त्व' तो क्या आपत्ति होगी ?

समा०—चतुःक्षणवृत्ति (चार क्षण रहनेवाला) ईश्वरज्ञान भी है, क्योंकि वह नित्य है, उस पर 'ज्ञानत्व' जाति रहती है (वृत्ति है)। यदि ज्ञानत्वजाति, चतुःक्षणवृत्ति ईश्वरज्ञान में अवृत्ति होती तो तादृशजातिमान् विशेषगुण 'ज्ञान' होता, और तब ज्ञानवत्ता (ज्ञानवाला) आत्मा में होने से आत्मा में लक्षणसमन्वय हो जाता, परन्तु हो नहीं पा रहा है, इस कारण आत्मा में अव्याप्ति हो जायगी, यह आपत्ति है। और दूसरी आपत्ति (दोष) यह भी होगी कि चतुःक्षणवृत्ति ईश्वरज्ञान में अवृत्तिजाति 'रूपवत्त्व' जाति को भी ले सकते हैं, तब पृथ्वी आदि में अतिव्याप्ति होगी। उसके निरसनार्थ उक्त लक्षण में 'जन्य' पद का निवेश किया है। तब चतुःक्षणवृत्ति जो जन्य होंगे, वे रूपादि ही होंगे, उन रूपादिकों में अवृत्ति जाति, ज्ञानत्वादि होगी, उस जाति को लेकर तादृशजातिमान् ज्ञानादि ही होंगे, उस प्रकार के ज्ञानादिविशेष-गुणवाला आत्मा होने से लक्षणसमन्वय हो जायगा। एवं च आत्मा में अतिव्याप्ति नहीं, तथा पृथ्वी आदि में अतिव्याप्ति भी नहीं होगी। यदि 'आत्मन्' शब्द से जीवात्मा की ही विवक्षा करके जीवात्मा और आकाश का ही 'क्षणिक-विशेषगुणवत्त्व' यह साधर्म्य कहें तो क्षणिकत्व' के इस परिष्कृत चतुःक्षणवृत्ति-जन्याऽवृत्ति' अर्थ में 'जन्य' पद को जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। केवल 'चतुःक्षणवृत्त्यवृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्व' इतना ही कहना पर्याप्त होगा। तब जीवात्मा में भी लक्षणसमन्वय' हो जायगा। जैसे—चतुःक्षणवृत्ति 'रूप आदि' को लेंगे तब 'द्वेषत्वजाति' उनमें (रूप आदि में) अवृत्ति है ही, क्योंकि 'रूप में 'रूपत्व' जाति रहेगी, द्वेषत्वजाति नहीं, और यदि ईश्वर के विशेषगुणों को भी चतुः-क्षणवृत्ति' के रूप में लें, तब भी द्वेष को तो ले ही नहीं सकेंगे; क्योंकि ईश्वर में द्वेष नहीं रहता। इस कारण ज्ञान या ईश्वर की इच्छा आदि को ही लेना पड़ेगा। उनमें (ईश्वरीय ज्ञान या इच्छा में) अवृत्तिजाति 'द्वेषत्वजाति' होगी, तादृश-जातिमान् विशेषगुण 'द्वेष' होगा। तादृश 'द्वेषवत्ता' जीवात्मा में ही आवेगी। इसलिए 'चतुःक्षणवृत्ति' इत्यादि जो 'क्षणिकत्व' का लक्षण है, उसका जीवात्मा में समन्वय हो जायगा। एवंच 'क्षणिकत्व' के दो लक्षण सम्पन्न हो गये—एक 'जन्य' पद से घटित (सहित) और दूसरा 'जन्य' पद से अघटित (रहित)। तात्पर्य यह है कि जब आकाश और जीवात्मा का 'क्षणिकत्व' साधर्म्य बताना हो तब 'क्षणिकत्व' का अर्थ 'चतुःक्षणवृत्त्यवृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्व' (यह जन्य-पदाऽघटित अर्थ) करना चाहिये। और जब 'आत्मा' पद से जीवात्मा-परमात्मा दोनों का संग्रह करना हो तब 'चतुःक्षणवृत्तिजन्याऽवृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्व' इस

प्रकार 'जन्य पदघटित परिष्कृत अर्थ को कहना चाहिये अर्थात् 'क्षणिकत्व' का अर्थ जन्यपदघटित करना चाहिए।

शंका--उपर्युक्त दो प्रकार के (जन्यपदघटित तथा जन्यपदाऽघटित) लक्षणों में 'विशेष' पद क्यों जड़ा गया है ?

समा०--'जन्य' पदघटित लक्षण में 'विशेष' पद को यदि न जोड़ें तो 'चतुःक्षणवृत्तिजन्याऽवृत्तिजातिमद्गुणवत्त्व' यह 'क्षणिकत्व' का अर्थ होगा। तब इस लक्षण की काल आदि में अतिव्याप्ति हो जायगी। जैसे--चतुःक्षण-वृत्तिजन्य 'रूपादि' ही होंगे, 'परममहत्त्व' तो होगा नहीं, क्योंकि वह नित्य जातिमान् गुण परम-महत्त्व होगा, तद्वत्त्व 'कालादि' में रहेगा। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने बताया कि 'परममहत्त्वस्य तादृशगुणत्वात्' यानी 'परममहत्त्व' चतुःक्षणवृत्तिजन्याऽवृत्तिजातिमद्गुण है। तद्वत्त्व 'काल आदि में रहने से अतिव्याप्ति होगी। 'विशेष' पद के जोड़ने पर 'तादृशजातिमान्' जो गुण अपेक्षित होगा, वह विशेषगुण ही अपेक्षित होगा। तब 'परममहत्त्व' तो विशेषगुण नहीं है। इसलिए काल आदि में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

शंका--जन्यपदाऽघटित लक्षण में 'विशेष' पद यदि नहीं देंगे तो 'घट आदि' में अतिव्याप्ति होगी। जैसे--चतुःक्षणवृत्ति करके 'द्वित्व' संख्या को तो ले नहीं सकेंगे, क्योंकि द्वित्वोत्पत्ति से चतुर्थक्षण में द्वित्व संख्या का विनाश होता है। ग्रन्थकारने भी कहा है कि 'चतुर्थक्षणे द्वित्वादीनामपि नाशाभ्युपगमात्'-- द्वित्वोत्पत्ति से चतुर्थक्षण में द्वित्व संख्या का नाश हो जाता है। अतः 'चतुक्षणवृत्ति' जैसे रूपादि हैं, वैसे ही 'परममहत्त्व' परिमाण भी है। उस पर वृत्ति 'परममहत्त्व' जाति ही होगी, अवृत्तिजाति 'द्वित्वत्व' जाति होगी, तादृशजातिमान् 'गुणद्वित्व-संख्या' होगी, तद्वत्ता 'घटादि' में रहने से घटादि में अतिव्याप्ति हो जायेगी।

समा०--उक्त अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'विशेष' पद का जोड़ना आवश्यक है। 'विशेष' पद के जोड़ने पर अर्थ इस प्रकार होगा कि तादृशजातिमान् जो विशेषगुण, तब 'द्वित्वसंख्या' तो विशेषगुण नहीं है, वह तो सामान्य गुण है। इस कारण घटादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

अथवा--'चतुःक्षणवृत्तिजन्याऽवृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्वम्' यहाँ पर चतुः-क्षणवृत्ति' के स्थान पर अर्थात् 'चतुःक्षणवृत्ति' न कहकर 'त्रिक्षणवृत्ति' कहें तो 'जन्य' पद देने की आवश्यकता नहीं रहेगी। एवंच 'क्षणिक' (त्व) का 'त्रिक्षण-वृत्त्यवृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्व' इतना ही अर्थ होगा। तब 'द्वेष' तो दो क्षण ही रहता है अर्थात् द्विक्षणावस्थायी होता है। अतः त्रिक्षणावृत्ति करके 'रूपादि' को लेना पड़ेगा, उनमें अवृत्ति जाति 'द्वेषत्वजाति' होगी, तादृशजातिमान् विशेषगुण 'द्वेष' होगा, तद्वत्ता 'जीवात्मा' में होगी। क्योंकि 'द्वेषत्व' जाति, तीन क्षण रहने वाले किसी पदार्थ में नहीं रहती। 'द्वेष' ऐसा क्षणिक विशेषगुण है, जो 'जीवात्मा' में रहता है। तब 'द्वेषत्वजाति' को लेकर जीवात्मा में साधर्म्यलक्षण का समन्वय हो जायगा ॥ २७ ॥

रूपद्रवत्वप्रत्यक्षयोगिनः प्रथमास्त्रयः ।
गुरुणी द्वे रसवती द्वयोर्नैमित्तिको द्रवः ॥ २८ ॥

प्रथमत्रिक अर्थात् पृथ्वी, अप्, तेज। 'रूपं च द्रवत्वं च प्रत्यक्षं च' यह द्वन्द्वसमास है। तब 'तैर्युज्यन्ते' इस अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय किया गया है। 'द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इस नियम के अनुसार 'योगि' पद का प्रत्येक के साथ अन्वय (सम्बन्ध) करना चाहिये। तब अर्थ होगा कि रूपयोगित्व' द्रव्ययोगित्त्व, प्रत्यक्षयोगित्व यह साधर्म्य पृथ्वी, जल (अप्) तेज (तेजस्) इन तीनों का है। पृथ्वी, अप् (जल) ये दो द्रव्य, 'गुरुणी' अर्थात् गुरुत्ववान् और रसवान् हैं। यानी उक्त दो द्रव्यों (पृथ्वी, जल) का गुरुत्ववान् और रसवत्त्व—साधर्म्य है। अर्थात् ये दोनों द्रव्य समवाय संबंध से गुरुत्ववान् और रसवान् हैं और पृथ्वी, तेज दोनों द्रव्यों का समवायसम्बन्ध से नैमित्तिक द्रवत्ववत्त्व साधर्म्य है।

रूपद्रवत्वेति । पृथिव्यप्तेजसां रूपवत्त्वं, द्रवत्ववत्त्वं प्रत्यक्षविषयत्वं च साधर्म्यमित्यर्थः । न च चक्षुरादीनां भर्जनकपालस्थवह्नेरूष्मणश्च रूपवत्त्वे किं मानमिति वाच्यम्, तत्रापि तेजत्वेन रूपानुमानात् । एवं वाय्वानीतपृथिवीजल-तेजोभागानामपि पृथिवीत्वादिना रूपानुमानं बोध्यम् ।

न च घटादौ द्रुतसुवर्णादिभिन्ने तेजसि च द्रवत्ववत्त्वमव्याप्तमिति वाच्यम्, द्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । घृतजतुभृतिषु पृथिवीषु, जलेषु, द्रुतसुवर्णादौ तेजसि च द्रवत्वसत्त्वात्तत्र च पृथिवीत्वादिसत्त्वात्तदादाय सर्वत्र लक्षणसमन्वयः ।

न च प्रत्यक्षविषयत्वं परमाण्वादावव्याप्तमतिव्याप्तं च रूपादाविति वाच्यम्, चाक्षुषलौकिकप्रत्यक्षविषवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । आत्म-न्यतिव्याप्तिवारणाय चाक्षुषेति ।

पृथिवी, जल तेज (अग्नि) इन पहले तीन द्रव्यों का साधर्म्य, रूपवत्त्व (रूपवाला = रूपयुक्त) द्रवत्ववत्त्व (द्रवत्ववाला = द्रवत्वयुक्त) और प्रत्यक्ष-विषयत्व (प्रत्यक्ष का विषय होना) है। ये तीनों द्रव्य प्रत्यक्ष के विषय होते हैं। पृथ्वी आदि नौ द्रव्यों में से केवल पृथ्वी, जल, तेज ये तीन द्रव्य ही रूपवाले (रूप युक्त) हैं, शेष वायु से लेकर आत्मा तक सभी द्रव्य रूपरहित हैं। और द्रवत्व (तरलता) भी इन्हीं तीन द्रव्यों में पाया जाता है। जितने भी तरल (द्रव) पदार्थ दिखाई देते हैं, वे सब पृथ्वी, जल, तेज में से ही अन्यतम (कोई एक) द्रव्य होंगे। उसी प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्ष भी इन्हीं तीन पृथ्वी, जल और तेज का ही होता है। कारिका में दिये गये 'प्रत्यक्ष' पद का अभिप्राय केवल 'चाक्षुषप्रत्ययक्ष' से ही है। आत्मा का भी प्रत्यक्ष होता है किन्तु वह चाक्षुषप्रत्यक्ष न होकर मानस प्रत्यक्ष है।

शंका—तैजस कहे जाने वाले चक्षु, भर्जनकपाल (भाड़) में स्थित अग्नि,

और ऊष्मा (गरमी) इन तीनों के रूपवत्त्व में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि इन तीनों के रूप का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। अतः 'रूपवत्त्व'साधर्म्य की इनमें अव्याप्ति होगी।

समा०—जिन स्थलों में अव्याप्ति प्रतीत हो रही है, उन स्थलों में रूप की प्रतीति न होने पर भी 'तेजत्व' हेतु से रूप का अनुमान कर लेना चाहिये। अनुमान का आकार यह होगा—'चक्षुः रूपवत् तेजत्वात् प्रदीपवत्', 'भर्जनकपालस्थवह्निः रूपवान् तेजत्वात् विद्युद्वत्', 'ऊष्मा रूपवान् तेजत्वात् प्रभावत्' यहाँ सर्वत्र साध्य और हेतु का समवायसम्बन्ध समझना चाहिए। उसी प्रकार हवा में मिले हुए या हवा में उठते हुए पृथ्वी के, जल के, और तेज के कणों में भी रूप की प्रतीति नहीं होती है। अतः वहाँ पर भी पृथ्वीत्व आदि हेतुओं से अर्थात् पृथ्वीत्व, जलत्व तेजत्व हेतुओं से रूप का अनुमान करना चाहिए।

शंका—पृथ्वी में, जल में, तेजस् में, 'द्रवत्व' गुण बताया, लेकिन वह 'द्रवत्व' गुण समस्त पृथ्वी (घट-पटादि) में नहीं दिखाई देता, तथा पिघले हुए स्वर्ण को छोड़कर दूसरे अग्नि (रसोई आदि का अग्नि) में नहीं दिखाई देता, अतः द्रवत्व की अव्याप्ति हुई।

समा०—ऐसे स्थल पर 'द्रवत्ववत्त्व' का परिष्कृत अर्थ करना चाहिए। अर्थात् जातिघटित लक्षण कर देना चाहिए। द्रवत्ववत्त्व का परिष्कृत अर्थ इस प्रकार होगा—'द्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' इस अर्थ के करने से अव्याप्ति का निवारण हो जायगा। क्योंकि द्रवत्ववान् करके घृत, जतु, पृथ्वी, जल, पिघला हुआ सुवर्णादिरूप तेज, उनमें वृत्ति (रहनेवाला) जो द्रव्यत्वव्याप्य जाति, क्रम से पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजत्व जाति, उस जाति के अन्तर्गत पृथ्वीत्वजातिमत्त्व घटादिरूप पृथ्वी में तथा तेजत्वजातिमत्त्व द्रुत (पिघले) सुवर्णादि से भिन्न वह्निरूप तेज में भी है, इसलिए अव्याप्ति नहीं हो पायेगी। इसी पद्धति से पृथ्वीत्वजाति को लेकर पूर्वप्रदर्शित सभी स्थलों में लक्षण को घटा लेना चाहिए।

शंका—'चाक्षुषप्रत्यक्षविषयत्व' रूपसाधर्म्य की पृथिवी, जल आदि के परमाणुओं में तथा द्व्यणुक में अव्याप्ति होगी, क्योंकि—परमाणु एवं द्व्यणुक का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता, वे अतीन्द्रिय हैं। अतः उनमें 'प्रत्यक्षविषयत्व' न होने से अव्याप्ति हो रही है। उसी प्रकार रूप, रूपत्व और क्रिया में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि रूपत्व और क्रिया का प्रत्यक्ष होता है। अतः उनमें 'प्रत्यक्षविषयत्व' है। किन्तु रूप आदि उक्त साधर्म्य के लक्ष्य नहीं हैं। अतः अलक्ष्य में साधर्म्य का लक्षण जाने से अतिव्याप्ति हो रही है।

समा०—यहाँ पर भी जाति-घटितलक्षण करने से अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषों का वारण हो जायगा। जातिघटित करने का प्रकार—चाक्षुष प्रत्यक्ष के जो विषय हैं उनमें वृत्ति (रहनेवाली) जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति'—यह अर्थ 'प्रत्यक्षविषयत्व'

का करना चाहिए। जैसे—चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय 'पृथ्वी' (घट), जल, तेज होंगे, उनमें वृत्ति (रहनेवाली) द्रव्यत्वव्याप्यजाति करके पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजत्व जाति होगी, तादृशजातिमान्, पृथ्वी, जल तेज के परमाणु भी होंगे। अतः तादृश (उस प्रकार के) जातिमत्त्वरूप-प्रत्यक्षविषयत्व के परमाणु, द्वयणुक आदि में अव्याप्ति नहीं होगी। और रूप, रूपत्व, क्रिया में तादृश-द्रव्यत्वव्याप्यजाति के न होने से उनमें अतिव्याप्ति भी नहीं होगी। चाक्षुषप्रत्यक्ष के विषय में रहनेवाली द्रव्यत्वव्याप्य जातियाँ केवल पृथ्वीत्व जलत्व और तेजत्व ये तीन ही होती हैं।

शंका—'प्रत्यक्षविषयत्व' का अर्थ 'चाक्षुष लौकिक प्रत्यक्षविषयत्व' है ऐसा पहले कह चुके हैं। परन्तु इस परिष्कृत अर्थ में से यदि 'चाक्षुष' पद हटा दिया जाय तो कहाँ दोष आएगा?

समा०—'चाक्षुष' पद न देने पर 'आत्मा में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'आत्मा' का भी लौकिक मानस प्रत्यक्ष होता है। एवंच लौकिक मानस प्रत्यक्ष का विषय होनेवाले आत्मा में वृत्ति (रहनेवाली) द्रव्यत्वव्याप्यजाति 'आत्मत्व' जाति होगी, तादृशजातिमान् 'आत्मा' होगा। इस रीति से 'लौकिकप्रत्यक्षविषयत्व की अतिव्याप्ति हो जायगी। किन्तु 'चाक्षुष' पद के देने पर—अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है। क्योंकि—'आत्मा' चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय नहीं होता, उसका तो मानस प्रत्यक्ष होता है। इस रीति से अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिए 'चाक्षुष' पद देना आवश्यक है।

इति पृथिव्यप्तेजसां साधर्म्यकथनम्।

गुरुणी इति। गुरुत्ववत्त्वं रसवत्त्वं च पृथिवीजलयोरित्यर्थः न च घ्राणेन्द्रियादीनां वाय्वानीतपार्थिवादिभागानां च रसादिमत्वे किं मानमिति वाच्यम्, तत्रापि पृथिवीत्वादिना तदनुमानात्।

इति पृथिवीजलयोः साधर्म्यकथनम्।

पृथ्वी और जल का 'गुरुत्ववत्त्व तथा रसवत्त्व' साधर्म्य पहले बता चुके हैं। उस सम्बन्ध में भी जिज्ञासा उपस्थित होती है—नैयायिक तथा वैशेषिकों के मत में पृथिवी और जल में ही 'गुरुत्व' माना गया है। सुवर्ण भी तैजसपदार्थ होने से उसमें जो 'गुरुत्व' है, वह पार्थिव अंश के कारण है। पृथ्वी और जल दोनों में ही 'रस' माना गया है। जल में मधुर रस और पृथ्वी में अनेक प्रकार के रस रहते हैं, यह भूलना नहीं चाहिये।

शंका- नैयायिकों ने घ्राणेन्द्रिय को पृथ्वी माना है, तब उस (घ्राणेन्द्रिय) के पार्थिव भाग में तथा वायुवेग के द्वारा उड़कर आये हुए पार्थिव कणों में या जलीय कणों में तथा द्वयणुकों में रस (रसादिमत्त्व या गुरुत्ववत्त्व) की प्रतीति क्यों नहीं होती?

समा०—वहाँ पर भी (घ्राण, रसना, परमाणु आदि में भी) 'पृथ्वीत्व और जलत्व' हेतु के द्वारा रसादिमत्त्व (उनके रस) का अनुमान कर लेना चाहिये।

जैसे--'घ्राणेन्द्रियं रसवत् पृथिवीत्वात् शर्करावत्'। 'घ्राणं गुरुत्ववत् पृथिवीत्वात् घटवत्'। रसनं रसवत् जलत्वात् कूपोदकवत्', 'रसनं गुरुत्ववत् जलत्वात् करकावत्। उसी तरह 'पार्थिवपरमाण्वादयः रसवन्तः गुरुत्ववन्तश्च पृथिवीत्वात् शर्करादिवत्'; 'जलपरमाण्वादयः रसवन्तः गुरुत्ववन्तश्च जलत्वात् नारिकेलजलवत्'। इन अनुमान प्रयोगों से पृथ्वी, जल का गुरुत्ववत्त्व और रसवत्त्व साधर्म्य सिद्ध होता है।

इति पृथिवीजलयोः साधर्म्यकथनम्।

द्वयोरिति। पृथिवीतेजसोरित्यर्थः न च नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्वं घटादौ वह्न्यादौ चाव्याप्तमिति वाच्यम्, नैमित्तिकद्रवत्वसमानाधिकणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्॥ २८॥

इति पृथिवीतेजसोः साधर्म्यकथनम्।

पृथ्वी और तेजस् (तेज) दोनों का 'नैमित्तिकद्रवत्वत्त्व' साधर्म्य है। जिस द्रव्य में किसी कारण (निमित्त) से द्रवत्व होता है, उस द्रव्य को नैमित्तिकद्रवत्ववान् कहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज तीनों में द्रवत्वगुण रहता है। उनमें से 'जल' में 'स्वाभाविकद्रवत्व' रहता है। बरफ में जो कठिनता रहती है, वह तो किसी विशेष कारण (निमित्त) से हो जाती है। पृथ्वी और तेज में जो द्रवत्व होता है, वह स्वाभाविक नहीं है अपितु, किसी विशेष कारण (निमित्त) से होता है। व्यवहार में हम देखते भी हैं कि घी, तेल, लाख आदि पार्थिव द्रव्यों में तथा सुवर्णादि तैजस द्रव्यों में जो पतलापन (द्रवत्व-तरलता) होता है, वह किसी विशेष निमित्त से (अग्निसंयोग, यंत्रसंयोग से) ही होता है। अतः पृथ्वी, तेज का नैमित्तिकद्रवत्व' साधर्म्य बताया गया है।

शंका--उपर्युक्त 'नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्व' साधर्म्य की 'घट' आदि पृथ्वी में तथा अग्नि आदि में अव्याप्ति है। क्योंकि किसी भी निमित्त से वहाँ 'द्रवत्व' नहीं हो पाता।

समा०—वहाँ पर 'नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्व' का परिष्कृत अर्थ करना होगा। अर्थात् 'नैमित्तिकद्रवत्वसमानाधिकरण-द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' यह अर्थ करना होगा। समानाधिकरण का अर्थ होता है 'एक अधिकरण में दोनों का रहना। तब लक्षण समन्वय इस प्रकार किया जायगा—'नैमित्तिकद्रवत्व के अधिकरण में रहनेवाली जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति, तादृशजातिमत्त्व'। प्रकृत स्थल में नैमित्तिकद्रवत्व का अधिकरण यद्यपि 'घटादि' तथा 'अग्नि' न हो, तथापि अधिकरण करके 'घृतरूप पृथ्वी' तथा द्रुतसुवर्णादिरूप तेज' लेंगे, उनमें रहनेवाली द्रव्यत्वव्याप्यजाति क्रमशः 'पृथ्वीत्व', तथा 'तेजत्व जाति होगी, तद्वत्ता समस्त पृथ्वी और समस्त तेजों में रहेगी। अतः तादृशजात्यन्तर्गत 'पृथ्वीत्व-जातिमान् घटादिरूपा पृथ्वी' भी है और 'तादृशतेजत्वजातिमान् वह्निरूप तेज' भी है, इसलिए उनमें अव्याप्ति नहीं है॥ २८॥

इति पृथिवीतेजसोः साधर्म्यकथनम्।

आत्मानो भूतवर्गाश्च विशेषगुणयोगिनः ।
यदुक्तं यस्य साधर्म्यं वैधर्म्यमितरस्य तत् ॥ २९ ॥

परमात्मा, जीवात्मा और पांच भूत ये विशेष गुणवाले हैं। अर्थात् इनका 'विशेषगुणवत्त्व' साधर्म्य है। तात्पर्य यह है कि इन्हीं छह द्रव्यों में विशेषगुण रहते हैं। 'बुद्धयादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः। अदृष्टभावनाशब्दा अमी वैशेषिका गुणाः ॥' बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये छह और 'रूप, रस, गन्ध, स्पर्श' ये चार और स्नेह, सांसिद्धिकद्रवत्व, अदृष्ट अर्थात् धर्म-अधर्म, भावनाख्यसंस्कार तथा शब्द ये सोलह विशेष गुण कहे जाते हैं। ये 'विशेष गुण' पांच भूत और आत्मा में होते हैं। अवशिष्ट 'दिक्, काल और मन' तीन द्रव्यों में कोई विशेषगुण नहीं रहता। जो गुण किसी खास द्रव्य में रहे उसे विशेषगुण कहते हैं और साधारणरूप से अनेक द्रव्यों में जो पाया जाय उसे सामान्यगुण कहते हैं। जैसे—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व अपरत्व आदि ये गुण सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं। अतः ये सामान्यगुण समझे जाते हैं।

अभी तक जो जिसका साधर्म्य बताया गया है, वही साधर्म्य अन्य द्रव्यों का वैधर्म्य है। जैसे द्रव्य, गुण, कर्म तीनों का 'सत्तावत्त्व' साधर्म्य बताया है। अतः इन तीनों से अन्य जो सामान्यादि हैं, उनका वैधर्म्य 'सत्तावत्त्व' होगा। अर्थात् विरुद्ध धर्म कहलाएगा। किन्तु ज्ञेयत्व, 'वाच्यत्व' प्रमेयत्व, अभिधेयत्व, पदार्थत्व' ये केवलान्वयी धर्म किसी के भी वैधर्म्य (विरुद्धधर्म) नहीं होते। ये सभी पदार्थों के समान धर्म होते हैं। केवलान्वयी धर्म उसे कहते हैं जो—अत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वं केवलान्वयित्वम्'—अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी न हो अर्थात् अप्रतियोगी धर्म हो।

'आत्मान' इति। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मनां विशेषगुणवत्त्वं साधर्म्यमित्यर्थः।

इति भूतात्मनोः साधर्म्यकथनम्।

पृथ्वी में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श। जल में रूप, रस, स्पर्श। तेजस् (तज) में रूप, स्पर्श। वायु में स्पर्श। आकाश में शब्द। जीवात्मा में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना। ईश्वर (परमात्मा) में ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न ये धर्म समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अतः समवायेन 'विशेषगुणवत्त्व' को पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, आत्मा का साधर्म्य कहा है। यहाँ तक साधर्म्य बताया।

इति भूतात्मनोः साधर्म्यकथनम्।

यदुक्तमिति। ज्ञेयत्वादिकं विहायेति बोध्यम्। तत्त न कस्यापि वैधर्म्यं, केवलान्वयित्वात् ॥ २९ ॥

इति वैधर्म्यनिरूपणम्।

अब उनका वैधर्म्य भी 'यदुक्तम्' से संक्षेप में बता रहे हैं। जो-जो धर्म (गुण अथवा कर्म आदि) जिस-जिस पदार्थ का साधर्म्य है, उन धर्मों में ज्ञेयत्व, अभिधेयत्व आदि धर्मों का भी साधर्म्य समझना चाहिये। इनके अतिरिक्त ये धर्म उक्त पदार्थों से भिन्न पदार्थों के वैधर्म्यरूप हैं। जैसे--'समवायिकारणता' द्रव्यों का साधर्म्य है, किन्तु वही समवायिकारणता 'गुणों' का वैधर्म्य है। 'सप्तानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वादिकमुच्यते' इससे स्पष्ट है कि 'ज्ञेयत्व-प्रमेयत्वादि धर्म' किसी भी पदार्थ के वैधर्म्य नहीं, ये तो सातों पदार्थों के साधर्म्य हैं। अतः ज्ञेयत्वादि धर्मों से भिन्न धर्मों को वैधर्म्यरूप समझना चाहिये। 'ज्ञेयत्वादि धर्म' तो केवलान्वयी हैं, वे किसी पदार्थ के विरुद्ध धर्म नहीं हो सकते ॥ २९ ॥

इति वैधर्म्यनिरूपणम्।

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः।
स्पर्शाद्यष्टौ रूपवेगौ द्रवत्वं तेजसो गुणाः ॥३०॥
स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वं च द्रवत्वकम्।
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश ॥३१॥
स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश।
बुद्ध्यादिषट्कं सङ्ख्यादिपञ्चकं भावना तथा ॥३२॥
धर्माधर्मौ गुणा एते ह्यात्मनः स्युश्चतुर्दश।
सङ्ख्यादिपञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे ॥३३॥
सङ्ख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे।
परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे ॥३४॥

'स्पर्शादय इति।' ते च पञ्चसंख्यादयः। खे आकाशे ॥३०-३४॥

इति सामान्यतो द्रव्यगुणकथनम्।

उन्तीस कारिकाओं तक पदार्थों का साधर्म्य-वैधर्म्य बता चुके। अब तीसवीं कारिका से चौंतीसवीं कारिका तक किन-किन द्रव्यों में कितने और कौन-कौन गुण रहते हैं, उसे बता रहे हैं। इस विषय में एक प्राचीन कारिका भी है— 'वायोर्नवैकादश तेजसो गुणा, जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश। दिक्कालयोः पञ्च, षडेव चाम्बरे, महेश्वरेऽष्टौ, मनसस्तथैव च।' इस प्राचीन कारिका के अनुसार ही ग्रन्थकार ने वायु आदि द्रव्यों में गुणों की व्यवस्था का निरूपण किया है। वायु में नौ गुण रहते हैं, तेज (तेजस्) में ग्यारह गुण रहते हैं, जल, पृथ्वी, जीवात्मा में चौदह गुण रहते हैं, दिक् (दिशा) और काल में पाँच गुण रहते हैं, अम्बर (आकाश) में छह गुण रहते हैं, ईश्वर में आठ गुण रहते हैं, मन में भी आठ गुण रहते हैं। इस कारिकार्थ को ही ध्यान में रखकर ग्रन्थकार अपनी कारिकाओं के द्वारा किस द्रव्य में कितने और कौन गुण रहते हैं, उसे बता रहे हैं। 'स्पर्शा-

दयोष्टौ' (१) स्पर्श, (२) संख्या, (३) परिमाण, (४) पृथकत्व, (५) संयोग, (६) विभाग, (७) परत्व, (८) अपरत्व, (९) वेगाख्यसंस्कार—ये नौ गुण (वायु) के हैं। उनमें 'स्पर्श' विशेष गुण है, शेष सामान्य गुण हैं। 'स्पर्शाद्यष्टाविति' (१) स्पर्श, (२) संख्या, (३) परिमाण, (४) पृथक्त्व, (५) संयोग, (६) विभाग, (७) परत्व, (८) अपरत्व, (९) रूप, (१०) वेगाख्यसंस्कार, (११) नैमित्तिकद्रवत्व—ये ग्यारह गुण 'तेज' के हैं। उनमें स्पर्श और रूप विशेषगुण हैं, शेष सामान्यगुण हैं ॥ ३० ॥ स्पर्शादयोष्टाविति ।' (१) स्पर्श, (२) संख्या, (३) परिमाण, (४) पृथक्त्व, (५) संयोग, (६) विभाग, (७) परत्व, (८) अपरत्व, (९) वेगाख्यसंस्कार, (१०) सांसिद्धिक [स्वाभाविक] द्रवत्व, (११) गुरुत्व, (१२) रूप, (१३) रस, (१४) स्नेह–ये चौदह गुण 'जल' के हैं। उनमें स्पर्श, सांसिद्धिकद्रवत्व, रूप, रस, स्नेह विशेषगुण हैं, शेष सामान्यगुण हैं ॥ ३१ ॥ 'स्नेहहीनेति ।' उपर्युक्त चौदह गुणों में से 'स्नेह' के स्थान में 'गन्ध' को रख देने से चौदह गुण पृथ्वी के हो जाते हैं। जैसे—(१) स्पर्श, (२) संख्या, (३) परिमाण, (४) पृथक्त्व, (५) संयोग, (६) विभाग, (७) परत्व, (८) अपरत्व, (९) वेग, (१०) नैमित्तिकद्रवत्व, (११) गुरुत्व, (१२) रूप, (१३) रस, (१४) गन्ध–ये चौदह गुण, 'पृथ्वी' के हैं। उनमें से स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विशेषगुण हैं, शेष सामान्यगुण हैं। 'बुद्धचादिषट्कमिति ।' (१) बुद्धि, (२) सुख, (३) दुःख, (४) इच्छा, (५) द्वेष, (६) प्रयत्न–ये बुद्धयादिषट्क (छह) हैं। संख्यादिपञ्चकमिति । (१) संख्या, (२) परिमाण, (३) पृथक्त्व, (४) संयोग, (५) विभाग–ये संख्यादि पञ्चक हैं। (६) भावनाख्यसंस्कार, (७) धर्म, (८) अधर्म–ये चौदह गुण जीवात्मा के हैं, उनमें से बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, भावना, धर्म अधर्म विशेष गुण हैं, शेष सामान्य गुण हैं। संख्यादिपञ्चकं कालदिशोरिति ।' (१) संख्या, (२) परिमाण, (३) पृथक्त्व, (४) संयोग, (५) विभाग–ये पाँच गुण काल के और दिक् (दिशा) के हैं। सामान्यगुण हैं, क्योंकि काल और दिक् के विशेषगुण नहीं होते। शब्दश्च ते च खे इति। ते च' अर्थात् (१) संख्या, (२) परिमाण, (३) पृथक्त्व, (४) संयोग, (५) विभाग, (६) शब्द—ये छह गुण ख=आकाश के हैं। उनमें से 'शब्द' विशेषगुण है, शेष सामान्यगुण हैं ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ संख्यादयः पञ्च इति । (१) संख्या, (२) परिमाण, (३) पृथक्त्व, (४) संयोग, (५) विभाग, (६) बुद्धि, (७) इच्छा, (८) प्रयत्न–ये आठ गुण ईश्वर के हैं। इनमें से बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न विशेषगुण हैं, शेष सामान्यगुण हैं परापरत्वे इति। (१) परत्व, (२) अपरत्व, (३) संख्या, (४) परिमाण, (५) पृथक्त्व, (६) संयोग, (७) विभाग, (८) वेग—ये आठ गुण 'मन' के हैं। ये सब सामान्यगुण हैं, क्योंकि 'मन के विशेषगुण नहीं होते। 'रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म,

भावनारूपसंस्कार, शब्द स्नेह, सांसिद्धिकद्रवत्व—ये विशेषगुण कहे जाते हैं। और संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिक-द्रवत्व, वेग–स्थितिस्थापकसंस्कार–ये सामान्यगुण कहे जाते हैं ॥ ३४ ॥

ने च पञ्च संख्यादयः। खे=आकाशे ॥ ३०, ३१, ३२, ३३, ३४ ॥

मुक्तावलिकार ने 'ते सर्वनाम से संख्यादि पाँच और 'खे' पद का अर्थ बताया 'आकाशे' आकाश में ॥ ३०–३४ ॥

इति सामान्यतो द्रव्यगुणकथनम्।

इति बालप्रियासनाथायां मुक्तावल्यां साधर्म्यं वैधर्म्यनिरूपणात्मिका प्रथमप्रकरणलक्षणा।

प्रत्यक्षखण्डे द्रव्यनिरूपणं नाम द्वितीयं प्रकरणम्

तव क्षितिर्गन्धहेतुर्नानारूपवती मता।
षड्विधस्तु रसस्तत्र गन्धस्तु द्विविधो मतः ॥३५॥

द्रव्यनिरूपण—नामक द्वितीय प्रकरण का आरम्भ किया जा रहा है। चौतीसवीं कारिका तक सात पदार्थों का साधर्म्य-वैधर्म्य बताते हुए किन द्रव्यों में कितने और कौन-कौन गुण रहते हैं, यह बताया गया। अब पृथ्वी आदि प्रत्येक द्रव्य का निरूपण कर रहे हैं। 'गन्धहेतुः'=गन्ध का समवायिकारण। उक्त द्रव्यों में 'पृथ्वी' द्रव्य, गन्ध का समवायिकारण है।

साधर्म्यवैधर्म्ये निरूप्य सम्प्रति प्रत्येकं पृथिव्यादिकं निरूपयति'तत्रे'ति। गन्धहेतुरिति। गन्धसमवायिकारणमित्यर्थः। यद्यपि गन्धवत्त्वमात्रं लक्षणमुचितं, तथापि पृथिवीत्वजातौ प्रमाणोपन्यासाय कारणत्वमुपन्यस्तम्। तथा हि—पृथिवीत्वं हि गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्ध्यति अन्यथा गन्धत्वा-वच्छिन्नस्याकस्मिकत्वापत्तेः।

यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि 'काल' कार्यमात्र के प्रति कारण है। तब 'गन्ध-हेतुत्वम्पृथिवीत्वम्' गन्ध का जो हेतु हो वह 'पृथ्वी' है—इस 'पृथ्वीलक्षण' की 'काल और दिक्' में अतिव्याप्ति होगी। अतः 'गन्ध हेतुः' शब्द का अर्थ बताते हैं—'गन्धसमवायिकारणमिति।' अर्थात् 'समवायेन गन्धकारणं पृथ्वीलक्षणम्' समवाय-सम्बन्ध से जो गन्ध का कारण हो, उसे 'पृथ्वी' कहेंगे। कालः कालिकसम्बन्धेन गन्धहेतुः—काल, कालिकसम्बन्ध से गन्ध का कारण होता है, समवाय सम्बन्ध से नहीं। उसी तरह दिक् 'दैशिकसम्बन्ध से गन्ध की हेतु होती है, समवायसम्बन्ध से नहीं। अतः दोनों में पृथ्वीलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

शंका—सुरम्यसुरभिकपालारब्ध तथा प्रथमलक्षणवर्ती निर्गन्ध 'घट' में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी।

समाधान—जातिघटित लक्षण करने से अव्याप्ति नहीं होगी। अर्थात् 'गन्धवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्' इतना अर्थ 'गन्धवत्' पद का विवक्षित करेंगे, तब अव्याप्ति नहीं होगी। गन्धवान् जो कपालादि उनमें रहनेवाली (तद्वृत्ति) जो द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्यजाति, यानी 'पृथ्वीत्व' जाति, तादृशजातिमत्त्व' 'गन्धवत्' पद से विवक्षित किया गया है। अतः सुरम्यसुरभिकपालारब्ध तथा प्रथमक्षण के निर्गन्धघट में भी पृथ्वीत्व के होने से लक्षणसमन्वय हो जाता है। अतः अव्याप्ति नहीं होगी। नौ द्रव्यों में से यह 'पृथ्वी' ही 'गन्ध' के प्रति समवायिकारण है। पृथ्वी से गन्ध उत्पन्न होता है। वह 'गन्ध' समवायसम्बन्ध से पृथ्वी में रहता है। अतः 'गन्धवत्त्व' यह लक्षण 'पृथ्वी' का किया गया है। अर्थात् 'जिसमें गन्ध हो वही पृथ्वी है' यह समझना चाहिये।

शंका—'गन्धवत्त्वं पृथ्वीत्वम्' इस लघु लक्षण से ही निर्वाह हो सकता है तो 'गन्धसमवायिकारणम्—'पृथ्वीत्वम्' इस गुरुभूत लक्षण करने की आवश्यकता क्यों हुई ? अर्थात् 'पृथ्वी ही' गन्ध के प्रति कारण है, यह क्यों कहा गया ? इसी आशय को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि कारिकाकार ने 'गन्धहेतुः' इस पृथ्वी के लक्षण में 'हेतु' पद का ग्रहण क्यों किया ?

समा०—तथापिति। 'पृथ्वीत्व' जाति की प्रामाणिकता (पृथ्वीत्व जाति को सिद्ध करने में अनुमान प्रमाण है) प्रदर्शित करने के लिए ही लक्षण में 'हेतु' पद दिया गया है, जिसका अर्थ 'गन्ध-समवायिकारणम्' है। पृथ्वीत्वजाति के सिद्ध करने में अनुमान इस प्रकार किया जायगा—'समवायसम्बन्धावच्छिन्नागन्धत्वावच्छिन्न गन्धनिष्ठकार्यतानिरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न पृथ्विनिष्ठा कारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्, घटनिष्ठकार्यतानिरूपितकपालगतकारणतावत्। यथा कपालनिष्ठा कारणता कपालत्वधर्मावच्छिन्ना, तथा पृथ्वीनिष्ठा कारणता अपि पृथ्वीत्वधर्मावच्छिन्ना अवगन्तव्या।' इस अनुमान के बल पर ही यह कहा गया है कि 'पृथ्वी ही गन्ध के प्रति कारण है अर्थात् 'गन्धसमवायिकारणं पृथ्वीत्वम्' यह लक्षण किया गया है। इस रीति से गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकतया 'पृथ्वीत्व जाति की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् जो गन्ध का समवायिकारणतावच्छेदक हो उसी को पृथ्वीत्व' जाति कहते हैं। क्योंकि अन्यून और अनतिप्रसक्तधर्म ही कारणतावच्छेदक होता है। अन्यथेति। पृथ्वी को यदि गन्ध के प्रति कारण न मानें तो 'गन्ध' की उत्पत्ति अकस्मात् कहनी होगी। अर्थात् कारण के बिना ही (गन्ध) कार्य की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। किन्तु कारण के बिना तो कार्य की उत्पत्ति होती नहीं, यह नियम है। कारण के रहने पर ही कार्य की उत्पत्ति हुआ करती है। यदि कारण के बिना ही कार्य की आकस्मिक उत्पत्ति हुआ करेगी तो बिना जल के ही पिपासा (प्यास) शान्त होनी चाहिए। बिना खाद्य के ही बुभुक्षा (भूख) की शान्ति होनी

चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः कहना होगा कि जो गन्ध का कारण है, वह पृथ्वी ही है। जिस किसी भी वस्तु (द्रव्य) में गन्ध आता है, उसमें पृथ्वी का अंश होने से ही गन्ध आता है, आकस्मिक नहीं। वह कारणता निरवच्छिन्न (किसी अनुगत धर्म से रहित) नहीं हुआ करती, अपितु वह किसी अनुगत धर्म से अवच्छिन्न (युक्त) ही रहती है, वह अनुगत धर्म ही उस कारणता का अवच्छेदक (मर्यादक भेदक) माना जाता है, उस अनुगत अवच्छेदक धर्म को ही 'पृथ्वीत्वजाति' कहते हैं। इस कारण पृथ्वी[1] ही गन्ध की उत्पत्ति का कारण है, तथा उस पृथ्वी में समवायसम्बन्ध से गन्ध रहता है, यह सिद्ध हुआ।

---

१. पृथ्वी का परिष्कृत लक्षण यह होगा—'गन्धसमानाधिकरणं द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं'--पृथिव्या लक्षणम्। गन्ध के समानाधिकरण तथा द्रव्यत्व जाति का साक्षात्व्याप्यजातिवाला जो द्रव्य, वही पृथ्वी' है। 'गन्ध' समवाय सम्बन्ध से पृथ्वी में रहता है। इस कारण 'पृथ्वीत्व' जाति, गन्धसमानाधिकरण हुई। वह 'पृथ्वीत्वजाति' द्रव्यत्वजाति का साक्षात् व्याप्य भी है। क्योंकि वह 'पृथ्वीत्वजाति एकमात्र सम्पूर्ण पृथ्वी में रहती है। और 'द्रव्यत्व जाति' सम्पूर्ण नौ द्रव्यों में रहती है। उपर्युक्त लक्षण में 'गन्धसमानाधिकरण' यह पद यदि न दें तो 'जलत्व' आदि जातियाँ भी 'द्रव्यत्व' जाति की साक्षात् व्याप्य जातियाँ हैं। तब उन जातिवाले जलादि द्रव्यों में अतिव्याप्ति होगी। उस अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये 'गन्धसमानाधिकरण' पद देना आवश्यक है। अब 'द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य' पद न दें तो 'द्रव्यत्वजाति' तथा 'सत्ताजाति' को लेकर जल आदि में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि जिस पृथ्वी में गन्ध रहता है, वहीं पर द्रव्यत्व तथा सत्ताजाति भी रहती है। उन जातिवाले जल आदि द्रव्य भी हैं। अतः इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ, द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य' यह पद देना आवश्यक हुआ। तब 'सत्ताजाति' द्रव्यत्वजाति का व्यापक है, व्याप्य नहीं। क्योंकि 'सत्ताजाति' गुण तथा कर्म में भी रहती है। अतः वह द्रव्यत्वजाति की व्याप्यजाति नहीं हुई। अब यदि उक्त लक्षण में 'साक्षात्' पद न दें तो गन्धसमानाधिकरण तथा द्रव्यत्वजाति की व्याप्यजाति करके 'घटत्व' जाति को लें तो केवल 'घटरूप पृथ्वी' में तो लक्षणसमन्वय हो जायगा, किन्तु पटादिरूप पृथ्वी में 'अव्याप्ति होगी। इस अव्याप्ति के निवारणार्थ 'साक्षात्' पद देना आवश्यक है। 'साक्षात्' पद देने पर 'घटत्व' आदि जाति, 'द्रव्यत्वजाति' का साक्षात् व्याप्य नहीं है, साक्षात् व्याप्य तो पृथ्वीत्व' जाति ही ही होगी। 'घटत्व' आदि जाति तो 'पृथ्वीत्वजाति' का साक्षात व्याप्य हैं, 'द्रव्यत्वजाति' की नहीं। अतः पृथ्वीत्व, जलत्व आदि जातियाँ ही 'द्रव्यत्वजाति' के साक्षात् व्याप्य हैं।

शंका—'इयं नीलरूपा पृथ्वी, इयं पीतरूपा च' इस प्रत्यक्ष प्रमाण से ही 'पृथ्वी

न च पाषाणादौ गन्धाभावाद्गन्धवत्त्वमप्राप्तमिति वाच्यं तत्रापि गन्धसत्वात्। अनुपलब्धिस्त्वनुत्कटत्वेनाप्युपपद्यते। कथमन्यथा तद्भस्मनि गन्ध उपलभ्यते? भस्मनो हि पाषाणध्वंसजन्यत्वात्पाषाणोपादानोपादेयत्वं सिद्धयति। 'यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयमि' ति व्याप्तेः। दृष्टं चैतत्खण्डपटे महापट-ध्वंसजन्ये। इत्थं च पाषाणपरमाणोः पृथिवीत्वात्तज्जन्यस्य पाषाणस्यापि पृथिवीत्वम्। तथा च तस्यापि गन्धवत्त्वे बाधकाभावः।

शंका—'गन्धसमवायिकारणत्वं पृथिवीत्वम्' इस लक्षण की पाषाण आदि में गन्ध की उपलब्धि न होने से उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। 'आदि' शब्द से 'कांच' को समझिये। उक्त आशंका को हम अनुमान प्रयोग से इस प्रकार कह सकते हैं—'पाषाणः न पृथ्वी, गन्धाभाववत्त्वात्'।

समा०—पाषाण, गन्धाभाववान् है अर्थात् पाषाण में गन्ध नहीं है, इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है। शंका करने वाले ने जो 'गन्धाभाववत्त्व' हेतु दिया है, वह 'स्वरूपासिद्ध' है। 'स्वरूपासिद्धि' यह एक हेतुदोष है, उस दोष से दूषित होने के कारण उक्त हेतु' हेत्वाभास है, यथार्थ हेतु नहीं, अतः असद् हेतु से अनुमान करना उचित नहीं है। पाषाण, काँच आदि में भी 'पृथ्वीत्व' होने से गन्ध होने का अनुमान किया जा सकता है। जैसे—'पाषाणः गन्धवान् पृथ्वीत्वात् घटवत्'।

शंका०—यदि पाषाण, काँच आदि में गन्ध होती तो सूँघने पर उसकी उपलब्धि अवश्य होती। जब कि नहीं होती तो उससे गन्ध के अभाव (गन्ध न होने) का ही निर्णय किया जा सकता है।

समा०—पाषाण में गन्ध की जो अनुपलब्धि है, उसका कारण है—उस गन्ध

त्व' जाति की सिद्धि हो सकती है, तब अनुमान प्रमाण से 'पृथ्वीत्व' जाति को क्यों सिद्ध किया गया है?

समा०—परमाणु, द्वयणुक और घ्राणेन्द्रिय रूप पृथ्वी में प्रत्यक्ष प्रमाण की पहुँच नहीं है। इस कारण अनुमान-प्रमाण से पृथ्वीत्व-जाति को सिद्ध करने की आवश्यकता हुई। यथा—'पृथ्वीवृत्तिः या गन्धसमवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात्, तन्तुवृत्तिकारणतावत्।' पृथ्वी में जो गन्ध की समवायिकारणता है, वह किसी धर्म से अवच्छिन्न (युक्त मर्यादित) होने योग्य है, कारणता होने से। जो जो 'कारणता' होती है वह किसी न किसी धर्म से तो अवच्छिन्न होती ही है। निरवच्छिन्न कोई भी कारणता नहीं हुआ करती। जैसे तन्तुओं में पट की समवायिकारणता, तन्तुत्वधर्म से अवच्छिन्न रहती है, उसी प्रकार पृथ्वीवृत्ति गन्धसमवायिकारणता भी किसी धर्म से अवश्य अवच्छिन्न होगी। वह धर्म 'पृथ्वीत्व' जाति ही है। इस अनुमान प्रमाण से परमाणु, द्वयणुक, घ्राणेन्द्रियरूप अतीन्द्रिय पृथ्वी में तथा प्रसिद्धपृथ्वी में 'पृथ्वीत्व' जाति की सिद्धि करना सुगम हो जाता है।

का अनुत्कट (अनुद्भूत) होना। गन्ध की अनुत्कटता के कारण उसकी (गन्ध की) उपलब्धि नहीं हो पाती। उत्कट गन्ध का ही प्रत्यक्ष (उपलब्धि) हुआ करता है। अनुत्कट गन्ध का नहीं। पाषाण में गन्ध के रहने पर भी अनुत्कटता के कारण उसकी उपलब्धि नहीं हो पाती।

शंका—पाषाण में गन्ध के आने न आने में उत्कटता-अनुत्कटता की कल्पना करते बैठने की अपेक्षा यही क्यों न मान लिया जाय कि पाषाण में उत्कट या अनुत्कट किसी प्रकार की कोई गन्ध ही नहीं है।

समा०—कथमन्यथेति। पाषाण में उत्कट, अनुत्कट किसी प्रकार की कोई गन्ध ही यदि न होती तो पाषाणभस्म में गन्ध की उपलब्धि (घ्राणजप्रत्यक्ष) कैसे हो पाती। क्योंकि पाषाण का भस्म (चूना) पाषाण के ध्वंस (नाश) से उत्पन्न होता है। अतः पाषाणभस्म का उपादानकारण 'पाषाण' है। इस कारण पाषाणरूप उपादानकारण का वह पाषाणभस्म (चूना) उपादेय है। अर्थात् उपादानकरणनिरूपिता उपादेयता उस भस्म में है। अनुमान का आकार यह होगा—'पाषाणभस्म पाषाणोपादानोपादेयम् पाषाणध्वंसजन्यत्वात् महापटध्वंसजन्यखण्डपटवत्'।

जो अवयव (परमाणु) उस पाषाण के हैं, वे ही अवयव (परमाणु) उस भस्स के भी हैं। क्योंकि जो द्रव्य, जिस वस्तु (द्रव्य) के नाश से उत्पन्न होता है, उन दोनों द्रव्यों के अवयव एक ही होते हैं। क्योंकि ऐसा नियम (व्याप्ति) है कि यद्द्रव्यं-भस्मादिद्रव्यं, यद्द्रव्यध्वंसजन्यं पाषाणादिद्रव्यध्वंसजन्यं, तत्-भस्मादि द्रव्यं, तदुपादानोपादेयम्-पाषाणादिद्रव्यस्य यदुपादानं पार्थिवपरमाण्वादि तस्य उपादेयं कार्यं भवति।' जो भस्मादि द्रव्य, जिस (पाषाणादि) द्रव्य के ध्वंस से उत्पन्न होता है वह (भस्मादि द्रव्य) उस (पाषाणादि) द्रव्यरूप उपादान का उपादेय होता है। उपादान का अर्थ है—'समवायिकारण' और उपादेय का अर्थ है—'कार्य'। जैसे—बड़े वस्त्र के नाश से (फाड़ने से) जो खण्डवस्त्र (टुकड़ा) उत्पन्न होता है, तो उस बड़े तथा छोटे वस्त्र (टुकड़े) के अवयव एक ही हैं, अर्थात् बड़े वस्त्र के उपादानभूत परमाणु के ही दोनों (बड़ा तथा छोटा टुकड़ा) कार्य हैं, यह अनुभवसिद्ध है। उसी प्रकार प्रकृत प्रसंग में भी पाषाण के उपादान जो पाषाणपरमाणु, उसी के ये दोनों (पाषाण और पाषाणभस्म) कार्य हैं। तब पाषाणभस्म में गन्ध रहे और पाषाण में गन्ध न रहे यह कैसे संभव हो सकता है ? इसलिये पाषाण में भी 'गन्ध' को अवश्य ही स्वीकार करना होगा। यह जो प्रश्न है कि उसका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता तो उसका उत्तर ऊपर दिया जा चुका है कि गन्ध की अनुत्कटता (अनुद्भूतता) के कारण उसका (गन्ध का) वहाँ (पाषाणमें) प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। इस रीति से पाषाणके परमाणु जैसे पृथिवीरूप

हैं वैसे ही उनसे उत्पन्न हुआ पाषाण भी पृथिवीरूप है। अतः पाषाण के गन्धवान् होने में कोई बाधक नहीं है।[१]

---

(१) उपर्युक्त प्रघट्टक का सरल भाव इस प्रकार है—

शंका०—पृथ्वी के उक्त लक्षण की 'पाषाण' में अव्याप्ति होती है, तथा 'जल और वायु' में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि 'जल तथा वायु' सुगन्ध तथा दुर्गन्धवाले हैं, यह प्रतीति होती है, और पाषाण, कांच में गन्ध की प्रतीति नहीं होती।

समा०—जिस जल तथा वायु में कस्तूरी, पुष्प आदि गन्धयुक्त पृथ्वी का संयोग सम्बन्ध है, वहीं गन्ध की प्रतीति होती है, अन्यत्र नहीं। इस कारण परम्परा सम्बन्ध से वह पृथ्वी का गन्ध ही जल और वायु में प्रतीत होता है। अतः पृथ्वी 'गन्ध' समवायसम्बन्ध से रहता है, यह निर्णीत है।

शंका०—यदि कस्तूरी पुष्पादिरूपपृथ्वी का गन्ध ही संयोग सम्बन्ध से वायु के साथ उड़ जाता है तो पुष्पों में छेद होना चाहिये तथा कस्तूरी भी तौल में कम हो जानी चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं।

समा०—जितने सूक्ष्म अंशों को उनमें से वायु उड़ा ले जाता है उतने ही सूक्ष्म अंशों की भोक्ता प्राणियों के अदृष्ट से उनमें पुनः उत्पत्ति हो जाती है। इस कारण पुष्पों में छेद तथा कस्तूरी की तौल में न्यूनता नहीं होती।

शंका—यदि दूसरे अंशों की उत्पत्ति होती है तो सुरक्षित रखा कपूर कम क्यों हो जाता है?

समा०—कपूर आदि में भोक्ता प्राणियो के अदृष्ट नहीं हैं। अतः पृथ्वी का ही गन्ध, जल तथा वायु में आता है यह निश्चित होता है।

अब पाषाण के पक्ष में वादी से यह पूछना चाहिए की—तुम पाषाण में 'पृथ्वीत्व' को न मानकर दोष दे रहे हो, या पाषाण में 'पृथ्वीत्व' को मानकर दोष दे रहे हो?

यदि प्रथम पक्ष अंगीकार करो तो दोष देना संभव ही नहीं होगा। यदि द्वितीय पक्ष को अंगाकार करो तो, वह भी उचित न होगा। क्योंकि यदि आपने पृथ्वीत्व को मान लिया तो उसमें गन्ध अवश्य ही होगा। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'पाषाणादयः गन्धवन्तः पृथ्वीत्वात्, प्रसिद्ध पृथिवीवत्।'—पाषाणादि गन्धवाले हैं, पृथिवीत्व धर्मवाले होने से, जो जो द्रव्य पृथ्वीत्व धर्मवाला है, वह गन्धगुणवाला भी है, जैसे कस्तूरी, पुष्पादि द्रव्य। अतः पाषाण में भी गन्ध की सिद्धि हो जाती है।

शंका—कस्तूरी, पुष्प आदि के समान पाषाण में भी गन्ध की प्रतीति क्यों नहीं होती?

समा०—कस्तूरी, पुष्प आदि के समान पाषाण का गन्ध उद्भूत नहीं है, अपितु अनुद्भूत है। इस कारण प्रत्यक्ष प्रतीति को छोड़कर 'पृथ्वीत्व' हेतु के द्वारा अनुमान प्रमाण से उसमें गन्ध की प्रतीति होती है।

कारिकाकार ने 'पृथ्वी' का एक अन्य लक्षण भी किया है।

इस अन्य लक्षण की व्याख्या कर रहे हैं। नानारूपवती मता' इति। पृथ्वी–शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, चित्र' भेद से विविधरूपविशिष्ट है।

नानारूपेति। शुक्लनीलादिभेदेन नानाजातीयं रूपं पृथिव्यामेव वर्तते न तु जलादौ, तत्र शुक्लस्यैव सत्त्वात्। पृथिव्यां तु एकस्मिन्नपि धर्मिणि पाकवशेन नानारूपसम्भवात्। न च यत्र नानारूप नोत्पन्नं तत्राऽव्याप्तिरिति वाच्यं, रूपद्वयवदवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्, रूपनाशवदवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य वा वाच्यत्वात्। वैशेषिकनये पृथिवीपरमाणौ रूपान्तरस्य च सत्त्वात्। न्यायनये घटादावपि तत्सत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः।

शुक्ल, नीलादि भेद से सात प्रकार का, नानाजातीयरूप पृथ्वी में ही

शंका—पाषाण आदि को पृथ्वी मानने में ही कोई प्रमाण नहीं हैं।

समा०—अनुमान प्रमाण से पाषाण आदि में 'पृथ्वीत्व' सिद्ध ही है। तथा युक्ति से भी सिद्ध है। यथा–अग्निसंयोग आदि से जब पाषाण भस्मभाव को प्राप्त होता है, तभी घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का प्रत्यक्ष होता है। 'जहाँ गन्ध है वहाँ पृथ्वी है' इसमें किसी का विवाद नहीं है। अवयवों का गन्धगुण ही अवयवी के गन्धगुण का असमवायिकारण होता है। इस कारण भस्म के आरम्भक अवयवों में पृथ्वीत्व सिद्ध होने पर उन पाषाणादिकों के आरम्भक अवयवों में भी पृथ्वीत्व को अवश्य स्वीकृत किया जायगा। क्योंकि यह नियम है कि सौ हाथपरिमित महापट (महान् वस्त्र) के ध्वंस से उत्पन्न हुआ जो दस हाथ परिमित खण्डपट (वस्त्र का) टुकड़ा है, वह (खण्डपट) महापट के उपादान (समवायिकारण) रूप तन्तुओं का ही उपादेय (कार्य) है, अर्थात् महापट के तन्तु ही खण्डपट के उपादान कारण हैं।

क्योंकि महापट के अन्य समवायिकारण और खण्डपट के अन्य समवायिकारण मानने में कोई प्रमाण नहीं है। दोनों (महापट और खण्डपट) ही तंतूपादान-जन्यत्व धर्म से अवच्छिन्न हैं। उसी प्रकार पाषाण भी पृथ्वीपरमाणुजन्य होने से पृथ्वीत्वधर्मवान् (पार्थिव) है। अर्थात् जो अवयव पाषाणादि द्रव्यों के उपादान-कारण हैं, वे ही (अवयव) उस भस्मरूपद्रव्य के उपादानकारण होंगे। इस रीति से पृथ्वीपरमाणु में गन्ध होने से पाषाण में भी गन्धवत्ता का होना स्पष्ट होता है। अन्यथा उसके भस्म (चूर्ण) में कभी भी गन्ध की उपलब्धि न होती। क्योंकि कारण में अविद्यमान गुणों की उपलब्धि कार्य में कभी नहीं हुआ करती। अतः 'कारणगुणा एव कार्यगुणानारभन्ते' इस न्याय[1] से पाषाणादिकों में भी पृथ्वीत्व सिद्ध होता है।

एवंच—'पाषाणो न पृथिवी, गन्धाऽभाववत्त्वात्' इस पूर्वपक्षीय अनुमान में हेतु के पक्षवृत्ति न होने से स्वरूपासिद्धिदोष है। इस दूषित अनुमान से पाषाण में पृथिवीत्वाभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता।

---

१. 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः'—(वै. सू. ५।२।२५)

माना जाता है। वैसा जल, तेजस् (तेज) आदि में नहीं। जल और तेज में तो केवल शुक्लरूप रहता है। अर्थात् जल में अभास्वर (न चमकने वाला) शुक्लरूप और तेज में भास्वर (चमकने वाला) शुक्लरूप रहता है। यद्यपि पृथ्वी द्रव्य एक ही धर्मी (गुणों का आश्रम) है, तथापि उस एक में भी (घट में) पाक (अग्निसंयोग अर्थात् विजातीय तेजः संयोग) के द्वारा नाना (अनेक) रूपों की उत्पत्ति का होना संभव है। वैसा पाक जल आदि में नहीं होता। इस कारण उन जल आदि में अनेक प्रकार के रूपों की उत्पत्ति होना संभव नहीं है।

शंका—जिस पृथ्वी (पटादि) में कदाचित् नानारूप उत्पन्न नहीं हो पाये तो उनमें 'नानारूपवत्त्व' इस पृथ्वीलक्षण की अव्याप्ति होगी। क्योंकि पटादिरूप पृथ्वी में यदि पाक (विजातीय तेजःसंयोग) किया जायगा तो पट ही जलकर नष्ट हो जायगा। ऐसी स्थिति में पट में नानारूपों की उत्पत्ति कैसे होगी? और नानारूपों की उत्पत्ति तो पाक से ही होती है। अतः 'नानारूपवत्त्व' इस पृथ्वी लक्षण की घटपटादि पृथ्वी में अव्याप्ति होगी।

समा०—'नानारूपवत्त्व' इस पृथ्वीलक्षण को जातिघटित कर देने से अव्याप्ति नहीं होगी। अर्थात् 'नानारूपवत्त्व' का अर्थ करेंगे 'रूपद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' या 'रूपनाशवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' पृथ्वी में नाना प्रकार के रूप हैं इस कथन का तात्पर्य यह है कि जिस एक पृथ्वी (घटादि) में दो रूप उत्पन्न हुए हों अर्थात् कच्ची अवस्था में घट नीला (काला) होता है, वही घट पकने के अनन्तर रक्त (लाल) हो जाता है, उसी तरह दूसरा उदाहरण 'फल' को लीजिये। वह प्रथम हरा रहता है, बाद में सूर्य किरण रूप तेजःसंयोग से पीला रंग उसमें हो जाता है। एवंच दो रूप (तीन रूप भी) वाली पार्थिव वस्तु में वर्तमान (रहनेवाली) जो द्रव्यत्व की व्याप्य जाति है, वही जाति यहाँ अपेक्षित है, तादृश जातिवाला होना—अथवा जहाँ रूप का नाश होता हो ऐसी वस्तु में रहनेवाली जो द्रव्यत्व-व्याप्य-जाति,—तादृश जाति वाला होना इस अर्थ में 'नानारूपवत्त्व' का तात्पर्य है।

दोनों प्रकार के जातिघटित लक्षणों के अनुसार व्याप्यजाति 'पृथ्वीत्व' ही होगी। वह पृथ्वीत्वजाति, उस पार्थिव घट-पट आदि पृथ्वी में भी रहती है, जहाँ अनेक रूप नहीं हैं, अतः अव्यप्ति दोष नहीं होगा। इन दो जाति घटित लक्षणों में से प्रथम लक्षण अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयकत्वरूप जो द्वित्व है, उससे युक्त है। इस कारण प्रथम लक्षण में उपस्थितिकृत गौरव प्रतीत होता है। उस गौरव को दूर करने के लिए तथा शीघ्र उपस्थिति करानेहेतु दूसरा जातिघटित लक्षण किया गया है। (अयमेकः अयमेकः यह अपेक्षा बुद्धि का आकार है)। पाक से रूपपरिवर्तन के विषय में नैयायिक और वैशेषिकों की प्रक्रिया में मतभेद है। नैयायिकों को 'पिठरपाकवादी' कहते हैं। 'पिठर'=घटादिपात्ररूप अवयवी, उसमें पाक अर्थात् अवयवी में पाक। भट्ठी में कच्चा घट रखा जाता है तब पाक (विलक्षण

तेजःसंयोग) से पहला श्याम (नील) रूप नष्ट होता है पश्चात् रूपान्तर अर्थात् लालरूप उत्पन्न होता है। इस रूपपरिवर्तन के लिये जो पाक हुआ, वह पार्थिव कपालादिजन्य घटादि अवयवी में ही हुआ। उस अवयवी में ही पूर्वरूप का नाश और रूपान्तरोत्पत्ति हुई। इनके मत में परमाणुरूप अवयव तथा अवयवी (घट) दोनों में एक साथ ही पाक होता है, उससे पूर्वरूप का नाश और रूपान्तर की उत्पत्ति होती है। एवंच रूपनाशवान् घटादि पदार्थ हुआ, उस नष्टरूपवाले अर्थात् रूपनाशवान् घटादि पदार्थ में वृत्ति है जिसकी (रहनेवाली) ऐसी पृथ्वीत्व जाति ही होगी। क्योंकि वही द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्यजाति है, तादृशजातिमत्व ही 'नानारूपवत्त्व' पद से यहाँ विवक्षित है।

वैशेषिकों को 'पीलुपाकवादी' कहते हैं। 'पीलु'=परमाणु, उसमें पाक अर्थात् अवयवों में पाक। इनका कहना है कि भठ्ठी में रखे हुए घट के रूपपरिवर्तन के लिए जो पाक हुआ, वह (पाक) पृथ्वी (घट) के परमाणु में ही हुआ। अर्थात् पाक (विलक्षण अग्नि संयोग) से घटरूप अवयवी क्रमशः टूट जाता है, वह परमाणु की अवस्था तक प्राप्त होता है। तब उन परमाणुओं का श्यामरूप नष्ट हो जाता है और रक्तरूप उत्पन्न होता है। उनसे (परमाणुओं से) द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि क्रमशः होकर घटरूप अवयवी का पुनः निर्माण होता है।[1] उसमें (घट में) अपने कारणभूत परमाणुओं का रक्तरूप क्रमशः आ जाता है। इस प्रकार घट का नाश, पुनः उसकी उत्पत्ति इतनी शीघ्रता से होती है कि हमें पता ही नहीं चल पाता। इनके मत में पाक से परमाणुरूप अवयवों में पूर्वरूप का नाश तथा दूसरे रूप की उत्पत्ति होती है।

एवंच दोनों के अनुसार जिस घटरूप पृथ्वी में पूर्वरूप का नाश तथा दूसरे रूप की उत्पत्ति होती है, उसमें रहनेवाली जाति पृथ्वीत्व होगी वह पृथ्वीत्व जाति जिसमें नानारूप उत्पन्न नहीं हुए ऐसे पट आदि में भी रहती है, तादृशजातिमान् वे घटादि हैं। अतः कहीं भी अव्याप्ति दोष नहीं है।

'षडविधस्तु रसस्तत्रे'ति। अम्ल, मधुर, लवण, कटु, तिक्त, और कषाय यह छह प्रकार का रस (आस्वाद) पृथ्वी में है। इस कारण 'षड्विधरसवत्त्व' यह भी पृथ्वी का लक्षण है।

---

(१) विलक्षणतेज के संयोग से परमाणुओं में क्रिया पैदा होती है। तत् पश्चात् क्रिया से विभाग, तत्पश्चात् पूर्वसंयोग का नाश, तत्पश्चात् उत्तरदेश का संयोग होता है और साथ ही द्व्यणुक का नाश होता है। इस क्रम से त्र्यणुक आदि का नाश होने पर घट का नाश होता है। केवल परमाणुमात्र बचा हुआ है। जब अग्निसंयोग से प्रत्येक परमाणु पक जाता है तब पुनः अदृष्टवदात्मसंयोग से परमाणुओं में क्रिया पैदा होती है और क्रमशः द्व्यणुकादिकों की उत्पत्ति के बाद घट पूर्व की तरह बन जाता है यानी उत्पन्न होता है।

'षडविध इति। मधुरादिभेदेन यः षड्विधो रसः स पृथिव्यामेव। जले च मधुर एव रसः। अत्रापि पूर्ववद्रसद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं लक्षणार्थोऽवसेयः।

गन्धस्त्विति। द्विविध इति वस्तुस्थितिमात्रं, न द्विविधगन्धवत्त्वं लक्षणं, द्विविधत्वस्य व्यर्थत्वात्। द्वैविध्यं च सौरभासौरभभेदेन बोध्यम् ॥ ३५ ॥

मधुर, अम्ल, लवण, कटु (कडुआ), कषाय (कसैला), तिक्त (तीखा) भेद से जो (प्रसिद्ध) षड्विध अर्थात् मधुरत्व, अम्लत्व लवणत्व, कटुत्व, कषायत्व, तिक्तत्व, इस प्रकार षड्विधजातीय रस हैं, वे समवायिकारण पृथ्वी में ही रहते हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने 'एव' कार का प्रयोग किया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि पृथ्वीत्व से रहित जल में षड्विधरसवत्त्व नहीं है। जल से मुक्त जल में मधुरत्वजातीय रस ही रहता है।

शंका—'समवायेन षड्विधरसवत्त्वं' इस पृथ्वीलक्षण की जहाँ षड्विधरसों की क्रमशः उत्पत्ति नहीं होती उन शर्करादि पार्थिव वस्तुओं में अव्याप्ति होगी। और यदि 'समवायेन रसवत्त्वं' इतना ही लक्षण रखें तो 'जल' में अतिव्याप्ति होगी।

समा०—प्रदर्शित अव्याप्ति अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये यहाँ भी 'रसद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' ऐसा जातिघटित लक्षण कर देना चाहिये। अर्थात् पार्थिव आम्रफल आदि में जो दो प्रकार के रस उत्पन्न होते है, अथवा पाक के कारण रस का नाश होता है, उनमें रहनेवाली जो पृथ्वीत्वजाति है, वह पृथ्वीत्वजाति, द्रव्यत्वव्याप्यजाति होने से पार्थिव शर्करा आदि में भी रहेगी, अतः अव्याप्ति नहीं होगी। और केवल समवायेनरसवत्त्वं कहने के बजाय 'षड्विधरसवत्त्वं' कह दें तो जल में होनेवाली अतिव्याप्ति का निवारण हो जायगा, क्योंकि जल में तो केवल मधुर रस ही रहता है, षड्विधरस नहीं।

शंका—भिन्न भिन्न जलों में भिन्न भिन्न मधुर रस होते हैं। अतः मधुररसद्वयवाले जल में अतिव्याप्ति यथावस्थित रही।

समा०—'रसद्वयवत्' का अर्थ रसत्वव्याप्य-मिथोविरुद्ध मधुरत्व-अम्लत्वादिजातीयवत्' करना होगा। तब अतिव्याप्ति नहीं होगी। 'गन्धस्तु द्विविधो मतः' इति। पृथ्वी में गन्ध दो प्रकार का है, सुरभि (सुगन्ध) और असुरभि (दुर्गन्ध)। 'गन्धस्तु द्विविधो मतः' यहाँ पर 'द्विविध' पद केवल वस्तुस्थिति का बोधक है। अर्थात् गन्धरूप वस्तु की सुरभि-असुरभि भेद से द्विविधतया पृथ्वी में स्थिति है, यह सूचित करने के लिए द्विविध' पद दिया गया है। एवंच गन्धत्वव्याप्यसुरभित्व-असुरभित्वजाति से गन्ध की द्विविधता समझनी चाहिए। सुरभि या असुरभि गन्ध पृथ्वी में ही सम्भव है। पृथ्वी से भिन्न अन्य किसी वस्तु में सम्भव नहीं। अतः 'समवायेन गन्धवत्त्वं' इतना ही लक्षण करना पर्याप्त है। 'गन्धत्वव्याप्य-सुरभित्वासुरभित्व-जातीयवत्त्व' इस प्रकार जातिघटित लक्षण करने की आवश्यकता नहीं है।

और दो प्रकार का गन्ध ही पृथ्वी का लक्षण है, यह भी नहीं समझना चाहिये। दो प्रकार का गन्ध तो केवल वस्तु के स्वरूप को बता रहा है। अतः 'समवायेन गन्धवत्त्वं' यही पृथ्वी का लक्षण है। इस प्रकार लघुपरिष्कार से ही निर्वाह हो जाता है। इस कारण 'दो प्रकार का गन्धवत्त्व, इस गुरुभूत परिष्कार करने का भी प्रयोजन नहीं है, लक्षण में उसका निवेश करना व्यर्थ ॥ ३५ ॥

स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः ।

तस्याः पृथिव्याः। अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वं वायोरपि वर्तत इत्युक्तं पाकज इति। इत्थं च पृथिव्याः स्पर्शोऽनुष्णाशीत इति ज्ञापनार्थं तदुक्तम्। वस्तुतस्तु पाकजस्पर्शवत्त्वमात्रं लक्षणम्, अधिकस्य वैयर्थ्यात्। यद्यपि पाकजस्पर्शं पटादौ नास्ति तथापि पाकजस्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमर्थो बोध्यः।

इति पृथिवीनिरूपणे पृथिवीलक्षणम्।

तस्याः = उस (पृथ्वी) का स्पर्श तो 'अनुष्णाऽशीतपाकज' = जो न गरम और न ठण्डा तथा अग्निसंयोग से उत्पन्न होनेवाला है। 'अनुष्णः अशीतञ्चासौ पाकजश्चे'ति कर्मधारयः। एवंच 'षड्विधरसवत्त्व' और 'पाकजस्पर्शवत्त्व' पृथ्वी का लक्षण होता है। 'अनुष्ण' 'अशीत' में 'नञ्' का अर्थ अल्पत्व है, क्योंकि तथाहि—'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।

अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः।

पृथ्वी का स्पर्श, 'पाकज अनुष्णाशीत' समझना चाहिये। अनुष्णाशीत = जो स्पर्श ऊष्ण न हो और शीतल भी न हो किन्तु उससे विलक्षण हो, तथा पाकजन्य = पाक के संयोग से उत्पन्न हो। ऐसा स्पर्श पृथ्वी में (घट आदि में) रहता है। अतः 'पाकज अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्व' यह भी पृथ्वी का लक्षण है।

शंका—पृथ्वी का लक्षण, 'अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वं' इतना ही क्यों न किया जाय? उसमें 'पाकज' विशेषण देने की क्या आवश्यकता है?

समा०—'अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्व' तो वायु में भी होता है, अतः उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'पाकज' विशेषण दिया गया है। वायु का स्पर्श पाकज = पाकजन्य नहीं है। पृथ्वी के ही रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श ये चार 'पाकज' हुआ करते हैं। अतः 'पाकजस्पर्शवत्त्वम्'—पाकजन्य-स्पर्श का होना—इतना ही पृथ्वी का लक्षण है। 'अनुष्णाशीत' इस विशेषण को देने की कोई आवश्यकता नहीं है। ग्रन्थकार ने 'अनुष्णाशीत' विशेषण देकर इतना ही बताना चाहा है कि पृथ्वी का स्पर्श अन्य स्पर्शों की अपेक्षा विलक्षण है। 'अनुष्णाशीत' यह पद पृथ्वी के लक्षण के अभिप्राय से नहीं कहा है, किन्तु पृथ्वी का स्पर्श अनुष्णाशीत होता है, यह शिष्यों को समझने के लिये कहा है

इसके अतिरिक्त और कोई उसका प्रयोजन नहीं है, इसलिए 'पाकजन्यस्पर्शवत्त्व' ही पृथ्वी का लक्षण है।

शंका—पाकजस्पर्शवत्त्वम्' इस पृथ्वीलक्षण की तृण-पटादि जो पृथ्वी के भाग हैं उनमें पाकजन्यस्पर्शवत्त्व नहीं है, क्योंकि पट में पाक नहीं होता, यह पहले बता चुके हैं। अतः उनमें उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी।

समा०—'पाकजस्पर्शवत्त्व' का जातिघटित अर्थ कर देना चाहिये। अर्थात् 'पाकजस्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्व-व्याप्यजातिमत्त्वम्' ऐसा अर्थ करने से अव्याप्ति नहीं होगी। पाकजस्पर्शवाला हुआ 'घट', उसमें रहनेवाली (वृत्ति) जो द्रव्यत्वव्याप्य जाति 'पृथ्वीत्वजाति'—तादृशपृथ्वीत्वजातिमान् यावत् पृथिवी हुई, तो उसके अन्तर्गत पटादिरूपा पृथ्वी भी होगी। इस कारण अव्याप्ति की आशंका नहीं करनी चाहिये। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि 'शीत स्पर्श' जल में, 'उष्ण स्पर्श' अग्नि में, और वायु तथा पृथ्वी में अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि 'वायु' का अनुष्णाशीत स्पर्श 'अपाकज' है और 'पृथ्वी' का अनुष्णाशीतस्पर्श 'पाकज' है। 'घट' को आँवे (भाड़) में पकाते हैं, इस कारण उसके स्पर्श में पाक (अग्निसंयोग) भी कारण कहा जाता है। अतएव पृथ्वी के स्पर्श को (पाकज) कहते हैं। वैसा (पाकज) पट आदि का स्पर्श नहीं है।

इति पृथिवीनिरूपणे पृथिवीलक्षणम्।

नित्यानित्या च साद्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा ॥ ३६ ॥

(पृथ्वी) नित्य और अनित्य दो प्रकार की है। 'अणुलक्षणा' परमाणु[1] के रूप में वह नित्य है, और सावयव (अवयवों से युक्त) कार्यरूप पृथ्वी अनित्य है। अर्थात् द्वचणुकादि के, रूप में वह अनित्य है। नित्य उसे कहते हैं—जो 'भावत्वेसति ध्वंसाऽप्रतियोगित्वं नित्यत्वम्'—भावरूप होता हुआ ध्वंस का प्रतियोगी न हो।

नित्येति सा पृथिवी द्विविधा, नित्या अनित्या चेत्यर्थः अणुलक्षण परमाणुरूपा पृथिवी नित्या ॥ ३६ ॥

वह पृथ्वी नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार की है। परमाणुरूपा पृथ्वी नित्य है, क्योंकि अणु या परमाणु को निरवयव माना गया है। इस कारण 'अणु' रूप पृथ्वी का (अवयवनाश या अवयवों के संयोग) का नाश सम्भव न हो सकने से उसे नित्य कहा गया है और अणु से द्वचणुक, त्र्यणुक आदि से स्थूलकार्य जो होते हैं वे सावयव होते हैं। इस कारण सावयव- पृथ्वी को अनित्य कहा गया है।

---

(१) जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः प्रकीर्तितः। अणु और परमाणु का एक ही अर्थ है अणु निरवयव होता है।

अर्थात् जिसकी उत्पत्ति तथा नाश नहीं होता और जो निरवयव होती है उस पृथ्वी को नित्य[1] कहते हैं ॥ ३६ ।

अब जिसकी उत्पत्ति और नाश होता है तथा जो सावयव है उस पृथ्वी को अनित्य[2] कहते हैं, यह अग्रिम कारिका में बतावेंगे ।

---

(१) नित्य वस्तु का लक्षण—प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाऽप्रतियोगित्वं नित्यत्वम् ।' जो पदार्थ प्रागभाव का अप्रतियोगी होकर ध्वंस का अप्रतियोगी होता हो उसे 'नित्य' कहते हैं । परमाणु अणु) आदि नित्य पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती, इस कारण उन नित्य पदार्थों में प्रागभाव का प्रतियोगित्व (प्रतियोगीपन) नहीं होता । और नित्य पदार्थों का विनाश भी नहीं होता । इस कारण नित्यों में ध्वंस (प्रध्वंसाभाव) का प्रतियोगित्व भी नहीं रहता, यही नित्य वस्तु का लक्षण है । इस लक्षण में यदि 'ध्वंसाप्रतियोगित्वं' यह पद न दें तो 'प्रागभाव' में अतिव्याप्ति होगी । क्योंकि नैयायिकों ने 'प्रागभाव' को उत्पत्ति रहित (अनादि) तथा अनित्य माना है । इस कारण वह प्रागभाव अपने प्रागभाव का प्रतियोगी नहीं हुआ । अतः अनित्य प्रागभाव में 'नित्य' के लक्षण की अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'ध्वंसाऽप्रतियोगित्व' पद दिया गया है । इस प्रागभाव में ध्वंस का 'अप्रतियोगित्व' नहीं है, क्योंकि 'घट' बनकर अपने प्रागभाव को नष्ट कर देता है अर्थात् प्रागभाव का अभाव होता है । अतः वह (प्रागभाव) अपने अभाव का प्रतियोगी हो गया, अप्रतियोगी नहीं । अतः प्रागभाव में अतिव्याप्ति नहीं है । अब यदि 'प्रागभावाऽप्रतियोगित्वे सति' यह पद न दें तो 'ध्वंस' में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि 'ध्वंस' का ध्वंस नहीं मानते । और उस ध्वंस को अनन्त तथा सादि मानते हैं । तब ध्वंस का अप्रतियोगित्व 'ध्वंस' में है ही । इस कारण सादि (अनित्य) ध्वंस में अतिव्याप्ति होगी । उसके वारणार्थ 'प्रागभावाऽप्रतियोगित्वे सति' यह विशेषण दिया गया है । घटादि कार्यों के तुल्य वह ध्वंस भी उत्पत्तिमान् होने से प्रागभाव का प्रतियोगी ही होता है, अप्रतियोगी नहीं । अतः ध्वंस में अतिव्याप्ति नहीं होगी ।

(२) अनित्य वस्तु का लक्षण—'प्रागभावप्रतियोगित्व ध्वंसप्रतियोगित्वाऽन्यतरवत्त्वं अनित्यत्वम् ।' जो पदार्थ प्रागभाव का प्रतियोगी हो या ध्वंस का प्रतियोगी हो अथवा प्रागभाव और ध्वंस दोनों का प्रतियोगी हो, उसे अनित्य कहते हैं । यदि केवल 'प्रागभावप्रतियोगित्व' इतना ही लक्षण करें, 'प्रागभाव' में प्रागभाव का प्रतियोगित्व ही नहीं होता, या 'ध्वंसप्रतियोगित्व' इतना ही लक्षण करें तो 'ध्वंस' में ध्वंस का भी प्रतियोगित्व नहीं होता । इस कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रागभाव' में तो केवल ध्वंस का प्रतियोगित्वरूप 'अनित्यत्व' है, और 'ध्वंस' (प्रध्वंसाभाव) में केवल प्रागभाव का प्रतियोगित्वरूप 'अनित्यत्व' है । और घट-पटादि पदार्थों में प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव दोनों का प्रतियोगित्व-

अनित्या तु तदन्या स्यात्सैवावयवयोगिनी ।
सा च त्रिधा भवेद्देहमिन्द्रियं विषयस्तथा ॥ ३७ ॥

परमाणुरूप पृथ्वी से भिन्न द्वयणुकादिरूप समस्त कार्यरूप है। और वही अनित्य अर्थात् सावयवा है। वह कार्यरूप पृथ्वी, शरीर, इन्द्रिय विषय के भेद से तीन प्रकार की है।

अनित्येति। तदन्या परमाणुभिन्ना पृथिवी द्वयणुकादिरूपा सर्वाऽप्यनित्येत्यर्थः। सैव—अनित्या पृथिव्येव, अवयववतीत्यर्थः।

ननु अवयविनि किं मानं, परमाणुपुञ्जैरेवोपपत्तेः। न च परमाणूनामतीन्द्रियत्वाद्घटादेः प्रत्यक्षं न स्यादिदि वाच्यम्, एकस्य परमाणोरप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वात्। यथैकस्य केशस्य दूरेऽप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वम्। न चैको घटः स्थूल इति बुद्धेरनुपपत्तिरिति वाच्यम्, एको महान् धान्वराशिरितिवदुपपत्तेः।

'नित्याऽनित्या च साद्वेधा' इस पूर्वकारिका के द्वारा नित्य और अनित्य भेद से पृथ्वी दो प्रकार की बता चुके हैं। परमाणुरूप पृथ्वी नित्य है और 'तदन्या' अर्थात् उससे भिन्न द्वयणुकादिरूपा पृथ्वी अनित्य होती है, और अनित्य पृथ्वी ही अवयववती (सावयवा) होती है।

बौद्धों की शंका—अवयव से पृथक् अवयवी के होने में क्या प्रमाण ? शंका करनेवाले का अभिप्राय यह है—नैयायिक 'अवयव और अवयवी' ऐसे दो भिन्न-पदार्थ मानते हैं। परन्तु देखा जाय तो कहना पड़ता है कि केवल अवयवों का समूह (समुदाय, इकट्ठा होना) ही तो 'अवयवी' है। अतः परमाणुओं का समुदाय (परमाणुपुञ्ज) ही 'घट' है। तब 'अवयवी' को एक तथा अवयवों से पृथक् पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता ? अतः अवयवसमुदाय ही अवयवी है, अवयव से पृथक् अवयवी नहीं है[१]। क्योंकि परमाणुसमूह को मानने से ही काम चल जाता है। बौद्ध का कहना है कि यहाँ पर यह शंका भी नहीं की जा

रूप अनित्यत्व है, यही अनित्य का लक्षण है। एवंच नित्य पृथिवी का लक्षण यह होगा—'ध्वंसाऽप्रतियोगित्वे सति प्रागभावाऽप्रतियोगित्वे च सति गन्धवत्त्वं—नित्य-पृथिव्या लक्षणम्। तथा अनित्य पृथिवी का लक्षण यह होगा—'ध्वंसप्रागभावाऽन्यतरप्रतियोगित्वेसति गन्धवत्त्वम्—अनित्यपृथिव्या लक्षणम्।

(१) यह 'अवयविवाद' नैयायिकों का है। इनका कहना है कि अवयव और अवयवी परस्पर भिन्न पदार्थ हैं। किन्तु बौद्धों का कहना कि 'अवयवी' अपने अवयवों से अतिरिक्त कोई नवीन पदार्थ (वस्तु) नहीं है। वह तो अवयवों का समूहरूप (समुदाय) माना है। नैयायिक कहता है कि 'पट तन्तुओं का समुदाय-मात्र नहीं है। वह (पट) तो तन्तुओं में (से) उत्पन्न होता है, अतः वह (पट)

सकती कि परमाणु तो अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष के अयोग्य) हैं, इस कारण परमाणु-समूहरूप घट का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। उक्त शंका का समाधान (बौद्ध के मत से) इस प्रकार होगा कि दूर से प्रत्येक (एक-एक) केश का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु उन कशों के समूह का तो प्रत्यक्ष होता ही है। वैसे ही एक परमाणु का प्रत्यक्ष न भी हो तो भी परमाणुसमूहरूप घट के प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा (अड़चन) नहीं है।

तन्तुओं से पृथक् एक नवीन पदार्थ है। यह अवयविवाद का सिद्धान्त ही नैयायिक-विशेषिकों के कार्यकारणवाद का आधार है। किन्तु सांख्य, वेदान्त, बौद्ध आदि सभी उक्त सिद्धान्त के विरोधी हैं। सांख्य कहता है कि 'पट' तन्तुओं का परिणाम है। अर्थात् दूध, दही की तरह तन्तु ही 'पट' के रूप में परिणत हो जाते हैं। तन्तुओं से पृथक् 'पट' नामकी कोई नवीन वस्तु नहीं है। यही सांख्य का 'सत्कार्यवाद' है।

उसके विपरीत न्याय-वैशेषिक का कहना है कि 'तन्तु', 'पट' के रूप में परिणत नहीं होते। वे तो अपने स्वरूप (तन्तुरूप) में ही यथास्थित रहते हैं। और उन तन्तुओं में 'पट' नामकी एक नवीन वस्तु उत्पन्न होती है। यही इनका 'आरम्भवाद' या 'असत्कार्यवाद' है। यह दर्शन तन्तुओं से 'पट' का पृथक् अस्तित्व मानता है। अर्थात् अवयवों से अवयवी पृथक् है। वह (अवयवी) अवयवों का समूह (समुदाय) मात्र नहीं है। यह (न्याय-वैशेषिक) दर्शन, यथार्थ (बाह्य वस्तुवादी है। इस दर्शन का नामान्तर 'पदार्थ-विज्ञान-शास्त्र' है। जगत् के दृश्यमान पदार्थों के अस्तित्व का, उनके स्वरूप का यथार्थ परिचय करा देना ही इस दर्शन का उद्देश्य है। एवंच 'सांख्य' सत्कार्यवादी (परिणामवादी) और न्याय-वैशेषिक आरंभवादी (असत्कार्यवादी) कहलाते हैं।

बौद्ध 'स्वलक्षणवादो' है। वह नैयायिकों के अवयविवाद का खण्डन करता है। बौद्धों का 'स्वलक्षण' नामक तत्त्व अनन्त है, यथार्थ है किन्तु क्षणिक है। यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् और उसके पदार्थों की प्रतीति 'स्वलक्षण' नामक तत्त्वों के आधार पर ही हुआ करती है। तथापि उन स्वलक्षणों को मिलाकर कोई कार्य (घट-पटादि द्रव्य) उत्पन्न नहीं किया जाता। न्याय-वैशेषिक के 'परमाणु' तत्त्व के समान ही बौद्धों ने भी अपने अभिमत 'स्वलक्षणों को मूलतत्त्व के रूप में माना है। वस्तुतः 'स्वलक्षणों' का स्वरूप 'परमाणुओं' से भिन्न है। तथापि मूलतत्त्व की समानता को मन में रखकर बौद्ध का कहना है कि 'परमाणुपुञ्ज' से ही घट-पटादि स्थूल द्रव्यों की प्रतीति संभव हो जाती है तो 'अवयवी' नामक एक अतिरिक्त पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है? अपने कथन में बौद्ध यह युक्ति देता है कि दूर स्थित एक केश की तरह एक परमाणु यद्यपि 'अप्रत्यक्ष' है तथापि दूर स्थित केश समूह की तरह परमाणुपुञ्ज (समूह) का प्रत्यक्ष हो सकता है। और धान्य (धान)

शंका—परमाणुसमूह (समुदाय अर्थात् पुष्कल परमाणु) ही 'घट' है, ऐसा यदि मानेंगे तो 'एको घटः स्थूलः—घट एक है तथा स्थूल (बड़ा) है ऐसी प्रतीति न हो सकेगी। क्योंकि परमाणु में स्थूलता नहीं है। यदि परमाणु में स्थूलता मानी जाय तो उसका (परमाणु का) प्रत्यक्ष होना चाहिए, किन्तु होता नहीं। इस कारण परमाणुसमूहरूप घट में भी स्थूलता का ज्ञान सम्भव नहीं हो पायगा।

उक्त शंका का समाधान बौद्ध इस प्रकार करता है-प्रत्येक छोटे छोटे धान्य-कणों में महत्त्व (स्थूलता) बुद्धि न होने पर भी तथा धान्यकणों की पुष्कलता के होने पर भी उन अनेक छोटे छोटे धान्य कणों से बनी राशि में 'एक बड़ी धान्य-राशि है' ऐसी प्रतीति होती है, उसी प्रकार परमाणु में स्थूलता की बुद्धि (ज्ञान) न होने पर भी परमाणुसमुदाय रूप घट में 'एक घट स्थूल (महान्) है ऐसी प्रतीत हो सकती है। अर्थात् उक्त प्रतीति के होने में कोई बाधा नहीं है। इसलिए पर-माणुओं का (अवयवों का) जो समुदाय है, वही घट—(अवयवी) है। एवंच अवयव से अवयवी भिन्न नहीं है।

मैवं, परमाणोरतीन्द्रियत्वेन तत्समूहस्यापि प्रत्यक्षायोग्यत्वात्। दूरस्थके-शस्तु नातीन्द्रियः, सन्निधाने तस्यैव प्रत्यक्षत्वात्। न च तदानीमदृश्यपरमाणुपु-ञ्जाद् दृश्यपरमाणुपुञ्जस्योत्पन्नत्वान्न प्रत्यक्षत्वे विरोध इति वाच्यम्, अदृश्य-स्य दृश्यानुपादानत्वात्। अन्यथा चक्षुरूष्मादिसन्ततेरपि कदाचित् दृश्यत्वप्रस-ङ्गात्। न चातितप्ततैलादौ कथमदृश्यदहनसन्ततेर्दृश्यदहनोत्पत्तिरिति वाच्यम्, तत्र तदन्तःपातिभिर्दृश्यैरेव दहनावयवैः स्थूलदहनोत्पत्तेरुपगमात्। न चादृश्येन द्व्यणुकेन कथं दृश्यत्रसरेणोरुत्पत्तिरिति वाच्यं, यतो न दृश्यत्वमदृश्यत्वं वा कस्यचित्स्वभावादाचक्ष्महे, किन्तु महत्त्वोद्भूतरूपादिकारणसमुदायवशाद् दृश्यत्वं

की राशि (ढेर) में 'एक और बड़ा ढेर' यह प्रतीति जैसे हुआ करती है, वैसे ही परमाणुपुञ्जरूप 'घट' में भी 'एक और महान्' वस्तु होने की प्रतीति हो सकती है। अतः 'अवयवों' से पृथक् 'अवयवी' नामक वस्तु को अलग से मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस पर न्याय-वैशेषिक का कहना है कि यद्यपि केश अपनी सूक्ष्मता के कारण दूर से दृष्टिगोचर (प्रत्यक्ष) नहीं हो पाता, तथापि वह (केश) वस्तुतः प्रत्यक्ष के अयोग्य तो नहीं है, क्योंकि 'वही केश' समीप से दृष्टिगोचर (प्रत्यक्ष) होता है। अतः प्रत्यक्षयोग्य 'केश' अपनी सूक्ष्मता के कारण अकेला दूर से दृष्टिगोचर न भी होता हो, किन्तु उसका समूह दूर से भी दिखलाई पड़ जाता है। यह स्थिति परमाणु में नहीं है। 'परमाणु' तो सर्वथैव प्रत्यक्ष के अयोग्य है। उसका कितना ही महान् समूह क्यों न हो, वह भी प्रत्यक्ष के अयोग्य ही होगा, क्योंकि वस्तु के स्वभाव में कभी परिवर्तन नहीं होता। अतः 'अवयवी' को 'अवयवों' से पृथक् रूप में स्वीकार करना ही पड़ेगा।

तदभावे चादृश्यत्वम् । तथा च त्रसरेणोर्महत्वात्प्रत्यक्षत्वं न तु द्वयणुकादेस्तदभावात् । न हि त्वन्मतेऽपिसम्भवतीदं, परमाणौ महत्वाभावात् ।

बौद्धों की आशंका का उत्तर नैयायिक देता है—'मैंवमि' ति । बौद्ध ने जो कहा (अवयव से भिन्न अवयवी नहीं है), वह उचित नहीं है । जब कि परमाणु अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष के अयोग्य) हैं, तब उनका (अतीन्द्रिय परमाणुओं का) समूह (पुञ्ज) रूप जो घट, उसका भी प्रत्यक्ष कैसे सम्भव होगा ? अर्थात् परमाणु, प्रत्यक्ष के अयोग्य होने से उसका समूह भी प्रत्यक्ष के अयोग्य होगा । इसलिए अवयव से अतिरिक्त अवयवी[२] को स्वीकार करना होगा । दूरदेश स्थिति केश का दृष्टान्त बौद्ध ने जो दिया था, वह यहाँ ठीक नहीं बैठता, क्योंकि दूरदेशस्थ केश को अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष के अयोग्य) नहीं कह सकते क्योंकि समीप लाने पर उसका प्रत्यक्ष होता है । अर्थात् दूर स्थित केश की अप्रत्यक्षता स्वाभाविक नहीं है, वह तो दूरतादोष के कारण है । उस दूरतादोष की निवृत्ति होने पर वही केश, प्रत्यक्ष का विषय हो जाता है । एवंच केश में अतीन्द्रियता के न होने से अर्थात् प्रत्यक्षयोग्यता होने से केश समूह की प्रत्यक्षता (केश समूह का प्रत्यक्ष होना) भी स्वाभाविक है । किन्तु परमाणु की अप्रत्यक्षता तो स्वाभाविक है अतः उसका पुञ्ज (समूह) भी अप्रत्यक्ष मानना होगा ।

---

(१) 'द्रव्यसमवायिकारणमवयवः'—यह 'अवयव' का लक्षण है । द्रव्य का जो समवायिकरण हो, उसे 'अवयव' कहते हैं । जैसे 'पट' (द्रव्य) का 'तन्तु', 'घट' (द्रव्य) का 'कपाल' समवायिकारण है । शरीर (द्रव्य) के समवायिकारण हस्त पादादि हैं । अतः वे 'अवयव' कहलाते हैं । उक्त लक्षण में यदि 'द्रव्य' पद न दें तो 'आकाशादि' द्रव्य भी 'शब्दादि' गुणों के समवायिकारण हैं, परन्तु उनमें अवयवरूपता नहीं है । इस अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'द्रव्य' पद दिया गया है । तब 'आकाशादिकों' में किसी द्रव्य की समवायिकारणता नहीं है, अतः अतिव्याप्ति दोष नहीं हो पाता । यदि 'समवायि' पद न दें तो 'तन्तु' आदि अवयवों का संयोग भी 'पटादि' द्रव्यों का असमवायिकारण है । और 'काल' आदि उन्हीं के निमित्तकारण हैं । इन दोनों कारणों (असमवायिकारण और निमित्तकारणों) में अतिव्याप्ति हो जायगी । उस अतिव्याप्ति के वारणार्थ लक्षण में 'समवायि' पद दिया गया है ।

(२) 'जन्यद्रव्यमवयवी'—यह 'अवयवी' का लक्षण है । जो जन्य द्रव्य हो उसे 'अवयवी' कहते हैं । पृथ्वी, जल, तेज और वायु और उनके द्वयणुक से लेकर जितने भी उत्पत्तिवाले पार्थिव, जलीय, तैजस् वायवीय द्रव्य हैं वे सब जन्यद्रव्य होने से 'अवयवी' कहलाते हैं । इस लक्षण में यदि 'जन्य' पद न दें तो 'परमाणु' आदि नित्य द्रव्यों में अतिव्याप्ति होगी । उसके निवारणार्थ 'जन्य' पद दिया गया है । अब यदि 'द्रव्य' पद न दें तो गुण—कर्मादिकों में अतिव्याप्ति होगी । उसके निवारणार्थ 'द्रव्य' पद दिया गया है ।

बौद्ध कहता है कि हमारा अभिप्राय[1] यह नहीं है कि जो अतीन्द्रिय वस्तु है, उसके समूह का प्रत्यक्ष होता है।' किन्तु क्षणभङ्गुर (प्रतिक्षण में भिन्नविभिन्न) परमाणुओं में से जिस परमाणुसन्तान का पिण्ड, कपाल, घट आदि शब्दों से व्यवहार किया जाता है, वह अतीन्द्रिय नहीं है, इसलिए उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। और जो उनके पूर्ववर्ती हैं, वे अतीन्द्रिय हैं ही इस कारण उनका चाक्षुषप्रत्यक्ष

१. शका–'न च तदानीमिति।' 'अयं घट:' इत्याकारक प्रत्यक्ष होने के पूर्वक्षण में ही प्रत्यक्ष के विषय (योग्य) न होनेवाले समुदित परमाणुओं (अदृश्य = इन्द्रियागोचर परमाणुपुञ्ज) के द्वारा प्रत्यक्षयोग्य परमाणुसमुदा (दृश्य = इन्द्रिय गोचर परमाणुपुञ्ज) उत्पन्न किया जाता है, अतः परमाणुपुञ्जरूपी घट का प्रत्यक्ष हो सकता है, क्योंकि 'यत् सत् सत् क्षणिकम्' इस नियम के अनुसार क्षणभंगवादियों (बौद्धों) के मत में परमाणुओं की उत्पत्ति मानी गई है।

समा०—इस पर नैयायिक कहते हैं कि यह जो बौद्ध कहता है कि 'घट' शब्द से व्यपदेश (व्यवहार) करने के योग्य जो 'परमाणु' हैं, वे दृश्य होते हैं और चक्षुरादि से व्यपदेशार्ह परमाणु तो प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहने पर भी नहीं दिखलाई देते। अतः उक्त व्यवस्था की उपपत्ति के लिये बौद्धों को कहना होगा कि दृश्यत्व में दृश्योपादेयत्व प्रयोजक होता है, और अदृश्यत्व में अदृश्योपादेयत्व प्रयोजक होता है। एवञ्च अदृश्य पूर्वपरमाणुओं के द्वारा घटात्मक दृश्य परमाणुओं का उपादान कैसे कर सकोगे। इसी आशय को मन में रखकर ग्रन्थकार ने समाधान किया है—'अदृश्यस्येति' बौद्धमतानुसार पूर्व परमाणुपुञ्ज अदृश्य (अप्रत्यक्ष) होने से वह प्रत्यक्ष (दृश्य) परमाणुपुञ्ज का कारण (उपादान) नहीं हो सकता। और दृश्यपरमाणुपुञ्ज में दृश्योपादेयता (दृश्योपादेयत्व) न होने से दृश्यपरमाणुपुञ्ज की उत्पत्ति होना ही संभव नहीं है। एवञ्च अदृश्य वस्तु से दृश्य वस्तु की उत्पत्ति कभी भी नहीं हो सकती। अर्थात् अदृश्य वस्तु, दृश्य वस्तु का उपादान (कारण) नहीं हुआ करती। अतः बौद्ध यह नहीं कह सकता कि 'कार्योत्पत्तिकाल में अदृश्य परमाणुपुञ्ज से दृश्य परमाणुपुञ्जरूप घटकी उत्पत्ति होती है, इसलिए उसके प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है।' क्योंकि अदृश्य पदार्थ, दृश्य पदार्थ का उपादान (कारण) नहीं होता। अन्यथेति। अन्यथा अर्थात् अदृश्य को दृश्य का उपादान (कारण) माना जाय तो कदाचित् चक्षुरिद्रिय तथा ऊष्मा (ताप) आदि अदृश्य तेजः पदार्थों का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा। अर्थात् अदृश्य चक्षु से कदाचित् दृश्य चक्षु की तथा अदृश्य ऊष्मा से दृश्य ऊष्मा की उत्पत्ति होने लगेगी। और त्वगिन्द्रिय से उसका प्रत्यक्ष होने लगेगा। किन्तु शास्त्रकारों ने चक्षुरिन्द्रिय तथा ऊष्मा (ताप) को तेजःपदार्थ और अदृश्य (प्रत्यक्ष) का अविषय माना है।

शंका—बौद्ध कहता है कि किसी पात्र में रखे हुए अतितप्त तेल में विद्यमान अदृश्य अग्नि से कभी कभी ज्वालारूपी अदृश्य अग्निकी उत्पत्ति (अर्थात्

नहीं होता । एवंच अतीन्द्रिय परमाणुओं के पुञ्जरूप घट के प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है । घट के प्रत्यक्ष की सिद्धि के लिए अवयवातिरिक्त अवयवी के मानने की आवश्यकता नहीं ।

अत्यधिक तपे हुए तेल में जल का छींटा देने से तप्त तैलस्थ अदृश्य अग्नि प्रज्वलित हो जाती है । जैसे दृष्टिगोचर होती है, वैसे ही प्रकृत में भी अदृश्य परमाणु पुञ्ज से एक दृश्य परमाणु पुञ्जात्मक घट भी उत्पन्न हो सकता है ।

"जालान्तरगते भानौ सूक्ष्मं यद् दृश्यते रजः । प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ।" —याज्ञ १।३।१,–मनु० ८।१३२

समा०—नैयायिक का कहना है कि अत्यधिक तप्त तेल के भीतर रहने वाली अग्नि के जो सूक्ष्म अवयव हैं उनमें प्रत्यक्ष होने की योग्यता है अर्थात् वे दृश्य हैं, जल का छींटा पड़ने पर उनसे ही स्थूल अग्नि (दृश्य ज्वाला) की उत्पत्ति होती है । अतः दृश्य से ही दृश्य की उत्पत्ति होती है अदृश्य से दृश्य की नहीं ।

शंका—बौद्ध 'नैयायिक' से पूछता है कि आपके मत में द्व्यणुक अदृश्य है उससे दृश्यत्रसरेणु (त्र्यणुक) की उत्पत्ति होती है । यदि अदृश्य से दृश्य की उत्पत्ति न मानी जाय तो अदृश्य द्व्यणुक से दृश्य त्रसरेणु की उत्पत्ति कैसे कह सकोगे ?

समा०—नैयायिक कहता है—अमुक वस्तु दृश्य है और अमुक वस्तु अदृश्य है । यह कहने के लिए कुछ हेतु (कारण) प्रदर्शित करना होता है । बिना कारण के अर्थात् अकस्मात् ही कोई वस्तु दृश्य या अदृश्य नहीं हुआ करती, क्योंकि दृश्यत्व या अदृश्यत्व किसी वस्तु के स्वाभाविक धर्म नहीं हैं । प्रत्यक्ष की सामग्री (कारण) महत्व तथा उद्भूतरूप है । वह सामग्री जिस वस्तु में रहेगी वही वस्तु दृश्य कहलाती है । और वह सामग्री जिस वस्तु में नहीं रहेगी वह वस्तु अदृश्य कहलाती है । त्रसरेणु आदि में महत्त्व आदि प्रत्यक्ष की समाग्री है । अतः उसका (त्रसरेणुका) प्रत्यक्ष होता है । और द्व्यणुक में महत्त्व (प्रत्यक्ष की सामग्री) न होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता । इस कारण त्रसरेणु को दृश्य और द्व्यणुक को अदृश्य कहा जाता है ।

शंका—यद्यपि प्रत्येक परमाणु अदृश्य है तथापि परमाणुपुंजात्मक घट को दृश्य मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

समा० नैयायिक के मत में तो उपपत्ति हो जाती है, किन्तु बौद्ध के मत में अदृश्य से दृश्य की उपपत्ति नहीं बन पाती है। क्योंकि अदृश्य परमाणुओं के समूह (पुञ्ज) में महत्त्वरूपी प्रत्यक्षसामग्री के न रहने से उस घट के प्रत्यक्ष की उपपत्ति नहीं होगी । अर्थात् बौद्ध के मत में भी परमाणु में महत्व न होने से उसका दृश्यत्व नहीं है। अतः असंख्य परमाणु क्यों न हों, उनमें महत्त्व कहाँ से आवेगा । अतः बौद्ध का (प्रत्येक परमाणु का प्रत्यक्ष न हो किन्तु परमाणुपुञ्जात्मक घट का प्रत्यक्ष हो सकता है) कथन कदापि उचित

नैयायिक कहता है कि अदृश्य वस्तु किसी दृश्य वस्तु का कारण (उपादान) नहीं बन सकती। यदि अदृश्य वस्तु को भी दृश्य वस्तु का उपादान (कारण) स्वीकार कर लें तो अदृश्य चक्षु से कदाचित् दृश्य चक्षु की तथा अदृश्य ऊष्मा से कदाचित् दृश्य ऊष्मा की उत्पत्ति भी कहनी होगी अर्थात् चक्षु तथा ऊष्मा आदि अदृश्य तेजःपदार्थों का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा[1]।

बौद्ध कहता है–कटाह (कड़ाह) के अत्यन्त तप्त तैल में विद्यमान अदृश्य अग्नि से कभी कभी ज्वालारूप दृश्य अग्नि की उत्पत्ति होती जैसे देखते हैं। उसी प्रकार यहाँ पर भी अदृश्यपरमाणुपुञ्ज से एक दृश्यपरमाणुपुञ्ज घट भी उत्पन्न हो सकता है।

नैयायिक कहता है–अत्यन्त तप्त तैल में अग्नि के सूक्ष्म अवयव विद्यमान हैं और वे दृश्य भी हैं, उन्हीं से ज्वालारूप दृश्य (स्थूल) अग्नि की उत्पत्ति होती है। अतः बौद्ध का आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ दृश्य से ही दृश्य की उत्पत्ति हो रही है।

बौद्ध पूछता है कि आपके यहाँ अदृश्य द्वयणुक से दृश्य त्रसरेणु का प्रत्यक्ष (उत्पत्ति) कैसे होता है?

नैयायिक बताता है कि दृश्यत्व, अदृश्यत्व किसी वस्तु के स्वाभाविक धर्म नहीं हैं, अपितु जहाँ महत्त्व आदि कारणसमूह होता है, वह वस्तु दृश्य होती है और जहाँ महत्त्व आदि कारणसमूह नहीं रहता वह वस्तु अदृश्य होती है। त्रसरेणु में महत्त्व होने से उसका प्रत्यक्ष होता है और द्वयणुक में महत्त्व के न रहने से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता।

बौद्ध कहता है कि प्रत्येक परमाणु के अदृश्य रहने पर भी परमाणुपुञ्ज रूप 'घट' को दृश्य मान लेने में क्या हानि है?

नैयायिक 'नहि त्वन्मतेऽपि' कहकर उत्तर दे रहा है कि तुम्हारे बौद्ध-सिद्धान्त के अनुसार भी परमाणु में अर्थात् परमाणुपुञ्ज कार्य में महत्त्व आदि कारणों के न होने से यह दृश्यत्वोपपादन संगत नहीं हो पा रहा है। अर्थात् कारणीभूत परमाणु दृश्यत्व का उपपादन नहीं हो पा रहा है। अतः कार्यभूत परमाणुपुञ्ज में भी महत्त्व आदि कारणों के न होने से दृश्यत्व का उपपादन संगत नहीं हो सकता। अतः परमाणुओं से द्वयणुकादि के द्वारा उत्पद्यमान घटादि अवयवी को महत्परिमाण आदि के आश्रय के रूप में स्वीकार करना ही होगा। एवंच अवयवी की पृथक् सत्ता सिद्ध हो जाती है।

नहीं है। क्योंकि पुञ्ज (समूह) भी तो परमाणुओं से पृथक् नहीं है। इसलिए परमाणुओं से द्वयणुक उससे त्र्यणुक आदि के द्वारा उत्पद्यमान एक घटादिरूप अवयवी को पृथक् स्वीकार करना ही होगा।

(१) इस दोष के निवारणार्थ 'अदृश्य-वस्तु से दृश्य वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती' यह मानना ही पड़ेगा।

इत्थं चावयविसिद्धौ तेषामुत्पादविनाशयोः प्रत्यक्षसिद्धत्वादनित्यत्वम् ।

॥ इति अवयव्यनुमानम् ॥

इस रीति से अवयवी (घट-पटादि), अवयवों (परमाणुओं) से भिन्न है। अर्थात् 'वह' अवयवी, अवयवों की अपेक्षा एक स्वतंत्र वस्तु है' यह सिद्ध हो जाने पर अवयवों के उत्पाद-विनाश[1] प्रयुक्त अवयवी का उत्पाद-विनाश (उत्पत्ति तथा नाश) प्रत्यक्ष ही है, उससे अवयवी की अनित्यता[2] स्पष्ट हो जाती है और परमाणुओं की उत्पत्ति तथा नाश न होने से वे (परमाणु) नित्य हैं। एक अवयवी के अवयव अनेक हैं। अतः अवयवातिरिक्त अवयवी सिद्ध हो जाता है।

॥ इति अवयव्यनुमानम् ॥

तेषां चावयवावयवधाराया अनन्तत्वे मेरुसर्षपयोरपि साम्यप्रसङ्गः। अतः क्वचिद्विश्रामो वाच्यः, यत्र तु विश्रामस्तस्याऽनित्यत्वेऽसमवेतभावकार्योत्पत्तिप्रसङ्गः इति तस्य नित्यत्वम्। महत्परिमाणतारतम्यस्य गगनादौ विश्रान्तत्वमिवाणुपरिमाणतारतम्यस्यापि क्वचिद्विश्रान्तत्वमस्तीति तस्य परमाणुत्वसिद्धिः। न च त्रसरेणावेव विश्रामोऽस्त्विति वाच्यं, त्रसरेणुः सावयवः चाक्षुषद्रव्यत्वात् घटवदित्यनुमानेन तदवयवसिद्धौ, त्रसरेणोरवयवाः सावयवाः महादारम्भकत्वात् कपालवदित्यनुमानेन तदवयवसिद्धेः। न चेदमप्रयोजकम्, अपकृष्टमहत्त्वं प्रत्यनेकद्रव्यवत्त्वस्य प्रयोजकत्वात्। न चैवं क्रमेण तदवयवधाराऽपि सिध्येदिति वाच्यम्, अनवस्थाभयेन तदसिद्धेरिति।

॥ इति परमाणुसाधनम् ॥

यदि परमाणुओं के अवयव तथा उन अवयवों के भी अवयव फिर उनके भी अवयव इस प्रकार अवयवों की धारा मानी जाय। अर्थात् किसी एक वस्तु (अवयवी) के अवयव अमुक पर्यन्त हैं ऐसा यदि न माना जाय—तो मेरुपर्वत तथा सरसों इन दोनों के परस्पर परिमाणों का तारतम्य नहीं रहेगा। अर्थात् अनन्त भाग सुमेरुपर्वत के यदि होते चले जायेंगे, तो वैसे ही अनन्त भाग सरसों के भी होंगे। अतः दोनों की तुल्यता होती चली जायगी। तात्पर्य यह है कि अवयवियों में जो विषमता होती है वह उनके अवयवों की न्यूनाधिकता पर ही निर्भर है। यदि सभी अवयवी अनन्तावयववाले हो गये, तो अवयवियों की विषमता का कोई प्रयोजक ही नहीं रहेगा। इस रीति से मेरु और सर्षप में समानता का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः कहीं-न-कहीं पर तो अवयवधारा को विश्राम देना ही होगा। जहाँ अवयवधारा विश्रान्त होगी तब उस भाग की अपेक्षा अन्य कोई सूक्ष्म भाग

१. आद्यक्षणसम्बन्धरूप उत्पाद और चरमक्षणसम्बन्धरूप विनाश (ध्वंस) ये प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हैं।

२. प्रागभावप्रतियोगित्व और ध्वंसप्रतियोगित्वरूप अनित्यत्व।

नहीं होगा। जहाँ धारा विश्रान्त होगी वही सबकी अपेक्षा सूक्ष्म होगा और उस सूक्ष्मतम भाग को नित्य कहना होगा। यदि उसे भी अनित्य (जन्य) कहेंगे, तो 'असमवेतभावकार्योत्पत्ति' का प्रसंग होगा। 'असमवेतश्च तद्भावकार्यश्च'—यह कर्मधारय समास है। किन्तु सभी 'भावकार्य' अपने अवयवों में समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं। जैसे—घट, पटादि भावकार्य अपने अवयव कपाल और तन्तुओं में समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं, इसी को 'समवेतभावकार्योत्पत्ति' कहते हैं। जितने भी भावकार्य हैं वे सभी अपने अवयवों में समवेत होकर ही उत्पन्न होते हैं, यह हमने घट-पटादि भावकार्यों की उत्पत्ति में देखा है। एवंच जहाँ अवयवधारा समाप्त होगी, उसे ही अन्तिम अवयव कहा जायगा। वह अन्तिम अवयव होने के कारण उसे असमवेत कहना होगा, क्योंकि यदि उसका भी अन्य कोई अवयव होता, तो उसमें वह (अन्तिम अवयव) समवेत हो पाता। यदि उस अन्तिम अवयव को अनित्य (जन्य) कहते हैं, तो घट-पटादि के समान उसे भावकार्य कहना पड़ेगा। एवंच अनित्य मानने पर असमवेतभाव कार्य की उत्पत्ति कहने का प्रसंग आवेगा। किन्तु इस प्रकार असमवेतभावकार्योत्पत्ति का होना कभी भी सम्भव नहीं हो सकता। इसलिये उस अन्तिम अवयव को 'नित्य' ही कहना चाहिये[1] और वही 'परमाणु' पदार्थ है। क्योंकि जैसे महत्परिमाण के तारतम्य की विश्रान्ति गगन (आकाश) आदि में होती है, (आदि शब्द से काल, दिक्, आत्मा का संग्रह कर लेना चाहिये) वैसे ही अणुपरिमाण के तारतम्य (न्यूनाधिकभाव) की विश्रान्ति भी कहीं-न-कहीं तो अवश्य करनी ही होगी। एवंच जहाँ अणुपरिमाण के तारतम्य

१. परमाणु का पुनः अवयव न मानने का कारण यही है कि वे अवयव अपने समवायिकारण के बिना उत्पन्न होने लगेंगे यह सैद्धान्तिक दोष होगा। न मानने पर यह दोष नहीं होगा। जो भाव 'जन्य' होता है, वह समवायिकारण के बिना उत्पन्न नहीं होता। 'परमाणु' भाव पदार्थ है, फिर भी वह 'जन्य' नहीं है, अपितु 'नित्य' है। अतः उक्त आपत्ति नहीं हो पाती। 'परमाणु' का लक्षण इस प्रकार होगा—'मनोभिन्नत्वे सति परमाणुत्वपरिमाणवान् परमाणुः' जो द्रव्य मन से भिन्न होकर समवायसम्बन्ध से 'परमअणुत्व' परिमाणवान् हो उस द्रव्य को 'परमाणु' कहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु, मन से भिन्न हैं तथा समवाय-सम्बन्ध से 'परमअणुत्व' परिमाणवाले भी हैं। 'मन' भी 'परमअणुत्व' परिमाण-वाला है। अतः अतिव्याप्ति होगी, उसके निवारणार्थ लक्षण में 'मनोभिन्नत्वे सति' यह सत्यन्त विशेषणपद दिया गया है। उसी प्रकार 'द्व्यणुक' में अतिव्याप्ति न हो इसलिये 'अणुत्वपरिमाण' का 'परम' विशेषण दिया गया है। 'द्व्यणुक' में तो 'मध्यम अणुत्व परिमाण'—माना गया है। 'परम अणुत्वपरिमाण' नहीं। पृथ्वी आदि नौ द्रव्यों में 'परिमाण' है, तथापि 'परम अणुत्वपरिमाण' तो केवल 'पर-माणु' तथा 'मन' का ही माना गया है। द्रव्यादिक समस्त पदार्थों में लक्षण की अतिव्याप्ति दूर करने के लिये 'परमाणुत्वपरिमाणवान्' यह विशेषण दिया गया है।

की विश्रान्ति होगी, वही 'परमाणु'[१] है और उससे पृथक् घटादि अवयवी अनित्य है यह स्पष्ट हुआ। अतः परमाणुपुञ्जवादी बौद्ध को परास्त हुआ समझना चाहिये।

शंका—त्रसरेणु पर ही यदि अवयव धारा को विश्रान्त करें, परमाणुपर्यन्त न माने, तब त्रसरेणु ही अवशिष्ट अवयव कहलायेगा। अर्थात् 'परमाणुत्वपरिमाण' (सूक्ष्मतम परिमाण) वाला त्रसरेणु ही कहा जाय। अर्थात् त्रसरेणु को ही परमाणु मान लिया जाय, उसके और आगे अन्यान्य कल्पना करने से क्या लाभ ?

समा०—पहले बता चुके हैं कि त्रसरेणु का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। अतः यह अनुमान प्रयोग किया गया है—'त्रसरेणुः सावयवः चाक्षुषद्रव्यत्वात् घटवत्' इस अनुमान प्रयोग से यह व्याप्ति (नियम) समझ में आती है, कि 'यच्चाक्षुषं तत् सावयवम्'—'जो द्रव्य, चक्षुरिन्द्रिय का विषय होता है, वह सावयव रहता है' अर्थात् उसके अवयव रहते हैं। जैसे 'घट' द्रव्य, चक्षुरिन्द्रिय का विषय है, तो वह सावयव भी है। उसी प्रकार त्रसरेणु भी चक्षुरिन्द्रिय का विषय होने से सावयव है, ऐसा अनुमान होता है। इस अनुमान से त्रसरेणु के अवयवों (द्व्यणुक) की सिद्धि हो जाती है। एक और दूसरे अनुमान से 'त्रसरेणोरवयवाः सावयवाः महदारम्भकत्वात् कपालवत्'—त्रसरेणु का अवयव द्व्यणुक भी सावयव है, क्योंकि वह महान् का आरम्भक है, कपाल की तरह। इस अनुमान से यह व्याप्ति (नियम) समझ में आती है 'यो महदवयवः अर्थात् महत्परिमाणवतः कार्यस्य आरम्भकः अवयवः सोऽपि सावयवः'—जिस द्रव्य से बड़ा द्रव्य (दृश्य द्रव्य) उत्पन्न होता है, उस द्रव्य का अवयव भी सावयव होता है। जैसे—कपालद्रव्य से बड़ा घट उत्पन्न होता है, अतः वह अवयवरूप कपाल भी सावयव है, अर्थात् उस कपाल के भी अवयव हैं। वैसे ही द्व्यणुकस्वरूप अवयवों से त्रसरेणु स्वरूप बड़ा द्रव्य उत्पन्न होता है। अतः द्व्यणुकस्वरूप अवयव सावयव है, यानी उस द्व्यणुक के अवयव ही 'परमाणु' हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। त्रसरेणु या त्रसरेणु के अवयवों को 'परमाणु' नहीं माना जा सकता। प्रथम अनुमानप्रयोग की व्याप्ति से त्रसरेणु की सावयवता सिद्ध की गई है और द्वितीय अनुमानप्रयोग की व्याप्ति से द्व्यणुक की सावयवता को निराबाध बताया गया है।

शंका - चाक्षुषद्रव्यत्वहेतुक प्रथम अनुमान को त्र्यणुक के सावयव होने में अप्रयोजक (अनुकूल तर्करहित) क्यों न माना जाय ?

समा०—हेतु में व्यभिचारशंकानिवर्तक तर्कशून्य अनुमान को 'अप्रयोजक अनुमान' कहते हैं। एवंच हेतु में यदि व्यभिचार की आशंका हो जाय, तो उस आशंका को हटानेवाले 'तर्क' को ही अनुकूल तर्क कहते हैं। तथाहि—प्रथम अनुमान में व्याप्ति यह थी—'यच्चाक्षुषं तत् सावयवम्'। इस व्याप्ति में यदि 'हेतुरस्तु, साध्यं

१. 'न प्रलयोऽणुसद्भावात्'—न्या. सू. (४।२।१६) इस पर भाष्य 'यस्मान्नाल्पतरमस्ति यः परमोऽल्पस्तत्र निवर्तते, यतश्च नाल्पीयोऽस्ति तम्परमाणुम्प्रचक्ष्महे' इति।

मास्तु' इति हेतुः साध्यव्यभिचारी न वा' इस प्रकार व्यभिचार शंका—त्रसरेणु' रूप पक्ष में 'चाक्षुषद्रव्यत्व' रूप हेतु तो रहे किन्तु 'सावयवत्व' रूप साध्य न रहे-हो जाय, तो उसे दूर करने वाला अनुकूल तर्क नैयायिक के पास है। यदि नैयायिक के पास अनुकूल तर्क न हो, तो 'चाक्षुषद्रव्यत्वात्' यह हेतु 'सावयवत्व'—रूप साध्य की सिद्धि नहीं कर सकेगा। नैयायिक के पास अनुकूल तर्क है। अनुकूल तर्क, कार्य-कारणभावमूलक होता है। उसे इस प्रकार बता सकते हैं—'चाक्षुषद्रव्यत्वं यदि सावयवत्वव्यभिचारि स्यात् तर्हि सावयवत्वव्याप्य-अनेकद्रव्यवत्त्वव्याप्य-अपकृष्टमहत्त्व-व्याप्यं न स्यात्, किन्तु चाक्षुषद्रव्यत्वं सावयवत्वव्याप्य—अनेकद्रव्यत्वव्याप्य-अपकृष्ट-महत्त्वव्याप्यं भवति, अतो न व्यभिचारि।' नैयायिकों का सिद्धान्त है कि 'तीन द्व्यणुकों से एक त्र्यणुक उत्पन्न होता है। अतः त्र्यणुकपरिमाण अनेक अवयविजन्य-द्रव्यरूप हुआ, इस कारण उस त्र्यणुक में अपकृष्ट महत्त्व (विभु से अतिरिक्त महत्परिमाण) उत्पन्न होता है। क्योंकि उस अपकृष्टमहत्त्व के प्रति 'अनेकावयवि-जन्य अनेकद्रव्यवत्त्वरूप द्रव्यत्व प्रयोजक है। यदि 'त्र्यणुक' में चाक्षुष द्रव्यत्व को तो मान लें और 'सावयवत्व' को न मानें, तो—'अपकृष्टमहत्त्व और अनेकावयवि-जन्य अनेक द्रव्यत्त्वरूप द्रव्यत्व दोनों में स्थित प्रयोज्यप्रयोजकभाव (कार्य-कारण-भाव) हो नहीं सकेगा। अतः त्र्यणुक में सावयवत्व तो मानना ही होगा। अर्थात् त्र्यणुक को सावयव कहना ही होगा। ऊपर बता चुके हैं कि अपकृष्ट-महत्त्व के प्रति 'अनेकद्रव्यवत्त्व' प्रयोजक है। जैसे—अपकृष्ट-महत्परिमाणवाले द्रव्य का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। अतः कहना होगा कि चाक्षुष-प्रत्यक्षयोग्य द्रव्यत्व—व्याप्य है और अपकृष्ट-महत्परिमाण व्यापक है। अर्थात् जिस-जिस द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, उस-उस द्रव्य में अपकृष्ट-महत्परिमाण अवश्य ही रहता है। क्योंकि किसी भी द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में 'महत्परिमाण' कारण होता है। उसी प्रकार जहाँ-जहाँ अपकृष्ट महत्परिमाण रहता है, वहाँ-वहाँ अनेक 'द्रव्यवत्त्व' अवश्य ही रहता है। अतः 'अपकृष्ट महत्परिमाण' व्याप्य हुआ और अनेक 'द्रव्यवत्व' व्यापक हुआ। क्योंकि त्र्यणुक आदि में अपकृष्ट महत्परिमाण रहता है और वे (त्र्यणुक आदि) अनेक द्रव्यों से उत्पन्न हुए रहते हैं। उसी तरह अनेकद्रव्यवत्त्व—व्याप्य है और सावयवत्त्व—व्यापक है, यानी जो-जो अनेक द्रव्यवाला (अनेकद्रव्यवान्) होगा वह अवश्य ही सावयव भी होगा। एवंच जिस-जिस द्रव्य में चाक्षुष-प्रत्यक्षयोग्यता रहेगी, वहाँ-वहाँ सावयवत्व अवश्य रहेगा। अतः वह (त्र्यणुक का अवयव द्व्यणुक) भी सावयव है, यह कल्पना की जाती है। अतः चाक्षुष-प्रत्यक्षयोग्यद्रव्यत्व-व्याप्य हुआ और सावयवत्व-व्यापक हुआ। इस कारण यदि किसी द्रव्य (वस्तु) में चाक्षुष-प्रत्यक्षयोग्य द्रव्यत्व है, तो उसमें सावयवत्व भी अवश्य होगा। अतः चाक्षुष-प्रत्यक्ष-योग्य द्रव्य में की गई व्यभिचारशंका (त्र्यणुक में 'चाक्षुषद्रव्यत्वरूप हेतु हो और सावयवत्व रूप साध्य न हो) का निराकरण इस रीति से हो जाता है। एवंच इस प्रकार प्रदर्शित किये गये प्रयोज्य-प्रयोजकभाव (कार्य-कारणभाव) से यह सुस्पष्ट

हो जाता है कि यदि त्र्यणुक में चाक्षुष प्रत्यक्षयोग्य द्रव्यत्व है अर्थात् यदि त्र्यणुक द्रव्य चक्षुरिन्द्रिय के गोचर है, तो वह अवश्य ही सावयव है, यानी उसके अवयव भी मानने होंगे। जैसे–घटद्रव्य चक्षुरिन्द्रिय का गोचर होता है। अतः वह सावयव भी होता है। उसी प्रकार त्रसरेणु भी चक्षुरिन्द्रिय के गोचर होने से उसके (त्रसरेणुके) अवयव (द्वयणुक) हैं, यह कल्पना की जाती है। जिससे त्र्यणुक के अवयवों (द्वयणुक) की सिद्धि हो जाती है। क्योंकि यह नियम है कि 'जिस द्रव्य से कोई बड़ा द्रव्य (दृश्य द्रव्य) उत्पन्न होता है, उस द्रव्य का अवयव भी सावयव होता है, जैसे–कपालद्रव्य से बड़ा घटरूप द्रव्य (दृश्य द्रव्य) उत्पन्न होता है, अतः वह कपाल भी सावयव है अर्थात् उस कपाल के भी अवयव हैं। वैसे ही द्वयणुकस्वरूप अवयवों से त्रसरेणु (त्र्यणुक) स्वरूप बड़ा दृश्य द्रव्य उत्पन्न होता है, अतएव द्वयणुकस्वरूप अवयव भी सावयव है, अर्थात् उस द्वयणुक के अवयव 'परमाणु' ही हैं, यह सिद्ध हो जाता है।

शंका—उक्त नियम को न मानकर बौद्ध शंका कर रहा है कि द्वयणुक से जो महत् परिमाणवाला त्रसरेणु (दृश्य) उत्पन्न होता है, क्या वह महत्परिमाणवाला त्रसरेणु 'द्वयणुक' के परिमाण को स्वीकार नहीं करेगा ? अर्थात् अवश्य ही करेगा।[1] अतः पूर्वोक्त अनुमान में अनुकूल तर्क का अभाव है।

समा०—नैयायिक समाधान करता है कि 'जो द्रव्य, चक्षुरिन्द्रिय का गोचर होकर महत् (साधारण बड़ा) है, वह (द्रव्य) इन्द्रियों के अगोचर तथा अति सूक्ष्म द्रव्य से कदापि उत्पन्न नहीं होगा। इस कारण अतिसूक्ष्म द्रव्य की अपेक्षा किंचित् बड़ा तथा पूर्वोक्त साधारण बड़े द्रव्य की अपेक्षा किंचित् छोटा ऐसी मध्यस्थिति का द्रव्य स्वीकार किया जाता है। अतएव उत्तम (बड़ा), मध्यम तथा कनिष्ठ (अतिसूक्ष्म) ऐसा तीन प्रकार का द्रव्य है, यह स्पष्ट होता है। उक्त तीन प्रकारों में से जो उत्तम है वह त्रसरेणु है और जो मध्यम है वह द्वयणुक है और जो कनिष्ठ है वही परमाणु है, यह समझना चाहिये। अतः बौद्ध का नियम (त्र्यणुक का परिमाण द्वयणुक के परिमाण पर निर्भर है) उचित नहीं है। क्योंकि त्र्यणुक का महत्परिमाण द्वयणुक के अणुपरिमाण से उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत तीन द्वयणुकों में रहनेवाली त्रित्व संज्ञा से उत्पन्न होता है। एवंच 'अपकृष्ट महत्त्व के प्रति अनेक द्रव्यवत्त्व में प्रयोजकता (कारणता) होती है' इस तरह व्यभिचारशंकानिवर्तक के रूप में अनुकूल तर्क सिद्ध होता है।

शंका—इस प्रकार यदि अनुमान से सावयवत्व को सिद्ध करते हैं, तो द्वयणुकावयवाः सावयवाः महदारम्भकारम्भकत्वात्, कपालिकावत्' इस अनुमान से परमाणु को भी सावयव सिद्ध कर सकते हैं।

समा०—'न चैवंक्रमेणेति। 'अवयव-साधक उपर्युक्त अनुमान के द्वारा द्वयणुकावयव स्वरूप परमाणुओं के अवयवों की तरह उन अवयवों के भी अवयव पुनः

१. क्योंकि 'परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमात्'।

उनके भी अवयव इस प्रकार उन अवयवों की धारा (प्रवाह) ही बह उठेगी, तब अप्रामाणिक अनन्त कल्पना समाप्त्यभावात्मक अनवस्था हो जायगी, उस अनवस्था दोष के भय से अवयवधारा को अनुमिति का विषय नहीं बनाया जाता, अर्थात् अवयव धारा का अनुमान नहीं, किया जाता। क्योंकि हेतु में अनवस्था दोष रहने पर, वह (अनवस्थादोष हेतु में अप्रामाण्य बुद्धि को उत्पन्न करता है, तब उससे साध्य की सिद्धि नहीं हो पाती। अतः परमाणु के पुनः अवयव नहीं हैं यह अवश्य मानना ही होगा। ।। इति परमाणुसाधनम् ।।

सा चेति सा कार्यरूपा पृथिवी त्रिधेत्यर्थः। शरीरेन्द्रियविषयभेदादित्यर्थः ॥ ३७ ॥

वह पृथ्वी नित्य तथा अनित्य भेद से दो प्रकार की है, यह पहले कह चुके हैं। अब उन दोनों में से जो अनित्य पृथिवी है, वह शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से तीन प्रकार की है। यहाँ पर कार्यरूपा पृथिवी' को पक्ष बनाया है, 'त्रिविधत्व'[1] को साध्य बनाया है और 'शरीरेन्द्रियविषयभेदात्' को हेतु बनाया है। इस प्रकार अनुमानप्रमाण के द्वारा कार्यरूपा पृथ्वी में त्रिविधत्व' को सिद्ध किया गया है। शरीर और इन्द्रिय का आत्मा से सम्बन्ध रहने के कारण उनका निरूपण विशेषरूप से ग्रन्थकार ने किया है। अन्य जितने भी पार्थिव पदार्थ हैं, उनका विषय में अतर्भाव समझना चाहिये।

इन्द्रिय से ग्रहण किये जाने वाले पदार्थों को 'विषय' कहते हैं। अथवा शरीर एवं इन्द्रिय से भिन्न होते हुए जो उपभोग का साधन हो उसे विषय कहते हैं। सुख एवं दुःख के साक्षात्कार को भोग कहा गया है ॥ ३७ ॥

योनिजादिर्भवेद्देहमिन्द्रियं घ्राणलक्षणम्।
विषयो द्व्यणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः ॥ ३८ ॥

---

१. उद्देश्यतावच्छेदक जो पृथ्वीत्व उसकी समनियत संख्या 'त्रित्व संख्या' होती है, तादृशसंख्यावत्त्व का नाम ही 'त्रिविधत्व' है। संख्या की आश्रयता 'स्वाश्रयाश्रयत्व' सम्बन्ध से लेनी चाहिये। 'स्व' पद से 'त्रित्व' संख्या, उसका आश्रय 'शरीरत्व, इन्द्रियत्व, विषयत्व', ये तीनों होते हैं। उनका आश्रय शरीर, इन्द्रिय और विषय होगा।

'समनियतत्व'––'व्याप्यत्वे सति व्यापकत्वं' को कहते हैं। यहाँ पर उद्देश्यतावच्छेदक 'पृथ्वीत्व' जाति है, वह जहाँ-जहाँ रहेगी, वहाँ-वहाँ शरीरत्व, इन्द्रियत्व एवं विषयत्व में रहनेवाली 'त्रित्व' संख्या भी 'स्वाश्रयाश्रयत्व' सम्बन्ध से रहती है। इसलिये 'पृथ्वीत्व' का व्याप्य 'त्रित्व' हो जाता है एवं जहाँ-जहाँ 'स्वाश्रयाश्रयत्व' सम्बन्ध से 'त्रित्व' संख्या रहती है वहाँ-वहाँ 'समवाय' सम्बन्ध से 'पृथ्वीत्व' जाति भी रहती है, इसलिये 'पृथ्वीत्व' जाति 'त्रित्व' जाति की व्याप्य होती है। इस तरह पृथ्वीत्व के साथ त्रित्व संख्या की समव्याप्ति है––ऐसा समझना चाहिये।

'देह अर्थात् पार्थिव'[1] शरीर, योनिजादि अर्थात् स्त्री के गर्भ में रहने के कारण योनि से अर्थात् भग के द्वारा उत्पन्न हुआ, उसे 'योनिज' कहा गया है। अर्थात् शुक्र-शोणित के मिश्रण से उत्पन्न होनेवाला शरीर 'योनिज' है। 'आदि' शब्द से तद्भिन्न 'अयोनिज' समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि 'योनिज' और 'अयोनिज' भेद से 'देह' दो प्रकार का है। 'इन्द्रिय' अर्थात् पार्थिव इन्द्रिय[2] जिसका स्वरूप 'घ्राण' ही है। 'विषय' अर्थात् पार्थिवविषय[3], त्र्यणुक से लेकर समस्त ब्रह्माण्ड है।

तत्र देहमुदाहरति--

योनिजादिरिति ।' योनिजमयोनिजं चेत्यर्थः। योनिजमपि द्विविधं जरायुजमण्डजं च। जरायुजं मानुषादीनाम्। अण्डजं सर्पादीनाम्। अयोनिजं स्वेदजोद्भिज्जादिकम्। स्वेदजाः कृमिदंशाद्याः। उद्भिज्जास्तरुगुल्माद्याः। नारकिणां शरीरमप्ययोनिजम्।

'तत्र देहमिति'। देह, इन्द्रिय और विषयों में से पार्थिव शरीर (देह) को उदाहरण देकर बता रहे हैं। कारिकागत 'योनिजादि' पद का अर्थ करते हैं—योनिज और अयोनिज। शुक्र-शोणित के परस्पर सम्मिश्रण से उत्पन्न होने वाले देह (शरीर) को 'योनिज' कहते हैं और उससे भिन्न (पूर्वोक्त प्रकार से उत्पन्न न होनेवाले) शरीर को 'अयोनिज' कहते हैं। योनिज तथा अयोनिज इन दो प्रकार के शरीरों में से जो योनिज है, उसके भी दो प्रकार हैं—(१) जरायुज और (२) अण्डज। गर्भवेष्टनचर्मपुटक (झिल्ली) को 'जरा' कहते हैं, उससे उत्पन्न होनेवाले 'शरीर' को 'जरायुज' कहते हैं। (२) गर्भवेष्टनशुक्तिकटाह को 'अण्ड' कहते हैं। उससे उत्पन्न होनेवाले शरीर को 'अण्डज' कहते हैं। जरायुज शरीर, मनुष्य, पशु, मृग आदि का होता है और अण्डज शरीर–सांप, पक्षी आदि का होता है। अयोनिज शरीर भी अनेक प्रकार के होते हैं—(१) शरीर से निकलने वाले जल (घर्म) बिन्दु को 'स्वेद' कहते हैं, उससे उत्पन्न होनेवाले शरीर को 'स्वेदज' कहते हैं। अर्थात् पसीने से उत्पन्न हुए शरीर 'स्वेदज' हैं। जैसे–खटमल, मच्छर, जूं आदि के शरीर 'स्वेदज'[4] हैं।

जमीन को फोड़कर उत्पन्न होनेवाले शरीर को 'उद्भिज' कहते हैं। जैसे—पेड़, लता, झाड़ी आदि के शरीर 'उद्भिज्ज' हैं। 'स्वेदजोद्भिज्जादिकम्' यहाँ के

---

१. पार्थिव देह का सामान्य लक्षण—'चेष्टावदन्त्यावयवित्वे सति गन्धवत्त्वम्'।

२. पार्थिव इन्द्रिय का सामान्य लक्षण—'प्रत्यक्षकरणत्वे सति गन्धवत्त्वम्'।

३. पार्थिव विषय का सामान्य लक्षण—'उपभोगसाधनत्वे सति गन्धवत्त्वम्'।

४. कुछ लोगों का कहना है कि 'जिनको स्वेदज कहा है, वे सब अण्डज हैं'—किन्तु वह उचित नहीं है, क्योंकि गूलर के फल में सैकड़ों भुनगे निकल पड़ते हैं, तो प्रत्येक के अण्डों की कल्पना करने में कोई युक्ति नहीं है। अतः स्वेदज तथा अण्डज भिन्न ही हैं।

'आदि' पद से देवशरीर[1] तथा नारकीय (नरकवासियों के) शरीर को समझ लेना चाहिये। ये शरीर भी 'अयोनिज' कहे जाते हैं। धर्मविशेषसहित अणुओं से 'देवशरीर' उत्पन्न होते हैं। अधर्मविशेषसहित अणुओं से नारकी लोगों के शरीर उत्पन्न होते हैं। 'योनिं विना न शरीरम्' इस वाक्य में 'योनि' शब्द को कारणमात्र का उपलक्षक समझना चाहिये।

न च मानुषादिशरीराणां पार्थिवत्वे किं मानमिति वाच्यं, गन्धादिमत्त्वस्यैव प्रमाणत्वात्। न च क्लेदोष्मादेरुपलम्भादाप्यत्वादिकमपि स्यादिति वाच्यं, तथा सति जलत्वपृथिवीत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात्। न च तर्हि जलीयत्वादिकमेवास्तु न तु पार्थिवत्वमिति वाच्यं, क्लेदादीनां विनाशेऽपि शरीरत्वेन प्रत्यभिज्ञानाद् गन्धाद्युपलब्धेश्च पृथिवीत्वसिद्धेः। तेन पार्थिवादिशरीरे जलादीनां निमित्तत्वमात्रं बोध्यम्।

शंका—मनुष्य आदि का शरीर पार्थिव (उसमें पृथ्वी का भाग) है, इस कथन में क्या प्रमाण है ?

समा०—मनुष्य आदि के शरीर की पार्थिवता में (उसमें पृथ्वी का भाग होने में) 'गन्धादिमत्त्व' ही प्रमाण है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार करेंगे—'मानुषादिशरीरं पार्थिवं समवायेन गन्धवत्त्वात्' एवं च मनुष्यादिशरीर, पार्थिव (पृथ्वी का ही भाग) ही है, यह सिद्ध हो जाता है।

शंका—मनुष्यादिकों के शरीर में जैसे पृथिवी का भाग है, वैसे ही स्वेद (जल का भाग अर्थात् पसीना) तथा ज्वरादि के हो आने से उष्णता भी उपलब्ध होती है। अतः उन शरीरों को जल या तेजस् से उत्पन्न हुए अर्थात् जलीय (आप्य) आदि भी क्यों न कहा जाय ? यानी उक्त शरीरों में पृथ्वी की तरह जल तथा तेजस् (तेज) का, 'आदि' पद से वायु तथा आकाश का भी भाग है, यह कह सकते हैं। यहाँ अनुमान प्रयोग इस प्रकार करेंगे—'मनुषादिशरीरं जलीयं क्लेदवत्त्वात् क्लेदावयववत्'। वैसे ही 'मानुष्यादिशरीरं तैजसं ऊष्मावत्त्वात्', 'मानुषादिशरीरं वायवीयं, श्वासवत्त्वात्', 'मानुषादिशरीरं आकाशीयं अवकाशवत्त्वात्' इति।

---

१. 'ब्रह्मणो मानसा मन्वादयः पुत्राः, प्रजापतिः अनेकाः प्रजा असृजत्, स तपोऽतप्यत, प्रजाः सृजेयमिति, स मुखतो ब्राह्मणमसृजत्, बाहुभ्यां राजन्यम्, ऊरुभ्यां वैश्यम्, पद्भ्यां शूद्रमित्यागमः।' मनु आदि ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं। अर्थात् अदृष्टवशात् वे मनु आदि ब्रह्मा के संकल्पमात्र से ही उत्पन्न होते हैं।

शंका—'योनिं विना न शरीरम्' योनि के विना शरीर की उत्पत्ति नहीं होती। यह श्रुति तो सभी शरीरों को योनिज ही बताती है। तब देवशरीर को अयोनिज कैसे कहा जाय ?

समा०—उक्त श्रुति में 'योनि' शब्द कारणमात्र का वाचक है, शुक्रशोणित के मेलन रूप योनि का वाचक नहीं है। अतः देवता आदि अदृष्टादि कारणों से ही जन्य होते हैं। यह मानने से उक्त दोनों श्रुतियों में परस्पर कोई विरोध नहीं है।

समा०—सभी भागों की कल्पना करने से अर्थात् पृथ्वीत्व, जलत्व आदि जाति एक ही शरीर (वस्तु) में रहने लगेगी तो 'संकर' (जातिबाधक) दोष होगा। जो वस्तु पृथ्वीस्वरूप है, वह वस्तु जल या तेजःस्वरूप नहीं हो सकती। शंका करने वाला, मनुष्य शरीर में 'क्लेद' (स्वेद=पसीना) को 'समवाय' संबंध से भ्रमवश समझकर उसे हेतु बना रहा है, किन्तु मनुष्यादिशरीर में 'क्लेद' तो 'संयोग' सम्बन्ध से रहता है, 'समवाय' सम्बन्ध से नहीं। अतः पूर्वपक्षी का दिया 'क्लेदवत्त्वात्' हेतु 'असद्धेतु' है। मानुषादि शरीर में जलीयत्वादि के मानने पर संकर दोष इस प्रकार होगा—'पृथिवीत्वाऽभाववति सरिज्जले जलत्वं, जलत्वाभाववति च घटे पृथिवीत्वं, द्वयोर्जलत्व-पृथ्वीत्वयोः समवेशो मनुष्यशरीरे'। पृथ्वीत्वाभाववान् हुआ 'सरिज्जल' उसमें 'जलत्व' है और जलत्वाभाववान् हुआ 'घट', उसमें पृथ्वीत्व' है, दोनों (पृथ्वीत्व-जलत्व) का समावेश 'मनुष्यशरीर' में है, इस कारण 'संकर' होगा। इसी तरह 'पृथ्वीत्वाऽभाववति सूर्यकिरणे तेजस्त्वं, तेजस्त्वाभाववति च घटे पृथ्वीत्वं, द्वयोः पृथ्वीत्व-तेजस्त्वयोः समावेशो मानुषशरीरे इति संकरः।' इस संकर-दोष से पृथ्वीत्वादि धर्मों में जो जातित्व माना जाता है, उसका व्याघात हो जायगा अर्थात् पृथ्वीत्वादिधर्मों को जाति नहीं कह सकेंगे।

शंका—'संकर' दोष का यदि भय है, तो मनुष्यादिशरीर में पार्थिवत्व और जलीयत्व दोनों को एक साथ स्वीकार मत करिये, केवल जलीयत्व या केवल तैज-सत्व या केवल वायवीयत्व या केवल आकाशीय ही उसे मान लीजिये। उसे 'पार्थिव' मानने का आग्रह क्यों किया जा रहा है?

समा०—मनुष्यादिशरीरं केवल जल या तेज के ही (जलीय या तैजसादि ही) हैं, पृथ्वी के (पार्थिव) नहीं हैं, ऐसी उलट-पुलट कल्पना करना ठीक नहीं है। क्योंकि स्वेद (क्लेद) या उष्णता उस शरीर में उसी समय कही जायगी कि जिस समय उस शरीर में जल या तेज का सम्बन्ध रहेगा। किन्तु उनके सम्बन्ध के नष्ट होने पर भी (पसीना आदि के सूखने पर भी) उस मानुषशरीर में 'यही वह शरीर है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा (चक्षुःसंयोग और संस्कार दोनों से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अर्थात् प्रत्यभिज्ञात्मकप्रत्यक्ष) होती है। यदि उस शरीर को जलीय या तैजस कहा जाय, तो वैसी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकेगी। जल या तेज का सम्बन्ध नष्ट होने पर भी होनेवाली प्रत्यभिज्ञा के समय 'गन्ध', 'गौर-श्याम' आदि रूप की ही 'संयुक्त-समवाय' सम्बन्ध से प्रत्यक्षोपलब्धि होती है। अतः तथाकथित अनुमान 'मानुषादिशरीरं पार्थिवम् गन्धादिमत्त्वात्' से यह निश्चित होता है कि मानुषशरीर पार्थिव ही है। मनुष्यादिकों के शरीर की उत्पत्ति में मुख्य (प्रधान) कारण (समवायिकारण) पृथिवी ही है और जल, तेज, वायु तथा आकाश—ये सब निमित्तकारण हैं, अर्थात् जल आदि का संयोग उस पार्थिवशरीर[1] में गौण (अप्र-धान-अंशभूत) है, मुख्य अंश तो पृथ्वी का ही है।

१. पार्थिव शरीर के अनुमान का आकार—मनुष्यादिशरीरं पार्थिवं गन्ध-

शंका--मनुष्यादिशरीर में जलीयत्व, तैजसत्व आदि के होने का निराकरण कर 'पार्थिवत्व' ही यदि सिद्ध करते हैं, तो उस शरीर को 'पाञ्चभौतिक' क्यों कहा जाता है ?

समा०--मनुष्यादिशरीर में 'पाञ्चभौतिकत्व' व्यवहार, पञ्चभूतोपादनकत्व-निबन्धन नहीं है अर्थात् उस शरीर की उत्पत्ति में पञ्चभूत उपादान कारण हैं, यह मानकर 'पाञ्चभौतिक' उसे नहीं कहते, अपितु पञ्चभूतसाहचर्यनिबन्धन अर्थात् उसकी उत्पत्ति में पञ्चभूतों का सहयोग मात्र है, यह मानकर उसे 'पांचभौतिक' कहा जाता है। पार्थिव शरीर में जल, तेज, वायु एवं आकाश के अंश स्वल्प होते हैं, इस कारण वे केवल निमित्तकारण मात्र हैं। जलीयशरीर में पृथ्वी, तेज, वायु और आकाश के अंश स्वल्प होते हैं। तैजसशरीर में पृथ्वी, जल, वायु तथा आकाश के अंश स्वल्प होते हैं। वायवीय शरीर में पृथ्वी, जल, तेज एवं आकाश के अंश स्वल्प होते हैं, अतः ये स्वल्प अंश निमित्तकारण मात्र माने जाते हैं। तत्तच्छरीरों में एक ही 'भूत' मुख्य होता है, जो उपादानकारण कहा जाता है, शेष चार भूत तो निमित्तकारण होते हैं।

शरीरत्वं तु न जातिः, पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यात्, किन्तु चेष्टाश्रयत्वम्। वृक्षादीनामपि चेष्टासत्त्वान्नाव्याप्तिः। न च वृक्षादेः शरीरत्वे किं मानमिति वाच्यम्, आध्यात्मिकवायुसम्बन्धस्य प्रमाणत्वात्। तत्रैव किं मानमिति चेद् ? भग्नक्षतसंरोहणादिना तदनुमानात्। यदि हस्तादौ शरीरव्यवहारो न भवति तदाऽन्त्यावयवित्वेन विशेषणीयम्।

शंका—अवयवों में अवयवी उत्पन्न होता है, अर्थात् अवयवरूप कारण से अवयवीरूप कार्य बनता है। अवयव अपने अवयवी के समवायिकारण कहलाते हैं। अवयवीरूप कार्य अपने अनेक अवयवों के समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होता है। अवयवी की उत्पत्ति के इस इतिहास से वृक्षादिकों के अयोनिज शरीर होने में संदेह होता है।

सन्देह इस प्रकार है--शरीररूपी अवयवी के कर-चरण आदि अवयव समवायिकारण हैं, उनमें समवायसम्बन्ध से शरीररूपी अवयवी (कार्य) उत्पन्न

वत्त्वात् गौरनीलादिरूपवत्त्वाद्वा प्रसिद्धपृथिवीवत्' यह मनुष्यशरीरादि पार्थिव हैं, गन्धविशिष्ट अथवा गौर-नीलादिरूपविशिष्ट होने से, जो-जो गन्ध तथा गौर-नीलादिरूपवाला होता है, वह-वह पार्थिव द्रव्य होता है। जैसे प्रसिद्ध कस्तूरी-कुसुमादिद्रव्य, गन्ध तथा नीलादिरूपवालेहोने से पार्थिव हैं, वैसे ही मनुष्यशरीरादि भी गन्ध तथा गौर-नीलादि रूपवाले होने से पार्थिव होंगे। मरणमूर्च्छादिक अवस्थाओं में स्वेद, उष्णता के नाश होने पर भी इन मनुष्यशरीरादिकों की शरीर-रूप से प्रत्यभिज्ञा होती है तथा गन्धगुण और नील-गौरादिरूपगुण की भी प्रतीति होती है। अतः मनुष्यादि शरीरों में पार्थिवत्व सम्भव है।

होता है। कार्यता होने के नाते उस कार्य (शरीर) में रहनेवाली 'कार्यता' भी किसी-न-किसी धर्म (शरीरत्व) से अवश्य ही युक्त होगी। इसी वक्तव्य को न्याय की भाषा में इस प्रकार कहेंगे—कर-चरणादिनिष्ठसमवायिकारणतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्ना कार्यता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कार्यतात्वात्'—इस अनुमान से सिद्ध हुई 'शरीरत्व' जाति, वृक्षादिकों में बाधित होने से वृक्षादिकों में अयोनिजदेहता (शरीरता) कैसी हो सकती है ?

समा०—ग्रन्थकार स्वयं 'शरीरत्वं न जातिः' कहकर उक्त शंका का समाधान करते हैं। 'शरीरत्व' धर्म को जाति के रूप में माना जाय या नहीं ? यह प्रश्न उपस्थित होने पर ग्रन्थकार कहते हैं कि 'शरीरत्व' धर्म को जातिरूप नहीं मान सकते, क्योंकि उसे जातिरूप मानने पर 'शरीरत्व' का 'पृथ्वीत्व' 'जलत्व' आदि के साथ संकर[1] होगा। शरीर तो पार्थिव, जलीय, तैजस, वायवीय भी होते हैं किन्तु शरीरत्व और पृथ्वीत्व आदि जातियों में परस्पर व्याप्यव्यापकभाव नहीं होता। एक पदार्थ में एक साथ रहनेवाली जातियों में व्याप्यव्यापकभाव होना चाहिये यानी वे एक दूसरे को काटने वाली न हों। 'पृथिवीत्व' जाति पार्थिव मनुष्यादि शरीर के अतिरिक्त पार्थिव घट-पटादि वस्तुओं में भी रहेगी, वैसे ही 'जलत्व' जाति सरिता आदि के जल में रहेगी। एवं च शरीरत्व को जाति मानने पर 'शरीरत्व' जाति की अपेक्षा पृथ्वीत्व, जलत्व जाति व्यापक होनी चाहिये ऐसा प्राचीनों का नियम है। किन्तु शरीरत्वजाति जलादिशरीर में भी रहती है, वहाँ पृथ्वीत्व के न होने से पृथ्वीत्वजाति की व्यापकता नहीं हो सकती है। अभिप्राय यह है कि शरीरत्वधर्म के अत्यन्ताभाववाले घटादिकों में 'पृथ्वीत्व' रहता है और पृथ्वीत्व धर्म के अत्यन्ताभाववाले जलीय शरीर में शरीरत्व धर्म रहता है। ये दोनों धर्म मनुष्यादि के पार्थिव शरीर में रहते हैं—यही 'संकर' नाम का दोष है। इसलिये 'शरीरत्व' धर्म को जातिरूप नहीं मान सकते। इसी अभिप्राय को अनुमान प्रयोग के द्वारा इस प्रकार बताया जा सकता है—'शरीरत्वं, जातित्वाऽभाववत् सांकर्यवत्त्वात् भूतत्ववत्', तथाहि—पृथिवीत्वं विहाय शरीरत्वं 'जलादित्रितयशरीरेषु। शरीरत्वं विहाय पृथिवीत्वं घटादौ। मनुष्यशरीरे तु शरीरत्वं-पृथ्वीत्वमुभयं विद्यते, इति कृत्वा 'शरीरत्व'स्य सांकर्यदोषग्रस्तत्वात् जातित्वं नास्ति।' अतः 'शरीरत्व' धर्म को 'जाति' न मानकर 'उपाधि' माना गया है। चेष्टा का आश्रय होना ही

१. 'संकरो' नाम—'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोरेकत्र समावेशः।' 'संकर' दोष को यदि जातिबाधक न माना जाय, तो 'स्वसामानाधिकरण्य-स्वाभावसामानाधिकरण्येत्युभयसम्बन्धेन यज्जातिविशिष्टजातित्वं यत्र, तत्र तज्जातिव्यापकत्वम्' इस नियम का भंग हो जायगा। यथा—घटे, घटत्वसमानाधिकरणं पृथ्वीत्वं, पटे च घटत्वाभावसमानाधिकरणं पृथ्वीत्वं, तादृशोभयसम्बन्धेन घटत्वविशिष्टा पृथ्वीत्वजातिः, तत् पृथ्वीत्वं, घटत्वव्यापकम्। संकरधर्मयोर्जातित्वे व्याप्यव्यापकभावो न स्यात्।

'शरीरत्व' का स्वरूप है। हिताऽहितप्राप्तिपरिहारार्था क्रिया चेष्टा'—हित की प्राप्ति तथा अहित की निवृत्ति के लिये की जानेवाली क्रिया को 'चेष्टा' कहते हैं। यह चेष्टा 'समवाय' सम्बन्ध से जहाँ रहती है उसे 'शरीर' कहते हैं। समवायेन चेष्टा-वत्त्वं शरीरत्वम्'। यह शरीर का लक्षण वृक्षादिशरीर में भी उपलब्ध होता है। क्योंकि वृक्षादिकों में भी अपने हित (जल आदि) प्राप्ति के लिये (पानादि) क्रिया तथा क्षार एवं अग्निज्वाला आदि का परिहार (अग्रहण) रूप क्रिया का आश्रयत्व होने से उनमें शरीरत्व का समन्वय हो जाता है। अतः शरीरत्व लक्षण की वृक्षादिशरीरों में अव्याप्ति नहीं है। एवं च वृक्षादिकों में चेष्टा रहती है, इस कारण उनके शरीर हैं, यह सिद्ध हो जाता है।

शंका—भाष्यकार ने 'स्थावरा वृक्षास्तृणौषधिगुल्मलता वनस्पतयः' कहकर वृक्षादिकों की गणना पार्थिव विषय में की है। तब भाष्यकार के विरुद्ध वृक्षादिकों को 'पार्थिव शरीर' में कैसे कहा जा रहा है? अर्थात् वृक्षादिकों के शरीर होने में कोई प्रमाण नहीं है।

समा०—वृक्षादिकों के शरीर मानने में यही प्रमाण है कि वृक्षादिकों में आध्यात्मिक वायु (प्राणवायु) का सम्बन्ध रहता है। प्राणवायु का नियम है कि उसका सम्बन्ध शरीर से ही होता है। यद्यपि मनुष्य-पशु आदि में शरीरवत्ता प्रतीत होती है, वैसी वृक्षादिकों में नहीं दीखती, तथापि अनुमान-प्रमाण से वृक्षादिकों में शरीरवत्त्व सिद्ध किया जा सकता है। तथाहि—'वृक्षः शरीरवान् आध्यात्मिकवायु-सम्बन्धवत्त्वात्, मनुष्यदेहादिवत्'—वृक्ष आदि शरीरी कहलाने के योग्य हैं, प्राण-वायु से सम्बन्धित होने के कारण। जो द्रव्य, प्राणवायु से सम्बन्धित रहता है, वह द्रव्य, शरीरी होता है। जैसे मनुष्यादिक।

शंका—मनुष्य-शरीर में प्राणवायु का सम्बन्ध जैसे प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, वैसा वृक्षादिकों में नहीं प्रतीत होता।

समा०—वृक्षादिकों में भी प्राणवायु का सम्बन्ध प्रतीत होता है, क्योंकि वृक्ष को कुल्हाड़ी से काटने पर फिर भी वह जम जाता है तथा क्षत (घाव) होने पर भी वह भर आता है, यह क्रिया प्राणवायु के सम्बन्ध के बिना और किसी प्रकार नहीं हो सकती। क्योंकि जिस शरीर में प्राणवायु का सम्बन्ध नहीं होता उस शरीर में अवयव भंग होने पर संवर्धन नहीं होता। इससे प्राणवायु का सम्बन्ध उन वृक्षादिकों में है[1], ऐसी कल्पना की जाती है। तस्मात् 'चेष्टाश्रयत्वं शरीरत्वम्'

१: यद्यपि प्राणवायु का सम्बन्ध वृक्षादिकों में प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता, तथापि वृद्धि (बढ़ना) आदि हेतुओं से अनुमान किया जाता है। तथाहि—'वृक्षः आध्यात्मिकवायुसम्बन्धवान्, वृद्धिमत्त्वात्' भग्नक्षतावयवसंरोहणवत्त्वाद्वा, मनुष्यादि शरीरवत्'—वृक्ष प्राणवायु के सम्बन्ध से युक्त है, वृद्धिवाला अथवा भग्न क्षत अवयवों के संरोहणवाला होने से। जो-जो द्रव्य, वृद्धिवाले तथा भग्नक्षत अवयवों के संरोहणवाले होते हैं, वे-वे द्रव्य प्राणवायु के सम्बन्धवाले भी होते हैं, जैसे—

'चेष्टा का आश्रय होना' यही शरीर का लक्षण है और 'शरीरत्व' चेष्टाश्रयत्वरूप है। वृक्षादिशरीर में चेष्टा है, अतः वे भी चेष्टाश्रय हैं। उनमें उक्त लक्षण की अव्याप्ति नहीं है।

शंका--हस्त-पादादि अवयवों को तो 'शरीर' नहीं कहा जाता। किन्तु उनमें चेष्टा तो रहती है, अतः उनमें (शरीरावयवों में) 'चेष्टाश्रयत्व' इस शरीर लक्षण की अतिव्याप्ति है।

समा०—उस अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'अन्त्यावयवित्वे सति-चेष्टाश्रयत्वम्' यह लक्षण कर देना चाहिये। अर्थात् पूर्वोक्त शरीरलक्षण (चेष्टाश्रयत्वं) में 'अन्त्यावयवी'[१] यह विशेषण जोड़ देना चाहिये। जो अन्त्य अवयवी

मनुष्यादिकों के शरीर। अर्थात् मनुष्यादिकों के शरीरों में जब कोई हस्त-पादादि टूट जाती है, तब वही अवयव कुछ काल पीछे पुनः जुड़ जाता है, इसी को 'भग्नावयवसंरोहण' कहते हैं और जब शस्त्रादि के लगने से घाव हो जाता है, तब वही घाव कुछ दिनों के बाद भर जाता है, इसी को 'क्षतावयवसंरोहण' कहते हैं। यह बात प्राणवायु के सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकती। शब्द प्रमाण से भी वृक्षादिकों का शरीर है, यह बात सिद्ध होती है। तथाहि—"नर्मदातीरसंजाताः सरलार्जुनपादपाः। नर्मदातोयसंस्पर्शात् ते यान्ति परमां गतिम्"।

गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विप्रान्निर्जित्य वादतः।
श्मशाने जायते वृक्षः कंकगृध्रोपसेवितः॥

प्रथम श्लोक से नर्मदा के जल स्पर्श के पुण्य से वृक्षावच्छिन्न जीवात्मा को उत्तमगति की प्राप्ति बताई गई है और द्वितीय श्लोक से गुरु, ब्राह्मणों के तिरस्काररूप पाप से उस जीवात्मा को श्मशान भूमि में वृक्षदेह की प्राप्ति कही गई है। अतः वृक्षादिकों के भी शरीर होते हैं, यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा।

१. अन्त्यावयवित्वं नाम 'समवायेन' द्रव्यवद्भिन्नत्वम् अर्थात् द्रव्यानारम्भकद्रव्यत्वम्। अथवा 'अवयवजन्यत्वेसति अवयव्यजनकः अन्त्यावयवी।' जो द्रव्य अवयवों से जन्य होकर दूसरे किसी अवयवी का जनक नहीं होता, वह द्रव्य 'अन्त्य अवयवी' है। जैसे--मनुष्यादिशरीर, हस्त-पादादि अवयवों से जन्य है और दूसरे अवयवी का अजनक भी है। इस कारण मनुष्यादि का देह (शरीर) अन्त्यावयवी है। इसी प्रकार घट-पटादि भी कपाल-तन्तु आदि से जन्य हैं। तथा दूसरे अवयवी के अजनक हैं, इसलिए वे अन्त्यावयवी हैं। उक्त लक्षण में 'अवयवजन्यत्वे सति' यदि न कहें, तो 'आकाशादि' समवाय सम्बन्ध से अपने किसी भी अवयवी के जनक नहीं हैं। अतः वे 'अवयव्यजनक' हुए, तब उन्हें भी अन्त्यावयवी कहना पड़ेगा। इस अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए 'अवयवजन्यत्वे सति' यह विशेषण जोड़ना पड़ा। तब आकाशादि तो किसी अवयव से जन्य नहीं हैं, अतः अतिव्याप्ति का निवारण हो गया। पुनः 'अवयवी-अजनकः' न कहें, तो हस्त-पाद-अङ्गुली आदि शरीरावयव भी अपने-अपने अवयवों से जन्य हैं, तो 'अवयवजन्यत्व' उनमें होने से

होकर चेष्टावान्[1] होता है, वही 'शरीर' है। ऐसा लक्षण करने से शरीर के हस्त-पादादि अवयव अन्त्यावयवी नहीं हैं वे तो मध्यावयवी हैं। अतः अतिव्याप्ति नहीं है।

न च यत्र शरीरे चेष्टा न जाता तत्राव्याप्तिरिति वाच्यं, तादृशे प्रमाणाभावात्। अथवा चेष्टावदन्त्यावयविवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्, अन्त्यावयवमात्रवृत्तिचेष्टावद्वृत्ति जातिमत्त्वं वा तत्। मानुषत्वचैत्रत्वादि जातिमादाय लक्षण-समन्वयः।

शंका--जिस मूर्छित शरीर में तथा सुषुप्त (सोए हुए) शरीर में चेष्टा नहीं होती, उसमें 'अन्त्यावयवित्वविशिष्ट चेष्टाश्रयत्व' इस शरीर-लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

समा०—मूर्च्छाकाल में या सुषुप्ति काल में शरीर चेष्टाशून्य रहता है-यह मानने में कोई प्रमाण नही है। मूर्छाकाल में तथा सुषुप्तिकाल में प्राणग्रहण तथा निद्रा-ग्रहणात्मक हितानुकूल क्रिया का होना तो प्रत्यक्षसिद्ध है। अतः तत्कालीन शरीर चेष्टासहित ही है, चेष्टारहित नहीं। अतः अव्याप्ति नहीं है।

शंका—फिर भी उत्पत्तिकालावच्छिन्न शरीर में तथा मृतशरीर में चेष्टा न रहने से शरीर के लक्षण की पुनः अव्याप्ति होगी।

समा०—वास्तव में तो मृतशरीर को 'शरीर' ही नहीं कहा जाता, उसे 'शव' कहते हैं। यदि मृतशरीर को भी 'शरीर' कहने का आग्रह ही हो, तो शरीर लक्षण को 'जातिघटित' बना देंगे। तथा हि—'चेष्टावान् जो अन्त्यावयवी, उसमें वृत्ति जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति–तादृशजातिमत्त्व' इस प्रकार शरीर का लक्षण कर देने से अव्याप्ति नहीं होगी। अर्थात् चेष्टावत् जो अन्त्यावयवी जीवच्छरीर, उसमें वृत्ति जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति, मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व, चैत्रत्वादि जाति, तादृशजातिमत्त्व–चैत्रीय-मृतशरीर तथा उत्पत्तिकालीनशरीर में भी रहने से लक्षणसमन्वय हो सकेगा, तब अव्याप्ति नहीं होगी। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने कहा है कि 'चेष्टावदन्त्यावय-विवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्'। मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्वादि ऐसी जाति है, जो चेष्टायुक्त अन्त्यावयवी जीवच्छरीर में रहती है और वह जाति द्रव्यत्वव्याप्य भी है, तादृशजातिमत्त्व सभी शरीरों में है, अतः कोई दोष नहीं है। यदि 'अन्त्यावयवी में रहनेवाली जाति' इतना ही कहें, 'चेष्टावत्' न कहें, तो 'घटत्व' जाति भी केवल

उन्हें 'अन्त्यावयवी' कहना पड़ेगा, किन्तु वे अन्त्यावयवी तो हैं नहीं, अतः अति-व्याप्ति होगी। उसके वारणार्थ 'अवयव्यजनकः' कहना पड़ा। अब 'अवयवी' पद न दें, तो असंभव ही हो जायगा। तात्पर्य यह है कि जिस अवयवी से फिर दूसरा अवयवी होना संभव न हो, वह पूर्ण या शेषी होता है। जैसे—'कपाल, शाखा' अवयव हैं और घट तथा वृक्ष अन्त्यावयवी हैं। घट से घट कभी नहीं होगा।

१. शरीर के लक्षण में यदि 'चेष्टा' पद न दें, तो घट-पटादि भी अन्त्यावयवी हैं, परन्तु उनमें चेष्टा न होने से लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'चेष्टा' पद दिया है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है।

अन्त्यावयवी 'घट' में रहती है, तो उसमें भी शरीर-लक्षण के चले जाने से अतिव्याप्ति हो जायगी, उसके निवारणार्थ 'चेष्टावत्' कहना पड़ा। कर पाद आदि में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'अन्त्यावयवी' कहा। अब 'द्रव्यत्वव्याप्य' यदि न कहें, तो 'सत्ता' जाति भी चेष्टावत् (चेष्टाविशिष्ट) अन्त्यावयवी में रहती है, अर्थात् द्रव्य, गुण एवं कर्म तीनों में 'सत्ता' जाति रहती है, अतः उनमें शरीरलक्षण की अतिव्याप्ति होगी, तन्निवारणार्थ 'द्रव्यत्वव्याप्य' कहना पड़ा। फिर भी कालिकसम्बन्ध से चेष्टावद्घट में अतिव्याप्ति हो सकती है, उसके निवारणार्थ 'समवायसम्बन्ध' से चेष्टावत्त्व समझना चाहिए।

शंका०—'द्रव्यत्वव्याप्यजाति' कहने पर भी 'चेष्टावदन्त्यावयवी' 'शरीर' हुआ तद्वृत्ति (उसमें रहनेवाली) द्रव्यत्वव्याप्यजाति 'पृथ्वीत्व' होगी, वह पृथ्वीत्वजाति 'घट' में भी है। अतः शरीरलक्षण की 'घट' में अतिव्याप्ति होगी।

समा०—इसी अरुचि के कारण ग्रन्थकार ने उसी लक्षण को और परिष्कृत कर दिया 'अन्त्यावयविमात्रवृत्तिचेष्टावद्वृत्तिजातिमत्त्वं' वा तत्। अर्थात् जो जाति केवल अन्त्यावयवी में ही रहती हो तथा चेष्टावाले में भी रहती हो ऐसी जाति से युक्त होना। अब देखिये कि 'पृथ्वीत्व' जाति, केवल अन्त्यावयवी में ही नहीं रहती, बल्कि कपाल में भी (जो अन्त्यावयवी नहीं है) रहती है। अतः परिष्कृत लक्षण के अनुसार ऐसी जाति लेनी होगी, जो केवल अन्त्यावयवी में रहती हो और चेष्टावाले में रहती हो। ऐसी जाति केवल 'मनुष्यत्व' आदि ही हो सकती है पृथ्वीत्वजाति नहीं। मनुष्यत्व आदि जाति, शरीर में ही रहती है, तादृशजातिमत्त्व मृतशरीर तथा उत्पत्तिकालीन शरीर में भी रहने से लक्षण समन्वय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्यत्व, चैत्रत्व आदि जाति को लेकर शरीर मात्र में लक्षणसमन्वय कर लेना चाहिये। यदि केवल 'अन्त्यावयविमात्र में रहनेवाली जाति' इतना ही कहें और 'चेष्टावद्वृत्ति' न कहें, तो 'घटत्व' जाति भी केवल अन्त्यावयवी (घट) में ही रहती है, उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः 'चेष्टावद्वृत्ति' कहना पड़ा। तब अतिव्याप्ति नहीं होगी। 'द्रव्यत्व' को लेकर अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये प्रथम वृत्यन्त और 'घटत्व' को लेकर अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए द्वितीय वृत्यन्त का उपादान किया गया है। इस परिष्कृत लक्षण में 'द्रव्यत्वव्याप्य' कहने की भी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि 'सत्ता', 'द्रव्यत्व', 'पृथ्वीत्व', जातियाँ केवल अन्त्यावयवी में ही नहीं रहतीं, अपितु अन्यत्र भी रहती हैं। केवल अन्त्यावयवी में रहनेवाली जाति तो 'मनुष्यत्व', 'चैत्रत्व', आदि जाति ही मिलेगी, तादृशजातिमत्त्व समस्त शरीरों में होगा।

न च नृसिंहशरीरे कथं लक्षणसमन्वयः? तत्र नृसिंहत्वस्यैकव्यक्तिवृत्तितया जातित्वाभावाज्जलीयतैजसशरीरवृत्तितया देवत्वस्यापि जातित्वाभावादिति वाच्यं, कल्पभेदेन नृसिंहशरीरस्य नानात्वेन नृसिंहत्वजात्या लक्षणसमन्वयात्।

॥ इति पार्थिवशरीरनिरूपणम् ॥

शंका—ऊपर कहा गया है कि परिष्कृत किये हुए 'अन्त्यावयविमात्रवृत्तिचेष्टावद्‌वृत्तिजातिमत्त्वम्—शरीर-लक्षण का शरीर मात्र में (समस्त शरीरों में) लक्षण-समन्वय हो जाता है, किन्तु भगवान् विष्णु का जो 'नृसिंह' रूप में अवतार है, वह 'नृसिंह' शरीर तो एक ही है। अतः उस शरीर में द्वितीय परिष्कृत शरीर-लक्षण का समन्वय कैसे होगा ? क्योंकि 'नृसिंहत्व' धर्म, 'एकव्यक्तिमात्रवृत्ति' होने से उसे 'जाति' नहीं कह सकते। यदि उस शरीर में मनुष्यत्व जाति कहें, तो वह भी नहीं कह सकते। क्योंकि परिष्कृतलक्षण के अनुसार केवल अन्त्यावयविमात्र में रहनेवाली और चेष्टावाले में रहनेवाली 'मनुष्यत्व' आदि कोई जाति हो ही नहीं सकती। वह नृसिंह का शरीर भी 'शरीर' ही है। उसमें शरीर का लक्षण न घटने से शरीरलक्षण की अव्याप्ति है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'नृसिंहत्वं न जातिः, एकव्यक्तिवृत्तित्वात्'। यदि 'नृत्व' या 'सिंहत्व' जाति मानकर लक्षणसमन्वय करें, तो वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि केवल एक-एक को स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। दोनों को यदि स्वीकार करें, तो दोनों में जातिसंकर का प्रसंग प्राप्त होगा और आंशिकत्व भी प्राप्त होगा। यदि कहें कि 'नृसिंह' देवता है, अतः उस 'नृसिंह शरीर' में 'देवत्व' जाति है, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'देवत्व' कोई जाति नहीं है। क्योंकि 'देवत्वजाति' को मानने पर 'संकर' दोष आवेगा। देवत्व तो जलीय शरीरवाले 'वरुण' में और तैजस शरीरवाले 'सूर्य में' रहता है अर्थात् वरुणलोक मे प्रसिद्ध जलीय-शरीर तथा सूर्यलोक में प्रसिद्ध तैजसशरीर में 'देवत्व' रहता है। अतः जलीयत्व तथा तैजसत्व के साथ 'देवत्व' का सांकर्य होगा। तथाहि—'देवत्व' को छोड़कर 'जलीयत्व', सरिज्जल में और 'जलीयत्व' को छोड़कर 'देवत्व', तैजस सूर्यादिदेवों में और दोनों का समावेश जलीयशरीर में। उसी प्रकार देवत्व को छोड़कर तैजसत्व सुवर्ण में और तैजसत्व को छोड़कर देवत्व वरुणादि जलीय देव में और दोनों का समावेश 'तैजसशरीर' में है। इस सांकर्य दोष के कारण 'देवत्व' को जाति नहीं कह सकते। एवंच 'नृसिंह शरीर' में रहनेवाली ऐसी कोई जाति नहीं, जिसे लेकर परिष्कृतलक्षण का समन्वय नृसिंहशरीर में किया जा सके।

समा०—काल अनादि तथा अनन्त है, उसमें कृत, त्रेता, द्वापर आदि युग के क्रम से अनेक कल्प होते हैं। 'कल्प' शब्द ब्रह्मा के एक दिन का वाचक है। यह एक दिन का काल चालीस अर्बुद बत्तीस कोटि वर्षों का होता है। ब्रह्मा के प्रत्येक कल्प में 'नृसिंहावतार' होता है। उन नृसिंहशरीरों का एकत्व ही 'नृसिंहत्व' जाति है। इस रीति से 'नृसिंहत्व' जाति की सिद्ध की गई है। अतः नृसिंहशरीर में शरीरलक्षण का लक्षण-समन्वय हो जाता है। क्योंकि 'नृसिंहत्व' अनेक व्यक्तिवृत्ति हो जाता है। अतः नृसिंहत्वधर्म को जाति मानने में 'एकव्यक्तिवृत्तित्व' बाधक नहीं है।

॥ इति पार्थिवशरीरनिरूपणम् ॥

इन्द्रियमिति । घ्राणेन्द्रियं पार्थिवमित्यर्थः ।[1] पार्थिवत्वं कथमिति चेत् ? इत्थम् । घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव व्यञ्जकत्वात्, कुंकुम-

१. गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वसाक्षात्व्याप्यजातिमिन्द्रियं पार्थिवेन्द्रियम्'—यह घ्राणेन्द्रिय गन्धगुणवाली है। इसमें यह नियम है कि–'यदिन्द्रियं रूपादिषु मध्ये यं गुणं गृह्णाति तत् इन्द्रियं तद्गुणयुक्तम्'—जो इन्द्रिय, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द--इन पाँच गुणों में से जिस गुण को ग्रहण करती है, वह इन्द्रिय उस गुण वाली कहलाती है। जैसे—चक्षु, रसन, घ्राण, त्वक्, श्रोत्र ये इन्द्रियाँ यथाक्रमरूपादिकों का ग्रहण करती हैं। 'घ्राणेन्द्रियं गन्धवत् गन्धग्राहकेन्द्रियत्वात्' 'चक्षुरादिवत्'—यह घ्राणेन्द्रिय गन्धगुणवाला है, गन्ध की ग्राहक इन्द्रिय होने से, चक्षुरादि इन्द्रिय के समान। अथवा दूसरा अनुमान यह है—'घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव अभिव्यञ्जकत्वात्, कुंकुमगन्धाभिव्यञ्जकगोघृतवत्, वायूपनीतसुरभिपार्थिवभागवत्—घ्राणेन्द्रिय पार्थिव होने योग्य है, क्योंकि रूपादि चारों के मध्य में से वह केवल गन्ध को ही प्रकट करता है। जो-जो गन्ध का अभिव्यञ्जक होता है, वह वह पार्थिव होता है। कुंकुम (केशर) में मिला हुआ गोघृत कुंकुम के रूपादिकों में से गन्ध का ही अभिव्यंजक है। अतः गोघृत में पार्थिवत्त्व प्रत्यक्ष सिद्ध है।

अथवा—कस्तूरी, कुसुमादि पार्थिव भागों का वायु से उड़ाया हुआ जो पार्थिव भाग है, वह भी रूपादि चारों में से गन्ध का ही अभिव्यंजक है, इस कारण भी सुरभिभाग में पार्थिवत्त्व निश्चित होता है। अब घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है, क्योंकि रूपादिकों में से वह केवल गन्ध का ही ग्रहण करती है। इस लक्षण में यदि 'एव' पद न दें, तो नवीन सकोरे में डाला हुआ जल, सकोरे के गन्ध का भी अभिव्यंजक होता है। इस कारण जल को भी पार्थिव कहना होगा, तब तो व्यभिचार हो जायगा तथा मन के बिना किसी वस्तु का ज्ञान होगा, अतः मन भी गन्ध का अभिव्यंजक है। इस कारण मन में भी दोष (व्यभिचार) हुआ। इस दोष के निवारणार्थ लक्षण में 'एव' पद दिया गया है। यह 'एव' पद गन्ध से भिन्न रूप, रस, स्पर्श का निषेधक है। नवशरावस्थित जल केवल गन्ध का ही अभिव्यंजक नहीं, किन्तु सक्तु में पड़कर रस का भी अभिव्यंजक है तथा 'मन' जैसे गन्ध का अभिव्यंजक है, वैसे ही रूपादिकों का भी वह अभिव्यंजक है। यदि 'रूपादिमध्ये' यह पद न दें, तो हेतु में स्वरूपाऽसिद्धि (पक्ष में हेतु का न रहना) दोष होगा। घ्राणेन्द्रिय केवल गन्ध का ही अभिव्यंजक नहीं किन्तु गन्धत्वजाति तथा गन्धाभाव का भी अभिव्यंजक है। 'द्रव्यत्वे सति' यह पद न देनें से 'सन्निकर्ष' के द्रव्य न होने से दोष नहीं है। 'गोघृत' यद्यपि अनेक रूपादिकों का अभिव्यंजक है तथापि 'कुंकुम' के रूपादिकों में से केवल गन्ध का ही अभिव्यंजक है। इस कारण उस हेतु में उन रूपादिकों का 'परकीयत्व' विशेषण कहने से 'गोघृत' दृष्टान्त में हेतु की असिद्धि नहीं होती। 'परकीय' पद के देने से शरीरकृत गौरव होता है, इस कारण 'परकीय' पद को छोड़ देते हैं और वायूपनीतसुरभिभागवत्' यह दूसरा

गन्धाभिव्यञ्जकगोघृतवत्। न च दृष्टान्ते स्वकीयरूपादिव्यञ्जकत्वादसिद्धिरिति वाच्यं, परकीयरूपाद्यव्यञ्जकत्वस्य तदर्थत्वात्। न च नवशरावगन्धव्यञ्जकजलेऽनैकान्तिकत्वमिति वाच्यं, तस्य सक्तुरसाभिव्यञ्जकत्वात्। यद्वा परकीयेति न देयम्, वायूपनीतसुरभिभागस्य दृष्टान्तत्वसम्भवात्। न च घ्राणेन्द्रियसन्निकर्षस्य गन्धमात्रव्यञ्जकत्वात् तत्र व्यभिचार इति वाच्यं, द्रव्यत्वे सतीति विशेषणात्।

॥ इति पार्थिवेन्द्रियनिरूपणम् ॥

अनित्य पृथ्वी के तीन भागों में से जो 'इन्द्रिय' संज्ञक भाग है वह 'घ्राणेन्द्रिय' (नासिका) है। 'घ्राणेन्द्रियं पार्थिवम्'—यह प्रतिज्ञा वाक्य है। उस पर शंका की गई है कि 'पार्थिवत्वं कथम्' अर्थात् घ्राणेन्द्रिय में पार्थिवत्व' की सिद्धि करने में (घ्राणेन्द्रिय को पार्थिव कहने में) हेतु क्या है? तब 'इत्थम्' कहकर उत्तर दिया जा रहा है, अर्थात् अनुमान प्रयोग के द्वारा 'हेतु' बता रहे हैं। घ्राणेद्रिय पार्थिव (पृथ्वी का भाग) है, इसे सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं, रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव व्यंजकत्वात्, कुंकुम गन्धाभिव्यञ्जकगोघृतवत्'—इसमें 'घ्राणेन्द्रिय' पक्ष है, पार्थिवत्व' साध्य है, 'रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव अभिव्यञ्जकत्वात्' हेतु है, कुङ्कुमगन्धाभिव्यञ्जकगोघृतवत्' यह दृष्टान्त है। जैसे—गाय का घृत कुङ्कुम (केशर) में जब मिला देते हैं, तब वह (गो-घृत) केवल कुङ्कुम के गन्ध का ही ज्ञान कराता है, बाकी के जो कुङ्कुम के रूप, रस, स्पर्श हैं, उनका (तीनों का) ज्ञान वह नहीं कराता। तथापि वह (गो-घृत) अपने रूपादि का तो अभिव्यञ्जक होता ही है। दूसरे (केशर) के रूपादि का अभि-

---

दृष्टान्त दिया है। वह 'सुरभि' पार्थिवभाग, स्वकीय रूपादिकों के अभिव्यंजक नहीं होते, किन्तु स्वकीय गन्धमात्र के ही अभिव्यंजक होते हैं।

शंका—'सति कुड्ये चित्रम्'—यदि भित्ति (दीवार-भीत) हों, तो उस पर चित्र चितारे जाँय। भीत के न होने पर अपने आप ही चित्र का अभाव होगा। इस न्याय के अनुसार जब छह इन्द्रियाँ सिद्ध हो जाँय, तभी पार्थिवत्वादि भी सिद्ध हो जायगा।

समा०—उक्त आशंका निवारणार्थं अनुमान प्रदर्शित किया जा सकता है—'रूपाद्युपलब्धिः करणसाध्या क्रियात्वात् छिदिक्रियावत्'—रूपादिकों की उपलब्धि (ज्ञान) किसी कारण से ही साध्य होने योग्य है, क्रियारूप होने से। जो जो क्रिया है, वह वह किसी कारण से ही साध्य होती है। जैसे छेदन क्रिया, कुठाररूप करण से ही साध्य होती है। इस अनुमान से रूपोपलब्धि का करण चक्षु, रस का रसनेन्द्रिय, गन्ध का घ्राणेन्द्रिय, स्पर्श का त्वगिन्द्रिय, और शब्द की उपलब्धि का करण श्रोत्रेन्द्रिय है, तथा सुख-दुःखादि का मन इन्द्रिय है—यह सिद्ध होता है।

व्यंजक नहीं होता—यह 'केवल' का तात्पर्य है। इसलिये 'केवलगन्ध' का ही ज्ञान कराना (अभिव्यंजक होना) यह जो हेतु का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है, वह दृष्टान्त में घटित न हो पाने से 'विशेषणाऽसिद्धि' दोष की शंका नहीं करनी चाहिये। यदि 'असिद्धि' दोष, 'हेतु' में आता तो उस हेतु को 'असिद्ध हेतु' मानकर 'हेत्वाभास' कहते, किन्तु वैसा है नहीं। निष्कर्ष यह है कि 'रूप आदि का अभिव्यंजक न होकर केवल गन्ध का ही अभिव्यंजक हो, इसका तात्पर्य यह है कि 'दूसरे (पर) के रूपादि का अभिव्यंजक न हो।'

शंका—उपर्युक्त 'विशेषणाऽसिद्धि' दोष के न रहने पर भी 'नवशरावगन्धव्यंजक जल में व्यभिचार हो सकता है। नवीन मृत्पात्र (मिट्टी का बर्तन) की गन्ध तभी अभिव्यक्त हो पाती है, जब उस मृत्पात्र पर पानी गिराया (छिड़का) जाता है। इस रीति से पानी (जल) भी गन्ध का अभिव्यंजक है। अतः पार्थिवत्व'—साध्य के अभावाधिकरणस्वरूप 'जल' में 'गन्धेतरविषयकज्ञानाऽजनकत्वे-सति गन्धविषयकज्ञानजनकत्वात्' इस हेतु के रहने से व्यभिचार होता है। अतः 'हेतु' व्यभिचरित हो गया। क्योंकि सद्धेतु वही होता है, जो हमेशा साध्य के साथ ही रहता हो, तथा जहाँ साध्य का अभाव रहता हो, वहाँ कभी भी न रहता हो।

समा०—नवीन मृत्पात्र (मिट्टी का पात्र शराव=सकोरा आदि) के गन्ध का अभिव्यंजक जल, केवल 'गन्ध' का ही अभिव्यंजक नहीं है, अपितु सक्तु (सत्तू =सतुआ) के रस का भी अभिव्यंजक है। क्योकि पानी में घोलने पर ही सत्तु का स्वाद आता है। अतः जल में, 'परकीयरसादिज्ञानाऽजनकत्वे सति' इस विशेषण के घटित न होने से व्यभिचार नहीं हो पाया।

'लाघव' को ध्यान में रखकर उपर्युक्त हेतु में 'परकीय' विशेषण देने की भी आवश्यकता नहीं है। इसी अभिप्राय को सूचित करने के लिये 'विशेषणाऽसिद्धि' दोषशून्य एक अन्य दृष्टान्त भी प्रदर्शित किया जा रहा है—'यद्वापरकीये'ति इस दृष्टान्त के देने में अभिप्राय यह है कि हेतु में जो विशेषण जोड़ा गया था—'परकीय (दूसरे के) रूपादि का अभिव्यंजक न होकर केवल गन्ध का अभिव्यंजक हो'—उसमें 'परकीय' (दूसरे के) यह अंश न दिया जाय। केवल इतना ही हेतु रखा जाय कि 'रूपादि का अभिव्यंजक न होकर केवल गन्ध का ही अभिव्यंजक हो' इसके लिये 'वायूपनीतसुरभिभाग' का दृष्टान्त दे रहे हैं। अर्थात् वायु से उड़ाये पुष्पादि के सुगन्धित अंश को दृष्टान्त के रूप में रखा जा सकता है। क्योकि वह सुगन्धित अंश केवल गन्ध का ही ज्ञान कराता है, गन्ध के अतिरिक्त रूपादि का ज्ञान नहीं कराता। एवंच 'रूप-रस-स्पर्शज्ञानाऽजनकत्वेसति गन्धज्ञानजनकत्वात्' यह हेतु दृष्टान्त में घटित हो जाने से 'भागासिद्धि' दोष नहीं है। अतः वे 'वायूपनीतसुरभिभाग' रूपादिकों में से केवल गन्ध के ही व्यंजक हैं और पार्थिव भी हैं।

शंका०—यद्यपि उक्त अन्य दृष्टान्त में भी कोई दोष नहीं है, तथापि—

घ्राणेन्द्रिय और गन्ध का जो 'स्व-संयुक्त-समवाय' अर्थात् घ्राणसंयुक्तसमवायसम्बन्ध है, उसमें व्यभिचार होगा। क्योंकि 'घ्राणसंयुक्तसमवायसम्बन्ध' में रूपरस-स्पर्शाऽव्यंजकत्वे सति गन्धस्यैव अभिव्यंजकत्वात्' यह हेतु विद्यमान है। तस्मात् अपार्थिव समवायसम्बन्धरूप षष्ठ पदार्थ में हेतु का व्यभिचार हो जाता है।

समा०—हेतु में 'द्रव्यत्वे सति' यह विशेषण जोड़ देना चाहिये। तब अर्थ होगा कि 'द्रव्य होकर रूपादिकों में से गन्ध का ही व्यंजक होना।' अर्थात् गन्ध के व्यंजक कहलाने वाले को साथ-साथ 'द्रव्य' भी होना आवश्यक है। 'स्वसंयुक्त समवाय' संज्ञक सम्बन्ध (घ्राणेन्द्रिय-सन्निकर्ष) 'द्रव्य' नहीं है। अतः उसमें हेतु के न रहने से व्यभिचार नही है।

विषय इति। उपभोगसाधनं विषयः 'सर्वमेव हि कार्यजातमदृष्टाधीनम्'। यत्कार्यं यददृष्टाधीनं तत्तदुपभोगं साक्षात्परम्परया वा जनयत्येव। न हि बीज-प्रयोजनाभ्यां विना कस्यचिदुत्पत्तिरस्ति। तेन द्वयणुकादिब्रह्माण्डान्तं सर्वमेव विषयो भवति। शरीरेन्द्रिययोर्विषयत्वेऽपि प्रकारान्तरोपन्यासः शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थः॥ ३८॥

॥ इति पृथिवीग्रन्थः॥ ॥ इति पार्थिवविषयनिरूपणम्॥

द्वयणुकादि से लेकर ब्रह्माण्ड तक जितना पदार्थसमुदाय है, वह सब पृथ्वी का विषय है। अनित्यसंज्ञक पृथ्वी के भागों में से जो 'विषय' संज्ञक भाग है, उसका निरूपण करते हैं–'विषय' इति। जिस वस्तु से सुख-दुःख का उपभोग होता है उस वस्तु को 'विषय' कहते हैं। अर्थात् सुख-दुःख साक्षात्कार के प्रयोजक को 'विषय' कहते हैं। साक्षात् अथवा परम्परासम्बन्ध से कार्यसम्पादक का नाम 'प्रयोजक' है। द्वयणुक से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त जितनी पृथ्वी है, वह सब 'विषय' है। इस विषय से उत्पन्न हुए सुख या दुःख के उपभोग का प्रकार यह है कि इस लोक या परलोक में जो वस्तु उत्पन्न हुई है, या उत्पन्न होगी अथवा उत्पन्न हो रही है वह सभी वस्तु (कार्यसमुदाय) जीवों के अदृष्ट (पुण्य-पाप) के अधीन है। जो वस्तु (कार्य) जिस जीव के जिस अदृष्ट के अधीन है, वह वस्तु (कार्य) उसी जीव को उसी के अदृष्ट के अनुसार साक्षात् अथवा परम्परासम्बन्ध से सुख-दुःख साक्षात्कार की प्रयोजक होती है। तत्तत् जीवों के अदृष्ट (भाग्य, दैव, पुण्य-पाप) से उत्पन्न हो गई या होगी या हो रही है––ऐसा माना जाता है। तथा च 'सर्वं कार्यं धर्माधर्माधीनं भवति, कहा जाता है। इसमें प्रमाण यह है–जो वस्तु (विषय, कार्य) उत्पन्न होती है, उसकी उत्पत्ति का बीज (कारण) तथा प्रयोजन (उपयोग अथवा फल) आवश्यक मानने पड़ते हैं। इन दो कारणों के बिना कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती। अर्थात् प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में कोई न कोई समवायि-असमवायि या निमित्त कारणों में से कोई भी एक अवश्य ही होगा। उसी तरह कोई न कोई प्रयोजन भी अवश्य ही होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि द्वयणुक से ब्रह्माण्ड तक जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सभी वस्तुएँ उनके विषय हैं।

शंका—शरीर तथा इन्द्रिय इन दो से ही सुख-दुःख का उपभोग होता है। अतः शरीर और इन्द्रिय ये ही दो विषय कहे जा सकते हैं[1], तब शरीर, इन्द्रिय और विषय—ये तीन भेद क्यों किये गये हैं ?

समा०—शिष्यों की बुद्धि को विशद बनाने के लिये (पदार्थों के सूक्ष्म भेद जानने की शक्ति प्राप्त कराने के लिये) उक्त तीन भेद किये गये हैं। अर्थात् सभी उपभोगसाधन होने के नाते विषय कहे जा सकते हैं, पुनः शरीर और इन्द्रिय का पृथक् विभाग करने की आवश्यकता नहीं थी, तथापि ये शरीर हैं, ये इन्द्रियाँ हैं, उनसे भिन्न ये विषय भी हैं, इस प्रकार से शिष्यों की बुद्धि को विकसित करना यही एक मात्र प्रयोजन ग्रन्थकार का है। इति पृथिवीग्रन्थः।

इति पृथ्वीनिरूपणम्।

वर्णः शुक्लो रसस्पर्शौ जले मधुरशीतलौ।
स्नेहस्तत्र, द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

जल का शुक्ल (सफेद) वर्ण है, मधुर रस तथा शीतलस्पर्श है। उसमें (जल में) स्नेहगुण अर्थात् चिकनापन तथा स्वाभाविक द्रवता (तरलता) बताई गई है। 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इस नियम के अनुसार जैसे 'अब्भक्षो वायुभक्षः' का अर्थ-जल को ही भक्षण करता है (पीता है), वायु को ही भक्षण करता है—उपलब्ध होता है, उसी तरह यहाँ भी जल में अभास्वर शुक्ल ही वर्ण है अर्थात् जल में अभास्वर शुक्लरूप समवायसम्बन्ध से रहता है। जल में मधुर ही रस है और शीत ही स्पर्श है अर्थात् मधुर रस और शीतस्पर्श दोनों समवायसम्बन्ध से उसमें रहते हैं। उसी तरह जल में ही स्नेह है। अर्थात् जल में स्नेह समवायसम्बन्ध से रहता है। और जल में द्रवत्व तो सांसिद्धिक=स्वाभाविक, उदाहृतम्=समवायसम्बन्ध

---

१. पार्थिवशरीरलक्षणम्—'गन्धवत्त्वे सति भोगायतनत्वम्पार्थिवशरीरत्वम्।' पार्थिवेन्द्रियलक्षणम्—'गन्धवत्त्वे सति गन्धज्ञानकारणत्वम्पार्थिवेन्द्रियत्वम्।' पार्थिवविषयलक्षणम्—'गन्धवत्त्वे सति उपभोगसाधनत्वम्पार्थिवविषयत्वम्' द्व्यणुक तथा त्र्यणुक से लेकर ब्रह्माण्ड तक सभी अनित्य पृथिवी के विषय हैं। अतः द्व्यणुक तथा त्र्यणुक की सिद्धि का प्रकार यह होगा—'तत् त्र्यणुकं अवयवजन्यं चाक्षुषद्रव्यत्वात् घटवत्'—घट चाक्षुषद्रव्य है, और कपालरूप अवयवों से जन्य भी है, उसी प्रकार त्र्यणुक भी चाक्षुषद्रव्य है। अतः वह भी अवयवों से जन्य होगा। इस लक्षण में यदि 'चाक्षुष' पद न दें तो आकाशादि नित्य द्रव्यों में व्यभिचार होगा। यदि 'द्रव्य' पद न दें तो गुणादिकों में व्यभिचार होगा। त्र्यणुक के अवयव द्व्यणुक होते हैं। परस्पर संयुक्त तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक उत्पन्न होता है। द्व्यणुक की सिद्धि का प्रकार—'द्व्यणुकः अवयवजन्यः महदारम्भकत्वात् कपालवत्'—कपालरूपद्रव्य महत्त्वपरिणामवाले घटरूपद्रव्य का आरम्भक है। यह कपालरूपद्रव्य, कपालिकारूप अवयवों से जन्य भी है, वैसे ही महत्त्व-परिणामवाला त्र्यणुकरूप द्रव्य भी द्व्यणुकरूप अवयवों से अवश्य ही जन्य होगा।

से रहता है, ऐसा स्वीकार किया है ।[१] एवंच–'अभास्वरशुक्लमात्ररूपवत्त्वम्' 'शीतमात्रस्पर्शवत्त्वम्', 'स्नेहवत्त्वम्', 'सांसिद्धिकद्रवत्ववत्त्वम्'—इस प्रकार जल के अनेक लक्षण हो सकते हैं।

जलं निरूपयति—'वर्णः शुक्ल' इति स्नेहसमवायिकारणतावच्छेदकतया जलत्वजातिः सिद्ध्यति ।

जलं निरूपयतीति । यहाँ पर (निरूपण) 'नि + रूप' का अर्थ है—जल के लक्षण, स्वरूप, प्रामाण्य का ज्ञान करानेवाला व्यापार। इसी को संस्कृत में इस प्रकार कहा जायगा—लक्षण-स्वरूप-प्रामाण्यादिप्रकारकज्ञानाऽनुकूलव्यापारो निरूपयतेरर्थः । तथा च—जलनिष्ठविषयतानिरूपकं यत् लक्षण-स्वरूप-प्रामाण्यादिप्रकारकं ज्ञानं, तदनुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान् ग्रन्थकारः इति 'जलं निरूपयती'त्यस्य शाब्दबोधः । जल के अभास्वरशुक्लरूपवत्त्वादि जो लक्षण ऊपर बताये गये हैं, उन लक्षणों का 'लक्ष्य' 'जल' है । अतः लक्ष्यता 'जल' में रहेगी, और लक्ष्यतावच्छेदक 'जलत्व' होगा । वह 'जलत्व' धर्म जातिरूप है । अर्थात्—जल के 'स्नेह' गुण को छोड़कर बाकी बचे अन्य विशेष गुण रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व ये कतिपय अन्यान्य विशेषताओं के साथ पृथ्वी आदि अन्य द्रव्यों में भी उपलब्ध होते हैं । एक 'स्नेह' ही ऐसा गुण है जो केवल जल में पाया जाता है, इस कारण स्नेह का समवायिकारणस्वरूप जो जल उसमें रहनेवाली जो समवायिकारणता, उसकी अवच्छेदक 'जलत्व' जाति मानी जाती है ।

यद्यपि स्नेहत्वं नित्यानित्यवृत्तितया न कार्यतावच्छेदकं, तथापि जन्यस्नेहत्वं तथा बोध्यम् । अथ परमाणौ जलत्वं न स्यात्, तत्र जन्यस्नेहाभावात्, तस्य च नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यम्भावनियमादिति चेत् ? न, जन्यस्नेहजनकतावच्छेदकतया जन्यजलत्वजातेः सिद्धौ, तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया जलत्वजातिसिद्धिः ।

शंका—कार्यरूप अनित्य पृथिवी के समान उसके (पृथ्वी के) परमाणुओं के भी रूप, रस, गन्ध आदि अनित्य ही माने जाते हैं, क्योंकि वे (रूप, रसादि) अग्निसंयोग से उत्पन्न होते हैं । अतएव उनमें परिवर्तन होता है, अतः वे पाकज गुण हैं । इस कारण पृथ्वी के परमाणुओं के भी गुण अनित्य हैं । किन्तु जल, तेज और वायु में जो गुण हैं, वे पाकज नहीं माने जाते । इसलिये जल आदि के परमाणुओं के गुणों को 'नित्य' ही कहना होगा । क्योंकि उनके पाकज न होने के कारण उनमें (गुणों में) परिवर्तन होने की कोई बात ही नहीं है । अनित्य जल के गुण भी अनित्य ही होंगे, क्योंकि अनित्य जल की उत्पत्ति के पश्चात् उसमें वे गुण उत्पन्न होते हैं, यह है वस्तुस्थिति । तब जल-परमाणुओं में रहनेवाला 'स्नेह' तो नित्य ही कहना होगा । इस कारण 'स्नेहत्व' जाति को जो नित्य और अनित्य

(१) "रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः"—(वै. सू. २।१।२)

दोनों प्रकार के 'स्नेहों' में रहती है। अतः उसे 'कार्यता' की अवच्छेदक नहीं कह सकते। तब स्नेहत्वावच्छिन्न (स्नेह में रहनेवाली) कार्यता की (निरूपित) जो जलनिष्ठकारणता, उसकी अवच्छेदक एक अनुगत 'जलत्व' जाति कैसे सिद्ध हो सकेगी ?

समा०—कार्यरूप अनित्य 'जल' में रहनेवाली अनित्य (जन्य) स्नेह की जो कारणता, उसकी अवच्छेदक 'जलत्व' जाति ही होगी, क्योंकि वह (जलत्वजाति) जन्यजल में भी रहती है। उसके बाद उस जन्यजल में रहनेवाली जो जन्यता, उससे निरूपित जो नित्य जलनिष्ठा जनकता, उस जनकता की अवच्छेदक 'जलत्व' जाति की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार नित्य और अनित्य जल दोनों में रहनेवाली जलत्वजाति, जन्यजल-निष्ठ समवायिकारणता के अवच्छेदक रूप में सिद्ध हो जाती है। इसी अभिप्राय को इस प्रकार भी समझ सकते हैं। स्नेहरूप कार्य की (निरूपित) जलनिष्ठ समवायिकारणता की अवच्छेदक होने से 'जलत्व' जाति सिद्ध होती है। क्योंकि स्नेह का समवायिकारण हुआ 'जल', उसमें रहनेवाली जो समवायिकारणता, उसका अवच्छेदक होगा 'जलत्व'। एवंच स्नेहसमवायिकारणतावच्छेदकतया[1] 'जलत्व' जाति की सिद्धि हो जाती है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'स्नेहत्व' धर्म, नित्यस्नेह तथा अनित्यस्नेह दोनों में रहता है, तब उसे कार्यतावच्छेदक (कार्यतामात्र का अवच्छेदक) कैसे कह सकते हैं ? परन्तु इस प्रश्न का उत्तर यह दे सकते हैं कि—'जन्यस्नेहत्व' रूप धर्म को कार्यतावच्छेदक मान लीजिये। किन्तु फिर भी प्रश्न हो सकता है कि 'जन्यस्नेहत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकतया'—सिद्ध होनेवाली जो 'जलत्व' जाति, वह जलीय 'परमाणुओं' में नहीं रह सकेगी, क्योंकि परमाणुओं में जन्य स्नेह नहीं है। यदि स्नेह रूप कार्य के प्रति जलीय परमाणुओं में 'स्वरूपयोग्यता' रूपकारणता को मानें, तो उसे भी नहीं मान सकते, क्योंकि उनमें (नित्यपरमाणुओं में) स्वरूपयोग्यतारूप कारणता को मानने पर उससे कभी तो फल अवश्य ही होना चाहिये, किन्तु होता नहीं। इस कारण स्नेहरूप कार्य की निरूपित (जलनिष्ठ) समवायिकारणता की अवच्छेदक किसी अनुगत 'जलत्व' जाति की सिद्धि नहीं हो सकती। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जाता है कि पहले [2]जन्यस्नेहत्वावच्छिन्नजन्यता-

(१) जलत्वजाति की सिद्धि—समवायसम्बन्धावच्छिन्न-स्नेहत्वावच्छिन्न-स्नेहनिष्ठकार्यतानिरूपिता, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना या जलनिष्ठा समवायिकारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्, घटनिष्ठकार्यतानिरूपित-कपालगत-कारणतावत्।

(२) जन्यजलत्वजाति की सिद्धि—समवायसम्बन्धावच्छिन्न-जन्यस्नेहत्वावच्छिन्न-जन्यस्नेहनिष्ठजन्यतानिरूपिता, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना या जन्यजलनिष्ठा समवायिकारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात्, पटनिष्ठकार्यतानिरूपित-तन्तुगतकारणतावत्।

निरूपितजनकतावच्छेदकतया 'जन्यजलत्व' जाति की सिद्धि कीजिये। अर्थात् जन्य-स्नेहनिष्ठजन्यतानिरूपित जो जन्यजलनिष्ठा जनकता, तादृश-जनकता की अवच्छेदक होने से जन्यजल में 'जलत्व' जाति सिद्ध कर लेनी चाहिये। उसके पश्चात् [1]जन्य-जलत्वावच्छिन्न, जन्यतानिरूपित जनकतावच्छेदकतया 'जलत्व' जाति की सिद्धि करनी चाहिये। अर्थात् जन्यजलनिष्ठजनकतावच्छेदकतया जन्यजल में 'जलत्व' जाति की सिद्धि करने के पश्चात् जन्यजलनिष्ठा जो जन्यता, उससे निरूपित जो शुद्धजलनिष्ठा जनकता, तादृशजनकता की अवच्छेदक होने से 'शुद्धजलत्व' जाति की सिद्धि कर लेनी चाहिये। वह 'जलत्वजाति' परमाणु जल में भी है। तात्पर्य यह है—'जलत्व' यह जाति है, ऐसा सिद्ध करने में अनुमान[2] प्रमाण है—जैसे स्नेह (चिकनाहट) गुण जल ही का है, वह नित्य तथा अनित्य होने से दो प्रकार का है। जल के परमाणुओं का स्नेह नित्य है और द्व्यणुकादिकों का

---

१. शुद्ध जलत्वजाति की सिद्धि—समवायसम्बन्धावच्छिन्न-जन्यजलत्वावच्छिन्न-जन्यजलनिष्ठा या जन्यता, तन्निरूपिता, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना या शुद्धजलनिष्ठा समवायिकारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात्।

२. 'जलत्व' जाति के अनुमान का आकार—

'जलनिष्ठा या स्नेहसमवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् तन्तुनिष्ठकारणतावत्'—तन्तुओं में रहनेवाली पट की समवायिकारणता तन्तुत्व धर्म से अवच्छिन्न होती है, उसी प्रकार जलनिष्ठ स्नेह की समवायिकारणता भी किसी धर्म से अवश्य अवच्छिन्न होगी, ऐसा 'जलत्व' धर्म ही जाति के रूप में सिद्ध होता है।

शंका—जो धर्म नित्य तथा अनित्य दोनों में रहता है, वह धर्म कार्यता का अवच्छेदक नहीं होता। यह स्नेहत्व धर्म भी नित्य तथा अनित्य स्नेह में रहता है, इस कारण वह जल-निरूपित कार्यता का अवच्छेदक नहीं हो सकता। जन्य स्नेह की समवायिकारणता केवल जन्य जल में ही है, परमाणुरूप नित्य जल में नहीं। इस कारण नित्य जल में जलत्व-जाति की सिद्धि नहीं हो सकती।

समा०—द्व्यणुकादिरूप जन्यजल में जन्य-स्नेह की समवायिकारणता है, इस कारण प्रथम जन्य-जलत्व-मात्रवृत्ति जलत्व-जाति की सिद्धि कर लेनी चाहिये, तदनन्तर उस जन्य-जलत्वजाति से अवछिन्न जल की समवायिकारणता का अवच्छेदकरूप से जन्य तथा अजन्य सर्व जल में शुद्ध-जलत्वजाति की सिद्धि करनी चाहिये। जैसे द्व्यणुक-अनित्य-जल में त्र्यणुकादि-जन्य-जल की समवायिकारणता है, वैसे ही परमाणुरूप नित्य जल में द्व्यणुकरूप जन्य-जल की समवायिकारणता है, इस कारण उस परमाणुरूप नित्य जल में तथा द्व्यणुकादिरूप अनित्य जल में उस जन्य जल की समवायिकारणता के अवच्छेदक रूप से जलत्व जाति की सिद्धि संभव है।

स्नेह अनित्य है। एवंच सभी स्नेह के (नित्य-अनित्यस्नेह के) प्रति 'जल' कारण है। इस प्रकार का कार्य—कारणभाव नहीं माना जाता। यदि माना जायगा तो परमाणुओं का नित्य स्नेह भी जल के सभी स्नेहरूपी कार्यों में समाविष्ट होकर वह (नित्य-स्नेह) उत्पन्न होने लगेगा, किन्तु होता नहीं है। इस कारण नित्यस्नेह के बिना केवल 'अनित्यस्नेह के प्रति अनित्यजल कारण है—ऐसा कार्य-कारणभाव प्रथम मानकर, तदनन्तर जल परमाणुओं में 'जलत्व' सिद्ध होता है। अतः अनित्य जल के प्रति सब जल (नित्य-अनित्य) कारण है—ऐसा कार्य-कारणभाव मानना चाहिये। इस प्रकार उस कारण के भेद की दर्शक, सर्व जलसाधारण 'जलत्व' जाति सिद्ध हो जाती है।

शंका—अन्त्यावयविरूप जल में उस जन्यजल की समवायिकारणता नहीं है' इस कारण अन्त्यावयविरूप जल में जलत्व जाति की सिद्धि नहीं होगी।

समा०—किसी भी जल में अन्त्यावयवित्व नहीं होता, और दूसरे जल के संयोग से बृहत् जल की उत्पत्ति की योग्यता तो है ही।

शंका०—जलमात्र में यदि जन्य जल की समवायिकारणता का स्वीकार करोगे तो वरुणलोकस्थ जलीय शरीरों से तथा रसनेन्द्रियरूप जल से भी किसी जन्य जल की उत्पत्ति होनी चाहिये, किंतु होती नहीं।

समा०—वरूणलोकस्थ जलीयशरीर तथा रसनेन्द्रिय में यद्यपि जन्य-जल की फलोपधायकत्वरूप कारणता नहीं है तथापि स्वरूपयोगत्वरूप कारणता तो विद्यमान है ही। अर्थात् कारणता दो प्रकार की होती है—एक तो फलोपधायकत्वरूपा तथा दूसरी स्वरूपयोग्यत्वरूपा। इनमें से प्रथम का स्वरूप यह है—'अव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्धेन फलविशिष्टत्वं फलोपधायकत्वम्'—व्यवधानरहित पूर्ववृत्तित्वसम्बन्ध से जो फलविशिष्टता है, वही फलोपधायकत्वरूप कारणता है। जैसे—घट की उत्पत्ति में कुलाल के हाथ में जो दण्ड है, उसमें अव्यवहित—पूर्ववृत्तित्वसम्बन्ध से घटरूप फलविशिष्टता है। यही दण्ड में फलोपधायकत्वरूप कारणता है।

दूसरी कारणता का स्वरूप यह है—'कारणतावच्छेदकधर्मवत्त्वं स्वरूपयोग्यत्वम्'—कारणता का अवच्छेदक जो धर्म, उसी का नाम स्वरूपयोग्यत्वरूपकारणता है। जैसे—दण्ड में रहनेवाली जो घट की कारणता है' उस कारणता का अवच्छेदक धर्म 'दण्डत्व' है। वह 'दण्डत्व' धर्म जैसे कुलाल के हाथ में स्थित दण्ड में है, वैसे ही वह (धर्म) वनस्थ-दण्ड में भी रहता है। वह कारणतावच्छेदक दण्डत्व धर्मवत्त्व (धर्म) ही, उस वनस्थित दण्ड में उस घट की स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता है। वैसे ही यहाँ प्रकृत में परमाणुरूप जल में जो द्वयणुकादिरूप जन्य जल की समवायिकारणता है, वह फलोपधायकत्वरूप कारणता है, और जलीयशरीर तथा जलीय इन्द्रिय में जिस जन्यजल की कारणता है, वह स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता है। ऐसी स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता के विद्यमान रहने पर भी अन्य

शुक्लरूपमेव जलस्येति दर्शयितुमुक्तं वर्णः शुक्ल इति। न तु शुक्लरूपवत्त्वं लक्षणम्। अथवा नैमित्तिकद्रवत्ववदवृत्तिरूपवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वम्, अभास्वरशुक्लतररूपासमानाधिकरणरूपवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं वा तदर्थः। तेन स्फटिकादौ नातिव्याप्तिः।

'शुक्लरूप' जल में ही है, यह पहले बता चुके हैं। कारिका में इसी अभिप्राय से 'वर्णः शुक्लः' कहा गया है। 'शुक्लरूपवत्त्व' यह जल का लक्षण नहीं है। क्योंकि 'पृथ्वी तथा तेज में भी शुक्लरूप रहता है, अतः अतिव्याप्ति हो जायगी। जल में 'शुक्लरूप' है, यह कहने का तात्पर्य यही है कि जल में एक शुक्ल ही रूप है, अन्य रूप नहीं। अथवा 'शुक्लरूपवत्त्व' को ही यदि जाति-घटित कर दिया जाय तो वही जल का निर्दुष्ट लक्षण हो सकता है। जैसे—(१) जिनमें (पृथ्वी

सहकारी कारणों के अभाव से जलीय शरीर तथा जलीय इन्द्रिय से किसी जन्य जल की उत्पत्ति नहीं होती। जैसे—वनस्थ दण्ड में स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता के होने पर भी अन्य कुलाल, मृत्तिका आदि—सहकारी कारणों के अभाव में उस दण्ड से किसी घट की उत्पत्ति नहीं होती। अतः जलीय शरीर तथा जलीय इन्द्रिय में भी जन्य जल की स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता के अवच्छेदकरूप से जलत्व जाति की सिद्धि हो जाती है, और परमाणुरूप नित्य जल में जन्य स्नेह की जो स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता है, वह परमाणुरूप नित्य जल में किसी समय जन्य स्नेह की उत्पत्ति अवश्य करेगी। क्योंकि शास्त्रकारों का यह नियम है कि 'नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यंभावनियमः'—नित्य पदार्थ में यदि किसी कार्य की उत्पत्ति की स्वरूपयोग्यतारूप कारणता स्वीकार की जाय तो उस नित्य पदार्थ से उस कार्यरूप फल की उत्पत्ति अवश्य होगी, क्योंकि नित्य पदार्थ का कभी भी नाश नहीं होता। नित्य पदार्थ से किसी समय अन्य कारण सामग्री की सहायता से कार्य की उत्पत्ति अवश्य होगी। किन्तु अनित्य पदार्थ में स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता के मानने पर भी कार्य की उत्पत्ति का नियम करना संभव नहीं। जैसे—वनस्थ दण्ड, घटकार्य में स्वरूप योग्य होकर भी कुलालादि सामग्री के न होने पर कार्य की उत्पत्ति बिना किये ही अग्नि आदि से नष्ट हो जाता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि परमाणुरूप नित्य जल में जन्य स्नेह की स्वरूप योग्यता को स्वीकार कर यदि जलत्वजाति की सिद्धि की है तो जलपरमाणुओं से किसी समय स्नेह की उत्पत्ति अवश्य होगी। किन्तु यह कथन न्याय-सिद्धांत के विरुद्ध है। इस कारण जन्य-स्नेह की समवायिकारणतावच्छेदकरूप से जलत्व-जाति की सिद्धि नहीं करनी चाहिये। किन्तु जन्य जल की समवायिकारणतावच्छेदकरूप से ही जलत्व-जाति की सिद्धि करनी चाहिये। अभिप्राय यही है कि जन्य-स्नेह की समवायिकारणता के अवच्छेदक से जन्य-जलत्व-जाति सिद्ध कर लेना और जन्य-जल की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप से शुद्ध-जलत्व-जाति की सिद्धि करनी चाहिये, यही सिद्धान्त है।

तथा वायु में) नैमित्तिक द्रवत्व रहता है, उनमें न रहनेवाली, तथा जिसमें 'रूप' रहता है, उसमें रहनेवाली जो जाति अर्थात् 'नैमित्तिक द्रवत्व' के अधिकरण में न रहनेवाली और रूप के अधिकरण में रहनेवाली जो 'द्रव्यत्व' की साक्षात् 'व्याप्य जाति', तादृशजातिमत्त्व—इतना अर्थ 'शुक्लरूपवत्त्व' के कहने से समझना चाहिये।

अथवा (२) अभास्वर[1] शुक्ल से भिन्न जो अन्य रूप हैं, वे जिनमें (पृथ्वी और तेज में) हैं, उनमें न रहनेवाली, तथा जिस में रूप रहता है उसमें रहनेवाली जो जाति अर्थात् अभास्वर शुक्ल से इतर जो रूप उसके अधिकरण में न रहनेवाली तथा रूप के अधिकरण में रहने वाली जो द्रव्यत्व जाति, उसकी साक्षात् व्याप्य जाति, तादृशजातिमत्त्व—इतना अर्थ 'शुक्लरूपवत्त्व' के कहने से समझना चाहिये। प्रथम जाति-घटित लक्षण करने से पृथ्वी तथा तेज में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि पृथ्वीत्व तथा तेजस्त्व जाति, नैमित्तिक-द्रवत्वजातिवाली घृतरूपा पृथ्वी में तथा सुवर्णादिरूप तेज में वृत्ति (रहती) ही है। और द्वितीय जाति-घटित लक्षण करने से स्फटिक में अतिव्याप्ति नहीं होगी। उपर्युक्त विशेषण-विशिष्ट जो द्रव्यत्वसाक्षात् व्याप्यजाति 'जलत्व' ही होगी। अतः कहीं भी अतिव्याप्ति नहीं हो पायेगी।

रसस्पर्शाविति। जलस्य मधुर एव रसः शीत[2] एवस्पर्शः। तिक्तरसवद-वृत्तिमधुरवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं तदर्थः।

'जल' में केवल मधुररस ही रहता है तथा शीतस्पर्श ही रहता है। अर्थात् 'जल' में मधुररस तथा शीतस्पर्श के अतिरिक्त कोई अन्य प्रकार का रस और स्पर्श नहीं रहता। एवं च समवायेन 'मधुररसवत्त्वं' तथा समवायेन 'शीतल-स्पर्शवत्त्वं' ये लक्षण 'जल' के हुए।

शंका—समवायेन 'मधुररसवत्त्व' लक्षण की शर्करादि (खाण्ड आदि) जल से भिन्न पार्थिव पदार्थ में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि उसमें भी मधुर-रस है। तथा 'समवायेन शीतलस्पर्शवत्त्व' लक्षण की उत्पत्तिकालीन और उत्पन्न-विनष्ट जल में अव्याप्ति होगी। क्योंकि 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियं च तिष्ठति' इस नियम के अनुसार उत्पत्तिकालीन 'जल' द्रव्य में शीतल-स्पर्शरूप गुण नहीं होता।

समा०—उपर्युक्त अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति के निवारणार्थ उपर्युक्त दोनों

---

१. 'शुक्लरूप' भास्वर तथा अभास्वर दो प्रकार का है। उनमें से 'भास्वर' तो स्पष्ट ही दीखता है और 'अभास्वर' अस्पष्ट दीखता है। 'भास्वर शुक्लरूप' तेज में रहता है। और 'अभास्वर शुक्लरूप' जल में रहता है। अभास्वर शुक्ल-रूप के बिना अन्य कोई भी रूप 'जल' में नहीं रहता।

२. मुक्तावलीकार ने 'शीत एव स्पर्शः' कहकर 'शीत' शब्द का पुल्लिङ्ग में प्रयोग किया है। 'शीतंगुणः' कोश के अनुरोध से 'शीत' शब्द का नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग करना चाहिये था। तथापि 'अस्त्रीनियतलिङ्गानां योगे तल्लिङ्गताऽपि च' इस नियम से 'शीत' शब्द का पुल्लिङ्ग में प्रयोग किया गया है।

लक्षणों को जातिघटित बना लेना चाहिये। जातिघटित लक्षण बनाने का प्रकार ग्रन्थकार स्वयं बता रहे हैं—'तिक्तरसवदवृत्तिमधुरवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य-जातिमत्त्वं'—'समवायेन मधुररसवत्त्वम्'। अर्थात् तिक्त (कटु=कड़वा) रस के अधिकरण पृथ्वी में न रहनेवाली (अवृत्ति), तथा मधुर रस के अधिकरण जल में वृत्ति (रहनेवाली), जो द्रवत्व की साक्षात् व्याप्यजाति 'जलत्वजाति', वह (जलत्वजाति) जिसमें हो, उसे 'जल' समझना चाहिये- यही 'जल' का लक्षण है। ऐसा जातिघटित लक्षण करने से 'शर्करा' (पार्थिवपदार्थ) में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'शर्करा' पार्थिव पदार्थ है, जलीय पदार्थ नहीं है। उसमें रहनेवाली 'पृथ्वीत्व' जाति, तिक्तादि रसों में भी रहती है तथा मधुररस में भी रहती है। यदि वह (पृथ्वीत्व) केवल मधुररस में ही रहती तो जल का उक्त लक्षण 'शर्करारूपपृथ्वी' में अतिव्याप्त हो जाता। किन्तु शर्करादि में मधुर-रस के विद्यमान रहने पर भी तिक्तरसवदवृत्तिजाति अर्थात् 'जलत्वजाति' नहीं है, किन्तु तद्विरुद्ध तिक्तरसवद्वृत्ति ऐसी 'पृथ्वीत्वजाति' ही शर्करा में है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है। इस जाति-घटित लक्षण में 'तिक्तरसवत्-अवृत्ति' यदि न कहते तो 'पृथ्वी' में अतिव्याप्ति होती। 'मधुरवद्वृत्ति' न कहते तो तेज आदि में अतिव्याप्ति होती। 'द्रव्यत्व-साक्षाद्व्याप्य' न कहते तो 'शर्करात्व' में अति-व्याप्ति होती तथा 'मधुरवद्वृत्तिजाति' करकात्वजाति को लेकर उससे अनवच्छिन्न (रहित) 'हिम' आदि में अव्याप्ति होती। 'जाति' न कहें तो 'जल-शर्करोभयत्व' को लेकर 'वायु' में अतिव्याप्ति होती।

उसी तरह 'समवायेन शीत(ल)स्पर्शवत्त्व' लक्षण को भी जातिघटित कर लेना चाहिये, जिससे अव्याप्ति नहीं होगी। जातिघटित लक्षण करने का प्रकार ग्रन्थकार स्वयं बता रहे हैं--'शीतेतरस्पर्शवदवृत्ति-स्पर्शवद्वृत्ति-द्रव्यत्व-साक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वम्'--समवायेन शीतस्पर्शवत्त्वम्। अर्थात् शीतस्पर्श से इतर (अन्य) उष्ण और अनुष्णाशीतस्पर्श, उसके अधिकरणस्वरूप जो तेज, पृथ्वी और वायु, उनमें अवृत्ति (न रहनेवाली), तथा स्पर्श (शीतस्पर्श) के अधिकरणस्वरूप 'जल' में वृत्ति (रहनेवाली) द्रव्यत्व को साक्षात् व्याप्य जो 'जलत्वजाति', वह उत्पत्तिकालीन तथा उत्पन्नविनष्ट जल में भी रहती है। अतः जल के लक्षण की वहाँ अव्याप्ति नहीं होगी। यहाँ भी 'शीतेतरस्पर्शवत् + अवृत्ति' यदि न कहें तो 'पृथ्वी' में अतिव्याप्ति होती। 'स्पर्शवद्वृत्ति' न कहें तो 'आत्मा आदि' में अतिव्याप्ति होती। 'द्रव्यत्वसाक्षात्व्याप्य' न कहें तो 'शीतेतरस्पर्शवत् + अवृत्ति अथ च स्पर्शवद्वृत्ति' से 'करकात्व' को लेंगे, उससे अनवच्छिन्न (रहित) 'जल' में अव्याप्ति होती। लक्षण में 'जाति' न कहते तो 'करका-चन्दनान्यतरत्व' को लेकर चन्दनरूपपृथ्वी में अतिव्याप्ति होती, अथवा 'करका हिमोभयत्व' को लेकर उससे अनवच्छिन्न (रहित) 'जलान्तर' में अव्याप्ति होती। एवंच जल के लक्षण को जातिघटित कर देने से कहीं भी किसी प्रकार का दोष नहीं है।

ननु शुक्लरूपमेवेति कुतः, कालिन्दीजलादौ नीलिमोपलब्धेरिति चेत्—

न, नीलजनकतावच्छेदिकायाः पृथिवीत्वजातेरभावाज्जले नीलरूपासम्भवात्। कालिन्दीजले नीलत्वप्रतीतिस्त्वाश्रयौपाधिकी। अत एव वियति विक्षेपे धवलिमोपलब्धिः।

शंका—पहले कह चुके हैं कि जल का लक्षण 'समवायेन शुक्लरूपवत्त्वमेव'—जल में शुक्लरूप ही है। किन्तु जल का शुक्लरूप ही क्यों कहा गया है? श्रीयमुनाजी के जल में तथा जलपूर्ण मेघ के मध्य, समुद्र के जल में नीलरूप भी दिखाई पड़ता है। इसलिये 'नीलरूपवत्त्वम्' यह भी 'जल' का लक्षण कहना चाहिये। अतः मूलग्रन्थ (कारिका) में 'वर्णः शुक्लः' जो कहा गया है, वह प्रतीति (अनुभव) के विरुद्ध है।

समा०—इस प्रकार की आशंका करना उचित नहीं है। क्योंकि 'नीलरूप की समवायिकारणतावच्छेदिका जो पृथ्वीत्वजाति है, वह 'जल' में नहीं है। 'नीलारूप पृथ्वी में ही रहता है, यह निःसन्दिग्ध है। इस कारण उस नीलिमारूप के प्रति समवायिकारण पृथ्वी ही है, यह अनुभवसिद्ध कार्य-कारणभाव है। इस कार्य-कारणभावसम्बन्ध से सिद्ध जो जाति अर्थात् पृथ्वीनिष्ठ-समवायिकारणता की अवच्छेदक (भेददर्शक) जो 'पृथ्वीत्वजाति', वह 'जल' में नहीं रहती। अतः 'जल' में नीलरूप की कल्पना करना भी सम्भव नहीं। श्रीयमुनाजी के जल में जो नीलरूप दिखलाई पड़ता है, वह 'आश्रयोपाधिक' है अर्थात् श्रीजी के जल का आधार (आश्रय) जो पृथ्वी है, उसका वह 'नीला' रूप है, उस आश्रयभूत पृथ्वी की नीलिमा (नीलारूप) ही श्रीजी के जल में दिखाई देती है। यही कारण है कि श्रीजी के जल को आकाश में अर्थात् ऊपर की ओर उछाला जाय तो जल की स्वाभाविक धवलता अर्थात् उसका अपना निजी श्वेतवर्ण[1] (रूप) दिखाई देता है। इस कथन को नैयायिकों की भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं—मुक्तावली में पृथ्वीत्वजाति को 'नीलजनकतावच्छेदक' कहा है। 'नीलजनकता' का अर्थ है—'नीलनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकता' यह न्याय की भाषा है। एवंच—

१. जल को ऊपर उछालने से उस जल से पृथ्वी का सम्बन्ध दूर होकर जल का अपना निजी (स्वभाविक) गुण (श्वेतवर्ण = सफेद रंग) दिखाई देता है। यदि कहें कि वह श्वेतवर्ण, जो जल में दिखाई दे रहा है, वह 'तेज' का गुण (रूप) है, तो परिपक्व हुए 'घट' आदि का भी रंग, 'तेज' का ही गुण है—ऐसा क्यों नहीं मानते? अतः 'श्वेतिमा' जल का स्वाभाविक गुण है। यदि ऐसा न मानें तो (नारिकेल जल का माधुर्य, नारिकेल का गुण नहीं, अपितु वह जल का ही स्वाभाविक गुण है—ऐसा मानें तो) नींबू के रस में जो अम्लरस (खट्टापन) है, वह उस रसरूपी जल का स्वाभाविक गुण है—यह भी मानना होगा। अतः मधुरता, जल का स्वाभाविक गुण नहीं है बल्कि मधुरता, अम्लता आदि पृथ्वी (नारिकेल, नींबू आदि) का ही गुण है, यह कहना होगा।

नीलरूपनिष्ठा या जन्यता (कार्यता), तादृशजन्यतानिरूपिता या जनकता, अर्थात् पृथ्वीनिष्ठा समवायिकारणता, तदवच्छेदकम्पृथ्वीत्वं अर्थात् जातिरूपो धर्मः, तस्य अभावात् जले नीलरूपस्य असम्भव एव। अतः 'नीलरूपवत्त्वम्' इति लक्षणं जलस्य कथं भवितुमर्हति। कथन्तर्हि जले नीलत्वप्रतीतिः ? तत्रोच्यते-'स्वसमवायिसंयुक्तत्व-सम्बन्धेन पार्थिवरूपं जले प्रतीयते तथाच-समवायेन नीलरूपाऽभाववति जले 'समवायेन नीलरूपवज्जलम्' इति कथनन्तु सिकताचर्वणमिवेति विज्ञेयम्।

अथ जले माधुर्ये किं मानम् ? न हि प्रत्यक्षेण कोऽपि रसस्तत्रानुभूयते। न च नारिकेलजलादौ माधुर्यमुपलभ्यत एवेति वाच्यं, तस्याश्रयौपाधिकत्वात्। अन्यथा जम्बीररसादावम्लाद्युपलब्धेरम्लादिमत्त्वमपि स्यादिति चेत् ?

शंका--'जल में मधुर रस है'-- यह पीछे बता चुके हैं, परन्तु मधुर-रस में कोई प्रमाण तथा अनुभव नहीं है, क्योंकि पीनेवालों को 'इस जल में यह रस है'-ऐसा अनुभव नहीं होता। अर्थात् जल में किसी भी रस का अनुभव नहीं होता।

यदि कहें कि नारिकेल (नारियल) के पानी (दूध) में तो मधुर-रस का अनुभव सभी को होता है तो उसका उत्तर यह हो सकता है कि--

समा—नारियल के जल में अनुभूयमान जो मधुररस है, वह आश्रय के कारण (आश्रयोपाधिक) है। अर्थात् उस जल का आश्रय जो नारियलरूपपृथ्वी, उसके सम्बन्ध से है। अतः नारिकेल के जल में जो माधुर्य है, वह आश्रयोपाधिक है, स्वाभाविक नहीं।

आक्षेप०--यदि ऐसा न मानें तो (नारिकेलजल का माधुर्य, नारिकेल का गुण नहीं, अपितु वह जल का ही स्वाभाविक गुण है—ऐसा मानें तो) नींबू के रस में जो अम्लरस (खट्टापन) है, वह उस रसरूपी जल का स्वाभाविक गुण है-यह भी मानना होगा।

न, हरीतक्यादिभक्षणस्य जलरसव्यञ्जकत्वात्। न च हरीतक्यामेव जलोष्मसंयोगाद्रसान्तरोत्पत्तिरिति वाच्यं, कल्पनागौरवात्। पृथिवीत्वस्याम्लादि-जनकतावच्छेदकत्वाच्च जले नाम्लादिकम्। जम्बीररसादौ त्वाश्रयौपाधिकी तथा प्रतीतिः।

समा०--हर्रे (हरड़) तथा आँवला खाने पर जिह्वा से जो पानी छूटता है, अथवा हरड़ तथा आँवले खाकर ऊपर से जो पानी पिया जाता है, उसमें मधुर-रस उपलब्ध होता है। इस कारण वह मधुर-रस जल का स्वाभाविक गुण है, यह कल्पना की जाती है। हरीतकी-भक्षण जल के मधुर-रस का व्यंजक है।

प्रश्न—यदि कोई यह कल्पना करे कि आँवला या हरीतकी खाने के अनन्तर उसके पानी से जिह्वा की उष्णता (भाँप) का सम्बन्ध (संयोग) होने पर एक प्रकार का जो मधुर रस उत्पन्न होता है, वह आँवले से ही उत्पन्न होता है। अर्थात् आँवला या हरितकी में ही जल तथा गरमी के संयोग से दूसरा रस उत्पन्न होता है।

उत्तर—किन्तु ऐसी कल्पना करने में बड़ा गौरव होगा। अर्थात् फलादिरूप

पृथ्वी में जहाँ पर पूर्वरस का नाश होने पर अन्य रस की उत्पत्ति देखी जाती है, वहाँ विलक्षण तेज:संयोग (पाकविशेष) ही कारण होता है।[1]

यदि हरीतकी (हरड़) के उदाहरण के अनुरोध से जल के संयोग को भी पृथ्वी के रस का उत्पादक माना जाय तो वह एक अन्य प्रकार का ही कार्य-कारणभाव माना जायगा और कल्पना-गौरव होगा। अर्थात् तेज:संयोग को तो पार्थिवरस का व्यंजक माना ही है, और एक उसी के समान जल-संयोग को भी यदि माना जाय तो प्रतिवादी के पक्ष में दो कार्य-कारणभावों की कल्पना करनी होगी, तब गौरव होगा। इस कारण यह कल्पना करना उचित नहीं है। अम्ल आदि षड्-रस पृथ्वी में ही उत्पन्न होते हैं, यह सर्व प्रसिद्ध है। अतः उन रसों के प्रति पृथ्वी ही कारण है, ऐसा कार्य-कारणभाव मानना योग्य है। अर्थात् हमारे (सिद्धान्ती के) पक्ष में हरीतकी जल-गत मधुररस की केवल व्यंजिका ही है, अतः गौरव नहीं है। मधुरता, जल का स्वाभाविक गुण नहीं बल्कि मधुरता, अम्लता आदि पृथिवी (नारिकेल, नींबू आदि) के ही गुण हैं। इस आक्षेप का समाधान ग्रन्थकार स्वयं दे रहे हैं।

शंका—जल में मधुर-रस भले ही रहे, किन्तु जम्वीर-रस में प्रत्यक्ष अनुभूयमान अम्लरस का अपलाप कैसे कर सकते हैं ?

समा०—अम्ल आदि रस का जनकतावच्छेदक जो पृथ्वीत्व, वह जल में नहीं है, इस कारण जल में अम्ल आदि रस नहीं है। इसी को न्याय की भाषा में—अम्लादिरसनिष्ठा या जन्यता, तादृशजन्यतानिरूपिता या जनकता पृथ्वीनिष्ठा, तदवच्छेदकम्पृथ्वीत्वम्, पृथिव्यामेव, न तु जले इति जले नाम्लादिस्वीकारः। अर्थात् पृथ्वीत्वसमानाधिकरणक एव अम्लादिरसः, न तु जलत्वसमानाधिकरणकः। जम्बीर (नींबू) के रस आदि में तो आश्रय के कारण अम्लादि की प्रतीति होती है अर्थात् 'स्वसमवायिसंयोग' सम्बन्ध से अम्लादि की प्रतीति होती है। अतः वह औपाधिकी है। अर्थात् पृथ्वीगत अम्लरस का जल में जो अनुभव है, उसे औपाधिक ही समझना चाहिये।[2]

एवं जन्यशीतस्पर्शजनकतावच्छेदकं जन्यजलत्वं तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकं तु जलत्वं बोध्यम्। घृष्टचन्दनादौ तु शैत्योपलब्धिश्चन्दनान्तर्वर्तिशीततर-

१. अग्नि के संयोग से घट या आम्रादिरूप पृथ्वी में नाना प्रकार के रस उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार जल से अग्नि का संयोग होने पर जल से पृथ्वी में रस की उत्पत्ति होती है—ऐसा मानने में तथा आँवले में मधुर रस की कल्पना करने में गौरव है।

२. जल में नींबू के सम्बन्ध से जो खट्टापन है वह खट्टापन उस नींबू का ही स्वाभाविक गुण है, क्योंकि वह नींबू पृथ्वी का ही विकार है। अम्लता (खट्टापन) भी पृथ्वी का ही गुण है। इस कारण नींबू के रस में नींबू का ही खट्टापन भासता है। वह खट्टापन जल का गुण नहीं है।

सलिलस्यैव । तेजःसंयोगाज्जले उष्णप्रतीतिरौपाधिकी स्फुटैव, तत्र पाका-सम्भवात् ।

इसी प्रकार जन्यजल में जन्यशीतस्पर्शनिष्ठ-जन्यतानिरूपित जनकता की अवच्छेदक 'जलत्व' जाति सिद्ध होती है। और जन्यजलनिष्ठ-जन्यतानिरूपित-जनकता की अवच्छेदक 'शुद्धजलत्व' जाति सिद्ध होती है।

तात्पर्य यह है कि जल में शीतस्पर्श है, इसी कारण 'जलत्व' जाति सिद्ध होती है। यह कार्यकारणभाव माना गया है कि 'अनित्य स्पर्श के प्रति अनित्य जल कारण है। इसी कार्यकारणभाव सम्बन्ध से अनित्य जलत्वजाति सिद्ध होकर, ततः पश्चात् 'अनित्य जल के प्रति जलमात्र (नित्य और अनित्य) कारण है'—यह कार्य-कारणभाव माना है। इस कार्य-कारणभाव के सम्बन्ध से सिद्ध होनेवाली ही—अर्थात् कारण के भेद का दर्शक जो धर्म, वही—'जलत्व' जाति है। तात्पर्य यह है कि जन्यशीतस्पर्शजनकतावच्छेदकतया जन्यजलत्व जाति की सिद्धि, और जन्य-जलत्वावच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया जलत्व जाति की सिद्धि की जाती है। अब घिसे हुए चन्दन में जो शीतल स्पर्श है, वह उस चन्दन से संयुक्त हुए जल का ही गुण है अर्थात् चन्दन में वह शीतलस्पर्श जल के द्वारा भासता है। उसी प्रकार जल में जो उष्णता भासित होती है वह तेज का गुण है। तेज के सम्बन्ध से ही जल में उष्णता भासित होती है, क्योंकि जल में पाक नहीं होता, अतः पाक के कारण जल में उष्णता का होना सम्भव नहीं है। तेज के परमाणु जल के भीतर आने से जल में उष्णता प्रतीत होती है। अर्थात् तेजः-संयोगरूप उपाधि से जल में उष्णत्व की प्रतीति होती है। अतः शीतस्पर्श जल का गुण है, यह सिद्ध होता है।

स्नेहस्तत्रेति। घृतादावपि तदन्तर्वर्तिजलस्यैव स्नेहः, जलस्य स्नेहसमवा-यिकारणत्वात् । तेन जल एव स्नेह इति मन्तव्यम् ।

द्रव्यत्वमिति। सांसिद्धिकद्रवत्वत्वं जातिविशेषः प्रत्यक्षसिद्धः। तदवच्छिन्नजन-कतावच्छेदकमपि तदेवेति भावः। तैलादावपि जलस्य द्रवत्वं स्नेहप्रकर्षेण च दहनानुकूल्यमिति वक्ष्यति ॥ ३९ ॥

इति जलनिरूपणे जललक्षणकथनम् ।

स्नेहस्तत्रेति। जल में स्नेह गुण अर्थात् चिकनापन है, तथा द्रवता है, किन्तु उस द्रवता को स्वाभाविक समझना चाहिये। एवंच जल में शुक्लरूप, मधुररस, शीतलस्पर्श, स्नेह और द्रव्यत्व ये सब समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। अतः अभास्वर-शुक्लमात्ररूपवत्त्वं, मधुरमात्ररसवत्त्वं, शीतमात्रस्पर्शवत्त्वं, स्नेहवत्त्वं, सांसिद्धिक-द्रवत्ववत्त्वं—ये सब जल के लक्षण हुए। स्नेह (चिकनापन) जल में ही रहता है। घृत आदि कितने ही जो स्निग्ध द्रव्य हैं, वे सब पृथ्वी के ही भाग हैं। उनमें जो स्नेह है, वह तो उस द्रव्य में मिला हुआ जो जल का भाग है, उसी का गुण है, क्योंकि स्नेह का समवायिकारण जल है, अतः जल में ही स्नेह है, यह स्वीकार करना चाहिये। इस समवायिकारणता की अवच्छेदक (भेददर्शक) जलत्व जाति

है। वह घृत आदि में न रहकर भी उसमें जल के संयोग से स्नेह रहता ही है। अतः स्नेह, जल का ही गुण है, यह सिद्ध होता है।

द्रवत्वगुण सांसिद्धिक तथा नैमित्तिक भेद से दो प्रकार का है। उनमें से सांसिद्धिक (स्वाभाविक) द्रवत्व, जल में रहता है, यह सभी का प्रत्यक्ष अनुभव है। यह सांसिद्धिक द्रवत्व जातिविशेष है। तथा सांसिद्धिकद्रवत्वावच्छिन्नजन्यता-निरूपितजनकतावच्छेदक भी जलत्व ही है। इस द्रवत्व के प्रति जल ही कारण है। इस कारणता के सम्बन्ध से अनित्य जलत्व जाति पहले सिद्ध हो चुकी है। तत्पश्चात् उस अनित्य जल के प्रति समस्त जल कारण है—यह कार्य-कारणभाव स्वीकार किया गया है। अब तेल, दूध आदि कितने ही पृथ्वीभागों में जो सांसिद्धिक द्रवत्व है, वह तेल आदि पदार्थों में जल का भाग मिश्रित होने से उस जल का द्रवत्व, तेल आदि पृथ्वीभागों में परम्परासम्बन्ध (स्वसमवायिसंयुक्तत्व सम्बन्ध) से भासित होता है।

शंका—तेल आदि में जो जल का भाग मिलता है, वह (जल) अग्नि की ज्वाला के प्रतिकूल है। अर्थात् जल-मिश्रित तेल दीपक के जलने में प्रतिकूल ही है, अनुकूल नहीं है, तब दीपक कैसे जलता है?

समा०—'स्नेह' प्रकृष्ट तथा अप्रकृष्ट दो प्रकार का होता है। उन दोनों में से जो प्रकृष्ट स्नेह है वह ज्वाला के प्रति (जलने में) अनुकूल होता है। और जो अपकृष्ट स्नेह है, वह ज्वाला के प्रति प्रतिकूल होता है (जलता नहीं है)। इस विषय में सविस्तर निरूपण स्नेहनिरूपण के अवसर पर किया जायेगा ॥३९॥

इति जलनिरूपणे जललक्षणकथनम्।

नित्यतादि प्रथमवत्किन्तु देहमयोनिजम्।
इन्द्रियं रसनं सिन्धुहिमादिर्विषयो मतः ॥४०॥

नित्यतादि प्रथमवत्=प्रथम बताई हुई पृथ्वी की तरह जल की नित्यता, अनित्यता आदि समझनी चाहिये। अर्थात् 'नित्याऽनित्या च सा द्वेधा, नित्या स्यादणुलक्षणा। अनित्या तु तदन्या स्यात् सैवावयवयोगिनी।' इत्यादिवत् जल की भी नित्यता, अनित्यता आदि समझनी चाहिये। प्रथमस्य इव प्रथमवत्—यहाँ पर "तत्र तस्येव" (५।१।११६) सूत्र के द्वारा षष्ठ्यन्त से 'वति' प्रत्यय किया गया है। किंतु तीन प्रकार की अनित्य पृथ्वी में योनिज व अयोनिज दो प्रकार के देह बताये थे, उसकी अपेक्षया इस जलीय देह में असमानता (विशेष) है। अर्थात् जलीय देह अयोनिज है। जलीय इन्द्रिय को 'रसना' अर्थात् जिह्वा नाम दिया गया है। जलीयविषय समुद्र, हिम, नदी आदि हैं।

प्रथमवदिति। पृथिव्या इवेत्यर्थः। तथा हि, जलं द्विविधं-नित्यमनित्यं च। परमाणुरूपं नित्यं, द्व्यणुकादिकं सर्वमनित्यमवयवसमवेतं च। अनित्यमपि त्रिविधं-शरीरेन्द्रियविषयभेदात्।

पृथिवीतो यो विशेषस्तमाह—किन्त्विति। देहमयोनिजम्, अयोनिजमेवेत्यर्थः। जलीयं शरीरमयोनिजं वरुणलोके प्रसिद्धम्।

इति जलीयशरीरनिरूणम्।

इन्द्रियमिति। जलीयमित्यर्थः। तथाहि,

मुक्तावलीकार ने 'प्रथमवत्' पद का अर्थ बताया है--'पृथिव्या इव' पृथ्वी के तुल्य। उसी को स्वयं स्पष्ट करते हैं—'तथाहीति'। नित्य और अनित्य भेद से 'जल' दो प्रकार का है। 'नित्य' उसे कहते हैं, जो ध्वंस से भिन्न हो एवं ध्वंस का प्रतियोगी न हो, अर्थात् 'ध्वंस-भिन्नत्वे सति ध्वंसाऽप्रतियोगित्वं--नित्यत्वम्'। 'ध्वंस' में अतिव्याप्तिवारण के लिये 'सत्यन्त' पद दिया है। 'घटादि' में अतिव्याप्तिवारण के लिये 'विशेष्यदल' दिया गया है। नित्यजल तथा अनित्यजल का नामतः परिचय कराते हैं--नित्यजल 'परमाणुरूप' होता है, और अनित्यजल द्वचणुक, त्रसरेणु आदि स्थूल महाभूतरूप होता है। उसी को अवयविरूप जल समझना चाहिये, क्योंकि वह अपने अवयवों में समवाय सम्बन्ध से रहता है। अर्थात् बौद्धों के कथनानुसार वह (जल) परमाणुपुञ्जरूप नहीं है। वही अनित्य जल पुनः तीन प्रकार का है—शरीरात्मक, इन्द्रियात्मक और विषयात्मक। तीन प्रकार की पृथ्वी में जो योनिज और अयोनिज भेद से दो प्रकार का देह बताया था, उसकी अपेक्षया प्रस्तुत जलीय-शरीर में कुछ विशेष अर्थात् असमानता बता रहे हैं—जलीय शरीर (देह) केवल 'अयोनिज' ही होता है, अर्थात् जलीय-शरीर कभी योनिज नहीं होता। इस जलीय शरीर में 'जल' उपादान कारण है और पृथ्वी आदि निमित्त कारण होते हैं, अर्थात् जलतत्त्व की मुख्यता (प्रधानता) होने से जलीय-शरीर[1] कहते हैं। ऊपर वर्णित जलीय-शरीर 'वरुण-लोक में प्रसिद्ध है।

---

१. जलीय शरीर का लक्षण—'शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमच्छरीरं जलीय-शरीरम्।' जलीय इन्द्रिय तथा विषय में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'शरीर' पद दिया है।

शंका—जलीय शरीर में मुख, दांत आदि अवयवों की संभावना नहीं हो सकती, और अवयवों के बिना आहार, विहार आदि नहीं हो सकते, और आहार, विहार के बिना भोगायतनत्व नहीं बन सकता और उनके बिना शरीरत्व का होना भी संभव नहीं।

समा०—वरुणलोकस्थित जलीय-शरीर में पृथ्वी आदि भूतों का भी भाग मिला रहता है। इस कारण मुख, दांत आदि तथा आहार-विहार और भोगायतनत्व के बनने से शरीरत्व भी संभव है। सभी भूतों के मिश्रित रहने पर भी जलतत्त्व की प्रधानता रहने से ही उसे 'जलीय-शरीर' कहा जाता है। जल की अधिष्ठात्री देवता को 'वरुण' कहते हैं। इसमें प्रमाण है, ऋग्वेद का मन्त्र-'वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः। करतां नः सुधारसः'—(ऋ. मं. १।६।२४)

स्वल्प जल में दुर्बीन के द्वारा देखने पर कीटाणु, जो अत्यन्त कोमल तथा छोटे-बड़े होते हुए दिखलाई पड़ते हैं। तालाबों, नदियों में उनसे बड़े और समुद्र में उनसे भी बड़े; इन सबके शरीरों में जल ही प्रधानता रहती है। उसी तरह जल की देवता भी जलीय शरीरवाली होती है। मत्स्य आदि जन्तु पार्थिव हैं, जलीय नहीं। जल के भीतर वे उत्पन्न मात्र होते हैं। मनुष्य जीवन में श्वास की तरह उनके जीवित रहने में 'जल' असाधारण-सहकारि कारण रहता है।

इति जलीय-शरीरनिरूपणम्।

इन्द्रियमिति। जलीयमित्यर्थः। तथाहि, रसनं जलीयं गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे सति रसव्यञ्जकत्वात् सक्तुरसाभिव्यञ्जकोदकवत्। रसनेन्द्रियसन्निकर्षे व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्वं देयम्।

इति जलीयेन्द्रियनिरूपणम्।

अनित्य जल का इन्द्रिय-संज्ञक जो भाग है, वह रसनेन्द्रिय (जिह्वा) है। इसमें अनुमान[1] प्रमाण है—तथाहि—जिस द्रव्य में रूप, गन्ध तथा स्पर्श के

---

१. जलीय इन्द्रिय का लक्षण—'शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वजातिमदिन्द्रियं जलीयेन्द्रियम्।' जलीय इन्द्रिय के होने में अनुमान इस प्रकार होगा—'रसनं (जिह्वास्थमिन्द्रियम्) जलीयं गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे सति रसव्यञ्जकत्वात् सक्तुरसाभिव्यञ्जकोदकवत्।'—रसनेन्द्रिय जलीय होने योग्य है, क्योंकि गन्ध आदि गुणों की व्यञ्जक न होकर रसगुण की व्यञ्जक होती हैं। जो (जो) द्रव्य गन्धादि गुणों का व्यंजक न होकर रसगुण का व्यंजक होता है, वह (वह) द्रव्य जलीय होता है। जैसे—जल, सक्तु के गन्ध आदि गुण का व्यञ्जक न होकर सक्तु के केवल रस का व्यंजक होता है, इस कारण उसमें (जल में) जलीयत्व प्रसिद्ध है। उसी प्रकार रसनेन्द्रिय भी अन्न आदि पदार्थों के गन्ध आदि का व्यंजक न होकर केवल रस का ही व्यंजक होता है, उस कारण रसनेन्द्रिय में जलीयत्व भी स्पष्ट हो जाता है। इस अनुमान में 'गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे सति' यह पद न दें तो 'मन' में व्यभिचार होगा। क्योंकि मन के बिना किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। अतः 'मन' को भी रस का व्यंजक कहना होगा, परन्तु उसमें (मन में) 'जलीयत्व' रूप साध्य नहीं है, अतः 'रसव्यंजकत्व' हेतु को व्यभिचारी कहना पड़ेगा। उक्त व्यभिचार के निवारणार्थ 'गन्धाद्यव्यंजकत्वे सति' पद दिया गया है। तब 'मन' में गन्धादिकों की अव्यंजकता न होने से व्यभिचार नहीं है। कर्म, सामान्य आदि पदार्थ, गन्ध आदि के तो अव्यञ्जक हैं परन्तु उन पदार्थों में 'जलीयत्व' रूप साध्य नहीं रहता। इस व्यभिचार के निवारणार्थ 'रसव्यंजकत्वात्' पद दिया है। कर्मादिकों में रसव्यञ्जकता न होने से व्यभिचार दूर हुआ। रसनेन्द्रिय का रस के साथ 'स्वसंयुक्तसमवाय' रूप सन्निकर्ष भी गन्ध आदि का अव्यंजक होकर रस-मात्र का व्यंजक है, किन्तु इस सन्निकर्ष में 'जलीयत्व' रूप साध्य नहीं है। इस

ज्ञान पैदा कर देने की शक्ति नहीं है, किन्तु केवल रस के ही ज्ञान को उत्पन्न कर देने की शक्ति है, उस कारण उस (सक्तु में मिले हुए जल की तरह) जल भाग की रसनेन्द्रिय में पूर्वोक्त शक्ति है। इस हेतु से वह 'इन्द्रिय' जल का भाग है, ऐसी कल्पना की जाती है। रसनेन्द्रिय का आम्रफल आदि के साथ जो सन्निकर्ष (संयोग) है, उसमें पूर्वोक्त शक्ति तो है, परन्तु वह जल का भाग नहीं है, इसलिये पूर्वोक्त नियम का व्यभिचार होता है। वह व्यभिचार न होने पाय इसलिये लक्षण में 'द्रव्य' पद दिया गया है। 'वह सन्निकर्ष' द्रव्य नहीं है, अपितु गुण है। अतः पूर्वोक्त व्यभिचार नहीं होने पाता।

इति जलीयेन्द्रियनिरूपणम्।

विषयं दर्शयति सिन्धुहिमादिरिति—सिन्धुः समुद्रः। हिमं तुषारः। आदिपदात्सरित्कासारकरकादिः सर्वोऽपि ग्राह्यः। न च हिमकरकयोः कठिनत्वात्पार्थिवत्वमिति वाच्यम्, ऊष्मणा विलीनस्य तस्य जलत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। यद् द्रव्यं 'यद्द्रव्यध्वंसजन्यमि'ति व्याप्तेर्जलोपादानोपादेयत्वसिद्धेः, अदृष्टविशेषेण वा द्रवत्वप्रतिरोधात्। करकादीनां काठिन्यं प्रत्ययस्य भ्रान्तित्वात् ॥ ४० ॥

इति जलग्रन्थः।

इति जलीयविषयनिरूपणम्।

अब अनित्य जल का विषयसंज्ञक तीसरा भाग दिखाते हैं। समुद्र, हिम (बर्फ), करक (ओला), सरोवर, कूप तथा नदी आदि सब जल का विषयरूपी भाग है।

शंका—हिम (तुषार) तथा करक ये कठिन द्रव्य हैं, अतः इन्हें पृथ्वी का भाग क्यों न कहा जाय ?

समा०—सूर्य-किरणों की उष्णता से हिम और करक पिघलकर जलरूप हो जाते हैं, यह सभी के दृष्टिगोचर है। अर्थात् हिम-करक का स्वरूप नष्ट हो जाने पर 'हिम करके जलम्' हिम और करका जलरूप है—इस प्रकार की चक्षुःप्रत्यक्षप्रमाणजन्य जो प्रमा, तद्विषयतावच्छेदकता जलत्व में होने से हिम-करक को पृथ्वी का भाग (पार्थिव) नहीं कह सकते, अपितु 'हिम करके जलमेव' उन्हें (हिम-करक को) जल का ही भाग (जलीय ही) कहना होगा। क्योंकि वह व्याप्ति (नियम) है कि 'जो द्रव्य, जिस द्रव्य के ध्वंस से जन्य होता है, वह द्रव्य, उस द्रव्य के उपादान से उपादेय होता है' अर्थात् 'यज्जलरूपं द्रव्यं यतो हिमकरकादि द्रव्यस्य ध्वंसात् जन्यं भवति, तज्जलरूपं द्रव्यं, हिम-कारकादि-द्रव्यस्य उपादानरूपेणैव उपादेयं भवति'। इस व्याप्ति के बल पर हिम-करका भी जल के उपादान कारणभूत जलीय परमाणु के ही कार्य हैं। अतः उनमें जलीयत्व[1] प्रत्यक्ष सिद्ध है।

व्यभिचार के निवारणार्थ 'द्रव्यत्वे सति' यह पद दिया गया है। सन्निकर्ष तो गुण है, द्रव्य नहीं, अतः दोष नहीं है।

१. जलीयविषय का लक्षण—'शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमद्विषयः जलीयविषयः।

शंका— हिम-करक यदि जल के भाग हैं तो उनके सांसिद्धिकद्रवत्व का अनुभव क्यों नहीं होता ?

समा०—जिस किसी प्राणी के उपभोगार्थ हिम-करका उत्पन्न हुई, उस प्राणी के अदृष्ट-विशेष से उसका (हिम-करका का) अपना सांसिद्धिक (स्वाभाविक) द्रवत्व (द्रवता) भी अवरुद्ध हो जाता है, अतः उसका (स्वभाविक द्रवता का) प्रत्यक्ष नहीं हो पाता । मणिमंत्रादि-न्याय से सांसिद्धिक द्रवता को अवरुद्ध करने में अदृष्ट को भी स्वतन्त्र कारण समझना चाहिये ।

शंका— हिम-करका यदि पार्थिव नहीं है तो उनमें कठिनता क्यों है ?

समा०—ऊपर कहा गया है कि अदृष्ट के कारण उसकी द्रवता दब जाती है, अतः उसमें कठिनता की प्रतीति होती है । अर्थात् 'हिम-करका' कठोर (कठिन) है—इस प्रकार से कठिनत्वाख्यसंयोगप्रकारक प्रत्यय जो होता है, उसकी उपपत्ति तो पार्थिवद्व्यणुकादि का सम्बन्ध रहने के कारण 'स्वसमवायिसंयुक्तत्व' सम्बन्ध से हो जाती है । 'समवायेन' कठिनत्व के न रहने पर भी उनमें (हिमकारका में) 'समवायेन हिमं करकादि कठिनम्'—हिम-करका में 'कठिनता' समवाय-सम्बन्ध से रहती है, यह समझना अर्थात् कठिनत्वप्रकारक प्रतीति का उनमें होना केवल भ्रम है । वास्तविक कठिनता उनमें नहीं है । वास्तविक द्रवत्व ही उनमें है । हिम आदि में पार्थिव भाग बहुत अल्प और जलतत्त्व का भाग अधिक है । अतः हिम-करकादि पार्थिव न होकर जलीय ही हैं ॥ ४० ॥

॥ इति जलीयविषयनिरूपणम् ॥ इति जलग्रन्थः ॥

इति जलनिरूपणम् ।

शंका—अग्नि आदि तेज के संयोग से जो 'द्रवत्व' होता है, वह नैमित्तिक द्रवत्व है । जैसे—घृत, जतु (लाख) आदि में । उसी तरह हिम-करक आदि की द्रवता भी सूर्यरश्मिरूप निमित्त से हुआ करती है । अतः हिम-करका आदि को पृथ्वीरूप ही क्यों न माना जाय ?

समा०—हिम-करकादिरूप जल में यद्यपि प्रसिद्ध जल की तरह सांसिद्धिक (स्वाभाविक) द्रवत्व नहीं दिखलाई पड़ता, क्योंकि वह, जीवों के पुण्य-पापरूप अदृष्ट विशेष से अवरुद्ध (दबा-सा) रहता है । तथापि हिम-करका आदि में घृत-जतु के तुल्य नैमित्तिक द्रवत्व नहीं है, किन्तु सांसिद्धिक द्रवत्व ही है । इनमें कठिनता की प्रतीति भ्रान्तिरूप है, प्रमारूप नहीं । 'भ्रान्तित्वं नामान्यथाभावेन वस्त्ववगाहनत्वम्' । कुछ लोगों का कहना है कि जल के साथ विलक्षण दिव्य तेज के संयोग से ही हिम-करकादिकों की उत्पत्ति होती है । दिव्य तेज के प्रवेश के अनन्तर उन जलों का सांसिद्धिक द्रवत्व नष्ट हो जाता है, पुनः सूर्यादितेज की उष्णता के संयोग से उस दिव्य तेज का संयोग निवृत्त हो जाता है । तदनन्तर उन जलों में सांसिद्धिक द्रवत्व की पुनः उत्पत्ति होती है ।

उष्णः स्पर्शस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम् ।
नैमित्तिकं द्रवत्वं तु नित्यतादि च पूर्ववत् ॥४१॥

तेज का स्पर्श उष्ण होता है, उसका रूप भास्वर शुक्ल होता है, और द्रवत्व नैमित्तक होता है। ये सभी उसमें (तेज में) समवाय से रहते हैं। तेज का नित्यत्व अनित्यत्व आदि अवान्तरभाग पूर्व की तरह (जल की तरह) समझना चाहिये।

तेजो निरूपयति । उष्णस्पर्श इत्यादिना । उष्णत्वं स्पर्शनिष्ठो जातिविशेषः प्रत्यक्षसिद्धः इत्थं च जन्योष्णस्पर्शसमवायिकारणतावच्छेदकं तेजस्त्वं जातिविशेषः । तस्य परमाणुवृत्तित्वं तु जलत्वस्येवानुसन्धेयम् ।

न चोष्णस्पर्शवत्वं चन्द्रकिरणादावव्याप्तमिति वाच्यं, तत्राप्युष्णत्वस्य सत्त्वात् । किन्तु तदन्तःपातिजलस्पर्शेनाभिभवादग्रहः । एवं रत्नकिरणादौ पार्थिवस्पर्शेनाभिभवाच्चक्षुरादौ चानुद्भूतत्वादग्रहः ।

अब यथावसर तेज का निरूपण करते हैं-- 'उष्णः स्पर्शः' इत्यादिग्रन्थ से। अर्थात्—'तेजोनिष्ठविषयतानिरूपकं लक्षणस्वरूपप्रमाण्यादिप्रकारकं यज् ज्ञानं तदनुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान् ग्रन्थकारः' यह 'तेजो निरूपयति' का शब्दबोध होगा। जिसका स्पर्श उष्ण है, उसी का नाम तेज है। उष्णस्पर्श, तेज में ही रहता है, अर्थात् 'समवायेन उष्णस्पर्शवत्त्वं' यह तेज का लक्षण[1] समझना चाहिये। स्पर्श

---

१. तेज का लक्षण---'उष्णस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत् तेजः'। उष्णस्पर्श समवाय-सम्बन्ध से अग्नि, सूर्य आदि के तेज मे है। तथा 'तेजस्त्व' जाति भी समवाय-सम्बन्ध से तेज में ही है। गुण तथा कर्म में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'जाति' में 'द्रव्यत्वव्याप्य' यह विशेषण जोड़ दिया है। आत्मत्वजाति तथा मनस्त्वजाति भी द्रव्यत्वजाति की व्याप्यजाति है। इसलिये 'जाति' में दूसरा विशेषण 'स्पर्शसमानाधिकरण' भी दिया गया है। उसके देने से अतिव्याप्ति नहीं हो पाती, क्योंकि 'आत्मत्व तथा मनस्त्व जाति' स्पर्श की समानाधिकरण नहीं है। पुनरपि यदि 'स्पर्श' में 'उष्ण' विशेषण न दें तो पृथिवी आदि में अतिव्याप्ति होगी। किन्तु 'उष्ण' विशेषण के देने से अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। अपि च-- द्रव्यत्वजाति तथा सत्ताजाति, द्रव्यत्वजाति की व्याप्य नहीं है, इस कारण इन दोनों जातियों को लेकर तेज के लक्षण की पृथिवी आदि में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। यद्यपि अग्नि, सूर्य आदि में 'इदं तेजः, इदं तेजः' -- यह तेज यह तेज, इस प्रकार से तेजस्त्वजाति का प्रत्यक्ष होता रहता है, तथापि परमाणुरूप, अथवा चक्षुरिन्द्रियरूप अतीन्द्रिय तेज में तथा समस्त तेजों में अनुमान से ही तेजस्त्वजाति की सिद्धि की जाती है। यथा—'तेजोनिष्ठा या उष्णस्पर्शसमवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् तन्तुनिष्ठकारणतावत्'। तन्तुओं में स्थित पट की समवायिकारणता तन्तुत्व धर्म से अवच्छिन्न होती है, उसी तरह तेज में स्थित उष्णस्पर्श की समवायिकारणता तेजस्त्व धर्म से अवच्छिन्न है। अतः तेजस्त्वजाति है, यह मानना होगा।

में रहनेवाली 'उष्णत्वजाति' (उष्णत्व) त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष सिद्ध होती है। अर्थात् त्वाचप्रत्यक्षवेद्य है, क्योंकि 'येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते, तेनैवेन्द्रियेण तन्निष्ठा जातिस्तदभावश्च गृह्यते'—इस न्याय से जब कि त्वगिन्द्रिय से उष्णस्पर्श का ज्ञान होता है, तो उसी इन्द्रिय से तन्निष्ठ उष्णत्वजाति का भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से उष्णत्वजाति की सिद्धि होने पर 'कालिक और समवाय, एतदुभयसम्बन्ध से उष्णत्वजाति-विशिष्ट जो अनित्य (जन्य) उष्णस्पर्श, उसका समवायिकारण जो अनित्य तेज, तदवच्छेदक के रूप में, जन्य 'तेजस्त्व' जाति की सिद्धि हो जाती है। तथा च अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—'समवायसम्बन्धावच्छिन्न-जन्योष्णस्पर्शत्वावच्छिन्न-जन्योष्णस्पर्शनिष्ठकार्यतानिरूपित-तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नजन्यतेजोनिष्ठा या कारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्'— इस रीति से जन्यतेजस्त्व की सिद्धि करने के पश्चात् नित्यतेजोवृत्ति 'तेजस्त्व' की सिद्धि की जाती है। उसकी (परमाणुवृत्ति तेजस्त्व की) सिद्धि की रीति परमाणुवृत्ति जलत्व के तुल्य ही समझनी चाहिये। तथाहि—तेज के परमाणुओं में जन्य उष्णस्पर्श नहीं है, इस कारण जन्यस्पर्शनिष्ठ-जन्यता-निरूपित-जनकता की अवच्छेदक, परमाणुसाधारण तेजस्त्वजाति की सिद्धि नहीं हो सकती, किन्तु जन्यस्पर्शनिष्ठ-जन्यतानिरूपित जनकतावच्छेदकत्वरूप से जन्य तेजस्त्व जाति की सिद्धि कर लेनी चाहिये, पश्चात् जन्यतेजस्त्वावच्छिन्न-जन्यता-निरूपित-जनकतावच्छेदकत्वरूप से शुद्धतेजस्त्वजाति की सिद्धि हो जाती है। तात्पर्य यह है कि अनित्य उष्णस्पर्श के प्रति अनित्य तेज द्व्यणुक आदि कारण हैं—ऐसा कार्य-कारणभाव पहले समझना और उसी कारणता के सम्बन्ध से अनित्य तेजस्त्व जाति की सिद्धि हो जाने के पश्चात् अनित्य तेज के प्रति (नित्य तथा अनित्य) कारण हैं—ऐसा कार्य-कारणभाव समझना चाहिये। उस कारणता का अवच्छेदक (भेदक) जो धर्म है, वही 'तेजस्त्व' जाति है, यह सिद्ध होता है।[1]

शंका—'समवायेन उष्णस्पर्शवत्त्वं तेजसो लक्षणम्'—उष्णस्पर्श जिसमें हो वह तेज है—यह तेज का लक्षण पहले कह चुके हैं। चन्द्र-किरण तथा रत्नकिरण,

१. जलत्व जाति की सिद्धि की तरह यहाँ भी प्रथमतः जन्य उष्णस्पर्श की समवायिकारणता के अवच्छेदक रूप से द्व्यणुकादि जन्य तेजोवृत्ति तेजस्त्व जाति की सिद्धि कर लेनी चाहिये, तदनन्तर जन्य तेजस्त्वजाति से अवच्छिन्न जन्य तेज की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप से नित्य तथा अनित्य सभी तेज में 'तेजस्त्व-जाति' की सिद्धि करनी चाहिये। यद्यपि सूर्यलोकस्य तैजसशरीरादि अन्त्यावयवी तेज से तथा चक्षुरिन्द्रियरूप तेज से किसी भी जन्य तेज की उत्पत्ति नहीं होती, तथापि उसमें स्वरूपयोग्यतारूप-कारणता विद्यमान रहती है। अतः सभी तेजों में 'तेजस्त्वजाति' की सिद्धि हो जाती है।

ये भी तेज हैं, किन्तु उनमें उष्णस्पर्श नहीं है। इस कारण उनमें तेज का लक्षण घटित न हो पाने से अव्याप्ति हो रही है।

समा०—चन्द्रकिरण में उष्णस्पर्शवत्व (उष्णस्पर्श) है, परन्तु चन्द्र के अन्तर्गत (भीतर) रहनेवाले जल के स्पर्श से वह (उष्णस्पर्श) अभिभूत (दबा) रहता है, इसलिये वहाँ उष्णस्पर्श प्रतीत नहीं हो पाता। उसी प्रकार रत्नकिरण आदि में भी पार्थिवस्पर्श से उसका उष्णस्पर्श अभिभूत रहता है, उस कारण वहाँ उष्णस्पर्श की प्रतीति नहीं हो पाती। तथा चक्षु आदि में उष्णस्पर्श के उद्भूत न रहने के कारण (अनुद्भूत रहने से) उसकी प्रतीति नहीं हो पाती।[1]

रूपमित्यादि। वैश्वानरे मरकतकिरणादौ च पार्थिवरूपेणाभिभवाच्छुक्लरूपाग्रहः।

अथ तद्रूपाग्रहे धर्मिणोऽपि चाक्षुषत्वं न स्यादिति चेत् ? न, अन्यदीयरूपेणापि (रूपेणैव) धर्मिणो ग्रहसम्भवात्, शङ्खस्येव पित्तपीतिम्ना। वह्नेस्तु शुक्लरूपं नाभिभूतं, किन्तु तदीयं शुक्लत्वमभिभूतमित्यन्ये।

नैमित्तिकमिति। सुवर्णादिरूपे तेजसि तत्सत्त्वात्। न च नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्वं दहनादावव्याप्तं घृतादावतिव्याप्तं चेति वाच्यम्। पृथिव्यवृत्तिनैमित्तकद्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्वस्यविवक्षितत्वात्।

इति तेजोनिरूपणे तेजोलक्षणकथनम्।

पूर्ववदिति। जलस्येवेत्यर्थः। तथाहि, तद्--द्विविधं नित्यमनित्यं च, नित्यं परमाणुरूपम्। तदन्यदनित्यम्, अवयवि च। तच्च त्रिधाशरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमयोनिजमेव, तच्च सूर्यलोकादौ प्रसिद्धम् ॥ ४१ ॥

इति तैजसशरीरनिरूपणम्।

शंका—'भास्वर-शुक्लरूप' यह तेज का गुण है, अतः 'भास्वरशुक्लरूपवत्व' तेज का लक्षण है। क्योंकि 'असाधारणधर्मो लक्षणम्'—यह 'लक्षण' का लक्षण बताया गया है। अग्नि (वैश्वानर) तथा रत्न (मरकतमणि) आदि भी तेज हैं, किन्तु इनमें 'शुक्लरूप' नहीं रहता, इसलिये लक्षण अव्याप्त हो रहा है।

---

१. शंका—जल, वायु तथा पृथ्वी में कभी-कभी उष्णस्पर्श प्रतीत होता हैं। अतः तेज के लक्षण (उष्णस्पर्शवत्त्व) की उक्त तीनों में अतिव्याप्ति हो रही है। तथा चन्द्र, रत्न, सुवर्ण और चक्षुरिन्द्रिय ये सब तैजस कहे जाते हैं परन्तु, इनमें उष्णस्पर्श प्रतीत नहीं होता, अतः इनमें अव्याप्ति हो रही है।

समा०— तेज का उष्णस्पर्श ही 'स्वसमवायिसंयोग' सम्बन्ध से जल आदि में प्रतीत होता है। अतः अतिव्याप्ति नहीं है। और चन्द्र आदि तैजस पदार्थों में उष्णस्पर्श है, परन्तु तदन्तर्वर्ति जल के मिश्रित शीतस्पर्श से वह अभिभूत हो गया है। तथा रत्न और सुवर्णरूप तेज में भी पार्थिवभाग के मिश्रित होने से उष्णस्पर्श प्रतीत नहीं हो पाता। चक्षुरिन्द्रिय में उष्णस्पर्श अनुद्भूत है, अतः उसकी प्रतीति नहीं होती, इस कारण अव्याप्ति दोष भी नहीं है।

समा०—वैश्वानर अग्नि तथा मरकतमणि (रत्न) के किरण में भास्वर शुक्लरूप तो है, किन्तु उसकी उपलब्धि इस कारण नहीं हो पाती कि उनका (अग्नि-मरकतकिरण का) पृथ्वी के भाग (पार्थिवभाग) से सम्बन्ध रहता है। अतः अग्नि में पृथ्वी के भाग का पीलापन तथा मरकतकिरण में हरापन दिखलाई पड़ता है। क्योंकि उनका (अग्नि-मरकतकिरण का) अपना निजी शुक्लरूप, पार्थिव भाग से अभिभूत (दबा) रहता है। अर्थात् अग्नि का शुक्लरूप, पृथ्वी के पीले रूप से ढका रहता है और मरकतकिरण का शुक्लरूप भी पृथ्वी के हरे रूप से ढका रहता है। इस कारण उनके शुक्लरूप की उपलब्धि नहीं होती।

शंका—अग्नि-मरकतमणि आदि का निजी रूप यदि चक्षुरिन्द्रिय से उपलब्ध नहीं होता, तो उस रूप के आश्रयभूत (धर्मी) अग्नि तथा मरकत (रत्न) किरण आदि का भी प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये था, क्योंकि रूपवत् द्रव्य आदि के चाक्षुष-प्रत्यक्ष होने में द्रव्य का रूप ही तो कारण रहता है। यहाँ पर उस रूप की तो उपलब्धि ही नहीं है तो उस रूप के आश्रयभूत अग्नि-मरकत-किरण आदि का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं होना चाहिये।

समा०—ऊपर बता चुके हैं कि अग्नि-रत्नकिरण आदि से पृथिवी के भाग का सम्बन्ध रहने से, उस पृथिवी के ही रूपों की अग्नि-रत्नकिरण आदि में प्रतीति होती है, इस कारण अग्नि तथा रत्नकिरण आदि का प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है। जैसे—पित्तरोग (पीलियारोग) होने पर मनुष्य को शङ्ख वस्तुतः श्वेत रहने पर भी पीला दिखाई देता है। अर्थात् पित्तरूपी दोष का जो पीला रङ्ग है, वह शङ्ख में (मानो शङ्ख का ही गुण है) भासता है, इस कारण शंख पीला दिखता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि एक द्रव्य का रूप, दूसरे द्रव्य के प्रत्यक्ष होने में कारण हो जाया करता है। इस सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों का यह भी कहना है कि अग्नि का तथा रत्नकिरण का निजीरूप अर्थात् शुक्लरूप पार्थिवभाग के सम्बन्ध से अभिभूत नहीं होता, किन्तु उस शुक्लरूप में स्थित जो 'शुक्लत्व' (श्वेतपना) है, वह पार्थिव भाग से प्रतिरुद्ध (दब) हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अग्नि तथा रत्नकिरण का प्रत्यक्ष; उनके अपने निजीरूप से ही होता है।

नैमित्तिक (अस्वाभाविक) अर्थात् अग्नि के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाला द्रवत्व, सुवर्णादि तैजस द्रव्यों में रहता है, इसलिये नैमित्तिक द्रवत्ववत्त्व' भी तेज का लक्षण है।

शंका—अग्नि आदि तैजस द्रव्यों में 'नैमित्तिकद्रवत्व' नहीं रहता, अतः अव्याप्ति है। और घृत आदि पार्थिव द्रव्यों में नैमित्तिक द्रवत्व रहता है, अतः अतिव्याप्ति है।

समा०—'नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्व' वह तेज का लक्षण है—इसका तात्पर्य यह है कि 'नैमित्तिकद्रवत्व' जिसमें (सुवर्णादि तेज में) रहता है उसमें रहनेवाली तथा

पृथ्वी में न रहनेवाली जो जाति, तादृशजाति जिसमें हो वही 'तेज' है—यह तेज का परिष्कृत लक्षण है। एवंच उक्त लक्षण-लक्षित 'तेजस्त्व' जाति अग्नि-रत्न-किरण आदि में रहने से लक्षण-समन्वय हो जाता है। और घृत आदि पृथ्वी (पार्थिवद्रव्य) तेजस्त्व नहीं रहने से अतिव्याप्ति भी नहीं है।

इति तेजोनिरूपणे तेजोलक्षणकथनम्।

तेज की नित्यता आदि पूर्व की (जल की) तरह समझनी चाहिये। तथाहि—तेज, नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है। उसमें परमाणुरूप तेज नित्य है और उससे भिन्न जो तेज है (द्व्यणुकादि से महातेज तक) वह सब अवयवी रूप होने से अनित्य है। अनित्य तेज, शरीर, इंद्रिय, विषय इन तीनों भेदों से तीन प्रकार का है। तैजस-शरीर[1] अयोनिज ही है। वह सूर्यलोक तारा, ग्रह, नक्षत्र आदि में प्रसिद्ध है॥ ४१॥

इति तैजसशरीरनिरूपणम्।

इन्द्रियं नयनं, वह्निः स्वर्णादिर्विषयो मतः।

नयन (नेत्र) तैजस इन्द्रिय है और वह्नि (अग्नि) सुवर्ण आदि तेज के विषय हैं।

अत्र यो विशेषस्तमाह--इन्द्रियमिति। ननु चक्षुषस्तैजसत्वे किं मानमिति चेत्? चक्षुस्तैजसं परकीयस्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्, प्रदीपस्य स्वीयस्पर्शव्यञ्जकत्वादत्र दृष्टान्तेऽव्याप्तिवारणाय प्रथमं परकीयेति। घटादेः स्वीयरूपव्यञ्जकत्वाद्व्यभिचारवारणाय द्वितीयं परकीयेति। अथवा प्रभाया दृष्टान्तत्वसम्भवादाद्यं परकीयेति न देयम्। चक्षुःसन्निकर्षे व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्वं देयम्।

इति तैजसेन्द्रियनिरूपणम्।

अत्रेति। तैजस इन्द्रिय और विषय में पार्थिव तथा जलीय इन्द्रिय और विषय की अपेक्षा क्या अन्तर है, उसे बताते हैं--इन्द्रियमिति। अनित्य तेज का इन्द्रियसंज्ञक जो भेद है, वह 'चक्षु' है।

शंका—चक्षुरिन्द्रिय के तैजस होने में क्या प्रमाण है?

समा०—चक्षुरिन्द्रिय के तैजस होने में 'अनुमान' प्रमाण है।

---

१. तैजस शरीर का लक्षण--'उष्णस्पर्शवत् शरीरं तैजसशरीरम्'। जो शरीर 'समवायसम्बन्ध' से उष्णस्पर्शवाला हो, उसे तैजस शरीर कहते हैं। वह सूर्यलोक आदि में सूर्यभगवान् आदि का है। यद्यपि उत्पन्न होते ही विनष्ट होनेवाले तैजस-शरीर में तथा उत्पत्ति-क्षणावच्छिन्न तैजस-शरीर में उष्णस्पर्श का अभाव होने से अव्याप्ति दोष की आशङ्का हो सकती है, क्योंकि 'उत्पन्नं सद् द्रव्यं निर्गुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठति' ऐसा नियम है। तथापि जातिघटित लक्षण (उष्णस्पर्श-समानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत् शरीरं-तैजसशरीरम्) कर देने से अव्याप्ति नहीं हो सकेगी।

तथाहि—'चक्षुरिन्द्रियं तैजसं परकीयस्पर्शाद्यव्यंजकत्वे सति परकीयरूपव्यंजकत्वात् प्रदीपवत् ।'—चक्षुरिन्द्रिय तैजस होने योग्य है, क्योंकि परकीय (दूसरे) द्रव्य के स्पर्श, रस तथा गन्धादि का व्यंजक न होकर परकीय (दूसरे) द्रव्य के रूप का व्यंजक होता है प्रदीप की तरह । इससे यह नियम स्पष्ट होता है कि 'जो जो द्रव्य, परकीय स्पर्श आदि का व्यंजक न होकर परकीय रूप का व्यंजक होता है, वह द्रव्य, तैजस होता है, यह अनुभवसिद्ध नियम है। उक्त अनुमान में प्रदीप का दृष्टान्त दिया गया है । जैसे—प्रदीप तेज है। वह परकीय (घटादि अन्य द्रव्य का) स्पर्श, रस, गन्ध आदि गुणों का प्रदर्शक नहीं है, केवल परकीय (उस घट द्रव्य के) रूप का ही (रक्तत्व, शुक्लत्व आदि का ही) प्रदर्शक होता है। उस अनुमानप्रमाण से चक्षुरिन्द्रियरूप द्रव्य, परकीय द्रव्य के स्पर्श आदि का प्रदर्शक न होकर केवल उस परकीय रूप का प्रदर्शक होता है, अतः वह (चक्षुरिन्द्रिय) तेजःस्वरूप है—यह सिद्ध होता है। उपर्युक्त अनुमान में 'चक्षु' पक्ष है, तेजस्त्व'—साध्य है, परकीयस्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात्'—यह हेतु है, प्रदीपवत्—यह दृष्टान्त है। निर्दिष्ट हेतु में यदि प्रथम 'परकीय' पद न दें तो दिये गये 'दृष्टान्त' की असिद्धि होगी। क्योंकि 'दृष्टान्त' में साध्य और हेतु दोनों का सत्त्व आवश्यक होता है। दोनों में से एक भी यदि दृष्टान्त में न रहे तो उसे "दृष्टान्तासिद्धि" कहते हैं। उपर्युक्त हेतु में प्रथम 'परकीय' पद न दें तो 'स्पर्शाद्यव्यंजकत्वे परकीयरूपव्यंजकत्वात्' इतना ही हेतु का आकार रहेगा, तब वह हेतु, 'प्रदीप' दृष्टान्त में उपलब्ध नहीं हो रहा है। क्योंकि 'प्रदीप' स्वयं भी उष्णता (स्पर्श) का प्रदर्शक होता है, इस कारण प्रदीपरूप दृष्टान्त में 'स्पर्शाद्यव्यंजकत्व—स्पर्श के अप्रदर्शकत्वरूप हेतु के न रहने से दृष्टान्त में हेतु की असिद्धि (दोष) हो जायगी, वह न हो सके, इसलिये प्रथम 'परकीय' पद दिया गया है। उसके देने से 'प्रदीप' स्वतन्त्रता से (अपने आप स्वयं) स्पर्श (उष्णस्पर्श) का प्रदर्शक होने पर भी, वह परकीय स्पर्श का प्रदर्शक नहीं होता। इस कारण दृष्टान्तासिद्धि दोष का प्रसंग नहीं है। द्वितीय परकीय पद न दें तो 'घट' अपने रूप का व्यंजक होता है। इस कारण 'घट' में व्यभिचार होगा। क्योंकि 'घट' आदि पृथ्वीरूप हैं, वे स्वयं अपने आप स्वतन्त्रता से शुक्ल, रक्त आदि रूप के प्रदर्शक हैं। अतः घट आदि में स्वकीयरूप का प्रदर्शकत्व अर्थात् 'परकीयस्पर्शाद्यव्यंजकत्वविशिष्ट—रूपव्यंजकत्व' हेतु तो है, किन्तु 'तेजस्त्व' रूपी साध्य नहीं है। इसलिये व्यभिचार दोष हो जाता है, क्योंकि 'जहाँ हेतु तो रहे किन्तु साध्य न रहे' वहाँ व्यभिचार दोष माना जाता है। उस दोष का वारण करने के लिये यह 'परकीय' दूसरा पद दिया गया है। उसके देने से 'घट' आदि परकीय रूप के प्रदर्शक (व्यंजक) नहीं होते, अर्थात् 'घट' में 'हेतु' भी नहीं रहा। अब शरीरकृतलाघव की दृष्टि से पक्षान्तर कहते हैं—'अथवा' इति। प्रदीप को दृष्टान्त में न देकर यदि 'प्रभा'

को दृष्टांत में रखा जाय तो प्रथम 'परकीय' पद न देने की आवश्यकता नहीं रहती। तब हेतु का आकार इतना ही रहेगा—'स्पर्शाद्यव्यंजकत्वे सति परकीयरूपव्यंजकत्वात्'। प्रभा, स्वस्पर्श को तथा परकीय स्पर्श को व्यक्त करने में समर्थ नहीं है, अतः हेतु का विशेषण उचित ही है। एवंच 'विशेषणासिद्धि' के निवारण का क्लेश भी नहीं है। तथापि 'चक्षुःसन्निकर्ष' में व्यभिचार को हटाने के लिये 'हेतु' में 'द्रव्यत्व' विशेषण देना आवश्यक है। यदि 'द्रव्य' पद न दें तो चक्षुरिन्द्रिय[1] का घट के साथ जो संयोगसन्निकर्ष है, उस संयोगसन्निकर्ष में 'तेजस्त्व'

१. तैजस इन्द्रिय का लक्षण—'उष्णस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमदिन्द्रियं तैजसेन्द्रियम्। इस तेजस्त्वजातिघटित लक्षण से चक्षुरिन्द्रिय की सिद्धि होती है। यह चक्षुरिन्द्रिय, कृष्णतारा के अग्रभाग में रहता है, तथा रूपादिकों को ग्रहण करता है।

चक्षुरिन्द्रिय में तैजसत्व सिद्ध करने का अनुमान—'चक्षुरिन्द्रिय तैजसं परकीय-स्पर्शाद्यव्यंजकत्वे सति परकीयरूपव्यंजकत्वात्, प्रदीपवत्।' चक्षुरिन्द्रिय तैजस है, क्योंकि परकीय (घट आदि के) स्पर्शादि का व्यंजक न होकर परकीय रूप का व्यंजक होने से, 'जो द्रव्य परकीय स्पर्श आदि का व्यंजक न होकर परकीय रूप का व्यंजक होता है वह तैजस होता है।' जैसे—प्रदीप, घटादि द्रव्यों के स्पर्शादिकों का व्यंजक न होकर घटादिकों के रूप का व्यंजक होता है, उसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय भी घटादिकों के स्पर्श आदि का व्यंजक न होकर घटादि के रूप का व्यंजक होता है, अतः चक्षुरिन्द्रिय तैजस है। अब हेतु में 'परकीयस्पर्शाद्यव्यंजकत्वे सति' यह पद यदि न दें तो 'मन' के बिना कोई भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, इस कारण 'मन' में परकीय-रूपव्यंजकत्व' 'हेतु' तो है, किन्तु उसमें तैजसत्व रूप 'साध्य' नहीं है। अतः व्यभिचार है। उस व्यभिचार को दूर करने के हेतु परकीयस्पर्शाद्यव्यंजकत्वे सति' पद दिया गया है। तब 'मन' में परकीय स्पर्श आदि का व्यंजकत्व ही है, 'अव्यंजकत्व' नहीं है, इस कारण व्यभिचार दोष नहीं है। अब 'हेतु' में 'परकीय-रूपव्यंजकत्व' यह पद न दें, तो 'आकाशादि' भी परकीय स्पर्श आदि के व्यंजक नहीं हैं। इस कारण अतिव्याप्ति हो जायगी। किन्तु 'परकीयरूप-व्यंजकत्व' पद देने से अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है, क्योंकि 'आकाशादि' परकीयरूप के व्यञ्जक नहीं हैं। अब अनुमान में 'प्रदीप' के स्थान में 'प्रभा' को दृष्टांत में रखें तो हेतु में दिये गये 'प्रथम परकीय' पद की आवश्यकता न होगी। क्योंकि प्रभा के स्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं होता और न ही वह अपने स्पर्श आदि की व्यञ्जिका हैं। उच्छृङ्खल (बौद्ध) के मत में चक्षुरिन्द्रिय को अप्राप्य-प्रकाशकारी माना जाता हैं। किन्तु नैयायिक उसे प्राप्य-प्रकाशकारी मानते हैं। जो इन्द्रिय संयोगादि-सम्बन्ध से विषय के देश में जाकर (प्राप्त होकर) विषय को प्रकाशित करती है—उसे प्राप्य-प्रकाशकारी कहते हैं। और जो इन्द्रिय, संयोगादिसम्बन्ध से विषय देश को प्राप्त किये बिना ही (अपने

रूप साध्य नहीं है किन्तु 'हेतु' है, क्योंकि संयोगसन्निकर्ष परकीय घट आदि के स्पर्श आदि का व्यंजक (प्रदर्शक) नहीं है और वह 'तेज' न होने पर भी परकीय घट-पटादि के रूप का व्यंजक है, इसलिये व्यभिचार हो रहा है। 'द्रव्य' पद के देने पर 'संयोगसन्निकर्ष' में 'द्रव्यत्व' नहीं है अर्थात् संयोगसन्निकर्ष 'द्रव्यरूप' नहीं है, किन्तु 'गुण' है। अतः नियमभंगरूप व्यभिचार नहीं है।

इति तैजसेन्द्रियनिरूपणम्।

स्थान में ही स्थित रह कर) विषय को प्रकाशित करती है, वह अप्राप्य-प्रकाशकारी है। उच्छृङ्खल का अपना मत है--चक्षुरिन्द्रिय (गोलक) से अत्यन्त दूर स्थित सूर्य-चन्द्र आदि पदार्थों को भी ग्रहण करती है, इस कारण वह 'अप्राप्य-प्रकाशकारी' है। चक्षुरिन्द्रिय यदि प्राप्य-प्रकाशकारी होती, तो 'रसनेन्द्रिय' के समान अधिष्ठान-सम्बद्ध वस्तु का ही ग्रहण करती, किन्तु ऐसी बात तो है नहीं, वह तो (गोलक से) असम्बद्ध अत्यन्त दूर स्थित सूर्य-चन्द्र पदार्थों को ग्रहण करती है। इस कारण वह अप्राप्य प्रकाशकारी है। किञ्च चक्षुरिन्द्रिय अपने तुल्य परिमाणवाली वस्तुओं को ग्रहण करती है, उसी तरह वह महान् पर्वत आदि को भी ग्रहण करती है, इस कारण भी वह (चक्षुरिन्द्रिय) अप्राप्य-प्रकाशकारी है। किञ्च यदि चक्षुरिन्द्रिय प्राप्य-प्रकाशकारी होती तो वह वृक्ष-शाखा को या चन्द्रमा को प्राप्त कर उन्हें (चन्द्रमा को या शाखा को) ग्रहण करती, अर्थात् एक काल में दोनों को ग्रहण नहीं करती परन्तु नेत्रों को खोलते ही शाखा तथा चन्द्र को एक ही काल में देखता है। अतः चक्षुरिन्द्रिय, अप्राप्य प्रकाशकारी है।

नैयायिक--निर्दिष्ट उच्छृङ्खल मत असंगत है, क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय वस्तु देश में जाकर ही वस्तु को प्रकाशित करती है। पार्थिवगोलक से भिन्न ही तैजस चक्षु है। प्रदीप की प्रभा अपने अधिष्ठानरूप प्रदीप के सम्बन्ध के साथ ही घटादि पदार्थों के पास पहुँचकर उसे प्रकाशित करती है, उसी प्रकार तैजस चक्षु भी अपने गोलकरूप अधिष्ठान के सम्बन्ध के साथ ही छोटे-बड़े पदार्थों तक पहुँचकर उन्हें ग्रहण करती हैं। किंवा प्राप्य प्रकाशकारी प्रदीप-प्रभा जैसे अपने से अधिक परिमाणवाले पर्वतादिकों को भी प्रकाशित करती है, उसी प्रकार गोलक से निकला हुआ, महत्त्व-परिमाणवाला तैजस चक्षु भी अपने से अधिक परिमाणवाले पर्वतादिकों को ग्रहण करती है। किञ्च—शाखा तथा चन्द्रमा का एक काल में ग्रहण नहीं होता, किन्तु प्रथम क्षण में शाखा को प्राप्त होकर शाखा का ग्रहण होता है और द्वितीय क्षण में चन्द्रमा को प्राप्त होकर चन्द्रमा का ग्रहण किया जाता है। किन्तु वह क्षणरूपकाल अत्यन्त सूक्ष्म है; इस कारण लोगों को यह भ्रम होता है कि हम एक ही काल में शाखा तथा चन्द्रमा को देख रहे हैं। चक्षुरिन्द्रियरूप तेज में सुई (सूची) से छिदे हुए कमल के पत्रों के तुल्य इतनी अधिक तीव्र वेगशीलता रहती है जिससे

¹विषयं दर्शयति--वह्निरिति। ननु सुवर्णस्य तैजसत्वे किं मानमिति

यह भ्रम होता है। परन्तु ग्रहण तो यथाक्रम ही होता है। अतः चक्षुरिन्द्रिय के प्राप्य-प्रकाशकारिता में कोई सन्देह नहीं हैं।

किन्तु शालिकाचार्य कहते हैं—चक्षुरिन्द्रिय तथा सूर्य की प्रभा (बाह्य आलोक) ये दोनों मिलकर 'नवीन चक्षुरिन्द्रिय' के आरम्भक होते हैं। इस कारण चक्षुरिन्द्रिय का एक ही काल में शाखा तथा चन्द्रादि पदार्थों के साथ सम्बन्ध होकर ग्रहण करना असम्भव नहीं है। किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि चक्षु तथा बाह्य आलोक (प्रभा) से निर्मित (रचित) वह चक्षुरिन्द्रिय जैसे अग्रभाग में होती है, वैसे ही पृष्ठभाग में भी अवश्य होगी। इस कारण पृष्ठभागस्थ पदार्थों का भी चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होना चाहिये, परन्तु होता नहीं है। अतः शालिकाचार्य का मत असंगत है।

१. विषय का लक्षण—'उष्णस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमद्विषयः तैजसो विषयः।' यह तैजस विषय—(१) भौम, (२) दिव्य, (३) औदर्य, (४) आकारज, इन भेदों से चार प्रकार का है। 'पार्थिव-निमित्तकं तेजः'-**भौमम्**। काष्ठादि पार्थिवपदार्थ जिसका ईन्धन है, वह **भौम**, अर्थात् भूमिगत तेज है, तथा खद्योत (पटबीजना) गत तेज भी 'भौम' है।

'अबिन्धनं तेजः'--**दिव्यम्**। जलमात्र है इन्धन जिसका वह दिव्य तेज है। जैसे—बिजली, आदि।

'अन्न-जलोभयेन्धनं तेजः'—**औदर्यम्**।' अन्न तथा जल ये दोनों हैं इन्धन जिसके ऐसा जो तेज है, वह औदर्य है। जैसे--उदरस्थ जठराग्नि। 'अनुभयेन्धनं तेजः'--**आकारजम्**। पृथ्वी, जल, ये दोनों इन्धन जिसके नहीं हैं, वह 'आकारज' तेज है। जैसे--खान से उत्पन्न होनेवाले सुवर्ण, रजत, ताम्र, मणि आदि।

शंका--सुवर्णादि द्रव्य तो इस अनुमान से पार्थिव सिद्ध होते हैं। जैसे—'सुवर्णं पार्थिवं पीतत्वाद्गुरुत्वाद्वा हरिद्रावत्–सुवर्ण पार्थिव है, पीत तथा गुरु होने से, पार्थिव हरिद्रा के समान।

समा०—इस अनुमान से सुवर्ण में 'तैजसत्व' सिद्ध करते हैं। 'सुवर्णं तैजसं असति प्रतिबन्धके अत्यन्ताग्निसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वाधिकरणत्वात्, यन्नैवम्, तन्नैवम् यथा घृतादिकम्।' सुवर्णतैजस द्रव्य होने योग्य है, प्रतिबन्धक (रोकनेवाले) के न होने पर तथा अत्यन्त अग्निसंयोग होने से भी अनुच्छिद्यमान (अनश्वर) द्रवत्व का अधिकरण होता है, जो द्रव्य तैजस नहीं होता, वह प्रतिबन्धक के अविद्यमान होने से तथा अग्नि के अत्यधिक संयोग होने से अनुच्छिद्यमान (नष्ट न होने वाले) जन्य द्रवत्व का अधिकरण नही होता। जैसे—घृत, जतु (लाख) आदि—तैजसद्रव्य नहीं कहलाते। इस कारण जलरूप प्रतिबन्धक के अविद्यमान रहने पर तथा अत्यन्त अग्निसंयोग होने पर उसका द्रवत्व नष्ट हो जाता है। यहाँ पर 'सुवर्णं तैजसम्'—यह प्रतिज्ञावाक्य है। 'असति

चेत् ! न, सुवर्णं तैजसम्, असतिप्रतिबन्धके 'अत्यन्तानलसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमान-

प्रतिबन्धके' इत्यादि हेतु वाक्य है, 'यन्नैवं तन्नैवं' इत्यादि व्यक्तिरेकि-दृष्टान्त-वाक्य है। प्रस्तुत प्रसंग में अर्थात् सुवर्ण, चाँदी आदि में प्रतिबन्धक जलादि के अविद्यमान रहने पर और अत्यन्ताग्निसंयोग होने पर उसके (सुवर्ण, चाँदी के) द्रवत्व का उच्छेद (विनाश) नहीं होता। अतः सुवर्ण, चाँदी आदि तैजस द्रव्य हैं।

उपर्युक्त हेतु में 'असति प्रतिबन्धके' यह पद न दें तो अत्यन्ताग्निसंयोग के रहने पर जलमध्यस्थ घृत के द्रवत्व का विनाश नहीं होता। अतः घृत में 'तैजसत्व' रूप साध्य का अभाव रहने से व्यभिचार होगा। उसके निवारणार्थ हेतु में 'असति प्रतिबन्धके' यह पद दिया गया है। अब यदि 'अत्यन्ताग्निसंयोगे सति' यह पद न दिया जाय तो जिस घृत में 'अग्निसंयोग' न हुआ हो, अर्थात् स्वल्पतर अग्नि का संयोग हुआ हो वह घृत अत्यन्ताग्निसंयोग के न रहने पर भी तथा जलरूप प्रतिबन्धक के अविद्यमान रहने पर भी अनुच्छिद्यमान द्रवत्व का अधिकरण होता है अर्थात् उसमें 'द्रवत्व' रहता है। किन्तु वह घृत तो 'तैजसत्व' रूप साध्य के अभाव का अधिकरण है, उसमें (घृत में) अनुच्छिद्यमान द्रवत्व रूप हेतु के रहने से व्यभिचार हो जायगा क्योंकि साध्याभावाधिकरण में हेतु विद्यमान है। हेतु को साध्याभावाधिकरण में कभी नहीं रहना चाहिये, उसे (हेतु को) तो हमेशा साध्य के साथ एक अधिकरण में ही रहना चाहिये। अतः उस व्यभिचार के निवारणार्थ, 'अत्यन्ताग्निसंयोगे सति' पद दिया गया है। अब यदि 'अत्यन्त' पद को हेतु में न रखें तो परमाणु-द्व्यणुकरूप अग्नि के रहने पर या अत्यन्ताग्निसंयोग कुछ क्षणों तक रहने पर भी उस घृत का नाश नहीं होगा। अर्थात् अनुच्छिद्यमान द्रवत्व उसमें रहेगा तब अतिव्याप्ति हो जायगी। उसके निवारणार्थ 'अत्यन्त' (प्रदीप्त) पद दिया गया है। उक्त हेतु-वाक्य में यदि जन्यपद न दिया जाय तो जलीय परमाणु में व्यभिचार होगा, क्योंकि वहाँ भी किसी प्रकार के प्रतिबन्धक के न रहते हुए अत्यन्त अग्नि का संयोग होने पर भी नित्य द्रवत्व का अधिकरणत्व ही है। इस व्यभिचार के निवारणार्थ जन्यपद दिया गया है। अतः उक्त हेतु का उन जलपरमाणुओं में व्यभिचार नहीं होने पाता। जैसे—जल में मिलाया हुआ स्याही का चूर्ण (चूरा) द्रवीभूत नहीं होता, अपितु जल ही स्वाभाविकरूप से द्रवित (पिघला) रहता है, किन्तु द्रवितजल के संयोग से उस में मिलाये गये स्याही के चूरे में द्रवित (पिघला हुआ) होने की भ्रान्ति होती है। वैसे ही तैजस सुवर्ण में स्थित जो पीतवर्ण का तथा गुरुत्व का आश्रयभूत पार्थिवभाग है, वह अत्यन्ताग्निसंयोग रहने पर भी (प्रबल आँच रहने पर भी) द्रवीभूत नहीं होता, अपितु वह तैजस सुवर्ण ही द्रवीभूत होता है, किन्तु उस द्रवीभूत तैजस सुवर्ण के संयोग से उसमें मिश्रित पार्थिव भाग के द्रवीभूत (पिघलेपन) होने की भ्रान्ति होती है। अतः उस पार्थिव भाग

जन्यद्रवत्वात्, यन्नैवं-तन्नैवम्, यथा पृथिवीति । न चाप्रयोजकं, पृथिवीद्रवत्वस्य जन्यजलद्रवत्वस्य चात्यन्ताग्निसंयोगनाश्यत्वात् ।

में 'तैजसत्व' रूप साध्य के अभाव की तरह हेत्वभाव भी है। तात्पर्य यह है कि उस पार्थिव भाग में उक्त हेतु का व्यभिचार नहीं होने पाता। अतः सुवर्ण में तैजसत्व सिद्ध हो जाता है।

कतिपय ग्रंथकार सुवर्ण में तैजसत्व इस अनुमान से सिद्ध करते हैं। जैसे— 'अत्यन्ताग्निसंयोगी पीतिमगुरुत्वाश्रयः (पार्थिवभागः) विजातीयरूपप्रतिबन्धकद्रव-द्रव्यसंयुक्तः अत्यन्ताग्निसंयोगे सत्यपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधिकरणत्वे सति पृथ्वीत्वात्, जलमध्यस्थ-पीतपटवत् ।' जिस पार्थिव द्रव्य के साथ जो अत्यंत अग्निसंयोग है; वह उस पार्थिव द्रव्य में विजातीयरूप की उत्पत्ति के प्रतिबन्धक द्रवत्वगुणवाले द्रव्य के संयोग के न रहने पर उसके अपने पूर्वरूप से भिन्न एक विजातीयरूप को अवश्य उत्पन्न करता है। जैसे—तण्डुल आदि पार्थिव द्रव्यों के साथ जो अत्यन्त अग्निसंयोग है, वह जलरूप प्रतिबन्धक के न रहने पर उन तण्डुलादि पार्थिव-द्रव्यों में उसके अपने शुक्लरूपसे भिन्न एक विजातीय कृष्ण, पीतादिरूप की उत्पत्ति अवश्य ही कर देता है। और सुवर्ण में स्थित जो पीतरूप तथा गुरुत्ववाला जो पार्थिव भाग है, उस पार्थिव भाग के साथ अनेक बार अत्यन्त अग्निसंयोग के होने पर भी उसके पूर्वरूप से भिन्न किसी विजातीय नीलादिरूप की उत्पत्ति कभी नहीं होती। इस कारण यह अवश्य मानना होगा कि उस पार्थिव भाग के साथ किसी प्रतिबन्धक द्रवत्वगुणवाले द्रव्य का सम्बन्ध अवश्य है, जो उस पार्थिव भाग में विजातीयरूप की उत्पत्ति नहीं होने देता। वह प्रतिबन्धकद्रव-द्रव्य पृथ्वी या जल में से तो कोई हो नहीं सकता, तब परिशेषात् तेजोद्रव्य को ही विजातीयरूप की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक मानना होगा। अतः वह प्रतिबन्धक तेजोद्रव्य ही सुवर्ण है। किञ्च —"अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णम्" इस श्रुतिप्रमाण से भी सुवर्ण में तैजसत्व सिद्ध होता है। कुछ ग्रन्थों में (१) उद्भूतरूपस्पर्श, (२) अनुद्भूतरूपस्पर्श, (३) उद्भूतस्पर्श-अनुद्भूतरूप, (४) उद्भूतरूप-अनुद्भूतस्पर्श—इन भेदों से यह तेजोद्रव्य चार प्रकार का है। (१) जिस तेज के रूप तथा स्पर्श उद्भूत होते हैं, वह उद्भूतरूपस्पर्श कहलाता है। जैसे—सूर्यकिरण अग्नि आदि। (२) जिस तेज का रूप तथा स्पर्श दोनों अनुद्भूत होते हैं, वह अनुद्भूतरूपस्पर्श कहलाता है। जैसे—चक्षुरिन्द्रियरूप तेज। (३) जिस तेज का स्पर्श तो उद्भूत हो किंतु रूप अनुद्भूत हो, वह उद्भूतस्पर्श अनुद्भूतरूप कहलाता है। जैसे— तप्तजलगत-तेज (४) जिस तेज का रूप तो उद्भूत हो और स्पर्श अनुद्भूत हो, वह उद्भूत रूप-अनुद्भूतस्पर्श कहलाता है। जैसे— प्रदीप आदि का प्रभारूप तेज। सुवर्ण-रूप तेज का उद्भूतरूप-स्पर्शवाले प्रथम तेज के भेद में ही अन्तर्भाव होता है। यदि सुवर्ण को अनुद्भूतरूपवाला माने तो उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होगा। यदि सुवर्ण को अनुद्भूत स्पर्शवाला मानें तो उसका त्वाच प्रत्यक्ष नहीं होगा। अतः सुवर्ण का

ननु पीतिमगुरुत्वाश्रयस्य पार्थिवभागस्यापि तदानीं द्रुतत्वान्नव्यभिचार इति चेत् ? न, जलमध्यस्थमसीक्षोदवत्तस्याद्रुतत्वात् ।

अपरे तु पीतिमाश्रयस्य अत्यन्ताग्निसंयोगेऽपि पूर्वरूपापरावृत्तिदर्शनात्तत्प्रतिबन्धकं विजातीयद्रवद्रव्यं कल्प्यते। तथा हि—अत्यन्ताग्निसंयोगे पीतिमगुरुत्वाश्रयः विजातीयरूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्य-संयुक्तः अत्यन्ताग्निसंयोगे सत्यपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधिकरणत्वात् जलमध्यस्थपीतपवटत् । तस्य च पृथिवीजलभिन्नस्य तेजस्त्वनियमात् ।

इति तैजसविषयनिरूपणम्

इति तेजोग्रन्थः ।

अब अनित्य तेज के 'विषय' संज्ञक तीसरे विशेष को प्रदर्शित करते हैं। भौम, दिव्य, उदर्य, आकारज भेद से तैजस विषय चार प्रकार का होता है। १ भौमतेज–वह्नि आदि, २ दिव्यतेज—अविन्धनविद्युतादि, ३ उदर्यतेज-भुक्तवस्तु के परिणाम में हेतुभूत अर्थात् जाठराग्नि, ४ आकारज तेज—सुवर्ण आदि हैं।

शंका—'सुवर्ण' के तैजस होने में क्या प्रमाण है ?

समा०—सुवर्ण को तैजस मानने में अनुमान-प्रमाण है। यथा—'सुवर्णम्, तैजसम्, असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानलसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा पृथिवीति ।' सुवर्ण तेज है, क्योंकि किसी प्रतिबन्धक के न रहने पर (किसी प्रतिबन्धक वस्तु के साथ सुवर्ण का सम्बन्ध न रहने पर) तथा अग्नि का अत्यन्त संयोग रहने पर भी सुवर्ण के द्रवत्व का विनाश नहीं होता है, जो ऐसा नहीं, वह तैजस भी नहीं, जैसे पृथ्वी। अर्थात् जिस वस्तु की द्रवता (पतलापन) प्रदीप्त अग्नि का अत्यन्त संयोग होने पर भी नष्ट नहीं हो पाती, वही वस्तु 'सुवर्ण' द्रव्य है। पृथ्वी और जल का द्रवत्व तीक्ष्ण आग के रहने पर नष्ट हो जाता है, किन्तु सुवर्ण का द्रवत्व ही एकमात्र ऐसा है कि तीक्ष्ण आग के लगने पर भी वह नष्ट नहीं होता। अतः उक्त अनुमान-प्रमाण से 'सुवर्ण' तैजस है, यह सिद्ध हो जाता है।

शंका—यह अनुमान अप्रयोजक (अनुकूलतर्करहित) होने से सुवर्ण को तैजस न मानने पर भी निर्दिष्ट हेतु सुवर्ण में रहता है। अर्थात् उक्त अनुमान में व्यभिचार की आशंका हो सकती है कि 'पक्ष' में 'अनुच्छिद्यमान द्रवत्व' हेतु रहे और 'तेजस्त्व' साध्य न रहे।

तेज के प्रथम भेद में ही अन्तर्भाव होता है। सुवर्णरूप तेज में रूप और स्पर्श के उद्भूत रहने पर भी उसके अपने यथार्थ भास्वर शुक्लरूप तथा तप्त स्पर्श का जो ग्रहण नहीं होता उसमें हेतु यह है कि बलवान् विजातीय पार्थिव द्रव्य के रूप से तथा स्पर्श से वह अभिभूत रहता है। अतः तेज के (सुवर्ण) अपने रूप और स्पर्श का ग्रहण नहीं हो पाता।

समा०—यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि अनुकूल तर्क है—जैसे—'असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानलसंयोगे सति अनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वं यदि तैजसत्व-व्यभिचारि स्यात् तदा असति प्रतिबंधके अत्यंतानलसंयोगे सति नाश्यं स्यात्। यतो न तथा नाश्यम्, अतो न व्यभिचारि तत्।'

शंका—स्वर्ण पिघलकर जब तरल पानी जैसा हो जाता है, तब उसमें (सुवर्ण में) मिला हुआ पीतिमा का तथा गुरुत्व का आश्रयरूप पृथ्वी का भाग भी सुवर्ण के साथ ही पिघल कर पानी जैसा हो जाता है, वह पिघला हुआ पीला पानी तेज नहीं है, वह पार्थिव है। क्योंकि तेज में पीतिमा (पीलापन) नहीं होता और गुरुत्व भी नहीं होता, वह तो पार्थिव है। एवंच साध्याभाव के अधिकरण में हेतु के रहने से व्यभिचार स्पष्ट है। तथाहि—यहाँ पर साध्य 'तैजसत्व' है, उसका अभाव अर्थात् तैजसत्वाभाव, उसका अधिकरण पार्थिवभाग, उसमें 'अत्यन्तानलसंयोगादि हेतु विद्यमान है, अतः व्यभिचार है।

समा०—नेति। जल में स्थित मसीक्षोद (चूर्णविशेष) अर्थात् 'काजल' के समान। काजल पिघलनेवाली वस्तु नहीं है, तथापि जल में घोलने से वह भी जल के साथ द्रवित होता हुआ-सा प्रतीत होता है, अर्थात् लिखते समय जल जैसा द्रवित (पिघलता=बहता है) होता है, वैसे ही वह काजल भी द्रवित होता (बहता) है। 'स्याही बहती है, फैल रही है' आदि शब्द-प्रयोग लोग करते पाये जाते हैं। किन्तु वह स्याही के द्रवित होने का भ्रम ही समझना चाहिये। उसी प्रकार अत्यन्तानलसंयोग से सुवर्ण के द्रवित होने पर उसमें मिले हुए पीतिमा तथा गुरुत्व के आश्रयभूत पार्थिव भाग में होने वाला जो द्रवण प्रत्यय है, वह वास्तविक नहीं है, अपितु भ्रम है। अतः व्यभिचार नहीं है।

अब प्रकारान्तर से सुवर्ण का तैजसत्व सिद्ध करने वालों का मत बताते हैं—कुछ विद्वान् कहते हैं कि पार्थिवरूप तो अग्नि के संयोग से परिवर्तित हो जाता है। जैसे—घट का श्यामरूप अग्निसंयोग से नष्ट होकर रक्तवर्ण (रक्तरूप) हो जाता है, किन्तु सुवर्ण में विद्यमान पीतिमाश्रय पार्थिव भाग के पूर्वरूप (पीतरूप) की परावृत्ति (परिवर्तन) अत्यन्त अग्निसंयोग के होने पर भी देखने में नहीं आती। अतः अनुमान करना पडता है कि कोई विजातीय द्रव्य ऐसा है, जो पूर्वरूप (पीतरूप) की परावृत्ति (परिवर्तन) का प्रतिबन्धक अवश्य है। उसी को अनुमान के द्वारा बता रहे हैं—'अत्यन्ताग्निसंयोगी पीतिमगुरुत्वाश्रयः, विजातीय-रूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्यसंयुक्तः, अत्यन्ताग्निसंयोगे सत्यपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधि-करणत्वात्, जलमध्यस्थपीतपटवत्।' अत्यन्त अग्निसंयोगी पीतिमा तथा गुरुत्व का आश्रय पार्थिवभाग, विजातीयरूप के प्रतिबन्धक द्रवद्रव्य से संयुक्त है, क्योंकि अत्यन्त अग्निसंयोग के होने पर भी पूर्वरूप (पीतरूप) के विजातीय रूप (नीलादिरूप) का अधिकरण न होने से, जल में स्थित पीतपट के समान। अर्थात् पीला तथा जड़ ऐसा जो पृथ्वी का भाग है, उसके समान। अपनी स्थूल दृष्टि

से जो जड़ तथा पीला भाग सुवर्ण का माना जाता है, उसमें अत्यन्त अग्निसंयोग के होने पर भी पूर्व के पीलेरूप का नाश तथा अन्य किसी रूप की उत्पत्ति नहीं होती। अतः अनुमान करना पड़ता है कि उस पीले तथा जड़ भाग में पीलेरूप का नाश तथा अन्यरूप की उत्पत्ति होने में प्रतिबन्धक कोई भाग उस द्रवद्रव्य में संयुक्त है, जैसे--पानी में पीला कपड़ा डाल दिया जाय और उस पानी को अत्यन्त अग्निसंयोग यहाँ तक हो कि पानी औट जाय, फिर भी उस कपड़े के पीलेरूप का नाश तथा दूसरे रूप की उत्पत्ति नहीं होती। अतः यह स्वीकार करना होता है कि--कपड़े से संयुक्त जो द्रवद्रव्य जल है, वह उस कपड़े के पीलेरूप के नाश का तथा उसमें अन्य रूप के होने का प्रतिबन्धक है। उसी प्रकार अर्थात् वह कपड़ा जैसे द्रवद्रव्य से (जल से) संयुक्त है, वैसे ही सुवर्ण में पीलापन तथा जड़ भाग (पार्थिवभाग) भी एक प्रकार के द्रवद्रव्य से संयुक्त है—यह सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि जलमध्यस्थ पीतपट का पीलारूप, अग्नि की अत्यधिक आँच के रहने पर भी जैसे परिवर्तित नहीं होता, क्योंकि वहाँ उस पीलेरूप से विजातीयरूप के पैदा होने में प्रतिबन्धक जैसे जल होता है, वैसे ही सुवर्णमिश्रित पार्थिवभाग का पीलारूप, अत्यन्त अग्निसंयोग होने पर भी बदलता नहीं। न बदलने में प्रतिबन्धक कोई द्रवद्रव्य वहाँ अवश्य है। उस द्रवद्रव्य को पृथ्वी नहीं कह सकते और न जल ही कह सकते हैं, क्योंकि पृथ्वी या जल का द्रवत्व, अत्यन्त अग्निसंयोग होने पर नष्ट हो जाता है। अतः उस द्रव्य को पृथ्वी और जल से भिन्न तेज ही कहना चाहिये।

इति तेजोनिरूपणम्।

अपाकजोऽनुष्णाशीतः स्पर्शस्तु पवने मतः ॥४२॥
तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादिलिङ्गकः।
पूर्ववन्नित्यताद्युक्तं देहव्यापि त्वगिन्द्रियम् ॥४३॥

(कठिनपदव्याख्या)–१--अपाकजः—पाकाज्जायते इति पाकजः, न पाकजः इति अपाकजः=पाकाजभिन्नः। २—अनुष्णाशीतः=उष्ण भी नहीं और शीतल भी नहीं। ३—तिर्यग्गमनवान्=वक्रगतिवाला। ४--स्पर्शादिलिङ्गकः यहाँ 'लिङ्ग' शब्द का अर्थ हेतु है और 'आदि' शब्द से शब्द, धृति, कम्प आदि का ग्रहण किया है। ५--पूर्ववत्=जल के समान। ६--देहव्यापि=शरीर-व्यापक। ७--नित्यतादि=नित्यता तथा अनित्यता।

वायु में स्पर्श गुण है, और वह पाकज नहीं है, तथा वह अति उष्ण और अतिशीतल भी नहीं है—यही नैयायिकों को अभिमत है। वायु की गति वक्र है। स्पर्शादि हेतुओं से वायु का अमुमान होता है। जल के समान वायु की भी नित्यता, अनित्यता समझनी चाहिये। वायु के स्पर्श की ग्राहक त्वगिन्द्रिय है, जो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है।

वायुं निरूपयति–अपाकज इति । अनुष्णाशीतस्पर्शस्य पृथिव्यामपि सत्त्वादुक्तमपाकज इति । अपाकजस्पर्शस्य जलादावपि सत्त्वादुक्तमनुष्णाशीत इति । तेन वायवीयो विजातीयः स्पर्शो दर्शितः । तज्जनकतावच्छेदकं वायुत्वमिति भावः ॥ ४२ ॥

इति वायुनिरूपणे वायुत्वजातौ प्रमाणकथनम् ।

वायुं निरूपयति इति । निरूपयति (नि + रूप) का अर्थ है––लक्षण-स्वरूप-प्रामाण्यादिप्रकारकज्ञानानुकूलो व्यापारः । तथाच–वायुनिष्ठविषयतानिरूपकं यल्लक्षण-स्वरूप-प्रामाण्यादिप्रकारकं ज्ञानं, तदनुकूल-व्यापारानुकूल-कृतिमान् ग्रन्थकारः । क्योंकि न्याय के सिद्धान्त में प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध माना जाता है । अपाकज अनुष्णाशीत (विलक्षण) स्पर्श, वायु में रहता है । वह (वायु) वक्रगतिमान् है, स्पर्शादि हेतुओं से उसका (वायु का) अनुमान किया जाता है। एवंच 'अपाकज–अनुष्णाशीतस्पर्शवान् वायुः'––यह वायु का लक्षण है। उक्त लक्षण में 'अपाकज' पद यदि न दें तो 'अनुष्णाशीतस्पर्श' पृथ्वी में भी है, अतः लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । उसके निवारणार्थ 'अपाकज' पद का देना आवश्यक है । तब अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'पृथ्वी' का स्पर्श तो 'पाकज' हैं, 'अपाकज' नहीं है । अब यदि 'अनुष्णाशीत' यह विशेषण स्पर्श में न दें तो 'अपाकजस्पर्श' (शीत तथा उष्णस्पर्श) जल और तेज में भी रहता है, अतः लक्षण को अतिव्याप्ति हो जायगी । उसके निवारणार्थ 'अनुष्णाशीत' यह विशेषण 'स्पर्श' में दिया गया है । तब अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'जल' में अनुष्णाशीतस्पर्श नहीं है, अपितु 'शीतस्पर्श' रहता है । और 'तेज' में उष्णस्पर्श रहता है । एवंच 'वायु' का स्पर्श सबसे विलक्षण (विजातीय) है । तात्पर्य यह है कि पृथ्वी, जल का तेजस्पर्शव्यावृत्तजात्यवच्छिन्न स्पर्श है । अर्थात् इस प्रकार की विलक्षण-स्पर्शनिष्ठ-जन्यतानिरूपिताजनकता 'वायु' में है––यह प्रदर्शित किया गया है । ऐसे विलक्षण-स्पर्श की उत्पत्ति के प्रति 'वायु' समवायिकारण है । अर्थात् विजातीय स्पर्श का समवायिकारण 'वायु' है। इस प्रकार दोनों (स्पर्श-वायु) का कार्य-कारणभाव समझना चाहिये ।

समवायिकारणरूप 'वायु' में समवायिकारणता रही, उसका (समवायिकारणता का) अवच्छेदक 'वायुत्व' होगा, यही 'वायुत्व' जाति है ॥ ४२ ॥

एष वायुः स्पर्शादिलिङ्गकः । वायुर्हि स्पर्शशब्दधृतिकम्पैरनुमीयते विजातीयस्पर्शेन, विलक्षणशब्देन, तृणादीनां धृत्या, शाखादीनां कम्पनेन च वायोरनुमानात् । यथा च वायुर्न प्रत्यक्षस्तथाग्रे वक्ष्यते ।

इस वक्रगतिमान् वायु का स्पर्श आदि हेतुओं से अनुमान किया जाता है, अर्थात् वह अनुमेय है, प्रत्यक्ष नहीं । 'आदि' शब्द से शब्द, धृति, कम्प को भी हेतु समझना चाहिये। वायु के ज्ञान में प्राचीन तथा नवीन नैयायिकों में मतभेद है। नवीन नैयायिक—वायु के स्पर्शन

प्रत्यक्ष में स्पर्श को कारण मानते हैं, इसलिये वे वायु का प्रत्यक्ष मानते हैं, परन्तु प्राचीन नैयायिक—बहिरिन्द्रिय से होनेवाले द्रव्य के प्रत्यक्ष में 'उद्भूतरूप' को कारण मानते हैं, इसलिये वे वायु को अनुमेय कहते हैं। वायु का स्पर्श, शब्द, धृति, कम्प इन चार हेतुओं से अनुमान किया जाता है। जैसे--प्रथम हेतु-स्पर्श है। एक प्रकार का विजातीय (विलक्षण) स्पर्श अपने शरीर से ज्ञात होता है। अतः रूपरहित द्रव्य के स्पर्श का प्रत्यक्ष त्वगिन्द्रिय से होने के कारण वह स्पर्श जिस रूपरहित द्रव्य के आश्रित है, वही रूपरहित द्रव्य—वायु है। उसी प्रकार द्वितीय हेतु—शब्द है। वायु के बहने पर पेड़ के पत्तों से जो विलक्षण 'मर्मर' शब्द सुनाई पड़ता है, वह शब्द, यदि किसी रूपवाले द्रव्य के अभिघात से होता, तो उस रूपी (रूपवाले) द्रव्य का प्रत्यक्ष होता, किन्तु नहीं हो रहा है। अतः उस अभिघात का कारण कोई रूपरहित द्रव्य ही होगा, वही रूपरहितद्रव्य वायु है। उसी तरह तृतीय हेतु--धृति है। आकाश में तृण, मेघ, रुई, धूलि-कण उड़ते रहते हैं, तो उन्हें धारण करनेवाला जो रूपरहित द्रव्य है, वही वायु है। उसी प्रकार चतुर्थ हेतु—कम्प है। जिस रूपरहित द्रव्य के अभिघात से शाखा, पत्ते, आदि में जो कम्पन होता है, वही रूपरहित द्रव्य वायु है। उसका त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता, यह आगे आत्मनिरूपण के प्रसंग में सविस्तर कहा जायगा।

इति वायुनिरूपणे वायौ प्रमाणकथनम्।

पूर्ववदिति। वायुर्द्विविधो नित्योऽनित्यश्च, परमाणुरूपो नित्यस्तदन्योऽनित्योऽवयवसमवेतश्च। सोऽपि त्रिविधः, शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। तत्र शरीरमयोनिजं पिशाचादीनाम्। परन्तु जलीयतैजसवायवीयशरीराणां पार्थिवभागोपष्टम्भादुपभोगक्षमत्वं, जलादीनां प्राधान्याज्जलीयत्वादिकमिति।

इति वायवीयशरीरनिरूपणम्।

जल के भेद आदि के समान ही वायु के भेद आदि भी समझने चाहिये। अर्थात् वायु नित्य और अनित्य दो प्रकार का है। परमाणुरूप वायु नित्य है और उससे भिन्न द्व्यणुक से लेकर महावायु तक तो वायु है, वह अनित्य (अवयवीरूप) है, अर्थात् उससे अवयव भी हैं। यह अनित्य वायु शरीर, इन्द्रिय, तथा विषय भेद से तीन प्रकार का है। इन तीन प्रकार के वायुओं में से 'शरीर' संज्ञक जो वायु है, वह अयोनिज है। अर्थात् 'वायवीय शरीर' अयोनिज ही होता है, वह पिशाच, भूत आदिकों का मरुत्लोक (भुवर्लोक) में हुआ करता है।

शंका—इन जलीयशरीर, तैजसशरीर तथा वायवीयशरीरों से यह जीव कैसे उपभोग ले सकेगा ? क्योंकि जल, तेज, वायु आदि में कर-चरणादि अवयव नहीं हुआ करते। और शरीर तो उसी को कहा जाता है, जो उपभोग (सुख-दुःखादि के अनुभव) का साधन हो—यह 'शरीरलक्षण' वायवीय पिशाचादि के

शरीर में घटित नहीं हो पा रहा है। क्योंकि वायुरूप पिशाचादिकों के मुख, तालु आदि न होने से वे बोल नहीं सकते तथा हाथ, पैर आदि न होने से आहरण (ग्रहण), विहरण (चलना, फिरना) क्रिया भी नहीं कर सकते। इस कारण उन वायुरूप पिशाचादिकों के 'शरीर' में 'उपभोग-साधनत्व' रूप शरीर-लक्षण नहीं घट सकता। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के शरीर के होने में कोई प्रमाण नहीं है।

समा०—'परन्तु' इति। जलीय, तैजस, तथा पिशाचादिकों के वायवीय शरीर, पृथ्वी के भाग (पार्थिवभाग) से उपष्टब्ध (संयुक्त) हैं। पार्थिवभाग का संयोग होने से उन जलीय, तैजस, वायवीय शरीरों में सुख-दुःखान्यतर-साक्षात्काररूपभोगावच्छेदकता (उपभोगक्षमता) रहती है। अतः उन शरीरों को उपभोग के योग्य अर्थात् उपभोग का साधन माना जाता है। जलीयशरीर, वरुणलोक में, तथा तैजसशरीर, सूर्यलोक में उपभोग करने के योग्य है।

शंका–उन शरीरों में यदि पार्थिवभाग भी सम्मिलित है, तो उन्हे 'पार्थिवशरीर' न कहकर केवल 'जलीय' 'तैजस', और 'वायवीय' शरीर क्यों कहा जाता है?

समा०—उन शरीरों को 'पार्थिवशरीर' इसलिये नहीं कहा जाता कि उनमें 'पार्थिव' (पृथ्वी का) भाग की अप्रधानता (निमित्तकारणता) रहती है, और स्व-स्व (अपने अपने) अंश की प्रधानता (समवायिकारणता) रहती है। अर्थात् 'जलीयशरीर' में जल की, 'तैजसशरीर' में तेज की और 'वायवीयशरीर' में वायु की प्रधानता (समवायिकारणता) रहने से उन उन शरीरों को जलीय, तैजस, वायवीय शरीर कहा जाता है।

इति वायवीयशरीरनिरूपणम्।

अत्र यो विशेषस्तमाह—देहव्यापीति। शरीरव्यापकं स्पर्शग्राहकमिन्द्रियं त्वक्। तच्च वायवीयं, रूपादिषु मध्ये स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्, अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनपवनवत् ॥ ४२–४३ ॥

इति वायवीयेन्द्रियनिरूपणम्।

अत्रेति। अनित्यवायु का जो 'इन्द्रियसंज्ञक' भेद है, उसकी अधिष्ठानभूत (आश्रयभूत) त्वक् है। इसलिये 'त्वचि स्थितम् इन्द्रियं' त्वगिन्द्रियं कहा गया है। यद्यपि त्वगिन्द्रिय का आधारभूत यह शरीर है तथापि नख, केश, लोम आदि संयोगिद्रव्य होने के कारण उसके आधार नहीं हैं। उसमें 'सर्वशरीरवृत्तित्वादि' रूप जो विशेषता है, उसका निरूपण अब किया जा रहा है—देहव्यापीति। यह त्वगिन्द्रिय, शरीर के समस्त अवयवों पर रहती हुई स्पर्श का ज्ञान कराती है। शरीर के समस्त अवयव इस त्वक् से ढके रहते हैं। एवंच त्वगिन्द्रिय का लक्षण यह होगा—'शरीरत्वव्यापकत्वे सति इन्द्रियत्वं—त्वगिन्द्रियत्वम्। यह 'इन्द्रिय' वायवीय है। इस त्वगिन्द्रिय के वायवीय होने में

अनुमान-प्रमाण उपस्थित किया गया है—'तच्चेति।' यह त्वगिन्द्रिय 'वायु' का कार्य (वायुकार्य) होने से उसे वायवीय कहा गया है। उसके वायवीय होने में ग्रंथकार ने मुक्तावली में ही अनुमान का आकार बता दिया है। उस अनुमानप्रयोग में 'तच्च' (त्वगिन्द्रिय)– यह पक्ष है, 'वायवीयं'—यह साध्य है, 'रूपादिषु मध्ये स्पर्शस्यैव अभिव्यंजकत्वात्'—यह 'हेतु' है, और अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यंजक-व्यजनपवनवत्'—यह दृष्टान्त है। जैसे पंखे (व्यजन) का वायु (हवा) अंग के स्वेद—(पसीना) रूप जल में रहनेवाले शैत्य का ही ज्ञापक (अभिव्यंजक) होता है। अर्थात् पंखे की हवा, उस पसीने की गर्मी के रूप, आदि गुणों का ज्ञापक (अभिव्यंजक) नहीं होती, अपितु उस गर्मी के केवल 'शीतस्पर्श' रूपी गुण की ही ज्ञापक होती है। इस दृष्टान्त से यह नियम स्पष्ट होता है कि 'जो द्रव्य, रूपादिगुणों में से केवल 'स्पर्श' का ही ज्ञापक (अभिव्यंजक) हो उसे 'वायवीय' ही समझना चाहिये।' एवंच व्यजन-पवन (पंखे की हवा) जैसे वायुपरमाणुसमवेत है, वैसे ही त्वगिन्द्रिय भी वायुपरमाणुओं से आरब्ध है। वह त्वगिन्द्रिय, गरमी के रूपादिगुणों का ज्ञापक न होकर उसके (गरमी के) स्पर्शमात्र का ही ज्ञापक होता है, इस कारण वह (त्वगिन्द्रिय) वायवीय है, यह सिद्ध होता है ॥ ४३ ॥

॥ इति वायवीयेन्द्रियनिरूपणम् ॥

प्राणादिस्तु महावायुपर्यन्तो विषयो मतः ।
आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः ॥४४॥

शरीर के भीतर संचार करनेवाले प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान तथा नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय–ये दस वायु हैं। और बाहर के साधारण वायु से लेकर महावायु तक जो प्रलयकाल तक रहते हैं—वे सब वायवीय विषय हैं।

विषयं दर्शयति––प्राणादिरिति। यद्यप्यनित्यो वायुश्चतुर्विधः, तस्य चतुर्थी विधा प्राणादिरित्युक्तमाकरे, तथापि सङ्क्षेपादेव त्रैविध्यमुक्तम्। प्राणस्त्वेक एव हृदादिनानास्थानवशान्मुखनिर्गमनादिनानाक्रियावशाच्च नाना-संज्ञां लभत इति ॥

॥ इति पर्यवसितो वायुः ॥

प्राणवायु से महावायु तक सब वायु, विषय स्वरूप हैं। प्रशस्तपाद-भाष्य-कार ने अपने भाष्य में तथा अन्य ग्रन्थों में भी यह कहा है कि अनित्य वायु शरीर, इन्द्रिय, विषय तथा प्राण इन भेदों से चार प्रकार का होता है। इस कारिकावली ग्रन्थ में यद्यपि उस अनित्य वायु का चौथा प्रकार प्राणवायु है, यह नहीं कहा, तथापि उस प्राणवायु का अन्तर्भाव विषय में ही कर दिया गया है, क्योंकि यह कारिकावली ग्रन्थ अति संक्षिप्त है, इस कारण इसमें अनित्यवायु के तीन ही प्रकार (शरीर, इन्द्रिय और विषय) बताये हैं। वस्तुतः यह

प्राणवायु एक ही प्रकार का है तथापि हृदयादिस्थानों के भेद से और मुख से निर्गमन और पुनः उसमें प्रवेशन आदि क्रिया-भेद से वह पाँच संज्ञाओं को प्राप्त करता है। संज्ञाभेद से संज्ञी का भेद नहीं समझना चाहिये। संज्ञी वायु एक ही है, किन्तु उसकी संज्ञायें पाँच हैं। वे पाँच नाम (संज्ञायें) इस प्रकार हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। कहा भी है—'हृदि प्राणो गुदे ऽपानः, समानो नाभिमण्डले। उदानः कण्ठदेशे स्याद्, व्यानः सर्वशरीरगः॥' इस प्रकार स्थानभेद बताया गया है। तथा मुखनासिकाभ्यां निष्क्रमण-प्रवेशनात्-प्राणः।' मुख और नासिका के द्वारा निष्क्रमण और प्रवेशन क्रिया के कारण—उसे 'प्राण' कहते हैं। 'मलादीनामधोनयनात्—'अपानः' मल आदि की अधोनयन क्रिया के कारण—उसे 'अपान' कहते हैं। 'भुक्तस्य पाकार्थं जाठराग्नेः समुन्नयनात्—समानः।' भक्षित वस्तु का परिपाक करने के लिये जाठराग्नि की समुन्नयन क्रिया करने के कारण—उसे 'समान' कहते हैं। 'रसादेः ऊर्ध्वनयनात्—उदानः।' रसादि की ऊर्ध्वनयनक्रिया करने के कारण—उसे 'उदान' कहते हैं। नाडीमुखेषु वितननात्—व्यानः।' नाड़ियों के मुखभागों में वायु की वितनन (फैलने की) क्रिया के कारण—उसे 'व्यान' कहते हैं। इस प्रकार क्रियाभेद बताया गया है। अनित्यकार्यों की उत्पत्ति और विकास का क्रम संक्षेप में इस प्रकार समझना चाहिये—ईश्वर की चिकीर्षा से 'परमाणुओं' में क्रिया उत्पन्न होती है, तब परमाणुद्वयसंयोग होने पर 'द्वयणुक' उत्पन्न होता है। द्वयणुकोत्पत्ति में 'परमाणु' समवायिकारण है, 'परमाणुद्वयसंयोग' असमवायिकारण है, और परमेश्वर, उसका ज्ञान, इच्छा, उसकी कृति, काल, दिक्, प्रागभाव, अदृष्ट (धर्माधर्म), प्रतिबन्धकाभाव, ये सब निमित्तकारण हैं। कार्यमात्र के प्रति ये सब साधारणरूप से निमित्तकारण हुआ करते हैं। तब तीन द्वयणुकों से 'त्र्यणुक' उत्पन्न होता है, यहाँ भी पूर्ववत् द्वयणुकों को समवायिकारण, उनके संयोग को असमवायिकारण, ईश्वरेच्छादि को निमित्तकारण समझना चाहिये। इसी प्रकार सजातीय त्र्यणुकों में क्रिया, चार त्र्यणुकों से एक चतुरणुक, वे चतुरणुक भी असंख्य उत्पन्न होते हैं। तब पाँच चतुरणुक मिलकर एक स्थूलतर कार्य का आरम्भ होता है, तब स्थूलतर पाँच पंचाणु मिलकर एक स्थूलतम पञ्चाणुक-संज्ञक कार्य का आरम्भ करते हैं। इसी प्रकार पूर्वकार्य की अपेक्षया उत्तरोत्तर स्थूल की उत्पत्ति के क्रम से महती पृथ्वी, महान् जल, महान् तेज, महान् वायु उत्पन्न होता है। इस प्रकार उत्पन्न किये कार्य द्रव्यों की संजिहीर्षा (संहार करने की इच्छा) जब ईश्वर को होती है, तब उसकी इच्छा से ही परमाणुओं में क्रिया, क्रिया से परमाणुद्वयविभाग, तब दो परमाणुओं के संयोग का नाश, तब द्वयणुक का नाश, तब त्र्यणुक का, तब चतुरणुक का नाश, इस प्रकार महती पृथ्वी आदि का विनाश होता है। इसी को अवान्तर प्रलय कहते हैं। क्योंकि 'सर्वकार्यद्रव्यध्वंसोऽवान्तरप्रलयः'—यह अवान्तर प्रलय का लक्षण है।

और 'सर्वभावकार्यध्वंसो महाप्रलयः'—यह महाप्रलय का लक्षण है। अनित्य द्रव्य, अनित्यगुण, अनित्यकर्म को भावकार्य कहते हैं। प्राचीन नैयायिकों का कहना है कि असमवायिकारण के नाश से द्व्यणुक का नाश और समवायिकारण के नाश से त्र्यणुक का नाश होता है। किन्तु नवीन नैयायिक सर्वत्र असमवायिकारण के नाश से ही द्रव्य का नाश मानते हैं। पुनः सृष्टि के होने में 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'–(ऋ० १०।१९०।१-२-३) यह श्रुति-प्रमाण है। मीमांसक तो संसार-प्रवाह को अनादि और अनन्त मानते हैं। उनका कहना है कि प्रलय के होने में कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार वायवीय विषय का निरूपण समाप्त हुआ।

॥ इति वायुग्रन्थः ॥

आकाशस्येति। शब्द ही आकाश का विशेषगुण है। 'विशेष एव वैशेषिकः' यहाँ 'विशेष' शब्द से स्वार्थ में 'ठक्' प्रत्यय किया गया है। एवंच 'समवायेन शब्दाधिकरणत्वम्'––आकाशस्य लक्षणम्। समवायसम्बन्ध से शब्द के अधिकरण को आकाश कहते हैं।

आकाशं निरूपयति—आकाशस्येति। आकाशकालदिशामेकैकव्यक्तित्वादाकाशत्वादिकं न जातिः। किन्तु आकाशत्वं शब्दाश्रयत्वम्। वैशेषिक इति कथनं तु विशेषगुणान्तरव्यवच्छेदाय। एतेन प्रमाणमपि दर्शितम्। तथाहि, शब्दो विशेषगुणः चक्षुर्ग्रहणायोग्यबहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात् स्पर्शवत्। शब्दो द्रव्यसमवेतो गुणत्वात् संयोगवत् इत्यनुमानेन शब्दस्य द्रव्यसमवेतत्वे सिद्धे, शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुणः अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सत्यकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्वात् सुखवत्। पाकजरूपादौ व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम्। पटरूपादौ व्यभिचारवारणायाकारणगुणपूर्वकेति। जलपरमाणुरूपादौ व्यभिचारवारणाय प्रत्यक्षेति। शब्दो न दिक्कालमनसां गुणो विशेषगुणत्वात्। नात्मविशेषगुणो बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वाद्रूपवत्। इत्थं च शब्दाधिकरणं नवमं द्रव्यं गगननामकं सिध्यति।

न च वाय्ववयवेषु सूक्ष्मशब्दक्रमेण वायौ कारणगुणपूर्वकः शब्द उत्पद्यतामिति वाच्यम् (१) अयावद्द्रव्यभावित्वेन वायुविशेषगुणत्वाभावात् ॥४४॥

इत्याकाशे प्रमाणकथनम्।

आकाशं निरूपयति––आकाशनिष्ठविषयतानिरूपकं यल्लक्षणस्वरूपप्रामाण्यादिप्रकारकं ज्ञानं तदनुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान् ग्रन्थकार इति शब्दबोधः। आकाश, काल, दिक् ये एक-एक व्यक्ति हैं, इस कारण इनमें रहनेवाले आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व धर्म जातिरूप नहीं हो सकते। क्योंकि 'आकाशत्व' आदि धर्म एकव्यक्तिवृत्ति होने के कारण 'जाति' शब्द से नहीं कहे जाते, किन्तु उन्हें 'अखण्डोपाधि' कहते हैं।

शंका—'आकाशत्व' को जातिरूप न मानने पर उसका स्वरूप क्या होगा ?

समा०—'शब्दाश्रयत्वम् आकाशस्य लक्षणम्।' यहाँ पर 'आश्रयता' को

'समवायसम्बन्ध से कहा गया है। अतः जगदाधारत्वेन रूपेण काल में शब्दाश्रयता रहने पर भी अतिव्याप्ति नहीं है।

शब्दाश्रयत्व (शब्द का आधार होना) ही 'आकाशत्व' है, अर्थात् आकाश, शब्द का आश्रय है। कारिकाकार ने "शब्दो वैशेषिको गुणः" कहा है। शब्द में 'वैशेषिक' विशेषण देने का प्रयोजन यह है कि आकाश में शब्द से अतिरिक्त अन्य कोई विशेष गुण नहीं रहता, अर्थात् शब्द ही एक मात्र विशेष गुण रहता है। तथाच–समवायेन शब्दाधिकरणत्वम् अर्थात् 'शब्दगुणकत्वमाकाशत्वम्' इति आकाशलक्षणम्। 'शब्दवत्त्वम् आकाशत्वम्'—यह लक्षण नहीं कहना चाहिये। क्योंकि आकाश में शब्द की सदासर्वदा उपलब्धि नहीं होती। यदि आकाश का 'शब्दवत्त्वं' लक्षण कहें तो उसका अर्थ होगा 'सदासर्वदा शब्द वाला अर्थात् सदैव शब्दवत्त्वं'। क्योंकि 'नित्ययोग' अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय का विधान है। तथाहि— भूमनिन्दाप्रशंसासु 'नित्ययोगेऽतिशायने। संबन्धेऽस्ति विवक्षायाम्भवन्ति मतुबादयः। ऐसा होने से आकाश का 'शब्दवत्त्वम्' लक्षण असम्भवदोष से ग्रस्त हो जायगा। अतः 'समवायेन शब्दाधिकरणत्वमाकाशत्वम्' यही लक्षण करना उचित है। आकाश का विशेषगुण शब्द है--यह कहने से 'आकाश' संज्ञक एक निराले द्रव्य के अस्तित्व में अनुमान प्रमाण के होने की सूचना दी गई है। 'तथाहीति।' अनुमान प्रयोग कर रहे हैं—शब्दो, गुणः, चक्षुर्ग्रहणायोग्यबहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात्, स्पर्शवत्।'—शब्द विशेषगुण है, स्पर्श की तरह, क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा ग्रहण के अयोग्य किन्तु बहिरिन्द्रिय (श्रोत्रेन्द्रिय, त्वगिन्द्रिय आदि) से ग्रहण करने योग्य शब्दत्वजातिविशिष्ट होने से। इस अनुमान में स्वरूपाऽसिद्धिदोष न आ सके इसलिये अवान्तर अनुमानों को भी प्रदर्शित करना आवश्यक है। उपर्युक्त अनुमान में 'स्पर्शवत्' दृष्टान्त दिया है। स्पर्श में चक्षुरिन्द्रिय की अगोचर तथा बहिरिन्द्रिय त्वगिन्द्रिय की गोचर जाति 'स्पर्शवत्' जाति रहती है, और वह 'स्पर्श' गुण है। इस दृष्टांत से यह सिद्ध होता है कि जो चक्षुरिन्द्रिय की अगोचर तथा बाह्येन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय की गोचर जाति 'शब्दत्व' शब्द में रहने से 'शब्द' गुण है, यह प्रथम अनुमान किया गया है। इस प्रकार शब्द में गुणत्व सिद्ध किया है।

अब शब्द को आकाश का गुण न माननेवाले वैयाकरण तथा मीमांसकों के मत का खण्डन करने के लिये नैयायिक एक दूसरा अनुमान प्रदर्शित कर रहा है-- इस अनुमान के द्वारा 'शब्द' में द्रव्याश्रितत्व सिद्ध किया जायगा— 'शब्दो द्रव्यसमवेत' इति। अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—'शब्दः द्रव्यसमवेतः गुणत्वात् संयोगवत्'। इसमें 'शब्द' पक्ष है, 'द्रव्यसमवेतत्व' साध्य है, 'गुणत्वात्' हेतु है, 'संयोगवत्' दृष्टान्त है।

अथवा 'रूपवत्' को भी दृष्टांत किया जा सकता है। जैसे 'संयोग' अथवा 'रूप' गुण होने के कारण 'समवायसम्बन्ध' से घटादि द्रव्य में समवेत (सम्बद्ध)

रहता है, वैसे ही शब्द भी 'गुण' होने से द्रव्यसमवेत होता है। इस अनुमान से यह सिद्ध हो जाता है कि जो गुण हो वह किसी द्रव्य में 'समवायसम्बन्ध' से रहता ही है। इस नियम के अनुसार शब्द भी गुण होने के कारण किसी द्रव्य में अवश्य ही समवायसम्बन्ध से रहेगा, यह सिद्ध होता है।

अब 'शब्द' किस द्रव्य में समवेत है? यह भी अनुमान से सिद्ध करेंगे, अर्थात् अनुमान के द्वारा जिस द्रव्य की सिद्धि की जा रही है, उस आकाशद्रव्य के बिना अन्य किसी द्रव्य में 'शब्द' संज्ञक गुण नहीं रहता, यह सिद्ध करेंगे। 'शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुणः अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सति अकारणगुणपूर्वक-प्रत्यक्षत्वात् सुखवत्।' इसमें 'शब्द' पक्ष है, 'स्पर्शवद्विशेषगुणत्वाभाव' साध्य है, 'अग्निसंयोगा·· ··········प्रत्यक्षत्वात्' हेतु है। इस अनुमान के द्वारा यह बताया है कि जैसे 'सुख' (आत्मा का एक विशेष गुण) पाकजन्य (अग्निसंयोग-रूप असमवायिकारण से उत्पन्न होनेवाला) नहीं है, और अपने समवायिकारण (आकाश में) गुण (असमवायिकारण) के योग से भी उत्पन्न नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष (मानस प्रत्यक्ष) का विषय है, तथापि वह (सुख) स्पर्शवान् किसी द्रव्य का विशेष गुण नहीं है। इस दृष्टांत से यह नियम सिद्ध होता है कि जो 'गुण' पाकजन्य न होकर अपने समवायिकारण में अथवा अपने समवायिकारण के अवयव में 'गुण' (असमवायिकारण) के योग से उत्पन्न नहीं होता तथापि प्रत्यक्ष (इन्द्रिय गोचर) होनेवाला वह (गुण) स्पर्शवद् द्रव्य का विशेषगुण भी नहीं होता। इस नियम के अनुसार यह सिद्ध होता है कि 'शब्द' पाकजन्य नहीं है, तथा अपने समवायिकारण (आकाश) में गुण के योग से (असमवायिकारण के योग से) उत्पन्न नहीं होता और प्रत्यक्ष (श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष विषय) होने के कारण वह (शब्द) स्पर्शवाले द्रव्य का विशेषगुण नहीं है।

तात्पर्य यह है कि 'शब्द' स्पर्शवद्द्रव्य (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) का विशेष गुण नहीं है क्योंकि 'अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सति' यह कहा है। अर्थात् पृथ्वी आदि चार द्रव्यों के जो रूप, रसादि विशेषगुण हैं उनमें से कुछ तो पाकजन्य हैं अर्थात् उनकी उत्पत्ति अग्निसंयोगरूप असमवायिकारण से होती है। इस कारण उन्हें 'अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणक' कहा जाता है। पृथिवी आदि के रूप-रसादि गुण, पाक (अग्निसंयोग या तेजःसंयोग) से उत्पन्न होने के कारण परिवर्तनशील हैं। जैसे 'घट' में अग्निसंयोग होने से उसका पूर्वरूप (श्यामरूप) नष्ट होता है, और अन्यरूप (रक्तरूप) उत्पन्न होता है, इसलिये घट के रक्तरूप के प्रति 'अग्निसंयोग' असमवायिकारण है। किन्तु यह स्थिति 'शब्दगुण' में नहीं है कि पूर्वशब्द का अग्निसंयोग से नाश होकर शब्दान्तर उत्पन्न होता हो। अतः स्पर्श-वाले पृथ्वी आदि चारों द्रव्यों में से किसी का भी विशेषगुण वह (शब्द) नहीं है। दूसरी बात यह है कि पृथ्वी आदि चारों द्रव्यों के 'विशेषगुण' कारणगुणपूर्वक होते हैं, क्योंकि उन्हीं कार्यगुणों को 'कारणगुणपूर्वक' कहते हैं जो कारणगुणों के द्वारा

'समवायसम्बन्ध से कहा गया है। अतः जगदाधारत्वेन रूपेण काल में शब्दाश्रयता रहने पर भी अतिव्याप्ति नहीं है।

शब्दाश्रयत्व (शब्द का आधार होना) ही 'आकाशत्व' है, अर्थात् आकाश, शब्द का आश्रय है। कारिकाकार ने "शब्दो वैशेषिको गुणः" कहा है। शब्द में 'वैशेषिक' विशेषण देने का प्रयोजन यह है कि आकाश में शब्द से अतिरिक्त अन्य कोई विशेष गुण नहीं रहता, अर्थात् शब्द ही एक मात्र विशेष गुण रहता है। तथाच-समवायेन शब्दाधिकरणत्वम् अर्थात् 'शब्दगुणकत्वमाकाशत्वम्' इति आकाशलक्षणम्। 'शब्दवत्त्वम् आकाशत्वम्'—यह लक्षण नहीं कहना चाहिये। क्योंकि आकाश में शब्द की सदासर्वदा उपलब्धि नहीं होती। यदि आकाश का 'शब्दवत्त्वं' लक्षण कहें तो उसका अर्थ होगा 'सदासर्वदा शब्द वाला अर्थात् सदैव शब्दवत्त्वं'। क्योंकि 'नित्ययोग' अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय का विधान है। तथाहि—भूमनिन्दाप्रशंसासु 'नित्ययोगेऽतिशायने। संबन्धेऽस्ति विवक्षायाम्भवन्ति मतुबादयः। ऐसा होने से आकाश का 'शब्दवत्त्वम्' लक्षण असम्भवदोष से ग्रस्त हो जायगा। अतः 'समवायेन शब्दाधिकरणत्वमाकाशत्वम्' यही लक्षण करना उचित है। आकाश का विशेषगुण शब्द है--यह कहने से 'आकाश' संज्ञक एक निराले द्रव्य के अस्तित्व में अनुमान प्रमाण के होने की सूचना दी गई है। 'तथाहीति।' अनुमान प्रयोग कर रहे हैं—शब्दो, गुणः, चक्षुर्ग्रहणायोग्यबहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात्, स्पर्शवत्।'—शब्द विशेषगुण है, स्पर्श की तरह, क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा ग्रहण के अयोग्य किन्तु बहिरिन्द्रिय (श्रोत्रेन्द्रिय, त्वगिन्द्रिय आदि) से ग्रहण करने योग्य शब्दत्वजातिविशिष्ट होने से। इस अनुमान में स्वरूपाऽसिद्धिदोष न आ सके इसलिये अवान्तर अनुमानों को भी प्रदर्शित करना आवश्यक है। उपर्युक्त अनुमान में 'स्पर्शवत्' दृष्टान्त दिया है। स्पर्श में चक्षुरिन्द्रिय की अगोचर तथा बहिरिन्द्रिय त्वगिन्द्रिय की गोचर जाति 'स्पर्शवत्' जाति रहती है, और वह 'स्पर्श' गुण है। इस दृष्टांत से यह सिद्ध होता है कि जो चक्षुरिन्द्रिय की अगोचर तथा बाह्येन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय की गोचर जाति 'शब्दत्व' शब्द में रहने से 'शब्द' गुण है, यह प्रथम अनुमान किया गया है। इस प्रकार शब्द में गुणत्व सिद्ध किया है।

अब शब्द को आकाश का गुण न माननेवाले वैयाकरण तथा मीमांसकों के मत का खण्डन करने के लिये नैयायिक एक दूसरा अनुमान प्रदर्शित कर रहा है-- इस अनुमान के द्वारा 'शब्द' में द्रव्याश्रितत्व सिद्ध किया जायगा— 'शब्दों द्रव्यसमवेत' इति। अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—'शब्दः द्रव्यसमवेतः गुणत्वात् संयोगवत्'। इसमें 'शब्द' पक्ष है, 'द्रव्यसमवेतत्व' साध्य है, 'गुणत्वात्' हेतु है, 'संयोगवत्' दृष्टान्त है।

अथवा 'रूपवत्' को भी दृष्टांत किया जा सकता है। जैसे 'संयोग' अथवा 'रूप' गुण होने के कारण 'समवायसम्बन्ध' से घटादि द्रव्य में समवेत (सम्बद्ध)

रहता है, वैसे ही शब्द भी 'गुण' होने से द्रव्यसमवेत होता है। इस अनुमान से यह सिद्ध हो जाता है कि जो गुण हो वह किसी द्रव्य में 'समवायसम्बन्ध' से रहता ही है। इस नियम के अनुसार शब्द भी गुण होने के कारण किसी द्रव्य में अवश्य ही समवायसम्बन्ध से रहेगा, यह सिद्ध होता है।

अब 'शब्द' किस द्रव्य में समवेत है ? यह भी अनुमान से सिद्ध करेंगे, अर्थात् अनुमान के द्वारा जिस द्रव्य की सिद्धि की जा रही है, उस आकाशद्रव्य के बिना अन्य किसी द्रव्य में 'शब्द' संज्ञक गुण नहीं रहता, यह सिद्ध करेंगे। 'शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुणः अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सति अकारणगुणपूर्वक-प्रत्यक्षत्वात् सुखवत्।' इसमें 'शब्द' पक्ष है, 'स्पर्शवद्विशेषगुणत्वाभाव' साध्य है, 'अग्निसंयोगा·· ··········प्रत्यक्षत्वात्' हेतु है। इस अनुमान के द्वारा यह बताया है कि जैसे 'सुख' (आत्मा का एक विशेष गुण) पाकजन्य (अग्निसंयोग-रूप असमवायिकारण से उत्पन्न होनेवाला) नहीं है, और अपने समवायिकारण (आकाश में) गुण (असमवायिकारण) के योग से भी उत्पन्न नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष (मानस प्रत्यक्ष) का विषय है, तथापि वह (सुख) स्पर्शवान् किसी द्रव्य का विशेष गुण नहीं है। इस दृष्टांत से यह नियम सिद्ध होता है कि जो 'गुण' पाकजन्य न होकर अपने समवायिकारण में अथवा अपने समवायिकारण के अवयव में 'गुण' (असमवायिकारण) के योग से उत्पन्न नहीं होता तथापि प्रत्यक्ष (इन्द्रिय गोचर) होनेवाला वह (गुण) स्पर्शवद् द्रव्य का विशेषगुण भी नहीं होता। इस नियम के अनुसार यह सिद्ध होता है कि 'शब्द' पाकजन्य नहीं है, तथा अपने समवायिकारण (आकाश) में गुण के योग से (असमवायिकारण के योग से) उत्पन्न नहीं होता और प्रत्यक्ष (श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष विषय) होने के कारण वह (शब्द) स्पर्शवाले द्रव्य का विशेषगुण नहीं है।

तात्पर्य यह है कि 'शब्द' स्पर्शवद्द्रव्य (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) का विशेष गुण नहीं है क्योंकि 'अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सति' यह कहा है। अर्थात् पृथ्वी आदि चार द्रव्यों के जो रूप, रसादि विशेषगुण हैं उनमें से कुछ तो पाकजन्य हैं अर्थात् उनकी उत्पत्ति अग्निसंयोगरूप असमवायिकारण से होती है। इस कारण उन्हें 'अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणक' कहा जाता है। पृथिवी आदि के रूप-रसादि गुण, पाक (अग्निसंयोग या तेजःसंयोग) से उत्पन्न होने के कारण परिवर्तनशील हैं। जैसे 'घट' में अग्निसंयोग होने से उसका पूर्वरूप (श्यामरूप) नष्ट होता है, और अन्यरूप (रक्तरूप) उत्पन्न होता है, इसलिये घट के रक्तरूप के प्रति 'अग्निसंयोग' असमवायिकारण है। किन्तु यह स्थिति 'शब्दगुण' में नहीं है कि पूर्वशब्द का अग्निसंयोग से नाश होकर शब्दान्तर उत्पन्न होता हो। अतः स्पर्श-वाले पृथ्वी आदि चारों द्रव्यों में से किसी का भी विशेषगुण वह (शब्द) नहीं है। दूसरी बात यह है कि पृथ्वी आदि चारों द्रव्यों के 'विशेषगुण' कारणगुणपूर्वक होते हैं, क्योंकि उन्हीं कार्यगुणों को 'कारणगुणपूर्वक' कहते हैं जो कारणगुणों के द्वारा

उत्पन्न होते हैं। जैसे–'पट का रूप', अर्थात् 'पट' का कारण जो 'तन्तु' उसमें जो रूप होगा उसी के अनुरूप 'पट का रूप' होगा। शब्द में ऐसी बात नहीं है क्योंकि 'शब्द' की उत्पत्ति में न तो 'अग्निसंयोग असमवायिकारण है और न उसकी (शब्द की) उत्पत्ति कारणगुणपूर्वक' ही है। इसलिये शब्द में 'अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणकत्वाभावविशिष्ट-अकारणगुणपूर्वकत्वविशिष्ट प्रत्यक्षत्व' हेतु विद्यमान है, क्योंकि शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है।

'सप्तम्यन्तं विशेषणम्' इस नियम के अनुसार 'अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणकत्वाभावे सति'–यह 'हेतु' का विशेषण है। इसका विग्रह इस प्रकार करना चाहिये–'अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणं यस्य सः –अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणकः, तस्य भावः तत्त्वम्', तदभावे सति। उसी तरह 'अकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्वात्'––कारणगुणपूर्वकम्प्रत्यक्षं यस्य तत्कारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षम्, न कारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षं, तदकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षम्, तस्य भावः, तस्मात् अकारणगुणपूर्वकत्वे सति प्रयक्षत्वात् इत्यर्थः।

तब व्याप्ति का आकार यह होगा—'यत् अग्निसंयोगरूपाऽसमवायिकारणकत्वाऽभावविशिष्टाऽकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षं, तन्न स्पर्शवद्विशेषगुणः।' यदि हम केवल 'विशेष्यभाग' को ही कहें और विशेषणभाग को न कहें तो पाकजरूपादि में हेतु का व्यभिचार (अतिव्याप्ति) होगा। क्योंकि पृथ्वीनिष्ठपाकजरूपादिचतुष्टय में 'अकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्व' तो है, किन्तु 'अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणकत्व' नहीं है। यदि केवल 'विशेषणभाग' को ही रखें तो 'पटरूप' आदि में हेतु का व्यभिचार (अतिव्याप्ति) होगा। क्योंकि 'पटरूप' आदि में कारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्व है। क्योंकि 'पृथ्वी' में अपाकजरूप आदि कारणगुणोत्पन्न हुआ करते हैं। 'कारणगुणोत्पन्नत्व' का अर्थ है---'स्वाश्रयसमवायिसमवेतगुणजन्यत्व'। 'स्व' पद से 'पट का रूप' उसका आश्रय 'पट' उसका 'समवायितन्तु' उसमें 'समवेतगुणतन्तुरूप' ही है। उस असमवायिकारणभूत तन्तुरूप से 'पटरूप' पैदा होता है। इसलिये पटादिपृथ्वीनिष्ठ 'अपाकजरूपादि' को 'कारणगुणोत्पन्न' कहते हैं। इसलिये इन अपाकजरूपादि का प्रत्यक्ष 'कारणगुणपूर्वक' बताया गया है। एवंच 'पटरूप' आदि में भी अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणकत्वाभाव' है। पटरूप आदि में 'अग्निसंयोग' को 'असमवायिकारण' नहीं माना जाता। यदि उसे 'पटरूप' के प्रति असमवायिकारण कहा जाय तो उस पट का दाह ही हो जायगा। अतः पटरूप के प्रति 'तन्तुरूप' को ही असमवायिकारण माना जाता है। अतः विशेषण, विशेष्य दोनों दलों की आवश्यकता है।

अभिप्राय यह है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु—ये चार द्रव्य 'स्पर्श' गुणवाले हैं, "चत्वारिस्पर्शवन्ति हि" यह साधर्म्य-वैधर्म्य प्रकरण में कह चुके हैं। 'स्पर्शगुण' वाले द्रव्यों का जो 'विशेषगुण'—जैसे, पृथ्वी का 'गन्ध', जल का 'शीतस्पर्श', तेज का 'उष्णस्पर्श', वायु का 'अनुष्णाशीतस्पर्श'। उक्त चारों द्रव्यों के जिस-जिस

विशेषगुण का प्रत्यक्ष होता है, वह कारणगुणपूर्वक ही हुआ करता है।' 'शब्द' का वैसा प्रत्यक्ष नहीं है, यदि वैसा होता तो गन्धादि के समान ही होता। तब उसे (शब्द को) भी पृथ्वी आदि चार द्रव्यों में से किसी द्रव्य का गुण कहा जाता। किन्तु 'शब्द' तो अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणत्वाभावविशिष्टाऽकारणपूर्वकप्रत्यक्षत्वधर्मवान् है, अतः वह (शब्द) स्पर्शगुणवाले द्रव्यों में से किसी का भी विशेष गुण नहीं है, यह समझ में आता है। वह (शब्द) तो उक्त चारों द्रव्यों से अतिरिक्त किसी विलक्षण द्रव्य का ही विशेषगुण है। वैशेषिक-सूत्रकार ने भी कहा है—'कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्छब्दः स्पर्शवतामगुणः'–(वै. सू. २।१।२५)। दण्डे से बजाये जाने पर (अभिघात करने पर) भेरी आदि (कार्य) में शब्द का प्रादुर्भाव होता है, तथापि तद्भिन्न घट, पटादि अन्य कार्यों में उसका (शब्द का) प्रादुर्भाव न होने से उसे (शब्द को) स्पर्शवाले पृथ्वी, जल, तेज, वायुसंज्ञक द्रव्यो में से किसी का भी विशेषगुण नहीं कहा जा सकता।

दूसरी बात यह भी है कि 'शब्द' अयावद्द्रव्यभावी है, अर्थात् जब तक द्रव्य की स्थिति है, तब तक उसकी (शब्द की) स्थिति नहीं रहती। जैसे—पृथ्वी के गन्धादिगुण, जब तक पृथ्वी है तब तक रहते हैं। इसी कारण उन्हें (गन्धादिगुणों को) यावद्द्रव्यभावी कहा जाता है। 'शब्द' में वह बात नहीं है, 'शब्द' तो मन्द, मन्दतर, मन्दतम होता हुआ धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है, किन्तु उसका आश्रयभूत 'आकाशद्रव्य' तो बराबर बना रहता है, वह नष्ट नहीं होता। अतः पृथ्वी आदि द्रव्यगत गन्धादि गुणों के विपरीत धर्मवान् यह (शब्द) है, इसलिये पृथ्वी आदि चार द्रव्यों में से किसी का भी उसे (शब्द को) विशेष गुण नहीं कहा जा सकता।

उक्त अनुमान में हेतुगत पदों का प्रयोजन बताते हैं–पाकजेति। घट के पाकजरूप में व्यभिचार न हो इसलिये 'अकारणगुणपूर्वकत्वे सति' यह सत्यन्त पद दिया है। अन्यथा 'घट' का जो पाकजरूप है, वह 'कारणगुणपूर्वक' नहीं है, क्योंकि कारण के गुणों के द्वारा जहाँ कार्य में गुण उत्पन्न होते हैं उन्हें ही कारणगुणपूर्वक कहते हैं।

घट कार्य के रक्तरूपादि गुणों की उत्पत्ति में, घट का कारण जो 'कपाल' है, उसके गुण कारण नहीं है, बल्कि 'पाक' कारण है। इसलिये पाकजरूपादि में 'अकारणगुणपूर्वकत्व' और 'प्रत्यक्षत्व' दोनों हैं। अतः 'हेतु' तो है, किन्तु 'साध्य' नहीं है। एवंच विलक्षण तेजःसंयोगरूप पाक से जन्य पार्थिवरूपरसादि में 'स्पर्शवद्विशेषगुणत्वाभाव' रूप साध्य के न होने से वे पार्थिवरूपरसादि 'साध्यभावाधिकरण हुए, उस साध्याभावाधिकरण में 'अकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्व' हेतु के विद्यमान होने से व्यभिचार हो गया। उसके निवारणार्थ 'अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणकत्वाऽभाववत्वे सति' यह सत्यन्त पद दिया गया है। तब पाकजरूपादि में

सत्यन्त पद नहीं है। वे 'अग्निसंयोगासमवायिकारणक' ही हैं। पटरूपादि में व्यभिचार का वारण करने के लिये 'अकारणगुणपूर्वक' कहा गया है। क्योंकि 'पटरूप' में असमवायिकारण 'अग्निसंयोग' नहीं है। उसे असमवायिकारण कहें तो 'पट' ही जल जायगा। अतः 'पटरूप' में असमवायिकारण 'तन्तुरूप' को ही कहा जाता है। एवंच साध्याभावाधिकरण जो 'पटरूप' है, उसमें 'हेतु' के रहने से व्यभिचार होता है। उसके दूर करने के लिये 'अकारणगुणपूर्वक' जोड़ दिया है। उसके जुड़ने से 'पटरूप' तो तन्तुरूपपूर्वक है, अर्थात् तन्त्वात्मक कारण का जो गुण (रूप) तत्पूर्वक ही पट का रूप है, अतः 'पररूप' को 'अकारणगुणपूर्वक नहीं कह सकते। इसलिये व्यभिचार नहीं है।

जलपरमाणुरूप आदि में व्यभिचार निवारणार्थ 'प्रत्यक्ष' पद दिया गया है। क्योंकि जल और तेज के परमाणुरूप में 'अग्निसयोगाऽसमवायिकारणकत्वाऽभावविशिष्टाऽकारणगुणपूर्वकत्व' धर्म रहता है। तब 'हेतु' तो रह गया किन्तु 'साध्य' नहीं रहा अर्थात् 'हेतु का सत्त्व' और 'साध्य' का 'असत्त्व' होने से व्यभिचार हो गया। हेतु में 'प्रत्यक्ष' पद के देने से व्यभिचार दूर हो गया, क्योंकि जल या तेज के परमाणुरूप का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता, अर्थात् जल या तेजःपरमाणुरूप में प्रत्यक्ष-विषयता नहीं है, इसलिये व्यभिचार नहीं है।

शंका—शब्द को पृथिव्यादिचतुष्टय का विशेषगुण यदि नहीं कह सकते तो न कहें, किन्तु दिक्, काल, मनस् (मन) का उसे (शब्द को) विशेष गुण कहा जाय तो क्या हानि है?

समा०—'शब्दो न दिक्कालमनसामिति।' एक नियम है कि 'यो लौकिकसंयुक्तसमवायादिसम्बन्धेन इन्द्रियग्राह्यः, अस्ति च तेनैव सम्बन्धेन द्वीन्द्रियग्रहणाऽयोग्यत्वधर्मवान् गुणत्वव्याप्यजातिमांश्च स विशेषगुण इत्युच्यते'।

जो लौकिक संयुक्त-समवायादिसम्बन्ध से इन्द्रियग्राह्य होता है, और उसी सम्बन्ध से द्वीन्द्रियग्रहणाऽयोग्यत्वधर्मवान् तथा गुणत्वव्याप्यजातिमान् होता है उसे 'विशेषगुण' कहते हैं। इस नियम के अनुसार शब्द को विशेष गुण सिद्ध करने में अनुमान इस प्रकार होगा—'शब्दः विशेषगुणः लौकिकप्रत्यासत्त्या इन्द्रियग्राह्यत्वे सति लौकिकप्रत्यासत्त्या द्वीन्द्रियग्रहणयोग्यताराहित्ये च सति गुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वात्'। एवंच दिक्, काल, मन में कोई भी विशेषगुण नहीं रहता। दिक्, काल, मन तीनों का विशेषगुण 'शब्द' नहीं है, इसे अनुमान के द्वारा बता रहे हैं—'शब्दः दिक्कालमनोगुणत्वाभाववान् विशेषगुणत्वात् रूपवत्।' 'शब्द' पक्ष है, 'दिक्कालमनोगुणत्वाभाव' साध्य है, 'विशेषगुणत्वात्' हेतु है, 'रूपवत्' दृष्टान्त है। जैसे 'रूप' एक विशेषगुण है, और वह उक्त तीनों द्रव्यों का गुण नहीं है।' उसी तरह 'शब्द' भी एक विशेषगुण है, अतः वह भी उक्त तीनों द्रव्यों का गुण नहीं हो सकता।

शंका—शब्द को दिक्, काल और मन तीनों का विशेषगुण यदि नहीं मान सकते तो मत मानिये, किन्तु उसे आत्मा का विशेष गुण क्यों नहीं मानते ?

समा०—नात्मविशेषगुण इति । 'शब्दः आत्मविशेषगुणत्वाभाववान् बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वात् रूपवत् ।' 'शब्द' पक्ष है, आत्मविशेषगुणत्वाभाव' साध्य हैं, 'बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वात्' हेतु है । 'रूपवत्' दृष्टान्त है । जैसे—रूप बहिरिन्द्रिय-जन्यप्रत्यक्षत्व धर्मवाला होने से 'आत्मा' का गुण नहीं कहलाता, उसी तरह शब्द को भी बहिरिन्द्रिय (श्रोत्र) से ग्राह्य (प्रत्यक्ष) होने के कारण 'आत्मा' का गुण नहीं कह सकते । आत्मा के जो इच्छा आदि विशेषगुण कहे जाते हैं उनका बहिरिन्द्रिय से कभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता । इस रीति से परिशेषानुमान के द्वारा शब्द के अधिकरणस्वरूप नवमद्रव्य 'आकाश' की सिद्धि हो जाती है । परिशेष का अर्थ है—'प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्र अप्रसंगात् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः ।' अतः परिशेषानुमान उसे कहते हैं कि जहाँ प्राप्ति की सम्भावना रहने पर निषेध किया जाय और उससे भिन्न स्थल में अप्राप्ति हो, तब बचे हुए शेष विषय का जो अनुमान किया जाता है, उसे परिशेषानुमान कहते हैं । एवंच अनुमान प्रयोग यह होगा—'शब्दः' पृथिव्याद्यष्ट-द्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितः अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति द्रव्याश्रितत्वात् ।' 'शब्द' गुण है यह पहले सिद्ध कर ही चुके हैं, अतः उसे किसी द्रव्य के आश्रित रहना ही होगा । क्योंकि द्रव्य के बिना गुण की स्थिति हो ही नहीं सकती । किन्तु 'रूप' के तुल्य यह 'शब्द' नहीं है, जिससे पृथ्वी आदि द्रव्य के आश्रित हो सके, यह पहिले कह चुके हैं । गुण, कर्म आदि को 'शब्द' का आश्रय कहना तो सम्भव ही नहीं हो सकता । क्योंकि गुण, कर्म, कभी गुण, कर्म के आश्रय नहीं हुआ करते, अपितु गुण, कर्म का आश्रय तो 'द्रव्य' ही होता है । एवंच पृथिव्यादि आठ द्रव्यों के अतिरिक्त बचा हुआ जो द्रव्य हो, वही सम-वायसंबंध से 'शब्द' का आश्रय हो सकता है । वही 'आकाश' संज्ञक नवमद्रव्य है ।

शंका—'शब्दः न स्पर्शवद्विशेषगुणः' इस पूर्वोक्त अनुमान में बाध तथा स्वरूपासिद्धि क्यों नहीं हो पाती ? 'शब्द' को हम वायु का गुण कहेंगे । एवंच—वायु के अवयवभूत परमाणु, द्व्यणुकादिकों में जो सूक्ष्म शब्द रहता है, वही क्रमशः कार्यरूप त्रसरेणु आदि महावायु में शब्द को उत्पन्न करेगा । तब उस कार्यात्मक शब्द को 'कारणगुण-पूर्वक' कहना ही होगा । अतः हेतु में अकारणगुणपूर्वकत्व न होने से वह (हेतु) स्वरूपाऽसिद्धि दोष से दूषित हो जाता है । और वह शब्द, स्पर्शवान् वायु का विशेषगुण होने से 'विशेषगुणत्वाभाव' रूप साध्य का शब्द में 'बाध' भी है ।

समा०—अयावदिति । पृथ्वी से उत्पन्न होनेवाले गन्धादिगुण यावद् द्रव्यभावी[1]

१. यावद्द्रव्यभावित्वं नाम यावद्द्रव्यस्थितिकालस्थितिकत्वम् । द्रव्यस्थिति-कालपर्यन्तं यस्य स्थितिः, असौ यावद्द्रव्यभावी । यथा पृथिव्या गन्धादिगुणा उत्पद्यमाना यावत् कार्यस्थायिनो यावद्द्रव्यभाविन इत्युच्यन्ते । शब्दस्तु न तथा,

रहते हैं, किन्तु 'शब्द' यावद् द्रव्यभावी नहीं रहता। वह तो धीरे धीरे नष्ट हो जाता है, किन्तु उसका आश्रयभूत आकाश का नाश नहीं होता। इसलिये पृथिव्यादि के गन्धादिगुणों से विपरीत धर्मवाला शब्द, यावद् द्रव्यभावी नहीं है, किन्तु अयावद् द्रव्यभावी होने से (आश्रयनाशाऽजन्य नाशप्रतियोगी होने से अर्थात् त्रिक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगी होने से) वह (शब्द) वायु का गुण नहीं है। तात्पर्य यह है कि जो गुण जिस अनित्य द्रव्य का होता है, उस द्रव्य का विनाश होने पर उस गुण का भी नाश हो जाता है'—यह नियम है। यदि हम शब्द को वायु का गुण मान लें तो वायु का विनाश होने पर शब्द का भी विनाश मानना पड़ेगा। इसलिये शब्द को वायु का गुण मानना ठीक नहीं है। अनुमान इस प्रकार होगा—'शब्दः, वायुविशेषगुणत्वाऽभाववान्, आश्रयनाशाऽजन्यनाशप्रतियोगित्वात् ज्ञानवत्'। अतः शब्द को आकाश का ही गुण मानना चाहिये। तब आकाश[1] के नित्य और निरवयव होने से उसमें रहनेवाला शब्द 'असमवायिकारण' से उत्पन्न नहीं होता, यह स्पष्ट हो जाता है॥ ४४॥

इत्याकाशे प्रमाणकथनम्।

किन्तु मन्दमन्दतरमन्दतमादितारतम्य-विशिष्टः शनैः शनैः विनष्टो भवति, अस्याश्रयो द्रव्यमाकाशस्तु न नश्यति।

१. 'शब्दसमवायिकारणम्'–आकाशः। 'पुंस्याकाशविहायसी' इस अमरवचन से 'आकाश' शब्द पुंल्लिङ्ग है। जो द्रव्य शब्द का समवायिकारण हो, उसे 'आकाश' कहते हैं। 'पृथ्वी' आदि के समान 'आकाश' अनित्य नहीं है, किन्तु वह नित्य, एक तथा विभु है। यद्यपि 'घटाकाशः' 'मठाकाशः' ये आकाश के भेद प्रतीत होते हैं, किन्तु वे वास्तविक न होकर उपाधिकृत हैं। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः'—यह आत्मा आकाश के समान सर्वगत (विभु) और नित्य है, इस श्रुति से भी आकाश का विभुत्व तथा नित्यत्व सिद्ध होता है। सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगी विभुः'—जो द्रव्य सब मूर्त द्रव्यों के साथ संयोग सम्बन्ध से रहता हो उसे विभु कहते हैं। 'परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वमूर्तत्वम्' अथवा 'क्रियाश्रयत्वं मूर्तत्वम्' पृथ्वी, जल, तेज, वायु, मन—इन पाँच द्रव्यों का नाम मूर्त है। परममहत् परिमाणवाले आकाश, काल, दिक् आत्मा हैं, उनमें न रहनेवाले परिमाण का नाम 'परिच्छिन्नपरिमाण' है। 'परिमाण' पृथ्वी आदि पाँच द्रव्यों में रहता है, तद्वत्त्व का इन्हीं पाँचों में होना ही इनमें 'मूर्तत्व' है। अथवा कर्मरूपक्रिया समवायसम्बन्ध से पृथ्वी आदि इन्हीं पाँचों में रहती है, अतः क्रियावत्त्वरूप मूर्तत्त्व भी इनमें है।

शंका—'आत्मन आकाशः संभूतः' इस श्रुति में आकाश की आत्मा से उत्पत्ति कही गई है, किन्तु अनित्य (जन्य) पदार्थ की ही उत्पत्ति होती है, अतः आकाश भी अनित्य है, यह प्रतीत होता है।

समा०— उपर्युक्त श्रुति में 'संभूत' पद का अर्थ अभिव्यक्ति है। जैसे— मीमांसकों के मत में वर्णात्मक नित्य शब्द की कण्ठादि स्थानों से अभिव्यक्ति मानी गई है, वैसे ही हम भी अभिव्यक्ति मानते हैं।

उद्भूतरूप तथा स्पर्श के अभाव में 'आकाश' की प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्धि नहीं हो सकती। अतः उसके (आकाश के) अस्तित्व में अनुमान प्रमाण दिखाते हैं-- 'शब्दः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितः अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति द्रव्याश्रितत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा रूपम्'। शब्दगुण, पृथ्वी आदि अष्ट (आठ) द्रव्यों से भिन्न किसी द्रव्य के आश्रित होने योग्य है। जैसे—रूपगुण, पृथ्वी आदि अष्टद्रव्यों से भिन्न किसी द्रव्य के आश्रित नहीं है, किन्तु अष्टद्रव्यान्तर्गत पृथ्वी, जल, तेज के ही आश्रित है। अब उपर्युक्त अनुमानगत प्रयुक्त हेतु में यदि 'अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति' न कहें तो 'रूपादि' भी द्रव्य के आश्रित हैं उनमें व्यभिचार हो जायगा। यदि 'द्रव्याश्रितत्वात्' न कहें तो रूपत्वादि जातियों में व्यभिचार हो जायगा। अब अनुमान प्रमाण के द्वारा शब्द में द्रव्याश्रितत्व सिद्ध करते हैं—'शब्दः द्रव्यसमवेतः गुणत्वात् संयोगवत्'। अब पूर्वोक्त अनुमान में अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति द्रव्याश्रितत्वात्' यह हेतु 'विशेष्याऽसिद्धि' दोष से दूषित नहीं है, तथापि 'विशेषणाऽसिद्धि-दोष हो सकता है। इस शंका को दूर करने के लिये अनुमान के द्वारा 'शब्द' में 'अष्टद्रव्यानाश्रितत्व' सिद्ध करते हैं। 'शब्दः अष्टद्रव्यानाश्रितः श्रोत्रग्राह्यत्वात् शब्दत्ववत्'। जैसे—'शब्दत्वजाति' श्रोत्रेन्द्रियजन्यज्ञान का विषय है, इस कारण पृथ्वी आदि अष्टद्रव्यों के आश्रित भी नहीं है, वैसे ही 'शब्द' को भी समझना चाहिए। अब पूर्वोक्त अनुमान में कोई दोष नहीं है।

शंका—'शब्द' को गुण मानने में क्या प्रमाण है?

समा०— अनुमान प्रमाण है। अनुमान—'शब्दो, गुणः, चक्षुर्ग्रहणायोग्य-बहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात्, स्पर्शवत्।' 'चक्षुर्ग्रहणायोग्य' यह पद न दें तो 'घट आदि' में व्यभिचार होगा। यदि 'बहिरिन्द्रियग्राह्य' न कहें तो 'आत्मा' में व्यभिचार होगा। यदि 'जातिमत्त्वात्' न दें तो 'रसत्वादि' जातियों में व्यभिचार होगा।

शंका—'आकाश' में संख्यादि छह गुण माने गये हैं, किन्तु 'दधिधवलमाकाशम्' इस प्रतीति से 'रूप' को भी सातवाँ (सप्तम) गुण यदि मान लें तो क्या हानि है?

समा०—'जपाकुसुम' के सम्बन्ध से स्वच्छ 'स्फटिक' में 'लोहितः स्फटिकः' प्रतीति जिस प्रकार होती है, उसी प्रकार रूपरहित आकाश में सूर्य-चन्द्रनक्षत्रादि की प्रभा के सम्बन्ध से उसमें धवलता (श्वेतत्व) की भ्रम से प्रतीति होती है। एवं च 'दधिधवलमाकाशम्' यह प्रतीति जैसे औपाधिक है, वैसे ही 'नीलं नभः' यह प्रतीति भी औपाधिक है। भूगोलमध्यवर्ती 'सुमेरु' पर्वत के चार शिखर पूर्वादि चार दिशाओं में हैं। पूर्व दिशा में पद्मरागमयश्रृङ्ग (शिखर) है, दक्षिणदिशा में इन्द्रनीलमयश्रृंग है। पश्चिम दिशा में रजतमयश्रृंग और उत्तर दिशा में

तत्र शरीरस्य विषयस्य चाभावादिन्द्रियं दर्शयति—

शंका—आकाशनिरूपण के प्रसङ्ग में आकाशीय-शरीर तथा विषय का निरूपण करना छोड़कर इन्द्रिय-निरूपण क्यों किया जा रहा है ? क्योंकि सर्वत्र पहले शरीर तथा विषय निरूपण करने के बाद ही इन्द्रिय-निरूपण करते आ रहे हैं। अतः यहाँ उस क्रम को क्यों त्यागा जा रहा है ?

समा०—मुक्तावलीकार उत्तर देते हैं कि आकाशीय चेष्टाश्रय शरीर और उपभोगसाधन विषय के न होने से उसका निरूपण करना असम्भव है, इसलिये उन्हें छोड़कर 'इन्द्रिय' का निरूपण प्रस्तुत-किया जा रहा है। अर्थात् पूर्ववर्णित पृथ्वी आदि के समान आकाश के 'शरीर तथा विषय' ये दोनों भाग नहीं हैं। केवल 'इन्द्रिय'-संज्ञक एक ही भाग है।

इन्द्रियं तु भवेच्छ्रोत्रमेकः सन्नप्युपाधितः ।

आकाश के इन्द्रियसंज्ञक भाग का नाम 'श्रोत्र' है। 'श्रोत्र' का अर्थ कर्ण (कान) है। वह आकाशात्मक इन्द्रिय नित्य है, अनित्य नहीं है। 'श्रूयते अनेन इति श्रोत्रम्'=जिससे सुना जाता है उसे 'श्रोत्र' कहते हैं। श्रवणार्थक 'श्रु' धातु से 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' इस उणादिसूत्र के द्वारा 'करण' अर्थ में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय लगा कर 'श्रोत्र' शब्द की निष्पत्ति की जाती है।

शंका—लाघवात् आकाश को 'एक' सिद्ध किया जा चुका है और श्रोत्रेन्द्रियाँ तो प्रत्येक जीव की भिन्न-भिन्न हैं, अतः वे अनेक हैं। तब उस श्रोत्रेन्द्रिय को आकाशात्मक (आकाशरूप) कैसे कहा जाय ?

समा०—'एकः सन्नप्युपाधितः' कहते हुए कारिकाकार उत्तर दे रहे हैं— 'आकाश' तो एक अर्थात् सजातीय-प्रतियोगिक-भेदरहित ही है, किन्तु कर्ण (श्रोत्र) पुरुष भेद से भिन्न है अर्थात् कर्णशष्कुली रूप उपाधि के भिन्न होने से वह (आकाश) भिन्न-भिन्न (अनेक) समझा जाता है अर्थात् आकाश की भिन्नता औपाधिक है। वैसे आकाश तो एक ही है। तत् तत् कर्णचर्मपुट के सम्बन्ध से एक ही आकाश में अनेक श्रोत्रेन्द्रियों का व्यवहार किया जाता है। अर्थात् देवदत्त के चर्मपुट के छिद्र

सुवर्णमयशृंग है। सुमेरु के दक्षिणदिशागत श्यामवर्णवाले 'इन्द्रनीलमयशृंग का इस भरतखण्ड के साथ सम्बन्ध है। अतः उस श्यामप्रभा का 'स्व-समवायिसंयोग' सम्बन्ध से सम्बन्ध होने के कारण श्यामरूप की आकाश में प्रतीति होती है। अन्य खण्डों में उन-उन शृंगों के सम्बन्ध से रक्त, पीत, श्वेत रूप की प्रतीति होती है, यह पतञ्जलि कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि पीलिया (कामला) दोष से युक्त नेत्रवाले को श्वेत शंख पीतवर्ण का दीखता है, वैसे ही नेत्रों में श्यामता होने कारण आकाश में श्याम (नील) रूप की प्रतीति होती है। यह श्यामता कपिलाक्षों को नहीं दीखती। अथवा आकाश पोल (खाली) है, उसमें नेत्रों की गति न जाने से कालापन दीखता है।

में स्थित आकाश देवदत्त की श्रोत्रेन्द्रिय है और चैत्र के चर्मपुट में स्थित आकाश चैत्र की श्रोत्रेन्द्रिय है, इस प्रकार अनेक श्रोत्रेन्द्रियों का व्यवहार किया जाता है। 'शष्कुलीव कर्णः' इति कर्णशष्कुली। 'शष्कुली पूरिका प्रोक्ता' इति निघण्टुः। कर्णशष्कुलीविवरावच्छिन्नमाकाशः श्रोत्रमित्यर्थः।

नन्वाकाशं लाघवादेकं सिद्धं श्रोत्रं तु पुरुषभेदेन भिन्नं कथमाकाशं स्यादिति चेत्तत्राह—एकः सन्नपीत्यादिः। आकाश एक एव सन्नपि उपाधेः कर्णशष्कुल्यादे-र्भेदाद् भिन्नं श्रोत्रात्मकं भवतीत्यर्थः।

इत्याकाशेन्द्रियनिरूपणम्।

इत्याकाश-ग्रन्थः।

शंका—आकाश को इन्द्रियरूप (इन्द्रियात्मक) स्वीकार करने पर उसे अनित्य कहना पड़ेगा। किन्तु 'आकाश' को तो विभु और नित्य कहा जाता है। आकाश की विभुता इसलिए है कि उसमें शब्द की सर्वत्र उपलब्धि कराने की योग्यता है, 'विभुत्वञ्च शब्दस्य सर्वत्रोपलम्भयोग्यतावत्त्वात्'। दूसरा कारण यह भी है कि 'मूर्तद्रव्यवृत्तिसंयोगवत्त्व' उसमें है। इसी कारण उसे नित्य भी माना जाता है। किन्तु अब उसे इन्द्रियरूप मानने पर अनित्य कहना होगा और आकाश को लाघवात् एक ही सिद्ध किया जाता है। क्योंकि घटाकाश, मठाकाश आदि अनेक मानने पर अनेक कल्पनारूप गौरव स्वीकार करना होगा और उसे एक मान लेने पर (एक कल्पना करने पर) लाघव होगा। अतः आकाश एक ही है। ऐसी परिस्थिति में उस एक आकाश को पुरुषभेद से भिन्न श्रोत्रेन्द्रियरूप कैसे कह सकते हैं ?

समा०—मुक्तावलीकार 'एकः सन्नपि' ग्रन्थ से समाधान कर रहे हैं—यद्यपि आकाश एक है तथापि कर्णशष्कुली की भिन्नता के कारण आकाश भिन्न-भिन्न (अनेक) होता हुआ श्रोत्ररूप समझा जाता है। तथा च 'श्रोत्रं, स्वानुयोगि-वृत्तित्व-स्वप्रतियोगिवृत्तित्व-उभयसम्बन्धावच्छिन्नभेदवद्धर्मावच्छिन्नम्, स्वप्रतियो-ग्याश्रितत्वसम्बन्धेन पुरुषभेदवत्त्वात्' इस अनुमान से 'श्रोत्र' की भिन्नता (अने-कता) सिद्ध होती है यहाँ 'स्व' पद से 'चैत्रीयश्रोत्रभेद' लिया, उसका अनुयोगी 'मैत्रीयश्रोत्र' हुआ उसमें वृत्ति श्रोत्रत्व है, अतः तद्वृत्तित्व श्रोत्रत्व में गया, इस प्रकार उभयसम्बन्धावछिन्न (उभयसम्बन्ध से युक्त) भेदवद्धर्म 'श्रोत्रत्व', उससे अवछिन्न (युक्त) श्रोत्र ही होगा। क्योंकि वह स्व=पुरुषभेद उसके प्रतियोगी पुरुष में आश्रित है। अतः स्व-प्रतियोग्याश्रितत्व सम्बन्ध से पुरुषभेदवान् 'श्रोत्र' हुआ है। एवं च 'स्वप्रतियोगिकर्णशष्कुलीरूपविशेषणभेदप्रयोज्यविशिष्टभेदप्रतियोगि श्रोत्रम्'। 'स्व'=कर्ण शष्कुलीभेद तत्प्रतियोगी कर्णशष्कुलीरूपविशेषण का भेद, उससे प्रयुक्त (उसके कारण होनेवाला) श्रोत्र का विशिष्टभेद, उसका प्रतियोगी श्रोत्र हुआ। विभु का अर्थ व्यापक है अर्थात् 'अत्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगित्व'।

'आत्मन आकाशः संभूतः' — (तै० उ० २।१।१) यह आकाशोत्पत्तिप्रतिपादकश्रुति, ब्रह्माण्डरूप उपाधिवशात् आकाशाभिव्यक्तिपरक समझनी चाहिये। अन्यथा परमाणुओं में भी अनित्यता प्राप्त होगी। वस्तुतः 'आत्मा और आकाश' में जन्य-जनकभाव मानना अनुमान विरुद्ध है। अतः उक्त श्रुति को अर्थवादरूप मानना चाहिए। आकाश का अपना कोई शरीर न रहने पर भी जीवों के अदृष्ट के अलौकिक माहात्म्य से उसकी इन्द्रिय है, और वह 'श्रोत्र' है। श्रोत्र का सरल लक्षण — 'शब्दधीजनकमिन्द्रियं श्रोत्रम्'[1] समझना चाहिये। 'यदिन्द्रियं रूपादिषु मध्ये यद्गुणग्राहकं तदिन्द्रियं तद्गुणयुक्तम्' इस व्याप्ति के अनुसार शब्द को श्रोत्र का गुण मानने से 'शब्दगुणकत्वम् आकाशत्वम्' अर्थात् समवायसम्बन्ध से 'शब्दसमवायिकारणत्वम् आकाशत्वम्' इस आकाशलक्षण का लक्ष्य आकाश सिद्ध होता है।

नवीन नैयायिक शब्द का निमित्तकारण ईश्वर मानते हैं। अतः उसी को शब्द का समवायिकारण भी मान लेते हैं। एवञ्च उनके मत से ईश्वर ही श्रोत्र है। कुछ लोगों का कहना है कि मृदङ्गादि वाद्यों का ही वह (शब्द) गुण है, आकाश का नहीं। किन्तु मुक्तावलीकार ने शब्द को आकाश का ही गुण माना है।

इत्याकाशनिरूपणम्।

---

१ — 'शब्दधीजनकमिन्द्रियं श्रोत्रम्' — शब्दविषयकज्ञान का जनक जो इन्द्रिय है, उसे 'श्रोत्र' कहते हैं। 'शब्दधीजनक' न कहें तो चक्षुरादि इन्द्रियों में अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि 'इन्द्रियम्' न कहें तो काल आदि में अतिव्याप्ति होगी।

शंका — 'मन' तो समस्त ज्ञानों का जनक है, अतः वह शब्द-ज्ञान का भी जनक होगा, किन्तु वेदान्तियों ने 'मन' को तो इन्द्रिय नहीं माना है।

उत्तर — 'मन' मनस्त्वरूप से सब ज्ञानों का जनक है, 'इन्द्रियत्व' रूप से नहीं। अथवा — 'शब्दसमवायिकारणमिन्द्रियं श्रोत्रम्' — जो इन्द्रिय शब्द-गुण का समवायिकारण हो उसे 'श्रोत्र' इन्द्रिय कहते हैं। शंका — श्रोत्रेन्द्रिय में किस प्रकार से 'आकाशात्मकता' है? उत्तर — अनुमान प्रमाण के द्वारा उसे बताया जा सकता है। 'जो जो इन्द्रिय, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द इन पाँचों में से जिस-जिस गुण का ग्रहण करे, वह-वह इन्द्रिय उस-उस गुणवाली अवश्य होती है।' जैसे चक्षु, रसन, घ्राण त्वक् ये चारों इन्द्रियाँ यथाक्रम रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन चारों गुणों का ग्रहण करती हैं। इस कारण चक्षुरादि चार इन्द्रियाँ क्रमशः उन रूपादिगुणों वाली समझी जाती हैं। वैसे ही 'श्रोत्रेन्द्रिय' भी 'शब्द' गुण का ग्रहण करती है, इस कारण 'श्रोत्रेन्द्रिय' भी 'शब्द' गुणवाली अवश्य होगी। 'वह शब्द' एक 'आकाश' में ही है। अतः यह श्रोत्रेन्द्रिय, आकाशरूप है।

नवीन नैयायिक (रघुनाथ शिरोमणि) तो आकाश, काल, दिक् तीनों का 'ईश्वर' में ही अन्तर्भाव करते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि यदि शब्द केवल

जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ॥ ४५ ॥

जन्यानाम्=उत्पन्न पदार्थों का, जनकः=उत्पादक (निमित्त कारण), (यः, सः) कालः 'कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकीर्तितः'। समस्त जन्य पदार्थों के आयु की संख्या करने से उसे काल कहते हैं। यह काल समस्त जन्य पदार्थों की उत्पत्ति के प्रति निमित्त कारण है, इस कारण यह काल 'कालिक' संज्ञक सम्बन्ध से उस उत्पत्ति का अधिकरण है अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का आधार है। 'काल' को कार्यमात्र के प्रति समवायिकारण नहीं कह सकते। द्रव्य होने के कारण उसे असमवायिकारण भी नहीं कह सकते। इस कारण यहाँ 'जनक' पद का अर्थ 'निमित्त कारण' समझना चाहिये। न्याय की भाषा में काल का लक्षण इस प्रकार कहा जायगा—'कार्यत्वावच्छिन्नम्प्रति कालिकसम्बन्धावच्छेदेन निमित्तकारणत्वं—कालत्वम्।' अर्थात् 'कालिकसम्बन्धावच्छिन्नकार्यत्वावच्छिन्ना या कार्यता, तन्निरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नाधिकरणता, तादृशाधिकरणतया निमित्तकारणत्वं कालत्व'मिति काललक्षणम्। लक्षण में 'कालिकसम्बन्धावच्छिन्न' पद का निवेश करने से 'दिक्' में और 'अधिकरणत्वावच्छिन्न' कहने से अदृष्ट आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। वैशेषिक सूत्रकार ने भी कहा है—'नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालस्येति'—(वै. सू. २।२।९) आकाशादि नित्य पदार्थों में 'युगपज्जातः, चिरं जातः, क्षिप्रं जातः, इदानीं जातः, दिवा जातः, रात्रौ जातः' इत्यादि प्रत्यय के न होने से और घट-पटादि अनित्य (कार्य) पदार्थों में उक्त प्रत्यय के होने से अर्थात् कार्यमात्र के प्रति अन्वय-व्यतिरेकद्वारा जो कारण होता है उसे काल कहते हैं। एवञ्च 'कालः कालिकेन सर्ववान्' इस प्रतीति से सर्वाधिकरणत्वरूपेण 'कालनामक द्रव्य' की सिद्धि हो जाती है।

कालं निरूपयति जन्यानामिति। तत्र प्रमाणं दर्शयितुमाह— जगतामिति। तथाहि 'इदानीं घटः' इत्यादिप्रतीतिः सूर्यपरिस्पन्दादिकं यदा विषयीकरोति, यदा सूर्यपरिस्पन्दादिना घटादेः सम्बन्धो वाच्यः। स च सम्बन्धः संयोगादिर्न सम्भवतीति काल एव तत्सम्बन्धघटकः कल्प्यते। इत्थं च तस्याश्रयत्वमपि सम्यक् ॥ ४५ ॥

आकाश का ही गुण होता तो 'शब्दसमवायिकारण' रूप से आकाश की सिद्धि होती किन्तु 'यह शब्द' मृदङ्ग, भेरी आदि वाद्यात्मक पृथ्वी का ही गुण है। वे पृथ्वीरूप वाद्यादि ही शब्द के 'समवायिकारण' हैं। किन्तु प्राचीन नैयायिक तो मृदङ्गादिवाद्यों को 'शब्द' का निमित्तकारण मानते हैं। लोक व्यवहार में भी 'यह शब्द मृदङ्ग का है तथा यह शब्द भेरी का है' ऐसी प्रतीति होती है। 'यह शब्द आकाश का है'—यह प्रतीति नहीं होती। अतः मृदङ्गादिवाद्यों को ही शब्द का समवायिकारण मानना चाहिये। परन्तु यह मत, मुक्तावलीकार को अभिमत नहीं है, क्योंकि उक्त मत 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' श्रुति के विरुद्ध है। वेद भी शब्द को आकाश का ही गुण बता रहा है।

'कालं निरूपयति' का शाब्दबोध इस प्रकार होगा—'कालनिष्ठविषयतानिरूपकं यत् लक्षण-स्वरूप-प्रामाण्यादिप्रकारकं ज्ञानं, तदनुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान् ग्रन्थकार:'। 'काल' के अस्तित्व में 'जगताम्' इत्यादि ग्रन्थ से अनुमान प्रमाण बताया गया है उससे सिद्ध हुआ कि 'वह काल' जगत् का आधार है। उसी अनुमान प्रमाण को 'तथाहि' ग्रन्थ से बता रहे हैं—'इदानीं घट:'=इस समय में घट है, यह प्रतीति (ज्ञान) सूर्य परिस्पन्द (सूर्यगति) रूप गतिक्रिया को विषय करती है, क्योंकि लोकव्यवहार में ऐसा ही देखा जाता है। उक्त प्रतीति के बल पर यह स्वीकार करना होगा कि वर्तमान काल में सूर्य की परिस्पन्दरूप गत्यात्मक क्रिया के साथ घट-पटादि कार्यरूप पदार्थों का (जन्य पदार्थ मात्र का) कोई सम्बन्ध अवश्य होगा। क्योंकि बिना सम्बन्ध के उक्त प्रतीति हो नहीं सकती। 'इदानीम्' का अर्थ सूर्य की चलनात्मक क्रिया (गति) है। उस क्रिया से उस प्रतीति के विषय (घट आदि) का कोई सम्बन्ध तो कहना ही होगा। वह सम्बन्ध 'संयोग' तो हो नहीं सकता, क्योंकि सूर्यक्रिया के साथ 'घट' का 'संयोग-सम्बन्ध' होना सम्भव नहीं। उसी तरह उसके साथ 'समवायसम्बन्ध' भी नहीं हो सकता, क्योंकि घट में सूर्यक्रिया का समवाय नहीं है। दोनों में 'स्वरूपसम्बन्ध' भी हो नहीं सकता। क्योंकि दोनों में से कोई किसी का स्वरूप नहीं है। अत: 'सूर्यक्रिया' और 'घट' दोनों में 'परम्परासम्बन्ध' कहना होगा। वह परम्परासम्बन्ध 'स्वाश्रयतपनसंयोगिसंयोग' है। यहाँ पर 'स्व' शब्द से सूर्यक्रिया को लेंगे, उसका 'आश्रय' तपन (सूर्य), उसका 'संयोगी' काल, उसका 'संयोग' घट में है। इस प्रकार परम्परा सम्बन्ध-घटक जो पदार्थ है वह 'काल' पदार्थ ही है यह अनुमान किया जाता है। उक्त परम्परासम्बन्ध को 'स्वसमवायिसंयुक्तसंयोग' शब्द से भी कह सकते हैं। 'स्व' से सूर्यक्रिया, उसका 'समवायि' सूर्य, उससे 'संयुक्त' काल, उसके साथ घटादि जन्यपदार्थों का संयोगसम्बन्ध रहता है, क्योंकि 'द्रव्यद्रव्ययोरेव संयोग:'—दो द्रव्यों का ही संयोगसम्बन्ध हुआ करता है, यह नियम है। 'इदानीं घटरूपमुत्पन्नम्' यहाँ पर रूपादिगुण के साथ काल का सम्बन्ध 'स्व-समवायिसंयुक्तसंयोगिसमवेतत्व' होगा। 'स्वं'—सूर्यक्रिया, तत्समवायी सूर्य, तत्संयुक्त काल, तत्संयोगी घट, तत्समवेतत्व रूप में है।

इस अनुमान प्रमाण के बल पर काल का अस्तित्व सिद्ध होने पर जगत् का आधार काल है यह बात समझ में आ जाती है। सूर्य की क्रिया के साथ घटपटादि जन्यपदार्थों का सम्बन्ध काल के द्वारा ही होता है। अत: कालपदार्थ को अवश्य स्वीकार करना होगा[1] ॥४५॥

---

१. 'विभुत्वे सति दिगसमवेत-परत्वाऽसमवायिकारणाधिकरणं काल:'—जो 'द्रव्य विभु होकर 'दिशा' में असमवेत जो 'परत्वादि', उसके असमवायिकारण घटादि के साथ काल का संयोगी का अधिकरण हो, वही 'काल' है-यह काल का लक्षण है। कनिष्ठ (छोटे) भाई की अपेक्षा ज्येष्ठ भाई में 'कालिक परत्व' है, उस 'परत्व' का

समवायिकारण 'ज्येष्ठभाई' है और ज्येष्ठ के साथ 'काल' का जो 'संयोगसम्बन्ध' है, वह उस 'परत्व' का असमवायिकारण है। वह 'दिशा' में नहीं रहता है। इस कारण पूर्वोक्त संयोग का 'वह काल' आधार है और विभु है। ज्येष्ठ भ्राता में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति न हो, इसलिये 'विभुत्वे सति' यह पद दिया गया है। यदि 'दिगसमवेत' न कहें तो दिशा में दोष होगा। यदि 'परत्व' न कहें तो आत्मा में अतिव्याप्ति होगी।

अथवा--'अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः'=भूत-भविष्यत्-वर्तमान आदि जो व्यवहार, उसका हेतुभूत जो हो, उसे काल कहते हैं। यहाँ 'हेतु' शब्द से 'असाधारणनिमित्तकारण' ही विवक्षित है, जो 'काल' में ही उपलब्ध होता है। 'अयं ज्येष्ठः परः, अयं कनिष्ठः अपरः' इस प्रत्यक्ष प्रतीति के बल से उस कालिक परत्व अपरत्व को अवश्य स्वीकार करना होगा। अतः यह अनुमान होता है कि 'ज्येष्ठ-कनिष्ठशरीरनिष्ठे परत्वाऽपरत्वे, असमवायिकारणजन्ये, जन्यगुणत्वात्, रूपवत्'= ज्येष्ठ शरीर में स्थित परत्वगुण तथा कनिष्ठ शरीर में स्थित अपरत्वगुण ये दोनों असमवायिकारण से उत्पन्न होने योग्य (जन्य) हैं, जन्यगुण होने से, जैसे–घट निष्ठ 'रूपगुण' जन्य होने से असमवायिकारण से जन्य होता है। उसी प्रकार ज्येष्ठ शरीर तथा कनिष्ठ शरीर के साथ जो काल का संयोग सम्बन्ध है, वह परत्व-अपरत्व का असमवायिकारण है, और उसका आश्रय 'काल' ही है। इस अनुमान में 'जन्य' पद यदि न दें तो परमाणुनिष्ठ रूपादि नित्यगुणों में व्यभिचार होगा। यदि 'गुण' पद न दें तो 'प्रध्वंसाभाव' में हेतु का व्यभिचार होगा।

कतिपय विद्वान् काल की सिद्धि में अनुमान इस प्रकार करते हैं-- तद्विशिष्टज्ञानं विशेषण-विशेष्योभयसम्बन्धघटकसापेक्षं, साक्षात्सम्बन्धाऽभावे सति विशिष्टज्ञानत्वात्, लोहितस्फटिक इति ज्ञानवत्'। जैसे='यह व्यक्ति अमुकव्यक्ति की अपेक्षा बहुतर रविक्रियावाला है'--इस विशिष्टज्ञान से उस व्यक्ति में 'कालिकपरत्व' की उत्पत्ति होती है और 'यह अमुकव्यक्ति उस व्यक्ति की अपेक्षा अल्पतर रविक्रियावाला है'—इस विशिष्टज्ञान से उस व्यक्ति में कालिक अपरत्व की उत्पत्ति होती है। यह नैयायिकों का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के बल पर उपर्युक्त अनुमान निष्पन्न किया गया है। यहाँ पर 'अयं शरीरादिरूपपिण्डो बहुतररविपरिस्पन्दवान्' इत्याकारककालिकपरत्वनिमित्त-विशिष्टज्ञानम् "तद्विशिष्टज्ञानम्" इति पक्षः पदार्थः। क्रियारूपं विशेषणं, पिण्डरूपं विशेष्यं, तदुभयसम्बन्ध-घटको यः कश्चन पदार्थः, तत्सापेक्षमिति साध्यपदानामर्थः। अत्र व्याप्तेराकार एवमवधेयः—यद् साक्षात्सम्बन्धाभावविशिष्टं विशिष्टज्ञानं, तत् विशेषणविशेष्योभयसम्बन्धघटकसापेक्षम् इति व्याप्तेराकारः।

यथा लोहितः स्फटिक इति ज्ञानम्। अत्र स्वभावतः शुक्लस्फटिको विशेष्यम्, लोहितरूपं विशेषणम् परन्तु लोहितरूपस्य साक्षाद् सम्बन्धो नैवास्ति स्फटिके। संयोग-समवायश्चेति द्वावेव सम्बन्धौ साक्षात्सम्बन्धपदेनोच्येते। तत्र स्फटिके लोहित्यस्य न संयोगो नापि समवायः, तस्य जपापुष्पा दिद्रव्यसम वेतत्वात्।जपा-

परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः ।

'यह घट पर है' और 'यह घट अपर है' इस प्रकार की बुद्धि का 'हेतु'—असाधारण निमित्त 'काल' ही है। 'पर' का अर्थ है बड़ा, और 'अपर' का अर्थ है छोटा अर्थात् 'यह बड़ा है, यह छोटा है'—इस व्यवहार में 'काल' ही असाधारण निमित्त कारण है।

प्रमाणान्तरं दर्शयति–परापरत्वेति ।

परत्वापरत्वबुद्धेरसाधारण निमित्तं काल एव। परत्वापरत्वयोरसमवायिकारणसंयोगाश्रयो लाघवादतिरिक्तः काल एकः कल्प्यत इति भावः ।

नन्वेकस्य कालस्य सिद्धौ क्षणदिनमासवर्षादिसमयभेदो न स्यादत आह—क्षणादिरिति । कालस्त्वेकोऽप्युपाधिभेदात्क्षणादिव्यवहारविषयः । उपाधिस्तु स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्नं कर्म, पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागो वा, पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगप्रागभावो वा, उत्तरसंयोगावच्छिन्नं कर्म वा ।

न चोत्तरसंयोगानन्तरं क्षणव्यवहारो न स्यादिति वाच्यं, कर्मान्तरस्यापि सत्त्वादिति । महाप्रलये क्षणादिव्यवहारो यद्यस्ति तदानायत्या ध्वंसेनोपपादनीय इति दिनादिव्यवहारस्तु तत्तत्क्षणकूटैरेवेति ।

इति कालस्यैकत्वव्यवस्थापनम् ।

इति कालग्रन्थः ।

अन्य रीति से 'काल' की सिद्धि कर रहे हैं। अमुक व्यक्ति, 'अमुक व्यक्ति की अपेक्षा ज्येष्ठ किंवा कनिष्ठ है'—ऐसी प्रतीति जिससे होती है, वही 'काल' है। अर्थात् किसी एक शरीर से बड़ापन या किसी से छोटापन जिस असमवायिकारण-सम्बन्ध से प्राप्त होता है, उस सम्बन्ध के आश्रय को ही 'काल' कहते हैं। 'कालिकं परत्वं ज्येष्ठत्वं, कालिकाऽपरत्वं कनिष्ठत्वम्'। ज्येष्ठ में 'अयं परः' यह प्रत्यय होता है और कनिष्ठ में 'अयमपरः' यह प्रत्यय होता है। उस प्रत्यय का

पुष्पस्य च स्फटिकेन सह संयोगः साक्षात्सम्बन्धी न तु लोहितस्य, परन्तु स्व-समवायिसंयोगरूपेण परम्परासम्बन्धेन लौहित्यं स्फटिके भासते । 'लोहितःस्फटिकः' इत्याकारकं विशिष्टज्ञानं साक्षात्सम्बन्धाभावे सति विशिष्टज्ञानत्वाद् विशेषण-विशेष्योभयसम्बन्धघटकं यद् जपापुष्पादिद्रव्यं तत्सापेक्षमेव । इत्थम्—'अयं ज्येष्ठः पिण्डः बहुतररविपरिस्पदवान् इति विशिष्टज्ञानमपि तत्त्वात् विशेषण-विशेष्योभयसम्बन्धघटकसापेक्षम् । बहुतररविपरिस्पन्दो विशेषणम् । शरीरादिपिण्डस्तु विशेष्यम्, परमुभयोः न साक्षात् सम्बन्धः, किन्तु स्वसमवायिसंयुक्तसंयोगरूपपरम्परासम्बन्ध एव उभयसम्बन्धः । अत्र 'स्व' पदेन रविक्रियारूपविशेषणग्रहः तस्य समवायी सूर्यः, तत्संयुक्तः कालः, तस्य कालस्य संयोगः पिण्डेन सह वर्तत एवेति रीत्या रविक्रियापिण्डसम्बन्धघटकः पदार्थः काल इति सिद्धम् ।

असाधारण निमित्तकारण काल ही है। अर्थात् 'कार्यत्वव्याप्यज्येष्ठत्वादिधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावान् कालः। ज्येष्ठभाई में 'परत्व' प्रत्यय और कनिष्ठभाई में 'अपरत्व' प्रत्यय जो होता है वह 'परत्वापरत्वगुणधीनिबन्धन' है। मूलकार ने 'परापरत्वधी' कहा और उसकी व्याख्या करते हुए 'परत्वापरत्वबुद्धेः' कहा है। यदि 'परत्वापरत्वयोः' इतना ही कहते तो भी कोई हानि नहीं थी। तब मूलकार ने 'परापरत्वधी' क्यों कहा? इसके समाधान में यह बताया जायगा कि 'कालिक परत्वापरत्व' में प्रमाण बताने के लिये 'परत्वापरत्वयोरसमवायी' यह ग्रन्थ दिया जा रहा है। 'अयं घटः परः' यहाँ पर 'घट' में 'परत्व' पैदा हुआ, उसका (परत्व का) समवायिकारण 'घट' हुआ, और असमवायिकारण 'घटकालसंयोग' हुआ, उसका (संयोग का) आश्रय एक 'घट' होगा और दूसरा 'काल' होगा। उसी तरह 'अपरत्व' के असमवायिकारण संयोग का आश्रय भी 'काल' होगा। तब अनुमान इस प्रकार करेंगे—'कालिकपरत्वापरत्वे असमवायिकारणसंयोगजन्ये, भावत्वे सति कार्यत्वात् घटवत्' इति।

इस अनुमान से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'परत्व-अपरत्व असमवायिकारणजन्य हैं। इन दोनों (परत्व-अपरत्व) का असमवायिकारण-काल और व्यक्ति (पिण्ड) का संयोग ही है। उस संयोग का आश्रय 'काल' होने से यह कहा जाता है कि परत्व-अपरत्व के असमवायिकारणसंयोगाश्रयतया भी 'काल' की सिद्धि हो सकती है।

शंका—तादृशसंयोग के प्रति काल समवायिकारण भी है, तब सर्वत्र निमित्तकारणतया (निमित्तकारण के रूप में) काल का प्रथम लक्षण क्यों किया?

समा०—यद्यपि कार्यमात्र के प्रति 'काल' निमित्तकारण है, पर वह 'कालिकसम्बन्ध' से है। और स्ववृत्तिद्वित्व संयोग आदि गुणों के प्रति द्रव्य होने के कारण वह 'समवायिकारण' समवायसम्बन्ध से है, अतः कोई विरोध नहीं है। काल का अस्तित्व जैसे अनुमान प्रमाण से सिद्ध है वैसे ही वह आगम (श्रुति) प्रमाण से भी सिद्ध है—''कालोऽमुं दिवमजनयत्, काल इमाः पृथिवीरुत'' (अथर्व० कां० १९।सू० ५३। मं० ५)।

शंका—अनुमान-आगम प्रमाणादि से यदि 'काल' एक सिद्ध होता है तो क्षण दिन, मास, वर्ष आदि समय का भेद कैसे हो सकेगा?

समा०—यद्यपि 'काल' एक है तथापि उपाधिभेद से क्षण आदि व्यवहार 'काल' में किया जाता है। 'समयभेद' का अर्थ 'समयव्यवहारभेद' है। समयव्यवहारभेद का स्वरूप—'अद्य गन्ता, श्व आगन्ता, परश्वः पठिता' इस प्रकार है। अब मूर्तद्रव्य क्रियारूप उपाधि को बताते हैं—'उपाधिस्तु' इति। क्षण की उपाधियाँ चार प्रकार से बताई गई हैं। जैसे—अवयवनाश के अधीन अवयवी का नाश करते चलिये—अर्थात् त्रसरेणुनाश के लिये द्व्यणुकनाश अपेक्षित है। अब द्व्यणुकनाश कैसे होता है? यह जब विचारते हैं तो समझ में आता है कि परमाणु का तो नाश

होगा नहीं, क्योंकि वह नित्य है। अतः द्व्यणुकनाश के लिये १—प्रथम क्षण में क्रिया, २—द्वितीय क्षण में उन दोनों परमाणुओं में उस क्रिया के द्वारा विभाग (दोनों परमाणुओं का पृथक् पृथक् होना), ३—तृतीय क्षण में विभाग से उस पूर्वसंयोग का नाश होगा (जिन दो परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक बना है), ४—चतुर्थक्षण में उन दोनों परमाणुओं का किसी उत्तर देश के साथ संयोग होगा और द्व्यणुक का नाश भी हो जायगा। ५—तब पञ्चमक्षण में क्रियानाश होगा। इस क्रम को ध्यान में रखते हुए ही ग्रन्थकार ने प्रथमक्षणोपाधि को बताने के लिये 'स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्नं कर्म' यह कहा है। अर्थात् 'स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्नं कर्म प्रथमक्षणोपाधिः'। यहाँ पर 'स्व' शब्द से मूर्तद्रव्यनिष्ठ क्रिया को लेना है। क्रिया और कर्म दोनों शब्द पर्याय हैं। १—क्रिया, २—क्रियातोविभागः, ३—विभागात् पूर्वदेशसंयोगनाशः, ४—तत उत्तरदेशसंयोगः' यह नियम है। इस नियम के अनुसार मूर्तद्रव्यनिष्ठ जिस क्रिया से द्वितीयक्षण में 'विभाग' उत्पन्न कराना है, उस विभाग का प्रथमक्षण में प्रागभाव है। इस प्रकार यह क्रिया 'स्वजन्यविभागप्रागभावविशिष्ट' हुई, इस कारण वह क्रिया 'स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्ना' कही गई है। यही प्रथमक्षण की उपाधि है। अर्थात् क्रिया से होने वाले विभाग के प्रागभाव से विशिष्ट क्रिया के द्वारा ही काल में 'अयं प्रथमः क्षणः'–यह प्रथमक्षण है ऐसा व्यवहार होता है। तात्पर्य यह है–क्रियाविभाग और उसका प्रागभाव ये दो ही जिस काल में रहते हैं, उस काल को 'प्रथमक्षण' कहते हैं। 'क्रिया' तो काल की उपाधि है, इसलिये विभागप्रागभावविशिष्ट'-क्रियोपलक्षित जो काल हो, उसे आद्य (प्रथम) क्षण समझना चाहिये।

द्वितीयक्षणोपाधि को बताने के लिये 'पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागो वा' कहा गया है। मूर्तद्रव्य का पूर्वदेश के साथ जो संयोग है, उस संयोग से अवछिन्न जो क्रियाजन्य विभाग (संयोगपूर्वकविभाग), उसे द्वितीयक्षणोपाधि कहते हैं। अर्थात् 'पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागोपलक्षित काल' को द्वितीयक्षण समझना चाहिए। निष्कर्ष यह है कि 'स्वजन्यविभागनाश्यपूर्वसंयोगविशिष्टस्वजन्यविभाग' ही द्वितीयक्षण है। 'स्व' शब्द से क्रिया, तज्जन्य विभाग अर्थात् घट आदि मूर्तद्रव्य के विभक्त-प्रत्यय में हेतुभूतगुण, उस (विभाग) से नाश्य जो पूर्वसंयोग, तद्विशिष्ट जो 'स्वजन्य' क्रियाजन्य विभाग।

तृतीयक्षणोपाधि को बताने के लिये 'पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नउत्तरसंयोगप्रागभाव' कहा गया है। पूर्वदेशवर्ती जो मूर्तद्रव्य का संयोग, तादृशसंयोगनाश (ध्वंस) सहित जो उत्तरदेशसंयोगप्रागभाव है, उसी को तृतीयक्षणोपाधि कहते हैं। अर्थात् प्रथमक्षण में होने वाली क्रिया के द्वारा द्वितीयक्षण में विभाग उत्पन्न होता है, उससे तृतीयक्षण में पूर्वदेशवृत्तिसंयोग का नाश होता है। उस तृतीय क्षण में ही चतुर्थक्षण में होनेवाले उत्तरदेशवर्ती संयोग का प्रागभाव भी रहता है। इस प्रकार 'पूर्वसंयोग-

नाशावच्छिन्नउत्तरसंयोगप्रागभाव' ही तृतीयक्षण का कल्पक होने से उसे तृतीयक्षणोपाधि कहा जाता है। अर्थात् 'पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्न उत्तरसंयोगप्रागभावोपलक्षित जो काल है, उसे तृतीयक्षण कहते हैं। यहाँ यह ध्यान देने की बात है—प्रागभाव के प्रतियोगी का उत्पादक कारण-कलाप (कारणसामग्री) ही प्रागभाव का नाशक होता है। अत। चतुर्थक्षण में उत्पद्यमान उत्तरदेशसंयोग ही अपनी उत्पत्ति के क्षण में प्रागभाव को नष्ट करता है। उत्तरदेशसंयोगप्रागभाव तृतीयक्षण तक रहता है उससे अधिक उसकी स्थिरता नहीं है।

चतुर्थक्षणोपाधि को कहते हैं—'उत्तरदेशसंयोगावच्छिन्नं कर्म वा'। उत्तरदेशवर्ती संयोगविशिष्ट जो क्रिया, वही चतुर्थक्षणोपाधि है। निष्कर्ष यह है कि प्रथमक्षण में 'घट में क्रिया', द्वितीयक्षण में 'घट का पूर्वदेश से क्रियाजन्यविभाग' तृतीयक्षण में 'क्रियाजन्यविभाग से घट के पूर्वदेशवृत्तिसंयोग का नाश', तब चतुर्थक्षण में क्रिया के द्वारा घट का उत्तरदेशसंयोग। इस प्रकार उत्तरदेशसंयोग ही अपनी हेतुभूत क्रिया का नाशक है, अर्थात् पञ्चमक्षण में वह क्रिया नहीं रहती। चतुर्थक्षण में रहनेवाली, वही उत्तरदेशसंयोगात्मक विशेषणविशिष्टा क्रिया, चतुर्थक्षणोपाधि कही जाती है। निष्कर्ष यह है कि उत्तरदेशसंयोगावच्छिन्नक्रियोपलक्षित काल को चतुर्थक्षणा कहते हैं।

उदयनाचार्य कहते हैं—उत्पन्न द्रव्य जब तक अगुण (गुण रहित) रहता है, अथवा अन्त्यतन्तुसंयोग होने पर जबतक पट तैयार नहीं होता, अथवा कर्म (क्रिया) के उत्पन्न होने पर जब तक विभाग उत्पन्न नहीं होता, उतना काल क्षण है। अथवा कार्यरहित सामग्री ही क्षण है। किरणावलि में कहा है—

"क्षणद्वयं लवः प्रोक्तो निमेषस्तु लवद्वयम्।
निमेषाः पञ्चदश च काष्ठास्त्रिंशत्तु ताः कलाः॥" इति।

श्रीधराचार्य कहते हैं कि 'निमेष' का चतुर्थभाग क्षण है, 'दो क्षण' का लव होता है। अक्षिपक्ष्मोपलक्षित काल (पलक के पतनोत्थान काल) को निमेष कहते हैं। तात्पर्य यह है—प्रथमक्षण में परमाणु में क्रिया, द्वितीयक्षण में परमाणुद्वय में विभाग होता है, पश्चात् 'पूर्वसंयोगनाश' होता है। अतः 'विभाग, भी एक क्षण की उपाधि है। उसके अनन्तर तृतीयक्षण में पूर्वसंयोगनाश होता है, और चतुर्थक्षण में उन परमाणुद्वय का उत्तरदेश के साथ संयोग होता है, किन्तु तृतीयक्षण में (पूर्वसंयोगनाशक्षण में) उत्तरसंयोग का प्रागभाव, पूर्वसंयोगनाश से अवछिन्न (समानाधिकरण) होकर बैठा है। अतः पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगप्रागभाव भी एक ही क्षण हुआ। अर्थात् उसे भी क्षण की उपाधि कहा जा सकता है। चतुर्थक्षण में परमाणुद्वय का 'उत्तरदेश के साथ संयोग' होता है और कर्म' भी चतुर्थक्षण में है, क्योंकि कर्म (क्रिया) का नाश तो पञ्चमक्षण में होगा, इसलिये चतुर्थक्षणमें कर्म, उत्तर-

संयोग से अवच्छिन्न है। अतः उत्तरसंयोगावच्छिन्नकर्म भी एक क्षणकी उपाधि बन गया।

शंका—न चेति। 'पञ्चमक्षण' में 'क्षण' शब्द का व्यवहार नहीं किया जा सकता, अर्थात् उत्तरसंयोग के बाद 'क्षण व्यवहार' कैसे बन सकेगा ? क्योंकि चतुर्थ क्षण में ही क्रिया भी नष्ट हो जाती है। अर्थात् उत्तरसंयोग होने पर क्रिया नष्ट हो जाती है, तब परिचायक उपाधि कोई नहीं रहती।

समा०—कर्मान्तरस्यापी'ति। चतुर्थक्षण में क्रिया के नष्ट हो जाने पर भी पञ्चमक्षण में अन्य क्रिया होने लगती है, अतः पहले की तरह क्षणादि व्यवहार किया जा सकता है। अर्थात् पञ्चमक्षणमें पुनः दूसरी क्रिया उत्पन्न होती है, वही क्रिया, प्रथमक्षण की उपाधि बन जायेगी। पहले की तरह चार क्षणों की कल्पना कर लेनी चाहिये। चतुर्थ-क्षण में क्रिया विनाश के अनन्तर मूर्तद्रव्यमें पुनः पञ्चमक्षण में क्षणव्यवहार की नियामिका दूसरी क्रिया होगी।

शंका—पूर्वोक्त 'क्षण-लक्षण' महाप्रलयात्मक क्षण में अव्याप्त होगा, क्योंकि महाप्रलय के समय समस्त भावकार्यों का नाश होने से क्रिया भी नष्ट हो जाती है। अतः महाप्रलय के समय उन क्षणादिकों की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी ? अच्छा, महाप्रलय के समय 'क्षण' कल्पना यदि न की जाय तो क्या हानि है ? उत्तर यह होगा कि महाप्रलय के समय यदि 'क्षणकल्पना' नहीं की जायेगी तो 'अध्वस्तक्षणयोगस्य क्षणयोगो जनिर्मता' इस उत्पत्तिलक्षणप्रतिपादक आचार्य-कारिका का मणिकारने जो अर्थ—'तदधिकरणक्षणावृत्तित्वव्याप्यस्ववृत्तिध्वंसप्रतियोगिताकसमयवृत्तित्वात्मक-उत्पत्तिलक्षण अर्थ'—किया है, उसकी अव्याप्ति होगी, क्योंकि उस समय 'महाप्रलयाधिकरण-क्षण' अप्रसिद्ध है। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार 'महाप्रलय' का विचार कर रहे हैं। अर्थात् महाप्रलय के समय 'क्षणव्यवहार' की उपपत्ति 'ध्वंस' के द्वारा कर देनी चाहिये। अर्थात् 'स्ववृत्तिध्वंसप्रतियोगिक-प्रतियोगिक-यावद्-ध्वंस एव उपाधिः, तद्विशिष्टसमयात्मकमहाप्रलय एव क्षणव्यवहारविषयः।' यहाँ पर 'स्व' शब्द से महाप्रलय का काल, उसमें रहनेवाले (वृत्ति) जो द्रव्यादि के यावत् ध्वंस उनके प्रतियोगी तत्तत् (प्रत्येक) भाव पदार्थ वे हैं प्रतियोगी जिन ध्वंसों के अर्थात् जितने भी भावपदार्थ हैं, उन सबका ध्वंस होता है। यह ध्वंस ही 'उपाधि' है, उस उपाधि से विशिष्ट जो समय, उस समय के लिये ही 'महाप्रलयात्मकक्षण' शब्द का व्यवहार किया जायेगा। यह मणिकार का मत है।

महाप्रलय का क्रम इस प्रकार है—

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते
तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते।
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाऽव्यक्ते प्रलीयते
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् ! निष्कले सम्प्रलीयते॥

वास्तव में क्षणादि व्यवहार, महाप्रलय में होता ही नहीं। क्योंकि महाप्रलय के समय

समस्त भावकार्यों का नाश हो जाता है, अतः क्रिया भी नष्ट हो जाती है। तब क्षणादिकों की उत्पत्ति कैसे होगी ? इस आशङ्का का समाधान इस प्रकार होगा— महाप्रलयकालीन क्षणादि का व्यवहार पूर्वोक्त क्रियास्थानापन्न तत्तद् वस्तु का ध्वंस होता है और उस ध्वंस को निमित्त मानकर ही क्षणादि व्यवहार की उपपत्ति की जा सकती है। क्योंकि उस समय ध्वंस के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसी अभिप्राय को नैयायिक इस प्रकार कहेंगे—उत्पत्तिलक्षणस्य क्षणाघटितस्यैव स्ववृत्ति-ध्वंसप्रतियोगिकालाऽवृत्तित्वविशिष्टस्ववृत्तित्वात्मकस्य तदुत्पत्तौ संभवः'— इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने 'यद्यस्ति तदा०' कहा है। तथा च—यत्समयवृत्तिध्वंसप्रति-योगित्वव्यापकतावच्छेदकं यदधिकरणक्षणवृत्तित्वसामान्याऽभावत्वं तस्य तत्समय-सम्बन्धः उत्पत्तिः। अर्थात्—स्ववृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वव्यापकतावच्छेदकाऽभावत्वा-वच्छिन्न-निरूपित-प्रतियोगितावच्छेदकवृत्तित्वावच्छिन्न-निरूपकक्षणसामान्यवृत्तित्व-सम्बन्धेन क्षणवत्त्वमुत्पत्तिः।

ग्रन्थकारने 'क्षणादिव्यवहारो यद्यस्ति' यहाँ 'यदि' पद के प्रयोग से यह अभि-व्यक्त किया है कि नैयायिकों को भी मीमांसकों की तरह महाप्रलय का होना मान्य नहीं है। अतः सर्वकार्य-ध्वंसात्मक महाप्रलय में क्षणादि व्यवहार का प्रश्न ही नहीं रह जाता है। यदि उस समय भी क्षणादि व्यवहार करना अभीष्ट ही हो तो अगत्या पदार्थ-ध्वंस को ही क्षणात्मककाल की उपाधि समझनी चाहिये। अर्थात् महाप्रलय-कालीन ध्वंस-प्रतियोगी घटपटादि पदार्थों के ध्वंस से विशिष्ट समय को 'क्षण' समझना चाहिये।

शंका—उपर्युक्त रीति से क्षणादि व्यवहार के सिद्ध हो जाने पर भी दिन, मास आदि का व्यवहार कैसे हो सकेगा ?

समा०—क्षणकूट = तत्तत्क्षणसमूह के द्वारा लव, निमेष, काष्ठा, कला, मूहूर्त, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग आदि का व्यवहार होता है।[1]

---

१. निमेषः—नेत्रपुटयोर्द्रागेव संयोजनवियोजनम् 'त्रिलव' इति यावत्।
कक्षः—त्रिनिमेषाः कक्षः।
काष्ठा—त्रिकक्षाः काष्ठा।
कला—त्रिंशत्काष्ठाः कला।
मुहूर्तः—त्रिंशत्कलाः मुहूर्तः।
दिवसः—त्रिंशन्मुहूर्ताः दिवसः।
पक्षः—पञ्चदशदिवसाः पक्षः।
मासः—द्वौ पक्षौ मासः।
ऋतुः—द्वौ मासौ ऋतुः।
अयनम्—ऋतुवस्त्रयः अयनम्।
संवत्सरः—अयने द्वे संवत्सरः। (अयनद्वितयं वर्षो मानुषोऽयमुदाहृतः)

सांख्यदर्शन ने अपने अभिमत पञ्चविंशति (२५) तत्त्वों के अतिरिक्त 'काल' पदार्थ को नहीं माना है। अन्यथा पञ्चविंशति तत्त्व प्रतिज्ञा का भंग हो जायेगा। जिन उपाधियों के द्वारा क्षण-दिन आदि भेद का स्वीकार इन्होंने किया है, उन उपाधियों को ही सांख्य ने 'काल' की संज्ञा दी है। क्योंकि वे उपाधियाँ ही अतीतादिव्यवहार में हेतुभूत हैं अतीतादि व्यवहार की हेतुभूत उपाधियों से विलक्षण 'काल' संज्ञक कोई अतिरिक्त तत्त्व नहीं है। योगभाष्यकार भी कहते हैं–"स खल्वयं कालो वस्तुशून्यो बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते ॥" इस रीति से 'जाति-देश-काल-समयानविच्छन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्'—(यो. सू. ३१ सा. पा.) तथा 'देशकालाकार-निमित्तापबन्धान्नखलु समानकालमात्मनामभिव्यक्तिरिति' आदि स्थलों पर जो 'काल' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसे उपाधिनिबन्धन ही समझना चाहिये।

किन्तु योगवार्तिककार का कहना है कि "क्षणस्तु वस्तुपतितः, इस उत्तरभाष्य के अनुरोध से क्षणात्मक काल का स्वीकार करना ही चाहिए। अन्यथा क्रमिक

सत्ययुगस्य वर्षाणि—अष्टाविंशति-सहस्त्राधिक-सप्तदशलक्षाणि।
त्रेतायुगस्य वर्षाणि—षण्णवतिसहस्त्राधिक-द्वादशलक्षाणि।
द्वापरयुगस्य वर्षाणि—चतुःषष्टिसहस्त्राधिक-अष्टलक्षाणि।
कलियुगस्य वर्षाणि—द्वात्रिंशत्सहस्त्राधिक-चतुर्लक्षाणि।
मिलित्वा चतुर्युगानां वर्षाणि—विंशतिसहस्त्राधिक-त्रिचत्वारिंशल्लक्षाणि।
मन्वन्तरम्—तादृशचतुर्युगानामेकसप्ततिः।
एकमन्वन्तरस्य वर्षाणि—विंशतिसहस्त्राधिक-सप्तषष्टिलक्षोत्तर-त्रिंशत्कोटयः।
ब्रह्मणः एकदिवसः—तादृशचतुर्दशमन्वन्तरकालः एक-कल्पः।

खण्डप्रलयः (नैमित्तिकप्रलयः)—ब्रह्मणो दिवसान्ते महर्जनतपःसत्यलोकान् विहाय स्वर्गादि-पातालान्तानां दशलोकानां खण्डप्रलयो भवति।

नित्यप्रलयः—ब्रह्मणो लवनिमेषादिषु प्रलीयते अकस्मात् वस्तुजातमिति स उक्तः।

खण्डप्रलयः (प्राकृतिकप्रलयः)—ब्रह्मणः शतवर्षाणां समाप्तौ अष्टावरणसहित ब्रह्माण्ड-प्रलयो भवति, सः खण्डप्रलयः।

सोऽयं महाविष्णोरेकदिवसात्मकः कालः। महाविष्णोः शतवर्षसमाप्तौ सर्वं भावकार्यं सृष्टिमयं प्रलीयते, सोऽयमात्यन्तिकप्रलयः महाप्रलय उच्यते।

देवताओं की कालगणना इस प्रकार होगी—

एष दैवस्त्वहोरात्रः तैः पक्षादि च पूर्ववत्।
दैववर्षसहस्त्राणि द्वादशैव चतुर्युगम्।
चतुर्युगसहस्त्रन्तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते।
रात्रिश्चैतावती तस्य ताभ्यां पक्षादिकल्पना ॥

परिणाम की उपपत्ति नहीं होगी। एवं च क्षण आदि सभी काल, समस्त वस्तु-परिणाम में हेतुभूत होते हैं।

॥ इति कालग्रन्थः ॥

दूरान्तिकादिधीहेतुरेका नित्या दिगुच्यते ॥ ४६ ॥

इदं दूरम्, इदमन्तिकम्, इस बुद्धि का असाधारण निमित्त 'दिक्' ही है। वह दिक् 'एक' अर्थात् सजातीय-प्रतियोगिकभेद-शून्य है। और 'नित्य' अर्थात् ध्वंसाऽप्रतियोगिनी तथा प्रागभावाऽप्रतियोगिनी है। 'दिक्पदजन्यबोधविषयत्वं दिशो-लक्षणम्'। यह 'दिक्' का लक्षण है।

दिशं निरूपयति—दूरान्तिकेति।

दूरत्वमन्तिकत्वं च दैशिकं परत्वमपरत्वं बोध्यम्। तद्बुद्धेरसाधारणं बीजं दिगेव। दैशिकपरत्वापरत्वयोरसमवायिकारणसंयोगाश्रयतया लाघवादेका दिक् सिध्यतीति भावः ॥४६॥

॥ इति दिशि प्रमाणकथनम् ॥

'दूर' अर्थात् देशमूलकपरत्व (दैशिक परत्व), और 'अन्तिक' अर्थात् देशमूलक अपरत्व (दैशिक अपरत्व)। ये 'परत्व' और 'अपरत्व' दोनों 'गुण' पदार्थ हैं। 'संयुक्तसंयोगभूयस्त्वाश्रयत्वम्परत्वम्' और 'संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वाश्रयत्वमपरत्वम्'। इस परत्वाऽपरत्व का ज्ञान जिस असाधारण कारण से होता है, उसे दिक् कहते हैं। समीपदेशस्थित घटादि मूर्तद्रव्य की अपेक्षा दूर देश स्थित घटादिमूर्तद्रव्य में 'दैशिक परत्व' रहता है। उसी प्रकार दूरदेशस्थित-घटादिमूर्तद्रव्य की अपेक्षा समीपदेश-स्थित-घटादिमूर्तद्रव्य में 'दैशिक-अपरत्व' रहता है। ये दैशिकपरत्वाऽपरत्व, असम-वायिकारणजन्य हैं। क्योंकि ये जन्यगुण हैं, घटनिष्ठरूप की तरह—'दैशिके परत्वा-ऽपरत्वे असमवायिकारणजन्ये जन्यगुणत्वात् घटनिष्ठरूपवत्।' 'यो यो जन्यगुणः स सर्वोऽपि असमवायिकारणजन्यः, यथा घटनिष्ठं रूपं जन्यगुणत्वात् कपालगतरूपा-ऽसमवायिकारणजन्यं भवति'। उसी तरह दूरत्व=परत्व, अंतिकत्व=अपरत्व-संज्ञक गुण भी जन्यगुण होने से असमवायिकारणजन्य होंगे। इस प्रकार जिस घटादिमूर्तपिण्ड में परत्वाऽपरत्व उत्पन्न होते हैं, उसके साथ जिस द्रव्य का असमवायिकारणरूप संयोग होता है, उसी द्रव्य को दिक् कहते है। अर्थात् 'दिशा-वस्तुनोः संयोग एव मूर्तपिण्डगत-परत्वाऽपरत्वयोः असमवायिकारणम्। यहाँ पर कारिकास्थ 'हेतु' शब्द का अर्थ 'बीज' किया है, अतः प्रकृत प्रसंग में 'बीज' का अर्थ प्रयोजक समझना चाहिए। एवं च 'दिक्' का लक्षण यह निष्पन्न हुआ—'दैशिक-विशेषणता-सम्बन्धावच्छिन्न-कार्यत्वावच्छिन्न-कार्यतानिरूपित-तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपित-तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्नतया यत् निमित्तकारणं सा दिक्।

शंका—कारिकाकार ने 'दूरान्तिकादिधीहेतुः' कहा है, किन्तु यदि वे 'दूरान्तिकादिहेतुः' इतना ही कहते तब भी कोई हानि नहीं थी। तो 'धी' पद क्यों दिया ?

समा०—'धी' पद देने का अभिप्राय उनका यह है कि परत्वाऽपरत्व में प्रमाण प्रदर्शित किया जा सके। इसी अभिप्राय से 'दैशिकपरत्वाऽपरत्वयोः' ग्रन्थ दिया गया है। जैसे—स्रुघ्नपुर (आगरे) से कर्णपुर (कानपुर) की अपेक्षा वाराणसी में परत्व है, और वाराणसी की अपेक्षा कर्णपुर (कानपुर) में अपरत्व है। उसका समवायिकारण वाराणसी और कानपुर है और असमवायिकारण दिक्-कानपुर-संयोग तथा दिक्-वाराणसी-संयोग है। उसका आश्रय एक कानपुर होगा या वाराणसी होगा और दूसरा आश्रय दिक् ही होगी।

शंका—दिक्-पिण्डसंयोग के बजाय 'पृथ्वी-पिण्डसंयोग' को उसका असमवायिकारण क्यों न माना जाय ? उसे असमवायिकारण मान लेने पर 'दिक्' की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी।

समा०—पृथ्वी से असंयुक्त पदार्थ में भी दैशिक परत्वादि की उत्पत्ति होती है। अतः व्यभिचार होगा।

शंका—आकाश, काल, आत्मा, मन इनमें से किसी एक के साथ कानपुर के संयोग को ही उसका असमवायिकारण मान लें, दिक्संयोग की कल्पना करने की क्या आवश्यकता ?

समा०—आकाश, काल के साथ कानपुरसंयोग को असमवायिकारण मान लेने पर भी प्रत्येक जीवात्मा के साथ वैसा मानने में कोई विनिगमक नहीं है और आत्मा तथा मन तो अनन्त हैं। अतः उनके साथ अनन्त संयोग मानने होंगे, तब गौरव होगा। इसलिये लाघवात् एक अतिरिक्त दिक्संयोग की कल्पना करना उचित है। एवं च इस प्रकार भी अनुमान कर सकते हैं—'इदं दूरम्' 'इदमन्तिकम्' इति प्रत्ययः, पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यसम्बन्धप्रयुक्तः परत्वापरत्वहेतुकत्वात् कालिकपरत्ववत्। यहाँ पर सम्बन्ध के कारण जिस द्रव्य का प्रत्यय हो रहा है। वही दिक् है। दूरान्तिक और द्रव्य दोनों का सम्बन्ध 'स्वसमवायिसंयुक्तसंयोग' है। 'स्व' शब्द से बहुतर और अल्पतर संयोग, तत्समवायि मूर्तद्रव्य कानपुर आदि, तत्संयुक्त दिक्, तत्संयोग वाराणसी आदि में है ॥४६॥

॥ इति दिशि प्रमाणकथनम् ॥

उपाधिभेदादेकाऽपि प्राच्यादिव्यपदेशभाक् ।

अब 'दिक्' एक (सजातीयप्रतियोगिकभेदरहित) रहने पर भी उपाधि (परिचायक) भेद के कारण उसका प्राची, अवाची, उदीची इत्यादि प्रकार से व्यवहार किया जाता है।

ननु यद्येकैव दिक् तदा प्राचीप्रतीच्यादिव्यवहारः कथमुपपद्यतामित्यत आह—

यत्पुरुषस्य उदयगिरिसन्निहिता या दिक् सा प्राची। एवमुदयगिरिव्यवहिता या दिक् सा प्रतीची। एवं यत्पुरुषस्य सुमेरुसन्निहिता या दिक् सोदीची। तद्व्यवहिता त्ववाची। 'सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः' इति नियमात्।

शंका—दिक् (दिशा) एक पदार्थ है यह स्पष्ट हो चुका, किन्तु उस एक दिक् पदार्थ में पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर इत्यादि व्यवहार कैसे होंगे?

समा०—दिक् (दिशा) पदार्थ एक होने पर भी वह अपनी उपाधि (मूर्तद्रव्यरूप परिचायक) भेद से पूर्वादि व्यवहार को प्राप्त होता है।

अब दिशा के व्यवहार में प्रमाण प्रदर्शित कर रहे हैं—'यत्पुरुषस्येति।' यहाँ 'पुरुष' पद मूर्तमात्र का उपलक्षक है। अवधिरूप पञ्चम्यर्थ में 'षष्ठी' विभक्ति है। 'दिक्' पद भी मूर्तमात्र का उपलक्षक है। एवं च—जिस मूर्तद्रव्य से उदयगिरि के समीप जो मूर्तद्रव्य हो, उससे वह प्राची (पूर्व) समझनी चाहिये। 'प्राक् अस्यामञ्चति सूर्यः इति प्राची' यह 'प्राची' शब्द की व्युत्पत्ति है। जैसे—काशी से गया अथवा प्रयाग से काशी। एवं च 'यदपेक्षया उदयगिरिसन्निहितं यन्मूर्तं सा ततः प्राची' उसी तरह 'यस्मात् उदयाचलविप्रकृष्टं यन्मूर्तं तत्तस्य प्रतीची'। प्रातिकूल्येन अस्यामञ्चति सूर्यः इति 'प्रतीची'। जैसे—गया से अथवा पाटलीपुत्र (पटना) से 'काशी'। यस्मात् सुमेरुसन्निकृष्टं यन्मूर्तं तत्तस्य 'उदीची'। उदग् अस्यामञ्चति सूर्यः इति 'उदीची'। जैसे—रामेश्वर से काशी। यस्मात् सुमेरुविप्रकृष्टं यन्मूर्तं तत्तस्य 'अवाची'। अवाग् अस्यामञ्चति सूर्यः इति अवाचि। जैसे—काशी से रामेश्वर। यदपेक्षया उदयगिरिसन्निहितत्वं च—यन्निष्ठोदयगिरि-संयुक्तसंयोगापेक्षया अल्पतरोदयगिरिसंयुक्तसंयोगवत्त्वम्। काशी से प्राच्या गया, यहाँ पर 'काशीनिष्ठ—उदयगिरिसंयुक्तसंयोगपर्याप्तसंख्याव्याप्यसंख्यापर्याप्त्यधिकरणोदयगिरिसंयुक्तसंयोगवन्मूर्तवृत्तिः गया, इत्यन्वयबोधः अर्थात् जिस पुरुष के लिये जो दिक् उदयाचल के समीप है, वह उसके लिये पूर्वदिक् है। और जो दिक् उदयाचल से दूर है, वह पश्चिम दिक् है। और जो दिक् सुमेरु के पास है, वह उस पुरुष के लिये उत्तर दिक् है और जो सुमेरु से दूर है वह उस पुरुष के लिये दक्षिण है। उसी तरह 'यतः पतति सा दिक् ऊर्ध्वा'। और 'यत्र पतति सा अधः'। इसी प्रकार विदिशाओं को भी जान लेना चाहिए। एवं च—'जन्यमात्रं क्रियामात्रं वा कालोपाधिः' और 'मूर्तमात्रन्तु दिगुपाधिः'। दीधितिकार का कहना है कि 'दिक् और काल' ईश्वर से पृथक नहीं हैं, किन्तु ईश्वर ही तत्तदुपाधि विशिष्ट होकर क्षण, दिन, प्राची, प्रतीची आदि व्यवहारों में निमित्त है। किन्तु इसमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि 'जीव' को ही उसमें निमित्त मान लिया जाय, किन्तु उसमें भी कोई विनिगमक नहीं है। 'एकपक्षपातिनि युक्ति' को विनिगमना कहते हैं।

उत्तर, दक्षिण के निर्णयार्थ 'सुमेरु' पर्वत को उपाधि के रूप में माना गया है, क्योंकि जम्बूद्वीप के भारत आदि जो नौ खण्ड (वर्ष) हैं, वे सब हमेशा सुमेरु पर्वत

के उत्तर भाग में ही रहते हैं। सिद्धान्तशिरोमणि के गोलाध्याय में कहा है कि 'भारतवर्षमिदं ह्यु दगस्मात्, किन्नरवर्षमतो हरिवर्षम्। सिद्धपुराच्च तथा कुरु तस्माद् बिद्धि हिरण्मय-रम्यकवर्षे ॥—भारतवर्ष; किन्नरवर्ष, हरिवर्ष, कुरुवर्ष, हिरण्मयवर्ष, रम्यवर्ष, भद्राश्ववर्ष, केतुमालवर्ष, इलावृत्तवर्ष—ये नौ वर्ष हैं। वर्ष शब्द 'खण्ड' का बोधक है। ॥ इति दिश एकत्वव्यवस्थापनम् ॥

॥ इति दिग् ग्रन्थः ॥

आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम् ॥४७॥

आत्मा—अतति गच्छति इति आत्मा--सर्वदेहव्यापि अर्थात् जीवात्मा। इन्द्रियाद्यधिष्ठाता--'आदि' पद से शरीर को लेना है। अधिष्ठाता—ज्ञान का सम्पादक। एवं च—आत्मा (जीवात्मा) ही चक्षुरादि इन्द्रियों में तथा शरीर में ज्ञान का अर्थात् चैतन्य का सम्पादक है।

आत्मानं निरूपयति--आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठातेति।

आत्मत्वजातिस्तु सुखदुःखादिसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्ध्यति। ईश्वरेऽपि सा जातिरस्त्येव। अदृष्टादिरूपकारणाभावान्न सुखदुःखाद्युत्पत्तिः, नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यम्भाव इति नियमस्याप्रयोजकत्वात्।

परे त्वीश्वरे सा जातिर्नास्त्येव प्रमाणाभावात्। न च दशमद्रव्यत्वापत्तिः, ज्ञानवत्त्वेन विभजनादित्याहुः।

इन्द्रियादीति। इन्द्रियाणां शरीरस्य च परम्परया चैतन्यसम्पादकः।

यद्यप्यात्मनि 'अहं जाने, अहं सुखी' इत्यादि प्रत्यक्षविषयत्वमस्त्येव तथापि विप्रतिपन्नं प्रति प्रथमत एव शरीरादिभिन्नस्तत्प्रतीतिगोचर इति प्रतिपादयितुं न शक्यत इत्यतः प्रमाणान्तरं दर्शयति करणमिति। कुठारादीनां छिदादिकरणानां कर्तारमन्तरेण फलानुपधानं दृष्टम्। एवं चक्षुरादीनां ज्ञानकरणानां फलोपधानमपि कर्तारमन्तरेण नोपपद्यत इत्यतिरिक्तः कर्ता कल्प्यते ॥४७॥

॥ इति आत्मनि प्रमाणकथनम् ॥

अवसर संगति से 'आत्मा' का निरूपण कर रहे हैं। 'जीवात्मनिष्ठविषयतानिरूपकं यल्लक्षणस्वरूपप्रामाण्यादिप्रकारकं ज्ञानं तदनुकुलव्यापारानुकूल-कृतिमान् ग्रन्थकारः इति शाब्दबोधः।'

आत्मा (जीवात्मा) इन्द्रियों का और शरीर का अधिष्ठाता अर्थात् 'जनकता'-संज्ञक परम्परासम्बन्ध से इन्द्रियों में ज्ञानवत्ता का सम्पादक तथा 'अवच्छेदकता'-संज्ञक परम्परासम्बन्ध से शरीर में ज्ञानवत्ता का सम्पादक है। अतः आत्मा का लक्षण यह हो सकता है—'इन्द्रियाद्यधिष्ठातृत्वम्' अथवा 'समवायेन ज्ञानाधिकरणत्वम्' आत्मनो लक्षणम्।

काल आदि भी कालिक आदि सम्बन्ध से ज्ञानाधिकरण होते हैं। अतः अतिव्याप्ति होगी अथवा विषयतासम्बन्ध से विषयों में ज्ञानवत्त्व होने से अतिव्याप्ति होगी

उसका वारण करने के लिए लक्षण में 'समवायेन' कहा गया है। भूतकाल में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'ज्ञान' पद दिया गया है। लक्षणगत 'ज्ञान' शब्द, इच्छा आदि का भी उपलक्षक हैं। अनुमान यह होगा-'इन्द्रियाणि शरीरं च, ज्ञात्राधिष्ठितम् अचेतनत्वे सति जनकत्व-अवच्छेदकत्व एतदन्यतर सम्बन्धेन ज्ञानवत्त्वात्, वास्यादिवत्।' 'शरीर-इन्द्रिय' आदि अवच्छेदक हैं, और 'आत्मा' अवच्छेद्य है।

शंका- मुक्ति की अवस्था में आत्म-मनःसंयोग के न होने से ज्ञान नहीं है, अर्थात् ज्ञानाभाव है। अतः आत्मा में अव्याप्ति होगी।

समा०-उक्त अव्याप्ति के वारणार्थ 'ज्ञानसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्' ऐसा जातिघटित लक्षण कर देना चाहिये।

कारिकाकार ने आत्मा में प्रमाण बताने के लिये 'करणम्' कहा है। ज्ञान का करणभूत इन्द्रिय, जिस चेतन कर्ता से अधिष्ठित है, वही 'आत्मा' है। क्योंकि यह सामान्य व्याप्ति है-यत्-यत् करणं तत् तत् सकर्तृकं। यथा--वृक्षद्वैधीभावस्य करणं कुठारः कर्त्रा चेतनेन अधिष्ठितो दृश्यते। एवं च इन्द्रियाणि कर्त्राधिष्ठितानि अचेतनत्वे सति करणत्वात् कुठारवत्'-इस अनुमान से आत्मा सिद्ध हो जाता है।

यदि 'नित्यज्ञानवत्त्व' आत्मा का लक्षण करें तो जीवात्मा में अव्याप्ति होती है, और 'अनित्यज्ञानवत्त्व' आत्मा का लक्षण करें तो परमात्मा में अव्याप्ति होती है। यदि 'उभयविधज्ञानवत्त्व' लक्षण करें तो, ऐसा ज्ञानवत्त्व ही अप्रसिद्ध है। इसलिए 'स्वावच्छिन्नाधिकरणत्व सम्बन्ध से ज्ञानवत्त्व' लक्षण करना ही उचित है। अब 'आत्म' शब्द से आत्मत्व-विशिष्ट की उपस्थिति होती है। एवं च 'आत्मत्वजातिमत्त्वम् आत्मनो लक्षणम्' यह अर्थात् प्राप्त हो जाता है। तथापि 'आत्मत्वजाति' को भी प्रमाण से सिद्ध करना चाहिये, इसलिए मुक्तावलीकार 'आत्मत्वजातिस्तु' ग्रन्थ को उपस्थित कर रहे हैं। ऊपर बता चुके हैं-आत्मा इन्द्रिय, शरीर आदि का अधिष्ठाता है, क्योंकि करण सर्वदा सकर्तृक होता है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना आदि में से अन्यतम का समवायिकारण जब कि आत्मा है तो समवायिकारणतावच्छेदकतया आत्मत्व जाति की सिद्धि हो जाती है। अनुमान इस प्रकार होगा—समवायसम्बन्धावच्छिन्न-सुखत्वावच्छिन्नसुखनिष्ठकार्यतानिरूपित-तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नात्मनिष्ठकारणता, किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात्, तन्तुनिष्ठकारणतावत् इति यः किञ्चिद्धर्मः स आत्मत्वम्। इसी प्रकार दुःख आदि को लेकर भी अनुमान कर लेना चाहिये। इसी प्रकार 'जीवेश्वरनिष्ठा या आत्मपदशक्यता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, शक्यतात्वात् पटनिष्ठपटपदशक्यतावत्'-इस प्रकार का शक्यतावच्छेदक 'आत्मत्व' ही सिद्ध होता है। अतः 'आत्मपदजन्यप्रतीतिविषयत्वम् आत्मत्वम्' यह लक्षण भी आत्मा का हो सकता है।

शंका—'आत्मत्व' जाति तो अहं सुखी' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध हो सकती है, उसे सिद्ध करने के लिये अनुमान प्रमाण की क्या आवश्यकता है?

समा०—सकलात्मसाधारणतया प्रत्यक्ष का होना सम्भव न होने से सकल

आत्माओं में 'आत्मत्व' जाति की सिद्धि के लिये 'अनुमान' प्रमाण की आवश्यकता हुई, और अनुमान प्रमाण से उसे सिद्ध किया गया।

शंका—'आत्मन्' शब्द से आत्मा और परमात्मा (ईश्वर) दोनों समझे जाते हैं। तथापि परमेश्वर में सुख की उत्पत्ति न होने से सुखसमवायिकारणता 'परमेश्वर' में नहीं आ सकेगी, तब आत्मा, परमेश्वर-उभयसाधारणी 'आत्मत्वजाति' सिद्ध कैसी होगी ?

समा०—'कारणता' दो प्रकार की होती है—एक 'फलोपधायकतारूपकारणता' और दूसरी 'स्वरूपयोग्यतारूपकारणता'। परमेश्वर में फलोपधायकतारूपकारणता के न रहनेपर भी स्वरूपयोग्यतारूपकारणता तो रहती ही है। उस कारणता के अवच्छेदकरूप में आत्मत्वजाति की सिद्धि हो सकती है। भगवती श्रुति ने भी इसका समर्थन किया है—"आत्मा वा अरे दृष्टव्यः"—(बृहदा० २।४।५) इस श्रुति में परमेश्वर के लिये भी आत्मपद का व्यवहार किया गया है। अतः आत्मपदशक्यतावच्छेदकतया आत्मत्वजाति की सिद्धि परमेश्वर में हो जाती है।

शंका—यदि आत्मत्वजाति दोनों (आत्मा और ईश्वर) में साधारण है, तो ईश्वर में सुखादिकों की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? अर्थात् जीव की तरह ईश्वर भी सुख-दुःखादिमान् होना चाहिये।

समा०—"अदृष्टादिरूपकारणाभावादिति।" सुख-दुःखादि के उपभोग में 'अदृष्ट' को ही हेतु (कारण) माना गया है। 'अदृष्ट' पद से धर्म-अधर्म कहे जाते हैं। और 'आदि' पद से सुख-दुःखादि के अवच्छेदक 'शरीर' को समझना चाहिये। ईश्वर में धर्माऽधर्मरूप अदृष्ट नहीं है, और न उसका शरीर ही है। अतः 'आत्मत्वजाति' के रहने पर भी उसमें (ईश्वर में) सुख-दुःखादि की उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि यह नियम है कि प्रधान कारण के रहने पर भी जब तक सहकारिकारण न हो तब तक कार्य की उत्पत्ति नहीं हो पाती। 'प्रधाने कारणे सत्यपि सहकारिणमन्तरा कार्यं नोत्पद्यते' यह नियम है।

शंका—जैसे अरण्य-स्थित दण्ड में घटस्वरूपयोग्यता रहने से कभी न कभी 'घट' रूपी फल का होना असम्भव नहीं है, अर्थात् उससे कदाचित् 'घट' हो भी सकता है। उसी तरह ईश्वर में भी सुख-दुःखादि की स्वरूपयोग्यतारूप कारणता मानी गई है, और वह, ईश्वर की स्थिति नित्य रहने से सदा ही रहेगी। अतः उस में (ईश्वर में) कभी तो सुखःदुःख आदि कार्य की उत्पत्ति अवश्य ही होगी क्योंकि 'नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यंभावः'—यह नियम है। एवं च ईश्वर भी जीव के समान ही सुख-दुःखादिमान् होगा।

समा०—'नित्यस्येति।' 'नित्य परमात्मा में स्वरूपयोग्यतारूप सुख-दुःखादि समवायिकारणता के रहनेपर भी उसमें सुख-दुःखादिरूप फल की उत्पत्ति अवश्य होनी ही चाहिये—यह नियम व्यभिचरित है-। उक्त नियम का जलपरमाणु में व्यभिचार दिखाई देता है। क्योंकि जलीयपरमाणु में स्नेह की स्वरूपयोग्यतारूप

कारणता के रहने पर भी स्नेहरूप फल की उत्पत्ति परमाणु में नहीं होती अपितु जन्यजल में ही स्नेह की उत्पत्ति होती है। अतः उक्त नियम का जलपरमाणु में व्यभिचार स्पष्ट है। एवं च--जलपरमाणु में स्नेह के नित्य होने से 'नित्यस्य स्वरूप-योग्यत्वे, यह नियम अप्रयोजक है। अतः वास्तविक नियम यह है—'सकलकारण-समवधाने सति नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलाऽवश्यंभावः। एवं च सकलकारणान्तर्गत अदृष्टादि भी आ जाते हैं, उन अदृष्टादि सहकारी कारणों के न रहने से परमेश्वर में सुख-दुःखादि फल (कार्य) की उत्पत्ति नहीं हो पाती। अतः जीव की तरह ईश्वर को भी सुख-दुःखादिमान् नहीं कह सकते।

शंका—ईश्वर में 'अदृष्ट' की उत्पत्ति क्यों नहीं मानी जाती?

समा०—अदृष्टरूप कार्य की उत्पत्ति में मिथ्याज्ञान (आत्मतत्त्वज्ञान-भिन्न ज्ञान) कारण है। ईश्वर में मिथ्याज्ञानरूप कारण के न रहने से अदृष्टरूप कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

शंका—परे त्विति। सुख की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप से जो जाति सिद्ध होगी, वह 'जीवत्व' जाति ही होगी, 'आत्मत्व' जाति नहीं, क्योंकि 'आत्मत्व' धर्म अतिप्रसक्त है। और 'धर्म' वही अवच्छेदक माना जाता है जो अन्यून तथा अनतिरिक्त हो—'अन्यूनानतिरिक्तस्यैव धर्मस्य अवच्छेदकत्वात्' यह नियम है। यदि इस नियम को न माना जाय तो 'आत्मत्व' की तरह 'द्रव्यत्व' धर्म को भी उक्त समवायिकारणता का अवच्छेदक न माना जाय? ऐसा कतिपय नवीन नैयायिक कहते हैं। 'आत्मत्व' धर्म अतिप्रसक्त है, अतः उसे अवच्छेदक मानने में कोई प्रमाण नहीं है। एवं च सुख-दुःखादि-समवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्ध जो आत्मत्वजाति, वह ईश्वर में नहीं है, क्योंकि उसके होने में कोई प्रमाण नहीं है।

किञ्च—'क्षित्यब्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः' इस द्रव्यविभाजकवाक्य में 'आत्मपद' से केवल जीव का ही ग्रहण करें और ईश्वर का पृथक् निवेश करें तो (उक्त नौ द्रव्यों में परमेश्वर का समावेश न हो पाने से) उसे दसवाँ द्रव्य कहना होगा तब 'आत्मा' शब्द से ईश्वर का बोध नहीं हो सकेगा। और दूसरी बात यह भी है कि 'आत्मा वारे' इस श्रुति में आये हुए आत्मत्वजातिपद का कोई वाच्य नहीं बन पायगा।

समा०—'ज्ञानवत्त्वेन विभाजनादित्याहुरिति।' 'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन' इस प्रकार विभाग करते समय हम यहाँ द्रव्यविभाजक धर्म आत्मत्व को न मानकर ज्ञानवत्त्व मान लेंगे। वह 'ज्ञानवत्त्व' समवायसम्बन्ध से ईश्वर में भी रहेगा। और हमें "आत्मा" पद से दोनों (जीवात्मा-परमात्मा) प्राप्त हो सकेंगे। तात्पर्य यह है कि सुखादिसमवायिकारणतावच्छेदकरूप जाति तो 'जीवत्व' होगी और विभाजकतावच्छेदक ज्ञानवत्त्व ही होगा। जिससे ईश्वर को दसवाँ द्रव्य मानने का प्रसंग भी नहीं आवेगा। क्योंकि नौ द्रव्यों में ही उसका समावेश हो जायगा। श्रुति में आया हुआ 'आत्म शब्द भी ज्ञानवत्त्वावच्छिन्न ज्ञानवान् को लक्षण से बता देगा। ग्रन्थकार ने 'आहु' पद का प्रयोग किया है। इससे

सूचित होता है कि यह समाधान ग्रन्थकार को सम्मत नहीं है। ग्रन्थकार यह बता रहे हैं कि पूर्वोक्त अनुमान प्रमाण से परमेश्वर में भी 'आत्मत्वजाति, के मानने में कोई बाधक नहीं है। अतः आत्मत्वावच्छिन्न में आत्मन् शब्द की शक्ति का त्याग कर ज्ञानावच्छिन्न में लक्षणा मानना और 'जीवत्व, रूप न्यून धर्म को अवच्छेदक मानना तथा ज्ञानवत्त्व को विभाजकतावच्छेदक मानना यह सब गौरवास्पद ही होगा।

लक्षण बता कर अब उसका (आत्मा का) स्वरूप बता रहे हैं–इन्द्रियादीति। मुक्तावलीकार 'इन्द्रियाणां शरीरस्य च' इत्यादि ग्रन्थ से 'इन्द्रियाद्यधिष्ठाता' इस मूल कारिका का व्याख्यान कर रहे हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान की जनक हैं, अतः जनकताख्यपरम्परासम्बन्ध से इन्द्रियों में ज्ञान का (चैतन्य का) सम्पादन आत्मा करता है। उसी प्रकार अवच्छेदकता सम्बन्ध से ज्ञान के प्रति शरीर साधन होता है। अतः अवच्छेदकताख्यपरम्परासम्बन्ध से शरीर में ज्ञान (चैतन्य) का सम्पादन आत्मा ही करता है।

एवञ्च 'इन्द्रियाणां शरीरस्य च' ग्रन्थ के द्वारा ग्रन्थकार ने अनुमानप्रमाण से आत्मा को प्रदर्शित किया है। अनुमान इस प्रकार होगा—'इन्द्रियाणि ज्ञात्रधिष्ठितानि, अचेतनत्वे सति जनकतासम्बन्धेन ज्ञानवत्त्वात्।' 'शरीरं ज्ञात्रधिष्ठितम्, अचेतनत्वे सति अवच्छेदकतासम्बन्धेन ज्ञानवत्त्वात्।' जैसे जपापुष्प स्वसंयुक्तस्फटिकमणि में स्वच्छत्वविशिष्टसामीप्यादिसम्बन्ध से लौहित्यवत्त्व समर्पण करता है उसी तरह इन्द्रियाँ तथा शरीर यथाक्रम जनकता और अवच्छेदकता सम्बन्ध से आत्मा में ही ज्ञानवत्व का होना बताती हैं। क्योंकि अचेतन हमेशा चेतनाधिष्ठित होकर ही कार्य कर पाता है। इस व्याप्ति के अनुसार अचेतन इन्द्रियों में तथा अचेतन शरीर में जो चैतन्य की प्रतीति होती है वह परम्परया अर्थात् इन्द्रियों में जनकता (करणता) सम्बन्ध से और शरीर में अवच्छेदकता सम्बन्ध से होती है, क्योंकि इन्द्रियाँ और शरीर दोनों जड (अचेतन) हैं, उनमें चैतन्य का सम्पादन आत्मा के द्वारा ही समझना चाहिए।

शंका–यद्यपि 'अहं जाने अहं सुखी' अर्थात् 'सुखवानहम्, ज्ञानवानहम्' इस प्रकार से आत्मा का मानसप्रत्यक्ष सभी को होता है। तब आत्मा तो मानसप्रत्यक्ष का विषय है। अतः आत्मा में स्वमानसप्रत्यक्ष ही प्रमाण है। एवं च आत्मा तो प्रत्यक्षप्रमाण से ही सिद्ध है। उसकी सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

समा०—'तथापि विप्रतिपन्नम्प्रति' ग्रन्थ से समाधान दे रहे हैं–कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं, जिनके निर्णय न्यायसिद्धान्त के प्रतिकूल (विरुद्ध) हैं। जैसे चार्वाकदर्शनकार 'शरीरमेवात्मा, इन्द्रियाण्येवात्मा, मन एवात्मा'—एक चार्वाक शरीर को ही आत्मा कहते हैं, दूसरे चार्वाक इन्द्रियों को ही आत्मा बताते हैं, तीसरे चार्वाक मन को ही आत्मा समझते हैं। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न चार्वाकों के प्रति, तथा 'क्षणिकविज्ञान' को ही आत्मा समझने वाले बौद्ध के प्रति, तथा 'नित्यविज्ञान' को ही 'आत्मा' कहने वाले अद्वैत वेदान्तियों के प्रति सर्वप्रथम 'अहं जाने' इत्यादि प्रतीति

का विषय 'शरीरादि से भिन्न आत्मा है' यह आप नहीं बता सकते, क्योंकि उपर्युक्त-वादी शरीर आदि को ही आत्मा समझ बैठे हैं। इसलिए 'शरीरादि' से भिन्न आत्मा है' यह बताने वाला प्रमाणान्तर (अनुमान) बताना आवश्यक है। अर्थात् हम नैयायिक पहले ही कह देना चाहते हैं कि आत्मा, शरीर-इन्द्रिय-मन-क्षणिक-विज्ञान-नित्यविज्ञानरूप नहीं है, अपितु इन सबसे भिन्न है। वह तो 'सुखवाहनम्', 'दुखवाहनम्', 'ज्ञानवाहनम्' इन प्रतीतियों का विषय है। एवं च—'सुखादिनिष्ठ-प्रकारतानिरूपित-अहन्त्वावच्छिन्न-विशेष्यतावान् चेतनात्मा ही है' यह बात प्रत्यक्ष-प्रमाण के द्वारा नहीं बताई जा सकती। 'सुखवानहम्' इत्यादि प्रतीति यद्यपि सभी को होती है, तथापि चार्वाक मत के अनुसार 'अहन्त्वावच्छिन्न विशेष्यता' 'शरीर' में रहेगी। अन्य नास्तिकों के मतानुसार 'इन्द्रिय और मन' में रहेगी। बौद्धों के मतानुसार 'क्षणिकविज्ञान' में और अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार 'नित्य-विज्ञान' में रहेगी। किन्तु 'आत्मा' उन सबसे भिन्न है—यह बताने के लिये अनु-मान-प्रमाण का आश्रय करना पड़ रहा है। इसी अभिप्राय को करणमिति' ग्रन्थ से बता रहे हैं। मूलकारिका में 'करणं हि सकर्तृकम्' कहा गया है। करणम्= साधकतम अर्थात् जो क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त उपकारक हो। हि=निश्चय। सकर्तृकम्=कर्त्रा सह वर्तमानम्, कर्ता से युक्त। तात्पर्य यह है कि जो-जो करण होता है, वह कभी भी कर्ता के बिना नहीं होता—यह निश्चित है।

वास्यादीनां छिदादिकरणानां कर्तारमन्तरेण फलानुपधानं दृष्टम्। एवं चक्षुरा-दीनां ज्ञानकरणानां फलोपधानमपि कर्तारमन्तरेण नोपपद्यत इत्यतिरिक्तः कर्ता कल्प्यते।

(जैसे) अचेतन वासी (बसूला) तथा कुठार (कुल्हाड़ी) ये सब लकड़ी के काटने (छेदनक्रिया) में सहायक (करण) होते हैं, किन्तु उनका सहायक बन पाना किसी चेतनकर्ता के बिना संभव नहीं है। वैसे ही ज्ञानोत्पत्तिक्रिया में जड़ चक्षुरिन्द्रिय आदि भी सहायक (करण) होते हैं, किन्तु उनका भी सहायक (करण) बन पाना चेतन 'कर्ता' के बिना नहीं हो सकता। अर्थात् अचेतन (जड़) करणों से फलोत्पत्ति तभी हो सकती है, जब वे किसी चेतन कर्ता का आश्रय (सहारा) अनुमान के द्वारा लेते हैं। अतः अचेतनों से भिन्न चेतन आत्मा का कर्ता के रूप में अनुमान किया जाता है। अनुमान इस प्रकार होगा–'इन्द्रियं सकर्तृकम्, फलो-पधानात्मक-कारणत्वघटितकारणत्वात्, छेदनफलोपधायकवास्यादिवत्।' 'चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि रूपाद्युपलब्धौ सकर्तृकाणि करणत्वात् छिदादिक्रियासाधकतमकुठारा-दिवत्'॥ ४७॥

॥ इति आत्मनि प्रमाणकथनम् ॥

शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः।
तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः॥ ४८॥

चार्वाक का अपना मत है कि 'चैतन्य (ज्ञान) समवायसम्बन्ध से शरीर का गुण है।' शरीर और ज्ञान दोनों में कार्य-कारणभाव के प्रति उनका सिद्धान्त है कि 'समवायेन ज्ञानम्प्रति शरीरं कारणम्'। परन्तु उनका उपर्युक्त कथन उचित नहीं है क्योंकि प्राणहीन शरीरों (शवों) में व्यभिचार दिखाई देता है। अर्थात् शरीरात्मक कारण के रहते हुए भी ज्ञान रूप कार्य वहाँ नहीं हो पाता। अतः शरीर और ज्ञान (चैतन्य) का कार्य-कारणभाव मानने में 'अन्वय-व्यभिचार' दोष होता है।

ननु शरीरस्यैव कर्तृत्वमस्त्वत आह—शरीरस्येति।

ननु चैतन्यं ज्ञानादिकमेव, मुक्तात्मनां त्वन्मत इव मृतशरीराणामपि तदभावे का क्षतिः, प्राणाभावेन ज्ञानाभावस्य सिद्धेरिति चेन्न, शरीरस्य चैतन्ये बाल्ये विलोकितस्य स्थविरे स्मरणानुपपत्तेः, शरीराणामवयवोपचयापचयैरुत्पादविनाशशालित्वात्।

न च पूर्वशरीरोत्पन्नसंस्कारेण द्वितीयशरीरे संस्कार उत्पद्यत इति वाच्यम्, अनन्तसंस्कारकल्पने गौरवात्।

शंका—चार्वाक, नैयायिक से कहता है कि आपने चक्षुरादि इन्द्रियरूप करणों के कर्ता को ही 'आत्मा' कहा है। तब 'स्थूलोऽहं' कृशोऽहम्' 'करोमि' आदि प्रतीति के होते रहने से स्थूलता, कृशता और क्रियानुकूलकृति तो शरीर में ही प्रत्यक्ष दिखाई देती है। अतः 'अहंपरविषयता' को भी शरीर में ही मान लेना उचित है। एवं च—कृति की कारणभूत इच्छा और इच्छा का कारणभूत ज्ञान भी 'शरीर' ही है। इससे चार्वाक का मत स्पष्ट हो जाता है कि 'शरीर ही आत्मा है।' इस प्रकार चार्वाक के मत को ग्रन्थकार ने 'ननु शरीरस्यैव' ग्रन्थ से सूचित किया है। चार्वाक की शङ्का का आशय यह है कि 'समवायेन ज्ञानं प्रति शरीरं कारणम्' यहाँ पर आपने (नैयायिक ने) जैसे मृत शरीर में व्यभिचार दिखाया, वैसे ही न्यायमत में भी 'समवायेन ज्ञानं प्रति आत्मा (चेतनः) कारणम्' इस कार्य-कारणभाव का 'मुक्तात्मा' में ज्ञान के न होने से अन्वयव्यभिचार है। उसका निराकरण करने के लिये यदि नैयायिक कहे कि 'समवायेन ज्ञानं प्रति शरीर-विशिष्ट-मनःसंयोगावच्छिन्नात्मनः कारणत्वम्', तो हम चार्वाक भी 'समवायेन ज्ञानं प्रति प्राणविशिष्टशरीरं कारणम्' कहकर आपके दिये हुए व्यभिचार का वारण कर सकते हैं। इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि 'शरीर ही आत्मा है' यह हम चार्वाकों का सिद्धान्त है।

अथवा-'चैतन्यं' का अर्थ चेतनत्व (आत्मत्व) है, तत्र उसमें 'ज्ञानादिकमेव' अर्थात् ज्ञानेच्छाधिकरणत्व ही है। 'ज्ञानादिकम्' का अर्थ ज्ञानवत्त्व (ज्ञानविशिष्टत्व) नहीं है। जिससे मृतशरीर में व्यभिचार दिखाया जा सके। एवं च—नैयायिक के मत के अनुसार मुक्तात्मा से ज्ञान के न रहने पर भी ज्ञानाधिकरणत्व तो रहता ही है। उस कारण आत्मा में 'इतरभेदसाधक ज्ञानाधिकरणत्व' हेतु, जैसे स्वरूपासिद्ध

नहीं हो पाता वैसे ही मुझ चार्वाक के मत में भी मृतशरीरों में ज्ञान का अभाव रहने पर भी ज्ञानाधिकरणत्व के रहने से स्वरूपसिद्धि आदि कोई दोष नहीं दिया जा सकता।

अथवा—'चैतन्य' का अर्थ ज्ञान, इच्छा कृति है। वह ज्ञान, इच्छा, कृति नैयायिक के सिद्धान्तानुसार मुक्तात्मा में नहीं रहती, क्योंकि नैयायिक के सिद्धान्त में मुक्त आत्मा जड़ होती है। उसी प्रकार चार्वाक भी कह सकता है कि मृतशरीर-रूपी आत्मा में चैतन्य नहीं है। नैयायिक चार्वाक से पूछता है कि तुम बताओ कि अपने उपर्युक्त कथन के अनुसार मृत शरीर में ज्ञान क्यों नहीं होता चार्वाक उत्तर देता है–'प्राणाभावेन' इति। ज्ञान होने में जो अनेक कारण हैं उनमें से एक कारण 'प्राण' भी है, उस प्राण के न होने से ज्ञान नहीं होता। अर्थात् मृतशरीर में प्राणा-भावप्रयुक्त–ज्ञानाभाव है। निष्कर्ष यह है नैयायिक भी यही कहता है कि जिस आत्मा से प्राण का सम्बन्ध है, उसी से ज्ञान का सम्बन्ध है। अर्थात् जिस आत्मा में प्राण नहीं, उसमें ज्ञान भी नहीं है। इसलिए मुक्तात्मा में प्राणाभाव से ज्ञानाभाव की सिद्धि की जाती है। उसी प्रकार हम चार्वाक भी यही उत्तर देंगे कि मृतशरीररूपी आत्मा में प्राण के न होने से ज्ञानाभाव की सिद्धि हो जाती है। इसलिये शरीर को 'आत्मा' स्वीकार करने में नैयायिक के द्वारा प्रदर्शित किये गये व्यभिचार आदि दोष व्यर्थ हैं।

चार्वाक के द्वारा इस प्रकार उत्तर पाने पर नैयायिक अन्यान्य दूषणों को दिखा-कर चार्वाक सिद्धान्त का खण्डन करता है—'शरीरस्येति'। नैयायिक बताता है कि शरीर को चेतन (आत्मा) स्वीकार करने पर शैशव अवस्था में देखे हुए पदार्थों (वस्तुओं) का बुढ़ापे में स्मरण नहीं हो सकेगा क्योंकि शरीर तो अवयवों के उपचय (वृद्धि) तथा अपचय (ह्रास) के कारण उत्पाद विनाशशाली है अर्थात् बचपन (शैशवावस्था) में जो शरीर था, वह वृद्धावस्था (बुढ़ापे) में नहीं रहा अर्थात् प्रत्येक अवस्था में अन्य-अन्य शरीर उत्पन्न होता गया। अतः शैशव अवस्था में अनुभव किये गये पदार्थों का युवावस्था या वृद्धावस्था में स्मरण नहीं बनेगा, अर्थात् अनुपपन्न होगा। लेकिन स्मरण तो सभी को होता है, चार्वाक को भी होता है। अतः शरीर से अतिरिक्त आत्मा, जो अनुभवजन्य संस्कारों का आश्रय है, सिद्ध होता है।

चार्वाक अपने मत में स्मरण की उपपत्ति लगाता है–'न चेति'। चार्वाक कहता है—पूर्वशरीर में उत्पन्न हुए संस्कार अग्रिम शरीरों में संस्कारों को उत्पन्न करेंगे, जिससे स्मरणानुपपत्ति दोष नहीं बनेगा। क्योंकि पूर्वानुभवजन्य संस्कार, 'स्वजन्य-संस्कार-प्रयोज्य-संस्कारवत्त्व' सम्बन्ध से उत्तरोत्तर शरीरों में होते रहते हैं। यहाँ पर 'स्व' शब्द से पूर्वशरीरस्थ अनुभव लेना है। अतः सभी अवस्थाओं में स्मरण हो सकता है। इसलिए शरीर ही आत्मा है।

नैयायिक कहता है--चार्वाक की युक्ति (उपपत्ति) ठीक नहीं है। क्योंकि अनन्त

संस्कारों की कल्पना करने में कल्पना-प्रयुक्त-गौरव होगा। तथापि चार्वाक यदि कहे कि आपका दिया हुआ 'अनन्तसंस्कार-कल्पना-प्रयुक्त-गौरव'-दोष इसलिए नहीं माना जायगा कि वह फलमुख है। 'फलमुख-गौरवं न दोषाय' यह नियम है–फलं= कार्य-कारणभाव का ज्ञान, तन्मुखं–उसके अधीन, गौरवं–गौरवज्ञान। कार्य-कारण-भावज्ञान के अनन्तर उत्पन्न होने वाला गौरवज्ञान, कारणता के निश्चय करने में प्रतिबन्धक नहीं हुआ करता। विशिष्टज्ञानत्वेनरूपेण विशिष्टज्ञानत्व-धर्मिकगौरवज्ञान ही कारणता के निश्चय में प्रतिबन्धक (विरोधी) होता है। विशिष्टज्ञानत्वनिष्ठ गौरव का अर्थ होगा—'यत्किञ्चिदनुमित्यव्यवहित-पूर्वकालावच्छेदेन अवश्यकल्पनीय-स्वाश्रयकत्वम्। यहाँ 'स्व' शब्द से गौरव को लेना है, तदाश्रय होगा 'परामर्श', तत्कत्वगौरव 'विशिष्टज्ञानत्व' में आवेगा। एवं च विशिष्टज्ञानत्वेन-रूपेण विशिष्ट-ज्ञान को कारण मान लेने पर उसकी उपपत्ति के लिये दो ज्ञानों के बाद होने वाली अनुमिति के पूर्व विशिष्टज्ञान की कल्पना करनी होगी, तदनन्तर गौरवज्ञान होगा। एवं च कार्य-कारणभाव के निर्णय से पूर्व गौरव का निर्णय न हो पाने से उत्तर-कालिक गौरवज्ञान, अपने से पूर्व उत्पन्न होनेवाले कारणता के निर्णय का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। अतः इस प्रकार का 'गौरव' दोषावह नहीं माना जाता।

इसी नियम का उपपादन अन्य प्रकार से भी किया जाता है जैसे—फलं मुखं प्रधानं यस्य तत्र यद्गौरवं तद्दोषावहं न भवति।

यथा वह्निमान् धूमादित्यत्र विश्रृङ्खलतया व्याप्तिपक्षधर्मताज्ञानस्य सत्वेऽपि विशिष्टज्ञानकल्पने न गौरवम्।

इसलिये दूसरा दूषण दे रहे हैं। शरीर को यदि आत्मा मानेंगे तो उत्पन्न हुए बालक की प्रथम स्तन्यपान में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। क्योंकि 'इदं स्तन्यपानं मदिष्टस्य (जीवनस्य) साधनम्'—यह स्तन्य (दुग्ध) पान मेरे इष्ट (जीवन) का साधन है—यह स्मरणात्मकज्ञान ही इच्छाद्वारा मातृ-स्तन्य-पान में बालक की प्रवृत्ति का कारण है। प्रथम स्तन्यपान से पूर्व, स्तन्यपान का अनुभव बालक के शरीर ने नहीं किया था। दुग्धपान प्रवृत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में अपनी इष्ट-साधनता का स्मारक 'इदं मदिष्टसाधनम्' इत्याकारक अनुभवात्मकसहकारिकारण शरीरात्मक आत्मा में नहीं है। एवं च कौन-सा वह अनुभव है, जो संस्कार को उत्पन्न कराकर इष्टसाधनताज्ञानात्मक स्मृति को उत्पन्न करायेगा, और प्रवृत्ति करायेगा ? कहना होगा कि कोई अनुभव नहीं है। इसलिये मानना होगा कि पूर्व-जन्म के शरीर में अनुभव किये हुए दुग्धपान के दृढ़तर संस्कार से युक्त आत्मा है, जिसे इस जन्म में स्मरण हो रहा है। अतः वह (आत्मा) शरीर से भिन्न ही है। इस कारण शरीर को आत्मा नहीं मान सकते।

हमारे (नैयायिक के) मत में–नवजात शिशु की प्रथम स्तन्यपान में प्रवृत्ति का होना उपपन्न होता है। नैयायिकों के मतानुसार तो 'आत्मा' नित्य है। अतः वह शरीर आदि से भिन्न है। जिस आत्मा ने पूर्वजन्म में माता के स्तनपान का

जो अनुभव (स्तन्यपानं मदिष्टसाधनम्) लिया था, उससे आहित (उत्पन्न) संस्कार से दूसरे जन्म में पैदा होने पर प्रथम स्तन्यपान-प्रवृत्ति के अव्यवहित पूर्व-क्षण में 'स्तन्यपानं मदिष्टसाधनम्' इस प्रकार स्तन्यपाननिष्ठ अपनी इष्टसाधनता का स्मरण हो आता है, उस स्मरण से इच्छा होती है, तब बालक की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् स्मृति-अनुभव-साधारण इष्टसाधनता का ज्ञान होने पर ही प्रवृत्ति होती है। अतः आत्मा, शरीर से भिन्न ही है। जो आत्मा पूर्वजन्म के शरीर में था और जिसने स्तनपान में इष्टसाधनता का अनुभव प्राप्त किया था, वही आत्मा अब पुनः इस जन्म के शरीर में प्राप्त (संयुक्त) होकर, जन्मान्तरीय अनुभव के संस्कार के कारण स्तन्यपान में इष्टसाधनता का स्मरण करता है और प्रवृत्ति उपपन्न हो जाती है। तथापि उस पर चार्वाक की पुनः आपत्ति है।

चार्वाक की आपत्ति—'न च जन्मान्तरानुभूतमिति।' यदि नैयायिक के मतानुसार आत्मा नित्य है तो उसने पूर्वजन्म में वाद-विवाद, युद्ध-कलह, काम-संभोगादि कितनी ही बातों का अनुभव किया होगा, उन सभी का स्मरण उसे (बालक को) इस जन्म में होना चाहिये, क्योंकि उन सभी अनुभवों से उत्पन्न हुए सभी संस्कार उस बालक की आत्मा में विद्यमान हैं।

नैयायिक उक्त आपत्ति का समाधान करता है—उद्बोधकाभावादिति' संस्कारों के विद्यमान रहने पर भी वे (संस्कार) शैशवावस्था में अनुद्बुद्धरूप में हैं। वाद-विवाद, युद्ध-कलह, काम-संभोगादि संस्कारों का उद्बोधक यौवन का शरीर है, बाल्यावस्था का शरीर नहीं। स्मृति के प्रति उद्बुद्ध-संस्कार ही कारण होते हैं। अतः बचपन में कामभोगादि-स्मरण की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

प्रश्न—इष्टसाधनता के स्मारक संस्कार का बचपन में उद्बोधक कौन है?

उत्तर—'अत्रेति।' 'स्तन्यपानं मम इष्टसाधनम्'—इत्याकारक इष्टसाधनता-स्मारक संस्कार के प्रति जीवनादृष्ट अर्थात् शरीर में प्राणस्थिति (जीवन) के प्रयोजकरूप धर्माधर्मरूप अदृष्ट को ही उद्बोधक (इष्टसाधनतास्मारकसंस्कारोद्-बोधक) अनायत्या (अगतिकगति होकर) मानना पड़ता है। अन्यथा बालक का जीवन ही असंभव हो जायगा। अनुमान इस प्रकार किया जायगा—'बालात्मा, स्तन्यपानेष्टसाधनतास्मारकसंस्कारोद्बोधकाऽदृष्टवान्, स्तन्यपानप्रवृत्तिमत्त्वात्, मद्वत्'। एवं च नैयायिक ने आत्मा को शरीर से अतिरिक्त सिद्ध कर दिखाया। अब वह आत्मा की 'नित्यता' को सिद्ध करता है—'इत्थञ्चेति।' इस रीति से संसार के अनादि होने के कारण आत्मा का भी अनादित्व सिद्ध है और अनादि भावपदार्थ का नाश नहीं होता, इस कारण आत्मा की नित्यता भी सिद्ध हो जाती है। 'अनादि' पदार्थ का परिष्कार यह करना चाहिये 'स्वाश्रयाऽनधिकरण-कालकभिन्न धर्मवत्त्वम्।' यहाँ पर 'स्व' पद से जनन-मरणान्यतरत्वरूप संसारत्व का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि कालमात्र, जनन-मरणान्यतराश्रय होता है। अतः 'स्व' पद से घटादिनिष्ठतत्तद्व्यक्तित्व को लेना चाहिये। तादृशस्वाश्रयाऽनधिकरणकालक जो-जो

'स्व' अर्थात् तत्तत्-व्यक्तित्वादि, तत्तद्व्यक्तिभेदकूटवत्त्व जनन-मरणान्यतरत्वरूप संसारत्व में विद्यमान होने से तद्वत्व को लेकर संसार को अनादि समझना चाहिये। शरीर के जनन-मरण जब अनादि हैं तब उसके कारणभूत अदृष्ट को भी अनादि कहना होगा। इसके अनादित्व का परिष्कार इस प्रकार होगा—'स्वाश्रयप्रागभावाधिकरणस्वाश्रयानधिकरणकालकभिन्न-धर्मवत्त्वम्।' यहाँ पर 'स्व' से अदृष्टत्व का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि काल सर्वदा ही अदृष्ट का अधिकरण होता है। अतः 'स्व' पद से घटगततत्तद्व्यक्तित्व को लेना, तदाश्रयतद्घटप्रागभावाधिकरण और तद्व्यक्तित्वाश्रयतद्घटानधिकरण जो काल, तादृशकालक जो-जो 'स्व' अर्थात् तद्व्यक्तित्वादि, तद्भिन्न धर्म 'अदृष्टत्व', तद्वत्त्व अदृष्ट में रहेगा। इस प्रकार अदृष्ट का अनादित्व सिद्ध होने पर 'आत्मा' का भी अनादित्व कहना चाहिये। आत्मा का अनादित्व उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार नहीं समझना, क्योंकि आत्मनिष्ठ तद्व्यक्तित्व के आश्रय का अनधिकरण काल अप्रसिद्ध है। बल्कि उसे प्रागभावाऽप्रतियोगित्व'-रूप समझना चाहिये। क्योंकि 'आत्मा' अनादि भावपदार्थ है। उसका नाश होना संभव नहीं। अतः उसका नित्यत्व (ध्वंसाऽप्रतियोगित्व) भी सिद्ध है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'आत्मा नित्यः अनादित्वे सति भावत्वात्।' उसमें विद्यमान संस्कार की अनादिता का परिष्कार—'स्वाश्रयप्रागभावाधिकरणकालकभिन्न-धर्मवत्त्वम्'— यहाँ पर 'स्व' पद से संस्कारनिष्ठ तद्व्यक्तित्व, तदाश्रयतत्संस्कार-प्रागभावाधिकरण-कालक जो-जो 'स्व' अर्थात् संस्कारगत तत्तद्व्यक्तित्व, तद्भिन्नधर्म 'भावनात्व' (संस्कारत्व) होगा, तद्वत्त्व संस्कार में आने से संस्कार की अनादिता सिद्ध हो जाती है। 'यो-यो जन्यो भावः स सर्वोऽपि विनाशी' यह व्याप्ति है। आत्मा में 'जन्यभावत्व' रूप हेतु के न होने से उसके विनाश की कल्पना नहीं की जा सकती। भगवती श्रुति भी उसकी अविनाशिता को बता रही है—"अविनाशीवारेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा"—(बृहदा. अ. ६। ब्रा. ५। कं. १४)।

॥ इति शरीरात्मवादि-चार्वाकमतखण्डनम् ॥

चार्वाक के मत का संक्षेप इस प्रकार है—

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलाऽनिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते॥
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः॥
देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः।
मम देहोऽयमित्युक्तिः सम्भवेदौपचारिकी॥
अङ्गनालिङ्गनाजन्यं सुखमेव पुमर्थता।
कण्टकादिव्यथाजन्य दुःखं निरय उच्यते॥
लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापरः स्मृतः।
देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते॥

यावज्जीवं सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥
अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथाऽनिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात् तद्व्यवस्थितिः॥
न स्वर्गो नाऽपवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः॥
पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां वृथा पाथेयकल्पनम्॥
स्वर्गस्थिता यदि तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः।
प्रासादस्योपरिस्थानामिह कस्मान्न दीयते॥
यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः।
त्रयो वेदस्य कर्तारो धूर्त-भाण्ड-निशाचराः।
जर्फरी-तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्॥

चार भूत ही वास्तविक तत्त्व हैं, देह ही आत्मा है, चार भूतों के मिलन से मदशक्ति के समान चैतन्य पैदा होता है, और उनके विनष्ट होने पर वह (चैतन्य) स्वयं ही नष्ट हो जाता है। न कोई परलोक है, न कोई पुण्य-पाप है, जिसका फल भोगना पड़े, क्योंकि देह से अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है। प्रत्यक्ष मात्र ही एक प्रमाण है। अङ्गनालिङ्गनादि से उत्पद्यमान सुख ही पुरुषार्थ है और मरण (मरना) ही मोक्ष है। स्वार्थलोलुप, लोकसुखवञ्चक लोगों ने ही बहुवित्तव्यय और आयास-साध्य अग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठान में जनता को प्रेरित किया है। वेद प्रमाण नहीं हैं। इस चार्वाक मत के प्रवर्तक बृहस्पति हैं। इस बृहस्पति को ही कुछ लोग देवगुरु समझते हैं, परन्तु यह देवगुरु न होकर कोई अन्य ही व्यक्ति है। इस मत के प्रवर्तक का 'चार्वाक' नाम अन्वर्थक (सार्थक) है 'चारुः' लोकसम्मतः 'वाक्' वाक्यं यस्य सः 'चार्वाकः'—यह चार्वाक शब्द की निरुक्ति है। इसी का दूसरा नाम 'लौकायतिक' भी है। लोके आयतं (विस्तीर्ण—प्रसिद्धम्) यत् प्रत्यक्षम्प्रमाणं तल्लोकायतम्, तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि लोकायतम्। 'तदधीते तद्वेद'—(०।२।५९) इस सूत्र के अधिकार में 'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्–(४।२।६०) इस सूत्र से उक्थादि गण के अन्तर्गत लोकायत शब्द से 'ठक्' प्रत्यय किया गया है। लोकायतमधीते वेद वेति लौकायतिकः।

॥ इति चार्वाक-मत संक्षेप ॥

तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः ।।

पूर्वोक्त अड़तालीसवीं कारिका के उत्तरार्ध का अर्थ करते हैं।

यदि चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों को आत्मा मान लिया जाय तो किसी रोगादि के कारण चक्षुरादि इन्द्रिय के नष्ट होने पर पूर्व दृष्टवस्तु का स्मरण नहीं होना चाहिये, किन्तु होता है। अतः चक्षुरादि इन्द्रियों को आत्मा नहीं मान सकते। यहाँ पर 'तथात्व'=चैतन्य, 'उपघात'=विनाश और कारिकागत 'चेत्'[1] शब्द से प्राणात्मवादी चार्वाक के मत का खण्डन भी सूचित कर रहे हैं।

---

१. प्राणात्मवादी चार्वाक का कथन है कि 'प्राण' तीनों अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) में विद्यमान रहता है, अतः उसे (प्राण को) ही 'आत्मा' कहना चाहिये। अथवा 'जिसके रहने पर देह को जीवित कहते हैं और जिसके न रहने पर उसे (देह को) मृत कहते हैं-यह जीवात्मा का लक्षण 'प्राण' में घटित भी होता है। अतः 'प्राण' को ही आत्मा कहना चाहिये। तथा—'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते, न जीवो म्रियते' इस श्रुति में भी प्राणरूप जीवात्मा से परित्यक्त हुए देह में मरणव्यवहार किया गया है। अतः 'प्राण' ही आत्मा है। अथवा—'प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरन्तरं यदयमात्मा'—इति श्रुति ने पुत्रादि समस्त पदार्थों से भी बढ़कर जो प्रियतम हो, उसे ही 'आत्मा' कहा है। ऐसी प्रियतमता 'प्राण' में ही पायी जाती है। अतः 'प्राण' ही आत्मा है। अथवा—'अन्योऽन्तरात्मा प्राणमयः' यह श्रुति 'प्राण' को ही आत्मा बता रही है। 'मातेव पुत्रं रक्षस्व' इस श्रुति ने भी जैसे माता पुत्रों की रक्षा करती है, वैसे ही इन्द्रियादि संघात का रक्षक 'प्राण' को ही बताया है। अतः 'प्राण' ही आत्मा है।

नैयायिक उक्त मत का अनुमानप्रमाण से खण्डन करता है तथाहि—'प्राणः अनात्मा वायुत्वात् बाह्यवायुवत्' जैसे बाह्य वायु में अनात्मता रहती है, वैसे ही आभ्यन्तर प्राणवायु में भी अनात्मता रहती है, इस कारण वह 'प्राण' भी अनात्मा ही है। व्याकरण की दृष्टि से 'जीव' प्राणधारणे धातु से 'क' प्रत्यय लगाकर 'जीव' शब्द की निष्पत्ति होती है। अतः 'जीव' शब्द का अर्थ हुआ 'प्राणों को धारण करने वाला'। इस कारण भी आधार और आधेय में भेद रहना आवश्यक है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि आत्मा 'प्राण' से भिन्न ही है। किं च—'हमारा श्वास चलता है' इस अनुभव से भी श्वासात्मक प्राण से भिन्न ही आत्मा है। अथवा—प्राणवायु का स्पर्श भी प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। इस कारण घट आदि के तुल्य स्पर्शवाले और सावयव एवं उत्पत्ति-विनाशशील प्राणरूप आत्मा को अनित्य कहना होगा। अथवा—इस शरीर का जीवन भी केवल प्राण के अधीन नहीं है, बल्कि प्राण के धारक जीवात्मा के ही अधीन है। इसी बात को श्रुति कह रही है—'न प्राणेन नाऽपानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ।' लोगों का जीवन प्राण तथा आपान से नहीं, किन्तु जीवात्मा से ही है।

ननु चक्षुरादीनामेव ज्ञानादिकं प्रति करणत्वं कर्तृत्वं चास्तु, विरोधे साधकाभावादत आह—तथात्वमिति । तथात्वं चैतन्यमित्यर्थः । उपघाते—नाशे सति, अर्थाच्चक्षुरादीनामेव । कथमिति । पूर्वं चक्षुषा साक्षात्कृतानां चक्षुषोऽभावे स्मरणं न स्यात्, अनुभवितुरभावात् । अन्यदृष्टस्यान्येन स्मरणासम्भवात् । अनुभवस्मरणयोः सामानाधिकरण्येन कार्यकारणभावादिति भावः ॥ ४८ ॥

॥ इति इन्द्रियात्मवादिमत-खण्डनम् ॥

किसी एकदेशी चार्वाक की आशंका को मुक्तावलीकार 'ननु'—ग्रन्थ से प्रकट कर रहे हैं ।

'करण' का अर्थ है साधकतम और उसका जो भाव उसे 'करणत्व' कहते हैं । उसी तरह 'कर्तृत्वम्' = क्रियानुकूलकृतिमत्त्वम् । करणत्व और कर्तृत्व ये दोनों ही धर्म, चक्षुरादि इन्द्रियों के ही हैं । अतएव 'काणोऽहं जानामि' ऐसा अहम् प्रत्यय होता है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि 'इन्द्रियाँ' ही आत्म-पदार्थ है । इन्द्रियों के अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है ।

चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, रसना, घ्राण ये सभी समवाय, सम्बन्ध से ज्ञान, इच्छा, कृति, भावना आदि के प्रति करण कहलाते हैं । व्यापाराविष्ट हुए कारण को 'करण' कहते हैं 'व्यापारवत्त्वे सति कारणत्वम्' । इस प्रकार का 'करणत्व' चक्षुरादि इन्द्रियों में है । क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियाँ चक्षुःसंयोगादिरूप व्यापार वाली हैं और उनमें चाक्षुषज्ञानाऽव्यवहितपूर्वकालवृत्तित्व भी है । अत एव कृत्याश्रयत्वरूप कर्तृत्व भी उनमें है । अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'चक्षुरादीनि, कर्तृणि, करणत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम् ।

चार्वाक—चक्षुरादि इन्द्रियों को ही ज्ञानादि कार्य के प्रति करण और कर्ता क्यों न कहें । अर्थात् करणत्व एवं कर्तृत्व दोनों धर्म, चक्षुरादि इन्द्रियों के ही क्यों न मान लिये जाँय ? अतः तदतिरिक्त आत्मा को स्वीकार करना व्यर्थ है ।

प्रश्न—(नैयायिक का) कर्ता और करण में जो भेदेन व्यवहार किया जाता है, वह उपपन्न नहीं हो सकेगा । क्योंकि करणत्व और कर्तृत्व दोनों का स्वभाव परस्पर विरुद्ध है । अतः एक ही वस्तु में करणत्व और कर्तृत्व कैसे संभव हो सकेगा ?

अथ च—प्राणात्मवादी ने प्राणों में सर्वाधिक प्रिततमता को जो बताया है, वह भी उचित नहीं है, क्योंकि अत्यन्त दुःखी हुआ व्यक्ति जीवात्मा के सुखार्थं विषादिका भक्षण कर प्राणों को भी त्याग देता है । 'अहं क्षुधापिपासावान्' इस अनुभव को 'नीलं तमः' की तरह भ्रम ही समझना चाहिये । अथवा—'अन्योऽन्तरात्मा प्राणमयः' इस श्रुति ने प्राणात्मवादी के भ्रमात्मक मत का अनुवाद किया है, अतः य[illegible] श्रुति, पूर्वपक्षरूप है । किञ्च प्राण के संवाद को भी प्राणाभिमानी देवता विषयक समझना चाहिये । एवञ्च प्राणात्मवादी चार्वाक का मत नितान्त अनुचित है ।

उत्तर—(चार्वाक का) 'विरोधे साधकाभावात्' इति । करणत्व और कर्तृत्व भिन्नाधिकरण ही हों, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियाँ करण एवं कर्ता नहीं हो सकतीं—इस कथन में कोई प्रमाण (साधक युक्ति) नहीं है । जहाँ प्रमाणाऽसहिष्णुत्व हो (प्रमाण की कसौटी पर न कसा जा सके) वहीं विरोध (इदं विरुद्धम्) की प्रतीति हुआ करती है, किन्तु जहाँ प्रमाण के द्वारा (सप्रमाण) कोई बात जानी जाती है, वहाँ विरोध की प्रतीति नहीं हुआ करती । जैसे—जैनदार्शनिक एक ही वस्तु को 'सत् और असत्' दोनों मानते हैं।

नैयायिक के द्वारा खण्डन—'तथात्वम्' इति । यदि चैतन्य को इन्द्रियों का धर्म मान लिया जाय अर्थात् इन्द्रियों में ही क्रियानुकूलकृतिमत्त्व (कर्तृत्व) माना जाय तो इन्द्रियों का रोगादि से उपघात (विनाश) होने पर पूर्वानुभूतपदार्थ की स्मृति कैसे हो पायगी ? क्योंकि 'अनुभवितुः अभावात्' । स्मृतिज्ञान का अधिकरण आत्मा (चक्षुरादि इन्द्रिय) तो नष्ट हो चुका । जिस चक्षुरिन्द्रिय ने पहले वस्तु का साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) किया था, उस चक्षुरिन्द्रिय का तो रोगादि के कारण अब विनाश हो गया है । अतः अनुभव करने वाले चक्षु के न होने से उस वस्तु का अब स्मरण नहीं होना चाहिये । अन्य कोई देखे और अन्य कोई याद करे यह संभव नहीं । सभी जानते हैं कि किसी ने अपनी आँखों से अपने माता-पिता आदि परिजनों को या अन्य वस्तुओं को देखा है, किन्तु कालान्तर से रोगादि के कारण अन्धा हो जाने पर भी उसे अपने माता-पिता आदि परिजनों की या अन्य वस्तुओं की याद आया करती है । तात्पर्य यह है कि अनुभविता को ही याद (स्मृति) हुआ करती है, क्योंकि अनुभव और स्मरण (स्मृति) का सामानाधिकरण्य (एक ही आत्मा में समवायसम्बन्धावच्छिन्न होकर दोनों का रहना) होने से उनका कार्य-कारणभाव रहता है, अर्थात् अनुभव संस्कार के द्वारा कारण है और स्मरण (स्मृति) उसका कार्य है । अभिप्राय यह है कि 'जहाँ अनुभव, वहीं स्मरण' यह नियम है ।

किञ्च—इन्द्रियों में भी क्या प्रत्येक इन्द्रिय में भिन्न-भिन्न 'चेतनत्व' (प्रत्येक इन्द्रिय आत्मा) है, या समस्त इन्द्रियों में मिलकर (सामूहिक रूप से) एक चेतनत्व (आत्मा) है ? प्रथम पक्ष लें तो प्रत्येक इन्द्रिय के स्वतन्त्र रहने पर कदाचित् उन इन्द्रियों में वैमत्य भी हो सकता है, तब उनमें परस्पर विपरीत दिशा की ओर क्रियाओं के होने पर उन इन्द्रियों से अधिष्ठित हुए शरीर के विदीर्ण होने का प्रसंग आवेगा ।

यदि द्वितीय पक्ष को लें तो श्रोत्र के नष्ट होने पर भी चक्षु से शब्द का प्रत्यक्ष होने का प्रसग प्राप्त होगा । अथवा किसी रूप आदि की प्रतीति ही न हो सकेगी, क्योंकि आत्मा तो नष्ट हो चुका है । 'मृतोऽयम्'—यह मर गया है, ऐसी अबाधित प्रतीति सबको सर्वत्र होने लगेगी ।

यदि प्रत्येक इन्द्रिय को अलग-अलग पूर्णस्वतन्त्र आत्मा के रूप में न कहें तो उससे तो यही अच्छा होगा कि जिसके अधीन (परतंत्र) ये इन्द्रियाँ होंगी उसे ही आत्मा कहा जाय और उसे इन्द्रिय से पृथक् कहना होगा। रूपादि विषयों में अपनी इच्छानुसार वह इन्द्रियों का प्रवर्तक होगा, जैसे बढई अपनी इच्छानुसार कुठार का प्रवर्तक रहता है। इन्द्रियों को आत्मा सिद्ध करने के लिए 'अहं काणः' यह प्रतीति जो प्रदर्शित की थी, उसे 'मम देहः'—मेरा देह, इस प्रतीति की तरह 'मम इन्द्रियम्'– मेरी इन्द्रिय, इस बाधक प्रत्यय के विद्यमान होने से भाक्त (लाक्षणिक) ही समझना चाहिये। एवं च 'अहं नेत्रेण पश्यामि' इत्याकारक व्यवहार से नेत्रात्मक उपकरण से भिन्न अहंविषय आत्मा है, यह स्पष्ट हो जाता है। अतः इन्द्रियात्मवादी चार्वाक का मत (इन्द्रिय ही आत्मा है) ठीक नहीं है ॥ ४८ ॥

॥ इति इन्द्रियात्मवादखण्डनम् ॥

मनोऽपि[1] न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षन्तदा भवेत्।

मनोऽपीति ।'मन' भी, न तथा—चेतन नहीं है। तदा—मन को यदि चेतन (आत्मा) कहें तो उसका (मनका) अणुपरिमाण होने से उसके (मनोरूप आत्मा

---

१. 'मन' इन्द्रिय को आत्मा माननेवाले चार्वाक के मत का निरूपण कर रहे हैं। जैसे—स्वप्न में चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों के विरत होने पर 'मन' के ही समस्त व्यवहार चलते रहते हैं। 'मन' से सम्बन्ध होने के पश्चात् ही उन चाक्षुषादिज्ञानों की उत्पत्ति होती है, इस कारण इन्द्रियसमुदाय में एक 'मन' इन्द्रिय ही स्वतंत्र इन्द्रिय है। अथवा—'कामः संकल्पो विचिकित्साश्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इस श्रुति में इच्छा, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, ज्ञान, भय इन सबको 'मन' का ही धर्म माना है। इस कारण 'मन' को ही आत्मा मानना चाहिये। तथा 'मन एवास्यात्मा अन्योन्तर आत्मा मनोमयः' श्रुति ने भी 'मन' को ही आत्मा कहा है। तथा 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' इस स्मृति ने भी 'मन' को ही बन्ध-मोक्ष का कारण कहा है इसलिए 'मन' ही आत्मा है, यह समझ में आता है।

उक्त मत का खण्डन—तुम चार्वाकों का 'मन' इन्द्रिय संज्ञक आत्मा अणु परिमाणवाला है या देहतुल्य मध्यम परिमाणवाला है ? यदि 'अणुत्व' पक्ष को वह स्वीकार करता है तो मनोरूप आत्मा के ज्ञान, सुख-दुःख आदि धर्मों को प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि चाक्षुष आदि छः प्रकार के प्रत्यक्षों में 'महत्त्व' (महत्परिमाण) को ही कारण माना गया है। किन्तु वह 'महत्परिमाण' मनमें नहीं है। इस कारण मन के ज्ञान, सुखादि धर्मों का प्रत्यक्ष नहीं होगा, किन्तु 'अहं जानामि', 'अहं सुखी' इत्यादि ज्ञान का सभी को प्रत्यक्ष होता है। तथा मनोरूप आत्मा को अणुपरिमाण वाला मानने पर समस्तशरीरव्यापि-सुख-दुःखादिकों का अनुभव नहीं होगा। अतः 'अणुत्व' पक्ष का स्वीकार चार्वाक के मत में नहीं बन पा रहा है।

के) ज्ञानादि गुणों का, अनध्यक्षम्—अप्रत्यक्ष होने लगेगा। क्योंकि प्रत्यक्ष का प्रयोजक महत् परिमाण हुआ करता है।

ननु चक्षुरादीनां चैतन्यं मास्तु मनसस्तु नित्यस्य चैतन्यं स्यादत आह--मनोऽपीति। न तथा--न चेतनम्। ज्ञानादीति। मनसोऽणुत्वात्प्रत्यक्षे च महत्त्वस्य हेतुत्वान्मनसि ज्ञानसुखादिसत्त्वे तत्प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यर्थः। यथा मनसोऽणुत्वं तथाऽग्रे वक्ष्यते।

॥ इति मनस आत्मवादखण्डनम् ॥

मन को आत्मा कहनेवाला चार्वाक शङ्का कर रहा है--'ननु इति। किसी कारण से इन्द्रियों का उपघात (नाश) होनेपर स्मरणानुपपत्तिरूप दोष दिखा कर चक्षुरादि इन्द्रियों को नैयायिक यदि 'आत्मा' नहीं मानता है तो न माने, किन्तु ध्वंसाऽप्रतियोगि अर्थात् नित्य 'मन' इन्द्रिय को आत्मा कह सकते हैं। क्योंकि यहाँ पर 'नाशे सति स्मरणानुपपत्ति' रूप दोष नहीं दिया जा सकता। अतः 'मन' इन्द्रिय ही ज्ञान आदि के प्रति करण भी है और कर्ता भी। अनुमान प्रयोग—'मनः कर्तृ, मानसत्वावच्छिन्नकरणत्वात्।' नैयायिक भी 'नित्यं मनः' कहकर 'मन' इन्द्रिय को नित्य कहते हैं। और आत्मा वही है जो नित्य हो। अतः 'मन' को आत्मा मान लेने में कोई अनौचित्य नहीं है। इन्द्रियात्मवादपक्ष में कृतविप्रणाशादि दोष की तरह यहाँ कोई दोष भी नहीं होगा।

नैयायिक समाधान देता है—'न तथा' इति। जैसे 'इन्द्रिय' चेतन नहीं, वैसे ही 'मन' भी चेतन नहीं है। उक्त कथन में हेतु देते हैं—'ज्ञानादी'ति। ज्ञान, इच्छा आदि विशेष गुणों का 'जाने, इच्छामि' इत्याकारक प्रत्यक्ष नहीं होगा। उसी

ऊपर कहे हुए इस (मनोरूप आत्मा, देह के तुल्य मध्यम-परिमाण वाला है) द्वितीय पक्ष को भी वह नहीं अपना सकेगा। क्योंकि मध्यम परिमाणवाले मन का एक ही काल में चक्षुरादि समस्त इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध विद्यमान होने से एक ही समय में समस्त ज्ञान उत्पन्न होने लगेंगे। किञ्च 'मन' को स्वतन्त्र कहना भी असंगत है, क्योंकि वैराग्य आदि के द्वारा मन का निरोध, योग में किया जाता है, वह निरोध करनेवाला आत्मा, 'मन' से भिन्न ही कहना होगा। अथवा—'हमारा 'मन' स्थिर है तथा नहीं है' इस अनुभव के अनुरोध से भी 'मन' से भिन्न ही आत्मा सिद्ध होता है। अथवा—'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इस श्रुति में 'मन' को आत्मसाक्षात्कार का कारण कहा गया है। इसलिए दर्शनरूप क्रिया का कर्मरूप वह आत्मा भी उस कारणरूप 'मन' से पृथक् ही सिद्ध होता है।

किञ्च—'कामः संकल्पः' इस श्रुति में कामादि धर्मों को मनोजन्य बताया गया है। अतः इच्छा आदि धर्मों का उपादान कारण ही वह [मन] सिद्ध होता है। एवं च मन आत्मवादी चार्वाक का मत नितान्त असंगत है।

को स्पष्ट कर रहे हैं—'मनसोऽणुत्वात्' इति। क्योंकि 'मन' का परमअणु परिमाण है। और प्रत्यक्ष में तो 'महत्त्व' महत्परिमाण कारण होता है 'मन' के अणुत्व का निरूपण आगे 'मनोनिरूपण' में किया जायगा। मन का महत्परिमाण न होने से 'मन' का ही प्रत्यक्ष नहीं होगा तब मनोरूप आत्मा कहनेवाले के मत में तत्समवेत (मनोरूप आत्मा में समवेत) ज्ञान-सुखादिकों का भी मानस प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा।

किञ्च—'मनसा अहं जानामि' इस प्रयोग से 'मन' का ज्ञानकरणत्व तो सिद्ध होता है, किन्तु ज्ञानकर्तृत्व नहीं। 'स्वतन्त्रः कर्ता' इस नियम के अनुसार 'कर्तृत्व' तो स्वातन्त्र्यनियत है। 'स्वातन्त्र्य' का अर्थ है—'स्वच्छन्दानुरोधेन साध्यसिद्ध्यनुगुणोपकरणसम्पादनसामर्थ्यम्—अपनी इच्छा के अनुसार साध्यसिद्धि के अनुरूप उपकरण-सम्पादन का सामर्थ्य होना। किन्तु 'करणत्व' पारतन्त्र्यनियत होता है। पारतन्त्र्य का अर्थ है—'पराधिष्ठानाधीनं व्यापारत्वम्'—अन्य अधिष्ठान के अधीन व्यापार का होना। 'मन' के होने में ही क्या प्रमाण है? यह जिज्ञासा हो तो यह सूत्र 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम्'—[न्या. सू. १।१।१६] प्रमाण है। 'मन' यह अणुद्रव्य है और ज्ञान, सुख आदि उसके गुण हैं। एवं च 'मन' इन्द्रिय, ज्ञान का कर्ता नहीं है, किन्तु उन ज्ञानादिकों का कर्ता 'मन' से भिन्न कोई अन्य ही है, जिसे 'आत्मा' कहा जाता है।

॥ इति मनस आत्मवादखण्डनम् ॥

नन्वस्तु विज्ञानमेवाऽऽत्मा, तस्य स्वप्रकाशरूपत्वाच्चेतनत्वम्, ज्ञानसुखादिकं तु तस्यैवाऽऽकारविशेषः। तस्यापि भावत्वादेव क्षणिकत्वं, पूर्वपूर्वविज्ञानस्योत्तरोत्तरविज्ञाने हेतुत्वात्। सुषुप्तावप्यालयविज्ञानधारानिराबाधैव, मृगमदवासनावासितवसन इव पूर्व-पूर्वविज्ञानजनितसंस्काराणामुत्तरोत्तरविज्ञाने सङ्क्रान्तत्वान्नानुपपत्तिः स्मरणादेरिति चेत्—

न, तस्य जगद्विषयकत्वे सर्वज्ञत्वापत्तिः। यत्किञ्चिद्विषयकत्वे विनिगमनाविरहः। सुषुप्तावपि विषयावभासप्रसङ्गाच्च ज्ञानस्य सविषयत्वात्।

क्षणिक विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध शंका कर रहा है—'ननु' इति। योगाचार बौद्ध कह रहा है कि इन्द्रिय, प्राण और मन को 'आत्मा' न मानना ठीक ही है, किन्तु क्षणिक (बौद्धों के अनुसार द्वितीयक्षण वृत्तिध्वंस प्रतियोगित्व) 'विज्ञान' अर्थात् प्रवृत्ति, आलयरूपउभयविध विज्ञान को आत्मा मानने में कोई आपत्ति नहीं है। अतः प्रवृत्ति-आलयउभयविधक्षणिकविज्ञान को 'आत्मा' मान लेना चाहिये, क्योंकि वह विज्ञान भी स्वप्रकाशरूप होने से चेतन है। ज्ञान, सुख आदि उस विज्ञान के ही आकार विशेष हैं। इनके मत के अनुसार यद्यपि सभी कुछ विज्ञानरूप है तथापि इस समय आत्मनिरूपण प्रस्तुत होने से 'विज्ञानमात्मा' विज्ञान को आत्मा कह रहे हैं। वह विज्ञान भी भावरूप होने से क्षणिक है। पूर्व पूर्व विज्ञान, उत्तरोत्तरविज्ञान में कारण होता है। अतः सुषुप्ति अवस्था में भी आलयविज्ञान की

धारा निर्बाध बनी रहती है। जैसे कस्तूरी की सुगन्ध सौ वस्त्रों की गड्डी में भी पहली पड़त से लेकर अन्तिम पड़त तक क्रमशः सङ्क्रान्त होती जाती है, वैसे ही पूर्व-पूर्व-विज्ञान उत्तरोत्तरविज्ञान में स्वानुभवजन्य संस्कारों को उत्पन्न करता रहता है। इस कारण स्मरणानुपपत्तिरूप दोष (जैसे चार्वाक के मत में दिया था) भी यहां नहीं है। अभिप्राय यह है कि इस संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सब विज्ञान-स्वरूप ही हैं। अर्थात् विज्ञान के सिवाय अन्य कोई दूसरा पदार्थ ही नहीं है, क्योंकि 'यत्र यत्र प्रमेयत्वं तत्र तत्र ज्ञानत्वम्' अर्थात् ज्ञानत्व, प्रमेयत्व का व्यापक है। अतः सभी कुछ विज्ञानरूप है।

यह विज्ञान, प्रवृत्तिविज्ञान तथा आलयविज्ञान के भेद से दो प्रकार का है। 'अयं घटः, अयं पटः' इत्यादि बाह्यपदार्थों के ज्ञान को अर्थात् सविषयकविज्ञान को 'प्रवृत्तिविज्ञान' कहते हैं। वह जाग्रत्, स्वप्न और अर्धसुषुप्ति में रहता है। और 'अहम्-अहम्—मैं हूँ, इस प्रकार के ज्ञान को अर्थात् निर्विषयकविज्ञान को 'आलय-विज्ञान' कहते हैं। वह गाढ़ सुषुप्ति में रहता है। 'आलयविज्ञान' और प्रवृत्तिविज्ञान-रूप उभयविधविज्ञान की संज्ञा 'आत्मा' है। अर्थात् इसी आलयविज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञानरूप उभयविध विज्ञान को 'आत्मा' शब्द से लोग कहा करते हैं।

शंका—बुद्धि का ही नामांतर 'विज्ञान' है, अतः उसे चेतन (आत्मा) कैसे कह सकते हैं? क्योंकि बुद्धि तो जड़ है, उसमें चेतनता का होना असंभव है। इस लिये विज्ञान को आत्मा नहीं कह सकते। दूसरी बात यह है कि आत्मा (चैतन्य) तो ज्ञान का अधिकरण हुआ करता है, किन्तु ज्ञान, अन्य ज्ञान का आधार (अधि-करण नहीं बनता। अतः ज्ञानाधिकरणात्मक चैतन्य (आत्मत्व) विज्ञान में कैसे उपपन्न होगा?

समा०—उस क्षणिकविज्ञान को स्व-पर के व्यवहार करने में अपने से किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती अर्थात् वह (प्रवृति तथा आलय) उभयविज्ञान (आत्मा) स्वतः प्रकाश (स्वयं प्रकाश) है। क्योंकि उस विज्ञान का विषय उस से भिन्न नहीं है, अर्थात् स्वाऽभिन्नज्ञानविषयता ही उस विज्ञान में है। इस कारण उसमें (विज्ञान में) जड़ता नहीं है अपितु उसमें चेतनत्व ही है। अतः वही ज्ञान का कर्ता (चेतन) है,

शंका—आत्मा को यदि क्षणिकविज्ञानरूप कहें तो उसमें सुख-दुःख आदि की समवायिकारणता नहीं बन पायगी। यदि कहें कि ज्ञान की उत्पत्ति के क्षण में ही सुखादि की उत्पत्ति होती है, तो सुख दुःखादि की उत्पत्ति के पूर्व विज्ञान की स्थिति न रहने से उसमें कारणता ही नहीं बन सकेगी। यदि ज्ञानोत्पत्ति के द्वितीय क्षण में सुखादि की उत्पत्ति मानी जाय तो सुखादि की उत्पत्ति के समय ज्ञान का ही नाश हो जाने से उसमें समवायिकारणत्व नहीं बन सकता कार्यकाल में सयवायिकारण की स्थिति रहने से ही वह, कार्य का हेतु (कारण) कहलाता है। अतः क्षणिकविज्ञान को आत्मा कैसे कहा जाय?

समा०—'अहं जानामि, अहं सुखी' आदि अनेक आकारवाला विज्ञान ही ज्ञान, सुखादि के आकार में भासित होता है। यद्यपि विज्ञान, निर्विशेष (सभी से अभिन्न) है, तथापि संवृति (संवृणोति आत्मनोरूपमिति संवृतिः अविद्या) के कारण उस निर्विशेष विज्ञान के विशिष्ट आकार भासित होते हैं। 'तदभिन्नत्वे सत्यपि तद्भिन्नत्वेन भासमानत्वम्'–निर्विशेषविज्ञान से अभिन्न होकर भी उससे भिन्न भासित होना ही आकारों की विशेषता है। एवं च ज्ञान, सुख आदि में कार्यकारणभाव की प्रसक्ति नहीं हो पाती, क्योंकि वे आत्मा से भिन्न नहीं हैं।

ज्ञान, सुख-दुःख आदि सभी आत्मा के गुण हैं। वे सब उस क्षणिकविज्ञानरूप आत्मा के ही आकार हैं। जैसे नैयायिक के मत में 'घटविषयकज्ञान' का आकार 'अयं घटः' यह घट है–होता है, वैसे ही सुख-दुःखादि भी 'विज्ञान' के आकार हैं।

शंका—ज्ञान, सुखादि को यदि आत्मा का ही आकारविशेष कहेंगे तो बौद्धों के मत में आत्मा में विकारता प्राप्त होगी और उसके प्राप्त होने से उसे (आत्मा को) अनित्य कहना होगा।

समा० —'तस्यापीति।' जो पदार्थ (वस्तु) भाव (सत्) रूप होता है, वह क्षणिक होता है–'यत् सत् (वस्तु) तत् क्षणिकम्' यह नियम (व्याप्ति) है। तदनुसार यह विज्ञान भी भावरूप वस्तु होने से क्षणिक है। बौद्धमतानुसार 'क्षणिक' का अर्थ 'द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्व' है। अर्थात् प्रतिक्षण एक-एक विज्ञान उत्पन्न होता है और वह दूसरे (द्वितीय) क्षण में ही नष्ट हो जाता है, तथा दूसरे क्षण में दूसरा विज्ञान उत्पन्न होता है, वह तीसरे अर्थात् उससे दूसरे क्षण में नष्ट होता है। इस प्रकार पूर्व पूर्व विज्ञान की उत्तरोत्तरविज्ञानोत्पत्ति के द्वारा अखण्डधारा का प्रवाह बहता रहता है। एवञ्च—पूर्व क्षण में उत्पन्न हुआ। वह विज्ञान, अपने दूसरे क्षण में दूसरे विज्ञान को उत्पन्न करके अपने आप नष्ट हो जाता है। इस कारण पूर्व-पूर्व का विज्ञान उत्तर उत्तर के विज्ञान के प्रति कारण होता है, इस प्रकार से उनमें कार्य-कारण-भाव माना जाता है। एवञ्च 'क्षणिकविज्ञान' भावपदार्थ होने से उसमें क्षणिकत्व और अनित्यत्व हम बौद्ध मानते ही हैं।

शंका—पूर्व उत्पन्न विज्ञान का तो विनाश हो जाता है, क्योंकि बौद्धों ने उसे भावपदार्थ होने के कारण क्षणिक माना है। तब विज्ञानान्तर (अन्य विज्ञान) का कोई उत्पादक न होने से सुषुप्तिअवस्था में आत्मा नहीं है, कहना होगा। ऐसी स्थिति में सुषुप्ति और मरण में कोई अन्तर (भेद) नहीं रहेगा।

समा०—गाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) में भी 'आलय विज्ञान की धारा चलती ही रहती है इस कारण सुषुप्त को मृत नहीं कह सकते अर्थात् सुषुप्ति को मरण नहीं कहा जाता। अतः सुषुप्तिकाल में भी 'विज्ञानरूप आत्मा' का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। एवं च क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है।

तात्पर्य यह है कि हमारे (बौद्धों के) मत में कार्य कारण का सामानाधिकरण्य ही होना चाहिये, यह कोई नियम नहीं है। हमारे मत (बौद्धसिद्धान्त) में तो 'कारण'

वही होता है जो कार्य के पूर्व रहे—'कारणत्वं तु कार्यपूर्ववृत्तित्वमात्रम्' अतः पूर्व-पूर्व विज्ञान, अव्यवहित उत्तरविज्ञान के प्रति कारण (हेतु) होता है अर्थात् प्रवृत्ति-विज्ञान, आलयविज्ञान के प्रति हेतु होता है। अतः गाढ़निद्रा के आरम्भ में प्रवृत्ति-विज्ञान के द्वारा आलयविज्ञान की उत्पत्ति होने से 'अहम्' इस आलयविज्ञान की अखण्डधारा चलती रहती है। इसलिये सुषुप्ति अवस्था में आत्मा नहीं है, यह नहीं कह सकते, बल्कि उस अवस्था में भी आत्मा का अस्तित्व रहता ही है।

शंका—विज्ञान को क्षणिक मानने पर, तदाश्रित संस्कारों को भी क्षणिक मानना होगा तब कालान्तर में स्मरण (स्मृति) का होना नहीं बन पायेगा।

समा०—'विज्ञान' क्षणिक वस्तु है, वह पूर्वक्षण में उत्पन्न होकर, दूसरे क्षण में नष्ट होता है, किन्तु वह अपना संस्कार छोड़ जाता है, वह संस्कार, पूर्वविज्ञान के दूसरे क्षण में उत्पन्न होनेवाले दूसरे विज्ञान के आश्रय से रहता है। उसी को दृष्टान्त के द्वारा समझा रहे हैं–'मृगमदवासनेति।' कस्तूरी को किसी एक कपड़े की तह में रख दिया जाय, फिर उस कपड़े की तह पर अन्यान्य कपड़ों की अनेक तहें लगाते चले जाँय तो भी उस कस्तूरी की सुगन्धि का संस्कार (वासना) उन सभी कपड़ों में चलता (संक्रान्त होता) जाता है। और सभी कपड़े सुगन्धित हो जाते हैं। वैसे प्रत्येक ज्ञान के संस्कार से संस्कृत अग्रिम-अग्रिम ज्ञान होते जाते हैं। उस वैज्ञानिक संस्कार के कारण स्मरण (स्मृति) का होना भी संभव हो जाता है। अर्थात् चार्वाक के मत में इन्द्रिय, प्राण, मन को आत्मा मानने पर स्मरण का होना सम्भव नहीं हो पाता था यानी 'स्मरणानुपपत्ति' रूप दोष दिया गया था, वह दोष हमारे विज्ञानात्मा के पक्ष में नहीं दिया जा सकता। अतः सार्वदिक् क्षणिकविज्ञान ही आत्मा है और वही ज्ञान का कर्ता (चेतन) है।

उपर्युक्त (योगाचार बौद्ध) मत का नैयायिक खण्डन करते हैं—'न' इति। योगाचार बौद्ध से नैयायिक से पूछता है कि तुम (बौद्ध) यह बताओ—तुम्हारा (बौद्ध का) विज्ञानरूप आत्मा सम्पूर्ण जगत् को विषय करता है, या किसी एक वस्तु को विषय करता है ? यदि तुम्हारा विज्ञान (आत्मा) सम्पूर्ण जगत् को विषय करता हो तो वह (विज्ञान) सम्पूर्ण जगद्विषयक हुआ, तब सभी मनुष्यों को सर्वज्ञ क्यों न कहा जाय ? किन्तु कोई भी मनुष्य सर्वज्ञ तो है नहीं। अब यदि दूसरे पक्ष की दृष्टि से विचार करें कि 'विज्ञान' केवल यत्किञ्चित् अर्थात् घट-पट आदि किसी एक ही वस्तु (पदार्थ) को विषय करता है अर्थात् यत्किञ्चित् पदार्थ विषयक वह विज्ञान है, तो इस कथन में विनिगमनाविरह (किसी एक पक्ष की प्रतिपादक युक्ति का अभाव) है। क्योंकि तुम्हारे (बौद्ध के सिद्धान्त के अनुसार बाह्यपदार्थ तो कोई है ही नहीं, तब कैसे कह सकते हैं कि अमुक ज्ञान घट-विषयक है और अमुक ज्ञान पटविषयक है, क्योंकि जब कोई बाह्यपदार्थ है ही नहीं, तब आपका ज्ञान, किसी भी पदार्थ को अपना विषय बना सकता है। अनेक पदार्थों में से किसी एक ही पदार्थ को अपना विषय बनाने में कोई युक्ति नहीं है। बाह्यपदार्थों (विषयों)

का अस्तित्व न होने के कारण सभी पदार्थ, ज्ञान के विषय हो सकते हैं। ज्ञान का एक ही विषय क्यों बने ? एक ही विषय बनने में आपके (बौद्ध के) पास क्या विनिगमना (निर्णायक युक्ति) है ? अर्थात् कोई युक्ति नहीं है। जब कि कोई बाह्यपदार्थ है ही नहीं, तो एक विशेष समय में एक विशेष पदार्थ (घट-पट आदि) का ही अनुभव क्यों होता है ? किसी दूसरे पदार्थ का अनुभव क्यों नहीं होता ? अतः योगाचार बौद्ध का विज्ञानवाद मानना उचित नहीं है।

विज्ञानवाद के न मान सकने में दूसरा कारण यह भी है कि बौद्धसिद्धान्त के अनुसार सुषुप्ति अवस्था में भी 'आलयविज्ञान' रहता है। अतः उस अवस्था (सुषुप्तिअवस्था) में भी विषय स्फुरण होना चाहिए, क्योंकि ज्ञान (विज्ञान) सविषयक होता है। किन्तु सुषुप्ति अवस्था में किसी भी घट-पटादि बाह्यपदार्थ का ज्ञान नहीं होता। उस अवस्था में तो केवल 'अहम्'='मैं' के ज्ञान की धारा बहती रहती है, इसी का नाम 'आलयविज्ञान' है। ज्ञान, निर्विषयक कभी नहीं होता, वह हमेशा सविषयक होता है—यह नियम है। तब उस समय भी घट-पटादि बाह्य विषयों का ज्ञान क्यों नहीं होता ? अतः विज्ञानवाद को मानना ठीक नहीं है।

तदानीं निराकारा चित्सन्ततिरनुवर्तत इति चेन्न, तस्याः स्वप्रकाशत्वे प्रमाणाभावात्। अन्यथा घटादीनामपि ज्ञानत्वापत्तिः।

न चेष्टापत्तिर्विज्ञानव्यतिरिक्तवस्तुनोऽभावादिति वाच्यं, घटादेरनुभूयमानस्यापलपितुमशक्यत्वात्।

आकारविशेष एवायं विज्ञानस्येति चेत्, किमयमाकारोऽतिरिच्यते विज्ञानात् ? तर्हि समायातं विज्ञानव्यतिरिक्तेन। नातिरिच्यते चेत्, तर्हि समूहालम्बने नीलाकारोऽपि पीताकारः स्यात्। स्वरूपतो विज्ञानस्याऽविशेषात्।

अपोहरूपो नीलत्वादिर्विज्ञानधर्म इति चेन्न, नीलत्वादीनां विरुद्धानामेकस्मिन्नसमावेशात्। इतरथा विरोधावधारणस्यैव दुरुपपादत्वात्, न वा वासनासङ्क्रमः सम्भवति, मातृपुत्रयोरपि वासनासङ्क्रमप्रसङ्गात्।

न चोपादानोपादेयभावो नियामक इति वाच्यम्, वासनायाः सङ्क्रमासम्भवात्।

उत्तरस्मिन्नुत्पत्तिरेव सङ्क्रम इति चेन्न, तदुत्पादकाभावात्। चितामेवोत्पादकत्वे संस्कारानन्त्यप्रसङ्गः। क्षणिकविज्ञानेऽतिशयविशेषः कल्प्यत इति चेन्न, मानाभावात्कल्पनागौरवाच्च।

इति क्षणिकविज्ञानात्मवादिबौद्धमतखण्डनम्।

विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध उपर्युक्त कथन पर नैयायिक से कह सकता है कि हमारे मत में सुषुप्ति में निराकार (विषयाकाररहित अर्थात् निर्विषयिणी) चित्सन्तति (क्षणिक ज्ञान-धारा अर्थात् आलयविज्ञान धारा) चलती रहती है। अतः उस समय घट—पटादि बाह्य विषयों का ज्ञान क्यों नहीं होता ? यह प्रश्न ही नहीं उठता।

नैयायिक उत्तर देता है—सुषुप्तिकाल में उस आलय-विज्ञान-धारा (निर्विषयक चित्सन्तति) को स्वप्रकाश मानने में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि ज्ञान हमेशा विषयिता से व्याप्य होता है 'ज्ञानत्वस्य विषयिताव्याप्यत्वात्', यह नियम है। अन्यथा अर्थात् विना प्रमाण के ही निर्विषय को भी 'ज्ञान' कहा जाय यानि जिस ज्ञान का कभी किसी को अनुभव नहीं होता, उस ज्ञान को यदि स्वयंप्रकाश कहें तो घट-पट आदि जडपदार्थों को भी स्वयं प्रकाश क्यों नहीं कहते? क्योंकि घट-पटादि जडपदार्थ भी निर्विषय हैं। जैसे—ज्ञान के विषय घट-पट आदि हैं और 'ज्ञान' स्वयं विषयी होता है। घट-पट आदि का तो कोई विषय नहीं होता। यदि घट-पट आदि का भी कोई विषय होता तो घट-पटादि को विषयी कहा जाता। इसलिये घट-पट आदि बाह्य जडपदार्थों को निर्विषय कहा जाता है। ज्ञान, इच्छा, कृति, भावना, द्वेष ये पाँच पदार्थ सविषय कहे जाते हैं, इनके अतिरिक्त सभी पदार्थ निर्विषय कहे जाते हैं। निर्विषय को भी यदि 'ज्ञान' कहें तो निर्विषय घट-पटादि जडपदार्थों को भी 'ज्ञानरूप' कहना पड़ेगा।

बौद्ध कहता है— हमारे मत में सभी प्रमेय पदार्थ, विज्ञानरूप हैं, अतः घट-पटादि प्रमेय पदार्थों का ज्ञानरूप होना हमें इष्ट ही है। क्योंकि विज्ञान से अतिरिक्त (भिन्न) तो कोई वस्तु (पदार्थ) है ही नहीं। अतः घट-पटादि सभी प्रमेय-पदार्थ विज्ञान से अभिन्न (विज्ञानरूप) ही हैं, इस कारण यह तो हमारे सिद्धान्त के अनुकूल ही है। एवं च—'ज्ञान' स्वयं प्रकाश ही है। घट-पटादि पदार्थों को स्वयं प्रकाश मानना हमें अभीष्ट है।

नैयायिक कहता है—घट-पट आदि पदार्थों का अनुभव (ज्ञान) होना एक अलग बात है और उस अनुभव (ज्ञान) का विषय होना एक अलग बात है। घट-पटादि पदार्थ उस अनुभव (ज्ञान) के विषय हुआ करते हैं, अतः घट-पटादि में अनुभूत होने वाली ज्ञान-विषयता तो उन घट-पटादि का स्वरूप ही है यह सभी मानते हैं। घट-पटादि पदार्थों को अनुभूयमान पदार्थ कहा जाता है, यह सर्व-प्रसिद्ध है। इस प्रसिद्धि का अपलाप आप कैसे कर सकते हैं? एवञ्च—घट-पटादि पदार्थों में ज्ञानविषयता का अनुभव सभी को होता है, अतः ज्ञान और उसके विषय घट पटादि पदार्थ ये दोनों नितान्त भिन्न हैं यह स्पष्ट हो जाता है।

बौद्ध कहता है— हम घट-पटादि पदार्थों के स्वरूप का अपलाप नहीं कर रहे हैं। हमारे कथन का तात्पर्य यह है कि बाह्य आकार (रूप) में दृश्यमान घट-पटादि पदार्थ, क्षणिकविज्ञान (ज्ञान) के ही विशेष आकार (स्वरूप विशेष) हैं। जैसे—पट, तन्तुओं का ही स्वरूपविशेष है। उस पट की सत्ता, तन्तुओं की सत्ता के अतिरिक्त नहीं है। अतः हम घट-पटादि पदार्थों के स्वरूप का अपलाप नहीं कर रहे हैं, बल्कि वे घट-पटादि के रूप में दृश्यमान बाह्य पदार्थ, विज्ञान से अतिरिक्त नहीं हैं, विज्ञान के ही विशेष आकार हैं, इतना ही कह रहे हैं।

तब नैयायिक उससे पूछता है—'किमयमिति ।' घट-पटादि पदार्थों का आकार यदि विज्ञान का ही आकार है तो यह बताओ कि विज्ञान का यह घट-पटाद्याकार विशेष, विज्ञान के स्वरूप से भिन्न है या अभिन्न ? यदि अनुभूयमान (दृश्यमान) घट-पटाद्याकारविशेष, विज्ञान के स्वरूप (आकार) से भिन्न कहो तो विज्ञान से अतिरिक्त (भिन्न) घट-पटादि पदार्थों को आपने मान लिया । तब तो 'विज्ञान व्यतिरिक्तो घटः' इस न्यायमत (हमारे मत) में आप आ गये । अर्थात् हमारे मत में और आपके मत में कोई भेद ही नहीं रहा । इस प्रकार हमारे (नैयायिकों के) मत का अनुसरण करने पर 'सर्वं विज्ञानम्' इस तुम्हारी (बौद्ध की) प्रतिज्ञा का भंग हो गया, क्योंकि बौद्ध के मत में विज्ञान के बिना (अतिरिक्त) दूसरी वस्तु ही नहीं है । और विज्ञान की सत्ता से भिन्न बाह्यपदार्थ की सत्ता आपने स्वीकार कर ली यह कहना होगा ।

दूसरे पक्ष में भी नैयायिक दोष दे रहा है--नातिरिच्यते चेत्तर्हीति ।' यदि घट-पटादि बाह्य पदार्थों का आकार; विज्ञानस्वरूप (विज्ञान का आकार) ही है, तो विज्ञान तथा बाह्यपदार्थ दोनों का आकार एक ही है, यह कहना होगा । अर्थात् घट-पटादि बाह्यपदार्थ विज्ञान से अतिरिक्त नहीं हैं । ऐसी स्थिति में जब 'इमे नीलपीते' इत्याकारक समूहालम्बनात्मकज्ञान (एक ज्ञान) में नीलाकार-विज्ञान, पीताकार हो जाना चाहिये, क्योंकि नील और पीत दोनों, विज्ञान के ही आकार हैं । विज्ञान में स्वरूपतः तो कोई भेद है ही नहीं, अर्थात् जो नीलाकारविज्ञान है वही पीताकारविज्ञान है । 'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्' यह नियम है । अर्थात् नील-रूपाकारात्मक-विज्ञानाभिन्नस्य पीताकारस्य नीलाभिन्नत्वम् । इस नियय के अनुसार 'नील' पीतस्वरूप तथा 'पीत' नीलस्वरूप होने लगेगा, क्योंकि बौद्ध के मत में नील तथा पीत दोनों, विज्ञान के ही आकार माने गये हैं । 'नानाविशेष्यतानिरूपित-नानाप्रकारताशालिज्ञानं—समूहालम्बनम्' अर्थात् जिस एक ज्ञान में अनेक पदार्थ स्वतन्त्ररूप से (विशेषण-विशेष्यभाव के बिना) भासते हैं, उसे समूहालम्बनात्मक-ज्ञान कहते हैं । एवञ्च ज्ञान का आकार, ज्ञान से भिन्न न होने से ज्ञान में स्व-रूपतः कोई भेद हो ही नहीं सकता । यदि क्रमशः पहिले व बाद दो ज्ञान हों तो किसी तरह उनमें मान भी लिया जाय, परन्तु नील और पीत का जो ज्ञान एक साथ और एक ही ज्ञान के रूप में हो रहा है, उस एक ही ज्ञानव्यक्ति में भेद (भिन्नता) कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? अतः नील में भी पीत प्रत्यय होना चाहिये और उसे यथार्थ भी कहना होगा । अर्थात् 'इमे नीलपीते' की जगह 'इमे नीले' इतना ही अथवा 'इमे पीते' इतना ही ज्ञान होगा । क्योंकि 'स्व-रूपतो विज्ञानस्येति' । विज्ञान का आकार (स्वरूप) विज्ञान से भिन्न नहीं (एक ही) है । अतः समूहालम्बनात्मक धारावाहिक ज्ञान में नील और पीत का ज्ञान जो एक साथ और एक ही ज्ञान के रूप में हो रहा है उसमें [एक ही ज्ञान व्यक्ति में] भेद (अन्तर) कैसे हो सकेगा ?

बौद्ध कहता है–'अपोहरूप इति'। हमारे सिद्धान्त के अनुसार नील-पीत आदि बाह्य-पदार्थ का कोई अस्तित्व न होने से उसमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। अर्थात् नीलाकार से पीताकार अभिन्न ही है, भिन्न नहीं है। तथापि हम (बौद्ध) नीलत्व, पीतत्व आदि धर्म (जाति) को 'अपोह' (अतद्व्यावृत्ति) के रूप में मानते हैं। (अपोह्यते व्यावर्त्यते इति अपोहः) वह 'अपोह' हमारे मत में 'ज्ञान' का ही धर्म है। इस कारण नील और पीत में भिन्नता हो जायगी। अर्थात् 'नील' (नीलात्मक विज्ञान) में अतद्व्यावृत्तिरूप (अनील-व्यावृत्तिरूप) नीलत्वधर्म और 'पीत' (पीतात्मक विज्ञान) में अपीतव्यावृत्तिरूप पीतत्व धर्म रहता है। उन भिन्न-भिन्न नीलत्व-पीतत्व धर्मों के कारण ही नील और पीत में भेद प्रतीति की उपपत्ति हो जायगी, तात्पर्य यह है कि बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार घट-पट आदि में रहनेवाली घटत्व-पटत्व आदि जातियों (धर्मों) का वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं है। अर्थात् 'जाति' कोई भावात्मक वस्तु नहीं है। नैयायिकों ने जैसे समस्त घटों पर रहनेवाला 'घटत्व' संज्ञक एक सामान्य (जाति) वास्तविकरूप में माना है, वैसा बौद्ध नहीं मानते। उनका कहना है कि घट-पट आदि सभी पदार्थ अपने से अतिरिक्त पदार्थों से भिन्न हैं अर्थात् घट में अघट का (घटातिरिक्त सभी का) भेद है। इस प्रकार की स्वातिरिक्त से व्यावृत्ति को ही अतद्व्यावृत्ति यानी अपोह कहते हैं। यह अघटों का भेद ही घटों में सामान्य की प्रतीति कराता है। अर्थात् घटों में कोई भावात्मक (भावरूप) सामान्य नहीं है, किन्तु अघटों से भिन्न रहना ही निषेधात्मक सामान्य है। अतः सामान्य पदार्थ काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। इस रीति से अपोह (अतद्व्यावृत्ति) को ज्ञान का धर्म कह सकते हैं, उसी के बल पर ज्ञान में रहनेवाले नील, पीत आदि आकारों में भेद होता है। अतः कोई दोष नहीं है।

नैयायिक—वह धर्म भी तुम्हारे (बौद्ध) मत में विज्ञानरूप ही है, विज्ञान से उसका (धर्म का) भेद नहीं है। इस कारण उन धर्मों की भी एकता है तथा 'नीलत्व' और 'पीतत्व' ये (नीलात्मक-पीतात्मक विज्ञान के) धर्म भी शशशृङ्ग के समान मिथ्या हैं। अतः उनके बल पर सद्वस्तु विज्ञान का भेद होना सम्भव नहीं, तब नील और पीत में भेद की प्रतीति कैसे होगी ?

किञ्च—एक विज्ञानरूप धर्मी में नीलत्व, पीतत्व ये परस्पर विरुद्ध (असमानाधिकरण अर्थात् परस्पराऽभावव्याप्त) धर्म कैसे रह सकते हैं ? क्योंकि बौद्ध सिद्धान्त में किसी भी बाह्य पदार्थ का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं है। दो विरुद्ध धर्मों के रहने के लिये दो भिन्न-भिन्न धर्मी पदार्थ मानने होंगे। बाह्यपदार्थवादी नैयायिक नील, पीत आदि भिन्न-भिन्न दो धर्मी पदार्थों का अस्तित्व मानता है। अतः बाह्यपदार्थवादी नैयायिक के मत में तो दो विरुद्ध धर्म (नीलत्व, पीतत्व) दो भिन्न-भिन्न बाह्य धर्मी पदार्थों में रह सकते हैं। किन्तु बाह्यपदार्थ को न मानने वाला बौद्ध, नैयायिकों के समान नहीं कह सकता, क्योंकि उसके मत में

बाह्यपदार्थ है ही नहीं, तब एक ही ज्ञान में नीलत्व, पीतत्वादि दो विरुद्ध धर्म एक साथ कैसे रह सकते हैं ? विरुद्ध धर्मों का भी सामानाधिकरण्य (एक अधिकरण में रहना) यदि मान लिया जाय तो 'नीलत्व-पीतत्वे विरुद्धे' इत्याकारक अभ्रान्तानुभवरूप विरोधावधारण ही नहीं बन पायेगा। जल में उष्णता शीतलता रूप विरुद्ध धर्मों की एक ही समय में एक साथ ही प्रतीति होने लगेगी। अतः बाह्यपदार्थ का अस्तित्व अर्थात् बाह्यपदार्थ का स्वरूप (आकार) विज्ञान से भिन्न मानना ही चाहिये।

इस रीति से यह सिद्ध हुआ कि नीलत्व-पीतत्वादि धर्मवाले पदार्थ, विज्ञान से भिन्न हैं। तथा ज्ञान हमेशा सविषय होता है, सुषुप्ति में उस सविषय ज्ञान का होना कदापि सम्भव नहीं है। अतः आत्मा को विज्ञान से अतिरिक्त ही स्वीकार करना होगा।

शंका—(बौद्ध की) नैयायिक ने विरुद्धधर्मों के सामानाधिकरण्य नहीं हो सकने की बात कही, किन्तु समूहालम्बनात्मक ज्ञान में तो नीलत्व-पीतत्व आदि विरुद्ध धर्मों को नहीं माना जाता अपितु चित्रत्व या चित्त्व धर्म को ही माना जाता है। अतः विरोधावधारण की दुरुपपादतारूप दोष नहीं हो पाता।

उक्त आशंका को ध्यान में रखकर ही नैयायिक इस समय बौद्ध प्रदर्शित वासनासंक्रम का खण्डन कर रहा है—'न वा वासनासङ्क्रम' इति। बौद्ध ने कहा था कि 'कस्तूरी' (मृगमद) की वासना (गन्ध-संस्कार) संक्रमण के समान पूर्व-पूर्व विज्ञान उत्तरोत्तर विज्ञान में वासना का संक्रमण करता है। संक्रमण करने के कारण मेरे (बौद्ध के) मत में विज्ञानात्मा के अनित्य तथा क्षणिक रहने पर भी स्मरणानुपपत्तिरूप दोष नहीं है, किन्तु यह सम्भव नहीं। क्योंकि पूर्वआलयविज्ञान, उत्तरआलयविज्ञान का हेतु (कारण) होने से पूर्वआलयविज्ञान की वासना, उत्तरआलयविज्ञान में यदि जा सकती है तो माता (मातृरूपविज्ञान) की वासना (संस्कार) उसके (माता के अपने) पुत्र (पुत्ररूपविज्ञान) में भी संक्रमित (संचरित) होनी चाहिए। क्योंकि मातृरूपविज्ञान भी, पुत्ररूपविज्ञान का हेतु है। एवञ्च मातृनिष्ठसंस्कार का संक्रमण पुत्र में होने लगेगा। किन्तु संक्रमणापत्ति को बौद्ध भी स्वीकार नहीं करेगा, क्योंकि माता के द्वारा अनुभूतपदार्थों का स्मरण माता को ही होता है, पुत्र को नहीं। वासना-संक्रमण को मानने पर तो मात्रनुभूत बातों का स्मरण पुत्र को भी होने लगेगा, किन्तु होता नहीं। क्योंकि 'वासना' तो 'आत्मा' का धर्म (गुण) है, अतः वह जिस आत्मा (धर्मी) का धर्म है, उस धर्मी का त्यागकर अन्यत्र जाने में समर्थ नहीं है। मृगमद (कस्तूरी) के संक्रमण में भी उसके परमाणु ही अदृष्टवशात् दूसरी-दूसरी पर्तों में संयुक्त होते जाते हैं। बौद्ध इस रहस्य से अपरिचित प्रतीत हो रहा है। अर्थात् पदार्थ के स्वभाव से परिचित नहीं है।

बौद्ध—उपादान कारण के द्वारा अनुभूत जो हो, उसी का स्मरण उपादेय

(कार्य) को हुआ करता है—यह नियम है। माता और पुत्र में उपादानोपादेय भाव नहीं है, क्योंकि माता तो पुत्र के प्रति निमित्तकारण होती है। अतः मातृदृष्ट या अनुभूत वस्तु का पुत्र को स्मरण नहीं हो पाता। विज्ञान की स्थिति ऐसी नहीं है। पूर्व-विज्ञान तो उत्तरविज्ञान का उपादानकारण है और उत्तर-विज्ञान, उसका उपादेय है। अतः पूर्वविज्ञान के संस्कार उत्तर-विज्ञान में आते हैं।]

नैयायिक——उत्तरविज्ञान में पूर्वविज्ञान की वासना (संस्कार) का संक्रम (संचार) होना असंभव है, क्योंकि बौद्धों का सिद्धान्त है कि 'सर्वं क्षणिकम्' इस नियम के अनुसार पूर्वविज्ञान भी क्षणिक होने से पूर्णतया नष्ट हो जाता है अर्थात् वह (पूर्वविज्ञान) अपना कोई यत् किञ्चित् अंश भी छोड़ता नहीं, जिसका संक्रमण (संचार) उत्तरविज्ञान में हो पाये। अतः पूर्वविज्ञान का उत्तरविज्ञान में वासना समर्पण करना सर्वथा असम्भव है।

बौद्ध——हमारे मत में उपादान का अर्थ समवायिकारण नहीं है 'न उपानदानत्वं नाम समवायिकारणत्वम्।' क्योंकि भिन्न काल में स्थित दो क्षणिकविज्ञानव्यक्तियों में समवायिकारणता का होना सम्भव नहीं, किन्तु 'असहकृतं कारणमुपादानकारणम्'। उत्तरकालीनज्ञानव्यक्ति के प्रति केवल (अकेले) पूर्वज्ञानव्यक्ति को ही हम कारण मानते हैं। माता, पुत्र के प्रति असहकृत कारण नहीं है, शुक्र आदि भी पुत्र के प्रति सहकारि कारण होते हैं। अथवा——उपादानत्वं नाम 'कार्याऽव्यवहितप्राग्वृत्तित्वे सति कार्यसजातीयत्वम्'। 'कार्यसजातीयत्वं च कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वम्'। बौद्ध मत में आत्मत्वावच्छिन्नम्प्रति आत्मत्वेनैव उपादानतया उत्तरकालीन—आलयविज्ञानम्प्रति पूर्वकालीन-आलयविज्ञानमुपादानं भवति। ऐसा उपादानत्व पुत्र के प्रति माता का नहीं है। क्योंकि पुत्रत्व और मातृत्व भिन्न-भिन्न धर्म हैं। एवञ्च उक्तप्रकार का उपादानोपादेयभाव ही कारणगुणों के कार्यगुणवृत्तित्व में नियामक होता है। अतः मातृसंस्कारों का पुत्र में सङ्क्रमण नहीं हो पाता।

नैयायिक——वासना संक्रमण में 'उपादानोपादेयभाव' को नियामक नहीं कह सकते। क्योंकि 'वासनायाः संक्रमासंभवात्' इति। 'वासना' तो गुणपदार्थ है, वह भावनात्मक संस्काररूप है। गुण होने से उसमें गुण, क्रिया नहीं रह सकती 'गुणे गुणक्रिययोरभावात्'। एवं च उत्तर-विज्ञान में गमनात्मक संक्रमणक्रिया का होना कदापि सम्भव नहीं है।

बौद्ध——उत्तरस्मिन्निति। 'संक्रम' का अर्थ 'गमनक्रिया' नहीं है, किन्तु 'उत्पत्ति' है। अर्थात् उत्तरविज्ञान में पूर्वविज्ञान की वासना की उत्पत्ति का होना ही 'संक्रम' है। एवं च उत्तरविज्ञान की उत्पत्ति के समय में ही पूर्व-आलयविज्ञानस्थितसंस्कार से उत्तर-आलयविज्ञान में संस्कार भी उत्पन्न होता है। बौद्ध का अभिप्राय यह नहीं है कि पूर्वविज्ञान की वासना ही उत्तरविज्ञान में संक्रमित होती है, अपितु पूर्वविज्ञान की वासना (संस्कार) अग्रिमविज्ञान में नये सिरे से उत्पन्न होती है। इस उत्पत्ति को ही 'संक्रम' या 'संचार' कहते हैं। अतः नैयायिक जो

समझ रहा है कि 'पूर्वविज्ञान की वासना ही उत्तरविज्ञान में संक्रमित (संचरित) हो जाती है'—वह हमारा (बौद्ध का) अभिप्राय नहीं है। यदि नैयायिक इस पर कहे कि उत्तर-अलयविज्ञान और संस्कार (वासना) दोनों एककालीन होने से उनमें आधाराऽऽधेयभाव कैसे बन सकेगा ? तो उसपर बौद्धका कहना है कि दोनों (उत्तरा-लयविज्ञान और वासना) के एककालीन होनेपर भी उनमें आधाराऽऽधेयाभाव हम मानते हैं। अतः संस्कारसंक्रम की अनुपपत्ति नहीं है।[1]

नैयायिक—'तदुत्पादकाभावादिति।' बौद्ध ने जो यह कहा था कि 'उत्तर-विज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही 'वासना' की उत्पत्ति उसमें (उत्तरविज्ञान में) होती है. उस उत्पत्ति का ही नाम 'संक्रम' है।' किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पादक के बिना किसी की उत्पत्ति नहीं हुआ करती। पूर्वविज्ञान तो नष्ट हो ही चुका है, अतः वह अपनी वासना को उत्तरविज्ञान में कैसे उत्पन्न करेगा ? क्योंकि उसकी उत्पत्ति के क्षण में पूर्वविज्ञान विद्यमान ही नहीं है। यदि पूर्वविज्ञान की सत्ता (विद्यमानता) उस दूसरे क्षण में भी मानी जाय तो उसमें अधिकक्षणा-वस्थायित्व मानना होगा, जिससे 'विज्ञानं क्षणिकम्' इसे बौद्ध सिद्धान्त का भंग हो जायगा। एवञ्च वासनासंक्रमण के निरूपण करने में बौद्ध समर्थ नहीं है।

बौद्ध–'चितामेवेति।' पूर्वविज्ञान भले ही उत्तरविज्ञान में वासना (संस्कार) को पैदा न करे, किन्तु ज्ञानत्वेनरूपेण ज्ञान, संस्कार का उत्पादक (हेतु) होने से 'चित्' (ज्ञान) को ही हम उसका (वासना का) उत्पादक मानते हैं। अर्थात् उत्तरोत्तर उत्पद्यमान विज्ञान स्वयं (स्वतः) ही वासना (संस्कार) को उत्पन्न करेगा।

नैयायिक—'संस्कारानन्त्य (तदानन्त्य) प्रसङ्गः' इति। प्रतिक्षण में उत्पन्न हुआ ज्ञान भिन्न-भिन्न होने से उसका अन्त नहीं है, अर्थात् ज्ञान, अनन्त है। अतः उन अनन्त ज्ञानों से उत्पन्न होनेवाले संस्कार (वासना) भी अनन्त होंगे। अर्थात् अनन्त संस्कारों की कल्पना करनी पड़ेगी। तात्पर्य यह है कि नैयायिक प्रत्येक अनुभव का एक संस्कार मानते हैं, किन्तु बौद्ध को प्रत्येक अनुभव के अनन्त संस्कार मानने पड़ेंगे क्योंकि प्रत्येक ज्ञान के साथ तत्तत् पूर्ववर्ती प्रत्येक अनुभव के संस्कार बार-बार उत्पन्न होंगे।

---

१. शंका—ज्ञान, सुख, संस्कार आदि को यदि आत्मा से भिन्न नहीं मानेंगे तो 'अहं सुखी' 'अहं संस्कारी' इत्याकारक सभी के अनुभव में आनेवाले सुख संस्करा-धिकरणत्वागाहिप्रत्यय की उपपत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि अभेद रहने पर आधा-राधेय भाव का बनना सम्भव नहीं है।

समा०—आधार और आधेय की अभिन्नता (एकता-तादात्म्य) रहने पर भी आधारतावच्छेदक धर्म और आधेयतावच्छेदक धर्म में तो भेद (भिन्नता) अवश्य ही रहेगा, तब उसी भेद को आधाराधेयभाव का नियामक मान लेंगे। 'तादात्म्य' को तादात्म्यत्वेन-रूपेण अधिकरणता का नियामक न कह सकने पर भी स्वरूपत्वेन उसे अधिकरणता का नियामक कह सकते हैं।

बौद्ध—विज्ञान तो क्षणिक है, उस क्षणिक विज्ञान में एक प्रकार की शक्ति है। अर्थात् जिस ज्ञान व्यक्ति के अनन्तर स्मरण उत्पन्न होता है, उस स्मरण के हेतुभूत संस्कार को उत्पन्न करनेवाली शक्ति की कल्पना पूर्वज्ञान-व्यक्ति में ही करते हैं, समस्तज्ञानव्यक्तियों में नहीं। अर्थात् 'प्रत्येक ज्ञान के साथ प्रत्येक संस्कार की बार-बार उत्पत्ति होती है'—यह हम नहीं कह रहे हैं, बल्कि जिस ज्ञान के बाद स्मरण होता है, उस स्मरण से पहले होनेवाले ज्ञान में एक विशेष प्रकार की शक्ति (अतिशय) की कल्पना हम करते हैं। वही शक्ति (अतिशय) स्मरण का कारण बनती है। अतः अनन्त विज्ञानों में अनन्त संस्कार मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती, और स्मरण की भी उपपत्ति ठीक लग जाती है।

नैयायिक—स्मरण से पूर्व के विज्ञान में इस प्रकार की विशेषशक्ति (अतिशय) मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इसपर **बौद्ध** कदाचित् यह कहे कि ज्ञानव्यक्ति के भेद से अनन्तसंस्कारों की कल्पना करने की आवश्यकता के न होने का लाघव ही शक्ति के होने में प्रमाण है, तो दूसरा दोष देते हैं—'कल्पनागौरवाच्चे'ति। अतिशय (शक्ति) के मानने में कल्पनागौरव इस प्रकार होगा—जब-जब स्मरण होगा तब-तब पूर्वविज्ञान में अतिशय (शक्ति) की कल्पना करनी होगी, फिर उस शक्ति का नाश, पुनः उसकी उत्पत्ति इस प्रकार से अनन्त अतिशयरूप शक्तियों को मानना होगा। अभिप्राय यह है कि शक्ति भी भावपदार्थ होने से वह क्षणिक है। अतः अनन्तशक्ति उसके प्रागभाव आदि की कल्पना करने से गौरव होने के कारण लाघव नहीं है। एवं च क्षणिकविज्ञान को किसी प्रकार से भी 'आत्मा' नहीं कह सकते। अतः 'स एवायम्' यह प्रत्यभिज्ञा आपामर होने से ज्ञानाधिकरण नित्य आत्मा का स्वीकार करना ही उचित है।

एतेन क्षणिकशरीरेष्वेव चैतन्यं प्रत्युक्तं गौरवादतिशये मानाभावाच्च। बीजादावपि सहकारिसमवधानासमवधानाभ्यामेवोपपत्तेः, कुर्वद्रूपत्वाकल्पनात्।

इति शरीरात्मवादिमतखण्डनम्।

बा० प्रि०—बौद्धसम्प्रदाय के ही कुछ विद्वान् क्षणिक शरीर को ही चेतन (आत्मा) अर्थात् 'क्षणिकशरीरेष्वेव चैतन्यम्' चेतनता क्षणिकशरीरों का धर्म है ऐसा मानते हैं, किन्तु पूर्वोक्त दो दोषों (प्रमाणाभाव तथा गौरव) के कारण उनका पक्ष भी खण्डित हो जाता है। ये बौद्धैकदेशीविद्वान् क्षणिक शरीर में ही चैतन्य (ज्ञान) मानते हैं, और चार्वाक भी चैतन्य को शरीर का ही धर्म मानते हैं। तथापि दोनों में भेद इतना ही है बौद्ध, शरीर को क्षणिक मानकर उसमें 'चैतन्य' मान रहा है। किन्तु चार्वाक शरीर को क्षणिक नहीं मानता। अब नैयायिक 'गौरवात् अतिशये मानाभावाच्च' कहकर बौद्धैकदेशीविद्वानों के मत का खण्डन कर रहा है। प्रतिक्षण परिवर्तनशील शरीर में नवीन-नवीन संस्कारों के पैदा होने से अनन्त संस्कारों की कल्पना करने का गौरव होगा। यही दोष, ज्ञान

को उत्पादक मानने पर दिया गया था। इस पर बौद्ध ने कहा था कि हम प्रतिक्षण पैदा होनेवाले शरीर में बार-बार संस्कारों की उत्पत्ति न मानकर केवल स्मरण से अव्यवहित पूर्वक्षण के शरीर में ही विशेष अतिशय (शक्ति) का उत्पन्न होना मानते हैं, जिससे अनन्तसंस्कारों की कल्पना करने का गौरव नहीं होगा। उस पर नैयायिक ने उत्तर दिया था कि स्मरण से अव्यवहित पूर्वक्षण के क्षणिकशरीर में विशेष अतिशय (शक्ति) को मानने में कोई प्रमाण नहीं है। क्षणिकविज्ञानवादी का कहना था कि "क्षणिक विज्ञान ही आत्मा तथा ज्ञान का कर्ता है"। उस पक्ष को छोड़ इसके बदले "क्षणिक शरीर को ही आत्मा तथा ज्ञान का कर्ता" इस पक्ष ने माना है। किन्तु यह पक्ष भी ठीक नहीं है। इसके मानने में भी वैसा ही महान् गौरव है। जैसे देवदत्त ने कभी पहले यज्ञदत्त को देखा था। वही यज्ञदत्त कुछ समय के पश्चात् उस देवदत्त से मिला। उस समय देवदत्त को 'वही यह यज्ञदत्त है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान (ऐक्य-विषयकज्ञान) उत्पन्न होता है। किन्तु उपर्युक्त पक्ष में यह प्रत्यभिज्ञा हो नहीं पायेगी, क्योंकि पूर्वोक्त प्रत्यभिज्ञान में 'वह यज्ञदत्त यही है' ऐसे दोनों ज्ञान एक नहीं होंगे। क्योंकि शरीर के क्षणिक होने से आत्मस्वरूपी अनन्त शरीरों की कल्पना करनी होगी, और जिस समय प्रत्यभिज्ञान होगा, उस समय वह पूर्व का शरीर तो नष्ट हो जाने के कारण रहेगा नहीं। एवं च पूर्व के शरीरस्वरूपी आत्मा के न होने से प्रत्यभिज्ञान होने की अनुपपत्ति (असिद्धि) होगी। वह अनुपपत्ति न हो तथा प्रत्यभिज्ञान की उपपत्ति हो सके इसलिये इस क्षणिक शरीर में क्षणिक तथा अनन्त शक्तियाँ और उनके प्रागभाव तथा ध्वंस आदि की कल्पना बौद्धों को करनी होगी, उससे महान् गौरव होगा। इतना ही नहीं, किन्तु तादृश क्षणिक तथा अनन्त शक्तियों की कल्पना करने में कोई प्रमाण भी नहीं है।

इस पर बौद्ध अपने वासनासङ्क्रमवाद के साधनार्थ एक तर्क उपस्थित कर रहा है। वह कहता है—खेत में बोया हुआ बीज ही अंकुर को पैदा कर पाता है। कुशूल (कुठले) में रखा हुआ बीज नहीं। अंकुर को उत्पन्न करनेवाले बीज में 'कुर्वद्रूपता' नामक धर्म रहता है। वही धर्म, अंकुर को उत्पन्न करता है। वह 'कुर्वद्रूपता' धर्म अंकुरोत्पत्ति का प्रयोजक धर्म है। इस धर्म के योग से अंकुर के उत्पन्न होने की व्यवस्था होती है यह बात तो तुम्हें भी मान्य है। 'कुर्वद्रूपता' का अर्थ है—'कुर्वत् फलोन्मुखं रूपं यस्य, तस्य भावः "कुर्वद्रूपत्वम्" कुर्वद्रूपता इत्यर्थः। अंकुरोपधायकक्षणिकबीजव्यक्तिमात्रवृत्तिर्बीजत्वव्याप्यो जातिविशेषः'। अर्थात् फल को उत्पन्न करता हुआ 'रूप' है जिसका, उसे 'कुर्वद्रूप' कहते हैं, उसका भाव 'कुर्वद्रूपता' कहा जाता है। एवं च अंकुरत्वावच्छिन्न अंकुर के प्रति कुर्वद्रूपत्वेन बीज कारण होता है। सामान्यरूपेण (बीजत्वेनरूपेण) बीज, अंकुर के प्रति कारण नहीं है। यह 'कुर्वद्रूपता' अंकुरजननयोग्यजातिविशेषरूप है। वह जातिविशेष, फलोपधायक क्षेत्रस्थबीज में ही रहता है, कुशूलस्थबीज में नहीं। क्योंकि उसमें

(कुर्वद्रूपत्व में) फलोपधायक-क्षणिक-समर्थबीजमात्रवृत्तित्वे सति बीजत्वव्याप्यत्व रहता है। अर्थात् 'यत्र यत्र कुर्वद्रूपत्वं तत्र तत्र बीजत्वम्' यह समझा जाता है। बौद्धसिद्धान्त में जो जो भावपदार्थ हैं, वे सभी क्षणिक माने जाते हैं। पदार्थ का भावत्व क्या है ? अर्थक्रियाक्षमता ही भावत्व है। स्वकार्योत्पत्ति में समर्थ होना ही अर्थक्रियाक्षमता है। उसीको पदार्थ की सत्ता कहते हैं। एवं च अंकुरोत्पत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणवर्तिक्षेत्रस्थ बीज ही अंकुरोत्पत्ति में समर्थ होता है। उसीतरह पूर्वक्षण में स्थित शरीर या ज्ञान में किसी अतिशय (शक्ति) की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर भी हम स्मरण से पूर्वक्षण में स्थित शरीर या विज्ञान में 'कुर्वद्रूपता' धर्म को मान लेंगे, उस धर्म के कारण स्मरण हो रहा है। अर्थात् क्षणिक विज्ञान भी उत्तरविज्ञान में कुर्वद्रूपत्वेनैवधर्मेण संस्कारोत्पादक होता है कहेंगे। उसी प्रकार क्षणिकशरीर भी उत्तरोत्तरशरीरनिष्ठसंस्कार का उत्पादक 'कुर्वद्रूपत्व' धर्म के द्वारा ही होता है। ऐसा मानने से अनन्त शक्तिकल्पनारूप गौरव आदि दोष नहीं हो पायेगा। दृष्टान्त में दिये गये बीज के साथ कुर्वद्रूपता की जैसी समव्याप्ति है, वैसी ही विज्ञान के साथ भी कुर्वद्रूपता की समव्याप्ति है। 'यत्र यत्र कार्यजनकत्वं तत्र तत्र कुर्वद्रूपत्वम्, यत्र-यत्र कुर्वद्रूपत्वं तत्र-तत्र कार्यजनकत्वम्'—यह समव्याप्ति का आकार है।

नैयायिक--यह जो आपने कहा था कि 'अंकुरोत्पत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणवर्तिक्षेत्रस्थबीज ही अंकुरोत्पत्ति का कारण होता है' वह ठीक नहीं है, क्योंकि आपका 'कुर्वद्रूपता' का सिद्धान्त ही भ्रमपूर्ण है। अंकुरोत्पत्ति में 'बीज' अपने सामान्यरूप से ही कारण होता है, 'कुर्वद्रूपता' संज्ञक धर्म के कारण नहीं। कुशूलस्थित बीज से अंकुर न होने का कारण यह है कि उसे सहकारिकारणों की उपलब्धि नहीं हो पाई। क्षेत्रस्थ बीज को पृथ्वी, जल, तेज, वायु संयोगरूप सहकारिकारणों का सन्निध्य प्राप्त हो जाने से वह अंकुरोत्पादन में समर्थ हो गया। यदि उन सहकारिकारणों की उपलब्धि (सान्निध्य) न होती तो उस बीज से भी अंकुरोत्पत्ति कभी भी न हुई होती। कुशूलस्थबीज तथा क्षेत्रस्थबीज वस्तुतः एक ही हैं। बौद्ध का यह भ्रम है कि कुशूलस्थबीज भिन्न हैं और क्षेत्रस्थबीज भिन्न हैं, तथा क्षेत्रस्थबीज में ही 'कुर्वद्रूपता' रहती है। अंकुरोत्पत्ति के प्रति कुर्वद्रूपत्वेन बीज में कारणकल्पना करना व्यर्थ है। उसीतरह क्षणिक विज्ञान या क्षणिक शरीर को कुर्वद्रूपत्वेन कारण समझना भी व्यर्थ है, क्योंकि संस्कार का कारण 'अनुभव' ही सर्वमान्य है। अतः क्षणिकवाद का आधारभूत 'कुर्वद्रूपता'वाद बौद्धों का भ्रम है। एवं च वासनासंक्रम की अनुपपत्ति वैसी ही स्थिर रही। इस प्रकार विज्ञानवाद का खण्डन हो जाता है।

॥ इति क्षणिकविज्ञानवादियोगाचारमतखण्डनम् ॥

बौद्धों के सम्बन्ध में निम्नलिखित इतिहास ज्ञातव्य है—भगवान् बुद्ध (सुगत) उपदेशक हैं और वे एक ही हैं। तथापि उनके माध्यमिक, योगाचार,

सौत्रान्तिक और वैभाषिक नाम के चार शिष्य हैं, जो भावनाभेद से भिन्न-भिन्न विचार रखते हैं। भगवान् बुद्ध के शिष्य होने के नाते इन चारों को बौद्ध कहते हैं। उनमें मुख्य माध्यमिक सर्वशून्यतावादी है। इस माध्यमिक शिष्य को परिपक्व चित्तवाला तथा मुख्य अधिकारी जानकर भगवान् बुद्ध ने इसे शून्यवाद का उपदेश दिया। इस कारण यह शिष्य शून्यवादी माध्यमिक नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका मत संक्षेप में इस प्रकार है—

'यत् सत् तत् विनश्यति'—जो सत् होता है। वह नष्ट होता है। अतः 'सर्वं शून्यं शून्यमिति विभावनीयम्'—अतः सर्वत्र शून्य की भावना करनी चाहिये। अत एव कहा गया है—

"परिव्राट्कामुकशुनामेकस्याम्प्रमदातनौ ।
कुणपः कामिनी भक्ष्य इति तिस्रो विकल्पनाः ॥"

इस कारण १—"सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्"। २—"सर्वं दुःखं दुःखम्"। ३—"सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणं"। ४—"सर्वं शून्यं शून्यम्" इन चार भावनाओं के बलपर समस्त वासनाओं की निवृत्ति हो जाने से परनिर्वाणरूप 'शून्यतत्त्व' को प्राप्त किया जाता है। उससे हम कृतार्थ हैं अब हमें उपदेश्य नाम की कोई वस्तु नहीं रही।

दूसरे योगाचार शिष्य को किञ्चित् परिपक्वचित्तवाला जानकर भगवान् बुद्ध ने उसे शून्यरूप तत्त्व में प्रवेश पाने के हेतु प्रथमतः क्षणिकविज्ञानवाद का उपदेश किया। इस कारण यह शिष्य क्षणिकविज्ञानवादी योगाचार बौद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका मत संक्षेप में इस प्रकार है—स्वयम्प्रकाशविज्ञान का स्वीकार अवश्य करना चाहिये। अन्यथा जगदान्ध्यप्रसंग होगा। विज्ञान के सम्बन्ध में कहा जाता है कि—

'तत् स्यादालयविज्ञानं यद् भवेदहमास्पदम् ।
तत् स्यात्प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत् ॥'

ग्राह्य-ग्राहक-संवित्ति में वस्तुतः अभेद होनेपर भी एकचन्द्र में द्वित्वावभास के समान पृथगवभास का भ्रम हुआ करता है। एवं च भावनाचतुष्टय के बल से विविध-विषयाकार-विवर्जित शुद्धक्षणिकविज्ञानोदयस्वरूपमोक्ष की प्राप्ति होने पर ही कृतार्थता प्राप्त होती है। भगवान् बुद्ध ने अपने तीसरे सौत्रान्तिक शिष्य को तथा चौथे वैभाषिक शिष्य को आन्तर विज्ञान से भिन्न बाह्य घटादि पदार्थों में उनका अभिनिवेश जानकर उन दोनों के अभिप्राय के अनुसार बाह्य अर्थ का उपदेश किया। इन दोनों शिष्यों में भेद इतना ही है कि सौत्रान्तिक तो बाह्य अर्थों को अनुमेय (अनुमितिज्ञान का विषय) मानता है, और वैभाषिक उन बाह्य अर्थों को प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय मानता है। सौत्रान्तिक बौद्ध का मत संक्षेप में इस प्रकार है—घट-पटादि बाह्य पदार्थ सब हैं ही, किन्तु उन सबका प्रत्यक्ष नहीं होता। वे सब बाह्यपदार्थ अनुमेय ही हैं। जैसे भाषा से देश का अथवा सम्भ्रम से स्नेह का

अनुमान किया जाता है, वैसे ही ज्ञानाकार से ज्ञेय का अनुमान ही किया जाता है। अर्थात् ज्ञानाकारानुमेयक्षणिकबाह्यार्थ ही आत्मा है। दुःख, दुःखायतन और दुःख-साधन का निरोधकर विमलज्ञान का उदय होना ही मुक्ति है। वैभाषिक बौद्ध का मत संक्षेप में इस प्रकार है—ग्राह्य और अध्यवसेय भेद से पदार्थ दो प्रकार के हैं। उनमें ग्राह्यग्राहक निर्विकल्परूपग्रहण अर्थात् ज्ञान ही कल्पनापोढ़ होने से अभ्रान्त प्रत्यक्ष है और वही प्रमाण है, और अध्यवसाय तो सविकल्परूप है अर्थात् अनुमान कल्पनारूप होने से अप्रमाण है। सौत्रान्तिक और वैभाषिक में इतना ही भेद है कि सौत्रान्तिक 'बाह्यानुमेयपदार्थवादी' है और वैभाषिक 'बाह्यप्रत्यक्षार्थवादी' है।

उपर्युक्त बौद्धों को माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक आदि नाम कैसे प्राप्त हुए ? इसका भी इतिहास है, जो ज्ञातव्य है—शिष्यों को 'योग' और 'आचार' दोनों का अनुष्ठान करना चाहिए। उनमें अप्राप्त की प्राप्ति के लिये जो पर्यनुयोग उसे 'योग' कहते हैं, और गुरु की उक्ति का स्वीकार कर लेना 'आचार' है। गुरु की उक्ति का अङ्गीकार कर लेने के कारण तो वह 'उत्तम' है, किन्तु प्रश्न (पर्यनुयोग) न करने के कारण 'अधम' भी है। अतः ऐसे एक शिष्य को 'माध्यमिक' नाम प्राप्त हुआ। इनका सिद्धान्त नागार्जुन की 'माध्यमिक कारिका' में इस प्रकार बताया गया है—चार संभावित कोटियों (सत् नहीं, असत् नहीं, सत् और असत् दोनों नहीं, और दोनों से भिन्न भी नहीं) की अपेक्षा विलक्षण जो 'शून्य तत्त्व' है, उसी को माध्यमिकों ने अपना परम-तत्त्व माना है।

'न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥'

—(माध्य० कारि० १·७)

माध्यमिक साहित्य का यह विकास, ब्राह्मण-बौद्ध पण्डितों के तार्किक बुद्धि का परमोत्कर्ष है। शून्यवाद के सिद्धान्त का उपपादन, माध्यमिककारिका, प्रज्ञापारमिता, रत्नकरण्ड आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

दूसरे शिष्य ने भगवान् बुद्ध के द्वारा उक्त भावनाचतुष्टय और बाह्यार्थशून्यता का अंगीकार कर आन्तर-शून्यता का भी अंगीकार कर लिया, किन्तु क्यों, कैसे ? यह प्रश्न मन में न उठने के कारण दूसरे बौद्ध को 'योगाचार' नाम प्राप्त हुआ।

तीसरा शिष्य 'सौत्रान्तिक' है। इसने सूत्र का अन्त (रहस्य) पूछा। इसलिये भगवान् बुद्ध ने उससे कहा कि 'तुमने सूत्र का अन्त पूछा' अतः तुम सौत्रान्तिक हो।

चौथा शिष्य वैभाषिक है। इसने अपने मन में यह सोचा कि भगवान् ने 'माध्यमिक' को तो गन्धादि बाह्यविषय और रूपस्कन्धादि आन्तरविषयों के विद्यमान रहने पर भी, उनके प्रति अनास्था कराने के लिये 'सर्वं शून्यम्' का उपदेश किया और 'विज्ञानमेव एकं सत्'—विज्ञान ही एकमात्र सत् है—ऐसा उपदेश 'योगाचार' को किया, और 'उभयं सत्यम्'—दोनों सत्य हैं—यह उपदेश सौत्रान्तिक को किया। अर्थात् तत्तत् शिष्यों की बुद्धि को देखते हुए भगवान् ने परस्पर

विरुद्ध उपदेश उन्हें किये। अतः 'सेयं विरुद्धा भगवतो भाषा' इस प्रकार कहने वाले शिष्य को 'वैभाषिक' नाम प्राप्त हुआ। भगवान् बुद्ध के द्वारा किये गये सभी उपदेश भिन्न-भिन्न शिष्यों की भिन्न-भिन्न बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न से प्रतीत होते हैं, तथापि भिक्षुपादप्रसरन्याय से सभी का पर्यवसान सर्वशून्यता में ही समझना चाहिए।

१ – वैभाषिक 'बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी' है। २—सौत्रान्तिक 'बाह्यार्थानुमेयवादी' है। ३—योगाचार 'विज्ञानवादी' है। ४—माध्यमिक 'शून्यवादी' है।

मानमेयोदयकार ने उक्त चारों बौद्धों के मतों को एक ही पद्य में इस प्रकार बता दिया है —

"मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अन्योऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुध्येति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते ॥"[1]

वैभाषिक—'हीनयान' का अनुयायी है, यह संसार और निर्वाण दोनों को सत्य मानता है। माध्यमिक, सौत्रान्तिक और योगाचार ये तीनों 'महायान के अनुयायी हैं। उनमें माध्यमिक–संसार तथा निर्वाण दोनों को असत्य मानता है। सौत्रान्तिक— संसार को सत्य किन्तु निर्वाण को असत्य मानता है। योगाचार— संसार को असत्य किन्तु निर्वाण को सत्य मानता है।

इति बौद्धमत-संक्षेपः

अस्तु तर्हि क्षणिकविज्ञाने गौरवान्नित्यविज्ञानमेवात्मा, अविनाशीवाऽरेऽयमात्मा सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इत्यादिश्रुतेरिति चेत्? न तस्य सविषयकत्वासम्भवस्य दर्शितत्वात्। निर्विषयकस्य ज्ञानत्वे मानाभावात्सविषयकत्वस्याप्यननुभवात्। अतो ज्ञानादिभिन्नो नित्य आत्मेति सिद्धम्।

'सत्यं ज्ञानमि'ति हि ब्रह्मपरं जीवे तु नोपयुज्यते। ज्ञानाज्ञानसुखित्वादिभिर्जीवानां भेदसिद्धौ सुतरामीश्वरभेदः। अन्यथा बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तिः। योऽपीश्वराभेदबोधको वेदः सोऽपि तदभेदेन तदीयत्वं प्रतिपादयन् स्तौति, अभेदभावनयैव यतितव्यमिति वदति। अत एव 'सर्व एवात्मनि समर्पिताः' इति श्रूयते। मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तावभेदो जायत, इत्यपि न, भेदस्य नित्यत्वेन नाशायोगात्। भेदनाशेऽपि व्यक्तिद्वयं स्थास्यत्येव। न च द्वित्वमपि नश्यतीति वाच्यं, तव निर्धर्मके ब्रह्मणि सत्यत्वाभावेऽपि सत्यस्वरूपं तदितिवद् द्वित्वाभावेऽपि व्यक्तिद्वयात्मकौ ताविति सुवचत्वात्। मित्यात्वाभावोऽधिकरणात्मकस्तत्र सत्यत्वमिति चेदेकत्वाभावो व्यक्तिद्वयात्मको द्वित्वमित्यप्युच्यताम्।

अब नित्यविज्ञानात्मवादी अद्वैतवेदान्ती अपना मत उपस्थित कर रहे हैं—

क्षणिकविज्ञानात्मवादी (विज्ञान स्वतःप्रकाश होने से चेतन है और वह विद्युत के समान भावरूप होने से क्षणिक है । जिस पदार्थ का अपने उत्पत्तिक्षण से उत्तरक्षण में सम्बन्ध नहीं होता उसे क्षणिक कहते हैं । उस क्षणिकविज्ञान को ही आत्मा समझने वाले) योगाचार बौद्ध के क्षणिकविज्ञानात्मवाद को स्वीकार करने में अनन्त-शक्ति तत्प्रागभाव-ध्वंस आदि अनेक कल्पनारूप गौरवदोष प्राप्त हो रहा था, इस कारण 'आत्मतत्त्व' को क्षणिकविज्ञानरूप नहीं माना जा सकता, यह कहकर नैया-यिक ने योगाचार बौद्ध को परास्त किया, वह ठीक ही किया । हम वेदान्ती भी गौरवादिदोष-पराहत हुए योगाचार के मत को उचित नहीं मानते । किन्तु, नित्य अर्थात् त्रिकालाबाध्य, एकरस यानी प्रागभाव—ध्वंसाऽप्रतियोगी, जो विज्ञान अर्थात् स्वप्रकाशचैतन्य, जो श्रुतिप्रसिद्ध है, उसे ही आत्मतत्त्व के रूप में मान लिया जाय । अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही 'आत्मा' है, उसके अतिरिक्त किसी को भी 'आत्मा' नहीं कहा जा सकता । हम वेदान्ती अपने इस कथन में बृहदारण्यक-श्रुति को प्रमाणरूप में दे रहे हैं—'अविनाशीति ।' योगीश्वर याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी 'गार्गी' को सम्बोधित कर रहे हैं—'अरे' इति । हे गार्गि ! 'अयम्' अर्थात् वेदान्तविचार में प्रस्तूयमान यह, 'आत्मा' अर्थात् चेतन, 'अविनाशी' है, अर्थात् नाशाऽप्रतियोगी यानि त्रिकालाऽबाधित है,—(बृहदा० ब्रा० ५, मं० १४)। इसी बात का समर्थन तैत्तिरीयश्रुति भी कर रही है—"सत्यं ज्ञानम्" इति—(तैत्ति० आ० व० । अनु० १) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—सत्यम् अर्थात् त्रिकाला-बाध्य, 'ज्ञानम्' अर्थात् चित्स्वभाव, 'अनन्तम्' अर्थात् त्रिविध (देश, काल, वस्तु) परिच्छेदरहित यानि व्यापक, 'ब्रह्म' अर्थात् आत्मा है । क्योंकि 'बृहत्वाद् बृंहण-त्वाच्च आत्मा ब्रह्मेति गीयते' ऐसा कहा गया है । इस तैत्तिरीयश्रुति में सत्य आदि तीन पद स्वरूपलक्षणपरक हैं । 'सत्य' पद से मिथ्या की व्यावृत्ति, ज्ञान पद से जड़ की व्यावृत्ति और 'अनन्त' पद से परिच्छिन्न की व्यावृत्ति की गई है। 'इत्यादि श्रुतेः' यहाँ 'आदि' पद से 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों को समझना चाहिये । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य ने ब्रह्म का स्वरूपलक्षण बताया है । इस वाक्य में 'ब्रह्म' पद लक्ष्यपरक है और सत्य आदि तीनों पद स्वरूप-लक्षणपरक हैं । यहाँ पर निर्विशेष ब्रह्म के ही ये सत्यादि विशेषण बताये गये हैं । इन तीनों पदों से जब ब्रह्म को विशेषित किया जाता है, तब सत्यादि के विरुद्ध असत्य, जाड्य, परिच्छिन्न पदार्थों से जो व्यावृत्त हो वही 'ब्रह्म' है, यह स्पष्ट हो जाता है । जैसे—नीलमुत्पलम्, रक्तमुत्पलम् इत्यादि वाक्यप्रयोग करने पर अन्य व्यक्तियों से व्यावृत्त हुआ 'उत्पल' है, ऐसा समझ में आता है, उसी तरह जो असत्यादि अन्य पदार्थों से व्यावृत्त हुआ जाना जाता है, वही 'ब्रह्म' है । इस प्रकार से व्यावृत्त हुए सच्चिदेकतान परिपूर्ण 'ब्रह्मस्वरूप' का ज्ञान होता है । व्यावृत्ति का ज्ञान यदि न हो तो अनृतादि से व्यावृत्ति न हो सकने से 'ब्रह्म' का ज्ञान नहीं हो पायेगा । व्यावृत्ति भी ब्रह्मस्वरूप से भिन्न न होने के कारण निर्वि-

शेष अद्वैतवाद की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। वही 'ब्रह्म' उपाधिवशात् 'जीवभाव' को प्राप्त होता है। नाना उपाधियों के कारण नाना जीव होते हैं। उपाधि भी माया और अविद्या के भेद से दो प्रकार की मानी गयी है। जब 'चैतन्य' मायोपाधि से युक्त होता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं और 'चैतन्य' अविद्योपाधि से युक्त होता है तब उसे 'जीव' कहते हैं। संसार का कारण अविद्या ही है। इस अविद्या का विनाश विद्या से होता है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योपदेश से होने वाली 'अहम्ब्रह्मास्मि' इत्याकारा अखण्डाकारवृत्ति को ही 'विद्या' कहते हैं। विद्या के द्वारा अविद्या का नाश होने पर जीव के ब्रह्मस्वरूप का आविर्भाव होना ही 'मोक्ष' है। यह अद्वैतवेदान्तियों का सिद्धान्त है। समस्तपुरुषदोषों से रहित भगवती श्रुति ही स्वयं होकर आत्मा को नित्यविज्ञानस्वरूप बता रही है, वहाँ उसके बारे में और क्या सोचना-विचारना शेष रह जाता है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्ती ने अपना विचार जब उपस्थित किया, तब सिद्धान्ती (नैयायिक) उन्हें उत्तर देता है—"न" इति। 'आत्मतत्त्व' को नित्यविज्ञानस्वरूप मानने वाले वेदान्ती से नैयायिक पूछता है।

नैयायिक—आप (वेदान्ती) यह बतावें कि आत्मा को आप नित्यविज्ञानस्वरूप कहते हैं, या परमेश्वर को नित्यविज्ञानस्वरूप कह रहे हैं? यदि आप आत्मा को नित्यविज्ञानस्वरूप कहते हों तो, क्षणिकविज्ञानात्मवाद के खण्डन करते समय हम कह चुके हैं कि 'तस्य सविषयकत्वाऽसंभवः' अर्थात् विज्ञानात्मा का सविषयक होना कभी संभव नहीं है। उसके सविषयक न होने से 'आत्मा' नित्यविज्ञानस्वरूप नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है—वेदान्तियों का अभिमत नित्यविज्ञान, सविषयक है या निर्विषयक? यदि सविषयक कहें तो उसका विषय क्या है? यदि समस्त जगत् को उस ज्ञान का विषय कहें तो सभी को सर्वज्ञ होना चाहिये। यत्किञ्चित् वस्तु को यदि उस ज्ञान का विषय कहें तो सुषुप्ति में भी रूपादि विषयों का भान होना चाहिये, किन्तु होता नहीं है। अतः आत्मा को नित्यविज्ञानस्वरूप नहीं कह सकते।

यदि द्वितीयपक्ष अर्थात् नित्यविज्ञानरूप आत्मा को निर्विषयक मानते हैं अर्थात् आत्मस्वरूपी विज्ञान में कोई भी विषय नहीं आ सकता, तो वैसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है। ज्ञानत्व में विषयिता की व्याप्यता रहती है। अब व्यापकीभूतविषयिता को न मानने पर ज्ञानत्व की भी सिद्धि नहीं हो पायगी। अभिप्राय यह है कि 'विषयनिरूप्य हि ज्ञानम्' यह एक नियम है। अतः संसार में कोई भी ज्ञान निर्विषय नहीं होता यानी वह (ज्ञान) किसी न किसी वस्तु को विषय न करे यह संभव नहीं। अभिप्राय यह है कि ज्ञान, विषय को प्रकाशित करता है, अर्थात ज्ञान, विषय का प्रकाशक है और घटादिविषय, ज्ञान के द्वारा प्रकाश्य हैं। विषय, ज्ञान का निरूपण करता है। अतः विषय को ज्ञान का निरूपक कहते हैं और ज्ञान

विषय के द्वारा निरूप्य होता है। इस रीति से ज्ञान और विषय का प्रकाश्य-प्रकाशकभाव, निरूप्य-निरूपकभावसंबंध हुआ करता है। इसी अभिप्राय का उपपादन "सविषयत्वस्याप्यननुभवात्" के द्वारा किया जा रहा है। मुक्तावलीकार कहते हैं कि यदि कोई यह आशंका करे कि जीव (आत्मा) में जगद्विषयकत्व नहीं है और न नियतयत्किंचिद्विषयकत्व ही है, बल्कि जिस जीव में यद्विषयकत्व का अनुभव हो उस जीव में तद्विषयकत्व अर्थात् जिस जिस वस्तु को जो जो आत्मा ग्रहण करता है उस उस विज्ञानस्वरूप आत्मा को तत्तद्विषयकत्व मान लिया जाय। इस आशंका पर 'सविषयकत्वस्याप्यननुभवात्' से समाधान दे रहे हैं--'घटस्य ज्ञानम्'–घट का ज्ञान—यह अनुभव तो सभी को होता है, इस कारण 'ज्ञान' को घटादिविषयक सभी ने माना है, किन्तु "घटस्य आत्मा" यह अनुभव आज तक किसी को नहीं हुआ है, इसलिये 'नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मा' को सविषयक नहीं कहा जा सकता। अत एव 'जीवात्मा' विज्ञानस्वरूप न होकर विज्ञान से भिन्न (ज्ञानेच्छादिगुणभेदवान्) और नित्य (ध्वंस-प्रागभावाप्रतियोगी) सिद्ध होता है। एवञ्च ज्ञानेच्छादिगुणों के अधिकरणरूप में ही आत्मा को स्वीकार कर लेना चाहिये। वेदान्ती शंका करता है कि यदि तुम (नैयायिक) आत्मा को ज्ञान का अधिकरण कहोगे तो आत्मा को विज्ञानस्वरूप कहने वाली श्रुति से विरोध होगा।

नैयायिक— 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह श्रुति सत्य-ज्ञान-अनन्तपदों में ब्रह्मपद का सामानाधिकरण्य प्रदर्शित करती हुई ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन कर रही है, जीवस्वरूप का प्रतिपादन नहीं।

वेदान्ती— शंका करता है कि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म से जीव की एकता (तादात्म्य, अभेद) होने से जीव भी ज्ञानस्वरूप है।

नैयायिक—'ज्ञानाऽज्ञानसुखित्वादि०' ग्रन्थ से जीव-ब्रह्म में भेद सिद्ध कर वेदान्ती की शंका का समाधान कर रहे हैं। कितने ही जीव, जिस समय ज्ञान या सुख का अनुभव करते हैं, उसी समय अन्य कितने ही जीव, अज्ञान का तथा दुःख का अनुभव करते हैं। एवं च ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुःख आदि भिन्न-भिन्न धर्मों से जीवों में परस्पर भेद स्पष्ट है। अर्थात् 'जीव' अनेक हैं किन्तु 'परमेश्वर' एक है, अनेक नहीं। अतः वहीं अनेक जीवरूप कैसे होगा ? क्योंकि एकत्व और अनेकत्व का परस्पर विरोध है। एवं च 'जीव' 'परमेश्वर' से भिन्न तथा अनेक है, यह सहजसिद्ध होता है। सुख-दुःख के अनुभव तथा अनित्यज्ञान से युक्त हुए असंख्य (नाना अनेक) जीवात्माओं के साथ, नित्यज्ञानसम्पन्न सदा सुखी परमेश्वर का ऐक्य (तादात्म्य) होना कदापि संभव नहीं। इस कारण 'जीव' तथा परमेश्वर अर्थात् 'ब्रह्म' का परस्पर 'भेद' ही सिद्ध है, ऐक्य नहीं। जीव और ईश (ब्रह्म) के परस्पर भेद का अनुमान इस प्रकार होगा—'जीवेशौ, परस्परं

भिन्नौ, विरुद्धधर्माक्रान्तत्वात्, दहन-तुहिनवत्" । अभिप्राय यह है—'ईश्वर' तो सर्वज्ञ, सर्ववित्, सर्वशक्तिमान्, नियामक, नित्यमुक्त है, और 'जीव' अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, दुःखी, नियाम्य है, ऐसी परिस्थिति में विरुद्ध धर्मवाले जीवेश्वर में अभेद होना कैसे संभव हो सकता है ? क्योंकि विरुद्ध धर्माध्यास का ही नामान्तर तो भेद है।

वेदान्ती—तार्किक-प्रदर्शित अनुमान के द्वारा जीवेश में परस्पर भेद सिद्ध हो जाने पर भी परमेश्वर ने स्वयं 'ममैवांशो जीवलोके' इस भगवद्गीतावाक्य के द्वारा 'जीव' को 'ईश्वरांश' बताया है। अतः 'जीव' को परमेश्वर से अभिन्न ही स्वीकार करना चाहिये, दोनों को अभिन्न (एक) मानने पर 'जीवों' (आत्माओं) की विज्ञानरूपता सिद्ध हो जाती है , क्योंकि परमेश्वर 'ज्ञान'-रूप है।

नैयायिक—उक्त अभेद का खण्डन करने के लिये 'अन्यथेति' ग्रन्थ को उपस्थित कर रहा है। नैयायिक कहता है कि यदि वेदान्ती जीव और ईश्वर (ब्रह्म) में भेद न मानें अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा को एक ही मानें तो अमुक जीव, संसारी (बद्ध) है तथा अमुकजीव मुक्त है, यह व्यवस्था नहीं बन सकेगी, क्योंकि बद्ध-मुक्तात्मा एवं जीव-परमात्मा दोनों एक हैं। वेदान्तियों के मत सभी तो ब्रह्मरूप हैं।

यदि यह कहें कि तत्तत् अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के एक होने पर भी किसी व्यक्तिविशेष के अन्तःकरण का नाश होने पर उसके अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को हम 'मुक्त' कहेंगे और जिसके अन्तःकरण का नाश नहीं हुआ, उसके अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को हम 'बद्ध' कहेंगे, जिससे बद्ध-मुक्त की व्यवस्था में कोई अनुपपत्ति नहीं होगी। इस पर नैयायिक कहता है कि वेदान्ती के उपर्युक्त कथनानुसार—बद्ध-मुक्त की व्यवस्था बन जाने पर भी मोक्ष के हेतु प्रयत्नानुष्ठान की विफलता तो बनी ही रहेगी। क्योंकि एक अन्तःकरण के नाश होने पर भी अन्तःकरणान्तर से अवच्छिन्न स्वात्मा से दुःखोत्पत्ति अवश्य ही होगी, तब प्रयत्नानुष्ठान के फलस्वरूप निर्दुःखत्व का होना कभी संभव ही नहीं होगा। यदि यह कहें कि ये सुख दुःखादि-धर्म अन्तःकरण के ही हैं, चैतन्य के नहीं, तो मोक्ष के लिये प्रयास करना नितान्त व्यर्थ होगा, क्योंकि आत्मा तो नित्यमुक्त ही है। यदि कहें कि भ्रमनिवृत्ति के लिये प्रयत्न करना आवश्यक है, किन्तु यह कथन भी ठीक न होगा, क्योंकि अन्तःकरणान्तर से अवच्छिन्न हुए आत्मा में भ्रम का होना पुनरपि अनिवार्य है, तब मुक्ति के लिये प्रयत्न करना निरर्थक ही होगा। अतः जीव और ब्रह्म में भेद स्वीकार करना ही होगा।

वेदान्ती—जीव और ब्रह्म में यदि परस्पर भेद कहेंगे तो 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इन अभेद प्रतिपादक श्रुतियों से विरोध होगा। क्योंकि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य—अखण्डार्थपरक हैं। इसी का उपपादन 'योऽपीति' ग्रन्थ से कर रहे हैं—परब्रह्म के साथ जीवात्मा के अभेद का प्रतिपादन करनेवाले 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य

का अर्थ वेदान्तियों के मतानुसार इस प्रकार किया जाता है। 'तत्' अर्थात् परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य (सर्वज्ञत्वविशिष्ट आत्मा), 'त्वम्' अर्थात् अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य (अल्पज्ञत्वविशिष्ट देवदत्तात्मा) 'असि' अर्थात् भेदाभाव यानी एकता। पञ्चदशीकार कहते हैं—"एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम्"। एवञ्च जहदजहल्लक्षणा (भागत्यागलक्षणा) के द्वारा विरुद्ध अंश (परोक्षत्व–अपरोक्षत्वादिविशिष्ट अंश) का त्यागकर अविरुद्ध अंश अर्थात् अखण्ड चैतन्य मात्र का बोधन कराया जाता है। संक्षेप में अभिप्राय यह है कि छान्दोग्योपनिषद् के उद्दालक—श्वेतकेतु की कथा के प्रसंग में 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य नौ बार आया है। इस वाक्य में 'तत्, त्वम्, असि' ये तीन पद हैं। इनमें 'तत्' पद का वाच्य (मुख्य) अर्थ परोक्षत्वादिधर्मविशिष्ट 'अन्तर्यामी ईश्वर' है। 'त्वम्' पद का वाच्य (मुख्य) अर्थ अपरोक्षत्वादिधर्मविशिष्ट पुण्य–पापकर्ता नियाम्य जीव है। 'तत्–त्वम्' दोनों पद, समानविभक्तिक हैं, अतः अभेदान्वय के योग्य हैं। परन्तु दोनों पदों के विशिष्ट वाच्यार्थों की एकता होना संभव नहीं, क्योंकि तत्-पदवाच्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ईश्वर की त्वम्पदवाच्य अल्पत्वादिविशिष्ट जीव के साथ एक्य अर्थात् तादात्म्य कभी हो ही नहीं सकता और वेदवाक्य को सत्यार्थद्योतक होने के कारण अप्रमाण भी नहीं कहा जा सकता, उसका प्रामाण्य तो विश्वप्रसिद्ध है। अतः उन दोनों वाच्यार्थों में एकता सिद्ध करने के लिये चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म में दोनों पदों (तत् और त्वम्) की जहदजहल्लक्षणा करते हैं। उस लक्षणा के द्वारा 'अद्वितीय ब्रह्म' लक्षित किया जाता है। यही कारण है कि अद्वैत वेदान्तियों ने 'तत्त्वमसि' वाक्य को अभेद प्रतिपादक बताया है।

नैयायिक—दो पदों में लक्षणा करने की अपेक्षा पूर्वपद में ही लक्षणा करके अर्थ-निर्वाह करने में लाघव होगा। ईश्वर के साथ जीव का अभेदप्रतिपादन करनेवाले वेद ने जहाँ कहीं 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के द्वारा ब्रह्म और जीव का अभेद बताया है, उस (अभेदप्रतिपादन) का तात्पर्य यही है कि समस्त जीव (आत्माएँ), ब्रह्म (ईश्वर) के सम्बन्धी हैं, यानी वे सब आत्माएँ ईश्वर पर आश्रित हैं। अर्थात् 'तत्त्वमसि' में तस्य त्वम् असि विग्रह समझना चाहिये।

वेद में आये हुए ऐसे वाक्यों को 'अर्थवाद' वाक्य कहते हैं। 'तस्य त्वम्' ऐसा विग्रह करने पर 'तत्' पद की तत्सम्बन्धी में लक्षणा हो जाती है। वेदान्तियों की दृष्टि से 'तत्—त्वम्' = वह परमात्मा ही 'तू' = जीव है। यह अभेद भाव प्रदर्शित किया जाता है, किन्तु वह वास्तविक न होकर आपाततः भासित होता है। वस्तुतः (भेद रहते हुए भी अभेद प्रतिपादन का प्रयोजन 'जीवात्मा' के अधिकार का महत्त्व बताना ही है। अर्थात् 'तत्त्वमसि' वाक्य में स्वामि-सेवक भाव सम्बन्ध को अभेदरूप से बताकर जीव की प्रशंसा की है। अर्थात् अभेद भावना से परमात्मा में जीव को प्रेमभक्ति करनी चाहिये, यह उपदेश दिया गया

है। अनेक विद्वानों ने जीव-ईश के अनेक प्रकार के सम्बन्ध बताये हैं। कुछ लोग 'चैतन्याख्य सम्बन्ध', कुछ लोग 'ज्ञानसजातीयज्ञानादिमत्त्व सम्बन्ध', कुछ लोग 'मोक्षस्थितिकत्व सम्बन्ध', कुछ लोग 'नियाम्य-नियामकभावसम्बन्ध' मानते हैं। 'त्वम्' पद अल्पज्ञात्मपरक है और 'असि' पद वर्तमान अस्तित्व का बोधन कर रहा है। एवं च महावाक्य का शाब्दबोध इस प्रकार होगा—'परमेश्वरज्ञानादि-सजातीयज्ञानादिमदस्तितावान्'। तात्पर्य यह है कि—चैतन्य के अथवा ज्ञान आदि के कारण 'तू' (जीव) परमेश्वर के समान है। एवं च 'जीव' परमात्मा से भिन्न है। ऐसा मानने पर जीव तथा प्राण आदि सभी कुछ परमात्मा के चरणार-विन्द में समर्पित है। अर्थात् विद्वान् अपने पुत्ररूप आत्मा को तथा शरीररूप आत्मा को और मुख्य आत्मा को ईश्वर के चरणों पर अर्पित करे, क्योंकि जीवादिक परमात्मा के अधीन हैं—ऐसा उपनिषदादि ग्रन्थों में कहा गया है, वह भी यथार्थ हो जाता है। अर्थात् यदि दोनों में भेद न हो तो समर्पण कौन किसे करेगा ? अनेक ग्रन्थों में कहा हुआ उपर्युक्त कथन सब व्यर्थ होगा। अभेद प्रतिपादक वाक्य ईश्वर की उपासना करने के निमित्त ही कहे गये हैं। ईश्वर की उपासना करते समय अभेद भावना रखना आवश्यक है। एवं च तदीय होने के कारण उसके साथ अभेद का प्रतिपादन किया गया है, वह अभेद-प्रतिपादन वास्तविक रूप में नहीं है। जैसे—कोई पिता अपने पुत्र के विषय में कहता है—'यह देवदत्त मेरी आत्मा है' देवदत्त और उसके पिता दोनों वस्तुतः एक दूसरे से भिन्न हैं तथापि स्वजन्य-जनकत्वसम्बन्ध से (उपचार से) आत्मपद द्वारा अभेद व्यवहार किया जाता है। उसी प्रकार उत्पादक होने के कारण पितृस्थानापन्न ईश्वर का पुत्रस्थानापन्न जीवों के साथ तदीय होने के कारण (नियाम्य=नियामकभावादि सम्बन्ध से सम्बन्धित होने के कारण) अभेद का प्रतिपादन औपचारिक रूप से किया गया है, वास्तविक रूप से नहीं। मुक्तावली-कार ने 'स्तौति' पद-प्रयोग के द्वारा सूचित किया है कि वास्तविक भेद के रहते हुए भी 'यजमानः प्रस्तरः'[1] 'आदित्यो यूपः' इत्यादि अभेदबोधक अनेक

---

१. पूर्वमीमांसा के प्रथमाध्याय के चतुर्थपाद के तेरहवें अधिकरण की 'तत्सिद्धि पेटिका' में यह विचार किया गया है कि 'यजमानः प्रस्तरः' यह गुण-विधि है या अर्थवाद है ? पूर्वपक्षी ने कहा कि यह गुणविधि है, क्योंकि जघन्य प्रस्तर पद लक्षित प्रस्तरकार्य स्रुग्धारण को उद्देश्य कर अधिकरणत्वेन रूपेण यजमान का विधान किया गया है। तब सिद्धान्ती कहता है कि यहाँ पर प्रत्यक्ष विधि का श्रवण नहीं है, अतः "प्रस्तरमुत्तरम्बर्हिषः सादयति" इस अन्यविधि के साथ एकवाक्यता होने से उपर्युक्त वाक्य को अर्थवाद मानना ही उचित है। यजमान पद गौणी वृत्ति के द्वारा प्रस्तर का स्तावक है। प्रकृत इष्टि में चार दर्भ मुष्टियाँ काटी जाती हैं। मन्त्रसंस्कृत हुई प्रथम दर्भ-मुष्टि पर 'जुहू' रखी

वाक्य वेद में उपलब्ध होते हैं। इन वाक्यो में जैसे उपचार (गौणीलक्षणा) किया गया है, वैसे ही प्रकृत में जीव और ईश्वर में अभेद बताने वाले 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदवाक्य भी जीव का ईश्वर से अभेद बताकर जीवात्मा में ईश्वर का सम्बन्ध बताते हुए जीव की स्तुति करते हैं। अतः मुमुक्षुओं के लिये अभेदोपासना का प्रतिपादन करने से ही इन अभेद बोधक वाक्यों का तात्पर्य है। 'अभेदभावनयैव यतितव्यमिति वदति'—यहाँ 'भावना' का अर्थ 'उपासना' है। अर्थात् चित्त का विजातीयप्रत्ययानन्तरित-समानाकार-प्रत्यय-प्रवाह ही भावना है, जिसे 'निदिध्यासन' भी कहते हैं। इस प्रकार की अभेदोपासना (भावना) का अनुष्ठान करने के लिये भगवती श्रुति मुमुक्षुओं से कह रही है। निरतिशयानन्दरूप ब्रह्म में परानुरक्तिसम्पादनार्थ अभेदोपासना करने के लिये ये अभेदबोधक वाक्य हैं। अपने इस अभिप्राय की पुष्टि में भगवतीश्रुति को प्रमाणरूप में उपस्थित कर रहे हैं--"अतएव" इति। परमेश्वर में पराऽनुरक्ति-सम्पादनार्थ अभेदबोधक वाक्यों का तात्पर्य होने से ही भगवतीश्रुति का यह कथन है कि 'सभी जीव, आत्मा में अर्थात् परब्रह्म में समर्पित हैं, यानी वे कहते हैं कि 'हे भगवान् परमेश्वर ! हम, तुम्हारे हैं'। इस प्रकार उन्होंने अपने को ब्रह्म के प्रति अर्पण कर दिया है। एवं च जीवों को जब परमेश्वर से भिन्न माना जाय तभी तो उनकी यह शरणागति उत्पन्न हो सकेगी। अभेद मानने पर यह श्रुत्युक्त शरणागति नहीं बन सकेगी।

दूसरी बात यह भी है कि जीव-ब्रह्म का अभेद मानने पर सेव्य-सेवकभाव प्रतिपादक श्रुत्यर्थ को अप्रमाण कहना होगा, क्योंकि एक व्यक्ति में सेव्य-सेवक-भाव बन नहीं सकता। अतः जीव-ब्रह्म में भेद मानना ही होगा।

शंका—वेदान्ती कहता है–'मोक्षदशायामिति।' ब्रह्मातिरिक्त (ब्रह्म से भिन्न) सभी कुछ मिथ्या है, अतः 'अन्योन्याभाव' (भेद) भी मिथ्या है। तथा च अज्ञान-काल में भेद के रहने पर भी मोक्षकाल में (तत्त्वज्ञानाऽव्यवहित उत्तर क्षण में) मिथ्या ज्ञान के निवृत्त होने पर तो जीवात्माओं का ब्रह्म के साथ अभेद रहेगा ही। क्योंकि 'अज्ञान निवृत्तौ' यहाँ पर 'नञ्' का अर्थ 'विरोधी' है, जैसे 'असुर' में नञ् का अर्थ विरोधी माना जाता है। अतः जीव-ब्रह्म में अभेद (ऐक्य) होता है।

समा०—नैयायिक कहता है कि जीव ब्रह्म में अभेद (ऐक्य) प्रतिपादन की प्रक्रिया ठीक नहीं है। तथापि—'तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान-जन्य संस्कार का नाश, उससे स्मरण की अनुत्पत्ति, उससे रागादि की अनुत्पत्ति, उससे धर्माधर्म की अनुत्पत्ति उससे सुखादि की अनुत्पत्ति होने पर जीव-ईश्वर दोनों समान धर्मवाले हो जाने से अभेद सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि उसके होने में कोई बाधक नहीं है' यह अभेद प्रति-

---

जाती है जो प्रथम दर्भ-मुष्टि विधृति-संज्ञक उदग्र दो दर्भों पर रखी जाती है, उसे 'प्रस्तर' कहते हैं।

पादक प्रक्रिया वेदान्तियों की इसलिये उचित नहीं प्रतीत हो रही है, क्योंकि 'भेदस्य नित्यत्वेन नाशाऽसंभवात् ।' हम नैयायिकों के मत में (जीव-ईश्वर का भेद घट-पट के भेद के समान अन्यान्याभावरूप है, और वह नित्य (ध्वंस का अप्रतियोगी) है अतः उसका नाश होना संभव नहीं है ।

वेदान्ती—जैसे नवीन नैयायिकों के मत में अन्योन्याभाव 'पृथक्त्व' गुणरूप होने से उसे अनित्य कहा जाता है, वह अन्योन्याभावरूप (अभावरूप) नहीं है और उस गुण का नाश होता है । उसी प्रकार हम वेदान्ती भी भेद को अन्योन्याभावरूप न मानकर 'पृथक्त्व' गुण मानेंगे । उस गुण के अनित्य होने के कारण उसका नाश भी संभव है । तब भेद (पृथक्त्व) के न रहने से अनियत अपेक्षाबुद्धि जन्य जीवगत अनेक पृथक्त्व रूप भेद के न रहने से) मोक्षकाल में 'अभेद' रहेगा ही । अतः जीव-ब्रह्म के अभेद में कोई बाधा नहीं है । नैयायिक—'भेदनाशेऽपि' इति । वेदान्तिसम्मत अनियत अपेक्षाबुद्धिजन्य जीवगत अनेक 'पृथक्त्व' रूप 'भेद' के नष्ट होने पर भी 'दो व्यक्ति' तो बने ही रहेंगे । अर्थात् जीवव्यक्ति और ब्रह्म-व्यक्ति, इन दो व्यक्तियों की स्थिति तो बनी ही रहेगी । तस्मात् जीव और ब्रह्म की भिन्नता ही है, ऐक्य नहीं तात्पर्य यह है कि जैसे अपेक्षाबुद्धि के नष्ट होने पर यद्यपि 'द्वित्व' का नाश हो जाता है, तथापि दो व्यक्ति (व्यक्तिद्वय) तो रहते ही हैं, वैसे ही कारणीभूत अनियता-पेक्षाबुद्धि के नाश होने पर अज्ञान का नाश यद्यपि हो जाता है, तथापि व्यक्तिद्वय की स्थिति में कोई अन्तर नहीं हो पाता । अतः भेद तो सदा स्थिर रहता है ।

वेदान्ती—'न च द्वित्वमपीति ।' 'द्वित्व' भी ब्रह्म से भिन्न होने के कारण मिथ्या है अतः अपेक्षाबुद्धि के नष्ट होने से 'द्वित्व' का भी नाश हो जाता है, तब विशेषण के अभाव में विशिष्ट व्यक्तिद्वय की स्थिति कैसे हो सकेगी ?

नैयायिक—दो पदार्थों में 'अयमेकः, अयमेकः'—यह एक है, यह एक है—इस रीति से प्रतीत होने वाली अपेक्षा बुद्धि से 'द्वित्व' गुण (धर्म) पैदा होता है । उसका (द्वित्व का) नाश मान लेने पर भी एक-एक करके प्रतीत होने वाले वे दोनों पदार्थ व्यक्तिद्वय ही कहलायेंगे । वे दोनों व्यक्ति एक नहीं समझे जायेंगे । जैसे वेदान्तियों के मत में, भेद के भय से ब्रह्म में सत्यत्व, ज्ञातत्वादिधर्म नहीं माने जाते, अतएव निर्धर्मक, निर्विशेष ब्रह्म का स्वीकार किया जाता है ।

ऐसे निर्धर्मक ब्रह्म में भी अर्थात् उसमें सत्यत्व, ज्ञानत्व, नित्यत्वादि धर्मों के न रहने पर भी उसे (ब्रह्म को) सत्यस्वरूप स्वीकार करते हैं । उसी तरह अपेक्षा-बुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश होता है, अतः द्वित्व के न रहने पर भी दोनों (जीव-परमात्मा) पृथक् पृथक् व्यक्ति हैं यह सरलता से कहा जा सकता है । एवं च दोनों (जीव-ब्रह्म) की एकता नहीं है।

वेदान्ती—'मिथ्यात्वाभाव' इति । निर्धर्मक का अर्थ है 'स्वभिन्न-धर्म-शून्यत्वम्' वेदान्तियों के मत में 'अभाव' को अधिकरणात्मक (अधिकरणस्वरूप) माना जाता

है। अतः मिथ्यात्वाऽभाव का अधिकरण सत्यत्व होने से मिथ्यात्वाभाव 'सत्यत्व' हुआ वह सत्यत्व, ब्रह्मात्मक ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अतः ब्रह्म में 'सत्य' का व्यवहार करना उचित ही है, किन्तु नैयायिक का व्यवहार (व्यक्तिद्वय का व्यवहार) उचित नहीं है, क्योंकि द्वित्व के नष्ट होने से द्वित्व का तो वहाँ अभाव है और एकत्वाभाव को वे (नैयायिक) अधिकरणस्वरूप नहीं मानते। अतः व्यक्तिद्वय का व्यवहार हो ही नहीं सकता। हमारे मत में (वेदान्तियों के मत में) 'मिथ्यात्वाभावोऽधिकरणात्मकस्तत्र सत्यत्वम्'—तत्र अर्थात् ब्रह्म में, जो मिथ्यात्वाभाव (स्वाधिकरणनिष्ठ-अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वाऽभाव) है, वह अधिकरणात्मक है अर्थात् ब्रह्मात्मक है। अतः वही (ब्रह्म ही) सत्यत्व के व्यवहार का विषय होता है।

नैयायिक—'एकत्वाभाव' इति। प्रत्येक में एकत्व रहता है, जीव-ब्रह्मात्मक दो व्यक्तियों में तो 'एकत्व' नहीं है। अतः व्यक्तिद्वय साधारण (दो व्यक्तियों में समानरूप से रहनेवाला) जो एकत्वाऽभाव है, वह व्यक्तिद्वयात्मक (व्यक्तिद्वय-स्वरूप) हुआ, क्योंकि (वेदान्ती के मतानुसार) अभाव को अधिकरणात्मक मानने में कोई आपत्ति नहीं है और लाघव भी है। अतः अधिकरणात्मक (व्यक्ति-द्वयात्मक) जो एकत्वाभाव है, वही 'द्वित्व' व्यवहार का विषय होता है। अर्थात् उसे ही हम द्वित्व' कहते हैं। एवं च जीव-ब्रह्म ये दो हैं, एक नहीं हैं। इसलिये उनमें भेद व्यवहार करना हमारा उचित ही है।

'मोक्षदशायामज्ञान-निवृत्तौ' से लेकर 'द्वित्वमित्यप्युच्यताम्' तक के प्रघट्टक का सरलार्थ यह है कि वेदान्तमत के अनुसार यदि कहा जाय कि मोक्षकाल में जीव का अज्ञान नष्ट हो जाने से ब्रह्म के साथ जीव का अभेद (ऐक्य) होता है, तो नैयायिक के मतानुसार यह भी कहा जा सकता है कि घट-पट के भेद की तरह जीव-ब्रह्म का भेद, अन्योन्याभावरूप है और उसके नित्य होने से उसका नाश भी नहीं होगा। अतः जीव-ब्रह्म का भेद तो नित्य ही है। इस पर कदाचित् वेदान्ती यह कह दे कि 'भेद' को हम अन्योन्याभावरूप स्वीकार न कर उसे 'पृथक्त्व' के रूप में स्वीकार करेंगे, तब 'पृथक्त्व' तो गुणपदार्थ है अतः उसका नाश भी हो सकता है। उस स्थिति में जीव-ब्रह्म की एकता हो सकती है। इस पर नैयायिक भी कह सकता है कि 'भेद' को पृथक्त्व (गुण) के रूप में स्वीकार करने पर भी तथा उसके नष्ट हो जाने पर भी 'दो व्यक्ति' नष्ट नहीं हो सकते, वे तो विद्यमान रहेंगे ही। अतः जीव-ब्रह्म में भेद तो स्थिर बना ही रहा। इस पर कदाचित् वेदान्ती यह कहे कि 'दो व्यक्तियों' में रहनेवाले 'द्वित्व' धर्म का भी नाश हो जाता है। जब द्वित्व नहीं रहेगा तो एकत्व (ऐक्य) सिद्ध हो जायेगा। इस पर नैयायिक भी कह सकता है कि 'द्वित्व' धर्म का नाश स्वीकार करने पर भी 'दोनों व्यक्तियों को एक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दो वस्तुओं में 'द्वित्व' धर्म (गुण) रहता है, वह (द्वित्व) अपेक्षा बुद्धि (अयमेकः, अयमेकः यह एक है, यह एक है,

इत्याकारक) से पैदा होता है। यदि उस द्वित्व को नष्ट हुआ भी कहें तब भी एक-एक करके प्रतीत होनेवाली दो वस्तुएँ दो व्यक्ति ही कहलायेंगी, एक नहीं। जब व्यक्तियाँ दो रहेंगी, तब उन्हें एक कैसे कहा जायगा ? अतः जीव और ब्रह्म दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियाँ हैं, दोनों एक नहीं हैं। वेदान्तीगण ब्रह्म को निर्धर्मक (धर्म-रहित) मानते :हैं, अतः सत्यत्वादि धर्म, उसमें नहीं रह सकते तथापि वे ब्रह्म को 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहते हुए सत्यरूप कहते हैं। उसी तरह द्वित्व धर्म के न रहने पर भी दो व्यक्तियों की द्विरूपता तो रहेगी ही। अतः द्विरूपता का अपलाप करके एकरूपता कहना उचित नहीं है। इस पर ब्रह्म को सत्यरूप कहनेवाला वेदान्ती 'सत्य' की परिभाषा यदि करे कि 'अधिकरण' (ब्रह्म) में वर्तमान (विद्यमान) जो मिथ्यात्वाऽभाव (मिथ्यात्व का अभाव) है, उसी को 'सत्य' कहते हैं। यानी 'सत्यत्व' कोई भावरूप धर्म नहीं, बल्कि वह अभावरूप है। जब 'सत्यत्व' धर्म, अभावात्मक हुआ तब शेष बचा रहा केवल भावरूप धर्मी ब्रह्म। एवञ्च अद्वैत (अभेद) की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है।

इस पर नैयायिक कहेगा कि वेदान्तियों के परिभाषिक सत्यत्व के समान हमारा 'द्वित्व' धर्म भी दो व्यक्तियों (व्यक्तिद्वय) में रहनेवाला जो एकत्वाऽभाव, तद्रूप है, अर्थात् एकत्वाभाव ही 'द्वित्व' है, यह आपको मानना चाहिये। तब यह अभावात्मक 'द्वित्व धर्म' जीव-ब्रह्मा में हमेशा ही स्थिर रहेगा। एवं च द्वित्व धर्म के रहते हुए आपकी अद्वैत (अभेद) सिद्धि कैसे हो सकती है ?

प्रत्येकमेकत्वेऽपि पृथ्वी-जलयोर्न गन्ध इतिवदुभयं नैकमित्यस्य सर्वजनसिद्धत्वात्। योऽपि तदानीमभेदप्रतिपादको वेदः सोऽपि निर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति, सम्पदाधिक्ये 'पुरोहितोऽयं राजा संवृत्त' इतिवत्। अत एव 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इति श्रूयते। ईश्वरोऽपि न ज्ञानसुखात्मा किन्तु ज्ञानाद्याश्रयः 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादौ विज्ञानपदेन ज्ञानाश्रय एवोक्तः 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्याद्यनुरोधात्। आनन्दमित्यस्याप्यानन्दवदित्यर्थः। अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययात्। अन्यथा पुँल्लिङ्गत्वापत्तिः। आनन्दोऽपि दुःखाभावे उपचर्यते, भाराद्यपगमे सुखी संवृत्तोऽहमितिवत् दुःखाभावेन सुखित्वप्रत्ययवत्। अस्तु वा तस्मिन्नानन्दो न त्वसावानन्दः, 'असुखम्' इति श्रुतेः। न विद्यते सुखं यस्येति कुतो नार्थ इति चेत् ? न, क्लिष्टकल्पनापत्तेः,। प्रकरणविरोधादानन्दमित्यत्र मत्वर्थीयाच्प्रत्ययविरोधाच्चेति सङ्क्षेपः।

इति नित्यविज्ञानात्मवादिवेदान्तिमतखण्डनम्।

'द्वित्व' धर्म दो व्यक्तियों में पैदा होता है, यह सभी जानते हैं। यदि हम उन दो व्यक्तियों को एक-एक करके कहें तो उनमें से प्रत्येक में, 'एकत्व' धर्म रहेगा, किन्तु दोनों व्यक्तियों को मिलाकर कहना चाहें तो उन्हें 'दो' ही कहना होगा, क्योंकि दोनों एक नहीं हैं। जैसे पृथ्वी में ही 'गन्ध' रहता है, लेकिन यदि

कोई पूछे कि पृथ्वी जल दोनों में गन्ध है ? तो उत्तर में कहना होगा कि 'दोनों' में गन्ध नहीं है। वैसे ही जब हम दो व्यक्तियों को इकट्ठा देखते हैं तब उनमें हम 'एकत्वाऽभाव' का अनुभव करते हैं. वह अनुभूयमान एकत्वाभाव ही 'द्वित्व' है। एवं च जीव और ब्रह्म में भावात्मक 'द्वित्व' धर्म भले ही न रहें किन्तु अभावात्मक 'द्वित्व' धर्म को तो अभावात्मक सत्यत्व के समान जीव और ब्रह्म में मानना ही होगा। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर 'प्रत्येकमेकत्वेऽपि' मूल ग्रन्थ को पढ़ा जाय तो समझने में कष्ट नहीं होगा।

वेदान्ती--एक एक व्यक्ति में 'एकत्व' धर्म रहता है, तब उसमें एकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक-अन्योन्याभावात्मक 'द्वित्व' धर्म कैसे रहेगा ? क्योंकि अन्योन्याभाव का प्रतियोगितावच्छेदक के साथ विरोध रहता है।

नैयायिक—'प्रत्येकमेकत्वेऽपीति।' जीव में एकत्व है और ब्रह्म (परमेश्वर) में भी एकत्व है। दोनों में से प्रत्येक में एकत्व के रहने पर भी 'उभयं, नैकम्'—ये दो हैं, एक (एकत्ववत्) नहीं है--यह अनुभव सभी को होता है। अर्थात् जीव और ब्रह्म दोनों को मिलाकर देखने में 'द्वौ' (दो) यही व्यवहार किया जायगा। इसी बात को दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं—पृथिवीजलयोर्न गन्ध इति वदिति। अकेली पृथिवी में गन्ध के विद्यमान रहने पर भी 'पृथ्वीजलयोर्न गन्धः' पृथ्वी-जल दोनों में गन्ध नहीं है, यह प्रतीति होती है इसलिये पृथ्वीजलोभयत्वात्मक-व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नानुयोगिताकगन्धात्यन्ताऽभाव को जैसे स्वीकार किया जाता है, वैसे ही 'द्वौ नैकम्' इस प्रतीति से द्वित्वात्मकव्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नानुयोगिताक एकत्ववदन्योन्याभाव के स्वीकार करने में भी कोई हानि नहीं है।

वेदान्ती—जीव ब्रह्म का भेद मानने पर मोक्ष के समय जीव, ब्रह्म के अभेद (ऐक्य) का प्रतिपादन करने वाली 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' श्रुति कहाँ चरितार्थ होगी ? श्रुति स्पष्टरूप से कह रही है 'ब्रह्मविद्' ब्रह्मविषयक निदिध्यासन करनेवाला, 'ब्रह्मैव' ब्रह्मरूप 'भवति' हो जाता है।

नैयायिक—'योऽपि तदानीमिति'। तदानीम् अर्थात् मोक्षकाल में वेदान्ती के कथनानुसार जीव-ब्रह्म के ऐक्य (अभेद) का प्रतिपादन करने वाली 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' श्रुति का तात्पर्य अभेदप्रतिपादन में नहीं है। वह श्रुति (वेदवाक्य) तो मोक्ष के समय जीवात्मा में निर्दुःखत्व निर्द्वेषत्व, (दुःखराहित्य, द्वेषराहित्य आदि के होने से 'ब्रह्म' के साथ उसकी (जीव की) समानता (सादृश्य) को बताती है, अभेद को नहीं। मुक्तावलीकार ने 'निर्दुःखत्वादिना साम्यम्प्रतिपादयति' कहा है। उक्त वाक्य में तृतीया विभक्ति का अर्थ होगा 'अभेद' और उसका 'साम्य' से अन्वय होगा, तब उपर्युक्त अर्थ (निर्दुःखत्व-निर्द्वेषत्वादिरूप समानता) सम्पन्न होगा। नैयायिक उक्त श्रुति का अर्थ इस प्रकार करता है—ब्रह्मविद्=ब्रह्मविषयकतत्त्वज्ञानवान् 'ब्रह्मैव' ब्रह्मसमानो मोक्षस्थितिको भवति।

अतः प्रतीयमान जो अभेदार्थ है, वह वास्तविक नहीं है, अपितु साम्यपरक अर्थ ही वास्तविक है। साम्यबोधन के तात्पर्य से अभेद का प्रतिपादन लोकव्यवहार में भी किया जाता है 'सम्पदाधिक्ये इति'। जैसे—किसी राजपुरोहित कर्मकाण्डी ब्राह्मण के पास हाथी, घोड़ा, मोटर, सुवर्ण-रजतादि द्रव्य सम्पत्ति के अत्यधिक होने पर लोग कहते हैं कि 'यह पुरोहित कर्मकाण्डी ब्राह्मण तो राजा ही हो गया' (पुरोहितोऽयं राजा संवृत्तः)। इस वाक्य में अभेदार्थबोधक-'प्रथमा' विभक्ति का प्रयोग, साम्यार्थबोधन के तात्पर्य से किया गया है। अत एव 'पुरोहितोऽयं राजा संवृत्तः' वाक्य सुननेवाले को 'सम्पदाधिक्यप्रयोज्यराजसाम्यः पुरोहितः' यही अर्थबोध होता है। 'राजा से अभिन्न पुरोहित है' यह अर्थबोध नहीं होता। उसी तरह 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' यहाँ पर भी 'ब्रह्मसमानो भवति'—ब्रह्म के तुल्य हो जाता है—अर्थ का ही बोध होता है। अत एव अर्थात् 'ब्रह्मविद्' श्रुति के द्वारा साम्य का प्रतिपादन किये जाने के कारण ही भगवती श्रुति बता रही है—'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।' 'निरञ्जनः' = निर्दुःख हुआ मुक्त व्यक्ति (अञ्जन = मिथ्या ज्ञान, उससे रहित मुक्त व्यक्ति), 'परमम्' = निर्दुःखत्वात्मक अनुभवरूप, 'साम्यम्' मोक्षाख्य समानता को 'उपैति' = प्राप्त होता है। इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म-जीवात्मा के भेद की ही सिद्धि होती है, क्योंकि इन दोनों में जो भेद है वह साम्य से व्याप्य (यत्र यत्र ब्रह्म-जीवात्मनोर्भेदः, तत्र तत्र साम्यम्) है। एवं च जीव-ब्रह्म का भेद ही स्पष्ट हो रहा है।

'निरञ्जनः' श्रुति का अर्थ वेदान्तियों के मत से इस प्रकार किया जाता है। 'निरञ्जन' = अविद्यारहित होता हुआ, 'परमम्' = ब्रह्मस्वरूपात्मक 'साम्यम्' सामानाधिकरण्यप्रयुक्त ऐक्य का, 'उपैति' = अनुभव करता है। उपर्युक्त ऊहापोह के द्वारा आत्ममात्र (समस्त आत्माओं) की विज्ञानरूपता का खण्डन करने के पश्चात् अब पूर्वोक्त द्वितीय पक्ष (ब्रह्म = परमेश्वर की विज्ञानरूपता) का भी खण्डन कर रहे हैं—'ईश्वरोऽपीति।' यहाँ 'अपि' शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि जैसे 'जीव' ज्ञान—सुखस्वरूप नहीं है, वैसे ही परमेश्वर (ब्रह्म) भी ज्ञान-सुखस्वरूप नहीं है बल्कि 'आत्मा' तो ज्ञान, सुखादि का समवायसम्बन्ध से आश्रय (अधिकरण) है। अर्थात् 'आत्मा' ज्ञान का अधिकरण, सुख का अधिकरण है, ज्ञानरूप नहीं।

वेदान्ती—यदि 'आत्मा' को ज्ञानरूप न मानकर ज्ञानाधिकरण माना जाय तो "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"—(बृहदा० ५।९।७) श्रुति से विरोध होगा, क्योंकि यह श्रुति 'ब्रह्म' को विज्ञान से अभिन्न (ज्ञानरूप) बता रही है। अतः ब्रह्म (परमेश्वर) को ज्ञान का आश्रय (अधिकरण) कैसे कहें?

नैयायिक—'नित्यमिति'। उक्त श्रुति का अर्थ इस प्रकार है—'नित्यम्' = प्रागभाव-ध्वंस का अप्रतियोगी, 'विज्ञानम्' = समवाय सम्बन्ध से नित्य ज्ञान का

अधिकरण, 'आनन्दम्'=दुःखत्वावच्छिन्नाऽभाववत्, परब्रह्म है। श्रुतिगत 'विज्ञान' पद से 'ज्ञानाश्रय' समझना चाहिये, क्योंकि 'वि' उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' धातु से 'करणाधिकरणयोश्च'—(पा० सू० ३।३।११७) सूत्र के द्वारा 'अधिकरण' के अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर 'विज्ञान' पद निष्पन्न हुआ है, और वह धर्म-धर्मिभावपरक है। अतः 'विज्ञानमस्ति अस्मिन् इति विज्ञानम्' अर्थात् विज्ञानाश्रयं ब्रह्म, यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इसलिये ज्ञानाधिकरण ही 'ब्रह्म' है, ज्ञानरूप नहीं।

वेदान्ती—'विज्ञायते इति विज्ञानम्'—इस अर्थ को बताने के लिये 'वि' पूर्वक 'ज्ञा' धातु से 'स्वार्थ' में 'ल्युट्' प्रत्यय क्यों न किया जाय ?

नैयायिक—'विज्ञान' पद में स्वार्थे ल्युट् (भावार्थक ल्युट्) करने पर 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्'—(मु० उ० १।९) श्रुति से विरोध होगा, और उस विरोध का परिहार नहीं हो पायगा। 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' श्रुति में 'सर्वज्ञ' और 'सर्ववित्' पदों को देखकर पुनरुक्ति की आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि—मुण्डक श्रुति में प्रयुक्त 'विद्' धातु का अर्थ 'विशेष ज्ञान' है, और 'ज्ञा' धातु का अर्थ 'सामान्य ज्ञान' है। अतः उक्त श्रुतिगत 'यत्'—'तत्' पदों का व्यत्यास करके 'यो यद्विषयकविशेषज्ञानवान्, स तद्विषयक-सामान्यज्ञानवान्'—जो जिस विषय का विशेषज्ञान रखता है, वह उस विषय का 'सामान्यज्ञानवान्' भी अवश्य रखता है। इस प्रकार अर्थ करने से आपाततः प्रतीयमान पुनरुक्ति नहीं हो पाती। मुण्डक श्रुति के आगे 'इत्याद्यनुरोधात्' कहा गया है। यहाँ 'आदि' पद से 'यस्य ज्ञानमयं तपः' श्रुति को भी सूचित किया है। 'यस्य' जिस परमेश्वर का 'तपः' उत्कृष्टतम तेज 'ज्ञानमयम्' नित्यज्ञानसुखादि की प्रचुरता से पूर्ण है। यहाँ 'प्राचुर्य' अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय किया गया है। एवञ्च परमेश्वर (ब्रह्म) में नित्यज्ञान सुखादि की प्रचुरता है। तात्पर्य यह है कि 'नित्यं विज्ञानम्' श्रुति के 'विज्ञान' पद में भावार्थक (स्वार्थ) ल्युट् प्रत्यय करने पर 'यः सर्वज्ञः' श्रुति से विरोध उपस्थित होता है, जिसे दूर नहीं किया जा सकता, इसलिए अधिकरणार्थक ल्युडन्त 'विज्ञान' पद की ही यहाँ कल्पना करनी चाहिये।

वेदान्ती—नैयायिकों के कथानुसार 'ज्ञान' और 'ब्रह्म' में गुण-गुणिभाव मानने पर 'विज्ञानमानन्द' ब्रह्म श्रुति में प्रयुक्त 'आनन्द' पद की क्या व्यवस्था होगी ?

नैयायिक—'आनन्दमिति।' "अर्श आदिभ्योऽच्"—(पा० सू० ५।२।१२७) सूत्र से मतुबर्थक 'अच्' प्रत्यय से निष्पन्न हुआ नपुंसकलिङ्ग 'आनन्द' पद है। 'आनन्दः अस्यास्तीति' व्युत्पत्तिः। इसलिये 'आनन्दम्' का भी अर्थ 'आनन्दवत्' समझना चाहिए। 'आनन्दम्' का 'आनन्दवत्' अर्थ न करने पर सुखार्थक आनन्द शब्द का प्रयोग 'स्यादानन्दथुरानन्द' कोशानुसार पुंल्लिङ्ग में होना चाहिये था। मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करने पर ही 'आनन्द' शब्द का नपुंसकलिंग में प्रयोग हो सकेगा, अन्यथा नहीं। इसलिये 'आनन्दवत्' अर्थ ही किया गया है।

वेदान्ती—नैयायिकों के मतानुसार परमेश्वर में आनन्दरूपगुण तो है नहीं, तब उसमें 'आनन्दवत्त्व' मानना तो अपसिद्धान्त होगा। अतः आनन्द का आनन्दवत् अर्थ

करना उचित नहीं, क्योंकि सुख का अपर पर्याय ही तो आनन्द है और वह पुण्य का फल है। ईश्वर में पुण्य का होना संभव नहीं, क्योंकि विहित क्रिया-जन्य धर्म को पुण्य कहते हैं, विहितक्रिया यागादि ही हैं। ईश्वर को यागानुष्ठान का अधिकार ही नहीं तो, यागानुष्ठातृत्व उसमें कैसे संभव होगा ? जब अनुष्ठाता वह नहीं तो पुण्यजन्य-सुखफल का भागी भी वह नहीं होगा।

नैयायिक—'आनन्दोऽपि दुःखाभावे उपचर्यते' इति। दुःखाऽभाव को प्रवृत्तिनिमित्त बनाकर 'ईश्वर' में आनन्द शब्द का प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि आनन्द शब्द, लक्षणा वृत्ति से दुःखाभाववान् का बोधक होता है। अर्थात् 'आनन्दं=दुःखाभाववान् इत्यर्थः'। यहाँ पर 'आनन्द शब्द' का अर्थ 'समवायेनआनन्दवान्' नहीं है। ऐसा करने पर अपसिद्धान्त का दोष नहीं होगा। इसी बात को दृष्टान्त देकर समझाते हैं—'भाराद्यपगमे इति।' भार (बोझा) वहन (ढोने) के बाद उसे भार को) उतार देने पर अपनी पूर्वस्थिति में प्राप्त हुआ (भाररहित हुआ) व्यक्ति अपने को 'मैं सुखी हुआ' 'सुखी संवृत्तोऽहम्'—इतना ही समझता है। वह यह नहीं कहता कि अब 'मैं पहले से अधिक सुख का अनुभव कर रहा हूँ।' दुःखाभाव के रहने से सुखित्व प्रत्यय का केवल वह अनुभव करता है। उसी तरह श्रुतिगत 'आनन्दम्' का अर्थ आनन्दवत् सुखवत् ब्रह्म समझना चाहिए। यदि वेदान्ती कहे कि 'सम्भवति मुख्येऽर्थे-जघन्यवृत्तिकल्पनमन्याय्यम्'—मुख्यार्थ के संभव रहते लक्षणावृत्ति के द्वारा अन्यार्थ की कल्पना करना उचित नहीं है। उस पर हमारा (नैयायिक का) कहना यह है कि 'अस्तु वा तस्मिन्' इति। परमेश्वर (ब्रह्म) में नित्य ज्ञान की तरह नित्य सुख भी यदि रहता हो, तो भले ही रहे, हमें कोई आपत्ति नहीं, किन्तु उस परमेश्वर (ब्रह्म) को हम आनन्दरूप नहीं मान सकते, उसे आनन्द से तो भिन्न ही मानना होगा। एवञ्च आनन्द और ब्रह्म में अभेद नहीं है। अभेद न मानने में प्रमाण श्रुति है—'असुखम्' इति। 'असुखम्' में 'न सुखम्=असुखम्'—यह नञ् तत्पुरुष समास है। श्रुतिघटक 'नञ्' सुखभेदपरक है। अतः नञ् शब्द यहाँ पर परमेश्वर से सुख का भेद बोधन कर रहा है। तथा च 'सुखभिन्नः अर्थात् सुखाधिकरणः परमात्मा' यह अर्थ 'असुखम्' का है। इस श्रुतिप्रमाण से यह स्पष्ट हो रहा है कि परमेश्वर (ब्रह्म) आनन्दरूप नहीं है।

वेदान्ती—'न विद्यते' इति। 'असुखम्'—में 'न विद्यते सुखं यस्य' ऐसा बहुव्रीहि समास करना चाहिए, 'तत्पुरुष' नहीं। बहुव्रीहि करने पर यह अर्थ होगा कि 'जिसमें सुख समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहता। अर्थात् यत्समवेततया सुखमप्रसिद्धम्'। तथा च—'ईश्वरः (ब्रह्म) सुखवान्' यह अप्रसिद्ध अर्थ है। अतः 'सुखमेवेश्वरः' परमेश्वर सुखरूप है, यही अर्थ उचित है, जो बहुव्रीहि समास से उपलब्ध होता है, उसे क्यों नहीं स्वीकार करते ?

नैयायिक—'क्लिष्टकल्पनापत्तेः' इति। वेदान्ती के द्वारा प्रदर्शित बहुव्रीहि के द्वारा परमेश्वर को सुखरूप (आनन्दरूप) कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वैसा करने में क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है। अर्थात् बहुव्रीहि करने पर नञ् को लक्षणा करनी पड़ेगी। बहुव्रीहिसमास अन्यपदार्थप्रधान हुआ करता है। अतः नञ् की अन्यपदार्थ में लक्षणा करना ही क्लिष्ट कल्पना है। ऐसी क्लिष्ट कल्पना 'तत्पुरुष' में नहीं करनी पड़ती।

वेदान्ती—नञ्तत्पुरुष में भी 'असुख' पद और 'ब्रह्म' पद दोनों में एकधर्मिबोधकत्वरूप समानाधिकरण्य' का अनुभव सभी को होता है। अन्यथा 'असुख' पद और 'ब्रह्म' पद दोनों की तुल्य (समान) वचनता उपपन्न नहीं हो सकेगी। अतः 'नञ्' की अभाववान् में लक्षणा करना तत्पुरुष में आवश्यक है। एवञ्च वेदान्ती के समान नैयायिक को भी लक्षणारूप क्लिष्ट कल्पना तो तुल्य ही है। इसलिये अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि करना ही उचित है, जिससे ब्रह्म को सुखरूप माना जा सकता है।

नैयायिक—'प्रकरणविरोधात्' इति। बृहदारण्यक के शरीरभेदाद्यर्थक 'अशरीरम्''''अस्थूलम्''''असुखम्' श्रुतिघटक 'असुख' शब्द का 'सुखाभाववत्' अर्थ करना संभव न होने से सर्वत्र 'नञ् तत्पुरुष' ही किया गया है। अतः समानप्रवाहपतित 'असुख' पद में भी प्रकरणानुरोधेन उसी को (तत्पुरुष को) ही करना ठीक प्रतीत हो रहा है, बहुव्रीहि करना ठीक नहीं। किञ्च—बहुव्रीहि करने पर एक अन्य विरोध भी होगा—'आनन्दमित्यत्र' इति। सुखार्थक आनन्द शब्द का तो नित्य पुंल्लिङ्ग में प्रयोग करने का नियम है। और मत्वर्थीय अच् प्रत्यय बिना लगाये नपुंसकलिङ्ग में उसका (आनन्दशब्द का) प्रयोग हो नहीं सकता। ऐसी स्थिति में श्रुतिगत 'आनन्दम्' प्रयोग की असाधुता होगी, यह एक दोष है। दूसरी बात यह है—'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' यह श्रुति तो 'ब्रह्म' और 'आनन्द' में स्पष्टतया भेद का प्रतिपादन कर रही है। गुण-गुणी का भेद माननेवाले नैयायिकों के पक्ष में ही ये सब श्रुतियाँ उपपन्न हो पाती हैं। अभेदवादी वेदान्तियों के पक्ष में नहीं।

अद्वैत वेदान्तियों के सिद्धान्तों का संक्षिप्त संग्रह—

अद्वैत ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है, जो सच्चिदानन्दस्वरूप है। उससे भिन्न (अतिरिक्त) प्रतीयमान होनेवाला समस्त प्रपञ्च शुक्ति-रजत की तरह या मरुमरीचिका की तरह मिथ्या है अर्थात् भ्रान्तिविलास है। जहाँ जिसका अत्यन्ताभाव हो, वहीं पर उसकी प्रतीति होने को मिथ्या कहते हैं। मिथ्यात्वञ्च यत्र यस्यात्यन्ताभावः तत्रैव तस्य प्रतीयमानत्वम्।' मिथ्या को ही प्रतिभास भी कहते हैं। वही अद्वितीय ब्रह्म उपाधिवशात् जीवभाव को प्राप्त हुआ सा लगता है। उपाधियों के अनेक होने से जीव भी अनेक होते हैं। जैसे घट-मठ आदि उपाधियों

की भिन्नता होने से आकाश के एक होने पर भी उसमें नानात्व का व्यवहार (अनेकता का व्यवहार) लोग किया करते हैं। माया और अविद्या के भेद से उपाधि के दो भेद हैं। मायोपाधिक चैतन्य को ईश्वर कहते हैं और अविद्योपाधिक चैतन्य को जीव कहते हैं। राग द्वेषात्मक प्रबन्धानुपाती संसार को बन्ध कहते हैं। उस बन्ध का निदान (कारण) अविद्या है। जीव में स्व (ब्रह्म) स्वरूप का आविर्भाव होना ही मोक्ष है। तत्त्वमसि आदि महावाक्य से उत्पन्न होनेवाली "अहम् ब्रह्माऽस्मि" इस प्रकार की अखण्डाकार वृत्ति को ब्रह्मविद्या कहते हैं। यह ब्रह्मविद्या ही उपर्युक्त बन्ध का समूल विनाश कर देती है। बन्ध का समूल विनाश हो जाता है, इसलिये मोक्ष को ही परम-पुरुषार्थ कहते हैं। भगवती श्रुति कहती है—

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधौतम्।
तद्वदात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः॥
— (श्वेता० उप० २।१४, १५)

एतेन प्रकृतिः कर्त्री पुरुषस्तु पुष्करपलाशिवन्निर्लेपः किन्तु चेतनः। कार्यकारणयोरभेदात् कार्यनाशे सति कार्यरूपतया तन्नाशोपि न स्यादित्यकारणत्वं तस्य। बुद्धिगतचैतन्याभिमानान्यथानुपपत्त्या तत्कल्पनम्। बुद्धिश्च प्रकृतेः परिणामः। सैव महत्तत्त्वम्, अन्तःकरणमित्युच्यते। तत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां पुरुषस्य संसारापवर्गौ। तस्या एवेन्द्रियप्रणालिकया परिणतिर्ज्ञानरूपा घटादिना सम्बन्धः। पुरुषे कर्तृत्वाभिमानो बुद्धौ चैतन्याभिमानश्च भेदाग्रहात्। ममेदं कर्तव्यमिति। मदंशः पुरुषोपरागो बुद्धेः स्वच्छतया तत्प्रतिबिम्बादतात्त्विको दर्पणस्येव मुखोपरागः। इदमिति विषयोपरागः, इन्द्रियप्रणालिकया परिणतिभेदस्तात्त्विको निःश्वासाभिहतदर्पणस्येव मलिनिमा। कर्तव्यमिति व्यापारांशः। तेनांशत्रयवती बुद्धिस्तत्परिणामेन ज्ञानेन पुरुषस्यातात्त्विकः सम्बन्धो दर्पणमलिनिम्नेव मुखस्योपलब्धिरुच्यते। ज्ञानवत्सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मा अपि बुद्धेरेव कृतिसामानाधिकरण्येन प्रतीतेः। न च बुद्धिश्चेतना परिणामित्वादिति मतमपास्तम्।

'एतेन' पद का सम्बन्ध 'इतिमतमपास्तम्' के साथ समझना चाहिए। 'एतेन' इति। इससे अर्थात् पूर्वोक्त अनेक युक्तियों के द्वारा आत्मा में ज्ञान की अधिकरणता सिद्ध कर देने से और अग्रिम वक्ष्यमाण ग्रन्थ से 'मतमपास्तम्' अर्थात् सांख्यमत का निरसन हो गया समझना चाहिए। सांख्यदर्शन का अपना सिद्धान्त है— 'प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः, किन्तु चेतनः०" इति। प्रकृति अर्थात् सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका मूल प्रकृति ही समस्त विश्व की कर्त्री (उपादान कारण) है। यहाँ पर प्रकृति में जो कर्तृत्व बताया गया है, उसे अनुकूल कृति-

मत्त्व के रूप में नहीं समझना। अर्थात् प्रकृति में किसी प्रकार की कृति रहने से वह कर्त्री नहीं कही जा रही है। अनुकूल कृतिमत्त्वरूप कर्तृत्व तो प्रकृति की कार्यरूप बुद्धि में माना गया है। अर्थात् वह अन्तःकरण का धर्म है। प्रकृति में कर्तृत्व तो केवल कर्तृभूतबुद्ध्यात्मक अन्तःकरण का कारणस्वरूप है। यह पारिभाषिक कर्तृत्व 'प्रकृति' में समझना चाहिए। 'अकार्यावस्थोपलक्षितत्वे सति गुणसामान्यत्वम्प्रकृतित्वम्'—यह प्रकृति का लक्षण है। सत्त्वरजस्तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति के सम्बन्ध में ब्रह्मवैवर्तगत प्रकृतिखण्ड के प्रथमाध्याय में तथा देवीभागवतगत नवम स्कन्ध के प्रथमाध्याय में—

"प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥
गुणे प्रकृष्टसत्त्वे च प्रशब्दो वर्तते श्रुतौ।
मध्यमे रजसि कृश्च तिः शब्दस्तमसि स्मृतः॥

सत्त्वरजस्तमोगुण का स्वरूप सांख्यकारिकाकार ने यह बताया है—

"सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥'

सांख्यदर्शन में पंचविंशति (पच्चीस) तत्त्व बताये गये हैं—१ प्रकृति (मूल प्रकृति), २ महत्तत्त्व (बुद्धि या अन्तःकरण), ३ अहंकार, ४ पंचतन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), ५ पञ्चज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण), ६ पञ्च कर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ), ७ पंचभूत (आकाश, वायु; अग्नि, जल, पृथ्वी), ८ पुरुष और ९ मन इन्हीं पंचविंशति तत्त्वों का संग्राहक एक श्लोक भी है—

"प्रकृतिबुद्ध्यहङ्कारौ तन्मात्रैकादशेन्द्रियम्।
भूतानि चेति सामान्याच्चतुर्विंशतिरेव ते॥
पञ्चविंशतिः पुरुषः॥"

इन तत्त्वों में प्रकृति से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्रा, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय तथा पञ्च कर्मेन्द्रिय और मन (उभयेन्द्रिय)—सोलह तत्त्व उत्पन्न होते हैं। इन सोलह तत्त्वों में जो पञ्चतन्मात्रासंज्ञकत्त्व है, उससे पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं। ये चौबीस तत्त्व हैं, और पच्चीसवाँ तत्त्व 'पुरुष' है।

इन पच्चीस तत्त्वों के केवल-प्रकृति (कारण), केवल विकृति (कार्य), उभय (प्रकृति-विकृति), और अनुभय (न प्रकृति और न विकृति) ये चार भेद किये गये हैं। क्योंकि 'प्रकृति तत्त्व' (मूलप्रकृति तत्त्व) विकृति नहीं है अर्थात् किसी का विकार (कार्य) नहीं है, यानि किसी से भी पैदा (उत्पन्न) नहीं होता। अभिप्राय यह है कि केवल प्रकृति, मूल प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त—ये सब

प्रकृति के ही नामान्तर हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और उभयात्मक (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय भी) मन और पञ्चभूत—ये सोलह (१६) तत्त्व, विकार (कार्य) ही हैं अर्थात् ये सोलह तत्त्व किसी भी अन्य तत्त्व के कारण नहीं हैं, यानि इनसे कोई भी तत्त्व उत्पन्न नहीं होता। महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा—ये सात (७) तत्त्व, प्रकृति भी (कारण अर्थात् अन्य तत्त्व के उत्पादक भी) हैं और विकृति भी (कार्य अर्थात् अपने कारणभूत तत्त्व से ये स्वयं उत्पन्न भी) होते हैं, यानि ये सात तत्त्व उभयरूप (प्रकृति-विकृतिरूप) हैं, और पुरुषतत्त्व न प्रकृति है और न विकृति ही है। अर्थात् यह न किसी का कारण है और न किसी का कार्य ही है, यानि न कोई इसका उत्पादक है और न यह स्वयं किसी से उत्पन्न हुआ है। इसलिये पुरुषतत्त्व अनुभयरूप (न किसी का प्रकृति है और न किसी का विकृति) है। उपर्युक्त चौबीस तत्त्व जड़ हैं और पचीसवाँ तत्त्व (पुरुष) चेतन है, तथापि वह कर्ता नहीं है। वह केवल साक्षी-मात्र है। इसी अभिप्राय को एक कारिका के द्वारा श्रीमदीश्वरकृष्ण ने व्यक्त किया है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

॥ इति सांख्यमतसंक्षेपः॥

शंका—मुक्तावलीकार ने 'किन्तु चेतनः' कहा है, इससे यह प्रतीत हो रहा है कि न्याय-वैशेषिक के तुल्य सांख्यदर्शन भी 'पुरुष' को ज्ञानवान् (ज्ञानाधिकरण) मानता है, ऐसी स्थिति में न्याय वैशेषिक के द्वारा सांख्यमत का निराकरण कैसे किया जा सकेगा?

समा०—सांख्यदर्शन ने 'पुरुष' (चेतन) को ज्ञानरूप माना है, ज्ञानवान् नहीं। चेतन से भिन्न (अतिरिक्त) यदि वह (सांख्य) ज्ञान को मानें तो उसके परिगणित पच्चीस तत्त्वों की अपेक्षा उसे (ज्ञान को) एक अधिक तत्त्व मानना पड़ेगा। इस कारण सांख्य चेतन (पुरुष) को ज्ञानरूप ही मानता है, ज्ञानाधिकरण नहीं। किन्तु नैयायिक पुरुष को ज्ञानाधिकरण मानता है।

सांख्य—पुरुष में 'कृतिमत्त्वरूप कर्तृत्व' है, ऐसा नैयायिक कहते हैं। किन्तु वह ठीक नहीं—'पुरुषस्त्विवति'। पुरुष अर्थात् जीव (चेतन) अपरिणामी है। सूत्रकार ने भी कहा है—'निर्गुणत्वान्नचिद्धर्मा'—(सां० सू० १।१४७)। जीव को पुरुष इसलिए कहते हैं कि वह 'पुरि = शरीर में, शेते = व्याप्त है।' उसी पुरुष को चेतन भी कहते हैं। वह पुरुष पुष्कर पत्र (कमल पत्र) की तरह निर्लेप-असंग अर्थात् कृति, ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा आदि लेपों से रहित है, यानि हमेशा शुद्ध है। निर्लिप्तत्वं नाम—'वास्तविकसुखदुःखादिसंयोगानधिकरणत्वम्।'

कुछ लोग दूसरे ढंग से कहते हैं—अनुयोगितासम्बन्धेन विजातीय (सुखादि) संयोगवत्त्वं लिप्तत्वम्, तद्भिन्नत्वमलिप्तत्वम् । वैजात्यञ्चात्र अम्भसा लिप्तम्, भस्मना लिप्तम्, तैलेन लिप्तं शरीरमित्याद्यनुगतप्रतीतिसिद्धनोदनत्वव्याप्यजाति· विशेषरूपम्बोध्यम् । श्रुति भी उसकी असंगता को बता रही है—असङ्गोह्ययं पुरुषः—("बृ० उप० ६ । ३।१६) । पुरुष की निर्लिप्तता में अनुमान इस प्रकार करेंगे—'पुरुषः लिप्तत्वाभाववान् चेतनत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा प्रकृतिः ।' जैसे कमलपत्र जल में रहते हुए भी उससे अलिप्त रहता है वैसे ही पुरुष कर्तृत्वादि धर्मों का आश्रय नहीं होता है । गीता भी कहती है— "लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा"—(भग० गी०] । इससे एक अन्य अनुमान भी होता है—'पुरुषः कर्तृत्वादिधर्माभाववान् कारणत्वाभावात् यन्नैवं तन्नैवम्, यथा प्रकृतिः ।' सांख्य के अनुसार 'चेतनत्वं न ज्ञानाश्रयत्वम्, ज्ञानस्य पुरुषे अभावात् ।' 'किन्तु चेतनः' इस अनुगतप्रतीति से चेतनपदशक्यतावच्छेदक· तया सिद्ध-जातिविशेषत्वं चेतनत्वम्' उसी को 'आत्मत्व' भी कहते हैं । यह पुरुष चेतन होकर भी जगत् का कर्ता नहीं होता । इसमें दृष्टान्त पद्म·पत्र का दिया गया है । तथा हि—पुष्करपलाश (कमल का पत्ता) पानी में रहकर भी उस पानी से जैसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही यह पुरुष जगत् के कर्तृत्वादि धर्मों से लिप्त नहीं होता, अर्थात् जगत् की निर्मिति नहीं लगता । 'जो किसी भी कार्य के प्रति कारण नहीं होता, वह उन कार्यों का कर्ता भी नहीं होता ।' इस नियम के अनुसार 'पुरुष' जगत् के प्रति कारण नहीं है तो वह उसका (जगत् का) कर्ता भी नहीं है - यह अनुमान फलित होता है ।

यदि उक्त नियम को (जगत् के प्रति कारण न होने से जगत् का कर्ता भी नहीं हो सकता) स्वीकार न करें और पुरुष को जगत् के प्रति कारण (जगत् का उत्पादक) मानें तो सांख्यदर्शन के अनुसार कार्य-कारण दोनों में भेद न होने से (कार्य तथा कारण के एक होने से) जगत् रूप कार्य का नाश होने पर पुरुष के कार्यरूप होने से उसका (पुरुष का) भी नाश हो जायेगा । इसलिए पुरुष को किसी भी कार्य का कारण नहीं माना जाता । भाव यह है कि—सांख्य के मत में कार्य का अपने उपादान कारण के साथ अभेद (तादात्म्यसम्बन्ध) होने से घट·पटादि का नाश होने पर कार्यरूपतया अर्थात् घटा-पटादि कार्य से अभिन्न होने के कारण उपादानकारणरूप कपाल का भी जैसे नाश होता है, उसी तरह तन्नाशोऽपि अर्थात् आत्मा का भी नाश होने का प्रसंग प्राप्त होगा । ('तन्नाशो न स्यात्' ऐसा पाठ यदि हो तो पुरुष का नाश न हो अर्थ करना चाहिये), इति—इस कारण 'अकारणत्वं = कारणत्वाऽनधिकरणत्वं तस्य' । पुरुष में जगत् के प्रति अकर्तृत्व का स्वीकार करना चाहिए, यह सांख्य का कहना है । तथा च-नाशाऽप्रतियोगित्वरूप नित्यत्व की अनुपपत्ति होने से पुरुष को जगत् का कारण नहीं मानना चाहिए ।

किञ्च—जगत् के प्रति यदि पुरुष को कारण कहा जाय तो धर्मपरिणाम—लक्षणपरिणाम—अवस्थापरिणामों में से किसी एक परिणाम का आश्रय उसे अवश्य ही कहना होगा और उसे आश्रय कहने पर श्रुति तथा युक्ति से सिद्ध जो उसकी कूटस्थता है, वह नहीं बन सकेगी। धर्म, लक्षण और अवस्था के भेद से 'परिणाम' तीन प्रकार का होता है। योग सूत्रकार कहते हैं—

"एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्था परिणामा व्याख्याताः॥

(पा० यो० सू० पा० ३ सू० १३)

मृत्तिका (मिट्टी) रूप धर्मी का जो घटाकार परिणाम है उसे धर्मपरिणाम कहते हैं। उसी घट के द्वारा अनागत अध्वा का त्याग कर वर्तमान अध्वा का स्वीकार करना और उसे भी त्याग कर अतीत अध्वा का स्वीकार करना लक्षण परिणाम है। (अध्वा=काल, अनागत=भविष्य, अतीत=भूत)। उसी घट का नवीन-प्राचीन के भेद से प्रतिक्षण जो परिक्षय होता रहता है, उसे अवस्थापरिणाम कहते हैं। अतः सभी पदार्थों का प्रतिक्षण परिणाम होता रहता है। एक 'चितिशक्ति' पदार्थ ही ऐसा है, जिसका परिणाम कभी नहीं होता।

प्रकृति से महत्तत्त्व का होना धर्मपरिणाम है। सांख्य में परिणाम की परिभाषा इस प्रकार है--अवस्थितस्य वस्तुनः पूर्वावस्थापरित्यागेन (पूर्वधर्मनिवृत्तौ) धर्मान्तरोत्पत्तिः—परिणामः। किन्तु नैयायिक 'विनाश' को ही "परिणाम' कहते हैं।

शंका--सांख्य ऐसे अपरिणामी (निर्विशेष) पुरुष को क्यों स्वीकार कर रहा है? अर्थात् ऐसे पुरुष के स्वीकार करने में क्या प्रमाण है। ऐसे पुरुष का स्वीकार करना व्यर्थ है।

समा०--'बुद्धिगत इति।' यदि हम 'पुरुष' का स्वीकार न करें तो प्रकृति का साक्षात् कार्य (परिणाम), जड़ अन्तःकरणस्वरूप 'बुद्धि' है, उसमें होने वाला (बुद्धिवर्ती), 'चेतनोऽहम्' इस आकार का जो 'चैतन्याभिमान' अर्थात् बुद्धि को यह ज्ञान (भान) होना कि 'मैं चेतन हूँ' वह नहीं बन पायगा। अतः उपर्युक्त अभिमान की सिद्धि के लिये सांख्य को 'पुरुष' तत्त्व का स्वीकार करना पड़ता है। सर्वत्र प्रसिद्ध चैतन्यस्वरूप पुरुष से संयुक्त हुई बुद्धि में चैतन्याभिमान का आरोप तभी संभव हो पाता है। सांख्यदर्शन के इस सिद्धान्त को कभी भूलना नहीं चाहिए कि प्रकृति का प्रथम परिणाम बुद्धि है, 'प्रकृति' जड़ है, अतः उसकी कार्यरूप बुद्धि का जड़ होना भी स्वाभाविक है। क्योंकि उपादेय सदा उपादान से अनुविद्ध रहता है। जैसे घट, मृत्तिका से अनुविद्ध होने के कारण वह भी मृत्तिकारूप ही है। किन्तु उसमें (बुद्धि में) ज्ञान-इच्छादि धर्मों की उपलब्धि होने से चैतन्य की भी प्रतीति होती है। किन्तु वह प्रतीति तभी सम्भव हो सकती है जब कि चेतनस्वभाव—पुरुष का उसके साथ सम्बन्ध माना जाय, अन्यथा नहीं हो सकती। आरोप्यमाण पदार्थ कहीं प्रसिद्ध रहना चाहिए, तभी उसका आरोप हो

सकता है। अतएव प्रसिद्ध चैतन्य का बुद्धि में आरोप किया जाता है। जैसे 'रक्तः स्फटिकः' इस प्रतीति में जपाकुसुम के सम्बन्ध से ही स्फटिक में लौहित्य की प्रतीति होती है। वैसे ही बुद्धि में पुरुष के उपराग (सम्बन्ध) के कारण चैतन्य की प्रतीति होती है।

शंका— उस बुद्धि का स्वरूप क्या है, जिसमें पुरुषोपराग के कारण 'मैं चेतन हूँ', इस प्रकार चैतन्य की प्रतीति होती है।

समा० बुद्धिश्चेति। त्रिगुणसाम्यावस्थारूप 'प्रकृति' का जो प्रथम (साक्षात्) कार्य (परिणाम) है, अर्थात् प्रकृति की एक अवस्था विशेष है उसी को 'बुद्धि' कहते हैं, उसी के 'महत्तत्त्व' 'अन्तःकरण' ये नामान्तर हैं। जैसे स्फटिक में जपाकुसुम के सम्बन्ध से रक्तिमा और जपाकुसुम के हटा लेने पर उसमें श्वेतिमा होती है, वैसे ही उस बुद्धि के सत्त्व (पुरुष के साथ संयोग) से पुरुष (जीव) को संसार (बन्ध) प्राप्त होता है, और बुद्धि के असत्त्व (पुरुष के साथ वियोग यानी संयोगाऽभाव) से पुरुष को अपवर्ग अर्थात् आत्यन्तिक दुःखध्वंसात्मक मोक्ष प्राप्त होता है। "तस्या एव" इति। 'तस्याः' पद का "परिणतिः" पद के साथ सम्बन्ध है। उस अन्तःकरणरूप बुद्धि का ही ज्ञानवृत्त्यात्मक परिणाम (परिणति), अर्थात् चक्षुरिन्द्रियात्मकनालिका के द्वारा घट-पटादि-विषयों के साथ विषयाकारात्मक जो सम्बन्ध (परिणति-परिणाम) है, वह सम्बन्ध (परिणाम) ज्ञानरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं। विषय के आकार से आकारित जो इन्द्रियवृत्तिरूप ज्ञान है, वह बुद्धि का ही धर्म है, आत्मा का नहीं। उसी तरह इच्छा, कृति, सुख, दुःख आदि भी बुद्धि के ही परिणाम हैं, इसलिये कर्त्री, भोक्त्री, सुख-दुःख की दात्री बुद्धि ही है।

शंका—यदि पुरुष कर्त्ता, भोक्ता (कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्म पुरुष के) नहीं हैं, तो पुरुष को 'अहं करोमि' यह प्रतीति क्यों होती है ?

समा०—इन्द्रियरूप नालिका के द्वारा पदार्थ (वस्तु) सन्निकर्ष सम्बन्ध होने के पश्चात् उत्पन्न होने वाली 'अयं घटः' इस आकार की चित्तवृत्ति ही 'प्रमाण' है, और उससे उत्पन्न होने वाला जो 'घटमहं जानामि' इत्याकारक बोध (अनुभव, प्रमा) है, वह उसका 'फल' है, और वह प्रमा (अनुभव) रूप फल, बुद्धि में वर्तमान रहने पर भी बुद्धि में पड़े हुए प्रतिबिम्बित आत्मा में औपाधिक सम्बन्ध (स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्व सम्बन्ध) से रहता है, इसलिए उस प्रमा (बोध) रूपी फल को 'पौरुषेय' कहा जाता है। एवञ्च बुद्धि के कर्तृत्वादि धर्म पुरुष में भी औपाधिक रूप से रहते हैं---ऐसा कहा जाता है। अतः बुद्धि और पुरुष के भेदाऽग्रहमूलक (अभेदज्ञानमूलक) 'पुरुषः कर्ता, भोक्ता' यह अनुभव होता है, किन्तु उसे (अनुभव को) भ्रमात्मक ही समझना चाहिए। क्योंकि वह (पुरुष) तो असंग है, उसमें कर्तृत्वादि धर्मों का होना कदापि सम्भव नहीं। सांख्यवादी के इस

अभिप्राय को मुक्तावलीकार 'पुरुषे कर्तृत्वाभिमानो' इस ग्रन्थ से बता रहे हैं। अर्थात् 'अहं करोमि' इस प्रकार पुरुषगत जो कर्तृत्वाभिमान (कर्तृत्वप्रकारक-अभिमान अर्थात् 'अहम्' प्रत्यय) और प्रकृति के प्रथम परिणामरूप महत्तत्त्वापर-पर्याय बुद्धि को 'अहं (बुद्धिः) चेतना' इस प्रकार का जो अभिमान, इन दोनों में भेद (विवेक) का ग्रहण न हो पाने से (बुद्धि और पुरुष का कोई संसर्ग नहीं है यह ज्ञान न होने से) पुरुषगत चैतन्य की बुद्धि में और बुद्धिगत कर्तृत्व की पुरुष में प्रतीति होती है। अतः पुरुष को कर्तृत्वाभिमान होता रहता है। अर्थात् बुद्धिगत कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि धर्मों की पुरुष में और चैतन्य की प्रतीति बुद्धि में होती रहती है।

नैयायिक—"बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्"—(न्या० सू० १।१।१५) इस सूत्र के अनुसार बुद्धि और उपलब्धिरूप ज्ञान (प्रत्यय-प्रतीति) में कोई भेद नहीं मानता अर्थात् ज्ञान को बुद्धि का पर्याय मानता है। किन्तु सांख्यवादी बुद्धि से उपलब्धि (ज्ञान) को भिन्न मानता है। इसी अभिप्राय को बताने के लिए बुद्धि के तीन अंशों को वह प्रदर्शित कर रहा है—'ममेदम्' इति। 'मम इदं कर्तव्यम्' यह प्रतीति सभी को हुआ करती है। इस प्रतीति में न्यायदर्शन के अनुसार 'मम' अंश से स्वामित्व, 'इदम्' अंश से विषयत्व, 'कर्तव्यम्' अंश से व्यापार (क्रिया) भासित होता है। इसमें 'स्वामित्व' आत्मा का वास्तविक है, 'विषयत्व' विषय का वास्तविक है, और क्रिया (व्यापार) विषयस्था वास्तविक है। ये सभी, ज्ञान में विषयतया भासित होते हैं। इसलिए इसे भ्रम नहीं कह सकते। किन्तु सांख्य का कथन है कि 'मम इदं कर्तव्यम्' में तीन अंश हैं, एक 'मम' दूसरा 'इदम्', तीसरा 'कर्तव्यम्'। उनमें 'मम' अंश पुरुष का है, क्योंकि बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। अर्थात् 'पुरुषचैतन्य' की बुद्धि में प्रतीति होती है। अर्थात् बुद्धि और पुरुष में भेद का ग्रहण न हो पाने से दोनों में एकत्व का अभिमान होता है। अस्मच्छाब्दार्थभूत पुरुष का सम्बन्ध 'मम' इस षष्ठीविभक्ति से ज्ञात होता है। किन्तु वह प्रतिबिम्ब (बुद्धिगत चैतन्य की प्रतीति) वास्तविक नहीं है, अपितु दर्पणस्थित प्रतिबिम्ब की तरह मिथ्या है। जैसे—दर्पण में पड़े हुए प्रतिबिम्ब से दर्पण में कोई परिवर्तन नहीं होता है और न उस प्रतिबिम्ब से बिम्ब (मुख आदि) में ही कोई परिवर्तन होता है, अतः वह प्रतिबिम्ब जैसे मिथ्या (वास्तविक नहीं) है वैसे ही बुद्धि में पड़ा हुआ पुरुष चैतन्य का प्रतिबिम्ब छाया भी मिथ्या है। 'पुरुषोपराग' का अर्थ 'पुरुष-सम्बन्ध' है। जैसे दर्पण का मुखसम्बन्ध। 'मम' इस प्रथम अंश की यह व्याख्या हुई।

अब दूसरा अंश 'विषय' का है। क्योंकि विषय के आकार में बुद्धि ही परिणत होती है, यानी बुद्धि का चक्षुरादि-इन्द्रिय के द्वारा विषय के साथ सम्बन्ध

होता है और वह सम्बन्ध उपराग मिथ्या नहीं है, अपितु निःश्वास से अभिहत दर्पण से मलिनिमा के सम्बन्ध के समान सत्य है। अर्थात् दर्पण पर फूक मार कर निकलने वाली भाँप से दर्पण के साथ मलिनिमा का सम्बन्ध जैसे सत्य है, वैसे ही बुद्धि का विषय के साथ जो सम्बन्ध विषयाकार परिणाम है, वह भी सत्य है।

तीसरा अंश 'कर्तव्यम्' है, इसका अर्थ है कि किसी विषय की ओर प्रवृत्ति होना, यानी उस विषय के लिये यत्न करना या चेष्टा करना। यह 'कर्तव्य' व्यापार अंश है। यह भी बुद्धि का ही धर्म है। जैसे निःश्वास से निकलने वाली भाँप से दर्पण में जो मलिनिमा आ जाती है, वह मलिनिमा दोष उस दर्पण पर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल पाती, क्योंकि दर्पण को पोंछने पर पुनः वह पूर्ववत् स्वच्छ निर्मल हो जाता है। उसी प्रकार बुद्धि में उत्पन्न होनेवाले घट-पट आदि विषयों के ज्ञान से वस्तुतः पुरुष का कोई सम्बन्ध नहीं है, पुरुष तो बिलकुल स्वच्छ है। उस ज्ञान से तो बुद्धि का सम्बन्ध है। ज्ञान बुद्धि का धर्म है, उसी तरह सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म भी बुद्धि के ही धर्म (परिणाम) हैं, क्योंकि कृति (प्रयत्न) के अधिकरण में ही ये सब उसी के साथ रहते हैं। अर्थात् जहाँ ज्ञान वहीं इच्छा और जहाँ इच्छा वहीं कृति होती है।

शंका--बुद्धि में चैतन्य का अनुभव सभी को होता है, अतः तदनुरोधेन बुद्धि में ही चैतन्य को क्यों न माना जाय? पुरुष में चैतन्य की कल्पना क्यों की जाय।

समा०--"न च बुद्धिरिति।" 'न च बुद्धिः चेतना, परिणामित्वात्'--इसमें 'बुद्धि' पक्ष है, 'न च चेतना' यह साध्य है और 'परिणामित्वात्' यह हेतु है। अर्थात् 'बुद्धिः चेतनत्वाभाववती परिणामित्वात् (अनित्यत्वात्) घटवत्' यह अनुमान का आकार सांख्य के मत में होगा।

कृत्यदृष्टभोगानामिव चैतन्यस्यापि सामाधिकरण्यप्रतीतेस्तद्भिन्ने मानाभावाच्च। चेतनोऽहं करोमीति प्रतीतिश्चैतन्यांशे भ्रम इति चेत्कृत्यंशे किं नेष्यते। अन्यथा बुद्धेर्नित्यत्वे मोक्षाभावोऽनित्यत्वे तत्पूर्वमसंसारापत्तिः।

नन्वचेतनायाः प्रकृतेः कार्यत्वाद् बुद्धेरचैतन्यं कार्यकारणयोस्तादात्म्यादिति चेन्न, असिद्धेः। कर्तुर्जन्यत्वे मानाभावात्। वीतरागजन्मादर्शनादनादित्वम्, अनादिभावस्य नाशासम्भवान्नित्यत्वम्। तत्किं प्रकृत्यादिकल्पनेन।

न च--'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' (गी० ३।२७) इत्यनेन विरोध इति वाच्यम्, प्रकृतेरदृष्टस्य गुणैरदृष्टजन्यैरिच्छादिभिः कर्ताहमेवेत्यस्य तदर्थत्वात्। 'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः' इत्यादिवदता भगवता प्रकटीकृतोऽयमुपरिष्टादाशय इति सङ्क्षेपः।

इति सांख्यमतखण्डनम्।

किन्तु इस सांख्यमत का नैयायिक के द्वारा खण्डन किया गया है, क्योंकि 'कृत्यदृष्टभोगानामिवेति'। कृति (प्रयत्न), अदृष्ट (धर्माधर्म), भोग (सुख दुःखान्यतरसाक्षात्कार) की तरह चैतन्य (ज्ञान) की भी 'चेतनोऽहं करोमि' इस प्रकार समानाधिकरण्य से प्रतीति होती है। कृति अपने अधिकरण में ही अदृष्ट को पैदा करती है, और वह अदृष्ट अपने अधिकरण में ही भोग को पैदा करता है। एवं च कृति-अदृष्ट-भोग ये सब अपने अधिकरण 'आत्मा' में होते हैं। वैसे ही आत्मा में कृति और चैतन्य (ज्ञान) भी भासित होता है, क्योंकि कर्त्ता से भिन्न किसी चेतन के होने में कोई प्रमाण नहीं है।

कुसुमाञ्जलिकार कहते हैं—

"कर्तृधर्मा नियन्तारश्चेतिता च स एव नः।
अन्यथानपवर्गः स्यादसंचारोऽथवा ध्रुवः॥"

शंका——सांख्यवादी कहता है "चेतनोऽहं करोमीति"। चेतनोऽहं करोमि' इस प्रतीति में तीन अंश हैं, एक——चैतन्यांश (ज्ञानस्वरूपांश), दूसरा अस्मदंश, और तीसरा—कृत्यंश। उनमें अस्मदंश और कृत्यंश तो बुद्धि के वास्तविक हैं लेकिन चेतनत्वांश तो बुद्धि में पुरुष (चेतन) का प्रतिबिम्ब पड़ने से उपसंक्रान्त (प्रतिफलित) हुआ है, इसलिये वह वास्तविक नहीं है। एवं च चेतनत्व से रहित (शून्य) बुद्धि में चेतनत्वप्रकारक ज्ञानांश जो भासित होता है, वह भ्रम है।

अभिप्राय यह है—यद्यपि बुद्धि की जड़ता स्वाभाविक है तथापि चेतनपुरुष के सम्बन्ध से उसके प्रतिबिम्ब को वह ग्रहण कर लेती है। प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर लेने के कारण वह (बुद्धि) 'चेतनोऽहं करोमि' इस प्रकार मिथ्या अभिमान करने लगती है। अतः चैतन्य (ज्ञान) को कृति आदि के समानाधिकरण नहीं कहा जा सकता। अर्थात् ज्ञान और कृति आदि एकाधिकरणवृत्ति नहीं है।

समा०—नैयायिक कहता है कि, 'कृत्यंशेऽपि किं नेष्यते" इति। न्यायवादी के मतानुसार 'चेतनोऽहं करोमि' में चैतन्यांश (चेतनत्वांश), अस्मदंश और कृत्यंश ये तीनों वस्तुतः जीव के ही हैं। अतः जैसे चैतन्यांश (ज्ञानस्वरूपांश) और अहमंश (अस्मदंश) में भ्रम का स्वीकार सांख्य ने किया है, उसी तरह बुद्धि में कृत्यंश (प्रयत्नांश) का भी भ्रम है, यह क्यों नहीं वह स्वीकार करता ? उसे भी भ्रम कहने में क्या हानि है ? यदि सांख्यवादी बुद्धि में कृति का भ्रम नही स्वीकार करता तो चैतन्य के भ्रम का भी वह स्वीकार न करे। तथा च उपर्युक्त तीनों अंशों की प्रतीति वस्तुतः आत्मा में ही होती है, यह मान लेना चाहिए। पहले जो अनुमान 'पुरुषः कर्तृत्वाऽभाववान् कारणत्वाऽभावात्' किया था उसका बाधक 'बुद्धिः कर्तृत्वाभाववती जन्यधर्मत्वात्' यह अनुमान किया जा रहा है। इसलिए (आत्मा में कर्तृत्व होने के कारण) सुखादि धर्मों को भी उसी में मानना चाहिए। एवं च ज्ञान (उपलब्धि) के अतिरिक्त (पृथक्-भिन्न) बुद्धि नामक किसी द्रव्य के होने में कोई प्रमाण नहीं है।

नैया०--उपलब्धि के अतिरिक्त बुद्धि का स्वीकार करने में बाधक भी है--'अन्यथेति ।' यदि पुरुष और कर्ता में भेद माना जाय, अर्थात् अतिरिक्त द्रव्यात्मक बुद्धि का स्वीकार किया जाय तो सांख्यवादी बतावे कि 'बुद्धि' नित्य है या अनित्य? यदि बुद्धि को नित्य कहें तो बुद्धि और पुरुष का सम्बन्ध हमेशा ही रहने से पुरुष की भी मुक्ति नहीं होगी। क्योंकि बुद्धि को वे नित्य मान रहे हैं। ऐसी स्थिति में आत्मा का कभी मोक्ष ही नहीं हो पायेगा। क्योंकि 'बुद्धि का जब तक सम्बन्ध रहता है तब तक मोक्ष नहीं होता है' यह सांख्य का सिद्धान्त है।

यदि बुद्धि को अनित्य कहते हैं तो बुद्धि की उत्पत्ति के पूर्व बुद्ध्याश्रित एवं बुद्धिजनक अदृष्ट के ही न रहने से बुद्धि की उत्पत्ति ही नहीं होगी और उसके न होने पर संसार की भी उत्पत्ति नहीं होगी। अर्थात् जब बुद्धि उत्पन्न होगी तभी पुरुष के साथ उसका संयोग (सम्बन्ध) होगा और संयोग होने पर ही संसार होगा। एवं च जब तक बुद्धि उत्पन्न नहीं होगी, तब तक पुरुष के साथ उसका संयोग (सम्बन्ध) होना सम्भव नहीं और संयोग न होने पर संसार की उत्पत्ति नहीं होगी। अतः अनित्यत्व-पक्ष में असंसारापत्ति होगी।

सांख्यवादी—'नन्वचेतनाया' इति। बुद्धि को अनित्य मानने पर भी उस (बुद्धि) की उत्पत्ति के पूर्व असंसारापत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कल्पान्तर (अन्य कल्प) में नित्य प्रकृतिरूप कारण से अन्य बुद्धि का उत्पादन होता है, उसके पूर्व-कल्प में भी अन्य बुद्धि का उत्पादन होता है। इस रीति से संसार का प्रवाह अनादि-काल से चलता आ रहा है। बुद्धि अपने मूलकारण जड़ प्रकृति का कार्य है, इसी-लिए वह स्वयं भी जड़ (अचेतन) है। उसमें (बुद्धि में) चैतन्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि कार्य कारण का तादात्म्य (एकता) माना जाता है। एवं च नित्य प्रकृति की अनादिता के कारण तत्प्रयुक्त बुद्धि आदि कार्य के द्वारा संसार की भी अनादिता सिद्ध हो जाती है और प्रकृति के जड़ होने से बुद्धि आदि कार्यों की भी जड़ता सिद्ध हो जाती है। इसलिए चैतन्य को बुद्धि नहीं कह सकते। यदि चैतन्य ही बुद्धि होती तो उसमें कृति आदि की समानाधिकरणता (एकाधिकरणवृत्तित्व) रहने से वह आत्मा में समवेत होती। अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—संसारः अनादिः अनादिकारणप्रयुक्तिप्रयुक्तत्वात्।' 'बुद्धिः जडा (अचेतना) प्रकृतिजन्यत्वात्।'

नैयायिक—'असिद्धेः' इति। सांख्यवादी के द्वारा प्रदर्शित दोनों अनुमानों में जो 'हेतु' दिया गया है उसमें 'असिद्धि' दोष होने से वह सद्धेतु नहीं है, किन्तु हेत्वाभास है। अर्थात् मूल प्रकृति के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है और उसके न होने से 'प्रयुक्तिप्रयुक्तत्व' और 'प्रयुक्तिजन्यत्व' ये दोनों हेतु असिद्ध हैं।

सांख्यवादी—'बुद्धिः जन्या कृत्यादिपरिणामवत्त्वात्' इस अनुमान से बुद्धि में जन्यत्व सिद्ध होता है और 'बुद्धिः स्वसमाननित्यकारणवती जन्यत्वात्' इस अनुमान से प्रकृति में बुद्धि की कारणता सिद्ध हो जाने से 'मूलप्रकृति' का अस्तित्व सिद्ध होता है।

नैयायिक—'कर्तुर्जन्यत्वे मानाभावात्' इति । कृतिमान् (कर्तृपदार्थ) अनित्यत्व (जन्यत्व) में अर्थात् कर्ता को अनित्य मानने में कोई प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि नित्यत्व से कर्तृत्व व्याप्त होता है अर्थात्-'यत्र कर्तृत्वं तत्र नित्यत्वम्' यानि जो कर्ता होता है वह नित्य होता है। तथा च—'बुद्धिः जन्या कृत्यादि-परिणामत्त्वात्' यह अनुमान, विरुद्ध—व्यभिचारी दोष से दूषित है। अतः नित्य कर्ता 'आत्मा' ही हो सकता है, 'बुद्धि' को नित्य कर्ता के रूप में नहीं माना जा सकता। कर्तृत्व में नित्यत्व की व्याप्यता कहने में कर्ता के अनादित्व का प्रतिपादक न्यायसूत्र "वीतरागजन्मादर्शनात्"—(न्या० सू० अ० ३, आ० १, सू० २५) भी प्रमाण है। वीत हुआ है (नष्ट हुआ है) राग (मिथ्याज्ञानजन्यवासना) जिसका, उस पुरुष के जन्म–(संसरण) अदर्शनात् (नहीं दिखाई देने से)-का अभाव हो जाता है। क्योंकि सराग पुरुष का ही जन्म होता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि जो कृतिमान् (कर्ता) है, वही बचपन में (बाल्यावस्था) में इष्टसाधनताज्ञान के बिना स्तन्य (दूध) पान में प्रवृत्त नहीं होता, अपितु स्तन्यपान मेरे इष्ट (जीवन) का साधन है यह समझकर ही वह प्रवृत्त होता है। उस बालक को होने वाला वह इष्ट-साधनता-ज्ञान, (दुग्ध-पान मेरे जीवन का साधन है–यह ज्ञान) स्मरणात्मक (स्मृतिरूप) है, उस स्मरणात्मक ज्ञान (स्मरण) को 'संस्कार' की अपेक्षा होती है और 'संस्कार' को 'अनुभव' की अपेक्षा रहती है, और वह अनुभव पूर्वजन्म में ही सम्भव हो सकता है, क्योंकि वर्तमानजन्म में सद्यः उत्पन्न हुए बालक को अभी अनुभव होने की कोई बात ही नहीं है। एवञ्च पूर्वजन्म सिद्ध होता है। इसी प्रकार पहली-पहली (प्रथम-प्रथम) प्रवृत्ति के अनुरोध से पूर्व जन्म की सिद्धि हो जाने से जन्म-प्रवाह की भी अनादिता माननी होगी और जन्म-प्रवाह के अनादि होने से 'पुरुष' की भी अनादिता (उत्पत्त्यप्रतियोगित्व) यानि पुरुष भी अनादि है–यह स्पष्ट हो जाता है। तब अनादि भावपदार्थरूप पुरुष का नाश होना सम्भव न होने से वह (अनादि पुरुष) नित्य है, यह स्वीकार करना ही होगा। तथा च 'प्रकृति, महत्तत्व' आदि कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

सांख्यवादी—"न चे"ति। प्रकृति के अस्तित्व में स्मृतिप्रमाण (शब्द प्रमाण) दे रहा है—

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहकांरविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥"

(गीता, अ० ३, श्लोक २७)

उक्त गीतावाक्य का अर्थ सांख्यवादी इस प्रकार करता है—

'प्रकृते'=प्रधानके 'गुणैः'=सत्त्व, रजस् और तमस् संज्ञक गुणों (कर्ताओं) के द्वारा 'क्रियमाणानि'=किये जाने वाले 'कर्माणि'=शुभाशुभ कर्मों के 'सर्वशः'= सब प्रकार से 'अहंकारविमूढात्मा'='अहंकर्ता' इस प्रकार अहंकार के कारण मोहित

हुआ आत्मा कर्ता न होता हुआ भी अपने को कर्ता समझता है। इस गीतावाक्य के साथ प्रकृति को न माननेवाले न्यायमत का (पुरुषनिष्ठकर्तृत्ववादी का) विरोध स्पष्ट है।

नैयायिक—उक्त गीतावाक्य का अर्थ अपने मत से प्रदर्शित करते हुए सांख्य-प्रदर्शित विरोध का परिहार करता है—"प्रकृते"रिति। उक्त गीतावाक्य में 'प्रकृति' शब्द का अर्थ 'प्रधान' नहीं है, अपितु 'धर्माधर्माख्य अदृष्ट' है और 'गुण' शब्द का अर्थ 'अदृष्टजन्यइच्छा आदि' है। कार्यमात्र के प्रति आठ साधारण कारण होते हैं। वे आठ कारण ये हैं—ईश्वर, उसका ज्ञान, यत्न, इच्छा, काल, अदृष्ट, दिक् और अभाव। (प्रागभाव और प्रतिबन्धकाऽभाव)। उक्त—साधारण कारणों से अतिरिक्त जो कारण हैं, वे विशेष कारण हैं। ये साधारण और विशेष कारण मिलकर ही समस्त कार्यों को किया करते हैं। उन कार्यों का 'अहमेक एव कर्त्ता' मैं अकेला ही करने वाला कर्त्ता हूँ—इस प्रकार 'अहङ्कारेण विमूढः' अज्ञानावच्छिन्न आत्मा अपने को मानता है, किन्तु उसका इस प्रकार मानना (समझना) केवल भ्रम है। एवं च 'अहमेक एव कर्त्ता' इस वाक्य से आत्मा में स्वतन्त्र कर्तृत्वाऽभाव का ही प्रतिपादन किया गया है, कर्तृत्वसामान्याभाव का नहीं।

तथा च—अदृष्टादि की अपेक्षा बिना किये केवल आत्मा को कर्त्ता जो मानता है, वह मूढ ही है, यह अभिप्राय है। नैयायिक के द्वारा प्रतिपादित अर्थ का बोधक गीता का अगला वाक्य दिया जा रहा है—"तत्रैवमिति"

"अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवञ्चैवात्र पञ्चमम्"॥

(गीता. अ. १८, श्लो. १४)

"शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥"

(गीता. अ. ८, श्लो. १५)

अधिष्ठान (शरीर), विज्ञानात्मा कर्ता, बाह्य और अवान्तर भेद से विभक्त इन्द्रियाँ, अनेक (दश) प्रकार के वायु के व्यापार (प्राण आदि और नाग आदि) तथा पाँचवाँ दैव—ये पाँच कर्म की उत्पत्ति के कारण हैं॥१४॥ शरीर वाणी और मन से जिस कर्म का पुरुष आरम्भ करता है, वह चाहे विहित हो या प्रतिषिद्ध हो, उसके उक्त पाँच ही हेतु हैं॥ १५॥

इस प्रकार पाँचों का कर्तृत्व बताकर—

"तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥"

—(गीता, अ. १८, श्लोक १६)

उक्त रीति से अधिष्ठान आदि पाँच ही सम्पूर्ण कर्मों के उत्पादक हैं, ऐसा—निष्कर्ष निकलने पर जो पुरुष, अकर्ता, शुद्ध आत्मा को कर्ता मानता है, वह आत्मतत्त्वज्ञान से शून्य होने के कारण दुर्मति है, अतः वह आत्मा को नहीं जानता।१६।

उक्त वाक्य के द्वारा आत्मा के स्वतन्त्र कर्तृत्व का ही निषेध किया है। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने आत्मा में कर्तृत्व है यह आशय प्रकट किया है। अतः पुरुष में ही कर्तृत्व मानना चाहिये।

शंका—पुरुष में कर्म की कारणता न होने से उसमें कर्तृत्व कैसे हो सकता है?

समा०—कर्तृत्व न मानने पर उसका स्वरूप ही असिद्ध होगा।

शंका—इस प्रकार कार्य-कारण का अभेद मानने पर पुरुष का विनाश होगा।

समा०—कार्य-कारण का अभेद मानने में कोई प्रमाण नहीं है। एवं च आत्मा के बिना अचेतन (जड) प्रकृति, जगत् की कर्त्री नहीं हो सकती। इस प्रकार सांख्यमत का संक्षेप से ही खण्डन किया गया है[1]।

॥ इति सांख्यमतखण्डनम् ॥

---

१. छात्रों के बुद्धिवैशद्यर्थ सरल एवं सुबोध रीति से सांख्यदर्शन का सिद्धान्त एवं उसका नैयायिकों के द्वारा खण्डन पुनः प्रस्तुत कर रहे हैं—

(चेतन) पुरुष, १ प्रधान, २ महत्तत्व (बुद्धि), ३ अहंकार, ४ शब्द ५ स्पर्श, ६ रूप, ७ रस, ८ गन्ध—ये पञ्चतन्मात्रा,, ९ आकाश, १० वायु, ११ तेज १२ जल, १३ पृथ्वी—ये पञ्चमहाभूत, १४ श्रोत्र, १६ त्वक्, १६ चक्षु, १७ रसन, १८ घ्राण ये पञ्चज्ञानेन्द्रिय, १९ वाक्, २० पाणि, २१ पाद, २२ उपस्थ, २३ पायु–ये कर्मेन्द्रिय, २४ मन–ये उभयेन्द्रिय, दोनों को मिलाकर ग्यारह इन्द्रियाँ हैं।–ये ही पच्चीस (२५) तत्व सांख्यदर्शन के हैं। 'तत्व' का अर्थ पदार्थ है। ये तत्व १ केवल प्रकृति (कारण), २ प्रकृति-विकृति (कारण,कार्य), ३ केवल विकृति (कार्य), ४ अप्रकृति (अकारण) तथा अविकृति (अकार्य) के भेद से चार प्रकार के हैं। यहाँ उपादानकारण का नाम 'प्रकृति' है और कार्य का नाम 'विकृति' है।

सत्व, रज, तम नामक गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रधान (प्रकृति) है। वह 'प्रधान' एक, अनादि तथा किसी की विकृति नहीं है। प्रधान से महत्तत्व उत्पन्न होता है। महत्तत्व को ही बुद्धि तथा अन्तःकरण भी कहते हैं। उससे अहंकार की उत्पत्ति होती है। वह महत्तत्व, अहंकार की प्रकृति है तथा प्रधान की विकृति है। अहंकार से पंचतन्मात्रा तथा एकादश इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं, अतः अहंकार तन्मात्रा और इन्द्रियों की प्रकृति है और महत्तत्व की विकृति है। पंचतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। अतः तन्मात्रा, पञ्चमहाभूतों की प्रकृति है तथा अहंकार की विकृति है। इस रीति से महत्तत्व, अहंक... पञ्चतन्मात्रा इन सप्ततत्वों

के प्रकृति-विकृति दोनों रूप हैं। पञ्चमहाभूत, एकादशेन्द्रिय—ये १६ तत्व पञ्चतन्मात्रा तथा अहंकार के केवल विकृतिरूप हैं तथा ये किसी कार्य के प्रकृति नहीं होते।

प्रश्न—पृथ्वी आदि पंचभूतों के गो-वृक्ष आदि तथा इनके भी दुग्ध-बीज आदि पुनः इनके भी दधि-अंकुर आदि विकार प्रत्यक्ष दीखते ही हैं, अतः ये भी प्रकृति हो गये, तब इन्हें भी प्रकृति न कहकर केवल विकृति क्यों कहा जाता है?

उत्तर—जैसे पृथ्वी आदिकों में स्थूलता तथा इन्द्रियग्राह्यता धर्म रहते हैं वैसे ही उन गो-वृक्षादिकों में भी स्थूलता, इन्द्रियग्राह्यता धर्म हैं, इस कारण वे सब पृथ्वी आदि के ही रूपान्तर हैं। यहाँ 'प्रकृति' शब्द से 'अन्यतत्त्व' की उपादान-कारणता विवक्षित है, कार्यमात्र की कारणता नहीं। 'पुरुष' तो न किसी का प्रकृति है और न किसी का विकृति है। कोई 'पुरुष' बद्ध है और कोई मुक्त है, ऐसा अनुभव होने से वह पुरुष (आत्मा) अनेक है, एक नहीं है। 'पुरुष' चेतन, नित्य और पद्मपत्र (कमलपत्र) की तरह निर्लेप है तथा कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि धर्मों का आश्रय भी नहीं है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'पुरुषः कर्तृत्वाऽभाववान् कारणत्वाभाववत्वात् यन्नैवं तन्नैवम् यथा बुद्धिः।' बुद्धि—कर्तृत्व तथा कारणत्वधर्मवाली है, किन्तु 'पुरुष' वैसा नहीं है। इस कारण पुरुष में कर्तृत्व का अभाव होने से भोक्तृत्व भी नहीं हो सकता। जहाँ कहीं सांख्यदर्शन ने 'आत्मा' को भोक्ता कहा है, वहाँ बुद्धिनिष्ठ 'भोक्तृत्व' का ही उस पर आरोप उसने किया है। यदि 'पुरुष' को घटादि कार्य का उपादान माना जायेगा तो उन कार्यों का नाश होने पर 'चेतन पुरुष' का भी नाश होने लगेगा। किन्तु भगवती गीता ने 'अज आत्मा' को 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' कहकर नित्य बताया है। उस निर्विकार चेतन पुरुष में अनुमान प्रमाण भी है। यथा—'चेतनोऽहं करोमि'—चेतनरूप मैं कर्ता हूँ—। इससे चेतनता (चैतन्य) धर्म का आश्रय पुरुष है, यह स्पष्ट है। किन्तु 'बुद्धि' जड़ है। यद्यपि 'कर्मणा बध्यते जन्तुः विद्यया च विमुच्यते' इस प्रमाण से जीवात्मा को ही बन्ध-मोक्ष का भागी कहा गया है, तथापि उसका तात्पर्य यह है कि बुद्धि, चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा बाह्य घटादि के देश में प्राप्त होती है, तब उसका (बुद्धि का) 'अयं घटः' इस रूप में घटादि-विषयाकार परिणाम होता है। इन परिणाम को ही 'वृत्तिज्ञान' कहते हैं। इस वृत्तिज्ञान के सम्बन्ध (स्वाकार-ज्ञानपरिणामिबुद्ध्याऽगृहीतभेदकत्व) से वह विषय, उस 'पुरुष' में रहता है। 'मम १, इदम् २, कर्तव्यम् ३, इस प्रतीति से उस बुद्धि में 'पुरुष' का सम्बन्ध तथा 'घटादि विषयों' का सम्बन्ध और 'वृत्तिज्ञानरूप व्यापार' का सम्बन्ध—ये तीन सम्बन्ध तीन अंशों ('मम' अंश पुरुष का, दूसरा अंश विषय का, तीसरा अंश व्यापार का है) में प्रतीत होते हैं।

नैयायिक—(शंका) जैसे 'कृति' के साथ सुख दुःखादिकों का सामानाधिकरण्य होने से वे (सुखदुःखादि) बुद्धि के धर्म कहलाते हैं, वैसे ही चेतनत्व (चैतन्य) धर्म

का भी (ज्ञान का भी) 'कृति' के साथ सामानाधिकरण्य होने से उसको (चैतन्य को) भी बुद्धि का ही धर्म क्यों नहीं माना जाता ?

सांख्य (समा०) - बुद्धि परिणामिनी है, इस कारण उसे चेतन नहीं कह सकते। यदि परिणामी वस्तु (पदार्थ) भी चेतन होने लगे तो मृत्तिका आदि पदार्थों को भी चेतन कहना चाहिए। 'बुद्धिः न चेतना परिणामित्वात् मृद्वत्' इस अनुमान से बुद्धि में अचेतनरूपता (जडरूपता) ही स्पष्ट होती है। 'चेतनोऽहं करोमि' यह प्रतीति बुद्धि को होती है, वह लोहितस्फटिक के समान भ्रान्ति ही है। अर्थात् पुरुष को 'मैं कर्ता हूँ' और बुद्धि को 'मैं चेतन हूँ' यह अभिमान जो होता है, उसका कारण यह है कि बुद्धि और पुरुष में भिन्नता का ज्ञान नहीं हो पाता।

नैयायिक--उपर्युक्त सांख्यवादी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे कृति, अदृष्ट, भोग तीनों का सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है, वैसे ही 'चेतनोऽहं करोमि' इस प्रतीति में भी चेतनता तथा कृति का सामानाधिकरण्य प्रतीत हो ही रहा है। क्योंकि चेतनता (चैतन्य) 'ज्ञान' से अलग कोई वस्तु नहीं है, और जो चेतन होता है वही कर्ता भी होता है। क्योंकि 'चेतनोऽहं करोमि' यह प्रतीति होती है। इस प्रतीति (अनुभव) के बल पर चेतन का ही कर्तृत्व सिद्ध हो रहा है। कर्ता से भिन्न 'चेतन' मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

सांख्यवादी 'चेतनोऽहं करोमि' इस प्रतीति को चैतन्यांश में भ्रम मानता है—क्योंकि चेतन तो 'पुरुष' है, तब नैयायिक उससे (सांख्यवादी से) कहता है कि कृति (कर्तृत्व) अंश में भी तुम भ्रम क्यों नहीं मानते ? अर्थात् कर्तृत्व (कृति) को भी चेतन पुरुष का ही धर्म मान लो। जो चेतन होता है वही कर्ता होता है। चेतन होना द्रव्य का ही स्वभाव है, 'बुद्धि' द्रव्य नहीं है, वह तो ज्ञानरूप है। किञ्च—सांख्यवादी का यह अनुमान 'बुद्धिः न चेतना परिणामित्वात् मृद्वत्' भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'बुद्धिः कर्तृत्वाऽभाववती जन्यत्वात् घटवत्'—जैसे 'घट' जन्य होने से कर्तृत्वाऽभाव वाला है, वैसे ही बुद्धि भी जन्य होने से कर्तृत्व के अभाव वाली होगी इस अनुमान के बल पर पूर्वोक्त 'चेतनोऽहं करोमि' इत्याकारक अनुभव को भी कृति अंश में भ्रमरूप मानना ही उचित है। सांख्यवादी बुद्धि को अतिरिक्त द्रव्य मानकर उसके (बुद्धि के) सत्त्व (होने) असत्त्व (न होने) से पुरुष को संसार और मोक्ष बताता है। किन्तु हम (नैयायिक), सांख्यवादी से पूछते हैं कि तुम्हारी कर्तारूप, द्रव्यात्मिका बुद्धि, नित्य है या अनित्य ? यदि सांख्यवादी उसे नित्य कहता है तो बुद्धि के सत्त्वाधीन यह संसार पुरुष को सर्वदा बना रहेगा, कभी मोक्ष का प्रसंग ही नहीं आवेगा, अब कोई मुमुक्षु मोक्षार्थ यत्न भी क्यों करेगा ? अर्थात् कोई भी मुमुक्षु मोक्षार्थ यत्न नहीं करेगा।

यदि बुद्धि को अनित्य कहता है तो बुद्धि की उत्पत्ति से पूर्व, पुरुष को संसार नहीं होना चाहिए। यदि सांख्यवादी इसमें इष्टापत्ति माने तो वह संभव नहीं, क्योंकि बुद्धि की उत्पत्ति के पूर्व जो पुरुष असंसारी थे, वे ही बुद्धि की उत्पत्ति के अनन्तर संसारी हो जायेंगे तथा मुक्त हुए पुरुष भी पुनः संसारी होने लगेंगे। और बुद्धि की उत्पत्ति से पूर्व पुण्य-पापरूप अदृष्ट का अथवा अदृष्टजनक विहित-निषिद्ध क्रिया का भी अभाव होगा। अतः बुद्धि में कर्तृत्व नहीं है, किन्तु चेतन आत्मा में ही कर्तृत्व है। किञ्च—बुद्धि में जो चेतनपुरुष का प्रतिबिम्बरूप अतात्त्विक सम्बन्ध माना है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि रूपवान् पदार्थ में ही रूपवान् पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ा करता है, इस कारण रूपरहित बुद्धि में रूपरहित पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ना भी संभव नहीं है।

किञ्च—सांख्यवादी प्रधान (प्रकृति) को चेतना से रहित (जड़) मानता है किन्तु उसे चेतन पुरुष के आश्रित नहीं मानता। ऐसी परिस्थिति में जड़ प्रधान, महदादि कार्यों को कैसे उत्पन्न करेगा ? लोक व्यवहार में तो मृत्तिका, सुवर्ण आदि अचेतन पदार्थ, कुलाल, स्वर्णकार आदि चेतन के आश्रित होकर घट, सुवर्णालंकारादि कार्यों की उत्पत्ति करने में प्रवृत्त होते हैं।

सांख्यवादी—जैसे 'दुग्ध' अचेतन होकर भी वत्सविवृद्धि के निमित्त गौ के स्तन से स्वयं अपने आप प्रवृत्त होता है, वैसे ही 'अचेतन प्रधान' भी पुरुष के भोग-अपवर्ग (मोक्ष) के निमित्त स्वयं प्रवृत्त होता है, उसे किसी चेतन के आश्रित होने की आवश्यकता नहीं है।

नैयायिक—अचेतन दुग्ध की प्रवृत्ति में चेतन गौ का स्नेहरूप व्यापार तथा चेतन वत्स का चूसना (चोषण) रूप व्यापार ही कारण है।

सांख्यवादी—"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥' इस गीतावचन से प्रधान में ही 'कर्तृत्व' सिद्ध होता है और चेतन पुरुष में कर्तृत्व का अभाव सिद्ध होता है।

नैयायिक—उक्त गीतावाक्य में 'प्रकृति' शब्द से पुण्य-पापरूपी अदृष्ट लिया गया है, उसी तरह तज्जन्य इच्छादि गुणों को भी समझना चाहिये। यदि ऐसा न माना जाय तो—"अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥" "शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥" "तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥" —इन अठारहवें अध्याय के श्लोकों से विरोध होगा। सुख-दुःख के भोग का आयतन तथा नेत्रादि करणों का आश्रय जो शरीर है, उसी को अधिष्ठान कहते हैं। इच्छादि गुणों वाले आत्मा को कर्ता तथा चक्षुरादि इन्द्रियों को 'करण' कहा गया है। प्राणादिकों का नाम 'चेष्टा' है। पुण्य पापरूप अदृष्ट का नाम 'दैव' है। यह 'जीवात्मा, शरीर, मन, वाणी से

धर्माधर्माश्रयोऽध्यक्षो विशेषगुणयोगतः ॥ ४९ ॥

(१) अध्यक्षः=प्रत्यक्षः, (२) विशेषगुणयोगतः=विशेषगुणसम्बन्धात्।

जीवात्मा, पुण्य-पाप का आश्रय है, इस कारण—पुण्य-पाप दोनों आत्मा में उत्पन्न होते हैं, एवं सुख-दुःखादि विशेष गुणों के सम्बन्ध से आत्मा का प्रत्यक्ष भी होता है।

धर्माधर्माश्रय इति। आत्मेत्यनुषज्यते। शरीरस्य तदाश्रयत्वे देहान्तरकृत-कर्मणां देहान्तरेण भोगानुपपत्तेः।

विशेषगुणयोगत इति। योग्यविशेषगुणस्य ज्ञानसुखादेः सम्बन्धेनात्मनः प्रत्यक्षत्वं सम्भवति, न त्वन्यथा, अहं जाने अहं करोमीत्यादिप्रतीतेः ॥४९॥

॥ इत्यात्मनि प्रमाणकथनम् ॥

यह आत्मा धर्माधर्म का आश्रय अर्थात् समवायेन अधिकरण है। धर्माधर्म का आश्रय, 'शरीर' को ही क्यों न माना जाय? ऐसी शंका यदि कोई करे तो 'शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः' इस प्रमाण से पुण्य-पाप का आश्रय 'शरीर' नहीं है[१], यह पहले कह चुके हैं, तथापि छात्रों को पुनः स्मरण दिलाने के लिये दुबारा कह रहे हैं कि "शरीरस्येति।" शरीर को ही पुण्य-पाप का यदि आश्रय मानें तो पूर्वजन्म के शरीर से उत्पन्न होने वाले (किये गये) कर्मों के फल का उपभोग दूसरे शरीर में भी—होने लगेगा, किन्तु ऐसा होता नहीं। तथा च कृतविप्रणाश और अकृताभ्यागम का प्रसंग प्राप्त होगा। भाष्यकार ने

जिन-जिन विहित-निषिद्ध कर्मों को करता है, उन कर्मों के अधिष्ठानादि पाँच ही कारण होते हैं। इन पाँचों के होने पर भी जो अविवेकी पुरुष केवल 'आत्मा' को ही कारण मानता है, वह दुर्मति असम्यग्दर्शी है। उक्त गीतावाक्यों से भी चेतनकर्ता ही सिद्ध होता है। अतः जड प्रकृति को कर्त्री नहीं मान सकते।

॥ इति सांख्यमतमण्डनन्तत्खण्डनञ्च ॥

१. अभिप्राय यह है—पुण्य-पाप ये दोनों आत्मा के गुण हैं, यह सिद्धान्त है। जो आत्मा, जिस शरीर से पुण्य-पाप करता है उस शरीर के नाश होने पर भी वही आत्मा दूसरे शरीर में जाकर पुण्य-पाप का फल भोगता है, यह सर्वसम्मत है। अब पुण्य-पाप को शरीर का गुण कहा जाय तो, उन पुण्य-पापों का कर्ता जो शरीर होगा उसके नष्ट होने से अर्थात् पुण्य-पाप के फल का भोक्ता उस शरीर के अभाव में उस फल को कौन भोगेगा? यदि जन्मान्तरीय दूसरे शरीर से उसे भोगा जायगा कहें, तो यह कहना भी ठीक न होगा, क्योंकि एक के किये हुए कर्म (पुण्य-पाप) का फल दूसरे को भोगना संभव नहीं। जिसने जो कर्म किया है, उस कर्म का फल उसे ही भोगना होता है, यह सर्वसम्मत है। अतः आत्मा को ही उन कर्मों का कर्ता तथा आश्रय मानना उचित है।

इसी अभिप्राय को 'शरीरदाहे पातकाभावात्''—(न्या. सू. ३।१।४) सूत्र के भाष्य में अच्छी तरह स्पष्ट किया है। ''विशेषगुणयोगत'' इति। मानसप्रत्यक्ष-योग्य ज्ञान, सुख-दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि विशेष गुणों के समवायसम्बन्ध से आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है। ''नत्वन्यथेति'' विशेष गुणसम्बन्ध[1] के बिना आत्मा का मानस प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। उस मानस प्रत्यक्ष प्रतीति का आकार यह है--'अहं जाने' मैं ज्ञानवान् हूँ, 'अहं सुखी, अहं दुःखी, अहमिच्छामि, अहं द्वेष्मि, अहं प्रयते, अहं करोमि।' इत्याकारक प्रतीतियों से ज्ञानकर्तृत्व का आश्रय होने से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् मैं ज्ञानवान् हूँ, सुखी हूँ—इत्याद्याकारक जो प्रतीति होती है, वह तत्तद्गुणनिष्ठप्रकारतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नात्मनिष्ठविशेष्यताक होती है। इस प्रकार प्रतीति होना ही मानस-प्रत्यक्ष है। इस प्रतीति (मानस प्रत्यक्ष) में विशेष्यतया आत्मा विषय रहता है॥४९॥

प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथीः।
अहङ्कारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः॥ ५०॥
विभुर्बुद्ध्यादिगुणवान्।

जैसे रथ के चलने से यह ज्ञात होता है कि इस रथ में अवश्य सारथि होगा, उसी प्रकार दूसरे पुरुष के शरीर की चेष्टा से उसके (दूसरे के) शरीर में भी आत्मा अवश्य होगा, यह अनुमान होता है।

यह 'आत्मा' अहङ्कार का आश्रय है और उसका मानसप्रत्यक्ष होता है।

प्रवृत्त्येति अयमात्मा परदेहादौ प्रवृत्त्यादिनाऽनुमीयते। प्रवृत्तिरत्र चेष्टा। ज्ञानेच्छायत्नादीनां देहेऽभावस्योक्तप्रायत्वाच्चेष्टायाश्च प्रयत्नसाध्यत्वाच्चेष्टया प्रयत्नवानात्मानुमीयत इति भावः।

अत्र दृष्टान्तमाह--रथेति। यद्यपि रथकर्म चेष्टा न भवति, तथापि तेन कर्मणा सारथिर्यथाऽनुमीयते तथा चेष्टात्मकेन कर्मणा परात्मानुमीयते इति भावः।

॥ इति परदेहादौ आत्मनि प्रमाणकथनम्॥

---

१. १ ज्ञान, २ सुख, ३ दुःख, ४ इच्छा, ५ द्वेष, ६ प्रयत्न इन छहों को आत्मविशेषगुण माना जाता है। इनमें से किसी एक गुण के सम्बन्ध से आत्मा का मानसप्रत्यक्ष होता है। अर्थात् मैं जानता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं इच्छावान् हूँ, मैं द्वेषवान् हूँ, मैं प्रयत्नवान् हूँ, इस प्रकार ज्ञानादि गुणों के सम्बन्ध से ही आत्मा का मानसप्रत्यक्ष होता है। यद्यपि धर्म, अधर्म, भावनाख्यसंस्कार ये तीनों भी आत्मा के ही विशेषगुण हैं, तथापि ये तीनों गुण प्रत्यक्ष के योग्य नहीं हैं। अर्थात् मैं धर्मी हूँ, मैं अधर्मी हूँ, मैं संस्कारी हूँ--इस रीति से जीवात्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु शास्त्रप्रमाण से ये तीन जीवात्मा के गुण हैं, ऐसा माना जाता है। अथवा कार्यरूप हेतु से इन तीनों का अर्थात् सुखरूप कार्य से धर्म का, दुःखरूप कार्य से अधर्म का, स्मृतिरूप कार्य से संस्कारों का अनुमान होता है।

अहङ्कारस्येति। अहङ्कारोऽहमितिप्रत्ययस्तस्याश्रयो विषयः आत्मा, न शरीरादिरिति भावः।

मन इति। मनोभिन्नेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाविषयो मानसप्रत्यक्षविषयश्चेत्यर्थः। रूपाद्यभावेनेन्द्रियान्तरायोग्यत्वात् ॥ ५० ॥

यद्यपि प्रत्येक को अपनी आत्मा का प्रत्यक्ष है, तथापि दूसरे के शरीर में वैसा प्रत्यक्ष किसी को नहीं हो पाता, अतः अन्यशरीर में उस आत्मा का ज्ञान अनुमान से करना सरल रहता है, इसलिये 'अयमात्मेति'। परकीय शरीर आदि की प्रवृत्तिजन्य चेष्टा से उसके (परकीय) शरीर में 'आत्मा' है, ऐसा अनुमान किया जाता है। अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—'परकीयशरीरम् अवच्छेदकता-सम्बन्धेन प्रयत्नवत् चेष्टावत्त्वात् मच्छरीरवत्' इस अनुमान से समझ में आ जाता है कि जो प्रवृत्ति का आश्रय है वह चेतन है, शरीर नहीं, शरीर में प्रवृत्ति नहीं रहती, वह तो आत्मा में रहती है। 'परदेहादौ' यहाँ 'आदि पद से वीणा आदि का परिग्रह किया गया है ऐसी प्राचीन प्रभाकार का कथन है। अनुमानप्रयोग—'परकीयवीणातन्त्री' स्वप्रयोज्याभिघाताख्यसंयोगसम्बन्धेन प्रयत्नवती, अवच्छेदकता-सम्बन्धेन पञ्चमादिस्वरवत्त्वात्, अस्मदीयताल्वोष्ठादिवत्' इस प्रयोग से भी प्रयत्न-वान् आत्मा ही सिद्ध होता है। परकीय प्रवृत्ति आदि धर्म अतीन्द्रिय होने से उसका (हेतु का) ज्ञान होना सम्भव नहीं, तब तो 'हेतु' में स्वरूपासिद्धि दोष आ जायेगा। इसलिए कहा गया है "प्रवृत्तिरत्र चेष्टे"ति। अर्थात् एतद्वाक्यघटक-प्रवृत्ति पद का लक्ष्यार्थ 'चेष्टा' है। तथा च—'देवदत्तशरीरं चेतनाधिष्ठितम् प्रवृत्ति-मत्त्वात् रथवत्' यह अनुमान देवदत्त शरीर में चेतनाधिष्ठितत्व सिद्ध कर देगा। हिताऽहितप्राप्तिपरिहारानुकूलक्रिया को 'चेष्टा' कहते हैं। मुक्तावलीकार ने 'ज्ञाने-च्छायत्नादीनां देहेऽभावस्योक्तप्रायत्वात्' कहा है। यहाँ 'उक्तप्राय' का अभिप्राय यह है कि 'शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः' के द्वारा चार्वाकमत का खण्डन करते समय यह सिद्ध कर दिया था कि ज्ञानेच्छाप्रयत्नादिधर्म, देह में नहीं रहते, यानि शरीर में उनका अभाव है। वहाँ पर इच्छा आदि के अभाव को कण्ठतः न कहने के कारण प्रायः पद दिया है। चेष्टा को प्रवृत्तिज्ञान का जनक तभी कह सकते हैं, जब चेष्टा और प्रवृत्ति दोनों में कार्यकारणभाव हो। अतः "चेष्टाया-श्चेति"। 'प्रवृत्ति' (प्रयत्न) का कार्य 'चेष्टा' है, अतः कार्यरूप चेष्टा के द्वारा कारणरूप प्रयत्न (प्रवृत्ति) का अनुमान किया जा सकता है, और उससे परकीय शरीर में आत्माधिष्ठितत्व का अनुमान किया जाता है—'परकीयशरीरम् आत्मा-धिष्ठितं तद्गुण-प्रयत्नवत्त्वात्'। इस रीति से जड शरीर का अधिष्ठाता प्रयत्नवान् चेतन आत्मा सिद्ध होता है। इसमें दृष्टान्त देते हैं—"रथेतो"ति। 'रथः प्रयत्न-वत्सारथ्यधिष्ठितः, अनुकूलक्रियावत्त्वात्' इस अनुमान से जिस प्रकार रथ, सारथि से अधिष्ठित ज्ञात होता है, वैसे ही शरीर को भी चेतन से अधिष्ठित समझना

चाहिए। उपर्युक्त अनुमान में 'अनुकूलक्रियावत्त्वात्' न कहकर यदि 'चेष्टा'-वत्त्वात्' कहें तो वह 'स्वरूपासिद्ध' हेतु (हेत्वाभास) कहलायेगा। क्योंकि रथ की (में) गति (गमनक्रिया), हिताहितप्राप्तिपरिहारानुकूलक्रियात्मकचेष्टा-स्वरूप नहीं है, अतः पक्ष (रथ) में 'चेष्टावत्त्व' हेतु के न रहने से 'स्वरूपासिद्धि' दोष हो जायगा। इसीलिये ऊपर कहा था कि 'प्रवृत्ति' पद लक्षणा के द्वारा प्रवृत्तिजन्यगमनात्मकक्रिया को बताता है। एवं च दृष्टान्त में गत्यात्मक (चलनात्मक) रथक्रिया (कर्म) रूपी चेष्टा से सारथी का अनुमान किया जाता है[1]। इस दृष्टान्त के अनुसार चेष्टारूप कर्म से अन्यदीय देह में आत्मा का अनुमान किया जाता है। यदि कहे कि जड़ रथ में इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारानुकूलव्यापाररूप चेष्टा के न रहने से 'दृष्टान्ताऽसिद्धि' दोष है, तो उसके निवारण के लिये उत्तर-देशसंयोगयोग्यक्रिया' को चेष्टा पद से विवक्षित किया गया है, यह समझना चाहिये। क्योंकि दृष्टान्त सार्वदेशिक नहीं हुआ करता है, वह तो किसी एक देश में चरितार्थ होता है।

"अहङ्कारस्येति।" 'अहम्' इत्याकारक प्रत्यय को 'अहङ्कार' कहते हैं। 'अहम्' इस प्रतीति (प्रत्यय) का विषय 'आत्मा' ही है। अर्थात् 'आत्मा' में ही कर्तृत्व होने से 'अहम्' इस शब्द से बोध्य भी 'आत्मा' ही होगा। इसी अभिप्राय को "न शरीरादिः" कहकर स्पष्ट किया गया है। 'अहम्' इस प्रतीति के विषय 'शरीर, इन्द्रिय, मन, विज्ञान आदि' नहीं हैं। "मनोभिन्नेन्द्रिय" इति। 'आत्मा' का प्रत्यक्ष, मन के अतिरिक्त (मन से भिन्न) इन्द्रियों से नहीं होता। अर्थात् मनोभिन्न चक्षुरादि इन्द्रियों से उसका (आत्मा का) प्रत्यक्ष नहीं होता। तात्पर्य यह है कि मनोभिन्नचक्षुरादीन्द्रियजन्यप्रत्यक्षनिरूपितलौकिकविषयताशून्यत्वे सति मानसत्वावच्छिन्ननिरूपितलौकिकविषयतावान् यह आत्मा है।

---

१. शंका—यद्यपि अपने-अपने शरीर में सभी को जीवात्मा का प्रत्यक्ष होता है, तथापि अन्य शरीरस्थित जीवात्मा का मानसप्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे देवदत्त को यज्ञदत्त की आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता।

समा०—अन्य शरीर में चेष्टारूप हेतु से जीवात्मा का अनुमान किया जाता है। तथा हि—'इदं शरीरं चेतनाधिष्ठितं चेष्टावत्त्वात् रथवत्'।

शंका—हितप्राप्ति के निमित्त जो क्रिया होती है, उसे 'चेष्टा' कहते हैं। ऐसी चेष्टा, चेतनप्राणि में ही हो सकती है, जड़रथादिकों में नहीं। अतः रथ का दृष्टान्त असिद्ध है।

समा०—यद्यपि रथादि जडपदार्थों में हिताहितप्राप्तिपरिहारानुकूलक्रियारूप चेष्टा का होना संभव नहीं है, तथापि रथव्यापार से सारथि का जैसे अनुमान होता है, वैसे ही प्रयत्नजनित चेष्टारूप कर्म से परशरीरस्थ आत्मा का भी अनुमान किया जा सकता है। तथा च 'प्रवृत्तिमत्त्व' का तात्पर्य 'उत्तरदेशसंयोगयोग्यक्रियावत्त्व' में ही समझना चाहिये।

शंका—चक्षुरादि इन्द्रियों से उसका ज्ञान क्यों नहीं होता ?

समा०—'रूपाद्यभावेनेति ।' मन से भिन्न चक्षुरादि सभी इन्द्रिय रूपरसादि-विशिष्ट पदार्थों का ही ज्ञान कराते हैं। 'आत्मा' में रूप-रस आदि गुण न होने से वह चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष होने योग्य नहीं है, क्योंकि चाक्षुषप्रत्यक्षादि में समवायेन रूपादि कारण होते हैं ॥ ५० ॥

यह जीवात्मा विभु (व्यापक) है तथा १ बुद्धि, २ सुख, ३ दुःख, ४ इच्छा, ५ द्वेष, ६ प्रयत्न, ७ धर्म, ८ अधर्म, ९ संस्कार (भावना), १० संख्या, ११ परिमाण, १२ पृथक्त्व, १३ संयोग और १४ विभाग आदि चतुर्दश गुणों, वाला है।

'विभुरिति' विभुत्वं परममहत्त्ववत्त्वम्। तच्च पूर्वमुक्तमपि स्पष्टार्थमुक्तम्। बुद्ध्यादीति। बुद्धिसुखदुःखेच्छादयश्चतुर्दश गुणाः पूर्वमुक्ता वेदितव्याः।

॥ इत्यात्मस्वरूपकथनम् ॥

शंका—प्रत्यक्ष होने में रूपादि को कारण बताया है, 'विभुत्व' को तो कारण नहीं बताया गया है और 'आत्मा' तो विभु है तथा रूपादि का उसमें अभाव है। तब उसका बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष कैसे होगा ?

समा०—'विभु' शब्द की परममहत्परिमाण में लक्षणा करनी चाहिये। तब अर्थ होगा—'समवायसंबंध से परममहत्परिमाणवाला'। विभुत्व का अर्थ 'परममहत्त्व' है, यह पहले (का. २६, ३२–३३) कह चुके हैं, तथापि स्पष्टता के लिये (स्मरणार्थं) पुनः कहा गया है, अतः इसे पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिये। अथवा 'विभुत्वम्' का अर्थ व्यापकत्वम् अर्थात् अत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्व समझ लीजिए। 'बुद्ध्यादीति।' आत्मा के चौदह गुणों के नाम ये हैं बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग। इन चौदह गुणों को 'बुद्ध्यादिषट्कं संख्यादिपञ्चकं भावना तथा। धर्माधर्मौ गुणाश्चैते ह्यात्मनः स्युश्चतुर्दश ॥' इस बत्तीसवीं कारिका के द्वारा पहले बता दिया गया है।

आजकल के कतिपय आधुनिक लोग न्यायसिद्धान्तमुक्तावली को कपोलकल्पित कह देते हैं, परन्तु उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि मुक्तावली के सिद्धान्त सूत्रकार ऋषि के सिद्धान्तों के आधार पर ही किये गये हैं। तथा हि—आत्मवाद के सिद्धान्त के सम्बन्ध में वैशेषिक सूत्रकार महर्षि कणाद कहते हैं—"प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि"।

(वै० सू० अ० ३। आ० २। सू० ४)

॥ इति प्रत्यक्षखण्डे द्रव्य-निरूपणपरिच्छेदः ॥

इति बालप्रियासनाथायां मुक्तावल्यामात्मस्वरूपनिरूपणात्मिका द्वितीयप्रकरणलक्षणा तृतीया मुक्ता ॥

अथ प्रत्यक्षखण्डे बुद्धिनिरूपणं नाम तृतीयं प्रकरणम्

बुद्धिस्तु द्विविधा मता ।
अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा ॥ ५१ ॥
प्रत्यक्षमप्यनुमितिस्तथोपमितिशब्दजे ।

ऊपर कह चुके हैं कि परम-महत्परिमाणवाला (विभुपरिमाणवाला) आत्मा बुद्धि (ज्ञान) आदि गुणवाला है। प्रसंगप्राप्त बुद्धि (ज्ञान) के भेद बताने के लिए "बुद्धिस्तु द्विविधा मता" कहा गया है। बुद्धि (ज्ञान) दो प्रकार की मानी गई है एक 'अनुभूति' और दूसरी 'स्मृति'। उनमें 'अनुभूति' (अनुभव) चार प्रकार की होती है। तथा हि प्रत्यक्षप्रमिति, अनुमिति, उपमिति और शब्दजा (शाब्दबोध)।

अत्रैव प्रसङ्गाद् बुद्धेः कतिपयं प्रपञ्चं दर्शयति। बुद्धिस्त्विति। द्वैविध्यं व्युत्पादयति—अनुभूतिरिति। अनुभूतिश्चतुर्विधेति। एतासां चतसृणां करणानि चत्वारि–'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानी'ति सूत्रोक्तानि वेदितव्यानि ॥५१॥

शंका—आत्मनिरूपण के बाद 'मनोनिरूपण' करना चाहिए था, क्योंकि कारिकाकार ने प्रारम्भ में ही तीसरी कारिका 'क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्-देहिनो मनः द्रव्याणि' के द्वारा आत्मा (देहि) के अनन्तर 'मन' का परिगणन किया है। किन्तु मनोनिरूपण न करते हुए 'बुद्धि' संज्ञक गुण का निरूपण क्यों किया जा रहा है ?

समा०—"अत्रैव प्रसङ्गादिति।" आत्मनिरूपण के अनन्तर ही बुद्धिनिरूपण करना प्रसङ्गतः प्राप्त हुआ है। अर्थात् प्रसङ्गसंगति से बुद्धिनिरूपण किया जा रहा है। 'स्मृतस्य उपेक्षाऽनर्हत्वम्प्रसङ्गः,—स्मृत हुए की उपेक्षा न करने को 'प्रसङ्ग' कहते हैं। 'आत्मा' में समवायसम्बन्ध से 'बुद्धि' गुण रहता है। अतः 'आत्मनिष्ठसमवायावच्छिन्नवृत्तित्व सम्बन्ध' से बुद्धि का स्मरण हो आने से बुद्धि का निरूपण किया जा रहा है। बुद्धेः 'कतिपयं प्रपञ्चं दर्शयति' कहकर ग्रन्थकार यह बताना चाह रहे हैं कि आगे चलकर १२६ वीं कारिका "अप्रमा च प्रमा चेति ज्ञानं द्विविधमिष्यते" के द्वारा बुद्धि (ज्ञान) के 'प्रमा' और 'अप्रमा' के रूप में दो ही भेद बताये हैं उसके अन्य धर्मों के द्वारा अन्य भेद नहीं बताये हैं इसलिये 'कतिपयम्' कहा गया है। 'कतिपय' का अर्थ ईषत् है और 'प्रपञ्च' शब्द का अर्थ 'धर्म' है। ईषत् का धर्म के साथ अभेदान्वय है। 'दर्शयति' का अर्थ ज्ञानजनकशब्दानुकूल कृतिमान् है। धर्म का ज्ञान के साथ अन्वय है। 'बुद्धेः' की षष्ठीविभक्ति का अर्थ विशेष्यत्व है। एवञ्च 'बुद्धेः कतिपयं प्रपञ्चं दर्शयति' इस सम्पूर्ण वाक्य का शाब्दबोध यह होगा—'बुद्धिविशेष्यक-ईषदभिन्न-अवान्तर

धर्मप्रकारज्ञानजनकशब्दानुकूलकृतिमान् ग्रन्थकारः। इस प्रकार बुद्धि की द्विविधता को बताया 'अनुभूतिरिति।' 'अनुभूतिश्चतुर्विधेति।' उनमें से अनुभूति चार प्रकार की है। इन चारों अनुभूतियों (बुद्धियों-ज्ञानों) के कारण १ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ उपमान, ४ शब्द हैं। 'एतासामिति।' इन प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति शाब्दबोध संज्ञक चारों ज्ञानों के साधन (करण) अर्थात् व्यापारविशिष्ट कारण भी चार हैं, जिन्हें न्यायसूत्रकार ने बताया है—"प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि"—(न्या० सू० १।१।३)। अर्थात् प्रत्यक्षप्रमिति का कारण यानी षड्विधसन्निकर्षादिव्यापार से युक्त करण (इन्द्रिय) को 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहते हैं। अनुमितिरूप प्रमिति का परामर्शात्मक व्यापार से युक्त कारण अर्थात् करण (साधन) को अनुमानप्रमाण कहते हैं यानि अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्—जिससे अनुमिति की जाती है उस व्याप्तिज्ञान को अनुमान कहते हैं। उपमिति रूप प्रमिति का उपदिष्टवाक्यार्थस्मरणात्मकव्यापार से युक्त कारण अर्थात् करण (साधन) को उपमान कहते हैं, यानि उपमीयते अनेन इति उपमानम् अर्थात् सादृश्यज्ञान को उपमान कहते हैं। शाब्दबोधात्मक प्रमिति का पदार्थस्मरणात्मक व्यापार से युक्त कारण अर्थात् करण को शब्द (पदज्ञान) प्रमाण कहते हैं। (विषयं) प्रति गतमक्षम्प्रत्यक्षम्=प्रतिगमकम्' इन्द्रियम् इस व्युत्पत्ति से व्युत्पन्न 'प्रत्यक्ष' शब्द, 'प्रत्यक्षप्रमा के करण इन्द्रिय' का बोधन करता है, तादृश इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमारूप अनुभूति' कहते हैं। उसी प्रकार 'अनुमीयते अनेनेति अनुमानम् = अनुमितिकरणं' उससे जन्य (उत्पन्न) ज्ञान को 'अनुमितिप्रमारूप द्वितीय अनुभूति' कहते हैं। 'उपमीयते अनेन इति उपमानम्=उपमितिकरणम्' उससे जन्य (उत्पन्न) ज्ञान को 'उपमितिप्रमारूप तृतीय अनुभूति' कहते हैं। 'शब्दयते = प्रतिपाद्यते अर्थः अनेन इति शब्दः=शाब्दीप्रमाकरणम्' उससे जन्य ज्ञान को 'शब्दजा=शाब्दीप्रमारूप अनुभूति' कहते हैं। इस प्रकार चतुर्विध अनुभूतियों के करण (साधन) भी चार ही हैं। यही पक्ष महर्षि गौतम को मान्य है॥ ५१॥

प्रमाणों की तथा उनसे होने वाली अनुभूतियों की संख्या के विषय में विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मतों को भी जान लेना चाहिए—

चार्वाक—प्रत्यक्षात्मक अनुभूति को ही मानते हैं, किन्तु तत्त्वोपप्लव के मत में उसे भी नहीं माना है। कणाद (वैशेषिक) सुगत (बौद्ध) और जैन प्रत्यक्षात्मक और अनुमित्यात्मक अनुभूति को ही मानते हैं। सांख्य-योग और न्यायैकदेशी—प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्द अनुभूति को ही मानते हैं। भाष्यानुसारी नैयायिक—प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्द और उपमिति अनुभूति को ही मानते हैं। प्राभाकार— प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्द, उपमिति और अर्थापत्ति अनुभूति को मानते हैं। भाट्ट और वेदाती—प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्द, उपमिति, अर्थापत्ति और अनुपलब्धिरूप अनुभूति को मानते हैं। पौराणिक—उक्त अनुभूतियों के साथ

सम्भव, ऐतिह्यरूप अनुभूति को भी मानते हैं। तान्त्रिक--उक्त अनुभूतियों के साथ चेष्टा को भी मानते हैं।

प्रत्यक्षेति। इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। यद्यपि मनोरूपेन्द्रियजन्यं सर्वमेव ज्ञानं, तथापीन्द्रित्वेन रूपेणेन्द्रियाणां यत्र ज्ञाने कारणत्वं तत्प्रत्यक्षमिति विवक्षितम्। ईश्वरप्रत्यक्षं तु न लक्ष्यम्। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमिति (गौतम) सूत्रे तथैवोक्तत्वात्।

अथवा ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। अनुमितौ व्याप्तिज्ञानस्य, उपमितौ सादृश्यज्ञानस्य, शाब्दबोधे पदज्ञानस्य, स्मृतावनुभवस्य कारणत्वात्तत्र तत्र नातिव्याप्तिः। इदं लक्षणमीश्वरप्रत्यक्षसाधारणम्। परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः। यद्यपि परामर्शप्रत्यक्षादिकं परामर्शजन्यं तथापि परामर्शजन्यं हेत्वविषयकं यज्ज्ञानं तदेवानुमितिः। न च कादाचित्कहेतुविषयकानुमिताव्याप्तिरिति वाच्यम्, तादृशज्ञानवृत्त्यनुभवत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्।

अथवा व्याप्तिज्ञानकरणकं ज्ञानमनुमितिः। एवं सादृश्यज्ञानकरणकं ज्ञानमुपमितिः। पदज्ञानकरणकं ज्ञानं शाब्दबोधः।

वस्तुतो यां काञ्चिदनुमितिव्यक्तिमादाय तद्व्यक्तिवृत्तिप्रत्यक्षावृत्तिजातिमत्त्वमनुमितित्वम् एवं यत्किञ्चित्प्रत्यक्षादिकमादाय तदव्यक्तिवृत्त्यनुमित्यवृत्तिजातिमत्त्वं प्रत्यक्षत्वादिकं वाच्यमिति।

॥ इति प्रत्यक्षादिप्रमाणलक्षणकथनम् ॥

परन्तु ग्रन्थकार अनुभूति की चातुर्विधा को ही स्वीकार कर रहे हैं। अनुभूति (प्रमा) के चतुर्विध होने से उनके प्रमाण भी चार ही हैं। उपरिप्रदर्शित अनुभूतियों के अतिरिक्त अनुभूतियों (प्रमाओं) का ग्रन्थकारसम्मत चार अनुभूतियों (अनुभवों) में ही अन्तर्भाव हो जाता है। ग्रन्थकार ने स्वयं १४० वीं कारिका से लेकर १४४ वीं कारिका 'व्यतिरेकव्याप्तिबुद्धया चरितार्था हि सा यतः' के द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्दात्मक चार प्रकार के अनुभवों का अन्तर्भाव करके दिखाया है। 'प्रत्यक्ष' शब्द प्रमा और प्रमाण दोनों के लिए प्रयुक्त किया जाता है, किन्तु उसके आगे प्रमा और प्रमाण के बोधक भिन्न-भिन्न शब्द हैं। अनुमिति, उपमिति और शाब्दी ये शब्द 'प्रमा' (अनुभव-अनुभूति) के बोधक हैं, और अनुमान, उपमान, और शब्द—ये प्रमाणों के बोधक शब्द हैं।

उपर्युक्त चार प्रकार की प्रमाओं में से प्रथमोपस्थित 'प्रत्यक्षप्रमा' को मुक्तावलीकार बता रहे हैं--"इन्द्रियजन्यमिति।" 'इन्द्रियजन्यत्वे सति ज्ञानत्वं' प्रत्यक्षप्रमाया लक्षणम्। इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को 'प्रत्यक्षप्रमा' कहते हैं। उक्त लक्षण में 'ज्ञान' पद का निवेश इसलिये किया है कि चक्षुरादि इन्द्रियगत रूपादि भी चक्षुरादि इन्द्रिय जन्य हैं, अतः इन्द्रियवृत्ति रूप आदि में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। उस अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये उस

पद का (ज्ञान पद का) निवेश आवश्यक है। यदि 'ज्ञानम्प्रत्यक्षम्' इतना ही लक्षण का आकार रखें तो 'अनुमिति' आदि प्रमाओं में अतिव्याप्ति होगी, उसके निवारणार्थ 'इन्द्रियजन्यत्वे सति' इस विशेषण पद का निवेश किया गया है।

शंका—'इन्द्रियजन्यत्वे सति ज्ञानत्वम्' 'प्रत्यक्षम्' इस प्रकार प्रत्यक्ष लक्षण करने पर भी अनुमिति आदि प्रमाओं में अतिव्याप्ति दूर नहीं हो रही है, क्योंकि मनोरूप इन्द्रिय से सभी प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्दादिज्ञान उत्पन्न होते हैं। ज्ञानत्वावच्छिन्न यावत् 'ज्ञान' के प्रति (जन्यज्ञानसामान्य के प्रति) आत्मा के साथ मनःसंयोग कारण माना गया है। अतः प्रत्यक्ष लक्षण की अनुमिति आदि प्रमाओं में अतिव्याप्ति हो रही है, इस आशंका को 'यद्यपि' ग्रन्थ से बताया गया है।

समा०—'तथापी'ति—'प्रत्यक्ष' तो इन्द्रिय जन्य ज्ञान को ही कहते हैं। सभी ज्ञान यद्यपि मनोरूप इन्द्रिय से जन्य हैं, तथापि इन्द्रियत्व रूप से इन्द्रिय जिस ज्ञान में करण हो वही ज्ञान 'प्रत्यक्ष ज्ञान' है। अभिप्राय यह है कि 'मन' में दो धर्म रहते हैं—एक 'मनस्त्व' और दूसरा 'इन्द्रियत्व'। उनमें से ज्ञानत्वावच्छिन्न ज्ञान के प्रति मन को मनस्त्वावच्छिन्नतया कारणता होती है अर्थात् मन मनस्त्व धर्म से कारण होता है और प्रत्यक्षप्रमामात्र के प्रति मन को इन्द्रियत्वावच्छिन्नतया कारणता होती है अर्थात् इन्द्रियत्वधर्म से 'मन' कारण होता है। चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी प्रत्यक्षप्रमा के प्रति अपने इन्द्रियत्व धर्म से ही कारण होती हैं। एवञ्च कहना होगा कि प्रत्यक्षप्रमितिनिरूपितकारणता का अवच्छेदक धर्म 'इन्द्रियत्व' है। अतः इन्द्रियत्वेन रूपेण यानि इन्द्रियत्व धर्म से चक्षुरादि इन्द्रियों को जिस ज्ञान में (प्रत्यक्षप्रमात्मक ज्ञान में) व्यापारवत्असाधारणतारूप करणत्व रहता है उसी ज्ञान को प्रत्यक्षप्रमिति (प्रत्यक्षप्रमा) कहते हैं। मन को ज्ञानमात्र के प्रति जो कारणता है वह वैसी नहीं है। अनुमित्यादिसकलसाधारणज्ञान के प्रति मन को मनस्त्वेन रूपेण (मनस्त्व धर्म से) कारणता होती है इन्द्रियत्वेन रूपेण (इन्द्रियत्व धर्म से) नहीं। मन को सुखादिसाक्षात्कार करने (सुखादि का प्रत्यक्ष करने) में ही इन्द्रियत्वेन रूपेण (इन्द्रियत्व धर्म से) कारणता होती है, अन्यत्र नहीं। तथा च ज्ञानमात्र के प्रति 'मन' को साधारण कारण कहा जाता है और चक्षुरादि इन्द्रियों को तत्तद्रूपादिप्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति असाधारण कारण कहा जाता है। अतः 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' इस प्रत्यक्ष लक्षण का अर्थ यह हुआ कि इन्द्रियत्वावच्छिन्न—व्यापारसम्बन्धावच्छिन्न—जनकतानिरूपितजन्यतावज्ज्ञानत्वम्।' अनुमिति आदि ज्ञानों में इन्द्रियत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यता नहीं है, अपितु व्याप्तिज्ञानत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यता है। इसलिये उक्त प्रत्यक्षलक्षण की अनुमित्यादि ज्ञानों में अतिव्याप्ति नहीं है।

कुछ लोग "इन्द्रियत्वेन" का अर्थ इन्द्रियत्वव्याप्य चक्षुष्ट्व, घ्राणत्व आदि धर्म से

करते हैं यानि प्रत्यक्षप्रमा (ज्ञान) के प्रति इन्द्रियों को इन्द्रियत्वव्याप्य चक्षुष्ट्वघ्राणत्वादि धर्मेण कारण कहते हैं अतः वे लोग प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार करते हैं—"चक्षुष्ट्व-घ्राणत्वाद्यन्यतमावच्छिन्नव्यापारसम्बन्धावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यतानिरूपितसमवायातिरिक्तसम्बन्धानवच्छिन्नावच्छेदकताश्रयजातिमत्त्वम्प्रत्यक्षत्वम् ।"

शंका—ईश्वर में समवायसम्बन्ध से रहने वाली (समवेत) नित्यज्ञानरूप जो प्रत्यक्षप्रमा, वह तो नित्य है, इसलिये उसे इन्द्रियजन्य नहीं कह सकते, अतः ईश्वरसमवेत प्रत्यक्षप्रमा में आपके प्रत्यक्षलक्षण की अव्याप्ति हो रही है।

समा०—"ईश्वरप्रत्यक्षन्तु न लक्ष्यमिति ।" 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानम् प्रत्यक्षम्' इस प्रत्यक्षलक्षण का लक्ष्य 'ईश्वरप्रत्यक्ष' नहीं है, अर्थात् ईश्वरसमवेतनित्यप्रमा, उक्त प्रत्यक्षलक्षण का लक्ष्य नहीं है, अपितु उस प्रत्यक्षलक्षण का लक्ष्य तो 'जीव का जन्य प्रत्यक्ष' है, अतः अव्याप्ति नहीं है। हमारी उक्ति की पुष्टि सूत्रकार के सूत्र से भी हो रही है। 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'—(न्या० सू० १।१।४) इन्द्रियस्य=चक्षुरादिइन्द्रिय का, अर्थेन=घटपटादिपदार्थ के साथ, सन्निकर्षात्=संयोगादि छह प्रकार के व्यापार (सम्बन्ध) से उत्पन्नम्=उत्पन्न हुआ जो अव्यभिचारि ज्ञान, उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। अव्यभिचारि पद का अर्थ—भ्रमभिन्न है। यदि सूत्रकार अपने सूत्र में 'अव्यभिचारि' पद न रखते तो 'शुक्तौ इदं रजतम्' इत्याकारक होने वाले भ्रमात्मक शुक्ति-रजतज्ञान में भी इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यता होने से प्रत्यक्षलक्षण की उसमें अतिव्याप्ति हो जाती, उसके निवारणार्थ उन्होंने सूत्र में 'अव्यभिचारि' पद दिया है तथा च 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं भ्रमभिन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न एवं भ्रमभिन्न जो ज्ञान हो उसे प्रत्यक्षप्रमा कहते हैं। वह प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार का हैं—एक अव्यपदेश्य और दूसरा व्यवसायात्मक। 'अयं घटः, अयं पटः' इस व्यपदेश (शब्दव्यवहार) के जो अयोग्य हो उसे अव्यपदेश्य यानी निर्विकल्पक कहते हैं तथा व्यवसायात्मक ज्ञान उसे कहते हैं कि जिस ज्ञान का विषय 'अयं घटः, अयं पटः' इत्यादि विशिष्टव्यवहार हो अर्थात् विशिष्टव्यवहारविषयक ज्ञान (व्यवसायज्ञान) को सविकल्पज्ञान कहते हैं। निष्कर्ष यह हुआ कि 'अव्यपदेश्यम्' का अर्थ निर्विकल्पक है और 'व्यवसायात्मकम्' का अर्थ सविकल्पक है। सूत्रकार ने अपने सूत्र में जीवसमवेत अनित्यप्रत्यक्षप्रमात्मक ज्ञान को ही बताया है। उसी तरह हमने (मुक्तावलीकार ने) भी अनित्यप्रत्यक्षप्रमा का ही लक्षण किया है, जो अनित्य (जन्य) प्रत्यक्ष में पूर्णतया घटित होता है। ईश्वरप्रत्यक्ष तो उक्त लक्षण का लक्ष्य ही नहीं है।

यदि कोई दुराग्रह पर ही अड़ जाय कि प्रत्यक्षलक्षण को हम तभी निर्दुष्ट कहेंगे कि जब प्रत्यक्षमात्र (नित्य-अनित्य द्विविध प्रत्यक्ष) उसका लक्ष्य रहे और उसमें वह पूर्णरूपेण घटित हो जाय। तब उनके सन्तोष के लिये कहते हैं—'अथवेति' प्रत्यक्षप्रमा का दूसरी प्रकार से लक्षण कर लेना चाहिये—'ज्ञानाऽ

करणकं ज्ञानम्प्रत्यक्षम्' ऐसा लक्षणान्तर (प्रत्यक्ष का अन्य लक्षण) करने से दोनों प्रकार के (नित्य-अनित्य) प्रत्यक्षों में वह (लक्षणान्तर) घटित हो सकेगा । 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं' अर्थात् 'ज्ञानाकरणकत्वे सति ज्ञानत्वम्'—प्रथम कहे गये लक्षण से यह भिन्न लक्षण हुआ । 'ज्ञानं न करणं यस्य तद् ज्ञानाकरणकम् तादृशं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' । 'ज्ञान' पद से व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान, पदज्ञान और अनुभव लेना है । जिस ज्ञान में उक्त ज्ञानों में से कोई करण नहीं हो उस ज्ञान को "प्रत्यक्षज्ञान' (प्रमा) कहते हैं, यह इस दूसरे लक्षण का अर्थ हुआ । अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञान, उपमिति के प्रति सादृश्यज्ञान, शाब्दबोध के प्रति पदज्ञान स्मृति के प्रति अनुभव को करण (साधन) कहा जाता है । एवं च प्रत्यक्षातिरिक्त सभी ज्ञान, ज्ञानाकरणक हैं अतः उनमें इस लक्षणान्तर की अतिव्याप्ति भी नहीं है । हम लोगों के प्रत्यक्ष के प्रति तथा ईश्वर-प्रत्यक्ष के प्रति (नित्यानित्य द्विविध प्रत्यक्ष के प्रति) व्याप्तिज्ञानादिकों में से कोई भी करण नहीं है, अतः यह द्विविध प्रत्यक्षज्ञान (प्रमा) ज्ञानाऽकरणक हुआ । एवञ्च 'ज्ञानाकरणकत्वे सति ज्ञानत्वं' यह प्रत्यक्ष-लक्षण उभयविध प्रत्यक्ष में पूर्णरूपेण घटित हो जाता है । अतः इस प्रत्यक्ष प्रमा के लक्षण को तो निर्दुष्ट कहना ही होगा ।

उक्त लक्षणान्तर में 'ज्ञानाऽकरणकत्व' पद का यदि निवेश नहीं करेंगे तो अनुमिति आदि ज्ञानों (प्रमाओं) में अतिव्याप्ति होगी, उसके निवारणार्थ 'ज्ञानाकरणकत्व' पद का निवेश करना आवश्यक है ।

शंका—'ज्ञानाकरणकं ज्ञानम्प्रत्यक्षम्' इस लक्षण की योगिप्रत्यक्ष में अव्याप्ति होगी, क्योंकि मनन-निदिध्यासनादि के द्वारा 'योगिप्रत्यक्ष' ज्ञानकरणक ही है, ज्ञानाऽकरणक नहीं ।

समा०—'ज्ञानाऽकरणकज्ञान' का अर्थ 'ज्ञानकरणकत्वाऽव्यभिचारिजातिशून्यज्ञान' करना चाहिये । तब ज्ञानकरणकत्वाऽव्यभिचारिजाति, 'अनुमितित्व' आदि जातियाँ ही होंगी । अतः योगिप्रत्यक्ष में भी अव्याप्ति नहीं है ।

प्रत्यक्षप्रमा को बताकर अब क्रमप्राप्त अनुमितिप्रमा को बताते हैं—"परामर्श" इति । परामर्श से जन्य (उत्पन्न होने वाले) ज्ञान को अनुमिति कहते हैं । 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम्परामर्शः'—यह परामर्श का लक्षण है । 'वह्निव्याप्यधूमवान् अयं पर्वतः' इत्याकारक जो ज्ञान है, वही व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान है, उसी को 'परामर्श' कहते हैं । इस परामर्श से 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक जो ज्ञान होता है, उसी को 'अनुमिति' कहते हैं । अर्थात् उक्त परामर्शरूपव्यापारद्वारा व्याप्तिज्ञान जिस ज्ञान का जनक होता है, वह ज्ञान है 'पर्वतो वह्निमान्' और उसी ज्ञान को अनुमितिज्ञान (प्रमा) कहते हैं । अभिप्राय यह है कि पर्वत पर जब हम धूम को देखते हैं, तब महानस में गृहीत हुई धूम-वह्नि की व्याप्ति का स्मरण हो आता है और तब पर्वत पर हुआ धूमज्ञान उस व्याप्ति-

स्मृति से विशिष्ट हो जाता है। तदनन्तर 'वह्नि से व्याप्य (व्याप्तिविशिष्ट) धूम-वाला यह पर्वत है' अर्थात् जिस धूम की वह्नि के साथ व्याप्ति (नित्य सम्बन्ध) है, उस धूम से युक्त यह पर्वत है। यही है 'व्याप्तिविशिष्ट (धूम) का पक्षधर्मता (पक्षवृत्तित्व) ज्ञान' और इसी को परामर्श कहते हैं। इस परामर्श के होते ही 'पर्वतो वह्निमान्'—पर्वत वह्निवाला है—यह अनुमिति प्रमा तत्काल हो जाती है। इसलिए 'परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः' अर्थात् 'परामर्शजन्यत्वे सति ज्ञानत्वम्' यह अनुमिति का लक्षण किया गया है। उक्त लक्षण में सत्यन्त अंश का निवेश प्रत्यक्ष, उपमिति आदि प्रमात्मक ज्ञानों में अतिव्याप्ति के निरासार्थ किया गया है और विशेष्य (ज्ञानपद) अंश का निवेश परामर्श-ध्वंस में अतिव्याप्ति के निरासार्थ किया गया है। एवं च उक्तलक्षण का अर्थ 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यत्वे सति ज्ञानत्वम्' समझना चाहिए।

शंका–'यद्यपीति। उपर्युक्त अनुमितिलक्षण की 'प्रत्यक्ष' में अतिव्याप्ति होगी। तथा हि—घट का प्रत्यक्ष, घटजन्य है। घटप्रत्यक्ष में विषयविधया 'घट' कारण हैं, अतः कारणतावच्छेदक 'विषयत्व' हुआ, 'घटत्व' नहीं। क्योंकि घट में जो कारणता है, वह विषयविधया है। उसी तरह 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इत्याकारक परामर्शात्मकज्ञान का भी मानसप्रत्यक्षात्मकज्ञान 'परामर्श जानामि' इस रूप में होता है। इस मानसप्रत्यक्षात्मकज्ञान में भी विषयविधया 'परामर्श' कारण है। एवं च परामर्शप्रत्यक्ष परामर्शजन्य ही हुआ। अतः परामर्शजन्य होने से परामर्श-प्रत्यक्ष में अनुमितिलक्षण की अतिव्याप्ति स्पष्ट है। "परामर्शप्रत्यक्षादिकम्" यहाँ 'आदि' शब्द से परामर्शध्वंस को भी समझना चाहिए। परामर्शध्वंस भी प्रतियोगि-विधया परामर्शजन्य है, क्योंकि 'स्वध्वंसंप्रति स्वस्य कारणत्वम्' यह नियम है। एवं च परामर्शजन्य परामर्शध्वंस में अनुमितिलक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है।

समा०—'तथापी'ति। शंका करनेवाले ने जो कहा कि 'परामर्श का प्रत्यक्ष तथा परामर्श का ध्वंस भी परामर्शजन्य है, क्योंकि अपने प्रत्यक्ष में परामर्श को विषयविधया कारणता है तथा अपने ध्वंस में परामर्श को प्रतियोगिविधया कारणता है' वह ठीक है। किन्तु हमने जो अनुमिति का लक्षण किया है, उसका तात्पर्य इस प्रकार है—हेतु को विषय न करने वाला जो परामर्शजन्य 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक ज्ञान, वह 'अनुमिति' है। 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इत्याकारक परामर्शात्मक ज्ञान में हेतु का भान होता है तथा तादृशज्ञानविषयक अनुव्यवसाया-त्मक परामर्शप्रत्यक्ष में भी हेतु का भान होना निश्चित ही है। क्योंकि 'ज्ञानेन यद् यद् विषयीक्रियते, ज्ञानज्ञानेनाऽपि (अनुव्यवसायात्मकेन ज्ञानेनापि) तदवश्यं विषयी-क्रियते' यह नियम है। इसी को अध्यापन परिपाटी के अनुसार भी समझिए— 'परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः' इस लक्षण को थोड़ा-सा परिष्कृत करते हैं, जिससे दोष की आशंका नहीं रहेगी। 'परामर्शजन्यत्वे सति हेत्वविषयकत्वे सति ज्ञानत्वम्-अनुमितिः'। अनुमिति का यह परिष्कृतलक्षण है। परामर्श से जन्य (उत्पन्न हुई)

'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति में 'पर्वत और वह्नि' दोनों विषय हैं। इस अनुमिति में 'धूम'रूप हेत्वंश का प्रवेश नहीं है। किन्तु 'वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतं पश्यामि अथवा जानामि' इत्याकारक परामर्शजन्य प्रत्यक्ष में और 'वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतवान् देशः' इस विशिष्ट-वैशिष्ट्यज्ञान में धूमात्मक (धूमरूप) हेत्वंश प्रविष्ट है। अतः ये दोनों ज्ञान 'हेत्वविषयक' न होकर 'हेतुविषयक' ही हुए। किन्तु' पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारकज्ञान, हेतु (धूम) को विषय नहीं करता, इस कारण यह 'हेत्वविषयक' है, इसलिये यही ज्ञान 'अनुमिति' रूप है। एवं च हेतुविषयक होने से (हेत्वविषयक न होने से) परामर्शजन्यप्रत्यक्ष तथा उसके अनुव्यवसायात्मकज्ञान दोनों में अनुमितिलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो रही है।

शंका--'न च कादाचित्केति।' किसी-किसी स्थल में हेतु का भी भान पक्षतावच्छेदकरूप से अनुमिति में होता है। जैसे--'धूमवान् पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति में धूमरूप हेतु का पक्षतावच्छेदकरूप से (पक्षतावच्छेदकविधया अर्थात् पक्षनिष्ठविशेषणत्वेन रूपेण) भान होता है, इस कारण यह अनुमिति रूप होने पर भी हेत्वविषयक नहीं है, अपितु धूमात्मकहेतुविषयक ही है। अतः हेतु को भी विषय करने वाली 'धूमवान् पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति में ही आपके परिष्कृत अनुमितिलक्षण की अव्याप्ति हो रही है।

समा०—'तादृशज्ञानेति।' परामर्श से उत्पन्न होने वाला जो हेत्वविषयकज्ञान अर्थात् 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति रूप ज्ञान, उसमें रहनेवाली (वृत्ति) जो अनुभवत्व की व्याप्यजाति (अनुमितित्वजाति), तादृशजातिमान् (अनुमितित्वजातिमान्) समस्त अनुमितिज्ञान हुआ, तब समस्त अनुमिति के अन्तर्गत 'धूमवान् पर्वतो वह्निमान्' यह ज्ञान भी तादृशजातिमान् हुआ। अतः अनुमितित्व का जातिघटितलक्षण 'धूमवान् पर्वतो वह्निमान्' में समन्वित हो जाने से अव्याप्ति नहीं है। मुक्तावली के 'तादृशज्ञानवृत्ति०' पद में तादृशज्ञान पद से 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञान' समझना चाहिये। एवं च व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्य जो अनुमितिरूप 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारकज्ञान, उसमें वर्तमान जो अनुभवत्वव्याप्यजाति—' 'अनुमितित्वजाति', वह समवायसम्बन्ध से जहाँ रहती हो उसी को 'अनुमिति' प्रमा समझनी चाहिए। इस प्रकार जातिघटित लक्षण करने से 'धूमवान् पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति में हेत्वविषयकत्वरूप विशेषणांश के न रहने पर भी अनुभवत्वव्याप्यअनुमितित्वजातिरूप विवक्षित धर्म के विद्यमान रहने से अव्याप्ति की आशंका नहीं की जा सकती। अनुमितिलक्षण का अन्तिम आकार यह हुआ—'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यानुमितिज्ञानवृत्त्यनुभवत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्'—अनुमितित्वम्। लक्षण में दिये गये जन्यान्त अंश से 'घटज्ञान' में अतिव्याप्ति नहीं हो पायी। लक्षण में दिये गये द्वितीय 'ज्ञान' पद से 'ध्वंस' में अनुभवत्वव्याप्यजाति की अप्रसिद्धि से उपस्थित होने वाले असंभव दोष का वारण हो गया है। सत्ताजाति को लेकर प्रत्यक्ष आदि में होने वाली अतिव्याप्ति का वारण 'अनुभवत्व-

व्याप्य' कहने से हो जाता है। यहाँ 'जातिमत्व' समवायसम्बन्ध से विवक्षित है। अन्यथा कालिकसम्बन्ध से अनुभवत्वव्याप्यजातिमान् 'काल' भी होगा, तब उसमें लक्षण के प्रविष्ट हो जाने से अतिव्याप्ति हो जायगी। समवायसम्बन्ध को विवक्षा करने पर काल में अतिव्याप्ति नहीं होगी। इस प्रकार परिष्कृत किये गये अनुमिति लक्षण का स्पष्ट अर्थ यह किया जायगा—'व्याप्तित्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितहेतुतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित-पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यताशालिनिश्चयत्वावच्छिन्ननिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावत्-पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नोद्देश्यतानिरूपितसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नविधेयताकज्ञानवृत्त्यनुभवत्वन्यूनवृत्तिजातिनिष्ठाऽधेयतानिरूपितसमवायावच्छिन्नाधिकरणतावत्त्वम्'—अनुमितित्वम्।

'परामर्शजन्य' का 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्य' अर्थ होता है, तथा च इसमें 'पक्षधर्मता' का निवेश होने से शरीरकृतगौरव है। इसलिये लघुलक्षण बताने के लिये कहते हैं—'अथवे'ति। अथवा व्याप्तिज्ञानकरणकं ज्ञानमनुमितिः। व्याप्तिज्ञान करण हो जिस ज्ञान का वह अनुमितिज्ञान है। अनुमानखण्ड में उनहत्तरवीं (६९) कारिका के द्वारा बताया जाने वाला जो व्याप्तिज्ञान अर्थात् 'हेतुमन्निष्ठात्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यात्मकधर्मरूपव्याप्ति का धूम में प्रकारतया होने वाला 'यत्र धूमः तत्र वह्निः' इत्याकारक साध्य और हेतु का साहचर्यरूप जो प्रत्यक्ष ज्ञान है, वही है करण (व्यापारवत्असाधारणकारण) जिस ज्ञान का, उस ज्ञान को 'अनुमिति' कहते हैं। अभिप्राय यह है कि अनुमिति के भेद से व्याप्ति का भेद होने से धूमहेतुक वह्नि की अनुमिति में यद्यपि धूमनिष्ठव्याप्ति करण रहने पर भी भस्मलिङ्गक वह्नि की अनुमिति में वह (धूमनिष्ठव्याप्ति) करण नहीं है, अतः अव्याप्ति होगी। इसलिये किसी एक व्याप्ति को लेकर 'तद्व्याप्तिज्ञानकरणकज्ञानवृत्ति अनुभवत्वव्याप्यजातिमत्त्वं' अथवा 'व्याप्तिज्ञानत्वावच्छिन्नकरणकत्वं' लक्षण करने पर कोई दोष नहीं होगा। लक्षण में 'व्याप्ति' पद के देने से उपमिति आदि में अतिव्याप्ति नहीं हो पायी। व्याप्तिकरणकव्याप्त्यनुव्यवसायज्ञान में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'ज्ञान' पद दिया गया है। व्याप्तिज्ञानजन्य परामर्श में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'करणकम्' कहा गया है। व्याप्तिज्ञानकरणक परामर्शजन्यसंस्कार में अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये द्वितीय 'ज्ञान' पद दिया गया है।

क्रमशः अन्य प्रमाओं का भी लघुलक्षण कह रहे हैं—एवमिति। एवं 'सादृश्यज्ञानकरणकं ज्ञानमनुमितिः।' सादृश्यज्ञान है करण जिस ज्ञान का, उस ज्ञान को उपमिति कहते हैं। लक्षण में 'सादृश्य' पद के देने से प्रत्यक्षादि में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। 'ज्ञान' पद के देने से सादृश्यकरणक सादृश्यानुव्यवसाय में अतिव्याप्ति। 'करणकम्' पद के देने से वाक्यार्थस्मरणात्मक व्यापार में अतिव्याप्ति नहीं होती। विशेष्यभूत द्वितीय 'ज्ञान' पद के देने से सादृश्यज्ञानकरणक-वाक्यार्थस्मरणजन्यसंस्कार में अतिव्याप्ति नहीं हो सकी।

'पदज्ञानकरणकं ज्ञानं शाब्दबोधः'—पदज्ञान है करण जिस ज्ञान का, उस ज्ञान को शाब्दबोध (शाब्द प्रमा) कहते हैं। प्रत्यक्ष आदि में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'पद' का निवेश किया है। पदकरणक-पदानुव्यवसाय में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'ज्ञान' का निवेश है। पदार्थस्मरण में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'करणकम्' कहा है पदज्ञानकरणक पदार्थस्मरण-जन्यसंस्कार में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये विशेष्यभूत द्वितीय 'ज्ञान' पद दिया गया है।

शंका—अनुमिति आदि प्रमाओं के प्रति व्याप्तिज्ञानत्वादिरूप से कारणता न मानकर केवल मनस्त्वेन रूपेण कारणता मानी जाय। रही बात अनुमित्यादि फलवैलक्षण्य की, तो वह सामग्रीभेद से ही सम्पन्न हो जायेगा। जैसे प्रत्यक्ष के प्रति मनस्त्वेन रूपेण करणता रहने पर भी चक्षुरादि सामग्री-भेद से चाक्षुषादिप्रमा का भेद हो जाता है, वैसे ही यहाँ पर भी हो जायेगा। एवं च उपरि प्रदर्शित लक्षणों में असम्भव दोष है। इस कारण सिद्धान्त लक्षण कहते हैं—"वस्तुतस्तु" इति। 'यां काञ्चिदिति।' वस्तुतः 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि जैसी किसी भी विशेष अनुमिति को लेकर उस अनुमितिरूप व्यक्ति में रहने वाली और प्रत्यक्षज्ञान में न रहने वाली जो जाति करके अनुमितित्व जाति होगी, तद्वत्त्व अनुमिति में होगा। अर्थात् 'अनुमितित्वजातिमत्त्वमेव अनुमितित्वम्' यह अनुमिति का लक्षण है। मूलस्थ लक्षण में वृत्यन्तअंश, घट में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ है। 'प्रत्यक्षाऽवृत्ति' अंश अनुभवत्व को लेकर प्रत्यक्षादि में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ है। 'जाति' पद अनुमिति-उपमिति दोनों में से किसी को लेकर उपमिति में अतिव्याप्ति के वारणार्थ है। जातिमत्त्व की समवाय से विवक्षा है, अन्यथा अनुमितित्ववत्त्व, काल में कालिक-सम्बन्ध से रहने के कारण काल में अतिव्याप्ति होगी, किन्तु समवायसम्बन्ध की विवक्षा करने पर नहीं होगी।

इसी प्रकार अनुमितिलक्षण की तरह लाघव की दृष्टि से प्रत्यक्ष आदि में भी प्रत्यक्ष लक्षण को घटा लेना चाहिये—'प्रत्यक्षत्वादिकमि'ति। तथाहि—'यत्किञ्चिद्घटप्रत्यक्षमादाय तत्र घटप्रत्यक्षे वर्तमाना अनुमितौ अवर्तमाना प्रत्यक्षत्वजातिः, तद्वत्त्वं प्रत्यक्षप्रमालक्षणम् अर्थात् प्रत्यक्षत्वजातिमत्त्वं प्रत्यक्षप्रमालक्षणम्'। भाव यह हुआ कि 'अयं घटः' इस प्रत्यक्ष को लेकर उस प्रत्यक्षव्यक्ति में वृत्ति और अनुमिति में अवृत्ति जो जाति अर्थात् प्रत्यक्षत्वजाति, तादृशजातिमत्त्व ही प्रत्यक्ष-प्रमा का लक्षण है। अभिप्राय यह है—प्रत्यक्षत्वजाति जिसमें हो उसे प्रत्यक्षप्रमा समझना चाहिये। 'तद्व्यक्तिवृत्त्यनुमित्यवृत्तिजातिमत्त्वम्-प्रत्यक्षत्वम्'। इस लक्षण में 'वृत्यन्त अंश' से घट में अतिव्याप्ति नहीं होती। 'अनुमित्यवृत्ति' कहने से अनुभवत्व को लेकर अनुमिति आदि में अतिव्याप्ति दूर होती है। प्रत्यक्ष, उपमिति इन दोनों में से किसी एक को लेकर उपमिति में अतिव्याप्ति का वारण

करने के लिये 'जाति' पद दिया है। जातिमत्त्व को समवायसम्बन्ध से जानना चाहिए, अन्यथा कालिक-सम्बन्ध से प्रत्यक्षत्ववत्त्व काल में भी रहने से अतिव्याप्ति होगी।

मूल में 'प्रत्यक्षत्वादिकम्' कहा है, वहाँ 'आदि' पद से 'गवयो गवयपदवाच्यः' इस प्रकार यत्किञ्चित् उपमिति व्यक्ति को लेकर तद्व्यक्तिवृत्ति और प्रत्यक्ष में अवृत्ति जो जाति, तद्वत्त्व होना उपमिति प्रमा का लक्षण समझना चाहिए। घट में अतिव्याप्ति का वारण 'वृत्यन्त' अंश से, अनुमिति आदि में अतिव्याप्ति का वारण 'प्रत्यक्षावृत्ति' कहने से, उपमिति-शाब्दबोधान्यतरत्व को लेकर शाब्दबोध में अतिव्याप्ति का वारण 'जाति' पद से हो जाता है। जातिमत्त्व को समवाय से ग्रहण करना चाहिये। अन्यथा उपमितित्ववत्त्व, कालिक-सम्बन्ध से काल में भी रहने के कारण अतिव्याप्ति होगी।

इसी प्रकार यत्किञ्चित् शाब्दबोधव्यक्ति को लेकर तद्व्यक्तिवृत्ति और प्रत्यक्षाऽवृत्ति जातिमत्त्व जिसमें हो, उसे शाब्दबोध कहते हैं, यह शाब्दबोध का लक्षण है। घट में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'वृत्यन्त' कहा है। प्रत्यक्षादि में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'प्रत्यक्षाऽवृत्ति', शाब्दबोध और अनुमिति दोनों में से अन्यतर को लेकर अनुमिति में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'जाति' पद दिया गया है। जातिमत्त्व को समवाय से लेने पर 'काल' में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

॥ इति प्रत्यक्षादिप्रमालक्षणकथनम् ॥

घ्राणजादिप्रभेदेन प्रत्यक्षं षड्विधं मतम् ॥ ५२ ॥

लौकिक सन्निकर्षजन्य पूर्वोक्त प्रत्यक्ष, घ्राणज आदि भेद से छह प्रकार का होता है। अर्थात् अलौकिकसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष तीन प्रकार होता है--यह भी आगे त्रिसठवीं (६३) कारिका के द्वारा बताया जायेगा, यह ध्वनित होता है।

जन्यप्रत्यक्षं विभजते घ्राणजादीति। घ्राणजं रासनं चाक्षुषं स्पार्शनं श्रौत्रं मानसमिति षड्विधं प्रत्यक्षम्। न चेश्वरप्रत्यक्षस्याविभाजनान्न्यूनत्वम् जन्यप्रत्यक्षस्यैव निरूपणीयत्वादुक्तसूत्रानुसारात् ॥ ५२ ॥

'जन्यप्रत्यक्षं विभजत' इति। जन्य प्रत्यक्ष का विभाग करते हैं। यहाँ पर 'वि'पूर्वक 'भज' धातु का अर्थ 'स्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदक-व्याप्यमिथोविरुद्धयावद्धर्मप्रकारकज्ञानानुकूल व्यापार' है। 'स्व' पद से 'विभजति' को अर्थात् 'वि' पूर्वक 'भज' धातु को समझना चाहिए। तथा च—'सर्वानुगतैकजन्यप्रत्यक्षत्वाऽवान्तर-घ्राणजत्वाद्यवान्तरजात्यवच्छिन्नधर्मिप्रतिपादनानुकूलकृतिमान् ग्रन्थकारः' यह 'जन्यप्रत्यक्षं विभजते' का शब्दबोध होता है।

घ्राणजादिभेद से प्रत्यक्ष के छह प्रकार बताते हैं–'घ्राणजमि'ति। 'घ्राणजम्' अर्थात् घ्राणेन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष, 'रासनम्' अर्थात् रसनेन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष, 'चाक्षुषम्' अर्थात् चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष, 'स्पार्शनम्' अर्थात् त्वगिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष, 'श्रौत्रम्'

अर्थात् श्रोत्रेन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष, 'मानसम्' अर्थात् मनइन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष, इन रीति से प्रत्यक्ष के छह प्रकार समझने चाहिए।

शंका—'न चेश्वरेति' छह प्रकार की प्रत्यक्ष प्रमा के समान ही सातवीं ईश्वर समवेत प्रत्यक्ष प्रमा को क्यों नहीं बताया गया ? अतः ग्रन्थ में यह कमी (न्यूनता) हो गयी।

समा०—जन्येति। जन्य अर्थात् इन्द्रियजन्य जो जीवात्मा में समवेत प्रमात्मक-प्रत्यक्ष है, यही 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्' इस गौतमसूत्र के अनुसार विभाज्यत्वेन अभिप्रेत होने से उसी का (जन्यप्रत्यक्ष का) निरूपण और उसी का विभाग दिखाया गया है ॥ ५२ ॥

॥ इति प्रत्यक्षादिप्रमालक्षणकथनम् ॥

घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः।
तथा रसो रसज्ञायास्तथा शब्दोऽपि च श्रुतेः ॥ ५३ ॥

जिन इन्द्रियों में जिस विषय के ग्रहण की शक्ति है, उसे पृथक्-पृथक् दिखाते हैं। 'घ्राणस्ये'ति। गोचर, ग्राह्य, विषय—ये पर्याय शब्द हैं। घ्राणेन्द्रिय का गोचर (प्रत्यक्ष विषय) अर्थात् घ्राणेन्द्रिय के द्वारा गन्धगुण, गन्धत्व जाति और 'आदि' शब्द से सुरभित्व, असुरभित्व तथा गन्धाभाव और गन्धत्वाभाव का ग्रहण होता है। उसी तरह रसगुण, रसत्वजाति, रसाभाव और रसत्वाभाव का रसनेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण होता है। रसज्ञा का अर्थ रसनेन्द्रिय है। उसी प्रकार शब्द, शब्दत्व, शब्दाभाव और शब्दत्वाऽभाव का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय से होता है।

गोचर इति ग्राह्य इत्यर्थः। गन्धत्वादिरिति। आदिपदात् सुरभित्वादि-परिग्रहः। गन्धस्य प्रत्यक्षत्वात् तद्वृत्तिजातिरपि प्रत्यक्षा। गन्धाश्रयग्रहणे तु घ्राणस्य न सामर्थ्यमिति बोध्यम्। तथा रस इति। रसत्वादिसहित इत्यर्थः। तथा शब्दोऽपि शब्दत्वादिसहितः। गन्धो रसश्च उद्भूतो बोध्यः ॥ ५३ ॥

गोचर शब्द का अर्थ 'ग्राह्य' है। कारिकागत 'आदि' पद से गन्धत्वव्याप्य सुरभित्व आदि का ग्रहण है। 'सुरभित्वादि' यहाँ 'आदि' पद से 'असुरभित्व' को लेना चाहिए। गन्ध का घ्राणेन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होता है। इस कारण तद्वृत्ति अर्थात् गन्ध में रहने वाली गन्धत्वजाति का भी उसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। निष्कर्ष यह है कि 'येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनैवेन्द्रियेण तन्निष्ठा जातिः तदभावश्च गृह्यते'—जिस इन्द्रिय से जिसका ग्रहण किया जाता है उसी इन्द्रिय से उसकी जाति तथा उसके अभाव का भी ग्रहण किया जाता है—इस नियम के अनुसार घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का और रसनेन्द्रिय से रस का तथा श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण (प्रत्यक्ष ज्ञान) होता है, इसलिये गन्धनिष्ठ गन्धत्वजाति और गन्धाभाव आदि का और रसनिष्ठ रसत्वजाति और रसाभाव का तथा शब्दनिष्ठ शब्दत्वजाति और शब्दाभाव आदि का भी ग्रहण उसी इन्द्रिय से होता है।

शंका—घ्राणेन्द्रिय से गन्धगुण का जैसे प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही गन्धगुणाश्रय पृथ्वी का प्रत्यक्ष भी उसी इन्द्रिय से क्यों नहीं होता ?

समा०—गन्धाश्रय अर्थात् गन्धसमवायिकारण पृथ्वी का प्रत्यक्ष करने का सामर्थ्य घ्राणेन्द्रिय में नहीं है। द्रव्य का साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) करने का सामर्थ्य (शक्ति) चक्षुरिन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय में ही होता है, अन्य इन्द्रियों में नहीं। क्योंकि अन्य इन्द्रियाँ योग्यविषय की ही अवभासक होती हैं। 'तथा रस' इति रसत्वादिसहित इत्यर्थः। यहाँ 'आदि' पद से मधुरत्व, अम्लत्व, लवणत्व, कटुत्व, कषायत्व, तिक्तत्व का ग्रहण करना चाहिए। तथा शब्दोऽपि शब्दत्वादि सहितः'। यहाँ भी 'आदि' शब्द से कत्व, खत्व आदि को समझना चाहिए। अनुद्भूत रस का ग्रहण न हो पाने से (प्रत्यक्ष-ज्ञान न हो पाने से 'गन्धो रसश्च उद्भूतो बोध्यः' कहा गया है। अर्थात् उद्भूत रस का ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अनुद्भूत गन्ध, रस का नहीं। 'यदि वह प्रत्यक्ष के प्रयोजक सन्निकर्ष से युक्त होता तो अवश्य उपलब्ध होता' इस आपादन का विषय बनना ही 'उद्भूतत्व' है। 'यद्येतत्प्रत्यक्षप्रयोजकसन्निकर्षवत् स्यात्तर्हि उपलभ्येत' इत्यापादनविषयत्वमुद्भूतत्वम्॥

उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये।
विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिमाणयुक्तम् ॥५४॥
क्रिया जातिर्योग्यवृत्तिः समवायश्च तादृशः।
गृह्णाति चक्षुः सम्बन्धादालोकोद्भूतरूपयोः ॥५५॥

उद्भूतरूपम्=चक्षुरिन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष करने योग्यरूप। गोचरः=ग्रहण करने योग्य अर्थात् ग्राह्य, विषय। तद्वन्ति (उद्भूतरूपवन्ति)=चक्षुरिन्द्रियद्वारा प्रत्यक्षयोग्यरूपवाले। परिमाणयुक्तम्=परिमाणसहित अर्थात् परिमाण। 'परिमाणयुक्तम्'—यह विशेषण है और 'विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं' यह विशेष्य है। अभिप्राय यह है कि जैसे विभाग आदि का प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही परिमाण का भी प्रत्यक्ष होता है। योग्यवृत्तिः=प्रत्यक्ष के योग्य। तादृशः=वैसा ही प्रत्यक्ष-योग्य। सम्बन्धात्=संयोग सम्बन्ध से।

अन्वयः—उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरः (स्मृतः)। तद्वन्ति (उद्भूतरूपवन्ति) द्रव्याणि नयनस्य गोचराणि (स्मृतानि), परिमाणयुक्तं विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं योग्यवृत्ति क्रियां योग्यवृत्ति जातिं योग्यवृत्ति समवायञ्च, चक्षुः आलोकोद्भूतरूपयोः सम्बन्धात् गृह्णाति।

अर्थ—उद्भूतरूप, रूपत्व, रूपाभाव तथा उद्भूतरूपवाले द्रव्य अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज तथा पृथ्वीत्व, जलत्व और उनका अभाव, तेजस्त्व, पृथक्त्व और संख्या, विभाग एवं संयोग, परत्व, अपरत्व, स्नेह, द्रवत्व, परिमाण, प्रत्यक्ष के योग्यद्रव्य की उत्क्षेपणादि पाँच प्रकार की क्रिया, जाति तथा समवाय सबका ग्रहण चक्षुरिन्द्रिय द्वारा प्रकाश तथा उद्भूतरूप के सम्बन्ध से होता है।

उद्भूतरूपमिति। ग्रीष्मोष्मादावनुद्भूतं रूपमिति न तत्प्रत्यक्षम्। तद्वन्ति = उद्भूतरूपवन्ति ॥ ४५ ॥

मूल कारिका में 'उद्भूत' पद के देने से यह सूचित हुआ है कि ग्रीष्मऋतु में होने वाली भाप (वाष्प) में तथा भर्जनकपालस्थवह्नि में 'रूप' उद्भूत न होने से (अनुद्भूत रूप होने से) उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। 'तद्वन्ति' पद का अर्थ उद्भूतरूपवन्ति अर्थात् उद्भूतरूपवाले द्रव्य किया है ॥ ५४ ॥

योग्येति। पृथक्त्वादिकमपि योग्यव्यक्तिवृत्तितया बोध्यम्। तादृश योग्यव्यक्तिवृत्तिरित्यर्थः। चक्षुर्योग्यत्वमेव कथं तदाह—गृह्णातीति आलोकसंयोग उद्भूतरूपं च चाक्षुषप्रत्यक्षे कारणम्। तत्र द्रव्यचाक्षुषं प्रति तयोः समवायसम्बन्धेन कारणत्वम्। द्रव्यसमवेतरूपादिप्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन। द्रव्यसमवेतसमवेतस्य रूपत्वादेः प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्धेनेति ।५५।

योग्येति। पृथक्त्व और संख्या आदि का भी प्रत्यक्ष, चक्षुःप्रत्यक्षयोग्य पदार्थ में ही होता है। अर्थात् चक्षुःप्रत्यक्षयोग्यपदार्थसमवेत होने पर ही होता है। अतएव परमाणु आदि जो चक्षुःप्रत्यक्षायोग्य व्यक्ति हैं, उनमें रहने वाले पृथक्त्व-संख्या आदि का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है। चक्षुर्योग्यत्वमेवेति। पृथक्त्वादि में चक्षुर्जन्यप्रत्यक्षविषयता किस कारण (प्रयोजक) से होती है? उत्तर दे रहे हैं— 'गृह्णातीति।' आलोकसंयोग और उद्भूतरूप, चाक्षुषप्रत्यक्ष में कारण होते हैं। आलोक (प्रकाश) संयोग को यदि कारण नहीं कहें तो अन्धेरे में घट-पटादि का भी चक्षुःप्रत्यक्ष होना चाहिए लेकिन होता नहीं। उद्भूतरूप को कारण न कहें तो पिशाचादिकों का भी चक्षुःप्रत्यक्ष होना चाहिए, लेकिन होता नहीं। अतः दोनों को कारण कहा गया है। अर्थात् दोनों को कारण मानने में तर्कजन्य निश्चय ही प्रमाण है। 'यदि आलोकसंयोगः कारणं न स्यात् तदा अन्धकारेऽपि घटादीनां चाक्षुषप्रत्यक्षं स्यात्, एवं यदि उद्भूतरूपं कारणं न स्यात् तदा पिशाचादीनामपि प्रत्यक्षं स्यात्।' उन दोनों के कारणतावच्छेदक-सम्बन्ध को बताते हैं— 'तत्रेति'। घट-पट आदि द्रव्यों के चाक्षुष-प्रत्यक्ष में आलोकसंयोग और उद्भूतरूप को समवायसम्बन्ध से कारणता होती है। अर्थात् आलोकसंयोग और उद्भूतरूप का कारणतावच्छेदक सम्बन्ध 'समवाय' है। क्योंकि घट और आलोक दोनों का संयोग उभयवृत्ति है और गुण-गुणी का सम्बन्ध 'समवाय' होता है यह नियम है। उसी प्रकार उद्भूतरूप भी घट पटादि द्रव्य में समवायसम्बन्ध से रहता है। विषयनिष्ठ साक्षात्कार के प्रति उन दोनों (आलोक-संयोग और उद्भूतरूप) को समवायसम्बन्ध से ही कारणता हुआ करती है। द्रव्यसमवेतरूपादीति। घट-पटादि द्रव्यों में समवेत रूपादि के प्रत्यक्ष में स्वाश्रय-समवायसम्बन्ध से दोनों कारण होते हैं। यहाँ 'स्व' शब्द से आलोकसंयोग और उद्भूतरूप को लेना चाहिए। दोनों का आश्रय समवायसम्बन्ध से 'घट' होगा। उस घट में समवायसम्बन्ध से रूप रहता है। इस परम्परासम्बन्ध से कारण (आलोकसंयोग और उद्भूतरूप),

घटरूप में वर्तमान है। तथा च घटादि द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से वर्तमान जो रूप-रसादि, उसका विषयतासम्बन्ध से जो प्रत्यक्ष होता है, उसमें स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से आलोकसंयोग और उद्भूतरूप कारण होते हैं। 'द्रव्यसमवेतसमवेतस्येति।' उसी प्रकार घटादि द्रव्य में समवेत जो रूपादि, उनमें समवेत जो रूपत्वादि, उनके प्रत्यक्ष में 'स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्ध' से आलोकसंयोग और उद्भूतरूप कारण होते हैं। 'स्व' शब्द से आलोकसंयोग और उद्भूतरूप लेना, उनका आश्रय घट, उसमें समवेत रूप आदि, उसमें 'रूपत्व' समवायसम्बन्ध से रहता है, इस प्रकार रूपत्व' के प्रति परम्परासम्बन्ध से आलोकसंयोग और उद्भूतरूप कारण हैं। अतः रूपत्व के प्रत्यक्ष में उक्त परम्परासम्बन्ध से आलोकसंयोग और उद्भूतरूप कारक होते हैं॥ ५५॥

उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः।
रूपान्यच्चक्षुषो योग्यं रूपमत्रापि कारणम् ॥५६॥
द्रव्याध्यक्षे—

अर्थ—उद्भूत स्पर्श, स्पर्शत्व तथा उद्भूतस्पर्शवान् द्रव्य ये सब त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य होते हैं। रूप, रूपत्व (नीलत्व आदि) जाति के सिवाय जो भी चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष के योग्य है, उसका त्वगिन्द्रिय से भी प्रत्यक्ष होता है। त्वगिन्द्रिय से होने वाले द्रव्य के प्रत्यक्ष में 'रूप' कारण है। अर्थात् रूपरहित द्रव्य का यदि स्पर्श भी हो तो उस द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अत एव वायु का प्रत्यक्ष नहीं माना जाता, परन्तु रूपयुक्त घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है और उसी घट का त्वचा से भी प्रत्यक्ष हो सकता है।

उद्भूतेति। उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं त्वचो गोचरः। सोऽपि=उद्भूतस्पर्शोऽपि, स्पर्शत्वादिसहितः। रूपान्यदिति। रूपभिन्नं रूपत्वादिभिन्नं च यच्चक्षुषो योग्यं तत्त्वगिन्द्रियस्यापि ग्राह्यम्। तथा च पृथक्त्वसङ्ख्यादयो ये चक्षुर्ग्राह्या गुणा उक्ताः, एवं क्रियाजातयो योग्यवृत्तयश्च ते त्वचो ग्राह्या इत्यर्थः।

अत्रापि त्वगिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षेऽपि रूपं कारणम्। तथा च बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूपं कारणम्।

नवीनास्तु बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे न रूपं न वा स्पर्शः कारणं प्रमाणाभावात् किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्षे रूपं स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारणमन्वयव्यतिरेकात्। बहिरिन्द्रियजन्ये द्रव्यप्रत्यक्षमात्रे किं कारणमिति चेत्, न किञ्चित्, आत्मावृत्तिशब्दभिन्नविशेषगुणवत्त्वं वा प्रयोजकमस्तु। रूपस्य कारणत्वे लाघवमिति चेन्न वायोस्त्वगिन्द्रियेणाऽग्रहणप्रसङ्गात्। इष्टापत्तिरिति चेदुद्भूतस्पर्श एव लाघवात्कारणमस्तु। प्रभाया अप्रत्यक्षत्वे त्विष्टापत्तिरेव किं नेष्यते। तस्मात् प्रभां पश्यामीतिवत् वायुं स्पृशामीति प्रत्यक्षस्य सम्भवाद्वायोरपि प्रत्यक्षं सम्भव-

त्येव । बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षमात्रे न रूपस्य न वा स्पर्शस्य हेतुत्वम् । वायुप्रभयोरेकत्वं गृह्यत एव, क्वचिद्द्वित्वादिकमपि, क्वचित्सङ्ख्यापरिमाणाद्यग्रहो दोषादित्याहुः ॥ ५६ ॥

॥ चाक्षुषादिप्रत्यक्ष-चक्षुर्विषयादिकथनम् ॥

चाक्षुष प्रत्यक्ष का निरूपण करके अब त्वाच प्रत्यक्ष का निरूपण करते हैं—'उद्भूतस्पर्शवत्' इति । उद्भूतस्पर्शवाले द्रव्य का त्वगिन्द्रिय से (त्वाच) प्रत्यक्ष होता है । वे उद्भूतस्पर्श, स्पर्शत्वजाति और स्पर्शाभाव भी त्वगिन्द्रियगोचर होते हैं । रूपान्यदिति । रूपभिन्न, रूपत्वभिन्न, रूपाभावभिन्न और रूपत्वाभावभिन्न जो चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष करने योग्य है, वे सब त्वगिन्द्रिय के भी विषय होते हैं । उसी को स्पष्ट करते हैं—'तथा चेति ।' जो पृथक्त्व, संख्या, विभाग, संयोग, परत्व, अपरत्व, स्नेह, द्रवत्व, परिमाण आदि गुण और क्रिया, जाति, समवाय यदि योग्यवृत्ति (प्रत्यक्ष योग्य पदार्थ में रहनेवाले) हों तो उन सभी का चाक्षुष-प्रत्यक्ष के समान त्वाच प्रत्यक्ष भी हो सकता है । क्योंकि किसी पदार्थ को हम छूकर जान लेते हैं, एवं किसी वस्तु की सख्या को भी स्पर्श करके गिन लेते हैं और संयोग, विभाग या क्रिया का अनुभव भी हम स्पर्श के द्वारा कर सकते हैं । त्वगिन्द्रिय से होने वाले द्रव्य के प्रत्यक्ष में रूप कारण होता है । तात्पर्य यह है कि बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्ष में 'रूप' को कारण माना गया है । अर्थात् जिस द्रव्य में रूप उद्भूत रहे उसी का बहिरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होगा । इससे यह स्पष्ट होता है कि रूपरहित द्रव्य का यदि स्पर्श भी हो तो उसे द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं माना जाता । यही कारण है कि वायु का प्रत्यक्ष नहीं माना गया है । किन्तु रूपवान् घट का जैसे चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है वैसे ही उसका त्वाच प्रत्यक्ष भी होता है और स्पर्श-गुण का प्रत्यक्ष, बिना रूप के भी केवल त्वचा से हो सकता है । लेकिन स्पर्शवाले द्रव्य का प्रत्यक्ष तभी होगा जब उस द्रव्य में रूप भी रहे । त्वक् और चक्षु इन दोनों बहिरिन्द्रियों से होने वाले 'पृथ्वी, जल, तेज' संज्ञक द्रव्य के प्रत्यक्ष में 'रूप' समवाय-सम्बन्ध से कारण होता है । स्पर्शवाले तीन द्रव्यों का ही प्रत्यक्ष माना गया है । त्वाच प्रत्यक्ष के विषय होने वाले तथा रूपवाले इन्हीं तीनों द्रव्यों का स्पार्शन प्रत्यक्ष के समान चाक्षुषप्रत्यक्ष भी होता है । अतः स्पर्श और रूप दोनों को कारण स्वीकार करने के बजाय लाघवेन रूप को ही कारण मानना उचित है, यह प्राचीन नैयायिक कहते हैं ।

वायु का प्रत्यक्ष माननेवाले नवीन नैयायिकों का मत उपस्थित कर रहे हैं—नवीनास्त्विति । गंगेशोपाध्याय-गदाधर-जगदीश-मथुरानाथ आदि नवीन नैयायिक हैं ।

'नवीनास्तु' का आगे आने वाले 'आहुः' के साथ अन्वय होगा । नवीन नैयायिकों का कहना है कि द्रव्य के बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्षमात्र में 'रूप' कारण नहीं

है और न केवल स्पर्श ही कारण है, क्योंकि उसे कारण मानने में कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् 'रूपसत्वे वायुप्रत्यक्षसत्त्वं, रूपाभावे वायुप्रत्यक्षाभावः' इस अन्वय-व्यतिरेक से युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव है। क्योंकि वायु में उद्भूतरूप के न रहने पर भी स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है। उसी तरह 'प्रभा' का स्पर्श न होने पर भी रूप रहने के कारण उसका प्रत्यक्ष होता है। एवं च 'स्पर्शसत्त्वे प्रभाप्रत्यक्षत्वं और स्पर्शाभावे प्रभाप्रत्यक्षाभावः' इस प्रकार के अन्वय-व्यतिरेकसहकृत प्रत्यक्ष-प्रमाण का अभाव है। अतः प्राचीन नैयायिकों का यह कथन—"जिस द्रव्य में उद्भूतरूप रहता है उसी का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु जिस द्रव्य में रूप और स्पर्श दोनों हों तो उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष तथा स्पार्शन प्रत्यक्ष भी होता है। किन्तु जहाँ रूप न हो ऐसे रूपरहित द्रव्य के स्पर्श का तो प्रत्यक्ष हो सकता है, अतएव वायु के स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु स्पर्शवाले द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। अर्थात् वायु संज्ञक द्रव्य का त्वाच प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु उसका अनुमान होता है।"—उचित नहीं है। अर्थात् प्रमाणरहित कार्यकारणभाव मानना ठीक नहीं है। किन्तु 'रूपसत्त्वे-चाक्षुषप्रत्यक्षं तदभावे तदभावः।' उसी तरह 'स्पर्शसत्त्वे त्वाचम्प्रत्यक्षम्, तदभावे तदभावः। इस अन्वय व्यतिरेक के आधार पर चाक्षुष प्रत्यक्ष में रूप को और त्वाच प्रत्यक्ष में स्पर्श को कारण मानना चाहिए। ऐसा मानने पर वायु का त्वाच प्रत्यक्ष भी हो सकेगा, उसे (वायु को) अनुमेय कहने की आवश्यकता नहीं है।

शंका—प्राचीन नैयायिक पूछते हैं "बहिरिन्द्रियजन्येति।" बहिरिन्द्रिय-जन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्र में अनुगत कारण है ?

समा०—नवीन नैयायिक कहते हैं "न किञ्चिदिति।" बहिरिन्द्रिय से होने वाले प्रत्यक्षमात्र के प्रति (सब प्रकार के बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में) कोई एक अनुगत कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुगत कारण मानने में गौरव होगा। अतः तत्तद्-विशेष कार्य-कारणभाव को ही मानना चाहिए, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है।

शंका—'बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष' कहने से चाक्षुष-स्पार्शन का भी बोध होता है, तब उसके प्रति किसी एक को कारण न मानने पर उसका जो अभाव होगा, वह किस कारण (प्रयोजक) से होगा ? अर्थात् चाक्षुषप्रत्यक्षाभाव या त्वाच-प्रत्यक्षाभाव को किम्प्रयोज्य मानोगे ? क्योंकि कार्याभाव भी कारणाभावप्रयोज्य हुआ करता है !

समा०—"आत्मावृत्तीति"। दूसरा कल्प प्रस्तुत कर रहे हैं—'आत्माऽवृत्ति-शब्दभिन्नविशेषगुणवत्त्वं वा प्रयोजकमस्तु।' आत्मनि न वृत्तिः यस्य तादृशो यः शब्दभिन्नो विशेषगुणः अर्थात् पृथिव्यादिचतुष्टयवृत्तिः रूपादिरेव, तादृशगुणवत्त्व-मेव = रूपादिविशेषगुण एव बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षसामान्यम्प्रति कारणमस्तु। अर्थात्

आत्मा में न रहनेवाले शब्द-भिन्न विशेष गुण वाला होना ही बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्य-प्रत्यक्षसामान्य के प्रति कारण (हेतु) है। एवञ्च तादृशगुणवत्त्वाऽभाव ही तादृश-प्रत्यक्षाभाव में प्रयोजक है। पृथिवी आदि चारों द्रव्यों में तादृशगुणवत्ता रहने से तादृशप्रत्यक्ष उनका होता है। 'आत्माऽवृत्ति' कहने से आत्मा के बहिरिन्द्रियजन्य-प्रत्यक्ष का प्रसंग नहीं आता। 'शब्दभिन्न' कहने से आकाश के बहिरिन्द्रियजन्य-प्रत्यक्ष का प्रसंग नहीं आता। 'विशेष' कहने से काल आदि के बहिरिन्द्रियजन्य-प्रत्यक्ष का प्रसंग नहीं आता।

शंका—प्राचीन नैयायिक कहता है 'रूपस्येति'। बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षमात्र के प्रति उद्भूतरूप को लाघवात् कारण मान लेंगे। जिससे अप्रामाणिक अनन्त-कार्य-कारणभावकल्पनारूपगौरव नहीं होगा अपितु शरीरकृत लाघव होगा। क्योंकि नवीन नैयायिक के अनुसार चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति उद्भूतरूपत्वेन, स्पार्शन-प्रत्यक्ष के प्रति उद्भूतस्पर्शत्वेन कारणकल्पना करने पर और चाक्षुषत्व-स्पर्शनत्व-एतदन्यतरावच्छिन्न के प्रति उद्भूतरूपत्व-उद्भूतस्पर्शत्वघटित-अन्यतरावच्छिन्न को प्रयोजक (कारण) मानने पर गौरव होता है, अतः तादृशान्यतरावच्छिन्न के प्रति उद्भूतरूपत्वेन उद्भूतरूप को ही कारण (हेतु) मान लेने में लाघव होता है।

समा०—नवीन नैयायिक कहता है 'वायोरिति'। 'उद्भूतरूप को कारण मानने में लाघव है'—यह प्राचीनों का कथन ठीक नहीं है। क्योंकि वैसा मानने पर वायु का त्वाचप्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि रूपवान् द्रव्य का ही त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, रूपरहित का नहीं। अतः वायु में रूप के न होने से उसका त्वगिन्द्रिय से अग्रहण अर्थात् अप्रत्यक्ष होने लगेगा। इसलिये 'रूप' को कारण मानना ठीक नहीं है। इस पर प्राचीन नैयायिक यदि उसे इष्टापत्ति कहे अर्थात् हम (प्राचीन) वायु का त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष मानते ही नहीं। हम तो उसे (वायु को) स्पर्श के द्वारा (स्पर्शात्मक हेतु से) अनुमेय मानते हैं। इसलिये नवीनों ने वायु के अप्रत्यक्ष होने की आपत्ति जो हम पर दी है वह तो हमें अभीष्ट ही है। वह हमारे लिये कोई दोष नहीं है। क्योंकि वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता, बल्कि स्पर्शलिङ्गक अनुमान से वायु की अनुमति होती है। अतः वायु अनुमेय ही है, प्रत्यक्ष नहीं। एवञ्च नवीनों के द्वारा दी गई आपत्ति तो हमारे लिये इष्टापत्ति ही सिद्ध हुई। अर्थात् हम त्वचा से वायु का प्रत्यक्ष मानते ही नहीं। प्राचीन नैयायिकों के द्वारा ऐसा कहने पर नवीन नैयायिक कहते हैं—"उद्भूत-स्पर्श" इति। विनिगमनाविरह समझ कर नवीन नैयायिक अन्य प्रकार से समाधान कर रहा है। बहिर्द्रव्यमात्रप्रत्यक्षत्वावच्छिन्न के प्रति उद्भूत स्पर्श को ही कारण मान लो। अर्थात् जैसे आप लाघव के लोभ से 'रूप' को कारण मानते हैं, वैसे ही अर्थात् समान युक्ति से उद्भूत स्पर्श को ही कारण मान लिया जाय

तो क्या हानि है ? जैसे आपके यहाँ लाघव है वैसे ही हमारे यहाँ भी लाघव है, क्योंकि उद्भूतरूपत्व-उद्भूतस्पर्शत्व के साथ कार्यकारणभाव की कल्पना करने से तादृशान्यतरावच्छिन्न को चाक्षुषत्वादिघटित अन्यतरावच्छिन्न के प्रति प्रयोजक मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

शंका—प्राचीन नैयायिक कहते हैं—'प्रभाया अप्रत्यक्षत्वे इति।' प्रभा (प्रकाश) का उद्भूतस्पर्श न होने से उसका (प्रभा का) प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा।

समा०—उक्त आशंका पर नवीन नैयायिक कहता है—'इष्टापत्तिरेव किं नेष्यत इति।' प्रभा (प्रकाश) का प्रत्यक्ष न होना अभीष्ट ही है, ऐसा क्यों नहीं कहते, क्योंकि यदि रूपरहित होने से वायु का प्रत्यक्ष नहीं माना जाता, तो उसी तरह स्पर्श के न होने से प्रभा का भी प्रत्यक्ष नहीं होता, यह क्यों न कहा जाय ? अतः नवीन नैयायिक अपने कथन का उपसंहार करता है-'तस्मादिति।' तुल्य प्रतिबन्दी स्वरूप बाधक के होने से यदि स्पर्शरहित प्रभा का प्रत्यक्ष ('प्रभा पश्यामि' इत्याकारक) दोनों वादियों के मत से माना जाता है और उसका अप्रत्यक्ष होना स्वीकार नहीं किया जाता, उसी प्रकार—'वायुं स्पृशामि' इत्याकारक अनुभव दोनों वादियों को होने से रूपरहित वायु का भी प्रत्यक्ष होता है, यह मान लेना चाहिए। तथा च चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति 'रूप' को और त्वाचप्रत्यक्ष के प्रति स्पर्श को पृथक्-पृथक् रूप से कारण मान लेना चाहिए। अर्थात् बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्य-प्रत्यक्षसामान्य के प्रति केवल 'रूप' को ही या केवल 'स्पर्श' को ही कारण मानना ठीक नहीं है।

नवीन नैयायिक अपने कथन को पुष्ट करने के लिये एक अन्य युक्ति भी बता रहा है—'वायुप्रभयोरिति।' वायु और प्रभा दोनों में ही संख्या का भी ग्रहण होता है। अर्थात् यह एक पौरस्त्य (पुरवैया) वायु है, ये दक्षिण और उत्तर के दो वायु हैं, इस प्रकार वायुगत संख्या का जैसे त्वगिन्द्रिय से ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसी प्रकार वायु का भी ग्रहण (ज्ञान) होता है। वैसे ही यह एक सौरी प्रभा है, ये दो प्रभाएँ हैं, इस प्रकार प्रभागत संख्या का और प्रभा का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है। यहाँ 'प्रभा' का उल्लेख दृष्टान्त के रूप में किया गया है। एवञ्च वायु और प्रभा का अलग-अलग (भिन्न-भिन्न) प्रत्यक्ष समझना चाहिए। जिस द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है, उसी की संख्या का प्रत्यक्ष हो सकता है। अतः वायु और प्रभा की संख्या का प्रत्यक्ष होने से कहना पड़ेगा कि वायु और प्रभा का भी प्रत्यक्ष होता है। 'क्वचिद्द्वित्वादिकमपीति।' जहाँ कहीं अर्थात् वायु और प्रभा का विलक्षणसंयोग जहाँ न हो वहाँ द्वित्व और परिमाण का भी ग्रहण होता है। ऐसी जगह 'अस्मिन् गृहे एका प्रभा, अन्यस्मिन् गृहे एका प्रभा', 'अयमेको वायुः, अयमेको वायुः' इस प्रकार की अपेक्षा बुद्धि का सम्भव होने से 'द्वित्व' की उत्पत्ति होती है, उससे 'द्वितीयोऽयं महान् वायुः' इत्याकारक द्वित्व और परिमाण का भी प्रत्यक्ष होता है। किन्तु उन दोनों का विलक्षणसंयोग होने

पर तादृशसम्बन्धरूप दोष होने से द्वित्व आदि की उत्पत्ति न हो सकने के कारण द्वित्वादि संख्या तथा महत् परिमाण का अग्रहण अर्थात् अप्रत्यक्ष (प्रत्यक्ष का असम्भव) होता है, यानि प्रत्यक्ष नहीं होता। ग्रन्थकार (मुक्तावलीकार) ने 'आहुः' कहकर नवीनों के मत में आस्वारस्य को सूचित किया है। 'ज्ञेयः स्पर्शादिलिङ्गकः' इस कारिकांश के द्वारा प्राचीनों के अनुसार वायु को अनुमेय ही बताया गया है और यही मत मुक्तावलीकार विश्वनाथ को मान्य है ॥ ५६ ॥

॥ इति चाक्षुषादिप्रत्यक्ष-चक्षुर्विषयादिकथनम् ॥

त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम् ।

त्वच इति । त्वङ्मनःसंयोगो ज्ञानसामान्ये कारणमित्यर्थः किं तत्र प्रमाणं ? सुषुप्तिकाले त्वचं त्यक्त्वा पुरीतति वर्तमानेन मनसा ज्ञानाजननमिति[1] ।

बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षसामान्य के प्रयोजक (कारण-नियामक) का विचार कर चुके अब जन्यज्ञानमात्र (ज्ञानसामान्य) के कारण का विचार कर रहे हैं— 'त्वङ्मनःसंयोग'इति । प्रत्येक प्रकार के ज्ञान में (ज्ञानसामान्य में) 'त्वङ्मनः-संयोग' अर्थात् 'त्वक् और मन (मनस्) का संयोग' ही साधारण कारण है। 'किं तत्र प्रमाणम् ?' जन्यज्ञानमात्र के प्रति त्वङ्मनःसंयोग के कारण कहने में क्या प्रमाण है ? उत्तर देते हैं—'सुषुप्तिकाल'[2] इति । सुषुप्तिकाल (गाढ़ निद्रा की अवस्था) में यह 'मन' (मनस्), 'त्वक्' को छोड़कर 'पुरीतत्'[3] नाम की नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है। तब 'मन' का 'त्वगिन्द्रिय' के साथ संयोग नहीं रहता, इस कारण सुषुप्तिकाल में (गाढ़ निद्रा में) कोई किसी प्रकार का बाह्यज्ञान नहीं रहता। क्योंकि कार्याऽभाव (कार्य के न होने) में कारणाऽभाव (कारण का न होना) ही प्रयोजक (हेतु) होता है। एवञ्च गाढ़ निद्रा में ज्ञानाऽभाव रहने का कारण 'त्वङ्मनःसंयोगाभाव' ही कहना होगा। इस युक्ति के बल पर यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानसामान्य के प्रति 'त्वङ्मनःसंयोग' कारण है। यदि त्वङ्मनःसंयोग को ज्ञानत्वावच्छिन्न के प्रति (ज्ञानसामान्य के प्रति) कारण न कहें तो सुषुप्ति अवस्था में भी ज्ञान होना चाहिए, किन्तु उस अवस्था में कोई ज्ञान नहीं होता। तस्मात् त्वङ्मनःसंयोग को ज्ञानसामान्य के प्रति कारण कहने में 'सुषुप्तिकालीनज्ञाना-ऽनुत्पत्ति'[4] ही प्रमाण है। जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में मन का पुरीतत् नाड़ी में

१. 'ज्ञानाजननम्' इत्यत्र प्रमाणमित्यनुषज्यते ।

२. सुषुप्तिर्नाम गाढनिद्रानाड्यवच्छिन्नात्ममनोयोगः ।

३. गाढनिद्रानाडी पुरीतत् ।

४. अत्रेदं ज्ञातव्यम्——सांख्य मते सुषुप्तिर्द्विधा अर्धलय-समग्रलयभेदात् । अर्धलये विषयाकारा वृत्तिर्न भवति, किन्तु स्वगतसुख-दुख-मोहाकारैव बुद्धिवृत्तिर्जायते। समग्रलये तु बुद्धेर्वृत्तिसामान्याभावो मरणादाविव भवति। एवञ्च "सुषुप्त्याद्य-

प्रवेश न होने के कारण उसका त्वगिन्द्रिय के साथ सम्बन्ध रहता है, इस कारण इन दो अवस्थाओं में सब प्रकार का ज्ञान होता रहता है। गाढ़ निद्रा नाड़ी पुरीतत् के होने में श्रुति का प्रमाण—"हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते, ताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते।" (बृहदा० ५।१। २१) नवीन नैयायिक सुषुप्ति का क्रम इस प्रकार बताते हैं—प्रथमतः सुषुप्त्यनुकूलमनःक्रिया के द्वारा मन के साथ आत्मा का विभाग, तदनन्तर आत्ममनः-संयोगनाश, तदनन्तर पुरीततरूप उत्तर देश के साथ मन का संयोग होता है—इसी का नाम सुषुप्ति है।

ऊपर बता चुके हैं कि गाढ़ निद्रात्मक सुषुप्ति में किसी प्रकार का भी ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि ज्ञानमात्र के प्रति त्वङ्मनःसंयोग कारण होता है। किन्तु यहाँ इस प्रकार सोच सकते हैं कि ज्ञानमात्र के प्रति त्वङ्मनःसंयोग को कारण मानने की आवश्यकता नहीं है, सुषुप्ति में ज्ञानाभाव इसलिए होता है कि उस समय ज्ञानोत्पत्ति के लिये किसी प्रकार की कोई सामग्री नहीं है। जैसे चाक्षुष प्रत्यक्ष के समय चक्षुरिन्द्रिय और बाह्यपदार्थ का संयोग होता है, तब इन्द्रिय का मन से संयोग होता है। एवञ्च चाक्षुषप्रत्यक्ष में कारणीभूत इन्द्रियमनःसंयोग-रूप सामग्री जब रहती है तब चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है। उक्त करणीभूत सामग्री के न रहने पर चाक्षुषप्रत्यक्ष अपने आप नहीं होता। इसी प्रकार सामग्री के न रहने पर मानसप्रत्यक्ष भी नहीं होता तथा अनुमिति, उपमिति, शाब्दबोध भी नहीं होता, एवं उद्बोधकसामग्री के न रहने पर स्मरण (स्मृति) भी नहीं होता, उसी तरह सुषुप्ति में सामग्री का अभाव रहने पर ज्ञान का अभाव रहना सम्भव है। अतः त्वङ्मनःसंयोग को ज्ञानमात्र के प्रति कारण (निमित्त) मानना आवश्यक नहीं है। उक्त अभिप्राय को ही मन में रखकर अग्रिम ग्रन्थ को शंका के रूप में उपस्थित कर रहे हैं।

ननु सुषुप्तिकाले किं ज्ञानं भविष्यति अनुभवरूपं स्मरणरूपं वा। नाद्यः। अनुभवसामग्र्यभावात्। तथाहि प्रत्यक्षे चक्षुरादिना मनःसंयोगस्य हेतुत्वात्तदभावादेव न चाक्षुषादिप्रत्यक्षम्। ज्ञानादेरभावादेव न मानसं प्रत्यक्षम्। ज्ञानाद्यभावे चात्मनोऽपि न प्रत्यक्षमिति। एवं व्याप्तिज्ञानाभावादेव नानुमितिः। सादृश्यज्ञानाभावान्नोपमितिः। पदज्ञानाभावान्न शाब्दोबोधः। इत्यनु-

साक्षित्वम्" – (सां० सू० १।१४८) इत्यत्र भिक्षुणा व्याख्यातम्। वेदान्तिनां मते तु समग्रलये जीवः परमात्मना ऐक्यमाप्नोति। एवञ्च "स्वाप्ययात्"—(ब्र० सू० १।१।९) इत्यत्र" यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम"—(छां० उ० ६।८।१) इति श्रुतिमूलकं विवरीतं भगवच्छङ्करपादैः। मध्वमते—"तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तः"—(बृ० अ० उ० ६।३।१) इति श्रुत्या जीवः सुषुप्त्यवस्थायां परमात्मनः आलिङ्गनमात्रम्प्राप्नोति। तस्मात् परमात्मा लिङ्गनावस्थैव सुषुप्तिः।

भवसामग्र्यभावान्नानुभवः। उद्बोधकाभावाच्च न स्मरणम्। मैवम्, सुषुप्तिप्राक्कालोत्पन्नेच्छादिव्यक्तेस्तत्सम्बन्धेनात्मनश्च प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। तदतीन्द्रियत्वे मानाभावात् सुषुप्तिप्राक्काले निर्विकल्पकमेव नियमेन जायत इत्यत्रापि प्रमाणाभावात्।

शंका--सुषुप्ति के समय किस प्रकार का (कियद्धर्मावच्छिन्न) ज्ञान उत्पन्न होगा, अनुभवरूप (अनुभवत्वावच्छिन्न) या स्मरणरूप (स्मृतित्वावच्छिन्न) ? उनमें से प्रथम अनुभवरूप ज्ञान का होना तो सम्भव नहीं है, क्योंकि अनुभव की इन्द्रिय, व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान, पदज्ञानरूप सामग्री नहीं है। तथा हि–प्रत्यक्षात्मक अनुभव में भी चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति चक्षुर्मनःसंयोग कारण होता है, त्वाचप्रत्यक्ष के प्रति त्वङ्मनःसंयोग कारण होता है, रासनप्रत्यक्ष के प्रति रसनामनःसंयोग कारण होता है, घ्राणजप्रत्यक्ष के प्रति घ्राणमनःसंयोग कारण होता है। श्रावणप्रत्यक्ष के प्रति श्रोत्रमनःसंयोग कारण होता है। अतः 'तदभावादेव' अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ मनःसंयोगात्मक सामग्री के न रहने से ही चाक्षुषादिप्रत्यक्ष (बाह्यप्रत्यक्षात्मक अनुभव) नहीं होता है। इस पर यदि कोई कह दे कि बाह्य प्रत्यक्ष भले ही न हो, मानसप्रत्यक्ष तो हो ही जायेगा। इसलिये कहते हैं "ज्ञानादेरभावादेवेति।" मानसप्रत्यक्ष (अनुभव) दो प्रकार का होता है—एक तो आत्मवृत्तिज्ञानादिगुणविषयक और दूसरा आत्मविषयक। उसमें से पहला तो ज्ञानादिविशेषगुण का अभाव रहने से ही नहीं हो सकता और दूसरा अर्थात् आत्मविषयक प्रत्यक्ष (अनुभव) इसलिये नहीं होगा कि योग्यविशेषगुणात्मकज्ञानादि सामग्री का अभाव है और आत्मा का प्रत्यक्ष तो ज्ञानादिविशेषगुण के सम्बन्ध से ही हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि सुषुप्ति में सामग्री के न रहने से न बाह्य प्रत्यक्ष होता है और न मानसप्रत्यक्ष ही होता है। उसी तरह 'व्याप्तिज्ञानाभावादेवेति'। हेतुव्यापकसाध्यसामानाधिकरण्यात्मकव्याप्तिज्ञानरूप कारण के अभाव में अनुमितिरूप कार्य भी नहीं होता। 'सादृश्यज्ञानाऽभावादिति'। अनुयोगितासम्बन्ध से तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयो धर्मवत्त्व को 'सादृश्य' कहते हैं। जैसे—'गो सदृशो गवयः' इत्याकारकसादृश्यात्मक कारण के अभाव में उपमितिरूप कार्य भी नहीं होता। पदज्ञानाभावादिति। 'घटो घटपदवाच्यः' इत्याकारक शक्तिज्ञानसहकृतघटपटज्ञानात्मक कारण के अभाव में शाब्दबोधरूप कार्य भी नहीं होता। एवं स्मृतिजनक संस्कारों के उद्बोधक प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यादि के न होने से स्मृति (स्मरण का होना भी सम्भव नहीं। इस रीति से चतुर्विध अनुभवात्मकज्ञान की सामग्री के न रहने से सुषुप्ति में अनुभवात्मक ज्ञान का होना सम्भव ही नहीं है। एवञ्च सुषुप्ति में ज्ञान का अभाव तो सामग्री के अभाव से ही हो जाता है, उसके लिये 'त्वङ्मनःसंयोग' को ज्ञानमात्र का कारण (निमित्त) मानने की क्या आवश्यकता ?

समा०—मैवमिति। यदि ज्ञानसामान्य के प्रति त्वङ्मनःसंयोग को कारण नहीं

मानेंगे तो सुषुप्ति के प्रारम्भ होने से पूर्व अर्थात् सुषुप्तिप्रथमक्षणाऽव्यवहित पूर्वक्षण में (स्वप्न के अन्तिम क्षण में) आत्मा में जो ज्ञान, इच्छा आदि धर्म होंगे उनका प्रत्यक्ष सुषुप्ति में भी बना रहना चाहिए। इतना ही नहीं, बल्कि उनके द्वारा आत्मा का भी प्रत्यक्ष सुषुप्ति में होगा। स्वप्न के अन्तिम क्षण में (सुषुप्तिप्राक्काल में) उत्पन्न जो इच्छादिव्यक्ति अर्थात् 'इच्छाया आदि:' इस व्युत्पत्ति से इच्छा का आदि यानि इच्छा का कारण अर्थात् 'अयं घटः' इत्याकारक 'ज्ञानव्यक्ति' है। वह आत्मविषयकप्रत्यक्ष की कारणभूत विशेषसामग्री है, उसकी स्थिति सुषुप्ति के प्रथम क्षण में होने से उसके साथ मन का सयुक्तसमवायसम्बन्ध है। अतः आत्मा का ज्ञानादिगुणों के साथ सम्बन्ध हो जाने से 'अहं सुखी', 'अहं ज्ञानी' इत्याकारक आत्मप्रत्यक्ष का प्रसंग अवश्य प्राप्त होगा। किन्तु त्वङ्मनःसंयोग को ज्ञानसामान्य के प्रति कारण मानने पर सुषुप्ति प्रथमक्षण में त्वङ्मनःसंयोगात्मक कारण के न रहने से ज्ञान के प्रत्यक्ष का प्रसंग नहीं प्राप्त होगा, क्योंकि त्वङ्मनःसंयोग को स्वप्नान्तिमक्षण तक ही माना गया है। एवञ्च सुषुप्तिप्रथमक्षण में विशेषसामग्री के रहने पर भी सामान्यसामग्री के न रहने से प्रत्यक्ष का प्रसंग नहीं आता। यदि कोई यह कहे कि सुषुप्ति के पूर्व क्षण में उत्पन्न ज्ञानव्यक्ति (सुषुप्तिप्राक्कालीन ज्ञानव्यक्ति) अतीन्द्रिय होती है, इस कारण सुषुप्तिकाल में आत्मप्रत्यक्ष का प्रसंग नहीं प्राप्त होगा। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिप्राक्क्षण में उत्पन्न ज्ञानव्यक्ति को अतीन्द्रिय मानने में कोई प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं है। यदि यह कहें कि सुषुप्तिप्राक्काल में उत्पन्न ज्ञान (सुषुप्ति से पहले का ज्ञान) निर्विकल्पक है, अतः वह अतीन्द्रिय है, किन्तु ऐसा कहने में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि प्रकारता-संसर्गता विशेष्यताऽनवगाहिरूप निर्विकल्पक ज्ञान, सुषुप्ति के पूर्व क्षण में नियमेन उत्पन्न होता है इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है। निष्कर्ष यह है हि ज्ञानसामान्य (ज्ञानमात्र) के प्रति 'त्वङ्मनःसंयोग' को कारण न मानकर विशेष सामग्री को ही यदि कारण मान लिया जाय, तो स्वप्न के अन्तिम क्षण में उत्पन्न जो 'अहं सुखी' इत्याकारक ज्ञानरूप विशेषगुण है, वह आत्मविशेषगुण होने से उसे आत्मा के प्रत्यक्ष होने में कारणविशेष (विशेषसामग्री) माना जा सकता है और वह सुषुप्ति के प्रथम क्षण में विद्यमान है, अतः आत्मा का मानस प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, यह आपको हठात् स्वीकार करना होगा। लेकिन 'त्वङ्मनःसंयोग' को ज्ञान सामान्य के प्रति कारण मानने पर स्वप्न के अन्तिम क्षण तक ही स्थायी रहने वाले उसका (त्वङ्मनःसंयोग का) सुषुप्ति के प्रथम क्षण में नाश होता है, तब सामान्यकारण के न होने से आत्मविषयक प्रत्यक्ष कदादि नहीं हो सकेगा।

अथ ज्ञानमात्रे त्वङ्मनःसंयोगस्य यदि कारणत्वं तदा रासनचाक्षुषादिप्रत्यक्षकाले त्वाचप्रत्यक्षं स्यात्। विषयत्वक्संयोगस्य त्वङ्मनःसंयोगस्य च (तत्र) सत्त्वात्। परस्परप्रतिबन्धादेकमपि वा न स्यादिति।

अत्र केचित् पूर्वोक्तयुक्त्या त्वङ्मनोयोगस्य ज्ञानहेतुत्वे सिद्धे चाक्षुषादिसामग्र्याः स्पार्शनादिप्रतिबन्धकत्वमनुभवानुरोधात्कल्प्यत इति।

अन्ये तु सुषुप्त्यनुरोधाच्चर्ममनःसंयोगस्य ज्ञानहेतुत्वं कल्प्यते चाक्षुषादिप्रत्यक्षकाले त्वङ्मनःसंयोगाभावान्न स्पार्शनप्रत्यक्षमिति वदन्ति।

॥ इति त्वङ्मनःसंयोगस्य ज्ञानहेतुत्वनिरूपणम् ॥

शंका—त्वङ्मनःसंयोग को ज्ञानसामान्य के प्रति कारण न माननेवाला शंका कर रहा है–'अथेति'। ज्ञानसामान्य के प्रति त्वङ्मनःसंयोग को कारण मानने पर जब आम्रफल के रस का रासनप्रत्यक्ष किया जाता है और उसी समय उसके (आम्र के) रूप का चाक्षुषप्रत्यक्ष भी किया जाता है, उस समय आम्रफल के साथ त्वक् संयोग भी रहता ही है। अतः रासन और चाक्षुष प्रत्यक्ष के साथ ही त्वाचप्रत्यक्ष भी होना चाहिए। क्योंकि सामग्री पूरी-पूरी विद्यमान है। मुक्तावलिकार हेतु बताते हैं कि 'विषयत्वक्संयोगस्य त्वङ्मनःसंयोगस्य च सत्त्वात्' अर्थात् विषय-आम्रादि फल, उसके साथ त्वक्संयोग रहता ही है और त्वक् के साथ मनःसंयोग रहता है। इसलिए चाक्षुष तथा रासनप्रत्यक्ष के साथ ही त्वाचप्रत्यक्ष भी होना चाहिए। इस अवसर पर यदि यह कहा जाय कि चक्षुःसंयोगरूप चाक्षुषसामग्री अथवा रसनासंयुक्तसमवायरूप रासनसामग्री को हम स्पार्शनप्रत्यक्षज्ञान के प्रति प्रतिबन्धक मान लेंगे। किन्तु इस प्रकार प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव मान लेने पर तो 'परस्परप्रतिबन्धादेकमपि वा न स्यात् इति।' अर्थात् रासनसामग्री में स्पार्शनज्ञान की प्रतिबन्धकता और त्वग्विषयसंयोगरूपस्पार्शनसामग्री में रासनज्ञान की प्रतिबन्धकता रहेगी। उसी प्रकार चाक्षुषसामग्री में स्पार्शनज्ञान की प्रतिबन्धकता और स्पार्शनसामग्री में चाक्षुषज्ञान की प्रतिबन्धकता रहेगी। इस रीति से दोनों सामग्रियाँ परस्पर प्रतिबन्धक हो जाने से किसी एक का भी (रासनप्रत्यक्ष या त्वाचप्रत्यक्ष तथा चाक्षुषप्रत्यक्ष या त्वाचप्रत्यक्ष) प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो पायेगा। क्योंकि रासनसामग्री और त्वाचसामग्री में परस्पर प्रतिबन्धकता है उसी तरह चाक्षुषसामग्री और त्वाचसामग्री परस्पर प्रतिबन्धकता है। निष्कर्ष यह है कि एक प्रकार के प्रत्यक्ष की सामग्री अन्य प्रकार के प्रत्यक्ष पर प्रतिबन्ध लगा दे तो चाक्षुष या रासन या त्वाचप्रत्यक्ष में से कोई भी प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा।

समा०—ज्ञानमात्र (ज्ञानसामान्य) के प्रति त्वङ्मनःसंयोग को कारण मानने वाला उपर्युक्त शंका का समाधान कर रहा है—'अत्र केचिदिति' यहाँ 'केचित्' पद से त्वङ्मनःसंयोगनिष्ठ ज्ञानसामान्य-कारणतावादी को समझना चाहिए। यह कहता है—सुषुप्तिकाले त्वचं त्यक्त्वा पुरीतति वर्तमानेन मनसा ज्ञानाऽजननमित्याकारिकाया युक्त्या त्वङ्मनःसंयोग में ज्ञानकारणता की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाने पर चक्षुःसंयोगादिरूप चाक्षुषसामग्री स्पार्शनादि प्रत्यक्ष की प्रतिबन्धक है वह समझ में आ जाता है। एवं च चाक्षुषादि प्रत्यक्षसामग्री, स्पार्शनप्रत्यक्ष की प्रतिबन्धक

रहने से चाक्षुषप्रत्यक्ष के समय त्वङ्मनःसंयोग के रहने पर भी स्पार्शनप्रत्यक्षज्ञान नहीं होगा। अर्थात् त्वाचप्रत्यक्ष तभी होता है जब चाक्षुष या रासनप्रत्यक्ष की सामग्री न हो, क्योंकि चाक्षुष या रासनप्रत्यक्ष की सामग्री उसकी (त्वाचप्रत्यक्ष की) प्रतिबन्धक है। अतः त्वाच प्रत्यक्ष में स्वप्रतिबन्धकाभाव का होना आवश्यक है। एवं च चाक्षुष–रासन सामग्री में परस्पर प्रतिबन्धकता न होने से चाक्षुष या रासन प्रत्यक्ष के होने में तो कोई बाधा नहीं है, वह तो हो जायेगा, किन्तु त्वाच-प्रत्यक्ष के प्रति चाक्षुष–रासन–सामग्री ही प्रतिबन्धक होने से केवल त्वाचप्रत्यक्ष ही नहीं होगा, यह हमारा अनुमान अनुभव के बल पर है। तथाहि—'घट-चक्षुरिन्द्रिय-सन्निकर्षः, स्पार्शन प्रत्यक्षप्रतिबन्धकः, रूपीघटः इत्याकारकज्ञानजनकत्वात् (रूप-विशिष्टघटविषयकज्ञानजनकत्वात्), यन्नैवं तन्नैवं, यथा त्वाचसन्निकर्षः।' यह अनुमान प्रयोग है।

प्रस्तुत समस्या का समाधान करने के लिए पक्षधरमिश्र एक अन्य मार्ग का अवलम्बन कर रहे हैं—'अन्ये तु इति।' ये मिश्रमहोदय ज्ञानसामान्य के प्रति पूर्वोक्त त्वङ्मनःसंयोग (त्वङ्मनोयोग) को कारण न कहकर (ज्ञानसामान्य के प्रति) 'चर्म-मनःसंयोग' को कारण बता रहे हैं। इनके अनुसार सुषुप्ति में ज्ञान इसलिए नहीं हो पाता कि उस समय (सुषुप्ति के समय) मन (मनस्) निद्रानाडी (पुरीतत् नाडी) में प्रविष्ट हो जाता है, अतः मन और चर्म का संबंध (सयोग) नहीं रहता। चर्म और त्वगिन्द्रिय पर्याय शब्द नहीं हैं, दोनों परस्पर भिन्न हैं। चर्म तो 'त्वगिन्द्रिय' का गोलकस्थान है। अर्थात् 'चर्म' में 'त्वगिन्द्रिय' रहती है। वस्तुतः त्वगिन्द्रिय, चर्म से भिन्न है। उस चर्म के साथ होनेवाला जो मनःसंयोग है, वह ज्ञानसामान्य के प्रति कारण (हेतु) है, यह अनुमानप्रमाण से अवगत होता है। तथा हि–'चर्म-मनःसंयोगः, ज्ञानसामान्यकरणं, ज्ञानसामान्याभावधिकरणसुषुप्त्य-वच्छिन्नाभावप्रतियोगित्वात्।' पक्षधरमिश्र के ऊहित कल्प के अनुसार चाक्षुष-रास-नादि प्रत्यक्ष के समय उक्त स्पार्शनप्रत्यक्षापत्तिरूप दोष नहीं होगा, क्योंकि उस समय मन का त्वगिन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं है। अर्थात् त्वङ्मनःसंयोगात्मिका स्पार्शनप्रत्यक्ष-विशेषसामग्री नहीं है। और परस्पर प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावकल्पना-गौरव भी नहीं है। निष्कर्ष—पक्षधर मिश्र के मत में—ज्ञान सामान्य के प्रति चर्ममनःसंयोग कारण है, और विशेषज्ञान में तत्तदिन्द्रिय-मनःसंयोग कारण है। जाग्रत और स्वप्न में सर्वदैव चर्ममनःसंयोग के विद्यमान रहने पर भी जिस विशेष इन्द्रिय के साथ मनःसंयोग रहेगा तज्जन्य प्रत्यक्ष होगा, अन्य नहीं। केचित् पक्ष में–ज्ञान-सामान्य के प्रति त्वङ्मनःसंयोग को हेतु मानने में और स्पार्शनप्रत्यक्ष में चाक्षुषादि सामग्री को प्रतिबन्धक मानने में गौरव है।

अन्ये तु कल्प में—चर्म-मनःसंयोग को हेतु मानने में गौरव है, यही अस्वा-रस्य है।

॥ इति त्वङ्मनःसंयोगस्य ज्ञानहेतुत्वव्यवस्थापनम् ॥

मनोग्राह्यं सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो मतिः कृतिः ॥५७॥

अर्थ--सुख दुःख, इच्छा, द्वेष, मति (बुद्धि), कृति (प्रयत्न) ये सब तथा सुखत्वादि जातियाँ तथा सुखाद्यभाव और सुखत्वाद्यभाव ये सब मन से ग्राह्य होते हैं।

मनोग्राह्यमिति। मनोजन्यप्रत्यक्षविषय इत्यर्थः। मतिर्ज्ञानम्। कृतिः प्रयत्नः। एवं सुखत्वदुःखत्वादिकमपि मनोग्राह्यम्। एवमात्मापि मनोग्राह्यः, किन्तु मनोमात्रस्य गोचर इत्यनेन पूर्वमुक्तत्वादत्र नोक्तः ॥ ५७ ॥

॥ इति मनोग्राह्यविषयनिरूपणम् ॥

'मनोग्राह्यमिति।' 'मनोग्राह्यम्' का अर्थ कर रहे हैं--मनस् (मन) संज्ञक इन्द्रिय से उत्पन्न होनेवाले प्रत्यक्ष का विषय होना। यानी मानोमात्रजन्य अर्थात् मानसत्वाश्रयनिरूपितलौकिक विषयतावाला होना। ऐसा परिष्कार करने से चाक्षुष प्रत्यक्ष में कोई क्षति नहीं पहुँची क्योंकि चाक्षुषादि प्रत्यक्ष भी मनोजन्य हैं, तथापि उसमें मानसत्वाश्रयनिरूपितलौकिकसन्निकर्षप्रयोज्यविषयता नहीं है। करणव्युत्पत्ति के द्वारा 'मति' शब्द चक्षुरादिप्रमाणपरक है, यह कहने के लिए 'मति' का अर्थ 'ज्ञान' बताया। उसी तरह करण व्युत्पत्ति के द्वारा 'कृति' शब्द, कृति-साधनपरक होने से 'कृति' का अर्थ 'प्रयत्न' किया है। एवं सुखत्व आदि जातियाँ भी मनइन्द्रिय से ग्राह्य हैं। 'आदि' शब्द से इच्छात्व आदि, सुख, सुखत्वाद्यभाव को समझना चाहिए। आत्मा भी मनोग्राह्य है तो उसे यहाँ पर क्यों नहीं बताया? इसलिए नहीं बताया कि पहले 'मनोमात्रस्य गोचरः'—(कारि-५०) द्वारा उसे मनोग्राह्य बता दिया गया है, यहाँ पुनः कहते तो पुनरुक्ति हो जाती, इसलिये यहाँ नहीं कहा ॥ ५७ ॥

॥ इति मनोग्राह्यविषयनिरूपणम् ॥

ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते।
महत्त्वं षड्विधे हेतुरिन्द्रियं करणं मतम् ॥ ५८ ॥

अर्थ--निर्विकल्पक जो ज्ञान है, उसे अतीन्द्रिय माना जाता है। निर्गतो विकल्पो विशेषण-विशेष्यभावः यस्मात् तत् निर्विकल्पकम्, तदेव आख्या यस्य तत् निर्विकल्पाख्यं। विशेषण-विशेष्यभाव जिस ज्ञान में न हो उसे 'निर्विकल्प' यह नाम दिया गया है। वह निर्विकल्पसंज्ञक ज्ञान, अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों के परे है, यानी इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है, ऐसा नैयायिक लोग मानते हैं। निष्कर्ष यह है कि 'विषयता' तीन प्रकार की होती है—१. विशेष्यताख्य विषयता, २. विशेषण-ताख्यविषयता, ३. संसर्गताख्याविषयता। इन त्रिविध विषयताओं से अतिरिक्त एक चतुर्थ विषयता निरूपक जो ज्ञान हो उसे 'निर्विकल्पकज्ञान' कहते हैं, जैसे 'किञ्चित्' यह ज्ञान, निर्विकल्पक है। इस निर्विकल्पक ज्ञान को कुमारिलभट्टपाद ने अपने श्लोकवार्तिक में इस प्रकार बताया है—

"अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥"

'शुद्धवस्तुजम्' का अर्थ है विशेषण-विशेष्यभावानुल्लेखि । घ्राणज, रासन, श्रोत्रज, स्पार्शन और मानस इन षड्विध (छह प्रकार के) प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्व (महत् परिमाण), साक्षात्सम्बन्ध (समवाय) और परम्परासम्बन्ध (समवेत-समवाय आदि) से कारण होता है । अर्थात् जन्यप्रत्यक्षसामान्य के प्रति लौकिक-विषयता-सम्बन्ध से 'महत्त्व' को कारण (नियत पूर्ववृत्ति) समझा जाता है । उक्त छहों प्रकार के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय (चक्षुरादि इन्द्रिय) करण (असाधारण कारण) होता है । यहाँ समझ लेना चाहिए—प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार का है—एक तो 'अयं घटः' इत्याकारक सविकल्पज्ञान और एक सविकल्पज्ञान से पहिले होने वाला 'इदं किञ्चित्'—यह कुछ है—इत्याकारक निर्विकल्पकज्ञान । इस निर्विकल्पकज्ञान को सविकल्पकज्ञान के पूर्व अवश्य मानना पड़ता है ।

चक्षुःसंयोगाद्यनन्तरं 'घट' इत्याकारकं घटत्वादिविशिष्टं ज्ञानं न सम्भवति, पूर्वं विशेषणस्य घटत्वादेर्ज्ञानाभावात् । विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात् । तथा च प्रथमतो घटघटत्वयोर्वैशिष्ट्यानवगाह्येव ज्ञानं जायते । तदेव निर्विकल्पकम् । तच्च न प्रत्यक्षम् ।

घट के साथ चक्षुरिन्द्रिय का संयोग सम्बन्ध होने के पश्चात् ही तत्काल 'किञ्चित्' (कुछ है) यह ज्ञान होता है । यहाँ पर 'घटत्व' और 'घट' स्वतन्त्ररूप से भासित होते हैं, उनमें कोई सम्बन्ध नहीं होता । इसलिये 'घटत्व-घटौ' इत्याकारक होने वाले ज्ञान को ही 'वैशिष्ट्या (सम्बन्धा) नवगाहि' कहते हैं इस अवस्था में उनके पृथक् पृथक् भासने से और उनमें विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध न होने से हमें उस निर्विकल्पकज्ञान का साक्षात्कार भी नहीं हो सकता । इसलिये निर्विकल्पकज्ञान को अतीन्द्रिय अर्थात् प्रत्यक्षायोग्य माना गया है । और इसी ज्ञान को 'निर्विकल्पक' कहा जाता है । इसके पश्चात् 'अयं घटः' (घटत्वविशिष्टो घटः) इत्याकारक अर्थात् घटत्वादिविशिष्ट (समवायेन घटत्वविशिष्ट) जो व्यवसायात्मक ज्ञान होता है, उसे 'सविल्पक' कहते हैं । सविल्पकज्ञान होने के पश्चात् 'घटमहं जानामि' (घटविषयक-ज्ञानवानहम्) इत्याकारक अनुव्यवसायात्मक ज्ञान होता है, इस ज्ञान को 'विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान' कहते हैं । इतना समझ लेने के बाद अब मुक्तावली 'चक्षुःसंयोगाद्यनन्तरं' को पढ़िये । चक्षुरिन्द्रिय और घट का संयोग होने के बाद सबसे पहिले 'घटः' अर्थात् अयं घटः=यह घट (घटत्ववान् घटः) है' इत्याकारक घटत्वादि-विशिष्टज्ञान (सविकल्पकज्ञान) नहीं होता अभिप्राय यह है—अयं घटः इत्याकारकज्ञान, घटत्वादिप्रकारक घटत्ववद्विशेष्यकस्वरूप जो विशिष्टज्ञान है, यह उत्पन्न नहीं हो सकता । क्योंकि अयं घटः (घटत्ववान् घटः) इत्याकारक ज्ञान के अव्यवहित पूर्व (प्राक्) क्षण में ('यह घट है' इस

ज्ञान से पहिले) 'घट' और 'घटत्व' का विशेष्य-विशेषणभाव से रहित (वैशिष्ट्या-नवगाहि) ज्ञान होता है। अर्थात् 'अयं घटः' इस सविकल्पकज्ञान होने के पहिले विशिष्टज्ञान-निरूपितविशेषणताश्रयस्वरूप विशेषणभूत घटत्व और समवाय का कारणत्वेनरूपेण (कारण के रूप में) ज्ञान नहीं है।

शंका—विशेषणज्ञान के न होने पर विशिष्टज्ञान के न होने में क्या कारण है?

समा०—विशिष्टबुद्धाविति। अयं घटः (घटत्ववान् घटः) इस विशिष्टज्ञान के प्रति विशेषण (घटत्व) का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान कारण होता है। क्योंकि 'नाऽगृहीतविशेषणा बुद्धिः विशिष्टे उपजायते' यह नियम है। इसलिए 'घटत्व-घटौ' इस निर्विकल्पात्मक ज्ञान को मध्य में अवश्य मानना ही होगा। अनुमान इस प्रकार करेंगे—"अयं घट इति विशिष्टबुद्धिः विशेषणज्ञानजन्या, विशिष्ट बुद्धित्वात्, दण्डीपुरुष इति विशिष्टबुद्धिवत्।" इसी को स्पष्ट करते हैं-'तथा चेति।' घट और घटत्व (विशेष्य और विशेषण) का अर्थात् धर्मी और धर्म का 'वैशिष्ट्यानवगाहि एव' अर्थात् विशेष्यत्व, प्रकारत्व, संसर्गत्व को विषय न करने वाला ही ज्ञान होता है। इसी वैशिष्ट्यनिष्ठ सांसर्गिक विषयतानिरूपितविषयिताशून्य ज्ञान को निर्विकल्पकज्ञान कहते हैं। और यह निर्विकल्पक ज्ञान इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य नहीं होता (निर्विकल्पक ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता अर्थात् वह अनुमेय है। निष्कर्ष यह है—'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान, विशिष्ट ज्ञान है, क्योंकि इस ज्ञान में घट-घटत्व और दोनों का सम्बन्ध भासित होता है। उनमें 'घटत्व' विशेषण (प्रकार) है, और 'घट' विशेष्य है तथा जातिव्यक्तिरूप उन दोनों का परस्पर जो 'समवाय' है, वही सम्बन्ध है। 'अयं घटः' 'इत्याकारक ज्ञान के ये तीन ही विषय होते हैं। और विशिष्ट ज्ञान, सर्वदा विशेषण ज्ञान पूर्वक ही होता है। यह नियम है। एवं च इसके पूर्व घट-घटत्व का पृथक्-पृथक् (विशकलित) जो ज्ञान हुआ था, वही वैशिष्ट्यानवगाहि 'इमे घट-घटत्वे' इत्याकारक निर्विकल्पक ज्ञान था। वह निर्विकल्पक ज्ञान अनुमेय है, प्रत्यक्ष नहीं। सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

"नामादिभिर्विशिष्टार्थ विषयं सविकल्पकम्।
अविशिष्टार्थविषयम्प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्।"—तार्किकरक्षा

नामादि विशेषण शून्य स्वलक्षणमात्र विषयक निर्विकल्पक होता है। अर्थात् विशेष्य-विशेषण-सम्बन्ध-एतत् त्रितयातिरिक्त विषयता निरूप्य यह ज्ञान है।

तथाहि वैशिष्ट्यानवगाहिज्ञानस्य प्रत्यक्षं न भवति 'घटमहं जानामी'ति प्रत्ययात्। तत्रात्मनि ज्ञानं प्रकारीभूय भासते। ज्ञाने घटस्तत्र घटत्वम्। यः प्रकारः स एव विशेषणमित्युच्यते। विशेषणे यद्विशेषणं तद्विशेषणतावच्छेदकमित्युच्यते। विशेषणतावच्छेदकप्रकारकं ज्ञानं विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञाने कारणम्। निर्विकल्पके च घटत्वादिकं न प्रकारस्तेन घटत्वादिविशिष्टघटादिवैशिष्ट्यमानं

ज्ञाने न सम्भवति। घटत्वाद्यप्रकारकं च घटादिविशिष्टज्ञानं सम्भवति। जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थज्ञानस्य किञ्चिद्धर्मप्रकारकत्वनियमात्।

॥ इति निर्विकल्पकस्याऽतीन्द्रियत्वनिरूपणम् ॥

ऊपर बता चुके हैं कि निर्विकल्पक ज्ञान अतीन्द्रिय होता है अर्थात् मानस प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। परन्तु क्यों नहीं होता? यह प्रश्न करने पर उत्तर दे रहे हैं–"तथा हीति"। उसी ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, जिसमें विशेष्य विशेषण भाव रहता है। अर्थात् जिस ज्ञान में विशेष्य-विशेषण भाव नहीं रहता उसका प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। ज्ञान में विशेष्य-विशेषणभाव रहने का अर्थ यह है कि ज्ञान में उद्देश्य-विधेयभाव हो। अर्थात् किसी वस्तु के विषय में कुछ कहा जाय।

क्वचित् विशेष्य-विशेषण भाव रहित भी दो पदार्थों का ज्ञान यद्यपि होता है, जैसे निर्विकल्पक दशा में 'घट' और 'घटत्व' का ज्ञान हुआ करता है। किन्तु उस ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष (अनुव्यवसाय) ज्ञान नहीं होता, यह बात अनुभवसिद्ध है। 'अहं घटं जानामि'––मैं घट को जानता हूँ—यह आकार, ज्ञान के प्रत्यक्ष होने का है। यहाँ 'घट' का अर्थ होता है 'घटत्ववान् घटः'–'घटत्व' विशेषण से युक्त घट अर्थात् घटत्वावच्छिन्न घट। इसी मानस प्रत्यक्ष (अनुव्यवसाय) का विश्लेषण मुक्तावलीकार कर रहे हैं। हमारे व्यावहारिक प्रयोजन निष्पादक सभी ज्ञानों में विशेष्य-विशेषण भाव रहता है, यह ऊपर कहा ही गया है। 'अहं घटं जानामि' यह ज्ञान 'अनुव्यवसाय' (मानस प्रत्यक्ष) रूप है। इसका अर्थ है 'घटज्ञानवान् अहम्'। इसमें 'मैं' (आत्मा) विशेष्य है, और उसका विशेषण 'ज्ञान' है। ज्ञान (व्यवसाय) का स्वरूप है 'अयं घटः'—यह घट है––यह ज्ञान चाक्षुषप्रत्यक्षात्मक है। इस चाक्षुषप्रत्यक्षात्मक ज्ञान में 'घट' विशेषण है, किन्तु 'घट' का अर्थ है 'घटत्व-विशिष्ट घट'। इस कथन का विश्लेषण यह हुआ कि 'ज्ञान' में 'घट' विशेषण है और 'घट' में 'घटत्व' विशेषण है। एवं च 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान में 'घटत्वविशिष्ट घट' भासित होता है। विशेषण से जो युक्त होता है उसे 'विशिष्ट' कहते हैं। विशेषण का कार्य व्यावर्तन (अलग या पृथक् करना) करना है। इसलिये विशेषण को व्यावर्तक कहते हैं। व्यावर्तक का अर्थ है दूसरों से अलग (पृथक्) करने वाला। जैसे 'लाल पुष्प' को अन्य सफेद, पीले, नीले, गुलाबी आदि रंगों के पुष्पों से पृथक् (अलग) कर दिया है। इसलिए 'लाल' विशेषण को व्यवहार की भाषा में व्यावर्तक कहा जायेगा। इसी व्यावर्तक (विशेषण) को नैयायिक विद्वान् 'अवच्छेदक' शब्द से कहते हैं। क्योंकि दूसरों से अलग करने वाले को ही 'अवच्छेदक' कहते हैं। यह समझ लेने के बाद अब प्रस्तुत प्रसंग को सोचिये। 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान में 'घट' विशेषण है, इसने दूसरे-दूसरे (अन्यान्य) ज्ञानों से प्रस्तुत ज्ञान (अयं घटः इत्याकारक ज्ञान) को पृथक् कर दिया है। ऊपर बता चुके हैं कि 'घट' का अर्थ है

'घटत्वविशिष्ट घट'। अतः स्पष्ट है कि 'घट' में 'घटत्व' विशेषण है। अर्थात् 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान में विशेषणीभूत 'घट' का 'घटत्व' विशेषण हुआ। न्याय में विशेषण को ही 'अवच्छेदक' कहते हैं। अतः 'घटत्व' अवच्छेदक कहलाया। इससे यह समझ में आया कि ज्ञान में विशेषणीभूत 'घट' की विशेषता 'घटत्व' से अवच्छिन्न है, यानि विशेषणीभूत घटनिष्ठ विशेषणता का अवच्छेदक 'घटत्व' है। एवं च 'घटत्व' को घटनिष्ठ विशेषणता का अवच्छेदक कहा जाता है। अतः घटत्वावच्छिन्न घट कहने पर घटत्वावच्छिन्ना घटनिष्ठा विशेषणता समझनी चाहिए। इसी प्रकार 'अहं घटं जानामि' इत्याकारक अनुव्यवसायात्मक (मानस प्रत्यक्षात्मक) जो ज्ञान है, वही 'विशिष्टवैशिष्ट्य ज्ञान है, क्योंकि 'अयं घटः' यह विशिष्ट (विशेष्य-विशेषण भावयुक्त) ज्ञान है और 'अहं घटं जानामि' यह ज्ञान 'अयं घटः' इस विशिष्ट ज्ञान की विशिष्टता (विशेषणता) से युक्त है। इस कारण 'अहं घटं जानामि' इस अनुव्यवसायज्ञान को 'विशिष्ट-वैशिष्ट्यज्ञान' समझना चाहिए। इस अनुव्यवसाय ज्ञान के प्रति 'घटत्वविशिष्टघट' का ज्ञान कारण है। 'घटत्वविशिष्टघटज्ञान' को ही 'विशेषणतावच्छेदक प्रकारकज्ञान' कहते हैं। अर्थात् 'विशेषणतावच्छेदक' जो 'घटत्व' वह है 'प्रकार' (विशेषण) जिस ज्ञान में—ऐसा ज्ञान। यह अनुभव होता है, इसके बलपर ही यह कहा जा रहा है कि अनुव्यवसाय (मानसप्रत्यक्ष) ज्ञान तभी होता है कि जब ज्ञान के विषय में कोई विशेषणता हो अर्थात् 'ज्ञान' विशेषणरहित (निष्प्रकारक) न हो। निर्विकल्पकज्ञान का स्वरूप ही यह है कि वह निर्विशेषण (निष्प्रकारक) होता है। यद्यपि निर्विकल्पकज्ञान में 'घट' और 'घटत्व' दोनों का ज्ञान होता है, तथापि उस ज्ञान में 'विशेष्य-विशेषणभाव' नहीं है, अतः उस ज्ञान को निष्प्रकारक होने से उस (निर्विकल्पकज्ञान) का मानसप्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसलिए इस निर्विकल्पकज्ञान को 'अतीन्द्रिय' कहा जाता है। 'अयं घटः' इत्यकारकज्ञान को विशिष्टज्ञान तभी कहा जा सकेगा जब कि 'घट' में 'घटत्व' प्रकार (विशेषण) होगा। 'घटत्व' को 'घट' में प्रकार (विशेषण) किये बिना 'अयं घटः' इस ज्ञान को विशिष्टज्ञान नहीं कहा जायेगा। क्योंकि 'जाति' और 'अखण्डोपाधि' को छोड़कर सभी पदार्थ का ज्ञान किसी विशेषणता (प्रकारता) को लेकर ही होता है और तभी उसका मानसप्रत्यक्ष हो पाता है। यदि उस ज्ञान में कोई विशेषणता न हो तो उसका प्रत्यक्ष न होगा। इसी कारण निर्विकल्पज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता अर्थात् उसे अतीन्द्रिय कहा जाता है। प्रत्येक पदार्थ (वस्तु) का ज्ञान किसी न किसी विशेषणता (प्रकारता) के साथ होता है, किन्तु 'जाति' और 'अखण्डोपाधि' का ज्ञान प्रकारता (विशेषणता के) बिना ही होता है। क्योंकि 'घट' का ज्ञान तो 'घटत्व' की विशेषण के साथ ही होता है, और यदि 'घटत्व' का ज्ञान भी किसी अन्य (दूसरी) विशेषणता के साथ माना जाय तो अनवस्था ही जायेगी। इस कारण 'जाति' और 'अखण्डोपाधि' का ज्ञान बिना प्रकारता (विशेषणता) के ही स्वीकार किया गया है। पदार्थों (वस्तुओं) में रहनेवाले

सामान्यधर्म दो प्रकार के होते हैं—एक तो नित्यधर्म 'सामान्य' (जाति) के रूप में जिन धर्मों का संसार में अस्तित्व है, जैसे (गो=गाय) में रहने वाला 'गोत्व', घट, पट में रहने वाला 'घटत्व-पटत्व' आदि, धर्मों का संसार में अस्तित्व है। किन्तु कतिपय सामान्य धर्म ऐसे भी हैं, जिनका संसार में वस्तुतः अस्तित्व नहीं है, तथापि कल्पना के बलपर माने जाते हैं। कतिपय समान गुणों के कारण उन धर्मों की भी कल्पना कर ली जाती है और उन्हें 'सामान्यधर्म' या 'उपाधि' कहते हैं। सभी गौओं में समानता की प्रतीति होती है, इसलिए 'गोत्व' को सामान्य (जाति) के रूप में कहा जाता है। उसी तरह भारतीयों में विदेशियों में भी भारतीयत्व-विदेशीयत्व धर्म को सामान्य (जाति) के रूप में नहीं माना जायगा, अपितु इन धर्मों को 'उपाधि' के रूप में माना जायेगा जिसकी कल्पना अपने विचार या बुद्धि के बल पर की जाती है, उसे नित्य नहीं कहा जा सकता वह केवल मानसिक होने के कारण संसार में उसका वास्तविक रूप में अस्तित्व नहीं है, अपितु केवल व्यावहारिक अस्तित्व है। ऐसे धर्मों को 'उपाधि' कहते हैं। जाति' का वास्तविक अस्तित्व हो जाता है। और 'उपाधि' का काल्पनिक अस्तित्व होता है, जाति और उपाधि में भेद है। 'गोत्व' 'मनुष्यत्व' 'घटत्व' आदि धर्म 'जाति' रूप हैं और प्रतियोगित्व, अनुयोगित्व आदि धर्म 'उपाधि' रूप हैं। यह उपाधि भी दो प्रकार का है-एक सखण्डोपाधि और दूसरा अखण्डोपाधि। जिन उपलब्धियों का निरूपण (निर्वचन) किया जा सकता है, जैसे-भारतीयत्व (भारत में उत्पन्न होना), विदेशीयत्व (विदेश में उत्पन्न होना) आदि। परन्तु जिनका निरूपण (निर्वचन) नहीं किया जा सकता, उन्हें अखण्डोपाधि कहते हैं। जैसे—आकाशत्व, प्रतियोगित्व, अनुयोगित्व आदि। एवं च जाति और उपाधि का भी ज्ञान बिना विशेषणता (प्रकारता) के ही होता है। अन्यथा अनवस्था दोष होगा। जात्यादि धर्मों का निरवच्छिन्नज्ञान होता है किन्तु तद्भिन्न जातिमदादिपदार्थों का ज्ञान किसी न किसी विशेषण से अवच्छिन्न ही हुआ करता है, यह नियम है। इस कारण घटत्वादि धर्मों का (विशेषणों का) निर्विकल्पकज्ञान ही होता है। यह अवश्य स्वीकार करना होगा। नैयायिकों के अनुसार निर्विकल्पज्ञान वह है जिसमें नाम, जाति आदि का सम्बन्ध न हो और जो निष्प्रकारक (विशेषणमात्र) हो तथा जो केवल वस्तुस्वरूपमात्र का ग्रहण करता हो। जैसे "किञ्चिदिदम्" अथवा दूर से "अस्ति किञ्चित्"।

सांख्य के अनुसार 'आलोचनात्मकज्ञानविशेष' निर्विकल्पकज्ञान है। अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार जिस ज्ञान में ज्ञातृ-ज्ञेय आदि विभाग न हो, और ब्रह्म—आत्मा की एकता जिसका विषय हो तथा विशेष्य-विशेषण-भावसम्बन्धशून्य, अखण्डकार जो ज्ञान हो, वह निर्विकल्पकज्ञान है। प्राभाकरमीमांसक 'निर्विकल्पज्ञान' को ही नहीं मानते। इनके मत में विशिष्टज्ञान के प्रति 'विशेषणज्ञान' की कारणता नहीं है। द्रव्यविशिष्टप्रत्यक्ष में प्रतिसन्धानविशिष्ट की भी कारणता होती है।

पदार्थ रत्नमालाकार ने कहा है—

"विशेषणं विशेष्यञ्च सम्बन्धं लौकिकीं स्थितिम् ।
गृहीत्वा सङ्कलय्यैतत् तथा प्रत्येति नान्यथा ॥"

अर्थ—उक्त षड्विध प्रत्यक्ष में अर्थात् चाक्षुष, रासन, घ्राणज, श्रोत्रज, त्वाच, और मानस प्रत्यक्ष में 'महत्त्व' परिमाण को कारण माना जाता है। अर्थात् लौकिक विषयता सम्बन्ध से जन्य प्रत्यक्ष सामान्य के प्रति, 'महत्त्व' (महत् परिमाण) नियत् पूर्ववृत्ति (कारण) होता है।

महत्त्वमिति। द्रव्यप्रत्यक्षे महत्त्वं समवायसम्बन्धेन कारणम्। द्रव्यसमवेतानां गुणकर्मसामान्यानां प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन कारणम्। द्रव्यसमवेतसमवेतानां गुणत्वकर्मत्वादीनां प्रत्यक्षे स्वाश्रय समवेतसमवायसम्बन्धेन कारणमिति।

उपर्युक्त महत्त्व (महत् परिमाण) किस किस सम्बन्ध से कहाँ कहाँ कारण होता है यह बता रहे हैं—"द्रव्यप्रत्यक्ष" इति। लौकिक सन्निकर्षप्रयोज्यविषयता सम्बन्ध से द्रव्यवृत्ति चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति और स्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रति समवाय सम्बन्ध से 'महत्-परिमाण' (महत्त्व) कारण होता है। क्योंकि 'महत्त्व' गुण है और 'द्रव्य' गुणी है। गुण और गुणी का सम्बन्ध 'समवाय' माना गया है। अर्थात् जिस द्रव्य में 'महत्त्व' समवेत (समवाय सम्बन्ध से रहता) हो, उसी द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है, दूसरे का नहीं। द्रव्य में समवेत (समवाय सम्बन्ध से रहने वाले) गुण, कर्म, और सामान्य (जाति) के लौकिकसन्निकर्षप्रयोज्यविषयता सम्बन्ध से होने वाले चाक्षुष प्रत्यक्ष (चाक्षुष प्रत्यक्षत्वादि धर्मावच्छिन्न) के प्रति स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से 'महत्त्व' कारण होता है। यहाँ पर 'स्व शब्द से 'महत्त्व' (महत्परिमाण) को लेना है, उसका आश्रय 'द्रव्य' होगा, उसमें गुण, कर्म, सामान्य का 'समवाय' है। अतः द्रव्य के गुण, कर्म, सामान्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में 'स्वाश्रय-समवाय' सम्बन्ध से 'महत्त्व' (महत्परिमाण) कारण होता है। नैयायिक विद्वान् गुण में रहने वाली 'गुणत्व' जाति, तथा कर्म में रहने वाली 'कर्मत्व' जाति का भी प्रत्यक्ष मानते हैं। क्योंकि द्रव्य में 'गुण' तथा 'कर्म' समवेत हैं और उनमें (गुण-कर्म में) गुणत्व, कर्मत्व जाति का समवाय है। इस कारण 'गुणत्व, कर्मत्व' जातियाँ द्रव्य-समवेत-समवेत कहलाती हैं। अतः उनके (गुणत्व-कर्मत्व जातियों के) प्रत्यक्ष में 'स्वाश्रय-समवेत-समवाय सम्बन्ध से 'महत्त्व' (महत्परिमाण) कारण होता है। यहाँ पर भी 'स्व' शब्द से 'महत्त्व' को लेना है। उसका (महत्त्व का) आश्रय 'द्रव्य' होगा, उसमें (द्रव्य में) समवेत 'गुण-कर्म' हैं, उनमें (गुण-कर्म में) गुणत्व, कर्मत्व का समवाय है।

इन्द्रियं करणं मतम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—उक्त षड्विध प्रत्यक्ष में 'इन्द्रिय' करण (असाधारण कारण) है।

इन्द्रियमिपि। अत्रापि षड्विध इत्यनुषज्यते। इन्द्रियत्वं तु न जातिः पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यप्रसङ्गात्। शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम्। आत्मादिवारणाय सत्यन्तम्। उद्भूतविशेषगुणस्य शब्दस्य श्रोत्रे सत्त्वाच्छब्देतरेति। विशेषगुणस्य रूपादेश्चक्षुरादावपि सत्त्वादुद्भूतेति।

मूल कारिका में स्थित 'इन्द्रियं करणं मतम्' के आगे पूर्वोक्त 'षड्विधे' पद का अनुषङ्ग करना चाहिए।- इसी बात को बताने के लिये 'अत्रापि' कहा गया है। तथा च 'चाक्षुषत्वादिप्रत्येकधर्मावच्छिन्ननिरूपितव्यापारसम्बन्धावच्छिन्नकारणताश्रयीभूतं यत्, तत् इन्द्रियविभाजकचक्षुष्ट्वादिप्रत्येकधर्मावच्छिन्नम्' यह अर्थ निष्पन्न हुआ। तादृशकारणतावच्छेदक चक्षुष्ट्वादि प्रत्येक धर्मवाले षड्विध प्रत्यक्ष में 'इन्द्रिय' करण होता है।

शंका—इन्द्रियाँ तो अनेक हैं और 'इन्द्रियत्व' धर्म एक है, जो समस्त इन्द्रियों पर रहता है। अतः 'इन्द्रियत्व' धर्म 'जाति' रूप हुआ, क्योंकि वह (इन्द्रियत्व-धर्म) स्वयं नित्य होता हुआ अनेक समवेत है, घटत्व के समान 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वात् घटत्वादिवत्'। अतः उसी जाति रूप इन्द्रियत्व धर्म के द्वारा ही 'इन्द्रिय' को षड्विध प्रत्यक्ष के प्रति हेतु मान लिया जाय। इस प्रकार मानने में छह कार्य-कारण भाव नहीं मानने पड़ेंगे, तो लाघव होगा।

समा०—'इन्द्रियत्व' धर्म 'जाति' रूप नहीं है, अपितु वह सखण्डोपाधिरूप धर्म है। उस धर्म को 'जाति' रूप न मानने में 'संकर' नामक दोष बाधक होता है, "पृथिवीत्वादिना" इति। 'संकरदोष' का स्वरूप इस प्रकार होगा--'पृथिवीत्व' को छोड़कर 'इन्द्रियत्व' धर्म चक्षुरादिकों में विद्यमान है, तथा 'इन्द्रियत्व' धर्म को छोड़कर 'पृथिवीत्व' धर्म घटादिकों में है। ये दोनों धर्म (पृथिवीत्व-इन्द्रियत्व) घ्राणेन्द्रिय में समाविष्ट हैं, अतः यह 'संकर' है। एवञ्च संकरदोष से युक्त होने के कारण 'इन्द्रियत्व' धर्म को जातिरूप नहीं माना जाता। तस्मात् 'इन्द्रियत्वं' न जातिः "इन्द्रियत्वं जातित्वाभाववत्, स्वाभाववद्वृत्ति-स्वसमानाधिकरणधर्माभाववद्वृत्तित्वात्।" इन्द्रियत्व के जाति न होने में यह अनुमान-प्रयोग है।

शंका—'इन्द्रियत्व' धर्म यदि जातिरूप नहीं है, तो वह किंरूप है? अर्थात् 'इन्द्रियत्व' क्या है?

समा०—'इन्द्रियत्व' धर्म, सखण्डोपाधिरूप है। उसे बताने के लिये ही इन्द्रिय का निर्वचन कर रहे हैं—"शब्देतरोद्भूत" इति। इन्द्रिय का लक्षण बता रहे हैं—'शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारण-मनः संयोगाश्रयत्वम्'–इन्द्रियत्वम्। शब्दात् इतरे=शब्द के अतिरिक्त उद्भूताः=प्रत्यक्षयोग्य (प्रत्यक्षसन्निकर्षवत्तापादनविषय), जो विशेषगुणाः=रूप–सुखादि, उनका अनाश्रय (आश्रय न) रहते हुए अर्थात् शब्द को छोड़कर (शब्द के बिना)

जितने रूप—सुखादि अनुद्भूत विशेष गुण हैं, उनका आश्रय होकर, ज्ञानस्य कारणीभूतः = ज्ञान का असाधारण कारणभूत, जो मनःसंयोग = इन्द्रिय-मनःसंयोग, तदाश्रयत्वम् = उसका आश्रय होना। अर्थात् उसका जो आश्रय हो उसे 'इन्द्रिय' कहते हैं। तत्त्वम् इन्द्रियत्वम्, इस रीति से 'इन्द्रियत्त्व' का निर्वचन हो सकने के कारण 'इन्द्रियत्व' धर्म सखण्डोपाधिरूप है, जातिरूप नहीं है। इन्द्रिय के लक्षण में निविष्ट पदों को आवश्यकता को (पदकृत्य को) बताते हैं—"आत्मादी"ति। लक्षण में यदि 'सत्यन्त' पद न दें तो 'ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रय' पद से 'आत्मा' भी समझा जा सकेगा तथा 'आदि' से 'चर्म-मनःसंयोगाश्रय चर्म भी होगा। अतः आत्मा और चर्म में अतिव्याप्ति हो जायेगी, उसका वारण करने के लिये 'सत्यन्त' पद की आवश्यकता है। उसके देने पर 'आत्मा' तादृशसंयोगाश्रय रहने पर भी शब्द के अतिरिक्त ज्ञान सुखादि जो उद्भूत विशेषगुण हैं, उनका वह आश्रय ही है, अनाश्रय नहीं है। उसी तरह 'चर्म' भी उद्भूत जो रूपादि विशेषगुण हैं, उनका आश्रय ही है, अनाश्रय नहीं है। अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी। लक्षण में यदि 'शब्देतर' पद न दें तो श्रोत्रेन्द्रिय में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि 'श्रोत्र' उद्भूत विशेषगुण (शब्द) का अनाश्रय नहीं है, अपितु 'श्रोत्र' आकाशात्मक होने से शब्दात्मक उद्भूत विशेषगुण का आश्रय ही है। क्योंकि उद्भूतत्व अर्थात् 'प्रत्यक्षप्रयोजकसन्निकर्षवत्ता स्यात् तर्हि उपलभ्येत' के अनुसार आपादनविषयत्व ही उद्भूतत्व हुआ। वह उद्भूतत्व, शब्द में है ही। एवं च शब्द, उद्भूत हुआ, अतः अव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'शब्देतर' पद का निवेष लक्षण में किया गया है। उसके निवेश करने से शब्देतरोद्भूत-रूपादि गुणों का अनाश्रय होने से लक्षण संगत हो जाता है, तब अव्याप्ति नहीं हो पाती। अब यदि लक्षण में 'उद्भूत' पद न दें, अर्थात् 'शब्देतरविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वम्' इतना ही लक्षण करें तो चक्षुरादि रूपादि विशेषगुण के आश्रय ही हैं, शब्देतरानुद्भूत विशेष गुण रूपादि के अनाश्रय नहीं हैं, अतः चक्षुरादि में अव्याप्ति होगी। 'उद्भूत' पद का उपादान करने पर चक्षुरादि, यद्यपि रूपादि विशेषगुण के आश्रय हैं तथापि उद्भूतविशेष गुण रूपादिकों के अनाश्रय हैं (आश्रय नहीं हैं) किन्तु अनुद्भूत-रूपादिगुणों के आश्रय हैं इसलिये उनमें अव्याप्ति नहीं हो पाती।

उद्भूतत्वं न जातिः शुक्लत्वादिना साङ्कर्यात्। न च शुक्लत्वादिव्याप्यं नानैवोद्भूतत्वमिति वाच्यम्, उद्भूतरूपवत्वादिना चाक्षुषादौ जनकतानुपपत्तेः। किन्तु शुक्लत्वादिव्याप्यं नानैवानुद्भूतत्वं तदभावकूटश्चोद्भूतत्वम् तच्च संयोगादावप्यस्ति। तथा च शब्देतरोद्भूतगुणः संयोगादिश्चक्षुरादेरप्यस्त्यतो विशेषेति। कालादिवारणाय विशेष्यदलम्। इन्द्रियावयवविषयसंयोगस्यापि प्राचां मते प्रत्यक्षजनकत्वादिन्द्रियावयववारणाय, नवीनमते कालादौ रूपाभावप्रत्यक्षे सन्निकर्षघटकतया कारणीभूतचक्षुःसंयोगाश्रयस्य कालादेश्च वारणाय मनः

पदम् । ज्ञानकारणमित्यपि तद्वारणाय करणमिति । असाधारणं कारणं करणम् । असाधारणत्वं व्यापारवत्त्वम् ॥ ५८ ॥

लक्षण में दिये गये 'विशेष' पद का प्रयोजन बताने के लिये भूमिका (प्रयोजन-सम्पादिका युक्ति) बता रहे हैं--'उद्भूतत्वमिति ।' गुणों में 'उद्भूतत्व' धर्म जातिरूप है या उपाधिरूप है ? यह प्रश्न उपस्थित होने पर कहते हैं-'न जातिः', क्योंकि 'शुक्लत्वादिना साङ्कर्यात्'। गुणों में जो 'उद्भूतत्व' धर्म है, वह जातिरूप नहीं है, अर्थात् 'उद्भूतत्व' जाति नहीं है, बल्कि वह (उद्भूतत्व) उपाधि रूप धर्म है अर्थात् 'उद्भूतत्व' उपाधि है । क्योंकि उसे जातिरूप मानने में 'साङ्कर्यदोष' बाधक होता है । अर्थात् 'साङ्कर्य' दोष के कारण उसे 'जाति' नहीं कह सकते। साङ्कर्य का स्वरूप यह है--'शुक्लत्व' धर्म को छोड़कर 'उद्भूतत्व', उद्भूतगन्ध (प्रत्यक्ष गन्ध) में है, उसी प्रकार 'उद्भूतत्व' धर्म को छोड़कर 'शुक्लत्व' धर्म अनुद्भूतशुक्ल में (परमाणुगत अनुद्भूत शुक्ल में) है, किन्तु उद्भूतत्व-शुक्लत्व दोनों ही धर्म, उद्भूतशुक्ल में (वस्त्रादिशुक्ल में) समाविष्ट हैं, इसलिये सांकर्य हो गया। इस सांकर्य दोष के कारण 'उद्भूतत्व' को जाति न कहकर उपाधि कहा है। अनुमान प्रयोग यह होगा--'उद्भूतत्वं जातित्वाभाववत्, स्वाभाववद्वृत्तिस्वसमाधिकरणधर्माभाववद्वृत्तित्वात् ।'

शंका--उद्भूतत्व धर्म एक न होकर नाना (अनेक) हैं, यह कुछ विद्वानों का मत है। जैसे-शुक्लत्वधर्मव्याप्य उद्भूतत्व, कृष्णत्वधर्मव्याप्य उद्भूतत्व, सुरभित्वधर्मव्याप्य उद्भूतत्व, मधुरत्व धर्मव्याप्य उद्भूतत्व इस प्रकार तत्तद्धर्मव्याप्य उद्भूतत्व नाना हैं, एक नहीं है। अभिप्राय यह है कि शुक्लत्वादिनिष्ठा या व्यापकता, तादृशव्यापकतानिरूपिता या व्याप्यता अर्थात् यत्र यत्र उद्भूतत्वं तत्र तत्र शुक्लत्वं' इति व्याप्तिरेव, तदाश्रयः उद्भूतत्वम्, ऐसा उद्भूतत्व, तद्रूप रसादिकों में नाना ही है अर्थात् भिन्न-भिन्न ही है। एवं च शुक्लोद्भूतत्व, कृष्णोद्भूतत्व आदि जातियाँ मानने से संकर दोष नहीं होगा। यानी उद्भूतत्व धर्म अनेक हैं, वे शुक्लरूप, नीलरूप, गन्ध, स्पर्श आदि में रहते हैं। अतः शुक्लोद्भूतत्व, कृष्णोद्भूतत्व आदि जातियाँ मानने में संकर नहीं हो पायेगा।

समा०— 'तादृश नानाविध उद्भूतत्वों को जातिरूप मानेंगे', एकविध उद्भूतत्व को ही नहीं। ऐसी शंका नाना उदभूत वादियों को नहीं करनी चाहिए--'न च वाच्यमिति ।' उद्भूतरूपात्वादिना=उदभूतरूपत्वेन । चाक्षुषादौ=चाक्षुषादिप्रत्यक्षे । जनकत्वाऽनुपपत्तेः=हेतुत्वाऽसिद्धेः । क्योंकि चाक्षुषप्रत्यक्ष में अर्थात 'चक्षुरिन्द्रियजन्यद्रव्यादिप्रत्यक्ष के प्रति उदभूत-रूपत्वावच्छिन्न उद्भूतरूप कारण होता है, इस नियम के अनुसार 'यत्र यत्र चाक्षुषप्रत्यक्षं भवति तत्र तत्र कारणम् उद्भूतरूपं' अर्थात् जहाँ जहाँ चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है वहाँ वहाँ कारण होने वाला उद्भूतरूप, कारणतावच्छेदक एक उद्भूतरूपत्वधर्म से युक्त रहता है। अर्थात चाक्षुष

प्रत्यक्ष में उद्भूतरूप कारण है, और स्पार्शन प्रत्यक्ष में उद्भूतस्पर्श कारण है। यदि भिन्न भिन्न (अनेक) उद्भूतत्व होंगे तो सामान्यतः चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति एक ही उद्भूतरूपत्वधर्म से युक्त उद्भूतरूप के कारण रहने पर बाकी के अन्य उद्भूत-रूपों को अकारण कहना होगा, किन्तु वहाँ भी चाक्षुष प्रत्यक्ष तो होता ही है। ऐसी स्थिति में कारण का अभाव रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति होने से व्यतिरेक-व्यभिचार होगा, 'कारणाभावेऽपि कार्यसत्त्वात्मको व्यतिरेक व्यभिचारः।' अतः एक-एक उद्भूतत्व को कारणतावच्छेदक मानने पर व्यभिचार होता है और अनेक उद्भूतत्वों का समुदाय किसी एक घट-पटादिव्यक्ति में होना कभी सम्भव नहीं, अतः उसमें कारणतावच्छेदकत्व भी नहीं बन सकेगा। कारणता का अवच्छेदक एक ही हो सकता है, अनेक नहीं। एवं च कारणतावच्छेदक न बन पाये (कारण-तानवच्छेदकाक्रान्त) उद्भूतत्व धर्मों के कारण चाक्षुषादि प्रत्यक्षों के प्रति रूप आदि भी कारण नहीं बन पायेंगे। वही धर्म कारणतावच्छेदक हुआ करता है कि जो अन्यूनानतिरिक्तदेशवृत्ति होता है। अतः उद्भूतत्व के स्वरूप को ग्रन्थकार बता रहे हैं--'किन्तु शुक्लत्वादिव्याप्यं नानैव अनुद्भूतत्वं, तदभावकूटश्च उद्भूतत्वम्'। 'उद्भूतत्व' को अभावरूप मानकर उसकी एकता को सिद्ध किया जा रहा है तथाहि--शुक्लत्वादिन्यूनवृत्ति अनुद्भूतत्वं नानाविधम्, तदभावकूटः अर्थात् नानाविध-अनुद्भूतत्वाऽभावसमूह एव उद्भूतत्वं बोध्यम्। अर्थात् शुक्लत्व, कृष्णत्व आदि के व्याप्य (न्यूनवृत्ति) अर्थात् शुक्ल, कृष्ण आदि रूपों में या गन्ध, स्पर्श आदि में विद्यमान (रहने वाले) अनुद्भूतत्व अनेक (नाना) हैं, उन समस्त अनुद्भूतत्वों के अभावसमूह का नाम 'उद्भूतत्व' है। अर्थात् शुक्लत्वादिनिष्ठव्या-पकतानिरूपित व्याप्यताश्रयस्वरूप अनुद्भूतत्व, नाना ही है, और तदभावकूट यानि अनुद्भूतत्वाभावसमुदाय ही उद्भूतत्व है। अर्थात् "शुक्लत्वादव्याप्य नानानुद्भूत-त्वाभाव समुदाय एवोद्भूतत्वम्"। इस प्रकार का वह 'उद्भूतत्व' एक है। अतः उसे चाक्षुषादि प्रत्यक्ष में 'कारण' कहा जा सकता है। किन्तु यह कहने से प्रकृत में अव्याप्ति हो रही है-"तच्च संयोगादाविति।" इस प्रकार से निर्दिष्ट (तादृशा-भावकूटात्मक) उद्भूतत्व, संयोग, विभाग आदि में भी रहता है। वे संयोग विभाग आदि, चक्षुरादि के उद्भूत गुण हैं, जो (संयोगादि) शब्द से इतर भी हैं। अतः चक्षुरिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय आदि में भी शब्देतरोद्भूतगुणसंयोगाऽनाश्रय-त्वाऽभाव रहने से (शब्देतर जो संयोगादि उद्भूतगुण, वे चक्षुरादि में रहने के कारण) उन चक्षुरादिकों में अव्याप्ति होगी, उस अव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'विशेष' पद दिया गया है। 'विशेष' पद के देने से चक्षुरादिकों में अव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'संयोग' आदि विशेषगुण नहीं हैं "रूपं गन्धो रसः स्पर्शः स्नेहः सांसि-द्धिको द्रवः। बुद्धयादिभावनान्ताश्च शब्दो वैशेषिका गुणाः॥" विशेष गुण तो ये होते हैं। अतः चक्षुरादि, शब्देतरोद्भूत विशेष गुण का अनाश्रय (आश्रय न)

होने से चक्षुरादि में इन्द्रियलक्षण का समन्वय हो गया, इसलिये अव्याप्ति अब नहीं है। उक्त इन्द्रियलक्षण में यदि 'ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वम्' इस विशेष्य दल को न दें तो 'काल' में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि 'काल' किसी भी विशेष गुण का आश्रय नहीं अर्थात् अनाश्रय है। विशेष्यदल को जोड़ देने पर 'काल' में लक्षणगत सत्यन्त अंश के घटित हो जाने पर भी विशेष्य अंश घटित नहीं हो रहा है, क्योंकि 'काल' 'ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रय' नहीं है। अतः 'काल' में लक्षणसमन्वय न होने से अतिव्याप्ति नहीं है। 'कालादि' यहाँ 'आदि' पद से 'दिक्' को भी समझ लेना चाहिए। इन्द्रिय के लक्षण में 'मनस्' पद के निवेश का प्रयोजन बता रहे हैं—"इन्द्रियावयवेति।" प्राचीनों के मत के अनुसार लक्षण में यदि 'मनस्' पद न दें तो घट के प्रत्यक्ष में चक्षुरिन्द्रिय के अवयव और घट दोनों का संयोग कारण होता है (इन्द्रियावयव और विषय के संयोग से घटादि विषयों (वस्तुओं) का प्रत्यक्ष होता है), तादृशज्ञान-कारणसंयोगाश्रयता चक्षुरवयव में है ही और लक्षणगत सत्यन्त दल भी चक्षुरवयव में घटित हो रहा है। अतः इन्द्रियावयव में इन्द्रियलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी, उसके निवारणार्थं 'मनस्' पद देना आवश्यक है। एवञ्च 'ज्ञान' कारण मनःसंयोग कहने से इन्द्रिय-मनस्संयोग ही हो सकेगा, इन्द्रियावयव-मनःसंयोग नहीं होगा, तब इन्द्रियावयव में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

इसी बात को केशव मिश्र ने अपनी तर्कभाषा में भी कहा है—"चतुष्टय-सन्निकर्षो यथा- इन्द्रियावयवैरर्थावयविनाम्, इन्द्रियावयविनामर्थावयवानाम्, इन्द्रियावयवैरर्थावयवानाम्, अर्थावयविनामिन्द्रियावयवानां सन्निकर्षः।"

नवीनों के मत के अनुसार—इन्द्रियलक्षण में 'मनस्' पद को 'संयोग' के साथ यदि न जोड़ें तो इन्द्रियलक्षण की 'काल आदि' में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि नवीनों के मत में 'कालो रूपाभाववान्' इत्याकारक कालगत रूपाभाव का प्रत्यक्ष होता है। उस प्रत्यक्ष के प्रति कारण, कालगत (काल में रहने वाले) रूपाभाव के साथ इन्द्रिय का 'चक्षुःसंयुक्तविशेषणभावसन्निकर्ष' माना जाता है। उस सन्निकर्ष का घटक 'काल-चक्षुःसंयोग' है, और उस संयोग का आश्रय 'काल' है। इस रीति से काल भी 'ज्ञानकारणसंयोग का आश्रय' होता है। अतः इन्द्रियलक्षण की 'काल' में अतिव्याप्ति हो रही है, उसके निवारणार्थ 'मनस्' पद को 'संयोग' पद के साथ जोड़ा गया है। फिर भी उसके साथ 'ज्ञानकारण' पद को यदि न जोड़ें तो उक्त लक्षण की पुनः 'काल' में ही अतिव्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि 'काल' विभु है, अतः काल-मनस्संयोग रहेगा ही, उस संयोग का आश्रय 'काल' होगा। अतः मनःसंयोगाश्रयता काल में आने से अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'ज्ञानकारण' पद को 'मनःसंयोग' के साथ जोडना पड़ा। काल से मन का संयोग रहने पर भी वह ज्ञान का कारण नहीं है। अतः अतिव्याप्ति नहीं है।

मूलकारिका में 'इन्द्रियं करणं मतम्' कहा गया है। अतः 'करणत्व' का निर्वचन करते हैं--'असाधारणमिति।' प्राचीन लोग 'करण' का लक्षण "फलाऽयोगव्यवच्छिन्नकारणत्वं —करणत्वम्'। अथवा "फलयोगाऽव्यवच्छिन्नं कारणं —करणम्"। अर्थात् जिसके रहने पर अव्यवहित उत्तरक्षण में कार्य अवश्यमेव हो, उसीको करण कहते हैं! यह प्राचीन नैयायिकों का मत है, किन्तु इसके अनुसार उक्त लक्षण की इन्द्रिय में ही अव्याप्ति होती है, अर्थात् इन्द्रिय में प्रत्यक्ष के प्रति करणत्व नहीं बन पा रहा है। अतः नवीन नैयायिक अपने मत के अनुसार 'करण' को बता रहे हैं। नवीन नैयायिकों के अनुसार 'असाधारणत्वे सति कारणत्वं'– करणत्वम्। न 'साधारणम्'—असाधारणम्। असाधारणत्वञ्च—'तदितराऽवृत्तित्वे सति सकलतद्वृत्तित्वम्।' 'सास्नादिमत्त्व' गाय से भिन्न पशुओं में न रहता हुआ समस्त गौओं में रहता है। अतः गोवृत्ति 'सास्नावत्त्व' जो धर्म है, वह उसका (गौ का) असाधारण धर्म है। उसी प्रकार प्रकृत में कारणगत असाधारणत्व "कार्यत्वानवच्छिन्न (कार्यत्वातिरिक्तधर्मावच्छिन्न) कार्यतानिरूपित कारणताश्रयत्व" होगा। एतादृशकारणताशालित्व (कारणताश्रयत्व) तो इन्द्रिय की तरह सन्निकर्ष में भी रहेगा, क्योंकि कार्यत्वानवच्छिन्न धर्म अर्थात् कार्यत्वातिरिक्तधर्मावच्छिन्न कार्यता कहने से 'प्रत्यक्षत्वधर्मावच्छिन्नकार्यता' लेंगे, उससे निरूपित 'कारणता' जैसी इन्द्रिय में रहती है। वैसी ही वह सन्निकर्ष में भी रहेगी। अतः सन्निकर्ष में करणत्व की अतिव्याप्ति होगी, इसलिये 'असाधारणत्व' का निर्वचन करते हैं—'व्यापारवत्त्वम्' इति। 'सन्निकर्ष तो व्यापार है। स्वजनकत्वसम्बन्ध से वह (व्यापार) व्यापारवान् नहीं है। अतः सन्निकर्ष में अतिव्याप्ति नहीं है। व्यापारश्च—तज्जन्यत्वे सति तज्जन्य-जनकः। जैसे—कुठार-दारुसंयोग, कुठारजन्य होता हुआ कुठारजन्य छेदनक्रिया का जनक है अतः तादृश संयोगात्मक व्यापार से युक्त होने के कारण छेदनक्रिया के प्रति कुठार ही असाधारण कारण होता है। इसलिये उसी को (कुठार को) छिदा-करण कहते हैं। यही बात पाणिनिमुनि ने "साधकतमं करणम्"--(१।४।४२) के द्वारा बताई है। उसी प्रकार प्रकृत में भी चाक्षुषादिप्रत्यक्षप्रमारूपफल के प्रति 'इन्द्रिय' करण कहलाता है, क्योंकि इन्द्रिय में विषयेन्द्रियसन्निकर्षरूपव्यापारवत्त्व भी है और कारणत्व भी है। नवीन नैयायिकों के अनुसार जो व्यापार है, उसी को प्राचीन नैयायिक 'करण' कहते हैं, और जिसे नवीन लोग 'करण' कहते हैं, उसी को प्राचीन लोग 'कारण' कहते हैं।

किञ्च--जहाँ श्रोत्र से शब्दसाक्षात्कार होता है, वहाँ नवीनों के अनुसार 'समवाय' ही व्यापार होगा, किन्तु वहाँ 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः यह व्यापारलक्षण घटित नहीं होता, क्योंकि 'समवाय' नित्य होने से वह श्रोत्र से जन्य नहीं है। तस्मात् सर्वत्र षड्विध प्रत्यक्ष में इन्द्रियमनस्संयोग में ही व्यापार-

वत्त्व (व्यापारवत्ता) समझना होगा, यह नव्यमत में असङ्गति है, किन्तु प्राचीनों के लक्षणानुसार कोई दोष नहीं है। यदि नव्यमत में सङ्गति बैठानी हो तो व्यापार का निर्वचन इस प्रकार करना होगा, 'इन्द्रियसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यत्वे सति इन्द्रियजन्यजनकत्वम् ।' निष्कर्ष यह है—असाधारण कारण को 'करण' कहना चाहिए। और असाधारण का अर्थ है कि जिसमें व्यापार रहता हो, अर्थात् जो व्यापारवाला हो। तथा विषय और इन्द्रिय के सन्निकर्ष को व्यापार कहते हैं। यह व्यापार, इन्द्रियों में विद्यमान रहता है। अतः इन्द्रियों को षड्विध प्रत्यक्ष का 'करण' बताया गया है ॥ ५८ ॥

विषयेन्द्रियसम्बन्धो व्यापारः सोऽपि षड्विधः ।
द्रव्यग्रहस्तु संयोगात् संयुक्तसमवायतः ॥५९॥
द्रव्येषु समवेतानां तथा तत्समवायतः ।
तत्रापि समवेतानां शब्दस्य समवायतः ॥६०॥
तद्वृत्तीनां समवेतसमवायेन तु ग्रहः ।
प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत् ॥६१॥
विशेषणतया तद्वदभावानां ग्रहो भवेत् ।
यदि स्यादुपलभ्येतेत्येवं यत्र प्रसज्यते ॥६२॥

अर्थ—विषयेन्द्रियसम्बन्धः (एव) व्यापारः=विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध ही व्यापार (सन्निकर्ष) कहा जाता है और वह छह प्रकार का है। जैसे—द्रव्यग्रहस्तु = घटादिद्रव्य का प्रत्यक्ष तो संयोगात्=इन्द्रिय संयोग से होता है। अतः 'संयोग' संज्ञक एक-सन्निकर्ष है। द्रव्येषु=घटादिद्रव्यों में समवेतानाम् = समवायसम्बन्ध से रहने वाले गुण, कर्म, सामान्य का प्रत्यक्ष तो संयुक्त-समवायतः=इन्द्रिय-संयुक्त-समवायसन्निकर्ष से होता है। अतः संयुक्त समवायसंज्ञक द्वितीय सन्निकर्ष है। तथा = उसी प्रकार तत्रापि=द्रव्य में समवेत हुए गुण, कर्म पर समवेतानाम्=समवाय से रहने वाले गुणत्व, कर्मत्व का प्रत्यक्ष तो तत्समवायतः=इन्द्रिय-संयुक्तसमवेत-समवाय-सन्निकर्ष से होता है। अतः संयुक्त समवेत समवायसंज्ञक तृतीयसन्निकर्ष है। शब्दस्य=शब्द का प्रत्यक्ष समवायतः= श्रोत्रसमवाय से होता है। अतः समवाय-संज्ञक चतुर्थ सन्निकर्ष है। तद्वृत्तीनां =शब्दवृत्तिशब्दत्व का ग्रहस्तु प्रत्यक्ष तो समवेतसमवायेन =श्रोत्र-समवेत-समवाय से होता है। अतः समवेत-समवायसंज्ञक पञ्चमसन्निकर्ष है। समवायस्य=समवायसम्बन्ध का प्रत्यक्षम् = प्रत्यक्ष, विशेषणतया=स्वरूपसम्बन्धाख्यविशेषणता-सन्निकर्ष से होता है। अतः संयुक्तविशेषणतासंज्ञक षष्ठसन्निकर्ष है। तद्वत् = समवाय की तरह अभावानां=अभावपदार्थ का भी ग्रहः = प्रत्यक्ष, विशेषणतया= विशेषणतासम्बन्ध से होता है।

शंका—किस अभाव का प्रत्यक्ष होता है ?

समा०—'यदि स्यादिति ।' योग्य पदार्थ के अभाव का प्रत्यक्ष होता है। योग्यता क्या है ? यह पूछने पर कह सकते हैं कि 'यदि स्याद् उपलभ्येत' इस प्रकार की आपादन-विषयता का होना ही योग्यता है, वह योग्यता यत्र = जिस घटपटादि में प्रसज्यते = आपादान की जाती है, उसके अभाव का प्रत्यक्ष होता है ॥ ६२ ॥

विषयेन्द्रियेति । व्यापारः सन्निकर्षः । षड्विधं सन्निकर्षमुदाहरणद्वारा प्रदर्शयति । द्रव्यग्रह इति । द्रव्यप्रत्यक्षमिन्द्रियसंयोगजन्यम् । द्रव्यसमवेतप्रत्यक्षमिन्द्रियसंयुक्तसमवायजन्यम् । एवमग्रेऽपि ।

वस्तुतस्तु द्रव्यचाक्षुषं प्रति चक्षुस्संयोगः कारणम् । द्रव्यसमवेतचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयुक्तसमवाय कारणम् । द्रव्यसमवेतसमवेतचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम् । एवमन्यत्रापि विशिष्यैवं कार्यकारणभावः ।

परन्तु पृथिवीपरमाणुनीले नीलत्वं पृथ्वीपरमाणौ पृथिवीत्वं च चक्षषा कथं न गृह्यते तत्र परम्परयाद्भूतरूपसम्बन्धस्य महत्त्वसम्बन्धस्य च सत्त्वात् । तथाहि—नीले नीलत्वं जातिरेकैव घटनीले परमाणुनीले च वर्तते । तथा च महत्त्वसम्बन्धो घटनीलमादाय वर्तते । उद्भूतरूपसम्बन्धस्तूभयमादायैववर्तते । एवं पृथिवीत्वेऽपि घटादिकमादाय महत्त्वसम्बन्धो बोध्यः ।

एवं वायौ तदीयस्पर्शादौ च सत्तायाश्चाक्षुषप्रत्यक्ष स्यात् ।

तस्मादुद्भूतरूपावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्नचक्षुःसंयुक्तसमवायस्य द्रव्यसमवेतचाक्षुषप्रत्यक्षे, तादृशचक्षुसंयुक्तसमवेतसमवायस्य द्रव्यसमवेतसमवेतचाक्षुषप्रत्यक्षे कारणत्वं वाच्यम् ।

व्यापार पदार्थ को बताने के लिये कहा 'सन्निकर्षः' अर्थात् सम्बन्ध । एवं च विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध (सन्निकर्ष) को ही व्यापार कहते हैं। संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेत-समवाय, विशेषण-विशेष्यभाव इन षड्विध सन्निकर्षों (सम्बन्धों) को उदाहरण के द्वारा दिखा रहे हैं—'द्रव्यग्रह' इति । घटादिद्रव्य के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसंयोग 'व्यापार' है। अर्थात् घटादिद्रव्यवृत्ति लौकिक विषयता सम्बन्ध से जो प्रत्यक्ष होता है, वह चक्षुरादि-इन्द्रियसंयोगजन्य है, इसलिये वहाँ पर 'इन्द्रियसंयोग' को व्यापार समझना चाहिए। "द्रव्यसमवेत" इति । घटादिद्रव्यसमवेत रूपादिगुणों के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसंयुक्तसमवाय व्यापार है। अर्थात् द्रव्यसमवेत रूपादिगुणों का प्रत्यक्ष, 'इन्द्रियसंयुक्तसमवाय' से होता है । अतः द्रव्यसमवेतवृत्ति लौकिक-विषयतासम्बन्ध से रूपादि के प्रत्यक्ष में 'संयुक्त समवाय' को व्यापार समझना चाहिए। 'एवमग्रेऽपी'ति । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए । जैसे-द्रव्यसमवेतसमवेतवृत्तिलौकिक-विषयता-सम्बन्ध से रूपत्वादि का प्रत्यक्ष, इन्द्रियसंयुक्तसमवेतसमवाय से होता है, क्योंकि इन्द्रियसंयुक्तघटादि, उसमें समवेत रूपादिक, उसमें रूपत्वादिका समवाय है। अतः

द्रव्यसमवेतसमवेतगुणत्वादि के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसंयुक्तसमवेतसमवाय को व्यापार समझना चाहिए।

शंका—द्रव्यवृत्तिलौकिकविषयतासम्बन्ध से द्रव्यप्रत्यक्ष में इन्द्रियसन्निकर्ष को यदि कारण कहें तो त्वक्-प्रभासंयोग से प्रभा का भी चाक्षुषप्रत्यक्ष होने लगेगा, उसी प्रकार घट-चक्षुःसंयोग रहने से अन्धकार में स्पार्शन प्रत्यक्ष का भी अनुभव होने लगेगा, क्योंकि इन्द्रियसंयोग, वहाँ विद्यमान है ही, किन्तु इन्द्रियत्व और तद्घटित संयोगत्व के अनुगत न होने से परस्पर व्यभिचार होता है। इसी अरुचि के कारण नवीनों के मत से विशेष कार्यकारणभाव को बता रहे है—'वस्तुतस्तु' इति। विषयतासम्बन्ध से द्रव्यनिष्ठ (जो) चक्षुरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष, उसके प्रति अर्थात् घटादिद्रव्यीयलौकिकसाक्षात्कार में 'चक्षुःसंयोग' को समवाय सम्बन्ध से कारण समझना चाहिए। उसी प्रकार विषयतासम्बन्ध से द्रव्यसमवेतगुणादिनिष्ठ जो चक्षुरिन्द्रियप्रत्यक्ष उसके प्रति अर्थात् घटादिद्रव्य में समवायसम्बन्ध से विद्यमान रूपादि के साक्षात्कार के प्रति 'चक्षुःसंयुक्तसमवाय' को स्वरूपसम्बन्ध से कारण समझना चाहिए, क्योंकि विषयतासम्बन्ध से प्रत्यक्ष द्रव्यसमवेतगुण में रहता है। क्योंकि वहाँ-संयुक्त जो घटादिद्रव्य, उसमें रूपादिगुण का समवाय, स्वरूपसम्बन्ध से है। उसी प्रकार विषयतासम्बन्ध से द्रव्यसमवेतगुणादि-समवेतगुणत्वादिनि चक्षुरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के प्रति चक्षुःसंयुक्तसमवेत-समवाय को स्वरूपसम्बन्ध से कारण से समझना चाहिए। अर्थात् घटादिद्रव्य में समवेत रूपादिक हैं, उनमें समवेत रूपत्वादि हैं, उन रूपत्वादि के चाक्षुषप्रत्यक्ष में चक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष कारण होता है। एवमन्यत्रापीति। इसी प्रकार त्वाचादिप्रत्यक्ष में भी उक्तसन्निकर्ष का विशिष्ट कार्य-कारणभाव समझना चाहिए। जैसे—विषयता-संबंध से द्रव्यनिष्टस्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रति त्वक्संयोग, समवाय के कारण है। विषयता-सम्बन्ध से द्रव्यसमवेतगुणादिनिष्टस्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रति त्वक्संयुक्तसमवाय, स्वरूप सम्बन्ध से कारण है। विषयतासम्बन्ध से द्रव्यसमवेतसमवेतगुणत्वादिनिष्ठस्पार्शन-प्रत्यक्ष के प्रति त्वक्संयुक्त-समवेत-समवाय, स्वरूपसम्बन्ध से कारण होता है। निष्कर्ष यह है कि सामान्यरूप से संयोग या संयुक्त-समवाय आदि कारण नहीं हैं, किन्तु प्रत्येक इन्द्रिय से जन्य प्रत्यक्ष में तत्तत् इन्द्रियसंयोग आदि कारण होते हैं। अब द्रव्य के महत्परिमाण और उद्भूतरूप के प्रत्यक्षकरने में पृथक् कार्य-कारण-भाव मानने में गौरव होगा, अतः महत्परिमाण और उद्भूतरूप को सन्निकर्षांश में निविष्ट करके कार्य-कारणभावकल्पनायुक्त लाघव प्रदर्शित करने के लिये पूर्वपक्षी शंका कर रहा है—'परन्तु' इति।

शंका—पृथिवी के नील परमाणुओं के नीलरूप में रहनेवाली 'नीलत्व' जाति, अर्थात् परमाणुनीलनिष्ठा 'नीलत्व' जाति, तथा पृथिवी परमाणुनिष्ठा 'पृथिवीत्व' जाति का भी चाक्षुषप्रत्यक्ष (चाक्षुषसाक्षात्कार) क्यों नहीं होता ? अर्थात् ये

जातियाँ भी चक्षुरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष की विषय होनी चाहिए। क्योंकि विषय के साथ इन्द्रिय का परम्परासम्बन्ध मानकर द्रव्य में रहनेवाले रूपादिगुणों का और तद्गतरूपत्वादि जाति का प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार उपर्युक्त नीलत्व पृथिवीत्व जाति का भी 'स्वाश्रयसमवेत-समवेतत्व' आदि परम्परासम्बन्ध से प्रत्यक्ष होना क्यों न माना जाय ? क्योंकि नीलत्व और पृथिवीत्व में स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्वसम्बन्ध (परम्परासम्बन्ध) से उद्भूतरूप और महत्परिमाण विद्यमान है। तथाहि—एक ही नीलत्वजाति, घट के नीलरूप में और परमाणु के नीलरूप में समवाय से रहती है। उसी तरह घट में महत्परिमाण, समवाय से रहता है, और वही (महत्परिमाण) स्वसमवायिसमवेतसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलत्वजाति में है। जैसे—'स्व' शब्द से महत्परिमाण को लेंगे, उसका समवायिकारण 'घट' हुआ, उसमें समवेत हुआ, नीलरूप, उसमें समवेत हुई नीलत्वजाति। इस प्रकार विषयतासम्बन्ध से नीलत्वजातिनिष्ठ चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति स्वाश्रय-समवेत-समवेतत्व सम्बन्ध से 'महत्परिमाण' कारण होता है, इसलिये परमाणुगत नील में नीलत्वजाति का प्रत्यक्ष होना चाहिये। इसी प्रकार घटगत जो नील है, वह उद्भूतरूप भी है, उसका आश्रय 'घट' हुआ उसमें समवेत नीलरूप भी वही हुआ, उसमें समवेत हुई नीलत्व जाति। इस प्रकार विषयतासम्बन्ध से नीलत्वजातिनिष्ठ चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति स्वाश्रय-समवेत-समवेतत्वसम्बन्ध से 'उद्भूतरूप' कारण हो जाता है, इसलिये परमाणु-नीलवृत्तिनीलत्वजाति का प्रत्यक्ष होना चाहिए, इसी आशय को मुक्तावलीकारने बताया है कि—"उद्भूतरूपसम्बन्धस्तु उभयमादायैव वर्तते।" अर्थात् 'उद्भूतरूप' तो घटनील और परमाणुनील दोनों (उभय) को लेकर स्वाश्रय-समवेत-समवेतत्व आदि सम्बन्ध से नीलत्व में रहता है। उपर्युक्त शंका करने वाले से पूछते हैं कि 'परमाणुनील' तो उद्भूतरूप नहीं है, तब परमाणुनील का अवलंबकर 'नीलत्व' में उद्भूतरूप का संबंध कैसे बता रहे हैं ?

शंका करनेवाला उत्तर देता है कि ऊपर जो कहा था कि 'परमाणुनील को लेकर' उसका अर्थ यह है कि परमाणुनीलघटितपरम्परया त्रसरेणुगत उद्भूतरूप-सम्बन्ध। परमाणुनीलघटितपरम्परा का अर्थ है कि 'स्वाश्रयसमवायिसमवेतसमवेतत्व।' यहाँपर 'स्व' शब्द से त्रसरेणुगत-उद्भूतनीलरूप, उसका आश्रय त्रसरेणु, उसमें समवायि द्वयणुक, उसमें समवायी परमाणु, उसमें समवेत 'परमाणुनील, उसमें समवेत 'नीलत्व'।

एक अन्य प्रश्न और भी है कि त्रसरेणुगतमहत्परिमाण भी इसी रीति से अर्थात् परमाणुनीलघटित परम्परासम्बन्ध से विद्यमान है, यह न कहकर 'उद्भूतरूपसम्बन्धस्तु उभयमादाय वर्तते' ऐसा पृथकरूप से उल्लेख क्यों किया ?

शंका करने वाले ने उत्तर दिया कि कुछ लोग (परमाणुपाकवादी) परमाणु में उद्भूतगन्ध और उद्भूतरूप को मानते हैं। अतः उनके मत के अनुसार 'उद्भूतरूपसम्बन्धस्तूभयमादाय वर्तते' कहा गया है।

किन्तु नवीन नैयायिक 'परमाणु' में उद्भूतगन्ध और उद्भूतरूप नहीं मानते, क्योंकि वैसा अनुभव नहीं होता। इस कारण नवीन नैयायिकों के अनुसार त्रसरेणुगत उद्भूतरूप को परमाणुनीलघटित ऐसे स्वाश्रयसमवायि-समवायि-समवेत-समवेतत्व सम्बन्ध से नीलत्व में लाकर 'उद्भूतरूपसम्बन्धस्तूभयमादाय वर्तते' यह ग्रन्थ लगाना चाहिए। यहाँ 'तु' शब्द 'अपि' के अर्थ में है। उसका फल यह होगा कि त्रसरेणुगत महत्परिमाण भी 'स्वाश्रयसमवायिसमवेतसमवेतत्वसम्बन्ध से 'नीलत्व' में उपलब्ध हो जायेगा। 'एवं पृथिवीपरमाणौ' इति। पृथिवी के परमाणु में और पट में रहनेवाली 'पृथिवीत्व' जाति एक ही है, पृथक् पृथक् नहीं है। घटगत-पृथिवीत्व में घटगतमहत्परिमाण और उद्भूतरूप 'स्वाश्रयसमवेतत्व' सम्बन्ध से रहता है। अतः पृथिवीपरमाणुगत पृथिवीत्व का प्रत्यक्ष हो सकता है। 'एवं वायौ' इति। इसी प्रकार (परम्परासम्बन्ध से) वायु में और उसके स्पर्श आदि में विद्यमान जो 'सत्ताजाति' है उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिए, क्योंकि वायु में विद्यमान सत्ताजाति में और महत्परिमाणवाले घट में रहनेवाली सत्ताजाति को लेकर 'स्वाश्रयसमवेतत्व' सम्बन्ध से प्रदर्शित किया जा सकता है। एवं वायु के स्पर्श में रहनेवाली सत्ताजाति में भी महत्परिमाण को 'स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्व' सम्बन्ध से प्रदर्शित किया जा सकता है। तथाहि—'स्व' शब्द से महत्परिमाण, उसका आश्रय 'घट', उसमें समवेत 'स्पर्श', उससे समवेत जो 'सत्ताजाति' है, वह वही है, जो वायु के स्पर्श में रहती है। इस प्रकार वायु के स्पर्श में रहनेवाली सत्ताजाति में भी महत्परिमाण चला जायेगा। इसी प्रकार सत्ता आदि में उद्भूतरूप भी चला जायेगा।

समा०—इसीलिये सन्निकर्ष के स्वरूप में इस प्रकार का परिष्कार किया कि 'द्रव्य में समवेत जो रूप आदि, उनके प्रत्यक्ष करने में, 'उद्भूतरूपावच्छिन्न' 'महत्त्वावच्छिन्न' जो चक्षुः-संयुक्तद्रव्य, 'ऐसे द्रव्य में समवाय का होना' कारण माना जाता है। अर्थात् केवल 'चक्षुःसंयुक्तसमवाय' यह, सन्निकर्ष का स्वरूप नहीं है, अपितु उपर्युक्त परिष्कृत स्वरूप ही है। निष्कर्ष यह है कि उद्भूतरूपावच्छिन्न, महत्त्वावच्छिन्न जो चक्षुःसंयुक्त, तत्समवाय को ही द्रव्यसमवेतरूपादिगुणों के प्रत्यक्ष के प्रति कारण मानना चाहिए। 'तादृशेति' उद्भूतरूपावच्छिन्न महत्त्वावच्छिन्न जो चक्षुः-संयुक्त, तत्समवेतसमवाय को ही द्रव्यसमवेत-समवेत रूपत्वादि के प्रत्यक्ष के प्रति कारण मानना चाहिये।

इत्थं च परमाणुनीलादौ न नीलत्वादिग्रहः, परमाणौ चक्षुःसंयोगस्य महत्त्वावच्छिन्नत्वाभावात्, एवं वाय्वादौ न सत्तादिचाक्षुषं, तत्र चक्षुःसंयोगस्य रूपावच्छिन्नत्वाभावात् ।

एवं यत्र घटस्य मध्यावच्छेदेनालोकसंयोगः चक्षुःसंयोगस्तु बाह्यावच्छेदेन तत्र घटप्रत्यक्षाभावादालोकसंयोगावच्छिन्नत्वं चक्षुःसंयोगे विशेषणं देयम् ।

एवं द्रव्यस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयोगः कारणम्। द्रव्यसमवेतस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्तसमवायः कारणम्। द्रव्यसमवेतसमवेतस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्तसमवेत-समवायः कारणम्।

अत्रापि महत्त्वावच्छिन्नत्वमुद्भूतस्पर्शावच्छिन्नत्वं च पूर्ववदेव बोध्यम्।

एवं गन्धप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवायः गन्धसमवेतस्य घ्राणजन्यप्रत्यक्षे घ्राण-संयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्।

'इत्थञ्चेति।' उद्भूतरूप और महत्परिमाण घटित चक्षुःसन्निकर्ष को कारण मानने पर पूर्वोक्त आपत्ति (पृथिवीपरमाणुनील में नीलत्व तथा पृथिवीपरमाणु में पृथिवीत्व के प्रत्यक्ष होने की आपत्ति) नहीं दी जा सकेगी। क्योंकि परमाणु में जो चक्षुः-संयोग है, वह महत्परिमाणविशिष्ट नहीं है। क्योंकि परमाणु में महत्परि-माण नहीं है। एवञ्च महत्परिमाणविशिष्ट जो चक्षुःसंयुक्त है, तत्समवेत-समवाय का परमाणुनीलगत नीलत्व में अभाव है, अतः वहाँ नीलत्व का प्रत्यक्ष नहीं होगा। उसी प्रकार महत्परिमाणविशिष्ट जो चक्षुः-संयुक्त है तत्समवाय का पृथिवीपरमाणु-गत पृथिवीत्व में अभाव है, अतः वहाँ पर भी पृथिवीत्व का प्रत्यक्ष नहीं होगा। 'एवमिति' उसी प्रकार वायु और उसके स्पर्श तथा सत्ताजाति के भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होने का प्रसंग नहीं दिया जा सकेगा। क्योंकि (तत्र) वायु में जो चक्षुः-संयोग है, वह रूपावच्छिन्न (रूपविशिष्ट) नहीं है। एवञ्च उद्भूतरूपावच्छिन्न जो चक्षुः-संयुक्त है, तत्समवाय का वायुनिष्ठसत्ता में अभाव है, अतः वायुनिष्ठसत्ताजाति का चाक्षुषप्रत्यक्ष होने का प्रसंग नहीं दिया जा सकेगा। इसी प्रकर उद्भूतरूपा-वच्छिन्न जो चक्षुःसंयुक्त है, तत्समवेत-समवाय का वायुस्पर्शनिष्ठसत्ता में अभाव है, अतः वायुस्पर्शनिष्ठसत्ता का भी प्रत्यक्ष होने का प्रसंग नहीं दिया जा सकेगा। 'सत्तादि' के 'आदि' पद से भर्जनकपालस्थवह्निनिष्ठसत्ता का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष का न होना समझ लेना चाहिए। अभिप्राय यह है—द्रव्यसमवेतरूपादि के चाक्षुष-प्रत्यक्ष में उद्भूतरूपविशिष्ट महत्त्वावच्छिन्न के साथ चक्षुः-संयुक्तसमवाय भी कारण होता है। उसी प्रकार द्रव्यसमवेत-समवेतरूपत्वादि के चाक्षुषप्रत्यक्ष में (तादृश) उद्भूतरूपविशिष्टमहत्त्वावच्छिन्न के साथ चक्षुः-संयुक्त-समवेत-समवाय सम्बन्ध भी कारण होता है।

'एवमिति'। पहले बता चुके हैं कि चाक्षुष-प्रत्यक्ष होने में व्यापार 'सन्निकर्ष' रहता है, उसके अतिरिक्त उसके अपने तीन सहकारिकारण भी होते हैं— (१) महत्परिमाण (२) उद्भूतरूप (३) प्रकाशसंयोग। दो सहकारिकारणों के बारे में बता चुके, तथापि 'प्रकाशसंयोग' रूप सहकारिकारण को लेकर प्रश्न हो सकता है कि अँधेरे में महत्परिमाणविशिष्ट-उद्भूतरूपविशिष्ट-चक्षु संयुक्त घट का प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा। इस अन्वय-व्यभिचार का निवारण करने के लिये चक्षुः-संयोग में 'अलोकसंयोगविशिष्टत्व' यह विशेषण जोड़ देना चाहिये।

शंका—जहाँ अन्धेरे में घट के बीच (मध्य भाग में) दीपक रखा जाय,

तो उसका प्रकाश घट के मध्यदेश में पड़ेगा अर्थात् आलोकसंयोग (प्रकाश संयोग) घट के मध्य (उदर) भाग में रहेगा और चक्षु:संयोग तो अन्धकार में घट के बाह्य देश में (बाह्यावच्छेदेन) हुआ है। अतः घट में महत्त्व भी, उद्भूत-रूप भी, आलोकसंयोग भी और चक्षु:संयोग भी है तथापि घट का प्रत्यक्ष नहीं होता, यह अन्वयव्यभिचार है।

समा०—उपर्युक्त अन्वयव्यभिचार के निवारणार्थ उक्त चारों का एकस्थला-वच्छेदन वैशिष्ट्य कहना चाहिए। तात्पर्य यह है कि चक्षु:संयोग में 'प्रकाशसंयोगाव-च्छिन्नत्व' विशेषण भी देना चाहिए; क्योंकि 'संयोग' अव्याप्यवृत्तिगुण है अतः वह द्रव्य के एक भाग में ही रहेगा, इसलिये यह कहने की आवश्यकता हुई कि जिस देश (भाग) में चक्षु:संयोग हो उसी देश में प्रकाश का भी संयोग रहना चाहिए अर्थात् जहाँ उद्भूतरूप, महत्परिमाण, प्रकाशसंयोगविशिष्ट चक्षु:संयोग होगा, वहीं पर द्रव्य-प्रत्यक्ष होगा; अन्यथा नहीं। यही भाव मुक्तावली में 'आलोक-संयोगावच्छिन्नत्वं चक्षु:सयोग' इति, इस ग्रन्थ में बताया गया है। एवञ्च एक-स्थलावच्छेदेन जो महत्त्वविशिष्टोद्‌तरूपविशिष्टालोकसंयोगविशिष्ट चक्षु:संयोग हो, वही द्रव्यप्रत्यक्ष के प्रति कारण कहलाता है। घट के बाहरी भाग में जहाँ चक्षु:-संयोग है, वहाँ यदि आलोकसंयोग होता तो प्रत्यक्ष होता, किन्तु वहाँ आलोसंयोग किसी जगह है और चक्षु:संयोग अन्यत्र कहीं है अर्थात् दोनों भिन्न-भिन्न देशों में हैं। एवञ्च विशिष्टकारण के न रहने से प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है, अर्थात् उपर्युक्त अन्वयव्यभिचार नहीं है। यहाँ ज्ञातव्य यह है—चाक्षुषप्रत्यक्ष में 'चक्षु' करण है। चक्षु:सन्निकर्ष (संयोगादि) व्यापार है, महत्त्व, उद्भूतरूप और आलोकसंयोग ये तीनों सहकारि कारण हैं। यह सब मिलकर प्रत्यक्ष की एक साथ पुष्कलसामग्री हो जाती है, इनमें से एक की भी यदि कभी (न्यूनता) रहे तो द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। 'एवमिति' इसी रीति से द्रव्य के स्पार्शनप्रत्यक्ष में महत्त्वावच्छिन्न, उद्भूतस्पर्शावच्छिन्न 'त्वक्संयोग' कारण होता है। द्रव्य-समवेत-उष्णादि-स्पर्श के प्रत्यक्ष में महत्त्वावच्छिन्न उद्भूतस्पर्शावच्छिन्न 'त्वक्संयुक्त-समवाय' कारण होता है। द्रव्य-समवेत-समवेत उष्णत्वादि के स्पार्शनप्रत्यक्ष में महत्त्वावच्छिन्न उद्भूत-स्पर्शावच्छिन्न त्वक्संयुक्तसमवेतसमवाय' कारण होता है। यहाँ पर भी पूर्ववत् (चाक्षुषप्रत्यक्ष की तरह) महत्त्वावच्छिन्न उद्भूतस्पर्शत्वावच्छिन्न के साथ 'त्वक्संयुक्तसमवेतादि' संबंध को कारण समझना चाहिये। इसी प्रकार गन्धप्रत्यक्ष के प्रति घ्राणसंयुक्त-समवाय सम्बन्ध को कारण माना जाता है, और गन्धसमवेत-'गन्धत्वादि' के प्रत्यक्ष में 'घ्राणसंयुक्त-समवेतसमवाय' कारण होता है। अर्थात् द्रव्य के त्वाचप्रत्यक्ष (स्पार्शनप्रत्यक्ष में) सन्निकर्ष 'त्वक्संयोग' है, और द्रव्य में समवेत स्पर्श आदि के स्पार्शनप्रत्यक्ष में त्वक्संयुक्तसमवायसंनिकर्ष कारण है, क्योंकि त्वक्संयुक्त हुए घटपटादि द्रव्य, उनमें 'स्पर्श' का समवाय है, तथा द्रव्य में समवेत जो स्पर्श, उसमें समवेत जो स्पर्शत्वादिजाति, उसके स्पार्शनप्रत्यक्ष में 'त्वक्संयुक्त-

समवेतसमवाय' कारण होता है। क्योंकि त्वक्संयुक्त द्रव्य हुआ, उसमें स्पर्श का समवाय है। अर्थात् स्पर्श समवेत है, उस स्पर्श में स्पर्शत्व जाति का समवाय है। यहाँ पर भी त्वक्संयुक्त द्रव्य को महत्त्वावच्छिन्न और उद्भूतस्पर्शावच्छिन्न होना चाहिए। अणु और द्व्यणुक का स्पर्शनप्रत्यक्ष इसलिए नहीं होता कि उसमें महत्परिमाण नहीं है। उसी तरह प्रकाश का स्पार्शनप्रत्यक्ष इसलिये नहीं होता कि उसमें उद्भूतस्पर्श नहीं है। बाह्यद्रव्य का प्रत्यक्ष केवल चक्षु और त्वक् दो इन्द्रियों से होता है। आत्मा का प्रत्यक्ष 'मन' इन्द्रिय से होता है। अब बाकी बचे घ्राण, रसना, श्रोत्र, इन तीन इन्द्रियों से द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। घ्राणेन्द्रिय से पुष्प के गन्ध का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु पुष्प का प्रत्यक्ष नहीं होता, इस कारण घ्राणजन्यप्रत्यक्ष में संयोग सन्निकर्ष का कोई प्रश्न ही नहीं है। क्योंकि संयोग तो द्रव्य से ही हो सकता है। घ्राणजप्रत्यक्ष में गन्ध का प्रत्यक्ष, घ्राणसंयुक्तसमवायसम्बन्ध से होता है। क्योंकि घ्राण से संयुक्त जो पुष्प, उसमें गन्ध का समवाय है। उसी प्रकार गन्धसमवेत गन्धत्व आदि जाति का प्रत्यक्ष घ्राणसंयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष से होता है।

एवं रसप्रत्यक्षे रसनासंयुक्तसमवायः, रससमवेतरासनप्रत्यक्षे रसनासंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्।

शब्दप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवायः कारणम्। शब्दसमवेतश्रावणप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतसमवायः कारणम्।

अत्र सर्वं प्रत्यक्षं लौकिकं बोध्यम्। वक्ष्यमाणमलौकिकप्रत्यक्षमिन्द्रियसंयोगादिकं विनापि भवति। एवमात्मनः प्रत्यक्षे मनःसंयोगः, आत्मसमवेतमानसप्रत्यक्षे मनःसंयुक्तसमवायः, आत्मसमवेतसमवेतमानसप्रत्यक्षे मनःसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्।

इस प्रकार रासनप्रत्यक्ष में भी संयोग' सन्निकर्ष नहीं होता, क्योंकि रसना के द्वारा किसी द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता, बल्कि 'रस' संज्ञक गुण का ही प्रत्यक्ष होता है। उसके (रस के) प्रत्यक्ष में महत्त्वावच्छिन्न-रसनासंयुक्त समवाय ही कारण होता है। अर्थात् रसना से संयुक्त जल हुआ, उस जल में रस का समवाय है। उसी प्रकार रस-समवेत-रसत्व के प्रत्यक्ष में महत्वावच्छिन्नरसनासंयुक्तसमवेतसमवाय कारण होता है। 'शब्दप्रत्यक्षे' इति। 'श्रोत्र' आकाशरूप है और 'शब्द' गुण है। अतः श्रोत्रात्मक आकाशसमवेतशब्द के प्रत्यक्ष में श्रोत्रानुयोगिकसमवाय कारण होता है। इसी कारण अन्यदेशस्थशब्द का प्रत्यक्ष नहीं होता। शब्दसमवेतशब्दत्व (शब्द में रहनेवाली शब्दत्वजाति) के श्रावण प्रत्यक्ष में श्रोत्रावच्छिन्नसमवेत समवाय (श्रोत्रानुयोगिकसमवेतसमवाय) कारण होता है, क्योंकि श्रोत्रावच्छिन्न देश में शब्द समवेत है और उसमें शब्दत्व जाति का समवाय है।

अलौकिक और लौकिक भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है, यह आगे बताया जायेगा। षड्विध (छह प्रकार के) सन्निकर्ष, लौकिक प्रत्यक्ष के ही होते हैं, किन्तु अलौकिक प्रत्यक्ष, इन्द्रियसंयोगादिसन्निकर्षों के बिना भी होता है। उसे अलौकिक इसलिये कहा जाता है कि वह लोकव्यवहार में प्रायशः अप्रसिद्ध (अज्ञात) रहता है। वह अलौकिकप्रत्यक्ष, सामान्यलक्षणासन्निकर्ष, ज्ञानलक्षणा-सन्निकर्ष, योगजधर्मसन्निकर्ष-प्रयोज्य-विषयता-निरूपक होता है। अतः चक्षुरादि-इन्द्रियसंयोगात्मक लौकिकसन्निकर्ष की उसे अपेक्षा नहीं होती है। 'विनापि' यहाँ 'अपि' शब्द से यह सूचित किया गया है कि क्वचित् अलौकिक प्रत्यक्ष में भी लौकिकसन्निकर्ष की अपेक्षा (आवश्यकता) होती है। उसी प्रकार आत्मा का प्रत्यक्ष मनस् इन्द्रिय (मानस प्रत्यक्ष) से होता है। मनस् (मन) और आत्मा दोनों द्रव्य हैं। इस कारण आत्मा को मनस् (मन) से संयोग होता है। इसलिये उसके (आत्मा के) प्रत्यक्ष में 'मनःसंयोग' सन्निकर्ष कारण होता है। यद्यपि 'पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्' इस कारिका की मुक्तावली में 'आत्म-मानसप्रत्यक्षे आत्ममहत्त्वस्य कारणत्वात्' कहकर आत्मा के मानस प्रत्यक्ष में मह-त्परिमाण को कारण बताया है, तथापि कार्य-कारणभाव के बीच में महत्परिमाण के निवेश करने का कोई प्रयोजन न होने से महत्परिमाण का निवेश बिना किये ही कार्य-कारणभाव को बताया गया है कि 'मनःसंयोग सन्निकर्ष' कारण होता है। अर्थात् आत्मवृत्तिलौकिकविषयता सम्बन्ध से प्रत्यक्ष के प्रति केवल 'मनःसंयोग' को कारण बताया गया है। आत्मा में समवेत ज्ञान आदि गुणों का भी मानस प्रत्यक्ष माना गया है। आत्मा के गुणों के प्रत्यक्ष में 'मनःसंयुक्त-समवाय' सन्निकर्ष कारण है। क्योंकि मन से सयुक्त हुआ आत्मा और उसमें ज्ञान आदि गुणों का समवाय है। तथा आत्मा में समवेत जो ज्ञान, सुख आदि गुण, उनमें समवेत जो ज्ञानत्व, सुखत्व आदि जातियाँ, उनके प्रत्यक्ष में 'मनःसंयुक्तसमवायसन्निकर्ष' कारण है।

अभावप्रत्यक्षे समवायप्रत्यक्षे चेन्द्रियसम्बद्धविशेषणता हेतुः। वैशेषिकमते तु समवायो न प्रत्यक्षः।

अत्र यद्यपि विशेषणता नानाविधा। तथाहि—भूतलादौ घटाद्यभावः स्वसंयुक्तविशेषणतया गृह्यते, सङ्ख्यादौ रूपाद्यभावः स्वसंयुक्तसमवेतविशेषण-तया, सङ्ख्यात्वादौ रूपाद्यभावः स्वसंयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणतया, शब्दाभावः केवलश्रोत्रावच्छिन्नविशेषणतया, कादौ खत्वाद्यभावः श्रोत्रावच्छिन्नसमवेत-विशेषणतया, एवं कत्वाद्यवच्छिन्नाभावे गत्वाभावादिकं श्रोत्रावच्छिन्नविशेषण-विशेषणतया, एवं घटाभावादौ पटाभावः चक्षुःसंयुक्तविशेषणविशेषणतया, एव-मन्यदप्यूह्यम्। तथापि विशेषणतात्वरूपेणैव सा गण्यते। अन्यथा षोढा सन्निकर्ष इति प्राचां प्रवादो व्याहन्येतेति।

॥ इति लौकिकसन्निकर्षनिरूपणम् ॥

समवाय को छोड़कर भावात्मक पदार्थ के प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष का निरूपण कर चुके। अब अभाव और समवाय के प्रत्यक्ष होने में सन्निकर्ष को बताते हैं—

'अभावप्रत्यक्षे इति।' समवाय के प्रत्यक्ष मानने में कुछ विवाद है। इसलिये प्रथमतः अभाव के प्रत्यक्ष का विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। अभाव तथा समवाय का 'इन्द्रिय-सम्बन्ध विशेषणता' सम्बन्ध से प्रत्यक्ष होता है। चक्षु से सम्बद्ध भूतलादि में घटादिकों का अभाव तथा समवेत रूपादिकों का समवाय दोनों विशेषण हैं। इसलिये इन्द्रियसम्बद्ध जो भूतलादि, उसमें विशेषणीभूत अभावादिकों का 'इन्द्रियसम्बद्ध विशेषणता' सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से ग्रहण होता है। भूतल पर घटाभाव का जहाँ प्रत्यक्ष होता है, वहाँ पर चक्षुरिन्द्रिय से संयुक्त हुए भूतल में (अभाव के अधिकरण में) विशेषण 'घटाभाव' स्वरूपसम्बन्ध से रहता है। स्वरूप-सम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिता को ही विशेषणता विषयता कहा जाता है। वह घटाभाव में है। इस कारण अभाव के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता सन्निकर्ष को कारण कहा गया है। यथा 'घटाभाववद् भूतलम्' इत्याकारक प्रतीति में भासित होता है उसी प्रकार इन्द्रियसम्बद्ध रूपादि भी समवेत है, वहाँ पर समवाय विशेषणीभूत है। जैसे 'रूपीरूपसमवायवान् घटः' यहाँ पर विशेषणतारूपा विषयता, समवाय-निष्ठा है। अर्थात् 'रूपसमवायवान् घटः' यहाँ पर समवायप्रत्यक्ष में और चक्षुःसम्बद्ध घट में विशेषण 'समवाय' है और वह स्वरूपसम्बन्ध से रहता है. इस इन्द्रियसम्बद्ध विशेषणताख्य सम्बन्ध को ही विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष भी कहते हैं। एवं च समवाय के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसम्बद्ध विशेषणता सन्निकर्ष' को कारण कहते हैं। क्योंकि वस्तुतः सम्बन्ध तो दो ही प्रकार के माने जाते हैं, जिनका अपना पृथक् अस्तित्व है, एक संयोग और दूसरा समवाय। दो द्रव्यों के सम्बन्ध को संयोग कहते हैं। दोनों संयुक्त द्रव्यों में वह 'संयोग' गुण होने के कारण समवाय सम्बन्ध से रहता है। किन्तु समवाय किस संबंध से रहता है? यह पूछने पर यदि दूसरा समवाय कहें तो अनवस्था होगी। अतः समवाय अपने अधिकरण में अपने स्वरूप से ही रहता है। इसलिये समवाय अपने अधिकरण का विशेषण कहलाता है। अतएव 'समवाय' का प्रत्यक्ष भी 'अभाव' के प्रत्यक्ष के समान इन्द्रियसम्बद्ध-विशेषणता-सन्निकर्ष से ही होता है। इस विशेषण-विशेष्यभावाख्य सन्निकर्ष को छठा (षष्ठ) सन्निकर्ष समझना चाहिए। वह दो प्रकार का होता है-(१) इन्द्रियसम्बद्ध-विशेष्यत्व और (२) इन्द्रियसम्बद्धविशेषणत्व। जब हम कहें 'भूतले घटाभावः' तब उसका अर्थ होगा 'भूतलवृत्तितावान् घटाभावः।' यहाँ पर 'घटाभाव' विशेष्य पदार्थ है और 'भूतल'-वृत्तितासम्बन्ध से घटाभाव में विशेषण है। अतः ऐसे स्थल में घटाभाव-प्रत्यक्ष के प्रति चक्षुःसंयुक्त-भूतलनिरूपितविशेष्यताख्य सन्निकर्ष को कारण समझना चाहिये। और जब 'घटाभाववद्भूतलम्' ऐसा प्रत्यय हो तब घटाभाव को भूतल में विशेषण समझना चाहिये। ऐसे स्थल में चक्षुःसंयुक्त-भूतल-निरूपित-विशेषणता-सन्निकर्ष को कारण समझना चाहिये।

गोतम के मत में 'समवाय' का तो प्रत्यक्ष होता है, किन्तु नवीनों के मत में तो समवायसम्बन्ध अनेक प्रकार के माने गये हैं। 'प्रत्यक्षद्रव्यादौ प्रत्यक्षा:' इस मत के अनुसार 'समवाय' का प्रत्यक्ष कहा गया है।

वैशेषिकमते इति—वैशेषिकों का कहना है कि यदि समवाय का प्रत्यक्ष होता तो रूपादिकों का समवाय जिनमें है ऐसे परमाणु आदिकों का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये था, और समवाय के एक होने से एक ही समय में भविष्यकाल के तथा भूतकाल के समवायाश्रय समस्त व्यक्तियों का प्रत्यक्ष होना चाहिये था, क्योंकि सम्बन्ध के प्रत्यक्ष में यावदाश्रयप्रत्यक्ष कारण होता है। तात्पर्य यह है कि सम्बन्ध का प्रत्यक्ष तभी हो सकता है कि जब उस सम्बन्ध के द्वारा सम्बद्ध सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष हो। संसार में समवाय नित्य तथा एक माना जाता है। उसके द्वारा सम्बद्ध समस्त वस्तुओं का यानी त्रैकालिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष होना चाहिये, किन्तु वह सम्भव नहीं। इस कारण वैशेषिकों ने समवाय का प्रत्यक्ष नहीं माना है।

परन्तु नैयायिक समवाय का प्रत्यक्ष मानते हैं। उनका कहना है कि जब घट में रूप का प्रत्यक्ष होता है, तो यह आवश्यक है कि रूप के समवाय का भी प्रत्यक्ष हो, यानी सम्बन्ध का प्रत्यक्ष भी आवश्यक है। नवीन नैयायिकों के अनुसार 'सम्बन्धप्रत्यक्ष' को कार्यतावच्छेदक नहीं माना गया है, अपितु यावदाश्रयप्रत्यक्ष का कार्यतावच्छेदक 'संयोगप्रत्यक्ष' ही है। वैशिषिकों का जो यह कहना है कि 'समस्त त्रैलाकिक सम्बन्धों के प्रत्यक्ष होने पर ही सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है, वह उचित नहीं है। हाँ, 'संयोग' सम्बन्ध के विषय में वह कथन ठीक है, किन्तु 'समवाय' में भी उसे कह देना ठीक नहीं। अत: नैयायिक 'समवाय' का भी प्रत्यक्ष 'अभाव' के प्रत्यक्ष के समान ही 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता' सन्निकर्ष से ही मानते हैं। **'अत्र यद्यपीति।'** यहाँ पर विशेषणतासन्निकर्ष का 'प्रत्यक्ष' के साथ कार्य कारणभावस्थल में जो विशेषणता सम्बन्ध है; वह, इन्द्रिय और तत्सन्निकर्ष के भेद से अनेक प्रकार का है, तब विशेषणतासन्निकर्ष को एक षष्ठसंख्या का पूरकमात्र समझना ठीक नहीं है, तथापि 'विशेषणतात्व' रूप एक धर्म के कारण विशेषणता सन्निकर्ष को एक कहा जाता है। इसलिये षष्ठसंख्यापूरक के रूप में उसे स्वीकृत किया गया है। विशेषणता की अनेक विधता को बता रहे हैं—'तथा हीति।' चक्षु:संयुक्त-भूतल या जल में घटपटादि के अभाव का प्रत्यक्ष—'घटाभाववद्भूतलं जलं वा'—चक्षुसंयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष से होता है। क्योंकि चक्षुसंयुक्त हुआ भूतल या जल आदि, उसमें 'घटाभाव' विशेषण है तथा संख्या, आदि गुणो में रूपादि के अभाव का (संख्या में रूप नहीं है) प्रत्यक्ष, चक्षु:संयुक्तसमवेत-विशेषणता-सन्निकर्ष से होता है, क्योंकि चक्षुसंयुक्त हुआ भूतल, उसमें समवेत हुई संख्या, उसमें विशेषण हुआ रूपादि का अभाव। तथा 'संख्यात्व' जाति में रूपभाव का प्रत्यक्ष, चक्षु:-संयुक्त-समवेत-समवेत-विशेषणता सन्निकर्ष से होता है, क्योंकि चक्षु:-

संयुक्त हुआ भूतल, उसमें समवेत हुई संख्या, उनमें समवेत हुआ संख्यात्व, उसमें रूपादि का अभाव विशेषण है। उसी प्रकार शब्द के अभाव का प्रत्यक्ष, केवल श्रोत्रावच्छिन्नविशेषणतासन्निकर्ष (श्रोत्रवृत्तिविशेषणतासन्निकर्ष) से होता है, क्योंकि 'शब्दाभाव' श्रोत्र का विशेषण है। अर्थात् 'शब्दाभाववत्श्रोत्रम्' इस प्रतीति के समय शब्दाभाव में जो विशेषणता है, वह श्रोत्रावच्छिन्न है। श्रोत्रवृत्ति 'क'-कार में ('क' आदि शब्दों में) जो 'खत्व' जाति का अभाव, उसके प्रत्यक्ष में 'श्रोत्रसमवेत (क) विशेषणता-सन्निकर्ष' कारण है, क्योंकि श्रोत्रावच्छेदेन समवेत जो 'क' शब्द, उसमें 'खत्वाभाव' विशेषण है। उसी प्रकार आकाशात्मक श्रोत्र में जो कत्वावच्छिन्न 'क'कार का अभाव है, उस अभाव में 'गत्व' जाति का जो अभाव है ('क'कार के अभाव में 'ग'कार का अभाव है) उसके प्रत्यक्ष में श्रोत्र-विशेषण ('क'काराभाव) विशेषणतासन्निकर्ष कारण होता है, क्योंकि श्रोत्र में विशेषण 'क'काराभाव, उसमें विशेषण 'गत्व'जाति का अभाव है। उसी प्रकार भूतल में जो घटाभाव है, उसमें रहनेवाले पटाभाव के प्रत्यक्ष में चक्षुःसंयुक्त (भूतल) विशेषण (घटाभाव) विशेषणता (पटाभावनिष्ठ) सन्निकर्ष कारण है, क्योंकि चक्षुःसंयुक्त भूतल में विशेषण घटाभाव हुआ और उसमें विशेषण पटाभाव हुआ। इसलिये घटाभावनिरूपितविशेषणता पटाभाव में हुई। 'एवमन्यदप्यूह्यमि'ति। इसी प्रकार इतर अभावों के प्रत्यक्ष में भी जैसा जहाँ हो वहाँ पर वैसे सम्बन्धों की कल्पना कर लेनी चाहिए। इस प्रकार विशेषणता अनेक प्रकार की होती है, यह प्रतीत होता है, तथापि उन सभी विशेषणताओं में जो अनुगत धर्म विशेषणतात्व है, उस (विशेषणतात्व) रूप से उन सब विशेषणताओं के समुदाय को एक ही (विशेषणतारूप) माना है। 'विशेषणतया तद्वत्' कहकर मूलकार ने यही अभिप्राय व्यक्त किया है। अन्यथा (विशेषणता को, यदि अनेक मानेंगे तो) 'सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है' यह प्राचीनों का कथन (प्रवाद) संगत नहीं हो सकेगा, क्योंकि विशेषणताओं को अनेक प्रकार का मानने से तो सन्निकर्ष भी छह से कहीं अधिक होंगे। जैसे—घटद्रव्य में गुण, गुण में गुणत्व, गुणत्व में पदार्थत्व, पदार्थत्वधर्म में घटाभाव, घटाभाव में गुणत्वाभाव इस क्रम से विशेषण-विशेष्यभाव के रहने पर तत्तद् विशेष्यों के साथ विशेषणों के जो सम्बन्ध होंगे, उनके अनुसार सम्बन्धपरम्परा की कल्पना करनी पड़ेगी।

॥ इति लौकिकसन्निकर्षनिरूपणम् ॥

यदि स्यादुपलभ्येतेति। अत्राभावप्रत्यक्षे योग्यानुपलब्धिः कारणम्। तथाहि—भूतलादौ घटादिज्ञाने जाते घटाभावादिकं न ज्ञायते। तेनाभावोपलम्भे प्रतियोग्युपलम्भाभावः कारणम्। तत्र योग्यताप्यपेक्षिता। सा च प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपा। तदर्थश्च प्रतियोगिनो घटादेः सत्त्वप्रसक्त्या प्रसञ्जित आपादि उपलम्भरूपः प्रतियोगी यस्य सोऽभावप्रत्यक्षे हेतुः।

तथाहि—यत्रालोकसंयोगादिकं वर्तते, तत्र 'यद्यत्र घटः स्यात्तर्हि उपलभ्येते'त्यापादयितुं शक्यते। तत्र घटाभावादिप्रत्यक्षं भवति। अन्धकारे तु नापादयितुं शक्यते। तेन घटाभावादेरन्धकारे न चाक्षुषं प्रत्यक्षम्, स्पार्शनप्रत्यक्षं तु भवत्येव, आलोकसंयोगं विनापि स्पार्शनप्रत्यक्षस्यापादयितुं शक्यत्वात्। गुरुत्वादिकं यदयोग्यं तदभावस्तु न प्रत्यक्षस्तत्र गुरुत्वादिप्रत्यक्षस्यापादयितुमशक्यत्वात्। वायौ रूपाभावः। पाषाणे सौरभाभावः। गुडे तिक्ताभावः। श्रोत्रे शब्दाभावः। आत्मनि सुखाभावः। एवमादयस्तत्तदिन्द्रियैर्गृह्यन्ते, तत्तत्प्रत्यक्षस्यापादयितुं शक्यत्वात्। संसर्गाभावप्रत्यक्षे प्रतियोगिनो योग्यता। अन्योन्याभावप्रत्यक्षे त्वधिकरणयोग्यताऽपेक्षिता। अतः स्तम्भादौ पिशाचादिभेदोऽपि चक्षुषा गृह्यत एव॥ ५९–६२॥

यहाँ तक अभाव के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय कारण है और 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता सन्निकर्ष व्यापार है—यह बताया। अब अभाव के प्रत्यक्ष में 'योग्यानुपलब्धि' को सहकारिकारण [सहायक] के रूप में बता रहे हैं उसके सहायक होने में युक्ति बताते हैं—जिस किसी भूप्रदेश में 'घट' है, ऐसा भ्रम हुआ, उसी भूप्रदेश में घट के अभाव का ज्ञान [यहाँ घट नहीं है—इस प्रकार का ज्ञान] नहीं होता। अर्थात् जहाँ प्रतियोगी का प्रत्यक्ष नहीं होगा, वहीं पर उसके अभाव का प्रत्यक्ष होता है, यानी घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर घटाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता, यह वस्तुस्थिति है। अतः अभाव के लौकिक प्रत्यक्ष में प्रतियोगी के [जिस वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष होता है, उस वस्तु के] ज्ञान का जो अभाव है, वही, [अभावरूपी अनुपलब्धि] कारण होता है। अर्थात् अभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी के ज्ञान का अभाव ही कारण है।

शंका—प्रतियोगी का उपलंभाभाव [अनुपलब्धि] प्रतियोगी के अभाव का प्रत्यक्ष होने में यदि कारण है तो जलादि परमाणु में पृथ्वीत्व का उपलंभ [प्रत्यक्ष] नहीं होता, अतः जलादि परमाणु में पृथ्वीत्वोपलंभाभाव है, तो वहाँ [जलादिपरमाणु में] पृथ्वीत्वाभाव का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता?

समा०—प्रतियोगी के उपलंभाभाव में 'योग्यता' भी अपेक्षित होती है। अर्थात् योग्यताविशिष्ट जो प्रतियोग्युपलंभाभाव हो; वही प्रतियोगी के अभाव का प्रत्यक्ष होने में कारण होता है। योग्यता को प्रदर्शित करते हैं—"सा चेति।" सा च प्रतियोगित्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपा। इसका अर्थ यह हुआ कि वह योग्यता प्रतियोगी के सत्त्वापादन से आपादित प्रतियोगिकत्वरूपा है, अर्थात् घटादि प्रतियोगियों की प्रसक्तिद्वारा जिसके प्रतियोगी का उपलंभरूप से आपादन हो सके, ऐसा उपलंभाऽभाव, अभावप्रत्यक्ष में कारण है। अभिप्राय यह है—प्रतियोगी के उपलंभ (अस्तित्व) के आरोप का जहाँ संभव हो सके वहाँ तत्प्रतियोगी के अभाव का प्रत्यक्ष होता है, अन्यथा नहीं। निष्कर्ष यह निकला कि 'अभाव' का प्रतियोगी

'घट' है, वह जिस भूप्रदेश में जब रहे, तब उस अभाव के प्रतियोगी की उपलब्धि होती है, उस उपलब्धि का अभाव ही उस प्रतियोगी के अभावप्रत्यक्ष के प्रति कारण होता है। भाट्ट मीमांसकों का कहना है कि 'अभाव' पदार्थ का ज्ञान 'प्रत्यक्ष' प्रमाण से नहीं होता, किन्तु 'अनुपलब्धिप्रमाण' से होता है। अर्थात् अभाव पदार्थ अनुपलब्धिप्रमाणजन्य अनुपलम्भात्मक प्रमिति का विषय होता है। उसी तरह भाट्ट मीमांसक 'समवाय' संज्ञक पदार्थ को भी नहीं मानते। अतः उन दोनों के प्रत्यक्ष के लिये 'विशेषणता-सन्निकर्ष को मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

उक्त मीमांसकसिद्धान्त का खण्डन 'यदि स्यादुपलभ्येत' के द्वारा किया जा रहा है। अनुपलब्धिसहकृत इन्द्रिय के द्वारा 'अभाव' का प्रत्यक्ष यदि हो सकता है तो अनुपलम्भात्मक एक पृथक् ज्ञान और तत्करणत्वेन अनुपलब्धिरूप एक पृथक् प्रमाण क्यों माना जाय? क्योंकि पृथक् प्रमिति और तत्साधनार्थ एक पृथक् प्रमाण मानने में गौरव होगा। नैयायिक अपने सिद्धान्त को बता रहा है—'अभावप्रत्यक्षे योग्यानुपलब्धिरिति।' इन्द्रिय से होनेवाले अभावप्रत्यक्ष में योग्यानुपलब्धि सहकारि कारण होती है। योग्यस्य अनुपलब्धि, योग्यानुपलब्धिः। प्रत्यक्ष होने की योग्यता जिसमें है, ऐसे घट की अनुपलब्धि=उपलम्भाभाव अर्थात् प्रत्यक्ष प्रतीति न होना। तात्पर्य यह है कि घटप्रत्यक्षाभाव, घटाऽभावप्रत्यक्ष में सहकारि कारण होता है। योग्यानुपलब्धि का वास्तविक अर्थ यह है कि योग्यताविशिष्ट उपलब्ध्यभाव, वह योग्यता अभाव में रहती है। कारणमिति। योग्यानुपलब्धि, प्रत्यक्ष में कारण ही है, 'करण' नहीं है। इसीके उपपादथार्थ 'तथाही'ति के द्वारा बता रहे हैं—भूतल-रूप अधिकरण में चक्षुःसंयुक्त-संयोग के द्वारा घट का प्रत्यक्षज्ञान होने पर घटाभाव (घटप्रतियोगिताक अभाव) का प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता। अर्थात् तत्तदिन्द्रियजन्य-संयोगादिसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारताशाल्यनहार्यनिश्चये जाते सति तत्तदिन्द्रियजन्यसंयोगादिसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वाद्यवच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावत्वा-वच्छिन्न-लौकिकप्रकारताशाल्यनाहार्यज्ञानत्वावच्छिन्नं न जायते। तात्पर्य यह है कि विशेष्यतासम्बन्ध से भूतलनिष्ठ घटाभावज्ञान में विशेष्यतासम्बन्ध से घटनिश्चय प्रतिबन्धक होता है - 'विशेष्यतासम्बन्धेन भूतलनिष्ठ घटाभावज्ञानम्प्रति विशेष्यता-सम्बन्धेन घटनिश्चयः प्रतिबन्धकः।' 'तेने'ति। घटाभावज्ञान में घटनिश्चय प्रति-बन्धक होने से 'अभावोपलम्भे' अर्थात् विशेष्यतासंबंध से घटाद्यभावज्ञान के प्रति 'प्रतियोग्युपलम्भाभावः' अर्थात् विशेष्यतासम्बन्ध से घटात्मकप्रतियोगिनिश्चयाऽभाव को कारण माना जाता है, करण नहीं। अभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोग्युपलम्भाभाव को कारण मानने पर जलपरमाणु में पृथिवीत्वोपलम्भाभाव रहने से पृथिवीत्वाभाव के प्रत्यक्ष होने की आशंका का निवारण करने के लिये योग्यताविशिष्ट प्रतियोग्युप-लम्भाभाव को कारण बताया जा रहा है—'तत्र योग्यताप्यपेक्षिता' तत्र=उस प्रतियोग्युपलम्भाभाव में अर्थात् पृथिवीत्वादिप्रत्यक्षाभावरूप कारण में सहकारि-कारण के रूप में योग्यता की अपेक्षा की जाती है। उस योग्यता को मणिकार के

अनुसार बता रहे हैं—'प्रतियोगीति' यहाँ पर तर्क आपादक होता है, अतः तर्क का स्वरूप यह होगा—'यदि अत्र घटः स्यात्, तर्हि उपलभ्येत'। इसमें 'यदि अत्र घटः स्यात्' यह प्रथम दल, आपादक है, वह घटरूप–प्रतियोगी की सत्ता (सत्त्व) का आरोपक होता है। उस आपादक के द्वारा (प्रतियोगी के सत्त्वारोप के द्वारा) 'तर्हि उपलभ्येत' इस प्रकार घटोपलम्भ—(घट प्रत्यक्ष) रूप आपाद्य का आरोप होता है। आपाद्याभाव से आपादकाभाव की सिद्धि अर्थात् घटोपलम्भाभाव से घटाभाव की सिद्धि यहाँ प्रत्यक्ष हो जाती है। आपाद्याभाव में (प्रतियोग्युपलम्भाभाव में) जो आपाद्यप्रतियोगिकत्व धर्म (घटोपलम्भप्रतियोगिकत्व धर्म) है, वही 'योग्यता' पदार्थ है। इसी अभिप्राय को मुक्तावलीकार बता रहे हैं—प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जन के द्वारा प्रसञ्जित है प्रतियोगी जिसका। प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जन का अर्थ होगा कि घट की सत्ता का आरोप। जैसे 'यदि अत्र घटः स्यात्' इत्याकारक आरोप, इस आरोप के द्वारा प्रसञ्जितप्रतियोगिकः अर्थात् आरोपित प्रतियोगी, यानी 'तर्हि उपलभ्येत' इस आरोप का विषय जो घटोपलम्भ [घटप्रत्यक्ष] है, वही प्रतियोगी है जिस अभाव का, वह घटोपलम्भप्रतियोगिक अभाव हुआ। उस अभाव में जो तादृशप्रतियोगिकत्वरूप धर्म है, वही योग्यता पदार्थ है। अर्थात् तादृशयोग्यताविशिष्टप्रतियोग्युपलम्भाभाव ही प्रतियोग्यभाव के प्रत्यक्ष में कारण होता है। जलपरमाणु में यदि अत्र पृथिवीत्वं स्यात् तर्हि उपलभ्येत' इस प्रकार आपादन करना संभव न होने से अर्थात् पृथिवीत्वसत्तारोपजन्य आरोपविषय पृथिवीत्वात्मकप्रतियोगिकत्व का जलपरमाणुगतपृथिवीत्वाभाव में अभाव होने से जलपरमाणु में पृथित्वाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता। योग्यता का लघुलक्षण इस प्रकार होगा—'प्रतियोगिसत्ताव्यापकोपलम्भप्रतियोगिकत्वं योग्यत्वम्।' मुक्तावलीकार 'योग्यता' को व्युत्पत्ति के द्वारा बता रहे हैं—'तदर्थश्चेति।' जिसका अभाव प्रत्यक्ष करना है, वह प्रतियोगी है। जैसे घटाभाव का प्रतियोगी 'घट' हुआ, उसकी 'सत्त्वप्रसक्ति' से अर्थात् 'स्यात्' इत्याकारक सत्ता की प्रसक्ति (आरोप) से प्रसञ्जित (आरोपित) अर्थात् 'तर्हि उपलभ्येत इस प्रकार आरोप का विषय बना हुआ, उपलम्भरूपः (प्रत्यक्षज्ञानात्मक) प्रतियोगी, जिस उपलंभाभाव है, उस उपलंभाभाव में रहनेवाला जो तादृशप्रतियोगिकत्वात्मक धर्म है, वही योग्यता पदार्थ है। तादृशयोग्यताविशिष्टप्रतियोग्युपलंभाभाव, प्रतियोगी के अभावप्रत्यक्ष में कारण है। प्रतियोगी (घट) की सत्ता व्याप्य है और प्रतियोगी का उपलंभ व्यापक है। इसी को स्पष्ट करते हैं—'तथा हीति।' जहाँ (जिस भूप्रदेश में) आलोकसंयोग आदि है अर्थात् आलोकसंयोगावच्छिन्न-महत्त्वावच्छिन्न-उद्भूतरूपावच्छिन्न चक्षुःसंयोग है, वहाँ (उस भूप्रदेश में) 'यदि अत्र घटः स्यात् तर्हि उपलभ्येत' ऐसा आपादन (आरोप) कर सकते हैं, अतः वहाँ पर घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है। जहाँ प्रतियोगी की सत्ता है वहाँ प्रतियोगी का उपलम्भ होता है। एवञ्च चक्षुःसन्निकर्षसहकृत जो प्रतियोगि (घट) सत्तानिष्ठव्याप्यतानिरूपित-

व्यापकतावान् प्रतियोग्युपलम्भ, उसका विशेष्यतासम्बन्ध से जो भूतलनिष्ठ अभाव है, वह प्रतियोग्यभाव के प्रत्यक्ष में कारण है। निष्कर्ष यह है—तन्निष्ठ (घटनिष्ठ) प्रकारताशालि (घटवद्भूतलम्) प्रत्यक्ष का जो लौकिकविशेष्यतासंबंधावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट-अभाव; वही, तदभाव (घटाभाव) प्रत्यक्ष में कारण है। जहाँ अंधकार है (जहाँ आलोकसंयोगाद्यवच्छिन्न चक्षुःसंयोग नहीं है) वहाँ तो पूर्व प्रदर्शित रीति से उपलब्धि की संभावना चक्षुरिन्द्रिय से नहीं की जाती, इस कारण अन्धकार में घटाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि उस अंधकार में 'यदि अत्र घटः स्यात् तर्हि उपलम्येत' ऐसा आपादान (आरोप) नहीं कर सकते। तेन=उस कारण अर्थात् प्रतियोगि (घट) सत्ताव्यापक प्रतियोग्युपलम्भप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यता का ही अभाव होने के कारण योग्यताविशिष्ट-प्रतियोग्युपलम्भाभावरूप कारण नहीं है, इसलिए अन्धकार में घटाभाव का चाक्षुष-प्रत्यक्षरूप कार्य नहीं हो पाता। किन्तु अन्धकार में घट का स्पार्शन प्रत्यक्ष होने में कोई रुकावट नहीं है। अतः स्पार्शन प्रत्यक्ष (त्वगिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष) तो होता ही है, क्योंकि घट के स्पार्शन प्रत्यक्ष में आलोकसंयोग को कारण नहीं माना जाता, अपितु उद्भूतस्पर्शावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्न-त्वक्संयोग को ही कारण माना जाता है। एवञ्च अन्धकार में भी जब घट नहीं होता, तब त्वगिन्द्रियजन्य अभावप्रत्यक्ष के प्रति उद्भूतस्पर्शावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्न त्वक्संयुक्तविशेषणता को ही कारण माना जाता है। अतः उक्त 'कारण' अन्धेरे में भी स्थित घटाभाव में विद्यमान है। इस कारण वहाँ अन्धेरे में आलोकसंयोग के बिना भी स्पार्शन प्रत्यक्ष (त्वगिन्द्रिय-प्रत्यक्ष) का 'यदि अत्र गृहे घटः स्यात् तर्हि त्वचा उपलम्येत' इत्याकारक आपादान (आरोप) कर सकते हैं। अतः घटसत्ताव्यापक-घटस्पार्शनोपलम्भप्रतियोगि-कत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट अभावात्मक कारण के विद्यमान होने से घटाभाव का स्पार्शनप्रत्यक्ष होने में कोई रुकावट नहीं होती। जैसे अन्धकार में घटाभाव का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता, वैसे ही अतीन्द्रिय पदार्थ के अभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं होता, यह बताते हैं—'गुरुत्वादिकमिति।' गुरुत्व, धर्म, अधर्म, पिशाच आदि अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, जो प्रत्यक्ष होने के योग्य नहीं हैं, उनका अभाव भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। क्योंकि उस गुरुत्वादिकरण में गुरुत्वादिप्रत्यक्ष का 'यदि घटे गुरुत्वं स्यात्, तर्हि उपलम्येत' इत्याकारक आपादान [आरोप] करना संभव नहीं है। गुरुत्व तो सर्वथा तुला के द्वारा अनुमेय ही होता है। उसी तरह धर्माऽ-धर्म भी प्रत्यक्षयोग्य नहीं हैं, इस कारण धर्माऽधर्माधिकरण में 'यदि मयि धर्मः स्यात्, तर्हि उपलम्येत' ऐसा आपादान भी नहीं किया जाता, किन्तु सुखादिफला-त्मकलिङ्ग से धर्माऽधर्म का अनुमान ही किया जाता है। तात्पर्य यह है कि तादृश-योग्यता और उपलम्भ ही अप्रसिद्ध है। एवञ्च कारण की अप्रसिद्धि होने से गुरु-त्वादिप्रत्यक्ष भी अप्रसिद्ध है।

इसी प्रकार वायु में रूपाभाव का, पाषाण में सुगन्ध के [सौरभ के] अभाव का,

गुड़ में तिक्तरस के अभाव का, श्रोत्र में शब्दाभाव का, आत्मा में सुखाभाव आदि का ग्रहण [प्रत्यक्ष] तत्तद् इन्द्रियों से [उन उन इन्द्रियों से] होता है, जिन जिन इन्द्रियों से उन उन अभावों के प्रत्यक्ष का आपादन [आरोप] किया जा सकता है। क्योंकि उक्त अभावों के प्रतियोगी जो रूपादिक हैं, उनके उपलभाभाव में 'प्रतियोगित्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूप' योग्यता है। पृथिवी में उद्भूत-रूप का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता देखा गया है, अतः 'वायौ यदि उद्भूतरूपं स्यात् तर्हि चक्षुषा उपलभ्येत' ऐसा आपादान (आरोप) हो सकता है। एवञ्च उद्भूतरूप-सत्ताव्यापक-चाक्षुषप्रत्यक्षप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्टाभावात्मक कारण के विद्यमान होने से वायु में उद्भूतरूपाऽभाव का प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार पुष्प आदि में उद्भूतसौरभ का घ्राणजप्रत्यक्ष होता है। अतः पाषाणे यदि उद्भूत-सौरभं स्यात् तर्हि घ्राणेन उपलभ्येत' ऐसा आपादन हो सकता है। एवञ्च—उद्भूतसौरभसत्ताव्यापकघ्राणजप्रत्यक्षप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट अभावात्मक कारण के रहने से पाषाण में उद्भूतसौरभाभाव का प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार मरीचिका आदि में उद्भूत तिक्तरस का रासनप्रत्यक्ष होता है। अतः 'गुडे यदि उद्भूततिक्तः स्यात् तर्हि रसनया उपलभ्येत' यह आपादन किया जा सकता है। अतः उद्भूततिक्तसत्ताव्यापकरासनप्रत्यक्षप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट अभावा-त्मक कारण के रहने से गुड में उद्भूततिक्ताभाव का प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार पृथिवी में अनुष्णस्पर्श का त्वाच प्रत्यक्ष होता है। अतः 'वह्नौ यदि उद्भूताऽनुष्ण-स्पर्शः स्यात् तर्हि त्वचा उपलभ्येत' ऐसा आपादन किया जा सकता है। इसलिये उद्भूतानुष्णस्पर्शसत्ताव्यापकत्वाचप्रत्यक्षप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट अभावा-त्मक कारण के रहने से वह्नि में उद्भूतानुष्णाभाव का प्रत्यक्ष होता है। श्रोत्र में एक बार शब्द का प्रत्यक्ष हो चुका है, अतः दूसरी बार भी 'यदि श्रोत्रे शब्दः स्यात् तर्हि श्रोत्रेण उपलभ्येत' यह आपादन किया जा सकता है। अतः शब्दसत्ता-व्यापकश्रोत्रजप्रत्यक्षप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट अभावात्मक कारण के रहने से श्रोत्र में शब्दाभाव का प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार एक बार आत्मा में सुख का प्रत्यक्ष हो चुका है, तो दूसरी बार भी 'यदि आत्मनि सुखं स्यात् तर्हि मनसा उपलभ्येत' यह आपादन किया जा सकता है। इस कारण सुखसत्ताव्यापकमानस-प्रत्यक्षप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट अभावात्मक कारण के विद्यमान रहने से आत्मा में सुखाभाव का मानस प्रत्यक्ष होता है। 'आदि' शब्द से 'प्रभा' में उद्-भूतस्पर्शाभाव का त्वाचप्रत्यक्ष होता है, क्योंकि 'प्रभायां यदि उद्भूतस्पर्शः स्यात् तर्हि उपलभ्येत' ऐसा आपादन (आरोप) किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि वायु में रूपाभाव के प्रत्यक्ष से लेकर आत्मा में सुखाभाव आदि का प्रत्यक्ष उन-उन इन्द्रियों से होता है, जिन-जिन इन्द्रियों से उन-उन अभावों के उन-उन प्रतियोगियों का प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि तत्तत् अभावों के प्रत्यक्ष का आपादन (आरोप) कर सकते हैं, क्योंकि तत्तत् अभावों के रूपादि प्रतियोगियों के उपलंभा-भाव में 'प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्व' रूप योग्यता विद्यमान है।

अब संसर्गाभाव के प्रत्यक्ष में और अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में भिन्न-भिन्न योग्यता अपेक्षित होती है 'संसर्गाभावप्रत्यक्षे' इति। प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव-अत्यन्ताभाव के भेद से संसर्गाभाव के तीन प्रकार हैं। संसर्गाभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी (घटादि) की प्रत्यक्षयोग्यता आवश्यक रहती है। अर्थात् जिस किसी इन्द्रिय से जो घटादि प्रतियोगी प्रत्यक्षयोग्य रहता है, उसी के प्रागभाव का, प्रध्वंसाभाव का और अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष हो पाता है। जो प्रतियोगी इन्द्रिय का गोचर (विषय) कभी होता ही नहीं, उसके संसर्गाभाव का कभी भी प्रत्यक्ष नहीं होता। 'प्रतियोगिनो योग्यता' अर्थात् 'प्रतियोगियोग्यत्व'। 'योग्य' का अर्थ है प्रत्यक्ष के योग्य अर्थात् प्रत्यक्षविषय। इस योग्यत्व (योग्यमात्रप्रतियोगिकत्व) को अभावनिष्ठ समझना चाहिए। उसी तरह अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में तो अधिकरण की योग्यता अपेक्षित है। अर्थात् संसर्गाभाव के अतिरिक्त अभाव के प्रत्यक्ष में अधिकरणयोग्यता अर्थात् अभावाधिकरण की ही प्रत्यक्षयोग्यता आवश्यक है। यदि अधिकरण प्रत्यक्षयोग्य (प्रत्यक्ष का विषय) है, तो अन्योन्याभाव का प्रत्यक्ष अवश्य होगा। अधिकरणयोग्यत्व अर्थात् योग्या (प्रत्यक्षविषया) धिकरणवृत्तित्व। एवञ्च यहाँ योग्यतापदार्थ, अन्योन्याभावनिष्ठ है। अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में अधिकरणयोग्यता कारण होने से 'स्तंभः पिशाचो न' इत्याकारक भेद अर्थात् स्तंभ आदि अधिकरण में प्रत्यक्ष के अयोग्य ऐसे पिशाच आदि का भेद (अन्योन्याभाव) चक्षु से गृहीत होता है 'एवमिति'। नैयायिकों के मत में लौकिक तथा अलौकिक भेद से प्रत्यक्ष के दो प्रकार माने जाते हैं। लोक-व्यवहार में प्रसिद्धसंयोगादिषड्विधसन्निकर्षजन्यप्रत्यक्ष को लौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं, इस लौकिक प्रत्यक्ष के हेतुभूत षड्विध (षोढ़ा) सन्निकर्षों का निरूपण अभी तक किया गया। [५९-६० - ६१ - ६२]

॥ इति योग्यानुपलब्धिनिरूपणम् ॥

एवं प्रत्यक्षं लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधम्। तत्र लौकिकप्रत्यक्षे षोढा सन्निकर्षो वर्णितः। अलौकिकसन्निकर्षस्त्विदानीमुच्यते—

अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा ॥ ६३ ॥

अलौकिकः लोके भवः लौकिकः, न लौकिकः अलौकिकः, इन्द्रियसम्बन्धरहित इत्यर्थः। व्यापारः सन्निकर्षः=यहाँ व्यापार, सन्निकर्ष को समझना। अन्यथा धूमत्वादि-सामान्यलक्षणा में इन्द्रियजन्यत्व के न रहने से व्यापार का कथन असंगत होगा, क्योंकि व्यापार तो तज्जन्यजनकत्वरूप होता है। सामान्यलक्षणः=सामान्यं लक्षणं यस्य सः, सामान्य पद से यहाँ जाति का ग्रहण है। अर्थात् समानानां भावः अनागन्तुको नित्यो धर्मः सामान्यम्। द्रव्यगुणकर्मैतत्त्रितयवृत्तिः। वात्स्यायन ने

बताया है कि 'या समानाम्बुद्धिम्प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु यया बहूनीतरेतरतो व्यावर्तन्ते, 'योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्तिनिमित्तं तत्सामान्यम्' । (न्या० भा० २।२।७१) इति । यथा घटत्वादि जातिः । ज्ञानलक्षणः—ज्ञानं लक्षणं यस्य सः । योगजः—योगाभ्यासजनित इत्यर्थः ।

अलौकिक सन्निकर्ष तो सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण तथा योगाभ्यासजन्य इन भेदों से तीन प्रकार का है ।

अलौकिकस्त्विवति । व्यापारः सन्निकर्षः । सामान्यलक्षण इति सामान्यं लक्षणं यस्येत्यर्थः ।

अत्र लक्षणपदेन यदि स्वरूपमुच्यते तदा सामान्यस्वरूपा प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते । तच्चेन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञाने प्रकारीभूतं बोध्यम् । तथाहि यत्रेन्द्रियसंयुक्तो धूमादिस्तद्विशेष्यकं धूम इति ज्ञानं यत्र जातं तत्र ज्ञाने धूमत्वं प्रकारः। तत्र धूमत्वेन सन्निकर्षेण धूमा इत्येव रूपं सकलधूमविषयकं ज्ञानं जायते । अत्र यदीन्द्रियसंबद्धमित्येवोच्यते तदा धूलीपटले धूमत्वभ्रमानन्तरं सकलधूमविषयकं ज्ञानं न स्यात् तत्र धूमत्वेन सह इन्द्रियसम्बन्धाभावात् ।

'अलौकिकसन्निकर्षस्तु' इति । लोकव्यवहार में जो संयोगादिसन्निकर्ष प्रसिद्ध हैं, उनसे भिन्न (अतिरिक्त) जो सन्निकर्ष शास्त्रगम्य हैं उन्हें, 'इदानीम्' लौकिकसन्निकर्षों के निरूपण करने के पश्चात् 'उच्यते' कहा जा रहा है । 'अलौकिकत्स्त्विति' नैयायिकों ने अलौकिक व्यापार (सन्निकर्ष) तीन प्रकार के बतलाये हैं । 'सामान्यलक्षण' इति । 'सामान्यं लक्षणं यस्य' इस व्युत्पत्ति से जात्यात्मक (जातिरूप) और व्यक्त्यात्मक (व्यक्तिरूप) सन्निकर्ष, यह एक प्रकार हुआ । सामान्य शब्द का अर्थ 'जाति और घटादिव्यक्ति' दोनों समझना । ऐसा सामान्य ही है लक्षण (स्वरूप) जिसका, उसे 'सामान्य लक्षण' शब्द से कहा गया है । अब सन्निकर्ष का दूसरा प्रकार है—'ज्ञानलक्षण', अर्थात् ज्ञान ही है लक्षण (स्वरूप) जिसका, उसे 'ज्ञानलक्षण' शब्द से कहा गया है, यानी ज्ञानात्मक सन्निकर्ष, यह दूसरा प्रकार हुआ । उसी तरह तीसरा प्रकार 'योगज' है । योग (चित्तवृत्तिनिरोध) से जन्य (उत्पन्न होनेवाला) सन्निकर्ष, यानी ध्यानधारणासमाधिरूपसंयमात्मकसन्निकर्ष यह तीसरा प्रकार हुआ । तात्पर्य यह है कि लौकिक और अलौकिक भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है । लौकिक प्रत्यक्ष के सन्निकर्ष भी लौकिक, और अलौकिक प्रत्यक्ष के सन्निकर्ष अलौकिक हुआ करते हैं । सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज भेद से तीन प्रकार के ही अलौकिक सन्निकर्ष बताये गये हैं । इन तीनों में से 'योगज' सन्निकर्ष से होनेवाला प्रत्यक्ष केवल योगियों को ही होता है, सर्वसाधारणों को नहीं । किन्तु सामान्यलक्षण तथा ज्ञानलक्षण इन दो अलौकिक सन्निकर्षों से होनेवाला अलौकिक प्रत्यक्ष साधारण लोगों को भी होता है। यहाँ सन्निकर्ष को 'व्यापार' शब्द से कहा गया है । 'सामान्यलक्षण'

शब्द का अर्थ इस प्रकार है—'सामान्य' (घटत्वादिजाति और घटादि व्यक्ति) है 'लक्षण' (स्वरूप) जिसका। क्योंकि 'लक्षण' शब्द के दो अर्थ (स्वरूप और विषय) किये जा सकते हैं। उनमें से 'लक्षण' शब्द से यदि 'स्वरूप' अर्थ का ग्रहण किया जाय तो 'सामान्यं लक्षणं यस्य' (सामान्य है स्वरूप जिसका) ऐसा सन्निकर्ष। 'प्रत्यासत्ति' का अर्थ 'सन्निकर्ष', 'सम्बन्ध' है। 'तच्चेति'। उस सामान्यस्वरूप प्रत्यासत्ति को (सम्बन्ध या सन्निकर्ष को) इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक जो 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान, उसमें प्रकारीभूत (विशेषणीभूत) समझना चाहिये। अर्थात् 'घट' में नेत्र का सम्बन्व (संयोग) होने के अनन्तर 'घटघटत्वे यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है, तदनन्तर 'अयं घटः' यह सविकल्पक प्रत्यक्ष (अनुभव) होता है। इस प्रत्यक्ष (साक्षात्कार या अनुभव) का कारणीभूत (हेतुभूत) संयोग सम्बन्ध लौकिक है। 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान 'घटघटत्व' दोनों को विषय करता है, उनमें 'घट' को विशेष्यविघया तथा 'घटत्व' को प्रकार (विशेषण) विघया विषय करता है। इस कारण 'इन्द्रियसम्बद्धं विशेष्यं यस्य तद् इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकं ज्ञानम्' अर्थात् इन्द्रियसम्बद्धविशेष्य (घट) का जो ज्ञान (अयं घटः इत्याकारक) उसमें जो प्रकारविघया भान हो रहा है, वही सामान्यस्वरूप प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) का स्वरूप है। ऐसे 'घटत्व' आदि ही होंगे। अर्थात् 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान में प्रकारीभूत सामान्य 'घटत्व' है। इस घटत्वरूप सामान्यलक्षणासन्निकर्ष के द्वारा 'घटाः' इस प्रकार सकलघटविषयक अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। यहाँ यह समझना चाहिए कि 'सामान्य' को इन्द्रियसम्बद्ध नहीं कहा है, बल्कि इन्द्रियसम्बद्ध पदार्थ 'विशेष्य' है जिस ज्ञान में, उस (ज्ञान) में 'सामान्य' को विशेषण होना चाहिये। जब 'अयं धूमः' इत्याकारक धूम का ज्ञान होता है, तब उस ज्ञान में विशेष्य है 'म'धू और विशेषण (प्रकार) है 'धमत्व'। वह 'धूमत्व' ही सन्निकर्ष बन जाता है। उस 'धूमत्व' नामक सामान्यसन्निकर्ष के द्वारा संसार के यच्च यावत् समस्त धूमों का ज्ञान हो जाता है। संसार के समस्त धूमों का ज्ञान का करा देना ही 'सामान्यलक्षण' संज्ञक अलौकिकसन्निकर्ष का फल है। इसी अभिप्राय को मुक्तावलीकार बता रहे हैं—'तथाहीति।' जहाँ धूमादि विशेष्य पदार्थों के साथ नेत्रादि इन्द्रियों का सम्बन्ध हुआ है वहाँ धूमादिविशेष्यक 'धूमः' इत्याकारक ज्ञान होता है। उस ज्ञान में प्रकारविघया 'धूमत्व' का भान होता है। वह धूमत्व ही अलौकिक सन्निकर्ष है, उस धूमत्वरूप सन्निकर्ष से 'धूमाः' इत्याकारक सकलधूमविषयकज्ञान उत्पन्न होता है, क्योंकि इस ज्ञान में प्रकार जो धूमत्व है, वह सभी धूमों में एक ही है, इसलिये पुरोवर्ती धूम के ज्ञानकाल में नेत्रेन्द्रिय का 'स्वजन्यज्ञानप्रकारीभूत धूमत्ववत्ता' सम्बन्व सकल धूमों में है। इस सम्बन्ध से नेत्रेन्द्रियजन्य यावत् धूम का प्रत्यक्ष द्वितीय क्षण में होता है। इस प्रत्यक्ष का विषय पुरोवर्ती धूम भी हो सकता है, क्योंकि ज्ञानप्रकारीभूत धूमत्ववत्ता जैसे अन्य धूमों में है, वैसे ही पुरोवर्ती धूम में भी है, इसीलिये पुरोवर्ती

धूमादि पदार्थों में प्रथम क्षण में लौकिक और द्वितीय क्षण में अलौकिक ये दो ज्ञान मानने चाहिये।

शंका—'इन्द्रियसम्बद्ध विशेष्यकज्ञानप्रकारीभूत सामान्य' के बजाय 'इन्द्रियसम्बद्धवृत्तित्व' ही कहें तो लाघव होगा। अर्थात् इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञान में प्रकारीभूत धर्म को 'सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति' न मानकर लाघवात् केवल प्रकारत्वेन इन्द्रियसम्बद्ध को ही प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) कहें तो क्या दोष है? जैसे तादृशज्ञान प्रकारीभूतसामान्य 'धूमत्व' आदि होते हैं, वैसे ही इन्द्रियसम्बद्ध हुआ 'धूम', उसमें 'धूमत्व' वृत्ति है ही। अर्थात् धूमचक्षुःसंयोगकाल में 'धूमत्व' भी प्रकारत्वेन इन्द्रियसम्बद्ध है ही जिससे धूमत्वेन 'धूमाः' इत्याकारक सकलधूमविषयकज्ञान हो सकेगा। अतः 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञान में जो सामान्य, विशेषण हो' इतना न कहकर 'जो सामान्य इन्द्रियसम्बद्ध हो' इतना ही कहा जाय।

समा०—'इन्द्रियसम्बद्धवृत्तित्व' कहने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि जहाँ कहीं धूलिपटल के साथ चक्षुरिन्द्रिय का जब सबंध हुआ तब उस धूलिपटल में 'धूमत्व' का भ्रम होने पर 'धूमत्व' स्वरूप सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से सकल धूमविषयक 'धूमाः' यह ज्ञान होता है। परन्तु अब नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'धूमत्व' के साथ चक्षुरिन्द्रिय का संबंध नहीं है। 'धूम' के साथ जब इन्द्रियसंयोग रहेगा तभी 'संयुक्त-समवाय' संबंध 'धूमत्व' के साथ हो पायेगा, अन्यथा नहीं। यहाँ तो धूलिपटल के साथ चक्षुरिन्द्रिय का संबंध है। और इन्द्रियसंबद्ध धूलिपटल में 'धूमत्व' वृत्ति नहीं है। यहाँ तो प्रकारतासंबंध से इन्द्रियसंबद्ध 'धूलिपटलत्व' है, 'धूमत्व' नहीं। तथापि सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से सकलधूमविषयक ज्ञान तो यहाँ भी होता है, किन्तु 'धूमत्व' इन्द्रियसंबद्ध न होने से नहीं होना चाहिये—यही दोष है। 'इन्द्रियसंबद्धविशेष्यकज्ञान में जो सामान्य प्रकार (विशेषण) हो' यह कहने पर दोष नहीं होगा, क्योंकि इन्द्रिय से संबद्ध यहाँ 'धूलीपटल' है, वह 'धूम' इत्याकारक ज्ञान में विशेष्य है, उसमें 'धूमत्व' प्रकार (विशेषण) है। इस रीति से वह 'धूमत्वासामान्य' सन्निकर्ष होगा। उससे यावत् (सकल) धूमों की उपस्थिति हो जायेगी। इन्द्रिय संबद्धविशेष्यकज्ञान से इन्द्रियसंबंध को लौकिक समझना चाहिये। इसी तरह 'इन्द्रियसंबद्धविशेष्यकज्ञान में जो 'सामान्य' विशेषण हो' यह कथन बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान के विषय में कहा गया है। अनुमान-शब्दादिजन्य मानसज्ञान में 'इन्द्रियसंबद्ध' यह अंश संगत नहीं होगा।

मन्मते तु इन्द्रियसम्बद्धं धूलीपटलं, तद्विशेष्यकं धूम इति ज्ञानम्, तत्र प्रकारीभूतं धूमत्वं प्रत्यासत्तिः। इन्द्रियसम्बन्धश्च लौकिको ग्राह्यः। इदं च बहिरिन्द्रियस्थले। मानसस्थले तु "ज्ञानप्रकारीभूतं सामान्यमात्रं प्रत्यासत्तिः।" अतः शब्दादिना यत्किञ्चित् पिशाचाद्युपस्थितौ मानसः सकलपिशाचादिबोध उपपद्यते ॥ ६३ ॥

'मन्मतेत्विति।' हम नैयायिकों के—'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञाने प्रकारीभूत-सामान्यम्प्रत्यासत्तिः'—मत में तो अलौकिकप्रत्यक्ष की सिद्धि हो जाती है। पूर्वोक्त धूलीपटलवाले भ्रम के स्थल में भी हमारा वही लम्बायमान 'इन्द्रियसंबद्धविशेष्य ज्ञान में प्रकारीभूत धर्म' ही प्रत्यासत्ति स्वरूप है। अतः कहीं पर भी कोई दोष नहीं है। जैसे—बहिरिन्द्रिय से संयुक्त 'धूलीपटल' है, वह धूलीपटल पूर्वोक्त भ्रम में 'विशेष्य' बनकर विषय होता है। अर्थात् इन्द्रियसंबद्ध धूलीपटल में धूलीपटल-विशेष्यक धूमत्वप्रकारक 'धूमः' इत्याकारक ज्ञान हुआ है, उसमें प्रकार (विशेषण) रूप से भासमान 'धूमत्व' ही सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति है, अर्थात् यहाँ पर 'धूमत्व' विशेषण बनकर विषय होता है। अतः इस प्रकार का विषय मानने से अलौकिक-प्रत्यक्षात्मकज्ञान हमारे मत से उपपन्न हो जाता है। अतः हमारे मत में पूर्वोक्त दोष नहीं आ पाता। पुरोवर्ती पदार्थ में 'इन्द्रिय का सम्बन्ध, लौकिक ग्रहण करना उचित है, किन्तु यह कथन बाह्य इन्द्रियस्थल में हैं। अर्थात् बहिरिन्द्रिय से 'घट ज्ञान' जहाँ होता है, और तदनन्तर 'घटत्वरूपसामान्यलक्षणसन्निकर्ष' के द्वारा सकल घटों का ज्ञान हुआ हो ऐसे स्थल में ही 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारी-भूतसामान्य' की प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) के रूप में कारण समझना चाहिये।

मानस प्रत्यक्षस्थल में तो केवल 'ज्ञानप्रकारीभूतसामान्य' को ही प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) मानना चाहिये। इसी प्रत्यासत्ति से सर्वत्र सर्वथा प्रत्यक्ष के अयोग्य ऐसे किसी पिशाच आदि का ज्ञान जब शब्द आदि के द्वारा होता हैं, तब 'सर्वे पिशाचाः पिशाचत्ववन्तः' इत्याकारक सकलपिशाचादिविषयक मानसबोध (मानस-प्रत्यक्ष) उत्पन्न होता है। क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार द्वारा 'ज्ञानशब्द' से पिशाचादि-विषयक शाब्दज्ञान को भी ले सकते हैं, उसमें प्रकारीभूत जो पिशाचत्वरूप सामान्य, वही मनोजन्यज्ञानप्रकारीभूत पिशाचत्ववत्ता' सम्बन्ध से सकल पिशाचविषयक अलौकिक प्रत्यक्षज्ञान का जनक हैं। इस प्रकार से 'सामान्यलक्षण' का प्रथम (पहिला) अर्थ नित्य जातिरूप सामान्य लिया गया है ॥ ६३ ॥

परन्तु समानानां भावः सामान्यम्। तच्च क्वचिन्नित्यं धूमत्वादिः, क्वचिच्चानित्यं घटादिः। यत्रैको घटः संयोगेन भूतले, समवायेन कपाले ज्ञातस्तदनन्तरं सर्वेषामेव तद्घटवतां भूतलादीनां कपालादीनां वा ज्ञानं भवति तत्रेदं बोध्यम्। परन्तु सामान्यं येन सम्बन्धेन ज्ञायते, तेन सम्बन्धेनाधिकरणा-नाम्प्रत्यासत्तिः। किन्तु—यत्र तद्घटनाशानन्तरं तद्घटवतः स्मरणं जातं, तत्र सामान्यलक्षणया सर्वेषां तद्घटवतां भानं न स्यात्। सामान्यस्य तदानीम-भावात्। किञ्चेन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकं घट इति ज्ञानं यत्र जातं, तत्र परदिने इन्द्रियसम्बन्धम् विनापि तादृशज्ञानप्रकारीभूतसामान्यस्य सत्त्वात्तादृशज्ञानं कुतो न जायते, तस्मात् सामान्यविषयकं ज्ञानं प्रत्यासत्तिर्न तु सामान्यमित्याह—

परन्तु इस प्रकरण में 'सामान्य' शब्द का अर्थ साधारण धर्म है। समान पदार्थों के भाव (साधारण धर्म) को सामान्य कहते हैं। कहीं पर जातिरूप सामान्य

शब्द से नित्य धूमत्व, घटत्व, पटत्व आदि लिये जाते हैं। और कहीं पर अनित्यव्यक्तिरूप सामान्य शब्द से अनित्य घट, पट आदि लिये जाते हैं। एवञ्च नित्य जाति और अनित्य व्यक्ति दोनों 'सामान्य शब्द से लिये जाते हैं, क्योंकि यच्चयावत् घटों से युक्त भूतलों का सामान्य (साधारण) धर्म 'घट' है। जिस सम्बन्ध से सामान्य धर्म, अधिकरण में ज्ञात होता है, उसी सम्बन्ध से उस अधिकरण के समस्त धर्मों को वह उपस्थित करता है। अनित्र (घटादिरूप सामान्यलक्षण सन्निकर्ष) के उदाहरण को प्रदर्शित करने के लिये कहते हैं—जिस स्थल में एक ही घट का संयोगसंबंध से भूतल में या समवाय संबंध से कपालों में समूहालम्बनात्मकज्ञान एक ही मनुष्य को हुआ, तदनन्तर उस लौकिकज्ञान के पश्चात् द्वितीय क्षण में 'सर्वाणि भूतलादीनि संयोगघटवन्ति, एवं सर्वे कपालाः समवायेन घटवन्तः' इस प्रकार संयोगसंबंध से सकलघटवद्भूतलों का एवं समवायसंबंध से सकल घटवाले कपालों का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् संयोग संबंध से घटयुक्तभूतल का ज्ञान होने पर संयोगसंबंध से ही घटयुक्त समस्त भूतलों का ज्ञान सामान्यलक्षणसन्निकर्ष से हो जायेगा। उसी तरह समवायसंबंध से घटयुक्त कपाल का ज्ञान होने पर समवायसंबंध से ही घटयुक्त कपालों का ज्ञान सामान्यलक्षणसन्निकर्ष से हो जायेगा। 'तत्रेदं बोध्यमिति।' वहाँ यह समझ लेना चाहिये कि अनित्य वस्तु भी सामान्यरूपप्रत्यासत्ति हो सकती है। अर्थात् ऐसे स्थल में ज्ञायमान अनित्य को ही आश्रय के प्रत्यक्ष में प्रत्यासत्तिरूप समझना उचित है 'परन्तु इति।' परन्तु उसमें भी इतना और अधिक जानना चाहिये कि वह सामान्य, जिस संबंध से अपने अधिकरण में ज्ञात हुआ है, उसी संबंध से उस सामान्य को आधेय के रूप में रखने वाले तत्सदृश अधिकरणों के अलौकिक प्रत्यक्ष में प्रत्यासत्ति (अलौकिक सन्निकर्ष) होता है। अर्थात् चक्षुरादि-इन्द्रियसंबंधवद्विशेष्यकज्ञान में सामान्य जिस संबंध से विशेषण होता है, वह सामान्य उसी संबंध से अर्थात् इन्द्रियसंबंधवद्विशेष्यकज्ञान की प्रकारता का अवच्छेदक (नियामक) जो संबंध उसी संबंध से अपने अधिकरणों (आश्रयों) के अलौकिक प्रत्यक्ष में प्रत्यासत्ति (अलौकिक सन्निकर्ष) हो सकता है। जैसे—'संयोगेन घटवत् भूतलम्' इस ज्ञान में घटनिष्ठा प्रकारता, संयोगसंबंध से अवच्छिन्न है। अतः यहाँ पर उस प्रकारता के नियामक संयोगसंबंध से ही अवच्छिन्न जो प्रकारता, उससे विशिष्ट घटात्मक अनित्यसामान्य, अपने अधिकरणभूत समस्तभूतलों के अलौकिक प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष हो सकता है, अन्य संबंध से नहीं। अन्यथा किसी स्थल में धूमपर समवायसंबंध के द्वारा विशेषणरूप से विषय बने हुए धूमत्वरूप सामान्य के योग से कालिकसंबंध के द्वारा धूमत्व का आश्रय काल भी हो सकता है, अतः उसका भी अलौकिक ज्ञान होने लगेगा, यह आपत्ति उपस्थित होगी, वह न हो इसलिये पूर्वप्रकार माना है। ऐसा मानने पर समवाय-सम्बन्ध से धूमत्व का आश्रय धूम ही होता है, कालिक सम्बन्ध से धूमत्व का आश्रय कहकर 'काल' को नहीं ले सकते। अतः कोई दोष नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि स्वाधिकरण में जिस सम्बन्ध से 'सामान्य' अवगत होता है, उसी सम्बन्ध से तत्सदृश अधिकरणों के अलौकिक प्रत्यक्ष में वह हेतु होता है। अन्यथा समवायसम्बन्ध से ज्ञानप्रकारीभूत धूमत्व, घटत्वादिसामान्य भी काल, आकाशादि पदार्थों के अलौकिक प्रत्यक्ष में हेतु होने लगेगा। किन्तु उक्त नियम के अनुसार धूमत्व-घटत्वादि सामान्य धूम, घटादि अधिकरणों में ही समवाय-सम्बन्ध से ज्ञात होता है, अतः उन्हीं के अलौकिक साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) को वह कराता है। प्राचीनों के अनुसार सामान्य लक्षण के पूर्वोक्त पहले अर्थ (ज्ञायमान-सामान्यं प्रत्यासत्तिः) में दो दोष आते हैं, उनमें से पहले दोष को दिखाते हैं— 'किन्तु इति।' जहाँ 'संयोगेन घटवद् भूतलम्' इस प्रकार भूतल में संयोग संबंध से घट का चाक्षुषप्रत्यक्ष हुआ, उसके पश्चात् किसी कारणवश वह घट नष्ट हो गया, उस घट के नाश होने के बाद भी पूर्वोक्त चाक्षुष प्रत्यक्षात्मक अनुभव-जन्यसंस्कार के बल से 'भूतलं तद्घटवत्' इस प्रकार स्मरण होने के अनन्तर सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति के द्वारा तद्घट वाले समस्त अधिकरणों का (भूतलों का) 'तद्घटवन्ति भूतलानि' इत्याकारक अलौकिकभान होता है, किन्तु 'ज्ञाय-मानसामान्य को प्रत्यासत्ति' मानने के पक्ष में वह नहीं हो सकेगा। क्योंकि कारणी-भूतसामान्य (तद्घट) नहीं है, वह तो नष्ट हो चुका, तब कारण के व्यतिरेक (न होने पर) में कार्य का होना तो व्यतिरेकव्यभिचार होगा—यह प्राचीनमत में प्रथम दोष बताया गया। 'किञ्चेति।' अब 'किञ्च' से 'अन्वयव्यभिचार' संज्ञक द्वितीय दोष बता रहे हैं। किञ्च अर्थात् दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय-सम्बद्धविशेष्यक 'अयं घटः' यह ज्ञान आज हुआ, तब कल (दूसरे दिन) घट के साथ इन्द्रियसंबंध हुए बिना भी 'सर्वे घटाः' इत्याकारक अलौकिकभान प्राचीन मत के पक्ष में होना चाहिये, क्योंकि आज हमें चक्षुरिन्द्रिय का घट के साथ सम्बन्ध होकर 'अयं घटः' यह ज्ञान हुआ, उस ज्ञान में प्रकारीभूतसामान्य 'घटत्व' नित्य होने के कारण हमेशा रहेगा, अर्थात् कल भी रहेगा। अतः जब सामान्यरूप कारण है तो कार्य (अलौकिक प्रत्यक्ष) क्यों नहीं होता—यह अन्वयव्यभिचार प्राचीन मत में द्वितीय दोष बताया गया। एवञ्च 'ज्ञायमानसामान्यं प्रत्यासत्तिः' इस प्राचीन मत में दो दोष होने से 'सामान्यज्ञानमेवप्रत्यासत्तिः' सामान्यज्ञान को ही प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) कहना चाहिए। और 'सामान्यलक्षण' शब्द का अर्थ 'सामान्यविषयकज्ञान' करना चाहिए। अर्थात् 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारी-भूतसामान्यज्ञानं सन्निकर्षः' कहना चाहिए। 'तादृशसामान्यमात्र' यह अर्थ नहीं। एवं च घटनाशस्थल में इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूततद्घटस्मरणज्ञानात्मक सन्निकर्षरूप कारण विद्यमान है अतः कार्य होता है। अर्थात् घट का नाश होने पर भी घट का ज्ञान तो है ही। तस्मात् व्यतिरेकव्यभिचार नहीं है। और दूसरे दिन इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूतघटत्व का स्मरणज्ञानरूप कारण न रहने से कार्य नहीं हो रहा है। अर्थात् सामान्य (घटत्व) के नित्य होने पर भी इन्द्रिय

संबंध के बिना उसका ज्ञान सर्वथा असंभव है। अतः अन्वयव्यभिचार भी नहीं है। अतः 'सामान्य' प्रत्यासत्ति नहीं बन सकता, किन्तु 'सामान्य का ज्ञान' ही प्रत्यासत्ति बन सकता है, इसी बात को कारिकाकार 'आसत्तिराश्रयाणान्तु' कारिका ग्रंथ से कह रहे हैं—

आसत्तिराश्रयाणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते ।
तदिन्द्रियजतद्धर्मबोधसामग्र्यपेक्ष्यते ॥ ६४ ॥

आश्रयाणाम् भूतलादि अधिकरणों के अलौकिकप्रत्यक्ष का कारण, सामान्यज्ञानम् इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यज्ञानप्रकारीभूतसामान्यज्ञान (सामान्यविषयकज्ञान) को ही आसत्तिः सन्निकर्ष समझना चाहिये। 'तदिन्द्रियजेति।' चक्षुरादीन्द्रिय से होनेवाले घटात्मक धर्म के ज्ञान में (चक्षुः-संयुक्त-संयोग, आलोकसंयोग, महत्परिमाण, उद्भूतरूपादि) सहकारिसामग्री की उपस्थिति भी अपेक्षित होती है।

आसत्तिः प्रत्यासत्तिरित्यर्थः। तथा च सामान्यलक्षणमित्यत्र लक्षणशब्दस्य विषयोऽर्थः। तेन सामान्यविषयकं ज्ञानम्प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते।

ननु चक्षुःसंयोगादिकं विनापि सामान्यज्ञानं यत्र वर्तते तत्र सकलघटादीनां चाक्षुषादिप्रत्यक्षं स्यादत आह—तदिति। अस्यार्थः—यदा बहिरिन्द्रियेण सामान्यलक्षणया ज्ञानं जननीयं तदा यत्किञ्चिद्धर्मिणि तत्सामान्यस्य तदिन्द्रियजन्यज्ञानस्य सामग्री अपेक्षिता। सा च सामग्री चक्षुःसंयोगालोकसंयोगादिकम्। तेनान्धकारादौ चक्षुरादिना तादृशज्ञानं न जायते ॥ ६४ ॥

॥ इति सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिनिरूपणम् ॥

'आसत्ति' पद का अर्थ करते हैं—'प्रत्यासत्ति' यानी सम्बन्ध। 'सामान्यलक्षण' शब्द का अर्थ 'सामान्यज्ञान' है, यह बताने के लिये 'लक्षण' पद का अर्थ बता रहे हैं—'तथा चेति।' 'सामान्यलक्षण' संज्ञाघटक 'लक्षण' शब्द का अर्थ 'विषय' है, पूर्वोक्त रीति के अनुसार 'स्वरूप' अर्थ नहीं है। 'सामान्यं लक्षणं विषयो यस्य' ऐसा समास करने से 'सामान्यविषयकज्ञान ही प्रत्यासत्ति है' इस अर्थ का लाभ होता है। प्राचीनमतवादी पूर्वपक्षी कहता है कि सामान्यज्ञान कराना सन्निकर्ष का अलौकिक स्वभाव है, अतः इन्द्रियसम्बन्ध के बिना भी सकलव्यक्तिसाक्षात्कार का होना सम्भव हो सकता है, इसी अभिप्राय से शंका कर रहे हैं।

शंका—'ननु चक्षुःसंयोगादिकं विनापीति।' जहाँ चक्षुःसंयोग के बिना भी सामान्य 'घटत्व' का शाब्दिक या स्मरणात्मक ज्ञान हुआ, वहाँ सामान्यविषयकज्ञान विद्यमान है यह मानना ही होगा, तब सकल घट आदि अर्थात् सकलघटवद्भूतलादि विषयों का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिये। क्योंकि प्रत्यक्षकारणीभूत 'सामान्यज्ञानप्रत्यासत्तिरूपा' सामग्री विद्यमान है।

समा०—'तदिति।' 'अस्यार्थः।' 'तदिन्द्रियजतद्धर्मबोधसामग्री' इसका अर्थ

यह हैं–'यदेति।' अभिप्राय यह है कि प्राचीनों ने 'प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता?' यह जो पूछा है, तो उसमें सामग्री की न्यूनता होने से प्रत्यक्ष नहीं हो पाता यह समझना चाहिये। जब चक्षुरादि बहिरिन्द्रिय से सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के द्वारा अलौकिक चाक्षुषप्रत्यक्ष करना हो तब (उस समय) यत्किञ्चित् घटादिधर्मी में 'घटत्वादि' सामान्यविषयक चक्षुरिन्द्रियजन्य ज्ञान की सामग्री भी अपेक्षित है। उसके विना वह ज्ञान नहीं हो सकता। 'सा चेति।' वह सामग्री चक्षुःसंयोग, आलोकसंयोग, उद्भूतरूप, महत्त्वपरिमाणादि यथायोग्य तत्तदिन्द्रियजप्रत्यक्ष में जाननी चाहिये। अतः पूर्वोक्त स्थल में चक्षुःसंयोग के बिना अलौकिक चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। आलोकसंयोग भी सामग्री के अन्तर्गत होने से अंधेरे में घटादि पदार्थ का चक्षुरादि इन्द्रिय के द्वारा घटत्वादिधर्मविशिष्ट धर्मी (घट) का ज्ञान (अलौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष) नहीं हो पाता, इसलिये वहाँ सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति भी नहीं बन सकती ॥ ६४ ॥

॥ इति सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिनिरूपणम् ॥

विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणः।

यस्य सौरभ आदि का, विषयी ज्ञान, तस्यैव उसी सौरभ आदि का व्यापारः सन्निकर्ष, ज्ञानलक्षणः प्रत्यासत्ति है। अर्थात् जिस अलौकिक सन्निकर्ष से यद्-विषयकज्ञान होता है, उसी सम्बन्धविशेष का नाम 'ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति' है। 'सुरभिचन्दनम्' यह वाक्यप्रयोग करने पर जिस सौरभ आदि का ज्ञान होता है उसी सौरभादि का जो सन्निकर्ष है, उसे ज्ञानस्वरूप समझना चाहिये। अर्थात् पूर्व दिन चन्दन को सूंघकर 'सुरभिचन्दनम्' निश्चय कर लिया। दूसरे दिन बिना सूंघे ही दूर से चन्दन को देखकर ही 'सुरभिचन्दनम्' ऐसा दूसरे से कह देते हैं। तब दूसरे दिन के 'सुरभिचन्दनम्' इस ज्ञान में 'सौरभ', 'चन्दन', और 'चन्दनत्व' भासित होता है यानी वह ज्ञान तीनों को विषय करता है। उनमें 'चन्दन' तथा 'चन्दनत्व' का तो यथाक्रम 'चक्षुःसंयोग' तथा 'चक्षुःसंयुक्त-समवाय' सम्बन्ध से लौकिक प्रत्यक्ष हो सकता है। अर्थात् चक्षुःसंयोग से चन्दन का ज्ञान और चक्षुः-संयुक्तसमवाय से चन्दनत्व का जो ज्ञान होता है वह लौकिक सन्निकर्षजन्य होने से उसे लौकिकप्रत्यक्ष कहा जा सकता है, परन्तु सौरभांश में साक्षात्कारजनक लौकिकसम्बन्ध होना तो दुर्घट है क्योंकि घ्राणसम्बन्ध के बिना भी जो सौरभज्ञान हुआ है, वह तो चक्षुःसंयुक्तमनःसंयुक्त आत्मसमवेतज्ञानाख्य सन्निकर्ष से संस्कार द्वारा हो रहा है, अतः उसे अलौकिकप्रत्यक्ष के रूप में ही समझना होगा। अर्थात् सौरभांश को चाक्षुषज्ञान का विषय तो कह नहीं सकते क्योंकि सौरभांश को विषय करने वाली घ्राणेन्द्रिय का तो उस काल में सम्बन्ध ही नहीं है। प्रभाकर मीमांसक के कथनानुसार पूर्वगृहीत सौरभांश का स्मरणात्मक (स्मृति) ज्ञान और चन्दन का प्रत्यक्ष ज्ञान ऐसे पृथक् पृथक् दो ज्ञान हो रहे हैं यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि

स्मृतित्व और प्रत्यक्षत्व का संकर हो जायेगा। अतः 'सुरभिचन्दनम्' यह एक ही विशिष्टज्ञान है कहना चाहिये। प्रभाकर की तरह यहाँ दो ज्ञान नहीं है। अर्थात् पूर्वगृहीत सौरभ का स्मरण तथा पूर्वगृहीत सौरभ का आत्मा में संस्कार मात्र का संभव हो सकता है, इस कारण 'सुरभिचन्दनम्' में सौरभानुयोगिक तथा चक्षुः-प्रतियोगिक कोई एक संबंध अवश्य ही मानना होगा। वह संबंध साक्षात् तो बन नहीं सकता। अतः चक्षुःसंयुक्तआत्मसमवेतज्ञानरूप, या चक्षुःसंयुक्त-मनःसंयुक्त-आत्म समवेत-संस्काररूप-परम्परासंबंध बन सकता है, इस परम्परासम्बन्ध का ही नाम 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' है। इससे होनेवाला ज्ञान अलौकिक ही है। जिस समय चक्षुरिन्द्रिय का चन्दन से संयोग होता है उसी समय 'एकसम्बन्धिज्ञान-मपरसम्बन्धिस्मारकम्' न्याय से सौरभ का स्मरण या स्मृति में हेतुभूत पूर्वानुभव-जन्यसंस्कार उद्बुद्ध होकर 'सुरभिचन्दनम्' इस प्रकार के चाक्षुषज्ञान को उत्पन्न करता है। यह ज्ञान चन्दनांश में तो लौकिक है और सौरभांश में पूर्वोक्त सम्बन्ध से अलौकिक है। यद्यपि सौरभ के प्रत्यक्ष करने का सामर्थ्य चक्षु में नहीं है तथापि उक्त अलौकिक सम्बन्ध के द्वारा चक्षु से भी जो सौरभज्ञान होता है, वही यह द्वितीय अलौकिक प्रत्यक्ष है। एवंरूपा सौरभसाक्षात्कार-हेतुभूत जो प्रत्यासत्ति है उसे 'ज्ञानलक्षणा' प्रत्यासत्ति कहते हैं।

ननु ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिर्यदि ज्ञानरूपा सामान्यलक्षणापि ज्ञानरूपा तदा तयोर्भेदो न स्यादत आह—

सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिर्हि तदाश्रयस्य ज्ञानं जनयति। ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिस्तु यद्विषयकं ज्ञानं तस्यैव प्रत्यासत्तिरिति।

अत्रायमर्थः। प्रत्यक्ष सन्निकर्षं विना भानं न सम्भवति। तथा च सामान्यलक्षणां विना धूमत्वेन सकलधमानां वह्नित्वेन सकलवह्नीनां च भानं कथं भवेत्तदर्थं सामान्यलक्षणा स्वीक्रियते।

न च सकलवह्निधूमभानाभावे का क्षतिरिति वाच्यं, प्रत्यक्षधूमे वह्निसम्बन्धस्य गृहीतत्वादन्यधूमस्य चानुपस्थितत्वाद् 'धूमो वह्निव्याप्यो न वे'ति संशयानुपपत्तेः।

शंका—पूर्वोक्त सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण, और योगज इन तीन सन्निकर्षों में से प्रथम तथा द्वितीय अर्थात् सामान्यलक्षणसन्निकर्ष तथा ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष ये दोनों यदि ज्ञानरूप हैं अर्थात् सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति की व्याख्या करते समय यह बताया था कि 'सामान्य' स्वयं प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) नहीं है, बल्कि 'सामान्य का ज्ञान' प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) है। एवं च सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) भी ज्ञानरूप है और ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) भी ज्ञानरूप है तो दोनों में भेद क्या होगा ?

समा०—'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिर्हीति।' उक्त दोनों प्रत्यासत्तियाँ

(सामान्यलक्षण और ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष) ज्ञानरूप ही हैं तथापि सामान्य का ज्ञानरूप जो सामान्यलक्षणसन्निकर्ष (सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति) है, वह उस सामान्य के समस्त आश्रयों (अधिकरणों) का अलौकिक प्रत्यक्ष (ज्ञान) करा देता है अर्थात् घटत्वादिधर्मविशिष्ट एक घटरूप धर्मी का साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) होने पर, उस धर्म के आश्रय देशान्तरीय या कालान्तरीय यावत् धर्मियों का ज्ञान, सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति के द्वारा होता है। यानी घटत्वज्ञानरूप सामान्यलक्षण से उन घटत्वाश्रय समस्त घटों का 'सर्वे घटाः' इत्याकारक अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। किन्तु द्वितीय ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष (प्रत्यासत्ति) से चन्दन में जिस सौरभादि का अलौकिक ज्ञान होता है, उस सौरभ का सन्निकर्ष का ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति का स्वरूप है। अर्थात् ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति से जिस सौरभ का अलौकिक भान हुआ है उसी के साथ होनेदाले सम्बन्धविशेष को ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति कहते हैं। जैसे सुरभिचन्दनम् में चन्दन को देखकर सौरभ का ही स्मृतिज्ञान (स्मरणात्मक ज्ञान) रूप ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) के द्वारा अलौकिक भान होता है, सौरभाश्रयचन्दन का नहीं, क्योंकि 'चक्षुःसंयुक्तमनःसंयुक्त-आत्मसमवेतस्मृतिविषयत्व' ही ज्ञानलक्षणा पदार्थ है। चन्दन को देखने के पश्चात् सौरभ का स्मरण होता है, इसलिये तादृशस्मृतिविषयत्वरूप जो ज्ञानलक्षणा है, वह सौरभ का ही सन्निकर्ष है, चन्दन का नहीं। क्योंकि चन्दन का तो चाक्षुष प्रत्यक्ष हो रहा है।

शंका—सामान्यलक्षणासन्निकर्ष तथा ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष से अलौकिक प्रत्यक्ष होता है, यह क्यों कहा जाता है? जब दोनों का एक ही कार्य है, तब उनमें भेद क्यों? दोनों को मानने की आवश्यकता भी क्या?

समा०—'अत्रायमर्थ इति'। सामान्यलक्षणा नामक अलौकिक सन्निकर्ष मानने में नैयायिक-वैशेषिकों का यही अभिप्राय है कि समस्त सामान्याश्रयों का भान हो सके। अलौकिक सन्निकर्ष को न मानने पर समस्त सामान्याश्रयों का भान नहीं हो पायेगा। क्योंकि बिना सन्निकर्ष के प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्यक्ष होने में सन्निकर्ष को कारण माना गया है। अभिप्राय यह है कि सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को न मानने पर धूमत्व के आश्रय समस्त धूमों (उपस्थित-अनुपस्थित समस्त धूम) और वह्नित्व के आश्रय सब वह्नियों (उपस्थित-अनुपस्थित समस्त वह्नि) का प्रत्यक्ष कैसे होगा? उनका प्रत्यक्ष हो सके (ये सब प्रत्यक्ष के विषय हो सकें) इसलिये सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को मानना आवश्यक है।

शंका—सकल वह्नियों का तथा सकल धूमों का ज्ञान (भान) न हो तो क्या हानि है?

समा०—महानसीय धूम में तो वह्नि के साथ 'सहवृत्तित्व' रूप सम्बन्ध का (यत्र धूमस्तत्र वह्निः इत्याकारक व्याप्तिरूप सम्बन्ध का) चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण हुआ है, किन्तु देशान्तरीय-कालान्तरीय (पर्वतादिवृत्ति) धूम की तो उपस्थिति नहीं है (चक्षु से सन्निकृष्टता नहीं है), तब वह्नि-धूम के व्याप्तिज्ञान से पूर्व 'धूम,

वह्निनिरूपित व्याप्ति का आश्रय है या नहीं' (धूमो वह्निव्याप्यो न वा) यह संशय नहीं बन सकेगा। अर्थात् पक्षता का आपादक संदेह उपपन्न नहीं होगा और सन्देह के न होने पर पर्वत पर वह्नि का अनुमान नहीं हो पायेगा।

मन्मते तु सामान्यलक्षणया सकलधूमोपस्थितौ कालान्तरीयदेशान्तरीयधूमे वह्निव्याप्यत्वसन्देहः सम्भवति।

न च सामान्यलक्षणास्वीकारे प्रमेयत्वेन सकलप्रमेयज्ञाने जाते सार्वज्ञ्यापत्तिरिति वाच्यं, प्रमेयत्वेन सकलप्रमेयज्ञाने जातेऽपि विशिष्यसकलपदार्थानामज्ञातत्वेन सार्वज्ञ्याभावात्।

किन्तु मेरे (सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिवादी नैयायिक के) मत में तो सामान्यलक्षणा (सामान्यविषयज्ञानरूप अलौकिक सम्बन्ध) से यावत् धूमों की उपस्थित (धूमत्वेन सकल धूमों का साक्षात्कार) हुई हैं। अतः देशान्तरीय-कालान्तरीय धूम में (अन्य पर्वतादि देशवृत्ति धूम में, अतीत अनागतादि धूम में) भी व्याप्ति का निश्चय न होने से वह्निनिरूपित व्याप्ति के आश्रयत्व का अर्थात् अयं वह्निनिरूपितव्याप्त्याश्रयो न वा इत्याकारक सन्देह बन सकता है। अभिप्राय यह है कि सभी धूम यदि प्रत्यक्ष के विषय न हों तो सब धूमों में अग्नि की व्याप्ति (सम्बन्ध) है या नहीं, यह संशय होता है। किन्तु अब वह न हो सकेगा, क्योंकि जितनी धूमव्यक्तियों का प्रत्यक्ष होता है, उतनी ही धूमव्यक्तियों में अग्नि की व्याप्ति का निश्चय होता है। अतः वहाँ निश्चयरूप प्रतिबन्धक के होने से पूर्वोक्त संशय तो होता ही नहीं है और जिन धूमव्यक्तियों का प्रत्यक्ष नहीं हैं, उन धूमव्यक्तियों में संशय होने का सम्भव नहीं हैं, क्योंकि पूर्वोक्त संशय के प्रति धूमज्ञान (धर्मिज्ञान) कारण है। अतः कारणीभूत धूमज्ञान के होने से कार्यभूत संशय भी नहीं होगा, किन्तु हम नैयायिकों के मत में संशय हो सकेगा, जिससे पर्वत पर वह्नि का अनुमान कर सकने में कोई बाधा नहीं होगी। अतः सामान्यलक्षणा का स्वीकार करना निरर्थक नहीं है।

शंका—नैयायिक के मन्तव्य के अनुसार यदि सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति को मान लिया जाय तो प्रमेयत्वरूप सामान्यलक्षणा के द्वारा (प्रमेयत्वरूपसामान्य से) सतपदार्थरूप समस्त प्रमेयों का भी अलौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाने से मनुष्य सर्वज्ञ हो जायेगा। अर्थात् प्रमेय का सकल प्रमेय का ज्ञान प्राप्त किये हुए मनुष्य को यावत् पदार्थविषयकज्ञानवान् यानी सर्वज्ञ हो जाना चाहिये।

समा०—'प्रमेयत्वेनेति।' प्रमेयत्वेन (प्रमेयत्वरूप से) अर्थात् प्रमेयत्वरूप सामान्यलक्षणा के द्वारा सकल पदार्थों (सकल सप्तपदार्थात्मक प्रमेयों) का ज्ञान (मानसप्रत्यक्षज्ञान) हो जाने पर भी घटत्व, पटत्वादि तत्तद् विशेष धर्मों के द्वारा देशान्तरीय-कालान्तरीय घट, पटादि सकल धर्मी पदार्थों का ज्ञान न हो पाने से उसे सर्वज्ञ कैसे कहा जा सकेगा? अभिप्राय यह है कि प्रमेयत्वरूप महाव्यापक धर्म को लेकर कार्यकारणभाव का स्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु प्रमेयत्वव्याप्य

धूमत्वादि धर्मों को लेकर ही विशेष कार्यकारणभाव को माना गया है। एवञ्च प्रमेयत्वेन रूपेण सकल पदार्थों का ज्ञान होने पर भी तत्तद् विशेषरूप से ज्ञान न होने के कारण सर्वज्ञत्व की आशंका नहीं की जा सकती, क्योंकि 'सार्वज्ञ्यं प्रति साधारणधर्मप्रकारकज्ञानवत्वे सति विशेषतत्तद्यावत्पदार्थवृत्तिधर्मप्रकारकज्ञानवत्त्वं प्रयोजकम्' यह नियम है।

एवं ज्ञानलक्षणाया अस्वीकारे सुरभि चन्दनमिति ज्ञाने सौरभस्य भानं कथं स्यात्। यद्यपि सामान्यलक्षणयापि सौरभभानं सम्भवति, तथापि सौरभत्वस्य भानं ज्ञानलक्षणया। एवं यत्र धूमत्वेन धूलीपटलं ज्ञातं तत्र धूलीपटलस्यानुव्यवसाये भानं ज्ञानलक्षण..ा।

इसी प्रकार ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष (प्रत्यासत्ति) को यदि न माना जाय तो 'सुरभिचन्दनम्' इस ज्ञान में सौरभ का ज्ञान कैसे हो पायेगा ? क्योंकि चन्दनखण्ड का चाक्षुषप्रत्यक्ष रहने पर भी उपस्थित सौरभांश के साथ चक्षुःसन्निकर्ष नहीं है। किसी एक दिन चन्दनखण्ड को सूंघ कर सुरभिचन्दन का अनुभव कर लिया, उसके पश्चात् किसी अन्य दिन चन्दनखण्ड को दूर से देखकर ही कह दिया जाता है कि 'सुरभिचन्दनम्' यह चन्दन सुगन्धी है। इस प्रकार सौरभ का जो अलौकिक ज्ञान हो रहा है, उसमें इन्द्रियसन्निकर्ष तो है नहीं, तब किस सन्निकर्ष से सौरभ का अलौकिक ज्ञान हो रहा है ? यह शंका हो सकती है, उसके समाधान के लिये तादृश-अलौकिकप्रत्यक्षविषयताव्यापकज्ञानलक्षणासन्निकर्ष को मानना आवश्यक है।

शंका—'यद्यपीति ।' 'सुरभिचन्दनम्' में सौरभत्वरूप सामान्यलक्षणा के द्वारा सौरभ का ज्ञान हो सकता है। अतः सौरभ के ज्ञान के लिये ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष को मानने की आवश्यकता नहीं है।

समा०—'सुरभिचन्दनम्' चन्दनखण्ड सुगन्धियुक्त है, इस ज्ञान में दो विषय हैं, एक तो चन्दन का खण्ड, दूसरा सुगन्ध। चन्दनखण्ड से तो चक्षुःसन्निकर्ष होता है और सुगन्ध में ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष होता है। इसी प्रत्यक्ष को 'उपनीत भान' भी कहते हैं। इस प्रकार के चाक्षुषप्रत्यक्ष में सुगन्ध विषय होता है। वह अब न हो सकेगा। क्योंकि चन्दनखण्ड से तो चक्षुःसन्निकर्ष है, किन्तु सुगन्धरूप-विषय से चक्षुःसन्निकर्ष नहीं है। अतः ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष मानना चाहिये। 'तथापीति ।' जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थज्ञानस्य किञ्चिद्धर्मप्रकारकत्वम्—जाति और अखण्डोपाधि से भिन्न पदार्थ का ज्ञान किञ्चिद्धर्मप्रकारक ही हुआ करता है यह नियम है। तदनुसार सौरभत्वजाति का ज्ञान तो किसी धर्म से नहीं हो रहा है, अतः उसका (सौरभत्व का) स्वरूपेण ही अलौकिकमानसप्रत्यक्षज्ञानलक्षणा से ही हो सकता है, इसलिये ज्ञानलक्षणा को मानना आवश्यक है। अभिप्राय यह है कि 'सुरभिचन्दनम्' आदि स्थलों में सौरभ का भान, सौरभत्वादि सामान्यलक्षण-

सन्निकर्ष से भी हो सकता है, क्योंकि सौरभत्वप्रकारक लौकिक प्रत्यक्ष या सौरभत्वावच्छिन्नप्रकारक लौकिक प्रत्यक्ष, इन दोनों में से किसी एक सामग्री की सहायता से सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को फलजनक माना गया है। प्रकृत में यद्यपि पहली सामग्री का अभाव है, तथापि सौरभत्वावच्छिन्नप्रकारकलौकिक प्रत्यक्षरूप दूसरी सामग्री तो विद्यमान है ही। इसलिये सामान्यलक्षणा से भी सौरभ का ज्ञान हो सकता है, तथापि स्वरूप से सौरभत्व धर्म का ज्ञान (भान) को ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष से ही होता है, क्योंकि उस समय के सौरभत्व अंश में किसी भी धर्मान्तर का ग्रहण नहीं है। इस कारण सामान्यलक्षणा से सौरभत्वांश के ग्रहण का निर्वाह नहीं हो सकता। एवं च जाति का स्वरूपतः भान होने के लिये ज्ञानलक्षणा को मानना आवश्यक है। तथा ज्ञानलक्षणा के मानने में दूसरी युक्ति यह है कि जात्यतिरिक्तपदार्थ का किञ्चिद्धर्मप्रकार से जो भान होता है उसके लिये ज्ञानलक्षणा की आवश्यकता है 'एवमिति'। जब 'धूमत्वेन' धूलीपटल में भ्रम हुआ अर्थात् जहाँ धूलिसमूह का धूमत्वरूप से ज्ञान हुआ उसके पश्चात् 'धूमत्वावच्छिन्नधूलीपटलभ्रमवानहम्' अर्थात् 'धूमत्वेन धूलीपटलं जानामि' ऐसा अनुव्यवसायज्ञान मन में हुआ। तब उस अनुव्यवसायज्ञान में 'धूमत्व', 'धूलीपटल' और 'भ्रम' ये तीन भासित हो रहे हैं, क्योंकि 'ज्ञान का ज्ञान' भी ज्ञानविषयविषयक होता है। तथा च—उक्त तीनों में भ्रमांशविषयक अनुव्यवसाय, मनःसंयोगसन्निकर्ष से हो रहा है। धूमत्वांश विषयक, पटलांशविषयक अनुव्यवसाय, मनःसंयुक्त-आत्मसमवेतभ्रमात्मकज्ञानलक्षणासन्निकर्ष से ही हो सकता है, क्योंकि अनुव्यवसाय में धूलीपटल और धूमत्व के साथ मन का लौकिक सन्निकर्ष नहीं है, और धूमत्व भी विद्यमान नहीं है। इसलिये सामान्यक्षणा का भी संभव नहीं है। अतः उक्त अनुव्यवसाय स्थल में किञ्चिद्धर्म-धूमत्वप्रकारक धूलीपटल, ज्ञानलक्षणा का विषय बन जाता है। अभिप्राय यह है कि धूमत्व धर्मपुरस्कारेण धूलीपटल से 'अयं धूमः' इत्याकारक ज्ञान होने के बाद 'धूममहं जानामि' इत्याकारक अनुव्यवसाय में 'धूलीपटल' का भान, ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति से होगा। ज्ञानविषयक को अनुव्यवसाय कहते हैं। वह सर्वत्र मानसिक होता है, तथा स्वविषयभूत ज्ञान को उसके विषय सहित विषय करता है। उसमें ज्ञान को तो 'स्वमनःसंयुक्त—आत्मसमवेतत्व' रूप आभ्यन्तर सम्बन्ध से विषय करता है, किन्तु ज्ञान के विषय जो बाह्य घट-पटादि हैं, उनके साथ उसका कोई लौकिक संबंध नहीं है, अपितु 'स्वमनःसंयुक्त-आत्म-समवेत-ज्ञानविषयत्व' रूप ज्ञानलक्षणा नाम का अलौकिक सम्बन्ध ही रहता है। घटादि सद्विषय स्थल में तो 'आसत्तिराश्रयाणाम्' इत्यादि पूर्वोक्त रीति से घटादि अंश में सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति तो हो सकती है, तथापि अनुव्यवसाय में घटत्वादि धर्मभान का निर्वाह ज्ञानलक्षणा से ही होता है। इसी प्रकार धूमत्वेन धूलीपटलादि भ्रमस्थल में भी (धूमत्वाभाववाले धूलीपटल में धूमत्वप्रकारकज्ञान के भ्रमरूप होने से) उभयांश में (धूम, धूमत्व दोनों के ज्ञान में)

ज्ञानलक्षण को (स्वसंयुक्तात्मसमवेतज्ञान-विषयत्वरूपज्ञानलक्षणा को) ही मानना पड़ता है। क्योंकि वहाँ धूमत्वधर्म का अस्तित्व धूलीपटल में वास्तविकरूप से नहीं है, इसलिये तदाश्रयत्वेन धूलीपटल का ज्ञान भी सामान्यलक्षणा से नहीं हो सकता, किन्तु पूर्वोक्त सम्बन्धरूप ज्ञानलक्षणा से ही हो सकता है। जहाँ यथार्थज्ञान है, जैसे 'अहं घटं जानामि' इस प्रतीति में ज्ञान का प्रत्यक्ष तो संयुक्त समवाय सन्निकर्ष से हो सकता है, क्योंकि आत्मा मन से संयुक्त है और उसमें ज्ञान का समवाय है, परन्तु मानसज्ञान में घट भी भासित हो रहा है। मानसज्ञान में घट का ज्ञान लौकिकसन्निकर्ष से तो हो नहीं सकता, क्योंकि लौकिकसन्निकर्ष से तो चाक्षुषप्रत्यक्ष में ही घट का ज्ञान होता है। किन्तु मानस प्रत्यक्ष में घट के ज्ञान के लिये ज्ञानलक्षणा नामक अलौकिक सन्निकर्ष की ही आवश्यकता होगी।

योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः ॥ ६५ ॥
युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः ।

योगज इति। योगाभ्यासजनितो धर्मविशेषः श्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रतिपाद्य इत्यर्थः। युक्तयुञ्जानभेदत इति। युक्तयुञ्जानरूपयोगिद्वैविध्याद्धर्मस्यापि द्वैविध्यमिति भावः ॥ ६५ ॥

युक्तस्य तावद्योगजधर्मसहायेन मनसा आकाशपरमाण्वादिनिखिलपदार्थगोचरं ज्ञानं सर्वदैव भवितुमर्हति। द्वितीयस्य चिन्ताविशेषोऽपि सहकारीति।

॥ इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचितायां
न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याम्प्रत्यक्षखण्डम् ॥

पूर्वोक्त तीन प्रकार के अलौकिक सन्निकर्षों में से तृतीय योगजसन्निकर्ष को बता रहे हैं—'योगज इति।' 'योगात् जातो योगजः' इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को बताते हैं—'योगाभ्यासजनितो धर्मविशेष' इति। चित्तवृत्तिनिरोध को 'योग' कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'—(यो० सू० १।२) वह योग, समाधिरूप ही है। 'युज् समाधौ' इस समाधि अर्थ वाले 'युज्' धातु से उक्त 'योग' शब्द की निष्पत्ति होती है, 'युजिर् योगे' इस संयोगार्थक 'युजिर्' धातु से उक्त योग शब्द की निष्पत्ति नहीं है। युक्त और युञ्जानरूप योगी के भेद से योगाभ्यास से उत्पन्न होने वाले तथा श्रुतिपुराणादिकों में वर्णित, योगज धर्म (पुण्य) विशेष दो प्रकार का होता है। योगरूप समाधि के लिये उसके साधनों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार) का अभ्यास तथा ईश्वर-प्रणिधान का अभ्यास करना पड़ता है, तब उससे धारणा, ध्यान का सम्पादक एक धर्म विशेष (महान् पुण्य) और ईश्वरानुग्रह से प्राप्त हुए ज्ञान में वैशारद्य

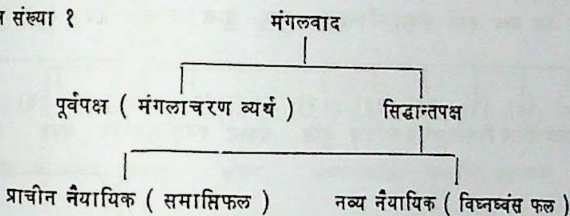
होता है। इसका समर्थन श्रुतियों ने किया है—'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।'—(कण्ठवल्ली अ–१, व–२, मं–१२) 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः।'—(मुं–३, खं–१, तं–८), 'ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्त।'—(मुं–३, खं–२, मं–५)। तथा च यमनियमादि के अभ्यास से उत्पन्न पुण्यात्मक सन्निकर्ष, धारणा-ध्यान-समाधिरूपसंयम (चिन्तन) सहित होकर युञ्जानयोगी को कालन्तरीय-देशान्तरीय-सूक्ष्म-विप्रकृष्ट पदार्थों का अलौकिक प्रत्यक्ष करा देता है। उसी प्रकार ईश्वरप्रणिधानलभ्य ईश्वरानुग्रहान्वितज्ञानवैशारद्यरूप सार्वज्ञ्यकल्प सन्निकर्ष से युक्तयोगी को सार्वदिक् स्फुरणरूप विवेकसाक्षात्कार होता रहता है। ईश्वरानुग्रहान्वितज्ञानप्रसाद ही युक्तधर्म है उससे समन्वित योगी को युक्तयोगी कहते हैं। और संयमसहकृत महत् पुण्य ही युञ्जानधर्म है, उससे समन्वित योगी को युञ्जानयोगी कहते हैं। युक्त और युञ्जान ये दो धर्म हैं। युक्तस्येति। ईश्वरानुग्रहविशिष्टज्ञानप्रसाद प्राप्त किये युक्तयोगी को ईश्वरप्रणिधानजनित अनुग्रहविशिष्टज्ञानप्रसाद रूप योगजधर्म की सहायता से, मन (अन्तःकरण) में आकाश, परमाणु आदि समस्त पदार्थों का अलौकिक प्रत्यक्षात्मकज्ञान सर्वदा ही अविच्छिन्नरूप से होता रहता है। तथा युञ्जानयोगी को ध्यान, धारणा आदि संयमरूप चिन्ताविशेष करने से अर्थात् संयम सहकृत पुण्यान्वित मन के द्वारा यद्विषयक संयम होगा, तद्विषयक ही अलौकिक साक्षात्कार (अलौकिक प्रत्यक्ष) होता है। अभिप्राय यह है कि युक्तयोगी को निखिलविषयविषयकसाक्षात्कार, बिना चिन्ता किये भी होता रहता है किन्तु युञ्जानयोगी को अपना चित्त एकाग्र करना पड़ता है अर्थात् चित्त को तत्तद्विषयाकार करना पड़ता है तब उसे सार्वकालिक, सार्वदेशिक पदार्थों का ज्ञान होता है ॥ ६५ ½ ॥

श्रीमद्भगवदवताराणाम्पूज्यपादानाम्पण्डितराज—श्रीराजेश्वरशास्त्रि-
द्राविडचरणानामनुगृहीतान्तेवासिना, पूज्यपादश्रीमन्महामहोपाध्याय-
श्रीसदाशिवशास्त्रिचरणतनूजन्मना, मुसलगाँवकरोपनामकेन
श्रीगजाननशास्त्रिणा विरचितायां बालप्रियाख्यायां
व्याख्यायाम् प्रथमम्प्रत्यक्षखण्डम्।

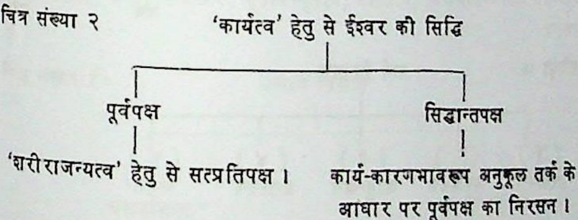
(प्रत्यक्षस्वरूपाभिधानपरा तुरीया मुक्ता)

रेखाचित्रों द्वारा न्या० सि० मु० का सिंहावलोकन

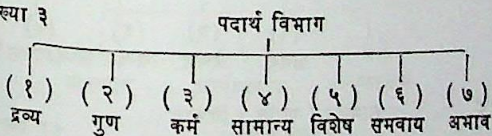
चित्र संख्या १



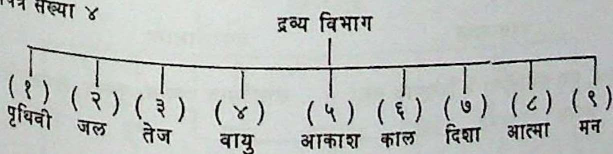
चित्र संख्या २



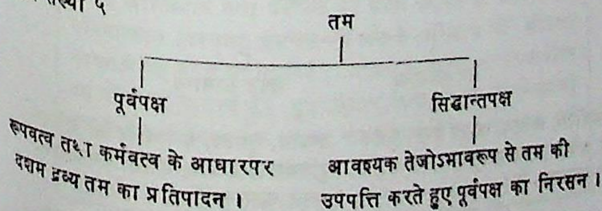
चित्र संख्या ३



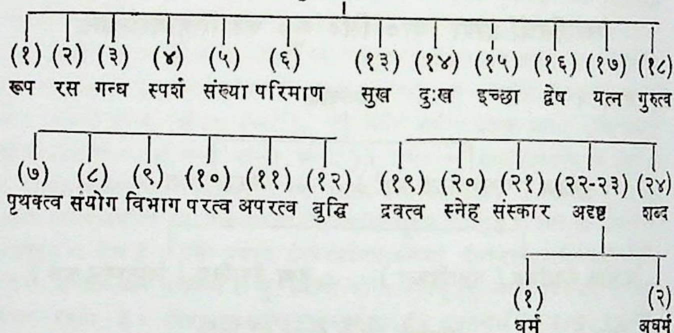
चित्र संख्या ४



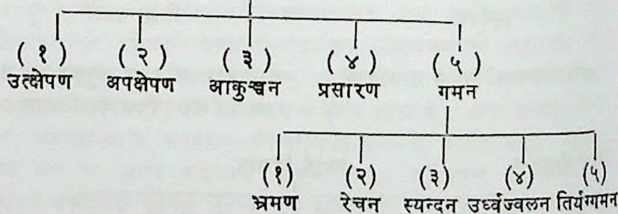
चित्र संख्या ५



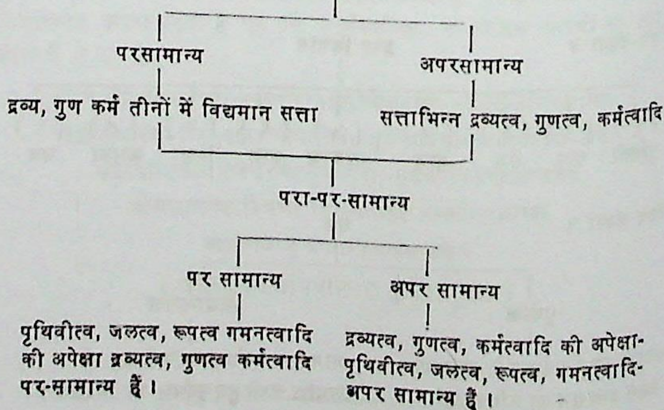
चित्र संख्या ६



चित्र संख्या ७

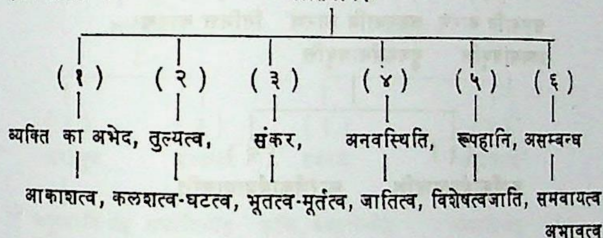


चित्र संख्या ८

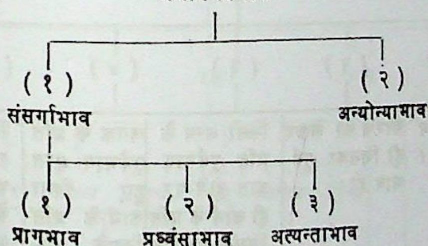


घटत्व, पटत्व, रसत्व, शुक्लत्व, भ्रमण- पृथिवीत्व, जलत्व, रूपत्व, गमनत्वादि त्वादि की अपेक्षा पृथिवीत्व, जलत्व की अपेक्षा घटत्व-पटत्व-रसत्व शुक्लत्व-रूपत्व, गमनत्वादि, परसामान्य हैं। भ्रमणत्वादि अपर-सामान्य है।

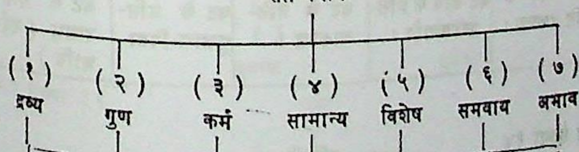
चित्र संख्या ९



चित्र संख्या १०

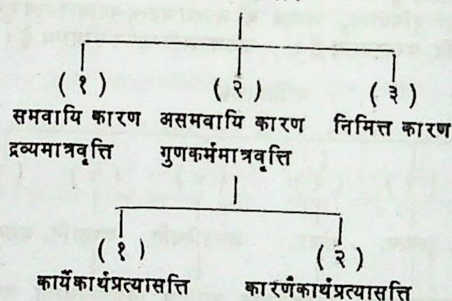


चित्र संख्या ११



ज्ञेयत्व अभिधेयत्व तथा प्रमेयत्व यह सातों पदार्थों का साधर्म्य है। परिमाण्डल्य (परमाणु द्व्यणुक एवं मन के परिमाण को) छोड़कर कारणत्व यह सातों का साधर्म्य है। भावत्व अनेकत्व तथा समवायित्व यह पाँचों का साधर्म्य है। गुणरहितत्व क्रियाशून्यत्व (निष्क्रियत्व) गुण से लेकर अभाव तक इन छः का साधर्म्य है। द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों का सत्तावत्त्व रूप साधर्म्य है। सामान्य का अधिकरणत्व सामान्य से लेकर अभाव तक इन चारों का साधर्म्य है।

चित्र संख्या १२



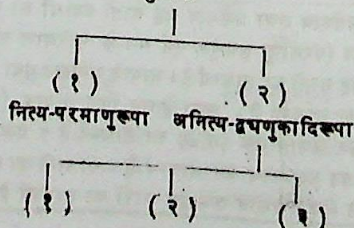
चित्र संख्या १३

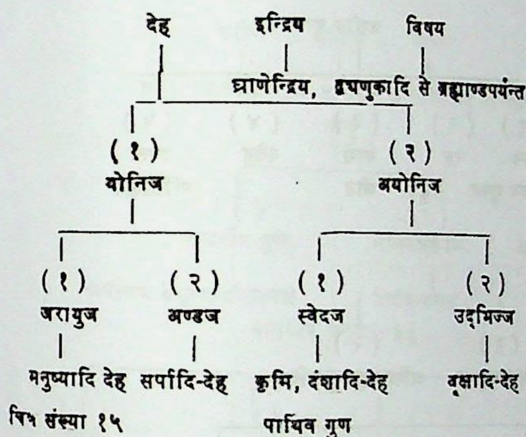
अन्यथा सिद्धि

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
जिसके साथ पूर्वभाव हो।	कारण को लेकर ही जिसका पूर्वभाव हो।	किसी अन्य के प्रति पूर्वभाव ज्ञात होने पर ही कार्य के प्रति जिसके पूर्वभाव का निश्चय हो।	जनक के प्रति पूर्वभाव ज्ञात हुए विना कार्य के प्रति जिसके पूर्वभाव का ज्ञान न हो।	नियत आवश्यक पूर्वभावी पदार्थों से जो भी अतिरिक्त हो।
घट कार्य के प्रति दण्डत्व।	घट कार्य के प्रति-दण्डरूपादि।	घट के प्रति-आकाश।	घट के प्रति-कुलाल-पिता	घट के प्रति-रासभ (गर्दभादि)

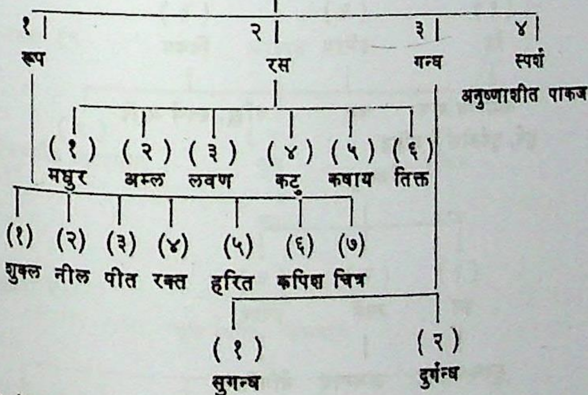
चित्र संख्या १४

पृथिवी

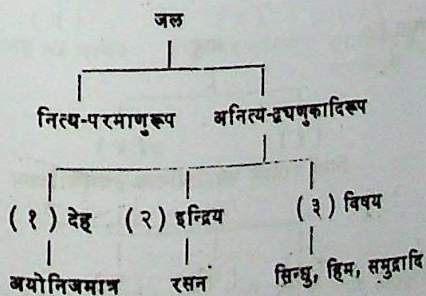


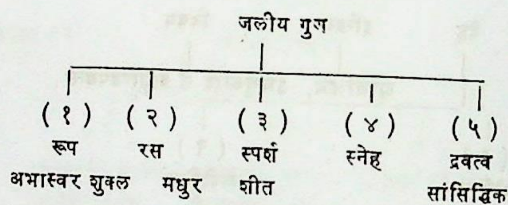


चित्र संख्या १५

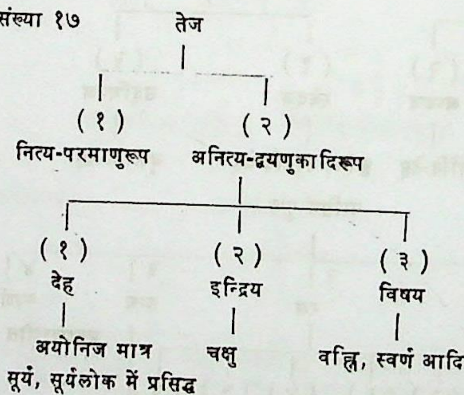


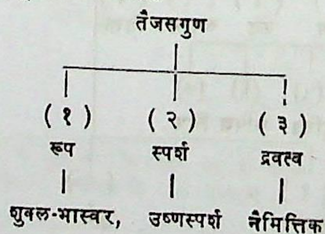
चित्र संख्या १६



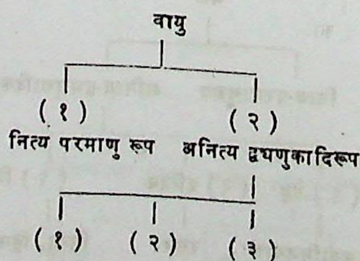


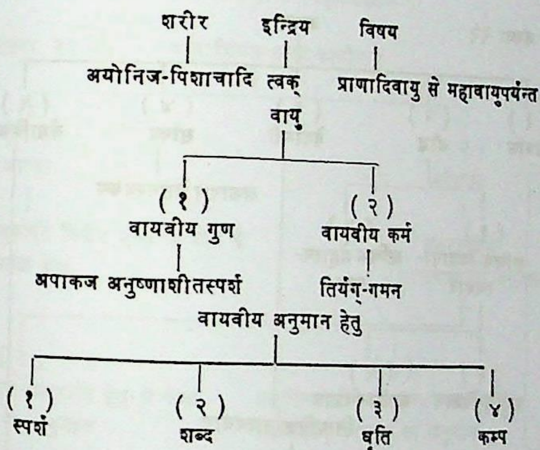
चित्र संख्या १७



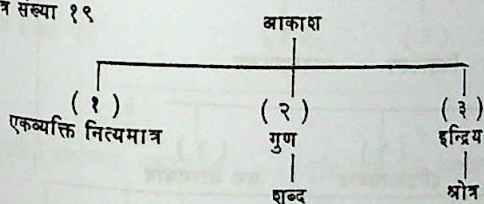


चित्र संख्या १८

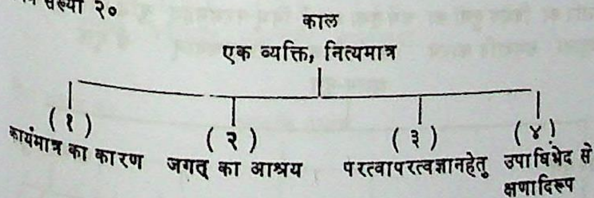




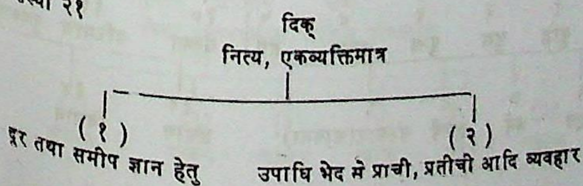
चित्र संख्या १९



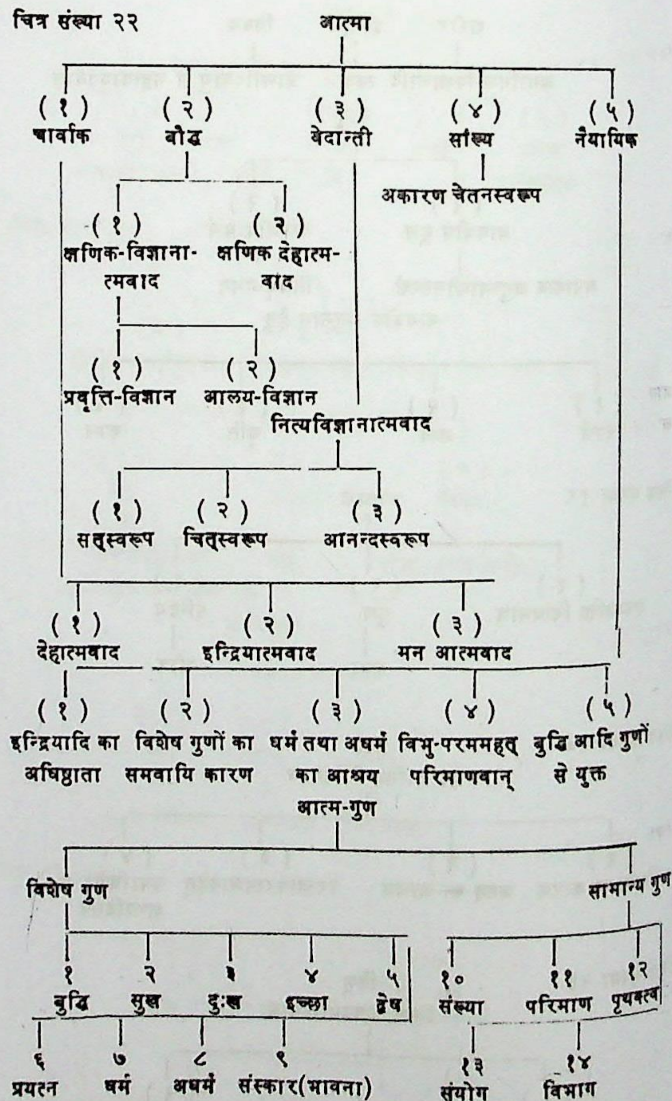
चित्र संख्या २०



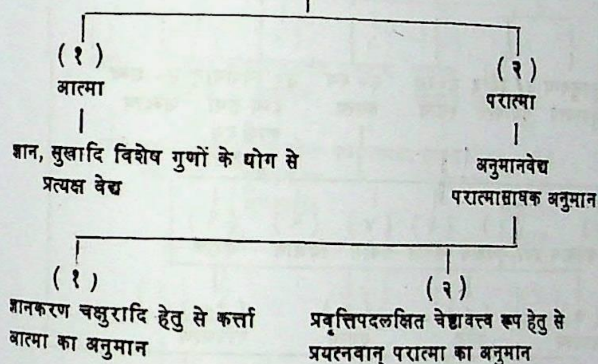
चित्र संख्या २१



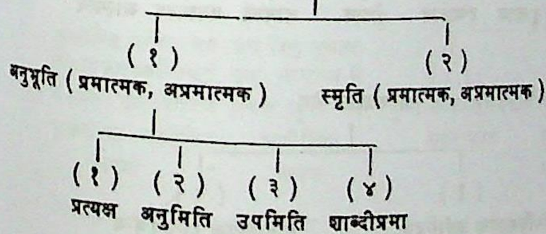
चित्र संख्या २२


आत्मा
(१) चार्वाक
(२) बौद्ध
(३) वेदान्ती
(४) सांख्य
(५) नैयायिक
अकारण चेतनस्वरूप
(१) क्षणिक-विज्ञानात्मवाद
(२) क्षणिक देहात्मवाद
(१) प्रवृत्ति-विज्ञान
(२) आलय-विज्ञान
नित्यविज्ञानात्मवाद
(१) सत्स्वरूप
(२) चित्स्वरूप
(३) आनन्दस्वरूप
(१) देहात्मवाद
(२) इन्द्रियात्मवाद
(३) मन आत्मवाद
(१) इन्द्रियादि का अधिष्ठाता
(२) विशेष गुणों का समवायि कारण
(३) धर्म तथा अधर्म का आश्रय
(४) विभु-परममहत्व परिमाणवान्
(५) बुद्धि आदि गुणों से युक्त
आत्म-गुण
विशेष गुण
सामान्य गुण
१ बुद्धि
२ सुख
३ दुःख
४ इच्छा
५ द्वेष
१० संख्या
११ परिमाण
१२ पृथक्त्व
६ प्रयत्न
७ धर्म
८ अधर्म
९ संस्कार(भावना)
१३ संयोग
१४ विभाग

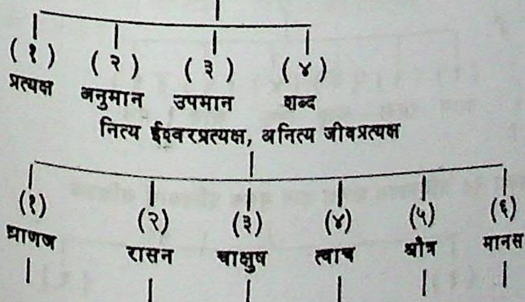
चित्र संख्या २३

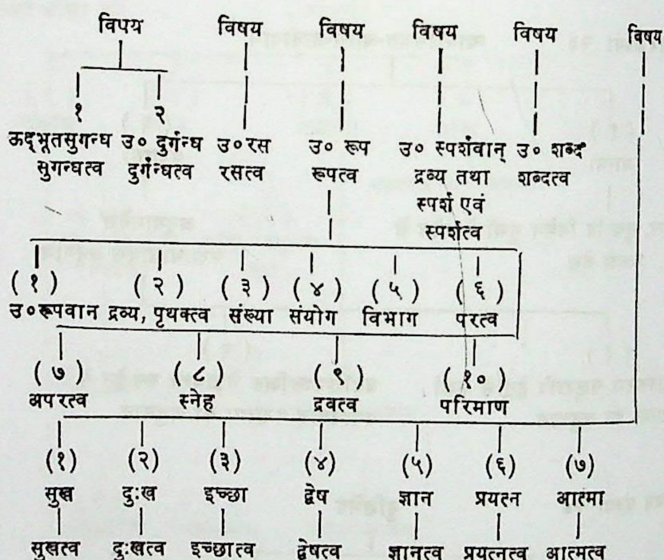


चित्र संख्या २४

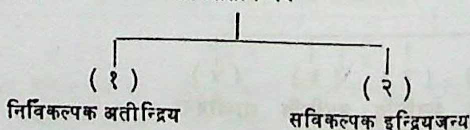


चित्र संख्या २५

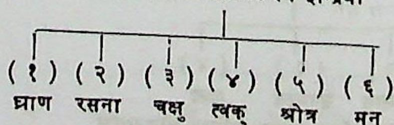




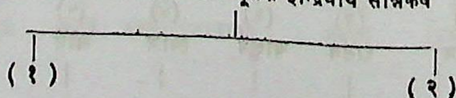
चित्र संख्या २६ प्रत्यक्षज्ञान भेद

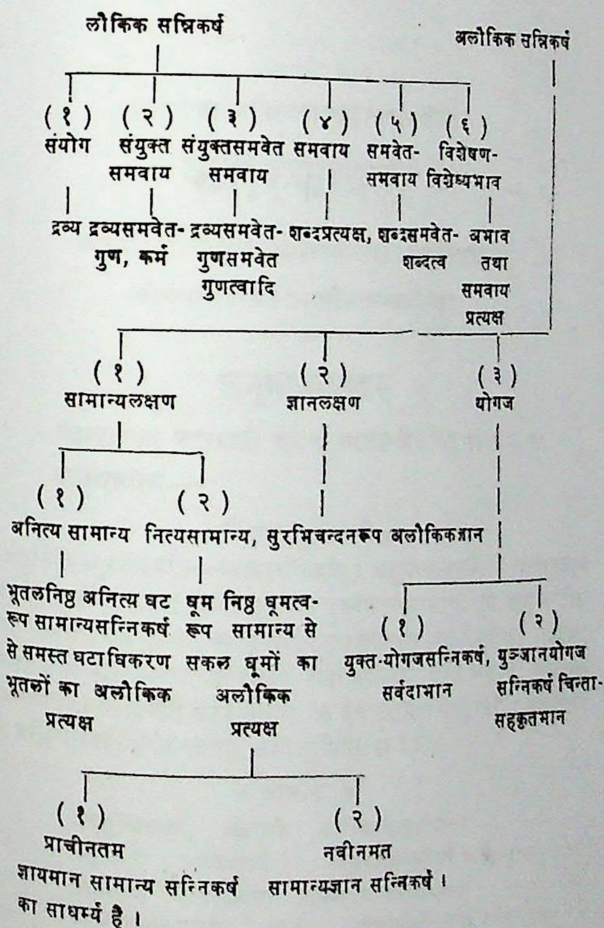


चित्र संख्या २७ सविकल्पकप्रत्यक्षज्ञानकरण इन्द्रियाँ



चित्र संख्या २८ सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान मूलक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष




लौकिक सन्निकर्ष
अलौकिक सन्निकर्ष
(१) संयोग
(२) संयुक्त समवाय
(३) संयुक्तसमवेत समवाय
(४) समवाय
(५) समवेत-समवाय
(६) विशेषण-विशेष्यभाव
द्रव्य
द्रव्यसमवेत-गुण, कर्म
द्रव्यसमवेत-गुणसमवेत गुणत्वादि
शब्दप्रत्यक्ष,
शब्दसमवेत-शब्दत्व
अभाव तथा समवाय प्रत्यक्ष
(१) सामान्यलक्षण
(२) ज्ञानलक्षण
(३) योगज
(१) अनित्य सामान्य
(२) नित्यसामान्य,
सुरभिचन्दनरूप अलौकिकज्ञान
भूतलनिष्ठ अनित्य घट रूप सामान्यसन्निकर्ष से समस्त घटाधिकरण भूतलों का अलौकिक प्रत्यक्ष
धूम निष्ठ धूमत्व-रूप सामान्य से सकल धूमों का अलौकिक प्रत्यक्ष
(१) युक्त-योगजसन्निकर्ष, सर्वदाभान
(२) युञ्जानयोगज सन्निकर्ष चिन्ता-सहकृतभान
(१) प्राचीनतम
ज्ञायमान सामान्य सन्निकर्ष का साधर्म्य है।
(२) नवीनमत
सामान्यज्ञान सन्निकर्ष।

॥ समाप्त ॥

॥ श्रीः ॥

न्यायपञ्चाननविश्वनाथभट्टाचार्यप्रणीता

कारिकावली

न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याख्य-स्वोपज्ञवृत्तिसहिता

लोकमणिप्रणीत-'आलोक'व्याख्योपेता

अनुमानखण्डम्

व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत् ॥ ६६ ॥

अनुमायाम्—

✱ सिद्धान्तमुक्तावली ✱

अनुमितिं व्युत्पादयति—व्यापारस्त्विवति । अनुमायामनुमितौ व्याप्तिज्ञानं करणं, परामर्शो व्यापारः । तथाहि—येन पुरुषेण महानसादौ धूमे वह्नेर्व्याप्तिः गृहीता, पश्चात्स एव पुरुषः क्वचित्पर्वतादावविच्छिन्नमूलां धूमलेखां पश्यति, तदनन्तरं धूमो वह्निव्याप्य इत्येवंरूपं व्याप्तिस्मरणं तस्य भवति, पश्चाच्च वह्निव्याप्यधूमवानयमिति ज्ञानं भवति, स एव परामर्श इत्युच्यते । तदनन्तरं पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानं जायते, तदेवानुमितिः ॥ ६६ ॥

✱ आलोकः ✱

सकर्तृकत्वात् क्षित्यादेः कार्यत्वाद्योऽनुमीयते ।
कर्तृत्वेन नमस्तस्मै विभवेऽखिलयोनये ॥ १ ॥
व्याख्याय कारिकावल्याः प्रत्यक्षं खण्डमादिमम् ।
विवृणोत्यनुमानञ्च खण्डं लोकमणिर्द्विजः ॥ २ ॥
महादेवो रामरुद्रो नृसिंहः कृष्णवल्लभः ।
नरसिंहश्च सूर्याद्या अत्र मार्गप्रदर्शकाः ॥ ३ ॥

[अनुमाऽसन्निकृष्टेऽर्थे व्याप्यदर्शनजा मतिः ।
तेन—

पञ्चलक्षणकाल्लिङ्गाद् गृहीतान्नियमे स्मृते ।
परोक्षे लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानं प्रचक्षते ॥

यद्वा—

सन्निकृष्टेतरार्थस्य यज्ज्ञानं व्याप्यदर्शनात् ।
भवेत्तदनुमानं वै प्रत्यक्षपूर्वकं यथा ॥
दर्शनाद् धूमवत्त्वस्य पर्वते वह्निमत्त्वधीः ।
पर्वतो वह्निमान् धूमान्महानसवदित्यसौ ॥
पक्षः साध्यश्च हेतुश्च दृष्टान्तः क्रमशो मताः ।

अनुमितिकरणमनुमानं लिङ्गपरामर्शो वा सम्यगविनाभावेन परोक्षानुभवसाधनं तदिति ।]

अनुमानिरूपककारिकावतारणाय भूमिकामारचयति—**अनुमितिमिति** । **अनुमितिम्** अनुमास्वरूपम् । **व्युत्पादयति** निरूपयति इति । अनेन प्रत्यक्षनिरूपणानन्तरमनुमितिनिरूपणेऽवसरसङ्गतिरपि संसूच्यते । उद्देशक्रमेणापि प्रत्यक्षानन्तरमनुमितेरेव निरूपणीयत्वात् । प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि इति गौतमोक्तेः प्रत्यक्षमप्यनुमितिस्तथोपमितिशब्दजे इति प्रकृतग्रन्थोक्तेश्च । न चोपजीव्योपजीवकभावसङ्गत्या प्रत्यक्षनिरूपणानन्तरमनुमितिनिरूपणमिति वाच्यं, प्रत्यक्षेऽपि अनुमित्युपजीवकत्वसत्त्वेनानुमितौ प्रत्यक्षायानन्तर्याभिधाननियामकत्वासम्भवादिति प्रभाकृतः । अनुमानस्य प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्तदनन्तरमस्य निरूपणं प्राप्तावसरमेव । उक्तं यथा तत्त्वचिन्तामणौ—'प्रत्यक्षोपजीवकत्वात्प्रत्यक्षानन्तरं बहुवादिसम्मतत्वादुपमानात्प्रागनुमानं निरूप्यत' इति । करणनिर्देशानन्तरमेव व्यापारे जिज्ञासोदयसम्भवेऽपि परामर्शनिष्ठकरणत्वे स्वस्यारुचिं दर्शयितुं परममूले प्रथमं व्यापारमाह । अनुमायां व्यापारः तु परामर्शः व्याप्तिधीः करणं भवेत् इति । **अनुमायाम्** अनुमितौ तदाख्ये व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञाने । **व्यापारः** विषयमनःसंयोगरूपवृत्तिः करणजन्यत्वे सति करणजन्यफलजनकत्वं व्यापारत्वमिति । उक्तमेव—'यं जनयित्वैव यस्य यज्जनकत्वं स तद्व्यापारः' इति । तु हि । **परामर्शः** ज्ञानविशेषः व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं वा । भवति । अनुमितौ लिङ्गपरामर्श एव व्यापार इति फलितार्थः । **व्याप्तिधीः** व्याप्तिः साध्यसाधनयोरव्यभिचरितसम्बन्धः यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरित्येवंरूपः साहचर्यनियमस्तस्याः धीर्ज्ञानम् । **करणं** व्यापारवदसाधारणं कारणम् । **भवेत्** सम्पद्यत इति । यथा हि प्रत्यक्षे इन्द्रियं करणं विषयेन्द्रियसंयोगो व्यापारस्तथैवानुमितौ व्याप्तिज्ञानं करणं लिङ्गपरामर्शस्तु व्यापार इति ।

मूले अनुमायामिति । **अनुयामामिति अनुमितौ** परामर्शजन्यज्ञाने **व्याप्तिज्ञानं** व्याप्तेः साध्यसाधनयोरव्यभिचरितसम्बन्धस्य ज्ञानं मतिः **करणम्** असाधारणकारणं भवति । **परामर्शः** व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम् । **व्यापारः** वृत्तिः भवतीति । करणज्ञानानन्तरमेव व्यापारजिज्ञासोत्पत्तेः परममूले पश्चान्निर्दिष्टमपि करणं मूले प्रथममेव निर्दिष्टमिति । व्याप्तिज्ञानपरामर्शयोः करणव्यापारत्वे उदाहरति—**तथा हीत्यादिना** । **तथा हि** इति निदर्शने । **येन** येन हि सम्बद्धेन । **पुरुषेण** जनेन । **महानसादौ** पाककक्षादौ । धूमे तरौ । वह्नेरग्नेः व्याप्तिरव्यभिचरितसम्बन्धः । गृहीता अनुभूता । पश्चादनन्तरम् । सः

यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र व्याप्तिरिति गृहीतव्याप्तिः । एव इत्यवधारणे नान्य इति । **पुरुषः** जनः । **पर्वतादौ** गिरिप्रभृतिप्रदेशे । **अविच्छिन्नमूलाम्** मूलसम्बद्धरेखाम् । **धूमलेखां** तीरपङ्क्तिम् । **पश्यति** विलोकयति । **तदनन्तरम्** अनवच्छिन्नमूलधूमरेखादर्शनानन्तरं धूमस्तरिः । वह्निव्याप्यः वह्नेर्व्याप्तेर्विषयः, यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निर्यत्र यत्र वह्न्यभावस्तत्र तत्र धूमाभावः इति । **एवंरूपं** एवम्प्रकारकं धूमवह्न्योरव्यभिचरितसाहचर्यात्मकम् । **व्याप्तिस्मरणं** व्याप्तेः साध्यसाधनयोरत्र वह्निधूमयोः सततसाहचर्यनियमस्य स्मरणं संस्कारजन्यज्ञानं पुनराकलनम् । **भवति** सम्पद्यते । **पश्चाद्** व्याप्तिस्मरणानन्तरम् । **च** हि । **अयं** पर्वतः **वह्निव्याप्यधूमवान्** वह्निना अग्निना व्याप्यो नियतसाहचर्यो यो धूमस्तद्वांस्तद्युक्तः । **इति** इत्थम् । **ज्ञानमवबोधः** । **भवति** सम्पद्यते । **सः** तथाविधः । **एव** हि । **परामर्श इति उच्यते** परामर्शशब्देन कथ्यते । **तदनन्तरं** परामर्शानन्तरम् । **'पर्वतो वह्निमान्' इति** इत्थम्प्रकारकं यज्ज्ञानमवबोधः । **तत्** तादृशं ज्ञानम् । **एव** हि । **अनुमितिः** अनुमितिपदवाच्यमिति । अत्र हि परामर्शो व्याप्तिज्ञानजन्यः, स च व्याप्तिज्ञानजन्यानुमितिजनक इति तस्य व्यापारत्वं परामर्शजनकसाधनतया व्याप्तिधियः करणत्वमिति । महानसादौ धूमं तद्योनित्वेन वह्निञ्च दृष्ट्वा यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति गृहीतसंस्कारो जनः पर्वते धूममनवच्छिन्नमूलं दृष्ट्वा स्मृत्वा च धूमवह्न्योः साहचर्यनियमम् एकसम्बन्धिज्ञानस्यापरसम्बन्धिस्मारकतया वह्निव्याप्यधूमवानयमिति परामृश्य ततः अदृष्टेऽपि वह्नौ पर्वतो वह्निमानित्यनुमिनोति । एतदेव लिङ्गपरामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिरिति ॥ ६६ ॥

अनुवाद—अब (प्रत्यक्ष प्रमा के निरूपण के बाद क्रमप्राप्त) अनुमिति का निरूपण करते हैं—

अनुमिति में परामर्श ही व्यापार है और व्याप्ति का ज्ञान करण होता है ।

अनुमा अर्थात् अनुमिति में व्याप्ति का ज्ञान ही करण होता है, परामर्श ही व्यापार होता है । जैसे कि जिस पुरुष ने महानस (चूल्हा) आदि में धुएँ में आग की व्याप्ति का ग्रहण किया है अर्थात् धुंआ और आग का व्यभिचाररहित सम्बन्ध जान लिया है, बाद में वही पुरुष कहीं पर्वत आदि में मूल से विच्छेद न हुए धुएँ की रेखा को देख लेता है, उसके बाद धुआँ वह्नि से व्याप्य है; इस प्रकार की व्याप्ति का स्मरण उसको हो जाता है और बाद में 'यह वह्नि से व्याप्य धुएँ वाला है' ऐसा ज्ञान हो जाता है, यही ज्ञान 'परामर्श' कहा जाता है । उसके बाद 'पर्वत वह्नि से युक्त है' ऐसी अनुमिति हो जाती है ॥ ६६ ॥

—ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं न हि ।
अनागतादिलिङ्गेन न स्यादनुमितिस्तदा ॥ ६७ ॥

अत्र प्राचीनास्तु व्याप्यत्वेन ज्ञायमानं लिङ्गमनुमितिकरणमिति वदन्ति तद् दूषयति—ज्ञायमानमिति । लिङ्गस्यानुमित्यकरणत्वे युक्तिमाह—अनागता-

दीति । यद्यनुमितौ लिङ्गं करणं स्यात्तदाऽनागतेन विनष्टेन च लिङ्गेनानुमितिर्न स्यादनुमितिकरणस्य लिङ्गस्य तदानीमभावात् ॥ ६७ ॥

आलोकः—परममूले ज्ञायमानमिति । ज्ञायमाने ज्ञायते वह्निव्याप्यो धूम इति व्याप्तिविशिष्टतया प्रतीयत इति प्रतीयमानं लिङ्गं हेतुः न करणं हि नैवानुमितिकारणमिति । तत्र युक्तिं निर्दिशति—अनागतेति । तदा यदि लिङ्गमेवानुमितौ करणं स्यात्तस्यामवस्थायां अनागतादिलिङ्गेन अनागतमनुपस्थितमादिपदादतीतञ्च यल्लिङ्गं तेन मानसवह्निव्याप्यवत्तापरामर्शेन । अनुमितिरनुमा । न स्यात् नैव सम्भवेत् अनुमित्यव्यवहितपूर्वक्षणे तयोरसत्त्वादिति । तदेव विवृणोति मूले—अत्रेत्यादिना । अत्र प्रसङ्गेऽस्मिन् । प्राचीनाः विशेषेण वैशेषिकाचार्या उदयनप्रभृतयः । तु एतद्व्यतिरिक्तम् । व्याप्यत्वेन व्याप्तिविशिष्टतया । ज्ञायमानं प्रतीयमानम् । लिङ्गं हेतुः । अनुमितिकरणम् अनुमितेरसाधारणं कारणम् । इति इत्थम् । वदन्ति कथयन्ति । तत् तथाविधं कथनम् । दूषयति युक्त्या परिहरति । ज्ञायमानमिति । ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं न हि इति कथनेनेति । व्याप्तिविशिष्टतया हेतोर्ज्ञानं न करणं किन्तु व्याप्तिविशिष्टतया ज्ञायमानो हेतुरेव करणं धूमादिति हेतुपञ्चम्युपलब्धेरिति यदुक्तं वैशेषिकैस्तन्न युक्तमित्याशयः । लिङ्गस्य हेतोः । अनुमित्यकरणत्वे अनुमितेः करणत्वेनानङ्गीकारे । युक्तिमुपायम् । आह । अनागतादीति । यदि । अनुमितौ अनुमितिज्ञाने । लिङ्गं ज्ञायमानं लिङ्गमेव । करणं कारणम् । स्यात् । तदा । अनागतेन अनुपस्थितेन । विनष्टेन अतीतेन । लिङ्गेन हेतुना मानसपरामर्शरूपेण, च । अनुमितिरनुमा । न स्यात् । तथाभवने हेतुमाह—अनुमितिकरणस्येति । अनुमितिकरणस्य अनुमायाः करणत्वेन गृहीतस्य । लिङ्गस्य हेतोः । तदानीम् अनुमाकाले । अभावात् विरहादिति ।

अयम्भावः—यद्यनुमितौ प्रतीयमानं लिङ्गमेव करणं स्यात् तदा अतीतानागतविषयको यत्र मानसो वह्निव्याप्यवत्तापरामर्शस्तत्रानुमितेरनुदयः स्यात्तदव्यवहितपूर्वक्षणे तयोरसत्त्वात् । तत्र व्यभिचारान्न तादृशलिङ्गत्वेन करणत्वम् । नैव च तत्प्रागभावादीनामेव लिङ्गत्वं तेषां तदा तद्व्याप्यत्वेनापरामृश्यमाणत्वादिति । न च परामर्शरूपव्यापारसम्बन्धेन तदानीं लिङ्गोपस्थितिर्वाच्या अतीतादिलिङ्गस्य परामर्शाजनकतया परामर्शस्य तद्व्यापारत्वासम्भवात् ॥ ६७ ॥

अनुवाद—ज्ञायमान अर्थात् वह्नि से व्याप्य है धुआँ, ऐसे व्याप्तिविशिष्ट के रूप में प्रतीयमान लिङ्ग अनुमिति का करण नहीं बन सकता । यदि अनुमिति में लिङ्ग को करण माना जाय तो तब अनुपस्थित एवं अतीत लिङ्ग से अनुमिति नहीं हो पाती ।

इस प्रसङ्ग में प्राचीन आचार्य तो 'व्याप्य के रूप में ज्ञायमान अर्थात् प्रतीयमान लिङ्ग अनुमिति का करण होता है' ऐसा कहते हैं; उसका खण्डन करते हैं—**ज्ञायमान आदि** से । ज्ञायमान लिङ्ग अनुमिति का करण नहीं होता । लिङ्ग के अनुमिति के करण न हो पाने में युक्ति बतलाते हैं—**अनागत आदि** । यदि अनुमिति में लिङ्ग करण हो तब अनुपस्थित एवं विनष्ट लिङ्ग से भी अनुमिति नहीं होगी, क्योंकि अनुमिति

का करणभूत लिङ्ग का उस समय अभाव होता है। वास्तव में तो मानस जो वह्नि-व्याप्यवत्ता का परामर्श है, उससे भी अनुमिति होती है ॥ ६७ ॥

व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते ।

व्याप्यस्येति । व्याप्तिविशिष्टस्य पक्षेण सह वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानमनुमितिजनकम् । तच्च पक्षे व्याप्य इति ज्ञानं, पक्षो व्याप्यवानिति ज्ञानं वा । अनुमितिस्तु पक्षे व्याप्य इति ज्ञानात्पक्षे साध्यमित्याकारिका पक्षो व्याप्यवानिति ज्ञानात्पक्षः साध्यवानित्याकारिका । द्विविधादपि परामर्शात्पक्षः साध्यवानित्येवानुमितिरित्यन्ये ।

ननु वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इति ज्ञानं विनापि यत्र पर्वतो धूमवानिति प्रत्यक्षं ततो धूमो वह्निव्याप्य इति स्मरणं तत्र ज्ञानद्वयादेवानुमितिदर्शनाद् व्याप्तिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं न सर्वत्र कारणं, किन्तु व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेनैव कारणत्वस्यावश्यकत्वात्, तत्र विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानकल्पने गौरवाच्चेति चेन्न । व्याप्यतावच्छेदकाऽज्ञानेऽपि वह्निव्याप्यवानिति ज्ञानादनुमित्युत्पत्तेर्लाघवाच्च व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेनैव हेतुत्वम् । किञ्च धूमवान् पर्वत इति ज्ञानादनुमित्यापत्तिः, व्याप्यतावच्छेदकीभूतधूमत्वप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानस्य सत्त्वात् । न च तदानीं गृह्यमाणव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानस्य हेतुत्वमिति वाच्यम् । चैत्रस्य व्याप्तिग्रहे मैत्रस्य पक्षधर्मताज्ञानादनुमितिः स्यादिति । यदि तु तत्पुरुषीयगृह्यमाणव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकं तत्पुरुषीयपक्षधर्मताज्ञानं तत्पुरुषीयानुमितौ हेतुरित्युच्यते तदाऽनन्तकार्यकारणभावः । मन्मते तु समवायसम्बन्धेन व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानं समवायसम्बन्धेनानुमितिं जनयतीति नानन्तकार्यकारणभावः । यदि तु व्याप्तिप्रकारकं ज्ञानं पक्षधर्मताज्ञानञ्च स्वतन्त्रं कारणमित्युच्यते तदा कार्यकारणभावद्वयं वह्निव्याप्यो धूमः, आलोकवान् पर्वत इति ज्ञानादप्यनुमित्यापत्तिः स्यात् । इत्थञ्च यत्र ज्ञानद्वयं तत्रापि विशिष्टज्ञानं कल्पनीयं, फलमुखगौरवस्यादोषत्वात् ॥

आलोकः—परममूले परामर्शं लक्षयति—**व्याप्यस्येति** । **व्याप्यस्य** व्याप्तेराश्रयस्य धूमादेः । **पक्षवत्तित्वधीः** पक्षे पर्वतादौ वृत्तिर्वर्तनं यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्य धीर्ज्ञानं पक्षेण सह सम्बन्धज्ञानम् । **परामर्शः** । **उच्यते** कथ्यते । व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्श इति ।

मूले कारिकां विवृणोति—**व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीरिति** । **व्याप्यस्येति** । व्याप्तिविशिष्टस्य व्याप्त्या साध्यसाधनयोरव्यभिचरितसम्बन्धेन विशिष्टस्य विशेषणीभूतस्य धूमादेरिति । **पक्षवृत्तित्वधीरिति** । पक्षेण सन्दिग्धसाध्यवता पर्वतादिना । सह ।

दीति। यद्यनुमितौ लिङ्गं करणं स्यात्तदाऽनागतेन विनष्टेन च लिङ्गेनानुमितिर्न स्यादनुमितिकरणस्य लिङ्गस्य तदानीमभावात् ॥ ६७ ॥

आलोकः—परममूले ज्ञायमानमिति। ज्ञायमाने ज्ञायते वह्निव्याप्यो धूम इति व्याप्तिविशिष्टतया प्रतीयत इति प्रतीयमानं लिङ्गं हेतुः न करणं हि नैवानुमितिकारणमिति। तत्र युक्तिं निर्दिशति—अनागतेति। तदा यदि लिङ्गमेवानुमितौ करणं स्यात्तस्यामवस्थायां अनागतादिलिङ्गेन अनागतमनुपस्थितमादिपदादतीतञ्च यल्लिङ्गं तेन मानसवह्निव्याप्यवत्तापरामर्शेन। अनुमितिरनुमा। न स्यात् नैव सम्भवेत् अनुमित्यव्यवहितपूर्वक्षणे तयोरसत्त्वादिति। तदेव विवृणोति मूले—अत्रेत्यादिना। अत्र प्रसङ्गेऽस्मिन्। प्राचीनाः विशेषेण वैशेषिकाचार्या उदयनप्रभृतयः। तु एतद्व्यतिरिक्तम्। व्याप्यत्वेन व्याप्तिविशिष्टतया। ज्ञायमानं प्रतीयमानम्। लिङ्गं हेतुः। अनुमितिकरणम् अनुमितेरसाधारणं कारणम्। इति इत्थम्। वदन्ति कथयन्ति। तत् तथाविधं कथनम्। दूषयति युक्त्या परिहरति। ज्ञायमानमिति। ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं न हि इति कथनेनेति। व्याप्तिविशिष्टतया हेतोर्ज्ञानं न करणं किन्तु व्याप्तिविशिष्टतया ज्ञायमानो हेतुरेव करणं धूमादिति हेतुपञ्चम्युपलब्धेरिति यदुक्तं वैशेषिकैस्तन्न युक्तमित्याशयः। लिङ्गस्य हेतोः। अनुमित्यकरणत्वे अनुमितेः करणत्वेनानङ्गीकारे। युक्तिमुपायम्। आह। अनागतादीति। यदि। अनुमितौ अनुमितिज्ञाने। लिङ्गं ज्ञायमानं लिङ्गमेव। करणं कारणम्। स्यात्। तदा। अनागतेन अनुपस्थितेन। विनष्टेन अतीतेन। लिङ्गेन हेतुना मानसपरामर्शरूपेण, च। अनुमितिरनुमा। न स्यात्। तथाभवने हेतुमाह—अनुमितिकरणस्येति। अनुमितिकरणस्य अनुमायाः करणत्वेन गृहीतस्य। लिङ्गस्य हेतोः। तदानीम् अनुमाकाले। अभावात् विरहादिति।

अयम्भावः—यद्यनुमितौ प्रतीयमानं लिङ्गमेव करणं स्यात् तदा अतीतानागतविषयको यत्र मानसो वह्निव्याप्यवत्तापरामर्शस्तत्रानुमितेरनुदयः स्यात्तदव्यवहितपूर्वक्षणे तयोरसत्त्वात्। तत्र व्यभिचारान्न तादृशलिङ्गत्वेन करणत्वम्। नैव च तत्प्रागभावादीनामेव लिङ्गत्वं तेषां तदा तद्व्याप्यत्वेनापरामृश्यमाणत्वादिति। न च परामर्शरूपव्यापारसम्बन्धेन तदानीं लिङ्गोपस्थितिर्वाच्या अतीतादिलिङ्गस्य परामर्शाजनकतया परामर्शस्य तद्व्यापारत्वासम्भवात् ॥ ६७ ॥

अनुवाद—ज्ञायमान अर्थात् वह्नि से व्याप्य है धुआँ, ऐसे व्याप्तिविशिष्ट के रूप में प्रतीयमान लिङ्ग अनुमिति का करण नहीं बन सकता। यदि अनुमिति में लिङ्ग को करण माना जाय तो तब अनुपस्थित एवं अतीत लिङ्ग से अनुमिति नहीं हो पाती।

इस प्रसङ्ग में प्राचीन आचार्य तो 'व्याप्य के रूप में ज्ञायमान अर्थात् प्रतीयमान लिङ्ग अनुमिति का करण होता है' ऐसा कहते हैं; उसका खण्डन करते हैं—**ज्ञायमान आदि** से। ज्ञायमान लिङ्ग अनुमिति का करण नहीं होता। लिङ्ग के अनुमिति के करण न हो पाने में युक्ति बतलाते हैं—**अनागत आदि**। यदि अनुमिति में लिङ्ग करण हो तब अनुपस्थित एवं विनष्ट लिङ्ग से भी अनुमिति नहीं होगी, क्योंकि अनुमिति

का करणभूत लिङ्ग का उस समय अभाव होता है। वास्तव में तो मानस जो वह्नि-व्याप्यवत्ता का परामर्श है, उससे भी अनुमिति होती है ॥ ६७ ॥

व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते ।

व्याप्यस्येति। व्याप्तिविशिष्टस्य पक्षेण सह वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानमनुमितिजनकम्। तच्च पक्षे व्याप्य इति ज्ञानं, पक्षो व्याप्यवानिति ज्ञानं वा। अनुमितिस्तु पक्षे व्याप्य इति ज्ञानात्पक्षे साध्यमित्याकारिका पक्षो व्याप्यवानिति ज्ञानात्पक्षः साध्यवानित्याकारिका। द्विविधादपि परामर्शात्पक्षः साध्यवानित्येवानुमितिरित्यन्ये।

ननु वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इति ज्ञानं विनापि यत्र पर्वतो धूमवानिति प्रत्यक्षं ततो धूमो वह्निव्याप्य इति स्मरणं तत्र ज्ञानद्वयादेवानुमितिदर्शनाद् व्याप्तिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं न सर्वत्र कारणं, किन्तु व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेनैव कारणत्वस्यावश्यकत्वात्, तत्र विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानकल्पने गौरवाच्चेति चेन्न। व्याप्यतावच्छेदकाऽज्ञानेऽपि वह्निव्याप्यवानिति ज्ञानादनुमित्युत्पत्तेर्लाघवाच्च व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेनैव हेतुत्वम्। किञ्च धूमवान् पर्वत इति ज्ञानादनुमित्यापत्तिः, व्याप्यतावच्छेदकीभूतधूमत्वप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानस्य सत्त्वात्। न च तदानीं गृह्यमाणव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानस्य हेतुत्वमिति वाच्यम्। चैत्रस्य व्याप्तिग्रहे मैत्रस्य पक्षधर्मताज्ञानादनुमितिः स्यादिति। यदि तु तत्पुरुषीयगृह्यमाणव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकं तत्पुरुषीयपक्षधर्मताज्ञानं तत्पुरुषीयानुमितौ हेतुरित्युच्यते तदाऽनन्तकार्यकारणभावः। मन्मते तु समवायसम्बन्धेन व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानं समवायसम्बन्धेनानुमितिं जनयतीति नानन्तकार्यकारणभावः। यदि तु व्याप्तिप्रकारकं ज्ञानं पक्षधर्मताज्ञानञ्च स्वतन्त्रं कारणमित्युच्यते तदा कार्यकारणभावद्वयं वह्निव्याप्यो धूमः, आलोकवान् पर्वत इति ज्ञानादप्यनुमित्यापत्तिः स्यात्। इत्थञ्च यत्र ज्ञानद्वयं तत्रापि विशिष्टज्ञानं कल्पनीयं, फलमुखगौरवस्यादोषत्वात् ॥

आलोकः—परममूले परामर्शं लक्षयति—**व्याप्यस्येति**। **व्याप्यस्य** व्याप्तेराश्रयस्य धूमादेः। **पक्षवृत्तित्वधीः** पक्षे पर्वतादौ वृत्तिर्वर्तनं यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्य धीर्ज्ञानं पक्षेण सह सम्बन्धज्ञानम्। **परामर्शः**। **उच्यते** कथ्यते। व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्श इति।

मूले कारिकां विवृणोति—**व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीरिति**। **व्याप्यस्येति**। व्याप्तिविशिष्टस्य व्याप्त्या साध्यसाधनयोरव्यभिचरितसम्बन्धेन विशिष्टस्य विशेषणीभूतस्य धूमादेरिति। **पक्षवृत्तित्वधीरिति**। पक्षेण सन्दिग्धसाध्यवता पर्वतादिना। सह।

वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं सम्बन्धसाधकधीः। **अनुमानजनकं** साध्यनिरूपितव्याप्तिविशिष्ट-हेतोरनुमित्युत्पादकं स एव च परामर्शः। व्याप्त्यवच्छिन्ना या विषयता तन्निरूपिता या पक्षता तदवच्छेदकावच्छिन्नविषयताशालिनिश्चयत्वं परामर्शत्वमिति। **तत्** तादृशं वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानम्। **च** हि विशेष्यविशेषणभावव्यत्यासेन द्विविधं भवतीति यत्रैकं **पक्षे पर्वतादौ** व्याप्यः वह्निविशिष्टधूमः इति इत्थं पक्षप्रकारकं व्याप्तिविशिष्टविशेष्यकम्। **ज्ञानं** धीः। **वा** इति पक्षान्तरे। **पक्षः** पर्वतादिः **व्याप्यवान्** वह्निव्याप्यधूमवान् **इति** इत्थं व्याप्तिविशिष्टप्रकारकं पक्षविशेष्यकं ज्ञानं धीः इति। **अनुमितिः** उभयविध-परामर्शजन्यानुमा। **तु** हि। **पक्षे व्याप्य** पर्वतादौ वह्निविशिष्टधूमः इति इत्थं ज्ञानात् पक्षप्रकारकव्याप्तिविशिष्टविशेष्यकज्ञानात्। पक्षे पर्वतादौ। साध्यं वह्निः। इति इत्थम् आकारिका पक्षे साध्यमिति स्वरूपा। पक्षः पर्वतः व्याप्यवान् धूमवान् इति ज्ञानं व्याप्तिविशिष्टप्रकारकपक्षविशेष्यकज्ञानात्। पक्षः पर्वतादिः। **साध्यवान्** वह्निमान्। इत्याकारिका पक्षः साध्यवान् इतिस्वरूपा भवति। **अन्ये** अपरे। द्विविधात् पक्षप्रकारकव्याप्तिविशिष्टविशेष्यात्मकाद् व्याप्तिविशिष्टप्रकारकपक्षविशेष्यात्मकाद् अपि। **परामर्शात्** ज्ञानविशेषात्। **पक्षः साध्यवान्** पक्षः पर्वतादिः साध्यवान् साध्यभूतवह्नि-युक्तः। इति इत्थम्। **एव** हि न तु पक्षे साध्यमित्यपि। **अनुमितिरनुमा** भवतीति वदन्तीति शेषः।

अयम्भावः—व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। ज्ञानञ्च तत् पक्षे व्याप्यः पक्षो व्याप्यवानित्येवंरूपं वा। अनुमितिस्तु ततः पक्षे व्याप्य इति ज्ञानात् पक्षे साध्य-मिति पक्षप्रकारकव्याप्तिविशिष्टविशेष्यिका पक्षो व्याप्यवानिति ज्ञानात् पक्षः साध्य-वानिति व्याप्तिविशिष्टप्रकारकपक्षविशेष्यात्मिका भवति। केषाञ्चिन्मते तु उभय-विधादेव परामर्शात् पक्षः साध्यवानित्यनुमितिर्भवतीति। नव्यमते तु पक्षविशेष्यक-व्याप्यविशेष्यकोभयविधपरामर्शादपि पर्वतो धूमादिमानित्येवानुमितिर्भवति। वस्तुतस्तु पक्षविशेष्यकपरामर्श एव हेतुरतो वह्निव्याप्यधूमवानयमित्याकारकः पक्षविशेष्यक एवोपनयः साधुरिति शिष्टाः।

विषयेऽस्मिन् मीमांसकमतमुद्धृत्य दूषयति—**नन्विति। ननु** इति प्रश्ने। **वह्नि-व्याप्यधूमवान्** वह्निना व्याप्यो यो धूमस्तद्वान् पर्वतः। **इति** इत्थम्प्रकारकम्। **ज्ञानं** साध्यप्रकारकपक्षविशेष्यकानुमितिम्। विना अपि। **यत्र** पर्वतो धूमवान् इति **प्रत्यक्षं** प्रत्यक्षतो ज्ञानं **ततस्तस्माज्ज्ञानात्** धूमः वह्निव्याप्यः। **इति** इत्थम्। स्मरणम्। तत्र। **ज्ञानद्वयात्** प्रत्यक्षस्मृतिभ्याम्। एव। **अनुमितिदर्शनात्** पर्वतो वह्निमानित्याकारानु-मितिप्रथनात्, **व्याप्तिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं** व्याप्तिः साध्यसाधनयोः साहचर्य-नियमो यत्र तत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति तद्विशिष्टो धूमस्तस्य वैशिष्ट्यं वह्नि-व्याप्यधूम इत्याकारकं तस्यावगाहि वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इत्याकारकं ज्ञानम्। **न** नैव। **सर्वत्र कारणम्** अनुमितिहेतुः। किन्तु **व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञान-त्वेन** व्याप्यतावच्छेदकं वह्निव्याप्यो धूम इति स्मरणात्मकज्ञाने व्याप्यो धूमो व्याप्यता धूमनिष्ठा व्याप्यतावच्छेदकं यद् धूमत्वं तत्प्रकारकं यत् पर्वतो धूमवा-

नित्याकारकं पक्षधर्मताज्ञानं धूमविशिष्टपर्वतज्ञानं पर्वतवृत्तिधूमज्ञानं वा तथाविधज्ञानत्वेन । **एव** । **कारणत्वस्य** ज्ञानद्वयनिष्ठकारणतायाः । **आवश्यकत्वात्** नियतपूर्ववृत्तिताकत्वात् **तत्र** ज्ञानद्वयस्यानुमितेश्च मध्ये । **विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानकल्पने** व्याप्तिविशिष्टधूमवैशिष्ट्यावगाहिपरामर्शात्मकज्ञानस्य कल्पने स्वीकारे। **गौरवात्** ज्ञानद्वयस्य प्रथममुपस्थितेर्विशिष्टपरामर्शस्य पश्चाद्भावित्वात्तत्कल्पने गौरवात् । **च** इति ।

अयम्भावः—मीमांसकाः कथयन्ति यद्धि क्वचित्पर्वते पर्वतो धूमवानित्याकारके प्रत्यक्षे जाते धूमो वह्निनिरूपितव्याप्याश्रय इति स्मृतेश्चोभाभ्यां प्रत्यक्षस्मृतिभ्यामनुमितिरूपकार्याव्यवहितपूर्वक्षणे विद्यमानाभ्यां कारणाभ्यामनुमितिरुत्पद्यते । क्वचित्कुत्रचिद् वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इति परामर्शज्ञानस्य अनुमितेः कारणत्वेऽपि न सर्वत्र कारणं भवति, तदुत्पत्तिं प्रति तु धूमत्व(व्याप्यतावच्छेदक)प्रकारकधूमवत्पर्वत(पक्षधर्मता)ज्ञानमेव कारणं सर्वसम्मतं तेनैव कार्यसिद्धेः व्यप्तिविशिष्टधूमवैशिष्ट्यावगाहिपरामर्शात्मकज्ञानस्वीकारे गौरवमेवेति ।

तद्दूषयति—**इति चेदित्यादिना** । **इति** इत्थं कथ्यते **चेत्** । **तन्न** नैवोपयुक्तम् । **तत्र** हेतुमाह —**व्याप्यतेति** । **व्याप्यतावच्छेदकाज्ञाने** अयमालोको वा धूमो वेति सन्देहदशायां व्याप्यताया अवच्छेदकस्य धूमत्वादेरज्ञानेऽनिर्णये अपि । **वह्निव्याप्यवान्** वह्न्यभाववदवृत्तिमान् । **इति** । **ज्ञानात्** । **अनुमित्युत्पत्तेः** पर्वतो वह्निमानित्यनुमितिसम्भवात् । **लाघवाद्** व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकत्वापेक्षया व्याप्तिप्रकारकत्वस्य लघुत्वादिति । **व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेन** व्याप्तिप्रकारकं व्याप्तिः साध्यसाधनयोरव्यभिचरितसाहचर्यनियमस्तत्प्रकारकं तद्विशेषणभूतं यत्पक्षधर्मतायाः व्याप्यभूतधूमादेः पर्वतादिवृत्तित्वस्य ज्ञानं तत्त्वेन । **हेतुत्वं** कारणत्वमिति ।

अयम्भावः—पर्वते अयमालोको धूमो वेति सन्देहदशायां व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकनिर्णयाभावेऽपि सन्देहादपि वह्न्यभाववदवृत्तिमानिति अनुमितिरुत्पद्यते न तु धूमसमानाधिकरणेत्यादिरूपव्याप्तिविशिष्टवानिति, तथा च तत्र व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानस्य व्यभिचारान्न तेन रूपेण हेतुत्वम् । यद्युच्यते यत्तादृशस्थलेऽनुमितिरूपं कार्यं दृष्ट्वा तादृशं हेतुभूतं व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकं ज्ञानं कल्प्यते कारणं विना कार्यानुत्पत्तेरिति चेन्न; व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकत्वापेक्षया व्याप्तिप्रकारत्वस्य लघुत्वादिति । एतदुक्तं भवति—व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकव्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेन च एतदुभयरूपेण कारणत्वापेक्षया व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेन रूपेण कारणतायामवच्छेदकधर्मोपस्थितिकृतं लाघवं भवतीति । न च वह्निव्याप्यो धूम इति व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकं व्याप्तिज्ञानं स्मृतिरूपं पर्वतो धूमवानित्याकारकव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकं पक्षधर्मताज्ञानं प्रत्यक्षरूपमित्येतद्द्वयं परामर्शं प्रति तु कारणमस्त्येव । परामर्शजनकत्वेन ज्ञानद्वयस्यैवानुमितिं प्रति हेतुत्वं वाच्यमेवेति कथमुच्यते व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकत्वे गौरवमिति वाच्यमन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्यान्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं तत्तृतीयमन्यथासिद्धं यथा घटं प्रति आकाशस्येत्युक्तत्वादुक्त-

ज्ञानद्वयस्य परामर्शं प्रति कारणत्वं गृहीतत्वैवानुमितिं प्रति कारणत्वं ग्राह्यमिति तदन्यथासिद्धमेवेति अन्यत्र विस्तरः।

स्यादप्यवच्छेदकलाघवं किन्तु धूमप्रत्यक्षव्याप्तिस्मरणपरामर्शेति ज्ञानत्रयस्य कारणताकल्पनायां कारणद्वयकल्पनापेक्षया कथं लाघवमित्याशङ्कापरिहारायाह—**किञ्चेति**। किञ्चेति आरम्भे प्रसङ्गान्तरस्य। 'धूमवान् पर्वतः' इति इत्थम्। **ज्ञानाद्** व्याप्यतावच्छेदकानवगाहिज्ञानात् कालान्तरीयदेशान्तरीययादृशतादृशधूमज्ञानादपीति **अनुमित्यापत्तिः** अनुमितिरापद्येत। तत्रापि। **व्याप्यतावच्छेदकीभूतधूमत्वप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानस्य** व्याप्यो धूमो व्याप्यता धूमनिष्ठा तस्या अवच्छेदकीभूतं यद्धूमत्वं तत्प्रकारकं यत्पक्षधर्मतायाः ज्ञानं तस्य। **सत्त्वाद्** भावात्। तथामते विप्रतिपत्तिमाह—**नेत्यादिना**। **न** नैव। **च** हि। **तदानीं गृह्यमाणव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानस्य** तदानीमनुमित्यव्यवहितप्राक्काले गृह्यमाणं प्रत्यक्षज्ञानविषयीभूतं यद् व्याप्यतावच्छेदकं धूमत्वादि तत्प्रकारकं तद्विशेषणं यत्पक्षधर्मतायाः व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वस्य ज्ञानं धीस्तस्य। **अनुमितिं** प्रति। **हेतुत्वं** कारणत्वम्। **इति** इत्थम्। **वाच्यं** कथनीयम्। तथा सति। **चैत्रस्य**। **व्याप्तिग्रहे** व्याप्तिज्ञाने। **मैत्रस्य**। **पक्षधर्मताज्ञानात्** व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वज्ञानात्। **अनुमितिः**। स्यादिति। **अयमाशयः**—यदि हि परमलाघवलोभेन परामर्शस्यानुमितेः कारणताया अस्वीकारे पर्वतो धूमवानित्येतावत एव व्याप्यनवगाहिज्ञानादपि पर्वतो वह्निमानित्यनुमितिः स्यात् तत्रापि व्याप्यतावच्छेदकीभूतधूमत्वप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानभावात्। अनुमितिज्ञानाव्यवहितपूर्वकाले व्याप्यतावच्छेदकतया ज्ञातं यद्व्याप्यतावच्छेदकं तत्प्रकारकपक्षधर्मताज्ञानस्यैवास्तु हेतुता तथा च कालान्तरीयतादृशज्ञानमादाय न दोषः इति न वाच्यं, यतो हि यद्येवं तदा एकस्य व्याप्तिज्ञाने सति तत्पार्श्ववर्तिनोऽपरस्यापि पर्वतो धूमवानित्याकारकव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानबलात् पर्वतो वह्निमानित्याकारानुमितिरापद्येतेति। **यदि** च यस्य व्याप्तिज्ञानं तस्यैव तदानीं गृह्यमाणव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकं तदीयपक्षधर्मताज्ञानं तदीयानुमितौ हेतुरित्युच्यते तदा। **तत्पुरुषीयगृह्यमाणव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकं** तत्पुरुषीयगृह्यमाणा तत्पुरुषसमवेतज्ञानविषयीभूता या व्याप्यता तस्या अवच्छेदकप्रकारं यत् तत्पुरुषीयपक्षधर्मताज्ञानं तत्पुरुषनिष्ठपक्षधर्मताधीः। **तत्पुरुषीयानुमितौ** तत्पुरुषसमवेतायां पर्वतो वह्निमान् इत्याद्यनुमायाम्। **हेतुः** कारणम्। **इति** इत्थम्। **उच्यते** कथ्यते। **तदा** तथामते। **अनन्तकार्यकारणभावः** असङ्ख्येयहेतुहेतुमद्भावः। **मन्मते** मम नैयायिकस्य मते। **तु**। समवायसम्बन्धेन संयोगभिन्नसाक्षात्सम्बन्धेन **व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानं** व्याप्तिविशेषण-व्याप्यपक्षवृत्तित्वज्ञानं परामर्श इति वह्निव्याप्यधूमवानयमिति **समवायसम्बन्धेन** साक्षात्सम्बन्धेन। **अनुमितिं** पर्वतो वह्निमानित्यनुमाम्। **जनयति** उत्पादयति। **इति** हेतोः। **न** नैव। **अनन्तकार्यकारणभावः** इति।

अयम्भावः—यत्र आत्मनि समवायसम्बन्धावच्छिन्नं वह्निव्याप्यधूमवानयमिति व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं जातं तत्रैव समवायसम्बन्धावच्छिन्नानुमितिं प्रति हेतुरिति न कार्यकारणभावाऽऽनन्त्यमिति।

पुनर्मीमांसकमतमुद्धृत्य दूषयति—यदीत्यादिना। **यदि** । **तु** पुनः । **व्याप्तिप्रकारकं** धूमो वह्निव्याप्य इत्याकारकम् । **ज्ञानं** धीः । **पक्षधर्मताज्ञानं** धूमवान् पर्वत इत्याकारकं ज्ञानम् । **च** । तदेतदुभयम् । **स्वतन्त्रं** पृथक्पृथगेव । **कारणमनुमितिं प्रति** हेतुः । **इति** इत्थम् । **उच्यते** कथ्यते । **तदा** तद्दशायाम् । **कार्यकारणभावद्वयम्** अनिवार्यं स्यात् । यतः । 'वह्निव्याप्यो धूमः' आलोकवांश्च पर्वतः । **इति ज्ञानात्** । **अपि** । **अनुमितिः** वह्निमान् पर्वतः इति ज्ञानम् । **स्यादिति** । यतो हि उक्तरीत्या व्याप्तिप्रकारकं ज्ञानं तथा पक्षधर्मताज्ञानं कारणरूपेण विद्यमानं भवति । ननु भवन्मतेऽपि व्याप्तिप्रकारकं यत्पक्षधर्मताज्ञानं तत्त्वेन पक्षधर्मताविषयकं यद् व्याप्तिप्रकारकं ज्ञानं तत्त्वेनेत्येवं विशेष्यविशेषणभावव्यत्यासेन विशिष्टज्ञानस्य कारणत्वे कार्यकारणभावद्वयं विनिगमनाविरहेण तव मतेऽपि स्यादेवेति चेत्सत्यम् । एवं कार्यकारणभावस्तु स्वीकर्तव्य एव किन्तु न भवति ततोऽपि अनुमितिर्विशिष्टज्ञानं विना अनुमितिं प्रति हेतुता तु व्याप्तिप्रकारतानिरूपितहेतुप्रकारतानिरूपितपक्षनिष्ठविशेषताशालिज्ञानस्यैव । तेन 'वह्निव्याप्यो धूमः' 'आलोकवान् पर्वतः' इत्याकारकज्ञानद्वयात् अथवा 'धूमो वह्निव्याप्यः' 'धूमवान् पर्वतः' इत्याकारकज्ञानद्वयात् अनुमित्युत्पत्तिर्न भवति, एतत्स्थलद्वयेऽपि व्याप्तिप्रकारतानिरूपितधूमनिष्ठविशेष्यतायाः पर्वतनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतात्वाभावादिति । तेन । **इत्थम्** उक्तरीत्या । **च** हि । **यत्र** । **ज्ञानद्वयं** प्रत्यक्षस्मृतिरूपज्ञानद्वयम् । तत्रापि । **विशिष्टज्ञानं** परामर्शात्मकविशिष्टज्ञानम् । **कल्पनीयं** स्वीकरणमेव । **फलमुखगौरवस्य** फलं कार्यकारणभावग्रहस्तन्मुखं तत्परं गौरवं तस्य । **अदोषत्वाद्** दोषहीनत्वात् । ज्ञानत्रयकल्पनायां गौरवं तु आपतत्येव, किन्तु फलसाधनगौरवं तु स्वीकर्तव्यमेवेति । विशिष्टज्ञानत्वेन कारणतानिश्चये सति कार्यलिङ्गेन तत्तदनुमित्यव्यवहितपूर्ववर्तिपरामर्शनिश्चय इत्याशयः ।

अनुवाद—व्याप्य अर्थात् व्याप्ति से विशिष्ट जो धूम आदि हेतु है, उसका पक्ष अर्थात् सन्दिग्ध साध्य वाला विषय पर्वत आदि में वृत्तित्व अर्थात् रहने का ज्ञान परामर्श कहलाता है ।

व्याप्यस्येति । व्याप्तिविशिष्ट का पक्ष के साथ वैशिष्ट्य से युक्त ज्ञान अनुमान का जनक होता है । वैसा ज्ञान पक्ष अर्थात् पर्वत आदि में व्याप्य अर्थात् धूम आदि ऐसा अथवा पक्ष व्याप्य से युक्त है, ऐसा भी होता है । अनुमिति तो 'पक्ष में व्याप्य' ऐसे ज्ञान से पक्ष में साध्य अर्थात् वह्नि आदि ऐसी और पक्ष व्याप्य से युक्त है, ऐसे ज्ञान से 'पक्ष साध्य से युक्त है' इस प्रकार की होती है । कुछ लोग (नवीन) तो यह मानते हैं कि दोनों ही प्रकार के परामर्श से पक्ष साध्य से युक्त है, ऐसी ही अनुमिति होती है ।

जो कि कुछ लोग (विशेषकर मीमांसक) यह कहते हैं कि 'वह्नि से व्याप्य धूम वाला पर्वत है' ऐसे (परामर्श) ज्ञान के बिना भी जहाँ पर्वत धूम से युक्त है, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसके बाद 'धूम वह्नि से व्याप्य है' ऐसा स्मरण होता है, वहाँ उन दोनों (प्रत्यक्ष एवं स्मरण) ज्ञानों से ही (पर्वत वह्नि वाला है, ऐसी)

अनुमितिं हो जाने से व्याप्ति से विशिष्ट जो वैशिष्टच है, उसके अवगाही अर्थात् 'पर्वत वह्नि से व्याप्य धूम वाला है' ऐसा ज्ञान (परामर्श) सभी जगह अनुमिति का कारण नहीं होता, किन्तु जो व्याप्यता का अवच्छेदक प्रकार का पक्षधर्मता (व्याप्य का पक्षवृत्तित्व) का ज्ञान है, उसके रूप में ही कारणत्व आवश्यक होता है। उसमें विशिष्ट-वैशिष्टच ज्ञान की कल्पना करना गौरव भी पड़ता है। यह ठीक नहीं है, व्याप्यता के अवच्छेदक ज्ञान के न होने पर भी (यह आलोक है या धूम है, ऐसे सन्देह में) यह वह्नि से व्याप्य वाला है, ऐसे ज्ञान (परामर्श से अनुमिति के हो जाने से और लाघव होने के कारण भी व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मता के ज्ञान के रूप में ही कारणत्व मानना उचित है।

और यह भी कि 'पर्वत धूम से युक्त है' ऐसे ज्ञान से भी अनुमिति होने लगेगी, क्योंकि उसमें भी व्याप्यता का अवच्छेदक बना धूमत्वप्रकारक पक्षधर्मता का ज्ञान रहता है। न तो उसी समय लिया जाने वाला व्याप्यता का अवच्छेदकप्रकारक जो पक्षधर्मता का ज्ञान है, उसी का ही हेतुत्व मानना ठीक है। वैसा मानने पर चैत्र के व्याप्ति ज्ञान में मैत्र के पक्षधर्मताज्ञान से अनुमिति होने लगेगी।

यदि उस पुरुष से समवेत व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक उस पुरुष का पक्षधर्मता का ज्ञान उसी पुरुष की अनुमिति में हेतु होता है, ऐसा कहा जाय तो उस अवस्था में अनन्त कार्य-कारणभाव मानने होंगे। हमारे मत में तो समवायसम्बन्ध से व्याप्ति-प्रकारक पक्षधर्मता का ज्ञान समवायसम्बन्ध से ही अनुमिति को जनाता है, अतः अनन्त कार्य-कारणभाव नहीं होते।

यदि व्याप्तिप्रकारक ज्ञान एवं पक्षधर्मता ज्ञान भी स्वतन्त्र रूप से अनुमिति के कारण माने जाते हैं तो उस समय दो कार्यकारणभाव मानने होंगे और 'वह्नि से व्याप्य धूम' 'आलोक से युक्त पर्वत' ऐसे अनुमिति होने लगेगी।

इस प्रकार जहाँ दो ज्ञान आवश्यक हैं वहाँ भी विशिष्ट ज्ञान (परामर्श) की कल्पना करनी ही होगी, क्योंकि फलाभिमुख गौरव दोषयुक्त नहीं होता।

व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्ध उदाहृतः ॥ ६८ ॥

व्याप्यो नाम व्याप्त्याश्रयस्तत्र व्याप्तिः केत्यत आह—व्याप्तिरिति। वह्निमान् धूमादित्यादौ साध्यो वह्निः, साध्यवान् महानसादिस्तदन्यो जल-ह्रदादिस्तदवृत्तित्वं धूमस्येति लक्षणसमन्वयः। धूमवान् वह्नेरित्यादौ साध्य-वदन्यस्मिन् तप्तायःपिण्डादौ वह्नेः सत्त्वान्नातिव्याप्तिः। अत्र येन सम्बन्धेन साध्यं तेन सम्बन्धेन साध्यवान् बोध्यः। अन्यथा समवायसम्बन्धेन वह्निमान् वह्नेरवयवस्तदन्यो महानसादिस्तत्र धूमस्य विद्यमानत्वादव्याप्तिप्रसङ्गात्। साध्यवदन्यश्च साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवान् बोध्यः। तेन यत्कि-ञ्चिद्वह्निमतो महानसादेर्भिन्ने पर्वतादौ धूमसत्त्वेऽपि न क्षतिः। येन सम्बन्धेन हेतुता तेनैव सम्बन्धेन साध्यवदन्यावृत्तित्वं बोध्यम्। तेन साध्यवदन्यस्मिन्

धूमावयवे धूमस्य समवायसम्बन्धेन सत्त्वेऽपि न क्षतिः। साध्यवदन्यावृत्तित्वं च साध्यवदन्यवृत्तित्वत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः। तेन धूमवान् वह्नेरित्यत्र साध्यवदन्यजलह्रदादिवृत्तित्वाभावेऽपि नातिव्याप्तिः। अत्र यद्यपि द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वादित्यादौ विशिष्टसत्तायाः शुद्धसत्तायाश्चैक्यात् साध्यवदन्यस्मिन् गुणादाववृत्तित्वं नास्ति, तथापि हेतुतावच्छेदकरूपेणावृत्तित्वं वाच्यम्। हेतुतावच्छेदकं तादृशवृत्तितानवच्छेदकमिति फलितोऽर्थः ॥

आलोकः—परामर्शनिरूपणानन्तरं क्रमप्राप्तां व्याप्तिं निरूपयति परममूले—**व्याप्तिरिति**। साध्यवदन्यस्मिन् असम्बन्धः व्याप्तिः उदाहृत इति। साध्यवदन्यस्मिन् साध्यते यदिति साध्यं वह्न्यादिस्तदस्त्यस्मिन्निति साध्यवान् महानसादिस्ततोऽन्यो ह्रदादिस्तस्मिन्। असम्बन्धः व्याप्यस्य वृत्तित्वाभावः। **व्याप्तिः** इति **उदाहृतः** कथित इति। साध्यवद्भिन्ननिरूपितवृत्तित्वाभावो व्याप्तिरिति भावः। मूले सङ्गतिनिर्देशनपुरस्सरं कारिकां व्याख्याति **व्याप्य** इति। **व्याप्यो नाम** व्याप्य इति परामर्शलक्षणे व्याप्यस्येति यदुक्तं तत्रत्यः। **व्याप्त्याश्रयः** व्याप्तेः वक्ष्यमाणलक्षणकव्याप्तेराश्रय आधारः। **तत्र** तद्घटकत्वे। का नाम व्याप्तिः **इति** जिज्ञासायाम्। अतः आह व्याप्तिज्ञानघटकीभूता का व्याप्तिरित्यपेक्षायामा**हेति**। **व्याप्तिरिति**। साध्यवदन्यस्मिन्नित्यत्र **साध्यवदन्येति 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादौ** इत्यादिवाक्ये। **साध्यः** संराध्यः। **वह्निः** रग्निः। **साध्यवान्** साध्ययुक्तः। **महानसादिः** पाकगृहादिः तदन्यस्तदितरः **जलह्रदादिः** तोयपुष्करिण्यादिः। **तदवृत्तित्वं** तस्मिन् साध्यवदन्यस्मिन् अवृत्तित्वं वृत्तित्वाभावः। **धूमस्य** व्याप्यस्य। इति व्याप्तिरिति। **लक्षणसमन्वयः** लक्षणं केवलव्यतिरेकी हेतुविशेषः साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्धो व्याप्तिरिति तस्य समन्वयः समायोजनमिति। पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यादौ साध्यो वह्निः तत्प्रतियोगिकाभावो वह्न्यभावः तदधिकरणं ह्रदादिः तन्निरूपितवृत्तित्वं मीनादिः धूमस्य तद्वृत्तित्वाभाव इति लक्षणसमन्वयः इति। **धूमवानिति**। **धूमवान् वह्नेः** इत्यादौ। साध्यो धूमः साध्यवान् महानसादिः **साध्यवदन्यस्मिन्** साध्ययुक्तेतरस्मिन्। **तप्तायःपिण्डादौ** सुतप्तलोहपिण्डादौ **वह्नेरग्नेः**। सत्त्वाद् भावेन सम्बन्धात्। **न**। **अतिव्याप्तिः** लक्षणस्यालक्ष्यवृत्तित्वमिति। यथोक्तम्—व्याप्तिर्हि द्विविधा—अन्वयव्याप्तिर्व्यतिरेकव्याप्तिश्च। तत्राद्या हेतुसाध्ययोर्व्याप्तिः हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा। अपरा तु हेत्वभावसाध्याभावयोर्व्याप्तिः साध्याभावव्यापकत्वं हेत्वभावस्य यद्भवेदित्युक्ता। तत्र व्यतिरेकलक्षणा तु पश्चान्निर्दिश्यते। अन्वयलक्षणे प्रसङ्गता। तत्रापि अत्यन्ताभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरणतया सह विरोध इति नियमेन साध्याभाववदवृत्तित्वं व्याप्तिः यः साध्यस्य वह्न्यादेरभाववान् यथा ह्रदादिस्तस्मिन्नवृत्तित्वमित्याशयः। तथैव अन्योन्याभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकेन सह विरोध इति नियमेन साध्यवदन्यावृत्तित्वमपि यः साध्यवांस्ततो योऽन्यस्तत्र अवृत्तित्वमिति। विस्तरस्तु ग्रन्थान्तरे। व्याप्तेर्हि लक्ष्याः सद्धेतव एव। तत्र पक्षसाध्यहेतुदृष्टान्तानां सत्त्वमावश्यकं सव्यापकसाध्य-

कत्त्वञ्च यथा पर्वतः संयोगेन वह्निमान् संयोगेन धूमान्महानसवदिति पर्वतः पक्षः वह्निः संयोगेन साध्यः धूमः संयोगेन हेतुः महानसो दृष्टान्तः धूमव्यापकवह्निसाध्यकत्वं धूमे ।

तत्र साध्यतावच्छेदकसम्बन्धमाह—**अत्रेति** । अत्र व्याप्तिलक्षणेऽन्योन्याभावघटिते । **येन** यादृशेन । **सम्बन्धेन** संयोगादिना । **साध्यं** वह्न्यादि विवक्षितम् । **तेन** तथाविधेन । **एव** हि । सम्बन्धेन । **साध्यवान्** साध्ययुक्तमहानसादिः । **बोध्यः** कल्प्यः । **अन्यथा** तथाऽस्वीकारे । **समवायसम्बन्धेन** समवेतत्वसम्बन्धेन । **वह्निमान्** अग्नियुक्तः । **वह्नेरग्ने** अवयवः अवयवावयविनोः समवायात् । **तदन्यः** तद्भिन्नः । **महानसादिः** पाकगृहादिः । **तत्र** महानसादौ । **धूमस्य विद्यमानत्वात्** सम्बन्धात् । लक्षणस्य तत्र अव्याप्तिप्रसङ्गात् अव्याप्तिर्लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वं तत्प्रसङ्गात् । साध्यतावच्छेदकसम्बन्धविवक्षायां तु प्रकृते संयोगः साध्यतावच्छेदकसम्बन्धः स एव साध्यवतोऽपि । न हि संयोगसम्बन्धेन वह्नेरवयवो वह्निमान् । तेन न दोषः । साध्यसाध्यवतोरेकसम्बन्धविवक्षाऽपेक्षिता यतो नाव्याप्तिप्रसङ्गः । अतः साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नसाध्यवत्प्रतियोगिकभेदाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वाभावो व्याप्तिरिति लक्षणं व्याप्तेर्फलति ।

कारिकागतं साध्यवदन्यपरं विवृणोति—**साध्येति** । **साध्यवदन्यः** कारिकागतः साध्यवदन्य इति पदार्थः । **च** तु । **साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवान्** यावत्सु साध्यवत्सु स्थितो यः साध्यवत्त्वरूपो धर्मस्तदवच्छिन्नाप्रतियोगिताः यस्य स तादृशो यो भेदस्तद्वान् । **बोध्यः** ग्राह्यः । यस्याभावः सोऽभावप्रतियोगी यथा घटाभावस्य प्रतियोगी घटः प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानोऽभाव इति अभावलक्षणम्, प्रतियोगिनो भावः प्रतियोगिता सा च प्रतियोगिनि तिष्ठतीति प्रतियोगिवृत्तिर्धर्मः प्रतियोगिताया अवच्छेदकः यो धर्मो यस्यावच्छेदकः स तद्धर्मावच्छिन्न इति प्रतियोगिता च तद्धर्मावच्छिन्ना भवति । यथा घटाभावस्य प्रतियोगी घटः प्रतियोगिता घटनिष्ठा प्रतियोगितावच्छेदकं घटवृत्ति घटत्वमिति प्रतियोगिता घटत्वेनावच्छिन्ना । एवञ्च घटत्वावच्छिन्ना प्रतियोगिता यस्य तादृशोऽभावः घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताको घटाभावः इति । अत्र तु साध्यवान् यो न साध्यवदन्यः तत्प्रतियोगी साध्यवान् प्रतियोगिता साध्यवत्पदार्थे प्रतियोगितावच्छेदकं साध्यवत्त्वं तेनावच्छिन्ना प्रतियोगिता तादृशप्रतियोगिताकश्च स भेदः तद्वान् यस्तन्निरूपितवृत्तित्वाभावोऽपेक्षित इति ग्रन्थान्तरे । तेन तद्धेतुना । **यत्किञ्चिद् वह्निमतः** यत्किञ्चिदिति महानसीयादिविशेषणविशिष्टवह्नियुक्तात् । यत्किञ्चित्पदेनाऽत्र पर्वतो महानसादिर्वा वह्नेरधिकरणं संसूच्यते । **महानसादेः** पाकगृहादेः । **भिन्ने** इतरस्मिन् । **पर्वतादौ** । एवमेव पर्वताद्भिन्ने महानसादावपि । **धूमस्य** । **सत्त्वे** भावे । **अपि च** । **न क्षतिः** हानिः ।

अयम्भावः—साध्यवदन्यपदेनात्र यावत्साध्यवत्स्थितसाध्यवत्वरूपधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताको यो भेदस्तादृशभेदवान् ग्राह्यः अन्यथा वह्निमान् धूमादित्यत्राव्याप्तिः स्यात् । तच्च यथा—साध्यो वह्निः साध्यवान् पर्वतः पुरोवर्ती तादृशसाध्याधिकरणादन्योऽपरं पर्वतो महानसादिर्वा तन्निरूपितधूमहेतोरवृत्तित्वाभावे नापितु वृत्तित्व-

मेवेति अव्याप्तिः। एतद्विपरीतं साध्यवदन्यपदस्य साध्यवत्त्वधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदयुक्तार्थग्रहणे तु साध्यवत्त्वधर्मावच्छिन्नानामपरपर्वतादीनां ग्रहणे तन्निरूपितभेदाधिकरणं जलह्रदाद्येव तन्निरूपितवृत्तित्वं मीनादीनां वृत्तित्वाभावो धूमात्मकहेतौ वर्तते इति न क्षतिरिति ग्रन्थान्तरे। व्याप्तिस्वरूपञ्च साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नसाध्यवत्तावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वाभावो व्याप्तिरिति।

ननु साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नसाध्यवत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताको भेदः संयोगेन वह्निमान् न इत्याकारकः तद्वान् तदधिकरणं यथा जलह्रदादिः तथा धूमस्यावयवोऽपि का साध्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवति धूमावयवे समवायसम्बन्धेन धूमो वर्तत एव धूमस्य वृत्तितैव न वृत्तित्वाभाव इत्यत आह—**येनेति**। **येन** यादृशेन। **सम्बन्धेन**। **हेतुता** कारणता। **तेन** तयाविधेन। **एव** नान्येन। सम्बन्धेन। **साध्यवदन्यावृत्तित्वं** साध्यवद्भिन्नाधिकरणे वृत्तिता। **बोध्या** ज्ञेया। **तेन** यतो हि हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन साध्यवदन्यवृत्तित्वं तस्मात्। **साध्यवदन्यस्मिन्** साध्यवद्भिन्नाधिकरणे। **धूमावयवे**। **धूमस्य**। **समवायसम्बन्धेन** नित्यसम्बन्धेन। **सत्त्वे** भावे। **अपि**। **न**। **क्षतिः** हानिरव्याप्तिरिति।

अयम्भावः—साध्यवद्भेदाधिकरणवृत्तितायां हेतुतावच्छेदकसम्बन्धग्रहे तु हेतुर्धूमः हेतुता धूमनिष्ठा हेतुतावच्छेदकसम्बन्धः संयोगः तेनैव धूमहेतोः पर्वतादौ वृत्तित्वात् यथा हेतुतावच्छेदकसंयोगसम्बन्धेन धूमावयवे धूमहेतोरवृत्तित्वं तथा जलह्रदादावपि तस्यावृत्तित्वमेव, किन्तु स्वसाध्यवह्निसमानाधिकरण एव धूमहेतुः पर्वतादाविति न हानिरिति। एवं हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेनैव साध्यवदन्यनिरूपितवृत्तिता ग्राह्या। साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवति धूमावयवे समवायसम्बन्धेन धूमस्य वृत्तावपि हेतुतावच्छेदकसंयोगसम्बन्धेन तत्र धूमो नेति हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन वृत्तित्वाभावान्नाव्याप्तिरिति।

ननु हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन साध्यवदन्यनिरूपितवृत्तित्वेऽक्षतावपि एवमपि 'अयःपिण्डं धूमवद् वह्नेः' इत्यत्रातिव्याप्तिस्तु भवत्येव। यथा हि अत्र साध्यो धूमः साध्यतावच्छेदकेन संयोगेन वह्निमदयःपिण्डं तदन्यो जलह्रदादिः तत्र संयोगेन हेतुतावच्छेदकेन सम्बन्धेन हेतोः वह्नेः साध्यवदन्यजलह्रदवृत्तित्वं नास्त्येवेति चेदत्राह—**साध्यवदिति**। **साध्यवदन्यावृत्तित्वं** साध्यवतोऽन्यस्मिन् भिन्नेऽधिकरणे अवृत्तित्वं वृत्तिताभावः साध्यवत्प्रतियोगिताकभेदाधिकरणवृत्तित्वाभावः। **च तु**। **साध्यवदन्यवृत्तित्वत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः** साध्यो वह्निस्तद्वान्पर्वतादिस्ततोऽन्यो जलह्रदादिः साध्यवद्भेदाधिकरणं तत्र यद् वृत्तित्वं तत्त्वेनावच्छिन्ना निरूपिता प्रतियोगिता यस्य तादृशो योऽभावः एवेति वृत्तित्वसामान्याभावनिवेशः कार्यः। वृत्तित्वाभावप्रतियोगितायां वृत्तितात्वावच्छिन्नत्वं वृत्तितात्वेतरधर्मानवच्छिन्नत्वं च विवक्षितम्। **तेन** साध्यवद्भेदाधिकरणत्वावच्छिन्नाधिकरणग्रहणेन। 'धूमवान् वह्नेः' **इत्यत्र** असद्धेतौ। **साध्यवदन्यजलह्रदादिवृत्तित्वाभावे** साध्यवदितरो यो जलह्रदादिस्तत्र वृत्तित्वस्य अभावे। **अपि**। **न**। **अतिव्याप्तिः** अतिप्रसङ्गो व्याप्तेरिति।

अयम्भावः—अत्र हेतोः साध्यवद्भेदाधिकरणेऽवृत्तिताऽपि साध्यवद्भेदाधिकरणत्वावच्छिन्नेऽपेक्षिता । यावत्साध्यवद्भेदाधिकरणाग्रहणे धूमवान् वह्नेरित्यत्रातिव्याप्तिः स्यात्तत्रापि साध्यवद्भिन्ने जलह्रदादौ वह्निरूपहेतोरवृत्तित्वादिति । यदि भेदाधिकरणत्वावच्छिन्ननिरूपितवृत्तित्वाभावो विवक्षितस्तदा साध्यवद्भेदाधिकरणं यथा जलह्रदस्तथा तप्तायःपिण्डोऽपीति । भवति च तत्र वह्निरूपहेतोर्वृत्तित्वं नास्ति वृत्तित्वाभाव इति नातिव्याप्तिः ।

स्थलान्तरे लक्षणस्याव्याप्तिं प्रदर्श्य परिहरति—**अत्रेति** । अत्र प्रसङ्गेऽस्मिन् । **यद्यपि** वस्तुतस्तु । **'द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वात्'** । घटः । **द्रव्यं** द्रव्यत्ववान् । **गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वाद्** गुणकर्मभेदविशिष्टसत्तावत्वात् । **इत्यादौ** । द्रव्यस्य **विशिष्टसत्तायाः** गुणकर्मभेदविशिष्टद्रव्यवृत्तिसत्तायाः । **शुद्धसत्तायाः** द्रव्यगुणकर्मसु वर्तमानायाः विशेषणानवच्छिन्नायाः सत्तायाः । च । **ऐक्याद्** भेदाभावाद् विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते इति न्यायात् । **साध्यवदन्यस्मिन्** साध्यं द्रव्यत्वं समवायेन साध्यतावच्छेदकेन सम्बन्धेन तद्वद् द्रव्यम् । तदन्यस्मिन् तद्भिन्ने । **गुणादौ** गुणे कर्मणि च । **अवृत्तित्वं** हेतुभूताया विशिष्टसत्तायाः वृत्तित्वाभावः । नाऽस्ति तत्र शुद्धसत्ता तिष्ठति चेत्तद्भिन्ना विशिष्टसत्ताऽपि तिष्ठत्येवेति हेतौ साध्यवदन्यनिरूपितवृत्तित्वमेव न तु वृत्तित्वाभाव इति तत्र लक्षणस्याव्याप्तिः । **तथापि** तथास्थितावपि । **हेतुतावच्छेदकरूपेण** समवायेन साध्यवद्भिन्नो गुणस्तन्निरूपिता वृत्तिता गुणत्वे वृत्तितायाः अवच्छेदकं गुणवत्त्वं तस्या अनवच्छेदकत्वं विशिष्टसत्तात्वं तदेव हेतुतावच्छेदकं तद्रूपेण विशिष्टसत्तात्ववत्त्वेन । **अवृत्तित्वं** समवायेन वृत्तित्वाभाववत्त्वम् । **वाच्यं** साध्यवदन्यनिरूपितवृत्तितानवच्छेदकहेतुतावच्छेदकवत्त्वमिति वक्तव्यमिति । **हेतुतावच्छेदकं** विशिष्टसत्तात्वम् । **तादृशवृत्तितानवच्छेदकं** तादृशी या वृत्तिता आधेयता तदवच्छेदकं गुणत्वत्वादिरूपो धर्मः अनवच्छेदकं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तारूपो धर्म इति । **इति** । **फलितः** निष्पन्नः । **अर्थः** आशयः । तन्निष्ठाधिकरणतानिरूपकतावच्छेदकस्यैव तन्निरूपिताधेयतावच्छेदकत्वनियमेन विशिष्टसत्तात्वस्य गुणाधेयतानवच्छेदकत्वान्नाव्याप्तिरिति भाव इति प्रकाशकाराः ।। ६८ ।।

अनुवाद—साध्य (जो हेतु के द्वारा अनुमेय है, जैसे वह्नि आदि) से युक्त भिन्न वस्तु में हेतु (धूम आदि) का सम्बन्ध न होना व्याप्ति कहा जाता है ।

व्याप्ति का आश्रय व्याप्य होता है, उसमें व्याप्ति क्या है ? इस पर कहते हैं—**व्याप्तिरिति** । धूम के होने से वह्निमान् (आग से युक्त) है; इत्यादि में साध्य (हेतु के द्वारा जिसे जाना जाता है)-है, वह्नि साध्य से युक्त है महानस (पाकगृह) आदि, उससे भिन्न है तालाब आदि, उसमें धूम का न होना (अवृत्तित्व); इस तरह लक्षण का समन्वय हो जाता है । 'धूम से युक्त है, वह्नि के होने से' इत्यादि में साध्य से युक्त है पर्वत महानस आदि, उससे भिन्न गरमाये गये लोहे के पिण्ड आदि में वह्नि के रहने से उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति (लक्ष्य से बाहर जाना) नहीं है ।

अत्रेति । जिस सम्बन्ध से साध्य (हेतु के साथ) है, उसी सम्बन्ध से साध्यवान् (साध्य के साथ) को जानना चाहिए । वैसा न होने पर समवायसम्बन्ध से वह्निमान् है वह्नि का अवयव, उससे भिन्न है महानस आदि, उसमें धूम के विद्यमान होने से उसमें अव्याप्ति का प्रसङ्ग हो जाता है । (किन्तु साध्य एवं हेतु का सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध से होने के कारण साध्यवान् को भी संयोगसम्बन्ध से ही लेना चाहिए । वह्नि का अवयव वह्नि के साथ संयोगसम्बन्ध से न होकर समवायसम्बन्ध से है, इसके विपरीत महानस आदि संयोगसम्बन्ध से है, जिससे भिन्न जलह्रद आदि है; जिसमें धूम की विद्यमानता नहीं है, अतः अव्याप्ति नहीं है ।

साध्यवदन्य इति । साध्य युक्त से भिन्न जो है, वह भी साध्यवत्त्वरूप धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाले भेद से युक्त जानना चाहिए । इस कारण जो कुछ महानसीय आदि वह्नि से युक्त महानस आदि से भिन्न पर्वत आदि में धूम के रहने पर भी कोई हानि नहीं है (पर्वत वैसा भेद वाला नहीं है, अतः अव्याप्ति नहीं है) ।

येनेति । जिस सम्बन्ध से हेतुता है, उसी सम्बन्ध से 'साध्यवान् से भिन्न में वृत्तित्व का अभाव' जानना चाहिए । क्योंकि हेतुता संयोगसम्बन्ध से हैं, अतः साध्यवान् महानस आदि से भिन्न धूमावयव में धूम के समवायसम्बन्ध से रहने पर भी कोई क्षति नहीं है ।

साध्यवदिति । साध्यवान् से भिन्न में वृत्ति का न होना (अवृत्तित्व) भी साध्यवान् से भिन्न वृत्तित्व धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाला अभाव अर्थात् वृत्तित्वसामान्य का अभाव है । अतः 'वह्नि होने से धूमवान् है' इसमें साध्यवान् से भिन्न तालाब आदि में वृत्तित्व का अभाव रहने पर भी अतिव्याप्ति नहीं है ।

अत्रेति । इस प्रसङ्ग में यद्यपि (घट) द्रव्यवान् है, गुण एवं कर्म से भिन्न रूप में विशिष्ट सत्ता से युक्त होने से; इत्यादि में द्रव्य मात्र में रहने वाली विशिष्ट सत्ता तथा द्रव्य, गुण एवं कर्म में रहने वाली शुद्ध सत्ता में भेद न होने से साध्य द्रव्यत्व का साध्यवान् द्रव्य से भिन्न गुण आदि में विशिष्ट सत्ता के वृत्तित्व का अभाव नहीं है, फिर भी उसमें हेतुता के अवच्छेदक के रूप से अवृत्तित्व मानना चाहिए । हेतुता का जो अवच्छेदक है, वह वृत्तिता का अनवच्छेदक है, यह फलित अर्थ है ॥ ६८ ॥

अथवा हेतुमन्निष्ठविरहाऽप्रतियोगिना ।
साध्येन हेतोरैकाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यते ॥ ६९ ॥

ननु केवलान्वयिनि ज्ञेयत्वादौ साध्ये साध्यवदन्यस्याप्रसिद्धत्वादव्याप्तिः । किञ्च 'सत्तावान् जातेः' इत्यादौ साध्यवदन्यस्मिन् सामान्यादौ हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन समवायेन वृत्तेरप्रसिद्धत्वादव्याप्तिश्चात आह—अथवेति । हेतुमति निष्ठा वृत्तिर्यस्य स तथा विरहोऽभावः । तथा च हेत्वधिकरणवृत्तिर्योऽभावस्तदप्रतियोगिना साध्येन सह हेतोः सामानाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यते । अत्र

यद्यपि वह्निमान् धूमादित्यादौ हेत्वधिकरणपर्वतादिवृत्त्यभावप्रतियोगित्वं तत्तद्वह्न्यादेरस्तीत्यतिव्याप्तिः, न च समानाधिकरणवह्निधूमयोरेव व्याप्तिरिति वाच्यं; तत्तद्वह्न्यादेरप्युभयाभावसत्त्वादेकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्तीति प्रतीतेः। गुणवान् द्रव्यत्वादित्यादावव्याप्तिश्च, तथापि प्रतियोगितानवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति वाच्यम्।

आलोकः—एवं हि अत्यन्ताभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरणतया सह विरोध इति नियमेन साध्याभाववदवृत्तित्वं व्याप्तिरिति अन्योन्याभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकेन सह विरोध इति नियमेन साध्यवदन्यावृत्तित्वं व्याप्तिरिति व्याप्तेरन्वयव्यतिरेकि-केवलव्यतिरेकिलिङ्गानुकूलं लक्षणद्वयमुक्त्वा तस्य केवलान्वयिनि अघटनीयत्वात्तत्रातथास्वारस्येन व्याप्तेः, केवलान्वयिलिङ्गघटनीयं लक्षणान्तरं प्रस्तौति परममूले—**अथवेति**। अथवा हेतुमन्निष्ठविरहाप्रतियोगिना साध्येन हेतोः ऐकाधिकरण्यं व्याप्तिः उच्यते इति। **अथवा** इति पक्षान्तरे। **हेतुमन्निष्ठविरहाप्रतियोगिना** हेतुमति साधनाधिकरणे पक्षे निष्ठा स्थितिर्यस्य स तादृशो यो विरहोऽत्यन्ताभावस्तस्य अप्रतियोगी अविरोधी तेन तथाभूतेन। **साध्येन** वह्न्यादिना सहेति। **हेतोः** धूमादेः। **ऐकाधिकरण्यं** सामानाधिकरण्यम्। **व्याप्तिः**। **इति**। **उच्यते** इति। सिद्धान्तरूपेणेति शेष इति ग्रन्थान्तरे।

मूले कारिकावतारणाय भूमिकामारचयति—**नन्वित्यादिना**। ननु। **केवलान्वयिनि** अन्वयमात्रव्याप्तिके पक्षव्यापकः सपक्षस्पर्शी विपक्षशून्योऽबाधितविषयोऽसत्प्रतिपक्ष इति लक्षिते। **ज्ञेयत्वादौ** इदं वाच्यं वाच्यत्ववत् ज्ञेयत्वात् इत्यादौ। **साध्ये** साध्यभूते। **साध्यवदन्यस्य** साध्यवद्भिन्नस्य। **अप्रसिद्धत्वात्** अख्यातत्वात्। **अव्याप्तिः**। **अस्यायमाशयः**—पूर्वोक्तलक्षणं हि इदं वाच्यं ज्ञेयत्वादित्यादि सद्धेतावप्यव्यापकं तथाहि साध्यं वाच्यत्वं सप्तपदार्थवृत्तिः साध्यवन्तः सप्त पदार्थाः साध्यवदन्यस्तु नैव कश्चित्प्रसिद्ध इति लक्षणसमन्वयाभाव एव। किन्तु केवलान्वयिज्ञानकाले पक्षताघटकसंशयाभावान्नैवास्त्वनुमिति तच्छून्यकाले तु भ्रमात्मकव्याप्तिज्ञानादनुमितिर्भवत्येवेति तत्रापि अस्वरसमनुसन्धायाह—**किञ्चेति**। **सत्तावान् जातेः** इत्यादौ सत्तासाधकस्थले सद्धेतौ साध्यं सत्ता समवायेन साध्यतावच्छेदकेन सत्तावन्तो द्रव्यगुणकर्मपदार्थाः तदन्यत्सामान्यादिपदार्थं इति साध्यवदन्यस्मिन् द्रव्यगुणकर्मपदार्थभिन्ने। **सामान्यादौ** सामान्यादिपदार्थे। **हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन** हेतुर्जातिस्तत्ता जातिता तदवच्छेदकसम्बन्धेन। समवायेन। **वृत्तेः** वर्तनस्य। **अप्रसिद्धत्वात्**। **अव्याप्तिः**। **अयमत्राशयः**—'सत्तावान् जातेः' इत्यत्र साध्यं सत्तासमवायेन साध्यतावच्छेदकेन सत्तावन्तः द्रव्यगुणकर्मपदार्थाः तदन्यत्सामान्यविशेषसमवायादिपदार्थाः तन्निरूपिता हेतुभूतजातितावच्छेदकसमवायसम्बन्धावच्छिन्ना वृत्तिता हि अप्रसिद्धैव सामान्यादिषु समवायसम्बन्धेन किमपि न तिष्ठतीति। तेन तत्र साध्यवदन्यनिरूपितहेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वस्याप्रसिद्ध्या तत्र लक्षणागमनेनोक्तलक्षणस्याव्याप्तिरिति। चकारः उभयसङ्ग्रहार्थकः। अतः इति हेतोरुक्तस्थले लक्षणाव्याप्त्येति। **आह** कथयति। **अथवेति**। कारिकां विवृणोति—**हेतुमतीति**। हेतुमति

हेत्वधिकरणे निष्ठेति वृत्तिर्वर्तनं यस्याऽस्ति सः तथा तादृशो विरह इति अभावः । तथा च एवमेव । हेत्वधिकरणवृत्तिः । यः । अभावः । तदप्रतियोगिना तदविरोधिना । साध्येन सत्तादिना । सह । हेतोः जात्यादेः सामानाधिकरण्यम् एकाधिकरणवृत्तित्वम् । व्याप्तिः व्याप्तिरिति । उच्यते इति । यथा हि पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यत्र हेतुर्धूमः तद्वान् पर्वतः तन्निष्ठविरहो घटाभावस्तदप्रतियोगी साध्यो वह्निः तेन सह हेतोर्धूमस्य सामानाधिकरण्यं पर्वताद्यवच्छेदेन । 'सत्तावान् जातेः' इत्यत्र हेतुर्जातिः हेतुमद् द्रव्यादिः तन्निष्ठविरहः घटाभावः तदप्रतियोगिनी सत्ता साध्यः तया सह हेतोर्जातेः सामानाधिकरण्यं द्रव्याद्यवच्छेदेनेति लक्षणसमन्वयः ।

अनुवाद—अथवा हेतु के अधिकरण में रहने वाले अभाव के अप्रतियोगी (अविरोधी) साध्य के साथ हेतु का एक ही अधिकरण में रहना व्याप्ति है ॥ ६९ ॥

कारिका की व्याख्या हेतु उसकी भूमिका बतलाते हैं—**नन्विति** । व्याप्ति का उक्त लक्षण अन्वयव्यतिरेकी एवं अन्वयव्यतिरेकी लिङ्ग में तो सही है, लेकिन केवलान्वयी ज्ञेयत्व आदि ('इदं वाच्यं वाच्यत्ववत् ज्ञेयत्वात्') साध्य में साध्यवदन्य की प्रसिद्धि न होने से अव्याप्ति है । जैसे कि वाच्यत्व साध्य है, वाच्य साध्यवान् पदार्थ है, किन्तु साध्यवदन्य कुछ भी नहीं है । (यह केवलान्वयी के ज्ञान के अवसर पर पक्षता-घटक के संशय के अभाव में होता है, लेकिन उस ज्ञान के शून्य काल में भ्रमात्मक व्याप्ति ज्ञान से अनुमिति हो जाती है, अतः दूसरे अव्याप्ति स्थल का सङ्केत करते हैं) यह भी कि 'सत्तावान् जातेः' (जाति होने से सत्ता से युक्त है) इत्यादि में; जहाँ सत्ता साध्य है, साध्यतावच्छेदक समवायसम्बन्ध से सत्तावान् हैं, द्रव्य, गुण एवं कर्म आदि पदार्थ उनसे भिन्न हैं, सामान्य आदि पदार्थ साध्यवान् से भिन्न सामान्य आदि में हेतुता के अवच्छेदक समवायसम्बन्ध से वृत्ति के प्रसिद्ध न होने से (क्योंकि सामान्य आदि में समवायसम्बन्ध से कुछ भी नहीं रहता) अव्याप्ति है, अतः कहते हैं । व्याप्ति का दूसरा भी लक्षण करते हैं—**अथवेति** । कारिका की व्याख्या करते हैं—**हेतुमतीति** । हेतु के अधिकरण में निष्ठा अर्थात् वृत्ति है जिसका, वैसा जो विरह अर्थात् अभाव है, इस प्रकार हेतु के अधिकरण में रहने वाला जो अभाव है, उसके अप्रतियोगी (अविरोधी) साध्य के साथ हेतु का समानाधिकरण (एक ही अधिकरण वाला होना) व्याप्ति है । जैसे कि—'पर्वतो धूमवान् वह्निमत्वात्' में धूम है हेतु, उसका अधिकरण है पर्वत, तन्निष्ठ अभाव है घटाभाव, उसका प्रतियोगी है घट, अप्रतियोगी है वह्नि, उस साध्यरूप वह्नि के साथ धूमरूप हेतु का सामानाधिकरण्य हैं, अतः व्याप्ति है । (यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि पर्वतवृत्त्यभाव वह्न्यभाव हो नहीं सकता, क्योंकि वहाँ वह विद्यमान है और अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी के साथ विरोध रहता है । इस कारण इस प्रकार के अभाव का प्रतियोगी वह्नि नहीं होता, अतः कोई अन्य अभाव; जैसे घटाभाव, पटाभाव आदि को लेना चाहिए ।) इसी तरह 'सत्तावान् जातेः' में जाति हेतु है, उसका अधिकरण है द्रव्य, तन्निष्ठाभाव है घटाभाव, उसका प्रतियोगी

है घट और अप्रतियोगी साध्य सत्ता है। उसके साथ जाति का सामानाधिकरण्य (एकाश्रयवृत्तित्व) है, अतः व्याप्ति है।

अत्र यद्यपि वह्निमान् धूमादित्यादौ हेत्वधिकरणपर्वतादिवृत्त्यभावप्रतियोगित्वं तत्तद्वह्न्यादेरस्तीति अव्याप्तिः। न च समानाधिकरणवह्निधूमयोरेव व्याप्तिरिति वाच्यं, तत्तद्वह्न्यादेरप्युभयाभावसत्त्वाद् एकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्तीति प्रतीतेः। गुणवान् द्रव्यत्वादित्यादावव्याप्तिश्च। तथापि प्रतियोगितानवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति वाच्यम्।

आलोकः—लक्षणस्याव्याप्तिसमर्थकं पूर्वपक्षमवतारयति दूषणाय—**अत्रेति**। **अत्र** प्रकरणेऽस्मिन्। **यद्यपि** सामान्यदृष्टचा तु। **'वह्निमान् धूमात्'** इत्यादौ। **हेत्वधिकरणपर्वतादिवृत्त्यभावप्रतियोगित्वं** हेतोर्धूमस्याधिकरणमाश्रयो यः पर्वतादिः पर्वतमहानसचत्वरादिः तत्र यो वृत्तेर्वर्तनस्याभावो विरहस्तस्य प्रतियोगित्वं विरोधित्वम्। **तत्तद्वह्न्यादेः** पर्वतीयमहानसीयचत्वरीयवह्न्यादेः। **अस्ति। इति** हेतोः। अव्याप्तिः। **अस्यायमाशयः**—पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यादौ हेतोर्धूमस्याधिकरणभूते पर्वते यथा घटाभावस्तथा महानसीयवह्नेरभावः महानसे चत्वरीयवह्नेरभावः तत्र गोष्ठीयवह्नेरभावः इति तदभावप्रतियोगि वह्निरूपं साध्यं नास्ति, किन्तु प्रतियोग्येवातस्तत्राव्याप्तिरिति। **न** नैव। **च। समानाधिकरणवह्निधूमयोः** एकाश्रयवह्निधूमयोरर्थात् पर्वतीयधूमेन सह पर्वतीयवह्नेः महानसीयधूमेन सह महानसीयवह्नेः। **व्याप्तिः** सम्बन्धः पर्वते महानसीयवह्नेरभावे गृहीतेऽपि तत्प्रतियोगी महानसीयवह्नि अप्रतियोगी साध्यः पर्वतीयवह्निः तादृशेन वह्निना सह हेतुभूतस्य धूमस्य सामानाधिकरण्यमिति कथमव्याप्तिरिति। **वाच्यं** कथनीयम्। **तत्तद्वह्न्यादेः** पर्वतीयप्रभृतिवह्न्यादेः। **अपि च। उभयाभावसत्त्वात्। एकसत्त्वे** एकस्य भावे। अपि। **द्वयमुभयम्। न अस्ति। इति** इत्थम्। **प्रतीतेरवभासनात्**। एकसत्त्वे द्वयं नास्तीति प्रतीत्या घटसत्त्वेऽपि घटपटौ न स्तः इतिवत् पर्वते पर्वतीयवह्निसत्त्वेऽपि वह्निघटद्वयं नास्तीति वक्तुं शक्यते यादृशाभावस्य पर्वतीयवह्निरपि प्रतियोगी यथा घट इत्यप्रतियोगिनः साध्यस्याभावादव्याप्तिरेवेति। अत्रोच्यते—हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीयप्रतियोगिता व्यासज्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्ना विवक्षिता। उभयवृत्तिधर्म एव व्यासज्यवृत्तिधर्मः। प्रकृते हि हेत्वधिकरणे वह्निघटद्वयं नास्तीत्याकारकाभावीयप्रतियोगिता वह्निघटोभयास्मिन् स्थितो यो वह्निघटोभयस्वरूपो व्यासज्यवृत्तिधर्मस्तदवच्छिन्नैव। अतस्तदुभयाभावं गृहीत्वा लक्षणे दूषणं नोचितम्। शुद्धघटाभावं गृहीत्वा लक्षणसमन्वयः। व्याप्तिश्च हेत्वधिकरणवृत्तिव्यासज्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्येन सह हेतोः सामानाधिकरण्यमेवेति ग्रन्थान्तरे।

तत्र पूर्वपक्षी—**गुणवानिति**। यदि तत्र तथोच्यते तदाऽपि 'गुणवान् द्रव्यत्वात्' इत्यत्र। **अव्याप्तिस्तु** भवत्येव। **अयमाशयः**—'घटो गुणवान् द्रव्यत्वात्' इत्यत्र हेत्व-

धिकरणं रक्तो घटस्तदा पीतगुणत्वाभावः पीतघटे श्वेतगुणत्वाभावः तदभावस्य प्रतियोगि गुणरूपं साध्यमप्रतियोगि नास्तीति लक्षणस्याव्याप्तिरेवेति ।

तत्र सिद्धान्ती—**तथापीति । तथापि । प्रतियोगितानवच्छेदकं** हेत्वधिकरणवृत्तिर्योऽभावस्तदीया या प्रतियोगिता विरोधिता तस्या अनवच्छेदकमपरिचायकम् । यत् । **साध्यतावच्छेदकं** साध्यताया वह्नित्वादेरवच्छेदकं धर्मः । **तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यं** तेनावच्छिन्नं साध्यैकाश्रयत्वम् । **व्याप्तिः इति** । वाच्यमिति । लक्षणे हेत्वधिकरणवृत्त्यभावाप्रतियोगि साध्यमित्येव न गृह्णीमोऽपितु साध्यतावच्छेदकधर्मः हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीयप्रतियोग्यनवच्छेदक इति व्याप्तिलक्षणे ब्रूमः । तथा सति गुणवानित्यादावपि नाव्याप्तिरिति । यथा गुणवान् द्रव्यत्वादित्यत्र हेतुर्द्रव्यत्वं तदधिकरणं तत्तज्जलादिद्रव्यं अभावा रूपरसगन्धाद्यभावाः तदभावप्रतियोगिता तत्तद्रूपरसादिगुणे प्रतियोगितावच्छेदकं तत्तद्रूपत्वरसत्वादि तदनवच्छेदकं साध्यतावच्छेदकं गुणत्वं तदवच्छिन्नो गुणः तत्सामानाधिकरण्यं द्रव्यत्वस्येति । पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वादित्यादौ हेतुर्धूमस्तदधिकरणं पर्वतादिः तद्वृत्त्यभावो घटाभावः तत्प्रतियोगिता घटे प्रतियोगितावच्छेदकं घटत्वं प्रतियोगितानवच्छेदकं साध्यतावच्छेदकं वह्नित्वं तदवच्छिन्नः साध्यो वह्निः तत्सामानाधिकरण्यं धूमस्येति । धूमवान् वह्नेरित्यादौ तु हेतुर्वह्निः तदधिकरणं तप्तायःपिण्डम् तद्वृत्त्यभावो धूमाभावः तत्प्रतियोगिता धूमनिष्ठा प्रतियोगितावच्छेदकं धूमत्वं तदेव साध्यतावच्छेदकमिति न तत्र लक्षणसमन्वयः ।

अनुवाद—इस प्रसङ्ग में यद्यपि 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि में हेतुभूत धूम के अधिकरणभूत पर्वत आदि में वृत्ति के अभाव का प्रतियोगित्व उन-उन अर्थात् पर्वत में महानसीय, महानस में पर्वतीय वह्नि आदि का है, अतः उसमें अव्याप्ति है । न तो समान (एक ही) अधिकरण में रहने वाले वह्नि एवं धूम की ही व्याप्ति होती है, ऐसा कहना ही उचित है, क्योंकि उन-उन वह्नि आदि का भी उभयाभाव होता है और 'एक के रहने पर भी दोनों नहीं है' ऐसी प्रतीति भी होती है । (तत्तत् वह्नि, घट इन दोनों का अभाव तो मिल ही जायेगा ।) 'गुणवान् द्रव्यत्वात्' में भी अव्याप्ति हो जायेगी ।

वैसा होने पर भी हेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगिता का अनवच्छेदक जो साध्यता का अवच्छेदक है, उससे अवच्छिन्न सामानाधिकरण्य को ही व्याप्ति मानना होगा, वैसा मानने पर फिर कोई दोष नहीं आयेगा ।

ननु 'रूपत्वव्याप्यजातिमत्वान् पृथिवीत्वाद्' इत्यादौ साध्यतावच्छेदिका रूपत्वव्याप्यजातयस्तासां च शुक्लत्वादिजातीनां नीलघटादिवृत्त्यभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वमस्तीत्यव्याप्तिरिति चेन्न, तत्र परम्परया रूपत्वव्याप्यजातित्वस्यैव साध्यतावच्छेदकत्वात् । न हि तादृशधर्मावच्छिन्नाभावः क्वाऽपि पृथिव्यामस्ति रूपत्वव्याप्यजातिमान्नास्तीति बुद्ध्यापत्तेः । एवं दण्डयादिसाध्ये परम्परासम्बन्धं दण्डत्वादिकमेव साध्यतावच्छेदकं तच्च प्रतियोगितानवच्छेदकमिति ।

आलोकः—हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीयप्रतियोगितावच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकमिति अंशमादायाव्याप्तिं शङ्कते—नन्विति। 'घटो रूपत्वव्याप्यजातिमत्वान् पृथिवीत्वात्' इत्यादौ। **साध्यतावच्छेदिका** या साध्यता तस्या अवच्छेदिका रूपत्वव्याप्यजातयः रूपत्वव्याप्या या जातयो नीलपीतत्वाद्याः। तासां तथाविधानाम्। शुक्लत्वादिजातीनां नीलघटादिवृत्त्यभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वं नीलो यो घटस्तदादिषु या वृत्तिस्तस्या योऽभावस्तस्याः या प्रतियोगिता तस्याः अवच्छेदकत्वम्। अस्ति। अस्यायमाशयः—अत्र हि रूपत्वव्याप्यजातिः साध्या पृथिवीत्वं हेतुः रूपत्वस्य व्याप्या जातयः शुक्लाद्याः तदधिकरणं यद्रि नीलो घटस्तत्र शुक्लाद्यभावः शुक्लाभावप्रतियोगितावच्छेदकं शुक्लत्वं तदेव च साध्यतावच्छेदकमिति तस्य प्रतियोगितानवच्छेदकसाध्यतावच्छेदकत्वेन न निर्वाह इत्यव्याप्तिः। इति इत्थम्। चेत्। न न तत्समीचीनम्। समाधत्ते—तत्रेति। तत्र तादृशस्थले। **परम्परया** सामान्यतस्तु साध्यतावच्छेदकसमवायसम्बन्धेन रूपत्वव्याप्यजातिमान् साध्यः साध्यतारूपत्वजातिमन्निष्ठा साध्यतावच्छेदकं रूपत्वव्याप्यजातिमत्त्वं तच्च प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारीभूतो भाव इति रीत्या रूपत्वव्याप्यजातिमत्त्वं किन्तु परम्पराख्यस्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन यत्र स्वं रूपत्वव्याप्यजातित्वं तदाश्रयो रूपत्वव्याप्यजातिः तत्समवायो रूपमात्रे इति। **रूपत्वव्याप्यजातित्वस्य**। एव। **साध्यतावच्छेदकत्वात् नैव** प्रतियोगितावच्छेदकत्वं तस्येति ततः। तदवच्छिन्ना स्वाश्रयाश्रयसम्बन्धेन रूपत्वव्याप्यजातिमन्तः हेतोः पृथिवीत्वस्य तत्सामानाधिकरण्यमिति न दोष इति ग्रन्थान्तरे। तदेवाह—**न हीति**। न नैव। हि। **तादृशधर्मावच्छिन्नाभावः** तथाविधधर्मेण योऽवच्छिन्नस्तस्याभावः **पृथिव्यां** पृथिवीमात्रे। **क्वापि** घटादौ। अस्ति अपितु भाव एव। तादृशाभावे सति। रूपत्वव्याप्यजातिमान् न अस्ति। इति बुद्ध्यापत्तेः ज्ञानसम्भवादिति। परम्परया साध्यतावच्छेदकत्वस्य स्थलान्तरं प्रस्तौति—**एवमिति**। **एवमित्थम्**। **दण्डयादि** मठो दण्डिमान् दण्डिसंयोगात् इत्यादि, साध्ये दण्डिमत्वे। **परम्परासम्बद्धं** स्वाश्रयाश्रयत्वरूपम्। **दण्डत्वादिकम्**। **एव**। **साध्यतावच्छेदकं** दण्डिमत्त्वरूपा या साध्यता तस्या अवच्छेदकम्। तद् दण्डत्वम्। च। **प्रतियोगितानवच्छेदकं** तत्तद्दण्डयभावीयप्रतियोगिताया अनवच्छेदकमिति।

अयमाशयः—मठो दण्डिमान् दण्डिसंयोगादित्यत्र पक्षो मठः दण्डिमत्त्वं साध्यं दण्डिसंयोगो हेतुः साध्यतावच्छेदको दण्डः दण्डिसंयोगस्य हेतोरधिकरणं मठः तद्वृत्त्यभावः तद्दण्डी नास्तीति तत्तद्दण्डयभाव; तत्तदभावीया प्रतियोगिता तत्तद्दण्डिनिष्ठा अभावप्रतियोगितावच्छेदकस्तत्तद्दण्डः। यदि स एव स्यात्तदा व्याप्तिः किन्तु स्वाश्रयाभवेदाश्रयत्वरूपपरम्परासम्बन्धेन साध्यतावच्छेदकं दण्डत्वमेव। दण्डिसंयोगाश्रये मठे स्वाश्रयाश्रयत्वपरम्परासम्बन्धेन दण्डत्ववान्नास्तीति न च भवति प्रत्यय इति विस्तरोऽन्यत्र।

अनुवाद—घटो 'रूपत्वव्याप्यजातिमत्वान् पृथिवीत्वात्' इत्यादि में रूपत्वव्याप्य जातियाँ है साध्यता के अवच्छेदक शुक्लत्व आदि स्वरूप वाली उनका नील घट आदि की वृत्ति के अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदकत्व है, अतः अव्याप्ति है; ऐसा कहना

उचित नहीं, उसमें स्वाश्रयाश्रयत्व परम्परारूप सम्बन्ध से रूपत्वव्याप्य जातित्व का ही साध्यतावच्छेदकत्व है और न ही उस प्रकार के धर्म से अवच्छिन्न का अभाव पृथिवी भर में कहीं भी है, क्योंकि वैसा होने पर रूपत्व से व्याप्य जातिमान् नहीं है, ऐसी बुद्धि हो जायेगी। इस प्रकार 'मठः दण्डिमान् दण्डिसंयोगात्' आदि में दण्डी आदि साध्य में परम्परासम्बद्ध दण्डत्व आदि ही साध्यता का अवच्छेदक है, वह भी प्रतियोगिता का अनवच्छेदक है।

साध्यादिभेदेन व्याप्तेर्भेदात् तादृशस्थले साध्यतावच्छेदकतावच्छेदकं प्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदकमित्येव लक्षणघटकमित्यपि वदन्ति।

आलोकः—साध्यतावच्छेदकत्वव्यवस्था कुत इत्यपेक्षायामाह—**साध्यादिभेदेनेत्यादि**। **साध्यादिभेदेन** साध्यं वह्न्यादि आदिपदात् साधनं धूमादि तेषां भेदेन पार्थक्येन। **व्याप्तेः** साध्यसाधनयोरव्यभिचरितसाहचर्यनियमस्य। **भेदाद्** भिन्नप्रकृतिकत्वात्। **तादृशस्थले** साध्यसाधनयोर्नानाविधत्वस्थले। 'साध्यसाधनयोर्भेदेन व्याप्तिभेदः' इति नियमात्। लक्षणान्तरमेव कर्तव्यमिति। **साध्यतावच्छेदकावच्छेदकं** साध्यताया अवच्छेदकता तस्या अवच्छेदकम्। तच्च **प्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदकं** प्रतियोगितायाः हेत्वधिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगितायाः अवच्छेदकता तस्या अनवच्छेदकं—हेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकतावच्छेदकं हेतोस्तदाश्रयावच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति। **एव** हि। **लक्षणघटकं** लक्षणापादनम्। **इति** इत्थम्। **अपि च**। **वदन्ति** कथयन्ति शिष्टा इति। इदं परम्परासम्बन्धानङ्गीकर्तॄणां मतम्, ये हि खलु परम्परासम्बन्धकल्पनास्थाने साध्यसाधनभेदं कल्पयित्वा तदनुसारेण व्याप्तेः पृथक्पृथगेव लक्षणं कर्तव्यमिति समर्थयन्ति। तदनुसारेण हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीयप्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकतावच्छेदकं तदवच्छिन्नावच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति। लक्षणसमन्वयश्चेत्थम्—'घटो रूपत्वव्याप्यजातिमत्वान् पृथ्वीत्वात्' इत्यादौ 'मठो दण्डिमान् दण्डिसंयोगात्' इत्यादौ च हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीयप्रतियोगितारूपत्वव्याप्यजातिमत्तन्नीलपीतादिरूपेषु तत्तद्दण्डिषु च तदवच्छेदिका रूपत्वव्याप्यनीलत्वपीतत्वादिजातयो दण्डश्च अभावीयप्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदकस्तथा साध्यतावच्छेदकताया अवच्छेदकः रूपत्वव्याप्यजातित्वं तथा दण्डत्वं तदवच्छिन्ना रूपत्वव्याप्यजातयः तथा दण्डः तदवच्छिन्ननीलपीतादिगुणाः तथा दण्डी एतद्द्वयं यथाक्रमं समवायेन संयोगेन च साध्यमस्ति। तादृशसाध्येन सह पृथ्वीस्वरूपहेतोः तथा दण्डिसंयोगरूपहेतोश्च सामानाधिकरण्यमस्ति। एवं हि लक्षणं सङ्गच्छते परम्परासम्बन्धेनावच्छेदकस्य प्रयोजनं नेति विस्तरोऽन्यत्र।

अनुवाद—(कुछ तो परम्परा-सम्बन्ध से व्याप्ति मानकर यह मानते हैं कि) साध्य एवं साधन के भेद से व्याप्ति से भी भिन्न-भिन्न होने से वैसे स्थल में (जहाँ परम्परा से स्वाश्रयत्वाश्रय सम्बन्ध से साध्यतावच्छेदक माना गया है वहीं) साध्यता

की अवच्छेदकता का अवच्छेदक वही है, जो प्रतियोगिता का अनवच्छेदक है, ऐसा ही लक्षण करना चाहिए।

हेत्वधिकरणं हेतुतावच्छेदकविशिष्टाधिकरणं वाच्यं, तेन द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वादित्यादौ शुद्धसत्ताधिकरणगुणादिनिष्ठाभावप्रतियोगित्वेऽपि द्रव्यत्वस्य नाऽव्याप्तिः। एवं हेतुतावच्छेदकसम्बधेन हेत्वधिकरणं बोध्यं, तेन समवायेन धूमाधिकरणतदवयवनिष्ठाभावप्रतियोगित्वेऽपि वह्नेर्नाऽव्याप्तिः।

आलोकः—स्थलान्तरेऽव्याप्तिपरिहाराय हेत्वधिकरणपदेन विवक्षितमर्थं स्पष्टयति—**हेत्वधिकरणमिति**। **हेत्वधिकरणं** हेतुमत्पदबोध्यहेत्वधिकरणम्। च हि। **हेतुतावच्छेदकविशिष्टाधिकरणं** हेतुतायाः धूमादिनिष्ठाया अवच्छेदको यो धर्मस्तद्विशिष्टस्य अधिकरणमाश्रयः। **वाच्यं** कथनीयम्। **तेन** हेत्वधिकरणस्य तथाशयेन। **'द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वात्'** इत्यादौ **द्रव्यत्वस्य शुद्धसत्ताधिकरणगुणादिनिष्ठाभावप्रतियोगित्वे** शुद्धाऽविशिष्टा या सत्ता तस्या अधिकरणंमाश्रयो यो गुणादिस्तन्निष्ठस्तद्वृत्तिर्योऽभावो विरहस्तस्य प्रतियोगित्वे विरोधित्वे। **अपि** च। **न**। **अव्याप्तिः**। इति।

अयमाशयः—ननु 'घटो द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वात्' इत्यादौ 'शुद्धविशिष्टसत्तयोः विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते' इति नियमेन अभेदेन शुद्धसत्ताऽभिन्नविशिष्टसत्ताहेतोरधिकरणं गुणः तद्वृत्तिरभावः द्रव्यत्वं नास्तीति प्रतियोगि द्रव्यं तत्ता द्रव्यत्वनिष्ठा प्रतियोगितावच्छेदकत्वं द्रव्यत्वत्वं तदेव साध्यतावच्छेदकमिति कथं लक्षणसमन्वय इति चेन्न, हेतुतावच्छेदकविशिष्टहेत्वधिकरणवृत्त्यभावेत्यादिलक्षणकरणेनादोषात्। तथा हि हेतुरत्र गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ता हेतुता तादृशसत्तानिष्ठा हेतुतावच्छेदकं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्वं तद्विशिष्टा गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ता तदधिकरणं द्रव्यं तद्वृत्तिरभावः घटाभावादिर्यः कश्चिदपि तदप्रतियोगि साध्यं द्रव्यत्वं तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यसत्त्वेन हेतुना लक्षणसमन्वय इति विस्तरोऽन्यत्र।

तत्र हेतुतावच्छेदकसम्बन्धविवक्षां दर्शयति—**एवमिति**। **एवमि**त्थमेव। **हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन** हेतुता हेतुनिष्ठा तस्याः अवच्छेदकसम्बन्धेन। **हेत्वधिकरणं** हेतोर्धूमादेरधिकरणमाश्रयः। **बोध्यं** ज्ञेयम्। **तेन** हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन हेत्वधिकरणस्य ग्रहणेन। **समवायेन** समवायसम्बन्धेन। **धूमाधिकरणतदवयवनिष्ठाभावप्रतियोगित्वे**-धूमस्य हेतुभूतस्याधिकरणमाश्रयः समवायसम्बन्धेन धूमावयवः तादृशे तदवयवे धूमावयवे निष्ठा वृत्तिर्यस्य तादृशो योऽभावो वह्न्यभावस्तस्य प्रतियोगी वह्निस्तत्त्वे। **अपि**। **वह्नेः** साध्यस्य। **न**। अव्याप्तिरिति।

अयमाशयः—हेतुतावच्छेदकविशिष्टाधिकरणत्वेन हेत्वधिकरणस्य ग्रहणेऽपि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यत्राव्याप्तिर्नैव निरोद्धुं शक्यते। तथाहि हेतुर्धूमः तस्याधिकरणं समवायसम्बन्धेन धूमावयवः तद् वृत्तिर्योऽभावः स वह्न्यभावः तत्प्रतियोगी वह्निः साध्य इति चेन्न; हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन हेत्वधिकरणस्य ग्रहणाद् दोषाभावात्। तथा

हि अत्र हेतुतावच्छेदकः सम्बन्धः संयोगः, तेन सम्बन्धेन धूमत्वावच्छिन्नाधिकरणं पर्वतादिर्न तु धूमावयवः अवयवस्य समवायसम्बन्धेनैव तदधिकरणत्वाद् तद्वृत्तिरभावो घटाभावादिरिति सर्वं सुस्थमेवेति ।

अनुवाद—हेतु का अधिकरण (आश्रय) हेतुता के अवच्छेदक से विशिष्ट अधिकरण मानना चाहिए । इस कारण 'द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वात्' इत्यादि में द्रव्यत्व के शुद्ध सत्ता के अधिकरण गुण आदि में रहने वाले अभाव के प्रतियोगी होने पर भी अव्याप्ति नहीं है ।

इस प्रकार हेतु के अधिकरण को भी हेतुता के अवच्छेदक सम्बन्ध से ही लेना चाहिए । इस कारण वह्नि के समवाय सम्बन्ध से धूम के अधिकरण बने उसके अवयव में रहने वाले अभाव के प्रतियोगित्व में भी अव्याप्ति नहीं है ।

अभावश्च प्रतियोगिव्यधिकरणो बोध्यः । तेन कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्यादौ मूलावच्छेदेनैव एतद्वृक्षवृत्तिकपिसंयोगाभावप्रतियोगित्वेऽपि कपिसंयोगस्य नाऽव्याप्तिः ।

आलोकः—अभावपदस्य विवक्षितमर्थं निश्चिनोति—**अभाव** इति । **अभावः** हेतुमन्निष्ठाभावः । **च** तु । **प्रतियोगिव्यधिकरणः** प्रतियोगिनः हेतुमन्निष्ठाभावप्रतियोगिनः व्यधिकरणः असमानाश्रयः । **बोध्यः** । **तेन** अभावस्य प्रतियोगिव्यधिकरणत्वेन । 'कपिसंयोगि एतद् वृक्षत्वात्' इत्यादौ । **मूलावच्छेदेन** मूलव्यापकत्वेन । **एतद्वृक्षवृत्तिकपिसंयोगाभावप्रतियोगित्वे** एतद्वृक्षवृत्तिरेतद्वृक्षनिष्ठो यः कपिसंयोगाभावः कपिसंयोगविरहस्तस्य प्रतियोगित्वे विरोधित्वे । **अपि** । **कपिसंयोगस्य** । **न** नैव । **अव्याप्तिरिति** ।

अयमाशयः—'वृक्षः कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इत्यादि सद्धेतुस्थले कपिसंयोगः साध्यः तत्र शाखायां कपिसंयोगो मूले तदभावः हेतुरेतद्वृक्षत्वम्, तदधिकरणं वृक्षस्तद्वृत्तिरभावो मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभावः तत्प्रतियोगी कपिसंयोगः प्रतियोगितावच्छेदकत्वं कपिसंयोगत्वं तदेव साध्यतावच्छेदकमिति अव्याप्तिरेव । अभावस्य हि प्रतियोगिव्यधिकरणत्वेन ग्रहणे तु तद्वृत्तिरभावो घटाभावादिः (मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभावस्य प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वात्) तथा ग्रहणे सति अभावस्तत्प्रतियोगी च भिन्नाधिकरणवृत्ती स्यातामेव यतो न दोषः । यथा घटाभावस्य प्रतियोगी घटः तत्प्रतियोगितावच्छेदकं घटत्वं तदनवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं कपिसंयोगत्वं तदवच्छिन्नकपिसंयोगरूपसाध्येन सह एतद्वृक्षत्वरूपहेतोः सामानाधिकरण्यमस्तीति नैवाव्याप्तिः ।

अनुवाद—अभाव (हेतु के अधिकरण में रहने वाला अभाव) अभाव के प्रतियोगी से व्यधिकरण (भिन्न अधिकरण) वाला होना चाहिए । इस कारण 'कपिसंयोगी एतद् वृक्षत्वात्' इत्यादि में मूलावच्छेदक रूप से कपिसंयोग का एतद् वृक्ष में रहने वाले कपिसंयोग के अभाव के प्रतियोगी होने पर भी अव्याप्ति नहीं है ।

न च प्रतियोगिव्यधिकरणत्वं यदि प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्वं तदा तथैवाव्याप्तिः। प्रतियोगिनः कपिसंयोगस्यानधिकरणे गुणादौ वर्तमानो योऽभावस्तस्यैव वृक्षेऽपि मूलावच्छेदेन सत्त्वात्। यदि तु प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्वं तदा 'संयोगी सत्त्वात्' इत्यादावतिव्याप्तिः। सत्ताधिकरणे गुणादौ यः संयोगाभावस्तस्य प्रतियोग्यधिकरणद्रव्यवृत्तित्वादिति वाच्यम्, हेत्वधिकरणे प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्वविशिष्टस्य विवक्षितत्वात् स्वप्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभाव इति निष्कर्षः।

आलोकः—अभावे प्रतियोगिव्यधिकरणस्याशयं विवृणोति—**न चेति**। न। **च** हि। **प्रतियोगिव्यधिकरणत्वम्** अभावतत्प्रतियोगिनोर्भिन्नाश्रयत्वम्। **यदि**। **प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्वं** प्रतियोगिनोऽभावविरोधिनः अनधिकरणे भिन्नाधिकरणे वृत्तिर्निष्ठा यस्य तस्य भावस्तत्त्वम्। **तदा** तथाशये। **तथैव** प्राग्वदेव। **अव्याप्तिः**। तत्र हेतुमाह—**प्रतियोगिन इति**। **प्रतियोगिनः** अभावप्रतियोगिभूतस्य। **कपिसंयोगस्य**। **अनधिकरणे** अभावाधिकरणभिन्ने। **गुणादौ** गुणे गुणो न तिष्ठतीति न्यायशास्त्रात्। **वर्तमानः** सवृत्तिकः। **यः**। **अभावः**। **तस्य**। **एव**। **वृक्षे** तरौ। **मूलावच्छेदेन** मूलव्यापकत्वेन। **सत्त्वात्** स्थितेः। यथा हेत्वधिकरणमेतद्वृक्षः तद्वृत्तिरभावः कपिसंयोगाभावः स प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तिरेव, यतो हि अभावप्रतियोगी कपिसंयोगः तस्यानधिकरणं गुणः स एव गुणवृत्तिकपिसंयोगाभावो वृक्षे मूले लभ्यत इति तत्र प्रतियोगिव्यधिकरणत्वस्याभावे सत्त्वादव्याप्तिरेवेति। तत्परिहारस्तु प्रतियोगिव्यधिकरणत्वं तदा प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्वमिति गृह्यताम्। तथा सति वृक्षवृत्तिकपिसंयोगाभावः स्वप्रतियोगिनः कपिसंयोगस्याधिकरणे मूलावच्छेदेन वर्तमान इति न स प्रतियोगिव्यधिकरणः प्रतियोग्यधिकरणावृत्तिरिति न दोष इति। पक्षान्तरमाह—**यदीति**। **यदि**। **तु**। प्रतियोग्यधिकरणत्वस्याशयो **प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्वं** प्रतियोगिनोऽधिकरणे आश्रये अवृत्तित्वं निष्ठाभावः। **तदा 'संयोगी सत्त्वात्' घटः** संयोगी सत्त्वात् इत्यादौ। संयोगसाध्यकसत्ताहेतुके असद्धेतौ। अतिव्याप्तिः। तथाहि—**सत्ताधिकरणे** हेतुः सत्ता तस्या अधिकरणे आश्रये। **गुणादौ** गुणकर्मणोः। **यः**। **संयोगाभावः** संयोगरूपसाध्यस्याभावः। तस्य। **प्रतियोग्यधिकरणद्रव्यवृत्तित्वात्** अभावस्य साध्यरूपसंयोगाभावस्य प्रतियोगि विरोधि यद् द्रव्यं तत्र वृत्तित्वात् (न तु प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्वम्) **इति**। **वाच्यम्**। इति।

अयमाशयः—यदि च प्रतियोगिव्यधिकरणत्वस्य प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्वमित्याशयस्तदाऽपि तस्य संयोगी सत्त्वादित्याद्यसद्धेतावतिव्याप्तिः। तथा हि संयोगी सत्त्वादित्यत्र संयोगः साध्यः हेतुः सत्ता तदधिकरणं गुणकर्मादि तत्र यद्यपि संयोगरूपसाध्यस्याभावो मिलिष्यति तथापि संयोगरूपसाध्यस्याभावो नैव भविष्यति लक्षणघटकः। संयोगरूपसाध्यस्याभावः पूर्वोक्तरीत्या स्वप्रतियोग्यधिकरणा वृत्तिर्नास्ति किन्त्वव्याप्यवृत्तित्वेन स्वप्रतियोग्यधिकरणवृत्तिरेवेति। अत्रापि हेत्वधिकरणवृत्तिर्घटाद्यभावस्तादृशाभावीयप्रतियोगितावच्छेदको घटत्वादिधर्मोऽस्ति। अनवच्छेदकः साध्यतावच्छेदकः संयोगस्वरूपो धर्मः। एवञ्चालक्ष्ये लक्षणस्य गमनादतिव्याप्तिरिति।

समाधत्ते—हेत्वधिकरण इति । हेत्वधिकरणे हेतोरधिकरणे आश्रये । **प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्वविशिष्टस्य** प्रतियोगिनः हेत्वधिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगिनः अनधिकरणमनाश्रयस्तत्र वृत्तित्वं वर्तनं तेन विशिष्टस्तस्य तादृशस्य । **विवक्षितत्वात्** अभीष्टत्वात् । **स्वप्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभावः** स्वस्य यः प्रतियोगी तदनधिकरणीभूतो यो हेतुस्तस्य यदधिकरणं तस्य वृत्तेरभावः । **इति** इत्थम् । **निष्कर्षः** फलितार्थः । हेत्वधिकरणवृत्त्यभावः स्वप्रतियोगिनोऽनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणे वर्तमानोऽपेक्षितः । तथा सति नास्ति दोषः पूर्वोक्तोभयस्थले । तथा हि 'वृक्षः कपिसंयोगवानेतद्वृक्षत्वात्' इत्यत्र यद्यपि कपिसंयोगाभावोऽपि मूलावच्छेदेन वृक्षे तिष्ठति सोऽभावः स्वप्रतियोगिनोऽनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणे नास्ति । किन्तु स्वप्रतियोगिनोऽधिकरणीभूतहेत्वधिकरणे तिष्ठति । तस्मात् कपिसंयोगाभावस्य लक्षणघटकत्वाभावाद् घटाद्यभावो गृह्यते तेन च लक्षणसमन्वयः । 'घटः संयोगवान् सत्त्वात्' सत्तारूपहेत्वधिकरणे गुणादौ संयोगरूपसाध्यस्याभावः स्वप्रतियोगिनोऽनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणे तिष्ठति, तस्माल्लक्षणघटकोऽस्ति तादृशाभावीयप्रतियोगितावच्छेदक एव साध्यतावच्छेदकसंयोगस्वरूपो धर्मः अनवच्छेदको नास्तीति नातिव्याप्तिरिति जीवरामीये विस्तरः ।

अनुवाद—न तो अभाव के प्रतियोगी का व्यधिकरणत्व (असमानाश्रयत्व) यदि प्रतियोगी के अधिकरण से भिन्न अधिकरण में वृत्तित्व हो तो उसी तरह अव्याप्ति होती है, क्योंकि प्रतियोगी कपिसंयोग के अनधिकरण गुण आदि में वर्तमान जो अभाव है, उस का ही वृक्ष में मूल रहता है । यदि प्रतियोगिव्यधिकरणत्व का आशय प्रतियोगी के अधिकरण का अवृत्तित्व हो तो भी 'संयोगी सत्त्वात्' इत्यादि (असद्धेतु) में अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि सत्ता के अधिकरण गुण आदि में जो संयोगाभाव है, उसका प्रतियोगी के अधिकरण द्रव्य में भी वृत्तित्व है, ऐसा कहना ही उचित है ।

हेतु के अधिकरण में प्रतियोगी के अनधिकरण में वृत्तित्व होने से विशिष्ट के ही विवक्षित होने से अपने प्रतियोगी के अनधिकरणीभूत हेतु के अधिकरण में वृत्ति का अभाव, ऐसा निष्कर्ष मानना चाहिए । (ऐसा मानने से उपर्युक्त दोनों दोष नहीं आयेंगे ।)

प्रतियोग्यनधिकरणत्वञ्च प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं वाच्यं तेन, विशिष्टसत्तावान् जातेरित्यादौ जात्यधिकरणगुणादौ विशिष्टसत्ताभावस्य प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वेऽपि न क्षतिः ।

एवं साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणत्वं बोध्यं, तेन ज्ञानवान् सत्त्वादित्यादौ सत्ताधिकरणघटादेर्विषयतया ज्ञानाधिकरणत्वेऽपि न क्षतिः ।

इत्थञ्च वह्निमान् धूमादित्यादौ धूमाधिकरणे समवायेन वह्निविरहसत्त्वेऽपि न क्षतिः ।

आलोकः—उक्तलक्षणगतं प्रतियोग्यनधिकरणत्वं सप्रपञ्चं व्याख्याति—**प्रतीति** । **प्रतियोग्यनधिकरणत्वं** प्रतियोगिनः हेत्वधिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगिनः अनधिकरण-

त्वमनाश्रयत्वम् । **च तु । प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं** प्रतियोगितायाः हेतुमन्निष्ठाभावप्रतियोगिताया अवच्छेदकेन धर्मेण अवच्छिन्नं विशिष्टं यदनधिकरणत्वमनाश्रयत्वमिति । **वाच्यम् । तेन** प्रतियोग्यनधिकरणत्वस्य प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वाशयेन । **विशिष्टसत्तावान् जातेः । इत्यादौ । जात्यधिकरणगुणादौ** जात्यधिकरणभूतगुणकर्मादौ । **विशिष्टसत्ताभावस्य** विशिष्टसत्तायाः अभावस्य । **प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वे अपि । न । क्षतिरिति ।**

अयमाशयः—अभावप्रतियोग्यनधिकरणत्वमपि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं बोध्यम् । अन्यथा 'घटो विशिष्टसत्तावान् जातेः' इत्याद्यसद्धेतुस्थलेऽतिव्याप्तिः स्यात् । तथा हि अत्र जातेरिति हेतोरनैकान्तिकस्य व्यभिचारस्थले गुणो वा कर्म वा यतः साध्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ता साध्याभावो गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ताभावः तद्वान् गुणः कर्मापीति साध्याभाववदवृत्तित्वाज्जातिहेतुर्व्यभिचारी । परमत्र व्यभिचारिस्थले जातिरूपहेत्वधिकरणे गुणे कर्मणि च विशिष्टसत्ताभावो नेतुं न शक्यते, 'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते' इति न्यायाद् विशिष्टसत्ताभावस्य प्रतियोगिन्येव शुद्धसत्ता तस्याः शुद्धसत्तायाः अभावस्तु जातिरूपहेत्वधिकरणे गुणे कर्मणि नास्ति । शुद्धसत्तायाः त्रिष्वनुगतत्वेन गुणकर्मानुगतत्वात् । साध्याभावस्य लक्षणाघटकत्वाद् घटाभावः तस्य प्रतियोगी घटः प्रतियोगितावच्छेदकत्वं घटत्वं तदनवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं विशिष्टसत्तात्वं तादृशासाध्येन सह जातिरूपहेतोर्गुणकर्मण्यपि सामानाधिकरण्यमित्यलक्ष्ये लक्षणगमनरूपाऽव्याप्तिर्दुर्वारैवेति प्रमादौ विस्तरः । प्रतियोग्यनधिकरणत्वस्य प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिनानधिकरणत्वेऽभिप्राये तु हेतुभूतजात्यधिकरणगुणादौ विशिष्टसत्ताभावप्रतियोगिसत्ताधिकरणत्वेऽपि न लक्षणस्य विशिष्टसत्तावान् जातेरित्यादौ नाव्याप्तिः । अर्थात् यदि तु प्रतियोग्यनधिकरणं यद्धेत्वधिकरणं तत् प्रतियोगितावच्छेदकधर्मावच्छिन्नस्यानधिकरणमुच्येत तदा जातिरूपहेत्वधिकरणे गुणादौ विशिष्टसत्तात्वेन रूपेण विशिष्टसत्ताया अभावो मिलिष्यत्येव । तादृशाभावस्य प्रतियोगिनी विशिष्टसत्ता प्रतियोगितावच्छेदकधर्मो विशिष्टसत्तात्वं तदेव च साध्यतावच्छेदकमनवच्छेदकं नास्ति इष्टञ्च तदनवच्छेदकं साध्यतावच्छेदकं तस्मात्प्रकृतेऽनवच्छेदकसाध्यतावच्छेदकाभावान्नातिव्याप्तिः । व्याप्तिश्च प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरणं सद्धेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरणं तद्वृत्तिर्योऽभावः तादृशाभावीयप्रतियोगितानवच्छेदकं 'यत्साध्यतावच्छेदकं तद्धर्मावच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यमेवेति ।

प्रतियोग्यनधिकरणत्वे विवक्षितसम्बन्धमाह—**एवमिति । एवमित्यमेव । साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन** साध्यताया यदवच्छेदकं तत्सम्बन्धेन न तु येन केनचित्सम्बन्धेन । **प्रतियोग्यनधिकरणत्वं** प्रतियोगिनः अभावप्रतियोगिनः अनधिकरणत्वमनाश्रयत्वम् । **बोध्यं** ज्ञेयम् । **तेन** साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणत्वस्य ग्रहणेन । **'ज्ञानवान् सत्त्वात्' इत्यादौ । सत्ताधिकरणघटादेः** हेतुभूतसत्ताश्रयघटादेः । **विषयतया** विषयतासम्बन्धेन । **ज्ञानाधिकरणत्वे** ज्ञानाश्रयत्वे । **अपि । न ।** क्षतिः इति ।

अयमाशयः—'ज्ञानवान् सत्त्वात्' इत्यादौ समवायेन ज्ञानसाध्यके सत्ताहेतुकव्यभिचारिस्थलेऽसद्धेतौ हेतुभूतसत्ताया अधिकरणं घटादिः तन्निष्ठोऽभावो न ज्ञानाभावः ज्ञानं विषयतासम्बन्धेन घटवृत्तिः, इति तस्य विषयतासम्बन्धेन ज्ञानरूपप्रतियोगिसामानाधिकरण्यात् प्रतियोगिव्यधिकरणत्वाभावात्। इत्यतिव्याप्तिरिति चेदुच्यते विषयतासम्बन्धेन घटे ज्ञानं वर्ततां नाम वयं तु प्रतियोगिताव्यधिकरणत्वं साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन गृह्णीमः। समवायेन घटे ज्ञानं नास्तीति ज्ञानाभावः प्रतियोगिव्यधिकरणः सुलभ एवेति सुकरोऽतिव्याप्तिपरिहारः। इत्थमेवमेव। च। प्रतियोग्यधिकरणत्वस्य साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन ग्रहणात्। **वह्निमान् धूमात् इत्यादौ। धूमाधिकरणे** हेतुभूतधूमाश्रये। **समवायेन** समवायसम्बन्धेन। **वह्निविरहसत्त्वे** वह्न्यभावसत्त्वे। **अपि च। न। क्षतिरिति।**

अयमाशयः—धूमाधिकरणे पर्वते समवायेन वह्न्यभावो न प्रतियोगिव्यधिकरणः, प्रतियोगिनो वह्नेः संयोगेन पर्वतवृत्तित्वादिति।

अनुवाद—प्रतियोगी का जो अनधिकरणत्व है, वह प्रतियोगिता के अवच्छेदक से अवच्छिन्न अनधिकरणत्व मानना चाहिए। इस कारण 'विशिष्टसत्तावान् जातेः' इत्यादि में जाति के अधिकरणभूत गुण आदि में विशिष्ट सत्ता के अभाव का प्रतियोगी के साथ समानाधिकरणत्व होने पर भी कोई हानि नहीं है।

इसी तरह साध्यता के अवच्छेदक सम्बन्ध से ही प्रतियोगी का अनधिकरणत्व मानना चहिए। इस कारण 'ज्ञानवान् सत्त्वात्' इत्यादि में सत्ता के आश्रय घट आदि का विषयता से ज्ञान के अधिकरण होने पर भी कोई हानि नहीं है।

इसी तरह 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि में धूम के अधिकरण पर्वत में समवाय सम्बन्ध से वह्नि का अभाव होने पर भी कोई क्षति नहीं है।

ननु प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नस्य यस्य कस्यचित्प्रतियोगिनोऽनधिकरणत्व तत्सामान्यस्य वा यत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं वा विवक्षितम्?

आद्ये 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इत्यादौ तथैवाव्याप्तिः। कपिसंयोगाभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नो वृक्षवृत्तिकपिसंयोगोऽपि भवति तदनधिकरणं वृक्ष इति।

द्वितीये तु प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिः। सर्वस्यैवाभावस्य पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोगिसमानाधिकरणत्वात्। न च वह्निमान् धूमादित्यादौ घटाभावादेः पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोग्यधिकरणत्वं यद्यपि पर्वतादेस्तथापि साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन तत्प्रतियोग्यनधिकरणत्वमस्त्येवेति कथं प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिरिति वाच्यम्; घटाभावे यो वह्न्यभावस्तस्य घटाभावात्मकतया घटाभावस्य वह्निरपि प्रतियोगी तदधिकरणञ्च पर्वतादिरित्येवं क्रमेण प्रतियोगिव्यधिकरणस्याप्रसिद्धत्वात्।

यदि च घटाभावादौ वह्न्यभावादिर्भिन्न इत्युच्यते, तथापि धूमाभाववान् वह्न्यभावात् इत्यादावव्याप्तिः। तत्र साध्यतावच्छेदकसम्बन्धः स्वरूपसम्बन्धः, तेन सम्बन्धेन सर्वस्यैवाभावस्य पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोग्यनधिकरणत्वं हेत्वधिकरणस्येति।

तृतीये तु कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वात् इत्यादावव्याप्तिः। तत्रात्मवृत्तिककपिसंयोगाभावाभावः कपिसंयोगस्तस्य च गुणत्वात् प्रतियोगितावच्छेदकं गुणसामान्यभावत्वमपि तदवच्छिन्नानधिकरणत्वं हेत्वधिकरणस्यात्मन इति।

आलोकः—जातिहेतुके विशिष्टसत्तासाध्यके विशिष्टसत्तावान् जातेरित्यादावतिव्याप्तिवारणाय प्रतियोग्यनधिकरणत्वस्य प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणस्वरूपो य आशय उक्तस्तमधिकृत्य सम्भाव्यपक्षत्रयमुद्भावयति—नन्वित्यादिना। ननु इति जिज्ञासायाम्। **प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नस्य** प्रतियोगिताया योऽवच्छेदकस्तेनावच्छिन्नस्य। **यस्य कस्यचित्। प्रतियोगिनः** विरोधिनः। **अनधिकरणत्वम**नाश्रयत्वम्। इत्येकः पक्षः। वा इति पक्षान्तरे। **तत्सामान्यस्य** प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसामान्यस्य अनधिकरणत्वम्। इति द्वितीयः पक्षः। अथवा यत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं यत्किञ्चिद्यः प्रतियोगितावच्छेदको धर्मस्तदवच्छिन्नस्यानधिकरणत्वमिति तृतीयः पक्षः। **विवक्षितम्** अपेक्षितम्। इति। प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नस्य यस्य कस्यचित्प्रतियोगिनोऽनधिकरणत्वमित्येकः प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसामान्यस्यानधिकरणत्वमिति द्वितीयः यत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नस्यानधिकरणत्वमिति तृतीयः, इति त्रयः पक्षाः।

तत्राद्यपक्षे यस्य कस्यचित्प्रतियोगिनोऽनधिकरणत्वे दोषमाह—**आद्य** इति। **आद्ये** प्रथमपक्षे प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिनस्य यस्य कस्यचित्प्रतियोगिनोऽनधिकरणत्वेऽर्थे। 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वाद्' इत्यादौ। **तथैव** पूर्वोक्तरीत्या एव। **अव्याप्तिः** लक्षणस्येति। कथमित्यपेक्षायामित्थम्—**कपिसंयोगाभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नः** एतद्वृक्षत्वाधिकरणनिष्ठो यो मूलावच्छेदेन कपिसंयोगो नास्तीत्यभावस्तत्प्रतियोगितावच्छेदकं कपिसंयोगत्वं तदवच्छिन्नो **वृक्षवृत्तिकपिसंयोगः** मूलावच्छेदेन वृक्षावृत्तिः कपिसंयोगः। **अपि। भवति। तदनधिकरणं** तदनाश्रयः। **वृक्षः। इति** इत्यम्। प्रतियोगिव्यधिकरणत्वेन कपिसंयोगाभावस्य ग्रहणेऽव्याप्तिरिति।

अयमाशयः—अत्र एतद्वृक्षत्वाधिकरणनिष्ठो यो मूलावच्छेदेन कपिसंयोगो नास्तीत्यभावस्तत्प्रतियोगितावच्छेदकं कपिसंयोगत्वं तदवच्छिन्नो वृक्षवृत्तिकपिसंयोगोऽपि तदनधिकरणं हेत्वधिकरणमेतद्वृक्षस्तन्निष्ठाऽभावीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वमेव कपिसंयोगत्वमित्यव्याप्तिरिति। तत्र प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसामान्यस्य अनधिकरणं विवक्ष्यते तदा 'वृक्षः कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इत्यादौ न दोषस्तथा हि प्रतियोगितावच्छेदककपिसंयोगत्वावच्छिन्नसामान्यस्यानधिकरणीभूतं हेत्वधिकरणमेतद्वृक्षो नास्तीति किन्तु प्रतियोगितावच्छेदकघटत्वावच्छिन्नस्यानधिकरणं हेत्वधिकरणमेतद्वृक्षः

तद्वृत्त्यभावीयप्रतियोगितावच्छेदकं घटत्वमनवच्छेदकं कपिसंयोगत्वं तदेव साध्यतावच्छेदकमित्यव्याप्त्यभाव इति ।

द्वितीये प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसामान्यस्यानधिकरणमिति पक्षे । यदि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसामान्यस्यानधिकरणत्वं विवक्ष्यते तदा । तु । **प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिः** प्रतियोगिनो यद् व्यधिकरणं तस्याभावस्य अप्रसिद्धिः अतः वह्निमान् धूमादित्यादौ सद्धेतुस्थलेऽपि लक्षणस्यासम्भवतो यद्यपि कपिसंयोगीत्यत्र दोषपरिहारः । तथाहि हेतुर्धूमस्तदधिकरणं पर्वतः तद्वृत्तिरभावः पूर्वं यो घटाभाव उक्तः स इदानीं न सम्भवति, यतो हि **सर्वस्य** सर्वविधस्य । **एव** हि । **अभावस्य** विरहस्य । **पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोगिसमानाधिकरणत्वात्** पूर्वक्षणवृत्तित्वं यत्स्वं घटाभावादिस्तस्य योऽभावस्तदात्मको यः प्रतियोगी तस्य समानाधिकरणकत्वात् । घटाभावाद्यधिकरणेऽपि पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटाभावाभावादेरभावस्योत्तरक्षणावच्छेदेन सत्त्वादित्याशयः । न च पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्य घटाभावादेरभावः स्वस्याभावस्य प्रतियोगी न तु घटाभावस्यापीति वाच्यं, पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्य घटाभावादेर्योऽभावः स पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटाभावान्नैवातिरिक्तः, यतो हि विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते इति न्यायाद् विशिष्टाभावप्रतियोग्यपि शुद्धघटाभावप्रतियोगी भवत्येव, तेन च प्रतियोगिव्यधिकरणाभावस्याऽसम्भवः ।

अयमाशयः—अत्र घटो हि स्वप्रतियोगिसमानाधिकरणः । योऽयं पर्वते पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टो घटाभावस्तस्यैवोत्तरक्षणे अभावोऽपि इत्युत्तरक्षणावच्छेदेन पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटाभावाभावः विशिष्टं क्षणान्नातिरिच्यते इति रीत्या शुद्धघटाभावो विशिष्टघटाभावस्वरूपः इति यथा घटाभावस्याप्रतियोगी घटः तथा घटाभावस्य घटाभावाभावस्वरूपतया तत्प्रतियोगी घटाभावाभावो द्वितीयाभावश्चेति घटरूपप्रतियोगिनोऽसत्त्वेऽपि पर्वते पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटाभावाभावरूपप्रतियोगिघटाभावस्य प्रतियोगिव्यधिकरणत्वालाभात् । एवं हि सर्वस्याऽप्यभावस्य प्रतियोगिव्यधिकरणता नैव स्यादित्यसम्भव इत्यन्यत्र विस्तरः ।

यदि साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन तत्प्रतियोग्यनधिकरणत्वं समर्थ्यते इत्युच्यते, तन्नोच्यते—**न ह्येति** । **न** नैव । **च** हि । **वह्निमान् धूमात् इत्यादौ** धूमहेतुकसद्धेतुकस्थले प्रसिद्धानुमाने । **घटाभावादेः** हेतुमन्निष्ठाभावरूपघटाभावादेः । **यद्यपि पर्वतादेः** हेतुमतः । **पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोग्यधिकरणत्वं** पूर्वक्षणवृत्तित्वं यत्स्वं घटाभावादिस्तस्य घटाभावादेर्योऽभावस्तदात्मको यः प्रतियोगी तस्याधिकरणत्वमाश्रयत्वम् । **तथापि** । **साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन** संयोगरूपसाध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन । **तत्प्रतियोग्यनधिकरणत्वं** स्वाभावात्मकप्रतियोगिनोऽनधिकरणत्वम् । **अस्ति** । **एव** । इति हेतोः । **कथम्** । **प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिः** प्रतियोगिनो व्यधिकरणस्य योऽभावः तस्य अप्रसिद्धिरसम्भवः । **इति** । वाच्यम् । **घटाभावे** हेतुमन्निष्ठघटाभावे । **यः** । **वह्न्यभावः** । **तस्य** । **घटाभावात्मकतया** घटाभावे वह्निर्नास्तीत्याकारकप्रत्ययात् घटाभावाद् वह्न्यभावस्य चाभिन्नत्वाच्च । **घटाभावस्य** । **वह्निः** साध्यः । **अपि च** ।

प्रतियोगी विरोधी। **तदधिकरणं** वह्न्यधिकरणम्। **च**। **पर्वतादिः**। इति हेतोः। **एवंक्रमेण** एवंरीत्या। **प्रतियोगिव्यधिकरणस्य** प्रतियोग्यनाश्रयत्वस्य। **अप्रसिद्धत्वात्** असम्भवत्वात्। **यदि**। **च** इति अथवा। **घटाभावादौ**। **वह्न्यभावादिः भिन्नः** पृथगेव। **इति**। **उच्यते**। **तदापि** घटाभावादेर्वह्न्यभावादेर्भिन्नत्वे अपि। **'धूमाभाववान् वह्न्यभावात्' इत्यादौ**। **अव्याप्तिः**। **तत्र** धूमाभाववानित्यादौ। **साध्यतावच्छेदकसम्बन्धः स्वरूपसम्बन्धः** स्वरूपेण सम्बन्धः। **तेन** स्वरूपेण। **सम्बन्धेन**। **सर्वस्य**। **एव**। **अभावस्य**। **पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोग्यधिकरणत्वं** पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टं स्वं तस्य अभावात्मकप्रतियोग्यनधिकरणत्वम्। **हेत्वधिकरणस्य**। इति।

अयमाशयः—प्रतियोग्यनधिकरणत्वं साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन यथा विवक्षितं तथा पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटाभावरूपप्रतियोगिनः स्वरूपसम्बन्धेन पर्वते सत्त्वेऽपि साध्यतावच्छेदकसंयोगसम्बन्धेन तथात्वाभावाद् घटाभावस्य प्रतियोगिव्यधिकरणत्वं युज्यत एवेति कथमसम्भव इति चेन्न; 'अभावाधिकरणकोऽभावोऽधिकरणस्वरूप' इति न्यायेन (उदयनाचार्यसम्मतेन) घटाभावे यो वह्न्यभावः सोऽधिकरणस्वरूपः (घटाभावस्वरूपः) इति यथा घटाभावस्य घटः प्रतियोगी तथा वह्निरपि तदधिकरणञ्च पर्वतादिरिति नासौ घटाभावः प्रतियोगिव्यधिकरणो भवति एवमन्येऽप्यभावाः इति भवेदेवासम्भवः। न च अभावनिष्ठोऽभावो न अभावस्वरूपः, किन्तु भिन्न एवेति मते उक्तरीत्या न प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिरिति वाच्यं तथा सति धूमाभाववान् वह्न्यभावादित्यादिसद्धेतौ स्वरूपसम्बन्धेन धूमाभावसाध्यके वह्न्यभावहेतुकेऽव्याप्तिः। साध्यतावच्छेदकेन स्वरूपसम्बन्धेन अभावमात्रस्य पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टत्वाभावात्मकप्रतियोग्यधिकरणत्वेन प्रतियोगिव्यधिकरणत्वाभावादिति।

तृतीये पक्षे दोषमुद्भावयति—**तृतीय** इति। **तृतीये** यत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरणत्वे विवक्षिते। **यद्यपि** तथाविवक्षिते हेत्वधिकरणस्य घटाभावीययत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकघटत्वावच्छिन्नानधिकरणत्वस्य पर्वते सत्त्वेन प्रतियोगिव्यधिकरणाभावप्रसिद्ध्या समन्वये प्रसिद्धानुमाने नासम्भवशङ्का। **तथापि**। कपिसंयोगाभाववान् **आत्मत्वात्**। **इत्यादौ** कपिसंयोगाभावसाध्यके आत्मत्वहेतुके सद्धेतौ। **अव्याप्तिः**। **तत्र** तथाऽनुमाने। **आत्मावृत्तिकपिसंयोगाभावाभावः** आत्मनः अवृत्तियः कपिसंयोगाभावस्य अभावः। **सः**। कपिसंयोगः। **तस्य** कपिसंयोगस्य। **गुणत्वात्**। **तत्प्रतियोगितावच्छेदकम्**। कपिसंयोगगुणयोरवच्छेदकम्। **गुणसामान्याभावत्वम्**। **अपि च**। **तदवच्छिन्नानधिकरणत्वं** गुणसामान्याभावत्वानधिकरणत्वम्। **हेत्वधिकरणस्य** आत्मत्वरूपहेत्वाश्रयस्य। **आत्मनः**। इति।

अयम्भावः—यत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं हेत्वधिकरणस्येति पक्षे प्रसिद्धानुमानेऽसम्भवदोषपरिहारेऽपि (घटाभावविषययत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकघटत्वावच्छिन्नानधिकरणत्वस्य पर्वतेऽपि सत्त्वात्) 'कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वात्' इत्यादौ कपिसंयोगाभावसाध्यके आत्मत्वहेतुके सद्धेतौ अव्याप्तिः

स्यात्, साध्याभावग्रहणस्य प्राप्तेः। तथाहि—साध्याभावः कपिसंयोगाभावाभावः कपिसंयोगरूपः तत्र कपिसंयोगे कपिसंयोगत्वं गुणत्वञ्च धर्मौ तिष्ठतः। साध्याभावप्रतियोगितावच्छेदकं कपिसंयोगाभावत्वं गुणसामान्याभावत्वञ्च। तेन प्रतियोगितावच्छेदकत्वं गुणसामान्याभावत्वमेव न तु तदवच्छिन्नाधिकरणो हेत्वधिकरण आत्मेति।

अनुवाद—जो प्रतियोगी का अनधिकरणत्व है, वह प्रतियोगिता के अवच्छेदक से अवच्छिन्न किसी भी प्रतियोगी का विवक्षित है, अथवा प्रतियोगिसामान्य का विवक्षित है, अथवा यत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न का अनधिकरणत्व विवक्षित है।

प्रथम पक्ष में (प्रतियोगिता के अवच्छेदक से अवच्छिन्न जिस किसी प्रतियोगी के अनधिकरणत्व की विवक्षा में) 'कपिसंयोगी एतद् वृक्षत्वात्' इत्यादि में उसी तरह अव्याप्ति होती है, क्योंकि कपिसंयोगाभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न वृक्ष में अवृत्ति कपिसंयोग भी होगा, उसका अनधिकरण वृक्ष ही होगा।

दूसरे पक्ष के मानने पर उक्त दोष का परिहार तो होगा लेकिन फिर भी प्रतियोगिव्यधिकरण के अभाव की अप्रसिद्धि हो जायेगी, क्योंकि सभी प्रकार के अभाव का पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्ट स्व के अभावात्मक प्रतियोगी का समानाधिकरणत्व होता है। न तो 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि में घटाभाव आदि का पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्ट स्व के अभावात्मक प्रतियोगी का अधिकरणत्व यद्यपि पर्वत आदि का है, तथापि साध्यता के अवच्छेदक सम्बन्ध से उसके प्रतियोगी का अनधिकरणत्व है ही तो कैसे प्रतियोगी के व्यधिकरण के अभाव की अप्रसिद्धि है, ऐसा कहना उचित है, क्योंकि घटाभाव में जो वह्न्यभाव है, उसके भी घटाभावात्मक होने से घटाभाव का वह्नि भी प्रतियोगी होता है और उसके अधिकरण पर्वत आदि भी; इस प्रकार के क्रम से प्रतियोगी का व्यधिकरण अप्रसिद्ध होता है।

यदि घटाभावादि में वह्न्यभाव आदि भिन्न हैं, ऐसा कहा जाता है तब भी 'धूमाभाववान् वह्न्यभावात्' इत्यादि में अव्याप्ति होती है, क्योंकि उसमें साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध स्वरूपसम्बन्ध है। उस सम्बन्ध से सभी प्रकार के अभाव का हेतु के अधिकरण का पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्ट स्व के अभावात्मक प्रतियोगी का अधिकरणत्व हो जायेगा।

तीसरे पक्ष में (यत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्व के पक्ष में) उक्त दोष का परिहार हो जाने पर भी 'कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वात्' इत्यादि में अव्याप्ति होती है। उसमें आत्मावृत्तिकपिसंयोगाभावाभाव कपिसंयोग है और उसका गुण होने से उसका प्रतियोगिता के अवच्छेदक गुणसामान्याभावत्व भी है, जो कि हेतु के अधिकरणभूत आत्मा का तदवच्छिन्न अनधिकरणत्व ही है।

मैवम्; यादृशप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं हेतुमतस्तादृशप्रतियोगितानवच्छेदकत्वस्य विवक्षितत्वात्।

आलोकः—तृतीयं पक्षमाश्रित्य समाधत्ते—**मैवमित्यादिना**। एवं यत्प्रागुक्तं तदखिलम्। **मा** नैवोपयुक्तमिति। तत्र हेतुमाह—**यादृशेति**। **हेतुमतः** हेत्वधिकरणस्य।

यादृशप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं यादृशं यद्विधं प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नम् अनधिकरणत्वम्। तादृशप्रतियोगितानवच्छेदकत्वस्य तादृशस्य तथाविधस्य एव प्रतियोगिताया अनवच्छेदकत्वस्य। विवक्षितत्वात्। नोक्तदोष इति। 'कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वात्' इत्यादौ प्रतियोगितावच्छेदकं गुणसामान्याभावत्वं तत्प्रतियोगितानवच्छेदकं साध्यतावच्छेदकं कपिसंयोगाभावत्वं तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यलक्षणनिर्वाहान्न दोष इति। अत्र हि प्रतियोगितावच्छेदकं गुणसामान्याभावत्वं तन्निष्ठप्रतियोगिताया अनवच्छेदकः साध्यतावच्छेदकश्च धर्मः कपिसंयोगाभावत्वं तदवच्छिन्नं साध्यं कपिसंयोगाभावस्तेन सहात्मत्वहेतोः सामानाधिकरण्यमिति नो दोष इति।

अनुवाद—यह ठीक नहीं है। हेतु के अधिकरण में जिस प्रकार के प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न का अनधिकरणत्व है, वैसे ही प्रतियोगिता के अनधिकरण के विवक्षित होने से कोई दोष नहीं है।

ननु कालो घटवान् कालपरिमाणादित्यत्र प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिः। हेत्वधिकरणस्य महाकालस्य जगदाधारतया सर्वेषामेवाभावानां साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन कालिकविशेषणतया प्रतियोग्यधिकरणत्वात्।

अत्र केचित्—महाकालभेदविशिष्टघटाभावस्तत्र प्रतियोगिव्यधिकरणो महाकालस्य घटाधारत्वेऽपि महाकालभेदविशिष्टघटानाधारत्वात् महाकाले महाकालभेदाभावात्।

वस्तुतस्तु प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितासामान्ये यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वयद्धर्मावच्छिन्नत्वोभयाभावस्तेन सम्बन्धेन तद्धर्मावच्छिन्नस्य तद्धेतुव्यापकत्वं बोध्यम्। व्यापकसामानाधिकरण्यञ्च व्याप्तिः।

यत्सम्बन्धः साध्यतावच्छेदकसम्बन्धः यद्धर्मः साध्यतावच्छेदकधर्मः, तत्र यदि यद्धर्मावच्छिन्नत्वाभावमात्रमित्युच्यते तदा समवायेन यो वह्न्यभावस्तस्य प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धः समवायस्तेन प्रतियोग्यधिकरणपर्वतादिवृत्तिः, स एव तत्प्रतियोगितावच्छेदकं वह्नित्वमित्यव्याप्तिः स्यात्। यदि च यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वाभावमात्रमित्युच्यते तदा तादृशस्य संयोगेन घटाभावस्य प्रतियोगितायां संयोगसम्बन्धावच्छिन्नत्वसत्त्वादव्याप्तिः स्यादत उभयमुपात्तम्।

इत्थञ्च कालो घटवान् कालपरिमाणादित्यादौ संयोगसम्बन्धेन घटाभावप्रतियोगिनोऽपि घटस्यानधिकरणे हेत्वधिकरणे महाकाले वर्तमानः स एव संयोगेन घटाभावः तस्य प्रतियोगितायां कालिकसम्बन्धावच्छिन्नत्वघटत्वावच्छिन्नत्वोभयाभावसत्त्वान्नाव्याप्तिः।

धूमवान् वह्नेरित्यादावतिव्याप्तिवारणाय सामान्यपदमुपात्तम्।

आलोकः—सर्वलक्षणाव्याप्तिमाशङ्क्य समाधानाय प्रकरणमारभते—**नन्विति । ननु** इति जिज्ञासायाम् । 'कालो घटवान् कालपरिमाणात्' इत्यत्र कालपक्षके कालिकसम्बन्धेन घटसाध्यके कालपरिमाणहेतुके सद्धेतौ । **प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिः** प्रतियोगिनो व्यधिकरणस्य योऽभावस्तस्य अप्रसिद्धिरसम्भव इति । तथा हि **हेत्वधिकरणस्य** हेतोर्हेतुभूतस्य कालपरिमाणस्याधिकरणमाश्रयः कालस्तस्य । **महाकालस्य । जगदाधारतया** जगतामाधारतयाऽऽश्रयतया । **सर्वेषाम् । एव । अभावानाम् । साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन** कालिकसम्बन्धेन घटत्वं साध्यता तदवच्छेदकसम्बन्धेन । **कालिकविशेषणतया** कालिकविशेषणतासम्बन्धेन **प्रतियोग्यधिकरणत्वात्** प्रतियोगिनः अधिकरणत्वादाश्रयत्वात् । न तु प्रतियोगिव्यधिकरणत्वादिति ।

अयमाशयः—'कालो घटवान् कालपरिमाणत्वात्' इत्यत्र कालः पक्षः कालिकसम्बन्धेन घटः साध्यं कालपरिमाणो हेतुः कालपरिमाणस्य हेतोरधिकरणं महाकालः, स च जगतामाश्रय इति सर्वस्याभावस्य प्रतियोगी (अत्र साध्यतावच्छेदकसम्बन्धः कालिकसम्बन्धः हेतुतावच्छेदकसम्बन्धः समवायसम्बन्धः) साध्यतावच्छेदकेन कालिकसम्बन्धेन तत्र महाकाले वर्तत इति न कोऽप्यभावः प्रतियोगितया लब्धुं शक्यः इति पूर्वपक्षः ।

तत्राऽऽह —**अत्रेति । अत्र** प्रसङ्गेऽस्मिन् । **केचित्** एकादेशीयाः । वदन्तीति शेषः । **तत्र** अनुमाने तस्मिन् । **महाकालभेदविशिष्टघटाभावः** महाकालस्य भेदेन विशिष्टो यो घटाभावः—यत्र भूतले घटो वर्तते तत्रैव स्वरूपेण महाकालभेदोऽपीति सामानाधिकरण्य(एकाधिकरणवृत्तित्व)सम्बन्धेन घटो महाकालविशिष्टो भवति, इति महाकालभेदविशिष्टो यो घटस्तस्याभावः । **प्रतियोगिव्यधिकरणः** प्रतियोगिनो व्यधिकरणोऽसमानाश्रयः । **महाकालस्य । घटाधारत्वे । अपि । महाकालभेदविशिष्टघटानाधारत्वात्** महाकालभेदविशिष्टस्य घटस्य अनाधारत्वात् **महाकाले । महाकालभेदाभावात्** महाकालभेदविरहात् ।

अयमाशयः—यत्र भूतले घटो वर्तते तत्रैव स्वरूपेण महाकालभेदोऽपीति एकाधिकरणवृत्तित्वसम्बन्धेन घटो महाकालभेदविशिष्टो भवति तस्य च महाकालभेदविशिष्टस्य घटस्याभावो महाकाले लभ्यते इति स भवति प्रतियोगिव्यधिकरणः । महाकालभेदविशिष्टघटाभावीया प्रतियोगिता महाकालभेदविशिष्टघटनिष्ठा प्रतियोगितावच्छेदकं महाकालभेदविशिष्टघटत्वं तदनवच्छेदकं शुद्धसाध्यतावच्छेदकं घटत्वं तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यं कालपरिमाणहेतोरिति दोषाभावात् इत्यन्यत्र विस्तरः ।

तत्र स्वाभीष्टसिद्धान्तमाह—**वस्तुत** इति । वस्तुतः यथार्थतः । **तु । प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन** प्रतियोगितायाः योऽवच्छेदकस्तत्सम्बन्धेन । **प्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितासामान्ये** प्रतियोगिनः अनधिकरणीभूतो यो हेत्वधिकरणस्तद्वृत्तिस्तत्र विद्यमानो योऽभावस्तस्य प्रतियोगिसामान्ये प्रतियोगिमात्रे । **यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वयद्धर्मावच्छिन्नत्वोभयाभावः** यद्धर्मत्वावच्छिन्नत्वं यद्धर्मावच्छिन्नत्वञ्चेत्येतस्योभयस्य अभावः । **तेन । । सम्बन्धेन । तद्धर्मावच्छिन्नस्य** तेन धर्मेण अवच्छिन्नस्य । **तद्धेतुव्यापकत्वं** तस्य पदार्थस्य हेतोर्व्यापकत्वम् । **बोध्यं** ज्ञेयम् । **व्याप्यस्य व्यापकसामाना-**

षिकरण्यं व्यापकेन ऐकाधिकरण्यम् । **व्याप्तिरिति** । तत्र **यत्सम्बन्धः** इति । **साध्यतावच्छेदकसम्बन्धः** साध्यताया अवच्छेदकसम्बन्धः । **यद्धर्म** । इति । **साध्यतावच्छेदकधर्मः** । **तत्र** इति लक्षणे । **यदि** । **यद्धर्मावच्छिन्नाभावमात्रं** न तु यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वाभावोऽपि । **इति** । **उच्यते** कथ्यते । **तदा** । **समवायेन** समवायसम्बन्धेन । **यः वह्न्यभावः** हेत्वधिकरणभूते पर्वते वह्निविरहः । **तस्य** वह्न्यभावस्य । **प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धः** । **समवायः** । तेन समवायसम्बन्धेन । **प्रतियोग्यधिकरणपर्वतादिवृत्तिः** प्रतियोग्याश्रयपर्वतादिवृत्तिकः । **सः** वह्न्यभावः । **एव** । **तत्प्रतियोगितावच्छेदकं** तत्प्रतियोगिता वह्नौ **तदवच्छेदकं वह्नित्वम्** । तदेव साध्यतावच्छेदकमिति लक्षणस्य **अव्याप्तिः** स्यात् । पक्षान्तरे । **यदि** । **च** । **यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वाभावमात्रम्** । **इति** । उच्यते । **तदा** । हेत्वधिकरणपर्वतादौ । **संयोगेन** संयोगसम्बन्धेन । तादृशस्य वृत्तेः । **घटाभावस्य** । **प्रतियोगितायां** प्रतियोगितामात्रे । **संयोगसम्बन्धावच्छिन्नत्वसत्त्वात्** साध्यतावच्छेदकसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नत्वभावात् । **अव्याप्तिः** । **स्यात्** । **अतः** । **उभयं** यद्धर्मावच्छिन्नत्वं यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वञ्च **उपात्तं** गृहीतमिति ।

अयम्भावः—पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यादौ संयोगेन घटाभावः तत्र प्रतियोगिता घटनिष्ठा प्रतियोगितावच्छेदकसम्बधः संयोगः । तेन प्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणपर्वतवृत्त्यभावप्रतियोगितासामान्ये साध्यतावच्छेदकसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नत्वसाध्यतावच्छेदकवह्नित्वधर्मावच्छिन्नत्वोभयाभावस्तेन संयोगसम्बन्धेन साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नस्य वह्नित्वावच्छिन्नस्य वह्नेस्तद्धेतुभूतधूमव्यापकत्वमिति तत्सामानाधिकरण्यं धूमहेतोर्व्याप्तिः ।

एवं हि कालो घटवानित्यत्र च कालपरिमाणहेत्वधिकरणे महाकाले संयोगेन घटाभावो ग्राह्यः । तथा च प्रतियोगितावच्छेदकेन संयोगसम्बन्धेन घटात्मकप्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणमहाकालवृत्तिसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नघटाभावीयघटप्रतियोगितासामान्ये साध्यतावच्छेदककालिकसम्बन्धावच्छिन्नत्वसाध्यतावच्छेदकघटत्वावच्छिन्नत्वोभयाभावः, तेन साध्यतावच्छेदकेन कालिकसम्बन्धेन साध्यतावच्छेदकघटत्वधर्मावच्छिन्नो घटस्तद्धेतुव्यापकः तत्सामानाधिकरण्यं हेतोः कालपरिमाणस्येति न दोष इति विस्तरोऽन्यत्र ।

इत्थमिति । **इत्थम्** एवमेव । **'कालो घटवान् कालपरिमाणात्'** इत्यादौ प्राग्वर्णितलक्षणेऽनुमाने । **संयोगसम्बन्धेन** । **घटाभावप्रतियोगिनः** । **घटस्य** । **अनधिकरणे** अनाश्रये । **हेत्वधिकरणे** हेतोः कालपरिमाणस्याधिकरणे आश्रये । **महाकाले** । **वर्तमानः** विद्यमानः । **स** । **एव** । **संयोगेन** संयोगसम्बन्धेन । **घटाभावः** । **तस्य** घटाभावस्य **प्रतियोगितायां कालिकसम्बन्धावच्छिन्नत्व-घटत्वावच्छिन्नत्वोभयाभावसत्त्वात्** कालिकसम्बन्धावच्छिन्नत्वाभावघटत्वावच्छिन्नत्वाभावद्वयसत्त्वात् । **न** । **अव्याप्तिरिति** ।

लक्षणे सामान्यपदग्रहणप्रयोजनमाह—**धूमवानिति** । **'धूमवान् वह्नेः'** इत्यादौ धूमसाध्यके **वह्निहेतुके असद्धेतुस्थले** । **अतिव्याप्तिवारणाय** लक्षणातिप्रसङ्गवारणाय ।

सामान्यपदं प्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितासामान्ये इत्यत्र सामान्यपदम् । उपात्तं गृहीतमिति ।

अयमाशयः—प्रतियोगितासामान्ये इत्येतस्य स्थाने यत्किञ्चित्प्रतियोगितायामित्येव कथने उपस्थितिकृतं लाघवं स्यात् किन्तु स्याद् 'धूमवान् वह्नेः' इत्यादावतिव्याप्तिः । यत्किञ्चिच्छब्दग्राह्यघटनिष्ठप्रतियोगितायां पूर्वोक्तोभयाभावस्य प्राप्तत्वेन लक्षणं सङ्गच्छते । यावदर्थकसामान्यपदग्रहणे तु यावदन्तर्गतायाः संयोगेन धूमाभावीयप्रतियोगितायाः ग्रहणं भवति । संयोगेन धूमाभावो हेत्वधिकरणे लोहपिण्डेऽपि मिलति, किन्तु तत्र संयोगेन धूमाभावीयप्रतियोगितायामुभयाभावो नास्ति अपितु उभयमेवेत्यतो नातिव्याप्तिरिति ।

अनुवाद—'कालो घटवान् कालपरिमाणात्' इत्यादि में प्रतियोगी के व्यधिकरण के अभाव की अप्रसिद्धि होती है, क्योंकि हेतु के अधिकरण महाकाल का जगत् का आधार होने से सभी प्रकार के अभावों का साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कालिक विशेषण के रूप में प्रतियोगी का व्यधिकरणत्व है ।

इस पर कुछ (एकदेशीय) कहते हैं कि उसमें महाकाल के भेद से विशिष्ट घट का अभाव ही प्रतियोगी का व्यधिकरण है । महाकाल के घट के आधार होने पर भी महाकाल के भेद से विशिष्ट घट का आधार नहीं है और महाकाल में महाकाल के भेद का अभाव होता है । वास्तव में तो प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध से प्रतियोगी के अनधिकरणीभूत हेतु के अधिकरण में विद्यमान अभाव के प्रतियोगिता मात्र में यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्व एवं यद्धर्मावच्छिन्नत्व दोनों अभाव हों, उस सम्बन्ध से तद्धर्मावच्छिन्न का तद्धेतुव्यापकत्व जानना चाहिए । व्यापक का व्याप्य के साथ सामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है । यत्सम्बन्ध का अर्थ साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध है और यद्धर्म का अर्थ साध्यतावच्छेदक धर्म है । उसमें यदि यद्धर्मावच्छिन्नत्व का अभाव मात्र कहा जाय तो समवाय से जो वह्न्यभाव है, उसका प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध समवाय है, उससे प्रतियोगी के अधिकरण पर्वत आदि में विद्यमान वही है और उसका प्रतियोगितावच्छेदक वह्नित्व है, अतः अव्याप्ति है । यदि यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वाभाव मात्र कहा जाय तो संयोग से उस प्रकार के घटाभाव की प्रतियोगिता में संयोगसम्बन्धावच्छिन्नत्व के होने से अव्याप्ति होगी, अतः दोनों लिये गये हैं ।

इस प्रकार 'कालो घटवान् कालपरिमाणात्' इत्यादि में संयोगसम्बन्ध से घटाभावप्रतियोगी भी घट के अनधिकरण हेतु के अधिकरण महाकाल में वर्तमान वही संयोग से घटाभाव है । उसकी प्रतियोगिता में कालिकसम्बन्धावच्छिन्नत्व एवं घटत्वावच्छिन्नत्व दोनों के अभाव होने से अव्याप्ति नहीं है ।

'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए 'सामान्य' पद का ग्रहण किया गया है ।

ननु 'प्रमेयवह्निमान् धूमात्' इत्यादौ प्रमेयवह्नित्वावच्छिन्नत्वमप्रसिद्ध गुरुधर्मस्यानवच्छेदकत्वादिति चेन्न; कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीति प्रतीत्या

कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताविषयीकरणेन गुरुधर्मस्याप्यवच्छेदकत्वस्वीकारादिति सङ्क्षेपः ।। ६९ ।।

आलोकः—पूर्वोक्तलक्षणानामव्याप्तिमाशङ्क्य समाधत्ते—नन्वित्यादिना । ननु । **प्रमेयवह्निमान् धूमात् इत्यादौ** । **प्रमेयवह्नित्वावच्छिन्नत्वं** प्रमेयवह्नित्वेन अवच्छिन्नत्वम् । अप्रसिद्धमसम्भवः । **गुरुधर्मस्य** प्रमेयवह्नित्वरूपगुरुधर्मस्य । अनवच्छेदकत्वात् अवच्छेदकत्वाभावात् । अत्र साध्यतावच्छेदको धर्मः प्रमेयवह्नित्वमेव, किन्तु अवच्छेदकस्तु वह्नित्वरूपधर्म एव । प्रमेयवह्नित्वस्य गुरुत्वात् । एवमवच्छेदकाप्रसिद्धिनिबन्धनोऽव्याप्तिदोष इति । इति । चेत् । न । **कम्बुग्रीवादिमान् नास्ति** । इति । **प्रतीत्या कम्बुग्रीवमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताविषयीकरणेन** कम्बुग्रीवादिमत्वेन अवच्छिन्ना या प्रतियोगिता तस्या विषयीकरणेन । **गुरुधर्मस्य** । अपि । **अवच्छेदकत्वस्वीकारात्** अवच्छेदकरूपग्रहणात् । इति । **सङ्क्षेपः** सारमेव ।

अयमाशयः—'प्रमेयवह्निमान् धूमात्' इत्यादौ 'सम्भवति लघौ धर्मे गुरौ तदभावात्' इति नयेन लघुधर्मस्यैवावच्छेदकत्वस्वीकाराद् धूमाधिकरणपर्वतवृत्त्यभावप्रतियोगितासामान्ये यद्धर्मा(साध्यतावच्छेदकप्रमेयवह्नित्वा)वच्छिन्नत्वमप्रसिद्धमिति कथं लक्षणसमन्वय इति चेन्न; कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीत्यादौ कम्बुग्रीवादिमतोऽभावः प्रतीयते, तत्र प्रतीतिबलेन प्रतियोगितायां कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नत्वं मन्यते तथा च प्रतियोगितावच्छेदकं कम्बुग्रीवादिमत्त्वं मान्यमेव । प्रतीतिबलाद् गुरुरपि धर्मोऽवच्छेदकः प्रतियोगितायाः इति नयेन गुर्वपि प्रमेयवह्नित्वं प्रतियोगितावच्छेदकं भवत्येवेति ।

अनुवाद—'प्रमेयवह्निमान् धूमात्' इत्यादि में प्रमेयवह्नित्वावच्छिन्नत्व अप्रसिद्ध है, क्योंकि 'गुरु धर्म अनवच्छेदक होता है' यदि ऐसा कहा जाय तो ठीक नहीं है। 'कम्बुग्रीवादिमान् नास्ति' इत्यादि की प्रतीति से कम्बुग्रीवादिमत्त्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के विषयीकरण से गुरु धर्म का भी अवच्छेदकत्व स्वीकार किया गया है। यह संक्षेप में बतलाया गया ।। ६९ ।।

सिषाधयिषया शून्या सिद्धिर्यत्र न विद्यते ।
स पक्षस्तत्र वृत्तित्वज्ञानादनुमितिर्भवेत् ।। ७० ।।

पक्षवृत्तित्वमित्यत्र पक्षत्वं किं तदाह—सिषाधयिषेति । सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावः पक्षता तद्वान् पक्ष इत्यर्थः । सिषाधयिषामात्रं न पक्षता विनाऽपि सिषाधयिषां घनगर्जितेन मेघानुमानात् । अत एव साध्यसन्देहोऽपि न पक्षता विनाऽपि सन्देहं तदनुमानात् । सिद्धौ सत्यामपि सिषाधयिषासत्त्वेऽनुमितिर्भवत्येव । अतः सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वं सिद्धौ विशेषणम् । तथा च यत्र सिद्धिर्नास्ति तत्र सिषाधयिषायां सत्यामसत्यामपि पक्षता । यत्र च सिषाधयिषाऽस्ति तत्र सिद्धौ सत्यामसत्यामपि पक्षता । यत्र सिद्धिरस्ति सिषाधयिषा च नास्ति तत्र न पक्षता, सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धेः सत्त्वात् ।

आलोकः—व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्शः इति परामर्शलक्षणे उक्तं तत्र किं पक्षता ? इत्यपेक्षायामाह परममूले—**सिषाधयिषयेति**। यत्र सिषाधयिषया शून्या सिद्धिः न विद्यते स पक्षः तत्र वृत्तित्वज्ञानाद् अनुमितिः भवेत् इति। **यत्र** यस्मिन् पदार्थे। **सिषाधयिषया** साधयितुमिच्छा सिषाधयिषा अनुमित्सा तया। **शून्या** विरहिता। तदभावविशिष्टा। **सिद्धिः** साध्यनिश्चयः। **न**। **तिष्ठति** वर्तते। **सः** तादृशः अनुमित्सा भावविशिष्टसाध्यनिश्चयाभाववान्। **पक्षः** पक्षपदवाच्य इति। साध्यविशिष्टो धर्मो पक्ष इति न्यायसारकारः। सन्दिग्धसाध्यवान् पक्ष इत्यन्नम्भट्टः। **तत्र** पक्षे। हेतोः **वृत्तित्वज्ञानात्** वृत्तित्वस्य विद्यमानतायाः ज्ञानात्परामर्शात्मकादवबोधनात्। **अनुमितिः** अनुमा। **भवेत्** जायेतेति। यत्र हि पर्वतो वह्निमानिति प्रत्यक्षेण निश्चयो जायते तत्र निश्चयस्य प्रत्यक्षात्मकत्वात् अनुमितिर्नैव भवति। सत्यपि प्रत्यक्षनिश्चये यदि कश्चित् पर्वते वह्न्यनुमितिर्मे जायतामिति इच्छति तदा प्रत्यक्षादिनिश्चयसत्त्वेऽपि भवेदेवानुमितिः, न च भवति तत्र प्रत्यक्षादिनिश्चयो बाधकः, प्रतिबन्धिका तु सिषाधयिषाविरहविशिष्टा सिद्धिरेव।

मूले पक्षतानिरूपणे सङ्गतिप्रदर्शनपुरस्सरं कारिकाशयं विवृणोति—**पक्षेति**। **पक्षवृत्तित्वमित्यत्र** व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श इत्यत्र। **पक्षत्वं** पक्षता। **किं** किं स्वरूपम्। इत्यपेक्षायाम्। **तत्** पक्षस्वरूपम्। आह—**सिषाधयिषयेति**। **सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावः** सिषाधयिषायाः अनुमित्सायाः विरहोऽभावस्तेन विशिष्टा सम्पन्ना या सिद्धिर्निश्चयस्तस्या अभावः पक्षता। **तद्वान्** पक्षतावान्। **पक्षः** इत्यर्थ इति। तत्र प्राचामुक्तिं खण्डयति—**सिषाधयिषेति**। **सिषाधयिषामात्रम्** अनुमित्सामात्रम्। यथा केचिद् वदन्ति। **न नैव**। **पक्षता** पक्षवृत्तिर्धर्मः। **सिषाधयिषाम्** अनुमित्साम्। **विना**। **अपि**। **घनगर्जितेन** मेघनिर्घोषेण। **मेघानुमानात्** मेघस्यानुमितेः।

अयमाशयः—यदुच्यते सिषाधयिषामात्रं पक्षतेति तन्न। तथा मते 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यादिस्थले लक्षणसङ्गतावपि गगनं मेघवद् घनगर्जनादित्यादावव्याप्तिः। अत्र हि सिषाधयिषाया अभावेऽपि गृहाभ्यन्तरस्थस्य पुरुषस्य मेघगर्जनतो मेघानुमितेरप्रतिहतत्वमेवेति।

साध्यसन्देहः पक्षता इति वादिनां मतमपि दूषयति—**अत** इत्यादिना। **अत एव** सिषाधयिषां विनाऽपि अनुमितेः सत्त्वादेव। **साध्यसन्देहः** साध्यस्य वह्न्यादेः सन्देहः संशयः पर्वते वह्निर्वर्तते न वेत्यादिः। **अपि च**। **न नैव**। **पक्षता** पक्षवृत्तिर्धर्मः। **सन्देहं** संशयम्। **विना**। **अपि**। **तदनुमानात्** तस्य साध्यस्यानुमानात् यथा पूर्वोदाहरणे एवेति। तत्र साध्यरूपमेघासन्देहेऽपि तदनुमानसत्त्वात्।

सिषाधयिषाविषये विशेषमाह—**सिद्धावित्यादिना**। **सिद्धौ** साध्यवत्तानिश्चये चाक्षुषप्रत्यक्षेण। **सत्यां** सम्पन्नायाम्। **अपि च**। **सिषाधयिषासत्त्वे** अनुमितिर्मे भूयादिति अनुमित्सा सिषाधयिषा तस्याः सत्त्वे भावे। **अनुमितिरनुमा**। **भवति**। **एव**। यथा पर्वतो वह्निमान् इति चाक्षुषप्रत्यक्षे जातेऽपि यदि तत्र वह्निविषयकानुमितिर्मे जायतामिति इच्छायामुत्पन्नायां साध्यवत्तानिश्चयेनानुमितेः प्रतिबन्धेऽपि सिषाधयिषा-

जन्योत्तेजनया वह्नेरनुमितिज्ञानं भवत्येव। तेन न सिद्धिमात्रमनुमितेः प्रतिबन्धकमपितु सिषाधयिषाभावविशिष्टा सिद्धिरेव तत्प्रतिबन्धिका। अतः अस्माद्धेतोः। **सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वम्** अनुमित्साऽभावविशिष्टता। सिद्धौ साध्यनिश्चये। **विशेषणम्** इति। **तथा** एवमेव। **च**। **यत्र** साध्यविषये। **सिद्धिः** निश्चयः। **नास्ति**। **तत्र** तादृशस्थले। **सिषाधयिषायाम्** अनुमित्सायाम्। **सत्यां** वर्तमानायाम्। असत्याम् अविद्यमानायाम्। **अपि च**। **पक्षता**। **यत्र** पक्षे। **सिषाधयिषा** अनुमित्सा। अस्ति। **तत्र** तादृशस्थले। **सिद्धौ** साध्यनिश्चये। **सत्याम्**। **असत्याम्**। अपि। पक्षता। भवत्येव। पक्षान्तरे **यत्र**। **सिद्धिः** साध्यनिश्चयः। अस्ति। **सिषाधयिषा**। **च** तु। नास्ति। **तत्र** तादृशस्थले। **न**। **पक्षता** इति। तत्र **सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धेः** अनुमित्साभावविशिष्टसाध्यनिश्चयस्य। **सत्त्वाद्** भावादिति।

अत्र हि सिद्धिर्विशेष्या सिषाधयिषाविरहस्तद्विशेषणम्। विशिष्टाभावश्च त्रिविधः—विशेषणाभावप्रयुक्तः, विशेष्याभावप्रयुक्तः विशेषणविशेष्योभयाभावप्रयुक्तश्च। यत्र सिषाधयिषा सिद्धिश्चोभे तत्र सिषाधयिषाविरहरूपविशेषणाभावाद् विशेषणाभावप्रयुक्तो विशिष्टाभावः, यत्र तु सिषाधयिषा न वर्तते सिद्धिश्च नास्ति तत्र सिषाधयिषाविरहरूपविशेषणसत्त्वेऽपि सिद्धिरूपविशेष्याभावाद् विशेष्याभावप्रयुक्तो विशिष्टाभावः, यत्र तु सिषाधयिषाऽस्ति सिद्धिस्तु न तत्र सिषाधयिषाविरहरूपविशेषणसिद्धिरूपविशेष्योभयाभावाद् विशेषणविशेष्योभयाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावः। एतेषु हि पक्षता सम्पद्यते। अनुमितौ हि पक्षता कारणम्। सा च न सिषाधयिषा तथा सति तदभावस्थले 'गगनं मेघवत् मेघगर्जनात्' इत्यादौ मेघानुमितिर्न स्यात्। न च सा साध्यसन्देहस्तथा सत्यपि तत्रैवानुमितिर्न स्यात्। सा तु सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाव एव। पक्षतावान् पक्षः। अनुमितिज्ञाने सिषाधयिषा उत्तेजिका एवं सिषाधयिषाभावविशिष्टा सिद्धिः (न केवला सिद्धिः) प्रतिबन्धिका। प्रतिबन्धकसत्त्वेऽपि कार्यजनकत्वमुत्तेजकत्वं कार्यविघातकत्वं प्रतिबन्धकत्वम्।

अनुवाद—साधन (अनुमान) करने की इच्छा से शून्य सिद्धि जहाँ नहीं है, वह पक्ष कहलाता है। उसमें वृत्तित्व के ज्ञान से अनुमिति होती है।

'पक्षवृत्तित्व' में पक्षत्व क्या है? उसे कहते हैं—**सिषाधयिषयेति**। सिषाधयिषा (साध्य को साधन करने की इच्छा) के अभाव से विशिष्ट सिद्धि का अभाव पक्षता है और उससे (पक्षता से) युक्त पक्ष होता है, इसका ऐसा अर्थ है।

सिषाधयिषा मात्र पक्षता नहीं है, क्योंकि सिषाधयिषा के बिना भी बादल के गर्जन से मेघ का अनुमान होता है।

इसी कारण साध्य का संशय भी पक्षता नहीं है, क्योंकि सन्देह के बिना भी साध्य का अनुमान होता है।

सिद्धि अर्थात् साध्यनिश्चय के होने पर सिषाधयिषा के रहने पर भी अनुमिति होती है। इसी कारण सिषाधयिषा के अभाव से विशिष्ट सिद्धि में विशेषता है।

इसी तरह जहाँ सिद्धि नहीं है वहाँ सिषाधयिषा के रहने एवं न रहने पर भी पक्षता होती है। जहाँ सिषाधयिषा है वहाँ सिद्धि के रहने एवं न रहने पर भी पक्षता होती है। जहाँ सिद्धि है किन्तु सिषाधयिषा नहीं है वहाँ पक्षता नहीं होती, क्योंकि वैसे में सिषाधयिषा के विरह (अभाव) से विशिष्ट सिद्धि रहती है।

ननु यत्र परामर्शानन्तरं सिद्धिस्ततः सिषाधयिषा, तत्र सिषाधयिषाकाले परामर्शनाशान्नानुमितिः। यत्र सिद्धिपरामर्शसिषाधयिषाः क्रमेण भवन्ति तत्र सिषाधयिषाकाले सिद्धेर्नाशात् प्रतिबन्धकाभावादेवानुमितिः। यत्र सिषाधयिषासिद्धिपरामर्शाः सन्ति तत्र परामर्शकाले सिषाधयिषैव नास्ति। एवमन्यत्रापि सिद्धिकाले परामर्शकाले वा न सिषाधयिषा, योग्यविभुविशेषगुणानां यौगपद्यनिषेधात्, तत्कथं सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वं सिद्धेर्विशेषणमिति चेन्न, यत्र वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमानिति प्रत्यक्षं स्मरणं वा, ततः सिषाधयिषा तत्र पक्षतासम्पत्तये तद्विशेषणस्यावश्यकत्वात्।

आलोकः—सिषाधयिषाया उत्तेजकत्वमाशङ्क्य समाधत्ते—**नन्विति**। **ननु**। **यत्र**। **परामर्शानन्तरं** प्रथमं परामर्शस्ततः। **सिद्धिः** साध्यनिश्चयः। ततः तदनन्तरम्। **सिषाधयिषा** अनुमित्सा। **तत्र** तादृशस्थले। **सिषाधयिषाकाले** अनुमित्सावसरे। **परामर्शनाशात्** परामर्शाभावात्। **न**। **अनुमितिः** अनुमा। **यत्र**। **सिद्धिपरामर्शसिषाधयिषाः** सिद्धिः साध्यनिश्चयः परामर्शः व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः सिषाधयिषा अनुमित्सा च। **क्रमेण** एकमनु एकम्। **भवन्ति** सम्पद्यन्ते। **तत्र** तादृशस्थले। **सिषाधयिषाकाले** अनुमित्सावसरे। **सिद्धेः** साध्यनिश्चयस्य। **नाशात्** अभावात्। **प्रतिबन्धकाभावाद्** बाधकतत्त्वविरहात्। **एव** हि। **अनुमितिः** अनुमा। **यत्र** यस्मिन् स्थले। तु। **सिषाधयिषासिद्धिपरामर्शाः** अनुमित्सासाध्यनिश्चयपरामर्शाः। **सन्ति** सम्पद्यन्ते। **तत्र** तादृशस्थले। **परामर्शकाले** परामर्शावसरे। **सिषाधयिषा** अनुमित्सा। **एव** हि। **नास्ति** न भवति। **एवम्** इत्थम्। **अन्यत्र** स्थलान्तरे। अपि। **सिद्धिकाले** साध्यनिश्चयावसरे। **वा** अथवा। **परामर्शकाले**। **सिषाधयिषा** अनुमित्सा। **न** नैव भवति। **योग्यविभुविशेषगुणानां** योग्याः प्रत्यक्षयोग्याः ये विभूनां व्यापकानामात्माकाशानां विशेषगुणाः ज्ञानेच्छाशब्दादयस्तेषाम्। **यौगपद्यनिषेधाद्** यौगपद्यस्य एककालावच्छेदेनोत्पत्तेर्निषेधात् असम्भवात्। **तत्** तस्माद्धेतोः। **कथं** केन प्रकारेण। **सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वम्** अनुमित्साभावसंवलितत्वम्। **सिद्धेः** साध्यनिश्चयस्य। **विशेषणम्**। इति।

अयमाशयः—जन्यं हि ज्ञानं स्वोत्पत्तितृतीयक्षणे नश्यत्येव, यथा जन्यज्ञानस्य स्वभावः। यत्र परामर्शसिद्धिसिषाधयिषाः क्रमेण भवन्ति तत्र सिषाधयिषाकाले परामर्शरूपकारणनाशान्नानुमितिः। यत्र च सिषाधयिषासिद्धिपरामर्शानां क्रमेण भानस्तत्र परामर्शकाले सिषाधयिषानाशात्प्रतिबन्धकसद्भावेन नानुमितिः। यत्र तु सिद्धिपरामर्शसिषाधयिषाः क्रमेण भवन्ति तत्र सिषाधयिषाकाले सिद्धेरभावात्प्रतिबन्धकाभावेन अनुमितिरिति रीत्या भवत्येव कार्यनिर्वाहः। यदि नाम सिषाधयिषादिकमेककालावच्छेदेन

भवेत्तदाऽपि सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वं सिद्धेर्विशेषणं सङ्गच्छेतेकिन्तु न तथा, न ह्यात्मनो विशेषगुणा इच्छाज्ञानाद्या युगपद्भवन्त्यपितु भवन्ति ते क्रमेणेति नैयायिकनयः। अतः 'सिद्धयभावः पक्षता' इत्येतावदेव वक्तुं युक्तं, न तु सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वं सिद्धेर्विशेषणम्।

इति इत्थम्। **कथ्यते चेत्**। **न** नैव। **यत्र** यस्मिस्थले। **वह्निव्याप्यधूमवान्** वह्न्यविनाभावधूमयुक्तः। **पर्वतः**। **वह्निमान्**। **इति** इत्थम्। **प्रत्यक्षं** प्रत्यक्षज्ञानम्। **स्मरणं** स्मृतिः संस्कारजन्यज्ञानम्। **वा**। **ततः** प्रत्यक्षज्ञानानन्तरं स्मरणानन्तरम्। **वा**। **सिषाधयिषा** अनुमित्सा। **तत्र** तादृशस्थले। **पक्षतासम्पत्तये** पक्षतासिद्धये। **तद्विशेषणस्य** तस्याः सिषाधयिषाविरहविशिष्टेति सिद्धेर्विशेषणस्य। **आवश्यकत्वात्** अनिवार्यत्वात्।

अयमाशयः—यदि हि तादृशविशेषणस्योपादानं न क्रियते एवं सिद्धिमात्रस्य प्रतिबन्धकत्वं स्वीक्रियते तदा अनुमितीष्टसाधनताविषयके वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमान् इत्यादौ इष्टाऽप्यनुमितिर्न स्यात्, तत्र तथाविधायाः सिद्धेः सत्त्वात्। एतादृशस्थलेऽनुमितिस्तु निर्विवादैव। न चात्र केवलः सिद्धयभावो येनानुमितिरुद्भवेत्, किन्तु सिद्धयात्मकपरामर्शस्य विद्यमानता विशेषणग्रहणे तु सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धयभावरूपा पक्षता निराबाधेति। अतो हि तद्विशेषणमावश्यकं तथा सति सिषाधयिषाविरहविशिष्टा सिद्धिरेव प्रतिबन्धिका न सिद्धिमात्रं न च सिषाधयिषा सहकृता सिद्धिः प्रतिबन्धिकेति।

अनुवाद—यदि जहाँ परामर्श के बाद सिद्धि होती है और उसके बाद सिषाधयिषा, इस प्रकार के स्थान में सिषाधयिषा के अवसर में परामर्श के नाश हो जाने से (क्योंकि प्रत्येक जन्य ज्ञान अपनी उत्पत्ति के तीसरे क्षण में नाश होता है) अनुमिति नहीं हो पाती। जहाँ सिद्धि, परामर्श एवं सिषाधयिषा क्रम से (एक के बाद एक) होते हैं, वहाँ सिषाधयिषाकाल में सिद्धि का नाश होने से, प्रतिबन्धक का अभाव होने से ही अनुमिति हो पाती है। जहाँ सिषाधयिषा, सिद्धि एवं परामर्श हैं, वहाँ परामर्शकाल में सिषाधयिषा नहीं रहती। इसी तरह अन्यत्र भी सिद्धि काल में अथवा परामर्श काल में सिषाधयिषा नहीं रहती अर्थात् आत्मा आकाश आदि के जो ज्ञान, इच्छा, शब्द आदि योग्य गुण होते हैं उनका यौगपद्य अर्थात् एक काल में होना निषिद्ध है, तब कैसे यह कहा जाता है कि 'सिषाधयिषा के विरह से विशिष्टत्व सिद्धि का विशेषण है'। यदि ऐसा कहा जाता है तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमान्' ऐसा प्रत्यक्ष का स्मरण एवं उसके बाद सिषाधयिषा होती है, वहाँ पक्षता की सिद्धि के लिए सिद्धि का वैसा विशेषण आवश्यक होता है।

अत्रेदं बोध्यम्। यादृशयादृशसिषाधयिषासत्त्वे सिद्धिसत्त्वे यल्लिङ्गकानुमितिस्तादृशतादृशसिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धयभावस्तल्लिङ्गकानुमितौ पक्षता। तेन सिद्धिपरामर्शसत्त्वेऽपि यत्किञ्चिज्ज्ञानं जायतामितीच्छायामपि

नानुमितिः । वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमानिति प्रत्यक्षसत्त्वे प्रत्यक्षातिरिक्तं वह्निज्ञानं जायतामितीच्छायां तु भवत्येव । एवं धूमपरामर्शसत्त्वे आलोकेन वह्निमनुमियामितीच्छायामपि नानुमितिः ।

आलोकः—सिषाधयिषाविरहविशिष्टेति विशेषणस्वरूपं निर्दिशति—**अत्रेति** । **अत्र** प्रकरणेऽस्मिन् । **इदं** वक्ष्यमाणतथ्यम् । **बोध्यं** ज्ञेयम् । **यादृशयादृशसिषाधयिषासत्त्वे** यत्प्रकारकानुमित्साभावे । **सिद्धिसत्त्वे** साध्यनिश्चयसद्भावे । **यल्लिङ्गकानुमितिः** यद्धेतुकानुमा । **तादृशतादृशसिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावः** तद्विधानुमित्साभावसंवलितसिद्धेरभावः । **तल्लिङ्गकानुमितौ** तद्धेतुकानुमितौ । करणीभूता **पक्षता** । **तेन** हेतुना । **सिद्धिपरामर्शसत्त्वे** सिद्धेः साध्यनिश्चयस्य च परामर्शस्य व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वज्ञानस्य च **सत्त्वे** सद्भावे । **अपि च** । **यत्किञ्चिज्ज्ञानं जायतां** किमपि ज्ञानमस्तु । **इति** इत्थम् । **इच्छायां** वाञ्छायां सत्यामपि । **अपि च** । **न** नैव । **अनुमितिः** । **वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमान्** । **इति** इत्थम् । **प्रत्यक्षसत्त्वे** प्रत्यक्षज्ञाने । **प्रत्यक्षातिरिक्तं** प्रत्यक्षभिन्नम् । **ज्ञानम्** अवबोधः । **मे** । **जायतां** सम्पद्यताम् । **इति** इत्याकारायाम् । **इच्छायां** सिषाधयिषायाम् । **तु** तदतिरिक्तम् । **अनुमितिर्भवत्येव** । **एवम्** इत्थमेव । **धूमपरामर्शसत्त्वे** धूमपरामर्शस्य सत्त्वे भावे । **आलोकेन** प्रकाशेन । **वह्निम्** अग्निम् । **अनुमियाम्** अनुमितिविषयं कुर्याम् । **इति** । **इच्छायाम्** । **अपि च** । **न** । **अनुमितिः** अनुमा । इति ।

अयमाशयः—यत्र सिद्धिः परामर्शश्च तत्र यत्किञ्चिज्ज्ञानं मे जायतामित्याकारेच्छायामपि इच्छाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावेन अनुमितिर्भवेदेवेति चेन्न, यादृशसिषाधयिषासत्त्वे सिद्धिसत्त्वे यद्धेतुकानुमितिः प्रामाणिकी तादृशसिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावस्तद्धेतुकानुमितौ पक्षतेति न तु यस्याः कस्या अपीच्छायाः पक्षतालक्षणसङ्गतिरिति । सिषाधयिषाया आकारस्तु एतत्पक्षकैतत्साध्यैकतद्धेतुकानुमितिर्मे जायतामित्येव । अत्र अनुमितित्वं प्रकारः सिषाधयिषा च तत्प्रकारिकैव । अतः 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमान्' इति प्रत्यक्षसत्त्वे प्रत्यक्षातिरिक्तं ज्ञानं मे जायतामिति प्रत्यक्षातिरिक्तत्वप्रकारकसिषाधयिषासत्त्वेऽनुमितिः । एवं यल्लिङ्गकः परामर्शस्तल्लिङ्गिका सिषाधयिषा तल्लिङ्गकानुमितौ साधिकेति धूमलिङ्गकपरामर्शालोकलिङ्गकसिषाधयिषयोः सत्त्वे तु नानुमितिरिति ।

अनुवाद—इस प्रसङ्ग में यह जान लेना चाहिए कि जिस-जिस प्रकार की सिषाधयिषा के रहने पर सिद्धि की उपस्थिति में जिस लिङ्ग (हेतु) की अनुमिति होती है उस-उस प्रकार की सिषाधयिषा के अभाव से विशिष्ट सिद्धि का अभाव उस हेतुक अनुमिति में पक्षता होती है। इस कारण सिद्धि एवं परामर्श के रहने पर भी 'जो कुछ भी ज्ञान हो जाय' ऐसी इच्छा में भी अनुमिति नहीं होती। 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि में प्रत्यक्ष के रहने पर प्रत्यक्ष के अतिरिक्त ज्ञान हो, ऐसी इच्छा में भी अनुमिति होती है। इसी तरह धूमपरामर्श के रहने पर आलोक के द्वारा वह्नि का अनुमान करें, ऐसी इच्छा में भी अनुमिति नहीं होती।

सिषाधयिषाविरहकाले यादृशसिद्धिसत्त्वे नानुमितिस्तादृशी सिद्धिर्विशेष्यैव तत्तदनुमितौ प्रतिबन्धिका वक्तव्या। तेन पर्वतस्तेजस्वी पाषाणमयो वह्निमानिति ज्ञानसत्त्वेऽप्यनुमितेर्न विरोधः।

आलोकः—सिद्ध्यनुमित्योः प्रतिवध्यप्रतिबन्धकभावस्वरूपं निरूपयति—**सिषाधयिषेति। सिषाधयिषाविरहकाले** अनुमित्साभावसमये। **यादृशसिद्धिसत्त्वे** यत्प्रकारकसाध्यनिश्चयसद्भावे। **न। अनुमितिः** अनुमा। **तादृशी** तथाविधा। तद्रूपावच्छिन्ना सिद्धिः साध्यनिश्चयः। **विशेष्यैव** विशेषरूपा। पृथक्पृथगेव। **तत्तदनुमितौ सिद्धिः** तत्तत्साध्यकानुमितिव्यक्तौ। **प्रतिबन्धिका। वक्तव्या। अयम्भावः**—सिषाधयिषाऽभावक्षणे यद्रूपावच्छिन्ननिश्चयात्मकज्ञानसद्भावे नानुमा तद्रूपावच्छिन्ननिश्चयात्मकज्ञानमेव तत्तत्साध्यकानुमितौ प्रतिबन्धकं भवतीति। **तेन** हेतुना। **'पर्वतस्तेजस्वी पाषाणमयो वह्निमान्'। इति** इत्थम्। **ज्ञानसत्त्वे** धीसद्भावे। **अपि च। न। विरोधः** विसंवादितेति।

अयमाशयः—तद्विशेष्यकतत्प्रकारकानुमितिं प्रति तद्विशेष्यकतत्तत्प्रकारकसिद्धिज्ञानमेव प्रतिबन्धकं नान्यदिति 'पर्वतस्तेजस्वी, पाषाणमयो वह्निमानि'ति निश्चयात्मकज्ञानं नानुमितौ प्रतिबन्धकम्। यतो हि पर्वतो वह्निमानित्यादौ पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितवह्नित्वावच्छिन्नप्रकारताशालिनिश्चयत्वेन सिद्धिज्ञानमेवानुमितेः प्रतिबन्धकम्। पर्वतस्तेजस्वी इत्यत्र तु पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितमपि ज्ञानं वह्नित्वावच्छिन्नप्रकारताकं 'पाषाणमयो वह्निमान्' इत्यत्र वह्नित्वावच्छिन्नप्रकारताकमपि न पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितमपितु पाषाणमयत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितमिति।

अनुवाद—सिषाधयिषा के अभाव के क्षण में जिस प्रकार की सिद्धि के रहने पर अनुमिति नहीं होती, उसी प्रकार की सिद्धि विशेष रूप में उन-उन अनुमिति में प्रतिबन्धक होती है। इसी कारण 'पर्वतः तेजस्वी' 'पाषाणमयो वह्निमान्' इत्यादि ज्ञान होने पर भी अनुमिति का कोई विरोध नहीं है। (क्योंकि 'पर्वतो वह्निमान्' में पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितवह्नित्वावच्छिन्नप्रकारता युक्त निश्चय ही प्रतिबन्धक हो सकता है, जो कि दोनों में उससे भिन्न है। पहले में वह्नित्वावच्छिन्नप्रकारता से युक्त नहीं है और दूसरे में पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपित नहीं है।)

परन्तु पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धावपि तदवच्छेदेनानुमितिदर्शनात् पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनानुमितिं प्रति पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धिरेव प्रतिबन्धिका, पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येनानुमितिं प्रति तु सिद्धिमात्रं विरोधि।

आलोकः—सिद्ध्यनुमित्योः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावे विशेषं निरूपयति—**परन्त्विति। परन्तु** तथा सत्यपि। **पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन** पक्षतायाः पर्वतादिनिष्ठाया अवच्छेदकं निरूपकं यत्पर्वतत्वादि तस्य सामानाधिकरण्येन तदधिकरण-

यत्किञ्चित्पर्वतवृत्तित्वेन । **साध्यसिद्धौ** साध्यस्य वह्न्यादेः सिद्धौ ज्ञाने । **अपि च** । क्वचिदेकत्र सिद्धिमनुमाय । **तदवच्छेदेन** तस्य पर्वतत्वस्यावच्छेदेन पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनेति । यावत्पर्वतानुद्दिश्य सर्वेषु पर्वतेषु वह्निमत्त्वस्य । **अनुमितिदर्शनात्** अनुमालाभात् । **पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन** पर्वतत्वावच्छेदेन यावत्पर्वतवृत्तित्वेनेति । **अनुमितिम्** अनुमाम् । **प्रति** । **पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन** पर्वतत्वावच्छेदेन यावत्पर्वतवृत्तित्वेन । **साध्यसिद्धिः** साध्यनिर्णयः । **एव** हि । **प्रतिबन्धिका** निरोधिका । **पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन** यत्किञ्चित्पर्वतवृत्तित्वेन । **अनुमितिम्** । **प्रति** । **तु** तद्विपरीतम् । **सिद्धिमात्रं** पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन सिद्धिरेव । **विरोधि** प्रतिबन्धकमिति ।

अयमाशयः—अनुमितिर्द्विधा—पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन च । तत्र पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन याऽनुमितिस्तां प्रति पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यासिद्धिः प्रतिबन्धिका, किन्तु पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन याऽनुमितिस्तां प्रति पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन च साध्यसिद्धिः प्रतिबन्धिका भवतीति ।

अनुवाद—परन्तु पक्षतावच्छेदक (पर्वतत्व) सामानाधिकरण्य से साध्य की सिद्धि होने पर भी पक्षतावच्छेदक के अवच्छेद से अनुमिति पाई जाती है, अतः पक्षतावच्छेदकावच्छेद से अनुमिति के प्रति पक्षतावच्छेदकावच्छेद से साध्य की सिद्धि प्रतिबन्धक होती है और पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्य से होने वाली अनुमिति के प्रति तो सिद्धि मात्र विरोधी होती है ।

इदन्तु बोध्यम् । यत्रायं पुरुषो न वेति संशयानन्तरं पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयमिति ज्ञानं तत्रासत्यामनुमित्सायां पुरुषस्य प्रत्यक्षं भवति न त्वनुमितिरतोऽनुमित्साविरहविशिष्टसमानविषयकप्रत्यक्षसामग्री कामिनीजिज्ञासादिवत्स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धिका ।

एवं परामर्शानन्तरं विनाऽपि प्रत्यक्षेच्छां पक्षादेः प्रत्यक्षानुत्पत्तेः प्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्टानुमितिसामग्री भिन्नविषयकप्रत्यक्षे प्रतिबन्धिका ॥ ७० ॥

आलोकः—ननु पुरुषोऽयं न वेति संशयोत्तरं पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयमिति विशेषदर्शने पुरुषत्वविधेयकानुमितिः कथं न जायते, पुरुषत्वप्रत्यक्षसामग्रया इव पुरुषत्वानुमितिसामग्रया अपि सत्त्वादित्यत आह—**इदमित्यादिना** । **इदं** वक्ष्यमाणतथ्यम् । **तु** । **बोध्यम्** अवधेयम् । **यत्र** । **अयं पुरुषो न वा** पुरुषत्ववान् तदभाववान् वा । **इति** इत्थम् । **संशयानन्तरं** सन्देहे समुत्पन्ने, ततश्च सम्यक् चक्षुः सम्प्रयोगेण । **अयम्** एषः । **पुरुषत्वव्याप्यकरादिमान्** पुरुषत्वव्याप्यहस्तचरणादियुक्तः । **इति** इत्थम् । **ज्ञानम्** अवबोधः । **तत्र** तादृशस्थले । **अनुमित्सायाम्** अनुमानेच्छायाम् । **असत्याम्** अविद्यमानायाम् । **पुरुषस्य** । **प्रत्यक्षं** प्रत्यक्षात्मकमेव ज्ञानम् । **भवति** । **न** । **तु** । **अनुमितिः** अनुमा । (सत्यां त्वनुमित्सायां प्रत्यक्षं प्रबाध्य भवत्येवानुमितिः ।) **अतः** हेतोरस्मात् ।

अनुमित्साविरहविशिष्टसमानविषयकप्रत्यक्षसामग्री अनुमित्साविरहेण अनुमानेच्छाभावेन विशिष्टा संवलिता समानविषया उभयत्रान्यूनातिरिक्तविषया यद्विषयकानुमितिसामग्री तद्विषयिणीति परामर्शस्य ये विषयाः पुरुषत्वं तद्व्याप्यकरादयः पुरुषश्चेति त एव विषया विषया यस्यास्तादृशी चक्षुःसंयोगादिरूपा प्रत्यक्षसामग्री । **कामिनीजिज्ञासाविवत्** यथा स्त्रीकामिनः कामिनीविषयकजिज्ञासा सकलज्ञानप्रतिबन्धिका तथा । **स्वातन्त्र्येण** पक्षताकुक्षौ निवेशं विनैव । **अनुमितिं प्रति** । **प्रतिबन्धिका** निरोधिका । **भवतीति** । यथा हि कामिनो रमणीसङ्गमेच्छा इच्छान्तरस्य स्वभावेनैव प्रतिबन्धिका, तथैव अनुमित्साविरहविशिष्टा समानविषयाऽपि प्रत्यक्षसामग्री अनुमितिं प्रति स्वभावेनैव प्रतिबन्धिकेति । **एवम्** इत्यमेव । **परामर्शानन्तरं** 'वह्निव्याप्यधूमवान् अयं पर्वतः' इति परामर्शानन्तरम् । **प्रत्यक्षेच्छां** प्रत्यक्षज्ञानं मे जायतामितीच्छाम् । **विना** । **अपि** । **पक्षादेः** पक्षादिपक्षविषयस्य । **प्रत्यक्षानुत्पत्तेः** प्रत्यक्षज्ञानासम्भवात् । **प्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्टानुमितिसामग्री** प्रत्यक्षेच्छाशून्यसंवलितानुमासामग्री । **भिन्नविषयकप्रत्यक्षे** परामर्शस्य ये विषयाः वह्नितद्व्याप्यधूमपर्वतास्तेभ्यो भिन्नो न्यूनोऽतिरिक्तो वा पर्वत एव विषयो यस्य एतादृशप्रमात्मकप्रत्यक्षे । **प्रतिबन्धिका** । इति अर्थात् अनुमितिभिन्नविषयके प्रत्यक्षे प्रत्यक्षेच्छाभावविशिष्टानुमितिसामग्री प्रतिबन्धिका भवतीति ॥ ७० ॥

अनुवाद—यह तो समझ लेना चाहिए । जहाँ 'यह पुरुष है या नहीं' इस प्रकार के संशय के बाद यह पुरुषत्वव्याप्य हस्त आदि से युक्त है, ऐसा ज्ञान होता है वहाँ अनुमित्सा के न रहने पर पुरुष का प्रत्यक्ष होता है, न कि अनुमिति का । इस कारण अनुमित्सा के अभाव से विशिष्ट समान विषय वाली भी प्रत्यक्षसामग्री रमणीजिज्ञासा की तरह स्वतन्त्र रूप से (पक्षता-कुक्षि में आये बिना ही) प्रतिबन्धक होती है। (अनुमित्सा के रहने पर तो वैसे में प्रत्यक्ष को बाँध कर अनुमिति ही होती है ।) इसी प्रकार परामर्श के बाद प्रत्यक्षेच्छा के बिना भी पक्षादि के प्रत्यक्ष की उत्पत्ति न होने से प्रत्यक्षेच्छा के विरह से विशिष्ट अनुमिति की सामग्री अनुमिति से भिन्न विषय वाले प्रत्यक्ष में प्रतिबन्धक होती है ॥ ७० ॥

अनैकान्तो विरुद्धश्चाप्यसिद्धः प्रतिपक्षितः ।
कालात्ययापदिष्टश्च हेत्वाभासास्तु पञ्चधा ॥ ७१ ॥

हेतुप्रसङ्गाद्धेत्वाभासान् विभजते—अनैकान्त इति । तल्लक्षणं तु यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं तत्त्वम् । तथाहि व्यभिचारादिविषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वात्ते दोषाः । यद्विषयकत्वञ्च यादृशविशिष्टविषयकत्वं बोध्यम् । तेन बाधभ्रमस्यानुमितिविरोधित्वेऽपि न क्षतिः । तत्र पर्वतो वह्न्यभाववानिति विशिष्टस्याप्रसिद्धत्वान्न हेतुदोषः ।

आलोकः—अथ प्रसङ्गानुरोधेन हेत्वाभासानाह परममूले—**अनैकान्त** इति । अनैकान्तः विरुद्धः च अप्रसिद्धः प्रतिपक्षितः अपि कालात्ययापदिष्टः च हेत्वाभासाः तु

पञ्चधा इति । **अनैकान्तः** एकः साध्यमेव अन्तः नियामको यस्य एकान्तः साध्यनिरूपितव्याप्तिमान् तत्सम्बद्ध ऐकान्तः न ऐकान्तः अनैकान्तः साध्यनिरूपितव्याप्तिशून्यः साध्यनिरूपितव्याप्तिग्रहप्रतिबन्धकग्रहविषयविशिष्ट इति । तेन व्यभिचारीति । स त्रिविधः—साधारणोऽसाधारणोऽनुपसंहारी च । तत्र साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणः, यथा पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वादित्यादौ प्रमेयत्वस्य वह्न्यभाव वति ह्रदादावपि विद्यमानत्वात् । सर्वसमक्षविपक्षव्यावृत्तोऽसाधारणः, यथा शब्दो नित्यः शब्दत्वादित्यादौ शब्दत्वस्य सर्वविधनित्यानित्यव्यावृत्तिपुरस्सरं शब्दमात्रवृत्तित्वात् । अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी, यथा सर्वमनित्यं प्रमेयत्वादित्यादौ सर्वस्यैव प्रमेयत्वेन पक्षत्वाद् दृष्टान्ताभावात् । **विरुद्धः** साध्याभावव्याप्तत्वं विरोधः तद्वान् विरुद्धः साध्याभावव्याप्यः । यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादित्यादौ कृतकत्वस्य नित्यत्वाभावेनानित्यत्वेन व्याप्तत्वात् । **असिद्धः** प्रमात्मकसिद्ध्यविषयः आश्रयासिद्धाद्यन्यतमत्वमसिद्धत्वम् । सोऽपि त्रिविधः—आश्रयस्वरूपव्याप्यत्वासिद्धभेदात् । आद्यो यथा 'गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वादि'त्यादौ आश्रयस्य गगनारविन्दस्यासिद्धिरभावात् । शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वादित्यादौ स्वरूपासिद्धत्वं शब्दे श्रावणत्वेन चाक्षुषत्वाभावात् । अपरस्तु सोपाधिकः, उपाधिस्तु व्यापकत्वे सति साधनाव्यापकः । **प्रतिपक्षितः** प्रतिपक्षः सञ्जातोऽस्येति । स एव सत्प्रतिपक्षः सन् विद्यमानः प्रतिपक्षो यस्येति सन्निति स्वसाध्यस्याभावसाधकत्वेन वर्तमानः प्रतिपक्षः शत्रुरूपो हेतुर्यस्येति । साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य स सत्प्रतिपक्षः । अयमेव प्रकरणसमोऽपि । यथा शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद् घटवदिति । **कालात्ययापदिष्टः** यस्मिन् काले पक्षे साध्यं वर्तते स साध्यस्य कालः, यस्मिन् काले साध्यं नोत्पन्नं नष्टं वा स साध्यकालस्य अत्ययः, साध्यस्य कालेऽत्यये सति अपदिष्टः प्रयुक्तः कालात्ययापदिष्टः, स एव बाधितो यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः । यथा उत्पत्तिकालीनघटो गन्धवान् पृथिवीत्वात् इत्यादौ वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वादित्यादौ वा । च इति । **हेत्वाभासाः** हेतुवदाभासन्त इति हेत्वाभासाः असद्धेतवः । उपदर्शितरूपाणां मध्ये कतिपयरूपोपपन्नत्वाद्धेतुवदाभासते इति हेत्वाभासस्य रहस्यम् । अहेतुर्दुष्टहेतुर्वा हेत्वाभासः । **पञ्चधा** पञ्चविधाः भवन्तीति ।

सङ्गतिनिर्देशपुरस्सरं कारिकाशयं विवृणोति—हेत्विति । **हेतुप्रसङ्गात्** हेतोः सद्धेतोः प्रसङ्गात्सङ्गतितः असद्धेतोरपि हेतुनिष्ठव्याप्तिपक्षधर्मताविरहवत्वसम्बन्धेन स्मरणात् स्मृतस्य चोपेक्षानर्हत्वात् । **हेत्वाभासान्** सद्धेतवो व्याप्त्यादिविशिष्टहेतवस्ते च केवलान्वयि-केवलव्यतिरेकि-अन्वयव्यतिरेकिभेदात्मकाः तत्रान्वयमात्रव्याप्तिकः केवलान्वयी, यथा 'घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्' इत्यादौ सर्वस्य प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्न व्यतिरेकव्याप्तिः । व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकः केवलव्यतिरेकी, यथा 'पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्' इत्यादौ यद्गन्धवत्तदितरभिन्नमिति नान्वयदृष्टान्तः, पृथिवीमात्रस्य पक्षत्वात् । यत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्याप्तिमान् सोऽन्वयव्यतिरेकी । यथा 'यत्र वह्निस्तत्र धूमो यथा महानस' इति अन्वयव्याप्तिः, यत्र 'वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा महाह्रद' इति व्यतिरेकव्याप्तिः । तेषामाभासाः दोषाः

कतिपयरूपोपपन्नत्वात्तथा प्रतीतिमन्तः तान् । दोषाश्च व्यभिचार-विरोध-सत्प्रतिपक्ष-असिद्धि-बाधाः तैर्विशिष्टा हेत्वाभासा इति तेऽपि पञ्चैव—सव्यभिचारी (अनैकान्तिकः), विरुद्धः, सत्प्रतिपक्षः, असिद्धः बाधितश्चेति । **विभजते** विभागशो वक्ति । **अनैकान्त** इति । लक्षणात्मकसाधारणधर्मे ज्ञाते एव विशेषे जिज्ञासा भवतीत्यतो दोषसामान्यलक्षण-माह—**तदिति । तल्लक्षणं** तस्य हेत्वाभाससामान्यस्य लक्षणं स्वरूपम् । **तु** हि । **यद्विषय-कत्वेन** यद्विषयसम्बद्धत्वेन, अत्र तृतीयार्थोऽवच्छिन्नत्वमिति तेन यद्विषयकत्वावच्छिन्न-मिति । **ज्ञानस्य** । अत्र षष्ठ्यर्थो वर्तमानत्वम् । **अनुमितिविरोधित्वम्** अनुमितिं 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याद्यनुमां प्रति विरोधित्वं प्रतिबन्धकत्वम् । तत्त्वं दोषत्वमिति । यद्विषयकं ज्ञानमनुमितिप्रतिबन्धकं तत्त्वं दोषत्वमिति । अथवा यद्विषयकत्वावच्छिन्ना ज्ञाननिष्ठा अनुमितिप्रतिबन्धकता तत्त्वं हेत्वाभासत्वमिति । यथा 'पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्' इत्यादौ प्रमेयत्वहेतोर्व्यभिचारित्वज्ञानस्य 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यनुमितिम्प्रति प्रति-बन्धकत्वमेव हेत्वाभासत्वमिति । तदेव स्पष्टीकरोति—**तथा** हीति । **तथा हि । व्यभि-चारादिविषयकत्वेन** व्यभिचारोऽनैकान्तता आदिपदाद् विरोधासिद्धिसत्प्रतिपक्षबाधादीनां ग्रहणं तद्विषयकत्वेन । व्यभिचारादिदोषान्यतमविषयकत्वावच्छिन्नस्येति । **ज्ञानस्य । अनुमितिविरोधित्वात्** अनुमा-तत्करणान्यतरप्रतिबन्धकत्वात् । **ते** अनैकान्तादिहेत्वा-भासादयः । **दोषाः** दुष्टहेतवः अहेतवो वा । **यद्विषयकत्वं** दोषलक्षणे यद्विषयकत्वेनेति पदे यद्विषयकत्वम् । **च** हि । **यादृशविशिष्टविषयकत्वं** यद्रूपावच्छिन्नविषयकत्वम् । **तेन** यद्रूपावच्छिन्नदोषनिष्ठविषयतानिरूपितविषयित्वग्रहणेन यः पक्षः साध्याभावविशिष्टो भवति तादृशबाधस्यैव ग्रहणात् । **बाधभ्रमस्य** पक्षविशेष्यकसाध्याभावप्रकारकबाध-भ्रमस्य । **अनुमितिविरोधित्वे** अनुमानिष्ठप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतावत्वे । **अपि** च । **न** । **क्षतिः** साध्याभाववत्पक्षस्य दोषत्वापत्त्या हेतोर्दुष्टत्वापत्तिरिति । **तत्र** पक्ष-विशेष्यकसाध्याभावप्रकारकभ्रमस्थले । **पर्वतो वह्न्यभाववान् इति । विशिष्टस्य** साध्याभावविशिष्टपक्षस्य अर्थाद् वह्न्यभावविशिष्टपर्वतस्य । **अप्रसिद्धत्वात्** यादृश-विशिष्टविषयकपदेन बाधभ्रमस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात् । **न** । **हेतुदोषः** हेतोर्दुष्टत्वं नेति । यावत्कालं भ्रमस्तावदनुमितिप्रतिबन्धमात्रं, नष्टे तु भ्रमे तद्भाव एवेत्याशयः ।

अयम्भावः—यद्यपि सव्यभिचारदोषो व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकः, एवं विरोधदोषः परामर्शस्य, तथैवासिद्धिरपि न त्वनुमितेस्तथापि अनुमितिपदस्यात्राजहत्स्वार्थलक्षणया अनुमितितत्कारणान्यतरपरकत्वेन ग्रहणान्न दोषः । तथा च यद्विषयकत्वेनेति व्यभि-चारादिविषयकत्वेन वह्निर्धूमव्यभिचारी इत्यादि ज्ञानस्यानुमितिप्रतिबन्धकताऽस्ति तेन व्यभिचारादयो दोषाः । लक्षणघटकस्य यद्विषयकपदस्य यादृशविशिष्टविषयकमित्यर्थः, तच्च यद्रूपावच्छिन्नविषयकमिति । एवं च 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यादिसद्धेतुस्थले नाति-व्याप्तिः । यद्यपि वह्न्यभावप्रकारकपर्वतविशेष्यकत्वेन 'पर्वतो वह्न्यभाववान्' इत्या-कारकज्ञानस्य 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारकानुमितिं प्रति विरोधिताऽस्ति, तस्मात्तद्विषये वह्न्यभावादावतिव्याप्तिः समागता, तथापि यद्विषयकपदस्य यादृशविशिष्टविषयकार्थ-ग्रहणेन प्रकृते वह्न्यभावविशिष्टपर्वतस्य ग्रहणात्तस्य चाप्रसिद्धत्वान्नास्त्यतिव्याप्तिः ।

वाधस्तु पक्षे वास्तवरीत्या साध्याभावसत्त्वे एव नेतरत्र, प्रकृते तु पक्षे साध्याभावस्य भ्रम एवास्ति। भ्रमस्तु यावत्कालं तिष्ठति तावत्कालमेव प्रतिबन्धको भवति, नष्टे तु भ्रमेऽनुमितिर्भवत्येव। अतः प्रकृतहेतुर्नैव दुष्ट इति।

अनुवाद—अनैकान्त, विरुद्ध, असिद्ध, प्रतिपक्षित एवं कालात्ययापदिष्ट—इस प्रकार हेत्वाभास पाँच प्रकार के होते हैं। (जो केवल हेतु जैसे लगते हैं, लेकिन हेतु नहीं होते, वे हेत्वाभास हैं।)

हेतु के प्रसङ्ग से हेत्वाभासों का विभाग करते हैं—**अनैकान्त** इति। उसका लक्षण तो जिस विषयक के रूप में ज्ञान का अनुमिति का विरोधित्व है, वही होना है। जैसे कि व्यभिचार आदि (व्यभिचार, विरोध, असिद्धि, सत्प्रतिपक्ष, बाधा) विषयक के रूप में ज्ञान का अनुमिति का प्रतिबन्धक होने से ये व्यभिचार आदि दोष हैं। यद्विषयकत्व अर्थात् जिस विषयक के रूप में भी जिस रूप से विशिष्ट विषयक होना है, इस कारण बाधभ्रम के अनुमितिविरोधित्व में भी कोई हानि नहीं है, अर्थात् कोई हेतु दुष्ट नहीं होता। उसमें 'पर्वतो वह्न्यभाववान्' ऐसे विशिष्ट की अप्रसिद्धि होने से हेतुदोष नहीं होता।

न च वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्वान् पर्वत इति परामर्शकाले वह्निव्याप्यधूमस्याभासत्वं न स्यात्, तत्र वह्न्यभावव्याप्यवान् पक्ष इति विशिष्टस्याप्रसिद्धत्वादिति वाच्यमिष्टापत्तेः। अन्यथा बाधस्यानित्यदोषत्वापत्तेः तस्मात्तत्र वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववानिति परामर्शकाले वह्निव्याप्यधूमस्य नाभासत्वं, भ्रमादनुमितिप्रतिबन्धकमात्रं, हेतुस्तु न दुष्टः। इत्यञ्च साध्याभाववद्वृत्तिहेत्वादिकं दोषः, तद्वत्त्वञ्च हेतौ येन केनापि सम्बन्धेनेति नव्याः।

आलोकः—सत्प्रतिपक्षस्यानित्यदोषत्वमाशङ्क्य समाधत्ते—**न चेति**। न नैव। **च** हि। **वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान् पर्वतः। इति। परामर्शकाले** ज्ञानावसरे सत्प्रतिपक्षभ्रमदशायामिति। **वह्निव्याप्यधूमस्य** सद्धेतोः। **आभासत्वं** दोषत्वं सत्प्रतिपक्षत्वम्। **न। स्यात्। वह्न्यभावव्याप्यवान् पक्षः इति। विशिष्टस्य** पाषाणमयत्वे वह्न्यभावव्याप्यताविशिष्टत्वस्य। **अप्रसिद्धत्वात्** तदाश्रयदोषस्याप्यप्रसिद्धत्वमिति। **इति। वाच्यम्। इष्टापत्तेः** सद्धेतूनां प्रतिपरामर्शभ्रमेऽपि दुष्टत्वापत्तेस्तथाविधस्थले दोषत्वागमनमिष्टमेवेति।

अयमाशयः—यत्र पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यत्र धूमहेतुना वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इति परामर्शो जातस्तत्रैव तदानीमेव वह्न्यभावपाषाणमयत्ववान् पर्वत इति परामर्शभ्रमो जातः। तत्र परामर्शभ्रमात्मकसत्प्रतिपक्षेण प्रथमपरामर्शविषयहेतोर्धूमस्य यत्सत्प्रतिपक्षत्वं युक्तं तन्न स्यात्, यादृशविशिष्टविषयकत्वार्थग्रहणे पाषाणमयत्वे वह्न्यभावव्याप्यताविशिष्टवत्त्वस्याप्रसिद्धत्वात्तदाश्रयदोषस्याप्यप्रसिद्धेरिति अर्थात् पाषाणमयत्वहेतोर्वह्न्यभावनिरूपिता व्याप्यता नास्ति ततो धूमो हेत्वाभासो नैव भवितुमुचित इति चेदुच्यते तदिष्टमेव नः। विरोधिहेतुसत्त्वेऽपि धूमादिसद्धेतुषु न हेत्वाभासव्यवहार इति।

अतथास्वीकारे दोषमाह—**अन्यथेति** । **अन्यथा** तादृशस्थले अनिष्टापत्तौ । प्रतिबन्धकीभूतभ्रमविषयस्यापि दोषत्वेन स्वीकारे । **बाधस्य** बाधदोषस्य । पक्षे साध्याभावस्य भ्रमेण पर्वतो वह्न्यभाववानिति बाधस्यापि । **अनित्यदोषत्वापत्तेः** अविशिष्टस्थलेऽपि सद्धेतौ अयं बाधित इति व्यवहारप्रवर्तकत्वापत्तेरिति । यद्वा वह्निव्याप्यधूमस्याप्याभासत्वस्वीकारे बाधोऽप्यनित्यदोषः स्यात्कादाचित्कत्वेनेति । **तस्माद्** बाधस्यानित्यदोषत्वापत्तिर्न स्यादिति । **तत्र** धूमात्मकसद्धेतुस्थले । **वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान्** । **इति** इत्थम् । **परामर्शकाले** ज्ञानावसरे । द्वितीयक्षणे इति । **वह्निव्याप्यधूमस्य** सद्धेतोः । **न** । **आभासत्वं** दुष्टत्वम् । किन्तु **भ्रमाद्** वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववानिति परामर्शभ्रमात् । **अनुमितिप्रतिबन्धमात्रं** पर्वतो वह्निमानिति अनुमाप्रतिबन्धमात्रम् । **हेतुः** । **तु** । **न दुष्टः** सत्प्रतिपक्षित इति प्रतिपरामर्शभ्रमनाशे सति अनुमितेरुत्पत्तेरिति । अतो हि पक्षे साध्याभावस्य भ्रमेण हेतुर्न दुष्यति । इत्थं यादृशविशिष्टविषयकत्वेन ज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वं तादृशविशिष्टस्य दोषत्वमिति स्वीकारेण । **च** हि । **साध्याभाववद्वृत्तिहेत्वादिकं** साध्यस्य अभावो यत्र साध्याभाववान् पक्षः, तत्र साध्याभाववति वृत्तिर्निष्ठा यस्य तादृशो यो हेतुः आदिपदात् साध्याभावविशिष्टः पक्षोऽपि । **दोषः** व्यभिचारदोषः । **तद्वत्त्वं** हेतौ तादृशविशिष्टदोषवत्त्वम् । **च** । **येन केनाऽपि सम्बन्धेन** यत्र यः सम्बन्धः प्रसिद्ध्यति तेन सम्बन्धेन । **इति** । **नव्याः** आधुनिकाः ।

अस्यायमाशयः—एतादृशदोषवत्ता हि व्यभिचारादिस्थले तादात्म्यसम्बन्धेन बाधादिस्थले साध्याभाववान् पक्षो हेतुश्चेतिप्रकारकैकज्ञानविषयत्वेन सम्बन्धेन ज्ञेयेति नव्यनैयायिकानां मतं, तन्मते हेतुवदाभासन्त इति हेत्वाभासाः इति हेत्वाभासपदं दुष्टहेतुपरमेवेति विस्तरोऽन्यत्र ।

अनुवाद—न तो 'वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान्' ऐसे परामर्शकाल में वह्नि से व्याप्य धूम का आभासत्व (दोषत्व) न होगा, क्योंकि उसमें 'वह्न्यभावव्याप्ययुक्त पक्ष' ऐसे विशिष्ट की प्रसिद्धि नहीं है, ऐसा कहना उचित है । अर्थात् यद्विषयकत्व का अर्थ यादृशविशिष्टविषयकत्व करने पर 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' ऐसे ज्ञान के साथ-साथ 'वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान् पर्वत' ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान होने पर बाध के रहते हुए भी वह्निव्याप्य धूम का आभासत्व न होगा, क्योंकि 'वह्न्यभावव्याप्यवान् पक्ष' ऐसा प्रसिद्ध नहीं है । क्योंकि यह तो अभीष्ट ही है । अर्थात् वैसे में हेतु की सत्प्रतिपक्षता अभीष्ट भी नहीं है । वैसा होने पर तो बाध में भी अनित्य दोष आ जायेगा । इस कारण उसमें 'वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान्' ऐसे परामर्श काल में वह्निव्याप्य धूम का दुष्टत्व नहीं होता । उसमें केवल भ्रम से अनुमिति की प्रतिबन्धकता होती है, हेतु तो दुष्ट नहीं होता । इस प्रकार साध्याभाव से युक्त में वृत्ति वाले हेतु एवं साध्याभावविशिष्ट पक्ष भी दुष्ट होता है और दोष से युक्त होना भी हेतु में जिस किसी सम्बन्ध से हेतु में दोष का रहना ही है, ऐसा नव्यनैयायिक मानते हैं ।

परे तु यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं तद्वत्त्वं हेत्वाभासत्वम् । सत्प्रतिपक्षे विरोधिव्याप्त्यादिकमेव तथा । तद्वत्त्वञ्च हेतोर्ज्ञानरूपसम्बन्धेन ।

न चैवं वह्निमान् धूमादित्यादौ पक्षे बाधभ्रमस्य साध्याभावविषयकत्वेनानुमितिविरोधित्वाज्ज्ञानरूपसम्बन्धेन तद्वत्त्वस्यापि सत्त्वात्सद्धेतोरपि बाधितत्वापत्तिरिति वाच्यं, तत्र ज्ञानस्य सम्बन्धत्वाकल्पनात्। अत्र सत्प्रतिपक्षित इति व्यवहारेण तत्कल्पनात्। तत्र बाधित इति व्यवहाराभावादित्याहुः। अनुमितिविरोधित्वञ्च अनुमितितत्करणान्यतरविरोधित्वं, तेन व्यभिचारिणि नाव्याप्तिः। दोषज्ञानञ्च यद्धेतुविषयकं तद्धेतुकानुमितौ प्रतिबन्धकम्। तेनैकहेतौ व्यभिचारग्रहे हेत्वन्तरेणानुमित्युत्पत्तेस्तदभावाद्यनवगाहित्वाच्च व्यभिचारज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वाभावेऽपि न क्षतिरिति सङ्क्षेपः। यादृशपक्षसाध्यहेतौ यावन्तो दोषास्तावदन्यान्यत्वं तत्र हेत्वाभासत्वम्। पञ्चत्वकथनं तु तत्सम्भवस्थलाभिप्रायेण।

आलोकः—सत्प्रतिपक्षस्यानित्यदोषत्ववादिनां प्राचां मतमुद्धरति—**परे त्विति**। **परे** अन्ये सत्प्रतिपक्षस्यानित्यदोषत्ववादिनः। **तु** तद्विलक्षणम्। यन्मते हेतुवदाभासन्त इति हेत्वाभासा इति हेत्वाभासपदं व्यभिचारादिदोषपरं दोषवत्ता च सर्वत्रैव एकज्ञानविषयत्वसम्बन्धेनेति ते हि। अस्य आहुरित्यनेन सम्बन्धः। **यद्विषयकत्वेन** यद्विषयसम्बद्धत्वेन। **ज्ञानस्य। अनुमितिविरोधित्वम्** अनुमाप्रतिबन्धकत्वम्। **तद्वत्त्वं** तद्युक्तत्वम्। **हेत्वाभासत्वम्** इति। यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं तद् दोषत्वं तादृशदोषवत्त्वं हेत्वाभासत्वमिति अर्थाद् व्यभिचारादिदोषवत्सु हेतुषु साध्यव्याप्त्यभाववान् पक्षो हेतुश्चेत्याकारकैकज्ञानविषयत्वसम्बन्धेन हेत्वाभासपदव्यवहार इति। **सत्प्रतिपक्षे** सत्प्रतिपक्षादिस्थले। **विरोधिव्याप्त्यादिकं** साध्याभावव्याप्तिविरोधिपरामर्शो वा। **तथा दोष इति। एव** इति एवकारेण तादृशव्याप्तिविशिष्टहेतोः क्वचित्तादृशदोषविशिष्टपक्षस्य चाप्रसिद्धत्वेऽपि न क्षतिः एकदेशस्यापि दोषत्वे बाधकाभावात् सत्प्रतिपक्षस्यानित्यदोषत्वात् तत्र धूमे दुष्टत्वस्येष्टत्वादित्यर्थः। **तद्वत्त्वं** दोषवत्त्वम्। **च** तु। **हेतोः। ज्ञानरूपसम्बन्धेन** स्वविषयकज्ञानविषयप्रकृतहेतुनावच्छेदकत्वसम्बन्धेन। **न** नैव। **च** हि। **एवं** लक्षणे यादृशविशिष्टविषयकत्वस्याग्रहणेन स्वरूपसम्बन्धरूपावच्छेदकतायाः प्रवेशे एकज्ञानविषयत्वसम्बन्धेन च दोषवत्तास्वीकारे। **'वह्निमान् धूमात्' इत्यादौ** पर्वते वह्निसत्त्वेऽपि कस्यचिज्जायमानस्य **पक्षे** पर्वतादौ। **बाधभ्रमस्य** वह्न्यभाववान् पर्वत इति बाधभ्रमस्य। **साध्याभावविषयकत्वेन** साध्योऽत्र वह्निस्तदभावविषयकत्वेन। **अनुमितिविरोधित्वात्** पर्वतो वह्निमानित्यनुमाप्रतिबन्धकतया। **ज्ञानरूपसम्बन्धेन** भ्रमात्मकैकज्ञानविषयत्वसम्बन्धेन। **तद्वत्त्वस्य** वह्न्यभाववत्त्वस्य। **अपि** च। **सत्त्वाद्** भावात्। **सद्धेतोः** धूमस्य। **अपि** च। **बाधितत्वापत्तिः** बाधितत्वम्। **इति** इत्थम्। **वाच्यं** कथनीयम्। **तत्र** बाधकालीनधूमादिसद्धेतौ। **ज्ञानस्य** स्वविषयकज्ञानविषयप्रकृतहेतुतावच्छेदकत्वात्मकस्य। **सम्बन्धत्वाकल्पनात्** सम्बन्धकताकल्पनाभावात्। **अत्र** प्रतिपरामर्शकालीनधूमादिसद्धेतौ। **सत्प्रतिपक्षित** अयं हेतुः सत्प्रतिपक्षितः। **इति** इत्थम्। **व्यवहारेण** अनुभवसत्त्वेन। **तत्कल्पनात्** तस्य हेतोः कल्पनात् अर्थाद् व्यवहारविषयप्रकृत-

हेतुतावच्छेदकतत्त्वात्मकसम्बन्धकल्पनात् । तत्र बाधभ्रमकालीने सद्धेतौ धूमे । तु । बाधितः अयं बाधितः । इति इत्थम् । व्यवहाराभावाद् हेतुर्बाधित इति व्यवहारासत्त्वात्प्रत्युत पुरुष एव भ्रान्त इति व्यवहारात् । इति इत्थम् । आहुः कथयन्ति ।

अयमाशयः—येषां मते सत्प्रतिपक्षादिदोषाणामनित्यत्वं तेषां मते हेत्वाभासशब्दो दोषपरः । दोषवत्ता तु हेतौ एकज्ञानविषयत्वसम्बन्धेन सर्वत्र तिष्ठति । तन्मते यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वमिति लक्षणं दोषाणामेव । तथाविधदोषवत्तु एकज्ञानविषयत्वसम्बन्धेन हेत्वाभासव्यवहारः । सत्प्रतिपक्षादिस्थले विरोधिव्याप्त्यादिकमेव दोषरूपेण गृह्यते । तादृशदोषवत्ता हेतौ अयं विरुद्धव्याप्तिविशिष्टो हेतुरित्याकारकैकज्ञानविषयत्वसम्बन्धेन । न चैवं रीत्या सत्प्रतिपक्षस्यानित्यत्वेन बाधस्याप्यनित्यता वाच्या, यद्यपि वह्निमान् धूमादित्यादिसद्धेतौ पक्षे साध्याभावस्याभावेन बाधो नास्ति तथापि पर्वतो वह्न्यभाववानित्याकारकबाधभ्रमः सम्भवति । स एव साध्याभावविषयकत्वेन पर्वतो वह्निमानित्याकारकानुमितेर्विरोधी मतेऽस्मिन् यद्विषयकत्वेनेत्यस्य यत्प्रकारकत्वेनेत्यर्थकतया यत्पदेन वह्न्यभावस्य ग्रहणात्तद्वत्त्वं वह्न्यभावो धूमश्च इत्याकारकैकज्ञानविषयत्वेन धूमरूपहेताविति सद्धेतोरपि बाधितत्वापत्तिरिति चेन्न, तत्र बाधकालीनधूमादिसद्धेतौ एकज्ञानविषयत्वरूपसम्बन्धस्य कल्पनाऽपि न सद्धेतौ 'अयं हेतुर्बाधितः' इति व्यवहाराभावात् । प्रतिपरामर्शकालीनधूमादिसद्धेतौ 'अयं हेतुः सत्प्रतिपक्षितः' इत्याकारकव्यवहारेणोक्तरीत्या ज्ञाने सम्बन्धत्वकल्पना भविष्यति । तेन सत्प्रतिपक्षस्यानित्यदोषत्वस्वीकारे न दोष इति । आहुरित्यनेनास्वरसः सूचितः ।

नन्वनुमितिविरोधित्वं तु साक्षाद् बाधादेरेव व्यभिचारादिना तु साध्याभाववद्वृत्तित्वादिरूपेण व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्ध एव क्रियते, कथं तत्रानुमितिविरोधित्वहेत्वाभासत्वमित्याशङ्कायामाह—**अनुमितिविरोधित्वमिति** । **अनुमितिविरोधित्वं** लक्षणघटके ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वमित्यत्रानुमितिविरोधित्वपदम् । **अनुमितितत्करणान्यतरविरोधित्वम्** अनुमितेरनुमायास्तत्करणान्यतरस्य तस्या अनुमितेः कारणानि पक्षसाध्यहेतवस्तेष्वेकस्य विरोधित्वं प्रतिबन्धकत्वम् । **तेन** यादृशविशिष्टविषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितितत्करणान्यतरविरोधित्वं तत्त्वं हेत्वाभासत्वमिति स्वीकरणेन । **व्यभिचारिणि** व्यभिचारस्थलाय हेतौ पर्वतो धूमवान् वह्नेरित्यत्र धूमवदन्यवृत्तित्ववति वह्नौ । **न** । **अव्याप्तिः** नागमनम् । **दोषज्ञानं** व्यभिचारादिदोषज्ञानम् । **च** । **यद्धेतुविषयकं** यादृशहेतुसम्बद्धं स्वविषयकज्ञानविषयप्रकृतहेतुतावच्छेदकवत्त्वसम्बन्धेन यद्धेतुमाश्रित्य दोषो भवति । **तद्धेतुकानुमितौ** तथाविधहेतुभूतानुमायाम् । **प्रतिबन्धकम्** निरोधकम् । **तेन** यद्धेत्वादिघटितलक्षणकरणेन । **एकहेतौ** प्रमेयत्वादिहेतौ । **व्यभिचारग्रहे** दोषापत्तौ । **हेत्वन्तरेण** धूमादिनाऽन्येन हेतुना । **अनुमित्युत्पत्तेः** अनुमासम्भवात् । **तदभावाद्यनवगाहित्वात्** साध्या(ग्राह्या)भावाद्यनवगाहित्वात् । **च** । **व्यभिचारज्ञानस्य** व्यभिचारदोषज्ञानस्य । **अनुमितिविरोधित्वाभावे** अनुमितिप्रतिबन्धकताविरहे । **अपि च** बाधादिदोषाणां साक्षादनुमितिप्रतिबन्धकत्वाद् व्यभिचारस्य त्वतथात्वात् । **न** । **क्षतिः** हेत्वाभाससामान्यलक्षणस्य धूमवान् वह्नेरित्यादौ नाव्याप्तिरपितु व्याप्तिरेवेति । **सङ्क्षेपः**

सारं विस्तरस्तु आकरग्रन्थेषु द्रष्टव्यमिति । निष्कर्षमाह--**यादृशेति** । **यादृशपक्षसाध्यहेतौ** यद्रूपे पक्षे साध्ये हेतौ च । **यावन्तः** यावद्विधाः । **दोषाः** । **तावत्** तावत्सङ्ख्याकम् । **अन्यान्यत्वं** भिन्नभिन्नत्वम् । **तत्र** । **हेत्वाभासत्वं** यत्पक्षके यत्साध्यके यद्धेतुके च यावन्तो दोषाः प्रतीयन्ते तावन्त एव तत्र भिन्ना भिन्ना हेत्वाभासा मन्तव्या इति । **पञ्चत्वकथनं** हेत्वाभासस्य पञ्चविधत्वकथनम् । **तत्सम्भवस्थलाभिप्रायेण** तेषां प्राधान्येन सम्भवस्थलाशयेनैव न तु सम्भाव्यमानहेत्वाभासान्तरव्यावृत्त्यर्थ इति ।

अयमाशयः—लक्षणघटके 'अनुमितिविरोधित्वपदमनुमितितत्करणान्यतरविरोधितार्थपरम् । तेन व्यभिचारस्थले अयं हेतुर्व्यभिचारी इत्याकारकज्ञानस्य साक्षादनुमितिविरोधिता नास्तीति हेत्वाभासाव्याप्तिनं । तयार्थग्रहणे तु तथाविधहेतोर्व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकत्वादनुमितिप्रतिबन्धकत्वेन नाव्याप्तिः । एवं यद्धेतुविषयकं दोषज्ञानं तद्धेतुविषयिकाया एवानुमितेः प्रतिबन्धकं भवति । पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वादित्यादौ प्रमेयत्वहेतोः वह्निरूपसाध्याभाववति ह्रदेऽपि विद्यमानत्वात् इत्येतादृशदोषज्ञानं तद्धेतुकाया एवानुमितेः प्रतिबन्धकं न तु धूमहेतुकायास्तस्याः । तेन एकहेतौ व्यभिचारग्रहेऽपि हेत्वन्तरेण अनुमासम्भवाद् व्यभिचारादीनां साध्याभावाद्यनवगाहित्वाच्च तेषां ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वाभावेऽपि धूमवान् वह्नेरित्यादौ लक्षणस्य नाव्याप्तिः । पक्षसाध्यहेत्वनुसारेण दोषाणां पार्थक्यादनेकत्वाच्च हेत्वाभासा अप्यनेकविधाः, तेषां पञ्चविधत्वकथनं तु सम्भवस्थलाशयेन तु सम्भाव्यमानहेत्वाभासान्तरव्यावर्तनायेति ।

अनुवाद—दूसरे तो (कहते हैं) 'जिस विषयक होने से ज्ञान का अनुमितिविरोधित्व होता है, उससे युक्त होना हेत्वाभासत्व है' । सत्प्रतिपक्ष में विरोधी की व्याप्ति आदि ही वैसे (दोष) हैं । हेतु का उससे युक्त होना ज्ञानरूप सम्बन्ध से होता है । न तो इस प्रकार 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि पक्ष में बाधभ्रम का साध्य के अभाव विषय के रूप में अनुमिति के विरोधी होने से ज्ञानरूप सम्बन्ध से उससे युक्त होने का भी होने से सद्धेतु के भी बाधित होने की स्थिति ही मानना ठीक है, क्योंकि उसमें ज्ञान के सम्बन्धत्व की कल्पना नहीं होती । यहाँ 'सत्प्रतिपक्षित' ऐसा मानना व्यवहार से उसकी कल्पना से है, उसमें 'बाधित' ऐसा व्यवहार नहीं होता है, ऐसा कहते हैं ।

अनुमितिविरोधित्व भी अनुमिति एवं उसके करणों (पक्ष साध्य हेतु) में से किसी एक का विरोधी होना है । इस कारण व्यभिचारी हेतु में अव्याप्ति नहीं है । दोष का ज्ञान भी जिस हेतु का विषयक है, उसी हेतु की अनुमिति में ही प्रतिबन्धक होता है । इस कारण एक हेतु में व्यभिचार ग्रहण करने पर भी दूसरे हेतु से भी अनुमिति की उत्पत्ति होने से और साध्याभाव आदि में अनवगाही होने से भी व्यभिचार ज्ञान का अनुमितिविरोधित्व के अभाव में भी कोई क्षति नहीं होती । यह संक्षेप में कहा गया ।

जिस प्रकार के पक्ष साध्य एवं हेतु में जितने दोष होते हैं, उतने ही भिन्न-भिन्न हेत्वाभास होते हैं । उनका पञ्चत्व (पाँच प्रकार का) कहना तो उनके सम्भव स्थल के अभिप्राय से है ।

एवञ्च साधारणाद्यन्यतमत्वमनैकान्तिकत्वम्। साधारणः साध्यवदन्यवृत्तिर्हेतुः। तेन च व्याप्तिग्रहप्रतिबन्धः क्रियते। असाधारणः साध्यासमानाधिकरणो हेतुः। तेन साध्यसामानाधिकरण्यग्रहः प्रतिबध्यते। तथा शब्दो नित्यः शब्दत्वादित्यादावसाधारण्यं शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्यादौ त्वसाधारण्यभ्रमः। अन्ये तु सपक्षावृत्तिरसाधारणः। सपक्षश्च निश्चितसाध्यवान्। इत्थञ्च शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्यादौ यदा पक्षे साध्यनिश्चयस्तदा नासाधारण्यं तत्र हेतुनिश्चयादिति वदन्ति। अनुपसंहारी चात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकादिः। अनेन च व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धः क्रियते।

आलोकः—अनैकान्तिकं लक्षयति—**एवमिति**। **एवम्** इत्थम्। **च** हि। **साधारणाद्यन्यतमत्वं** साधारणासाधारणानुपसंहारिष्वन्यतमत्वम्। **अनैकान्तिकत्वम्** अनैकान्तिकहेत्वाभासत्वमिति। तत्र साधारणभेदं विवृणोति—**साधारण** इति। **साधारणः** साधारणानैकान्तिकः। **साध्यवदन्यवृत्तिहेतुः** साध्यं विद्यतेऽस्मिन्निति साध्यवान्, तस्मादन्यस्मिन् वृत्तिर्निष्ठा यस्य तादृशो हेतुः। **तेन** साधारणानैकान्तिकहेत्वाभासेन। **व्याप्तिग्रहप्रतिबन्धः** व्याप्तिः साध्यवदन्यावृत्तित्वरूपा साध्यसामानाधिकरण्यरूपा वा, तस्याः ग्रहो ज्ञानं तस्य प्रतिबन्धः। **क्रियते** विधीयत इति। यथा पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वादित्यत्र प्रमेयत्वं वह्निरूपसाध्यवदन्यह्रदवृत्तित्वाद् पक्षसपक्षविपक्षसाधारणेन व्यभिचारी। द्वितीयमसाधारणाख्यभेदं विवृणोति—**असाधारण** इति। **असाधारणः** तदाख्योऽपरो हेतुस्तु। **साध्यासमानाधिकरणः** साध्यस्य साधयितुमभीष्टस्य असमानाधिकरणः असमानाश्रयः। **हेतुः**। **तेन** असाधारणेनानैकान्तिकेन हेत्वाभासेन। **साध्यसामानाधिकरण्यग्रहः** साध्यसामानाधिकरण्यात्मकव्याप्तिज्ञानम्। **प्रतिबध्यते** विरुध्यते। यथा 'शब्दो नित्यः शब्दत्वात्' इत्यादौ शब्दत्वहेतोः। **असाधारण्यं** (शब्दः पक्षः नित्यत्वं प्रागभावध्वंसप्रतियोगित्वं स्वरूपेण साध्यं शब्दत्वजातिः समवायेन हेतुः। शब्दस्य प्रागभावध्वंसप्रतियोगित्वेन हेतौ) साध्यासमानाधिकरणत्वम्। **'शब्दो नित्यः शब्दत्वात्' इत्यादौ**। **तु**। **असाधारण्यभ्रमः** साध्यासमानाधिकरणत्वभ्रमः। एव न तु वस्तुतोऽसाधारण्यमिति। मीमांसका हि शब्दनित्यत्ववादिनः, ते हि शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्यत्र शब्दत्वस्य हेतोः साध्याऽसामानाधिकरण्यं मन्यन्ते, तन्मते शब्दो नित्यः शब्दत्वादित्यत्र तु शब्दत्वस्य साध्यसामानाधिकरण्यात्। तद्विपरीतं नैयायिकास्तु शब्दस्य प्रागभावध्वंसप्रतियोगित्वं मन्यन्तेऽतस्ते शब्दानित्यवादिनः। तन्मते तत्र अनित्यत्वसामानाधिकरण्यवति शब्दत्वे अनित्यत्वसामानाधिकरण्याभाववत्ताज्ञानं भ्रम इति। तत्र प्राचां मतमाह—**अन्ये** इति। **अन्ये** अपरे प्राञ्चः। **तु** तद्विपरीतम्। **सपक्षावृत्तिः** निश्चितसाध्यवान् सपक्षस्तत्र न विद्यते वृत्तिर्निष्ठा यस्य तादृशो हेतुः। **असाधारणः** इति। सपक्षं व्याचष्टे—**सपक्ष** इति। **सपक्षः** सपक्षपदवाच्यः। **च** तु। **निश्चितसाध्यवान्** असन्दिग्धसाध्ययुक्तः, यथा महानसः। **इत्थम्** असाधारण्यघटकसपक्षत्वस्य। निश्चयघटितत्वे। **च** हि। **शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्यादौ**। **यदा**। **पक्षे** शब्दे। **साध्यनिश्चयः**

अनित्यत्वविवेकः । **तदा** । **न** । **असाधारण्यम्** । तत्र तादृशकथने । **हेतोः** शब्दत्वस्य । **निश्चयात्** विवेकात् । **इति** । **वदन्ति** कथयन्ति । अनुपसंहारिभेदं विवृणोति—**अनुपसंहारीति** । **अनुपसंहारी** तदाख्यो व्यभिचारिभेदः । **च** तु । **अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकादिः** अत्यन्ताभावस्य न प्रतियोगी साध्यकादिः साध्यं पक्षो हेतुश्च यत्र तथा । यत्र साध्यं पक्षो हेतुश्चैतत्त्रयमेव केवलान्वयि सोऽनुपसंहारीति । **अनेन** अनुपसंहारिणा । **च** हि । **व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धः** व्यतिरेकव्याप्तेः साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूपायाः व्याप्तेः ज्ञानस्य प्रतिबन्धः । **क्रियते** । इति । यथा 'सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात्' इत्यत्र सर्वस्यापि पक्षत्वाद् व्याप्तिसञ्चारणस्थलाभावः तत्प्रतिबन्धे चानुमितिप्रतिबन्ध इति ।

अयमाशयः—साधारणासाधारणानुपसंहार्यन्यतमत्वमनैकान्तिकान्तिकत्वम् । तत्र यः साध्यवान् तद्भिन्नेष्वपि वृत्तिमान् हेतुः साधारणः । यथा पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वादित्यादौ प्रमेयत्वस्य हेतोः वह्निरूपसाध्यवत्पर्वतभिन्नह्रदवृत्तित्वात् पक्षविपक्षसपक्षसाधारणेन व्यभिचारित्वमिति साधारण्येनानैकान्तिकत्वम् । अनेन व्याप्तिज्ञानं प्रतिबध्यते, तेन चानुमितिः । साध्यस्यासमानाश्रयोऽसाधारणः । यथा शब्दो नित्यः शब्दत्वादित्यादौ न्यायनये शब्दस्य प्रागभावध्वंसप्रतियोगित्वेनानित्यत्वात् शब्दत्वस्य हेतोः साध्यस्य नित्यत्वस्यासमानाश्रयत्वेनासाधारणत्वम् । शब्दनित्यत्ववादिनो मीमांसकास्तु शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्यत्र शब्दत्वस्यासाधारणत्वं मन्यन्ते । नैयायिकमते तु तत्रासाधारण्य भ्रम एव । प्राचीनानां मते तु सपक्षावृत्तिरसाधारणः । निश्चितसाध्यवान् सपक्षो यथा महानसः, सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षो यथा पर्वतः, निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षो यथा महाह्रदः । सकलसपक्षव्यावृत्तो ह्यसाधारणः । तत्र पक्षे साध्यनिश्चयसत्त्वे हेतोर्निश्चयान्नासाधारण्यं, तदानीं पक्षस्यैव सपक्षत्वेन निश्चितसाध्यवद् व्यावृत्तत्वाभावात् । यदा तु पक्षे साध्यसन्देहस्तदाऽसाधारण्यमिति अस्यानित्यदोषतेति तन्मतम् । असाधारणेन साध्यसमानाश्रयग्रहः प्रतिबध्यते, तेन चानुमितिः । अनुपसंहारी तु हेतुस्तत्र यत्र पक्षो हेतुः साध्यमित्येतत्त्रयमेव केवलान्वयि । केवलान्वयिसाध्यकेऽपि अन्वयव्याप्तिज्ञानादेवानुमितेः । अनेन व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानं प्रतिबध्यते । यथा सर्वमनित्यं प्रमेयत्वादित्यादौ सर्वस्यापि पक्षत्वाद् व्याप्तिसञ्चारणस्थलाभावाद्धेतोरनुपसंहारित्वमिति ।

अनुवाद—इसी तरह साधारणत्व, असाधारणत्व, अनुपसंहारित्व में से किसी एक का होना अनैकान्तिकत्व है । साध्यवान् से भिन्न में वृत्ति वाला हेतु साधारण होता है । इससे व्याप्ति के ज्ञान का प्रतिबन्ध किया जाता है । साध्य से असमान अधिकरण वाला हेतु असाधारण होता है । इससे साध्य के सामानाधिकरण्य का ज्ञान प्रतिबन्धित होता है । 'शब्दो नित्यः शब्दत्वात्' इत्यादि में असाधारण्य है । 'शब्दः अनित्यः शब्दत्वात्' इत्यादि में तो असाधारण्य भ्रम ही है ।

दूसरे (प्राचीन) तो "सपक्ष में वृत्ति न होने वाला असाधारण है । निश्चित साध्य से युक्त सपक्ष होता है । इस प्रकार 'शब्दो नित्यः शब्दत्वात्' इत्यादि में जब पक्ष में साध्य का निश्चय होता है तब असाधारण्य नहीं होगा, क्योंकि वहाँ हेतु निश्चित

होता है" ऐसा कहते हैं। अनुपसंहारी अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं है साध्य पक्ष हेतु जिसका, वह होता है। इससे व्यतिरेकव्याप्ति के ज्ञान का प्रतिबन्ध किया जाता है।

विरुद्धस्तु साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगी। अयं साध्याभावग्रहसामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकः। सत्प्रतिपक्षे तु प्रतिहेतुः (द्वितीयहेतुः) साध्याभावसाधकः। अत्र तु हेतुरेवेति विशेषः। साध्याभावसाधक एव हेतुः साध्यसाधकत्वेनोपन्यस्त इति अशक्तिविशेषोपस्थापकत्वाच्च विशेषः। सत्प्रतिपक्षः साध्याभावव्याप्यवान् पक्षः। अगृहीताप्रामाण्यकसाध्यव्याप्यवत्त्वोपस्थितिकालीनागृहीताप्रामाण्यकसाध्याभावव्याप्यवत्त्वोपस्थितिविषयस्तथेत्यन्ये। अत्र च परस्पराभावव्याप्यवत्ताज्ञानात्परस्परानुमितिप्रतिबन्धः फलम्।

आलोकः—विरुद्धहेत्वाभासं लक्षयति—**विरुद्ध** इति। **विरुद्धः** 'साध्याभावव्याप्तत्वं विरोधस्तद्वान् हेतुः। **तु** तद्विपरीतम्। **साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगी** साध्ये साध्याधिकरणे व्यापकीभूतो वर्तमानो योऽभावो विरहस्तस्य प्रतियोगी विरुद्धः। साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्ध इति। यथा 'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्' इत्यत्र शब्दनित्यत्वसाधनाय प्रयुक्तः 'कृतकत्वाद्' इति हेतुः साध्याभावेनानित्यत्वेन व्याप्त इति विरुद्ध इति। अत्र यत्र यत्र कृतकत्वं तत्र तत्रानित्यत्वमिति व्याप्तेराश्रयः। तेन साध्यसाधनाय प्रयुक्तः, किन्तु साध्याभावसाधको हेतुर्विरुद्ध इत्याशयः। यथाऽऽह सूत्रकृदपि—'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः' इति। **अयं** विरुद्धो हेतुः। **साध्याभावग्रहसामग्रीत्वेन** साध्याभावस्य साध्यविरहस्य यो ग्रहो ज्ञानं तस्य सामग्रीत्वेन समुत्साहकतया। **प्रतिबन्धकः**। अनित्यत्वव्याप्यकृतकत्ववानयं शब्द इत्याकारकविरोधिपरामर्शज्ञानाद् नित्यः शब्दः इत्याकारानुमितेः प्रतिबन्ध इत्याशयः। विरुद्धसत्प्रतिपक्षयोः समाने साध्याभावसाधकत्वे को विशेषः ? इत्याशङ्कायामाह—**सत्प्रतिपक्ष** इति। **सत्प्रतिपक्षे** प्रतिपक्षयुक्ते हेत्वाभासे। **तु** हि। **प्रतिहेतुः** द्वितीयहेतुः। न तु हेतुरेव। **साध्याभावसाधकः** साध्यस्य योऽभावो विरहस्तस्य साधको राधकः। **अत्र** विरुद्धे। **तु** तद्विपरीतम्। **हेतुः** लिङ्गम्। एक एव हेतुः, स एव साध्याभावसाधकः। **इति** इत्थम्। **विशेषः** वैशिष्टयम्। सत्प्रतिपक्षे द्वौ हेतू परस्परं व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकौ विरुद्धे तु एक एव हेतुः साध्याभावेन व्याप्तो व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकतयाऽनुमितिप्रतिबन्धक इत्याशयः। तयोर्भेदकान्तरमप्याह—**साध्याभावसाधक** इति। विरुद्धे **साध्याभावसाधकः** साध्यविरहसमर्थकः। **एव** नान्यः। **हेतुः** लिङ्गम्। **साध्यसाधकत्वेन** साध्यसमर्थकरूपेण। **उपन्यस्तः** प्रयुक्तः। **इति** इत्थम्। **अशक्तिविशेषोपस्थापकत्वात्** प्रयोक्तुः अशक्तिरज्ञानं भ्रमस्तद्विशेषस्य उपस्थापकत्वात्संसूचकत्वात्। **च** अपि। **विशेषः** वैशिष्टयम्। सत्यपि साध्याभावव्याप्यवान् पक्षः सत्प्रतिपक्षः साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगी विरुद्धो हेतुरिति, तयोः स्पष्टतया स्वरूपभेदे यथा साधारणादीनां परस्परवैलक्षण्येऽपि दूषकताबीजस्यैक्येन नैकहेत्वाभासत्वं तथाऽनयोरपि विरोध्यनुमितिसामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकतारूपदूषकताबीजस्यैक्यादेकहेत्वाभासत्वं स्यादेवेत्याशङ्कायामुच्यते—विरुद्धे यः साध्याभाव-

समर्थको हेतुः स एव भ्रमवशादशक्तितः साध्यसाधकत्वेनोपन्यस्यते, सत्प्रतिपक्षे तु हेतु-प्रतिहेतुरूपेण द्वौ हेतू भवत इति स्पष्टं तयोरन्तरमिति।

सत्प्रतिपक्षं लक्षयति—**सत्प्रतिपक्ष** इति। **सत्प्रतिपक्षः** प्रतिपक्षयुक्तो हेतुः। **साध्याभावव्याप्यवान्** साध्यस्याभावेन व्याप्यो यो हेतुस्तद्वान्। **पक्षः** इति। यथा 'ह्रदो वह्निमान् धूमात्' 'ह्रदो वह्न्यभाववान् जलात्' इत्यादौ ह्रदपक्षे वह्निसाध्यसिद्धये प्रयुक्तो धूमहेतुः तत्प्रतिपक्षभूतो जलहेतुः साध्यस्य वह्नेरभावेन व्याप्यः तादृशसाध्याभावव्याप्यहेतुमान् ह्रदपक्षः तत्र सत्प्रतिपक्षः। अत्र द्वावेव हेतू परस्परं विरोधिनाविति उभयत्रैव सत्प्रतिपक्षव्यवहारः। इदं दीधितिकृन्मतेन। प्राचां मतेन सत्प्रतिपक्षमाह—**अगृहीतेति**। **अगृहीतप्रामाण्यकसाध्यव्याप्यवत्त्वोपस्थितिकालीनागृहीताप्रामाण्यकसाध्याभावव्याप्यवत्तोपस्थितिविषयः** न गृहीतं निश्चितम् अप्रामाण्यं यस्य तदगृहीताप्रामाण्यकं तादृशं यत्साध्यं वह्न्यादि तस्य यद् व्याप्यवत्त्वं तस्य योपस्थितिः ज्ञानं साध्यव्याप्यहेतुमानिति ज्ञानं तत्कालीनं यत् अगृहीताप्रामाण्यकम् अनिर्णीताप्रामाण्यकं साध्याभावव्याप्यवत्त्वं साध्यविरहव्याप्यवत्ता तस्य उपस्थितिर्ज्ञानं तस्य विषयः। **तथा** सत्प्रतिपक्षः। **इति** इत्थम्। **अन्ये प्राञ्च** इति।

अयम्भावः—साध्यव्याप्यहेतुमानयं पक्ष इत्याकारकपरामर्शज्ञानकाले यस्मिन् हेतौ अप्रामाण्यनिश्चयो न भवति तस्मिन्नेव हेतौ यदि साध्याभावव्याप्यहेतुमानयं पक्ष इत्याकारकः परामर्शोऽपि अप्रामाणिको निश्चितो न भवति, तदाऽसौ हेतुः सत्प्रतिपक्ष इत्युच्यत इति विस्तरोऽन्यत्र। अन्ये इत्यस्वरसः एकस्मिन्नेव हेतौ साध्यतदभावविषयकपरामर्शस्यासम्भवात्।

सत्प्रतिपक्षस्य दूषकताबीजमाह—**अत्रेति**। **अत्र** सत्प्रतिपक्षे। **च** अपि। **परस्पराभावव्याप्यवत्ताज्ञानात्** अन्योऽन्यविरहव्याप्यवत्त्वज्ञानतः। **परस्परानुमितिप्रतिबन्धः** अन्योऽन्यानुमानिरोधः। **फलं** परिणतिः। इति। 'ह्रदो वह्निमान् धूमात्' 'ह्रदो वह्न्यभाववान् जलात्' इत्यादौ पूर्वत्र साध्यं वह्निरित्यत्र वह्न्यभावः तयोरभावो वह्न्यभाववह्न्यभावाभावः (वह्निः) च तयोश्च व्याप्यवत्पक्षात्मकपरामर्शज्ञानात् 'ह्रदो वह्निमान्' 'ह्रदो वह्न्यभाववान्' इत्युभयानुमितिप्रतिबन्धः परिणतिरिति सारमस्य।

अनुवाद—विरुद्ध तो साध्यव्यापकीभूत जो अभाव है, उसका प्रतियोगी है। यह साध्य के अभाव ज्ञान के सामग्री के रूप में अनुमिति का प्रतिबन्धक होता है। सत्प्रतिपक्ष में तो प्रतिहेतु अर्थात् दूसरा हेतु साध्य के अभाव का साधक होता है। यहाँ (विरुद्ध) में तो हेतु ही वैसा होता है, यही विशेष अन्तर है। साध्याभाव का साधक हेतु ही साध्य के साधक के रूप में उपन्यस्त होता है, अतः अशक्ति विशेष के उपस्थापक होने से भी इस (विरुद्ध) में विशेष है।

सत्प्रतिपक्ष वह होता है जहाँ पक्ष साध्याभावव्याप्य हेतु से युक्त होता है। दूसरे तो 'निश्चित नहीं है प्रामाण्य जिसका, ऐसे साध्य के व्याप्यवत्त्व के ज्ञान के समकालीन अनिश्चितप्रामाण्यसाध्याभावव्याप्यवत्त्व के ज्ञान का विषय, वैसा (सत्प्रतिपक्ष) होता

है' ऐसा कहते हैं। यहाँ (सत्प्रतिपक्ष में) भी परस्पर अभाव के व्याप्यवत्त्व के ज्ञान से परस्पर की अनुमिति का प्रतिबन्ध फल है।

अत्र केचित्—यथा घटाभावव्याप्यवत्ताज्ञाने विद्यमानेऽपि घटचक्षुःसंयोगे सति घटवत्ताज्ञानं जायते। यथा च शङ्खे सत्यपि पीतत्वाभावव्याप्यशङ्खत्ववत्ताज्ञाने सति पित्तादिदोषे पीतः शङ्ख इति धीर्जायते। एवं कोटिद्वयव्याप्यदर्शनेऽपि कोटिद्वयस्य प्रत्यक्षरूपः संशयो भवति। तथा सत्प्रतिपक्षस्थले संशयरूपानुमितिर्भवत्येव। यत्र चैककोटिव्याप्यदर्शनं तत्राधिकबलतया द्वितीयकोटिभानप्रतिबन्धान्न संशयः। फलबलेन चाधिकसमबलभावः कल्प्यत इति वदन्ति। तन्न। तदभावव्याप्यवत्ताज्ञाने सति तदुपनीतभानविशेषशाब्दबोधादेरनुदयाल्लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यज्ञानमात्रे तस्य प्रतिवन्धकता लाघवात्। न तूपनीतभानविशेषे शाब्दबोधे च पृथक्प्रतिबन्धकता गौरवात्। तथा च प्रतिबन्धकसत्त्वात्कथमनुमितिः ? न हि लौकिकसन्निकर्षस्थले प्रत्यक्षमिव सत्प्रतिपक्षस्थले संशयाकारानुमितिः प्रामाणिकी, येनानुमितिभिन्नत्वेनाऽपि विशेषणीयम्। यत्र च कोटिद्वयव्याप्यवत्ताज्ञानं तत्रोभयत्राप्रामाण्यज्ञानात् संशयो नान्यथाऽगृहीताप्रामाण्यकस्यैव विरोधिज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वादिति।

आलोकः—सत्प्रतिपक्षविषये रत्नकोषकृन्मतमुद्धृत्य दूषयितुमुपक्रमते – अत्रेत्यादिना। **अत्र** सत्प्रतिपक्षविषये। **केचित्** केचन आचार्याः रत्नकोषकृदादयो विशेषतः। **यथा। घटाभावव्याप्यवत्ताज्ञाने** घटविरहव्याप्यवत्त्वावबोधे। **विद्यमाने** वर्तमाने। **अपि च। घटचक्षुःसंयोगे** घटस्य रूपविषयस्य चक्षुषो तदिन्द्रियभूतनेत्रयुगलस्य संयोगे। **सति। घटवत्ताज्ञानं** भूतलं घटवदिति तस्य घटवत्त्वस्य ज्ञानम्। **जायते** उत्पद्यते। यत्र भूतलेऽन्धकारादिना वस्तुव्यवधानेन वा प्रथमं घटाभावव्याप्यभूतलत्ववत्ता ज्ञानेऽपि तत्र प्रदीपादिसहकारिवशाद् घटेन सहालोकादिसहकृते चक्षुःसंयोगे सति घटवद् भूतलमिति प्रत्यक्षं जायते। **यथा। च। शङ्खे** तदाख्यश्वेतगुणविशिष्टपदार्थे। **पीतत्वाभावव्याप्यशङ्खत्ववत्ताज्ञाने** पीतगुणविरहव्याप्यशङ्खत्ववत्वावबोधे। **सति।** अपि। **पित्तादिदोषे** पीतगुणविशिष्टादिदोषे। **सति** विद्यमाने। **पीतः। शङ्खः। इति** इत्थम्। **धीः** मतिः। **जायते** समुत्पद्यते। **एवम्** इत्थमेव। **कोटिद्वयव्याप्यदर्शने** स्थाणुत्वव्याप्यवत्ताकोटरादिमानयं, स्थाणुत्वाभावव्याप्यकरचरणादिमानयं, पुरुषत्वव्याप्यकरचरणादिमानयं पुरुषत्वाभावव्याप्यकोटरादिमानयमिति च परस्परविरोधिकोटिद्वयव्याप्यवत्ताप्रत्यक्षात्मकपरामर्शे विद्यमाने। **अपि। कोटिद्वयस्य** स्थाणुर्न वेति पुरुषो न वेति वा स्थाणुत्वस्थाणुत्वाभावयोः पुरुषत्वपुरुषत्वाभावयोश्च। **प्रत्यक्षरूपः** प्रत्यक्षात्मकः। **संशयः। भवति** सञ्जायते। **तथा** तेनैव प्रकारेण। **सत्प्रतिपक्षस्थले। संशयरूपानुमितिः** साध्यतदभावप्रकारिका ह्रदो वह्निमान् न वा इत्याद्यात्मिकाऽनुमा। **भवति** सञ्जायते। **एव** हि। **यत्र। च। एककोटिव्याप्यदर्शनं** स्थाणुत्वपुरुषत्वान्यतरात्मकभावकोटिव्याप्यवत्तानिश्चयः। **तत्र** तादृशस्थले। **अधिकबलतया** समधिकबलत्वेन। **द्वितीयकोटिभानप्रति-**

बन्धात् स्थाणुत्वाभावपुरुषत्वभावान्यतरात्मकाभावकोटिव्याप्यवत्ताज्ञानप्रतिबन्धात्। **न नैव । संशयः** सन्देहः तदभाववत्ताप्रमितिर्न जायते किन्तु तद्वत्ताप्रमितिरेव तथैव वैपरीत्येनाऽपि । तत्रोभयोर्भावाभाववत्ताज्ञानयोरजायमानतया न संशयोऽपितु एककोटिका स्वसामग्रयनुरूपा प्रत्यक्षात्मिका अनुमित्याद्यात्मिका वा प्रमितिरेवेति । तत्र **फलबलेन** भावाभावफलाश्रयेण । **च । अधिकसमबलभावः** अधिकतुल्यबलभावः । **कल्प्यते ।** भावकोटिका प्रमा चेद् भावकोटिकव्याप्यवत्ताज्ञानेऽधिकबलं यदि प्रमा अभावकोटिका तदाऽभावकोटिकव्याप्यवत्ताज्ञानेऽधिकबलं यावन्नोभयप्रमे न जायेयातां तावदुभयकोटिव्याप्यवत्ताज्ञाने समबलभावोऽनुमीयते । यथा पीततासाक्षात्कारसामग्री बलवती सत्यपि शङ्खे शुक्लत्वज्ञाने पीतः शङ्खः इत्यनुभवात् । स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयसामग्री समबलवती उभयकोटयवगाहिज्ञानजनकत्वात् । तद्दूषयति—**तन्नेति । तत्** सत्प्रतिपक्षस्थले संशयरूपानुमितिर्भवतीति कथनम् । **न** नैवोपयुक्तम् । तथाभवने हेतुमाह—**तदभावेति । तदभावव्याप्यवत्ताज्ञाने** लौकिकसन्निकर्षेण एकस्मिन् पर्वते वह्न्यभावव्याप्यवत्ताज्ञाने । **सति । तदुपनीतभानविशेषशाब्दबोधादेः** तदुपनीतस्तत्संसूचितो भानविशेषः अलौकिकज्ञानलक्षणः सन्निकर्षजन्यसाक्षात्कारः शाब्दबोधश्च आदिपदादनुमितिश्च तदादेः । **अनुदयात्** अनुत्पादात् । **लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यज्ञानमात्रे** लौकिकसन्निकर्षाजन्यं दोषविशेषाजन्यं च यज्ज्ञानं तन्मात्रं प्रति । **तस्य** तदभावव्याप्यवत्ताज्ञानस्य । **प्रतिबन्धकता । लाघवात् । न** नैव । **तु** हि । **उपनीतभानविशेषे** संसूचितालौकिकतद्वत्ताप्रत्यक्षे । **शाब्दबोधे** तद्वत्ताशाब्दबुद्धिं प्रति तद्वत्ताऽनुमितिं प्रति च । **पृथक्** पार्थक्येन । **प्रतिबन्धकता गौरवात् । तथा च** एवं हि । **प्रतिबन्धकसत्त्वात्** प्रतिबन्धकभावेन । **कथम् ।** अनुमितिः ? अनुमा अपितु नेति । **न । हि । लौकिकसन्निकर्षस्थले** यत्र विषयेण सहेन्द्रियस्य लौकिकसन्निकर्षस्तत्र । **प्रत्यक्षं** प्रत्यक्षात्मकज्ञानम् । **इव** यथा । **सत्प्रतिपक्षस्थले** यत्र हेतुः सत्प्रतिपक्षितस्तत्र । **संशयाकारानुमितिः** सन्देहात्मकानुमा । **प्रामाणिकी** प्रमाणसिद्धा । **येन अनुमितिभिन्नत्वेन** संशयाकारानुमितिभिन्नत्वेन । **अपि च । विशेषणीयं** तद्वत्ताबुद्धिविशेषणीयत्वेन भाव्यं किन्तु न तथेति । **यत्र प्रत्यक्षस्थले च । कोटिद्वयव्याप्यवत्ताज्ञानं** स्थाणुत्वव्याप्यकोटरादिमान् पुरुषव्याप्यकरादिमान् इति प्रत्यक्षपरामर्शज्ञानम् । **तत्र** तादृशस्थले । **उभयत्राप्रामाण्यज्ञानात्** उभयत्र ज्ञाने **अप्रामाण्यज्ञानात्** स्थाणुत्वव्याप्यकोटरादिमानयमिति ज्ञानमप्रमा पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानिति ज्ञानमप्रमा चेत्याकारकात् कारणात् । **संशयः** स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सन्देहः । **जायते । न** नैव । **अन्यथा** कारणाभावात् । परस्परविरुद्धतदभावव्याप्यवत्ताज्ञानमात्रात् । **अगृहीताप्रामाण्यकस्य** उभयकोटिकतदभावव्याप्यवत्तापरामर्शस्य । **विरोधिज्ञानस्य । प्रतिबन्धकत्वात्** प्रतिबन्धकभावात् । **इति ।**

अयमाशयः—रत्नकोशकारमते तु सत्प्रतिपक्षः साध्यतदभावयोः संशयं जनयति न त्वनुमितिं प्रतिबध्नाति, न च तदभावव्याप्यवत्ताज्ञानस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वे किमपि प्रमाणमिति । यथा हि तमसा वस्त्वन्तरव्यवधानेन वा भूतलस्य घटाभावव्याप्यवत्ताज्ञाने विद्यमानेऽपि प्रदीपादिसहकारेण घटचक्षुःसंयोगे सति घटवत्ताज्ञानं जायते, यथा च

सत्यपि शङ्खे पीतत्वाभावव्याप्यशङ्खत्ववत्ताज्ञाने पित्तादिदोषवशात्पीतत्वं शङ्खस्य भासते, तथा चोभयकोटिव्याप्यदर्शनेऽपि कोटिद्वयस्य स्थाणुरयं पुरुषोऽयं वेति संशयो जायते, तथा सत्प्रतिपक्षस्थलेऽपि संशयरूपानुमितिर्भवत्येवेति तन्मतम्। तत्र नानुमितिः, प्रतिबन्धकसत्त्वादिति प्रकृतग्रन्थकृन्मतम्। तदनुसारेण तदभावव्याप्यवत्ताज्ञाने सति तज्ज्ञानलक्षणालौकिकसन्निकर्षजन्यज्ञानशाब्दबोधानुमितीनां नोत्पादः, तेन तस्य प्रतिबन्धकता लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यज्ञानमात्रे न तु तदुपनीतभानविशेषे शाब्दबोधे च पार्थक्येन, तथा सति गौरवापत्तेः। न लौकिकसन्निकर्षस्थले प्रत्यक्षमिव सत्प्रतिपक्षस्थले संशयाकारानुमितिश्च भवति प्रामाणिकी, तेन नानुमितिभिन्नत्वस्य विशेषणीयताऽपि। संशयोऽपि कोटिद्वयव्याप्यवत्ताज्ञाने उभयत्र अप्रामाण्यज्ञानादेव भवति, नान्यथा किञ्च प्रतिबन्धकत्वमपि अगृहीतप्रामाण्यकस्यैव विरोधिज्ञानस्येति।

अनुवाद—इस विषय में कुछ आचार्य (रत्नकोशकार) "जैसे घटाभावव्याप्यवत्ता का ज्ञान होने पर भी घट एवं चक्षु के संयोग में घटवत्ता का ज्ञान होता है; जैसे कि शंख में पीतत्वाभावव्याप्यशंखवत्त्व के ज्ञान होने पर भी पित्त आदि के दोष होने पर 'शङ्ख पीला है' ऐसी बुद्धि हो जाती है। इसी तरह दोनों कोटियों में व्याप्य दर्शन में भी अर्थात् 'स्थाणुत्वव्याप्य कोटर वाला है यह', 'स्थाणुत्वाभावव्याप्य कर-चरण आदि वाला है यह', 'पुरुषत्वव्याप्य कर आदि वाला है यह', 'पुरुषत्वाभावव्याप्य कोटर वाला है यह' ऐसा दर्शन होने पर भी दोनों कोटियों का प्रत्यक्षरूप संशय हो जाता है। उसी तरह सत्प्रतिपक्षस्थल में भी संशयरूप अनुमिति होती है। जहाँ एककोटिव्याप्य दर्शन है वहाँ अधिक बल होने से दूसरे कोटि के भान के प्रतिबन्ध होने से संशय नहीं होता। फल के बल द्वारा अधिक एवं सम बलभाव की कल्पना की जाती है" ऐसा कहते हैं। यह कहना ठीक नहीं है। तदभावव्याप्यवत्ता का ज्ञान होने पर उसके ज्ञानलक्षण शाब्दबोध अनुमिति आदि का उदय न होने से लौकिक सन्निकर्ष से अजन्य दोष विशेष से अजन्य ज्ञानमात्र में ही उसकी प्रतिबन्धकता होती है, क्योंकि इसी में लाघव है; न कि उपनीत भान विशेष शाब्दबोध अनुमिति आदि में पृथक् रूप से प्रतिबन्धकता होती है, क्योंकि उसमें गौरव पड़ता है। इस तरह प्रतिबन्धक के रहने से कैसे अनुमिति होती है? न तो लौकिक सन्निकर्षस्थल में, प्रत्यक्ष जैसे सत्प्रतिपक्ष स्थल में संशयाकार अनुमिति ही प्रामाणिक होती है, जिससे अनुमिति भिन्नत्व से विशेषित किया जाय। जहाँ भी कोटिद्वयव्याप्यवत्ता का ज्ञान है वहाँ दोनों में अप्रामाण्य होने से संशय होता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि अनिश्चित प्रामाण्य ही विरोधी ज्ञान का प्रतिबन्धकत्व होता है।

असिद्धिस्त्वाश्रयासिद्ध्याद्यन्यतमत्वम्। आश्रयासिद्धिः पक्षे पक्षतावच्छेदकस्याभावः। यत्र च काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमानिति साध्यते तत्र पर्वतो न काञ्चनमय इति ज्ञाने विद्यमाने काञ्चनमये पर्वते परामर्शप्रतिबन्धः फलम्। स्वरूपासिद्धिस्तु पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्य हेतोरभावः। अत्र च ह्रदो द्रव्यं धूमादित्यादौ पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्य हेतोरभावे ज्ञाते पक्षे साध्यव्याप्यहेतुमत्ता-

ज्ञानरूपस्य परामर्शस्य प्रतिबन्धः फलम्। साध्याप्रसिद्धिरपि व्याप्यत्वासिद्धिः। सा च साध्ये साध्यतावच्छेदकस्याभावः। तथा च काञ्चनमयवह्निमानित्यादौ साध्ये साध्यतावच्छेदकाभावे ज्ञाते साध्यतावच्छेदकविशिष्टसाध्यव्याप्यवत्ताज्ञानरूपपरामर्शप्रतिबन्धः फलम्। एवं हेतौ हेतुतावच्छेदकाभावः साधनाप्रसिद्धिः। यथा च काञ्चनमयधूमादित्यादौ। अत्र हेतुतावच्छेदकविशिष्टहेतोर्ज्ञानाभावात्तद्धेतुकव्याप्तिज्ञानादेरभावः फलम्। एवं वह्निमान् नीलधूमादित्यादौ गुरुतया नीलधूमत्वं हेतुतानवच्छेदकमपि व्याप्यत्वासिद्धिरित्यपि वदन्ति।

आलोकः—असिद्धिं निरूपयति—**असिद्धिरिति**। **असिद्धिः** असिद्धहेत्वाभासत्वम्। **आश्रयासिद्ध्याद्यन्यतमत्वम्** आश्रयासिद्धिः आश्रयस्य हेतोराधारस्यासिद्धिरसम्भवता आदिपदात् व्याप्यत्वासिद्धेः स्वरूपासिद्धेश्च ग्रहणं तदन्यतमत्वम्। आश्रयासिद्ध्यादिभेदाभाववान् समुदायोऽसिद्धिरिति। आद्यामसिद्धिं लक्षयति—**आश्रयासिद्धिरिति**। **आश्रयासिद्धिः** आश्रयस्याधारस्यासिद्धिः। **पक्षे** पक्षभूते पर्वतादौ। **पक्षतावच्छेदकस्य** पक्षत्वनिरूपकधर्मस्य। **अभावो** विरहः। तदुदाहरति—**यत्रेति**। **यत्र**। 'काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमान्'। **इति** इत्थम्। **साध्यते** साध्यविषयीक्रियते। **तत्र** तादृशस्थले। **'पर्वतो न काञ्चनमयः'** न हि गिरिः स्वर्णमयोऽपितु पाषाणमयः। **इति** इत्थम्। **ज्ञाने** अवबोधे। **विद्यमाने** सति। **काञ्चनमये** स्वर्णमये। **पर्वते** गिरौ साध्याश्रये। **परामर्शप्रतिबन्धः** वह्निव्याप्यधूमवत्काञ्चनपर्वत इति ज्ञाननिरोधः। **फलं** परिणतिः। अत्र पक्षे काञ्चनमयपर्वते पक्षतावच्छेदकधर्मो हि काञ्चनमयत्वं तस्याभावे नात्र हेतुराश्रयासिद्ध इति। द्वितीयां स्वरूपासिद्धिं लक्षयति—**स्वरूपासिद्धिरिति**। **स्वरूपासिद्धिः** स्वरूपेण असिद्धिः। **तु** हि। **पक्षे** पक्षभूते ह्रदादौ। **व्याप्यत्वाभिमतस्य** व्याप्यतया सम्मतस्य। **हेतोः**। **अभावः** विरहः। **अत्र** प्रसङ्गेऽस्मिन्। **'ह्रदो द्रव्यं धूमात्' इत्यादौ**। **पक्षे** ह्रदे। **व्याप्यत्वाभिमतस्य** व्याप्यत्वेन सम्मतस्य। **हेतोः** धूमस्य। **अभावे** विरहे। **ज्ञाते** अवबुद्धे। **सति**। **पक्षे** ह्रदे। **साध्यव्याप्यहेतुमत्ताज्ञानरूपस्य** द्रव्यत्वव्याप्यधूमवान् ह्रद इति ज्ञानात्मकस्य। **परामर्शस्य**। **प्रतिबन्धः**। **फलं** परिणतिः। अत्र द्रव्ये धूमस्याव्याप्यत्वेन हेतोः स्वरूपासिद्धिरिति। व्याप्यत्वासिद्धिं विवृणोति—**साध्येति**। **साध्याप्रसिद्धिः** साध्यस्य अप्रसिद्धिः क्वचित् साध्याप्रसिद्ध्यादय इत्यपि पाठः। अनेन सम्बन्धाप्रसिद्धिप्रतियोगित्वाप्रसिद्धिज्ञानाप्रसिद्ध्यादीनामपि ग्रहणं भवति। **अपि** च। **व्याप्यत्वासिद्धिः** व्याप्यत्वासिद्धिमध्येऽन्तर्भूताः। व्याप्यत्वासिद्धिरित्युपलक्षणं, तेन व्यापकत्वाप्रसिद्धिरपि दोष एवेति आचार्याः। तां लक्षयति—**सेति**। **सा** व्याप्यत्वासिद्धिः। **च** अपि। **साध्ये** साध्यभूते। **साध्यतावच्छेदकस्य** साध्यतानिरूपकधर्मस्य। **अभावः** विरहः। **तथा च** एवं हि। **'काञ्चनमयवह्निमान्' इत्यादौ** 'पर्वतः काञ्चनमयवह्निमान् धूमात्' इत्यादौ। **साध्ये** काञ्चनमयवह्नौ। **साध्यतावच्छेदकाभावे** साध्यतावच्छेदकस्य काञ्चनमयत्वस्य अभावे विरहे। **ज्ञाते**। **साध्यतावच्छेदकविशिष्टसाध्यव्याप्यवत्ताज्ञानरूपपरामर्शप्रतिबन्धः** साध्यतावच्छेदकेन काञ्चनमयत्वेन विशिष्टं यत्साध्यं

वह्निस्तस्य व्याप्यवत्ताज्ञानरूपपरामर्शः काञ्चनमयवह्निव्याप्यधूमवानिति परामर्शनिरोधः। **फलं** परिणतिः। साधनाप्रसिद्धिं लक्षयति—**एवमिति**। **एवम्** इत्थम्। **हेतौ** लिङ्गे। **हेतुतावच्छेदकताभावः** हेतुत्वनिरूपकधर्मविरहः। **साधनाप्रसिद्धिः**। साधनाप्रसिद्धिदोषः। **यथा**। **च**। **काञ्चनमयधूमात्** पर्वतो वह्निमान् काञ्चनमयधूमात्। **इत्यादौ**। **अत्र** उदाहरणेऽस्मिन्। **हेतुतावच्छेदकविशिष्टहेतोः** काञ्चनमयत्वविशिष्टधूमस्य। **ज्ञानाभावात्** अप्रसिद्धया। **तद्धेतुकव्याप्तिज्ञानादेः** तादृशधूमहेतुभूतव्याप्तिज्ञानादेः। **अभावः** विरहः। **फलं** परिणतिः। प्राचीनमतेन व्याप्यत्वासिद्धिमुदाहरति—**एवमिति**। **एवम्** इत्थम्। **'वह्निमान् नीलधूमात्' इत्यादौ**। 'पर्वतो वह्निमान् नीलधूमात्' इत्यादौ। **गुरुतया** धूमत्वापेक्षया गुरुधर्मतया। **नीलधूमत्वम्**। **हेतुतानवच्छेदकं** धूमत्वानिरूपकम्। **अपि च**। **व्याप्यत्वासिद्धिः**। **इति** इत्थम्। **वदन्ति** प्राचीना आचार्याः इति शेषः। एवं नीलधूमत्वविशिष्टहेतौ वह्निव्याप्तिज्ञानाभावः फलं ततो नानुमितिः, किञ्च तन्मते नीलधूमत्वं न हेतुतावच्छेदकमपितु धूमत्वमेव तथा। येषां मते गुरुधर्मस्याप्यवच्छेदकत्वं तन्मते तु नीलधूमादिति सद्धेतुरेव न तु हेत्वाभासः इति।

अनुवाद—आश्रयासिद्धि आदि में से किसी एक का होना असिद्धि है। पक्ष में पक्षतावच्छेदक का अभाव आश्रयासिद्धि है। यदि 'काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमान्' इस प्रकार की साधना की जाती है तो यहाँ पर्वत काञ्चनमय नहीं है, ऐसे ज्ञान के हो जाने पर काञ्चनमय पर्वत में परामर्श का प्रतिबन्ध फल है। स्वरूपासिद्धि तो पक्ष में व्याप्यत्व के रूप में अभिमत हेतु का अभाव है। यहाँ भी 'ह्रदो द्रव्यं धूमात्' इत्यादि पक्ष में व्याप्यत्वाभिमत हेतु के अभाव के ज्ञात होने पर पक्ष में साध्यव्याप्य हेतुमत्ता के ज्ञानरूप परामर्श का प्रतिबन्ध फल है। साध्याप्रसिद्धि भी व्याप्यत्वासिद्धि ही है। वह भी साध्य में साध्यतावच्छेदक का अभाव है। इसी तरह 'काञ्चनवह्निमान्' (पर्वतः काञ्चनवह्निमान् धूमात्') इत्यादि साध्य में साध्यतावच्छेदक के अभाव के ज्ञात होने पर साध्यतावच्छेदकविशिष्ट साध्यव्याप्यवत्ताज्ञानरूप परामर्श का प्रतिबन्ध फल है।

इसी तरह हेतु में हेतुता के अवच्छेदक का अभाव साधनाप्रसिद्धि है। जैसे कि 'काञ्चनमयधूमात्' (पर्वतो वह्निमान् काञ्चनमयधूमात्) इत्यादि में। यहाँ हेतुता के अवच्छेदक से विशिष्ट हेतु के ज्ञान के अभाव से तद्धेतुक व्याप्तिज्ञान आदि का अभाव फल है। इसी तरह 'वह्निमान् नीलधूमात्' इत्यादि में धूम की अपेक्षा नील धूम के गुरु होने से नीलधूमत्व के हेतुता का अनवच्छेदक होना भी व्याप्यत्वासिद्धि है, ऐसा भी कहते हैं। (ऐसा न मानने वाले के मत में तो यह (नील धूम हेतु) सद्धेतु ही है।)

बाधस्तु पक्षे साध्याभावादिः। एतस्यानुमितिप्रतिबन्धः फलम्। तद्धर्मिकतदभावनिश्चयो लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यतद्धर्मिकतज्ज्ञानमात्रे विरोधीति। न तु संशयसाधारणं पक्षे साध्यसंसृष्टत्वज्ञानमनुमितिकारणं

तद्विरोधितया च बाधसत्प्रतिपक्षयोर्हेत्वाभासत्वमिति युक्तम्। अप्रसिद्धसाध्यकानुमित्यनापत्तेः, साध्यसंशयादिकं विनाऽप्यनुमित्युत्पत्तेश्च।

आलोकः—बाधं निरूपयति—**बाध** इति। **बाधः** तदाख्यदोषः। **तु** हि। **पक्षे**। **साध्याभावादिः** साध्यविरहादिः, अत्र आदिपदेन साध्यवदन्यत्वस्य पक्षावृत्तिसाध्यादेश्च ग्रहणम्। तद्वान् हेतुर्बाधितो हेत्वाभास इति। यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधित इति। **एतस्य** बाधस्य। **अनुमितिप्रतिबन्धः** अनुमाननिरोधः। **फलं** परिणतिः। यथा वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वादित्यादौ द्रव्यत्वादिति हेतुर्बाधितः, यतो हि अनुष्णत्वाभाववान् वह्निः इत्याकारकप्रत्यक्षप्रमाणेन द्रव्यत्वहेतोः साध्यस्यानुष्णत्वस्याभावः पक्षे वह्नौ निश्चितः। तेन वह्निरनुष्ण इत्यनुमितिरेव न भवति। बाधे नियामकमाह—**तदिति। तद्धर्मिकतदभावनिश्चयः** अनाहार्या प्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितप्रकृतधर्मविशिष्टधर्मिसम्बद्धतदभावविषयकयथार्थज्ञानम्, यत्र बाधकालीनेच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यं, यथा प्रतिमायां देवबुद्धिस्तद्भिन्नमनाहार्यं संशयादिज्ञानमप्रामाण्यज्ञानं तेन न आस्कन्दितं सम्मिश्रमिति अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितम् अनाहार्यश्च अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितश्च यः तद्धर्मिकः प्रकृतधर्मविशिष्टधर्मिसम्बद्धः तदभावनिश्चय इति। **लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यतद्धर्मिकतज्ज्ञानमात्रे** लौकिकसन्निकर्षाजन्यं प्रत्यक्षभिन्नं दोषविशेषाजन्यं पीतः शङ्खः इत्यादिज्ञानं त्यक्त्वा यावज्ज्ञानं तादृशं यत्तद्धर्मिकतज्ज्ञानं प्रकृतधर्मविशिष्टधर्मिसम्बद्धज्ञानं तन्मात्रे। **विरोधी** प्रतिबन्धक इति नियमः। यो हि प्रकृतधर्मविशिष्टधर्मिणोऽभावनिश्चयः सः लौकिकसन्निकर्षजन्यभिन्नस्य दोषविशेषजन्यभिन्नस्य च सर्वस्य हि ज्ञानस्य प्रतिबन्धको भवति इति नियमादनुष्णत्वधर्मविशिष्टानुष्णाभाववद्धर्मिविषयकं वह्निरुष्ण इति स्पार्शनप्रत्यक्षरूपं ज्ञानमनाहार्यत्वात् संशयादिमिथ्याज्ञानरहितत्वाच्च वह्निरुष्ण इत्यनुमितेः प्रतिबन्धकमिति। प्रसङ्गेऽस्मिन् मतान्तरं दूषयितुमाह—**न त्विति। न। तु** हि। **संशयसाधारणं** संशयसहितम्। **पक्षे। साध्यसंसृष्टत्वज्ञानं** साध्यसम्बन्धविषयकं ज्ञानं 'पर्वतो वह्निमान्न वा' इत्याकारकम्। **अनुमितिकारणम्** अनुमाहेतुः। **तद्विरोधितया** तादृशज्ञानप्रतिबन्धकत्वेन। **बाधसत्प्रतिपक्षयोः** बाधः पक्षे साध्याभावादिः सत्पतिपक्षः प्रतिपक्षयुक्तहेतुश्च तयोः। **हेत्वाभासत्वं** दुष्टहेतुत्वम्। **इति** इत्थं व्यवहारः। **युक्तं** समुचितम्। यथा केचिद् वदन्तीति। पक्षे संशयसहितं साध्यसम्बन्धविषयकं ज्ञानमनुमितिहेतुस्तत्प्रतिबन्धकतया बाधसत्प्रतिपक्षौ हेत्वाभासौ भवतो न तु परस्परसाध्याभावविषयकपरामर्शत्वेन सत्प्रतिपक्षस्य साक्षादनुमितिप्रतिबन्धकत्वेन बाधस्य तथेति यत्केचिद् वदन्ति तन्नैवोपयुक्तमिति। तत्र हेतुमाह—**अप्रसिद्धेति। अप्रसिद्धसाध्यकानुमित्यनापत्तेः** न प्रसिद्धं साध्यं यस्यास्तादृशी याऽनुमितिस्तस्या अनापत्तेरसिद्धेः। **साध्यसंशयादिकं** साध्ये यः संशयस्तदादिकम्। **विना। अपि। अनुमित्युत्पत्तेः** अनुमोदयात्। **च**। इति।

अयमाशयः—न हि साध्यसंसृष्टत्वज्ञानमनुमितिहेतुस्तथा सति 'पृथिव्यामितरभेदः' इत्यत्राप्रसिद्धसाध्यकानुमितिर्नैवोत्पद्येत, तत्रानुमितेः पूर्वं पक्षे साध्यसंसृष्टत्वज्ञानं नास्ति,

केनाऽपि प्रमाणेन तथैव न संशयसाधारणमपि अनुमितिहेतुः साध्यसंशयादिकं विनाऽपि घनगर्जितेन मेघानुमितेः प्रामाणिकत्वात् । इति ।

अनुवाद—पक्ष में साध्य का अभाव आदि बाध है। अनुमिति का प्रतिबन्ध इसका फल है। अनाहार्य (बाधकालीन इच्छा से जन्य ज्ञान आहार्य है, उससे भिन्न) एवं अप्रामाण्य ज्ञान से अमिश्रित प्रकृतधर्मविशिष्ट धर्मी का अभावविषयक निश्चय लौकिक सन्निकर्ष से अजन्य दोषविशेष से अजन्य तद्धर्मिक तज्ज्ञानमात्र में विरोधी होता है (ऐसा नियम है)। 'न तो (जैसा कि कुछ लोग मानते हैं) पक्ष में संशयविषयक एवं साध्यसंसृष्टत्व (साध्यसम्बन्धविषयक) ज्ञान अनुमिति का कारण होता है, उसके प्रतिबन्धक होने से भी बाध एवं' सत्प्रतिपक्ष का हेत्वाभासत्व होता है' ऐसा मानना ही उपयुक्त है, क्योंकि वैसा मानने पर अप्रसिद्ध साध्यक अनुमिति नहीं हो पाती और संशय आदि के बिना भी अनुमिति की उत्पत्ति होती है। इस कारण न तो साध्य-संशय अथवा साध्यसंसृष्टत्व ज्ञान ही अनुमिति का कारण होता है, न हि उसका प्रतिबन्धक होने से बाध एवं सत्प्रतिपक्ष की हेत्वाभासता है, अपितु परस्पर साध्याभाव विषयक परामर्श के प्रतिबन्धक होने से सत्प्रतिपक्ष साक्षात् अनुमिति का प्रतिबन्धक होने से बाध हेत्वाभास है।

एवं साध्याभावज्ञाने प्रमात्वज्ञानमपि न प्रतिबन्धकं, प्रमाणाभावाद् गौरवाच्च। अन्यथा सत्प्रतिपक्षादावपि तदभावव्याप्यवत्ताज्ञाने प्रमात्वविषयकत्वेन प्रतिबन्धकतापत्तेः, किन्तु भ्रमत्वज्ञानानास्कन्दितबाधादिबुद्धेः प्रतिबन्धकता, तत्र भ्रमत्वशङ्काविघटनेन प्रामाण्यज्ञानं क्वचिदुपयुज्यते।

आलोकः—प्रसङ्गेऽस्मिन् साध्याभावज्ञानं प्रति प्रमात्वज्ञानं प्रतिबन्धकमिति यदुच्यते प्राग्भिस्तत् खण्डयितुमाह—**एवमिति**। **एवम्** इत्थम्। **साध्याभावज्ञाने** पक्षविशेष्यकसाध्याभावज्ञाने। **प्रमात्वज्ञानं** यथार्थनिश्चयः, इदं ज्ञानं प्रमेति। **अपि**। **न** नैव। **प्रतिबन्धकम्**। **प्रमाणाभावात्** तथात्वे मानाभावात्। **गौरवात्** गौरवापत्तेः। **च**। अर्थात् 'ह्रदो वह्निमान्' इत्यनुमितिं प्रति 'ह्रदो वह्न्यभाववान्' 'इदं ज्ञानं प्रमा' इत्याकारकज्ञानस्य प्रतिबन्धकता यदुच्यते प्राचीनैस्तन्नोपयुक्तं, तथाकल्पने मानाभावाद् गौरवापत्तेश्च। साध्याभावज्ञानस्य प्रतिबन्धकता ग्राह्याभावावगाहितया भवति। 'इदं ज्ञानं प्रमा' इति ज्ञानं तु ग्राह्याभावानवगाहि। प्रकृते तु ग्राह्याभावावगाहि ह्रदो वह्न्यभाववानिति ज्ञानमेव भवति, न तु 'इदं ज्ञानं प्रमा' इत्याकारकम्। एवं पक्षविशेष्यकसाध्याभावज्ञाने प्रमात्वनिश्चयत्वरूपगुरुधर्मेण प्रतिबन्धकत्वकल्पनापेक्षया संशयनिश्चयसाधारणाप्रामाण्यज्ञानाभाववत्वेन प्रतिबन्धकता स्वीकर्तव्या लाघवादिति विस्तरोऽन्यत्र। **अन्यथा** साध्याभावज्ञाने प्रमात्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वे। **सत्प्रतिपक्षादौ**। **अपि च**। **तदभावव्याप्यवत्ताज्ञाने** अनुमितिं प्रति साध्याभावव्याप्यवत्ताज्ञाने। **प्रमात्वविषयकत्वेन** प्रमारूपविषयत्वेन। **प्रतिबन्धकतापत्तेः** प्रतिबन्धकत्वप्राप्तेर्वस्तुतस्तु न सा कस्याऽप्यभीष्टा। **किन्तु** तद्विपरीतम्। तत्र। **भ्रमत्वज्ञानानास्कन्दितबाधादिबुद्धेः** भ्रमत्वज्ञानेन अनास्कन्दिता अनाप्लुता या बाधादिबुद्धिस्तस्याः। **प्रतिबन्धकता**। **तत्र**

बाधादिस्थले। **भ्रमत्वशङ्काविघटनेन** भ्रमत्वशङ्कानिवारणेन। **प्रामाण्यज्ञानं** प्रमात्वज्ञानम्। **क्वचित्** कुत्रचित्। **उपयुज्यते**। तेनानुमितितत्कारणज्ञानान्यतरं प्रति साक्षात्प्रतिबन्धकीभूतज्ञानविषयत्वाभावात् न साध्याभावज्ञानप्रमात्वं हेत्वाभास इति।

अनुवाद—इस प्रकार साध्याभाव के ज्ञान में प्रमात्व का ज्ञान भी प्रतिबन्धक नहीं होता, क्योंकि वैसा होने में कोई प्रमाण नहीं है और गौरव भी पडता है। वैसा न मानने पर सत्प्रतिपक्ष आदि में भी तदभावव्याप्यवत्ता के ज्ञान में प्रमात्व विषय के रूप में प्रतिबन्धकता आ पड़ती है (जो कि अभीष्ट नहीं है), किन्तु भ्रमत्वज्ञान से अमिश्रित बाध आदि बुद्धि की ही प्रतिबन्धकता होती है। उसमें भ्रमत्वशङ्का के निवारण से प्रामाण्यज्ञान का कहीं ही उपयोग होता है।

न च बाधस्थले पक्षे हेतुसत्त्वे व्यभिचारः, पक्षे हेत्वभावे तु स्वरूपासिद्धिरेव दोष इति वाच्यं, बाधज्ञानस्य व्यभिचारज्ञानादेर्भेदात्। किञ्च यत्र परामर्शानन्तरं बाधबुद्धिस्तत्र व्यभिचारज्ञानादेरकिञ्चित्करत्वाद् बाधस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वं वाच्यम्। एवं यत्रोत्पत्तिक्षणावच्छिन्ने घटादौ गन्धव्याप्यपृथिवीत्ववत्ताज्ञानं तत्र बाधस्यैव प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम्। न च पक्षे घटे गन्धसत्त्वात्कथं बाध इति वाच्यं, पक्षतावच्छेदकदेशकालावच्छेदेनानुमितेरनुभवसिद्धत्वादिति। बाधसत्प्रतिपक्षभिन्ना ये हेत्वाभासास्तद्व्याप्या अपि तन्मध्य एवान्तर्भवन्ति। अन्यथा हेत्वाभासाधिक्यप्रसङ्गात्। बाधव्याप्यसत्प्रतिपक्षस्तु भिन्न एव, स्वतन्त्रेच्छेन मुनिना पृथगुपदेशात्। सत्प्रतिपक्षव्याप्यस्तु न प्रतिबन्धक इति प्रघट्टकार्थः ॥ ७१ ॥

आलोकः—बाधस्यान्येन चरितार्थत्वमाशङ्क्य समाधत्ते—**नेति**। **न**। **च** हि। **बाधस्थले** यत्र हेतुर्बाधितस्तत्र 'वह्निरनुष्ण' इत्यादौ। **पक्षे** वह्निरूपपक्षे। हेतुरस्ति न वा ? यदि **हेतुसत्त्वे** हेतुसद्भावे। **व्यभिचारः** अनुष्णत्वाभावरूपसाध्याभाववति हेतोर्वृत्तित्वात्साधारणानैकान्तिकत्वेन व्यभिचारदोषः। **पक्षे**। **हेत्वभावे** हेतुविरहे। **स्वरूपासिद्धिः**। **एव**। **दोषः**। **इति**। तत्र व्यभिचारस्वरूपासिद्धिरूपान्यतरदोषप्रयुक्त एव हेत्वाभासव्यवहारो न तु बाधदोषप्रयुक्तो बाधितनाम्नेति। **वाच्यम्**। **बाधज्ञानस्य** पक्षे साध्याभावादिदोषज्ञानस्य। **व्यभिचारादेः** व्यभिचारासिद्धादेः। **भेदात्** स्पष्टतः पार्थक्यात्। तत्र उपपत्त्यनन्तरमाह—**किञ्चेति**। **यत्र** अयोगोलकं धूमवद् वह्नेरित्यादिस्थले। **परामर्शानन्तरं** वह्निव्याप्यधूमवदयोगोलकमिति परामर्शानन्तरम्। **बाधबुद्धिः** व्यभिचारज्ञानं विनैव अयोगोलकं न धूमवदिति बाधबुद्धिर्जाता। **तत्र** तादृशस्थले। **व्यभिचारज्ञानादेः** व्यभिचारस्वरूपासिद्धिज्ञानादेः। **अकिञ्चित्करत्वात्** असमर्थत्वात्। यतो हि व्यभिचारादिस्तु परामर्शप्रतिबन्धद्वारैवानुमितिप्रतिबन्धको न तु साक्षादेव **बाधस्य** बाधदोषस्यैव। **अनुमितिप्रतिबन्धकत्वम्**। **वाच्यं** समर्थनीयम्। **एवम्** इत्थम्। **यत्र**। **उत्पत्तिक्षणावच्छिन्ने** उत्पत्तिकालीने। **घटादौ** घटात्मके पक्षे। **गन्धव्याप्यपृथिवीत्ववत्ताज्ञानं** गन्धव्याप्या या पृथिवीत्ववत्ता तस्याः ज्ञानम्। **तत्र** तादृशस्थले। **बाधस्य**

बाधदोषस्य । **एव हि** । **प्रतिबन्धकत्वम्** अनुमितिविरोधित्वम् । **वाच्यं** कथनीयम् । **न** नैव । **च हि** । **पक्षे** पक्षभूते । **घटे** । **गन्धसत्त्वाद्** गन्धभावेन । **कथम्** । **बाधः** अनुमितिप्रतिबन्धः । **इति** इत्यम् । **वाच्यम्** । **पक्षतावच्छेदकदेशकालावच्छेदेन** पक्षतावच्छेदकौ यौ देशकालौ तयोरवच्छेदेन व्यावर्तकत्वेन । **अनुमितेः** । **अनुभवसिद्धत्वात्** । इति ।

अयम्भावः—घटत्वपर्वतत्वादिधर्मवद् देशकालावपि पक्षतावच्छेदकत्वेन स्वीकरणीयौ । न च काचिदनुमितिः कालानवच्छिन्ना देशानवच्छिन्ना वा । तेन घटात्मकपक्षस्योत्पत्तिक्षणात्मकः कालो व्यवच्छेदकः । तेन घटे पक्षे गन्धसत्त्वेऽपि उत्पत्तिकालानुरोधेन घटे गन्धाभाव एवान्यथा घटगन्धयोः कार्यकारणभावभङ्गप्रसङ्गः स्यात् ।

प्रकरणमुपसञ्जिहीर्षुर्हेत्वाभासानां पञ्चविधत्वमधिवक्ति—**बाधेति** । **बाधसत्प्रतिपक्षभिन्नाः** बाधः साध्याभावविशिष्टपक्षादिः सत्प्रतिपक्षः विरोधिव्याप्तिविशिष्टहेतुको बाधव्याप्य एव तद्भिन्नाः व्यभिचारविरुद्धासिद्धाः । **ये** । **हेत्वाभासाः** दुष्टहेतवः । **तद्व्याप्या** तैर्व्यभिचारादिभिर्व्याप्याः साधारणाश्रयासिद्धाद्याः । **ते** । **तन्मध्ये** व्यभिचारादिमध्ये । **एव** । **अन्तर्भवन्ति** अन्तर्भूता भवन्ति । **अन्यथा** अतथाभावे । **हेत्वाभासाधिक्यप्रसङ्गाद्** हेत्वाभासानामधिकसङ्ख्यापत्तेः । **बाधव्याप्यसत्प्रतिपक्षः** बाधव्याप्योऽपि सत्प्रतिपक्षः । **तु** तद्विपरीतम् । **भिन्नः** पृथक् । **एव** । **स्वतन्त्रेच्छेन** सर्वतन्त्रस्वतन्त्रेण । **मुनिना** गौतमेन । तस्य **पृथक्** । **उपदेशात्** शासनात्—'सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीताः हेत्वाभासाः' (न्या० सू० १।२।४) इति कथनात् । **सत्प्रतिपक्षव्याप्यः** सत्प्रतिपक्षस्य व्याप्यः । **तु** । **न** । **प्रतिबन्धकः** अनुमितितत्कारणविरोधी । साध्याभावव्याप्यज्ञानस्य साध्यवत्ताज्ञानविरोधित्वेऽपि साध्याभावव्याप्यव्याप्यवत्ताज्ञानस्य साध्यवत्ताज्ञानविरोधित्वे मानाभावादप्रतिबन्धकत्वमिति । **इति** इत्यम् । **प्रघट्टकार्थः** प्रकरणसारमिति ॥ ७१ ॥

अनुवाद—न तो बाधस्थल में पक्ष में हेतु के रहने से व्यभिचार दोष (साधारण) होता है और पक्ष में हेतु के अभाव में स्वरूपासिद्धि ही दोष होता है (अतः बाधदोष पृथक् नहीं बनता), ऐसा कहना ठीक है, क्योंकि बाधज्ञान व्यभिचार ज्ञान आदि से भिन्न होता है । जैसे कि जहाँ परामर्श के बाद बाधज्ञान होता है वहाँ व्यभिचार ज्ञान आदि के कुछ न कर पाने के कारण (क्योंकि ये तो परामर्श के ही प्रतिबन्धक होते हैं, न कि साक्षात् अनुमिति के) बाध का ही अनुमितिप्रतिबन्धकत्व मानना चाहिए । इस प्रकार जहाँ उत्पत्ति-क्षण से अवच्छिन्न घट आदि में गन्धव्याप्य पृथिवीत्यवत्ता का ज्ञान है, वहाँ बाध का प्रतिबन्धकत्व मानना चाहिए । न तो पक्ष घट में गन्ध के रहने से कैसे बाध माना जाय, ऐसा कहना ही उचित है, क्योंकि पक्षता के अवच्छेदक देश एवं काल के व्यावर्तन से अनुमिति अनुभव सिद्ध है । बाध एवं सत्प्रतिपक्ष से भिन्न जो हेत्वाभास हैं, उनके व्याप्य भी उन्हीं में अन्तर्भूत हो जाते हैं । वैसा न मानने पर हेत्वाभासों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है । बाधव्याप्य सत्प्रतिपक्ष तो भिन्न ही है, क्योंकि स्वतन्त्र इच्छा वाले मुनि ने उसका पृथक् ही उपदेश किया है । सत्प्रतिपक्षव्याप्य तो प्रतिबन्धक नहीं होता, यह समुदित अर्थ है ।

आद्यः साधारणस्तु स्यादसाधारणकोऽपरः ।
तथैवानुपसंहारी त्रिधाऽनैकान्तिको भवेत् ॥ ७२ ॥

सव्यभिचारं विभजते—आद्य इति । त्रिधा त्रिप्रकारकः । अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ॥ ७२ ॥

आलोकः—परममूलेऽनैकान्तिकं विभजते—**आद्य** इति । आद्यः तु साधारणः स्यात्, अपरः असाधारणकः, तथैव अनुपसंहारी इति अनैकान्तिकः त्रिधा भवेत् इति । **आद्यः** प्रथमः । **तु** । **साधारणः** साध्यवदन्यवृत्तिः । **स्यात्** । **अपरः** अन्यः । **असाधारणकः** साध्यासमानाधिकरणः । **तथैव अनुपसंहारी** अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकादिः । **इति** इत्थम् । **अनैकान्तिकः** सव्यभिचारो हेत्वाभासः । **त्रिधा** त्रिप्रकारकः । **भवेत्** इति ।

अनुवाद—पहला साधारण, दूसरा असाधारण एवं तीसरा अनुपसंहारी भेद से अनैकान्तिक हेत्वाभास तीन प्रकार का होता है ॥ ७२ ॥

यः सपक्षे विपक्षे च भवेत् साधारणस्तु सः ॥

यः सपक्ष इति । सपक्षविपक्षवृत्तिः साधारण इत्यर्थः । सपक्षो निश्चित-साध्यवान् । विपक्षः साध्याभाववान् । विरुद्धवारणाय सपक्षवृत्तित्वमुक्तम् । वस्तुतो विपक्षवृत्तित्वमेव वाच्यं, विरुद्धस्य साधारणत्वेऽपि दूषकताबीजस्य भिन्नतया तस्य पार्थक्यात् ।

आलोकः—परममूले साधारणभेदं विवृणोति—**य** इति । यः सपक्षे विपक्षे च भवेत् स तु साधारणः भवेत् इति यः हेतुः । **सपक्षे** निश्चितसाध्यवति । **विपक्षे** निश्चित-साध्याभाववति । **च** । भवेत् । **सः** तादृशो हेतुः । **साधारणः** तदाख्यः । भवेदिति । मूले कारिकां विवृणोति—**यः सपक्ष** इति । **सपक्षविपक्षवृत्तिः** सपक्षे निश्चितसाध्यवति विपक्षे निश्चितसाध्याभाववति वृत्तिर्निष्ठा यस्य तादृशो हेतुः । **साधारणः** । **इत्यर्थः** इत्याशयः । सपक्षं व्याचष्टे—**सपक्ष** इति । **सपक्षः** सपक्षपदवाच्यः । **निश्चितसाध्य-वान्** निश्चितं साध्यं वह्न्यादिकमस्ति यस्मिस्तत्तथा, यथा महानसः । विपक्षं व्याचष्टे—**विपक्ष** इति । **विपक्षः** विपक्षपदवाच्यः । **साध्याभाववान्** निश्चितरूपेण साध्यविरह-विशिष्टः, यथा महाह्रदः । पदकृत्यं निर्दिशति—**विरुद्धवारणायेति** । **विरुद्धवारणाय** विरुद्धस्य साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगिनो वारणाय अतिव्याप्तिर्मा भूदिति । यदि विपक्षवृत्तित्वमेव साधारणलक्षणं क्रियते तदा साध्याभावव्याप्यरूपस्य विरुद्धस्यापि केवलविपक्षवृत्तित्वात् तत्रातिव्याप्तिवारणायेति । **सपक्षवृत्तित्वम्** । **उक्तं** लक्षणे इति । **वस्तुतः** यथार्थतः । **तु** । **विपक्षवृत्तित्वम्** । **एव** लक्षणे **वाच्यम्** । विपक्षवृत्तित्वेनैव दूष-कताभावात् । यथा 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' इत्यादौ हेतुभूतस्य वह्नेः सपक्षे महानसादौ विपक्षेऽयोगोलके च सत्त्वेन साधारणत्वं, तत्रापि दूषकता तु अयोगोलकसत्त्वेनैवेति । तथा सति **विरुद्धस्य** साध्याभावव्याप्यरूपस्य विरुद्धस्य । **साधारणत्वे** साधारणभावे । **अपि च** । **दूषकताबीजस्य** विरुद्धो हि सामानाधिकरण्यज्ञानस्य प्रतिबन्धकः साधारणस्तु

अव्यभिचारज्ञानस्य प्रतिबन्धक इति उभयोर्दूषकत्वबीजस्य । **भिन्नतया** पृथक्त्वेन। तस्य विरुद्धस्य । **पार्थक्यात्** साधारणतो वैभिन्न्यात् ।

अनुवाद—जो हेतु सपक्ष एवं विपक्ष में भी होता है, वह साधारण कहलाता है। **यः सपक्ष इति** । सपक्ष एवं विपक्ष में वृत्ति वाला साधारण होता है, इसका ऐसा अर्थ है । निश्चित साध्य ये युक्त सपक्ष होता है । साध्य के अभाव से युक्त विपक्ष होता है । विरुद्ध के वारण के लिए सपक्ष में वृत्ति होना कहा गया । वास्तव में विपक्ष में वृत्ति होना ही कहना चाहिए । (वैसा कहने पर) विरुद्ध का साधारणत्व होने पर भी दूषकता बीज पृथक्-पृथक् होने से (विरुद्ध सामानाधिकरण्य ज्ञान का साधारण अव्यभिचार ज्ञान का प्रतिबन्धक होने से) उसकी भिन्नता स्पष्ट ही है ।

यस्तूभयस्माद् व्यावृत्तः स चासाधारणो मतः ॥ ७३ ॥

यस्तूभयस्मादिति । सपक्षविपक्षव्यावृत्त इत्यर्थः । सपक्षः साध्यवत्तया निश्चितः । विपक्षः साध्यशून्यतया निश्चितः । शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्यादौ यदा शब्देऽनित्यत्वसन्देहस्तदा सपक्षत्वं घटादीनामेव, तद्व्यावृत्तं च शब्दत्वमिति तदा तदसाधारणम् । यदा तु शब्देऽनित्यत्वनिश्चयस्तदा नासाधारणः, इदञ्च प्राचां मतम् । नवीनमतं तु पूर्वमुक्तम् ॥ ७३ ॥

आलोकः—परममूले असाधारणं लक्षयति – **य** इति । यः तु उभयस्माद् व्यावृत्तः स च असाधारणः मतः इति । **यः** हेतु । **तु** तद्विपरीतम् । **उभयस्मात्** सपक्षविपक्षाभ्याम् । **व्यावृत्तः** असम्बद्धः । **सः** तादृशः । **च** तु । **असाधारणः** । **मतः** कथितः इति । मूले कारिकाशयं विवृणोति—**यस्तूभयस्मादिति** । उभयस्माद् व्यावृत्त इति **सपक्षविपक्षव्यावृत्तः** सपक्षाद् विपक्षाच्च व्यावृत्तः पृथग्भूतः । **इत्यर्थः** । **तत्र सपक्ष** इति **साध्यवत्तया** साध्ययुक्तत्वेन । **निश्चितः** । **विपक्षः** इति । **साध्यशून्यतया** साध्यविरहितत्वेन । **निश्चितः** । **यथा** शब्दो नित्यः शब्दत्वादित्यत्र हेतुः शब्दत्वं सर्वेभ्यो नित्येभ्योऽनित्येभ्यश्च व्यावृत्तं पक्षभूतशब्दमात्रवृत्तित्वादसाधारणः । मतान्तरं दर्शयति—**शब्द** इति । **'शब्दो नित्यः शब्दत्वात्' इत्यादौ** । **यदा** । **शब्दे** शब्दात्मकपक्षे । **अनित्यत्वसन्देहः** अनित्यत्वरूपसाध्यसन्देहः । **तदा** । **सपक्षत्वम्** । **घटादीनां** घटपटादीनाम् । एव तेषामनित्यत्वरूपसाध्यवत्त्वेन निश्चितत्वात् । (गगनादिकं विपक्षस्तत्रानित्यरूपसाध्याभावस्य नित्यत्वस्य निश्चितत्वात् ।) **तद्व्यावृत्तं** तदसम्बद्धम् । **शब्दत्वं** हेतुः । इति । **तदा** । **तत्** शब्दत्वम् । **असाधारणं** शब्दात्मकपक्षमात्रवृत्तित्वात् । **यदा** । **तु** । **शब्दे** शब्दात्मकपक्षे । कृतकत्वेन हेतुना **अनित्यत्वनिश्चयः** अनित्यत्वात्मकसाध्यनिश्चयः । **तदा न** । **असाधारणः** किन्तु साधारण्यभ्रम इति । **इदं** निश्चयघटितासाधारणलक्षणम् । **प्राचां** प्राचीनानां नैयायिकानाम् । **मतम्** । **नवीनमतम्** । **तु** । **पूर्वं** प्रागेव । **उक्तं** प्रतिपादितं साध्यासमानाधिकरणो हेतुरसाधारण इति ॥ ७३ ॥

अनुवाद—जो दोनों (सपक्ष एवं विपक्ष) से अलग रहे, वह हेतु असाधारण माना जाता है ।

यस्तूभयस्मादिति । सपक्ष एवं विपक्ष से व्यावृत्त (असाधारण है), ऐसा अर्थ है । सपक्ष वह है, जो साध्यवान् के रूप में निश्चित है । विपक्ष वह है, जो साध्यशून्य के रूप में निश्चित है । 'शब्दोऽनित्यः शब्दत्वात्' इत्यादि में जब शब्द में अनित्यत्व का सन्देह होता है तब घट-पट आदि का सपक्षत्व होता है, क्योंकि उसमें साध्यभूत अनित्यत्व निश्चित रहता है और आकाश आदि विपक्ष होता है, क्योंकि उसमें साध्यभूत अनित्यत्व का अभाव निश्चित रहता है और उन दोनों से व्यावृत्त भी शब्दत्व होता है, अतः वह असाधारण होता है । जब शब्द में कृतकत्व हेतु से अनित्यत्व का निश्चय हो तब वह असाधारण नहीं होता । यह प्राचीनों का मत है । नवीन मत तो पहले ही बतलाया जा चुका है ।। ७३ ।।

तथैवानुपसंहारी केवलान्वयिपक्षकः ।।
(पर्वतो वह्निमान् सत्त्वादिति तत्रादिमो भवेत् ।
पृथ्वी नित्या गन्धवत्त्वादिति स्यादपरस्तथा ।
सर्वं तुच्छं प्रमेयत्वादिति तत्रान्तिमो भवेत् ।।)

तथैवेति । केवलान्वयिपक्षक इति । केवलान्वयिधर्मावच्छिन्नपक्षक इत्यर्थः । सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वादित्यादौ सर्वस्यैव पक्षत्वात् सामानाधिकरण्यग्रहस्थलान्तराभावान्नानुमितिः । इदं तु न सम्यक्, पक्षैकदेशे सहचारग्रहेऽपि क्षतेरभावात् । अस्तु वा सहचाराग्रहस्तावताऽप्यज्ञानरूपासिद्धिरेव न तु हेत्वाभासत्वं तस्य, तथापि केवलान्वयिसाध्यकत्वं तत्त्वमित्युक्तम् ।

आलोकः—परममूले उपसंहारिणं लक्षयति—**तथैवेति** । तथैव केवलान्वयिपक्षकः अनुपसंहारी इति । **तथैव** एवमेव । **केवलान्वयिपक्षकः** केवलम् अन्वयी अन्वयिधर्मावच्छिन्नः पक्षो यस्य स तादृशः हेतुः । **अनुपसंहारी** । भवतीति । यस्य हेतोः पक्षो लक्षणया पक्षता केवलान्वयिन्येवास्ति सोऽनुपसंहारी हेतुरित्याशयः । कारिकां विवृणोति—**तथैवेति** । कारिकायां **केवलान्वयिपक्षक** इति । **केवलान्वयिधर्मावच्छिन्नपक्षकः** केवलान्वयी अत्यन्ताभावाप्रतियोगी यो धर्मस्तदवच्छिन्नः पक्षो यस्य सः तादृशः । इत्यर्थः । **'सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात्'** इत्यादौ । सर्वत्वं केवलान्वयिधर्मः पक्षता साध्यसंशयरूपा तेन **सर्वस्य** । **एव** । **पक्षत्वात् सामानाधिकरण्यग्रहस्थलान्तराभावात्** तत्र साध्यसंशये सति हेतौ साध्यसामानाधिकरण्यसंशयेन सामानाधिकरण्यग्रहस्य सामानाधिकरण्यज्ञानस्य स्थलान्तरस्य व्याप्तिसञ्चारणस्थलस्य अभावाद् विरहात् सामानाधिकरण्यव्याप्तिनिश्चयप्रतिबन्धेन । **न** । **अनुमितिः** । इति । तत्र वस्तुमात्रस्य पक्षत्वेन साध्यनिश्चयस्य कुत्राप्यसम्भवेन व्यापकसामानाधिकरण्यविशिष्टप्रमेयत्वादिरूपव्याप्तिज्ञानानुत्पादेन नानुमितिरित्याशयः । **इदं** प्राचां मतम् । **न** । **सम्यक्** समीचीनम् । **पक्षैकदेशे** असत्यपि साधारण्यग्रहस्य दृष्टान्तस्थले पक्षैकभागे ।

सहचारग्रहे साध्यहेत्वोः सहचारज्ञाने । अपि । क्षतिः अनुमितिबाधायाः । अभावाद् विरहात् । संशयसत्त्वेऽपि पक्षैकदेशे साध्यनिश्चयो न निवार्यंते सर्वत्वधर्मितावच्छेदक-संशयसामग्रीसत्त्वेऽपि घटत्वादिधर्मितावच्छेदकसाध्यनिश्चयोत्पादे बाधकाभावाद् घटे प्रमेयत्वेन हेतुना अभिधेयत्वरूपसाध्यनिश्चये प्रतिबन्धकाभावाच्चेति विस्तरो-ऽन्यत्र । तत्र कल्पान्तरमाह—अस्त्विति । वा इति पक्षान्तरे । सहचाराग्रहः पक्षैकदेशे साध्यहेत्वोः सहचाराज्ञानम् अस्तु स्यादेव । तावता साध्येन सह हेतोः सहचाराग्रहेण। अपि अज्ञानरूपासिद्धिः व्याप्तिग्रहाभावात्मिका कारणासिद्धिः । एव यद्धि पुरुषस्य दूषणं न तु तस्य सहचाराग्रहस्य । हेत्वाभासत्वं दुष्टहेतुत्वम् । तथापि। केवलान्वयिसाध्यकत्वं केवलान्वयि अत्यन्ताभावाप्रतियोगि साध्यं यस्य तत्त्वम् । हेतोः। तत्त्वस्य अनुपसंहारित्वम् । इति । उक्तम् । परममूले साधारणादीनामुदाहरणानि प्रस्तौति—पर्वत इति । तत्र साधारणादिषु मध्ये । 'पर्वतो वह्निमान् सत्त्वात्' इति। आदिमः साधारणः । भवेत् । तथा । पृथ्वी नित्या गन्धवत्त्वात् । इति । अपरः अन्यः असाधारणः । स्यात् । तत्र 'सर्वं तुच्छं प्रमेयत्वात्' । इति । अन्तिमः अनुपसंहारी। भवेदिति ।

अनुवाद—उसी तरह केवलान्वयी पक्ष वाला अनुपसंहारी होता है ।

तथैवेति । 'केवलान्वयी पक्ष वाला' इसका अर्थ है—केवलान्वयिधर्म से अवच्छिन्न पक्ष वाला । 'सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात्' इत्यादि में सभी के ही पक्ष होने से सामानाधि-करण्य ज्ञान के स्थलान्तर के अभाव से अनुमिति नहीं होती । यह कथन ठीक नहीं है । पक्ष के एकदेश में साध्य एवं हेतु का सहचारग्रह होने पर भी क्षति नहीं है । अथवा सहचार का अग्रह (अज्ञान) ही हो, उतने से अज्ञानरूप असिद्धि ही होती है, न कि उसका हेत्वाभासत्व, तथापि केवलान्वयी साध्य हो जिसमें, वहाँ हेतु का आभासत्व ही कहना चाहिए ।

यः साध्यवति नैवाऽस्ति स विरुद्ध उदाहृतः ॥ ७४ ॥

यः साध्यवतीति । एवकारेण साध्यवत्त्वावच्छेदेन हेत्वभावो बोधितः। तथा च साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वं तदर्थ ॥ ७४ ॥

आलोकः—परममूले विरुद्धं लक्षयति—य इति । यः साध्यवति न । एव अस्ति सः विरुद्ध उदाहृतः इति । यः हेतुः । **साध्यवति** साध्ययुक्ते साध्याधिकरणे । न । एव। **अस्ति** वर्तते । सः तादृशो हेतु । **विरुद्धः** । **उदाहृतः** कथित इति । मूले कारिकां विवृ-णोति—**साध्यवतीति** । **एवकारेण** नैवास्त्यत्र य एवकारस्तेन । **साध्यवत्त्वावच्छेदेन** साध्याधिकरणत्वावच्छेदेन । **हेत्वभावः** हेतुविरहः । **बोधितः** ज्ञापितः । यदि तथा न विवक्षितः स्यात्तदा साधारणे स्यादतिव्याप्तिः । निष्कर्षमाह—तथेति । **तथा च** एव-मेव । **साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वं** साध्यस्य व्यापकीभूतो योऽभावस्तस्य प्रति-योगित्वम् । **तदर्थः** तस्य साध्यवत्तावच्छेदेन हेत्वभावस्यार्थ इति । यथा 'घटो नित्यः

कृतकत्वात्' इत्यत्र साध्यस्य नित्यत्वस्य व्यापकीभूतो योऽभावः कृतकत्वाभावः तत्प्रतियोगित्वं कृतकत्वस्येति कृतकत्वं विरुद्धो हेतुः।

(गोत्वादिसाध्ये हेतुर्हि यत्राश्वत्वादिको भवेत्।)

गोत्वादिसाध्ये अश्वत्वादिहेतुर्विरुद्ध इति ॥ ७४ ॥

अनुवाद—जो साध्य के अधिकरण में नहीं है, वैसा हेतु विरुद्ध कहलाता है।

यः साध्यवतीति। कारिका के 'एव'कार से ('नैवास्ति' में) साध्यवत्त्व के अवच्छेद से हेतु का अभाव बोधित होता है। इस प्रकार साध्य के व्यापकीभूत अभाव का प्रतियोगित्व उसका अर्थ है ॥ ७४ ॥

आश्रयासिद्धिराद्या स्यात्स्वरूपासिद्धिरप्यथ।
व्याप्यत्वासिद्धिरपरा स्यादसिद्धिरतस्त्रिधा ॥ ७५ ॥

असिद्धं विभजते—आश्रयासिद्धिरित्यादि ॥ ७५ ॥

आलोकः—परममूले असिद्धि विभजते—**आश्रयेति**। आद्या आश्रयासिद्धिः अथ स्वरूपासिद्धिः अपि अपरा व्याप्यत्वासिद्धिः स्यात् अतः असिद्धिः त्रिधा भवतीति। **आद्या** प्रथमा। **आश्रयासिद्धिः** पक्षासिद्धिः। **अथ** अनन्तरम्। **स्वरूपासिद्धिः** हेतोः स्वरूपेणासिद्धिः। **अपरा** अन्या। **व्याप्यत्वासिद्धिः** व्याप्यत्वस्य असिद्धिः। **अतः**। **असिद्धिः** असिद्धहेतुः। **त्रिधा** त्रिप्रकारा। भवतीति। मूले कारिकाशयं विवृणोति—**असिद्धमिति**। **असिद्धम्** असिद्धहेतुं **विभजते** विभागशो निर्वक्ति। **आश्रयासिद्धिरित्यादि**। आश्रयासिद्धिः स्वरूपासिद्धिः व्याप्यत्वासिद्धिश्चेति ॥ ७५ ॥

अनुवाद—पहली आश्रयासिद्धि, उसके बाद स्वरूपासिद्धि, तीसरी व्याप्यत्वासिद्धि, इस कारण असिद्धि तीन प्रकार की होती है ॥ ७५ ॥

असिद्ध का विभाग करते हैं—आश्रयासिद्धि इत्यादि ॥ ७५ ॥

पक्षासिद्धिर्यत्र पक्षो भवेन्मणिमयो गिरिः।

पक्षासिद्धिरिति। आश्रयासिद्धिरित्यर्थः।

ह्रदो द्रव्यं धूमवत्त्वादत्रासिद्धिरथापरा ॥ ७६ ॥

अपरेति। स्वरूपासिद्धिरित्यर्थः ॥ ७६ ॥

व्याप्यत्वासिद्धिरपरा नीलधूमादिके भवेत्।

नीलधूमादिक इति। नीलधूमत्वादिकं गुरुतया न हेतुतावच्छेदकं स्वसमानाधिकरणव्याप्यतावच्छेदकधर्मान्तराघटितस्यैव व्याप्यतावच्छेदकत्वात्। धूमप्रागभावत्वसङ्ग्रहाय स्वसमानाधिकरणेति।

आलोकः—परमूले आश्रयासिद्धि निर्दिशति—**पक्षासिद्धिरिति**। **यत्र** मणिमयो गिरिः पक्षो भवेत् सः पक्षासिद्धिरिति। **यत्र** अनुमितिस्थले। **मणिमयः** मणिनिर्मितः। **गिरिः** पर्वतः **पक्षः**। भवेत्। **सः** तादृशपक्षाश्रितहेतुः। पक्षासिद्धिरिति। **मूले** पक्षासिद्धिरिति आश्रयासिद्धिरित्यर्थः। आश्रये साध्यहेत्वोर्धर्मिणि पक्षे असिद्धिरिति। पक्षे

पक्षतावच्छेदकस्याभाव इति। यथा 'मणिमयः पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यादौ मणिमयपर्वतस्यासिद्धत्वात् मणिमयपर्वतत्वरूपस्य पक्षतावच्छेदकस्याभाव इति नानुमितिः। परममूले स्वरूपासिद्धिं निर्दिशति—ह्रद इति। अथ ह्रदो द्रव्यम्, धूमवत्त्वात् इत्यत्र अपरा असिद्धिः। अथ अनन्तरम्। **ह्रदो द्रव्यं धूमवत्त्वात्। इत्यत्र। अपरा** अन्या स्वरूपासिद्धिरूपा। असिद्धिरिति। मूले अपरेति स्वरूपासिद्धिरित्यर्थः। पक्षे व्याप्यत्वेनाभिमतस्य हेतोरभावः हेतौ हेतुतावच्छेदकाभावः। यथा **ह्रदो द्रव्यं** धूमवत्त्वादित्यत्र 'ह्रदो न धूमवानि'ति ज्ञाने सति वह्निव्याप्यधूमवानयं ह्रद इति परामर्शाभावेन परामर्शप्रतिबन्धो दुष्टिबीजम्। परममूले व्याप्यत्वासिद्धिं निर्दिशति—**व्याप्यत्वेति**। अपरा व्याप्यत्वासिद्धिः नीलधूमादिके भवेत् इति। **अपरा** अन्या असिद्धिः। **व्याप्यत्वासिद्धिः** व्याप्यत्वस्य व्याप्तेः असिद्धिः यस्य व्याप्तिरेव न सिध्यति तादृशो हेतुर्व्याप्यत्वासिद्ध इति। सा च नीलधूमादिके 'पर्वतो वह्निमान् नीलधूमात्' इत्यादौ हेतुभूते नीलधूमादिके भवेदिति। मूले **नीलधूमादिक** इति। **नीलधूमत्वं** नीलत्वविशिष्टधूमत्वम्। **गुरुतया** गुरुधर्मतया। न। **हेतुतावच्छेदकं** हेतुतायाः धूमत्वस्य अवच्छेदकम्। **स्वसमानाधिकरणव्याप्यतावच्छेदकधर्मान्तराघटितस्य** **स्वस्यात्र** नीलधूमस्य समानाधिकरणस्य तुल्याश्रयस्य व्याप्यतावच्छेदकं व्याप्तिनिरूपकं **यद्धर्मान्तरं** शुद्धधूमत्वं तदघटितस्य। एव हि। **व्याप्यतावच्छेदकत्वात्** व्याप्यताया व्याप्तेरवच्छेदकत्वात्। घटके स्वसमानाधिकरणपदकृत्यं निर्दिशति—**धूमेति**। **धूमप्रागभावत्वसङ्ग्रहाय** 'इयं यज्ञशाला वह्निमती भविष्यति धूमप्रागभावात्' इत्यादौ धूमप्रागभावत्वरूपस्य धर्मस्य अवच्छेदकत्वस्वीकाराय। स्वसमानाधिकरणेति पदमिति ॥ ७६ ॥

अनुवाद—पक्षासिद्धि वहाँ होती है जहाँ मणिमय गिरि पक्ष होता है। 'ह्रदो द्रव्यं धूमवत्वात्' में दूसरी असिद्धि होती है। नीलधूम आदि में व्याप्यत्वासिद्धि होती है।

पक्षासिद्धिरिति। पक्षासिद्धि का अर्थ आश्रयासिद्धि है। **अपरेति**। अपरा का अर्थ स्वरूपासिद्धि है। **नीलधूमादिक** इति। नीलधूमत्व गुरु होने से हेतुता का अवच्छेदक नहीं होता, क्योंकि अपने समानाधिकरण की व्याप्यता के अवच्छेदक धर्मान्तर से घटित का ही व्याप्यतावच्छेदक होता है। धूमप्रागभाव के सङ्ग्रह के लिए 'अपने समानाधिकरण की' पदावली रखी गई है ॥ ७६ ॥

विरुद्धयोः परामर्शे हेत्वोः सत्प्रतिपक्षता ॥ ७७ ॥

विरुद्धयोरिति। कपिसंयोगतदभावव्याप्यवत्तापरामर्शेऽपि न सत्प्रतिपक्षत्वमत उक्तं—विरुद्धयोरिति। तथा च स्वसाध्यविरुद्धसाध्याभावव्याप्यवत्तापरामर्शकालीनसाध्यव्याप्यवत्तापरामर्शविषय इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

आलोकः—परममूले सत्प्रतिपक्षतां लक्षयति—**विरुद्धयोरिति**। विरुद्धयोः हेत्वोः परामर्शे सत्प्रतिपक्षता **भवतीति**। **विरुद्धयोः** परस्पराऽसमानाधिकरणसाध्ययोः। यौ

हेतू तयोः हेत्वोः । **परामर्शे** परामर्शद्वये साध्यव्याप्यवान् पक्षः साध्याभावव्याप्यवान् पक्ष इति च । **सत्प्रतिपक्षता** सन् विद्यमानः प्रतिपक्षः स्वीयसाध्याभावसाधकोऽपरो हेतुर्यस्य तस्य भावस्तत्ता भवति च तद्वान् सत्प्रतिपक्ष इति ।

(श्रावणत्वादितो नित्योऽनित्यस्तु कार्यतादितः ।)

शब्दो हि श्रावणत्वादिहेतोर्नित्यः कार्य(जन्य)त्वादिहेतोरनित्य इति । मूले कारिकाशयं विवृणोति—**विरुद्धयो**रिति । विरुद्धयोरिति पदाशयं निर्वक्ति—**कपोति** । **कपिसंयोगतदभावव्याप्यवत्तापरामर्शे** वृक्षत्वादिहेतौ कपिसंयोगस्य तथा कपिसंयोगाभावस्य चानयोर्व्याप्यत्वपरामर्शे । **अपि च** । **न** । **सत्प्रतिपक्षत्वं** सत्प्रतिपक्षव्यवहारः परस्परविरोधाभावात् स्वसाध्येन विरुद्धो यः साध्याभावस्तद्व्याप्यवत्तापरामर्शकाले एव साध्यव्याप्यवत्तापरामर्शस्य विषयः सत्प्रतिपक्षो भवति । **अतः** । **उक्तं** कथितम् । विरुद्धयोरिति । निष्कृष्टं लक्षणमाह—**तथेति । तथा । च । स्वसाध्यविरुद्धसाध्याभावव्याप्यवत्तापरामर्शकालीनसाध्यव्याप्यवत्तापरामर्शविषयः** स्वं सत्प्रतिपक्षत्वेनाभिमतो यो हेतुः तत्साध्यविरुद्धो यः साध्याभावः तद्व्याप्यवत्तापरामर्शकालीनो यः साध्यव्याप्यवत्तापरामर्शः तद्विषयः सत्प्रतिपक्षः । इत्यर्थः । 'ह्रदो वह्निमान् धूमात्' इत्यत्र स्वं सत्प्रतिपक्षत्वेनाभिमतो धूमः, तत्साध्यं वह्निस्तद्विरुद्धो यः साध्याभावो वह्न्यभावस्तद्व्याप्यवत्तापरामर्शः धूमाभावव्याप्यजलवान् ह्रद इति परामर्शस्तत्कालीनो यः साध्यव्याप्यवत्तापरामर्शः वह्निव्याप्यधूमवान् ह्रद इति तद्विषयो धूमः सत्प्रतिपक्ष इत्याशयः ॥ ७७ ॥

अनुवाद—परस्पर असमान अधिकरणवाले साध्यों के जो हेतु हैं, उनके साध्यव्याप्यवान् पक्ष तथा साध्याभावव्याप्यवान् पक्ष, ऐसे दोनों परामर्शों में सत्प्रतिपक्षता होती है और उससे युक्त सत्प्रतिपक्ष होता है ।

विरुद्धयोरिति । कपिसंयोग एवं तदभाव से व्याप्यवत्ता के परामर्श में भी सत्प्रतिपक्षितत्व नहीं है, अतः 'विरुद्धयोः'='परस्पर असमान अधिकरण वाले साध्यों के' ऐसा कहा गया है । इसी तरह अपने साध्य के विरुद्ध जो साध्याभाव है, उसके व्याप्यवत्ता के परामर्शकालीन जो साध्य है, उसकी व्याप्यवत्ता के परामर्श का विषय सत्प्रतिपक्ष है, ऐसा अर्थ है ॥ ७७ ॥

साध्यशून्यो यत्र पक्षस्त्वसौ बाध उदाहृतः ।
उत्पत्तिकालीनघटे गन्धादिर्यत्र साध्यते ॥ ७८ ॥

साध्यशून्य इति । पक्षः पक्षतावच्छेदकविशिष्ट इत्यर्थः । तेन घटे गन्धसत्त्वेऽपि न क्षतिः । एवं मूलावच्छिन्नो वृक्षः कपिसंयोगीत्यत्रापि बोध्यम् ॥ ७८ ॥

इति न्यायपञ्चाननश्रीविश्वनाथभट्टाचार्यविरचितायां
सिद्धान्तमुक्तावल्यामनुमानखण्डम् ॥

आलोकः—परमूले बाधं लक्षयति—साध्यशून्य इति । यत्र पक्षः साध्यशून्यः असौ बाधः उदाहृतः, यत्र उत्पत्तिकालीनघटे गन्धादिः साध्यते इति । **यत्र** प्रयोगे । **पक्षः** साध्याधिकरणः । **साध्यशून्यः** साध्याभाववान् भवति । **असौ** । **बाधः** बाधदोषः । **उदाहृतः** कथितः । **यत्र** यस्मिन् प्रयोगे । **उत्पत्तिकालीनघटे** उत्पत्तिक्षणघटे । **गन्धादिः** । **साध्यते** । मूले कारिकाशयं स्पष्टयति—साध्यशून्य इति । कारिकायां **पक्ष** इति । **पक्षतावच्छेदकविशिष्टः** पक्षत्वं घटत्वम्, तदवच्छेदकोऽत्र उत्पत्तिक्षणस्तद्विशिष्टः पक्ष इत्यर्थः। उत्पत्तिक्षणविशिष्टो घट इति । **तेन** तथाशयेन । **घटे** । **गन्धसत्त्वे** कालान्तरे गन्धसद्भावे । **अपि** । **न क्षतिः** बाधे हानिः । **एवम्** इत्थम् । **मूलावच्छिन्नो वृक्षः कपिसंयोगी** । **इति** । **अत्रापि** । **बोध्यम्** । 'उत्पत्तिकालावच्छिन्नो घटो गन्धवान् पृथिवीत्वात्' इत्यत्र पक्षे पक्षतावच्छेदककालविशिष्टपक्षग्रहणेन कालान्तरे घटे गन्धसत्त्वेऽपि न बाधदोषे क्षतिः । एवं 'मूलावच्छिन्नो वृक्षः कपिसंयोगी एतद् वृक्षत्वात्' इत्यत्र वृक्षे शाखावच्छेदेन कपिसंयोगेऽपि पक्षतावच्छेदकमूलावच्छेदेन नास्ति कपिसंयोगः । एवं मूलरूपदेशस्यावच्छेदकत्वेन बाधो भवत्येवेति ।

इति श्रीवत्सगोत्रीयषट्कर्मनिरतपरशुरामात्मजविष्णुमायागर्भज-लोकमणिदाहालप्रणीते सिद्धान्तमुक्तावलीसहितकारिकावल्याः आलोकाख्यटीकायां द्वितीयमनुमानखण्डं समाप्तम् ।

समाप्ता पञ्चमी मुक्ताऽनुमानाख्या समासतः ।
नमस्तेभ्यो विपश्चिद्भ्यो याननुसृत्य सारतः ।
सुसम्पन्नं विवरणमिदं सारविवेचकम् ।।

अनुवाद—जहाँ पक्ष साध्य से शून्य होता है वह बाध कहलाता है, जहाँ उत्पत्तिकालीन घट में गन्ध आदि साधित किया जाता है ।

साध्यशून्य इति । पक्ष का अर्थ है—पक्षतावच्छेदक से विशिष्ट, ऐसा अर्थ है। इस कारण घट में कालान्तर से गन्ध के रहने पर भी कोई क्षति नहीं है । इस प्रकार 'मूलावच्छिन्नो वृक्षः कपिसंयोगी' इसमें भी जान लेना चाहिए ।। ७८ ।।

उपमानखण्डम्

ग्रामीणस्य प्रथमतः पश्यतो गवयादिकम्।
सादृश्यधीर्गवादीनां या स्यात्सा करणं मतम् ॥ ७९ ॥
वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिर्व्यापार उच्यते।
गवयादिपदानां तु शक्तिधीरुपमा फलम् ॥ ८० ॥

उपमितिं व्युत्पादयति—ग्राणीणस्येति। यत्रारण्यकेन केनचिद् ग्रामीणं प्रत्युक्तं गोसदृशो गवयपदवाच्य इति। पश्चाद् ग्रामीणेन क्वचिदरण्यादौ गवयो दृष्टस्तत्र गोसादृश्यज्ञानं यज्जातं तदुपमितिकरणम्। तदनन्तरं 'गोसदृशो गवयपदवाच्यः' इत्यतिदेशवाक्यार्थस्मरणं यज्जायते तदेव व्यापारः। तदनन्तरं तत्र गवयो गवयपदवाच्य इति ज्ञानं यज्जायते तदुपमितिः, न त्वयं गवयपदवाच्य इत्युपमितिः; गवयान्तरे शक्तिग्रहाभावप्रसङ्गात् ॥ ७९-८० ॥

इति श्रीविश्वनाथन्यायपञ्चाननभट्टाचार्यविरचितायां
सिद्धान्तमुक्तावल्यामुपमानखण्डम् ॥

आलोकः—यस्य न प्रतिमा लोके सादृश्यं यस्य न क्वचित्।
नमस्तस्मै महेशाय विभवे विश्वयोनये ॥ १ ॥
व्याख्याय कारिकावल्या अनुमानप्रखण्डकम्।
विवृणोत्युपमानञ्च खण्डं लोकमणिर्द्विजः ॥ २ ॥
व्याख्यातृभ्यो नमस्तेभ्यो याननुसृत्य सारतः।
प्रवर्तते विवरणमिदं सारविवेचकम् ॥ ३ ॥

परममूले उपमितिं निर्वक्ति—**ग्रामीणस्येति**। प्रथमतः गवयादिकं पश्यतः ग्रामीणस्य या गवादीनां सादृश्यधीः सा करणं मतम् अतिदेशस्य वाक्यार्थस्य स्मृतिः व्यापारः उच्यते, गवयादिपदानां शक्तिधीः तु उपमा फलम् इति। **प्रथमतः** प्रथमवारम्। **गवयादिकं** गवयाख्यपिण्डादिकम्। **पश्यतः** विलोकयतः। **ग्रामीणस्य** ग्राम्यजनस्य। **या**। **गवादीनां** गोपिण्डादीनाम्। **सादृश्यधीः** अयं गोसदृश इति गवयादिविशेष्यकगोसदृशप्रकारकप्रत्यक्षं स्यादिति मतिः। **सा धीः**। **करणम्** उपमितेः साधकतमम्। **मतं** नैयायिकानां सम्मतम्। **अतिदेशस्य** गोसदृशो गवयपदवाच्य इत्युपदिष्टस्य। **वाक्यार्थस्य**

गोसदृशो गवयपदवाच्यो भवतीति वाक्यप्रतिपादितार्थस्य । **स्मृतिः** स्मरणम् । **व्यापारः** द्वारम् । **उच्यते** कथ्यते । **गवयादिपदानां** गवयप्रभृतिपदानाम् । **शक्तिधीः** गवयो गवयपदवाच्य इति शक्तिग्रहः । **तु** । **उपमा** **उपमितिप्रमा** । **फलं** परिणतिः । इति । मूले कारिकाशयं विवृण्वन् विषयनिर्देशं करोति–उपमितिमिति । **उपमितिम्** उपमा । **व्युत्पादयति** निरूपयति । प्रसङ्गसङ्गत्याऽवसरसङ्गत्या वोपमितिं निरूपयतीति भावः । तत्र प्रस्तुतिक्रमेण व्याख्यानं प्रसङ्गः प्रतिबन्धकीभूतशिष्यजिज्ञासानिवृत्त्याऽवश्यवक्तव्यत्वमवसरः । प्रकृते 'विभुर्बुद्ध्यादिगुणवान् बुद्धिस्तु द्विविधा मता । अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा ॥ प्रत्यक्षमप्यनुमितिस्तथोपमितिशब्दजे' । (का० ५१, ५२) इति निर्देशेन अनुमितिनिरूपणानन्तरमुपमितेरेव प्रसङ्ग आयाति । एवञ्च 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' इति गौतमीयन्यायसूत्रेऽपि स एव क्रमो विवक्षितः । एवमेव 'अथ तत्पूर्वकत्रिविधमनुमानं····' 'प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्' इति निर्देशेनानुमानोपमानयोर्द्वयोरपि प्रत्यक्षोपजीवकत्वेऽपि उपमित्यपेक्षयाऽनुमितौ बहुवक्तव्यतया तस्या दुर्बोध्यतया च प्रत्यक्षनिरूपणानन्तरमुपमाने निरूपणीयेऽपि अनुमानस्य बहुवादिसम्मतत्वेन निरसनीयाल्पवादिविप्रतिपत्तिकत्वेन सुगमतया तत्रैव प्रायशो व्युत्पित्सोः प्रथमतो जिज्ञासा जायते इत्यनुमाननिरूपणेन प्रतिबन्धकीभूतशिष्यजिज्ञासानिवृत्त्याऽवश्यवक्तव्यत्वमुपमानस्येति अवसरसङ्गत्या चानुमाननिरूपणानन्तरमुपमाननिरूपणमिति । नैतत्प्रत्यक्षं चक्षुरादिव्यापारविगमेऽपि जायमानत्वात् । न च मानसं ततो विलक्षणतयाऽनुभूयमानत्वादन्यथाऽनुमितेरपि मानसत्वापत्तेः । नाप्यनुमितिः व्याप्तिज्ञानाद्यभावेऽप्युत्पत्तेः । नापि शाब्दं गवयत्वविशिष्टोपस्थापकपदाभावात् । तदित्थं हि उपमितिकरणमुपमानं तत्र संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः । **ग्रामीणस्येति** कारिकाव्याख्यानाय गृहीतमिदं प्रतीकम् । **यत्र** प्रयोगे । **केनचित्** आप्तत्वेनाभिमतेन । **आरण्यकेन** वनवासिना जनेन । **ग्रामीणस्य** ग्रामवासिजनाय । **उक्तं** कथितं कथाप्रसङ्गे । **गोसदृशः** गोतुल्यसास्नादिमत्पिण्डविशेषः । **गवयपदवाच्यः** गवयपदस्यार्थः । इति । **पश्चात्** कालान्तरे उक्तवाक्यश्रवणजन्यवाक्यार्थानुभवोत्तरम् । **च** हि । **ग्रामीणेन** ग्रामवासिजनेन तेन । **क्वचित्** कुत्रचित् । **अरण्यादौ** वनप्रदेशे । **गवयः** तत्संज्ञितपिण्डविशेषः । **दृष्टः** अवलोकितः । **तत्र** प्रत्यक्षीकृतगवयपिण्डे । **यत्** यदेव । **गोसादृश्यदर्शनं** गोतुल्यावयवपिण्डदर्शनं दर्शनविषयगवयव्यक्तित्वावच्छिन्नविशेष्यकगोसादृश्यप्रकारकप्रत्यक्षम् । **जातं** सम्पन्नम् । **तत्** प्रत्यक्षम् । **उपमितिकरणम्** उपमानं प्रमाणमिति । सादृश्यं हि तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयो धर्मवत्त्वं गोसादृश्यञ्च गोभिन्नत्वे सति गवये गोगतशृङ्गादिधर्मयुक्तत्वम् । **तदनन्तरं** गवये गोसादृश्यानुभवानन्तरम् । **'गोसदृशो गवयपदवाच्यः' इति अतिदेशवाक्यार्थस्मरणम्** उपदेशवाक्यार्थानुभवसमानाकारं स्मरणम् । **यत्** । **जायते** सम्पद्यते । **तत्** स्मरणम् । **एव** हि । **व्यापारः** द्वारम् । **तदनन्तरं** स्मरणानन्तरम् । **यद्** । **गवयो गवयपदवाच्यः** । **इति** इत्थं गवयवाच्यत्वप्रकारकगवयविशेष्यकम् । **ज्ञानं** धीः । **जायते** उत्पद्यते । **तत्** तादृशज्ञानमेव । **उपमितिः** । **न** । **तु** तद्विपरीतम् । अयं पुरोवर्तिपिण्डविशेषः । **गवयपदवाच्यः** गवयपदबोध्यवस्तु । **इति** इत्थम् । **उपमितिः** ।

तथामते गवयान्तरे देशकालान्तरीयगवये। शक्तिग्रहाभावप्रसङ्गात् शक्तिज्ञानविरहसम्भवात्। तेन गवयो गवयपदवाच्य इत्येवोपमितिः।

उपमानं त्रिविधं—सादृश्यविशिष्टपिण्डदर्शनम्, असाधारणधर्मविशिष्टदर्शनं वैधर्म्यविशिष्टपिण्डदर्शनञ्च। तत्र प्रथममनन्तरोक्तप्रकारकम्। द्वितीयं यथा 'भल्लुकः कीदृगि'ति पृष्टे पञ्चाङ्गुलिविशिष्टपादचतुष्टयादिलक्षणविशिष्टः कृष्णदीर्घरोमावृतशरीरो भल्लुक इति तज्ज्ञातृभ्यः श्रुत्वा कालान्तरे तादृशविशिष्टपिण्डदर्शनं तत उपदेशवाक्यार्थस्मरणं ततो भल्लुको भल्लुकपदवाच्य इत्युपमितिर्भवति। तृतीयं यथा सिंहः करश्रृङ्गखुरादिरहितशरीरः इति तज्ज्ञातृभ्यः श्रुत्वा कालान्तरे करादिधर्मविरुद्धधर्मविशिष्टपिण्डदर्शने उपदेशवाक्यार्थस्मरणं ततः सिंहः सिंहपदवाच्य इत्युपमितिरिति। इत्थमुपमितौ प्रसिद्धसादृश्यादिधीः करणमुपदेशवाक्यार्थस्मरणं व्यापारः एष एतत्पदवाच्य इति ज्ञानं फलमिति। साम्प्रदायिकमते तु अतिदेशवाक्यार्थशाब्दबोधः करणम् अतिदेशवाक्यार्थस्मरणं व्यापारः सादृश्यविशिष्टपिण्डदर्शनं सहकारि गवयो गवयपदवाच्य इति ज्ञानमुपमितिरिति। उपाध्यायमते तु सादृश्यज्ञानमात्रं करणं विशेषणज्ञानविधया तज्जन्यमतिदेशवाक्यार्थज्ञानं सादृश्यविशिष्टपिण्डदर्शनञ्च द्वयमेव व्यापारः गवयो गवयपदवाच्य इत्युपमितिः। केषाञ्चिन्मते तु वाक्यज्ञानं करणं वाक्यार्थानुभवो व्यापारः गवयो गवयपदवाच्य इत्युपमितिरिति। मीमांसकमते तु गोसदृशो गवयपदवाच्य इत्येवोपमितिः। नैयायिकमते तन्न, गोसदृशो गवयपदवाच्य इत्युपदेशवाक्यजन्यशाब्दबोधे तस्यान्तर्गतत्वेनातिरिक्तप्रमात्वानुपपत्तेः। न चोपमानं न मानान्तरं प्रत्यक्षत एव तदर्थसिद्धेरिति चेन्न, चक्षुरादिव्यापारविगमेऽपि उपमितेरुत्पादेन चाक्षुषत्वाद्यसम्भवात्। उपमित्यनन्तरं साक्षात्करोमीति प्रतीतेरनुदयेन तत्र प्रत्यक्षसत्त्वे प्रमाणाभावाच्च। न च यथा काणादा बौद्धाश्च 'गवयः गवयपदवाच्यो गोसादृश्यादि'त्यनुमानेन 'गवयपदवाच्यत्वव्याप्यगोसादृश्यवानयम्' इति परामर्शोत्तरं गवयो गवयपदवाच्य इत्यनुमित्यैव गतार्थोपमितिरिति वाच्यं; पदवाच्यत्वस्य सादृश्येन सह व्याप्तिज्ञानं विनाऽपि गवयपदवाच्यत्वप्रकारकप्रमात्मकज्ञानस्योपमितिरूपस्यानुभवसिद्धत्वात्प्रमान्तरमेवानुमितिर्विद्विति विस्तरोऽन्यत्र। सारं तु उपमितिः प्रमित्यन्तरमेव तत्करणतयोपमानस्यापि प्रमाणान्तरत्वमिति।

इति श्रीवत्सगोत्रीयषट्कर्मनिरतपरशुरामात्मजविष्णुमायागर्भजलोकमणिदाहालप्रणीते सिद्धान्तमुक्तावलीसहितकारिकावल्याः आलोकाख्यटीकायां तृतीयमुपमानखण्डं सम्पूर्णम्।

उपमानस्वरूपाख्या षष्ठी मुक्ता निरूपिता।

अनुवाद—पहली बार गवय आदि को देखते हुए ग्रामीण का, उसका गो आदि के साथ जो सादृश्य का ज्ञान है, वह करण माना गया है। उपदेश-वाक्य के अर्थ की स्मृति व्यापार है और गवय आदि पदों की शक्ति का ज्ञान उपमिति-फल है।

अनुमिति का निरूपण करते हैं–**ग्रामीणस्येति**। जहाँ किसी आरण्यक के द्वारा किसी ग्रामीण को कहा गया—'गवय पद से जाना जाने वाला गौ के सदृश होता है'। बाद में उस ग्रामीण ने कहीं जङ्गल में गवय देख लिया, वहाँ जो गोसादृश्य का दर्शन हुआ वह उपमिति का करण है। उसके बाद 'गवय पद से जाना जाने वाला गोसदृश होता है' ऐसे उपदेश वाक्य के अर्थ का जो स्मरण होता है, वही व्यापार है। उसके बाद 'गवय गवय-पद वाच्य है' ऐसा जो ज्ञान होता है, वह उपमिति है। न कि 'यह गवय-पदवाच्य है' ऐसी उपमिति होती है, क्योंकि वैसा होने पर दूसरे गवय में शक्तिग्रह के अभाव का प्रसङ्ग आ जाता है॥ ७९-८०॥

शब्दखण्डम्

पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः ।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ॥ ८१ ॥

शाब्दबोधप्रकारं दर्शयति—पदज्ञानं त्विति। न तु ज्ञायमानं पदं करणं तदभावेऽपि मौनिश्लोकादौ शाब्दबोधात्। पदार्थधीरिति। पदजन्यपदार्थस्मरणं व्यापारः। अन्यथा पदज्ञानवतः प्रत्यक्षादिना पदार्थोपस्थितावपि शाब्दबोधापत्तेः।

आलोकः—अर्थात्मकं महेशानं भवानीं शब्दरूपिणीम्।
वन्दे शब्दार्थसंसिद्धयै यतो ज्ञानं प्रवर्तते ॥ १ ॥
व्याख्याय कारिकावल्या उपमानप्रखण्डकम्।
व्याख्यात्यसौ शब्दखण्डं शैवो लोकमणिर्द्विजः ॥ २ ॥
व्याख्यातृभ्यो नमस्तेभ्यो याननुसृत्य सारतः।
प्रवर्तते विवरणमिदं सारविवेचकम् ॥ ३ ॥

परममूले शाब्दबोधप्रकारं निर्दिशति—**पदज्ञान**मिति। तत्र पदज्ञानं तु करणम्, पदार्थधीः द्वारम्, शाब्दबोधः फलम्, तत्र शक्तिधीः सहकारिणी इति। तत्र शाब्द्यां प्रमायाम्। **पदज्ञानं** पदस्य ज्ञानमवबोधः पदविषयकज्ञानं तच्च पदश्रवणे सति पदस्य श्रावणप्रत्यक्षात्मकं पुस्तकादौ लिखितस्मारकरेखापङ्क्तिदर्शने तु रेखादर्शनात्मकोद्बोधजन्यं पदस्य स्मरणात्मकम्। तु एव। **करणं** शाब्दबोधस्य साधकतमम्। भवतीति। **पदार्थधीः** पदार्थस्य पदज्ञानजन्यं धीर्ज्ञानं तद्विषयकस्मरणम्। **द्वारं** व्यापारः। भवतीति। **शाब्दबोधः** शाब्दः शब्दसम्बद्धः शब्दसमूहात्मकवाक्यजन्यवाक्यार्थलभ्यः बोधः ज्ञानम्। **फलं** प्रमा भवतीति। **तत्र** पदजन्यपदार्थस्मरणात्मकव्यापारे। **शक्तिधीः** शक्तेः पदपदार्थसम्बन्धस्य धीर्ज्ञानम्। **सहकारिणी** सहकारिकारणमिति।

शाब्द्यां हि प्रमायां पदानुभव एव व्यापारवदसाधारणं कारणं पदार्थज्ञानं व्यापारः पदपदार्थसम्बन्धरूपशक्तिज्ञानं सहकारिकारणं वाक्यार्थज्ञानं परिणतिरित्याशयः। एकपदार्थेऽपरपदार्थसंसर्गविषयकज्ञानं शाब्दबोधः यथा नीलो घट इति वाक्याज्जायमानं घटपदार्थे नीलाभेदसंसर्गं विषयीकुर्वद् नीलाभिन्नो घट इत्याकारकं ज्ञानमिति विस्तरोऽन्यत्र।

मूले कारिकाशयं विवृण्वन् विषयनिर्देशं करोति—**शाब्देति**। **शाब्दबोधप्रकारं** शाब्दप्रमातत्करणव्यापारादिसामग्रीस्वरूपम्। **दर्शयति**। प्रसङ्गसङ्गत्याऽवसरसङ्गत्या च शाब्दप्रमां निरूपयतीति। तत्र प्रस्तुतिक्रमेण व्याख्यानं प्रसङ्गोऽवश्यवक्तव्यत्व-

मवसरः। 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' इति विभागसूत्रे उपमानानन्तरं शब्दस्य निर्देशात्तस्य निरूपणं क्रमप्राप्तमेव। तथैव प्रत्यक्षानुमानोपमानेषु निरूपितेषु शब्दस्यैव शिष्यजिज्ञासाविषयत्वात्तस्यात्रावश्यवक्तव्यत्वेन निरूपणावसरोऽपि। मीमांसानये तु उपमानात्प्रागेव शब्दो निरूप्यते। 'प्रत्यक्षमनुमानं शब्दं चोपमितिस्तथा अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि' इति विभागसूत्रम्। 'अनुमानतः पुरस्तादुपमानं वर्णयन्ति तर्कविदः। वादिपरिग्रहभूम्ना वयं तु शाब्दं पुरस्कुर्मः' इति च तेषां प्रतिज्ञावाक्यम्। तदनुसारेण—'तत्र तेषां पदैर्ज्ञातैः पदार्थस्मरणे कृते। असन्निकृष्टवाक्यार्थज्ञानं शाब्दमितीर्यते'॥ इति शाब्दप्रमाविवेचनम्। अर्थाद् विज्ञातेभ्यः पदेभ्यः पदार्थस्मृतिमुखेनासन्निकृष्टेऽर्थे यज्ज्ञानं तच्छाब्दमिति। वैशेषिकादयो हि शब्दस्यानुमानेऽन्तर्भावं मत्वा पृथक्प्रामाण्यं नेच्छन्ति। तदनुसारेण द्वयोरेव परोक्षविषयत्वं तथैव—यथा प्रत्यक्षतो धूमं दृष्ट्वाऽग्निरनुमीयते तथैव शब्दमाकर्ण्य तदर्थोऽप्यवगम्यते। शब्देऽपि लिङ्गवत् अन्वयव्यतिरेकौ च भवतः। यो यत्र दृश्यते शब्दः स तस्यार्थस्य वाचकः। शब्दस्य पक्षधर्मत्वमप्यस्ति। आप्तवादाविसंवादसामान्यात् शब्दस्याऽप्यनुमानतैव। किञ्च शब्दो विवक्षायामेव प्रामाण्यमश्नुते न बाह्ये, व्यभिचारित्वात्तस्यां चैतस्य लिङ्गतेति। तत्रोच्यतेऽनुमानं हि सम्बन्धाधिगममूलप्रवृत्तिः, वाक्यं त्वनवगतसम्बन्धमेव वाक्यार्थमवगमयितुमलमिति नानुमानेन शब्दस्य साम्यसम्भावना। पदस्य तु सम्बन्धाधिगमसापेक्षत्वे सत्यपि तस्य सामग्रीभेदाद् विषयभेदाच्चानुमानाद्भिन्नत्वम्। पदलिङ्गयोर्विषयो विसदृशः तद्वन्मात्रं पदस्यार्थः अनुमानं तु वाक्यार्थविषयम्। अपि च पर्वतादिविशेष्यप्रतिपत्तिपूर्विका पावकादिविशेषणावगतिलिङ्गादुदेति पदात्तु विशेषणावगतिपूर्विका विशेष्यावगतिरिति विषयभेदः। तथा च गोशब्दे धर्मिणि गोत्वादिसामान्यात्मकस्य हेतोर्ग्रहणं, ततो व्याप्तिस्मरणं, ततः परामर्शस्ततोऽर्थप्रतिपत्तिरिति कालद्राघीयस्त्वाद्धर्मी तिरोहितो भवति, न पर्वतवदवस्थितिस्तस्यापि तूच्चरितप्रध्वंसित्वं शब्दस्य। न च शब्दमर्थवत्त्वेन लोकः प्रतिपद्यते, किन्तु शब्दात्पृथगेवार्थमिति न सर्वथा शब्दः पक्षः, अतो धर्मविशिष्टस्य धर्मिणः साध्यस्येहासम्भवाच्छब्दलिङ्गयोर्विषयभेदः स्पष्टः।

एवमेव पक्षधर्मान्वयादिरूपसापेक्षमनुमानं शब्दे तु न तानीति तयोः सामग्रीभेदश्च स्पष्टः। तथा च शब्दस्य पक्षत्वप्रतिक्षेपान्न तद्धर्मतया गवादिसामान्यस्य लिङ्गता न चार्थस्य धर्मित्वं, सिद्धसिद्धिविकल्पानुपपत्तेः। न च तद्धर्मत्वं शब्दस्य शक्यते वक्तुं, तत्र वृत्त्यभावात् इत्यादि न्यायमञ्जर्यां स्पष्टम्।

केचन शब्दप्रामाण्यमपि नोररीकुर्वन्ति। अर्थप्रतीतिजनकं प्रमाणं विकल्पमात्रमूलत्वान्नार्थं शब्दाः स्पृशन्ति। अन्ये तन्न मन्यन्ते। तन्मते भवेदेतदेवं यदि न कदाचिदपि यथार्थः शब्दः प्रत्ययमुपजनयेत्, अर्थसंस्पर्शित्वमेवास्य स्वभाव इत्यवगम्यते। तेन शब्दप्रमाणमव्याहतमिति।

शब्दस्य स्वतःप्रामाण्यं परतो वेति विषये मीमांसकमते प्रमाणान्तरवत् स्वतःप्रामाण्यम्। अन्येषां मते तु शब्दस्य परतः प्रामाण्यमेव। कारिकाशयं विवृणोति—

पदज्ञानं त्विति। पदज्ञानं तु करणमित्यत्र **न**। **तु** एव। **ज्ञायमानं** वर्तमानकालीन-श्रावणज्ञानविषयीभूतम्। **पदम्**। **करणं** व्यापारवदसाधारणकारणम्। यथा **प्राचीना** आमनन्ति। तथाभवने हेतुमाह—**तदभावेऽपीति**। **तदभावे** श्रावणविषयपदविरहे। **अपि च**। **मौनिश्लोकादौ** मौनिप्रणीतवाक्यबोधकलीप्यादौ, आदिपदाद् विजातीय-करचेष्टादावपि। **शाब्दबोधात्** शाब्दबोधस्य जायमानत्वात्। यथा हि प्राचीनाः कथयन्ति शाब्दबोधे ज्ञायमानमर्थाद् वर्तमानकालीनश्रावणज्ञानविषयीभूतं पदमेव असाधारणं कारणं भवतीति तन्न समीचीनम्। ज्ञायमानपदस्यैव शाब्दबोधे करणत्वे मौनिप्रणीतवाक्यबोधलीप्यादौ विजातीयकरचेष्टादावपि शाब्दबोधो न स्यात्तत्र ज्ञायमानपदाभावात्किन्तु ततोऽपि शाब्दबोधेन पदज्ञानमत्र पदश्रवणे सति पदविषयक-श्रावणप्रत्यक्षं पुस्तकादौ लिखितस्मारकरेखानां मौनतया दर्शने तु रेखादर्शनात्मकोद्-बोधकजन्यं पदस्य स्मरणात्मकं ज्ञानमिति विस्तरोऽन्यत्र। **पदार्थधीरिति**। कारिकायां पदार्थधीरिति **पदजन्यपदार्थस्मरणं** पदज्ञानजन्यं पदार्थस्मरणम्। सा एव **व्यापारः** द्वारम्। **अन्यथा** पदज्ञानजन्यत्वानिवेशेन पदार्थज्ञानमात्रस्य व्यापारत्वे। **पदज्ञानवतः** पदार्थज्ञानयुक्तस्य जनस्य। **प्रत्यक्षादिना** चक्षुस्संयोगेनानुमानेनान्येनोद्बोधकेन वा। **पदार्थोपस्थितौ** पदार्थस्य घटात्मकादिपार्थिववस्तुनः उपस्थितौ ज्ञाने स्मरणे वा सत्यपि। **शाब्दबोधापत्तेः** घटविषयकशाब्दबोधप्राप्तेः, वस्तुतस्तु तत्र शाब्दबोधा-भावात्। यदि पदजन्यपदार्थज्ञानमेव न तु पदजन्यपदार्थस्मरणं व्यापारः स्यात्तदा पदज्ञानवतः प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन घटादिपदार्थोपस्थितावपि शाब्दबोधः स्याद्, किन्तु न तथेति पदजन्यं पदार्थस्मरणरूपं विशिष्टं ज्ञानमेव पदज्ञानात्मके करणे व्यापारो न तु यतस्ततो जायमानं पदज्ञानमिति।

अनुवाद—उसमें अर्थात् शाब्दबोध में पदज्ञान करण अर्थात् असाधारण कारण है, पदार्थ का ज्ञान व्यापार है, शाब्दबोध फल है और उसमें शक्ति का ज्ञान सहकारी कारण है।

शाब्दबोध का प्रकार अर्थात् शाब्दबोधजनक कारण का समूह दर्शाते हैं—**पदज्ञानं त्विति**। शाब्दबोध में श्रावणप्रत्यक्ष एवं पुस्तक आदि में लिपि आदि से ज्ञापित पद का ज्ञान करण होता है, न कि ज्ञायमान अर्थात् वर्तमानकालीन श्रावण-विषयीभूत पद, क्योंकि पद के न रहने पर भी (पद के उच्चारण का अभाव होने पर भी) मौनी के श्लोक आदि में एवं करचेष्टा आदि से भी शाब्दबोध होता है। यदि वर्तमानकालीन श्रावणप्रत्यक्षविषयीभूत पद करण होता; जैसे कि कुछ प्राचीन आचार्य मानते हैं, तो वैसे में शाब्दबोध नहीं होता, क्योंकि वहाँ श्रावणप्रत्यक्षविषयी-भूत पद नहीं रहता। **पदार्थधीरिति**। पदजन्य पदार्थ का स्मरण व्यापार है। वैसा न मानने पर अर्थात् पदार्थ के ज्ञान मात्र को व्यापार मानने पर पदज्ञान वाले को प्रत्यक्ष अनुमान अथवा ऐसे ही अन्य उपाय से पदार्थ की उपस्थिति होने पर भी शाब्द-बोध होने लगेगा, किन्तु वैसा नहीं होता। अतः पदार्थ का स्मरण मात्र व्यापार नहीं होता, अपितु पदज्ञानजन्य पदार्थ का स्मरण ही व्यापार होता है।

तत्रापि वृत्त्या पदजन्यत्वं बोध्यम्। अन्यथा घटादिपदात्समवायसम्बन्धेनाकाशस्मरणे जाते आकाशस्यापि शाब्दबोधापत्तेः। वृत्तिश्च शक्तिलक्षणान्यतरः सम्बन्धः। अत्रैव शक्तिज्ञानस्योपयोगः। पूर्वं शक्तिग्रहाभावे पदज्ञानेऽपि तत्सम्बन्धेन स्मरणानुपपत्तेः। पदज्ञानस्य च एकसम्बन्धिज्ञानविधयाऽर्थस्मारकत्वं पदार्थोपस्थापकत्वम्।

शाब्दबोधे पदज्ञानजन्यपदार्थस्मरणं व्यापार इति यदुक्तं तत्र विशेषमाह—**तत्रापीति**। **तत्र** पदज्ञानजन्यपदार्थस्मरणे। **अपि** च। **वृत्त्या** अर्थस्मृत्यनुकूलः पदपदार्थयोः परस्परसम्बन्धो वृत्तिस्तया वृत्तिज्ञानेनेति। **पदजन्यत्वं** पदज्ञानजन्यत्वम्। **बोध्यं** वृत्तिज्ञानसहकृतपदज्ञाननिष्ठसम्बन्धिज्ञानत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यताश्रयपदार्थज्ञानं व्यापार इति ज्ञेयमिति। **अन्यथा** वृत्तिज्ञानेन पदज्ञानजन्यत्वाग्रहणे। **घटादिपदात्** घटादिपदज्ञानात्। **समवायसम्बन्धेन** समवायसम्बन्धज्ञानसहकृता अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायसम्बन्धः संयोगाभिन्नत्वे सति साक्षात्सम्बन्धस्तेन। **आकाशस्मरणे** आकाशस्य स्मरणे जाते सति शब्दस्वरूपाणां घटादिपदानामाकाशे समवायाख्यसम्बन्धसत्त्वात् शब्दस्य गुणत्वात् आकाशस्य शब्दगुणित्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात्। **आकाशस्य** आकाशविषयकस्य। **अपि** च। **शाब्दबोधापत्तेः**। वृत्तिज्ञानसहकृतत्वनिवेशे तु वृत्तिज्ञानसहकृतघटपदज्ञानस्याकाशस्मृतावहेतुतया नाकाशादिशाब्दबोधापत्तिर्घटपदादित्याशयः। तर्हि का तादृशी तत्तत्पदार्थसंसर्गरूपवाक्यार्थस्यैव स्मारिका वृत्तिरित्यपेक्षायामाह—**वृत्तिरिति**। **वृत्तिः** शाब्दबोधानुकूलसम्बन्धः। **च** हि। **शक्तिलक्षणान्यतरसम्बन्धः** शक्तित्वलक्षणात्वान्यतरविशिष्टसम्बन्धः। तत्र शक्तिः शब्दस्य सङ्केतितार्थबोधिका, लक्षणा तु तत्सम्बद्धेतरार्थबोधिका। **अत्र** पदजन्यपदार्थोपस्थितौ। **एव** हि। **शक्तिज्ञानस्य** शब्दशक्तेर्ज्ञानस्य। **उपयोगः** व्यवहारः। आवश्यकता। **पूर्वं** प्रागेव। **शक्तिग्रहाभावे** शक्तिज्ञानविरहे। **पदज्ञाने** पदस्य ज्ञाने। **अपि**। **तत्सम्बन्धेन** पदज्ञानसम्बन्धेन। घटपदसम्बन्धितावच्छेदकघटत्वप्रकारेण। **तत्स्मरणानुपपत्तेः** घटादिपदार्थस्मरणानुपपत्तेः। यावद्धि न पदीयशक्तिज्ञानं तावत्पदीयज्ञानमात्रेण न पदार्थोपस्थितिः। कथं गृहीतशक्तिकस्य पदज्ञानं स्मारकमित्यपेक्षायामाह—**पदज्ञानस्येति**। **पदज्ञानस्य** पदसम्बद्धज्ञानस्य। **एकसम्बन्धिज्ञानविधया** एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकं भवतीति नियमेन यथा पुत्रं दृष्ट्वा तत्पितुः यथा वा पितरं दृष्ट्वा तत्पुत्रस्य यथा च हस्तिनं दृष्ट्वा हस्तिपकस्य तञ्च दृष्ट्वा हस्तिनः स्मरणं भवति तथैवेति। **पदार्थोपस्थापकत्वं** पदं ज्ञात्वा तत्सम्बन्धिनोऽर्थस्योपस्थितिः। पदतदर्थयोर्द्वयोः सम्बन्धिनोर्मध्ये पदात्मकैकसम्बन्धिज्ञानविषया पदार्थात्मकापरसम्बन्धिनः स्मरणजनकत्वं भवतीति।

अनुवाद—उसमें भी पदजन्यत्व वृत्ति के द्वारा होना चाहिए। वैसा न होने पर घट आदि पद से समवाय सम्बन्ध से आकाश का स्मरण होने पर आकाश का भी घट पद से शाब्दबोध होने लगेगा। शक्ति एवं लक्षणा में से किसी एक के द्वारा सम्बन्ध ही वृत्ति है। यहाँ (पदजन्य पदार्थोपस्थिति में) ही शक्तिज्ञान की आवश्यकता होती

है। पहले से शक्तिग्रह के अभाव में पदज्ञान में भी उसके सम्बन्ध से स्मरण की उपपत्ति नहीं होती। पदज्ञान का ही एक सम्बन्धिज्ञान के नियम (एक के दर्शन से उससे सम्बन्धित दूसरे का स्मरण) से अर्थस्मारकत्व होता है।

शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः। सा चास्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपा। आधुनिके नाम्नि शक्तिरस्त्येव, 'एकादशेऽहनि पिता नाम कुर्यादि'तीश्वरेच्छायाः सत्त्वात्। आधुनिकसङ्केतिते तु न शक्तिरिति सम्प्रदायः। नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्तिः, किन्त्विच्छैव। तेनाऽधुनिकसङ्केतितेऽपि शक्तिरस्त्येवेत्याहुः। शक्तिग्रहस्तु व्याकरणादितः। तथा हि—

'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः'॥ इति।

धातुप्रकृतिप्रत्ययादीनां शक्तिग्रहो व्याकरणाद् भवति। क्वचित्सति बाधके त्यज्यतेऽपि। यथा वैयाकरणैराख्यातस्य कर्तरि शक्तिरुच्यते। चैत्रः पचतीत्यादौ कर्त्रा सह चैत्रस्याभेदान्वयः। तच्च गौरवात् त्यज्यते। किन्तु कृतौ शक्तिर्लाघवात्। कृतिश्चैत्रादौ प्रकारीभूय भासते।

आलोकः—का सा शक्तिरित्यपेक्षायामाह—**शक्तिरिति**। **शक्तिः** शक्तिपदार्थः। **च** इति लक्षणायाः सङ्ग्रहः। **पदेन**। **सह**। **पदार्थस्य** परबोध्यार्थस्य। पदतदर्थयोरिति। सम्बन्धः। अर्थनिरूपिता पदनिष्ठा या वृत्तिः सा शक्तिर्लक्षणा चेति। **सा** शक्तिः। **च** हि। **अस्मात्** प्राकरणिकात्। **पदात्** घटपदात्। **अयं** कम्बुग्रीवादिव्यक्तिरूपो घटत्वादिजातिरूपो वा। **अर्थः** पदार्थः। **बोद्धव्यः** ज्ञातव्य इति। **इति** इत्थम्। **ईश्वरेच्छारूपा** ईश्वरकृतसङ्केतरूपा। सा च द्विविधा—पदप्रकारकार्थविशेष्यिका अर्थप्रकारकपदविशेष्यिका चेति। तत्राद्या तस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारा। तत्र इदम्पदोत्तरपञ्चम्या अभेदोऽर्थः, पदोत्तरपञ्चम्या जन्यत्वमर्थः, बुधधात्वर्थो ज्ञानं तव्यप्रत्ययार्थो विषयताश्रयः। अपरा च इदम्पदमिममर्थं बोधयत्वित्याकारा सैव। सङ्केतः सम्बन्धशक्तेर्विषयत्वलक्षणः सम्बन्धः पदेऽर्थे बोधे च तत्र बोधनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावत्त्वेन शक्तिविषयो वाचकः पदजन्यबोधविषयत्वेन स वाच्यः। एतच्च वृद्धनैयायिकमतम्। मीमांसकास्तु शक्तिः पदार्थान्तरं, सा च पदपदार्थयोर्वाच्यवाचकभावनियामिका। सा च वैशिष्ट्याख्यसम्बन्धेनार्थनिष्ठा प्रतियोगित्वसम्बन्धेन पदनिष्ठेति वदन्ति। प्राचीनवैयाकरणमते तु बोधजनकतैव शक्तिः। तदनुसारेण यथेन्द्रियाणां स्वविषयेऽनादिर्योग्यता अनादिरर्थः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथेति। नव्यवैयाकरणमते तु वाच्यवाचकभाव एव शक्तिः। यदीश्वरेच्छैव शक्तिस्तर्हि आधुनिके नाम्नि साऽस्ति न वेत्यपेक्षायामाह—**आधुनिक इति**। **आधुनिके** अनादिकालीने। **नाम्नि** संज्ञादौ। **शक्तिः** ईश्वरेच्छा। **अस्ति** सामान्यरूपेण विद्यत। **एव** हि। तत्र हेतुमाह—**एकादश इति**। **एकादशे** जन्मत एकादशसङ्ख्याके। **अहनि** दिवसे। **पिता** जनकः। **नाम** संज्ञाभिधानम्। **कुर्यात्** विदध्यात्। **इति** इत्थम्। **ईश्वरेच्छायाः** ईश्वरसामान्येच्छायाः। **सत्त्वाद्** भावाद्।

आधुनिकसङ्केतिते आधुनिकमात्रसङ्केतित(नदीवृद्धयादि)पदे । **तु** तद्व्यतिरिक्तम् । **न** नैव । **शक्तिः** । **इति** इत्थम् । **सम्प्रदायः** साम्प्रदायिका वदन्तीति । तत्र शाब्दबोधस्तु शक्तिभ्रमादेवेति । **नव्याः** नव्यनैयायिकाः । **तु** हि । **ईश्वरेच्छा** ईश्वरसङ्केतः । **न** नैव । **शक्तिः** । **किन्तु** प्रत्युत । **इच्छा** सङ्केतमात्रम् । एव । **तेन** हेतुना । **आधुनिकसङ्केतिते** आधुनिकैः सङ्केतविषयीकृते । अपि च । **शक्तिः** । **अस्ति** विद्यते । **एव** यथा गुणवृद्धयादिपदानि व्याकरणे । **इति** इत्थम् । **आहुः** कथयन्ति । मतद्वयेऽपि गगर्यादिपभ्रंशपदे शाब्दबोधः शक्तिभ्रमादेवेति नैयायिकाः, तेष्वपि साधुष्विव शक्तिः शक्तिग्राहकशिरोमणेर्व्यवहारस्य तुल्यत्वात्, साधुस्मरणं विनाऽपि बोधानुभवादिति वैयाकरणाः । उक्त ईश्वरसङ्केत एव शक्तिरिति कथनं न युक्तमिति च तन्मतम् । अयमेतच्छब्दोऽत्रास्य शक्तिरित्यस्य सङ्केतस्य शक्तितः पार्थक्येन प्रसिद्धत्वात् इच्छाया सम्बन्धिनोराश्रयनियामकत्वाभावेन सम्बन्धत्वासम्भवाच्चेति ।

ननु शक्तिः कथं गृह्यते ? इत्यपेक्षायामाह—**शक्तिग्रह** इति । **शक्तिग्रहः** शक्तिज्ञानम् । **तु** हि । **व्याकरणादितः** व्याकरणं शब्दानुशासनमादिपदाद् व्यवहारादीनां ग्रहणं ततः । भवतीति । तत्राभियुक्तोक्तिं प्रमाणयति—**तथा हीति** । **शक्तिग्रहमिति** वृद्धाः शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्यात् व्यवहारतः वाक्यस्य शेषाद् विवृतेः सिद्धपदस्य सान्निध्यात् च वदन्ति इति । **वृद्धाः** शिष्टाः । **शक्तिग्रहं** शब्दशक्तिज्ञानम् । **व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्यात्** व्याकरणं व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणमष्टप्रस्थानमिन्द्रादिप्रणीतं शब्दानुशासनम्, **उपमानं** सादृश्यज्ञानात्मकप्रमाणम्, **कोशः** नामलिङ्गानुशासनममरसिंहादिप्रणीतम्, **आप्तवाक्यम्** आप्तः प्रयोगहेतुभूतयथार्थज्ञानवान् जनस्तस्य वाक्यमाकाङ्क्षादिमत्पदसमूहः च तस्मात् । **व्यवहारतः** व्यवहारः शब्दप्रयोगः प्रयोज्यमुद्दिश्य प्रयोजकेन प्रयुक्तः गामानयेत्यादिरूपः, तस्मात् । **वाक्यस्य** आकाङ्क्षादिमत्पदसमूहस्य । **शेषात्** प्रकृतवाक्यातिरिक्ते वाक्ये प्रकृतवाक्यार्थबोधोपयोगिनः अर्थवादात्मकात् पदसमूहात् । **विवृतेः** विवरणात्पर्यायादिकात् । **सिद्धपदस्य** प्रसिद्धपदस्य । **सान्निध्यात्** सान्निध्येन प्रयोगात् । **च** । **वदन्ति** इति । एतानि ह्यष्टौ शक्तिज्ञानस्य प्रयोजकानि भवन्तीति । कथं तथेत्यपेक्षायामाह—**धात्विति** । **व्याकरणात्** शब्दशास्त्रात् । **धातुप्रकृतिप्रत्ययादीनां** धातुः क्रियावाचिनो भ्वेधस्पर्धादयः, प्रकृतिः यतः प्रत्ययविधानं क्रियते, धातुप्रातिपदिकरूप प्रत्ययः प्रकृतिमवधिकृत्य विधीयमानो वर्णसमूहो ण्वुल्तृजादिः शनेलजादयश्च, आदिपदात् कारकादीनां ग्रहणं तेषाम् । धातोरपि प्रकृतित्वेऽपि पृथग्ग्रहणं तस्य सकलशब्दमूलभूतत्वप्रतिपादनार्थम् । **शक्तिग्रहः** शक्तिज्ञानम् । **व्याकरणात्** शब्दशास्त्रात् । **भवति** सम्पद्यत इति । यथा भूधातोः सत्तार्थे एधधातोर्वृद्धयर्थे शक्तिः । भू सत्तायाम् एध वृद्धौ इत्यादितः । एवमेव पाचकः इत्यस्य पच्धातोः पाचकार्थत्वस्य तदुत्तरकृत्प्रत्ययस्य कर्तृत्वार्थकत्वस्य च व्याकरणाच्छक्तिग्रहः । एवमेव लटो वर्तमाने लिटः परोक्षे भूते लिङो विध्यादौ शक्तिः । तथैव तव्यादेर्विध्यर्थे, निष्ठाया भूतार्थे, णिनेस्ताच्छील्यार्थे, ढकोऽपत्यार्थे भूमनिन्दाप्रशंसाद्यर्थे मतुबादीनां शक्तिः । तथैव—आश्रयोऽवधिरुद्देश्यः सम्बन्धः शक्तिरेव वा विभक्त्यर्थः । तत्र द्वितीयातृतीयासप्तमीनामाश्रयोऽर्थः—क्रिया-

जन्यफलाश्रयः कर्म, धात्वर्थव्यापाराश्रयः कर्ता इति कर्तरि तृतीया आश्रयोऽर्थः, करणतृतीयायास्तु आश्रयव्यापारौ। अवधिः पञ्चम्यर्थः। उद्देश्यश्चतुर्थ्यर्थः। सम्बन्धमात्रं षष्ठ्यर्थः। शक्तिरेव वा षण्णां विभक्तीनामर्थः, कारकषष्ठ्यास्तु शक्तिरेव। इत्यादिरीत्याव्याकरणाच्छक्तिग्रहः। तदपवादस्थलमाह—**क्वचिदिति। क्वचित्** कुत्रचित् स्थले। **बाधके** गौरवादिदोषाणां बाधकत्वे। **सति**। विद्यमाने **त्यज्यते** व्याकरणाद् गृहीता शक्तिरपि उपेक्ष्यते। तन्निदर्शनमाह—**यथेति। यथा। वैयाकरणैः** व्याकरणविद्भिः। **आख्यातस्य** तिबादिप्रत्ययस्य। **कर्तरि** कर्तृकेऽर्थे। **शक्तिः। उच्यते** कथ्यते। **अयमाशयः**—'कर्तरि कृदि'ति सूत्रमनुवृत्य 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति सूत्रं प्रवर्तते। तेन सकर्मकेभ्यो धातुभ्यो यो लकारः स कर्तृवाचकः कर्मवाचकश्च, अकर्मकेभ्यस्तु कर्तृवाचको भाववाचकश्चेति। भाववाचकत्वं निरर्थकत्वमिति। उदाहरणानि यथा—'चैत्रस्तण्डुलं पचति, चैत्रेण तण्डुलः पच्यते, चैत्रस्तिष्ठति, चैत्रेण स्थीयते' इति। **तत्र 'चैत्रः पचति' इत्यादौ। कर्त्रा** कर्तृभूतेन पचत्याख्यातवाच्येन। **सह। चैत्रस्य** चैत्रपदार्थस्य। **अभेदान्वयः** अभेदेन संसर्गः।

अयम्भावः—आख्यातार्थकर्तृकर्मणोः प्रथमान्तार्थेन सहाभेदेनान्वयं कृत्वा धात्वर्थमुख्यविशेष्यतया भवति शाब्दबोधः, चैत्रस्तण्डुलं पचतीत्यत्र कर्त्राख्यातस्थले तण्डुलकर्मकश्चैत्रकर्तृकः पाक इति। स च चैत्रभिन्नैकत्वावच्छिन्नाश्रयवृत्तिः तण्डुलनिष्ठविक्लित्यनुकूलो वर्तमानकालिको व्यापार इति। एवं चैत्रेण तण्डुलः पच्यते इत्यत्र चैत्राभिन्नकर्तृवृत्तिवर्तमानकालिकव्यापारजन्यतण्डुलाभिन्नैकत्वावच्छिन्नाश्रयवृत्तिविक्लित्तिरिति बोधः। चैत्रस्तिष्ठति इत्यत्र चैत्रकर्तृका स्थितिरिति बोधः।

तद्दूषणमाह—**तदिति। तत्** आख्यातस्य कर्तरि शक्तिरिति। **गौरवाद्** गौरवापत्तेः। **त्यज्यते** उपेक्ष्यते। **अयम्भावः**—'लः कर्मणि०' इति सूत्रादाख्यातस्य यदि कर्तरि शक्तिः स्वीक्रियते तदा शक्यतावच्छेदकः कर्तृनिष्ठधर्मविशेषः कृतिरेव मन्तव्यः, सा तु प्रतिकर्तृभिन्ना। एवञ्च शक्यतावच्छेदकि नाना स्युः। एवं नानाधर्माणामवच्छेदकधर्मे विषयोपस्थितेः गौरवं भवति। तर्हि कथं लाघवमित्यपेक्षायामाह—**किन्त्वति। किन्तु** तद्व्यतिरिक्तम्। **कृतौ** आख्यातस्य कर्तृनिष्ठधर्मविशेषकृतौ कर्तृनिष्ठे प्रयत्ने। **शक्तिः** आख्यातस्य शक्तिः। स्वीकार्या **लाघवात्** शक्यतावच्छेदको धर्मः यावत्कृतिषु विद्यमाना कृतित्वरूपा जातिरेकैवेति नितान्तलाघवात्। इति। ननु कृतेराख्यातार्थत्वे प्रथमान्तार्थेन सहाभेदेनान्वयः कथं सिध्यतीत्यपेक्षायामाह—**कृतिरिति। कृतिः** कर्तृनिष्ठप्रयत्नः। **चैत्रादौ** कृत्याश्रये कर्तरि। **प्रकारीभूय** विशेषणभावमापद्य। **भासते** विशेषणतासम्बन्धेनान्विता भवतीति। अर्थात् चैत्रादिनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतात्वावच्छिन्नविषयावती भवतीति। न्यायमते धात्वर्थविशेष्यकशाब्दबोधस्य सर्वत्रानभ्युपगमेन प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधस्यैवाभ्युपगमः।

अनुवाद—पद के साथ पदार्थ का सम्बन्ध शक्ति है। वह भी 'इस पद से यह अर्थ जाना चाहिए' ऐसी ईश्वरेच्छारूप है। आधुनिक नाम में भी शक्ति होती है—'एकादश दिन में पिता नामकरण करे' ऐसी ईश्वरेच्छा उसमें भी होती है। आधु-

निक सङ्केत वाले में तो शक्ति नहीं होती, ऐसा सम्प्रदाय है। नव्य नैयायिक तो 'ईश्वरेच्छा शक्ति नहीं है, किन्तु प्रयोक्ता की इच्छा ही शक्ति है। इस कारण आधुनिक सङ्केत वाले में भी शक्ति होती ही है' ऐसा कहते हैं।

शक्ति का ज्ञान व्याकरण आदि से होता है। जैसे कि—'वृद्धजन कहते हैं कि शक्ति का ज्ञान व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष एवं सिद्ध पद के सान्निध्य से होता है।' धातु, प्रकृति एवं प्रत्यय आदि का शक्तिग्रह व्याकरण से होता है। कहीं बाधक के रहने पर उसको छोड़ भी दिया जाता है। जैसे वैयाकरण मानते हैं कि आख्यात की शक्ति कर्ता में होती है। 'चैत्रः पचति' इत्यादि में कर्ता के साथ चैत्र का अभेद रूप से अन्वय होता है। उसे गौरव होने के कारण त्याग दिया जाता है। किन्तु कृति में शक्तिग्रह होता है, क्योंकि उसमें लाघव पड़ता है। कृति चैत्र आदि में विशेषण के रूप में भासित होता है।

न च कर्तुरभिधानाच्चैत्रादिपदानन्तरं तृतीया स्यादिति वाच्यं, कर्तृसङ्ख्यानभिधानस्य तत्र तन्त्रत्वात्। सङ्ख्याभिधानयोग्यश्च कर्मत्वाद्यनवरुद्धः प्रथमान्तपदोपस्थाप्यः। कर्मत्वादीत्यस्येतरविशेषणत्वतात्पर्याविषयत्वमर्थः। तेन चैत्र इव मैत्रो गच्छतीत्यादौ न चैत्रे सङ्ख्यान्वयः।

यत्र कर्मादौ न विशेषणत्वे तात्पर्यं तद्वारणाय प्रथमान्तेति। यद्वा धात्वर्थातिरिक्ताविशेषणत्वं प्रथमदलार्थः। तेन चैत्र इव मैत्रो गच्छतीत्यत्र चैत्रादेर्वारणम्। 'स्तोकं पचती'त्यादौ स्तोकादेर्वारणाय च द्वितीयदलम्। तस्य द्वितीयान्तपदोपस्थाप्यत्वाद्वारणमिति।

आलोकः—आख्यातप्रत्ययस्य कृतौ शक्तिस्वीकारे कर्तुरनाख्यातवाच्यत्वेनानुक्ते कर्तरि तृतीया विधानात् चैत्रेण पचतीति प्रयोगापत्तिः स्यादित्याशङ्क्य समाधत्ते—**नेति**। न नैव। **च** हि। **कर्तुः**। **अनभिधानात्** अकथनात् कृतावाख्यातस्य शक्तिस्वीकारे तस्याख्यातवाच्यत्वाभावात्। **चैत्रादिपदानन्तरं** चैत्रः पचतीत्यत्र चैत्रपदानन्तरम्। **तृतीया** 'अनभिहिते' (पा० सू० २।३।१) इत्यनुवृत्य 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (पा० सू० २।३।१८) इति तृतीया विभक्तिः। **स्यात्** आपतेत् प्रथमास्थाने इति। **इति** इत्थम्। **वाच्यं** कथनीयम्। **तत्र** तत्प्रसङ्गे। तृतीयायामिति। **कर्तृसङ्ख्यानभिधानस्य** कर्तृगता या सङ्ख्या तस्याः अनभिधानं तस्य। **तन्त्रत्वात्** प्रयोजकत्वात्। यदा कर्तृगता सङ्ख्याऽऽख्यातप्रत्ययेनोक्ता न भवति, तदैवोक्तसूत्रप्रवृत्तिरिति।

'अनभिहिते' इत्यस्य कर्तृकरणयोस्तृतीयेत्येतदेकवाक्यतापन्न—'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' इति सङ्ख्यावाक्येनान्वयात् कर्तृगतैकत्वेऽनभिहिते तृतीयैकवचनम्। एवं कर्मगतैकत्वेऽनभिहिते द्वितीयैकवचनमित्यर्थः, न त्वनभिहिते कर्तरि कर्मणि वेत्यर्थः। एवञ्च कर्तृसङ्ख्यानभिधानस्यैव तृतीयाप्रयोजकत्वमिति मयूखे स्पष्टम्।

यदि आख्यातस्य कर्तरि शक्तिस्वीकारे तदा शक्यतावच्छेदकस्य कर्तृनिष्ठधर्मस्य कृतेः प्रति कर्तृभिन्नत्वेन शक्यतावच्छेदकानां नानात्वेन गौरवापत्तेर्लाघवमाश्रित्य

आख्यातस्य कृत्यर्थकत्वस्वीकारे तदा कर्तुरनुक्तत्वादनुक्ते कर्तरि तृतीयापत्तिः कथं निवार्यते इति चेदुच्यते—आख्यातप्रत्ययस्य सन्त्यनेकेऽर्थाः कृतिसङ्ख्याकालादयः। तत्र यत्र कर्तृगतसङ्ख्याऽऽख्यातप्रत्ययेनानुक्ता तत्र भवति तृतीया, 'अनभिहिते' इत्यस्य 'कर्तृकरणयोस्तृतीये'त्येतदेकवाक्यतापन्न-'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' इति सङ्ख्यावाक्येनान्वयात्, अत्र तु कर्तृगतैकत्वसङ्ख्याया उक्तत्वान्न तृतीयावसर इति। अनभिहिते कर्तृगतैकत्वे तृतीयैकवचनं कर्मगतैकत्वेऽनभिहिते द्वितीयैकवचनं न तु कर्तरि कर्मणि वाऽनभिहिते इति सारम्।

तर्हि कर्तृसङ्ख्याभिधाने किं प्रयोजकमित्यपेक्षायामाह—**सङ्ख्येति**। **सङ्ख्याभिधानयोग्यः** आख्यातार्थसङ्ख्याप्रकारकशाब्दबोधविशेष्यः। **कर्मत्वाद्यनवरुद्धः** कर्मत्वकरणत्वादिधर्मानवच्छिन्नः। कर्मत्वादिविशेषणत्वेन तात्पर्याविषयः। **प्रथमान्तपदोपस्थाप्यः** प्रथमाविभक्त्यन्तपदेन उपस्थाप्यः स्मृतिविषयतां गमितः। **च एव**। नान्यथेति। तथा च सङ्ख्याभिधानयोग्यत्वं प्रति कर्मत्वकरणत्वादिविशेषणत्वेन तात्पर्याविषयत्वे सति प्रथमान्तपदजन्यस्मृतिविषयत्वं प्रयोजकं भवतीत्याशयः। उक्तवाक्ये **कर्मत्वादीत्यस्य** कर्मत्वाद्यनवरुद्ध इति पदे कर्मत्वादीत्येतस्य। **इतरविशेषणत्वतात्पर्याविषयत्वम्** इतरविशेषणत्वेन तात्पर्याविषयत्वम्। **अर्थः** अभिप्रायः। **तेन** कर्मत्वाद्यनवरुद्धदलस्य इतरविशेषणत्वेन तात्पर्याविषयत्वार्थकरणेन। **चैत्र इव मैत्रो गच्छति इत्यादौ**। **न**। **चैत्रे**। **सङ्ख्यान्वयः** आख्यातसङ्ख्याया अन्वयः, तस्य इवार्थे सादृश्यरूपे विशेषत्वेन तात्पर्यविषयत्वादिति। **अयमाशयः**—चैत्रनिरूपितं यत्सादृश्यं तादृशसादृश्येन यद् गमनं तादृशगमनानुकूला या वर्तमानकालिका कृतिः तादृशकृत्याश्रय एकत्वसङ्ख्याविशिष्टो मैत्र इति तस्य शाब्दबोध इति। प्राचीनमतेन द्वितीयदलप्रयोजनमाह—**यत्रेति**। **यत्र** चैत्रस्तण्डुलं पचतीत्यत्र। **कर्मादौ** प्रथमान्तपदाऽसमभिव्याहृतकर्माख्यातपदवाच्यकर्मत्वे। **न**। **विशेषणत्वे** विशेषणत्वमात्रे। **तात्पर्यं** प्रयोजनम्। **तद्वारणाय** यदा विशेषणत्वमुख्याविशेष्यत्वाभ्यां तात्पर्यं; यथा तण्डुलं पचतीत्यादौ, तदा तण्डुले तस्य सङ्ख्यान्वयस्य वारणाय निषेधाय। **प्रथमान्तेति** प्रथमान्तेति ग्रहणम्। विशेषणत्वमात्रे तात्पर्ये सति तु सङ्ख्यान्वय एवेति तात्पर्यम्।

अयमाशयः—चैत्रस्तण्डुलं पचतीत्यादौ आख्यातार्थसङ्ख्यायास्तण्डुलेऽन्वयो मा भून्नापि च चैत्रेण सुप्यते इत्यादौ धात्वर्थभूते स्वापादौ सङ्ख्यया अन्वयः स्यात्, तदर्थं प्रथमान्तपदोपस्थाप्य इत्युक्तमिति। अन्यथा इतरविशेषणत्वतात्पर्याविषयत्वस्य तण्डुलेऽपि भावात् तस्यापि च सङ्ख्याभिधानयोग्यतायां चैत्रस्तण्डुलौ पचति इति प्रयोगो न स्यादपितु तण्डुला पचत इत्येव स्यादिति प्रमायां स्पष्टम्। प्रकारान्तरेण फलमाह—**यद्वेति**। **यद्वा** इति पक्षान्तरे। **धात्वर्थातिरिक्ताविशेषणत्वं** धात्वर्थाद् धातुसंसूच्यार्थादतिरिक्तस्य भिन्नस्य अविशेषणत्वं—धात्वर्थमात्रविशेषणत्वं **प्रथमदलार्थः** कर्मत्वाद्यनवरुद्ध इति दलस्याशयः। **तेन** धात्वर्थातिरिक्ताविशेषणत्वार्थकरणेन। **चैत्र इव मैत्रो गच्छति इत्यत्र**। **चैत्रादेः**। **वारणम्** आख्यातार्थसङ्ख्या-

न्वयापत्तिनिवारणम् । चैत्रादेः सादृश्ये विशेषणत्वेन तात्पर्यविषयत्वात् । द्वितीय-दलसार्थक्यमाह—**स्तोकमिति** । **स्तोकं पचति इत्यादौ** । **स्तोकादेः** क्रियाविशेषणीभूतत्वात्स्तोकपदार्थस्य धात्वर्थातिरिक्ताविशेषणत्वस्य स्वतःसम्भवात् तत्रापि आख्यातार्थसङ्ख्यान्वयापत्त्या 'स्तोके पचतः' 'स्तोकानि पचन्ति' इति प्रयोगापत्तिः स्यादिति स्तोकादेराख्यातार्थसङ्ख्यान्वयापत्तेः वारणाय । **च** अपि । **द्वितीयदलं** प्रथमान्तेति पदग्रहणम् । स्तोकस्य क्रियाविशेषणत्वस्य क्लीबत्वस्य चानुशासनात् तस्य द्वितीयान्तपदोपस्थाप्यत्वादाख्यातार्थसङ्ख्यान्वयापत्तिवारणं तत्र सत्यपि धात्वर्थातिरिक्ताऽविशेषणत्वे इति । तदेवाह—**तस्येति** । **तस्य** स्तोकादेः । **द्वितीयान्तपदोपस्थाप्यत्वात्** क्रियाविशेषणत्वेन द्वितीयाविभक्त्यन्तत्वेनोपस्थाप्यत्वात् । **वारणं** तत्राख्यातार्थसङ्ख्यान्वयापत्तेः धात्वर्थातिरिक्ताविशेषणत्वेऽपि निवारणमिति ।

यदि सङ्ख्यानभिधाने एव भवति तृतीया तदा किं तस्य मानमित्यपेक्षायामुच्यते—कर्मत्वाद्यनवरुद्धः प्रथमान्तपदबोध्यः कर्ता सङ्ख्याभिधानयोग्यो भवतीति । तत्र कर्मत्वाद्यनवरुद्ध इति इतरविशेषणत्वेन तात्पर्याविषयत्वरूपः सङ्केतितोऽर्थः । एवमेव इतरविशेषणत्वेन तात्पर्याविषयत्वविशिष्टः प्रथमाविभक्त्यन्तपदोपस्थाप्यः कर्ता सङ्ख्याभिधानयोग्यो भवतीति । चैत्र इव मैत्रो गच्छति इत्यादौ आख्यातवाच्यसङ्ख्या न चैत्रेऽन्वयोऽपितु मैत्रे चैत्रपदार्थस्य इवपदार्थसादृश्ये विशेषणत्वेन तात्पर्यविषयत्वात् । अत्र हि चैत्रनिरूपितं यत्सादृश्यं तादृशसादृश्येन यद् गमनं तादृशगमनानुकूला या कृतिस्तादृशकृत्याश्रय एकत्वसङ्ख्याविशिष्टो मैत्र इति शाब्दबोधः । तथा च 'तण्डुलं पचति' इत्यादौ आख्यातवाच्यसङ्ख्यायास्तण्डुलेऽन्वयवारणाय तथा 'चैत्रेण सुप्यते' इत्यादौ धात्वर्थस्वापादौ सङ्ख्यान्वयवारणाय प्रथमान्तपदोपस्थाप्य इति । 'चैत्र इव मैत्रो गच्छति' इत्यादौ चैत्रपदार्थः धात्वर्थातिरिक्तमिवार्थसादृश्यं विशेषणमस्तीति चैत्रादौ न सङ्ख्यान्वयः, धात्वर्थातिरिक्ताविशेषणत्व एव तत्सम्भवात् । 'स्तोकं पचती'त्यादौ क्रियाविशेषणत्वेन द्वितीयान्तपदोपस्थाप्यत्वान्न स्तोके सङ्ख्याया अन्वयः, प्रथमान्तपदोपस्थाप्यस्यैव तत्सम्भवात् । एवं चैत्रः पचतीत्यत्र चैत्रे कर्तृगतैकत्वसङ्ख्याया उक्तत्वात् न तत्र तृतीयावसर इति ।

अनुवाद—न तो (कृति में शक्तिग्रह मानने पर) आख्यात के द्वारा कर्ता के अभिहित न होने से 'चैत्रः पचति' इत्यादि में चैत्र पद में 'अनभिहिते' सूत्र के अधिकार के अन्तर्गत 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से तृतीया विभक्ति होगी, ऐसा कहना ठीक है, क्योंकि उसमें अनभिधान का अर्थ कर्ता में वृत्ति वाली सङ्ख्या का है, न कि कर्ता का । सङ्ख्या के अभिधान के योग्य वह होता है, जो कर्मत्व आदि से अवरुद्ध न हो और प्रथमान्त पद से उपस्थाप्य हो । इसमें कर्मत्व आदि से इसका आशय इतरविशेषणत्व के तात्पर्य का अविषयत्व है । इस कारण 'चैत्र इव मैत्रो गच्छति' इत्यादि में चैत्र में आख्यातार्थ की सङ्ख्या का अन्वय नहीं होता । जहाँ कर्म आदि में विशेषणत्व मात्र में तात्पर्य नहीं है उसमें सङ्ख्या के अन्वय के निवारणार्थ प्रथमान्त पद रखा गया है । अथवा धात्वर्थ से अतिरिक्त का अविशेषणत्व पहला दल अर्थात् कर्मत्व आदि से

अनवरुद्ध पद का अर्थ है। इस कारण 'चैत्र इव मैत्रो गच्छति' आदि में चैत्र आदि में सङ्ख्या के अन्वय का वारण होता है। 'स्तोकं पचति' इत्यादि में स्तोकादि में सङ्ख्यान्वय के वारण के लिए भी दूसरा दल अर्थात् 'प्रथमान्त पद से उपस्थाप्य' रखा गया है। उस (स्तोक) का द्वितीयान्त पद से उपस्थाप्य होने के कारण उसमें सङ्ख्या के अन्वय का वारण होता है।

एवं व्यापारेऽपि न शक्तिर्गौरवात्। 'रथो गच्छतीत्यादौ तु स्वव्यापारे आश्रयत्वे वा लक्षणा। जानातीत्यादौ तु आश्रयत्वे, नश्यतीत्यादौ प्रतियोगित्वे निरूढलक्षणा।

आलोकः—अथ प्रसङ्गाल्लकारसामान्यस्यानुकूलव्यापारे शक्तिरिति मीमांसकमतं दूषयति— **एवमिति। एवम्** इत्यमेव, यथा नाख्यातस्य कर्तरि शक्तिस्तथैव। **व्यापारे** तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वं व्यापारत्वमिति लक्षिते धात्वर्थानुकूलव्यापारे। **अपि च। न शक्तिः** आख्यातवाच्यता। **गौरवाद्** गुरुत्वापत्तेः। यथा हि कर्तरि शक्तिस्वीकारे शक्यतावच्छेदककर्तृनिष्ठधर्मविशेषकृतेः प्रतिकर्तृभिन्नत्वेन नानात्वाद् गौरवं तथैव जन्यत्वादिधर्मघटितव्यापारलक्षणलक्षितस्य व्यापारस्य यत्नत्वजात्यपेक्षया शक्यतावच्छेदकांशे गौरवमिति। न च रथो गच्छतीत्यत्र व्यापारे शक्त्यस्वीकारे न निर्वाहः, रथेऽचेतने यत्नापरपर्यायाः कृतेरसम्भवादिति वाच्यम्। **रथो गच्छति इत्यादौ। तु** हि। **व्यापारे** गमनानुकूलव्यापारे। **लक्षणा** निरूढलक्षणा न तु शक्तिर्यत्र 'गमनानुरूपव्यापारवान् रथ' इति शाब्दबोधः। **वा** अथवा। रथे गमनानुकूलव्यापारस्य बोधाभावात्। **आश्रयत्वे** गमनाश्रयत्वे। **लक्षणा**। तथा च गमनानुकूलव्यापाराश्रयत्वधर्मावच्छिन्नो रथ इति बोध इति। यदि तथास्वीकारेण आख्यातस्य कृतौ शक्तिमत्त्वस्वीकारे चैत्रो जानाति इत्यादौ कथं बोधः? प्रथमं जानाति, तत इच्छति, ततो यतते इति नियमात् ज्ञानकाले यत्नाभावेन ज्ञानानुकूलकृतेश्चैत्रादौ बाधादिति चेदुच्यते **जानाति** इत्यादौ। **आश्रयत्वे** आख्यातस्य आश्रयत्वे। **निरूढलक्षणा**। तथा च (घटविषयक) ज्ञानाश्रयतावान् चैत्र इति बोधः। मीमांसकमते तु जानातीत्यत्र ज्ञातताऽवच्छिन्नं ज्ञानं धात्वर्थः, आख्यातार्थस्तु भावना उत्पादना तथा च ज्ञातताश्रयज्ञानोत्पादनावानित्यर्थ इति। आदिपदाद् घटमिच्छति इत्यादौ इच्छाकाले यत्नाभावेन आख्यातस्याश्रयत्वे लक्षणा घटविषयकेच्छाश्रयतावानेकत्ववांश्चैत्र इति बोधः। एवञ्च 'यतते' इत्यत्र यत्नानुकूलयत्नाभावेनाश्रयत्वे लक्षणा बोधश्च यत्नाश्रयतावानिति। **घटो नश्यति** इत्यादौ। नाशानुकूलयत्नस्यैव बाधात् आख्यातस्य प्रतियोगित्वे। **निरूढलक्षणा** अनादितात्पर्यवती लक्षणेति। बोधश्च नाशप्रतियोगितावानेकत्ववान् घट इति।

रत्नकोशकारमते तु नाख्यातस्य यत्ने शक्तिर्न वा व्यापारे, किन्तु भावनापरपर्यायोत्पादनायामेव। तेन सर्वत्र मुख्य एव प्रयोगः। रथो गच्छतीत्यत्र गमनमुत्पादयति, पचतीत्यत्र पाकमुत्पादयति, यतते इत्यत्र यत्नमुत्पादयत्यादिशाब्दबोधः। तदपि न युक्तमुत्पादकत्वस्योत्पत्तिजनकत्वरूपस्य तत्र जनकत्वात्मककारणताया अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वादि घटितत्वेन गौरवात्।

एवं हि वैयाकरणा धात्वर्थमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधं समर्थयन्ति। यथा 'पश्य मृगो धावति' इत्यत्र मृगकर्तृकधावनकर्मकं प्रेरणाविषयीभूतं त्वत्कर्तृकं दर्शनमिति। एवं 'पचति भवति' इत्यादौ पचिक्रियाकर्तृका सत्ता इत्यादिबोध इति।

मीमांसकमते आख्यातार्थमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधः। यथा—देवदत्त ओदनं पचतीत्यत्र पाककरणिका ओदनभाव्यिका देवदत्तकृतिरिति बोधः।

नैयायिकमते तु प्रथमान्तमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधः। चैत्रः तण्डुलं पचतीत्यत्र तण्डुलनिष्ठपाकानुकूलकृतिमांश्चैत्र इति।

अनुवाद—इसी तरह व्यापार में भी शक्ति मानी नहीं जा सकती, क्योंकि उसमें भी गौरव पड़ता है। 'रथो गच्छति' आदि में तो (जड पदार्थ रथ में यत्न का अभाव न होने के कारण) गमनानुकूल व्यापार में अथवा गमनाश्रयत्व में लक्षणा होती है। 'जानाति' इत्यादि में तो (ज्ञान-काल में यत्न के न रहने के कारण) आश्रयत्व में, 'नश्यति' आदि में (नाशानुकूल यत्न के अभाव के कारण) प्रतियोगित्व में निरूढा (अनादितात्पर्यवती) लक्षणा होती है।

उपमानाद्यथा शक्तिग्रहस्तथोक्तम्।

आलोकः—द्वितीयं शक्तिग्रहोपायं निरूपयति—**उपमानादिति**। **उपमानात्** प्रसिद्धसाधर्म्यात्। **यथा** येन प्रकारेण। **शक्तिग्रहः** शक्तिज्ञानम्। **तथा** तत्प्रविधिः। **उक्तं** प्रतिपादितमुपमानप्रकरणे। तथा च गोनिरूपितगवयनिष्ठसादृश्यसाक्षात्काररूपोपमानेन गवयो गवयपदवाच्य इत्याकारकशक्तिग्रह इति।

अनुवाद—उपमान से जिस तरह शक्तिग्रह होता है वह पहले ही बतलाया गया।

एवं कोशादपि शक्तिग्रहः सति बाधके क्वचित् त्यज्यते। यथा नीलादिपदानां नीलरूपादौ नीलादिविशिष्टे च शक्तिः, कोशेन व्युत्पादिता तथापि लाघवान्नीलादावेव शक्तिर्नीलादिरूपविशिष्टे तु लक्षणेति।

आलोकः—तृतीयं शक्तिग्रहोपायं निरूपयति—**एवमिति**। **एवं** यथा हि उपमानाच्छक्तिग्रहो भवति तथैव। **कोशात्** नामलिङ्गानुशासननिघण्टुप्रभृतिभ्यः। **अपि** च। **शक्तिग्रहः** शक्तिज्ञानम्। यथा शम्भुरीशः पशुपतिरित्यत्र शम्भुप्रभृतिशब्दानां महेश्वरे शक्तिग्रहः। सोऽपि **बाधके** गौरवाद्यात्मके बाधके। **सति**। तु। **क्वचित्** कुत्रचित्। **त्यज्यते** उपेक्ष्यते। तदुदाहरति—**यथेति**। **नीलादिपदानां** नीलपीतशुक्लप्रभृतिपदानाम्। 'गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति' इति कोशात् **नीलरूपादौ** नीलपीतादिरूपे। **नीलादिविशिष्टे** नीलादिविशिष्टवस्तुनि। **च** अपि। **शक्तिः**। **कोशेन** अमरकोशादिना। **व्युत्पादिता** समर्थिता, शुक्लादयः शब्दा गुणामात्रवाचकत्वे पुंसि भवन्ति, तद्वति तादृशगुणविशिष्टवाचकत्वे तु गुणिलिङ्गाः भवन्ति; यथा शुक्लः पटः, शुक्ला गौः, शुक्लं गेहमिति। तेन विशेष्यवाचकशुक्लादिशब्दाः पुंसि, विशेषणवाचकास्तु गुणिलिङ्गा इत्यस्याशयः। **तथापि** कोशेन तथा गुणे गुणवति च शक्तिप्रतिपादनेऽपि। **लाघवात्** लघुतामाश्रित्य। **नीलादौ** नीलरूपादौ। **एव** हि। **शक्तिः**। नीलादिमतां शक्यत्वे शक्य-

तावच्छेदकं नीलादिमत्त्वं नीलादय एवेति ते अनन्ता इति महद्गौरवं तदपेक्षया नीलादीनामेव शक्यत्वे नीलत्वादिकं स्वरूपतः शक्यतावच्छेदकं स्यादिति शरीरकृतमुपस्थितिकृतञ्च परं लाघवं भवतीति नीलादिशब्दानां नीलाद्यर्थे एव शक्तिः। **नीलादिविशिष्टे** नीलादिविशिष्टघटादौ। **तु** तद्व्यतिरिक्तम्। **लक्षणा** अजहत्स्वार्थलक्षणा नीलादिपदानामिति। न च 'गुणवचनान्मतुपो लुगिष्टः' इति नीलो घट इत्यत्र लुप्तमतुपैव विशिष्टार्थबोधसम्भवे लक्षणाकल्पनं तत्रानुचितमिति वाच्यमस्मृतमतुपस्तादृशवाक्ये शाब्दबोधानापत्तेर्लक्षणाया एवावश्यकत्वात्। सर्वत्रैव लुप्तमतुबर्थकप्रत्ययकल्पनापेक्षया लक्षणाकल्पनाया ज्यायस्त्वात्।

अनुवाद—इसी तरह कोश से भी शक्तिग्रह होता है। कहीं (गौरव आदि के कारण) बाधक होने पर उसका जैसे नील आदि पदों का नील रूप आदि में नीलादि गुण से विशिष्ट वस्तु में भी शक्ति कोश से समर्थित है, फिर भी लाघव के कारण नील आदि में ही शक्ति मानी जाती है, नीलादिविशिष्ट में तो लक्षणा होती है।

एवमाप्तवाक्यादपि, यथा कोकिलः पिकपदवाच्य इत्यादिशब्दात्पिकादिपदानां कोकिले शक्तिग्रहः।

आलोकः—चतुर्थं शक्तिग्रहोपायं निरूपयति—**एवमिति**। एवं यथा कोशाच्छक्तिग्रहो भवति तथैव। **आप्तवाक्यात्** आप्तः प्रयोगहेतुभूतयथार्थज्ञानवान् तस्य वाक्यात् तदुच्चरितवाक्यश्रवणात्। **अपि** च शक्तिग्रहः। तदुदाहरति—**यथेति**। **यथा**। **'कोकिलः पिकपदवाच्यः'** कोकिलो हि पिकपदबोध्यः इति। **इत्यादिशब्दात्** इत्याद्याप्तोक्तवाक्यात्। **पिकादिपदानां** पिकप्रभृतिपदानाम्। **कोकिले** कोकिलात्मकेऽर्थे। **शक्तिग्रहः** पिकपदस्यार्थमजानानस्याऽपि शक्तिग्रहः इति।

अनुवाद—इसी प्रकार आप्तवाक्य से भी (शक्तिग्रह होता है), जैसे 'कोयल पिक पद से वाच्य है' इत्यादि वाक्य से पिक आदि पदों का कोयल रूप अर्थ में शक्तिग्रह होता है।

एवं व्यवहारादपि। यथा प्रयोजकवृद्धेन घटमानयेत्युक्तम्। तच्छ्रुत्वा प्रयोज्यवृद्धेन घट आनीतः। तदवधार्य पार्श्वस्थो बालो घटानयनरूपं कार्यं घटमानयेति शब्दप्रयोज्यमित्यवधारयति। ततश्च घटं नय गां बधानेत्यादिवाक्यादावापोद्वापाभ्यां घटादिपदानां कार्यान्वितघटादौ शक्तिं गृह्णाति।

इत्थञ्च भूतले नीलो घट इत्यादिवाक्यान्न शाब्दबोधः। घटादिपदानां कार्यान्वितघटादिबोधे सामर्थ्यावधारणात्, कार्यताबोधं प्रति च लिङादीनां सामर्थ्यात्तदभावान्न शाब्दबोध इति केचित्। तन्न। प्रथमतः कार्यान्वितघटादौ शक्त्यवधारणेऽपि लाघवेन पश्चात्तस्य परित्यागौचित्यात्। अत एव 'चैत्र पुत्रस्ते जातः, कन्या ते गर्भिणी जाता' इत्यादौ मुखप्रसादमुखमालिन्याभ्यां सुखदुःखे अनुमाय तत्कारणत्वेन परिशेषाच्छाब्दबोधं निर्णीय तद्धेतुतया तं शब्दमवधारयति। तथा च व्यभिचारात्कार्यान्विते न शक्तिः। न च तत्र तं

पश्येत्यादि शब्दान्तरमध्याहार्यं, मानाभावात्। 'चैत्र ! पुत्रस्ते जातो मृतश्चे'-त्यादौ तदभावाच्च। इत्थञ्च लाघवादन्वितघटेऽपि शक्तिं व्यक्त्वा घटपदस्य घटमात्रे शक्तिमवधारयति।

आलोकः—पञ्चमं शक्तिग्रहोपायं निरूपयति—**एवमिति**। **एवं** यथाऽऽप्तवाक्यात् तथा। **व्यवहारात्** व्यवहारः घटमानयेत्यादिशब्दप्रयोगात्मकस्तस्मात्। **अपि च** तत्पदार्थमजानानस्यापि भवति शक्तिग्रह इति। तदुदाहरति–**यथेति**। **यथा**। **प्रयोजक-वृद्धेन** उपदेष्टृवृद्धेन। **घटम् आनय**। **इति**। प्रयोज्यवृद्धमुद्दिश्य। **उक्तं** कथितम्। **तत्** प्रयोजकवृद्धकथितं, **श्रुत्वा** आकर्ण्य। **प्रयोज्यवृद्धेन** आदिष्टवृद्धेन शिष्यादिना। **घटः** कम्बुग्रीवादिलक्षणविशिष्टवस्तु। **आनीतः** उपस्थापितः। **तत्** उपदेशतदनुसारवस्त्वा-नयनकर्म। **अवधार्य** श्रुत्वा दृष्ट्वा च। **पार्श्वस्थः** समीपवर्ती। **बालः** अज्ञातघटादिपद-शक्तिकः। **घटानयनरूपं** प्रयोज्यवृद्धसमवेतयत्नसाध्यघटाहरणरूपम्। **कार्यम्**। कर्म। **घटमानयेति शब्दप्रयोज्यं** प्रयोजकवृद्धोच्चारित-घटमानयेति पदजन्यम्। **इति** इत्थम्। **अवधारयति** अनुमिनोति। तत्र क्रमो यथा—**घटानयनक्रियया प्रवृत्त्यनुमानं** घटानयन-क्रिया प्रयत्नपूर्विका विलक्षणक्रियात्वात् स्वीयक्रियावदिति। **प्रवृत्त्या च शाब्दबोधानु-मानं** यथा घटानयनविषयकप्रवृत्तिः घटानयनविषयकज्ञानजन्या तद्गोचरप्रवृत्तित्वात् या यद्गोचरा प्रवृत्तिः सा तद्गोचरज्ञानजन्या स्वीयस्तन्यपानप्रवृत्तिवत् इत्यनुमानेन घटानयनविषयकज्ञान(शाब्दबोध)मनुमाय ततो घटानयनगोचरज्ञानं घटमानयेति वाक्यजन्यं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् यद् यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्तज्जन्यं यथा तन्त्वन्वयव्यतिरेकानुविधायी पटः इत्येवमानयनक्रियान्विते घटपदार्थे शक्तिं विनिश्चिनोति। इति किरणावल्यादौ स्पष्टम्। **ततः** एवं क्रियान्वितघटादौ शक्तिग्रहा-नन्तरम्। **च** अपि। **'घटं नय, गां बधान' इत्यादिवाक्यात्** इत्यादि प्रयोजकवृद्ध-वाक्यात्। **आवापोद्वापाभ्याम्** आवापः सङ्ग्रहः उद्वापस्त्यागः कस्यचिदिति। **घटादिपदानां** घटगवादिपदानाम्। **कार्यान्वितघटादौ** क्रियान्वितघटगवाद्यर्थे। **शक्तिम्**। **गृह्णाति** अनुमिनोतीति। अनुमानाकारस्तु घटमानयेति शब्दप्रयोज्यं घटानयनकार्यं तादृशशब्दश्रवणशून्यकालीनप्रवृत्त्यविषयत्वे सति प्रवृत्तिविषयत्वादिति। एवं तत्तद्धेतुना घटं नयेति शब्दप्रयोज्यं घटनयनं गां बधानेति शब्दप्रयोज्यं गोबन्धनं (गां विसृजेति शब्दप्रयोज्यं गोविसर्जनम्) इत्येयमनुमिनोतीति किरणावल्यादौ स्पष्टम्। तत्र प्राभा-करमीमांसकमतेन शङ्कामुपस्थापयति—**इत्थमिति**। **इत्थं** घटादिपदानां क्रियान्वित-घटादौ शक्तिमते। **च** तु। **भूतले नीलो घटः इत्यादिशब्दात्**। **न**। **शाब्दबोधः**। तत्र हेतुमाह—**घटादिपदानामिति**। **घटादिपदानां** पूर्वोक्तयुक्त्या घटप्रभृतिपदानाम्। **कार्या-न्वितघटादिबोधे** क्रियान्वितघटाद्यर्थविषयकशाब्दबोधे। **सामर्थ्यावधारणात्** प्रयोजक-त्वानुमितित्वात्। **कार्यताबोधं** क्रियान्वितशाब्दत्वव्यापकं यत्कार्यताविषयकशाब्दत्वं तदवच्छिन्नबोधम्। **प्रति**। **च** हि। **लिङ्गादीनां** लिङ्लोट्तव्यादीनाम्। **सामर्थ्यात्** प्रयोजकत्वात्। **तदभावात्** भूतले नीलो घट इत्यादौ तादृशप्रयोजकलिङ्गाद्यभावात्। **च** हि। **न**। **शाब्दबोधः**। **इति** इत्थम्। **केचित्** मीमांसकेषु प्राभाकराः वदन्तीति।

मीमांसकमते हि शक्तिर्द्विविधा—स्मारिका आनुभाविकी च। तत्र हि घटादिपदानां स्मारिका शक्तिर्घटत्वादिजातावेव लाघवात्। यत्र हि शक्यतावच्छेदकं नाना यथा पशुपदशक्यतावच्छेदकं लोमलाङ्गुलादि यत्र वा शक्यतावच्छेदकं गुरु यथा लिङ्गाख्यातशक्यतावच्छेदकं कृतिसाध्यत्वं तत्र व्यक्तावेव शक्तिः। सा च स्मृतिद्वारा ज्ञाता सती शाब्दबोधोपयोगिनी भवति। आनुभाविकी तु क्रियान्वितघटादौ। सा च क्रियान्वितघटादिशाब्दबोधत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतानिरूपितविषयतासम्बन्धावच्छेदकरूपा इच्छैव न त्वीश्वरेच्छा। अत एव। घटादिरदात् क्रियान्वितघटाद्यर्थगोचरशाब्दबोधो निराबाधः। इत्यादि किरणावल्यादौ विस्तरः। यदि घटादिपदानां कार्यान्वितघटादौ शक्तिः स्वीक्रियते तदा भूतले नीलो घट इत्यत्र शाब्दबोधो न स्यात् कार्यताबोधकलिङ्गादिपदाभावात् इति पूर्वपक्षसारम्।

तत्खण्डयति—**तन्नेति**। **तत्** पूर्वोक्तमतम्। **न** न समीचीनम्। तत्र हेतुमाह—**प्रथमत** इति। **प्रथमतः** आदौ प्रथमव्यवहारादिति। **कार्यान्वितघटादौ** क्रियान्वितघटपदादौ। **शक्त्यवधारणे** शक्तिग्रहानुमितौ। अपि च। **लाघवेन** क्रियान्वितघटत्वाद्यपेक्षया घटत्वादेरेव शक्यतावच्छेदकत्वे शरीरकृतलाघवेन अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थतया कार्यत्वं लिङ्गादिलभ्यं, तदाश्रयस्तु धातुलभ्यः अन्वयश्च संसर्गमर्यादया भासते इति ज्ञानसहकृतमनसा च **पश्चात्** कार्यान्वितघटादौ शक्तिग्रहानुमित्यनन्तरम्। **तस्य** क्रियान्वितघटत्वे घटादिपदशक्यतावच्छेदकत्वस्य। **परित्यागौचित्यात्** उपेक्षणीयत्वात्। प्रथमकाले घटादिपदानां कार्यान्वितघटादावेव शक्तेर्ग्रहणमस्ति तथापि कार्यत्वान्वितघटशाब्दत्वापेक्षया केवलघटशाब्दत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वकल्पने लाघवात्। इति। पदानां क्रियाऽनन्वितत्वे स्वार्थे शक्तिग्रहे लौकिकव्यवहारमुदाहरति—**अत** इति। **अतः** व्यवहारेण घटादिपदानां केवलघटत्वावच्छिन्ने शक्तिस्वीकारात्। **एव** हि। '**चैत्र पुत्रस्ते जातः, कन्या ते गर्भिणी जाता' इत्यादौ** इति वाक्ये श्रुते सति। **मुखप्रसादमुखमालिन्याभ्यां** मुखविकासमुखधूसरत्वाभ्याम्। **सुखदुःखे** सुखं शर्म दुःखं कष्टं च ते पुत्रस्य निरयत्रायकत्वात्तज्जन्यं सुखं कन्यागर्भे तु कलङ्कजन्यं दुःखम्। **अनुमाय** चैत्रः सुखी प्रसन्नमुखयुक्तत्वात्। चैत्रो दुःखी मलिनमुखयुक्तत्वात्। **तत्कारणत्वेन** सुखदुःखकारणत्वेन। **परिशेषात्** परिशेषानुमानेन अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टञ्चेति गौतमसूत्रम्। यथा 'चैत्रसमवेतसुखदुःखे असाधारणकारणजन्ये जन्यगुणत्वात्' इत्यनुमानेन असाधारणकारणजन्यत्वे सिद्धे चैत्रसमवेतसुखं चन्दनवनितादिसम्बन्धासाधारणकारणकं तत्सम्बन्धशून्यकालीनोत्पत्तिमत्त्वात् चैत्रसमवेतदुःखं न कण्टकादिसम्बन्धासाधारणकारणकं तत्सम्बन्धशून्यकालीनोत्पत्तिमत्त्वात् इत्यनुमानाभ्यां तादृशशाब्दबोधेतराऽसाधारणकारणकत्वाभावसिद्धौ सत्यां परिशेषेण तदानीन्तनं चैत्रीयं सुखं दुःखं वा 'पुत्रस्ते जातः कन्या ते गर्भिणी जाता' इति वाक्यज्ञानाधीनशाब्दबोधासाधारणकारणकं तदितरासाधारणकारणकत्वाभावे सति तदसाधारणकारणकत्वात् इत्यनुमानेन तादृशसुखदुःखयोः हेतुम्। **शाब्दबोधं निर्णीय** अनुमाय। **तद्धेतुतया** तादृशशाब्दबोधकारणतया। **तम्**। **शब्दम्** उक्तवाक्यम्। **अवधारयति** निर्णयति।

तथा च । व्यभिचारात् कार्यानन्वितस्यापि शब्दस्य बोधहेतुत्वेन कार्यान्वितशक्तिग्रहस्यानैकान्तिकत्वात् । **कार्यान्विते** घटादिपदानां क्रियान्वितस्वार्थे । **न । शक्तिः ।** किन्तु केवलस्वार्थे एवेति । यदि सर्वथा कार्यान्विते एव शक्तिः स्यात्तदा 'न भक्ष्यो ग्रामकुक्कुटः' इत्यादिवाक्येभ्यो निवृत्त्युपदेशानुपपत्तिरपि स्यात् नैवंविधैर्वाक्यैः किमपि कार्यमुपदिश्यते, भक्षणादिक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण । ननु तत्र कार्यतावाचकलोडाद्यध्याहार्यं यतो नोक्तव्यभिचार इत्यत आह—**न चेति । न** नैव । **च** हि । **तत्र** पूर्वोक्तवाक्ये **'तं पश्य'** इत्यादि कार्यतावाचकं **शब्दान्तरम्** उक्तवाक्यप्रयोक्त्रनुच्चरितवाक्यम् । **अध्याहार्यम्** उक्तवाक्यघटकतयाऽनुसन्धेयम् । **मानाभावात्** प्रमाया अनुपलम्भात् । तत्र तं पश्येत्यादिशब्दान्तराध्याहारेणैव शाब्दबोधो नान्यथेति नियमे न किमपि मानमिति । तथानियमाभ्युपगमे को दोषः ? इत्याह—**चैत्र इति । चैत्र पुत्रस्ते जातो मृतश्च इत्यादौ । तदभावात्** तं पश्येत्याद्यध्याहारासम्भवात्, पुत्रत्वं हि प्राणसंयोगादिविशिष्टपिण्डस्यैव, मरणं हि प्राणशरीरवियोगस्तेन मरणे सति न तद्दर्शनसम्भवः । **च ।** नैयायिकः स्वगतमुपसंहरति—**इत्थमिति । इत्थं** पूर्वोक्तरीत्या । **च** हि । **लाघवात्** लघुतामाश्रित्य । **अन्वितघटे** क्रियान्वितघटपदार्थे । **अपि । शक्ति** शाब्दबोधम् । **व्यक्त्वा** उपेक्ष्य । **घटपदस्य ।** घटमानयेत्यादौ घटपदादेः । **घटमात्रे** घटपदार्थमात्रे । **शक्तिम् । अवधारयति** इति ।

अनुवाद—इसी तरह व्यवहार से भी शाब्दबोध होता है। जैसे प्रयोजक वृद्ध के द्वारा 'घटमानय' (घडा ले आओ) ऐसा कहा गया । यह सुनकर प्रयोज्य वृद्ध घडा ले आया । यह सुन-देखकर समीप में बैठा बालक (जो शब्द का अर्थ नहीं जानता है) घटानयन रूप (घडे को ले आने का) कार्य 'घटमानय' इस शब्द का प्रयोज्य है, ऐसा समझ लेता है। उसके बाद 'घटं नय, गां बधान' (घडा ले जाओ, गाय बाँध लो) इत्यादि में आवाप (प्रक्षेप) एवं उद्वाप (निस्सारण) के द्वारा घट आदि पदों का कार्यान्वित घट आदि में शक्ति का ग्रहण कर लेता है । इस प्रकार भी 'भूतले नीलो घटः' (जमीन में नीला घट) इत्यादि शब्दों से शाब्दबोध नहीं होगा । घट आदि पदों के कार्यान्वित घट आदि के बोध में सामर्थ्य के अवधारण से कार्यताबोध के प्रति भी लिङ्ग आदि का सामर्थ्य होने से वहाँ उसके अभाव से उससे शाब्दबोध नहीं होता, ऐसा कुछ लोग (मीमांसकों में प्राभाकर) मानते हैं । वह ठीक नहीं है, क्योंकि पहले तो कार्यान्वित घट आदि में शक्ति का अवधारण होने पर भी, बाद में लाघव के कारण उसका परित्याग ही उचित है । इस कारण 'चैत्र ! पुत्रस्ते जातः, कन्या ते गर्भिणी जाता' (चैत्र तुम्हें लड़का हो गया, तुम्हारी कन्या गर्भवती हो गई) इत्यादि में मुख की प्रसन्नता एवं मलिनता से सुख एवं दुःख का अनुमान कर उसके कारण के रूप में परिशेष (अनुमान) से शाब्दबोध का निर्णय कर उसके हेतु के रूप में उस शब्द का अवधारण करता है । इसी तरह व्यभिचार से भी कार्यान्वित घट आदि में शक्ति नहीं होती । न तो उसमें 'तं पश्य' (उसे देख लो) इत्यादि दूसरे शब्दों का ही

अध्याहार हो सकता है, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है। 'चैत्र पुत्रस्ते जातो मृतश्च' (चैत्र ! तुम्हें लड़का हो गया और मर भी गया) इत्यादि में उसका ('उसे देखो' का) अन्वय नहीं रहता। (क्योंकि मरने के बाद पुत्र देखा नहीं जा सकता। पुत्र तो प्राणशरीरसंयोगविशिष्ट पिण्ड है और प्राण एवं शरीर का वियोग ही मृत्यु है।) इस प्रकार लाघव से कार्यान्वित घट में गृहीत शक्ति की उपेक्षा कर घट पद का घटमात्र में शक्ति का अवधारण करता है।

एवं वाक्यशेषादपि शक्तिग्रहः। यथा 'यवमयश्चरुर्भवति' इत्यत्र यवपदस्य दीर्घशूकविशेषे आर्याणां प्रयोगः, कङ्गौ च म्लेच्छानाम्। तत्र हि यदान्या ओषधयो म्लायन्तेऽथैते मोदमानास्तिष्ठन्ति इति वाक्यशेषाद् दीर्घशूके शक्तिर्निर्णीयते, कङ्गौ तु शक्तिभ्रमात् प्रयोगः, नानाशक्तिकल्पने गौरवात्। हर्यादिपदे तु विनिगमकाभावान्नानाशक्तिकल्पनम्।

आलोकः—षष्ठं शक्तिग्रहोपायं वाक्यशेषं विवृणोति–**एवमिति**। **एवं** यथा व्यवहारतः शक्तिग्रहस्तथैव। **वाक्यशेषाद्** वाक्यस्य कथनस्य शेषः वक्त्रनुच्चारितवाक्यं तस्मात्। **अपि च**। **शक्तिग्रह** इति। तदुदाहरति—**यथेति**। **यवमयश्चरुर्भवति इत्यत्र** इत्यादौ। **यवपदस्य**। **आर्याणाम्** आर्यजनानां व्यवहारे। **दीर्घशूकविशेषे** लम्बमानाग्रभागकण्टकधान्यविशेषे। **प्रयोगः** व्यवहारः। **म्लेच्छानाम्** आर्येतराणाम्। **च** तु। **कङ्गौ** प्रियङ्गौ। प्रयोगः। **तत्र** द्वयोरर्थयोर्मध्ये। **हि**। **यदा** यस्मिन् काले। **अन्याः** इतराः। **ओषधयः** सत्त्वादयः। **म्लायन्ते** विपर्णाः शुष्काश्च भवन्ति। **अथ** तदा। **एते** यवाः। **मोदमानाः** सपर्णा हरितार्द्राश्च। **तिष्ठन्ति** वर्तन्ते इति। उक्तिस्तु यथा—

> 'वसन्ते सर्वसस्यानां जायते पत्रशातनम्।
> मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः'॥ इति

वसन्तौ हि सर्वविधानामेव सस्यानां **पत्रशातनं** पत्रपतनं जायते, तदैव **यवाः** दीर्घशूकास्तु **कणिशशालिनः** बीजवन्तः **मोदमानाः** वृद्धिमन्तः हरिताः सपर्णाश्च तिष्ठन्तीति तदाशयः। **इति** इत्थम्। **वाक्यशेषात्** स्वभिन्नवाक्ये स्वार्थबोधोपयोगी पदकदम्बोऽर्थवादादिरूपो वाक्यशेषस्तस्मात् **दीर्घशूके**। **शक्तिर्निर्णीयते** दीर्घशूके एव तादृशलक्षणसम्भवात्। **कङ्गौ** प्रियङ्गौ। **तु** हि। **शक्तिभ्रमात्** शक्तेर्भ्रमात्। **प्रयोगः** यवशब्दस्य प्रियङ्गौ व्यवहारः। 'सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्' (जै० सू० १।४।१९) इति मीमांसका अपि। वैयाकरणास्तु म्लेच्छप्रयोगेऽपि शक्तिमेव मन्यन्ते न तु शक्तिभ्रमः, शक्तिग्राहकशिरोमणेर्व्यवहारस्य तुल्यत्वात्। व्यवहारदर्शनेन च पूर्वजन्मानुभूतशक्तिस्मरणम्। तेन बालानां तिरश्चां चान्वयबोधः। न चासाधुशब्देन साधुस्मरणद्वाराऽर्थबोधः, साधुस्मरणं विनाऽपि बोधानुभवात्, तद्वाचकसाधुशब्दमजानतां बोधानापत्तेश्च। न च शक्तिभ्रमादेव बोधोऽसाधुशब्देषु निःसन्देहप्रत्ययस्य बाधकं विना भ्रमत्वायोगात्। तेन स्त्रीशूद्रबालादीनामुच्चारिते साधावर्थसंशये तदपभ्रंशेनार्थनिर्णयः। तेन समानायामथवगतौ शब्दैश्चापशब्दैश्च शास्त्रेण धर्मनियमः इति भाष्यम्। अत एवार्यम्लेच्छाधि-

करणं सङ्गच्छते, यत्र आर्यप्रसिद्धेर्म्लेच्छप्रसिद्धयपेक्षया बलीयस्त्वं प्रतिपादितमस्ति, उभयत्र शक्तिकल्पने एव बलवत्त्वविचारः सङ्गच्छते इति।

ननु यवशब्दस्य नानाशक्तिमत्तया दीर्घशूके इव प्रियङ्गावपि शक्तिस्वीकारात्कथं तत्र शक्तिभ्रम इत्यपेक्षायामाह—**नानाशक्तीति**। **नानाशक्तिकल्पने** यवपदस्यैव विभिन्न-शक्तिकल्पने। **गौरवात्** नानाशक्यतावच्छेदककल्पनावश्यकत्वेन गौरवापत्तेः। यदि हि यवशब्दस्य नानाशक्तिकल्पने गौरवं तर्हि कथं हरिप्रभृतिपदानां नानाधर्मावच्छि-न्नेऽर्थे नानाशक्तिकल्पनमित्यपेक्षायामाह—**हर्यादीति**। **हर्यादिपदे** हरिप्रभृतिनानार्थक-पदे। **तु** हि। **विनिगमकाभावात्** एकत्रैवार्थे शक्तिर्नाऽन्यत्रेति युक्त्यात्मकप्रयोजकस्या-भावात्। कोशेन यमाद्यष्टादशविधार्थेषु तन्निर्देशाच्च। **नानाशक्तिकल्पनं** शक्यतावच्छे-दकभेदेन विभिन्नार्थे शक्तिकल्पनमिति। कोशनिर्देशस्तु यथा—

'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु।
शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु'॥ इति

अनुवाद—इसी तरह वाक्यशेष से भी शक्तिग्रह होता है। जैसे 'यवमयश्चरु-र्भवति' इत्यादि में यव पद में यव पद का दीर्घशूकविशेष (नोक वाला अन्नविशेष) आर्यों का व्यवहार है, प्रियङ्गु में म्लेच्छों का। उन दोनों में जब दूसरी ओषधियाँ मुरझा जाती हैं तब वे लहराते रहते हैं (वसन्त में सभी प्रकार के सस्यों के पत्ते गिर जाते हैं, यव तो बीज से युक्त होकर लहराते रहते हैं), ऐसे वाक्यशेष से दीर्घशूक में ही शक्ति मानी जाती है, कङ्गु में तो शक्तिभ्रम से ही प्रयोग होता है, क्योंकि नाना शक्तियों की कल्पना में गौरव पड़ता है। हरि आदि पद में तो विनिगमक के अभाव से (किसी एक अर्थ में परिसीमन करने की व्यवस्था न होने से) गौरव होने पर भी नानाशक्ति की कल्पना की जाती है।

एवं विवरणादपि शक्तिग्रहः। विवरणं तु तत्समानार्थकपदान्तरेण तद-र्थकथनम्। यथा घटोऽस्तीत्यस्य कलशोऽस्तीत्यनेन विवरणाद् घटपदस्य कलशे शक्तिग्रहः। एवं पचतीत्यस्य पाकं करोतीत्यनेन विवरणादाख्यातस्य यत्ना-र्थकत्वं कल्प्यते।

आलोकः—सप्तमं शक्तिग्रहोपायं विवरणं निरूपयति—**एवमिति**। एवं यथा वाक्य-शेषाच्छक्तिग्रहस्तथा। **विवरणात्** समानार्थकपदान्तरात्। **अपि** च। **शक्तिग्रहः**। **विव-रणं** विवरणपदस्यार्थः। **तु** हि। **तत्समानार्थकपदान्तरेण** तस्य पदस्य समानार्थकं शक्यता-वच्छेदकावच्छिन्नार्थशक्तं यदन्यं पदं तेन। **तदर्थकथनं** तस्य पदस्य अर्थकथनमभिधेय-कथनम्। तदुदाहरति—**यथेति**। **यथा**। **घटोऽस्ति इत्यस्य**। **कलशोऽस्ति इत्यनेन**। **विवरणात्** विवृतेः। **घटपदस्य**। **कलशे** कलशेऽर्थे। **शक्तिग्रहः**। **एवम्**। इत्थम्। **'पचति' इत्यस्य**। **पाकं** पाचनकार्यम्। **करोति** विदधाति। **इति अनेन**। **विवरणात्** विवृतेः। **आख्यातस्य** **तिप्रत्ययस्य**। पचतीत्यस्य। **यत्नार्थकत्वं** कृत्यर्थकत्वम्। **कल्प्यते** अनुमीयते।

अनुवाद—इसी तरह **विवरण** से भी शक्तिग्रह होता है। विवरण समान अर्थ वाले दूसरे पद के द्वारा उसके अर्थ को कहना है। जैसे 'घटोऽस्ति' इसका 'कलशोऽस्ति' इससे अर्थकथन होने से घट पद का कलश में शक्तिग्रह होता है। इसी तरह 'पचति' इसका 'पाक करता है' इससे अर्थकथन से आख्यात का यत्न अर्थात् कृति अर्थ कल्पित होता है।

एवं प्रसिद्धपदस्य सान्निध्यादपि शक्तिग्रहः। यथा 'इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौती'त्यादौ पिकपदस्य कोकिले शक्तिग्रह इति।

आलोकः—अष्टमं शक्तिग्रहोपायं प्रसिद्धपदसान्निध्यं निरूपयति—**एवमिति**। **एवम्** इत्थम्। **प्रसिद्धपदस्य** प्रसिद्धार्थवाचकपदस्य। **सान्निध्यात्** सहोच्चारितत्वात्। **अपि** च। **शक्तिग्रहः**। तदुदाहरति—**यथेति**। **यथा**। **'इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौति' इत्यादौ**। प्रसिद्धार्थकस्य सहकारपदस्य पञ्चमादिस्वरात्मकप्रसिद्धार्थकस्य मधुरपदस्य सान्निध्येन **पिकपदस्य**। **कोकिले** कोकिलात्मकेऽर्थे। **शक्तिग्रहः**। **इति**। अत्र हि मधुरमिति पदेन काकादौ, सहकारतरौ इति पदेन मधुरगायकविशेषे शक्तिभ्रमवारणम्।

इत्थमष्टौ शक्तिग्रहोपाया निरूपिताः।

अनुवाद—इसी तरह प्रसिद्ध पद के सान्निध्य से भी शक्तिग्रह होता है। जैसे 'इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौति' (यहाँ सहकार (आम) वृक्ष में कोयल मधुर आवाज में कूंजता है) इत्यादि में पञ्चमादि स्वर अर्थ वाले प्रसिद्ध पद 'मधुर' एवं प्रसिद्धार्थक सहकार पद के सान्निध्य से पिकशब्द का कोकिल अर्थ में शक्तिग्रह होता है।

तत्र जातावेव शक्तिर्न तु व्यक्तौ, व्यभिचारादानन्त्याच्च। व्यक्तिं विना जातिभानस्यासम्भवाद् व्यक्तेरपि भानमिति केचित्। तन्न। शक्तिं विना व्यक्तिभानानुपपत्तेः। न च व्यक्तौ लक्षणा, अनुपपत्तिप्रतिसन्धानं विनाऽपि व्यक्तिबोधात्। न च व्यक्तिशक्तावानन्त्यं, सकलव्यक्तावेकस्या एव शक्तेः स्वीकारात्। न चाननुगमः, गोत्वादेरेवानुगमकत्वात्। किञ्च गौः शक्येति शक्तिग्रहो यदि तदा व्यक्तौ शक्तिः। यदि तु गोत्वं शक्यमिति शक्तिग्रहस्तदा गोत्वप्रकारकपदार्थस्मरणं शाब्दबोधश्च न स्यात्, समानप्रकारकत्वेन शक्तिज्ञानस्य पदार्थस्मरणं शाब्दबोधं प्रति च हेतुत्वात्। किञ्च गोत्वे यदि शक्तिस्तदा गोत्वत्वं शक्यतावच्छेदकं वाच्यम्। गोत्वत्वं तु गवेतरासमवेतत्वे सति सकलगोसमवेतत्वम्। तथा च गोव्यक्तीनां शक्यतावच्छेदकेऽनुप्रवेशात्तथैव गौरवम्। तस्मात्तज्जातिविशिष्टतत्तद्व्यक्तिबोधानुपपत्त्या कल्प्यमाना शक्तिर्जात्याकृतिविशिष्टव्यक्तौ विश्राम्यतीति।

आलोकः—प्रसङ्गसङ्गत्या शक्तिस्थलं निरूपयितुं जातिमात्रशक्तिवादि मीमांसकमतनिरसनायादौ तदुपन्यस्यति—**तत्रेत्यादिना**। **केचिदित्यन्तेन** ग्रन्थेन। **तत्र** जाति-

व्यक्त्योर्मध्ये । **जातौ** जातिर्नित्यत्वे सति अनेकव्यक्तिवृत्तिधर्मो यथा घटत्वादि तत्र । **एव हि** । **शक्तिः** सङ्केतः । **न** । **तु** तद्विपरीतम् । **व्यक्तौ** व्यक्तिविशेषे । घटादिपदानां घटत्वादिजातावेव शक्तिर्न तु कम्बुग्रीवादिमद् व्यक्तौ इति । व्यक्तौ शक्तिस्वीकारे दोषमाह—**व्यभिचारादिति** । **व्यभिचाराद्** व्यभिचारो धर्मातिक्रमस्तस्मात् । कस्याञ्चिद् व्यक्तौ शक्तिग्रहे अगृहीतशक्तेरपि पदस्य तेनैव शाब्दबोधाद् विनापि शक्तिग्रहं शाब्दबोधे सति व्यभिचारः । एवञ्च घटपदात्पटरूपस्याप्यर्थस्य भानप्रसङ्गः शक्तिज्ञानाभावसाम्यात् । **आनन्त्यात्** आनन्त्यदोषात् सर्वासु व्यक्तिषु शक्तिस्वीकारे प्रतिव्यक्तिशक्तिभेदात् शक्त्यानन्त्यमिति । व्यक्तौ शक्तिस्वीकारे तु कस्याञ्चित्तत्स्वीकारेऽगृहीतशक्तिकादपि पदाच्छाब्दबोधापत्तेर्व्यभिचारदोष आपतति, सर्वास्वेव स्वीकारे तु प्रतिव्यक्तिशक्तिभेदाच्छक्त्यानन्त्येनानन्त्यदोषः । यदि च जातिविशिष्टे शक्तिः स्वीक्रियते तदा जातावपि शक्तिग्रहावश्यकताऽपरिहार्यैव । 'नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशिष्टेषूपजायते' इति न्यायात् । तत्र अगृहीतमविषयीकृतं विशेषणं ययेति । तेन विशेषणाविषयिणी बुद्धिर्विशिष्टेषु नोपजायते । तथैव 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इति च, यत्र विशेषणे क्षीणशक्तिः कृतार्था अभिधा विशेष्यं धर्मिणं न **गच्छेत्** बोधयितुं प्रभवतीति च सम्मतात् तथा च विशेषणशक्तात्पदादेव विशिष्टविषयकशाब्दबोधोपपत्तौ विशेष्यांशे व्यक्तौ बोधाभावान्निष्प्रयोजनत्वाच्च न शक्तिग्रहः किन्तु जातावेव । तत्र **व्यक्ति** पृथगात्मतारूपैकैकविशेषम् । **विना** । **जातिभानस्य** स्वरूपतो जातिविषयकत्वस्य । **असम्भवात्** व्यक्त्यविनाभावेनेति । **व्यक्तेः** । **अपि च** । **भानम्** अन्यथानुपपत्त्या शाब्दबोधे भानम्—व्यक्त्यविनाभावेन जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते **इति** । न च स्वरूपतो जातिप्रकारकव्यक्तिविशेष्यकशाब्दबोधं प्रति व्यक्तिविषयकशक्तिज्ञानत्वेन हेतुत्वात् जातिविशिष्टव्यक्तौ शक्तिः स्वीकार्येति वाच्यमनन्तशक्तिविषयत्वकल्पनागौरवभयाद् व्यक्तिशक्तिस्वीकाराऽनुचितत्वात् व्यक्तिशक्तिज्ञानस्य तादृशशाब्दबोधहेतुत्वकल्पनाया अनौचित्याच्चेति । **इति** । **केचित्** मीमांसका इति ।

शक्तिः कुत्रेति विषयमादायाचार्या वैमत्यं भजन्ते । तत्र केचिज्जातौ शक्तिं मन्यन्तेऽपरे व्यक्तौ, अन्ये तु आकृतौ, केचिज्जातिविशिष्टव्यक्तौ, केचिज्जात्याकृतिव्यक्तिषु, परे जातौ शक्तिर्व्यक्तौ लक्षणेति । सम्प्रदायविदो नैयायिकाः गवादिपदानां जात्याकृतिविशिष्टव्यक्तौ शक्तिं मन्यन्ते । व्यक्तावेव शक्तिर्न तु जातौ इति नव्याः । जातिविशिष्टव्यक्तौ शक्तिरित्यपरे । वेदान्तिमते व्यक्तय एव वाच्याः । केचित्तु गवादिशब्देषु जातिः, संज्ञाशब्देषु डित्थादिषु व्यक्तिः, सास्नादिमच्छब्देषु आकृतिरिति त्रितयमपि वाच्यमिति वदन्ति । शाब्दिकमते जात्याकृतिव्यक्तिषु तिसृषु शक्तित्रयं मन्यन्ते । आकृतावेव शक्तिरिति पातञ्जलाः । जातावेव शक्तिर्व्यक्तिलाभस्त्वाक्षेपेणेति भाट्टाः प्राभाकराश्च । गोपदस्य गोत्वे शक्तिर्व्यक्तौ लक्षणेति मण्डनमिश्राः । जातौ व्यक्तौ चोभयत्र शक्तिः । सा च जात्यंशे ज्ञाता व्यक्त्यंशे स्वरूपसती प्रत्यायिका इत्यन्ये मीमांसकाः ।

समासस्य विशिष्टार्थे शक्तिरिति शाब्दिकाः। समासेऽवयवलक्षणयैवोपपत्तौ समुदायशक्तौ मानाभाव इति नैयायिकाः। समुदाये लक्षणेति मीमांसकाः।

धातोस्तु फलावच्छिन्नव्यापारे शक्तिरिति नव्यनैयायिकाः। फले व्यापारे च पृथक् शक्तिरिति शाब्दिकाः। फले एव शक्तिरिति मण्डनमिश्राः। व्यापारे शक्तिरिति रत्नकोशकृतः।

आख्यातस्य कृतौ शक्तिरिति नैयायिकाः। कर्तृकर्मभावेषु शक्तिरिति शाब्दिकाः। व्यापारमात्रे शक्तिरिति मीमांसकाः। उत्पादकतायां शक्तिरिति रत्नकोशकृतः।

जातावेव शक्तिरिति मीमांसकाः। जातिविशिष्टे शक्तिरिति नैयायिकाः। जातिगुणद्रव्यक्रियासु शक्तिरिति शाब्दिका आलङ्कारिकाश्च। अपोहार्थे शक्तिरिति बौद्धाः।

मीमांसकमतं दूषयति—**तन्नेति।** **तत्** जातावेव शक्तिर्व्यक्तिस्त्वाक्षेपलभ्येति मीमांसकमतम्। **न** न समीचीनम्। तत्र हेतुमाह—**शक्तिमिति। शक्तिम्। विना।** जातिशक्तिमाश्रित्यैवेति। **व्यक्तिभानानुपपत्तेः** व्यक्तेर्यद् भानमवभासस्तस्यानुपपत्तेरसिद्धेः। तत्तदर्थविषयकशाब्दबोधं प्रति वृत्तिज्ञानसहकृततत्तदर्थविषयकपदज्ञानजन्यपदार्थोपस्थितेः हेतुत्वात्। शाब्दबोधं प्रति पदजन्यपदार्थोपस्थितिरेव हेतुरिति व्यक्तौ शक्तिं विना व्यक्तिभानस्य नैव निर्वाहस्तेन व्यक्तावपि शक्तिः स्वीकार्यैवेत्युत्तरग्रन्थस्याशयः। यदि च जातावेव शक्तिः स्वीक्रियते तदा गोपदान्न गोव्यक्तेर्भानं, न च जात्या व्यक्तेराक्षेपसम्भवः, उभयोः सामानाधिकरण्याभावेन व्याप्तेरभावात्। तादात्म्यसम्बन्धेन व्याप्तेरभ्युपगमेऽपि व्यक्तौ विभक्त्यर्थसङ्ख्याकर्मत्वादेर्नान्वयस्तस्यापदार्थत्वात्। न ह्यपदार्थेन सङ्ख्यादेरन्वयः, सुपः प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधव्युत्पत्तेः। शक्तिग्राहकानयनादिव्यवहारस्य व्यक्तावेव सम्भवात् जातिशक्तिमते तदनुपपत्तिरिति जातिशक्तिवादिभाट्टमतमसम्मतमेव। प्रभाकरमते तु व्यक्तिं विना जातिग्रहाभावाद् व्यक्तेरपि शक्तिग्रहविषयता, अन्यथा जातिमात्रविषयत्वस्य कारणतावच्छेदकत्वे विनिगमनाविरहः स्यात्। नैयायिकमतेऽपि जात्यादेः शक्तिविषयत्वे गौरवमिति स्वीकार्य एव व्यक्तौ शक्तिग्रह इति।

तदा जातौ शक्तिं स्वीकृत्य व्यक्तौ लक्षणा कार्येति मण्डनमिश्रमतं दूषयति—**न चेति। न। च** एवमेव। **व्यक्तौ** पृथगात्मतारूपैकैकविशेषे। **लक्षणा।** तथासति तु व्यक्तेरपि वृत्त्यैव पदार्थोपस्थितेः इति वाच्यम्। **अनुपपत्तिप्रतिसन्धानम्** अन्वयतात्पर्यान्यतरानुपपत्तिज्ञानम्। **विना। अपि। व्यक्तिबोधात्।** यत्र हि अन्वयस्य तात्पर्यस्य वानुपपत्तिस्तत्रैव लक्षणा सम्भवति। प्रकृते तु 'गामानय' इत्यादौ आनयनक्रियया सह जातेरन्वयस्यानुभवविरुद्धत्वात्तत्सम्भवेऽपि 'गौरस्ति' इत्यादौ गोत्वजातेरस्तित्वाद्यन्वयस्यानुभवसिद्धत्वान्न लक्षणाबीजमिति। व्यक्तौ शक्तौ तस्या नानात्वाच्छक्तीनामानन्त्यमिति यदुक्तं भाट्टैः तत्परिहारायाह— **न चेति। न। च** हि। **व्यक्तिशक्तौ** व्यक्तिशक्तिस्वीकारे। **आनन्त्यम्** अनन्ततादोषः। **सकलव्यक्तौ** कालान्तरीयदेशान्तरीयघटादिव्यक्तिषु। **एकस्याः** ईश्वरेच्छात्मिकायाः। **एव। शक्तेः। स्वीकारात्** विषयतासम्बन्धेनाङ्गीकारात्। नानाविधविषयताऽऽत्मकसम्बन्धाऽऽनन्त्यं तु न दोषायेति।

यदि ईश्वरेच्छारूपशक्त्यैकत्वाद् व्यक्तौ शक्तिस्वीकारे नानन्त्यदोषोऽप्युच्यते तदापि गवादिव्यक्तीनां विभिन्नाकारतयाऽननुगतत्वेन विषयतासम्बन्धेन शक्तिज्ञानकारणतायामवच्छेदकधर्माभावरूपाननुगमः कथं निवार्यते ? इत्यपेक्षायामाह—**न चेति**। **न**। **च** हि। **अननुगमः** अननुगतता। अनुगमकत्वे हेतुमाह—**गोत्वादेरिति**। **गोत्वादेः** गोत्वघटत्वादेः। **एव** हि। **अनुगमकत्वाद्** घटव्यक्तिविषयकशाब्दबोधं प्रति घटत्वविशिष्टविषयकशक्तिज्ञानस्य कारणत्वेन नाननुगमकरूपो दोष इति। शक्तिज्ञाननिष्ठकारणतायां स्वावच्छिन्नविषयकत्वसम्बन्धेन गोत्वमेवावच्छेदकं तस्यैवानुगतकारणत्वोपपादकत्वादित्याशयः। गोत्वप्रकारकगोविशेष्यकस्मृतिं प्रति गोत्वावच्छिन्नविशेष्यताशालिशक्तिज्ञानस्य कारणतया तस्य सर्वत्र सत्त्वात् नोक्तकारणताऽसिद्धिर्न चानुगतकारणत्वानुपपत्तिरिति व्यक्तिशक्तिग्रहोपपत्तिः। जातिशक्तिग्रहस्वरूपं विकल्प्य दूषयति—**किञ्चेति**। **किञ्च**। **यदि गौः शक्या** गोपदशक्या गौः। **इति** इत्याकारकः। **शक्तिग्रहः** शक्तिज्ञानम्। **तदा** तादृशशक्तिज्ञाने। **व्यक्तौ** एकैकविशेषे। **शक्तिः**। अनुभवसिद्धेति। मीमांसक(प्राभाकर)मते ह्यन्यथाख्यातेरभावादेतादृशं विशिष्टज्ञानं प्रमात्मकमपि प्रमाणञ्च वस्तुसाधकत्वेन व्यक्तावेव शक्तिसिद्धिः। तदभाववति तत्प्रकारकं भानमन्यथाख्यातिः। सा च प्राभाकरैर्नाङ्गीक्रियत इति। यदि गौः गोपदशक्यः इत्याकारकं शक्तिज्ञानं जायते, तदा व्यक्तावेव शक्तिरनुभवसिद्धेति। तद्विपरीतं **यदा**। **तु**। **गोत्वं शक्यं** गोत्वं गोपदशक्यम्। **इति** इत्याकारम्। **शक्तिग्रहः** शक्तिज्ञानं जायते। **तदा** तदवस्थायाम्। **गोत्वप्रकारकपदार्थस्मरणं** गोपदाद् गोत्वप्रकारकपदार्थस्वार्थाद् गोव्यक्तेः स्मरणम्। गोत्वप्रकारकस्य गोव्यक्तिरूपस्य पदार्थस्य स्मरणमिति। **शाब्दबोधः** गोत्वप्रकारकगोव्यक्तिविशेष्यकशाब्दबोधः। **च** अपि। **न**। **स्यात्**। तत्र हेतुमाह—**समानेति**। **समानप्रकारकत्वेन** यत्प्रकारकं पदार्थस्मरणं शाब्दबोधश्च यत्प्रकारकः तेनैव प्रकारेण। **शक्तिज्ञानस्य** शक्तिग्रहस्य। **पदार्थस्मरणम्**। **शाब्दबोधम्**। **प्रति**। **च** अपि। **हेतुत्वात्** कारणत्वात्। यत्प्रकारकं यद्विशेष्यकं च शक्तिग्रहणं तादृशशक्तिग्रहस्तत्प्रकारकपदार्थस्मरणं तत्प्रकारकतद्विशेष्यकशाब्दबोधं प्रति च कारणं भवति, तेन गोत्वे शक्तिग्रहे न तस्माद् गोव्यक्तिपदार्थस्य स्मरणं, न च शाब्दबोधे गोव्यक्तिनिष्ठा विशेष्यता भासते इत्याशयः।

तथैव जातिशक्तिवादे गौरवं निर्दिशति—**किञ्चेति**। **किञ्च**। **गोत्वे**। **यदि**। **शक्तिः** शक्तिग्रहः। **यदा**। **गोत्वत्वम्**। **शक्यतावच्छेदकं** शक्यत्वनिरूपकम्। **वाच्यम्**। तत्र **गोत्वत्वम्**। **तु** हि। **गवेतरासमवेतत्वे** गोभिन्नासम्बद्धत्वे। **सति**। **सकलगोसमवेतत्वं** समस्तगोसम्बद्धत्वम्। **तथा च** तथा सति हि। **गोव्यक्तीनां** गवैकैकविशेषाणाम्। **शक्यतावच्छेदके** शक्यत्वनिरूपके। **अनुप्रवेशात्** समावेशात्। **तव** मीमांसकस्य जातिशक्तिवादिनः। **एव** हि। **गौरवम्**। शक्यतावच्छेदकांशे गोव्यक्तीनामपि उक्तरीत्या प्रवेशे तासामानन्त्येनावच्छेदकांशानन्त्या शाब्दबोधं प्रति कारणतावच्छेदककोटौ गौरवमेवेत्याशयः।

प्रकरणमुपसंहरन् स्वमतं निर्दिशति—**तस्मादिति**। **तस्माद्** गौरवादिदोषेण जाति-

शक्तिस्वीकारानौचित्यात् । **तत्तज्जात्याकृतिविशिष्टतत्तद्व्यक्तिबोधानुपपत्त्या** केवलायां जातौ अवयवसंयोगात्मकाकृतौ व्यक्तौ वा शक्तिस्वीकारे गोत्वादितत्तज्जाति-सास्नादि-मत्त्वाद्याकृतिविशिष्ट-गवादिव्यक्तिबोधासिद्धेः । तादृशजात्याकृतिविशिष्टव्यक्तिबोध-निर्वाहाय **कल्प्यमाना** सर्वानुमता । **शक्तिः** गोपदात्सास्नादिमत्त्वविशिष्टगौर्बोद्धव्या इत्याद्याकारिका इच्छात्मकशक्तिः । **जात्याकृतिविशिष्टव्यक्तौ** तत्तज्जात्याकृतिविशिष्ट-व्यक्तौ जात्यादित्रित्वे एवेति । **विश्राम्यति** तिष्ठति । **इति**। अत्र न्यायसूत्रमपि 'जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः' (२।२।६५) इति । अवयवसंयोगात्मकाकृतेः शक्यत्वे-ऽपि न जातिवच्छक्यतावच्छेदकत्वं सामानाधिकरण्यस्य शक्यतावच्छेदकसम्बन्धकल्पने गौरवात् । नानासंयोगव्यक्तीनामवच्छेदकत्वकल्पनापेक्षया जातेस्तत्कल्पने शरीरादि-कृतलाघवमिति । सास्नादिमत्त्वगोत्वगवान्यतममविषयीकृत्य गवादिपदात् शाब्द-बोधानुदयात् त्रिष्वेव पृथक् शक्तिरिति 'जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः' इति सूत्रे एक-वचनोपादानेन दर्शितमिति प्राञ्च इति किरणावल्यादौ स्पष्टम् । कुब्जशक्तिवादिनो नव्यास्तु अवयवसंयोगानुपस्थितावपि गवादिपदाद् गोत्वविशिष्टव्यक्तेर्बोधात् जाति-विशिष्टव्यक्तौ पृथगेव शक्तिः आकृतौ च पृथगेवेति ।

एवं तच्छब्दस्य वक्तृबुद्धिविषयतावच्छेदकीभूतघटत्वाद्यवच्छिन्ने इदमेतदोः प्रत्यक्ष-बुद्धिविषयेऽदसः परोक्षबुद्धिविषये तदश्च किम्पदस्य जिज्ञासाविषयत्वविशिष्टे सर्वपदस्य व्यापकत्वे शक्तिः । तथैव त्वम्पदस्य तत्कालीनसम्बोध्यचैत्रत्वादिशक्यतावच्छेदकम् । अहम्पदस्य तत्कालीनस्वतन्त्रोच्चारयितृ चैत्रत्वादि । यथा 'मया तवात्रोपहृतौ चण्ड-मुण्डौ महापशू' इत्यत्र देवीं प्रति चामुण्डावाक्ये मयेति चामुण्डया न तु कविना तवेति देव्या न तु पाठकस्येति । श्लोकश्चात्र—

'इदमः प्रत्यक्षगतं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् ।
अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षं विजानीयात्' ॥ इति ।

यथा—'इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः' । 'इयं बाला नवोद्वाहा सत्यं श्रुत्वा व्यथां व्रजेत्' । 'एते राजकुमारा गच्छन्ति' । 'पिबति च पाति च याऽसकौ पुनस्त्वाम्' । 'पुराणस्य कवेस्तस्य' । एवमेव स्वनिजादिशब्दानां समानव्याहृतपदोपस्थाप्ये एवशब्द-स्य कैवल्यविशिष्टे शक्तिरिति । अधिकं तु ग्रन्थान्तरे शक्तिवादादौ ।

अनुवाद—उसमें भी जाति में ही शक्ति होती है न कि व्यक्ति में, क्योंकि उसमें व्यभिचार एवं आनन्त्य दोष होता है । व्यक्ति के बिना जाति का मान सम्भव न होने से व्यक्ति का भी भान होता है, ऐसा कुछ लोग (मीमांसक) कहते हैं, जो ठीक नहीं है, क्योंकि शक्ति के बिना व्यक्ति के भान की उपपत्ति नहीं होती । न तो (जाति में शक्ति मान कर) व्यक्ति में लक्षणा मानना ही ठीक है, क्योंकि अनुपपत्ति के प्रति-सन्धान के बिना भी व्यक्ति का बोध होता है (लक्षणा नहीं) । न तो व्यक्ति-शक्ति में आनन्त्य ही है, क्योंकि सभी व्यक्तियों में ईश्वरेच्छारूप एक ही शक्ति स्वीकृत है । न तो व्यक्ति में अननुगतता ही है, क्योंकि उसमें गोत्वादि का ही अनुगमकत्व होता

है। यदि गौ गोपदवाच्य है, ऐसा मानकर शक्तिग्रह होता है तब व्यक्ति में ही शक्ति होती है; यदि 'गोत्व शक्य है' ऐसा मानकर शक्तिग्रह होता है तब गोत्वप्रकार वाले पदार्थ (गो व्यक्ति) का स्मरण और शाब्दबोध भी नहीं होगा, क्योंकि समान प्रकार के रूप से ही शक्ति-ज्ञान का पदार्थस्मरण एवं शाब्दबोध के प्रति हेतुत्व होता है। गोत्व में यदि शक्ति माना जाय तब गोत्वत्वशक्यतावच्छेदक होगा। गोत्वत्व है—गो भिन्न में असमवेत होने पर सकल गौ में समवेत होना। इस प्रकार गो-व्यक्तियों का शक्यतावच्छेदक में अनुप्रवेश होने से आपका ही (जातिशक्तिवाद में ही) गौरव पड़ता है।

इस कारण तत्-तत् जाति-आकृति-विशिष्ट तत्-तत् व्यक्तिबोध की अनुपपत्ति से कल्पित शक्ति जाति-आकृति-विशिष्ट व्यक्ति में ही विश्रान्ति लेती है।

शक्तं पदम्। तच्चतुर्विधम्। क्वचिद् यौगिकं, क्वचिद्रूढं, क्वचिद् योगरूढं, क्वचिद् यौगिकरूढम्। तथा हि—यत्रावयवार्थ एव बुध्यते तद् यौगिकं, यथा पाचकादिपदम्। यत्रावयवशक्तिनिरपेक्षया समुदायशक्त्या बुध्यते तद्रूढं, यथा गोमण्डलादिपदम्। यत्र त्ववयवशक्तिविषये समुदायशक्तिरप्यस्ति तद्योगरूढं, यथा पङ्कजादिपदम्। तथा हि—पङ्कजपदमवयवशक्त्या पङ्कजनिकर्तृरूपमर्थं बोधयति, समुदायशक्त्या च पद्मत्वेन रूपेण पद्मं बोधयति। न च केवलयाऽवयवशक्त्या कुमुदे प्रयोगः स्यादिति वाच्यं, रूढिज्ञानस्य केवलयौगिकार्थबुद्धौ प्रतिबन्धकत्वादिति प्राञ्चः। वस्तुतस्तु समुदायशक्त्युपस्थितपद्मेऽवयवार्थपङ्कजनिकर्तुरन्वयो भवति, सान्निध्यात्। यत्र तु रूढ्यर्थस्य बाधः प्रतिसन्धीयते तत्र लक्षणया कुमुदादेर्बोधः। यत्र तु कुमुदत्वेन रूपेण बोधे न तात्पर्यज्ञानं पद्मत्वस्य च बाधस्तत्रावयवशक्तिमात्रेण निर्वाह इत्यप्याहुः। यत्र तु स्थलपद्मादाववयवार्थबाधस्तत्र समुदायशक्त्या पद्मत्वेन रूपेण बोधः। यदि तु स्थलपद्मं विजातीयमेव तदा लक्षणयैवेति। यत्र तु यौगिकार्थरूढ्यर्थयोः स्वातन्त्र्येण बोधस्तद्यौगिकरूढं, यथोद्भिदादिपदम्। तत्र हि उद्भेदनकर्ता तरुगुल्मादिर्बुध्यते यागविशेषोऽपीति ॥ ८१ ॥

आलोकः—शाब्दबोधे पदज्ञानस्य करणत्वं यदुक्तं तत्र किं पदं कतिविधञ्च तदित्याकाङ्क्षायामाह—**शक्तमिति**। **शक्तं** वाचकतासम्बन्धेन शक्तिविशिष्टं यत्तद्। **पदं** पदसंज्ञकं भवतीति। तेन शक्तत्वं पदत्वमिति पदलक्षणम्। शक्तिनिरूपकत्वं पदत्वमिति वा। न तु सुप्तिङन्तत्वं पदत्वं तदभावकालेऽपि प्रकृतेः स्वार्थबोधकत्वस्यानुभाविकत्वात्। यथा दधि पश्येत्यादौ दधिपदम्। वैयाकरणप्रभृतयः पदानामिव वाक्यस्यापि शक्तिमङ्गीकुर्वन्ति, तद्विपरीतं नैयायिकमते पदमेव भवति शक्तं, न तु वाक्यमित्यनेन सूचितम्। निरूपकतासम्बन्धेन शक्तिमत्पदम्, यथा घटादिपदं कम्बुग्रीवादिमदर्थविशेषे शक्तमिति। आलङ्कारिकास्तु समर्थं पदमिति, यदा वैयाकरणाः सुप्तिङन्तं

पदमिति। केचिद् विभक्त्यन्तं पदमपि। परे वृत्तिमत्त्वं पदत्वम्। प्रयोगार्हान्विन्वितैकार्थबोधकवर्णाः पदमिति आलङ्कारिकेषु विश्वनाथः। वाक्यैकदेशः पदमित्यपरे। पदं हि द्विविधं--**मुख्यं गौणञ्च**। तत्र यच्छक्तिवृत्त्या यमर्थमुपस्थापयति तत्तस्मिन्नर्थे मुख्यम्। यथा गवादिव्यक्त्युपस्थापकं गवादिपदम्। यल्लक्षणावृत्त्या यमर्थमुपस्थापयति तत्तस्मिन्नर्थे गौणं लाक्षणिकं वा। यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र लक्षणया तीरोपस्थापकं गङ्गापदम्।

मुख्यं पदं विभजते—**तदिति**। **तत्** तादृशं निरूपकतासम्बन्धेन शक्तिमत्पदम्। **चतुर्विधं** चतुष्प्रकारकमिति। **क्वचित्** कुत्रचित्तु किञ्चित्पदमिति। **यौगिकं** शास्त्रकल्पितावयवार्थनिरूपितशक्तिर्योगस्तन्निरूपकं पदं यौगिकम्। **क्वचित्** किञ्चित्पदम्। **रूढं** समुदायार्थनिरूपितशक्तिः रूढिस्तन्निरूपकं रूढम्। **क्वचित्** किञ्चित्पदम्। **योगरूढम्** अवयवार्थान्वितविशेष्यभूतार्थनिरूपिता शक्तिर्योगरूढिस्तन्निरूपकं पदं योगरूढम्। **क्वचित्** किञ्चित्पदम्। **यौगिकरूढम्** अवयवार्थसमुदायार्थयोः शक्तियौगिकरूढिस्तन्निरूपकं पदं यौगिकरूढमिति। तान्युदाहरति--**तथा हीति**। **तथा हि**। **यत्र** यादृशपदघटके। **अवयवार्थः** तादृशपदघटकशास्त्रकल्पितावयवप्रतिपाद्यार्थः। **एव हि न तु** समुदायबोध्योऽपि। **बुध्यते** ज्ञायते। प्रमितिविषयतावान् भवति। **तत्** तादृशपदघटितशक्ततावच्छेदकताशून्यसमुदायवत् पदम्। **यौगिकं** तदाख्यं भवतीति। यथोक्तम्—

> 'योगलभ्यार्थमात्रस्य बोधकं नाम यौगिकम्।
> समासस्तद्धिताक्तञ्च कृदन्तञ्चेति तत्त्रिधा॥' इति।
>
> (शब्दशक्तिप्रकाशिका ३०)

यन्नाम स्वान्तर्निविष्टशब्दानां योगलभ्यस्यैव यादृशार्थस्यान्वयबोधं प्रति हेतुस्तन्नाम तादृशार्थे यौगिकमिति। तच्च समासः, तद्धिताक्तं कृदन्तञ्चेति त्रिधा। तत्रानेकपदानामेकपदीभावः समासः; यथा—राजपुरुषः, कृष्णसर्पः, रूपवद्भार्यः, धवखदिरौ। विभक्तिधात्वंशकृद्भ्योऽन्यः प्रत्ययस्तद्धितम्; यथा—अश्वकः। धातुसम्बन्धे तिङ्भिन्नप्रत्ययाः कृत्; यथा--पाचकः कर्ता।

यौगिकमुदाहरति--**यथेति**। **यथा पाचकः आदिपदम्**। पाकार्थकात् पच्धातोः कर्त्रर्थे ण्वुलि तस्याकादेशे उपधावृद्धौ पाचक इति, यत्र पच् इत्येकः प्रकृतिरूपोऽवयवः ण्वुलप्रत्ययः प्रत्ययरूपोऽवयवः। उभयावयवार्थः पाककर्ता इति। आदिपदात् कर्ता धावक इत्यादीनामपि ग्रहणम्। रूढं लक्षयति—**यत्रेति**। **यत्र** यादृशपदे। **अवयवशक्तिनिरपेक्षया** अवयवानां या शक्तिस्तन्निरपेक्षया। **समुदायशक्त्या** समुदायस्य शक्त्या अर्थो **बुध्यते** ज्ञायते। **तत्** तादृशं पदम्। **रूढम्** इति। पदाऽघटितशक्ततावच्छेदकसमुदायवत्त्वं रूढत्वमिति। **यथा गोमण्डलादिपदं** गौः मण्डलम् आदिपदम्। गत्यर्थकाद् गम् धातोः कर्त्रर्थकडोप्रत्यये सिद्धो गोशब्दो गमनकर्तृत्वरूपावयवार्थं व्युत्पत्तिलभ्यमुपेक्ष्य प्रकृतिप्रत्ययसमुदायरूपेण रूढ्या अवयवसंस्थानविशिष्टगोत्वावच्छिन्नगोरूपार्थं सूचयति। एवमेव मण्डं लातीति व्युत्पत्त्या सिद्धं मण्डलपदं भवतमण्डादानकर्तृत्वरूपावयवार्थमुपेक्ष्य रूढ्या सूर्यादिरोधककुण्डलाकारपरिधिं बोधयति। तथैव मण्डपपदेन वितानस्य

है। यदि गौ गोपदवाच्य है, ऐसा मानकर शक्तिग्रह होता है तब व्यक्ति में ही शक्ति होती है; यदि 'गोत्व शक्य है' ऐसा मानकर शक्तिग्रह होता है तब गोत्वप्रकार वाले पदार्थ (गो व्यक्ति) का स्मरण और शाब्दबोध भी नहीं होगा, क्योंकि समान प्रकार के रूप से ही शक्ति-ज्ञान का पदार्थस्मरण एवं शाब्दबोध के प्रति हेतुत्व होता है। गोत्व में यदि शक्ति माना जाय तब गोत्वत्वशक्यतावच्छेदक होगा। गोत्वत्व है—गो भिन्न में असमवेत होने पर सकल गौ में समवेत होना। इस प्रकार गो-व्यक्तियों का शक्यतावच्छेदक में अनुप्रवेश होने से आपका ही (जातिशक्तिवाद में ही) गौरव पड़ता है'।

इस कारण तत्-तत् जाति-आकृति-विशिष्ट तत्-तत् व्यक्तिबोध की अनुपपत्ति से कल्पित शक्ति जाति-आकृति-विशिष्ट व्यक्ति में ही विश्रान्ति लेती है।

शक्तं पदम्। तच्चतुर्विधम्। क्वचिद् यौगिकं, क्वचिद्रूढं, क्वचिद् योगरूढं, क्वचिद् यौगिकरूढम्। तथा हि—यत्रावयवार्थ एव बुध्यते तद् यौगिकं, यथा पाचकादिपदम्। यत्रावयवशक्तिनिरपेक्षया समुदायशक्त्या बुध्यते तद्रूढं, यथा गोमण्डलादिपदम्। यत्र त्ववयवशक्तिविषये समुदायशक्तिरप्यस्ति तद्योगरूढं, यथा पङ्कजादिपदम्। तथा हि—पङ्कजपदमवयवशक्त्या पङ्कजनिकर्तृरूपमर्थं बोधयति, समुदायशक्त्या च पद्मत्वेन रूपेण पद्मं बोधयति। न च केवलयाऽवयवशक्त्या कुमुदे प्रयोगः स्यादिति वाच्यं, रूढिज्ञानस्य केवलयौगिकार्थबुद्धौ प्रतिबन्धकत्वादिति प्राञ्चः। वस्तुतस्तु समुदायशक्त्युपस्थितपद्मेऽवयवार्थपङ्कजनिकर्तुरन्वयो भवति, सान्निध्यात्। यत्र तु रूढ्यर्थस्य बाधः प्रतिसन्धीयते तत्र लक्षणया कुमुदादेर्बोधः। यत्र तु कुमुदत्वेन रूपेण बोधे न तात्पर्यज्ञानं पद्मत्वस्य च बाधस्तत्रावयवशक्तिमात्रेण निर्वाह इत्यप्याहुः। यत्र तु स्थलपद्मादाववयवार्थबाधस्तत्र समुदायशक्त्या पद्मत्वेन रूपेण बोधः। यदि तु स्थलपद्मं विजातीयमेव तदा लक्षणयैवेति। यत्र तु यौगिकार्थरूढ्यर्थयोः स्वातन्त्र्येण बोधस्तद्यौगिकरूढं, यथोद्भिदादिपदम्। तत्र हि उद्भेदनकर्ता तरुगुल्मादिर्बुध्यते यागविशेषोऽपीति ॥ ८१ ॥

आलोकः—शाब्दबोधे पदज्ञानस्य कारणत्वं यदुक्तं तत्र किं पदं कतिविधञ्च तदित्याकाङ्क्षायामाह—**शक्त**मिति। **शक्तं** वाचकतासम्बन्धेन शक्तिविशिष्टं यत्तत्। **पदं** पदसंज्ञकं भवतीति। तेन शक्तत्वं पदत्वमिति पदलक्षणम्। शक्तिनिरूपकत्वं पदत्वमिति वा। न तु सुप्तिङन्तत्वं पदत्वं तदभावकालेऽपि प्रकृतेः स्वार्थबोधकत्वस्यानुभाविकत्वात्। यथा दधि पश्येत्यादौ दधिपदम्। वैयाकरणप्रभृतयः पदानामिव वाक्यस्यापि शक्तिमङ्गीकुर्वन्ति, तद्विपरीतं नैयायिकमते पदमेव भवति शक्तं, न तु वाक्यमित्यनेन सूचितम्। निरूपकतासम्बन्धेन शक्तिमत्पदम्, यथा घटादिपदं कम्बुग्रीवादिमदर्थविशेषे शक्तमिति। आलङ्कारिकास्तु समर्थं पदमिति, यदा वैयाकरणाः सुप्तिङन्तं

पदमिति। केचिद् विभक्त्यन्तं पदमपि। परे वृत्तिमत्त्वं पदत्वम्। प्रयोगार्हान्नन्वितैकार्थबोधकवर्णाः पदमिति आलङ्कारिकेषु विश्वनाथः। वाक्यैकदेशः पदमित्यपरे। पदं हि द्विविधं—**मुख्यं गौणञ्च**। तत्र यच्छक्तिवृत्त्या यमर्थमुपस्थापयति तत्तस्मिन्नर्थे मुख्यम्। यथा गवादिव्यक्त्युपस्थापकं गवादिपदम्। यल्लक्षणावृत्त्या यमर्थमुपस्थापयति तत्तस्मिन्नर्थे गौणं लाक्षणिकं वा। यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र लक्षणया तीरोपस्थापकं गङ्गापदम्।

मुख्यं पदं विभजते—**तदिति**। **तत्** तादृशं निरूपकतासम्बन्धेन शक्तिमत्पदम्। **चतुर्विधं** चतुष्प्रकारकमिति। **क्वचित्** कुत्रचित्तु किञ्चित्पदमिति। **यौगिकं** शास्त्रकल्पितावयवार्थनिरूपितशक्तिर्योगस्तन्निरूपकं पदं यौगिकम्। **क्वचित्** किञ्चित्पदम्। **रूढं** समुदायार्थनिरूपितशक्तिः रूढिस्तन्निरूपकं रूढम्। **क्वचित्** किञ्चित्पदम्। **योगरूढम्** अवयवार्थान्वितविशेष्यभूतार्थनिरूपिता शक्तिर्योगरूढिस्तन्निरूपकं पदं योगरूढम्। **क्वचित्** किञ्चित्पदम्। **यौगिकरूढम्** अवयवार्थसमुदायार्थयोः शक्तिर्यौगिकरूढिस्तन्निरूपकं पदं यौगिकरूढमिति। तान्युदाहरति—**तथा हीति**। **तथा हि**। **यत्र** यादृशपदघटके। **अवयवार्थः** तादृशपदघटकशास्त्रकल्पितावयवप्रतिपाद्यार्थः। **एव हि न तु** समुदायबोध्योऽपि। **बुध्यते** ज्ञायते। प्रमितिविषयतावान् भवति। **तत्** तादृशपदघटितशक्ततावच्छेदकताशून्यसमुदायवत् पदम्। **यौगिकं** तदाख्यं भवतीति। यथोक्तम्—

'योगलभ्यार्थमात्रस्य बोधकं नाम यौगिकम्।
समासस्तद्धिताक्तञ्च कृदन्तञ्चेति तत्त्रिधा॥' इति।

(शब्दशक्तिप्रकाशिका ३०)

यन्नाम स्वान्तर्निविष्टशब्दानां योगलभ्यस्यैव यादृशार्थस्यान्वयबोधं प्रति हेतुस्तन्नाम तादृशार्थे यौगिकमिति। तच्च समासः, तद्धिताक्तं कृदन्तञ्चेति त्रिधा। तत्रानेकपदानामेकपदीभावः समासः; यथा—राजपुरुषः, कृष्णसर्पः, रूपवद्भार्यः, धवखदिरौ। विभक्तिधात्वंशकृद्भ्योऽन्यः प्रत्ययस्तद्धितम्; यथा—अश्वकः। धातुसम्बन्धे तिङ्भिन्नप्रत्ययाः कृत्; यथा—पाचकः कर्ता।

यौगिकमुदाहरति—**यथेति**। **यथा पाचकः आदिपदम्**। पाकार्थकात् पच्धातोः कर्त्रर्थे ण्वुलि तस्याकादेशे उपधावृद्धौ पाचक इति, यत्र पच् इत्येकः प्रकृतिरूपोऽवयवः ण्वुल्प्रत्ययः प्रत्ययरूपोऽवयवः। उभयावयवार्थः पाककर्ता इति। आदिपदात् कर्ता धावक इत्यादीनामपि ग्रहणम्। रूढं लक्षयति—**यत्रेति**। **यत्र** यादृशपदे। **अवयवशक्तिनिरपेक्षया** अवयवानां या शक्तिस्तन्निरपेक्षया। **समुदायशक्त्या** समुदायस्य शक्त्या अर्थो **बुध्यते** ज्ञायते। **तत्** तादृशं पदम्। **रूढम्** इति। पदाऽघटितशक्ततावच्छेदकसमुदायवत्त्वं रूढत्वमिति। **यथा गोमण्डलादिपदं** गौः मण्डलम् आदिपदम्। गत्यर्थकाद् गम् धातोः कर्त्रर्थकडोप्रत्यये सिद्धो गोशब्दो गमनकर्तृत्वरूपावयवार्थं व्युत्पत्तिलभ्यमुपेक्ष्य प्रकृतिप्रत्ययसमुदायरूपेण रूढ्या अवयवसंस्थानविशिष्टगोत्वावच्छिन्नगोरूपार्थं सूचयति। एवमेव मण्डं लातीति व्युत्पत्त्या सिद्धं मण्डलपदं भक्तमण्डादानकर्तृत्वरूपावयवार्थमुपेक्ष्य रूढ्या सूर्यादिरोधककुण्डलाकारपरिधिं बोधयति। तथैव मण्डपपदेन वितानस्य

बोधो भवति रूढ्या, न तु मण्डं पातीति व्युत्पत्त्या मण्डपानकर्तृत्वबोधः। रूढमपि त्रिविधं–नैमित्तिकं, पारिभाषिकमौपाधिकञ्चेति। निमित्तमादाय प्रवृत्तं नैमित्तिकं, यथा गवादिजात्या सङ्केतवत्। आधुनिकी संज्ञा डित्थादि पारिभाषिकम्। उपाधिना प्रवृत्तमौपाधिकं दूतादि। अथवा जातिद्रव्यगुणस्पन्दैर्धर्मैः सङ्केतवत्तया चतुर्धा रूढम्। तत्र गवादीनां गोत्वादिजात्या पशु-आढ्यादीनां लाङ्गूलधनादिद्रव्येण धन्यपिशुनादीनां पुण्यद्वेषादिगुणेन चलचपलादीनां कर्मणाऽवच्छिन्नशक्तिमत्त्वात् चातुर्विध्यं रूढानामिति। योगरूढं लक्षयति—**यत्रेति**। **यत्र** यादृशपदघटत्वे। **तु** तद्विपरीतम्। **अवयवशक्तिविषये** अवयवानां या शक्तिस्तद्विषये। **समुदायशक्तिः** अवयवसमूहस्य शक्तिः। **अपि**। **अस्ति**। **तत्** यादृशपदघटकावयवशक्तिसमानाधिकरणसमुदायशक्तिप्रयोज्यानुभवविषयतावानर्थो भवति तादृशपदघटितसमुदायत्ववत्। **योगरूढम्**। इति। यथोक्तम्—

'स्वान्तर्निविष्टशब्दार्थस्वार्थयोर्बोधकृन्मिथः।
योगरूढं न यत्रैकं विनाऽन्यस्यास्ति शाब्दधीः'॥ इति।

(शब्दशक्तिप्रकाशिका २६)

यन्नाम स्वावयववृत्तिलभ्यार्थेन सम**ं** स्वार्थस्यान्वयबोधकृत्तन्नाम योगरूढम्। तच्च सामासिकं तद्धितात्तमिति। द्विविधं कृदन्तस्य सामासिके एवान्तर्भाव इति। योगरूढमुदाहरति –**यथेति**। **यथा पङ्कजादिपदम्**। पङ्कजमित्यादिपदं योगरूढमिति। पङ्कजपदस्य योगरूढत्वमुपपादयति—**तथा हीति**। **तथा हि**। **पङ्कजपदं** पङ्कजमिति पदम्। **पङ्कात् जायत** इति व्युत्पत्त्या पङ्क+जमित्याकारिकया **अवयवशक्त्या**। **पङ्कजनिकर्तृ रूपं** पङ्कप्रयोज्यजन्मानुकूलकृतिमत्त्वमिति। **अर्थम्** अभिप्रायम्। **बोधयति** ज्ञापयति। **समुदायशक्त्या** पङ्कजमिति रूढ्या। **च** तु। **पद्मत्वेन**। **रूपेण**। **पद्मम्** अवयवसंस्थानविशिष्टपद्मत्वावच्छिन्नपद्मम्। **बोधयति** ज्ञापयति। **न**। **च**। **केवलया** समुदायशक्तिशून्यया। **अवयवशक्त्या**। **कुमुदे** रक्तकमले मण्डूके वा। **अर्थे**। **प्रयोगः** व्यवहारः। **स्यात्**। **इति**। **वाच्यं** कुमुदादीनामपि पङ्कजत्वात्। तत्र प्राचीनमतेन समाधत्ते —**रूढिज्ञानस्येति**। **रूढिज्ञानस्य** समुदायशक्तिप्रकारकज्ञानस्य। **केवलयौगिकार्थबुद्धौ** समुदायार्थशून्यावयवार्थमात्रज्ञाने। **प्रतिबन्धकत्वात्** बाधकत्वात्। रूढिर्योगाद् बलीयसी इति। **इति** इत्थम्। **प्राञ्चः** प्राचीनाचार्याः। मणिकारमतमनुसृत्य स्वसम्मतपक्षमुपस्थापयति – **वस्तुत** इति। **वस्तुतः** यथार्थतः। तु हि। **समुदायशक्त्युपस्थितपद्मे** रूढिज्ञानजन्यस्मृतिविषयपद्मे। **अपि**। **अवयवार्थपङ्कजनिकर्तुः** योगशक्तिज्ञानजन्यस्मृतिविषयपङ्कजनिकर्तृकावच्छिन्नस्य। **अन्वयः** तादात्म्यसम्बन्धेन पङ्कजनिकर्त्रभिन्नपद्ममिति शाब्दबोधः। **भवति** सम्पद्यते। **सान्निध्यात्** रूढ्यर्थस्य प्राथमिकोपस्थितिविषयत्वात्। तथा च पद्मव्यक्तितात्पर्येण प्रयुक्तस्य पङ्कजपदस्य रूढ्या प्रथमोपस्थितपद्मविशेषपरत्वेन अवयवशक्त्याऽनन्तरोपस्थितस्य पङ्कजनिकर्तुः रूढ्यर्थे पद्मे अभेदान्वयबोधे योग्यतादिसामग्रीसत्त्वाद् भवति रूढ्यर्थे एव योगार्थान्वयो न तु योगार्थे रूढ्यर्थान्वयः, प्रथमानुपस्थापिततया दुर्बलत्वात्, न वा केवलयोगार्थबोधस्तत्र तात्पर्याभावादिति किरणावल्यादौ स्पष्टम्। योगापेक्षया रूढेर्ब-

लीयस्त्वात्सर्वत्र प्रथमं समुदायबोध्यार्थस्यैवोपस्थितिर्भवति पश्चादेवावयवार्थस्य। ततश्च समुदायार्थेऽवयवार्थस्य भवत्यभेदान्वयबोधस्तद्योग्यसामग्रीसत्त्वात्। एवं पङ्कजपदेऽवयवशक्त्यापि समुदायशक्त्युपस्थितस्यैवार्थस्य बोधो भवति। न च तत्र केवलावयवार्थबोधस्तत्र तात्पर्याभावात्। तेन न पङ्कजपदात्केवलावयवशक्त्या कुमुदादेर्बोध इति सारम्। **यत्र** प्रयोगे। **रूढ्यर्थस्य** रूढिसमुपस्थितपद्मार्थस्य। **बाधः** एतद्देशवृत्तित्वेन समभिव्याहृतपदार्थेन सहान्वयानुपपत्तिः रूढिशक्त्याश्रयपदस्य समभिव्याहृतपदार्थेन सह तात्पर्यानुपपत्तिर्वा। **प्रतिसन्धीयते** निश्चीयते, प्रयोक्तुः पङ्कजपदेन कुमुदादेर्बोधे तात्पर्यात्। **तत्र** तादृशस्थले। **लक्षणया** लक्षणावृत्त्या। **कुमुदादेः**। **बोधः**। पङ्कजपदादवयवशक्त्यैव कुमुदादेर्बोधवारणाय रूढिज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनापेक्षया लक्षणाकल्पनाया लाघवादिति। **यत्र** प्रयोगे। **तु**। पङ्कजपदस्य। **कुमुदत्वेन रूपेण** धर्मेण। **बोधे** ज्ञाने। **न**। **तात्पर्यज्ञानं** कुमुदत्वावच्छिन्नविषयकबोधेच्छया उच्चरितत्वज्ञानाभावः। **अथ च**। **पद्मत्वस्य** पद्मत्वावच्छिन्नस्य रूढ्यर्थस्य। **च**। **बाधः** समभिव्याहृतपदार्थेन एतद्देशवृत्तित्वादिना सहान्वयानुपपत्तिः। **तत्र** तादृशस्थले तादृशवाक्यघटकपङ्कजपदे इति। **अवयवशक्तिमात्रेण** पङ्काज्जायत इति अवयवशक्तिज्ञानेनैव पङ्कजनिकर्तृत्वप्रकारककुमुदविशेष्यकस्मरणे सति पङ्कजनिकर्तृत्वप्रकारककुमुदविशेष्यकशाब्दबोधस्य। **निर्वाहः**। तथा चैतादृशस्थले पङ्कजपदं यौगिकमेव। **इति** इत्थम्। **अपि च**। **आहुः** कथयन्ति तत्त्वचिन्तामणिकारा इति। तन्मूलं तु—'एवं पद्मं पङ्कजपदशक्यं, ततो नियमतः पङ्कजनिकर्तृपद्ममिति प्रतीतेः अवयवानां तत्रासामर्थ्यात् रूढिं विना योगमात्रात् कुमुदे प्रयोगधीप्रसङ्गाच्च। ननु रूढावपि योगात् कुमुदे तौ कुतो न स्यातां? रूढ्या प्रतिबन्धादिति प्राञ्चः। वयन्तु नियमतो रूढ्या स्मृतं पद्ममेव व्यक्तिवाचक-डप्रत्ययेन पङ्कजनिकर्तृतयाऽनुभाव्यते, बाधकं विना व्यक्तिवचनानां सन्निहितविशेषणपरत्वनियमात्, यथा प्रेयीति ढगन्तपदेन प्रकरणादिना सन्निहिता ढगभिहिता ऋग्व्यक्तिर्बोध्यते, एवञ्च सर्वत्र पद्मानुभवसामग्र्यैवेति न कुमुदे धीर्न वा तदर्थप्रयोगः। न चैवं रूढिरेवाऽस्तु, तत एवोभयलाभात् किं योगरूढ्या नावयवशक्तेः क्लृप्तत्वात् यौगिकार्थानुभवाच्च। यदि च रूढ्यर्थ एव यौगिकार्थ एव वाऽनुभूयेत तदा विवाद एव न स्यात्, अनुभवेनैव तद्विच्छेदात्। इति। **यत्र** प्रयोगे। **तु** तद्विपरीतम्। **स्थलपद्मादौ** पङ्कजपदस्य स्थलकमलादौ। **अवयवार्थबाधः** स्थले पङ्काभावात्पङ्कजनिकर्तृत्वरूपावयवार्थबाधः। **तत्र** तादृशस्थले। **समुदायशक्त्या** रूढ्या। **पद्मत्वेन**। **रूपेण** धर्मेण। **बोधः** इति। एतादृशस्थले पङ्कजपदं रूढमेव। **यदि** पक्षे। **तु**। **स्थलपद्मं** कमलतः **विजातीयं** पद्मत्वानवच्छिन्नम्। **एव हि** स्वीक्रियते। **तदा** तादृशस्थले। **लक्षणया** लक्षणावृत्त्या **अजहत्स्वार्थया**। **एव हि**। स्थलकमलस्य बोधो ज्ञेय इति। पङ्कजपदेन तत्र पद्मसादृश्यप्रकारकस्थलपद्मविशेष्यकबोधोऽजहत्स्वार्थलक्षणयेति भावः।

यौगिकरूढं लक्षयति—**यत्रेति**। **यत्र** यादृशवाक्यघटकपदेन। **तु** तद्विलक्षणमेव। **यौगिकार्थरूढ्यर्थयोः** योगार्थस्य रूढ्यर्थस्य च। **स्वातन्त्र्येण** तादात्म्यानवगाहितया।

बोधः शाब्दबोधः । **तत्** तादृशं पदम् । **यौगिकरूढं** तेन रूढिनिरूपकतावच्छेदकरूढयर्थतावच्छेदकासमानाधिकरणधर्मावच्छिन्नशक्तपदघटितसमुदायत्ववत्त्वं यौगिकरूढत्वमिति लक्षणमिति तज्ज्ञाः । तन्निदर्शनमाह – **यथेति** । **यथा** । **उद्भिद् आदिपदम्** । **तत्र** उद्भित्पदे । **हि** । **उद्भेदनकर्ता** उत् ऊर्ध्वं भिनत्तीति व्युत्पत्तेरवयवशक्तिज्ञानमात्रेण ऊर्ध्वभेदनकर्तृत्वप्रकारकस्मरणे सति उद्भेदनकर्तृत्वविशिष्टः । **तरुगुल्मादिः** वृक्षवीरुधादिः । **समुदायशक्त्या** । **तदाख्यः यागविशेषः** 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्युक्तयज्ञविशेषः । **अपि च** । **इति** ॥ ८१ ॥

अनुवाद—शक्ति से विशिष्ट को पद कहते हैं । वह चार प्रकार का होता है--कहीं यौगिक, कहीं रूढ, कहीं योगरूढ और कहीं यौगिकरूढ । जहाँ अवयवों का अर्थ ही जाना जाता है, वह यौगिक होता है । जैसे पाचक आदि पद । (यहाँ पच् और ण्वुल् (अक) दो पद हैं, जिनमें पच् का अर्थ है--पाक एवं ण्वुल् का अर्थ करने वाला और दोनों मिलकर पाचक का अर्थ हुआ पाक करने वाला ।) जहाँ अवयव की शक्ति से सम्बन्ध न रखकर समुदाय की शक्ति मात्र से जाना जाता है, वह रूढ होता है । जैसे गो मण्डल आदि । (गम् + डो = गो—गम् का अर्थ है जाना, डो का अर्थ है करने वाला, दोनों का अर्थ हुआ—जाने वाला, लेकिन उसकी अनदेखी कर गोपद का अर्थ होता है गाय । मण्ड + ला + क—(अ) मण्ड का अर्थ माँड, ला का अर्थ ले आना, क का अर्थ करने वाला, सब मिलाकर हुआ--माँड लाने वाला, लेकिन उसको छोड़कर मण्डल पद से परिधि जाना जाता है ।) जहाँ अवयव की शक्ति के विषय में समुदायशक्ति भी है, वह योगरूढ कहलाता है । जैसे पङ्कज आदि पद । (यहाँ पङ्क का अर्थ है कीचड़, ज का अर्थ है जन्म लेने वाला और दोनों का यौगिक अर्थ हुआ कीचड़ में होने वाला; तथा रूढ अर्थ है—पद्म ।) कीचड़ में होने वाला पङ्कज पद अवयव शक्ति से पङ्कनिकर्तृत्व रूप अर्थ का बोध कराता है और समुदायशक्ति से तो पद्मत्व रूप से पद्म का बोध कराता है । न तो केवल अवयवशक्ति से कुमुद अर्थ में प्रयोग हो, ऐसा कहना उचित है, क्योंकि रूढिज्ञान केवल यौगिक ज्ञान में प्रतिबन्धक होता है, ऐसा प्राचीन आचार्य मानते हैं । वास्तव में तो समुदायशक्ति से उपस्थित पद्म में अवयवार्थ पङ्कजनिकर्तृ का सान्निध्य से अन्वय होता है । (रूढि ज्ञान पहले होता है तब अवयवार्थ ज्ञान, अतः दूसरा पहले के साथ अन्वित हो जाता है, क्योंकि बाद में होने वाला होने के कारण वह दुर्बल होता है ।) जहाँ तो रूढि के अर्थ का बाध हो वहाँ लक्षणा से कुमुद आदि का बोध मानना चाहिए । जहाँ कुमुदत्व के रूप में बोध का तात्पर्य ज्ञान नहीं है और पद्मत्व का भी बाध होता है, वहाँ अवयवशक्ति मात्र से निर्वाह होता है, ऐसा (तत्त्वचिन्तामणिकार) कहते हैं । जहाँ तो स्थलपद्म आदि में अवयवार्थ का बाध होता है वहाँ समुदायशक्ति से पद्मत्व के रूप में बोध होता है । जहाँ स्थल-कमल विजातीय माना जाता है वहाँ लक्षणा से ही उसका बोध होता है ।

जहाँ अवयवार्थ एवं रूढयर्थ दोनों का स्वतन्त्र रूप से बोध होता है, वह यौगिक रूढ पद कहलाता है । जैसे उद्भिद् आदि पद । वहाँ उद्भिद् ऊपर की ओर भेदन करने वाला तरु गुल्म आदि (अवयवशक्ति से) जाने जाते हैं और समुदायशक्ति से उद्भिद् नामक यागविशेष भी ॥ ८१ ॥

लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः ।

लक्षणेति । गङ्गायां घोष इत्यादौ गङ्गापदस्य शक्यार्थे प्रवाहरूपे घोषस्यान्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिर्वा यत्र प्रतिसन्धीयते तत्र लक्षणया तीरस्य बोध इति । सा च शक्यसम्बन्धरूपा । तथाहि–प्रवाहरूपशक्यार्थसम्बन्धस्य तीरे गृहीतत्वात्तीरस्य स्मरणं, ततः शाब्दबोधः ।

आलोकः—एवं शक्ति सप्रपञ्चं निरूप्य सम्प्रति लक्षणां निरूपयति परममूले—**लक्षणेति** । तात्पर्यानुपपत्तितः शक्यसम्बन्धः लक्षणा इति । **तात्पर्यानुपपत्तितः** तात्पर्यं वक्तुरिच्छा गङ्गापदाद् गङ्गातीरबोधो भवतु तीरबोधो वेति तस्य अनुपपत्तिः शक्यार्थादप्राप्तिरसिद्धिरिति तस्माद् बीजात् । **शक्यसम्बन्धः** शक्यस्य शक्त्योपस्थापितस्यार्थस्य सम्बन्धः यः कश्चित्सामीप्यसादृश्यादिः यथायोग्यं सम्बन्धः स एव । शक्यार्थसम्बन्धिनि सम्बन्धो मुख्यार्थवाचकपदस्यामुख्येऽर्थे या वृत्तिः सा । **लक्षणा** मुख्येतरव्यापार इति । शक्यपरम्परासम्बन्धो लक्षणा, तद्बीजं तु शक्यार्थादवक्तुस्तात्पर्यानुपपत्तिरिति । न चास्य व्यञ्जनायामतिव्याप्तिर्न्यायनये तस्या अस्वीकारात् तस्याश्च मुख्यार्थबाधनिरपेक्षबोधजनकत्वान्मुख्यार्थसम्बद्धासम्बद्धसाधारणत्वात् प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयकत्वाच्चेति ।

(नैयायिका हि व्यञ्जनावृत्तिं नैवोररीकुर्वन्ति, तन्मते तस्या लक्षणयैव गतार्थता । वैयाकरणास्तन्न सहन्ते । तन्मते लक्षणाया मुख्यार्थबाधपूर्वकलक्ष्यार्थबोधकत्वात् मुख्यार्थसम्बद्धार्थस्यैव लक्षणाया बोधकत्वाद् व्यञ्जनाया अतथात्वान्न व्यञ्जनाया लक्षणान्तर्भाव इति । शक्तिरेतज्जन्मगृहीतैवार्थबोधिका, व्यञ्जना तु जन्मान्तरगृहीतापीत्यपि शक्तेरस्या भेदकं लक्षणातोऽपि । इत्थं यदुच्यते लक्षणामूला व्यञ्जना लक्षणयैव गतार्था अर्थशक्तिमूला त्वनुमानेनेति तदसङ्गतमेव । लक्षणाया हि मुख्यार्थबाधपूर्वकमेव प्रवृत्तिर्यदा व्यञ्जनायास्तन्निरपेक्षबोधजनकत्वं लक्षणाया मुख्यार्थसम्बद्धार्थोपस्थापकत्वं यदा व्यञ्जनाया तत्सम्बद्धासम्बद्धसाधारणत्वमिति, न च गङ्गायां घोषः इत्यादौ लक्षणया गङ्गापदात् तटरूपार्थबोधानन्तरं पुनः शीतत्वपावनत्वातिशयप्रयोजनप्रतीतिरपि वृत्तेर्विरम्य व्यापाराभावात् । तेन व्यञ्जना न लक्षणया गतार्थाऽपितु पृथगेव वृत्तिः । तथैव व्यङ्ग्योऽर्थो नानुमेयोऽनुमानस्य व्याप्त्यधीनत्वाद् व्यङ्ग्यार्थस्य विरुद्धानैकान्तिकेभ्यो व्याप्तिपक्षधर्मतादिभिर्निर्णयाभावेऽपि प्रतीतेरिति । किञ्च सिद्धिसत्त्वेऽपि व्यङ्ग्यार्थबोधदर्शनेन तत्प्रतिबन्ध्यतावच्छेदककोटौ तत्तद्भेदनिवेशेऽतिगौरवापत्त्या वैयञ्जनिकबोधस्यातिरिक्तत्वे एव लाघवमन्यथा शब्दप्रामाण्यस्याऽप्युच्छेदापत्तिरिति ।)

मूले कारिकाशयं विवृणोति—**लक्षणेति**। **गङ्गायां घोषः इत्यादौ गङ्गापदस्य**। **प्रवाहरूपे** धारारूपे। **शक्यार्थे** शक्तिबोध्यमुख्यार्थे। **बोधस्य** ज्ञानस्य। **अन्वयानुपपत्तिः** अन्वयस्य पदपदार्थसंसर्गस्य अनुपपत्तिरयोग्यता। **वा** अथवा। **तात्पर्यानुपपत्तिः** अस्मात्पदात् एतदर्थबोधो भवत्वितीच्छारूपमत्र गङ्गापदाद् गङ्गातीरबोधो भवतु तीरबोधो भवतु वेतीच्छारूपं तात्पर्यं तस्यानुपपत्तिरप्राप्तिः। **यत्र** यदा। **प्रतिसन्धीयते** ज्ञायते। **तत्र** तदा। **लक्षणया** लक्षणावृत्त्या पुनस्स्मृतगङ्गापदेन लक्षणज्ञानजन्येन तीरत्वप्रकारकस्मरणेन। **तीरस्य** तटस्य। **बोधः** तीरत्वावच्छिन्नविषयकबोधः। इति। **सा** लक्षणा। **च** हि। **शक्यसम्बन्धरूपा** शक्त्योपस्थापितस्यार्थस्य सामीप्यसादृश्यादिर्यः कश्चित्सम्बन्धस्तद्रूपा इति। शक्यार्थसम्बन्धत्वमेव लक्षणात्वमिति। तच्छक्तिशून्यत्वे सति तत्सम्बन्धिशक्तत्वमित्याशयः। उदाहरणे लक्षणमुपपादयति—**तथाहीति**। **तथाहि**। गङ्गायां घोष इत्यत्र **प्रवाहरूपशक्यार्थसम्बन्धस्य** गङ्गापदस्य प्रवाहरूपो यः शक्यार्थस्तस्य सम्बन्धस्य सामीप्यसम्बन्धस्य। लक्षणात्मकस्य। **तीरे** तीरत्वावच्छिन्ने। **गृहीतत्वात्** ज्ञातत्वात्। **तीरस्य**। **स्मरणं** स्मृतिः तीरत्वावच्छिन्नविषयकस्मृतिः। जायते इति। **ततः** तत्स्मरणानन्तरम्। **शाब्दबोधः** तीरत्वावच्छिन्नविषयकबोध इति।

अयमाशयः—'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गापदस्य शक्यार्थस्तु भगीरथरथखातावच्छिन्नजलप्रवाहविशेषः, घोषपदस्य शक्यार्थः आभीरपल्ली। प्रवाहे घोषस्य न स्थितिसम्भवः, प्रवहणापत्तेः। तेन न गङ्गापदशक्यार्थस्य घोषपदशक्यार्थेन सहान्वयोपपत्तिः। तेन तत्र लक्षणाऽऽश्रयणीया भवति। सा तु शक्यसम्बन्ध एव। न हि जलप्रवाहे ग्रामः साक्षात्सम्बन्धः सम्भवति, तथा सति तस्य प्रवहणापत्तेः। तस्य तु साक्षात्सम्बन्धस्तीरे गृहीतः। स एव प्रवाहस्य तीरे सम्बन्धो गङ्गापदस्य तीररूपार्थबोधाय लक्षणाव्यापारः। तत्र मुख्यार्थस्य पदार्थान्तरेणान्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजमिति केचित्। नेत्यन्ये। तथा सति गङ्गायां घोष इत्यत्र घोषपदे एव मकरादिलक्षणापत्तिः स्यात्तावताऽप्यन्वयानुपपत्तिपरिहारात्। न च तथा तात्पर्यं वक्तुं न तेन साध्यं किञ्चित्प्रयोजनादिकम्। अपि च 'नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेदि'त्यादौ अन्वयोपपत्तावपि 'नक्षत्रं दृष्ट्वा' इत्येतस्य 'रात्रौ' इति तात्पर्यात् नक्षत्रदर्शनस्य तु सूर्यग्रहणादौ दिवाऽपि सम्भवाच्च तात्पर्यानुपपत्त्यैव लक्षणास्वीकारात् तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणाबीजं न त्वन्वयानुपपत्तिरिति तन्मतम्। न हि सर्वत्र तात्पर्यानुपपत्तिरेव सत्साधिकेत्यपरे। तदनुसारेण 'आयुर्वै घृतं' 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादौ न हि तात्पर्यानुपपत्तिरपि त्वन्वयानुपपत्तिरेव। तेनान्वयतात्पर्यान्यतरानुपपत्तिर्हि लक्षणाबीजमिति। परे तन्न सहन्ते। तदनुसारेण तात्पर्यानुपपत्तिरूपैकानुगमकस्वीकारेणैव निर्वाहसम्भवादनेकानुगमकस्वीकारे गौरवाच्च तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणाबीजत्वेन ग्राह्येति।

मीमांसकमते स्वबोध्यसम्बन्ध एव लक्षणा। तन्मते स्वशक्यसम्बन्ध एव लक्षणेति स्वीकारे तस्य पदमात्रविषयत्वेन न हि वाक्यार्थे कथमपि लक्षणा स्यात्, तत्र शक्तेरभावात्। तथा सति गभीरायां नद्यां घोषः इत्यादौ लक्षणाविषयत्वं नापद्येत। तत्र हि

समुदायबोध्यगभीरत्वविशिष्टनदीपदार्थस्तत्सम्बन्धो लक्षणेति। नेत्यन्ये। तदनुसारेण वाक्ये शक्तेरभावान्न तत्र शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणाऽपि। गभीरायां नद्यां घोष इत्यत्र नदीपदस्य नदीतीरे लक्षणा गभीरपदार्थस्य नद्या सहाभेदान्वयः क्वचिदेकदेशान्वयस्यापि स्वीकृतत्वात्। तदस्वीकारे नदीपदस्य गभीरनदीतीरे लक्षणा गभीरपदं तात्पर्यं ग्राहकमिति।

कतिपये तु लक्षणामेव नाङ्गीकुर्वन्ति। तन्मतेऽभिधैव दीर्घदीर्घतरव्यापारेण सर्वं साधयतीति। 'सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचकाः' इति मन्यमानाः कतिपये वैयाकरणा अपि शक्तेः प्रसिद्धाप्रसिद्धत्वेन द्वैविध्यं प्रकल्प्य अप्रसिद्धया शक्त्या तत्साधयन्ति। अन्ये तु सर्वार्थवाचकत्वज्ञानं योगिनामेव सम्भवति न त्वस्मदादीनाम्। तन्मते अन्वयाद्यनुपपत्तिज्ञानपूर्वकं शक्यत्वेन गृहीतार्थसम्बन्धज्ञानेनोद्बुद्धशक्तिसंस्कारतो बोधे लक्षणेति व्यवहारः। बोधकत्वस्यैव शक्तित्वे गङ्गादौ तीरादिबोधकत्वसत्त्वेऽपि न हि तज्ज्ञानाद् बोधो भवत्यपितु स्वसम्बन्धीप्रवाहबोधकत्वज्ञानादेवेति लक्षणा स्वीकार्यैवेति तन्मतम्।

अनुवाद—शक्य अर्थात् मुख्य अर्थ को सम्बन्धी मानकर उसके साथ सम्बन्ध वाला अमुख्य अर्थ लक्ष्य अर्थ है और उसका बोध कराने वाली वृत्ति लक्षणा है। वह तात्पर्य की अनुपपत्ति से प्रवृत्त होती है अर्थात् शक्यसम्बन्ध लक्षणा है और वह तात्पर्य की अनुपपत्ति से होती है।

'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में गङ्गा पद का प्रवाहरूप शक्य अर्थ में घोष की अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति से जहाँ प्रतिसन्धान (ज्ञान) होता है वहाँ लक्षणा से तीर अर्थ का बोध होता है। वह लक्षणा शक्यसम्बन्ध रूप है। प्रवाह रूप शक्य अर्थ के सम्बन्ध का तीर में गृहीत होने से उससे तीर का स्मरण होता है, उसके बाद शाब्दबोध होता है।

परन्तु यद्यन्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजं स्यात्तदा यष्टीः प्रवेशयेत्यत्र लक्षणा न स्यात्, यष्टिषु प्रवेशान्वयस्यानुपपत्तेरभावात्, तत्र च यष्टिप्रवेशे भोजनतात्पर्यानुपपत्त्या यष्टिधरेषु लक्षणा। एवं काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यादौ काकपदस्य दध्युपघातके लक्षणा, सर्वतो दधिरक्षायास्तात्पर्यविषयत्वात्। एवं छत्रिणो यान्तीत्यादौ छत्रिपदस्यैकसार्थवाहित्वे लक्षणा। इयमेव अजहत्स्वार्था लक्षणा इत्युच्यते, एकसार्थवाहित्वेन रूपेण छत्रितदन्ययोर्बोधात्।

आलोकः—अन्वयानुपपत्तेर्लक्षणाबीजत्वेन स्वीकारे दोषमाह—**परन्त्विति**। **परन्तु**। **यदि**। **अन्वयानुपपत्तिः** अन्वयः पदपदार्थसंसर्गस्तस्यानुपपत्तिरयोग्यता। **लक्षणाबीजं** लक्षणाप्रवृत्तिनिमित्तम्। **स्यात्**। **तदा** तदवस्थायाम्। **'यष्टीः प्रवेशय' इत्यत्र**। **लक्षणा**। **न** नैव। **स्यात्**। तथाभवने हेतुमाह—**यष्टिष्विति**। **यष्टिषु** दण्डेषु। **प्रवेशान्वयस्य** प्रवेशपदार्थसंसर्गस्य। **अनुपपत्तेः** अयोग्यतायाः। **अभावात्** विरहात्। यष्टिष्वपि परप्रेरितप्रवेशस्य तु सम्भवादेव। **तत्र च** तथाविधेऽपि। **यष्टिप्रवेशे** यष्टिसम्बद्धप्रवेश-

कार्येऽन्वयोपपत्तावपि **भोजनतात्पर्यानुपपत्त्या** भक्षणरूपतात्पर्यासिद्धया। **यष्टिधरेषु** यष्टिधारिजनेषु। **लक्षणा** येन यष्टीः प्रवेशयेत्यत्र यष्टिपदेन यष्टिधरबोधः। उदाहरणान्तरमाह—**एवमिति**। **एवम्** इत्थमेव। **'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादौ**। अन्वयोपपत्तावपि। **काकपदस्य**। **दध्युपघातके** दधिविनाशके मार्जारादावपि। **लक्षणा**। तत्र हेतुमाह—**सर्वत** इति। **सर्वतः** सर्वविधदध्युपघातकेभ्यः। **दधिरक्षायाः** दधिनिष्ठाया नाशाप्रतियोगितायाः। **तात्पर्यविषयत्वात्** वक्तुरिच्छाविषयत्वात्। यदि तु वक्तुः काकमात्रत एव दधिरक्षायां तात्पर्यं तदा न लक्षणेति। उदाहरणान्तरमाह--**एवमिति**। **'छत्रिणो यान्ति' इत्यादौ**। छत्र्यछत्रिषु गच्छत्सु छत्रिणां बाहुल्येन अच्छत्रिषु यानकर्तृत्वानुपपत्त्या। **छत्रिपदस्य**। छत्र्यछत्र्युभयसाधारणे **एकसार्थवाहित्वे** एकसार्थवाहित्वविशिष्टे **लक्षणा**। तथा च यानानुकूलकृतिमन्त एकसार्थवाहा इत्यन्वयबोधः। **इयं** पूर्वोक्तोदाहरणेषु घटिता लक्षणा। **एव हि**। **अजहत्स्वार्था** अजहति स्वानि पदानि यं तादृशोऽर्थो यस्यां सा, न जहाति स्वमर्थं या वा। शक्यलक्ष्यार्थोभयविषयकबोधजनिका। **इति**। **उच्यते** कथ्यते **एकसार्थवाहित्वेन रूपेण** धर्मेण। **छत्रितदन्ययोः** छत्रयुक्तद्धीनयोः। **बोधात्** ज्ञानात्। **इति**। **अत्रोच्यते**—अजहल्लक्षणा हि लक्ष्यतावच्छेदकरूपेण शक्यशक्योभयबोधिका, काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्र काकपदस्य काकप्रभृतिदध्युपघातकमार्जारादौ लक्षणा। यत्र वाच्यस्याप्यन्वयस्तत्रापि सा यथा छत्रिणो यान्तीत्यादौ छत्रितदन्ययोर्बोधः।

शक्यलक्ष्योभयवृत्तिना शक्यवृत्तिनैव वा रूपेणानुभावकत्वं यत्र सा। यथा द्रव्यत्वादिना नीलघटत्वादिना च घटपदस्य लक्षणा। एवं स्वार्थापरित्यागेन परार्थलक्षणा यत्र स्वार्थस्य विशेष्यतया क्रियान्वये प्रवेशः सा इति च।

एवं 'छत्रिणो यान्ती'त्यत्र तद्धितेनिप्रत्यययोगेन सिद्धस्य छत्रिपदस्य प्रकृतिप्रत्ययसमुदायरूपत्वेन वाक्यत्वाद् वाक्ये शक्तिविरहेण लक्षणासम्भव इति यदुच्यते तत्र, शाब्दिकैरपि राजपुरुषादिसमासस्य राजस्वत्ववत्पुरुषे पाचकच्छत्र्यादिपदस्य पाककर्तृछत्रसम्बन्ध्यादौ शक्तिस्वीकारेण तत्र वाक्ये लक्षणावत्त्वे वाक्याभावादिति मतेन छत्रिपदलक्षणासम्मतमिति। तत्र प्राञ्चस्तु वाक्ये लक्षणाविरहेऽपि स्वबोध्यसम्बन्धरूपलक्षणावादिमतमाश्रित्य छत्रिपदे लक्षणास्वीकार इति। नव्यास्तु छत्रपदस्य एकसार्थवाहित्वे लक्षणा इनेः सम्बन्धी अर्थः तथा च एकसार्थवन्तो यान्तीति। एकसार्थवाहित्वञ्च छत्र्यादिघटितसमूहत्वम्। परे तु मत्वर्थेनिप्रत्ययस्यैव छत्र्यादिघटितसमूहत्वावच्छिन्ने लक्षणा छत्रपदं तात्पर्यग्राहकम्। इति। इतरे तु छत्रिपदस्य छत्रविशिष्टत्वावच्छिन्ने यौगिकत्वं राजत्वावच्छिन्ने रूढत्वमिति योगरूढत्वं मन्यन्ते।

अनुवाद—परन्तु यदि अन्वय की अनुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना जाय तब 'यष्टीः प्रवेशय' इत्यादि में लक्षणा नहीं होगी, क्योंकि यष्टियों में प्रवेश के साथ के अन्वय की अनुपपत्ति का अभाव है, वहाँ भी यष्टियों के प्रवेश में भोजन रूप तात्पर्य की अनुपपत्ति होने से यष्टिधरों में लक्षणा होती है। इसी प्रकार 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादि में काक पद का दही के उपघातक बिडाल आदि में लक्षणा

होती है, क्योंकि सबसे दही की रक्षा करना तात्पर्य का विषय है। इसी प्रकार 'छत्रिणो यान्ति' इत्यादि में छत्रि पद का एक साथ चलने वाले समूह के रूप में लक्षणा होती है। यही अजहत्स्वार्था लक्षणा कही जाती है, क्योंकि एकसार्थवाहित्व के रूप में छत्रियों एवं उनसे भिन्नों का भी बोध होता है।

यदि चान्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजं स्यात्तदा क्वचिद् गङ्गापदस्य तीरे, क्वचिद् घोषपदस्य मत्स्यादौ लक्षणेति नियमो न स्यात्। इदं तु बोध्यम्। शक्यार्थसम्बन्धो यदि तीरत्वेन रूपेण गृहीतस्तदा तेनैव रूपेण तीरत्वेन तीरबोधः। यदि तु गङ्गातीरत्वेन रूपेण गृहीतस्तदा तेनैव रूपेण स्मरणम्। अत एव लक्ष्यतावच्छेदके न लक्षणा, तत्प्रकारकबोधस्य तत्र लक्षणां विनाऽप्युपपत्तेः। परन्तु एवंक्रमेण शक्यतावच्छेदकेऽपि शक्तिर्न स्यात्तत्प्रकारकशक्यार्थस्मरणं प्रति तत्पदस्य सामर्थ्यमित्यस्य सुवचत्वादिति विभावनीयम्।

आलोकः—प्रसङ्गेऽस्मिन् प्राचां मतं पुनः समालोचयति—**यदीति**। **यदि**। **च**। **अन्वयानुपपत्तिः** पदपदार्थसंसर्गायोग्यता। **लक्षणाबीजं** लक्षणाप्रवृत्तिनिमित्तम्। **स्यात्**। **तदा** तद्दशायाम्। **क्वचित्** यदा गङ्गापदं तीरप्रतीतीच्छयोच्चरितं तदा। **गङ्गापदस्य** गङ्गायां घोष इत्यत्रत्यस्य गङ्गापदस्य। **तीरे** तीरत्वावच्छिन्नेऽर्थे। **क्वचित्** यदा तु घोषपदं मत्स्यादिप्रतीतीच्छयोच्चरितं तदा। **घोषपदस्य**। **मत्स्यादौ** मत्स्यमकरादौ। **लक्षणा**। आद्ये घोषपदं पल्ल्यर्थे शक्तं द्वितीये गङ्गापदं प्रवाहेऽर्थे शक्तम्। **इति** यत्र यत्पदं यदर्थप्रतीतीच्छयोच्चरितं तत्र तत्पदं तदर्थे लाक्षणिकं नान्यत्र इति **नियमः** व्यवस्था। **न**। **स्यात्**। स च नियमस्तात्पर्यानुपपत्तेर्लक्षणाबीजत्वे एव सम्भवति, न त्वन्वयानुपपत्तेस्तत्त्वे। तेन यत्र यत्पदं यदर्थबोधनतात्पर्यमुद्रयोच्चारितं तत्र तत्पदं तस्मिन्नेवार्थे लाक्षणिकं नेतरत्रेति नियमभङ्गवारणायापि तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणाबीजमिति मतमुपयुक्तमिति। लक्षणाविषये ज्ञातव्यं निर्दिशति—**इदमिति**। **इदं** वक्ष्यमाणमधस्तात्। **तु** हि **बोध्यम्** अवश्यमेव ज्ञेयम्। **यदि**। **शक्यार्थसम्बन्धः** लक्षणा। **तीरत्वेन**। **रूपेण** धर्मेण। **गृहीत** उपात्तः अर्थात् तीरत्वावच्छिन्नविशेष्यकज्ञानीयप्रकारतावान्। **तदा** तदुत्तरक्षणे। **तीरत्वेन** तीरत्वरूपेण। **तीरबोधः** तीरत्वावच्छिन्नतीरविशेष्यकं शाब्दबोधः। यदा हि लक्षणाज्ञानं तीरत्वावच्छिन्नविशेष्यकं तदा तीरत्वावच्छिन्नतीरविशेष्यकस्मरणे सति तीरत्वावच्छिन्नतीरविशेष्यकः शाब्दबोध इति। **यदि**। **तु** तद्विपरीतम्। **शक्यार्थसम्बन्धः**। **गङ्गातीरत्वेन** गङ्गातीरत्वावच्छिन्नविशेष्यकत्वेन। **रूपेण** धर्मेण। **गृहीतः**। तदुत्तरक्षणे। **तेन** गङ्गातीरत्वावच्छिन्नविशेष्यकेण। **रूपेण**। **स्मरणम्**। यदि हि लक्षणाज्ञानं गङ्गातीरत्वावच्छिन्नविशेष्यकं तदा गङ्गातीरत्वप्रकारकस्मरणे सति गङ्गातीरत्वावच्छिन्नविशेष्यकः शाब्दबोध इति। **अतः** यतो हि यद्धर्मविशिष्टे लक्षणाग्रहस्तस्य उपस्थितिं शाब्दबोधं प्रति च तेनैव रूपेण कारणत्वं तस्मात्। **एव** हि। **लक्ष्यतावच्छेदके** लक्ष्यतावच्छेदकीभूततीरत्वादौ। **न** नैव। **लक्षणा**। **तत्प्रकारकबोधस्य** तीरत्वादिधर्मप्रकारकतीरविशेष्यकबोधस्य। **तत्र**। **लक्षणाम्**। **विना**। **अपि** च। **उपपत्तेः** प्राप्तेः। तीरत्वप्रकारकशाब्दबोधस्य तीरत्वादिवृत्तिप्रवाहसंयुक्तसमवायस्य लक्षणात्वानभ्युपगमेऽपि तीरत्वप्रका-

रकशाब्दबोधनिर्वाहादिति । तीरे आश्रयतासम्बन्धेन गङ्गापदलक्षणासत्त्वात् यथा तीरस्मरणशाब्दबोधधर्मोपपत्तिः तथा तीरत्वेऽप्यवच्छेदकतासम्बन्धेन तादृशलक्षणासत्त्वात् तत्प्रकारकस्मरणशाब्दबोधयोरपि नानुपपत्तिरिति । इत्थं हि अपदार्थतीरत्वादेः शाब्दबोधविषयत्वे घटादेरपि तादृशविषयत्वापत्तिरित्यत आह—**परन्त्विति** । **परन्तु** किन्तु । **एवंक्रमेण** लक्ष्यतावच्छेदकतीरत्वादिविशेषधर्मघटितरूपेण लक्षणाज्ञानस्य कारणत्वे सति लक्ष्यतावच्छेदके पृथगेव लक्षणाकल्पनं निरर्थकमिवेतिरीत्या । पदानुपस्थाप्यस्यापि तीरत्वादिलक्ष्यतावच्छेदकस्य शाब्दबोधे भानमिति क्रमेणेति । **शक्यतावच्छेदके विशेषधर्मरूपेण** शक्तिज्ञानस्य कारणत्वे सति शक्यतावच्छेदके । **अपि च** । **शक्तिः** पृथक् शक्तिः । **न** । **स्यात्** । **तत्प्रकारकस्मरणं** प्रवाहत्वादिप्रकारकस्मरणम् । शाब्दबोधं च । **प्रति** । **तत्पदस्य** गङ्गादिपदस्य । **सामर्थ्यं** शक्त्यादिज्ञानद्वारा प्रयोजकम् । **इति** इत्थम् । **अस्य** विशेषधर्मघटितशक्तिज्ञानत्वेन कारणतायाः । **सुवचत्वात्** सुयुक्तिकतया ग्राह्यत्वात् । तद्बलेनैव शक्यतावच्छेदकस्य प्रकारतयैव बोधसम्भवात् तत्र स्वतन्त्रा शक्तिर्न कल्पनीया, तथा च जात्याकृतिविशिष्टव्यक्तावपि शक्तिकल्पनं निरर्थकं, केवलायां व्यक्तावेव शक्तिकल्पनं न्याय्यमिति नवीनमतम् । **विभावनीयं** परिशीलनीयमिति ।

यथा पदानुपस्थाप्यस्यापि संसर्गस्य शाब्दबोधे भानं तथा लक्षणावच्छेदकस्यापि शक्यतावच्छेदकं तु पदोपस्थापितमेव शक्यतावच्छेदके शक्त्यस्वीकारे पृथिवीपदात् कदाचिदष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यत्वेन, कदाचित्तु गन्धवत्त्वेन, कदाचित्तु पृथिवीत्वेन शाब्दबोधापत्तिः स्यात् । शक्यतावच्छेदके शक्तिस्वीकारे तु पृथिवीपदात्पृथिवीत्वेनैव शाब्दबोधः, इति कामं लक्ष्यतावच्छेदके लक्षणा न स्यात्किन्तु शक्यतावच्छेदके तु शक्तिरस्त्येवेति प्राचां मतं शक्यतावच्छेदकस्यापि प्रकारतयैव बोधसम्भवात् तत्र न स्वतन्त्राशक्तिरिति नव्या इति व्याख्यातं किरणावल्यादौ प्रभादौ च ।

अनुवाद—यदि अन्वय की अनुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना जाय तब कहीं (जहाँ ऐसा तात्पर्य हो) गङ्गा पद का तीर में और कहीं (जहाँ वैसा तात्पर्य हो) घोष पद का मत्स्य आदि में लक्षणा होने का नियम न रहेगा । (जहाँ जिस पद का जिस अर्थ-बोध के तात्पर्य से उच्चारण होता है वहाँ वह पद उसी अर्थ में लाक्षणिक होता है, ऐसा नियम है और अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानने पर उस नियम का भङ्ग हो जायेगा ।)

यह जान लेना चाहिए । यदि लक्षणा का तीरत्व के रूप में ग्रहण होता है तब तीरत्व के रूप से तीर का बोध होता है और यदि उसका गङ्गा तीर के रूप में ग्रहण है तब उसी रूप में अर्थात् गङ्गा तीर के रूप में ही स्मरण होता है । इसी कारण लक्ष्यतावच्छेदक में लक्षणा नहीं होती । उस प्रकार के (तीरत्वादिधर्मप्रकारक तीरविशेष्यक) बोध का वहाँ लक्षणा के बिना भी उपपत्ति होती है । परन्तु इस प्रकार से (लक्ष्यतावच्छेदक के बिना भी लक्षणा मानने पर) शक्यतावच्छेदक में भी शक्ति नहीं होगी । उस प्रकार के शक्यार्थस्मरण के प्रति उस पद का सामर्थ्य है, इस प्रकार यह कहा जा सकता है, ऐसा परिशीलन करना चाहिए ।

यत्र तु शक्यार्थस्य परम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा सा लक्षितलक्षणेत्युच्यते। यथा द्विरेफादिपदात् रेफद्वयसम्बन्धो भ्रमरपदे ज्ञायते। भ्रमरपदस्य च सम्बन्धो भ्रमरपदे ज्ञायते। तत्र लक्षितलक्षणा।

आलोकः—सोदाहरणं लक्षितलक्षणां निरूपयति—**यत्रेति**। **यत्र** यादृशे पदे। **तु** हि। **शक्यार्थस्य** शक्त्युपस्थापितार्थस्य। **परम्परासम्बन्धरूपा** स्वघटितपदवाच्यत्वात्मिका। **लक्षणा**। **सा** तादृशी लक्षणा। **लक्षितलक्षणा** लक्षितेन लक्ष्यते ज्ञायते अनयेति। **इति** इत्थम्। **उच्यते** कथ्यते इति। तदुदाहरति—**यथेति**। **यथा**। **द्विरेफादिपदात्** 'द्विरेफो रौति' इति द्वौ रेफौ यस्मिन्निति व्युत्पत्तिकद्विरेफपदात्। **रेफद्वयसम्बन्धः** घटितत्वात्मकः सम्बन्धः। **भ्रमरपदे**। भ्रमरेति पदे। **ज्ञायते** अनुभूयते। **भ्रमरपदस्य**। **च** हि। **सम्बन्धः** वाच्यत्वात्मकः। **भ्रमरे** भ्रमरपदार्थे। **ज्ञायते**। **तत्र** तादृशे द्विरेफपदे। **लक्षितलक्षणा** लक्षितलक्षणापदार्थ इति।

अत्र द्विरेफपदेन रेफद्वयग्रहणं तद्घटितं भ्रमरपदं तद्वाच्यत्वञ्च मधुपव्यक्तौ इत्यनया रीत्या शक्यार्थपरम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा लक्षितलक्षणेति। प्रथमं द्विरेफपदेन रेफद्वयघटितभ्रमरपदबोधस्ततो भ्रमरपदेन मधुपव्यक्तिबोध इति लक्ष्यार्थस्य शक्यार्थेन सह न साक्षात्सम्बन्धोऽपि तु परम्परयेति शक्यार्थपरम्परासम्बन्धः। द्विरेफपदस्य शक्यार्थे रकारद्वये शब्दकर्तृकत्वस्यानुपपत्तिं मत्वा लक्षणया मधुपरूपार्थबोध इति। अत्रोच्यते—यत्र वक्तुर्न शक्ये तात्पर्यमपितु तत्सम्बन्धिनि तत्र भवति लक्षणा। सा च सामान्यतो द्विविधा—केवललक्षणा लक्षितलक्षणा च। पदीयशक्यार्थस्य साक्षात्सम्बन्धः केवललक्षणा। यथा गङ्गायां घोष इत्यादौ गङ्गापदस्य प्रवाहरूपशक्यार्थस्य साक्षात्सम्बन्धः संयोगाख्यस्तीरे सोऽर्थनिष्ठः सम्बन्ध एव गङ्गापदे आरोपितो लक्षणा। तत्पदीयशक्यार्थस्य परम्परासम्बन्धो लक्षितलक्षणा। यथा 'द्विरेफो रौति' इत्यादौ रवणक्रियायाः रेफद्वयेन सह नान्वय इति द्विरेफपदस्य भ्रमरपदे लक्षणा तदीयशक्यार्थश्च मधुप इति न साक्षात्सम्बन्धोऽत्र लक्षणायाः। केचित्तु द्विरेफपदस्य स्वशक्यरेफद्वयघटितभ्रमरपदशक्यत्वरूपपरम्परासम्बन्धेन द्विरेफपदलक्षणयैव बोधसम्भवाल्लक्षितलक्षणारूपं वृत्त्यन्तरं नाङ्गीकुर्वन्ति। परे तु द्वौ रेफौ यत्रेति व्युत्पत्त्याऽवयवशक्त्या द्विरेफपदेन स्वशक्यरेफद्वयसम्बन्धिभ्रमरपदस्य स्मरणं, तेन च स्मरणात्मकपदज्ञानेन शक्तिज्ञानसहकृतभ्रमरपदार्थस्मृत्या भ्रमरबोधो भवतीति शक्त्यैवाऽत्र शाब्दबोधनिर्वाहे द्विरेफस्य भ्रमरे परम्परासम्बन्धात्मकलक्षणया न प्रयोजनमिति वदन्ति। परे तत्र मन्यन्ते। तदनुसारेण तथा सति द्विरेफं पश्येत्यत्र कर्मत्वादौ भ्रमरपदार्थान्वयानुपपत्तेः अवयवानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वात् तत्र च द्विरेफपदेन लक्षणयोपस्थापितं भ्रमरपदमेव, न तु तदर्थ इति न तत्र विभक्त्यर्थकर्मत्वान्वयः। वैयाकरणास्तु द्विरेफपदेन रथन्तरवद् रूढिशक्त्यैव भ्रमरार्थो बोध्यते, यद्वा पदनिष्ठरेफद्वयस्वार्थे आरोपात्तत्सम्बन्धित्वेनैव तेन भ्रमरबोध इत्यामनन्ति। रूढिशक्त्या योगशक्त्या वा द्विरेफपदाद् भ्रमरार्थबोधं स्वीकृत्यैव कोशेऽपि 'द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्ग' इति द्विरेफशब्दो भ्रमरपर्याय-

रकशाब्दबोधनिर्वाहादिति । तीरे आश्रयतासम्बन्धेन गङ्गापदलक्षणासत्त्वात् यथा तीरस्मरणशाब्दबोधधर्मोपपत्तिः तथा तीरत्वेऽप्यवच्छेदकतासम्बन्धेन तादृशलक्षणासत्त्वात् तत्प्रकारकस्मरणशाब्दबोधयोरपि नानुपपत्तिरिति । इत्थं हि अपदार्थतीरत्वादेः शाब्दबोधविषयत्वे घटादेरपि तादृशविषयत्वापत्तिरित्यत आह—**परन्त्विति** । **परन्तु** किन्तु । **एवंक्रमेण** लक्ष्यतावच्छेदकतीरत्वादिविशेषधर्मघटितरूपेण लक्षणाज्ञानस्य कारणत्वे सति लक्ष्यतावच्छेदके पृथगेव लक्षणाकल्पनं निरर्थकमिवेतिरीत्या । पदानुपस्थाप्यस्यापि तीरत्वादिलक्ष्यतावच्छेदकस्य शाब्दबोधे भानमिति क्रमेणेति । **शक्यतावच्छेदके** विशेषधर्मरूपेण शक्तिज्ञानस्य कारणत्वे सति शक्यतावच्छेदके । **अपि च** । **शक्तिः** पृथक् शक्तिः । **न** । **स्यात्** । **तत्प्रकारकस्मरणं** प्रवाहत्वादिप्रकारकस्मरणम् । शाब्दबोधं च । **प्रति** । **तत्पदस्य** गङ्गादिपदस्य । **सामर्थ्यं** शक्त्यादिज्ञानद्वारा प्रयोजकम् । **इति** इत्थम् । **अस्य** विशेषधर्मघटितशक्तिज्ञानत्वेन कारणतायाः । **सुवचत्वात्** सुयुक्तिकतया ग्राह्यत्वात् । तद्बलेनैव शक्यतावच्छेदकस्य प्रकारतयैव बोधसम्भवात् तत्र स्वतन्त्रा शक्तिर्न कल्पनीया, तथा च जात्याकृतिविशिष्टव्यक्तावपि शक्तिकल्पनं निरर्थकं, केवलायां व्यक्तावेव शक्तिकल्पनं न्याय्यमिति नवीनमतम् । **विभावनीयं** परिशीलनीयमिति ।

यथा पदानुपस्थाप्यस्यापि संसर्गस्य शाब्दबोधे भानं तथा लक्षणावच्छेदकस्यापि शक्यतावच्छेदकं तु पदोपस्थापितमेव शक्यतावच्छेदके शक्त्यस्वीकारे पृथिवीपदात् कदाचिदष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यत्वेन, कदाचित्तु गन्धवत्त्वेन, कदाचित्तु पृथिवीत्वेन शाब्दबोधापत्तिः स्यात् । शक्यतावच्छेदके शक्तिस्वीकारे तु पृथिवीपदात्पृथिवीत्वेनैव शाब्दबोधः, इति कामं लक्ष्यतावच्छेदके लक्षणा न स्यात्किन्तु शक्यतावच्छेदके तु शक्तिरस्त्येवेति प्राचां मतं शक्यतावच्छेदकस्यापि प्रकारतयैव बोधसम्भवात् तत्र न स्वतन्त्राशक्तिरिति नव्या इति व्याख्यातं किरणावल्यादौ प्रभादौ च ।

अनुवाद—यदि अन्वय की अनुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना जाय तब कहीं (जहाँ ऐसा तात्पर्य हो) गङ्गा पद का तीर में और कहीं (जहाँ वैसा तात्पर्य हो) घोष पद का मत्स्य आदि में लक्षणा होने का नियम न रहेगा । (जहाँ जिस पद का जिस अर्थ-बोध के तात्पर्य से उच्चारण होता है वहाँ वह पद उसी अर्थ में लाक्षणिक होता है, ऐसा नियम है और अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानने पर उस नियम का भङ्ग हो जायेगा ।)

यह जान लेना चाहिए । यदि लक्षणा का तीरत्व के रूप में ग्रहण होता है तब तीरत्व के रूप से तीर का बोध होता है और यदि उसका गङ्गा तीर के रूप में ग्रहण है तब उसी रूप में अर्थात् गङ्गा तीर के रूप में ही स्मरण होता है । इसी कारण लक्ष्यतावच्छेदक में लक्षणा नहीं होती । उस प्रकार के (तीरत्वादिधर्मप्रकारक तीरविशेष्यक) बोध का वहाँ लक्षणा के बिना भी उपपत्ति होती है । परन्तु इस प्रकार से (लक्ष्यतावच्छेदक के बिना भी लक्षणा मानने पर) शक्यतावच्छेदक में भी शक्ति नहीं होगी । उस प्रकार के शक्यार्थस्मरण के प्रति उस पद का सामर्थ्य है, इस प्रकार यह कहा जा सकता है, ऐसा परिशीलन करना चाहिए ।

यत्र तु शक्यार्थस्य परम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा सा लक्षितलक्षणेत्युच्यते। यथा द्विरेफादिपदात् रेफद्वयसम्बन्धो भ्रमरपदे ज्ञायते। भ्रमरपदस्य च सम्बन्धो भ्रमरपदे ज्ञायते। तत्र लक्षितलक्षणा।

आलोकः—सोदाहरणं लक्षितलक्षणां निरूपयति—**यत्रेति**। **यत्र** यादृशे पदे। **तु** हि। **शक्यार्थस्य** शक्त्युपस्थापितार्थस्य। **परम्परासम्बन्धरूपा** स्वघटितपदवाच्यत्वात्मिका। **लक्षणा**। **सा** तादृशी लक्षणा। **लक्षितलक्षणा** लक्षितेन लक्ष्यते ज्ञायते अनयेति। **इति** इत्थम्। **उच्यते** कथ्यते इति। तदुदाहरति—**यथेति**। **यथा**। **द्विरेफादिपदात्** 'द्विरेफो रौति' इति द्वौ रेफौ यस्मिन्निति व्युत्पत्तिकद्विरेफपदात्। **रेफद्वयसम्बन्धः** घटितत्वात्मकः सम्बन्धः। **भ्रमरपदे**। भ्रमरेति पदे। **ज्ञायते** अनुभूयते। **भ्रमरपदस्य**। **च** हि। **सम्बन्धः** वाच्यत्वात्मकः। **भ्रमरे** भ्रमरपदार्थे। **ज्ञायते**। **तत्र** तादृशे द्विरेफपदे। **लक्षितलक्षणा** लक्षितलक्षणापदार्थ इति।

अत्र द्विरेफपदेन रेफद्वयग्रहणं तद्घटितं भ्रमरपदं तद्वाच्यत्वञ्च मधुपव्यक्तौ इत्यनया रीत्या शक्यार्थपरम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा लक्षितलक्षणेति। प्रथमं द्विरेफपदेन रेफद्वयघटितभ्रमरपदबोधस्ततो भ्रमरपदेन मधुपव्यक्तिबोध इति लक्ष्यार्थस्य शक्यार्थेन सह न साक्षात्सम्बन्धोऽपि तु परम्परयेति शक्यार्थपरम्परासम्बन्धः। द्विरेफपदस्य शक्यार्थे रकारद्वये शब्दकर्तृकत्वस्यानुपपत्ति मत्वा लक्षणया मधुपरूपार्थबोध इति। अत्रोच्यते—यत्र वक्तुर्न शक्ये तात्पर्यमपितु तत्सम्बन्धिनि तत्र भवति लक्षणा। सा च सामान्यतो द्विविधा—केवललक्षणा लक्षितलक्षणा च। पदीयशक्यार्थस्य साक्षात्सम्बन्धः केवललक्षणा। यथा गङ्गायां घोष इत्यादौ गङ्गापदस्य प्रवाहरूपशक्यार्थस्य साक्षात्सम्बन्धः संयोगाख्यस्तीरे सोऽर्थनिष्ठः सम्बन्ध एव गङ्गापदे आरोपितो लक्षणा। तत्पदीयशक्यार्थस्य परम्परासम्बन्धो लक्षितलक्षणा। यथा 'द्विरेफो रौति' इत्यादौ रवणक्रियायाः रेफद्वयेन सह नान्वय इति द्विरेफपदस्य भ्रमरपदे लक्षणा तदीयशक्यार्थश्च मधुप इति न साक्षात्सम्बन्धोऽत्र लक्षणायाः। केचित्तु द्विरेफपदस्य स्वशक्यरेफद्वयघटितभ्रमरपदशक्यत्वरूपपरम्परासम्बन्धेन द्विरेफपदलक्षणयैव बोधसम्भवाल्लक्षितलक्षणारूपं वृत्यन्तरं नाङ्गीकुर्वन्ति। परे तु द्वौ रेफौ यत्रेति व्युत्पत्त्याऽवयवशक्त्या द्विरेफपदेन स्वशक्यरेफद्वयसम्बन्धिभ्रमरपदस्य स्मरणं, तेन च स्मरणात्मकपदज्ञानेन शक्तिज्ञानसहकृतभ्रमरपदार्थस्मृत्या भ्रमरबोधो भवतीति शक्त्यैवाऽत्र शाब्दबोधनिर्वाहे द्विरेफस्य भ्रमरे परम्परासम्बन्धात्मकलक्षणया न प्रयोजनमिति वदन्ति। परे तन्न मन्यन्ते। तदनुसारेण तथा सति द्विरेफं पश्येत्यत्र कर्मत्वादौ भ्रमरपदार्थान्वयानुपपत्तेः अवयवानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वात् तत्र च द्विरेफपदेन लक्षणयोपस्थापितं भ्रमरपदमेव, न तु तदर्थ इति न तत्र विभक्त्यर्थकर्मत्वान्वयः। वैयाकरणास्तु द्विरेफपदेन रथन्तरवद् रूढिशक्त्यैव भ्रमरार्थो बोध्यते, यद्वा पदनिष्ठरेफद्वयस्वार्थे आरोपात्तत्सम्बन्धित्वेनैव तेन भ्रमरबोध इत्यामनन्ति। रूढिशक्त्या योगशक्त्या वा द्विरेफपदाद् भ्रमरार्थबोधं स्वीकृत्यैव कोशेऽपि 'द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्ग' इति द्विरेफशब्दो भ्रमरपर्याय-

वाचित्वेन पठितः। तदनुसृत्यैव 'मधुर्द्विरेफः कुसुमैकपात्रे' इत्यादौ द्विरेफशब्दः प्रयुक्तश्चेति विस्तरोऽन्यत्र।

शक्यसम्बन्धो लक्षणेत्युक्तं तत्कथमत्र पदसमुदायरूपवाक्ये लक्षणा मन्यते ? वाक्ये शक्तेरभावादिति चेदुच्यते, बहुव्रीहिसमासे उत्तरपदमेव लाक्षणिकमिति नयेन प्रकृते रेफपदस्य रेफविशिष्टे भ्रमरपदे लक्षणा, द्विपदञ्च तात्पर्यग्राहकम्। समुदायो हि समुदायिनोऽवयवरूपान्न भिद्यत इति पदसमुदायोऽपि प्रत्येकपदादभिन्न एवेति पदीयशक्यसम्बन्धो वाक्येऽपीति नोपपत्तिरिति। अथवाऽस्तु बोध्यसम्बन्ध एव लक्षणा। यथा हि पदीयशक्यता शक्तिवृत्तिबोध्या तथा परम्परासम्बन्धविशिष्टः पदार्थरूपो वाक्यार्थः पदार्थानां संसर्गरूपो वा वाक्यार्थोऽपि वाक्यबोधहेतुः। ततो हि बोधसम्बन्धरूपा लक्षणा पदवद् वाक्येऽपि तिष्ठतीति वाक्यमपि लक्षकमिति विस्तरोऽन्यत्र।

केवललक्षणाऽपि द्विधा—जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था चेति। इमे स्वालङ्कारिकैः लक्षणलक्षणा उपादानलक्षणेत्युच्येते। केचित्तु जहदजहत्स्वार्थाऽपीति। तत्र शक्यावृत्तिरूपेण बोधिका जहत्स्वार्था अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये इति वा तल्लक्षणम्। यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गापदस्य तीरत्वेन। शक्यलक्ष्योभयवृत्तिना शक्यवृत्तिना एव वा रूपेणानुभावकत्वादजहत्स्वार्था, यत्र स्वसिद्धये पराक्षेपो वा। यथा द्रव्यत्वादिना नीलघटत्वादिना च घटपदस्य। विशिष्टार्थबोधकशब्दस्य पदार्थैकदेशे लक्षणायां जहदजहत्स्वार्थेति। यथा ग्रामैकदेशे दग्धे—'ग्रामो दग्धः' इति। अथान्या अपि लक्षणा भवन्ति। तत्र **निरूढा**—लक्ष्यतावच्छेदकीभूततत्तद्रूपेण पूर्वपूर्वप्रत्यायिका अनादितात्पर्यविषयीभूतार्थनिष्ठा वा। यथा रथो गच्छतीत्यादौ तिबाख्यातस्याश्रयत्वे कर्मणि कुशल इत्यादौ कुशलपदस्य विवेचके। निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्। **गौणी** सादृश्यविशिष्टे लक्षणा, यथा सिंहो माणवकः सिंहोऽयम्। आलङ्कारिकास्तु लक्षणायाः अशीतिविधभेदान् प्रकल्पयन्ति, ते च तत्रैव द्रष्टव्याः साहित्यदर्पणादौ। तदनुसारेण हि—'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। योऽन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपितक्रिया'॥ इति। 'मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते। रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता'॥ इति वा। आलङ्कारिकमते रूढिप्रयोजनाभावेऽपि भवति या लक्षणा सा लक्षितलक्षणा लक्षिताच्छब्दादर्थाभिधानं वा। यथा द्विरेफपदे।

अनुवाद—जहाँ शक्य अर्थ का परम्परासम्बन्ध रूप लक्षणा होती है, वह लक्षितलक्षणा कही जाती है। जैसे द्विरेफ आदि पद में रेफद्वय का सम्बन्ध भ्रमर पद में जाना जाता है। भ्रमर पद का सम्बन्ध तो भ्रमर अर्थ में जाना जाता है। वहाँ लक्षितलक्षणा होती है।

किन्तु लाक्षणिकं पदं नानुभावकं, लाक्षणिकार्थस्य शाब्दबोधे तु पदान्तरं कारणम्। शक्तिलक्षणान्यतरसम्बन्धेनेतरपदार्थान्वितस्वशक्यार्थशाब्दबोधं प्रति पदानां सामर्थ्यावधारणात्।

आलोकः—तच्छाब्दबोधे तच्छक्तपदज्ञानमेव हेतुरिति लाक्षणिकपदात्कथं शाब्दबोधः ? इत्यपेक्षायामाह—**किन्त्विति**। **किन्तु** परन्तु। **लाक्षणिकं** तीराद्यर्थविषयकलाक्षणिकं लाक्षणिकत्वेन प्रयुक्तमिति। **पदं** गङ्गादिपदज्ञानम्। **न** नैव। **अनुभावकं** तीरार्थविषयकशाब्दबोधात्मकानुभवं प्रति असाधारणकारणम्। लाक्षणिकेऽपि पदे स्मारिका शक्तिरेव नानुभाविकीति सारम्। **लाक्षणिकार्थस्य** लक्षणाज्ञानाधीनस्मृतिविषयस्य पदार्थस्य। **शाब्दबोधे**। **तु**। **पदान्तरं** घोषादिरूपमन्यदेव पदं समभिव्याहृतशक्तपदज्ञानम्। **कारणम्** असाधारणकारणम्। भवतीति। तल्लाक्षणिकपदसमभिव्याहृतशक्तपदज्ञानं तत्स्मारितलक्ष्यार्थविषयकशाब्दबोधजनकमिति। तत्र नियममाह—**शक्तीति**। **शक्तिलक्षणान्यतरसम्बन्धेन** शक्त्या लक्षणया वा। **इतरपदार्थान्वितस्वशक्यार्थशाब्दबोधम्** इतरपदार्थस्तटादिस्तदन्वितो यः स्वशक्यार्थः घोषपदस्य शक्यार्थः पल्ल्यादिः, तत्सम्बद्धः तादृशतीरान्वितपल्लीविषयको यः शाब्दबोधस्तम्। **प्रति**। **पदानां** तदर्थशक्तघोषादिपदज्ञानस्य। **सामर्थ्यविधारणात्** कारणत्वस्य निश्चितत्वात्। अर्थात् यत्र लक्षणया तीराद्युपस्थितिस्तत्रोपस्थिततीरादिनान्वितस्य घोषादिशक्तस्यैव लक्ष्यार्थशाब्दबोधं प्रति कारणतेति भावः। यत्रोभयपदस्यैव लाक्षणिकत्वेन कस्यापि शक्तत्वं; यथा कुमतिः पशुरित्यत्र; तत्र इतरपदस्य कुत्सितज्ञानवल्लाक्षणिकतया पूर्वपदस्य तात्पर्यग्राहकतया च निरर्थकत्वेन कुत्सितपशुत्वस्य च बाधितत्वेन पशुपदस्यापि पशुपदलाक्षणिकतया कस्यापि पदस्य शक्तत्वाभावात्कथं शाब्दबोध इति चेदुच्यते, तादृशस्थले लाक्षणिकपदेऽपि अननुभाविकी शक्तिः स्वीक्रियत इति।

अत्रोच्यते—स्यादप्येतत्, यदि तीरादिलक्षकतया गङ्गादिपदस्य ज्ञानं तीराद्यनुभवे भवेद्धेतुः भवेच्चोक्तक्रमेण लक्षकाणां विभागोऽपि। न त्वेतदस्ति। तीराद्यन्वयबोधं प्रति तीरादिशक्तपदज्ञानस्य लाघवेन हेतुतया लक्षकाणामननुभावकत्वाद् 'गुरूणामग्नौ शैत्यं स्पृशेत्' इत्यादौ शक्येन दहनादिनैव गङ्गायां घोष इत्यादौ लक्षितेन तीरादिना सार्धमगृहीतसंसर्गकस्यैव सप्तम्यर्थाधेयत्वादेरन्वयबोधप्रविष्टत्वादिति चेन्न, प्रकृत्यर्थबोधावच्छिन्नस्यैव प्रत्ययार्थस्य धर्म्यन्तरेऽन्वयबुद्धेर्व्युत्पन्नतया तीराद्यविशेषितस्य सुबर्थाधेयत्वादेर्घोषादावन्वयाबोधायोगात्।'''इत्यादि स्पष्टमन्यत्र। विस्तरस्तु किरणावल्यादौ।

अनुवाद—किन्तु लाक्षणिक पद तो अनुभावक (तात्पर्यविषयक शाब्दबोधात्मक अनुभव के प्रति असाधारण कारण) नहीं होता। लाक्षणिक अर्थ के शाब्दबोध में तो दूसरा (अगला) पद (घोष आदि) कारण होता है, क्योंकि शक्ति एवं लक्षणा में से किसी एक के सम्बन्ध से दूसरे पदार्थ से अन्वित अपने शक्यार्थ के शाब्दबोध के प्रति पदों का सामर्थ्य निश्चित है।

वाक्ये तु शक्तेरभावाच्छक्यसम्बन्धरूपा लक्षणाऽपि नास्ति। यत्र गम्भीरायां नद्यां घोष इत्युक्तं तत्र नदीपदस्य नदीतीरे लक्षणा। गम्भीरपदार्थस्य नद्या सहाभेदेनान्वयः। क्वचिदेकदेशान्वयस्यापि स्वीकृतत्वात्। यदि तत्रैक-

देशान्वयोऽपि न स्वीक्रियते तदा नदीपदस्य गम्भीरनदीतीरे लक्षणा, गम्भीरपदं तात्पर्यग्राहकमिति ।

आलोकः—यदि शक्यसम्बन्धो लक्षणा इत्युच्यते, तर्हि वाक्ये शक्तेरभावात्कथं चित्रगुप्रभृतौ गभीरायां नद्यां घोष:' इत्यादौ च लक्षणा सम्भवति ? तत्र न गभीरपदं तीरलक्षकं नद्यामित्यन्वयापत्तेः, न हि तीरं नदी अत एव न नदीपदेऽपि, गभीरपदार्थानन्वयात्, न च तीरं गभीरं न च प्रत्येकं पदद्वयेऽपि विशिष्टनदीबोधानापत्तेः। तेनात्र समुदायबोध्यगभीरत्वविशिष्टनदीपदार्थस्ततसम्बन्धो लक्षणेति मीमांसकमते स्वमतमाह—**वाक्य** इति । **वाक्ये** पदसमूहे । **तु** । **शक्तेः** । **अभावात्** विरहात् । **शक्यसम्बन्धरूपा** शक्यार्थसम्बन्धस्वरूपा । **लक्षणा** । **अपि** । **न** । **अस्ति** प्रवर्तते । असमस्तपदसमूहात्मके वाक्ये कस्यापि मते न शक्तिः समस्तवाक्ये वैयाकरणमते शक्तेः स्वीकारेऽपि नैयायिकमीमांसकादिमते तन्निषेधेन न्यायनये वाक्ये न शक्तिर्न च शक्यसम्बन्धो लक्षणेति । **यत्र** । **गम्भीरायां नद्यां घोषः इति उक्तम्** । **तत्र** तस्मिन् वाक्ये । **नदीपदस्य** तद्वाक्यघटकनदीपदस्य । **नदीतीरे** नदीतीरेऽर्थे । **लक्षणा** अजहत्स्वार्था लक्षणा । **गभीरपदार्थस्य** गभीरपदशक्यार्थस्य । **नद्या** नदीपदार्थेन । **सह** । **अभेदेन** द्वयोः समानविभक्तिकत्वादभेदरूपेण । **अन्वयः** । ततश्च गभीराभिन्ननदीतीरे इति बोध इति । ननु 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेनेति न्यायात् कथं गभीरपदार्थस्य नदीतीरैकदेशेन नदीपदार्थेन सहान्वय इति चेदुच्यते-**क्वचित्** कुत्रचित् स्थले तु, यथा चैत्रस्य गुरुकुलमित्यादौ चैत्रोत्तरवर्तिषष्ठ्यर्थसम्बन्धस्य गुरुरूपेण पदार्थैकदेशेनाप्यन्वयस्वीकारस्तथा। **एकदेशान्वयस्य** पदार्थपदार्थैकदेशयोरन्वयस्य । **अपि च** । **स्वीकारात्** अङ्गीकारात् । पक्षान्तरमाह—**यदीति** । **यदि** पक्षान्तरे । **तत्र** गभीरायां नद्यां घोषः इत्यत्र । **एकदेशान्वयः** गभीरपदार्थस्य नदीतीरैकदेशेन नदीपदार्थेनान्वयः । **न** । **स्वीक्रियते**ऽनुमन्यते । **तदा** तत्पक्षेऽपि । **नदीपदस्य** वाक्यघटकनदीपदस्य । **गम्भीरनदीतीरे** गाम्भीर्यविशिष्टनदीतीरात्मके समुदितेऽर्थे । **लक्षणा** अजहत्स्वार्था लक्षणा । **गम्भीरपदम्** । **तात्पर्यग्राहकं** नदीपदं गभीरनदीतीरविषयकबोधजनकं भवत्वित्याकारकवक्त्रिच्छारूपतात्पर्यग्राहकमिति । तेन पदार्थः पदार्थेनेत्यङ्गीकारपक्षेऽपि तत्र पदलक्षणयैव निर्वाहात् न वाक्ये लक्षणास्वीकारावश्यकता । न च विनिगमनाविरहेण गभीरपदस्य गभीरतदीतीरे भवतु लक्षणा, नदीपदं तु तात्पर्यग्राहकमिति चेन्न, प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्यार्थबोधकत्वव्युत्पत्तेः विशेषणविभक्तेः सर्वत्र निरर्थकत्वाच्च घोषपदेन गभीरायामित्यस्य अनासन्नत्वाच्च गभीरनद्यां घोष इति समासे लाक्षणिकगभीरपदार्थे सप्तम्यर्थान्वयाभावाच्च सर्वत्र उत्तरपदलक्षणाया एव युक्तत्वाच्चेति किरणावल्यादौ स्पष्टम् ।

यच्च स्वशक्यसम्बन्धत्वं न लक्षणात्वमपि तु स्वबोध्यसम्बन्धो लक्षणा, तेन गभीरायां नद्यां घोष इत्यत्र सप्तम्यन्तपदद्वयघटितसमुदायात्मकबोध्यायाः गभीराभिन्ननद्याः सामीप्यादिसम्बन्धस्तीरे लक्षणा, गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गापदबोध्यप्रवाहसम्बन्धस्तीरे लक्षणा, चित्रगुरित्यत्र चित्रा गौर्यस्येति व्युत्पत्त्या चित्राभिन्नगोसम्बन्धस्य चित्रगोस्वामिनि सत्त्वाल्लक्षणेति वदन्ति तन्न; स्वबोध्यत्वं न स्वनिष्ठबोधकतानिरूपित-

बोध्यत्वं मौनिश्लोकादौ पदाभावेन स्वबोध्यत्वाप्रसिद्धेः। न च स्वविषयकज्ञानजन्य-ज्ञानविषयत्वमित्यादि विस्तरोऽन्यत्र।

अनुवाद—वाक्य में तो शक्ति के अभाव के कारण शक्यसम्बन्धरूप लक्षणा नहीं होती। जहाँ 'गभीरायां नद्यां घोषः' ऐसा कहा गया वहाँ नदी पद का नदी तीर में लक्षणा होती है। गम्भीर पदार्थ का नदी के साथ अभेद रूप से अन्वय होता है, क्योंकि कहीं-कहीं पदार्थ का पदार्थ के एकदेश के साथ अन्वय भी स्वीकृत है। यदि उस एकदेश में अन्वय स्वीकृत नहीं किया जाता, वहाँ नदी पद का गम्भीर नदी तीर में लक्षणा होती है और गम्भीर पद तात्पर्य का ग्राहक है।

बहुव्रीहावप्येवम्। तत्र हि चित्रगुपदादौ यद्येकदेशान्वयः स्वीक्रियते तदा गोपदस्य गोस्वामिनि लक्षणा गवि चित्राभेदान्वयः। यदि त्वेकदेशान्वयो न स्वीक्रियते तदा गोपदस्य चित्रगोस्वामिनि लक्षणा चित्रपदं तात्पर्यग्राहकम्। एवमारूढवानरो वृक्ष इत्यत्र वानरपदस्य वानरारोहणकर्मणि लक्षणा, आरूढपदं तात्पर्यग्राहकम्। एवमन्यत्रापि बोध्यम्।

आलोकः—बहुव्रीहिसमासस्थले लक्षणाप्रकारं निरूपयति—**बहुव्रीहाविति**। **बहुव्रीहौ** बहुव्रीहिसमासस्थले। बहुव्रीहिश्च शाब्दिकमते प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो हि समासविशेषः। तार्किकमते नियमतः समासप्रयुक्तलाक्षणिकोत्तरनामकसमासः। प्रकाशिकाकारास्तु—

'बहुव्रीहिः स्वगर्भार्थसम्बन्धित्वेन बोधकः।
निरूढया लक्षणया स्वांशज्ञापकशब्दवान्'॥ इति

स च द्विविधः—समानाधिकरणो व्यधिकरणश्च। आद्यो यथा–आरूढो वानरो यमिति आरूढवानरः (वृक्षः) अन्त्यो यथा—चक्रं पाणौ यस्य चक्रपाणिः। पुनश्च स द्विविधः—तद्गुणसंविज्ञानः अतद्गुणसंविज्ञानश्च। तत्राद्यो यथा–लम्बौ कर्णौ यस्य स लम्बकर्णः। अन्त्यो यथा—चित्रा गौर्यस्य चित्रगुः। अपि च। एवं वाक्यैकदेशे पदे एव लक्षणा न तु स्वबोध्यसम्बन्धित्वेन वाक्ये विशिष्टशक्तिर्वा। कथमित्यपेक्षायामाह—**तत्रेति**। **तत्र** बहुव्रीहिसमासे। **हि**। **चित्रगुपदादौ** चित्रा गावो यस्येति विग्रहेण चित्रगुपदे। **यदि**। **एक-देशान्वयः** पदार्थस्य पदार्थैकदेशेनान्वयः, यथा चैत्रस्य गुरुकुलमित्यादौ। **स्वीक्रियते** अनुमन्यते। **तदा गोपदस्य** कृतेऽपि ह्रस्वे। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति न्यायेन गोप-दस्य। **चित्रगोस्वामिनि** चित्रगोऽधिपे। **लक्षणा** अजहत्स्वार्था लक्षणा। **गवि**। **चित्राभेदा-न्वयः** चित्रस्य अभेदसम्बन्धेन अन्वयः चित्राभिन्ना गौरिति। **यदि** पक्षान्तरे। **तु**। **एक-देशान्वयः** पदार्थस्य पदार्थैकदेशेनान्वयः। **न**। **स्वीक्रियते** अनुमन्यते। **तदा**। **गोपदस्य**। **चित्रगोस्वामिनि**। **लक्षणा**। **चित्रपदम्**। तात्पर्यग्राहकं गोपदं चित्रगोस्वामिविषयकबोध-जनकं भवत्विति तात्पर्यस्य ग्राहकमिति। द्वितीया बहुव्रीहिस्थले तदाह—**एवमिति**। **एवम्** इत्यमेव। **आरूढवानरो वृक्ष इत्यत्र** आरूढो वानरो यमिति **वानरपदस्य**। **वानरा-रोहणकर्मणि** वानरकृतोर्ध्वगमनकार्ये। **लक्षणा** अजहत्स्वार्था लक्षणा। **आरूढपदम्**।

तात्पर्यग्राहकं वानरपदं वानरारोहणविषयकबोधजनकं भवत्विति तात्पर्यस्य ग्राहकम्। तथा च स्वकर्मकारोहणकर्तृवानरसम्बन्धी वृक्ष इति बोधः। अत्रोच्यते—आरूढो वानरो यमिति विग्रहवाक्येन यत्कर्मारोहणकर्ता वानर इति बोधाद् बहुव्रीहिसमासे विग्रहवाक्याद् यादृशविशेषणविशेष्यभावापन्नार्थबोधो भवति समासवाक्यात् तद्विपरीतविशेषणविशेष्यभावापन्नार्थबोध इति नियमेन वानरकर्तृकारोहणकर्मवृक्ष इति बोधस्योपगन्तव्यतया वानरपदस्य वानरकर्तृके लक्षणां स्वीकृत्य आरूढपदस्यारोहकर्मणि लक्षणास्वीकारे पदद्वये लक्षणापत्तिः उत्तरपदार्थप्राधान्यनियमस्य भङ्गापत्तिश्च स्यादतो बहुव्रीहौ उत्तरपदे एव लक्षणा, पूर्वपदन्तु तात्पर्यग्राहकमिति किरणावल्यादौ स्पष्टम्। सर्वत्र पदार्थस्य पदार्थैकदेशेनान्वयस्वीकारे ऋद्धस्य राजमातङ्ग इत्यादिप्रयोगस्यापि साधुत्वापत्त्या ससम्बन्धिकातिरिक्तस्थले नैकदेशान्वयसम्भव इति आरूढवानरो वृक्ष इत्यत्र आरूढपदस्य वानरपदेनान्वयो न स्वीकृतः। निष्कर्षमाह—एवमिति। एवं यथा बहुव्रीहिस्थले उत्तरपदे लक्षणा पूर्वपदस्य तात्पर्यग्राहकत्वञ्च स्वीकृत्य पदलक्षणयाऽभिमतशाब्दबोधस्तत्प्रणालिकया द्वितीयाबहुव्रीहिस्थलेऽपि शाब्दबोधस्तथैव। अन्यत्र तदतिरिक्तस्थले पीतं पयो येनेति पीतपयस्कं पात्रस्वकरणकपानकर्मजलसम्बन्धित्वेन पात्रं दत्ता दक्षिणा यस्मै इति दत्तदक्षिणो द्विज इत्यत्र स्वसम्प्रदानकर्मदक्षिणासम्बन्धित्वेन द्विजं, पतितं पत्रं यस्मादिति पतितपत्रस्तरुरित्यत्र स्वापादानकपतनाश्रयपत्रसम्बन्धित्वेन तरुं, रक्तः पटो यत्रेति रक्तपटः काय इत्यत्र रक्ताभिन्नत्ववृत्तिपटसम्बन्धित्वेन कायं च बोधयति बहुव्रीहिरिति विस्तरोऽन्यत्र। अपि च। बोध्यमिति। यत्तु मीमांसका बहुव्रीहिस्थले वाक्यलक्षणां समर्थयन्ति तन्न, तस्याः पदलक्षणयैव गतार्थत्वात्। न च विशिष्टे शक्तिः समासे पदेनैव तत्सिद्धेः।

अनुवाद—बहुव्रीहि में भी इसी तरह जानना चाहिए। उसमें चित्रगु पद आदि में यदि एकदेश के साथ अन्वय माना जाता है तब गोपद का गोस्वामी में लक्षणा और गो में चित्र का अभेदान्वय मानना चाहिए। यदि तो एकदेशान्वय नहीं माना जाता तब गोपद का चित्रगोस्वामी में लक्षणा एवं चित्रपद तात्पर्यग्राहक होता है। इसी प्रकार 'आरूढवानरो वृक्षः' इत्यादि में वानर पद का वानर के आरोहण कर्म में लक्षणा आरूढ पद तात्पर्यग्राहक होता है। इसी तरह अन्यत्र भी जानना चाहिए।

तत्पुरुषे तु पूर्वपदे लक्षणा। तथाहि—राजपुरुषादिपदे राजपदार्थेन पुरुषादिपदार्थस्य साक्षान्नान्वयो निपातातिरिक्तनामार्थयोर्भेदेनान्वयबोधस्याव्युत्पन्नत्वात्। अन्यथा राजा पुरुष इत्यत्रापि तथाऽन्वयबोधः स्यात्। घटो न पट इत्यादौ घटपटाभ्यां नञः साक्षादेवान्वयान्निपातातिरिक्तेति। नीलो घट इत्यादौ नामार्थयोरभेदसम्बन्धेनान्वयाद् भेदेनेति। न च राजपुरुष इत्यादौ लुप्तविभक्तेः स्मरणं कल्प्यमिति वाच्यमस्मृतविभक्तेरपि ततो बोधोदयात्। तस्माद्राजपदादौ राजसम्बन्धिनि लक्षणा। तस्य च पुरुषेण सहाभेदान्वयः।

आलोकः—तत्पुरुषसमासस्थले लक्षणाप्रकारं दर्शयति—तत्पुरुष इति। तत्पुरुषे

तत्पुरुषसमासस्थले । तत्र उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुष इति शाब्दिकः । तत्रापि समानाधिकरणः कर्मधारयः सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः । तत्र सामान्यतत्पुरुषस्त्रिविधः—विभक्तितत्पुरुषः, नञ्तत्पुरुषः उपपदतत्पुरुषश्च । तत्राद्यः सप्तविधः, प्रथमादिभेदात् । यथा—पूर्वं कायस्य पूर्वकायः, कृष्णं श्रितः कृष्णश्रितः, पित्रा समः पितृसमः, यूपाय दारुः यूपदारुः, व्याघ्राद्भयं व्याघ्रभयं, राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः, काव्ये कुशलः काव्यकुशलः । द्वितीयो यथा—न धर्मः अधर्मः । उपपदतत्पुरुषो यथा—कुत्सितः पुरुषः कापुरुषः, कुम्भं करोति कुम्भकारः । कर्मधारयतत्पुरुषः सप्तधा—**विशेषणपूर्वपदो** यथा—पुष्पिता च सा लता पुष्पितलता । **विशेष्यपूर्वपदो** यथा—ब्राह्मणश्चासौ श्रोत्रियः ब्राह्मणश्रोत्रियः । **विशेषणोभयपदो** यथा—शीतश्च तदुष्णं शीतोष्णम् । **उपमानपूर्वपदो** यथा—घन इव श्यामः घनश्यामः । **उपमानोत्तरपदो** यथा—नृपश्चन्द्र इव नृपचन्द्रः । **आरोप्योत्तरपदो** यथा—मुखमेव चन्द्रः मुखचन्द्रः । (**अवधारणापूर्वपदो** यथा—गौरेव धनं गोधनम् ।) **भावनापूर्वपदो** यथा—शत्रुरिति धीः शत्रुधीः, गुण इति वृद्धिः गुणवृद्धिः । द्विगुतत्पुरुषो द्विविधः—एकवद्भावी अनेकवद्भावी च । तत्राद्यो यथा—त्रयाणां भुवनानां समाहारः त्रिभुवनम् । अन्त्यो यथा—सप्त च ते ऋषयः सप्तर्षयः । शब्दशक्तिप्रकाशिकायां यथोक्तम्—

'यदीयेन सुबर्थेन युतयद्बोधनक्षमः ।
यः समासस्तस्य तत्र स तत्पुरुष उच्यते' ॥ इति ।
'क्रमिकं यन्नामयुगमेकार्थेऽन्वयबोधकम् ।
तादात्म्येन भवेदेष समासः कर्मधारयः' ॥ इति ।
'सङ्ख्याशब्दयुतं नाम तदलक्ष्यार्थबोधकम् ।
अभेदेनैव यत्स्वार्थे स द्विगुस्त्रिविधो मतः' ॥ इति ।

उच्यते तत्पुरुषत्वं हि समासप्रयुक्तलक्षणशून्योत्तरनामपदकत्वे सति लुप्तविभक्तिकपूर्वपदकसमासत्वमिति । वु बहुव्रीह्यसदृशम् । **पूर्वपदे** प्राग्वर्तिपदे एव **लक्षणा** अजहत्स्वार्था लक्षणा भवतीति । तदुपपादयति—**तथाहीति** । (अत्रावधेयं यद्राजपुरुष इत्यादौ राजपदस्य राजसम्बन्धिनि लक्षणा । तेन पुरुषपदार्थस्याभेदेनान्वय इति नैयायिकाः । तत्र लुप्तषष्ठ्यैवान्वयबोधं जनयतीति परे । षष्ठीलोपमजानतस्तु पुरुषस्य तत्रान्वयप्रत्ययशक्तिप्रमाद् राजपदलक्षणया वेति तन्मतम् । लक्षणा च राजपदे स्वारसिकी इति । शाब्दिकास्तु समासस्य शब्दसमुदाये विशिष्टार्थे शक्तिरिति मन्यन्ते ।) **तथाहि** । **राजपुरुषादिपदे** राज्ञः पुरुष इति राजपुरुषः इत्यादिपदे । **राजपदार्थेन** राजपदस्यार्थेन । राज्ञा । **सह** । **पुरुषादिपदार्थस्य** पुरुषपदार्थस्य पुंसः । **साक्षात्** विभक्त्यर्थमद्वारीकृत्य भेदसम्बन्धेन । **न** नैव । **अन्वयः** संसर्गः । अन्वयबोध इति । तत्रान्वये बाधकमाह—**निपातेति** । **निपातातिरिक्तनामार्थयोः** नामार्थश्च नामार्थश्च तौ नामार्थौ, निपातातिरिक्तौ यौ नामार्थौ तयोः । निपातपदमव्ययस्योपलक्षकम् । तेन अव्ययातिरिक्तनामार्थनामार्थयोः । **भेदेन** तादात्म्यातिरिक्तेन भेदसम्बन्धेन । **अन्वयबोधस्य** अन्वयज्ञानस्य । **अव्युत्पन्नत्वात्** असिद्धत्वात् । तान्त्रिकाणामनभिमतत्वात् । भूतले घट इत्यादौ तर्हि भूतलस्य

कथं घटे साक्षादन्वय इति चेदुच्यते सप्तम्यर्थाधेयत्वद्वारेति । चन्द्र इवेत्यादावपि इवार्थ-सादृश्ये चन्द्रस्य प्रतियोगितयाऽन्वयोपपत्तिः । प्रकृते तु षष्ठीविभक्त्यर्थस्वत्वातिरिक्त-सम्बन्धेन राजप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन पुरुषे शाब्दबोधं प्रति राजपदनिरू-पितलक्षणाज्ञानाधीनार्थोपस्थितेः विशेष्यतासम्बन्धेन पुरुषे प्रतिबन्धकत्वात् न विभक्त्यर्थ-मद्वारीकृत्यान्वयबोध इति । तादृशप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावास्वीकारे बाधकमाह—**अन्य-थेति । अन्यथा** निपातातिरिक्तनामार्थयोरपि भेदेनान्वयबोधस्वीकारे । **राजा पुरुषः । इत्यत्र । अपि । तथा** भेदसम्बन्धेन राजनिरूपितस्वत्ववान् पुरुष इति स्वरूपसम्बन्धेन । **अन्वयबोधः** राजप्रकारकपुरुषविशेष्यकान्वयबोधापत्तिः । **स्यात्** । इति । स च न कस्यापि अभीष्टः । तत्र तु नामार्थयोः सम्बन्धस्तादात्म्यरूपेणैव भासत इति । उक्त-नियमे निपातातिरिक्तपदव्यावृत्तिमाह—**घटो न पट** इति । **घटो न पटः इत्यादौ । घट-पटाभ्यां** घटपटपदार्थयोः । **नञः** नञ् इत्येतस्य । **साक्षाद्** विभक्त्यर्थमद्वारीकृत्यैव । एव हि । **अन्वयात्** घटस्य प्रतियोगितात्मकभेदसम्बन्धेन नञर्थे भेदे भेदस्य च स्वरूपात्मक-भेदसम्बन्धेन घटेऽन्वयात् । स न स्यादिति **निपातातिरिक्तेति** । निपातातिरिक्त-पदमिति । अत्र नञ्निपातस्य भावात् तत्र साक्षाद्भेदसम्बन्धेनान्वयबोधो निराबाध इति । तत्र भेदेनेति पदव्यावृत्तिमाह—**नीलो घट** इति । **'नीलो घटः'** इत्यादौ । **नामार्थयोः** नीलत्वविशिष्टघटयोः । **अभेदसम्बन्धेन** तादात्म्यसम्बन्धेन । **अन्वयात्** संसर्गात् । तत्र तथा न स्यादिति **भेदेनेति** भेदेनेति पदमिति ।

राजपुरुष इत्यत्र लुप्तषष्ठ्येवान्वयबोधं जनयतीति मतं दूषयति—**नेति** । **न** नैव । **च** अपि । **राजपुरुषः इत्यादौ । लुप्तविभक्तेः** लुप्तषष्ठीविभक्तेः राज्ञः पुरुष इति विग्रहे षष्ठीतत्पुरुषसमासे ङसः 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति लुकि नलोपे राजपुरुष इति सिद्धिः । **स्मरणम् । कल्प्यं** प्रतर्क्यम् । **इति** इत्थम् । वाच्यम् । **अस्मृतविभक्तेः** षष्ठीलोप-मजानतः अपि पुरुषस्य । **ततः** तत्पदात् । **बोधोदयात्** शाब्दबोधादिति । उपसंहरति–**तस्मा-दिति । तस्मात्** राजपदशक्यार्थस्य पुरुषपदार्थेन सह साक्षाद्भेदसम्बन्धेनान्वयसम्भवात् । राजपुरुष इत्यादौ **राजपदादौ** राजपदस्य **राजसम्बन्धिनि** राजस्वत्वविशिष्टे । **लक्षणा** निरूढलक्षणा । **तस्य** राजस्वत्वविशिष्टस्य । **च** हि । **पुरुषेण** पुरुषपदार्थेन पुंसा । **सह । अभेदान्वयः** अभेदेन तादात्म्यसम्बन्धेनान्वय इति । तेन राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरुष इति शाब्दबोधः । इति, न चात्र पुरुषपदं राजसम्बन्धिपुरुषलाक्षणिकं राजपदं तात्पर्यग्राहक-मिति वाच्यं, पूर्वपदस्य सम्बन्धिनि लाक्षणिकत्वस्वीकारेणैव अभिमतशाब्दबोधापत्तेः सम्भवति सार्थकत्वे निरर्थकत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति न्यायेन तत्पुरुषे पूर्वपदस्य तात्पर्यग्राहकत्वस्वीकारानौचित्याच्चेति स्पष्टं किरणावल्यादौ । न चात्राभेदेनान्वयेऽपि अभेदे कर्मधारय इति कर्मधारयत्वं वाच्यं, समानार्थकपदद्वयघटितविग्रहबोध्यस्यैव तत्त्वात् । प्रकृते तु तदभावात् एकधर्मिनिष्ठवृत्तिविषयके पदे सति तादृशपदद्वयसमास-स्यैव कर्मधारयत्वात् प्रकृते तदभावादित्याशयः ।

अनुवाद—तत्पुरुष में तो पूर्वपद में ही लक्षणा होती है । जैसे कि 'राजपुरुषः' आदि पद में राजपद का अर्थ राजा का, पुरुष पद का अर्थ पुरुष के साथ साक्षात्

अर्थात् बिना विभक्ति के माध्यम से अन्वय नहीं होता, क्योंकि निपात से भिन्न नामार्थों का भेदसम्बन्ध से अन्वय सिद्ध नहीं होता। वैसा न होने पर 'राजा पुरुषः' इत्यादि में भी उस तरह का (भेदसम्बन्ध से) अन्वय बोध होने लगेगा। 'घटो न पटः' इत्यादि में घट एवं पट का नञ् से साक्षात् ही अन्वय होने से 'निपात से भिन्न' कहा गया (नञ् तो निपात है, अतः वहाँ साक्षात् ही अन्वय ठीक है)। 'नीलो घटः' इत्यादि में नामार्थों का अभेदसम्बन्ध से अन्वय होने के कारण 'भेद सम्बन्ध से' ऐसा कहा गया। न तो राजपुरुषः इत्यादि में लुप्तविभक्ति का स्मरण कल्पित हो, ऐसा ही कहना उचित है (जैसा कि कुछ आचार्य कहते हैं), क्योंकि विभक्ति न जानने वाले को भी उससे शाब्दबोध होता है। इस कारण राजपद आदि में राजा से सम्बन्धित में निरूढलक्षणा होती है और उसका पुरुष पद के अर्थ के साथ अभेद अन्वय होता है। (और राजा से सम्बन्धित अभिन्न पुरुष, ऐसा शाब्दबोध होता है।).

द्वन्द्वे तु धवखदिरौ छिन्धीत्यादौ धवः खदिरश्च विभक्त्यर्थद्वित्वप्रकारेण बुध्यते। तत्र न लक्षणा। न च साहित्ये लक्षणेति वाच्यं, साहित्यशून्ययोरपि द्वन्द्वदर्शनात्। न चैकक्रियान्वयित्वरूपं साहित्यमस्तीति वाच्यं, क्रियाभेदेऽपि धवखदिरौ पश्य छिन्धीत्यादौ तद्दर्शनात्, साहित्यस्याननुभवाच्च। अत एव राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेतामित्यत्र लक्षणाभावाद् द्वन्द्व आश्रीयते। तस्मात् साहित्यं नार्थः, किन्तु वास्तवभेदो यत्र तत्र द्वन्द्वः।

न च नीलघटयोरभेद इत्यादौ कथमिति वाच्यं, तत्र नीलपदस्य नीलत्वे घटपदस्य घटत्वे लक्षणा, अभेद इत्यस्य चाश्रयाभेद इत्यर्थात्।

आलोकः—यद्वि इतरेतरद्वन्द्वसमासस्थले सहवृत्तित्वात्मके मुख्ये साहित्ये एकक्रियान्वयित्वात्मके गौणे साहित्ये वा लक्षणेति मीमांसका वदन्ति, तत्कटाक्षयन् इतरेतरद्वन्द्वे लक्षणां निषेधति—द्वन्द्वे इति। द्वन्द्वे इतरेतरद्वन्द्वसमासस्थले। तत्र उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्व इति शाब्दिकपरम्परा। प्रकाशिकाकारास्तु—

'यद्यदर्थकयन्नामव्यूहो यद्यत्प्रकारके।
बोधे समर्थः स द्वन्द्वसमासस्तावदर्थकः ॥' इति।

स च द्विविधः—इतरेतरद्वन्द्वः समाहारद्वन्द्वश्चेति। तत्रैकान्यवचनाकाङ्क्षाहीनसमाहारस्तथाविधाकाङ्क्ष इतरेतरः। शाब्दिकास्तु संहतिप्राधान्ये समाहारद्वन्द्वः संहन्यमानप्राधान्ये इतरेतरयोग इति। तत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वे उद्भूतावयवभेदसमूहः समानार्थ इति शाब्दिकाः, तन्मते तादृशसाहित्याश्रये शक्तिः। मीमांसकमते इतरेतरद्वन्द्वसमासे सहवृत्तित्वात्मके मुख्ये साहित्ये एकक्रियान्वयित्वात्मके गौणे साहित्ये वा लक्षणा। नैयायिकमते तु तत्र स्वरूपद्वयप्रतीतिरेव न लक्षणा नापि शक्तिरिति। तु तत्पुरुषादिविलक्षणमेव। **'धवखदिरौ छिन्धि'** इत्यादौ। **धवश्च खदिरः। च। विभक्त्यर्थद्वित्वप्रकारेण** विभक्त्यर्थो यद् द्वित्वं कर्मत्वं तत्र प्रकारतया। **बुध्यते** ज्ञायते। **तत्र** धवपदे खदिरधवखदिरद्वयकर्मच्छेदनानुकूलव्यापारकृतिमांस्त्वमिति बोधः।

पदे च । न नैव । लक्षणा लक्षणाव्यापार इति । लक्षणां विनैव बोधसम्भवादिति । मीमांसका: तत्र धवत्वं खदिरत्वञ्च प्रत्येकं नोद्देश्यतावच्छेदकं सुपामुद्देश्यतावच्छेदक-व्याप्यसङ्ख्याबोधकत्वनियमात्, अन्यथा आकाशौ इत्यादिवाक्यस्यापि प्रामाण्यापत्तेः। एवञ्च प्रकृते धवद्वयनिष्ठद्वित्वखदिरद्वयनिष्ठद्वित्वयोरेव प्रत्येकं धवत्वखदिरत्वव्याप्य-त्वेन धवद्वयखदिरद्वयबोधापत्तेः । अतः खदिरपदस्य सहवृत्तिधवखदिरेऽजहत्स्वार्था लक्षणा, धवपदं तु खदिरपदं सहवृत्तिधवखदिरपदं बोधयत्विति तात्पर्यग्राहकमेव । एवं हि सहवृत्त्यात्मकसाहित्यस्यैवोद्देश्यतावच्छेदकतया तादृशसाहित्यव्याप्यत्वं न धवद्वयवृत्तिद्वित्वस्य, न वा खदिरद्वयवृत्तिद्वित्वस्य अपितु धवखदिरोभयवृत्तिद्वित्वस्यैवेति न धवद्वयबोधापत्तिर्न खदिरद्वयबोधापत्तिर्न वा धवखदिरोभयबोधानुपपत्तिः, सहवृत्ति-धवखदिरद्वयकर्मकच्छेदनानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान् त्वमिति बोधादिति शङ्कते इति किरणावल्यादौ विस्तरः । सारांशतस्तु मीमांसका हि धवखदिरौ छिन्धि इत्यत्र न विभक्त्यर्थद्वित्वप्रकारतया बोधोऽपितु खदिरपदस्य सहवृत्तिधवखदिरे लक्षणा धवपदस्य च तादृशबोधतात्पर्यग्राहकत्वमिति साहित्याश्रये लक्षणां स्वीकुर्वन्ति । तद् दूषयति— **नेति । न । च हि । साहित्ये** साहित्याश्रये सहवृत्तित्वरूपे । सहवृत्तित्वात्मके मुख्ये साहित्ये एकक्रियान्वितत्वात्मके गौणे साहित्येऽपि । **लक्षणा** । तत्र हेतुमाह—**साहि-त्येति । साहित्यशून्ययोः** सहवृत्तित्वरहितयोः, **अपि च द्वन्द्वदर्शनात्** द्वन्द्वसमासभावात्, यथा विन्ध्यहिमालययोः । सामानाधिकरण्यशून्यधवखदिरोभयबोधतात्पर्येण उच्चरित-धवखदिरपदयोरपि द्वन्द्वसमासानुभूयमानत्वाच्च । तथैव पटत्वघटत्वयोः गोत्वाश्वत्व-योरपि साहित्यशून्ययोर्द्वन्द्वदर्शनात् न साहित्याश्रये लक्षणेति । मा भून्नाम तथाविध-स्थले मुख्यसाहित्याश्रयता, किन्तु तत्रापि एकक्रियान्वयित्वरूपं गौणं साहित्यं तु वर्तत एव, कथं तत्र साहित्याश्रयविरह इति चेदुच्यते—**न चैकक्रियेति । न । च । एक-क्रियान्वयित्वरूपं** सामानाधिकरण्यशून्यधवखदिरोभयबोधतात्पर्येणोच्चरित-धवखदिर-पदयोरपि एकच्छेदनत्वजातीयक्रियान्वयित्वात्मकं 'घटत्वपटत्वे विरुध्येते' इत्यत्र विरोधत्वात्मकैकजातीयविरोधनात्मकक्रियान्वयित्वरूपं **साहित्यं** सहवृत्तित्वम् । अतस्तादृशसाहित्याश्रयधवखदिरे खदिरपदे लक्षणा भवत्येवेति । **न । वाच्यं** समर्थ-नीयम् । तथा कथने हेतुमाह—**क्रियेति । क्रियाभेदे** एकजातीयक्रियाभावे । **अपि च । धवखदिरौ पश्य छिन्धि । इत्यादिदर्शनात्** इत्यादौ द्वन्द्वदर्शनात् । धवदर्शनखदिरच्छेदन-तात्पर्येण प्रयुक्ते धवखदिरौ पश्य छिन्धि इति वाक्ये एकजातीयक्रियान्वयित्वशून्य-धवादिबोधतात्पर्येणोच्चारितधवखदिरयोरपि द्वन्द्वदर्शनात् नैकजातीयक्रियान्वयित्वस्य साहित्यं तत्र वर्तते, तेन क्रियान्वयित्वरूपे साहित्ये न लक्षणेति । मा भूदेकक्रियान्वयित्व-रूपं न साहित्यं, किन्तु एकशाब्दबोधीयक्रियान्वयित्वरूपं, तथा च तत्र धवविषयक-दर्शनाश्रयः खदिरकर्मकच्छेदनानुकूलकृतिमानित्याकारकशाब्दबोधस्य जायमानतया एतादृशे साहित्ये लक्षणा कथं निवार्यत इत्यत आह—**साहित्यस्येति । साहित्यस्य** एक-शाब्दबोधीयक्रियान्वयित्वरूपसहवृत्तित्वस्य । **अननुभवात्** प्रकारतया शाब्दबोधे-ऽविषयत्वात् वस्तुगत्यैकक्रियान्वयित्वस्य धवखदिरयोः सत्त्वेऽपि एकक्रियान्वयित्वस्य

शाब्दबोधाभावादित्याशय इति। एकक्रियान्वयित्वञ्च एकक्रियाविषयतानिरूपित-संसर्गतानिरूपितशाब्दबोधविषयत्वमेव स्वस्मिन् स्वविषयकत्वस्याननुभवात्तद्धि न शाब्दबोधविषय इति। उक्तार्थे उपष्टम्भकमाह—अत इति। अतः यतो हीतरेतरद्वन्द्वे नास्ति साहित्यस्यानुभवस्तस्मात्। **एव हि। 'राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्'। इत्यत्र। लक्षणाभावात्** लक्षणाभावादेव तत्पुरुषापेक्षया लक्षणानाश्रयणलाघवादिति। राजपुरोहितावित्यत्र द्वन्द्वः इतरेतरद्वन्द्व एव। **आश्रीयते** अङ्गीक्रियते इति। राजपुरोहितावित्यत्र राज्ञः पुरोहिताविति षष्ठीतत्पुरुषो वा, राजा च पुरोहितश्च ताविति द्वन्द्वो वेति सन्देहे तत्पुरुषपक्षे लक्षणापेक्षया लाघवाद् द्वन्द्व एवाङ्गीकृतः। यदि द्वन्द्वेऽपि साहित्याश्रये लक्षणा तर्हि तत्पुरुषतुल्यतया तत्पुरुषापेक्षायां बीजाभावेन तत्सिद्धान्त-विरोधापत्तिः। स्वमतमुपसंहरति—**तस्मादिति। तस्मात्** साहित्याननुभवात् श्रुतिघटक-राजपुरोहितावित्यत्र द्वन्द्वत्वसिद्धान्तविरोधापत्तेश्च। **साहित्याधिकं** सहवृत्तित्वरूपमुख्य-साहित्यमादिपदादेकक्रियान्वयित्वादिरूपगौणसाहित्यमेकशाब्दबोधक्रियान्वयित्वरूपं वा। **न। अर्थः** द्वन्द्वलक्ष्यतावच्छेदकं साहित्यावच्छिन्ने द्वन्द्वस्थले न लक्षणेति भावः। तर्हि 'साहित्ये द्विवचनबहुवचने द्वन्द्वसमासो वा' इत्यनुशासनं कथं सङ्गच्छते? इत्यपेक्षायामुच्यते—शाब्दबोधोत्तरकालीनमानसप्रत्यक्षविषयं यदर्थसाहित्यं तत्र तदर्थं इति।

इत्थं यदि द्वन्द्वात्पूर्वं साहित्यमानाभावात् साहित्यं न द्वन्द्वप्रयोजकं तर्हि द्वन्द्वस्य किं प्रयोजकं, यद्धि द्वन्द्वं कर्मधारयात्पृथक्त्वेन परिचाययति? इत्यपेक्षायामाह—**किन्त्विति। किन्तु** प्रत्युत। **वास्तवभेदः** समासघटकपदार्थयोरन्यतरप्रतियोगिकभेदः। **यत्र** यादृशान्यतरपदार्थे प्रसिद्धः। **तत्र** तादृशान्यतरपदार्थे। **द्वन्द्वः** द्वन्द्वसमासः। यादृशपद-द्वयवृत्तिमत्पदार्थयोः परस्परभेदे तात्पर्यविषये सति ये पदे प्रयुज्येते तादृशपदयोर्द्वन्द्व इत्याशयः। चार्थे द्वन्द्व इति तत्प्रवर्तकसूत्रं पाणिनीयम्। तत्र चस्य समुच्चयान्वाचये-तरेतरसमाहाराश्चत्वारोऽर्थाः, यत्र परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्यैकस्मिन्नन्वयसमुच्चयः, निरपेक्षत्वञ्च एकस्य क्रियायामन्वयोत्तरमपरस्यावृत्त्या तत्रान्वयेन। यथा ईश्वरं गुरुञ्च भजस्व। धवखदिरौ छिन्धि इत्यत्र तु एकदैव धवखदिरयोश्छेदनक्रियायामन्वय इति न निरपेक्षत्वम्। प्रकृते तु प्रथमम् ईश्वरस्य तत एव गुरोश्च भजनक्रियायामन्वयात्तयोः परस्परं निरपेक्षत्वमेव। अन्यतरस्यानुषङ्गिकत्वेनान्वयोऽन्वाचयः। तत्रोभयोर्मध्ये यत्रै-कस्यानुद्देश्यत्वरूपमानुषङ्गिकत्वं, तेन रूपेणेतरत्र क्रियादावन्वयः तदपेक्षयान्यस्य प्राधान्यञ्च तत्सम्बन्धिक्रियाया अवश्यकर्तव्यत्वरूपम्। यथा 'भिक्षामट गाञ्चानय' इत्यत्र गवानयनस्यानुद्देश्यत्वेनानुषङ्गिकत्वम्। समुच्चयान्वाचययोरसामर्थ्यान्न समासः। असामर्थ्यञ्च चार्थे वृत्त्यभावेन एकार्थीभावरूपसामर्थ्यविरहः। मिलितानामन्वय इतरे-तरयोगः। यथा धवखदिरौ छिन्धि इत्यादौ। स च मिलितानां परस्परापेक्षाणामुद्भू-तावयवभेदसमूहरूपाणामेकधर्मावच्छिन्नेऽन्वयः। समूहः समाहारः, समूहश्च तिरोहिता-वयवगतसङ्ख्यः। यथा संज्ञापरिभाषम् इत्यादौ। तत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वे समस्यमानपदार्थ-गतसङ्ख्यां समुदाये समारोप्य द्विवचनान्तबहुवचनान्तप्रयोगः। समाहारद्वन्द्वे तु समस्य-

मानपदार्थगतसङ्ख्या तत्समुदाये आरोप्यते, किन्तु तत्समुदाये एकत्वबुद्धया एकवचनान्तप्रयोगः। समाहारद्विगुद्वन्द्वयोरयमेव भेदो यदाद्ये षष्ठ्यन्तपदप्रयोगः, अन्त्ये तु प्रथमान्तानामेव पदानाम्। प्रथमान्तानामेव द्वन्द्व इति नियमः। यत्र चार्थत्वं तत्रैव समासः, यत्र पदार्थयोर्भेदस्तत्रैव चकारप्रयोगः, समुच्चयादिपु चार्थो भेद एव। एतस्मिन् भेदे सति समस्यमानपदार्थयोर्वस्तुतो वर्तमाने सति द्वन्द्वसमास इति। तत्रापि पदार्थभेदस्यैव द्वन्द्वो वृत्तिनियामकत्वात्, न च साहित्याभावप्रयुक्तद्व द्वानुपपत्तिः। न तु पदभेदो द्वन्द्वप्रयोजकः तथा सति नीलोत्पलमित्यत्र तथात्वेन द्वन्द्वप्रसङ्गात्। ननु उभयपदार्थभेदसत्त्वे एव द्वन्द्वसमास इति नियमे सति नीलघटयोरभेद इत्यादौ कथं द्वन्द्वसमासः? चकारार्थस्य भेदव्याप्यत्वात्, पदार्थभेदस्यैव द्वन्द्वप्रवृत्तिनियामकत्वात्, परभेदमात्रस्य द्वन्द्वाप्रयोजकत्वात्, प्रकृते पदार्थभेदाभावादित्याशङ्कायामाह—**न चेति। न। च हि। नीलघटयोरभेदः। इत्यादौ।** नीलघटयोरभेद इति वाक्ये आदिपदात् 'प्रमाणप्रमेयसंशयः' (न्या० सू० १।१।१) इति सूत्रे प्रमाणस्य प्रमेयाभिन्नत्वेन तत्रापि। कथं केन प्रयोजकेन। द्वन्द्व **इति। वाच्यम्। तत्र** नीलघटयोरभेद इति वाक्ये। नीलघटयोरित्यत्र द्वन्द्वसमासात्प्राक् असमस्तस्य केवलस्य **नीलपदस्य। नीलत्वे** नीलरूपे। **लक्षणा। घटपदस्य। घटत्वे** जातौ। **लक्षणा।** तयोर्लाक्षणिकपदार्थयोर्भेदसत्त्वात्प्रयोजकलाभेन ततस्तत्र द्वन्द्व इति न तदनुपपत्तिरिति। न वा द्वन्द्वोत्तरं तत्र लक्षणापत्तिरपि। **अभेद इत्यस्य** पदस्य। **आश्रयाभेदः इति** इत्थम्। **अर्थः** लक्ष्यार्थः। प्रयोक्तृतात्पर्यविषयार्थः। एवं नीलघटयोराश्रयाभेद अर्थादिकव्यक्तिसमवेतत्वमित्यर्थः।

अनुवाद—द्वन्द्व में तो 'धवखदिरौ छिन्धि' इत्यादि में धव एवं खदिर अर्थ भी विभक्ति का जो द्वित्व अर्थ है, उसकी प्रकारता से जाना जाता है। वैसे में लक्षणा नहीं होती। न तो दोनों के साहित्य (सहवृत्तित्व) में ही लक्षणा होती है, ऐसा ही मानना उचित है। (जैसा कि कुछ लोग (मीमांसक) मानते हैं) क्योंकि सहवृत्तित्व से शून्य वालों में भी (जैसे कि 'हिमालयविन्ध्ययोः' में द्वन्द्व देखा जाता है। न तो (मुख्य साहित्य न होने पर भी) एक ही क्रिया में अन्वयित्व रूप साहित्य तो है, ऐसा ही कहना उचित है, क्योंकि क्रियाभेद होने पर भी 'धवखदिरौ पश्य छिन्धि' इत्यादि में द्वन्द्व देखा जाता है और वहाँ साहित्य का अनुभव नहीं होता। इसी कारण 'राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्' इत्यादि में लक्षणा के अभाव के कारण ही (अर्थात् 'राज्ञः पुरोहितश्च पुरोहितश्च' ऐसा समास करने पर तत्पुरुष होने के कारण राजपद में लक्षणा मानना पड़ेगा, जिसका अर्थ होगा—राजा से सम्बन्धित। उसकी अपेक्षा द्वन्द्व करने में लाघव होता है, क्योंकि द्वन्द्व में लक्षणा का अभाव होता है।) द्वन्द्व का आश्रय लिया जाता है। इस कारण साहित्य अर्थात् सहवृत्तित्व किसी भी पद का अर्थ नहीं है, किन्तु जहाँ दोनों का वास्तविक भेद होता है वहाँ द्वन्द्व समास होता है। न तो 'नीलघटयोरभेदः' इत्यादि में (भेद न होने के कारण) कैसे द्वन्द्व समास हुआ, ऐसा कहना ही उचित है, क्योंकि उसमें (समास से पहले ही) नील पद का नीलत्व रूप में, घट पद का घटत्व जाति में लक्षणा होती है (और उस लाक्षणिक अर्थ के आश्रय

में द्वन्द्व होता है)। 'अभेद' इसका अर्थ आश्रय में अभेद है अर्थात् नील एवं घट का आश्रयाभेद अथवा एकव्यक्तिसमवेतत्व अर्थ में लक्षणा होती है।

समाहारद्वन्द्वे तु यदि समाहारोऽप्यनुभूयत इत्युच्यते, तदाऽहिनकुलमित्यादौ परपदेऽहिनकुलसमाहारे लक्षणा पूर्वपदं तु तात्पर्यग्राहकम्। न च भेरीमृदङ्गं वादयेत्यत्र कथं समाहारस्यान्वयः, अपेक्षाबुद्धिविशेषरूपस्य तस्य वादनासम्भवादिति वाच्यं, परम्परासम्बन्धेन तदन्वयात्। एवं पञ्चमूलीत्यादावपि। परे त्वहिनकुलमित्यादावहिर्नकुलश्च बुध्यते प्रत्येकमेकत्वान्वयः। समाहारसंज्ञा च यत्रैकत्वं नपुंसकत्वञ्च प्राणितूर्येत्यादिसूत्रेणोक्तं तत्रैव, अन्यत्रैकवचनमसाध्वित्याहुः। पितरौ श्वसुरौ इत्यादौ पितृपदे जनकदम्पत्योः श्वशुरपदे स्त्रीजनकदम्पत्योर्लक्षणा। एवमन्यत्रापि। घटा इत्यादौ तु न लक्षणा, घटत्वेन रूपेण नानाघटोपस्थितिसम्भवात्।

आलोकः—समाहारद्वन्द्वे व्यवस्थामाह—**समाहारद्वन्द्व** इति। **समाहारद्वन्द्वे** समाहारः समूहः, स च तिरोहितावयवगतसङ्ख्यः, तदर्थे यो द्वन्द्वः स समाहारद्वन्द्वः। तेन एकवचनान्यसुबाकाङ्क्षाशून्यसमासत्वं समाहारद्वन्द्वत्वम्। तत्र। **तु** तद्विलक्षणमेव। समाहारद्वन्द्वे हि प्राचां मतेन समाहारस्याप्यनुभवसिद्धत्वात्तत्र लक्षणा स्वीक्रियते, नवीनमते तु समाहारस्य तथाऽननुभवात् न तत्र लक्षणा। तत्रादौ प्राचीनमतेन लक्षणां दर्शयितुमाह—**यदीति**। **यदि**। **समाहारः** समूहः। **अपि च**। **अनुभूयते** अनुभवविषयत्वेन गृह्यते, यथा प्राञ्चः कथयन्ति। **तदा** तदवस्थायाम्। **अहिनकुलम्** अहिश्च नकुलश्च तयोः समाहारः, 'येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः' (पा० सू० २।४।९) इति एकवद्भावः। **इत्यादौ** आदिपदात् हस्त्यश्वं पाणिपादञ्च। **परपदे** उत्तरपदे नकुलपदे। **अहिनकुलसमाहारे** अहिनकुलयोः समूहेऽर्थे। **लक्षणा** अजहत्स्वार्था लक्षणा। **पूर्वपदं** प्राग्वर्तिपदम् अहिपदम्। **तु** हि। बहुव्रीहाविव। **तात्पर्यग्राहकं** नकुलपदमहिनकुलसमाहारं बोधयत्विति, एवं वक्तृतात्पर्यग्राहकं बोध्यमिति। वस्तुतस्तु न समाहारस्यानुभवसिद्धता, न च समाहारद्वन्द्वे उत्तरपदस्य लाक्षणिकत्वं, न वा पूर्वपदस्य तात्पर्यग्राहकत्वमेव। किन्तु अहिनकुलमित्यादौ अहित्वनकुलत्वाभ्यामेव अहिनकुलमात्रप्रतीतिः, न च तत्र वैयाकरणाभ्युक्ता शक्तिरेवेति। समाहारद्वन्द्ववाक्यस्याप्रामाण्यमाशङ्क्य समाधत्ते—**नेति**। **न**। **च**। **भेरीमृदङ्गं** भेरी च मृदङ्गश्च तयोः समाहारः 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानामि'त्येकवद्भावः। **वादय** शब्दापय। **इत्यत्र**। **कथं** केन प्रकारेण। **समाहारस्य**। **अन्वयः** संसर्गः। भेरीमृदङ्गमित्यत्र मृदङ्गपदे भेरीमृदङ्गसमाहारे लक्षणा भेरीपदं तात्पर्यग्राहकमिति भेरीमृदङ्गसमाहारं वादयेति वाक्यार्थस्तत्र समाहारस्य वादनासम्भवात् कथमन्वय इति। तदेवाह—**अपेक्षेति**। **अपेक्षाबुद्धिविशेषरूपस्य** अनेकैकत्वविषयकापेक्षाबुद्धिविशेषरूपस्य। **तस्य** समाहारस्य। **वादनासम्भवात्** वादनमभिघाताख्यसंयोगावच्छिन्नक्रिया तस्य असम्भवात्। **इति**। **वाच्यम्**। तथाकथने हेतुमाह—**परम्परेति**। **परम्परासम्बन्धेन** स्वाश्रयवृत्तित्वरूपपरम्परासम्बन्धद्वारा। **तदन्वयात्** तस्य समाहारस्य

वादनेऽन्वयादिति अनेकैकत्वविषयकापेक्षाबुद्धिविशेषरूपस्य समाहारस्य आश्रयो भेरी-मृदङ्गादिः वादनक्रियायास्तद्वृत्तित्वमस्तीति न दोष इति ।

उक्तनियमं द्विग्वर्थसमाहारेऽपि दर्शयितुमाह—एवमिति । समाहारेऽर्थे द्वन्द्वो भवति द्विगुरपि । तयोरयमेव भेदो यत्समाहारद्विगौ विग्रहे षष्ठ्यन्तपदप्रयोगो यथा पञ्चानां मूलानां समाहार इति, यदा समाहारद्वन्द्वे प्रथमान्तपदप्रयोगो यथा अहिश्च नकुलश्च तयोः समाहार इति । द्विगुः सङ्ख्यापूर्वक एव भवति, द्वन्द्वस्तु तत्पूर्वकस्तद्भिन्नपूर्वको वाऽपि । अकारान्तो द्विगुः स्त्रियामिष्टो यथा पञ्चमूली (तत्र पात्रादीनां निषेधः, यथा पञ्चपात्रम्, त्रिभुवनम्) । द्वन्द्वस्तु न तथाऽपितु क्लीवे एव, यथा पाणिपादमित्यादि । द्विगुः कर्मधारयभेदः, द्वन्द्वः पृथगेव । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे चे'ति द्विगुनियमः, तत्र तद्धितार्थो यथा पौर्वशालः । उत्तरपदे परे यथा पञ्चगवधनः समाहारे यथा पञ्चगवम् । द्वन्द्वस्तु चार्थे । तत्पुरुषत्वे सति ('द्विगुश्च'—पा० २।१।२३) संज्ञान्यत्वे सति सङ्ख्या-वाचकपदपूर्वक('सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः' २।१।५२)समानाधिकरणनामसमुदायत्वं द्विगु-तत्पुरुषद्विगुकर्मधारयसाधारणद्विगुत्वम् । **एवं** यथा अहिनकुलमित्यादौ तथैव । **पञ्चमूली** पञ्चानां मूलानां समाहार इति समाहारार्थे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे चे'ति समासः, अकारान्तत्वेन स्त्रीलिङ्गत्वञ्च । द्विगुरेकवचनमित्येकवचनमपि । **इत्यादौ** आदि-पदात् त्रिभुवनं त्रिलोकी चेत्यादीनां ग्रहणम् । **अपि** उत्तरपदे लक्षणा पूर्वपदस्य तात्पर्य-ग्राहकता चेति । यथा पञ्चमूली इत्यत्र मूलपदस्य पञ्चमूलसमाहारे लक्षणा अजह-त्स्वार्था पञ्चपदस्य मूलपदं पञ्चमूलसमाहारं बोधयत्विति तात्पर्यग्राहकमिति । तथा **च** पञ्चमूलसमाहार इति बोधः । इति । नवीनमतेन समाहारद्वन्द्वे लक्षणाभावं व्युत्पाद-यति—**परे** त्विति । **परे** अन्ये नवीनाः । **तु** तद्विपरीतमेव । **अहिनकुलम्** । **इत्यादौ अहिः च** । **नकुलः** । **च** । **बुध्यते** ज्ञायते । नवीनमते हि समाहारो नानुभवविषयस्तेन अहिनकुल-मित्यत्र अहिनकुलपदाभ्याम् अहिश्च नकुलश्च शाब्दबोधविषयो भवति, न तु समाहा-रोऽपि । अतः न समाहारे लक्षणेति । यदि तथा एकत्वस्य क्वान्वयः समाहारस्यास्वीका-रादित्यपेक्षायामाह—**प्रत्येकमिति** । **प्रत्येकम्** अहिनकुलात्मकप्रकृत्यर्थप्रत्येकव्यक्तौ । **एक-त्वान्वयः** एकत्वस्य अन्वयः । तेन समाहारस्याननुभवात् प्रयोजनाभावाच्च समाहारे लक्षणास्वीकारो निरर्थक इति । यदि तथा कथं तत्र समाहारत्वं समाहारबोधकसमास-त्वात्मकयोगार्थकस्य तस्याभावादित्यपेक्षायामाह—**समाहारसंज्ञेति** । **समाहारसंज्ञा** अहि-नकुलमित्यादौ समाहारसंज्ञा । **च तु** । **यत्र** यस्मिन् वाक्ये । **एकत्वम्** एकवद्भावः । **नपुंसकत्वं** क्लीबत्वम् । च । **प्राणितूर्येत्यादिसूत्रेण** 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' (२।४।२), 'क्षुद्रजन्तवः' (२।४।८), 'येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः' (२।४।९), 'गवाश्वप्रभृतीनि च' (२।४।११), 'स नपुंसकम्' (२।४।१७) इतिप्रभृतिसूत्रैः । **उक्तम्** एकत्वं क्लीबत्वञ्च कथितम् । **तत्र** तादृशस्थले । **एव** इत्यवधारणे । **अन्यत्र** तदतिरिक्तस्थले । **एकवचनम्** एकवचनान्तत्वं क्लीबत्वञ्च । **असाधु** न व्याकरणादि-सिद्धम् । **इति** इत्थम् । **आहुः** कथयन्ति । तेषां मते समाहारसंज्ञा पारिभाषिकी एव, नतु समुदायः समाहारार्थः इति ।

ननु एकशेषस्थले एकपदस्यैकत्रैव वृत्त्या कथं शेषान्यपदार्थानां बोधः? इत्याकाङ्क्षायामाह—पितराविति।

एकशेषस्तु—'यत्रैकशेषो न द्वन्द्वो वचनं तु समष्टितः।
साम्येन शब्देन वाऽर्थेन शिष्यते काममेककः॥' इति।

तत्र— 'प्रायः पुमान् क्वचित्तु स्त्री शिष्यते सङ्ग्रहे द्वयोः।
शिष्यते क्लीबमेकैकं क्लीबाक्लीबसमुच्चये॥
त्यदादि शिष्यते तस्याऽत्यदादेश्च समुच्चये।
त्यदादिमात्रबोधे तु शिष्यते स्वगणे परम्॥' इति।

पितरौ पिता च माता च तौ पितरौ, 'पिता मात्रा' (१।२।७०) इति पितृशब्दस्यैकशेषः, पक्षे मातापितरौ। इत्यादौ। पितृपदे। जनकदम्पत्योः उत्पादकजायापत्योः। श्वशुरौ श्वश्रूश्च श्वशुरश्च तौ श्वशुरौ, 'श्वशुरः श्वश्रा' इत्येकशेषः श्वशुरशब्दस्य। इत्यादौ। श्वशुरपदे। स्त्रीजनकदम्पत्योः पत्न्युत्पादकजायापत्योः। लक्षणा अजहत्स्वार्था लक्षणा। आद्ये जन्यतानिरूपितजनकतावद्द्वित्वाश्रयदम्पतीति बोधः, द्वितीये पतित्वनिरूपितपत्नीत्ववत्स्त्रीनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावद्द्वित्वाश्रयदम्पतीति बोधः। एवमन्यत्रैकशेषेऽपि लक्षणामाह—एवमिति। एवम् इत्थमेव। अन्यत्र यत्रैकशेषस्तत्र। अपि लक्षणया शाब्दबोध इति ज्ञेयमिति, यथा ब्राह्मणौ इत्यत्र ब्राह्मणपदे लक्षणाया ब्राह्मणीब्राह्मणोभयबोधः, शिवौ इत्यत्र शिवपदे पार्वतीशिवयोर्बोधः, एकशेषस्तु 'पुमान् स्त्रिया' इति सूत्रेणेति। अत्रेदमवधेयं यत्प्राचीना हि विरूपैकशेषस्थले लुप्तस्य मातृपदादेः स्मरणात् मात्रादेरवगमः, तदस्मरतस्तु पितृपदे जनकशरीरत्वेन लक्षणया मातापित्रोरवगतिरिति। एतद्विरूपैकशेषमाश्रित्योक्तम्। सरूपैकशेषे तु व्यवस्थामाह—घटा इति। घटाः घटश्च घटश्च घटश्च ते घटाः। 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इति एकशेषः। इत्यादौ बहुवचनान्तघटपदे। न। लक्षणा लक्षणाव्यापारः। तत्र हेतुमाह—घटत्वेनेति। घटत्वेन घटप्रकारकेण। रूपेण धर्मेण अनेकघटबोधतात्पर्यज्ञानसहितेनेति। नानाघटोपस्थितिसम्भवाद् घटत्वावच्छिन्नानेकघटबोधसम्भवात्। इति।

अयमाशयः—एकशेषो हि द्विविधः—सरूपैकशेषो विरूपैकशेषश्च। तत्र विरूपैकशेषस्थलेऽवशिष्टपदेन लक्षणया अजहत्स्वार्थया लुप्तपदस्यापि बोधः, सरूपैकशेषस्थले तु न लक्षणाऽऽवश्यकी किन्तु मुख्येनैव रूपेण लुप्तोपस्थितिरिति।

अनुवाद—समाहारद्वन्द्व में तो समाहार का भी अनुभव किया जा सकता है, यदि ऐसा कहा जाय तब 'अहिनकुलम्' इत्यादि में पर पद में अर्थात् नकुल पद में अहिनकुलसमाहार अर्थ में लक्षणा होती है, पूर्वपद तो तात्पर्य का ग्राहक होता है। न तो 'भेरीमृदङ्गं वादय' इत्यादि में कैसे समाहार का अन्वय होगा, क्योंकि अपेक्षाबुद्धिविशेषरूप उसका वादन सम्भव नहीं होता? ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि परम्परासम्बन्ध से (अर्थात् समाहार का आश्रय भेरीमृदङ्ग में) उसका अन्वय हो सकता है। इसी प्रकार पञ्चमूली आदि में भी जान लेना चाहिए। दूसरे तो

'अहिनकुलम्' इत्यादि में अहि एवं नकुल पृथक्-पृथक् जाने जाते हैं और प्रत्येक में एकत्व का अन्वय होता है। समाहार संज्ञा भी जहाँ एकत्व और नपुंसकत्व भी 'प्राणितूर्य···' आदि सूत्रों से कहे गये हैं वही होता है। उसके अतिरिक्त अन्य स्थल में एकवचन असाधु है, ऐसा कहते हैं।

'पितरौ' 'श्वशुरौ' इत्यादि में पितृ पद में जनकदम्पती एवं श्वशुर पद में पत्नी के जनक दम्पती के अर्थ में लक्षणा होती है। इसी तरह अन्यत्र भी जान लेना चाहिए। 'घटाः' इत्यादि में (सरूपैकशेष में) तो लक्षणा नहीं होती, क्योंकि घटत्व रूप से अनेक घटों की उपस्थिति उससे सम्भव होती है।

कर्मधारयस्थले तु नीलोत्पलमित्यादावभेदसम्बन्धेन नीलपदार्थ उत्पलपदार्थे प्रकारः, तत्र च न लक्षणा। अत एव निषादस्थपतिं याजयेदित्यत्र न तत्पुरुषो लक्षणापत्तेः, किन्तु कर्मधारयो लक्षणाभावात्। न च निषादस्य सङ्करजातिविशेषस्य वेदानधिकाराद्याजनासम्भव इति वाच्यं, निषादस्य विद्याप्रयुक्तेस्तत एव कल्पनात्। लाघवेन पुरुषार्थस्यान्वये तदनुपपत्त्या कल्पनायाः फलमुखगौरवतयाऽदोषत्वादिति।

आलोकः—कर्मधारयस्थले शाब्दबोधप्रकारं निर्दिशति—**कर्मधारयस्थले** इति। **कर्मधारयस्थले** यत्र कर्मधारयसमासो विवक्षितस्तत्र। कर्मधारयस्तु—

'योगः प्रायः समानाधिकरणप्रथमान्तयोः।
कर्मधारय उक्तोऽसौ सप्तधा स्वपदस्थितेः॥'

विशेषणं पूर्वपदे नीलवस्त्रञ्च सद्मनम्। **विशेषणोभयपदः शीतोष्णञ्च** कृताकृतम्। **विशेष्यपूर्वपदगः** ब्राह्मणश्रोत्रियो यथा। **उपमानं** पूर्वपदे घनश्यामस्तडिच्चलः। **उपमानोत्तरपदो** नृपचन्द्रो नृकेशरी। आरोप्योत्तरगस्त्वन्यो मुखचन्द्रो मनोमृगः। सम्भावनापूर्वपदे गुणवृद्धिश्च शत्रुधीः। तथैव—

'क्रमिकं यन्नामयुगमेकार्थेऽन्यार्थबोधकम्।
तादात्म्येन भवेदेष समासः कर्मधारयः॥' इति।

तु इति पूर्वोक्तव्यतिरिक्तम्। **नीलोत्पलम्। इत्यादौ** नीलश्च तदुत्पलमिति विशेषणपूर्वपदकर्मधारयसमासे। **अभेदसम्बन्धेन** तादात्म्यसम्बन्धेन। **नीलपदार्थः** नीलपदस्य अर्थः। नीलत्वरूपः। **उत्पलपदार्थे** उत्पलपदस्य अर्थे कमले। **प्रकारः** शाब्दबोधप्रकारताश्रयः। तेन अभेदसम्बन्धावच्छिन्ननीलनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावदुत्पलमिति शाब्दबोधः। **तत्र** तादृशलक्षणकर्मधारये पूर्वपदे उत्तरपदे वा। **च** अपि। **न** नैव। **लक्षणा** लक्षणाव्यापारः। केषाञ्चिन्मते तु असमस्तनीलपदस्य नीलत्वविशिष्टे लक्षणा, ततः समासस्ततो नीलपदार्थस्याभेदेनोत्पलपदार्थेऽन्वयो बोधस्तु नीलत्वविशिष्टाभिन्नोत्पलमिति। मतेऽस्मिन्नपि लक्षणा न कर्मधारयप्रयुक्ता। श्रुतिसम्बन्धं दृष्टान्तान्तरमपि प्रस्तौति कर्मधारये लक्षणाभावस्य—**अत एवेति**। अतः कर्मधारये लक्षणाऽस्वीकारात्। एव हि। **'निषादस्थपतिं याजयेत्'**। वस्तुमयं रौद्रं चरुं

निर्वपेत्' इति प्रकृत्य श्रूयते, एतया 'निषादस्थपतिं याजयेत्' इति। तत्र निषादस्थपतिरिति वाक्ये समासद्वयं सम्भवति, निषादानां स्थपतिरिति षष्ठीतत्पुरुषः निषादश्चासौ स्थपतिरिति कर्मधारयश्च। तत्र तत्पुरुषाश्रये निषादपदे निषादसम्बन्धिनि लक्षणा कर्तव्या, कर्मधारये तु निषादपदार्थस्य स्थपतिपदार्थेऽभेदान्वयेन न लक्षणावसर इति। **न**। तत्पुरुषः तत्पुरुषसमासः। निषादानां स्थपतिरिति न वा बहुव्रीहिर्निषादः स्थपतिर्यस्येति। तथा सति **लक्षणापत्तेः** तत्पुरुषाश्रयणे पूर्वपदे बहुव्रीह्याश्रयणे तूत्तरपदे लक्षणावसरप्राप्तेः। **किन्तु। कर्मधारयः। तत्र। लक्षणाभावात्** अभेदसम्बन्धेनैवान्वयबोधेन लक्षणानावश्यकत्वात्। यथोक्तं—'स्थपतिर्निषादः स्यात् शब्दसामर्थ्यात्, लिङ्गदर्शनाच्च' (जै० सू० ६।१।५१-५२)। द्विजः स्थपतिरन्यो वा द्विजः षष्ठीसमासतः। कर्मधारयमुख्यत्वान्निषादो रौद्रयागकृत्। एतया निषादस्थपतिं याजयेत्। एतस्यामिष्टौ अधिकारी स्थपतिशब्दवाच्यस्त्रैवर्णिकः। कुतः ? निषादानामधिपतिरिति षष्ठीसमासस्य त्रैवर्णिके सम्भवात्। तस्य चाधीतवेदत्वेन विद्यासम्भवाच्चेति चेन्मैवं निषादश्चासौ स्थपतिश्चेति कर्मधारयसमासस्य मुख्यत्वात्। षष्ठीसमासे तु सङ्कीर्णजातिविशेषवाचिना निषादशब्देन तत्सम्बन्ध उपलक्ष्येत। न स्वयं कर्मधारये दोषोऽस्ति। ततस्तात्कालिकाचार्योपदेशादिना विद्यां सम्पाद्य धनिको निषादो 'रौद्रयागं कुर्यात्'। (न्यायमालाविस्तरे) शास्त्रदीपिकायामपि यथा—ऐन्द्रं वास्तुमयं चरुं निर्वपेदिति प्रकृत्य श्रूयते 'एतया निषादस्थपतिं याजयेदि'ति। तत्र संशयः, किं द्विजातिरेव यो निषादानामाधिपत्यं करोति तस्यात्राधिकारः षष्ठीसमास एवायमुत निषाद एव यः स्थपतिस्तस्य कर्मधारयश्चायमिति। तत्र—'पक्षद्वयेऽपि शब्दोऽयं योगादेव प्रवर्तते। तस्य षष्ठीसमासत्वे विदुषः स्यादविक्रिया॥ आहिताग्नेश्च यदि तु कर्मधारय इष्यते। अनाहिताग्नेरज्ञस्य प्रसज्येताधिकारिता॥ तेन षष्ठीसमासोऽयमिति प्राप्तेऽभिधीयते। निषादपदमेवं तु स्थपतौ लक्षणां व्रजेत्॥ न हि षष्ठीयुता येन तत्सम्बन्धी विधिर्भवेत्। निषादपदमेवातः षष्ठ्यर्थं लक्षयेदिदम्॥ कर्मधारयपक्षे तु न काचिदपि लक्षणा। निषाद एव स्थपतिरतः श्रुत्या प्रतीयते॥ तेन श्रुतिबलादज्ञो नाहिताग्निश्च सन्नपि। निषाद एव स्थपतिः कर्मण्यत्राधिकारभाक्'॥ इति। तदेवाह—**न चेति। न। च** हि। तत्पुरुषमनाश्रित्य कर्मधारयाश्रयणे निषाद एव स्थपतिरिति निषादस्यैव यज्ञाधिकारित्वसिद्धौ **सङ्करजातिविशेषस्य** शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो निषाद इति व्यवस्थया मिश्रितजातिविशेषस्य। **निषादस्य। वेदानधिकारात्** वेदाध्ययनस्याधिकाराभावात्। **याजनासम्भवः** यजमानत्वासम्भवः। **इति** इत्थम्। **वाच्यम्। निषादस्य। विद्याप्रयुक्तेः** यागोपयुक्तवेदाध्ययनप्राप्तेः। ततः यागकर्तृत्वप्राप्तितः। **एव हि। कल्पनात्** अन्यथानुपपत्तेः कल्पनासम्भवात्। **लाघवेन** लक्षणाभावप्रयुक्तलाघवेन। **मुख्यार्थस्य** निषादस्य। **अन्वये** कर्मधारयाश्रयणेन यागकर्तृत्वसिद्धौ। **तदनुपपत्त्या** तस्य प्रमाणसिद्धयागकर्तृत्वस्य अनुपपत्त्या। **कल्पनायाः** यागोपयुक्तवेदाध्ययनकल्पनायाः। **फलमुखगौरवतया** फलं निषादस्य यागकर्तृत्वसिद्धिस्तन्मुखं तत्प्रयोज्यं तत्सत्ताधीनसत्ताकमिति गौरवं वेदाध्ययनाधिकारकल्पनारूपं तत्तया। **अदोषत्वाद्** दोषाभावात् यागसम्पादकत्वविघातकत्वविरहात्। **इति। न च**

शक्यसम्बन्धात्मकलक्षणायाः सार्वत्रिकत्वात्तत्पुरुषेऽपि तत्र तत्कल्पनं न गौरवमिति न वाच्यं, शक्त्यैव शाब्दबोधनिर्वाहापेक्षया लक्षणया तन्निर्वाहे गौरवात्। न च निषादस्य यागकर्तृत्वसिद्ध्या 'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्' इति श्रुतेरप्रामाण्यापत्तिः प्रकृतस्य विशेषविधानेन निषादस्य यागकर्तृत्वनिर्वाहकयागोपयुक्ताध्ययनमात्रस्य तदधिकारादिति।

अनुवाद—कर्मधारय स्थल में तो 'नीलोत्पलम्' इत्यादि में अभेद सम्बन्ध से नीलपदार्थ उत्पल पदार्थ में प्रकारता से अन्वित होता है। वहाँ भी लक्षणा नहीं होगी। इसी कारण 'निषादस्थपतिं याजयेत्' इत्यादि में तत्पुरुष नहीं है, क्योंकि वैसा होने पर लक्षणा माननी होगी, किन्तु कर्मधारय है, क्योंकि उसमें लक्षणा की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। न तो सङ्करजाति विशेष निषाद का वेद में अधिकार न होने से याजन (यज्ञ कराना) सम्भव नहीं, ऐसा कहना ही उचित है; निषाद की विद्या-प्रयुक्ति अर्थात् सम्बन्धित याग का सम्पादन करने हेतु आवश्यक भाग का अध्ययन उसी वाक्य से ही कल्पित है। लाघव के कारण लिये गये मुख्यार्थ के अन्वय में उसकी उपपत्ति न हो पाने के कारण कल्पना का फलमुख गौरव होने से दोष नहीं है।

उपकुम्भमर्धपिप्पलीत्यादौ परपदे तत्सम्बन्धिनि लक्षणा पूर्वपदार्थप्रधानतया चान्वयबोध इति।

इत्थञ्च समासे न क्वापि शक्तिः पदशक्त्यैव निर्वाहादिति।

आलोकः—अव्ययीभावस्थले लक्षणां निर्दिशति—**उपकुम्भमिति**। **उपकुम्भं** कुम्भस्य समीपमित्यस्वपदविग्रहे 'अव्ययं विभक्तिसमीप···'इति (पा० सू० २।१।६) सूत्रेण अव्ययीभावः (२।१।५) इत्यनुवृत्त्य समासः। अयमव्ययीभावोऽविग्रहोऽस्वपदविग्रहो वा नित्यसमासः। स च—

'प्रायः पूर्वेणाव्ययेन योगः शब्दान्तरस्य तु।
नित्योऽव्ययीभाव उक्तः सोऽयं द्वेधाऽव्यवस्थितेः॥' इति।

यथा वा—

'उत्तरार्थान्वितस्वार्थाव्ययपूर्वस्तु यो भवेत्।
समासः सोऽव्ययीभावः स्त्रीपुंल्लिङ्गविवर्जितः॥
अमादेशं विना श्रूयमाणषष्ठी न बोधिका।
स्वार्थे यदर्थस्य यदा सोऽव्ययीभाव इष्यते॥' इति च।

अर्धपिप्पलीति। अर्द्धं पिप्पल्या इति तत्पुरुषसमासः। **इत्यादौ**। **परपदे** उत्तरपदे कुम्भपदे पिप्पलीपदे च। **तत्सम्बन्धिनि** कुम्भसम्बन्धिनि पिप्पलीसम्बन्धिनि च। **लक्षणा** निरूढलक्षणा। **पूर्वपदार्थप्रधानतया** प्राग्वर्तिपदबोध्यार्थविशेष्यकतया। **च** इत्यवधारणे। **अन्वयबोधः** अभेदसम्बन्धेन कुम्भसम्बन्धिविशिष्टं समीपं तथैव तादात्म्यसम्बन्धेन पिप्पलीसम्बन्धविशिष्टमर्धमिति च शाब्दबोध इति।

प्रकरणमुपसंहरति—**इत्थमिति**। **इत्थं** प्रागुक्तप्रकारेण। **च** हि। **समासे** समस्तपदे।

समासत्वावच्छेदेन । **क्वापि** कुत्रचिदपि । **न** । **शक्तिः** अर्थावबोधकसामर्थ्यं यथाधिवदन्ति शाब्दिका इति । तत्र समासे शक्त्यभावे हेतुमाह—**पदेति** । **पदशक्त्या** समासघटकपद-निष्ठशक्तिलक्षणाभ्याम् । **एव** हि । **निर्वाहात्** अभिमतशाब्दबोधात् । इति ।

यद्धि वैयाकरणाः समासे विशिष्टे एव शक्तिर्न तु तद्घटकपदेषु इत्यामनन्ति, किन्तु नैयायिकमते न तथाऽपितु पदशक्त्यैव निर्वाह इति । यत्र न शक्तिः कार्यसाधिका तत्र लक्षणा प्रवर्तते । उभाभ्यां शाब्दबोधः यथा बहुव्रीहौ उत्तरपदे लक्षणा पूर्वपदं तात्पर्य-ग्राहकं सामान्यतत्पुरुषे पूर्वपदे लक्षणा तत्सम्बन्धिनि तस्य चोत्तरपदेन सहाभेदान्वयः । अर्धपिप्पलीत्यादौ तु तत्पुरुषेऽपि उत्तरपदे लक्षणा पूर्वपदार्थप्राधान्येनान्वयबोधः । कर्मधारयतत्पुरुषे नैव लक्षणा अभेदसम्बन्धेन पूर्वपदार्थं उत्तरपदार्थे प्रकारः । इतरेतर-द्वन्द्वे न लक्षणा विभक्त्यर्थद्वित्वप्रकारेणान्वयबोधः । समाहारद्वन्द्वे तु परपदे समाहारेऽर्थे लक्षणा पूर्वपदं तात्पर्यग्राहकमिति केचित् । केषाञ्चिन्मते तु तत्र न लक्षणाऽपितु प्रत्येक-मेकत्वान्वयः । एवमेव द्विगुतत्पुरुषेऽपि । विरूपैकशेषे अवशिष्टपदे लुप्तपदार्थे लक्षणा, सरूपैकशेषे तु न लक्षणा । अव्ययीभावस्थले उत्तरपदे लक्षणा पूर्वपदप्राधान्येनान्वयबोध इति । तेन न समासे शक्तिरपितु पद एव तच्छक्त्यैव निर्वाहादिति ।

अनुवाद—उपकुम्भम्, अर्धपिप्पली इत्यादि में पर पद (उत्तरवर्त्ती पद) में तत्सम्बन्धी अर्थ में लक्षणा होती है। वहाँ पूर्व पदार्थ के प्राधान्य से अन्वयबोध होता है।

इस प्रकार समास में कहीं भी शक्ति नहीं है, क्योंकि वहाँ पदशक्ति से ही निर्वाह होता है।

आसत्तियोग्यताकाङ्क्षातात्पर्यज्ञानमिष्यते ॥ ८२ ॥
कारणं—

आसत्तिरिति । आसत्तिज्ञानं योग्यताज्ञानमाकाङ्क्षाज्ञानं तात्पर्यज्ञानञ्च शाब्दबोधे कारणम् ।

आलोकः—शाब्दबोधे सहकारिकारणान्याह परममूले—**आसत्तिरिति** । आसत्ति-योग्यताऽऽकाङ्क्षातात्पर्यज्ञानं कारणम् इष्यते इति । शाब्दबोधे हि **आसत्तियोग्यता-काङ्क्षातात्पर्यज्ञानम्** आसत्तिश्च योग्यता च आकाङ्क्षा च तात्पर्यञ्च तेषां ज्ञानमिति ज्ञानपदस्य द्वन्द्वान्ते पठितत्वेन प्रत्येकमभिसम्बन्धः । तत्र आसत्तिः प्रकृतान्वयबोधानु-कूलव्यवधानाभावः, योग्यता पदानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः, आकाङ्क्षा प्रतीतिपर्य-वसानाभावः, तात्पर्यं वक्त्राभिप्रायश्च तेषां ज्ञानमवबोधः । **कारणं** सहकारित्वेन शाब्द-बोधहेतुः । **इष्यते** इति । शाब्दबोधे हि प्राधान्येन वृत्तिज्ञानसहकृतपदज्ञानजन्यपदार्थो-पस्थितिद्वारा पदज्ञानस्य हेतुत्वेऽपि गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन, वह्निना सिञ्चति घटः कर्मत्वमानयनं कृतिरित्यादौ तादृशव्यापारद्वारा पदज्ञानसत्त्वेऽपि अभिमतशाब्दबोधानुद-यात्तत्सहकारिकारणत्वेन आसत्यादीनां ग्रहणं व्यभिचारवारणायेति । मूले कारिकाशयं

विवृणोति —आसत्तिरित्यादि । आसत्तिज्ञानम् आसत्तिः पदस्य पदान्तरेण सह अन्वयानुकूलत्वेन सन्निधिः, सा च पदसमूहनिष्ठा तज्ज्ञानं शाब्दबोधे कारणम् । योग्यताज्ञानं पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावो योग्यता सा, चार्थनिष्ठा तज्ज्ञानं शाब्दबोधे कारणम्। आकाङ्क्षाज्ञानं पदस्य पदान्तरेण सह प्रयोजनमाकाङ्क्षा, सा च पदनिष्ठा तज्ज्ञानं शाब्दबोधे कारणम् । तात्पर्यं तत्प्रतीतीच्छयोच्चारितत्वरूपं तात्पर्यं वक्तुरिच्छा, तच्च शब्दनिष्ठं तज्ज्ञानं शाब्दबोधे कारणमिति । शाब्दबोधे । कारणं सहकारिकारणमिति । तदेवम् आसत्तियोग्यताकाङ्क्षातात्पर्यज्ञानान्यपि शाब्दबोधे कारणानि । तत्र यत्पदार्थेन सह यत्पदार्थस्यान्वयोऽपेक्षितस्तयोः पदयोरव्यवधानेनोपस्थितिरासत्तिः। यथा घटमानयेत्यादौ । प्रत्युदाहरणं तु गिरिर्भुक्तं वह्निमान् देवदत्तेनेत्यत्र । काव्यश्लोकादौ तु श्रवणानन्तरमभ्यासपाटवाच्छीघ्रमन्वयबोधसम्भवाद् व्यवधानेऽपि न क्षतिः । तत्रापि अव्यवधानेनोपस्थितिरभीष्टा । यथा—'क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः' । यद्यपि वर्णानां तज्ज्ञानस्य चाशुतरविनाशित्वेनाव्यवधानेनोत्तरपदस्मरणासम्भवस्तथापि तत्तद्वर्णानुभवजनितसंस्कारकूटादेव समूहावलम्बनात्मकपदस्मरणमविरुद्धम् । एकपदार्थेऽपरपदार्थसम्बन्धो योग्यता । यथा जलेन सिञ्चतीत्यादौ जलस्य करणत्वेन सेचनेऽन्वयः । वह्निना सिञ्चतीत्यादि प्रत्युदाहरणम् । वह्नेर्दहनकरणत्वेन न सेचनेऽन्वयः । केचिद्योग्यतां न शाब्दबोधे हेतुत्वेन गृह्णन्ति, वह्निना सिञ्चतीत्यादावपि श्रोतुर्भाषान्तरादिव बोधानापत्तेः। येन पदेन विना यत्पदस्यान्वयाननुभावकत्वं तत्पदे तत्पदसमभिव्याहार आकाङ्क्षा। यथा घटमानयेत्यत्र द्वितीयां विना घटपदं घटकर्मतां न बोधयतीति घटपदोत्तराम्पदत्वमाकाङ्क्षेति । तात्पर्यं वक्त्रभिप्रायः । यथा सैन्धवमानयेत्यादौ भोजनप्रकरणे लवणस्य यात्राप्रकरणेऽश्वस्यान्वयः । प्रकरणं सिद्धार्थशब्दसान्निध्यञ्चास्य नियामके । इति ॥ ८२ ॥

अनुवाद—आसत्ति, योग्यता, आकाङ्क्षा एवं तात्पर्य का ज्ञान शाब्दबोध के सहकारी कारण के रूप में माने जाते हैं ।

आसत्तिरिति । आसत्ति का ज्ञान, योग्यता का ज्ञान, आकाङ्क्षा का ज्ञान एवं तात्पर्य का ज्ञान भी शाब्दबोध में कारण होता है ॥ ८२ ॥

—सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते ।

तत्रासत्तिपदार्थमाह —सन्निधानं त्विति । (अन्वयप्रतियोग्यनुयोगिपदयोरव्यवधानमासत्तिः । तज्ज्ञानं शाब्दबोधे कारणम् । क्वचिद् व्यवहितेऽपि अव्यवधानभ्रमाच्छाब्दबोधादिति केचित् । वस्तुतस्तु अव्यवधानज्ञानस्यानपेक्षितत्वात् ।) यत्पदार्थेन यत्पदार्थस्यान्वयोऽपेक्षितस्तयोरव्यवधानेनोपस्थितिः शाब्दबोधे कारणम् । तेन गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेनेत्यादौ न शाब्दबोधः । 'नीलो घटो द्रव्यं पटः' इत्यादौ आसत्तिभ्रमाच्छाब्दबोधः । आसत्तिभ्रमाच्छाब्दभ्रमाभावेऽपि न क्षतिः। ननु यत्र 'छत्री कुण्डली वाससवी देवदत्तः' इत्याद्युक्तं तत्रोत्तरपदस्मरणेन पूर्वपदस्मरणस्य नाशादव्यवधानेन तदुत्तरपदस्मरणासम्भव इति

चेन्न, प्रत्येकपदानुभवजन्यसंस्कारैश्चरमस्य तावत्पदविषयकस्मरणस्याव्यवधानेनोत्पत्तेः। नानासन्निकर्षैरेकप्रत्यक्षस्येव नानासंस्कारैरेकस्मरणोत्पत्तेरपि सम्भवात्। तावत्पदसंस्कारसहितचरमवर्णज्ञानस्योद्बोधकत्वात्। कथमन्यथा नानावर्णैरेकपदंस्मरणम्।

आलोकः—शाब्दबोधसहकारिकारणमध्ये प्रथमं कारणमासत्तिं निरूपयति–**सन्निधानमिति** परममूले। पदस्य सन्निधानं तु आसत्तिः उच्यत इति। **पदस्य** पदानामिति। **सन्निधानम्** अव्यवधानम्। तु हि। **आसत्तिः उच्यते** इति। मूले कारिकाशयं विवृणोति—**तत्रेति**। तत्र शाब्दबोधसहकारिकारणेषु। **आसत्तिपदार्थम्** आसत्तिपदस्य अर्थम्। आसत्तिस्वरूपमिति। **आह**। **सन्निधानं तु** इति। सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यत इति। अस्यार्थमाह–**अन्वयेति**। **अन्वयप्रतियोग्यनुयोगिपदयोः** अन्वयस्य शाब्दबोधविषयीभूतस्य संसर्गस्य यथा गामानयेत्यत्र द्वितीयान्तगोपदार्थस्य आनयनपदार्थेन सह निरूपकत्वसंसर्गस्य प्रतियोगि गोकर्मत्वं तदनुयोगि आनयनं तथाविधार्थबोधकपदयोः द्वितीयान्तगोपदानयनपदयोः। **अव्यवधानम्** अविलम्बः। **आसत्तिः** आसत्तिपदार्थः। **तज्ज्ञानं** तस्य आसत्तेर्ज्ञानमवबोधः गाम्पदपमातयपदाव्यवहितपूर्वम् आनयपदं गाम्पदाव्यवहितोत्तरं वेत्याकारकम्। भ्रमप्रमासाधारणम्। **शाब्दबोधे** गोकर्मतानिरूपकानयनानुकूलकृतिमांस्त्वमिति बोधे। **कारणं** सहकारिकारणं भवतीति। इदमासत्तिज्ञानं भ्रमप्रमासाधारणं **क्वचित्** कुत्रचित्तु यथा नीलं कपालं द्रव्यं वस्त्रमित्यादौ कपालं द्रव्यं नीलं वस्त्रमिति वक्तुस्तात्पर्येऽपि **व्यवहितेऽपि** अव्यवधानभ्रमात् नीले द्रव्ये च जातेऽव्यवधानभ्रमे शाब्दबोधात् नीलाभिन्नं द्रव्यं कपालं वस्त्रञ्चेति प्रमात्मकशाब्दबोधस्य जायमानत्वात्। **इति** इत्थम्। **केचित्** प्राचीना इति। प्राचीनमते हि पदस्य सन्निधानमासत्तिरित्येतस्य ययोः पदयोः परस्परमन्वयबोधजनकत्वे तात्पर्यं तयोः पदयोरव्यवधानमासत्तिः। तस्याश्च स्वरूपसत्याः शाब्दबोधकारणत्वे गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेनेत्यादौ गिरिपदाग्निमत्पदयोरव्यवधानभ्रमात् शाब्दबोधस्यानुभवसिद्धत्वापलापापत्तिः स्यात्तस्माद् भ्रमप्रेमासाधारणं तादृशपदयोरव्यवधानज्ञानमेव शाब्दबोधहेतुतयोपगन्तव्यमिति किरणावल्यादौ स्पष्टम्। नवीनैकदेशिनस्तन्न सहन्ते। तन्मते तन्न चारु, पदद्वयेनाप्यवधानेन पदार्थद्वयोपस्थितिसत्त्वे पदाऽव्यवधानज्ञानं विनाऽपि शाब्दबोधस्यानुभवसिद्धत्वात्। तथा च तादृशासत्तिज्ञानस्य हेतुता व्यभिचरिता। तेन नोक्तासत्तिज्ञानं हेतुः, किन्तु पदद्वयोपस्थित्योरव्यवधानात्मिका आसत्तिः स्वरूपसत्येव शाब्दबोधकारणम्। गिरर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेनेत्यत्र गिरिपदाग्निमत्पदोपस्थित्योरव्यवधानेन जायमानत्वं तु तत्र शाब्दबोधो नानुपपन्नः इति। तदेवाह—**वस्तुतस्त्विति**। **वस्तुतः** यथार्थतः। **तु** हि। **अव्यवधानज्ञानस्य** प्राचीनसम्मतासत्तिज्ञानस्य। **अनपेक्षितत्वात्** सर्वत्रापेक्षितत्वे मानाभावात् न तादृशासत्तिज्ञानं हेतुरपितु **यत्पदार्थेन** येन पदार्थेन। **यत्पदार्थस्य** यस्य पदार्थस्य। गामानयेत्यत्र येन पदार्थेन द्वितीयान्तगोपदार्थेन गोकर्मत्वेन सह यस्य पदार्थस्य तिङन्तानयपदार्थस्य। **अन्वयः** निरूपकत्वसंसर्गः। **अपेक्षितः** शाब्दबोधविषयतया तात्पर्यविषयत्वेनाभिमतः। **तयोः** द्वितीयान्तगोपदतिङन्तानयपदयोः। **अव्यवधानेन** पदनिष्ठव्यवधानरहितत्वेन। **उपस्थितिः** स्मरणम्।

शाब्दबोधे । कारणम् । तेन अन्वयबोधजनकपदज्ञानग्रहणेन । **गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेनेत्यादौ । न । शाब्दबोधः** अभ्रान्तस्य तु न शाब्दबोधो गिरिपदभुक्तपदयोरन्वयाभावादिति । आसत्तित्वप्रकारकभ्रमादपि शाब्दबोधं दर्शयति—**नील इति । नीलो घटो द्रव्यं पटः इत्यादौ।** घटो द्रव्यं नीलः पटः इत्यन्वयबोधतात्पर्येण उच्चारितवाक्ये नीलपदार्थस्य पटपदार्थेन सह अन्वयबोधस्य तात्पर्ये सत्यपि वक्तुः मध्ये घटपदस्य विद्यमानत्वान्नासत्तिः । **तेन तत्र । आसत्तिभ्रमात्** नीलपदघटपदयोरव्यवहिततत्ताभ्रमेण **शाब्दबोधः भ्रमान्नीलपदस्य** घटपदेन सहान्वयात् नीलाभिन्नो घट इति शाब्दबोधेऽपि न क्षतिरिति । यच्च प्राचीनैरुच्यते आसत्तिभ्रमाच्छाब्दबोधोऽपि भ्रमात्मक इति तन्निराकर्तुमाह—**आसत्तिभ्रमादिति । आसत्तिभ्रमात्** आसत्तिसम्बद्धभ्रमेणापि । **शाब्दभ्रमाभावे** शाब्दबोधभ्रमविरहे । **अपि च । न नैव । क्षतिः** हानिः । आसत्तिभ्रमेणापि जायमानशाब्दबोधस्तु न भ्रमात्मकोऽपितु प्रमात्मक एवेति आसत्तिभ्रमस्य शाब्दभ्रमेऽप्रयोजकत्वात् । योग्यताभ्रमस्यैव शाब्दभ्रमप्रयोजकत्वादिति ।

अत्र केचित्तु आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः अर्थात् यत्पदबुद्ध्यव्यवधानेन यत्पदबुद्धिस्तेनैव सह तस्यासत्तिरिति । अव्यवधानञ्च तदन्वयानुपयुक्तार्थकसार्थकपदान्तरेण चिरकालेन वा । तेन काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचतीत्यत्र स्थाल्यादिपदव्यवधानेऽपि काष्ठपदे पचधातोरासत्तिरस्त्येव, स्थाल्यादिपदार्थानां तदन्वयोपयोगित्वात् । निरर्थकेन व्यवधाने तु नासत्तौ बाधा, यथा सर्वे गच्छतीत्यत्र वैकारः ।

अव्यवधानेन पदोपस्थितिः शाब्दबोधे कारणमिति यदुक्तं तत्कथं सम्भवत्यनेकपदघटितवाक्यस्थलेऽव्यवधानेन पदोपस्थित्यसम्भवादित्याशङ्क्य तत्समाधानाय प्रथमशङ्काग्रन्थमाह—**नन्विति । ननु । यत्र** यादृशबोधे तात्पर्येण । **छत्री कुण्डली वासस्वी देवदत्त इत्यादि** छत्रीत्याद्यनेकविशेषणपदघटितवाक्यम् । **उक्तं** प्रयुक्तम् । **तत्र** तादृशवाक्ये । **उत्तरपदस्मरणेन** परवर्तिपदाध्यानेन । कुण्डल्यादिपदाध्यानेन । **पूर्वपदस्मरणस्य** प्राग्वर्तिछत्र्यादिपदाध्यानस्य । **नाशात्** योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरगुणनाश्यत्वनियमेनावश्यं नाशात् । **अव्यवधानेन** निरुक्तासत्तिमत्तया । **तदुत्तरपदस्मरणासम्भवः** तदुत्तरवर्तिपदाध्यानासम्भवः छत्रिपददेवदत्तपदाव्यवधानस्मरणाभावादिति । **इति** इत्थम् । **चेत् न** तन्नैवोपयुक्तमिति । तथाऽस्वीकारे हेतुं निर्दिशति—**प्रत्येकेति । प्रत्येकपदानुभवजन्यसंस्कारैः** तत्तच्छत्रिकुण्डलीति प्रत्येकपदश्रावणानुभवजन्यप्रत्येकपदविषयकसंस्कारैः । चरमपदश्रवणकालपर्यन्तस्थायिभिः । **चरमस्य** अन्तिमस्य देवदत्तपदश्रावणोत्तरकालीनस्य । **तावत्पदविषयकस्मरणस्य** यावद्विशेषणविशेष्यपदसमुदायविषयकस्य । युगपदेकस्मरणस्य । **अव्यवधानेन** अभेदेन । **उत्पत्तेः** जननादिति । **नानासन्निकर्षैः** एककालघटितघटचक्षुःसंयोगपटचक्षुःसंयोगरूपनानाविधसन्निकर्षैः । **एकप्रत्यक्षस्य** घटपटाविति समूहावलम्बनात्मकैकप्रत्यक्षस्य । **इव । नानासंस्कारैः** तत्तत्पदविषयकानेकसंस्कारैः । **एकस्मरणोत्पत्तेः** तावत्पदविषयकैकस्मरणोत्पत्तेः । **अपि । सम्भवात्** एकैकपदसंस्कारजन्यैकैकपदस्मरणोत्पत्तेः समुच्चयस्य अबाधितत्वादिति । **तावत्पदसंस्कारसहितचरमवर्णज्ञानस्य तावता यावन्ति वाक्यघटकपदानि सर्वेषामेव तेषां** पदानां श्रावणार्थबोधजन्यैः संस्कारैः

सहितं समवायघटितसामानाधिकरण्येनात्मनि जायमानं यत् चरमवर्णज्ञानमन्तिमदेवदत्तपदश्रावणानुभवस्तस्य। उद्बोधकत्वात् उन्नायकत्वात् अन्यथा अतथाभावे। कथं केन प्रकारेण। नानावर्णैः विभिन्नवर्णैः। एकपदस्मरणं यावद्वर्णानुपूर्व्यवच्छिन्नैकपदार्थस्मरणम्। स्यात्। इति।

अयमाशयः—पूर्वपदेन सहोत्तरपदस्याव्यवहितत्वेनोपस्थितिः शाब्दबोधे कारणमिति तदनेकपदघटितवाक्ये कथं सम्भवति योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यत्वेन उत्तरपदीयस्मरणेन पूर्वपदीयस्मरणस्य नाशाभ्युपगमात् इति चेदुच्यते—सत्यपि तत्तत्पदीयस्मरणव्यक्तीनां भेदे उत्तरपदस्मरणेन पूर्वपदीयस्मरणनाशेऽपि तत्तत्पदविषयकं समूहावलम्बनमेकमेव भवति स्मरणं समूहावलम्बनपदार्थस्मृतेः। एवं हि छत्रीत्यादिबहुपदघटितवाक्ये प्रत्येकं यच्छत्रीत्यादिपदं तत्तत्पदानुभवजन्या ये संस्कारास्तैरन्तिमस्य समूहावलम्बनरूपसकलपदार्थस्मरणस्य व्यवधानं विनैवोत्पत्तिसम्भवान्न दोष इति। यथैकस्मिन्नेव काले घटचक्षुःसंयोगरूपपटचक्षुःसंयोगरूपनानासन्निकर्षो जायते तत इमौ घटपटौ इत्याकारकमेव भवति प्रत्यक्षं तथा अनेकपदविषयकानेकसंस्कारैरेकस्मरणोपपत्तिसम्भवः। तत्तत्पदविषयकसंस्कारस्य भिन्नविषयत्वरूपेंऽशे कारणत्वेऽपि तत्तत्संस्कारजन्यस्मरणमेकमेव जायते, न च तत्र कार्यकारणभावे बाधकभाव इति। नानासंस्काराणामेकस्मरणं प्रतिजनकत्वाभावे नानावर्णानां प्रत्येकसंस्कारैः नानावर्णगोचरमेकपदीयस्मरणं कथं स्यात्। तथा च सर्वत्र शाब्दबोधानुपपत्तिः स्यात्। तेन पदजन्यपदार्थोपस्थितिः समूहावलम्बनात्मिका सत्येव शाब्दबोधं प्रति कारणमिति। पदस्मरणवदाशुतरविनाशिनीनां क्रमिकाणां पदजन्यपदार्थोपस्थितीनां मेलनासम्भवेन समूहावलम्बनात्मिका पदजन्यपदार्थोपस्थितिरेव शाब्दबोधे कारणं, शाब्दबोधश्च सर्वत्र युगपदेव सकलपदार्थानां विशेष्ये विशेषणमित्येव नयेन न तु विशिष्टस्य वैशिष्ट्यमिति रीत्येति।

अनुवाद—पदों का सन्निधान (सन्निधि) ही आसत्ति है। आसत्ति पद का अर्थ बतलाते हैं—**सन्निधानं त्विति**। जिस पदार्थ (पद का अर्थ) के साथ जिस पदार्थ का अन्वय अपेक्षित है, उन दोनों की अव्यवधान से उपस्थिति शाब्दबोध में कारण होता है। इस कारण 'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' इत्यादि में शाब्दबोध नहीं होता। (क्योंकि गिरि और अग्निमान् के बीच भुक्त का व्यवधान है और 'भुक्तं देवदत्तेन' के बीच अग्निमान् का।) 'नीलो घटो द्रव्यं पटः' इत्यादि में आसत्तिभ्रम से शाब्दबोध हो भी सकता है। (वैसे तो वक्ता का तात्पर्य नील एवं पट का तथा द्रव्य एवं घट का अन्वय करना है, लेकिन आसत्ति के भ्रम से यदि 'नीलो घटः' ऐसा शाब्दबोध हो भी जाय तो कोई हर्ज नहीं। आसत्तिभ्रम से शाब्दबोध में भ्रम न होने पर भी कोई आपत्ति नहीं है। (क्योंकि योग्यताभ्रम से शाब्दबोध में भ्रम होता है, आसत्तिभ्रम से नहीं।

जहाँ 'छत्री कुण्डली वाससवी देवदत्त' इत्यादि कहा गया वहाँ उत्तरपद के स्मरण से पूर्वपद के स्मरण का नाश होने से अव्यवधान से उसके उत्तरपद का स्मरण असम्भव होता है, ऐसा कहा जाय तो ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पद के अनुभवजन्य

संस्कारों से..अन्तिम के सभी पदों से सम्बन्धित स्मरण की अव्यवधान से उत्पत्ति होती है। नाना सन्निकर्षों से एक प्रत्यक्ष की तरह नाना संस्कारों से एक स्मरण की उत्पत्ति भी सम्भव होती है। सभी पदों के संस्कारों से सहित होकर चरम वर्णज्ञान का उद्‌बोधक होता है। नहीं तो नाना वर्णों से एक पद का स्मरण कैसे हो पाता।

परन्तु तावत्पदार्थानां स्मरणादेकदैव खले कपोतन्यायेन तावत्पदार्थानां क्रियाकारकभावेनान्वयबोधरूपः शाब्दबोधो भवतीति केचित्।

'वृद्धा युवानः शिशवः कपोताः खले यथामी युगपत्पतन्ति।
तथैव सर्वे युगपत्पदार्थाः परस्परेणान्वयिनो भवन्ति॥'

अपरे तु—

'यद्यदाकाङ्क्षितं योग्यं सन्निधानं प्रपद्यते।
तेन तेनान्वितः स्वार्थः पदैरेवावगम्यते॥'

तथा च खण्डवाक्यार्थबोधानन्तरं तथैव पदार्थस्मृत्या महावाक्यार्थबोध इत्यप्याहुः।

आलोकः—तावत्पदार्थजन्यशाब्दबोधविषये प्राचीनमतमनुवदति—**परन्त्विति**। **परन्तु**। **तावत्पदार्थानां** वाक्यघटकयावत्पदार्थानाम्। स्मरणात् एकस्मरणात्। **एकदा** एकस्मिन् काले। **एव** हि। **खलेकपोतन्यायेन** यथा हि खले सर्वे एव कपोता युगपत् पतन्ति तथैव रीतया। **तावत्पदार्थानां** समूहावलम्बनस्मृतिविषयतावत्पदार्थानाम्। **क्रियाकारकभावेन** क्रियापदार्थकारकपदार्थसमूहालम्बनभावेन। विशेष्ये विशेषणमिति **न्यायेनैव**। तत्र धातूपनीतफलानुकूलसजातीयविजातीयव्यापारप्रचयः क्रिया साध्यत्वसाधनत्वैतदन्यतररूपेण प्रतीयमानोऽर्थो वा। सा च फलव्यापारोभयरूपा यथा पचतीत्यादौ पचनादिक्रिया। कारकं तु क्रियाप्रकारीभूतोऽर्थः। **अन्वयरूपः** पदार्थानां संसर्गविषयकः। **शाब्दबोधः**। **भवति**। **इति**। **केचित्** कतिपये। वदन्तीति। उक्तार्थे उदयनाचार्यसम्मतिमाह—**वृद्धा** इति। यथा वृद्धाः युवानः शिशवः अमी कपोताः खले युगपत् पतन्ति, तथैव सर्वे पदार्थाः युगपत् परस्परेण अन्वयिनः भवन्ति इति। **यथा** येन प्रकारेण। **वृद्धाः** गतवयस्काः। **युवानः** तरुणाः। **शिशवः** अर्भकाः। **अमी** एते। **कपोताः** पारावताः। **खले** क्षेत्रखले। **युगपत्** एकवारमेव। **पतन्ति** अवतरन्ति। **तथैव** तेनैव प्रकारेण। **सर्वे** निखिलाः वाक्यघटकीभूताः। **पदार्थाः**। **युगपत्** एककालावच्छेदेनैव। **परस्परेण** अन्योन्येन। **अन्वयिनः** संसर्गविषयवन्तः। **भवन्तीति**। अत्र कपोतपदेन सह वृद्धपदस्य पदद्वयव्यवधानं युवपदस्य शिशुपदव्यवधानं शिशुपदस्याव्यवधानं व्यवधानाव्यवधानयोर्दृष्टान्तः युगपत्पतनमपि युगपत्संस्कारोद्‌बोधने। यथा हि वृद्धयुवशिशुकपोताः एककालावच्छेद्यखलवृत्तिसंयोगजनकक्रियानुकूलयत्नवन्तः तद्वत् व्यवहिताव्यवहितपदोपस्थापिताः पदार्थाः विशेषणविशेष्यभावेन अवान्तरशाब्दबोधोत्पत्तिसमये शाब्दबोधनिरूपितविषयतावन्तो भवन्तीति। तत्र मतान्तरमाह—**परे त्विति**। **परे** इतरे। **तु** इति प्रागुक्तविलक्षणमेव। तथा चेत्यादिना वक्ष्यमाणस्वसिद्धान्तेऽप्रामाणिकत्वशङ्कानिरासा-

यादौ प्रशस्तपादाचार्यसम्मतिमाह—**यद्यदिति**। यत् यत् आकाङ्क्षितं योग्यं सन्निधानं प्रपद्यते, तेन तेन अन्वितः स्वार्थः पदैः एव अवगम्यते इति। **यत् यत्** यदेव। **आकाङ्क्षितम्** अपरिहार्यत्वेनाभीष्टम्। यद्यद् **योग्यं** यत्पदार्थाऽबाधितार्थकत्वरूपयोग्यतायुक्तम्। **यद्यत् सन्निधानं** यत्पदनिरूपितासत्तिः। **प्रतिपद्यते** ज्ञायते। **तेन तेन** तत्पदार्थेन। **अन्वितः** अन्वयविशिष्टः। **स्वार्थः** घटत्वादिरूपोऽर्थः। **पदैः** घटादिपदैः। **एव** हि। प्रथमं खण्डवाक्यार्थतया। **अवगम्यते** ज्ञायते। घटमिति वाक्याद् घटीयं कर्मत्वमित्येवम्। यद्धि स्वार्थाकाङ्क्षितं स्वार्थयोग्यं सन्निधानं स्वार्थोपस्थितिविषयो भवति, तेन कर्मत्वकरणत्वादिना संसर्गविशिष्टो घटत्वादिरूपोऽर्थः घटादिपदैरेव ज्ञायते। एवं प्रथममन्वितः स्वार्थः पदैरनुभाव्यतेऽनन्तरञ्च महावाक्यार्थबोधः। इति। एवं प्रमाणमुपन्यस्य सिद्धान्तमाह—**तथेति**। **तथा** इत्याकारकाचार्यवचनप्रमाणेन। **च** इति चकारेण युक्तिः समुच्चीयते, तेन युक्त्या चेति। **खण्डवाक्यार्थबोधानन्तरं** प्रथमं खण्डवाक्यार्थबोधस्तदनन्तरं यथा घटमानयेत्यत्र स्वं घटादिपदं तस्यार्थो घटादिः, तेनाकाङ्क्षितं तदुपस्थितिजन्यं किं घटीयमिति जिज्ञासाविषयीभूतं योग्यताज्ञानाधीनं कर्मत्वादि यद्यत्सन्निधानं घटरूपार्थविषयकसमूहावलम्बनस्मृतिविषयत्वं ज्ञायते, तेन कर्मत्वादिनाऽन्वितः स्वार्थः घटादिपदैरेवावगम्यते, इति प्रथमं पदैः खण्डवाक्यार्थबोधः अथवा छत्री कुण्डली वासस्वी देवदत्त इत्यादौ सर्वत्र वाक्यश्रवणोत्तरं योजनावाक्यैरासत्त्यादिस्मरणेन छत्रीत्यनेन अधिकरणत्वं छत्रनिष्ठाधेयतानिरूपितं प्रत्येकखण्डबोधानन्तरं किं वा छत्रवदभिन्नदेवदत्तः कुण्डलवदभिन्नदेवदत्तः इत्येतद्विधखण्डबोधानन्तरम्। **तथैव** तेनैव प्रकारेण। **पदार्थस्मृत्या** अवान्तरशाब्दबोधात्मकपदज्ञानजन्यपदार्थज्ञानेन अवान्तरशाब्दबोधात्मकानुभवजन्यतत्समानाकारकस्मरणेन वेति। **महावाक्यार्थबोधः** छत्रवत्कुण्डलवदभिन्नदेवदत्त इति विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिमहावाक्यार्थबोधः, इति न पदनिष्ठाऽव्यवधानात्मकासत्त्यप्रसिद्धिनिबन्धनशाब्दबोधानुपपत्तिरिति। **इति** इत्थम्। **आहुः** नव्या इति। तेन समूहावलम्बनात्मकं पदार्थस्मरणं विनाऽपि निर्वाह इति।

अनुवाद—परन्तु वाक्य के घटक बने सभी पदार्थों के स्मरण से एक ही बार खलेकपोत न्याय से सभी पदार्थों का क्रिया एवं कारक भाव से अन्वयबोध रूप शाब्दबोध होता है, ऐसा कुछ (प्राचीन आचार्य) कहते हैं। कहा जाता है—

जैसे वृद्ध, युवक एवं शिशु—ये कपोत खलिहान में एक ही बार उतरते हैं, उसी तरह ये सभी पदार्थ एक ही काल में परस्पर में अन्वित हो जाते हैं।

दूसरे तो—

जो-जो आकांक्षित एवं योग्य सन्निधान (आसत्ति) जाना जाता है, उन-उन से अन्वित स्वार्थ पदों के द्वारा ही जाना जाता है।

इस प्रकार खण्डवाक्य के अर्थबोध के पश्चात् उसी तरह पदार्थ की स्मृति से महावाक्य का अर्थबोध होता है, ऐसा भी कहते हैं।

एतेन तावद्वर्णाभिव्यङ्ग्यः पदस्फोटोऽपि निरस्तः। तत्तद्वर्णसंस्कारसहितचरमवर्णोपलम्भेन तद्व्यञ्जकेनैवोपपत्तेरिति। इदं तु बोध्यं—यत्र द्वार-

मित्युक्तं तत्र पिधेहीत्यादिपदस्य ज्ञानादेव बोधो न तु पिधानादिरूपार्थज्ञानात्, पदजन्यपदार्थोपस्थितेस्तच्छाब्दबोधे हेतुत्वात्। किञ्च क्रियाकर्मपदानां तेन तेनैव रूपेण सह साकाङ्क्षत्वात्। तेन क्रियापदं विना कथं शाब्दबोधः स्यात्? तथा पुष्पेभ्य इत्यादौ स्पृहयतीत्यादिपदाध्याहारं विना चतुर्थ्यनुपपत्तेः पदाध्याहार आवश्यकः।

आलोकः—वैयाकरणमतं निराकरोति—एतेनेति। एतेन पूर्ववर्णानुभवजनितचरमवर्णानुभवरूपोद्बोधकोद्बोधितचरमवर्णानुभवजनितसंस्कारेणैव क्रमिकवर्णविशिष्टपदस्मरणत्वोपपादितत्वेन। **तावद्वर्णाभिव्यङ्ग्यः** तावद्भिरेकस्मिन् पदे यावन्तो वर्णास्तावद्भिः वर्णैरभिव्यङ्ग्यः प्रकाश्यः वर्णानां वाचकत्वाऽनुपपत्त्या ऊहनीयः। वर्णाः किं प्रत्येकं सम्भूय वा वाचकाः? वर्णानां प्रत्येकं वाचकत्वे एकेनैव वर्णेन बोधादन्येषां निरर्थकत्वं स्यात्। यदि तेषां सम्भूय वाचकत्वं तदा उत्पत्तिपक्षे वर्णानां युगपदुत्पत्त्यभावात्समुदायानुपपत्तेः, अभिव्यक्तिपक्षे क्रमाभिव्यक्तेरनुभवात्समुदायाऽसिद्धेः। तेन वर्णव्यतिरिक्तः चरमवर्णानुभवे सति तावद्वर्णाभिव्यङ्ग्यः स्फोट एव वर्णपदवाक्येषु च वाचको मन्तव्यः। इति व्याख्यातः। **पदस्फोटः** वर्णसङ्घातः पदं स्फुटत्यभिव्यक्तो भवत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः, पदस्य स्फोटः। स्फोटत्वं हि अर्थनिष्ठविषयताप्रयोजकशक्तिमत्त्वं, तेनार्थप्रकाशकत्वं स्फोटत्वमिति। **अपि** अपिपदाद् वाक्यस्फोटादयोऽपि। स्फोटोऽष्टधा। तत्र वर्णपदवाक्यभेदेन स्फोटस्त्रिधा। तत्रापि जातिव्यक्तिभेदेन पुनः षोढा। अखण्डपदस्फोटोऽखण्डवाक्यस्फोटश्चेति सङ्कलनयाऽष्टौ स्फोटाः। **निरस्तः** अन्यथासिद्धतया खण्डितः। स्फोटनिरसने हेतुमाह—**तदिति**। **तत्तद्वर्णसंस्कारसहितचरमवर्णोपलम्भेन** ते ते पूर्वे पूर्वे ये वर्णाः तेषामनुभवजन्या ये संस्काराः तैः सहितो यश्चरमवर्णोऽन्तिमवर्णस्तस्योपलम्भो ज्ञानं तेन। **तद्व्यञ्जकेन** तस्य स्फोटस्य व्यञ्जकेनाभिव्यक्तिहेतुभूतेन। **एव हि**। **उपपत्तेः** पदार्थज्ञाननिर्वाहात्। इति।

वैयाकरणमते हि वर्णानां न वाचकत्वं, प्रत्येकं वाचकत्वे द्वितीयवर्णोच्चारणवैयर्थ्यात् सम्भूयवाचकत्वेऽपि उत्पत्तिपक्षे वर्णानां युगपदुत्पत्त्यभावादुत्पन्नेष्वपि वर्णेषु पूर्वपूर्ववर्णस्य नष्टत्वात् समुदायासम्भवात्, अभिव्यक्तिपक्षे क्रमेणैवाभिव्यक्तेः तस्याश्च क्षणिकत्वात्सर्वथा समुदायासम्भवात्। तेन वर्णव्यतिरिक्तस्तदभिव्यङ्ग्यः स्फोट एव जात्याद्यर्थवाचकः इति। नैयायिकमते तन्न, वर्णसमुदायस्यैव वाचकत्वात्। पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्यो यः संस्कारः तत्सहितो योऽन्त्यवर्णस्यानुभवस्तद्धेतुका या स्मृतिः तदुदारूढा वर्णा एव पदभावं प्राप्ता घटत्वाद्यर्थवाचकाः इत्यभिव्यक्तिपक्षे वर्णसमुदायस्य वाचकत्वे न कश्चिद्दोषः। तेनान्यथासिद्धत्वात् स्फोटकल्पना मोघैवेति। अत्रावधेयं यद् वैयाकरणा हि 'पचति रामः' इत्यादिषु यदर्थवाचकतया लिपिविसर्गादौ च स्फोटं स्वीकुर्वन्ति तदर्थस्य व्याकरणाद्युपपादितेच्छात्मकशक्त्यैव बोधसम्भवेन अन्यथासिद्धस्य बोधप्रयोजकशक्तिमत्तयाऽतिरिक्तस्फोटस्य कल्पनाया अन्याय्यत्वं गौरवञ्च। वैयाकरणा अपि पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितचरमवर्णश्रावणस्य स्फोटव्यञ्जकत्वं स्वीकुर्वन्ति, यदा नैयायिकास्तु तत्तद्वर्णसंस्कारसहितचरमवर्णानुभवरूपेण व्यञ्जकेनैवार्थबोध इत्यामनन्ति।

अर्थाध्याहारवादिमतं दूषयति—**इदमिति**। **इदं** वक्ष्यमाणविषयप्रावधानम्। **तु** हि। **बोध्यं** शाब्दबोधसामग्रीघटकत्वेन विधेयमिति। मीमांसकेषु प्राभाकरा मन्यन्ते यच्छाब्दबोधे न पदजन्यपदार्थोपस्थितिर्हेतुरपितु पदार्थोपस्थितिरेव। अध्याहारो हि अधिकस्यार्थस्य बुद्धौ निवेशनम्। बुद्धौ सन्निहितेन तेन श्रूयमाणः शब्दः स्वार्थमन्वितमभिधत्ते। तस्य तु विशेषावगतौ योग्यत्वं लाघवञ्च कारणमिति। अतो द्वारमित्यादौ न पिधेहीति शब्दाध्याहारः, किन्तु अर्थाध्याहार एवेति। तदेव खण्डयन्नाह—**यत्रेति**। **यत्र** यदा। **द्वारम्**। **इति**। **उक्तम्**। **तत्र** तदा। **पिधेहि**। **इति**। **पदस्य**। **ज्ञानात्** पदाध्याहारात्। **एव** हि। **बोधः** वाक्यार्थबोधः। **न**। **तु** हि। **पिधानादिरूपार्थज्ञानात्** पिधानरूपार्थावबोधनादेव। तत्र हेतुमाह—**पदेति**। **पदजन्यपदार्थोपस्थितेः** पदजन्या पदनिमित्तिका या पदार्थस्य उपस्थितिस्तस्याः वृत्तिज्ञानसहकृततत्तत्पदज्ञानजन्यतत्तत्पदार्थस्मरणस्य न तु पदार्थोपस्थितिमात्रस्य। **तत्तच्छाब्दबोधे** तत्तच्छाब्दज्ञानविषये। **हेतुत्वात्** कारणत्वात्। तथा सति प्रत्यक्षादिनोपस्थापितस्यापि शाब्दबोधापत्तिः स्यादिति। ननु निरुक्तपदार्थज्ञानस्य शाब्दकारणतावच्छेदकत्वे गौरवापत्तेः, केवलपदार्थज्ञानस्यापि तथात्वे तत्सिद्धेः। न च तत्र प्रत्यक्षादिनोपस्थितानां तत्तत्पदार्थानां शाब्दबोधापत्तिः सति तात्पर्ये पदार्थद्वयसंसर्गस्यैव प्रत्यक्षादिनोपस्थितस्यापि पदार्थस्य बोधे बाधकाभावादित्यत आह—**किञ्चेति**। **किञ्च**। **क्रियाकर्मपदानां** क्रियापदानां लोडन्तानयनपदादीनां कर्मपदानां द्वितीयान्तघटपदादीनाम्। **तेन एव पदेन सह** आनयादिक्रियापदेन सह द्वितीयान्तघटपदस्य द्वितीयान्तघटपदेन सह आनयेति क्रियापदस्य। **साकाङ्क्षत्वात्** तादृश्या आकाङ्क्षायाः शाब्दबोधं प्रति हेतुत्वात्। अत्रोच्यते—यदि अर्थज्ञानमात्रमेव शाब्दबोधोपयोगि न तु तादृशानुपूर्वीविशिष्टपदजन्यपदार्थोपस्थितिस्तदा द्वारं कर्मत्वं पिधानं कृतिरिति वाक्यादपि द्वारकर्मकपिधानानुकूलान्वयबोधः स्यादिति न तु तथा दृश्यते। तेन द्वारं पिधेहि इत्यानुपूर्वीरूपाकाङ्क्षाज्ञानस्य हेतुत्वमवश्यं वाच्यं तथा सति तादृशाकाङ्क्षाज्ञानार्थं पिधेहीति पदाध्याहार आवश्यक इति विस्तरः प्रभादौ। **तेन** हेतुना। **क्रियापदम्**। **विना** क्रियापदाभावे। **कथम्**। **शाब्दबोधः**। स्यादिति। **तथा** एवमेव। **पुष्पेभ्यः इत्यादौ** स्पृहयतीत्यादिपदाध्याहारं स्पृहयति इति पदस्य अध्याहारं विना। **चतुर्थ्यनुपपत्तेः** 'स्पृहेरीप्सितः' (पा० सू० १।४।३६) इति स्पृहधातुयोगे एव ईप्सिते चतुर्थीतः स्पृहधातुरूपोपस्थितिं विना तदसम्भवात् पदाध्याहारः पदस्यैवाध्याहारो न त्वर्थमात्रस्य। **आवश्यकः** अपरिहार्यं इति। एवमन्यत्रापि।

अनुवाद—इससे वर्ण का अभिव्यङ्ग्य (माना गया) पदस्फोट भी निरस्त हो गया, क्योंकि उन-उन वर्णों के संस्कारों से युक्त चरम वर्ण के ज्ञान से उसके व्यञ्जक के द्वारा ही अर्थ की उपपत्ति होती है। यह भी जान लेना चाहिए। जहाँ 'द्वारं' कहा गया वहाँ 'पिधेहि' पद के ज्ञान से ही बोध होता है, न कि पिधान आदि रूप अर्थज्ञान से। क्योंकि पदजन्य पदार्थोपस्थिति का ही उसके शाब्दबोध में हेतुत्व होता है। और यह भी कि क्रियापद एवं कर्मपद उन-उन रूपों के साथ ही साकाङ्क्ष होते हैं। इस कारण क्रियापद के बिना शाब्दबोध कैसे होता है ? उसी तरह 'पुष्पेभ्यः' इत्यादि में

'स्पृहयति' इत्यादि पदों के अध्याहार के बिना चतुर्थी की उपपत्ति न होने से पद का ही अध्याहार आवश्यक है न कि अर्थ का।

पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता ॥ ८३ ॥

योग्यतां निर्वक्ति—पदार्थ इत्यादिना। एकपदार्थेऽपरपदार्थसम्बन्धो योग्यतेत्यर्थः। तज्ज्ञानाभावाच्च वह्निना सिञ्चतीत्यादौ न शाब्दबोधः। ननु एतस्या योग्यताया ज्ञानं शाब्दबोधात्प्राक् सर्वत्र न सम्भवति, वाक्यार्थस्यापूर्वत्वादिति चेन्न, तत्तत्पदार्थस्मरणे सति क्वचित्संशयरूपस्य क्वचिन्निश्चयरूपस्य योग्यताज्ञानस्य सम्भवात्। नव्यास्तु योग्यताज्ञानं न शाब्दबोधे कारणं, वह्निना सिञ्चतीत्यादौ सेके वह्निकरणत्वाभावरूपाऽयोग्यतानिश्चयेन प्रतिबन्धान्न शाब्दबोधः। तदभावनिश्चयस्य लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यज्ञानमात्रे प्रतिबन्धकत्वाच्छाब्दबोधं प्रत्यपि प्रतिबन्धकत्वं सिद्धम्। योग्यताज्ञानविलम्बाच्च शाब्दबोधविलम्बोऽसिद्ध इति वदन्ति ॥ ८३ ॥

आलोकः—परममूले शाब्दबोधसहकारिकारणसम्मतां योग्यतां निर्वक्ति—**पदार्थे** इति। **तत्र** पदार्थे तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता इति। **तत्र** शाब्दबोधसहकारिकारणमध्ये। **पदार्थे** पदप्रतिपाद्यार्थे। **तद्वत्ता** पदार्थवत्ता पूर्वपदार्थे परपदार्थवत्ता परपदार्थे पूर्वपदार्थवत्ता। **योग्यता** इति। एकपदार्थानुयोगिकापरपदार्थप्रतियोगिकसम्बन्धो योग्यतेति। यथा पयसा सिञ्चतीत्यादौ सेचनपदार्थे पयःकारणकत्वात्मकार्यवत्ताऽव्यवहितोत्तरत्वेन वर्तत इति योग्यतावत्त्वात् पयःकरणकसेचनानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमानिति बोधो जायते इति भाव इति किरणावल्याम्। मूले कारिकाशयं विवृणोति—**योग्यतामिति**। **योग्यतां निर्वक्ति** योग्यतां निरूपयतीति। **पदार्थे इत्यादिना** पदार्थे तद्वत्ता योग्यता इत्यनेन। तदाशयमाह—**एकेति**। **एकपदार्थे** प्रकृतवाक्यघटकैकपदबोध्यार्थे। **अपरपदार्थसम्बन्धः** प्रकृतवाक्यघटकापरपदार्थस्य प्रयोक्तृतात्पर्यविषयसंसर्गः। **योग्यता इति। अर्थः** आशयः। यथा **गामानयेत्यत्र** द्वितीयान्तगोपदार्थेन गोकर्मत्वेन सह लोडन्तानयनपदार्थस्य निरूपकत्वसंसर्गः योग्यतेति। तज्ज्ञानस्य हेतुत्वानङ्गीकारे बाधकमाह—**तज्ज्ञानेति। तज्ज्ञानाभावात्** तस्याः योग्यतायाः ज्ञानस्य अभावात्। **वह्निना सिञ्चति इत्यादौ। न। शाब्दबोधः।** सेचने वह्निकरणकत्वस्य योग्यताया अभावादिति। योग्यतायाः शाब्दबोधहेतुत्वानङ्गीकारे तु तदतिरिक्तसकलसामग्रीसत्त्वाच्छाब्दबोधः स्यात्। योग्यताज्ञानाभावमाशङ्क्य समाधत्ते—**नन्वित्यादिना। ननु। एतस्याः** तत्तद्वाक्यघटकैकपदार्थीयापरपदार्थनिष्ठतात्पर्यविषयसंसर्गात्मिकायाः। **योग्यतायाः। ज्ञानम्। शाब्दबोधात्। प्राक्** पूर्वक्षणे तत्तच्छाब्दबोधाव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन। **सर्वत्र। न। सम्भवति। वाक्यार्थस्य** वाक्यघटकपदार्थान्वयस्य। **अपूर्वत्वात्** न विद्यते पूर्वं प्राक् यस्य तथात्वात्। पूर्वमनिश्चितत्वेन स्वीकारादिति। शाब्दबोधात्पूर्वं तादृशनिश्चयस्वीकारे तत्तद्वाक्यजन्यशाब्दबोधस्य प्रमाणान्तरेण निर्णीतार्थविषयकत्वात् पृथक्प्रमाणत्वानुपपत्तेः। अनधिगतार्थगन्तृत्वं प्रमाणत्वमिति सिद्धान्तात्। **इति** इत्थम्। **चेत्। न** नैवो-

पयुक्तम्। **तत्तत्पदार्थस्मरणे** वाक्यघटकतत्तत्पदविषयकवृत्तिज्ञानसहकृतपदज्ञानजन्य-तत्तत्पदार्थविषयकस्मरणे जायमाने। **सति**। पदार्थानामन्वयविशेषादर्शनसहकृतपदार्थ-कोटिद्वयोपस्थित्या। **क्वचित्** कुत्रचित्तु, यथा नीलो घटो द्रव्यं पट इत्यादौ। नील-पदार्थघटपदार्थान्वये। **संशयरूपस्य** सन्देहात्मकस्य प्रथमान्तघटपदार्थे प्रथमान्तनील-पदार्थस्यान्वयो न वेति। तद्विपरीतं **क्वचित्** यथा घटमानयेत्यादौ। **निश्चयरूपस्य** लोड-न्तानयनपदार्थे द्वितीयान्तघटपदार्थान्वियस्य निरूपितत्वस्य। **योग्यताज्ञानस्य**.योग्यता-सम्बद्धज्ञानस्य। **सम्भवात्** अवश्यं जायमानत्वात्। अतः संशयनिश्चयसाधारणं योग्यता-ज्ञानं शाब्दबोधे कारणमिति। तत्र मतान्तरमाह—**नव्या** इति। **नव्याः** गङ्गेशोपाध्याय-प्रभृतयः। **तु** तद्विपरीतम्। अस्य वदन्तीत्यनेनान्वयः। **योग्यताज्ञानम्**। **न**। **शाब्द-बोधे**। **कारणं** हेतुः। **वह्निना सिञ्चतीत्यादौ**। **सेके** सेचनकार्ये। **वह्निकरणकत्वाभाव-रूपायोग्यतानिश्चयेन** वह्नेरग्नेः करणकत्वस्य साधकत्वस्य अभावरूपाया अयोग्यतायाः निश्चयेन। **प्रतिबन्धात्** प्रतिबध्यताश्रयत्वात्। **न**। **शाब्दबोधः** शाब्दबोधसम्भव इति। अयोग्यतानिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वे तदभाववत्त्वेन कारणत्ववाच्यं तदपेक्षया तु योग्यता-ज्ञानस्यैव कारणत्वमुचितं लाघवादित्यपेक्षायामाह—**तदभावनिश्चयस्येति**। **तदभाव-निश्चयस्य** तद्धर्मिकतदभावनिश्चयस्य अर्थात् अनाहार्याप्रामाण्यज्ञानास्कन्दिततद्धर्मिक-तदभावनिश्चयस्य। **लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यज्ञानमात्रे** प्रत्यक्षभिन्नं ज्ञानं लौकिकसन्निकर्षाजन्यं पीतः शङ्ख इत्यादिकं दोषविशेषजन्यं लौकिकसन्निकर्षाजन्यञ्च दोषविशेषाजन्यञ्च यज्ज्ञानं तन्मात्रे। **प्रतिबन्धकत्वात्**। वह्निना सिञ्चतीत्यत्र सेकेऽपि वह्निकरणत्वाभावरूपायोग्यतानिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वमिति। **शाब्दबोधं प्रति** अपि। **प्रतिबन्धकत्वं** सिद्धमिति। तत्तद्वाक्यजन्यशाब्दबोधं प्रति अयोग्यतानिश्चयरूपनिरुक्त-बाधनिश्चयस्य ग्राह्याभावावगाहित्वेन प्रतिबन्धकत्वस्य क्लृप्तत्वात्तदभावस्यापि प्रति-बन्धकाभावविधया हेतुत्वं क्लृप्तमिति लाघवं, योग्यताज्ञानहेतुत्वस्याक्लृप्ततया कल्पनीय-त्वेन गौरवमिति प्रभादौ स्पष्टम्। ननु यत्र न बाधनिश्चयो न योग्यताज्ञानं वा तत्र शाब्दबोधापत्तिरित्याह-**योग्यतेति**। **योग्यताज्ञानविलम्बात्** योग्यताया ज्ञाने विलम्बतः। **शाब्दबोधविलम्बः** शाब्दबोधे विलम्बः, यावत्कालं योग्यताज्ञानं नोत्पद्यते तावत्कालं शाब्दबोधोऽपि नोत्पद्यत इति। **असिद्धः** अप्रामाणिक एवेति। यत्र बाधनिश्चयस्तत्र सर्व-थैव शाब्दबोधाभावः, यदि तु बाधनिश्चये भ्रमस्तत्र तावत्कालं शाब्दबोधे विलम्बः। शाब्दबोधे हि न च सर्वथैव योग्यताज्ञानस्य कारणत्वं, न च तदभावस्य सर्वथा प्रति-बन्धकत्वमिति। यत्र न योग्यताज्ञानं न वा अयोग्यताज्ञानं तत्र शाब्दबोधेऽस्माकमिष्टा-पत्तिरेवेति। **इति**। **वदन्ति**। आहुरित्यपि पाठः॥ ८३॥

अनुवाद—उसमें एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का युक्त होना योग्यता कही जाती है॥ ८३॥

योग्यता का निर्वचन करते हैं—**पदार्थ** इत्यादि से। एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध योग्यता है। ऐसा इसका आशय है। योग्यता-ज्ञान के अभाव के कारण ही 'वह्निना सिञ्चति' इत्यादि में शाब्दबोध नहीं होता। ऐसी योग्यता का ज्ञान शाब्दबोध

से पहले सर्वत्र सम्भव नहीं होता, क्योंकि वाक्यार्थ अपूर्व होता है। ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि उन-उन पदार्थों का स्मरण होने पर कहीं संशय रूप और कहीं निश्चय रूप की भी योग्यता का ज्ञान सम्भव होता है।

नवीन आचार्य तो "योग्यता का ज्ञान शाब्दज्ञान में कारण नहीं होता। 'वह्निना सिञ्चति' इत्यादि में सेक में वह्नि के करणत्व का अभाव रूप अयोग्यता के निश्चय होने से प्रतिबन्ध से शाब्दबोध नहीं होता। तदभाव के निश्चय का लौकिक सन्निकर्ष अर्थात् प्रत्यक्ष से अजन्य एवं दोष-विशेष से अजन्य ज्ञान मात्र में प्रतिबन्धक होने से शाब्द-बोध के प्रति भी उसका प्रतिबन्धकत्व सिद्ध होता है। योग्यता-ज्ञान के विलम्ब से भी शाब्दबोध में विलम्ब अप्रामाणिक है"। ऐसा कहते हैं॥ ८३॥

यत्पदेन विना यस्याननुभावकता भवेत्।
आकाङ्क्षा—

आकाङ्क्षां निर्वक्ति—यत्पदेनेति। येन पदेन विना यत्पदस्यान्वयाननुभावकत्वं तेन पदेन सह तस्याकाङ्क्षेत्यर्थः। क्रियापदं विना कारकपदं नान्वयबोधं जनयतीति तेन तस्याकाङ्क्षा। वस्तुतस्तु क्रियाकारकपदानां सन्निधानमासत्त्या चरितार्थम्। परन्तु घटकर्मताबोधं प्रति घटपदोत्तरद्वितीयारूपाकाङ्क्षाज्ञानं कारणम्। तेन घटः कर्मत्वमानयनं कृतिरित्यादौ न शाब्दबोधः। अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामित्यादौ तु पुत्रेण सह राजपदस्य तात्पर्यग्रहसत्त्वात्तेनैव सहान्वयबोधः। पुरुषेण सह तात्पर्यग्रहे तु तेन सहान्वयबोधः स्यादेव।

आलोकः—परममूले आकाङ्क्षां निरूपयति—**यत्पदेनेति**। यत्पदेन विना यस्य अननुभावकता भवेत् (तेन सह तस्य) आकाङ्क्षा इति। **यत्पदेन** येन पदेन घटमित्यत्र घटपदेन अम्पदेन वा घटमानयेत्यत्र घटमिति पदेन आनयेति पदेन वा। **विना**। **यस्य** घटपदस्य अम्पदस्य घटपदस्य आनयेति पदस्य वा। **अननुभावकता** शाब्दबोधात्मकानुभवजनकताऽभावः तात्पर्यविषयशाब्दबोधप्रयोजकत्वाभावः। तेन सह तस्य। **आकाङ्क्षा** तत्पदनिरूपितनियतानुपूर्व्याश्रयत्वं तस्याकाङ्क्षेति। घटमानयेत्यत्र घटपदं विना अम्पदस्यान्वयाननुभावकत्वाद् घटपदविशिष्टत्वमम्पदे आकाङ्क्षा। तथा च घटमानयेत्यत्र घटमिति कारकपदमानयेति क्रियापदं विना नान्वयबोधं जनयतीति तेन तस्याकाङ्क्षेत्यपि। परे तु आकाङ्क्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः। अन्ये तु एकपदार्थज्ञाने तदर्थान्वययोग्याऽपरपदार्थस्य यज्ज्ञानं तद्विषयिणीच्छा आकाङ्क्षेति। कारिकाशयं विवृणोति -**आकाङ्क्षामिति**। **आकाङ्क्षां निर्वक्ति** आकाङ्क्षां निरूपयति। **यत्पदेनेति** यत्पदेन विना यस्याननुभावकतेति। तदाशयमाह—**येनेति**। **येन पदेन विना** यत्पदाभावप्रयुक्तम्। **यत्पदस्य** यस्य पदस्य। **अन्वयाननुभावकत्वम्** अन्वयबोधाजनकत्वम्। **तेन** तादृशेन। **पदेन**। **सह**। **तस्य पदस्य**। **आकाङ्क्षा**। तत्पदसमभिव्याहृततत्पदत्वम्। आकाङ्क्षेति। **इति**। **अर्थः** आशयः। **यथा राज्ञः पुरुषः** इत्यादौ राजपुरुषसमभिव्या-

हृतपुरुषपदत्वमाकाङ्क्षा। यतो हि षष्ठ्यन्तराजपदस्य पुरुषपदाभावप्रयुक्तमन्वयबोधासमर्थत्वम्। घटमित्यत्र घटपदसमभिव्याहृताम्पदत्वमाकाङ्क्षेति। प्रयुक्तत्वं हि कारणाभावात्कार्याभाव इत्याकारकप्रतीतिबोधकः स्वरूपसम्बन्धविशेषः। अननुभावकत्वं तादृशसम्बन्धार्थद्योतकमिति। **क्रियापदं** नयेत्यादितिङन्तपदम्। **विना। कारकपदं** घटमित्यादि कर्मतान्तादिपदम्। **अन्वयबोधं** संसर्गज्ञानम्। **न। जनयति** साधयति। इति हेतोः। तेन क्रियापदेन। **तस्य** कारकपदस्य। **आकाङ्क्षा। वस्तुतः** यथार्थतः। **तु। क्रियाकारकपदानां** तिङन्तपदद्वितीयान्तघटादिपदानाम्। **सन्निधानम्** अव्यवहितोत्तरत्वाऽव्यवहितपूर्वत्वान्यतरवत्त्वम्। **आसत्त्या। चरितार्थं** साधितम्। आसत्त्यभिन्नं सदेव शाब्दबोधं जनयतीति आसत्त्यैव कृतकृत्यं भवतीति न तत्राकाङ्क्षेति। चैत्रः पचति पचति चैत्रः इति वाक्यद्वयादेवान्वयबोधान्नास्त्याकाङ्क्षा क्रियाकारकपदयोरिति। किन्तु प्रकृतिप्रत्यययोरेव। तत्राप्यव्यवधानांशस्यासत्त्या लाभात् प्रत्यये प्रकृत्युत्तरत्वरूपाकाङ्क्षाज्ञानं कारणमिति। **परन्तु** किन्तु। घटमित्यत्र **घटकर्मताबोधं** घटप्रकारककर्मताविशेष्यकघटनिष्ठकर्मत्वमिति बोधम्। **प्रति। घटपदोत्तरद्वितीयारूपाकाङ्क्षाज्ञानम्।** अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन अम्पदे घटपदवत्त्वं घटपदे वाऽव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्धेन अम्पदवत्त्वमेवाकाङ्क्षा तज्ज्ञानं स्मरणम्। **कारणम्। तेन** तत्तद्व्यापकधर्मावच्छिन्नं प्रति तत्तदाकाङ्क्षाज्ञानस्य हेतुत्वेन। **घटःकर्मत्वम् आनयनं कृतिः इत्यादौ। न। शाब्दबोधः।** ननु असमस्तवाक्यघटकसुप्तिङन्तपदानामासत्त्या शाब्दबोधः प्रकृतिप्रत्ययानां त्वाकाङ्क्षयेति नियमे 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इत्यत्र षष्ठ्यन्तराजपदस्य पुरुषेण सहापि आसत्तिसत्त्वात् तात्पर्यसत्त्वात् आकाङ्क्षायास्त्वनपेक्षितत्वात्कथमन्वयबोध इत्यपेक्षायामाह—**अयमिति। अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम् इत्यादौ। राजपदस्य** षष्ठ्यन्तराजपदस्य। **पुत्रेण। सह। तात्पर्यग्रहसत्त्वात्** भेदसंसर्गेण तात्पर्यप्रकारकनिश्चयसत्त्वात्। **तेन** पुत्रपदेन। **एव। सह। अन्वयबोधः।** तद्विपरीतम्। **पुरुषेण। सह। तात्पर्यग्रहे** तात्पर्यप्रकारकनिश्चये। **तु। तेन** पुरुषपदेन। **सह।** अन्वयबोधः। स्यादेवेति।

अनुवाद—जिस पद के बिना जिसकी अनुभावकता न हो वह उसकी आकाङ्क्षा है।

जिस पद के बिना जिस पद के अन्वय का अनुभावकत्व न हो उस पद के साथ उसकी आकाङ्क्षा होती है। इसका यह अर्थ है। क्रियापद के बिना कारक पद अन्वयबोध नहीं जनाता है, इस कारण उस (क्रिया) के साथ उस (कारक) की आकाङ्क्षा होती है।

वास्तव में क्रिया एवं कारक पदों का सन्निधान तो आसत्ति से ही चरितार्थ होता है। किन्तु घटकर्मकताबोध के प्रति घट पद से उत्तरवर्ती द्वितीयारूप आकाङ्क्षा का ज्ञान कारण होता है। इसी कारण घटकर्मत्व आनयत्व कृति इत्यादि में शाब्दबोध नहीं होता (क्योंकि उसमें आकाङ्क्षा नहीं है)। **'अयम् एति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽप-**

सार्यताम्' इत्यादि में तो पुत्र के साथ राजा पद का तात्पर्यग्रह होने पर तो उसका पुत्र पद के साथ ही अन्वय होता है। पुरुष के साथ उसका तात्पर्यग्रह होने पर तो पुरुष के साथ ही अन्वयबोध होगा ही ॥

—वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम् ॥ ८४ ॥

तात्पर्यं निर्वक्ति—वक्तुरिच्छेति। यदि तात्पर्यज्ञानं कारणं न स्यात्तदा सैन्धवमानयेत्यादौ क्वचिदश्वस्य क्वचिल्लवणस्य बोध इति न स्यात्। न च तात्पर्यग्राहकप्रकरणादीनां शाब्दबोधे कारणत्वमस्त्विति वाच्यं, तेषामननुगमात्। तात्पर्यज्ञानजनकत्वेन तेषामनुगमे तु तात्पर्यज्ञानमेव लाघवात्कारणमस्तु। इत्थञ्च वेदस्थलेऽपि तात्पर्यज्ञानार्थमीश्वरः कल्प्यते। न च तत्राध्यापकतात्पर्यज्ञानं कारणमिति वाच्यं, सर्गादावध्यापकाभावात्। न च प्रलय एव नास्ति कुतः सर्गादिरिति वाच्यं, प्रलयस्यागमेषु प्रतिपाद्यत्वात्। इत्थञ्च शुकवाक्येऽपि ईश्वरीयतात्पर्यज्ञानं कारणम्। विसंवादिशुकवाक्ये तु शिक्षयितुरेव तात्पर्यज्ञानं कारणम्। अन्ये तु नानार्थादौ क्वचिदेव तात्पर्यज्ञानं कारणम्। तथा च शुकवाक्ये विनैव तात्पर्यज्ञानं शाब्दबोधः। वेदे त्वनादिमीमांसापरिशोधिततर्कैरर्थावधारणमित्याहुः ॥ ८४ ॥

इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचितायां न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यां शब्दखण्डं समाप्तम्।

आलोकः—परममूले तात्पर्यं निरूपयति– **वक्तुरिति**। वक्तुः इच्छा तु तात्पर्यम् परिकीर्तितम् इति। **वक्तुः** उच्चारयितुः प्रयोक्तुर्वा। **इच्छा** अभिप्रायः आशयः। **तु** हि। **तात्पर्यम्**। **परिकीर्तितं** कथितमिति। न हि तात्पर्यं तत्परस्य भाव इति व्युत्पत्तिमाश्रित्य तदर्थस्मारकमपितु लक्षणया वक्तुरिच्छापरमेव, न तु श्रोतृरिच्छापरमपि लवणाश्वोभयस्मारकत्वस्य सैन्धवपदनिष्ठस्य अभिमतार्थबोधकत्वाभावात्। अथवा तत्परत्वं प्रतिपादकेच्छाविषयत्वम्। यः शब्दो वक्त्रा यदिच्छया प्रयुक्तः स तत्परः। तेन तदर्थप्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं तात्पर्यम्। केचिच्छाब्दबोधं प्रति तात्पर्यज्ञानस्य कारणत्वं न समर्थयन्ति। परे तु नानार्थस्थले एव तस्योपयोगमिच्छन्ति। परे तु घटादिशाब्दस्थलेऽपि घटपदं कुम्भपरं लक्षणयाऽन्यपरं वेति संशयेन घटशाब्दबोधाभावात् सर्वत्र तात्पर्यनिश्चयः शाब्दबोधहेतुरित्याहुः। केचित्तु आकाङ्क्षाघटकतयैव तात्पर्यज्ञानं हेतुर्न तु स्वातन्त्र्येणेति वदन्ति। वस्तुतस्तु नानार्थानुरोधेन शब्दसामान्ये एकपदार्थप्रकारकापरपदार्थविशेष्यकप्रतीतीच्छयोच्चरितत्वरूपतात्पर्यज्ञानस्यैव हेतुत्वमिति बहवः।

मूले कारिकाशयं विवृणोति—**तात्पर्यमिति**। **तात्पर्यं निर्वक्ति** तात्पर्यं निरूपयतीति। **वक्तुरिच्छेति** वक्तुरिच्छा तात्पर्यमिति। कथं तात्पर्यज्ञानं शाब्दबोधे सहकारिकारणमित्यपेक्षायामाह—**यदीति**। **यदि**। **तात्पर्यज्ञानं** वक्त्रभिप्रायज्ञानम्। **कारणं** शाब्दबोधे हेतुः। **न स्यात्**। **तदा**। **सैन्धवमानय इत्यादौ** सैन्धवपदात्। **क्वचित्** यात्रावसरे।

अश्वस्य तुरगस्य । **क्वचित्** भोजनावसरे तु । **लवणस्य । बोधः** ज्ञानम् । **इति** इत्यादि-नियमः । **न । स्यात्** । तथा चोभयबोधोपयिकसामग्र्या अविशिष्टत्वात् सर्वदा लवणाश्वयोरेव बोधः स्यात् । एकसामग्र्या अपरप्रतिबन्धकत्वे तु शाब्दबोध एव विलुप्येतेति शाब्दबोधे तात्पर्यज्ञानस्य हेतुत्वमक्षतमिति । तात्पर्यं तु प्रकरणादिभ्यो गृह्यते, तेन शाब्द-बोधं प्रति तेषामेव साक्षात्कारणत्वमस्तु, किं तात्पर्यज्ञानहेतुकल्पनयेत्यपेक्षायामाह— **न चेति । न । च हि । तात्पर्यग्राहकप्रकरणादीनां** तात्पर्यसंसूचकप्रकरणः संयोगवियोग-साहचर्यादीनाम् । **शाब्दबोधे । कारणत्वं** साक्षादेव हेतुत्वम् । **अस्तु । इति । वाच्यम् । तेषां** प्रकरणादीनां तात्पर्यग्राहकाणाम् । **अननुगमात्** सर्वसाधारणानुगतानतिप्रसक्त-धर्माभावात् । एकरूपेणानुगमाभावादिति । तथा च परस्परजन्यशाब्दबोधे परस्पर-व्यभिचारेण न तेषां हेतुत्वसम्भवस्तात्पर्यस्य तु तदभावाच्च । **तात्पर्यज्ञानजनकत्वेन** तात्पर्यज्ञानसंसूचकत्वेन । **तेषां** प्रकरणादीनाम् । **अनुगमे** शाब्दबोधकारणत्वेन ग्रहणे तु जनकतायाः प्रतिव्यक्तिभिन्नत्वेन गौरवात् । **लाघवात् । तात्पर्यज्ञानम् । एव** । शाब्दबोधं प्रति । **कारणम्** । अस्त्विति । प्रकरणादीनां तात्पर्यज्ञानत्वावच्छिन्नत्वात्मकगुरुधर्मेण कारणत्वापेक्षया तात्पर्यज्ञानत्वेन तात्पर्यज्ञानस्यैव कारणत्वे लाघवमिति तदाशयः । वेदादौ कथं तात्पर्यग्रहणमित्यपेक्षायामाह—**इत्थमिति । इत्थम्** एवम् । **च** एव । **वेदस्थले** वेदवाक्ये । **अपि च । तात्पर्यज्ञानार्थं** तात्पर्यविबोधार्थम् । **ईश्वरः** सर्वार्थदर्शी परमात्मा । **कल्प्यते** अनुमीयते । तदभिप्रायेण तत्र तात्पर्यं गृह्यत इति । तत्राध्यापकादेव तात्पर्य-ग्रहणं स्यादित्यत आह—**न चेति । न । च** हि । **तत्र** वैदिकवाक्ये । **अध्यापकतात्पर्यज्ञानं** गुरुतस्तात्पर्यावबोधः । **कारणं** शाब्दबोधहेतुः । **वाच्यम् । सर्गादौ** सृष्टयव्यवहित-प्राक्काले । **अध्यापकाभावात्** ईश्वरातिरिक्तस्याध्यापकस्याप्यभावात् । स एक आसीत् इत्यादिश्रुतेः । **न । च । प्रलयः । एव नास्ति । कुतः** कथम् । **सर्गादिः** सृष्टिप्राक्कालः । **इति । वाच्यम् । प्रलयस्य** खण्डप्रलयस्य । **आगमेषु** शास्त्रेषु । **प्रतिपादितत्वात्** वर्णित-त्वात् । यथा—'नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमो ज्योतिरभून्न चान्यत्' इत्यादि । 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (वै० ६।१।१) । **इत्थम् । च । शुकवाक्ये** शुकाद्युच्चारित-वाक्ये **अपि** । **च** । शाब्दबोधं प्रति । **ईश्वरीयतात्पर्यज्ञानम्** ईश्वरोक्ततात्पर्यज्ञानम् । **कारणं** हेतुरिति । एतादृशशुकोदीरितवाक्यादितदर्थबोधो भवत्विति तात्पर्यस्येतरेषां वक्तुमशक्यत्वात् । एतच्च संवादिवाक्ये । विसंवादिवाक्ये त्वाह—**विसंवादिशुकवाक्ये** त्विति । **विसंवादिशुकवाक्ये** निष्फलप्रवृत्तिजनकमिथ्योच्चारणे । **तु** तद्विपरीतम् ईश्व-रेच्छाया विसंवादित्वाभावात् । **शिक्षयितुः** अध्यापकस्येति जनस्य । **एव** हि । **तात्पर्यज्ञानं** शाब्दबोधे कारणम् । **वाच्यम्** । तत्र नव्यानां मतमाह—**अन्ये त्विति । अन्ये** गङ्गेशोपाध्यायादयः । **तु** तद्विपरीतम् । **नानार्थादौ** एकाधिकार्थस्थले । **क्वचित्** स्थलविशेषे एव यथा सैन्धवमानयेत्यादौ । **एव** हि । **तात्पर्यज्ञानं** शाब्दबोधं प्रति । **कारणम्** । सैन्धवः प्रमेयः इत्यादौ तु सैन्धवार्थानां प्रमाविषयत्वबोधे ह्यन्यभावान्न तात्पर्यज्ञानं कारणम् । **तथा** च । **शुकवाक्ये । तात्पर्यज्ञानम् । विना । एव । शाब्दबोधः** संवाद्यसंवाद्युभयसाधारणेन । **वेदे** आम्नायवाक्ये । **तु । अनादिमीमांसापरिशोधिततर्कैः**

अनादीनां महर्षीणां या मीमांसा विचारपूर्वकनिर्णयस्तैः परिशोधिताः व्यवस्थापिता ये तर्का अनुमानानि तैः। अर्थावधारणम् अर्थनिश्चय इति। इति इत्थम्। आहुरिति ॥ ८४ ॥

इति श्रीवत्सगोत्रीयषट्कर्मनिरतपरशुरामात्मजविष्णुमायागर्भज-
लोकमणिदाहालप्रणीतायां सिद्धान्तमुक्तावलीसहितकारिकावल्याः
आलोकाख्यटीकायां तृतीयं शब्दखण्डं समाप्तम्।

समाप्ता सप्तमी युक्ता शाब्दबोधनिरूपिका।
आम्नायप्रतिपाद्याय तस्मै सर्वात्मने नमः।
यतः प्रवर्तते विश्वं यत्रैव च विलीयते ॥

अनुवाद—वक्ता की इच्छा तात्पर्य कहलाता है।

तात्पर्य का निरूपण करते हैं—**वक्तुरिच्छेति**। यदि तात्पर्य-ज्ञान शाब्दबोध का कारण न होता तब 'सैन्धवमानय' इत्यादि में कहीं (यात्रा-प्रसङ्ग में) अश्व का और कहीं (भोजन-प्रसङ्ग में) नमक का बोध होता है, ऐसा नियम न होता। न तो तात्पर्य के ग्राहक प्रकरण आदि का शाब्दबोध में कारणत्व हो ऐसा कहना ही उचित है, क्योंकि उनका एक रूप से अनुगम नहीं होता। यदि तात्पर्य-ज्ञान के जनक के रूप में उनका अनुगम माना जाय तो (उनकी अपेक्षा) लाघव के कारण तात्पर्य-ज्ञान ही शाब्दबोध का कारण माना जाय। इस तरह वेद-वाक्यों में भी तात्पर्य ज्ञान के लिए ही ईश्वर की कल्पना की जाती है। न तो उस (वेदवाक्य) में अध्यापक का तात्पर्य ज्ञान ही शाब्दबोध का कारण हो ऐसा कहना उचित है, क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ में (ईश्वर के अतिरिक्त) कोई भी अध्यापक नहीं था। न तो प्रलय (खण्ड प्रलय) ही नहीं है तो सृष्टि का प्रारम्भ कैसे माना जाय ? ऐसा कहना ही ठीक है, क्योंकि शास्त्रों में खण्डप्रलय प्रतिपादित है। इस प्रकार शुक आदि के संवादी वाक्यों में भी ईश्वरीय तात्पर्य-ज्ञान शाब्दबोध का कारण होता है। विसंवादी (निष्फल प्रवृत्ति जनक मिथ्योच्चारण वाले) शुक-वाक्यों में तो शिक्षक का ही तात्पर्यज्ञान शाब्दबोध का कारण होता है।

दूसरे (श्रीगङ्गेशोपाध्याय आदि) तो 'नानार्थक स्थल में तात्पर्य-ज्ञान कहीं-कहीं ही शाब्दबोध का कारण होता है। इसी तरह शुक-वाक्यों में तात्पर्य-ज्ञान के बिना ही शाब्दबोध होता है। वेद में तो अनादि महर्षियों की मीमांसा (विचारपूर्वक निर्णय) से परिशोधित तर्कों से अर्थ का अवधारण होता है' ऐसा कहते हैं ॥ ८४ ॥

स्मृतिप्रक्रिया

विभुर्बुद्ध्यादिगुणवान् बुद्धिस्तु द्विविधा मता।
अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यात्— ॥ ५१ ॥

पूर्वमनुभवस्मरणभेदाद् बुद्धेर्द्वैविध्यमुक्तम्। तत्रानुभवप्रकारा दर्शिताः, स्मरणन्तु सुगमतया न दर्शितम्। तत्र हि पूर्वानुभवः कारणम्। अत्र केचित्— अनुभवत्वेन न कारणत्वं, किन्तु ज्ञानत्वेनैव। अन्यथा स्मरणानन्तरं स्मरणं न स्यात्, समानप्रकारकस्मरणेन पूर्वसंस्कारस्य विनष्टत्वात्। मन्मते तु तेनैव स्मरणेन संस्कारान्तरद्वारा स्मरणान्तरं जन्यत इत्याहुस्तन्न, यत्र समूहावलम्बनोत्तरं घटपटादीनां क्रमेण स्मरणमजनिष्ट, सकलविषयकस्मरणं तु नाभूत्, तत्र फलस्य संस्कारनाशकत्वाभावात्कालस्य रोगस्य चरमफलस्य वा संस्कारनाशकत्वं वाच्यं, तथा च न क्रमिकस्मरणानुपपत्तिः। न च पुनः पुनः स्मरणाद् दृढतरसंस्कारानुपपत्तिरिति वाच्यं, झटित्युद्बोधकसमवधानस्य दार्ढ्यपदार्थत्वात्। न च विनिगमनाविरहादेव ज्ञानत्वेनापि जनकत्वं स्यादिति वाच्यं, विशेषधर्मेण व्यभिचाराज्ञाने सामान्यधर्मेणान्यथासिद्धत्वात्। कथमन्यथा द्रव्यस्य भ्रमिद्वारा द्रव्यत्वेन रूपेण न कारणत्वम्। न चान्तरालीकस्मरणानां संस्कारनाशकत्वसंशयाद् व्यभिचारसंशय इति वाच्यम्, अनन्तसंस्कारतन्नाशकल्पनापेक्षया चरमस्मरणस्यैव लाघवात् संस्कारनाशकत्वकल्पनेन व्यभिचारसंशयाभावात्।

इति स्मृतिनिरूपणम्।

आलोकः— शब्दखण्डं विवृत्याथो सम्प्रति स्मृतिप्रक्रिया।
व्याख्यायतेऽनुसृत्येह पन्थानं पूर्ववर्तिनाम्॥ १॥
प्रकाशस्य प्रकाशेन प्रभायाः प्रभया तथा।
किरणैः किरणावल्याः मयूखस्य च तैरपि॥ २॥
प्रकाशितमिदं साररूपं विवरणं लघु।
छात्राणामुपकाराय प्रीतये विदुषामपि॥ ३॥
प्रकाशो गहनं दुर्गं महारण्यं तथा प्रभा।
मयूखोऽत्यन्तसङ्क्षिप्तः सागरः किरणावली॥ ४॥

मूले परममूले—'विभुर्बुद्ध्यादिगुणवान् बुद्धिस्तु द्विविधा मता। अनुभूतिः स्मृतिश्चैव' (का० ५१) इति यदुक्तं तदनुसृत्य अनुभूतिभेदास्तु सप्रपञ्चं निरूपिताः, स्मृतिस्तु

कथमुपेक्षितेत्यत आह—**पूर्वमिति**। **पूर्वं** पूर्वप्रकरणे एकपञ्चाशत्तमकारिकायाम्। **अनुभवस्मरणभेदात्** अनुभवः अनुभवामीत्यनुगतप्रतीतिसिद्धानुभवत्वजातिमान् स्मरणं संस्कारजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षबुद्धिनिरोधे तदनुसन्धानविषयो वा भावनाऽसाधारणकारणज्ञानं वा तयोर्भेदात्। **बुद्धेः** बुद्धित्वसामान्यवती आत्माश्रयः प्रकाशो बुद्धिस्तस्याः। साङ्ख्यवेदान्तिमते बुद्धेरन्तःकरणस्वरूपत्वं, किन्तु न्यायमते तु तस्या आत्माश्रयत्वं मनोभिन्नान्तःकरणे मानाभावात्। **द्वैविध्यं** द्विप्रकारता। **उक्तं** प्रतिपादितम्। तत्र द्विविधबुद्धिमध्ये। **अनुभवप्रकारा** अनुभवात्मिका बुद्धिः। **वर्णिता** सप्रपञ्चं निरूपिता प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दखण्डेषु। **स्मरणं** स्मृत्यात्मिका या बुद्धिः सा तु। **सुगमतया** शक्यज्ञानतया। **न**। **वर्णितं** न निरूपितं कारिकाभागे इति। तत्रोत्कटजिज्ञासाभावादिति। अनुभवभेदानां तु दुरूहत्वाद् दुरूहे एव जिज्ञासोदयाच्च ते कारिकाभिरेव निरूपिता इति। अवसरसङ्गत्या **वृत्ती** सम्प्रति निरूप्यत इति। प्रतिबन्धकीभूतशिष्यजिज्ञासानिवृत्त्युपलक्षितेऽनन्तरवक्तव्यत्वमवसरः। अनुभूतिः स्मृतिश्चैवेति विषयोपस्थापनक्रमेणानुभवनिरूपणानन्तरं स्मरणमेव निरूपणीयमिति तदारभ्यते। तर्हि का स्मृतिरित्यपेक्षायामुच्यते—**संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिरिति**। तत्र संस्कारमात्रजन्यत्वे सति ज्ञानत्वं स्मृतित्वं स्मरामीत्यनुभवसिद्धो जातिविशेषो वा। तत्र प्रतियोगितासम्बन्धेन ध्वंसं प्रति तादात्म्येन प्रतियोगिनः कारणत्वात् संस्कारजन्ये संस्कारध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानपदम्। घटादिप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिवारणाय संस्कारजन्यमिति। प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिवारणाय मात्रपदं पुरोवर्तिनि पूर्वदृष्टस्याभेदावगाहिज्ञानं प्रत्यभिज्ञासंस्कारेन्द्रियसन्निकर्षोभयजन्या यत्र तत्तांशे संस्कार इदन्त्वांशे इन्द्रियार्थसन्निकर्षो हेतुः। अनुभवेति व्याप्तिवारणाय संस्कारेति पदम्। यदि स्मृतित्वमनुभवभिन्नज्ञानत्वं तदा अनुभवत्वस्य स्मृतिभिन्नज्ञानत्वस्य क्लृप्तत्वात् अन्योन्याश्रयापत्तिः, यदि संस्कारजन्यज्ञानत्वं स्मृतित्वं तदा प्रत्यभिज्ञायातिव्याप्तिः, यदि तद्वारणाय तत्र मात्रपदनिवेशस्तदा संस्कारेतराजन्यसंस्कारजन्यज्ञानत्वं गौरवग्रस्तम्, अतः स्मृतित्वं जातिरेवेति स्मृतित्वं, स्मरामीत्यनुभवसिद्धो जातिविशेष इति। स्मृतित्वस्य जातित्वे प्रमाणं दर्शयितुं स्मृत्यनुभवयोः कार्यकारणभावं निरूपयति—**तत्रेति**। **तत्र** स्मरणे। **हि** इत्यवधारणे। **पूर्वानुभवः** पूर्वश्चासावनुभवः पूर्वकालोत्पन्नोऽनुभवः। **कारणं** हेतुः। तेन स्मृतित्वावच्छिन्नं प्रति स्वसमानविषयकानुभवत्वावच्छिन्नः कारणमिति स्मृत्यनुभवयोः कार्यकारणभावः। संस्कारस्तु द्वारमेव। यथा घट इति स्मृतित्वावच्छिन्नं प्रति घट इति संस्कारद्वारकं घट इत्यनुभवत्वावच्छिन्नं कारणमिति। तत्र मतान्तरमनूद्य दूषयति—**अत्रेति**। स्मृतित्वं प्रति पूर्वानुभवत्वस्य हेतुत्वं यदुक्तं तत्र। **केचित्** नवीनैकदेशवादिनः। अस्य आहुरित्यनेनान्वयः। **अनुभवत्वेन** अनुभवरूपेण। **स्मृतिं** प्रति। **न**। **कारणत्वं** हेतुत्वम्। **किन्तु ज्ञानत्वेन** ज्ञानरूपेण। **एव**। अर्थात् स्मृतित्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणता नानुभवत्वावच्छिन्नाऽपितु ज्ञानत्वावच्छिन्नेत्याशयः। तदस्वीकारे व्यतिरेकव्यभिचारमाह—**अन्यथेति**। **अन्यथा** तदनङ्गीकारे अर्थात् स्मृतित्वावच्छिन्नं प्रति अनुभवत्वावच्छिन्नस्यैव कारणताग्रहे। **स्मरणानन्तरं** स्मरणोत्तरम्। **स्मरणं संस्कारेण पुनः स्मरणं**, तेन पुनः संस्कारद्वारा स्मरणमिति

स्मरणोत्तरमुत्पाद्यमानं स्मरणम् । न । स्यात् उपपद्येत । तथानुपपन्ने हेतुमाह—समानेति । समानप्रकारकस्मरणेन तुल्यप्रकृतिकस्मृत्या । पूर्वसंस्कारस्य प्राक्तनसंस्कारस्य । विनष्टत्वात् विलुप्तत्वात् । न ह्यनुभवत्वेन स्मृतित्वं प्रति हेतुत्वं किन्तु ज्ञानत्वेन । यदि हि अनुभवत्वेनैव तद्धेतुत्वं स्यात्तदा तुल्यप्रकारकस्मरणेन प्राक्तनसंस्कारस्य प्रणष्टत्वात् स्मृत्यनन्तरं पुनः स्मरणं नोपपद्येत, किन्तु तथोत्पद्यते तदानीमनुभवस्य नष्टत्वात् अनुभवत्वावच्छिन्नकारणाऽभावेऽपि स्मृतिरूपकार्यसत्तात्मको व्यतिरेकव्यभिचार, अतो नानुभवत्वेन कारणत्वमिति । मन्मते मम पक्षे स्मृतित्वं प्रति ज्ञानत्वेनैव कारणत्वमिति पक्षे । तु तद्विपरीतम् । तेन प्रथमेन । एव हि । स्मरणेन स्मृत्या । संस्कारान्तरद्वारा ज्ञानत्वस्य व्यापकत्वेन स्मरणेऽपि सत्त्वात् प्रथमसंस्कारेण स्मरणे पूर्वसंस्कारनाशेन सहैव संस्कारान्तरोत्पादनेन तद्द्वारा । स्मरणान्तरम् अन्यदपि स्मरणम् । जन्यते उत्पाद्यत । इति । आहुः ।

अयमाशयः—यदि अनुभवत्वेन रूपेण स्मृतिं प्रति कारणता स्यात्तदा एकवारमनुभूतस्य प्रथमवारस्मरणोत्तरं पुनः स्मरणं न स्याद् यतः अनुभवजन्यसंस्कारा हि समानप्रकारकस्मरणरूपफलोत्पादनानन्तरं भवन्ति नष्टाः, किन्तु दृश्यते एकवारमनुभूतस्यानेकवारस्मरणम् । स्मृतित्वावच्छिन्नं प्रति ज्ञानत्वावच्छिन्नस्य कारणत्वे तु ज्ञानत्वस्यानुभवे इव स्मरणेऽपि सत्त्वात् प्रथमसंस्कारेण स्मरणे पूर्वसंस्कारनाशेऽपि संस्कारान्तरोत्पत्तेः तद्द्वारा पुनः स्मरणं सम्भवति । तेन स्मृतिमात्रं प्रति ज्ञानसामान्यमेव कारणं न त्वनुभवो ज्ञानविशेष इति ।

तन्निषेधति—तन्नेति । तत् स्मृतिमात्रं प्रति ज्ञानसामान्यकारणास्तवादिमतम् । न न समीचीनम् । यत्र यदा । समूहावलम्बनोत्तरं समूहावलम्बनं नानाधर्मावगाहि एकं ज्ञानं, यथा भूतले घटपटफलपत्राणां तदुत्तरं तत्पश्चात् । समूहावलम्बना प्रत्यक्षाद्यात्मकैकानुभवानन्तरम् । घटपटादीनां घटपटफलपत्राणाम् । क्रमेण एकमनु एकं तत्तत्संस्कारैः स्मरणम् । अजनिष्ट समपद्यत । घटस्य पटस्य फलस्य पत्रस्येति । सकलविषयकस्मरणं सकलघटपटफलपत्रविषयकस्मृतिः । एककालवृत्तितया । न । अभूत् समजायत । यत्र द्वयोस्त्रयाणां वा स्मरणमुत्पद्यते, तत्र प्रथमस्य स्मरणं प्रणश्यति, चतुर्थस्मरणकाले द्वितीयस्य स्मरणं विनष्टं भवतीति । एककालवृत्तितया सकलविषयकस्मरणाभाव इति । तत्र तादृशस्थले । फलस्य समानप्रकारकस्मरणरूपफलस्य । प्रत्येकविषयकक्रमिकस्मरणरूपस्येति । संस्कारनाशकस्वाभावात् संस्कारविलोपकत्वालाभात् । कालस्य दीर्घकालस्य । रोगस्य दीर्घरोगस्य । चरमफलस्य चरमफलात्मकस्मरणस्य । वा इति विकल्पे । अत्र कदाचिदिति योज्यं कदाचित्कालस्य कदाचिद्रोगस्य कदाचिच्चरमफलस्य वेति । संस्कारनाशकत्वं संस्कारविलोपकत्वम् । वाच्यं कथनीयम् । न त्वचरमफलस्य संस्कारनाशकत्वमिति । तत्रातथामते उक्तसमूहावलम्बनसंस्कारस्यानाशप्रसङ्गः स्यान्न चेष्टापत्तिस्तस्य जन्यभावत्वेन विनाशित्वनियमात् । कालादेः कालत्वादिना नाशकत्वे संस्कारमात्रस्य क्षणिकत्वापत्तिस्तद्व्यक्तित्वेन तथात्वे कार्यकारणभावानन्त्यगौरवम् । दीर्घरोगस्यापि दीर्घरोगत्वेन संस्कारनाशकत्वे त्वनान्तरीयकसंस्काराणां क्षणिकत्वापत्तिः,

तद्व्यक्तित्वेन नाशकत्वे गौरवं रोगहीनजनसंस्काराणां नित्यत्वापत्तिश्च। तेनोक्तं—चरमफलस्येति। समूहावलम्बनानुभवोत्तरक्रमिकस्मरणे फलस्य नाशकत्वासम्भवाच्चरमपदग्रहणम्। ननु चरमफलस्य नाशकारणतावच्छेदकस्य अननुगतत्वान्न नाशकत्वमिति चेन्न, संस्कारनाशकारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वादिति चरमफले किञ्चिद्धर्मस्य नाशकतावच्छेदकस्य वैजात्यरूपस्य साधनीयत्वात्। तथा च एवमेव। न। क्रमिकस्मरणानुपपत्तिः क्रमिकं यत्स्मरणं तस्य अनुपपत्तिरसिद्धिरिति स्मरणोत्तरसंस्कारोत्तरस्मरणेत्येवं क्रमिकस्मरणं प्रत्यपि संस्कारस्यैकस्यैव चिरस्थायिनः सत्त्वात्तादृशसंस्कारद्वारा अनुभवत्वावच्छिन्नस्य कारणत्वं निराबाधमिति न ज्ञानत्वावच्छिन्नस्य कारणत्वकल्पनस्यावश्यकतेति। आशङ्क्य समाधत्ते—न चेति। न। च हि। पुनः। पुनः। स्मरणात्। दृढतरसंस्कारानुपपत्तिः दृढतरसंस्कारस्य अनुपपत्तिः एकस्मरणादनेकस्मरणानामुत्पत्तौ संस्कारस्य नाशात् न दार्ढ्यसम्भव इति। तथा चैकस्यैव संस्कारस्य नानास्मृतिकारणतास्वीकारेऽनुभवजसंस्कारोत्तरस्मरणेन अदृढसंस्कारान्तरं जन्यते यतो न दृढतरसंस्कारोपपत्तिरिति। वाच्यम्। झटित्युद्बोधकसमवधानस्य झटिति सद्य एवाविलम्बेनेति उद्बोधकस्य समवधानं सम्बन्धस्तस्य। दार्ढ्यपदार्थत्वात् दार्ढ्यपदस्य अर्थत्वात्। पुनः पुनः स्मरणान्न दृढतरसंस्कारोत्पत्तिः किन्तु विद्यमानसंस्कारस्यैव पुनः पुनः स्मरणेन झटित्युद्बोधकसमवधानं जायते, उद्बुद्धाच्च तस्मात् स्मरणान्तरमित्याशयः। पुनराशङ्क्य समाधत्ते—न चेति। न। च अपि। विनिगमनाविरहात् स्मृतिं प्रति ज्ञानत्वावच्छिन्नं कारणमनुभवत्वावच्छिन्नं वेति एकपक्षपातिन्या युक्तेरभावात्। एव हि। ज्ञानत्वेन सामान्यधर्मेण। अपि च। जनकत्वं स्मृतेर्जनकत्वम्। स्यात्। इति। वाच्यं कथनीयम्। क्वचित्स्मरणेन दृढसंस्कारस्तेन स्मरणं ततो दृढतरसंस्कारान्तरमित्यनुभवबलात् स्मृतीनां ज्ञानत्वेन तत्र कारणत्वस्यावश्यकत्वादिति ज्ञानत्वेनापि स्मृतिजनकत्वं वाच्यमिति। विशेषधर्मेण अनुभवत्वेन। व्यभिचाराज्ञाने व्यभिचारज्ञानाभावे सति। सामान्यधर्मेण ज्ञानत्वेन। अन्यथासिद्धत्वात् कारणलक्षणरहितत्वादिति। यदि हि विशेषधर्मेण कार्यकारणभावस्य व्यभिचारो न जायते तदा सामान्यधर्मेण कार्यकारणभावस्य कल्पना अनुचिता। प्रकृते तु अनुभवत्वरूपो विशेषधर्मप्रत्यक्षादिषु चतुर्ष्वेव वर्तते, ज्ञानस्वरूपसामान्यधर्मस्तु स्मृत्यनुभवोभयसाधारणः। कथम्। अन्यथा विशेषधर्मे व्यभिचारं विना सामान्यधर्मेणैव कारणता मन्येत तदा। दण्डस्य। भ्रमिद्वारा भ्रमिः कुलालचक्रं तद्द्वारा। द्रव्यत्वेन। रूपेण। न। कारणत्वं घटं प्रति हेतुत्वमपितु दण्डत्वरूपेणैवेति। यदि हि विशेषधर्मे व्यभिचारं विना सामान्यधर्मेणैव कारणता मन्येत तदा दण्डोऽपि भ्रमिद्वारा द्रव्यत्वधर्मतया घटं प्रति कारणं स्यात्। वस्तुतस्तु दण्डो हि घटं प्रति दण्डरूपविशेषधर्मावच्छिन्नत्वेनैव कारणमिति। दण्डस्य हि द्वौ धर्मौ—दण्डत्वं द्रव्यत्वञ्च। स हि घटं प्रति न द्रव्यत्वेन कारणमपितु दण्डत्वेनैव। एतेनापि कारणता विशेषधर्मत्वेनैव भवति न तु सामान्यधर्मत्वेनेति सिध्यति, पुनराशङ्क्य समाधत्ते—न चेति। न। च हि। आन्तरालिकस्मरणानाम् अन्तरालापातिस्मरणानाम्। संस्कारनाशकत्वसंशयात् संस्कारविलोपकत्वशङ्कया। व्यभिचारसंशयः स्मृतिं प्रति अनुभवत्वेन

हेतुत्वे व्यभिचारसंशयः तथा च न विशेषधर्मेण व्यभिचारज्ञानमिति । इति । वाच्यम् । अनन्तसंस्कारतन्नाशकल्पनापेक्षया अनन्ता असङ्ख्यया ये संस्काराः तेषां नाशाश्च तेषां या कल्पना तदपेक्षया । चरमस्मरणस्य चरमफलस्य । एव हि । लाघवात् लाघवेन । संस्कारनाशकत्वकल्पनेन । व्यभिचारसंशयाभावात् सकृदनुभूतस्थले संस्कारनाशकचरमस्मृतेः तदानीमभावेन संस्कारनाशाभावात् स्मृतिं प्रत्यानुभवत्वेन हेतुत्वेऽपि न व्यभिचारसन्देह इति ।

इति श्रीवत्सगोत्रीयषट्कर्मनिरतपरशुरामात्मजविष्णुमायागर्भज-
लोकमणिदाहालप्रणीतायां मुक्तावलीसहितकारिकावल्याः
आलोकाख्यटीकायां स्मृतिप्रक्रिया समाप्ता ।

स्मरणं भूतये यस्यापवर्गाय च चिन्तनम् ।
कीर्तनं पापनाशाय तस्मै सर्वात्मने नमः ॥

अनुवाद—पहले (पूर्व कारिका में) अनुभव एवं स्मरण के भेद से बुद्धि का द्वैविध्य बतलाया गया । उसमें अनुभव के प्रकार तो बतलाये गये स्मृति तो सुगम होने के कारण नहीं बतलाई गई । (अवसर प्राप्त होने के कारण उसे अब वृत्तिमात्र में बतलाया जाता है ।) उस (स्मृति) में पहले का अनुभव कारण होता है । इसमें कुछ कहते हैं—(स्मृति के प्रति) अनुभव के रूप में कारणत्व नहीं होता, किन्तु ज्ञानत्व के रूप में ही होता है । वैसा न होने पर स्मरण के बाद का स्मरण भी नहीं होगा, क्योंकि समान प्रकार के स्मरण से पहले के संस्कार का विनाश होता है । हमारे मत में तो उसी स्मरण से ही दूसरे संस्कार के द्वारा दूसरा स्मरण उत्पन्न कराया जाता है, ऐसा कहते हैं । यह कथन ठीक नहीं है । जहाँ समूह के अवलम्बन के बाद घट, पट आदि का क्रम से स्मरण हो गया, सभी विषयों का स्मरण तो नहीं हुआ, वहाँ स्मरण-रूप फल के स्मरण का नाशकत्व न होने से काल के रोग का अथवा चरम फल का संस्कारनाशकत्व मानना चाहिए और क्रमिक रूप से स्मरण की अनुपपत्ति भी नहीं होती । न तो पुनः-पुनः स्मरण से दृढतर संस्कार की अनुपपत्ति होगी ही कहना उचित है, क्योंकि झट से उद्बोधक का समवधान ही दाढर्य पद का अर्थ है । न तो विनिगमनाविरह (एकपक्षीय दृढ़ सिद्धान्त के अभाव के कारण) से भी ज्ञान के रूप में भी स्मृति का जनकत्व मानना ही उचित है, क्योंकि विशेष धर्म के द्वारा व्यभिचार ज्ञान के अभाव में सामान्य धर्म से, ऐसा कहना अन्यथासिद्ध होता है । नहीं तो कैसे दण्ड का भ्रमि के द्वारा द्रव्यत्व के रूप में कारणत्व न हो जाय । (वास्तव में तो घट के प्रति दण्ड का दण्डत्व के रूप में ही कारणत्व होता है, न कि द्रव्यत्व के रूप में ।) न तो मध्यवर्ती स्मरणों के संस्कार के नाशक होने के संशय से व्यभिचार का संशय होता है, ऐसा कहना ही उचित है, क्योंकि अनन्त संस्कार एवं उनके नाश की कल्पना की अपेक्षा चरम स्मरण के ही लाघव से संस्कारनाशकत्व की कल्पना से व्यभिचार के संशय का अभाव होता है ।

मनोनिरूपणम्

साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते ।

इदानीं क्रमप्राप्तं मनो निरूपयितुमाह—साक्षात्कार इति । एतेन मनसि प्रमाणं दर्शितम् । तथाहि—सुखसाक्षात्कारः सकरणको जन्यसाक्षात्कारत्वात् चाक्षुषसाक्षात्कारवदित्यनुमानेन मनसः करणत्वसिद्धिः । न चैवं दुःखादिसाक्षात्काराणामपि करणान्तराणि स्युरिति वाच्यं, लाघवादेकस्यैव तादृशसकलसाक्षात्कारकरणतया सिद्धेः । एवं सुखादीनामसमवायिकारणसंयोगाश्रयतया मनसः सिद्धिर्बोद्धव्या ।

आलोकः—अथ परममूले क्रमप्राप्तं नवमं मनो निरूपयति—**साक्षात्कार** इति । सुखादीनां साक्षात्कारे करणं मनः उच्यत इति । सुखादीनां सुखमनुकूलवेदनमादिपदात् दुःखेच्छाद्वेषादयोऽपि तेषाम् । **साक्षात्कारे** प्रत्यक्षे । **करणं** साधनम् । **मनः** मनःसंज्ञकमान्तरमिन्द्रियमिति । तेन सुखादिसाक्षात्कारसाधनत्वे सति इन्द्रियत्वं मनसो लक्षणमित्याशयः । सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मन इति तल्लक्षणम् । तत्र चक्षुरादिवारणाय सुखेति, आत्ममनःसंयोगवारणाय इन्द्रियमिति । मन्यतेऽनेनेति मनः । मानसत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणत्वे सतीन्द्रियत्वं मन इत्यपरे । मीमांसकास्तु आत्मान्यत्वे सति ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाश्रयत्वं मनस्त्वमिति । मनः सद्भावे प्रमाणमनुमानम् । तच्च सुखादिसाक्षात्कारः करणसाध्यः जन्यसाक्षात्कारत्वाच्चाक्षुषसाक्षात्कारवत् इति । 'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्' (वै० सू० ३।२।१) इति 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमि'ति (न्या० सू० १।१।१६)। तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यञ्च । मूले कारिकाशयं विवृणोति विशदयति च—**इदानीमिति । इदानीमिति** आत्मनिरूपणानन्तरम् । **क्रमप्राप्तं** 'क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः । द्रव्याणि' (का० ३) इति विषयनिर्देशानुसारेण आत्मनिरूपणानन्तरं मनस एव निरूपणीयत्वेन प्राप्तावसरत्वात् । **मनः** मनस्तत्त्वम् । **निरूपयितुं** प्रतिपादयितुम् । **आह** कारिकाकार इति । **साक्षात्कार इति** साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मनः इति । **एतेन** मनसः सुखादिसाक्षात्कारकरणत्वकथनेन । **मनसि** मनोद्रव्ये तस्यास्तित्वे **प्रमाणम्** अनुमानम् । **दर्शितं** सूचितं तस्यातीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षानुपपत्तेः । अनुमानं दर्शयति—**तथा हीति । तथा हि** इति निदर्शने । **सुखसाक्षात्कारः** सुखस्यानुकूलसंवेदनीयस्य साक्षात्कारः प्रत्यक्षीकरणमनुभव इति । **पक्षः** । **सकरणः** करणजन्यः । साध्यम् । **जन्यसाक्षात्कारत्वात्** जन्यप्रत्यक्षत्वात् । हेतुः । **चाक्षुषसाक्षात्कारवत्** चक्षुःसन्निकर्षजन्यप्रत्यक्षवत् । दृष्टान्तम् । **इति** इत्थम् । **अनुमानेन** । **मनसः** मानसस्य । **करणत्वसिद्धिः** करणतया मनसः सिद्धिरिति । ईश्वरीयसाक्षात्कारे व्यभिचारवारणाय जन्येति पदम् ।

करणान्तरकल्पनमाशङ्क्य समाधत्ते—नेति। न। च हि। एवं यथा सुखसाक्षात्कारे मनसः करणत्वं तथैव। दुःखादिसाक्षात्काराणां दुःखं प्रतिकूलसंवेदनीयम्, आदिपदादिच्छाद्वेषादीनां साक्षात्काराणाम्। अपि च। करणान्तराणि अन्यान्यपि करणानि। मनसोऽतिरिक्तानि कानिचित् आन्तरिकाणि चिन्ताहङ्कारादीनि। स्युः भवेयुः—यथा दुःखसाक्षात्कारः सकरणकः जन्यसाक्षात्कारत्वाच्चाक्षुषसाक्षात्कारवत् इत्यनुमानैरिति। इति इत्थम्। वाच्यं कथनीयम्। तत्र हेतुमाह—लाघवादिति। लाघवात् कल्पनालाघवात्। एकस्य मनस एकस्य। एव हि। तादृशसकलसाक्षात्कारकरणतया तादृशानां तथाविधानां सकलानां सर्वेषां दुःखेच्छाद्वेषादीनां सुखस्यापि। साक्षात्कारस्य प्रत्यक्षीकरणस्य करणतया करणत्वेन। सिद्धेः लाभात्। एकेनैव तथानिर्वाहात्करणान्तरकल्पनं व्यर्थमिति। तत्रापि चित्तं मनसः अहङ्कारस्तु बुद्धेः पर्याय एव। ननु अतिलाघवात्त्वगिन्द्रियस्य प्राणस्य वाऽस्तु करणत्वमित्यत आह—एवमिति। एवम् इत्थम्। सुखादीनां सुखदुःखेच्छाद्वेषादीनाम्। असमवायिकारणसंयोगाश्रयतया असमवायिकारणं यः संयोगः तस्य आश्रयतया। 'दुःखं सासमवायिकारणकं भावकार्यत्वाद् घटवत्' इत्यनुमानेन दुःखासमवायिकारणसंयोगसिद्धौ दुःखासमवायिकरणसंयोगः किञ्चिदाश्रितः संयोगत्वादित्यनुमानेन। मनसः। सिद्धिः बोद्धव्या ज्ञेया इति।

अनुवाद—सुख आदि के साक्षात्कार में जो करण है, वह मन कहलाता है।

अब क्रमप्राप्त मन के निरूपण के लिए कहते हैं—साक्षात्कार इति। इससे मन के अस्तित्व में (अनुमान) प्रमाण दर्शाया गया। जैसे सुखसाक्षात्कार सकरणक (करण से जन्य) है, जन्यसाक्षात्कारत्व होने से, चाक्षुषसाक्षात्कार जैसे, इस प्रकार के अनुमान से मन-करणत्व की सिद्धि होती है।

न तो 'इस तरह दुःख आदि साक्षात्कार के भी दूसरे करण हों' ऐसा कहना उचित है, क्योंकि लाघव के कारण एक ही उस प्रकार के (आत्मवृत्ति वाले) सभी के साक्षात्कार-करण के रूप में सिद्ध है। इस प्रकार सुख आदि के असमवायिकारण संयोग के आश्रय के रूप में मन की सिद्धि जान लेनी चाहिए।

अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते ॥ ८५ ॥

तत्र मनसोऽणुत्वे प्रमाणमाह—अयौगपद्यादिति। ज्ञानानां चाक्षुषरासनादीनामयौगपद्यमेककालोत्पत्तिर्नास्तीत्यनुभवसिद्धम्। तत्र नानेन्द्रियाणां सत्यपि विषयसन्निधाने यत्सम्बन्धादेकेनेन्द्रियेण ज्ञानमुत्पद्यते, यदसम्बन्धाच्च परैर्ज्ञानं नोत्पद्यते, तन्मनसो विभुत्वे चासन्निधानं न सम्भवतीति न विभु मनः। न च तदानीमदृष्टविशेषोद्बोधकविलम्बादेव तज्ज्ञानविलम्ब इति वाच्यं, तथा सति चक्षुरादीनामप्यकल्पनापत्तेः। न च दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ नानावधानभाजां च कथमेकदा नानेन्द्रियजन्यज्ञानमिति वाच्यं, मनसोऽतिलाघवात् त्वरया नानेन्द्रियसम्बन्धान्नानाज्ञानोत्पत्तेः। उत्पलशतपत्रभेदादिवद्यौगपद्यप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वात्। न च मनसः सङ्कोचविकाशशालित्वादुभयोपपत्तिरस्त्विति

वाच्यं, नानावयवतन्नाशादिकल्पने गौरवाल्लाघवान्निरवयवस्याणुरूपस्यैव मनसः कल्पनादिति सङ्क्षेपः ॥ ८५ ॥

इति मनोनिरूपणम् ।

इति प्रत्ययपदार्थो व्याख्यातः ।

आलोकः—परममूले मनसः स्वरूपं निरूपयति—अयौगपद्यादिति । इह ज्ञानानाम् अयौगपद्यात् तस्य अणुत्वम् इष्यते इति । इह शास्त्रेऽस्मिन् न्यायनये इति । ज्ञानानाम् चाक्षुषरासनादिप्रत्यक्षाणाम् । अयौगपद्यात् एककालोत्पत्तिकत्वाभावात् । तस्य मनसः । अणुत्वम् अणुपरिमाणवत्वं न तु विभुत्वं न च मध्यपरिमाणत्वम् । इष्यते अङ्गीक्रियते इति । चाक्षुषरासनादिज्ञानानामेककालोत्पत्तिकत्वाभावादेव मनसोऽणुत्वं सिध्यतीति कारिकाशयः । अत्रोच्यते केचिद्धि मनसो विभुत्वमिच्छन्ति, परे मध्यपरिमाणत्वमन्ये त्वणुत्वमेव । तत्र मीमांसका हि मनसो विभुत्वमधिवदन्ति । तन्मते मनसो विभुत्वे प्रमाणमनुमानम् । तच्च मनो विभु निस्पर्शद्रव्यत्वादाकाशवदिति । अन्ये तन्न सहन्ते । तदनुसारेण मनसो विभुत्वेऽपि करणधर्मत्वादेव ज्ञानायौगपद्यमुपपद्यते, किञ्च मनो विभु विशेषगुणद्रव्यत्वात् कालवत् ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वादात्मवत् स्पर्शात्यन्ताभाववत्वादाकाशवदित्यादिवैभवसाधकं प्रमाणमिति चेन्न, यदि मनो विभु स्यात्तदा सर्वेन्द्रियसन्निकृष्टात्ततः सर्वेन्द्रियकमेकमेव ज्ञानं स्यात् । कार्यविरोधान्नैवमिति चेन्न, न हि सामग्रीविरोधाविरोधमाकलयति, येन चाक्षुषत्वरासनत्वादिविरोधाय बिभ्येत् चित्ररूपवच्चित्राकारमेव वा स्यात् । भवत्येव दीर्घशष्कुलीभक्षणस्थले इति चेन्न, तत्रापि व्यासङ्गदर्शनात् । तर्हि रूपरसगन्धस्पर्शान् युगपत्प्रत्येमीति कथमनुव्यवसाय इति चेन्न, शीघ्रसञ्चारिमनोजनितेषु पञ्चसु स्मृत्युपनीतज्ञानेषु यौगपद्याभिमानात् । व्यासङ्गोऽपि करणधर्माधीन इति चेन्न, उक्तोत्तरत्वात् । बुभुत्साधीनो व्यासङ्ग इति चेन्न, सर्वबुभुत्सायां सर्वविषयकसर्वोदयप्रसङ्गात् । बुभुत्साया अपि अभिमतार्थग्राहीन्द्रियमनःसम्बन्धमात्रफलकत्वात् । तस्मात् ज्ञानायौगपद्यान्यथानुपपत्त्या सिध्यति अणु मन इत्युपस्करे । वैशेषिकमते हि 'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्' (३।१।१), 'तच्च द्रव्यं नित्यञ्च' (३।१।२), 'प्रयत्नायौगपद्याऽज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम्' (३।१।३) इति । मनसो विभुत्वाङ्गीकारे आत्मनो मनसः संयोगस्य ज्ञानकारणत्वानुपपत्तिः । किञ्च आत्मा विभु यदि मनोऽपि स्यात् तथाविभुद्वयस्य संयोगापत्तिः स्यात् । आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्ष एव ज्ञानस्य भावात् । विभुद्वयस्यापि संयोगस्वीकारे तादृशसंयोगस्य सर्वदा सर्वत्र सत्त्वप्राप्तौ सुषुप्तिरेवानुपपन्ना स्यात् । 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' । (न्या० सू० १।१।१६) तन्निःस्पर्शमणु च ।

मयि सुखमिति सुखप्रत्यक्षस्यासाधारणकारणमपि तस्य प्रत्यक्षकरणत्वेऽपि मनो न प्रत्यक्षमपितु अनुमेयमेव । यथोक्तं—सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः । तच्चाणुपरिमाणं हृदयान्तर्वर्ति । ननु चक्षुरादीन्द्रियसद्भावे किं प्रमाणम् ? उच्यते अनुमानमेव । तथा हि रूपाद्युपलब्धयः करणसाध्याः क्रियात्वाच्छिदिक्रियावत् । इति । एवमेव सुखदुःखो-

पलब्धयश्चक्षुरादिव्यतिरिक्तकरणसाध्या असत्स्वपि चक्षुरादिषु जायमानत्वाद् घटवदिति। सत्यपि आत्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये ज्ञानसुखादीनामभूत्वोत्पत्तिदर्शनात् कारणान्तरमनुमीयते। आर्हतमते तु भौतिका एव परमाणवो वाऽणवो मनांसि। इति। वायुरेव मन इत्यपि केचित्। नव्यास्तु अनुद्भूतविशेषणगुणवदसमवेतभूतमेव मन इति। जातेर्नियतसंस्थानव्यङ्ग्यत्वात् मनसि च संस्थानाभावात् मनस्त्वं न जातिः किन्तु मनस्त्वं चात्मान्यत्वे सति ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाश्रयत्वमित्यपरे। मनोऽतीन्द्रियमिति केचन तच्चेन्द्रियमित्यपरे विशेषतो नैयायिकाः। सर्वार्थोपलब्धो नेन्द्रियाणि प्रभवन्तीति सर्वविषयमन्तःकरणं मन इत्यपि। सुखादिप्रत्यक्षसाधनत्वेनापि मन इन्द्रियमिति। मायावादिनां मते तु मनो नेन्द्रियम्। तन्मते सङ्कल्पविकल्पात्मकवृत्तिमदन्तःकरणं मनः। न्यायमते तु तदाधार आत्मैव। न्यायनये सङ्ख्या अणुपरिमाणं पृथक्त्वं संयोगः विभागः परत्वमपरत्वं वेगश्चेति मनसोऽष्टौ गुणाः। तच्च प्रतिजीवं भिन्नं प्रतिशरीरमेकैकमेव। तदनन्तं प्रत्यात्मनियतत्वादणु नित्यमतीन्द्रियञ्चेति।

कारिकाशयं विवृणोति मूले—**तत्रेति**। तत्र मनोनिरूपणे। **मनसः**। **अणुत्वे** अणुपरिमाणत्वे। **प्रमाणम्** अनुमानम्। **आह**। **अयौगपद्यादिति** ज्ञानानामयौगपद्यात्तस्य अणुत्वमिति। मनोऽणु ज्ञानानामयौगपद्यादिति। तत्र ज्ञानानामिति **चाक्षुषरासनादीनां** नेत्ररसनादिसम्बद्धानाम्। **अयौगपद्यमिति** एककालोत्पत्तिः एककालावच्छेदेनोत्पत्तिः **नास्ति** न भवति। **इति** इत्थम्। **अनुभवसिद्धम्** अनुभवेनापि सिद्धमिति। तदेवाह न्यायसूत्रकारोऽपि—'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति। अनिन्द्रियनिमित्ताः स्मृत्यादयः करणान्तरनिमित्ता भवितुमर्हन्तीति। युगपच्च खलु घ्राणादीनां गन्धादीनाञ्च सन्निकर्षेषु सत्सु युगपज्ज्ञानानि नोत्पद्यन्ते। तेनानुमीयते अस्ति तत्तदिन्द्रियसंयोगि सहकारि निमित्तान्तरमव्यापि यस्यासन्निधेर्नोत्पद्यते ज्ञानं सन्निधेश्चोत्पद्यते इति। मनःसंयोगानपेक्षस्य हीन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानहेतुत्वे युगपदुत्पद्येरन् ज्ञानानीति भाष्यम्' (१।१।१६)। तत्र तादृशस्थले **नानेन्द्रियाणां** तत्तत्पुरुषीयानेकेन्द्रियाणाम्। **विषयसन्निधाने** विषयसन्निकर्षे। **सति** विद्यमाने। **अपि च**। **यत्सम्बन्धात्** यत्संयोगात्। मनस्संयोगादिति। **एकेन** केनचिदेकेन। **इन्द्रियेण** नेत्रादिना। **ज्ञानं** चाक्षुषात्मकं ज्ञानम्। **जन्यते** उत्पाद्यते। **परैः** घ्राणादिभिः। **च** हि। **ज्ञानम्** घ्राणादिज्ञानम्। **न** नैव। **उत्पाद्यते** जन्यते। **तत्** तादृशं ज्ञानानुत्पादकम्। **असन्निधान** **यदसम्बन्धात्** यस्य मनस असम्बन्धादसंयोगात्। असंयोगः। **मनसः**। **विभुत्वे** महापरिमाणत्वे। **च** तु। **न**। **सम्भवति** सम्पाद्यते। **इति** इत्थम्। **मनः**। **न** नैव। **विभु** महापरिमाणमिति। तस्य विभुत्वे तु केनचिदपि सह तस्यासम्बन्ध एव न सम्भवेत्। एकेन सह संयोगकालेऽन्यरेण सह तदसम्भव एव तस्याणुत्वे प्रमाणमित्याशयः। **न**। **च** हि। **तदानीम्** एकेन सह संयोगकाले। **अदृष्टविशेषोद्बोधकावलम्बात्** अदृष्टविशेषो दैवविशेषः तस्यापि कार्यं प्रति सामान्यकारणत्वस्वीकाराद् स एव उद्बोधक उत्प्रेरकस्तस्य अवलम्बः आलम्बनं तस्मात्। **एव** हि। **तज्ज्ञानविलम्बः** अपरेन्द्रियजन्यज्ञानविलम्बः। **इति** इत्थम्। **वाच्यं** कथनीयम्। यथा हि मनसो विभुत्वस्य समर्थका मीमांसका वदन्ति। **तथा** अदृष्टविशेषोद्बोधकावलम्बात्तज्ज्ञान-

विलम्बे । **सति** विद्यमाने । **चक्षुरादीनां** तदा मनःसंयोगवताम् । अपि च । **अकल्पनापत्तेः** ज्ञानजनकत्वकल्पनासम्भवापत्तेरिति । यदि नाम मनसो विभुत्वेऽपि एककालावच्छेदेन एकाधिकेन्द्रियाणां सत्यपि मनःसंयोगेऽदृष्टावलम्बादपरस्य कार्योत्पादकताविलम्ब इत्युच्यते, तदा सर्वेषामेव तथापत्तिः स्यादिति, स्याच्च चक्षुरादीनां व्यर्थत्वमपीति। **न । च हि । दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ** विस्तृतशष्कुलीभक्षणावसरे । **नानावधानभाजां** युगपन्नानाज्ञानोत्पादनशक्तिमतां पुरुषविशेषाणाम् । कवीनामिति । **च** अपि **कथम्** । **एकदा** एककालावच्छेदेन । **अनेकेन्द्रियजन्यम्** एकाधिकेन्द्रियजन्यम् । **ज्ञानम्** । **इति** । **वाच्यम्** । **मनसः** । **अतिलाघवात्** वेगप्रकर्षवत्त्वात् । यथोक्तं—'वेगवत्प्राणपवनसंयोगाच्चलनक्रियोपपत्तिः' इति । **झटिति** अविलम्बेन । **नानेन्द्रियसम्बन्धात्** नानेन्द्रियैः क्रमशश्चक्षुर्घ्राणरसनात्वगादिभिः सह सम्बन्धात् सयौगात् **नानाज्ञानोत्पत्त्या** चाक्षुषादिविविधज्ञानोत्पत्त्या । **उत्पलशतपत्रभेदात्** पुटबद्धानाम् उत्पलशतपत्राणां कमलदलशतानां सूच्यादिना भेदात् । यथा हि पुटबद्धानां कमलपत्रशतानां सूच्यादिना भेदने सूचीप्रवेशः क्रमशः एव जायते, परन्तु वेगवत्तया एककालावच्छेदेन शतपत्रभेदनभ्रान्तिः । **इव** यथा । **यौगपद्यप्रत्ययस्य** एककालिकज्ञानस्य । **भ्रान्तत्वात्** भ्रान्तिविषयत्वात् । न ह्येकदा नानेन्द्रियजन्यत्वं ज्ञानस्य सम्भवति, यथा मीमांसका आहुः—दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ यौगपद्यप्रत्ययस्तु कमलशतपत्रभेदने सत्यपि क्रमे यथा यौगपद्यभ्रान्तिस्तथैव मनसो वेगप्रकर्षवत्त्वात्तथा भ्रान्तिरेवेति । **न** । **च** अपि । **मनसः** । **सङ्कोचविकाशशालित्वात्** पूर्वं बुद्धिस्ततोऽहङ्कारस्ततो मन उत्पद्यते, तच्च सङ्कोचविकासधर्मवत् तेन तत्क्वचिदणु क्वचिन्महत् । तेन तस्य सङ्कोचसमये एकेन्द्रियसम्बन्धादेकमेव ज्ञानं विकाससमये नानेन्द्रियैः सम्बन्धाद्युगपन्नानेन्द्रियजज्ञानानीति तथात्वात् । **उभयोपपत्तिः** उभयथाऽप्युपपत्तिः । **अस्तु** । **इति** । **वाच्यं** कथनीयम् । यथा हि साङ्ख्या वदन्तीति । **नानावयवतन्नाशादिकल्पने** नानावयवानां नानास्वरूपाणां तन्नाशस्य तस्यागस्य च कल्पने यथा विकासे नानावयववत्त्वं तन्नाशे सति नाशप्रतियोगित्वं पुनरुत्पत्तिमत्त्वमित्येवमादिकल्पने । **गौरवात्** । **लाघवात्** लाघवदृष्टया । **निरवयवस्य** अवयवशून्यस्य । **अणुरूपस्य** अणुपरिमाणस्य । **एव** हि । **मनसः** । **कल्पनात्** । **इति** । **सङ्क्षेपः** सारं विस्तरस्त्वन्यत्रेति । **इति** इति प्रकरणसमाप्तौ । **मनोनिरूपणम्** मनस्तत्त्वस्य विवेचनम् ।

इति इत्यम् । **द्रव्यपदार्थः** 'क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः' (का० ३) इति निर्दिष्टा नवैव द्रव्यपदार्थाः । **व्याख्यातः** सप्रपञ्चं निरूपित इति ॥ ८५ ॥

इति श्रीवत्सगोत्रीयषट्कर्मनिरतपरशुरामात्मजविष्णुमायागर्भजलोकमणिदाहालप्रणीतायां सिद्धान्तमुक्तावलीसहितकारिकावल्याः आलोकाख्यटीकायां मनोनिरूपणं समाप्तम्

समाप्तञ्च द्रव्यपदार्थनिरूपणम् ।

नमस्तस्मै विदे येन प्रणीता कारिकावली ।
मुक्तावली च तद्वृत्तिर्विश्वनाथाय धीमते ॥

नमस्तस्मै विदे येन प्रकाशेन प्रकाशिता ।
मुक्तावली सप्रपञ्चं महादेवाय धीमते ॥

अनुवाद—ज्ञानों के एक बार ही उत्पन्न हो न पाने से न्यायशास्त्र में मन अणु-परिमाण वाला माना जाता है। उसमें (मन के निरूपण के प्रसङ्ग में) मन के अणुत्व में प्रमाण (अनुमान प्रमाण) बतलाते हैं—**अयौगपद्यादिति**। ज्ञानों का अर्थात् आँख, रसना आदि से उत्पन्न होने वालों का एक ही बार में न होना अर्थात् एक ही काल में उत्पत्ति नहीं हो पाती, यह अनुभवसिद्ध है। उसमें नाना इन्द्रियों के विषय का सन्निधान होने पर भी जिसके सम्बन्ध से एक ही इन्द्रिय से ज्ञान उत्पादित होता है, जिसके साथ सम्बन्ध न होने से भी दूसरों से ज्ञान का उत्पादन नहीं होता, वह मन के विभु होने पर उस तरह का असन्निधान सम्भव नहीं होता, अतः मन विभु नहीं है (अपितु अणु ही है)। न तो उस समय अदृष्ट-विशेष के उत्प्रेरक के अवलम्बन से ही उनके ज्ञान में विलम्ब मानना ही उचित है, क्योंकि वैसा होने पर चक्षु: आदि का भी ज्ञानोत्पादन की अवकल्पना होगी अर्थात् उनकी व्यर्थता ही होगी। न तो दीर्घशष्कुली-भक्षण आदि में नाना अवधान के भाजकों का कैसे एक वार में अनेक इन्द्रियों से जन्य ज्ञान होता है, ऐसा कहना ही उचित है, क्योंकि मन के अत्यन्त लाघव होने से तुरंत ही अनेक इन्द्रियों के सम्बन्ध से नाना प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति होने पर कमलशतपत्र के भेद में जैसे यौगपद्य के प्रत्यय की भ्रान्ति होती है (वस्तुतः उसमें क्रम होता है)। न तो मन का संकोचशील एवं विकासशील होने के कारण दोनों की उपपत्ति हो, ऐसा ही मानना उचित है, क्योंकि अवयव एवं उनके नाश की कल्पना में गौरव होने से और अवयवरहित अणु-परमाणु मन की ही कल्पना में लाघव होता है। यह संक्षेप में कहा गया (विस्तार तो अन्यत्र देख लेना चाहिए) ॥ ८५ ॥

गुणनिरूपणप्रकरणम्

अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः ।।

द्रव्यं निरूप्य गुणान्निरूपयति—अथेत्यादिना। गुणत्वजातौ किं मानमिति चेत् इदं द्रव्यकर्मभिन्ने सामान्यवति या कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना निरवच्छिन्नकारणताया असम्भवात्। न हि रूपत्वादिकं सत्ता वा तत्रावच्छेदिका न्यूनाधिकदेशवृत्तित्वात्। अतश्चतुर्विंशत्यनुगतं किञ्चिद्वाच्यं, तदेव गुणत्वमिति।

आलोकः—नमः सर्वविदे तस्मै निर्गुणाय गुणात्मने।
व्याख्यायते गुणग्रन्थः प्रसादाद्यस्य सारतः ।। १ ।।

परममूले गुणं विवृणोति—अथेति। अथ द्रव्याश्रिताः निर्गुणाः निष्क्रियाः गुणाः ज्ञेया इति। अथ द्रव्यनिरूपणानन्तरं यथा प्रतिज्ञातं 'क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदेहिनो मनः' (का० ३) तथा द्रव्याणि निरूपितानि नवान्येवेति। ननु नीलं तमश्चलतीति प्रतीतेस्तमसो गुणक्रियावत्त्वेन तस्य द्रव्यत्वसिद्धिः, तन्न निरूपितमिति तस्य स्पर्शरहितत्वे सति रूपवत्त्वेन न पृथिव्यादावन्तर्भावः। उक्तमपि—'तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत्। प्रसिद्धद्रव्यवैधर्म्यान्निवभ्यो भेत्तुमर्हति' ।। इति। तत्कथं तन्न निरूपितमिति चेदुच्यते, तमसो द्रव्यत्वे आलोकसहकृतेनैव चक्षुरिन्द्रियेण तस्य ग्रहणं स्याद् द्रव्यचाक्षुषप्रत्यक्षे ऐन्द्रियकालोकसहकृतचक्षुरिन्द्रियस्य कारणत्वात्। घूकादीनामालोकमन्तरेण कथं चाक्षुषमिति चेन्न, अदृष्टविशेषोपगृहीतघूकादीन्द्रियस्य अनुत्कृष्टलोक एव सहकारीति कल्पनात्, यद्वाऽस्मदीयत्वेन द्रव्यचाक्षुषविशेषणात्। न च पृष्टावच्छेदेनालोकसंयोगसत्त्वेऽग्रावच्छेदेन कुतो न घटादिचाक्षुषमिति वाच्यम्, आलोकसंयोगावच्छिन्नचक्षुःसंयोग एव चाक्षुषनिदानमित्येतदभिप्रायात्। किञ्चातिरिक्ततमःकल्पने तत्प्रागभावादिकल्पने च गौरवात्। तस्मात्प्रौढप्रकाशकतेजःसामान्याभाव एव तमः। (यत्किञ्चित्तेजोऽभाववति तमस्त्वापत्त्या सामान्यपदम्। सुवर्णवति देशेऽन्धकाराभावापत्त्या प्रकाशकपदम्। त्र्यणुकादियत्यन्धकाराभावापत्त्या प्रौढपदम्।) नीलं तमश्चलतीति भ्रम एव। उष्णस्पर्शस्यापलपितुमशक्यत्वात्तमोऽभावो न तेज इति विस्तरोऽन्यत्र। **गुणाः** द्रव्यकर्मान्यत्वे सति सामान्याश्रयत्वं गुणत्वमिति सामान्यवान् समवायिकारणमस्पन्दात्मा वा गुणः ते च रूपरसादयः निरूप्यन्त इति। ते च कीदृशाः ? इत्यपेक्षायामुच्यते—द्रव्याश्रिता निर्गुणा निष्क्रियाश्च। तत्र **द्रव्याश्रिताः** द्रव्यमाश्रिता द्रव्यसमवेता इति। द्रव्यं च द्रव्यत्वजातिमद् गुणवद् समवायिकारणं वा तदाश्रिताः। **निर्गुणाः** गुणानधिकरणानि। निः न सन्ति गुणा यत्रेति व्युत्पत्तिः। **निष्क्रियाः** क्रियानधिकरणाः निः नास्ति क्रिया यत्रेति व्युत्पत्तिः। तेन द्रव्यसमवेतत्वं गुणानधिकरणत्वं

क्रियानधिकरणत्वञ्च गुणत्वमिति रहस्यम् । तत्र द्रव्याश्रितत्वञ्च द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकसत्ताभिन्नजातिमत्त्वं तेन कर्मादौ नातिव्याप्तिः । मूले कारिकाशयं विवृणोति—द्रव्यमिति । अथेति । द्रव्यं क्षित्यादिद्रव्यपदार्थम् । निरूप्य सप्रपञ्चं विविच्य । अनेनावसरसङ्गतिरपि निर्दिष्टा भवति, द्रव्यनिरूपणानन्तरं गुणनिरूपणमवसरप्राप्तमिति । गुणान् रूपादिगुणान् । निरूपयति विवेचयति, गुणानां विशिष्य साधर्म्यवैधर्म्ये वक्तुमादौ गुणसामान्यलक्षणं कथयतीति । अथेत्यादिना । अथ द्रव्याश्रिताः निर्गुणा निष्क्रिया गुणा इति कथनेनेति । द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति समवायेन जातिमत्त्वं गुणत्वमित्यस्य फलितोऽर्थः । तत्र द्रव्यकर्मवारणाय सत्यन्तं सामान्यादिवारणाय जातिमत्त्वमिति प्रागभावे कालिकेन जातिमत्त्वमादाय तत्रातिव्याप्तिवारणाय समवायेनेति । गुणत्वजातिमत्त्वं गुणत्वमिति कथने द्रव्यत्वजाताविव गुणत्वजातौ । किम् । मानं प्रमाणम् । यथा द्रव्यत्वजातौ किं मानं, न हि तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं घृतजतुप्रभृतिषु द्रव्यत्वाग्रहादर्थात् घृतादिषु शास्त्रज्ञानशून्यानां द्रव्यत्वज्ञानाभावेन सकलद्रव्यसाधारणद्रव्यत्वजातिसिद्धिर्न । अनुगताकृतिव्यङ्ग्या हि गोत्वादिजातिर्यथा गवादिषु प्रत्यक्षविषया भवति न तथा नवद्रव्यानुगता काचिदाकृतिरस्ति घृतादिष्वेकैकद्रव्येष्वपि काठिन्यद्रवत्वयोरनियतत्वादिति चेन्न, तत्रानुमानस्य प्रामाण्यात् । समवायेन कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति या तादात्म्येन कारणता साऽवश्यमेव भवति किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना । स एव धर्मो द्रव्यत्वरूपजातिरिति । तथैव गुणत्वजातौ किं मानमुच्यते ? इत्यपेक्षायामाह—इदमिति । इदं मानम् । तच्चानुमानमेवेति । यद्यपि गुणत्वजातौ शक्यते प्रत्यक्षमपि प्रमाणं साधयितुं तथापि जलद्रवत्वादौ पामराणां प्रत्यक्षतो गुणत्वाग्राहात् तदपि मनसि विचार्यावलम्ब्यतेऽनुमानमेवेति । तदपि कथमित्यपेक्षायामाह—द्रव्येत्यादि । द्रव्यकर्मभिन्ने द्रव्यत्वजातिमद् द्रव्यं संयोगभिन्नत्वे सति संयोगासमवायिकारणं कर्म तदुभयभिन्ने । सामान्यवति नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यं तद्वति । या । कारणता हेतुता द्रव्यत्वावच्छिन्नभेदकर्मत्वावच्छिन्नभेदोभयविशिष्टो यो जातिमत्पदार्थस्तन्निष्ठा या कारणता सा तादृशभेदद्वयविशिष्टसामान्यवन्निष्ठकारणतात्वेन धर्मेण पक्षीभूतेति । सा च कारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना किञ्चिद्धर्मनिष्ठावच्छेदकतानिरूपिकेति । निरवच्छिन्नकारणतायाः निरवच्छिन्ना किञ्चिद्धर्मावृत्त्यवच्छेदकता या कारणता तस्याः । असम्भवात् अप्रसिद्धत्वादिति । तेन द्रव्यकर्मभिन्ने सामान्यवति या कारणता सा पक्षः किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नत्वं साध्यं कारणतात्वादिति हेतुः दृष्टान्तश्च या या कारणता सा सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, यथा दण्डनिष्ठा घटकारणता दण्डत्वावच्छिन्नेति । अत्र यः कश्चिद्धर्मः स एव गुणत्वजातिरित्याशयः । रूपत्वादेः सत्ताया वा तादृशावच्छेदकत्वे का हानिरित्यत आह—नेति । न । हि च । रूपत्वादिकं रूपत्वरसत्वादिकम् । वा अथवा । सत्ता सदिति यतो गुणकर्मद्रव्यसु सा सत्तेति परिभाषिता । तत्र गुणनिष्ठकारणतायाम् । अवच्छेदिका निरूपिका । न्यूनाधिकदेशवृत्तित्वात् रूपत्वादेः रसाद्यनुगतधर्मत्वाभावेन न्यूनदेशवृत्तित्वात् किञ्च स्वसमानाधिकरणत्वे सति स्वसमानाधिकरणाऽऽभावप्रतियोगित्वमेव न्यूनदेशवृत्तित्वम् । रूपत्वं न रसाद्यनुगतो धर्मोऽपितु शुक्लाद्यनुगत एव । सत्तायास्तु द्रव्यादावपि वर्तमानेति अधिकदेशवृत्तित्वम् ।

तच्च स्वसमानाधिकरणाऽभावाऽप्रतियोगित्वे सति स्वानधिकरणवृत्तित्वम् । अन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वमेवावच्छेदकत्वम् । तच्च न रूपत्वादौ न वा सत्तायामिति द्वयोरेव न गुणनिष्ठकारणतावच्छेदकत्वमिति । अतः हेतोरस्मादेव । रूपत्वसत्तादिक्लृप्तधर्माणामवच्छेदकत्वासम्भवाद्देव । **चतुर्विंशत्यनुगतं** कारिकोक्तरूपादिशब्दान्तचतुर्विंशतिगुणेष्वनुगतं गुण इति धीजनकम् । **किञ्चित्** किमपि अनन्यूनानतिरिक्तवृत्ति (अवच्छेदकम्) **वाच्यं** कथनीयं यदिति । **तत्** तादृशं किञ्चित् । **एव हि** । **गुणत्वं** गुणत्वपदबोध्यमिति ।

शिरोमणिमते गुणत्वमपि न रूपादिचतुर्विंशतावेका प्रत्यक्षसिद्धा जातिः । अतीन्द्रियेषु प्रत्यक्षायोगात् । तुरगादेरुत्कृष्टगतिमत्त्वे ब्राह्मणादेश्च दोषाद्यभावेऽपि गुणव्यवहाराच्च । एकस्य कार्यतावच्छेदकस्य विरहेऽपि येन केनापि रूपेण कारणत्वाद्यनुगमय्य जातिकल्पने चातिप्रसङ्गो जातिसङ्करप्रसङ्गश्चेति दिक् । गुणपदशक्यतावच्छेदकतयैव गुणत्वजातिसिद्धिरिति वेणीदत्तादयः पदार्थमण्डने ।

अनुवाद—अब गुण बतलाये जाते हैं—गुण वे हैं जो द्रव्य में आश्रित होते हैं, जो गुण के अधिकरण नहीं होते और जो क्रिया के भी अधिकरण नहीं बनते ।

द्रव्य का निरूपण करने के बाद गुणों का निरूपण करते हैं—अथ इत्यादि से । गुणत्व जाति में क्या मान हैं ? ऐसी जिज्ञासा में कहा जाता है कि यह मान अनुमान है । द्रव्य एवं कर्म से भिन्न सामान्यवान् में जो कारणता है वह (पक्ष) किसी धर्म से अवच्छिन्न है (साध्य), क्योंकि किसी धर्म से भी निरवच्छिन्न कारणता अप्रसिद्ध है । (कारणतात्व हेतु है, जैसे दण्डनिष्ठ घटकारणता दण्डत्वावच्छिन्न है, यह दृष्टान्त है) (वह जो धर्म है वही धर्म गुणत्वजाति है ।) न तो रूपत्व आदि अथवा सत्ता उसमें अवच्छेदक होती है, क्योंकि उनमें न्यून एवं अधिक देशवृत्तित्व होता है अर्थात् अन्यून एवं अनतिरिक्त देशवृत्तित्व ही अवच्छेदक बनता है । रूपत्व आदि रसत्व आदि में नहीं होते, अतः ये न्यूनदेश वृत्ति वाले हैं और सत्ता केवल गुणों में ही न होकर द्रव्य कर्म आदि में भी होती है, अतः अतिरिक्त देशवृत्ति वाले हैं । इस कारण (रूप से लेकर शब्द तक के) चौबीसों गुणों में अनुगत धर्मविशेष कुछ तो कहना चाहिए, वही गुणत्व (जाति) है ।

द्रव्याश्रिता इति । यद्यपि द्रव्याश्रितत्वं न लक्षणं कर्मादावतिव्याप्तेस्तथापि द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकसत्ताभिन्नजातिमत्त्वं तदर्थः । भवति हि गुणत्वं द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकं तद्वत्ता च गुणानामिति । द्रव्यत्वं कर्मत्वं वा न द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकं, गगनादौ द्रव्यकर्मणोरभावात्, द्रव्यत्वत्वं सामान्यत्वादिकं वा न जातिरिति तद्व्युदासः । निर्गुणा इति । यद्यपि निर्गुणत्वं कर्मादावपि तथापि सामान्यवत्त्वे सति कर्मान्यत्वे च सति निर्गुणत्वं बोध्यम् । जात्यादीनां न सामान्यवत्त्वं, कर्मणो न कर्मान्यत्वं, द्रव्यस्य न निर्गुणत्वमिति तत्र नातिव्याप्तिः । निष्क्रिया इति स्वरूपकथनं न तु लक्षणं, गगनादावतिव्याप्तेः ।

आलोकः—मूले कारिकागतं द्रव्याश्रितपदं विवृणोति—**द्रव्याश्रिता इति** । **यद्यपि** सामान्यतः । **द्रव्याश्रितत्वं** द्रव्यसमवेतत्वम् । **न** । **गुणस्य लक्षणम्** असाधारणधर्मः । **तथा**

सति । **कर्मादौ** कर्मपदार्थादौ । **अतिव्याप्तेः** अतिगमनात् । कर्मादीनामपि द्रव्याश्रितत्वात् । तथापि तथाभूते सत्यपि यदि गुणस्य लक्षणत्वेन तदङ्गीक्रियत एव तदा । **तदर्थः** तस्य द्रव्याश्रितपदस्यार्थः । **द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकसत्ताभिन्नजातिमत्त्वं** द्रव्यत्वनिरूपिता या गुणनिष्ठा व्यापकता तादृशव्यापकतावच्छेदिका या सत्ताभिन्ना गुणस्वरूपा जातिस्तादृशजातिमत्त्वम् । द्रव्यत्वस्य व्यापकताया अवच्छेदिका या सत्ताभिन्ना जातिस्तद्वत्त्वमिति सरलार्थः । लक्ष्ये लक्षणसत्त्वं प्रतिपादयति—**भवतीति** । **गुणत्वं** गुणभावः । **द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकं** द्रव्यत्वव्यापकत्वं द्रव्यत्वसमानाधिकरणाऽभावाऽप्रतियोगित्वद्रव्ये द्रव्यत्वं गुणः सत्तावत्पदार्थश्च, तेन द्रव्यत्वसमानाधिकरणोऽभावो न गुणस्य सत्तावत्पदार्थस्य वा किन्तु विशेषत्वादिधर्माणामेव तत्प्रतियोगितानवच्छेदकं गुणत्वं, सत्ता च तत्रापि सत्ताभिन्नं तु गुणत्वमेवेति **गुणानां** रूपादीनाम् । **तद्वत्ता** गुणत्ववत्ता । **भवति** । **हि** । द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकपदकृत्यमाह—**द्रव्यत्वमिति** । **द्रव्यत्वम्** । **कर्मत्वम्** । **वा** । **न** । **द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकं** द्रव्यत्वनिरूपिता या व्यापकता तस्या अवच्छेदकं निरूपकं भवतीति । तथाऽभवने हेतुमाह—**गगनादाविति** । **गगनादौ** गगनकालदिगात्मसु । **समवायेन** समवेतत्वेन । **द्रव्यकर्मणोः** द्रव्यस्य कर्मणश्च । **अभावात्** विरहात् । द्रव्यत्वाधिकरणगगनादिद्रव्यवृत्त्यभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वाद् द्रव्यत्वं कर्मत्वञ्च न द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकमिति द्रव्यत्वं कर्मत्वं वाऽऽदाय द्रव्ये कर्मणि वा नातिव्याप्तिरित्यर्थः, इति विस्तरोऽन्यत्र । जातिपदकृत्यमाह—**द्रव्यत्वत्वमिति** । जातिपदकृत्यमाह—द्रव्यत्वत्वमिति । **द्रव्यत्वत्वम्** । सामान्यत्वादिकम् । **वा** । **न** । **जातिः** जातिपदवाच्यम् । **इति** हेतोः । **तद् व्युदासः** तयोः द्रव्यत्वत्वसामान्यत्वयोर्व्युदासो वारणे जातिपदग्रहणेनेति । जातिपदानुपादाने द्रव्यत्वव्यापकं द्रव्यत्वं सत्तात्मकसामान्यञ्च भवतीति व्यापकतावच्छेदकद्रव्यत्वत्वं सत्तात्वात्मकसामान्यत्वञ्च तद्वत्त्वस्य द्रव्यत्वे सत्तात्मकसामान्ये चातिव्याप्तिर्मा भूदिति जातिपदमिति । तयोर्जातित्वाभावाद्वारणमिति । सत्ताजातिमादाय द्रव्यादावतिव्याप्तिवारणाय सत्ताभिन्नेति । कारिकागतं निर्गुणा इति पदं व्याख्याति—**निर्गुणा इति** इति । **यद्यपि** सामान्यतः । **निर्गुणत्वं** गुणाधिकरणत्वाभावः । **कर्मादौ** कर्मणि सामान्ये च । **अपि च** । **अस्ति** सम्भवति । **तथापि** । निर्गुणा इत्यस्याशयः । **सामान्यवत्वे** जात्यधिकरणत्वे । **सति** । **कर्मान्यत्वे** कर्मभिन्नत्वे । **सति** । **निर्गुणत्वं** गुणानधिकरणत्वम् । **बोध्यं** लक्षणे योज्यमिति । तत्र पदकृत्यमाह—**जात्यादीनामिति** । **जात्यादीनां** जातिः सामान्यमादिपदाद् विशेषसमवायाभावास्तेषाम् । **न** । **सामान्यवत्त्वम्** । **कर्मणः** । **न** । **कर्मान्यत्वं** कर्मभिन्नत्वम् । तेन तत्र नातिव्याप्तिः । **द्रव्यस्य** । **न** । **निर्गुणत्वम्** । **इति** हेतोः । **तत्र** द्रव्यकर्मसामान्येषु । **न** । अतिव्याप्तिः । **निष्क्रिया** लक्षणस्येति । कारिकागतं निष्क्रिया इति पदं विवृणोति—**निष्क्रिया इतीति** । **निष्क्रिया** इति क्रियानधिकरणत्वमिति यदुक्तं तद् । **स्वरूपकथनं** वस्तुतो गुणे क्रिया नास्तीति स्फुटप्रतीत्यर्थम् । **न** । **तु** । **लक्षणं गुणस्येति** । लक्षणत्वे दोषमाह—**गगनादाविति** । तथा सति **गगनादौ** गगनकालदिगात्मसु । **अतिव्याप्तेः** । तत्रापि कर्मत्वाभावात् विभौ क्रिया न भवतीति नियमात् । अस्ति चात्र वैशेषिकं सूत्रं '**द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्**' (१।१।१६) । इति ।

अनुवाद—द्रव्याश्रिता इति। यद्यपि द्रव्याश्रितत्व गुण का लक्षण नहीं होता, क्योंकि वैसा लक्षण करने पर कर्म आदि में अतिव्याप्ति होती है (क्योंकि कर्म आदि भी द्रव्याश्रित होते हैं)। तथापि द्रव्यत्वनिरूपित गुणनिष्ठ जो व्यापकता है, उस व्यापकता का अवच्छेदक जो सत्ताभिन्न जाति अर्थात् गुणत्व है, उससे युक्त होना उसका अर्थ है। गुणत्व द्रव्यत्वनिरूपित व्यापकता का अवच्छेदक भी होता है और गुणमें गुणत्ववत्ता भी। द्रव्यत्व अथवा कर्मत्व तो द्रव्यत्वनिरूपित व्यापकता का अवच्छेदक होता भी नहीं, क्योंकि गगन आदि (काल, दिक्, आत्मा) में द्रव्य एवं कर्म का अभाव होता है। द्रव्यत्वत्व एवं सामान्यत्व आदि जाति नहीं है, अतः जातिशब्द से उसका भी वारण होता है।

निर्गुणा इति। यद्यपि निर्गुणत्व कर्म आदि में भी है तथापि सामान्यवत्त्व होने पर कर्मभिन्नत्व होने पर निर्गुणत्व समझ लेना चाहिए। जाति आदि का तो सामान्यवत्त्व नहीं होता, कर्म का कर्मान्यत्व नहीं होता, द्रव्य का निर्गुणत्व नहीं होता, इस कारण उन-उन में अतिव्याप्ति नहीं है।

निष्क्रिया इति। गुणों को क्रिया रहित कहना स्वरूप का कथन मात्र है अर्थात् गुणों में क्रिया न होने की बात स्पष्ट करने के लिए है न कि लक्षण, क्योंकि लक्षण मानने पर गगन आदि में अतिव्याप्ति होती है।

रूपं रसः स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम् ॥ ८६ ॥
द्रवत्वस्नेहवेगाश्च मता मूर्तगुणा अमी।
धर्माधर्मौ भावना च शब्दो बुद्ध्यादयोऽपि च ॥ ८७ ॥
एतेऽमूर्तगुणाः सर्वे विद्वद्भिः परिकीर्तिताः।
सङ्ख्यादयो विभागान्ता उभयेषां गुणा मताः ॥ ८८ ॥

रूपमिति। वेगा इति। वेगेन स्थितिस्थापकोऽप्युपलक्षणीयः। मूर्तगुणा इति। अमूर्तेषु न वर्तन्त इत्यर्थः। लक्षणं तु तावदन्यान्यत्वम्। एवमग्रेऽपि। अमूर्तगुणा इति। मूर्तेषु न वर्तन्त इत्यर्थः। उभयेषामिति। मूर्तामूर्तगुणा इत्यर्थः ॥ ८६-८८ ॥

आलोकः—परममूले तृतीयचतुर्थपञ्चमकारिकासु—'अथ गुणाः रूपं रसो गन्धस्ततः परम्। स्पर्शः सङ्ख्या परिमितिः पृथक्त्वञ्च ततः परम् ॥ संयोगश्च विभागश्च परत्वञ्चापरत्वकम् ॥ बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वकम्। द्रवत्वं स्नेहसंस्कारावदृष्टं शब्द एव च' ॥ (का० ३-५) गुणा उक्ताश्चतुर्विशतिः। वैशेषिकसूत्रे तु 'रूपरसगन्धस्पर्शाः सङ्ख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः' (१।१।६) इति सप्तदशैव गुणा उक्ताः। सूत्रस्थश्चकारो गुरुत्वादीनवशिष्टान् सप्त समुच्चिनोतीति चतुर्विशतिर्गुणा भवन्तीति व्याख्यातारः। अन्यत्र प्रायश्चतुर्विशतिरेव गुणाः प्रतिपादिताः दृश्यन्ते। तेषाञ्च मूर्तामूर्त-

नेकाश्रितैकैकद्रव्यवृत्तिवैशेषिकसामान्यैकेन्द्रियग्राह्यद्वीन्द्रियग्राह्यान्तःकरणग्राह्यकारणगुणपूर्वकारणगुणपूर्वकसंयोगजविभागजबुद्ध्यपेक्षसमानासमानजात्यारम्भकस्वाश्रयसमवेतपरत्रोभयारम्भकप्रभृतयो भेदाः प्रशस्तपादभाष्ये प्रतिपादिताः। तत्र मूर्तगुणानाह—रूपमिति। रूपं रसः स्पर्शगन्धौ परत्वम् अपरत्वं द्रवत्वस्नेहवेगाः च अमी मूर्तगुणाः मता इति। रूपम्। गन्धः। स्पर्शः। गन्धः। परत्वम्। अपरत्वम्। द्रवत्वम्। स्नेहः। वेगः। च। अमी एते नव। मूर्तगुणाः मूर्तानामेव गुणाः मूर्तद्रव्यवृत्तयो गुणा इति। तेषां मूर्तगुणत्वं साधर्म्यं बोध्यम्। वेग इति स्थितिस्थापकस्याप्युपलक्षणम्। कर्मजः संस्कारो वेगो ज्ञानजः संस्कारो भावनेति। धर्माधर्मौ इति। धर्माधर्मौ भावना च शब्दः अपि बुद्ध्यादय च एते सर्वे विद्वद्भिः अमूर्तगुणाः परिकीर्तिता इति। धर्माधर्मौ धर्मश्च अधर्मश्च तौ। भावना संस्कारो ज्ञानजः। शब्दः। बुद्ध्यादयः बुद्धिः आदिपदात् सुखदुःखेच्छाद्वेषयत्नाः। च। एते। सर्वे। दशेति। विद्वद्भिः तज्ज्ञैः। अमूर्तगुणा अमूर्तद्रव्यसम्बद्धगुणाः। सङ्ख्यादय इति सङ्ख्यादयः विभागान्ताः उभयेषां गुणाः मताः इति। सङ्ख्यादयः सङ्ख्या आदिर्येषान्ते सङ्ख्यादयः। विभागान्ताः विभागोऽन्तेऽवसाने येषान्ते तादृशाः सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः इत्येते पञ्च गुणाः। उभयेषां मूर्तामूर्तद्रव्याणाम्। गुणाः। मताः इति। मूले कारिकागतसन्दिग्धपदं व्याख्याति—रूपमिति। कारिकासङ्केताय प्रतीकग्रहणम्। वेगा इति। वेगेन वेगपदेन। स्थितिस्थापकः स्थित्युपपादकः। अपि च। उपलक्षणीयं तेन तदुभयं ग्राह्यमिति। मूर्तगुणा इति। मूर्तगुणा इत्यस्य एते गुणा अमूर्तेषु अमूर्तद्रव्येषु। न। वर्तन्ते। इति इत्यम्। अर्थः आशयः इति। लक्षणम् एतेषां लक्षणम्। तु हि। तावत्। अन्यान्यत्वम् अन्यस्मान्मूर्तेतरगुणादन्यत्वं भिन्नत्वं, तेन तावदन्यान्यत्वं मूर्तगुणत्वमर्थात् तावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्वं मूर्तगुणत्वमिति। समन्वयस्तु यावन्तो रूपादयो मूर्तगुणास्तावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदावच्छिन्नं मूर्तेतरसकलगुणादिस्तत्प्रतियोगिताकभेदवत्त्वं मूर्तगुणेष्विति। एवम् इत्थम्। अग्रे वक्ष्यमाणगुणे। अपि तावदन्यान्यत्वं लक्षणमूह्यमिति। अमूर्तगुणा इति। अमूर्तगुणा इत्यस्य मूर्तेषु मूर्तद्रव्येषु। न वर्तन्त इत्यर्थः इत्याशयः। मूर्तावृत्तिगुणत्वममूर्तिगुणत्वमिति। अमूर्तद्रव्यत्वव्याप्यतावच्छेदकत्वममूर्तगुणत्वमिति। लक्षणं तु तावदन्यान्यत्वमेव। अन्यो मूर्तद्रव्यवृत्तिगुणस्तस्मादन्यत्वं भिन्नत्वमिति। उभयेषामिति। उभयेषामिति मूर्तामूर्तद्रव्याणां तेन मूर्तामूर्तगुणाः मूर्तामूर्तद्रव्यवृत्तिगुणा इति।

तदित्थं गुणा हि मूर्तामूर्तोभयद्रव्यवृत्तित्वेन विभक्ताः यत्र रूपरसगन्धस्पर्शपरत्वापरत्वद्रवत्वस्नेहवेगाः नव मूर्तद्रव्याश्रितगुणाः धर्माधर्मसंस्कारशब्दबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाः दशामूर्तद्रव्यवृत्तिगुणाः सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः पञ्च मूर्तामूर्तोभयद्रव्यवृत्तिगुणा इति। द्रव्येषु हि पृथिव्यप्तेजोवायवो मनश्च मूर्तद्रव्याणि आकाशकालदिगात्मनोऽमूर्तद्रव्याणि। तत्रापि—

'वायोर्नवैकादश तेजसो गुणा जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश।
दिक्कालयोः पञ्च षडेव चाम्बरे महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च॥' इति।

अनुवाद—रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह एवं वेग ये (नौ) मूर्तगुण अर्थात् मूर्तद्रव्य में आश्रित गुण माने गये हैं।

धर्म, अधर्म, भावना (संस्कार), शब्द एवं बुद्धि आदि अर्थात् बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये सभी (दश) विद्वानों के द्वारा अमूर्तगुण अर्थात् अमूर्तद्रव्य में आश्रित गुण माने गये हैं।

सङ्ख्या से लेकर विभाग तक के अर्थात् सङ्ख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग ये (पाँच) दोनों (मूर्त एवं अमूर्त द्रव्यों) के गुण माने गये हैं।

रूपमिति। वेग से स्थितिस्थापक का भी उपलक्षण करना चाहिए। मूर्तगुण का आशय 'अमूर्त द्रव्यों में नहीं रहते हैं' ऐसा है। लक्षण तो तावदन्यान्यत्व अर्थात् उनसे इतर अर्थात् अमूर्त गुणों से अन्य अर्थात् भिन्न होना है। इसी तरह आगे भी जान लेना चाहिए। अमूर्तगुण का आशय 'मूर्तद्रव्यों में नहीं रहते हैं' ऐसा है। 'उभयेषाम्' अर्थात् 'दोनों के' इसका आशय मूर्त एवं अमूर्त गुण ऐसा है॥ ८६-८८॥

संयोगश्च विभागश्च सङ्ख्या द्वित्वादिकास्तथा।
द्विपृथक्त्वादयस्तद्वदेतेऽनेकाश्रिता गुणाः॥ ८९॥
अतः शेषगुणाः सर्वे मता एकैकवृत्तयः।

अनेकाश्रिता इति। संयोगविभागद्वित्वादीनि द्विवृत्तीनि। त्रित्वचतुष्ट्वादिकं त्रिचतुरादिवृत्तीति बोध्यम्॥ ८९॥

अत इति। रूपरसगन्धस्पर्शैकत्वपरिमाणैकपृथक्त्वपरत्वापरत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नगुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारादृष्टशब्दा इत्यर्थः।

आलोकः—प्रकारान्तरेण गुणानां विभागमाह परममूले—**संयोग** इति। संयोगः च विभागः च तथा द्वित्वादिकाः सङ्ख्या तद्वद् द्विपृथक्त्वादयः एते अनेकाश्रिताः गुणाः, अतः सर्वे शेषगुणाः एकैकवृत्तयः मता इति। **संयोगः**। विभागः। चकारः समुच्चयार्थः। **तथा** तेनैव प्रकारेण। **द्वित्वादिकाः** द्वित्वत्रित्वाद्याः। **सङ्ख्याः**। **तद्वत्** तथैव द्वित्वादीव। **द्विपृथक्त्वादयः** द्विपृथक्त्वत्रिपृथक्त्वादयः च। **एते**। **अनेकाश्रिताः** एकाधिकाश्रिताः। **गुणाः** अर्थात् एतेषामनेकाश्रितगुणत्वं साधर्म्यमिति। **अतः** एभ्यः संयोगादिभ्यः। **सर्वे** निखिलाः। **शेषगुणाः** अवशिष्टरूपादिगुणाः। **एकैकवृत्तयः** एकैकस्मिन् पदार्थे वृत्तिरधिष्ठानं येषां ते तादृशाः। बोध्या इति। मूले कारिकांशं विवृणोति—**अनेकाश्रिता इति**। कारिकायाम् अनेकाश्रिता इत्यस्यायमेवाशयो यदनेकपदस्य बहुत्वविशिष्टार्थकतया संयोगादेश्च बहुवृत्तित्वाभावाच्च तत्र कारिकाशयसमायोजनाय **संयोगविभागद्वित्वादीनि** इत्येतानि **द्विवृत्तीनि** पदार्थद्वयवृत्तीनीति बोध्यानीति। **त्रित्वचतुष्ट्वादिकं** त्रित्वचतुष्ट्वादिसङ्ख्या तु। **त्रिचतुरादिवृत्ति** पदार्थत्रयपदार्थचतुष्टयवृत्तितया। **इति**। **बोध्यं** ज्ञेयमिति। **अत इति**। कारिकायाम् अतः शेषगुणा इत्यंशस्य। **रूपेत्यादि** रूपरसगन्धस्पर्श-एकत्वपरिमाण-एकपृथक्त्वपरत्वापरत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेष-

प्रयत्नगुरुत्वद्रवत्वस्नेहादृष्ट(धर्माधर्म)शब्दाः । **इति** इत्यम् । **अर्थः** आशय इति । रूपादीनां हि एकैकवृत्तिगुणत्वं साधर्म्यमिति ।

अनुवाद—संयोग, विभाग, द्वित्व आदि सङ्ख्या एवं इसी तरह द्विपृथक्त्व आदि अनेक द्रव्यों में आश्रित गुण हैं । इनसे अवशिष्ट गुण सब एक-एक द्रव्य में वृत्ति वाले हैं ॥ ८९ ॥

अनेकाश्रित का आशय संयोग, विभाग, द्वित्व आदि दो द्रव्यों में रहने वाले हैं और त्रित्व, चतुष्टव आदि तीन, चार आदि द्रव्यों में वृत्ति वाले हैं । **अत इति** । इनसे शेष का अर्थ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, एकत्वपरिमाण, एकपृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार एवं अदृष्ट (धर्म-अधर्म) शब्द—यह आशय है ॥ ८९ ॥

बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः ॥ ९० ॥
अदृष्टभावनाशब्दा अमी वैशेषिका गुणाः ।

बुद्ध्यादीनीति । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्ना इत्यर्थः । स्पर्शान्ताः रूपरसगन्धस्पर्शा इत्यर्थः । द्रवो द्रवत्वम् । वैशेषिका इति । विशेषा एव वैशेषिकाः । स्वार्थे ठक् । विशेषगुणा इत्यर्थः ।

आलोकः—पुनः प्रकारान्तरेण गुणान् विभजते परममूले—**बुद्ध्यादीति** । बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिकः द्रवः । अदृष्टभावनाशब्दाः अमी वैशेषिकाः गुणा इति । **बुद्ध्यादिषट्कं** बुद्धिप्रभृतिषड्गुणाः बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाः । **स्पर्शान्ताः** स्पर्शः अन्ते येषान्ते तादृशाः रूपरसगन्धस्पर्शाः । **स्नेहः** । **सांसिद्धिकः** अनैमित्तिकः । **द्रवः** द्रवत्वम् । **अदृष्टभावनाशब्दाः** अदृष्टं धर्माधर्मौ भावना संस्कारः शब्दः । **अमी** एते षोडश । **वैशेषिकाः** विशेषा एवेति विनयादित्वात् ठक्, यद्वा विशेषो व्यवच्छेदः प्रयोजनं येषामिति 'प्रयोजनम्' (५।१।१०९) इति ठञि रूपम् । **गुणाः** इति । विशेषगुणत्वं तु कालदिङ्मनोवृत्तितानवच्छेदकजातिमद् गुणत्वमिति विस्तरोऽन्यत्र । एते हि स्वाश्रयमितरस्माद् व्यवच्छिन्दन्तीति ते विशेषाः, तेन ते स्वाश्रयव्यवच्छेदोचितावान्तरसामान्यविशेषवन्तः इति । पृथिवीतेजसोर्हि नैमित्तिकद्रवत्वं सामान्यगुण इति सांसिद्धिकविशेषणं द्रवस्यात्र । रूपं भास्वरत्वादिना रसो मधुरत्वादिना गन्धो गन्धत्वेनैव स्पर्शं उष्णत्वादिना स्नेहः स्नेहत्वेन सांसिद्धिकद्रवत्वं ताद्रूप्येण बुद्ध्यादयो बुद्धित्वादिना स्वाश्रयमितरेभ्यो व्यवच्छिन्दन्ति इति ते विशेषगुणा इति । कारिकागतपदानि विवृणोति मूले—**बुद्ध्यादीति** । बुद्ध्यादीति । **बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाः इति अर्थः** । **स्पर्शान्ता** इत्यस्य **रूपरसगन्धस्पर्शाः इत्यर्थः** । **द्रव** इति द्रवत्वम् । **वैशेषिकाः** इति विशेषा एव वैशेषिका इति विशेषपदाद् **स्वार्थे ठक्** 'विनयादिभ्यष्ठक्' इति विनयाद्याकृतिगणत्वेन । विशेषपदात् विशेषा एवेति विग्रहे स्वार्थे ठकि ठस्येकादेशे 'किति चे'त्यादि पदवृद्धौ रूपम् । अस्य विशेषगुणा इत्यर्थः । न्यायकन्दलीकारास्तु विशेषो व्यवच्छेदस्तस्मै प्रभवन्ति ये गुणास्ते वैशेषिका गुणा इति ॥ ९० ॥

अनुवाद—बुद्धि आदि छह अर्थात् बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, स्पर्श तक के गुण अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक अर्थात् अनैमित्तिक, द्रवत्व, अदृष्ट अर्थात् धर्म-अधर्म, भावना अर्थात् संस्कार एवं शब्द ये सोलह वैशेषिक अर्थात् अपने आश्रय को दूसरे से अलग कर पाने वाले गुण हैं।

बुद्ध्यादि इति। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष एवं प्रयत्न ऐसा अर्थ है। स्पर्श अन्त वाले अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ऐसा अर्थ है—द्रव का अर्थ द्रवत्व है। विशेष ही वैशेषिक है। स्वार्थ में ठक् प्रत्यय। विशेष गुण ऐसा अर्थ है॥ ९०॥

सङ्ख्यादिरपरत्वान्तो द्रवोऽसांसिद्धिकस्तथा॥ ९१॥
गुरुत्ववेगौ सामान्यगुणा एते प्रकीर्तिताः।

सङ्ख्येति। सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वानीत्यर्थः।

आलोकः—गुणानां साधारण्येन साधर्म्यं निरूपयति परममूले—**सङ्ख्यादिरित्यादिना**। सङ्ख्यादिः अपरत्वान्तः तथा असांसिद्धिकः द्रवः गुरुत्ववेगौ एते सामान्यगुणाः प्रकीर्तिता इति। **सङ्ख्यादि** सङ्ख्या आदौ यस्येति। **अपरत्वान्तः** अपरत्वमन्ते यस्येति सङ्ख्यात आरभ्य अपरत्वपर्यन्ताः सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वानि सप्त। **तथा**। **असांसिद्धिकः** नैमित्तकः। **द्रवः** द्रवत्वम्। **गुरुत्ववेगौ** गुरुत्वं वेगश्च। तौ इति। **एते** दश। **सामान्यगुणाः** सामान्यसाधर्म्यं तद्रूपा गुणा इति सामान्यगुणाः स्वाश्रयव्यवच्छेदाप्रभव इति। सामान्याय स्वाश्रयसाधर्म्याय गुणा इति। वेगो हि कर्मजः संस्कारो भावनाभिन्नस्तेनैतेन स्थितिस्थापकस्यापि ग्रहणम्। द्रवत्वस्य सांसिद्धिकासांसिद्धिकभेदेन भेदद्वयग्रहणात्संस्कारस्य च कर्मजः संस्कारो वेगो ज्ञानजः संस्कारो भावनेति भेदद्वयग्रहणादपि गुणानां षड्विंशतिविधत्वं समर्थितमत्र न त्वधिकगुणस्वीकारेण। मूले कारिकागतं सङ्ख्यादिपदं विवृणोति—**सङ्ख्येति**। सङ्ख्यादिरित्यस्य **सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वानि। इति। अर्थः**। तदेवं स्वसमवेतविशेषविशिष्टत्वे सति स्वाश्रयैकजातीयव्यवच्छेदकत्वाद् विशेषगुणा एव विशेषलक्षणगुणरहितत्वादेत एव सामान्यगुणा इति॥ ९१॥

अनुवाद—सङ्ख्या से लेकर अपरत्व तक के अर्थात् सङ्ख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व एवं अपरत्व गुण असांसिद्धिक अर्थात् नैमित्तिक तथा द्रव, गुरुत्व एवं वेग ये सामान्यगुण माने गये हैं।

सङ्ख्येति। सङ्ख्या (आदि) से लेकर अपरत्व तक का आशय है—सङ्ख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व एवं अपरत्व॥ ९१॥

सङ्ख्यादिरपरत्वान्तो द्रवत्वं स्नेह एव च॥ ९२॥
एते तु द्वीन्द्रियग्राह्याः अथ स्पर्शान्तशब्दकाः।
बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्या गुरुत्वादृष्टभावनाः॥ ९३॥
अतीन्द्रिया—

द्वीन्द्रियेति । चक्षुषा त्वचाऽपि ग्रहणयोग्यत्वात् । बाह्येति । रूपादीनां चक्षुरादिग्राह्यत्वात् । अतीन्द्रिया इति । लौकिकप्रत्यक्षाविषयजातिमन्त इत्यर्थः ॥ ९२-९३ ॥

आलोकः—प्रकारान्तरेण पुनर्गुणान् विभजते परममूले—**सङ्ख्यादिरित्यादिभि-स्तिसृभिः कारिकाभिः** । सङ्ख्यादिः अपरत्वान्तः द्रवत्वं स्नेहः एव च एते तु द्वीन्द्रिय-ग्राह्याः अथ स्पर्शान्तशब्दकाः बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्याः गुरुत्वादृष्टभावनाः अतीन्द्रियाः इति । **सङ्ख्यादिः** सङ्ख्या आदौ यस्येति सङ्ख्यापूर्वकः । **अपरत्वान्तः** अपरत्वचरमः सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वानि इति । **द्रवत्वम्** । **स्नेहः एव** । **च** । एते नव गुणाः । **तु** । **द्वीन्द्रियग्राह्याः** द्वाभ्यां चक्षुषा त्वचाऽपि च ग्राह्याः । **अथ** इति एतदतिरिक्तं **स्पर्शान्तशब्दकाः** स्पर्शान्ताः रूपरसगन्धस्पर्शाः च शब्दश्च ते । **बाह्यैकै-केन्द्रियग्राह्याः** बाह्यानि प्रत्यक्षयोग्यानि यानि एकैकेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि तैर्ग्राह्याः । यथा रूपं चक्षुर्ग्राह्यमित्यादि । **गुरुत्वादृष्टभावनाः** गुरुत्वम् अदृष्टं धर्माधर्मौ भावना ज्ञानजसंस्कारश्च ते एते चत्वारः । **अतीन्द्रियाः** अनिन्द्रियविषयाः लौकिकप्रत्यक्षाविषय-जातिमन्त इति । मूले कारिकागतकठिनपदं विवृणोति—**द्वीन्द्रियेति** । द्वीन्द्रियग्राह्य-त्वञ्च तेषां **चक्षुषा** । **त्वचा अपि** । **ग्रहणयोग्यत्वात्** । चक्षुषस्त्वचश्च विषयत्वादिति । **बाह्येति** । तेषां बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वं **रूपादीनां** रूपस्य रसस्य गन्धस्य स्पर्शस्य शब्दस्य च । **चक्षुरादिग्राह्यत्वात्** चक्षुषा रूपस्य, रसनया रसस्य, घ्राणेन गन्धस्य, त्वचा स्पर्शस्य कर्णेन शब्दस्य च ग्राह्यत्वादिति । **अतीन्द्रिया इति** । अतीन्द्रियाः इन्द्रियाण्यतीत्य वर्तन्त इत्यतीन्द्रियाः । न केनापीन्द्रियेण ग्राह्या इति । बुद्धिसुखदुःखेच्छाप्रयत्ना अन्तः-करणग्राह्या इति भाष्ये ॥ ९२-९३ ॥

अनुवाद—सङ्ख्या से लेकर अपरत्व तक अर्थात् सङ्ख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग, विभाग, परत्व तथा अपरत्व एवं द्रवत्व स्नेह ये गुण दो इन्द्रियों से ग्राह्य हैं। और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द बाह्य एक-एक इन्द्रिय से ग्राह्य हैं। गुरुत्व, धर्म, अधर्म एवं भावना ये अतीन्द्रिय हैं। 'दो इन्द्रियों से' का आशय चक्षु एवं त्वक् से ग्रहण योग्य हैं। बाह्येन्द्रियों से ग्राह्य का आशय रूप आदि का चक्षु आदि से ग्राह्य होने से हैं। अतीन्द्रिय का अर्थ—लौकिक प्रत्यक्ष के अविषय जाति वाले हैं, ऐसा है ॥९२-९३॥

—विभूनां तु ये स्युर्वैशेषिका गुणाः ।
अकारणगुणोत्पन्ना एते तु परिकीर्तिताः ॥ ९४ ॥

विभूनामिति । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दा इत्यर्थः । अकारणेति । कारणगुणेन कार्ये ये गुणा उत्पद्यन्ते ते कारणगुणपूर्वका रूपा-दयो वक्ष्यन्ते । बुद्ध्यादयस्तु न तादृशा, आत्मादेः कारणाभावात् ॥ ९४ ॥

आलोकः—अकारणगुणोत्पन्नगुणानाह परममूले—**विभूनामिति** । विभूनां तु ये वैशेषिकाः गुणाः स्युः ते एते तु अकारणगुणोत्पन्नाः परिकीर्तिता इति । **विभूनां** विभु-

द्रव्याणां गगनात्मनाम् । तु हि । ये । **वैशेषिकाः** विशेषाः । **गुणाः** बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दाः । **एते** षट् । तु हि । **अकारणगुणोत्पन्नाः** न कारणगुणैः समवायिकारणसमवेतगुणैरुत्पन्नाः स्वाश्रयस्य यत्समवायिकारणं तस्य ये गुणाः कारणगुणाः न कारणगुणाः अकारणगुणास्तेभ्य उत्पन्ना इति । आकाशात्मनोः समवायिकारणाभावात् । तु हि । **परिकीर्तिताः** कथिता इति । कारिकाशयं विवृणोति—**विभूनामिति** । विभूनां ये वैशेषिका गुणा इत्यस्य **बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दाः** । **इत्यर्थः** इत्याशयः । **अकारणेति** अकारणगुणोत्पन्ना इत्यस्य अयमेवाशयो यद्धि **कारणगुणेन** समवायिकारणनिष्ठगुणेन । **कार्ये** घटादौ । **ये** । **गुणाः** । **उत्पद्यन्ते** जन्यन्ते । **ते कारणगुणपूर्वकाः** स्वाश्रयस्य यत्समवायिकारणं तस्य ये गुणास्तत्पूर्वका इति । **रूपादयः** रूपरसप्रभृतयः । **वक्ष्यन्ते** निर्दिश्यन्ते । **बुद्ध्यादयः** बुद्धिसुखप्रभृतयः । **तु** तद्विपरीतमेव । **न** । **तादृशाः** तथाप्राकृतिका अर्थात् न कारणगुणपूर्वकाः । **आत्मादेः** तदाश्रयभूतात्मगगनयोः । **कारणाभावात्** समवायिकारणविरहात् । यथा हि पटस्य तन्तुः समवायिकारणं न तथा किमपि गगनात्मनोरिति ॥ ९४ ॥

अनुवाद—विभुओं (गगन, आत्मा) के जो वैशेषिक गुण (विशेष गुण—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना तथा शब्द) हैं, वे अकारणगुणोत्पन्न अर्थात् कारणनिष्ठ गुणों से उत्पन्न न होने वाले कहे गये हैं ॥ ९४ ॥

विभूनामिति । विभुओं (विशेष गुणों) का बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना तथा शब्द ऐसा अर्थ है । **अकारणेति** । कारण में विद्यमान गुणों से कार्य में जो गुण उत्पादित होते हैं, ये कारणगुणपूर्वक रूप आदि गुण बतलाये जायेंगे । बुद्धि आदि तो उनके विपरीत वैसे नहीं हैं, क्योंकि उनके आश्रय आत्मा, गगन आदि का कोई भी समवायी कारण नहीं होता ॥ ९४ ॥

अपाकजास्तु स्पर्शान्ताः द्रवत्वञ्च तथाविधम् ।
स्नेहवेगगुरुत्वैकपृथक्त्वपरिमाणकम् ॥ ९५ ॥
स्थितिस्थापक इत्येते स्युः कारणगुणोद्भवाः ।

अपाकजास्त्विति । पाकजरूपादीनां कारणगुणपूर्वकत्वाभावात् अपाकजा इत्युक्तम् । तथाविधमपाकजम् । तथैकत्वमपि बोध्यम् ।

आलोकः—कारणगुणोत्पन्नगुणानाह परममूले—**अपाकजा** इति । अपाकजाः स्पर्शान्ताः तु तथाविधं द्रवत्वं च स्नेहवेगगुरुत्वैकपृथक्त्वपरिमाणं स्थितिस्थापक इति एते कारणगुणोद्भवाः स्युः इति । **अपाकजाः** पाको विलक्षणतेजस्संयोगस्तस्माज्जाताः पाकजाः, न पाकजा अपाकजाः, विजातीयतेजःसंयोगाजन्याः पार्थिवपरमाणुरूपादिव्यतिरिक्ताः । **तु** हि । **स्पर्शान्ताः** रूपरसगन्धस्पर्शाः । **तथाविधं** तादृशमपाकजम् । **द्रवत्वं** सांसिद्धिकद्रवत्वम् । **च** चकाराद् एकत्वमपि भाष्ये तथापाठात् । **स्नेहेति** । **स्नेहः वेगः** कर्मजसंस्कारः गुरुत्वम् एकपृथक्त्वं परिमाणञ्च स्थितिस्थापकः ।

इति। एते। **कारणगुणोद्भवाः** स्वाश्रयसमवायिकारणनिष्ठगुणजन्याः। स्युरिति। यथोक्तं प्रशस्तपादभाष्ये—'अपाकजरूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणैकत्वैकपृथक्त्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहवेगाः कारणगुणपूर्वकाः। मूले कारिकांशं विवृणोति—**अपाकजास्त्विति**। **पाकजरूपादीनां** विलक्षणतेजःसंयोगजन्यरूपरसादीनाम्। **कारणगुणपूर्वकत्वाभावात्** स्वाश्रयसमवायिकारणजन्यत्वविरहात्। **अपाकजाः** पाकोद्भवभिन्नाः। **इति** इत्यम्। **उक्तं** कथितम्। **तथाविधम्** तथाविधमिति अपाकजं पाकोद्भवभिन्नं सांसिद्धिकं न तु नैमित्तिकम्। **तथा** चकारात् **एकत्वम्**। **अपि**। **बोध्यं** ज्ञेयमिति ॥ ९५ ॥

अनुवाद—पाक अर्थात् विलक्षण तेजस्संयोग से अनुत्पन्न, अपाकज स्पर्शान्त अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, अपाकज, द्रवत्व एवं एकत्व, स्नेह, वेग, गुरुत्व, एकपृथक्त्व, परिमाण तथा स्थितिस्थापक ये गुण कारणगुणोत्पन्न माने जाते हैं।

अपाकजास्त्विति। पाकज रूप आदि का कारणगुणपूर्वकत्व का अभाव होने से अपाकज ऐसा कहा गया। तथाविध का अर्थ अपाकज है। इसी प्रकार एकत्व भी जान लेना चाहिए॥ ९५ ॥

संयोगश्च विभागश्च वेगश्चैते तु कर्मजाः ॥ ९६ ॥

कर्मजा इति। यद्यपि कर्मजत्वं न साधर्म्यं घटादावतिव्याप्तेः, संयोगजसंयोगेऽव्याप्तेश्च। तथापि कर्मजवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वं बोध्यम्। एवमन्यत्राऽप्यूह्यम् ॥ ९६ ॥

आलोकः—कर्मजगुणानाह परममूले—**संयोग इति**। संयोगः च विभागः च वेगः च एते तु कर्मजा इति। **संयोगः**। **विभागः**। **वेगः च**। **एते** गुणाः। **तु** हि। **कर्मजाः** कर्मासमवायिकारणोत्पन्ना इति। मूले आशङ्क्य समाधत्ते—**संयोगश्चेति**। **कर्मजन्यत्वमिति**। **यद्यपि** सामान्यतः। **कर्मजन्यत्वं** कर्मणः कर्मासमवायिकारणाज्जन्यत्वमुद्भवत्वम्। **न**। **साधर्म्यं** समानधर्मता। **घटादौ** तथा सति घटपदादौ तेषामपि कर्मजन्यत्वात्। **अतिव्याप्तेः**। **संयोगजसंयोगे** संयोगजसंयोगस्य कर्मजन्यत्वाभावात्तत्र अवयवादिसंयोगजन्येऽवयविसंयोगे एवं विभागजविभागे वेगजवेगे च। **अव्याप्तेः**। **तथापि**। **कर्मजवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमत्वं** कर्मजवृत्ति यद् गुणत्वं तद्व्याप्या या जातिस्तद्वत्त्वम्। कर्मजन्ये संयोगे विभागे वेगे च वर्तमाना या गुणत्वव्याप्या संयोगत्वं विभागत्वं वेगत्वं जातिस्तद्वत्वस्य तत्र समन्वयादिति। **एवम्** इत्थमेव। **अन्यत्र** उत्तरसाधर्म्येऽपि। **ऊह्यं** जातिघटितसाधर्म्यं विचारणीयमिति। भाष्ये तु बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दमूलपरिमाणोत्तरसंयोगनैमित्तिकद्रवत्वपरत्वापरत्वापाकजाः संयोगजा इति ॥९६॥

अनुवाद—संयोग और वियोग वेग ये तो कर्मज गुण हैं।

संयोगश्चेति। यद्यपि कर्मजन्यत्व साधर्म्य नहीं है, क्योंकि वैसा मानने पर घट आदि के भी कर्मज होने से उनमें अतिव्याप्ति होती है और संयोग से उत्पन्न संयोग (विभाग से उत्पन्न विभाग, वेग से उत्पन्न वेग) में अव्याप्ति होती है। क्योंकि वे कर्मज

नहीं है, फिर भी उस कर्मजन्य वृत्ति में जो व्याप्य जाति है, उससे युक्त होना ही साधर्म्य मानना चाहिए। इस प्रकार अन्यत्र (उत्तर के साधर्म्य में) भी जान लेना चाहिए ॥ ९६ ॥

स्पर्शान्तपरिमाणैकपृथक्त्वं स्नेहशब्दके ।
भवेदसमवायित्वं—

स्पर्शान्तेति। एकपृथक्त्वमित्यत्र त्वप्रत्ययस्य प्रत्येकमन्वयादेकत्वं पृथक्त्वञ्च ग्राह्यम्। पृथक्त्वपदेन चैकपृथक्त्वम्। भवेदसमवायित्वमिति। घटादिरूपरसगन्धस्पर्शाः कपालादिरूपरसगन्धस्पर्शेभ्यो भवन्ति। एवं कपालादिपरिमाणादीनां घटादिपरिमाणाद्यसमवायिकारणत्वम्। शब्दस्यापि द्वितीयशब्दं प्रति। एवं स्थितिस्थापकैकपृथक्त्वयोरपि ज्ञेयम्।

आलोकः—असमवायिकारणगुणानाह परममूले—**स्पर्शान्तेति**। स्पर्शान्तपरिमाणैकपृथक्त्वस्नेहशब्दके असमवायित्वं भवेत्। **इति। स्पर्शान्तेति** स्पर्शान्ताः रूपरसगन्धस्पर्शाः परिमाणम् एकत्वम् एकपृथक्त्वं स्नेहः शब्दश्च तत्र। **असमवायित्वम्** असमवायिकारणत्वं साधर्म्यमिति। **भवेत्** इति। भाष्ये तूक्तं—रूपरसगन्धानुष्णस्पर्शशब्दपरिमाणैकत्वैकपृथक्त्वस्नेहाः समानजात्यारम्भकाः। सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चासमानजात्यारम्भकाः। संयोगविभागसङ्ख्यागुरुत्वद्रवत्वोष्णस्पर्शज्ञानधर्माधर्मसंस्काराः समानासमानजात्यारम्भकाः। बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषभावनाशब्दाः स्वाश्रयसमवेतारम्भकाः। रूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणस्नेहप्रयत्नाः परत्रारम्भकाः। संयोगविभागसङ्ख्यैकपृथक्त्वगुरुत्वद्रवत्ववेगधर्माधर्मास्तूभयत्रारम्भकाः। गुरुत्वद्रवत्ववेगप्रयत्नधर्माधर्मसंयोगविशेषाः क्रियाहेतवः। रूपरसगन्धानुष्णस्पर्शसङ्ख्यापरिमाणैकपृथक्त्वस्नेहशब्दानामसमवायिकारणत्वम्। कारिकाशयमाह मूले—**स्पर्शान्तेति। एकपृथक्त्वम्। इति**। अत्र। त्वप्रत्ययस्य भावार्थकत्वप्रत्ययस्य। **प्रत्येकम्** एकपदेन पृथक्पदेन च सह। **अन्वयात्** योगात्। एकपृथक्त्वमित्यत्र **एकत्वं पृथक्त्वं च। ग्राह्यं पृथक्पदेन** कारिकागतपृथक्पदेन। **च**। एकपृथक्त्वं ग्राह्यं लक्षणयेति। **भवेदसमवायित्वमिति**। असमवायित्वमिति समवायिकारणे प्रत्यासन्नत्वम्। कार्यैकार्थकारणार्थैतदन्यतरप्रत्यासत्त्या समवायिकारणे प्रत्यासन्नं ज्ञानादिभिन्नं यत्कारणं तदसमवायिकारणम्। तेन कार्येण कारणेन वा सह एकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सति यत्कारणं तदसमवायिकारणम्। यथा तन्तुसंयोगः पटस्य। तन्तुरूपञ्च पटगतरूपस्य। तन्तुसंयोगस्य पटसमवायिकारणेषु तन्तुषु प्रत्यासन्नत्वात् कारणत्वाच्च तन्तुसंयोगः पटस्यासमवायिकारणमिति। असमवायिकारणता च गुणकर्ममात्रवृत्तिर्भवति। **घटादिरूपरसगन्धस्पर्शाः** घटादौ ये रूपादयस्ते। **कपालादिरूपरसगन्धस्पर्शेभ्यः** कपालः घटपूर्वावस्यविभक्तखण्डः तदादिगतरूपादिभ्यः। **भवन्ति** उत्पद्यन्ते। **एवम्** इत्थम्। **कपालादिपरिमाणादीनां** कपालात्मकावयवस्थरूपादीनां कपालपरिमाणस्य च। **घटादिपरिमाणाद्यसमवायिकारणत्वं** घटात्मकावयवरूपादीन् प्रति घटपरिमाणं प्रति च असमवायिकारणत्वम्। **शब्दस्य** पूर्वपूर्वशब्दस्य। **अपि**। द्वितीयशब्दम् उत्तरोत्तरशब्दम्।

प्रति । असमवायिकारणत्वमिति । **एवम्** अनेनैव प्रकारेण । **स्थितिस्थापकैकपृथक्त्वयोः** स्थितिस्थापकस्य एकपृथक्त्वस्य च । **अपि च** । **ज्ञेयं** बोध्यमिति । कटस्थस्थितिस्थापक-यत्नं प्रति शलाकापट्टस्थितिस्थापकयत्नोऽसमवायिकारणम् । अवयव्येकपृथक्त्वं प्रति अवयवैकपृथक्त्वमसमवायिकारणमिति ।

अनुवाद—स्पर्श अन्त वाले अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, एकत्व, एक-पृथक्त्व, स्नेह एवं शब्दों में असमवायित्व साधर्म्य होता है ।

स्पर्शान्तेति । एकपृथक्त्व में जो त्व प्रत्यय है, उसका प्रत्येक के साथ अन्वय होने से एकत्व एवं पृथक्त्व होता है । पृथक्त्व पद से भी एकपृथक्त्व समझ लेना चाहिए । **भवेदसमवायित्वमिति** । घटादि के जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श हैं, वे कपाल आदि के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से होते हैं । इसी तरह कपाल आदि एवं परिमाणों का घटादि एवं घटपरिमाण के प्रति अर्थात् कपालादि अवयवगत रूप, रस आदि का घटादि अवय-विगत रूप, रस आदि के प्रति असमवायिकारणत्व होता है । पूर्व-पूर्व शब्द का भी उत्तरोत्तर शब्द के प्रति असमवायिकारणत्व होता है । इसी तरह स्थितिस्थापक एवं एकपृथक्त्व का भी जान लेना चाहिए अर्थात् कटस्थ स्थितिस्थापक यत्न के प्रति शलाकापट्टस्थ स्थितिस्थापक यत्न का असमवायिकारणत्व होता है । अवयविगत एक-पृथक्त्व के प्रति अवयवगत एकपृथक्त्व का असमवायिकारणत्व होता है ।

—अथ वैशेषिके गुणे ॥ ९७ ॥
आत्मनः स्यान्निमित्तत्वम्—

निमित्तत्वमिति । बुद्ध्यादीनामिच्छादिनिमित्तत्वादिति भावः ।

आलोकः—निमित्तकारणगुणानाह परममूले—**अथेति** । अथ आत्मनः वैशेषिके गुणे निमित्तत्वं स्यात् इति । **अथ** अनन्तरम् । **आत्मनः** । **वैशेषिके** विशेषे । **गुणे** बुद्धिसुख-दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनासु । **निमित्तत्वं** निमित्तकारणत्वम् । **स्यात्** इति । यथोक्तं भाष्येऽपि—'बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनानां निमित्तकारणत्वम्' । मूले कारिकांशं व्याख्याति—**निमित्तत्वमिति** । **बुद्ध्यादीनां** बुद्धिप्रभृतिकात्मविशेष-गुणानाम् । **इच्छानिमित्तत्वात्** इच्छायाः निमित्तत्वात्; यथा प्रवृत्तिं प्रतीच्छा निमित्त-कारणम्, इच्छां प्रति ज्ञानं निमित्तकारणम्, सुखं प्रति धर्मः, दुःखं प्रति अधर्मः इत्येवं निमित्तत्वम् । तत्र यत्किञ्चित्कार्यतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्ननिमित्तकारण-तावत्त्वम् । असमवायिकारणताशून्यत्वे सति समवायविषयित्वान्यतरसम्बन्धावच्छिन्न-कारणतावत्त्वमिति साधर्म्यम् ॥ ९७ ॥

अनुवाद—आत्मा के विशेष गुणों अर्थात् बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म एवं भावना में निमित्तकारणत्व होता है ।

निमित्तत्वमिति । बुद्धि आदि का इच्छा आदि के प्रति निमित्त होने से, ऐसा आशय है ॥ ९७ ॥

—उष्णस्पर्शगुरुत्वयोः ।
वेगेऽपि च द्रवत्वे च संयोगादिद्वये तथा ॥ ९८ ॥
द्विधैव कारणत्वं स्याद्—

द्विधैवेति । असमवायिकारणत्वं निमित्तकारणत्वञ्च । तथाहि—उष्णस्पर्श उष्णस्पर्शस्यासमवायिकारणं पाकजे निमित्तम् । गुरुत्वं गुरुत्वपतनयोरसमवायिकारणमभिघाते निमित्तम् । वेगो वेगस्पन्दनयोरसमवायी अभिघाते निमित्तम् । द्रवत्वं द्रवत्वस्पन्दनयोरसमवायि सङ्ग्रहे निमित्तम् । भेरीदण्डसंयोगः शब्दे निमितम् । भेर्याकाशसंयोगोऽसमवायी । वंशदलद्वयविभागः शब्दे निमितम् । वंशदलाकाशसंयोगेऽसमवायीति ॥ ९८ ॥

इति गुणसामान्यनिरूपणम् ।

आलोकः--परममूले उभयविधगुणानाह—**उष्णे**त्यादि । उष्णस्पर्शगुरुत्वयोः वेगे अपि च द्रवत्वे च तथा संयोगादिद्वये द्विधा एव कारणत्वं स्यात् इति । **उष्णस्पर्शगुरुत्वयोः** उष्णस्पर्शे गुरुत्वे । **वेगे** । **द्रवत्वे** । **तथा** । **संयोगादिद्वये** संयोगे विभागे च । **द्विधा** द्विविधत्वेन असमवायिकारणत्वेन निमित्तकारणत्वेन च । **एव** हि । **कारणत्वं** हेतुत्वम् । **स्यात्** इति । यथोक्तं भाष्येऽपि—'संयोगविभागोष्णस्पर्शगुरुत्वद्रवत्ववेगानामुभयथा कारणत्वम् । परत्वापरत्वद्वित्वद्विपृथक्त्वादीनामकारणत्वम्' । मूले कारिकांशं व्याख्याति—**द्विधैवेति** । द्विधा एवेति असमवायिकारणत्वं निमित्तकारणत्वञ्च । तन्निदर्शयति—**तथा हीति** । **तथा हि** । **उष्णस्पर्शः** । **उष्णस्पर्शस्य** । **असमवायिकारणमेव** । किन्तु **पाकजे** पाकोद्भवे तु । **निमित्तं** निमित्तकारणम् । **गुरुत्वम्** । **गुरुत्वपतनयोः** गुरुत्वस्य पतनस्य च । **असमवायिकारणम् अभिघाते** प्रहारे । **तु** । **निमित्तं** निमित्तकारणम् । **वेगः** वेगस्पन्दनयोः वेगस्य स्पन्दनस्य च । **असमवायी** । **अभिघाते** । **निमित्तम्** । **द्रवत्वम्** । **द्रवत्वस्पन्दनयोः** द्रवत्वस्य स्पन्दनस्य च । **असमवायिसङ्ग्रहे** एकत्रीभवने । **निमित्तम्** । **भेरीदण्डसंयोगः** भेर्याः दण्डस्य च संयोगः । **शब्दे** । **निमित्तम्** । **भेर्याकाशसंयोगे** भेर्या आकाशस्य च संयोगे । **असमवायी** । **वंशदलद्वयविभागः** वंशस्य यद् दलद्वयं तस्य विभागः । **शब्दे** । **निमित्तम्** । **वंशदलाकाशविभागे** वंशदलस्य आकाशस्य च विभागे । **असमवायी** । इति ।

अनुवाद—उष्णस्पर्श, गुरुत्व, वेग, द्रवत्व, संयोग एवं विभाग में दोनों प्रकार से (अर्थात् असमवायिकारणत्व एवं निमित्तकारणत्व से) ही कारणत्व होता है ।

द्विधैवेति । असमवायिकारणत्व एवं निमित्तकारणत्व भी । जैसे कि उष्णस्पर्श का असमवायिकारण होता है, किन्तु पाक से उत्पन्न में निमित्तकारण । गुरुत्व गुरुत्व एवं पतन में असमवायिकारण होता है और अभिघात में निमित्तकारण । वेग वेग एवं स्पन्दन में असमवायिकारण होता है, किन्तु अभिघात में निमित्त । द्रवत्व द्रवत्व

एवं स्पन्दन में असमवायि होता है, किन्तु सङ्ग्रह में निमित्त। भेरीदण्डसंयोग शब्द में निमित्तकारण होता है, भेरी एवं आकाश के संयोग में असमवायि। वंश के दलद्वय का विभाग शब्द में निमित्त होता है, किन्तु वंशदल एवं आकाश के विभाग में असमवायि।

—अथ प्रादेशिको भवेत्।

वैशेषिको विभुगुणः संयोगादिद्वयं तथा ॥ ९९ ॥

प्रादेशिकोऽव्याप्यवृत्तिः ॥ ९९ ॥

इति गुणसामान्यनिरूपणम्।

आलोकः—अव्याप्यवृत्तिगुणानाह परममूले—**अथेति**। अथ वैशेषिकः विभुगुणः तथा संयोगादिद्वयं प्रादेशिकः भवेत् इति। **अथ** एतदनन्तरम्। **वैशेषिकः** विशेषः। **विभुगुणः** विभ्वोराकाशात्मनो गुणः शब्दः बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाः। **तथा**। **संयोगादिद्वयं** संयोगविभागौ च। **प्रादेशिकः** अव्याप्यवृत्तिः स्वाश्रये वर्तते न वर्तते चाऽपि। **भवेत्**। इति। मूले कारिकागतप्रादेशिकपदं विवृणोति—**अव्याप्यवृत्तिः** देशिकाव्याप्यवृत्तिगुणत्वं साधर्म्यमिति। यथोक्तं भाष्येऽपि—संयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणानां प्रदेशवृत्तित्वमिति। शेषाणामाश्रयव्यापित्वमिति।

इति श्रीवत्सगोत्रीयषट्कर्मनिरतपरशुरामात्मजविष्णुमायागर्भजलोकमणिदाहालप्रणीतायां सिद्धान्तमुक्तावलीसहितकारिकावल्याः आलोकाख्यटीकायां गुणसामान्यनिरूपणं सम्पूर्णम्।

अनुवाद—विभुओं अर्थात् आकाश एवं आत्मा के विशेष गुण अर्थात् शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना एवं संयोगादिद्वय अर्थात् संयोग एवं विभाग प्रादेशिक अर्थात् अव्याप्यवृत्ति होते हैं अर्थात् ये अपने आश्रय में रहते भी हैं, नहीं भी रहते हैं।

प्रादेशिक का अर्थ है अव्याप्यवृत्ति अर्थात् अपने आश्रय में व्याप्त रूप से रहना और न रहना भी ॥ ९९ ॥

प्रत्येकगुणनिरूपणखण्डम्

चक्षुर्ग्राह्यं भवेद्रूपं द्रव्यादेरुपलम्भकम् ।
चक्षुषः सहकारि स्याच्छुक्लादिकमनेकधा ॥ १०० ॥

चक्षुरिति । रूपत्वजातिस्तु प्रत्यक्षसिद्धा । रूपशब्दोल्लेखिनी प्रतीतिर्नास्तीति चेन्माऽस्तु रूपशब्दप्रयोगस्तथापि नीलपीतादिष्वनुगतजातिविशेषोऽनुभवसिद्ध एव । रूपशब्दाप्रयोगेऽपि नीलो वर्णः पीतो वर्ण इति वर्णशब्दोल्लेखिनी प्रतीतिरस्त्येव । एवं नीलत्वादिकमपि प्रत्यक्षसिद्धम् । न चैकैका एव नीलरूपादिव्यक्तय इत्येकव्यक्तिवृत्तित्वान्नीलत्वादिकं न जातिरिति वाच्यं, नीलो नष्टो रक्त उत्पन्न इत्यादिप्रतीतेर्नीलादेरुत्पादविनाशशालितया नानात्वात् । अन्यथा एकनीलनाशे जगदनीलतामापद्येत । न च नीलसमवायरक्तसमवाययोरेवोत्पादविनाशविषयकोऽसौ प्रत्यय इति वाच्यं, प्रतीत्या समवायानुल्लेखात् । न च स एवायं नील इति प्रत्यक्षबलाल्लाघवाच्चैक्यमिति वाच्यं, उक्तप्रत्यक्षस्य तज्जातीयविषयकत्वात्सैवेयं गुर्जरीतिवत् । लाघवं तु प्रत्यक्षबाधितम् । अन्यथा घटादीनामप्यैक्यप्रसङ्गात् । उत्पादविनाशबुद्धेः समवायावलम्बनत्वापत्तेरिति । एतेन रसादिकमपि व्याख्यातम् ।

आलोकः—रूपं हि रूपं प्रतिरूपको यः विश्वस्य यो वै प्रतिमानमस्ति ।
न यस्य रूपस्य विदोऽपि विज्ञाः कस्मैचिदस्मै नम ईरिताय ॥ १ ॥
व्याख्याय कारिकावल्या गुणसाधर्म्यखण्डकम् ।
प्रत्येकगुणखण्डं हि यथामति वितन्यते ॥ २ ॥
नमः श्रीविश्वनाथाय नमो दिनकराय च ।
नरसिंहाय सूर्याय श्रीकृष्णवल्लभाय च ॥ ३ ॥

इत्थं हि गुणसाधर्म्यवैधर्म्यं सप्रपञ्चकं युक्त्या निरूप्य यथोद्देशं प्रत्येकं गुणं लक्षयितुमुपक्रममाणः सर्वपदार्थानामभिव्यक्तिनिमित्तत्वादुद्देशसूत्रे प्राथम्येन निर्देशाव क्रमप्राप्तत्वाच्च आदौ रूपं लक्षयति परममूले—**चक्षुर्ग्राह्यमिति** । चक्षुर्ग्राह्यं रूपं भवेत् तच्च भवति द्रव्यादेः उपलम्भकं चक्षुषः सहकारि शुक्लादिकम् अनेकधा भवति इति । **चक्षुर्ग्राह्यं** चक्षुरिन्द्रियग्रहणयोग्यं तद्विषयो वा । **रूपं** तदाख्यगुणः । **भवेत्** । इति । चक्षुरिन्द्रियमात्रजन्यप्रत्यक्षविषयत्वं रूपत्वमिति । तद्वैलक्षण्यञ्च चक्षुर्भिन्नाग्राह्यत्वम् । गुणत्वे सति चक्षुषैव यद् ग्राह्यं तद्रूपमिति भावः । तच्च रूपं **द्रव्यादेः** द्रव्यगुणकर्मसामान्यानाम् । द्रव्यमत्र बाह्यद्रव्यं तद्रूपसम्बन्धाद् गृह्यते न त्वन्यथा । आदिपदाद गुणकर्मसामान्यानां ग्रहणम्, यत्र गुणाः सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वा-

परत्वद्रवत्वस्नेहवेगाः कर्माणि च रूपिद्रव्यसमवायात् सामान्यानि तु कानिचिद् रूपैकार्थसमवायात्, कानिचित्तु रूपैकार्थसमवेतसमवायात्, कानिचिद्रूपसमवायादिति तेषाम्। उपलम्भकं साक्षात्परम्परया वा प्रत्यक्षे कारणम्। तच्च रूपं चाक्षुषप्रत्यक्षे चक्षुषः चक्षुरिन्द्रियस्य। सहकारि सहायकं निमित्तकारणं भवतीति। तच्च रूपं शुक्लादिकं शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रभेदात्। अनेकधा विभिन्नप्रकारकं सप्तविधमिति। तद्धि पृथिव्युदकतेजोवृत्ति। जले शुक्लभास्वरं तेजसि भास्वरमिति। मूले कारिकाशयं विवृणोति—चक्षुरिति। उच्यते—रूपत्वादीनि सर्वाण्येव जातयः। तेन रूपत्वजातिः। तु हि। प्रत्यक्षसिद्धा प्रत्यक्षत्वेनानुभूता। ननु। रूपशब्दोल्लेखिनी रूपशब्दव्यवहृता। प्रतीतिः प्रत्ययनम्। न। अस्ति। इति। कथमुच्यते रूपत्वजातिरिति चेत्। मा। अस्तु। तत्र। रूपशब्दप्रयोगः रूपशब्दव्यवहारः। तथापि रूपशब्दप्रयोगाभावेऽपि। नीलपीतादिषु। नीलत्वपीतत्वरूपः। अनुगतजातिविशेषः सम्बद्धजातिस्वरूपं नीले नीलत्वमित्यादि। अनुभवसिद्धः व्यवहारप्रत्यक्षः। एव। तेन। रूपशब्दाप्रयोगे रूपशब्दप्रयोगविरहे। अपि च। नीलो वर्णः। पीतो वर्ण। इति। वर्णशब्दोल्लेखिनी वर्णशब्दव्यवहृता। प्रतीतिः। अस्ति। एवेति। एवम् इत्यमेव। नीलत्वादिकं नीलत्वादिजातिः। प्रत्यक्षसिद्धं प्रत्यक्षविषय एवेति। न। च हि। नीलरूपादिव्यक्तयः नीलरूपपीतरूपादिव्यक्तयः। एका। एव। इति नीलरूपपीतरूपादेः। एकव्यक्तिवृत्तित्वात् एकव्यक्तिनिष्ठत्वात्। नीलत्वादिकं नीलत्वपीतत्वादिकम्। न नैव। जातिः। इति इत्यम्। वाच्यम्। नीलो नष्टः रक्त उत्पन्न इत्यादिप्रतीतेः नीलनाशरक्तोत्पत्तिप्रतीत्या। नीलादेः नीलपीतादेः। उत्पादविनाशशालितया उत्पत्तिविनाशस्वभावकतया। नानात्वात् विभिन्नत्वात्। अन्यथा नीलरूपादेर्जातित्वाभावे। एकनीलनाशे एकस्य नीलस्य विनाशे। जगत् विश्वम्। अनीलतां नीलशून्यताम्। आपद्येत जायेत। न। च हि। नीलसमवायरक्तसमवाययोः नीलो नष्टः रक्त उत्पन्न इत्यादौ नीलरूपप्रतियोगिकसमवायस्य रक्तरूपप्रतियोगिकसमवायस्य। एव न तु नीलस्य रक्तस्य च। उत्पादविनाशविषयकः उत्पत्तिप्रणाशविषयवान्। असौ नीलनाशरक्तोत्पत्तिरूपः। प्रत्ययः प्रतीतिः। इति इत्यम्। वाच्यम्। प्रतीत्या प्रत्ययेन। समवायानुल्लेखात् समवायाविषयीकरणात्। नीलपदादेः समवाये शक्त्यभावादिति। न। च हि। स एवायं नीलः। इति। प्रत्यक्षबलात् अभेदावगाहिप्रत्यक्षबलात्। लाघवात् एकस्य तादृशप्रत्यक्षविषयत्वप्रयुक्तलाघवाच्च। नीलादीनाम्। ऐक्यम् एकव्यक्तित्वम्। इति। वाच्यम्। उक्तप्रत्यक्षस्य स एवायं नील इति प्रत्यक्षस्य। तज्जातीयविषयकत्वात् पूर्वानुभूतनीलव्यक्तिसजातीयनीलव्यक्तिविषयकत्वात्। सा एव इयं गुर्जरी इतिवत् यथा पूर्वपिण्डसजातीयपिण्डस्य विषयिणी प्रतीतिरत्र तथेति सोऽयं नील इत्यपि प्रतीतिः नीलसजातीयनीलविषयिणी भवतीति नीलव्यक्तीनामनेकत्वात् नीलत्वादिकस्य जातित्वे बाधकाभाव इति। इत्यमेतादृशे स्थले पूर्वानुभूतसजातीयस्यैव पुनः प्रत्यभिज्ञानं जायत इति तस्य जातित्वं त्वबाधितमेवेति सारम्। लाघवं चैकस्य तादृशप्रत्यक्षविषयत्वलाघवमपि। प्रत्यक्षबाधितं प्रात्यक्षिकबाधज्ञानेन बाधितमिति। नीलादीनामनेकत्वकल्पने तदुत्पत्तिनाशकल्पने

गौरवापेक्षया एकव्यक्तित्वकल्पने एकस्य तादृशप्रत्यक्षविषयत्वप्रयुक्तं यल्लाघवं तदपि नीलो नष्टः रक्त उत्पन्न इति प्रात्यक्षिकबाधज्ञानेन बाधितमिति । **अन्यथा** अतथामते । लाघवस्य अबाधिततया वस्तुसाधकत्वे तु । **घटादीनां** घटत्वावच्छिन्नानां पटत्वावच्छिन्नानाम् । **अपि च** । **ऐक्यप्रसङ्गात्** लाघवबलादेकैकव्यक्तित्वापत्तेः । एवमेव घटो नष्ट इति प्रतीतेरपि अभावमात्रविषयकत्वस्यैव कल्पनीयत्वप्रसक्त्या ध्वंसप्रागभावादेरपि अपलापापत्तिः स्यादिति सारमित्यन्यत्र विस्तरः । न चैवंविधाभावस्थलेऽपि वैशिष्ट्याख्यसम्बन्धस्य तथाविधस्य स्वीकरणात् नष्ट इति प्रत्ययोपपत्तिरिति वाच्यं, तथा सति **उत्पादविनाशबुद्धेः** घट उत्पन्नः घटो नष्ट इत्यादिज्ञानस्य । **समवायावलम्बनापत्तेः** समवायस्य एकत्वग्राहकप्रमाणविरोधापत्तेः । अतः नीलो नष्टः इत्यादिप्रतीतिः प्रत्यक्षात्मकबाधबलात् नीलरूपादिनाशविषयिणी एवेति नीलादीनामनेकव्यक्तित्वात् नीलत्वादेर्जातित्वे बाधकाभाव इति । स्थापितमतमन्यत्राऽप्यतिदिशति—**एतेनेति** । **एतेन** रूपजातिसमर्थकग्रन्थेन रूपत्वनीलत्वादिजातिसाधकप्रमाणेन । **रसादिकं** रसत्वमधुरत्वगन्धसुरभित्वादेर्जातित्वम् । **अपि च** । **व्याख्यातं** निरूपितम् । रसोऽयमिति प्रत्यक्षप्रतीतिसिद्धा रसत्वजातिः, मधुरोऽयमित्यादिप्रतीत्या मधुरत्वादिजातिसिद्धिर्बोध्या । मधुरो नष्टः अम्ल उत्पन्न इत्यादिप्रतीत्या च मधुरादीनामानन्त्यमनित्यत्वञ्च सिद्धम् । एवं गन्धत्वसुरभित्वादेरपि ।

अनुवाद—चक्षुरिन्द्रिय से ग्राह्य विषय रूप होता है । वह द्रव्य, गुण, कर्म एवं सामान्य का उपलम्भक होता है । वह चाक्षुष प्रत्यक्ष में सहयोगी होता है । वह शुक्ल, नील, पीत आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है ।

चक्षुरिति । रूपत्वजाति तो प्रत्यक्षसिद्ध है ही । यदि यह कहा जाय तो रूप शब्द का उल्लेख जिसमें हो ऐसी प्रतीति नहीं है तो न रहे, वैसी प्रतीति में रूप शब्द का प्रयोग फिर भी नील, पीत आदि में अनुगत जातिविशेष अनुभवसिद्ध है ही । रूप शब्द का प्रयोग न होने पर भी नील वर्ण, पीत वर्ण ऐसी वर्ण शब्द के उल्लेख वाली प्रतीति तो है ही । इस प्रकार नीलत्व आदि भी प्रत्यक्षसिद्ध है । न तो 'एक-एक नीलरूप आदि व्यक्तियाँ' इस प्रकार एक व्यक्ति में वृत्ति होने से नीलत्व आदि जाति नहीं है ऐसा कहना ही उचित है, क्योंकि 'नील नष्ट हो गया' 'रक्त उत्पन्न हो गया' इत्यादि की प्रतीति होने से नीलादि के उत्पत्ति एवं विनाश स्वभाव वाले होने से नानात्व होता है, नहीं तो एक नील के नाश होने पर जगत् नील रहित हो जाय । न तो नीलसमवाय रक्तसमवायों का ही उत्पत्तिविनाशविषयक यह प्रत्यय है, ऐसा कहना ही ठीक पड़ता है; क्योंकि प्रतीति से समवाय का उल्लेख नहीं होता अर्थात् समवाय में नील पद की शक्ति नहीं है । न तो 'यह वही नील है' ऐसे प्रत्यक्षबल से एवं लाघव से भी एकत्व प्रतीति ही होती है, ऐसा कहना उचित है, क्योंकि उक्त प्रत्यक्ष सजातीय विषय होता है । जैसे 'यह वही गुर्जरी है' इत्यादि में होता है । लाघव तो प्रत्यक्ष से बाधित होता है । नहीं तो घट, पट आदि का भी ऐक्यप्रसङ्ग बन जायेगा और उत्पत्तिविनाश ज्ञान का समवायावलम्बन की प्राप्ति होगी । इससे रस आदि भी व्याख्यात हो गया अर्थात् रसत्व, मधुरत्व, गन्धत्व, सुरभित्व आदि का भी जातित्व सिद्ध हो जाता है ।

चक्षुर्ग्राह्यमिति। चक्षुर्ग्राह्यविशेषगुण इत्यर्थः। एवमग्रेऽपि। द्रव्यादेरिति। उपलम्भकम् उपलब्धिकारणम्। इदमेव विवृणोति – चक्षुष इति। द्रव्यगुणकर्मसामान्यानां चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रति उद्भूतरूपं कारणम्। शुक्लादीति। तच्च रूपं शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशकर्बुरभेदादनेकप्रकारकं भवति। ननु कथं कर्बुरमतिरिक्तरूपं भवति ? इत्थं नीलपीताद्यवयवारब्धोऽवयवी न तावन्नीरूपोऽप्रत्यक्षप्रसङ्गात्। नापि व्याप्यवृत्तिनीलादिकमुत्पद्यते, पीतावच्छेदेनाऽपि नीलोपलब्धिप्रसङ्गात्। नाप्यव्याप्यवृत्तिनीलादिकमुत्पद्यते, व्याप्यवृत्तिजातीयगुणानामव्याप्यवृत्तित्वे विरोधात्। तस्मान्नानाजातीयरूपैरवयविनि विजातीयं चित्रं रूपमारभ्यते। अत एव एकं चित्रमित्यनुभवोऽपि। नानारूपकल्पने गौरवात्। इत्थञ्च नीलादीनां पीताद्यारम्भे प्रतिबन्धकत्वकल्पनादवयविनि न पीताद्युत्पत्तिः। एतेन स्पर्शोऽपि व्याख्यातः।

आलोकः—कारिकागतपदांशं विवृणोति—**चक्षुर्ग्राह्यमिति**। चक्षुर्ग्राह्यमिति **चक्षुर्ग्राह्यविशेषगुणः** चक्षुर्मात्रविषयविलक्षणगुण इति। तच्च त्वगाद्यग्राह्यमिति। तेन न स्नेहविशेषे सांसिद्धिकद्रवत्वे चातिव्याप्तिस्तयोस्त्वचाऽपि ग्राह्यत्वात्। त्वगाह्यत्वे सति चक्षुर्ग्राह्यत्वे सति गुणत्वमिति रूपलक्षणमिति। **एवम्** इत्थमेव। **अग्रे** वक्ष्यमाणे रसनाग्राह्यः घ्राणग्राह्यः त्वगिन्द्रियग्राह्य इत्यादौ। अपि च। तत्रापि रूपलक्षणोक्तरीत्या व्याख्यानमिति। यथा रसनामात्रग्राह्यविलक्षणगुणो रस इत्यादि। **द्रव्यादेरिति**। **उपलम्भकम्** उपलब्धिकारणं प्रत्यक्षज्ञानजनने चक्षुषः सहकारीति। **इदं** पूर्वोक्तं रूपं हि द्रव्यादेरुपलब्धिकारणमिति। **एव**। **विवृणोति** स्पष्टयति। **चक्षुष** इति चक्षुषः सहकारीति। तदाशयश्च **द्रव्यगुणकर्मसामान्यानां** तेषां तेषाम्। **चाक्षुषप्रत्यक्षं** चक्षुःसाधनीयप्रत्यक्षज्ञानं प्रति। चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रतीति। **उद्भूतरूपं** समुत्पन्नरूपं रूपमात्रस्य हेतुत्वे तु चक्षुरादेश्चाक्षुषापत्तिर्न स्यादिति उद्भूतत्वविशेषणमिति। **कारणं** हेतुः। द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपं समवायेन कारणं द्रव्यत्वगुणकर्मचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपं स्वाश्रयसमवायेन कारणं गुणत्वकर्मत्वादि जातिचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपं स्वाश्रयसमवेतसमवायेन कारणमिति यथासम्बन्धं कार्यकारणभाव इत्यन्यत्र विस्तरः। **शुक्लादीति**। शुक्लादिकमित्येतस्यायमेवाशयो यद्धि **तत्** तादृशम्। **च** हि। **रूपम्**। **शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशकर्बुरभेदात्** तत्तद्भेदेन। **अनेकप्रकारकं** विविधप्रकारकम्। **भवति** प्राचीनमते रूपं सप्तविधं नवीनमते तु षड्विधमेवेति आशङ्क्य समाधत्ते—**नन्विति**। **ननु**। **कथम्**। **कर्बुरम्** कर्बुरवर्णः। **अतिरिक्तरूपं** पृथग्वर्णरूपम्। **भवति ? इत्थं** वक्ष्यमाणप्रकारेण कर्बुरस्यातिरिक्तवर्णत्वं भवतीति। **नीलपीताद्यवयवारब्धः** नीलश्च पीतश्च तदादिभिरवयवैरारब्ध उपक्रान्तः। **अवयवी** अङ्गी। **न** नैव। **तावत्**। **नीरूपः** रूपरहितः तथा सति **अप्रत्यक्षप्रसङ्गात्** तस्य अप्रत्यक्षापत्तेः। **न**। **अपि च**। **व्याप्यवृत्तिनीलादिकं** निरवच्छिन्नवृत्तिकनीलादि। **उत्पद्यते** सञ्जायते। **पीतावच्छेदेन** पीतावच्छेद्यसन्निकर्षेण। **अपि च**। **नीलोपलब्धिप्रसङ्गात्** नीलप्रमाणकप्रत्यक्षापत्तेः। **न**। **अपि च**। **अव्याप्यवृत्तिनीलादिकं** देशिकाव्याप्यवृत्तिनीलादिकम्। **उत्पद्यते**। **व्याप्यवृत्तिजातीय-**

गुणानां निरवच्छिन्नवृत्तिप्रकृतिकगुणानाम् । **अव्याप्यवृत्तित्वे** देशिकाव्याप्यवृत्तित्वे । **विरोधात् एकत्र** वर्तमानत्वासम्भवात् । उपसंहरति—**तस्मादिति** । **तस्मात्** उक्तविरोधेन नीलादीनामव्याप्यवृत्तित्वाऽसम्भवात् । **नानाजातीयरूपैः** अवयवसमवेतनीलत्वाद्यवच्छिन्नपीतत्वाद्यवच्छिन्नादिरूपैः । **अवयविनि** अवयविभूते पदार्थे । **विजातीयं** गुणत्वव्याप्यशुक्लत्वादिवलक्षपड्धर्मातिरिक्तधर्मावच्छिन्नम् । **चित्रं** चित्राद्यवच्छिन्नं चित्रपदव्यवहार्यम् । **रूपम् आरभ्यते** उत्पाद्यते **अतः** हेतोरस्मात् । **एव** हि । **एकम्** । **चित्रं** चित्ररूपम् । **इति** इत्थम् । **अनुभवः** एकत्वप्रकारकचित्रत्वावच्छिन्नविशेष्यकानुभवः । **अपि** । उपपद्यते चेति । **नानारूपकल्पने** नीलत्वादिनानाजात्यत्वावच्छिन्नव्याप्यवृत्तिरूपाणामेकद्रव्ये परिकल्पने । **गौरवात्** इति । **इत्थम्** उक्तरीत्या चित्ररूपसिद्धौ । **च** हि । **नीलादीनां** नीलरूपादीनाम् । **पीताद्यारम्भे** पीतरूपाद्युपक्रमे । पीतत्वावच्छिन्ने । **प्रतिबन्धकत्वकल्पनात्** उक्तरीत्या प्रतिबन्धकत्वस्वीकारात् । **अवयविनि** अवयविभूतपदार्थे । **न** । **पीताद्युत्पत्तिः** पीतत्वाद्युत्पत्त्यापत्तिः । केचित्तु चित्रेतररूपत्वावच्छिन्ने चित्रं कार्यकालवृत्तितया प्रतिबन्धकमिति मन्यन्ते । वैशेषिकास्तु नीलादिकं प्रति नीलं प्रागभावत्वेनैव हेतुतया न चित्रघटस्थले नीलाद्यापत्तिरिति वदन्ति । नव्यास्तु तदवयवावच्छेदेन नीलं प्रति तदवयवघटितसमवायघटितसामानाधिकरण्यसम्बन्धेन हेतुत्वमिति **एतेन** उक्तरीत्या । **स्पर्शः** । **अपि** । **व्याख्यातः** यथारूपं व्याख्यातं तथा स्पर्शोऽपि व्याख्यातप्राय इति । तथा च प्राचीनानां मते रूपस्येव स्पर्शस्यापि व्याप्यवृत्तितया नानास्पर्शवदवयवारब्धद्रव्ये परस्परविरोधेन मृदुस्पर्शाद्युत्पत्तिसम्भवात् तद्द्रव्यस्य स्पर्शनानुपपत्त्या चित्ररूपवत् चित्रस्पर्शोऽप्यङ्गीकार्य इति । नवीनमते तु नानास्पर्शवदवयवारब्धद्रव्ये नानास्पर्शोत्पत्तौ रूपस्थलोक्तरीत्या बाधकाभावेन मृदुस्पर्शादिसमुदायस्यैव चित्र इति प्रतीतिविषयत्वसम्भवेन अतिरिक्तचित्रस्पर्शो नाङ्गीकर्तव्य इति । विस्तरस्तु प्रभाकिरणावल्यादौ ।

अनुवाद—**चक्षुर्ग्राह्यमिति** । चक्षुर्ग्राह्य का अर्थ है—चक्षुरिन्द्रिय मात्र के द्वारा ग्राह्य विलक्षण गुण । इस प्रकार आगे भी (स्पर्श आदि में भी) । **इत्यादेरिति** । उपलम्भक का अर्थ है—उपलब्धि का कारण । इसी को स्पष्ट करते हैं ।—**चक्षुष इति** । द्रव्य, गुण, कर्म एवं सामान्यों का चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति समुद्भूत रूप कारण है । **शुक्लादीति** । वह रूप शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश एवं कर्बुर के भेदों से अनेक प्रकार का होता है । कर्बुर कैसे अतिरिक्त रूप होता है ? 'इस प्रकार – नील, पीत आदि अवयवों से आरब्ध अवयवी रूपरहित नहीं होता, क्योंकि वैसा होने पर उसमें अप्रत्यक्ष होने का प्रसङ्ग आ जायेगा । न तो उसमें व्याप्त रूप से नीलादि ही उत्पादित होता है, क्योंकि वैसा होने पर उसमें पीतावच्छेद से अर्थात् पीत भाग में भी नील की उपलब्धि का प्रसङ्ग आ जाता है । न तो देशिक अव्याप्यवृत्ति नीलादि ही उत्पन्न होता है, क्योंकि व्याप्यवृत्ति सजातीय गुणों का अव्याप्यवृत्ति होने में विरोध होता है । इस कारण नानाजातीय रूपों से अवयवी में विजातीय चित्ररूप आरब्ध होता है । इसी कारण 'एक चित्र' ऐसा अनुभव भी होता है । क्योंकि नाना रूपों की कल्पना में गौरव पड़ता है । इस प्रकार नीलादि

का पीतादि के आरम्भ में प्रतिबन्धकत्व की कल्पना से अवयवी में पीतादि की उत्पत्ति नहीं होती। इससे स्पर्श की भी व्याख्या की गई।

रसादिकमपि नाव्याप्यवृत्ति किन्तु नानाजातीयरसवदवयवैरारब्धेऽवयविनि रसाभावेऽपि न क्षतिः। तत्र रसनयाऽवयवरस एव गृह्यते, रसनेन्द्रियादीनां द्रव्यग्रहे सामर्थ्याभावादवयविनो नीरसत्त्वेऽपि क्षतेरभावात्। नव्यास्तु तत्राव्याप्यवृत्त्यैव नानारूपं, नीलादेः पीतादिप्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवात्। अत एव —

'लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः।
श्वेतः क्षुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते'॥

इत्यादिशास्त्रमप्युपपद्यते। न च व्याप्यवृत्त्यव्याप्यवृत्तिजातीययोर्द्वयोर्विरोधः मानाभावात्। न च लाघवादेकं रूपमननुभवात्। अन्यथा घटादेरपि लाघवादैक्यं स्यात्। एतेन स्पर्शादिकमपि व्याख्यातमिति वदन्ति॥ १००॥

आलोकः—रूपवद्रसादिकमपि चित्रं स्वीकर्तव्यमित्याशङ्कायामाह—**रसादिकमिति**। प्राचीनमते हि स्पर्श इव **रसादिकं** रसगन्धौ। अपि च। **न**। **अव्याप्यवृत्तिः** सावच्छिन्नवृत्तिः। **किन्तु**। **नानाजातीयरसवदवयवैः** पृथक्प्रकृतिकरसयुक्ताङ्गैः। **आरब्धे** उपक्रान्ते। **अवयविनि** अवयविभूतद्रव्ये। **रसाभावे** व्याप्यवृत्तित्वेन रसरहितत्वे। **अपि च**। **न**। **क्षतिः** हानिः। **तत्र** रसनया रसग्रहे। **रसनया** रसनेन्द्रियेण। **अवयवरसः** अवयवगतरसः। **एव** हि। **गृह्यते** आस्वाद्यते। **रसनेन्द्रियादीनां** रसनाघ्राणादीन्द्रियाणाम्। **द्रव्यग्रहे** रसगन्धाद्याश्रयद्रव्यग्रहणे। **सामर्थ्याभावात्** शक्तिविरहात्। **अवयविनाम्** अवयविभूतद्रव्याणाम्। **नीरसत्वे** रसशून्यत्वे। **अपि च**। **क्षतेः** हानेः। **अभावात्**। **नव्याः** मणिकारादयो नव्यनैयायिकाः। **तु** तद्विपरीतम्। **तत्र** नानारूपवदवयवारब्धावयविनि। **अव्याप्यवृत्तिः** देशिकाव्याप्यवृत्तिः। **एव**। **नाना रूपं** नीलत्वपीतत्वादिविभिन्नरूपम्। उत्पद्यते इति। **नीलादेः**। **पीतादिप्रतिबन्धकत्वकल्पने**। **गौरवात्**। नीलादेर्नीलादिकं प्रत्यवच्छेदकतासम्बन्धेन समवायेन हेतुत्वान्न पीतावच्छेदेन नीलोत्पत्तिरिति पीतादिकं प्रति नीलादीनां प्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवमेवेति न समीचीनं प्राचीनमतमिति। तत्र स्कन्दपुराणवचनं प्रमाणयितुमाह—**अत इति**। **अतः** हेतोरस्माद्। अव्याप्यवृत्त्यैव नानारूपोत्पत्तेः। **एव** हि। **लोहित** इत्यादि। यः तु वर्णेन लोहितः मुखे पुच्छे च पाण्डुरः खुरविषाणाभ्यां श्वेतः स नीलः वृषः उच्यते इति। **यः** यो वृषः। **तु** हि। **वर्णेन**। **लोहितरक्तः** सामान्यतो रक्तवर्णः। **मुखे** मुखप्रदेशे। **पुच्छे** पुच्छप्रदेशे। **च** हि। **पाण्डुरः** पिशङ्गमिश्रितश्वेतः। **खुरविषाणाभ्यां** खुरैः चतुर्भिः खुरप्रदेशैः **विषाणाभ्यां** शृङ्गमूलप्रदेशाभ्याञ्च। **श्वेतः**। **सः**। तादृशः। **वृषः** वृषभः। **नीलः** नीलवृषः। **इति** इत्थम्। **उच्यते** इति। यो हि मुखपुच्छप्रदेशे पाण्डुरवर्णः खुरविषाणप्रदेशे श्वेतवर्णः तदनवच्छिन्नभागे लोहितः स नीलवृष इत्युच्यत

इति । **इत्यादिशास्त्रम्** इतिप्रतिपादकस्कन्दपुराणम् । **अपि च** । **उपपद्यते** । व्याप्यवृत्त्या तु न तदुपपत्तिरिति, शरीरावच्छेदेन नीलत्वाभावात् । **न** । **च हि** । **व्याप्यवृत्त्यव्याप्यवृत्तिजातीययोः** व्याप्यवृत्तिजातीयस्य अव्याप्यवृत्तिजातीयस्य च तयोः । **द्वयोः** । **विरोधः** एकत्रानुपस्थितिः । **मानाभावात्** विरोधे प्रमाणाभावात् । **न** । **च** । **लाघवात्** लाघवदृष्टया । **एकम्** एकधर्मावच्छिन्नम् । **रूपम्** । **अननुभवात्** अनुभवविरोधात् अयमवयवी नीलाद्यनेकवर्णयुक्त इति योऽनुभवस्तद्विरोधात् । **अन्यथा** अतथाभावे । **घटादेः** घट-पटादेः । **अपि च** । **लाघवात्** लाघवदृष्टया । **ऐक्यम्** अनेकेषां घटानां समूहे एकोऽयं घट इत्येकभावः । **स्यात्** इति । **एतेन** उक्तरीत्या । **स्पर्शादिकं** स्पर्शप्रभृतिकम् । **अपि च** । **व्याख्यातम्** अव्याप्यवृत्तित्वेन नानारूपमिति प्रतिपादितम् । **इति** । **वदन्ति** । इति । नव्यमते हि न चित्रं रूपं पृथगपितु शुक्लादिषट्स्वेवान्तर्भूतं नीलादीनामव्याप्यवृत्त्यैव नानारूपत्वसम्भवात् । तेनैव चित्रं वृषमुत्सृजेदित्येतस्य स्थाने नीलं वृषमुत्सृजेदिति शास्त्रेऽपि वचनम् । परे तु लोहितो यस्तु इत्यत्र नील इति संज्ञापरकशब्दो न तु वर्णपरकः, तेन नानेनात्र चित्रत्वमस्य निषिध्यते । एतादृशलक्षणयुक्तो वृषभो नीलवृषभ इत्युच्यत इति तदाशयो न तु नीलवर्ण वृषभ इति तत्र नीलपदस्यानुल्लेखादिति ॥१००॥

अनुवाद—रसादि भी अव्याप्यवृत्ति नहीं है, किन्तु नानाजातीय रसों से युक्त अवयवों से आरब्ध अवयवी में रस का अभाव होने पर भी क्षति नहीं है, क्योंकि उसमें रसना से अवयवगत रस का ही ग्रहण होता है, अतः रसना एवं घ्राणेन्द्रिय आदि का अवयवी द्रव्य के ग्रहण में सामर्थ्य का अभाव होता है, अतः अवयवी के नीरस होने पर भी क्षति नहीं है (यह प्राचीनों का मत हुआ)। नव्य नैयायिक तो उस (नाना रूपों से युक्त अवयवों से आरब्ध अवयवी) में अव्याप्यवृत्ति ही नाना रूप होता है, नील आदि का पीत आदि के प्रतिबन्धकत्व के कल्पना में गौरव होता है। इस कारण—'जो वर्ण से लाल है, मुख एवं पुच्छ में पाण्डुर है, खुर एवं विषाण (सींग) में श्वेत है वह वृषभ नील वृषभ कहलाता है'। इत्यादि शास्त्रवचन की उपपत्ति हो पाती है। न तो व्याप्यवृत्तिजातीय एवं अव्याप्यवृत्तिजातीय दोनों का विरोध ही सही है, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है। न तो लाघव से एक रूप ही होता है, क्योंकि उसका अनुभव नहीं होता। अन्यथा घटादि का भी लाघव से ऐक्य हो जायेगा। इससे स्पर्श आदि की भी व्याख्या हो गई, ऐसा कहते हैं ॥ १०० ॥

जलादिपरमाणौ तन्नित्यमन्यत्सहेतुकम् ।

जलादीति । जलपरमाणौ तेजःपरमाणौ च रूपं नित्यम् । पृथिवीपरमाणुरूपं तु न नित्यं, तत्र पाकेन रूपान्तरोत्पत्तेः । न हि घटस्य पाकानन्तरं तदवयवोऽपक्व उपलभ्यते । न हि रक्तकपालस्य कपालिका नीलावयवा भवति । एवंक्रमेण परमाणावपि पाकसिद्धेः । **अन्यज्जलतेजःपरमाणुरूपभिन्नं रूपं सहेतुकं जन्यम्** ।

आलोकः—रूपस्य नित्यानित्यत्वं निरूपयति परममूले—**जलादीति**। तत् जलादि-परमाणौ नित्यम् अन्यत् सहेतुकम् इति। **तत्** रूपम्। **जलादिपरमाणौ** रूपं हि पृथिव्य-प्तेजोवृत्ति तत्र जलस्य आदिपदात्तेजसश्च परमाणौ। **नित्यं** ध्वंसप्रागभावाऽप्रतियोगि। **अन्यत्** तदिरत् पार्थिवं तु। **सहेतुकं** कारणजन्यमनित्यमिति। तच्च जले शुक्लभास्वरं तेजसि भास्वरं पृथिव्यां तु शुक्लादिभेदेन बहुविधमिति। कारिकाशयं विवृणोति मूले—**जलादीति**। **जलपरमाणौ** जलस्य जलबिन्दोः परमाणौ चरमैकभागे। परमाणुर्यथा—'जालान्तरगते मानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्य षष्ठितमो भागः परमाणुः स उच्यते'॥ इति। परिभाषितः सूक्ष्मतमो विभागः। **तेजःपरमाणौ** तेजसः परमाणौ। **च** अपि। **रूपम्**। **नित्यं** ध्वंसप्रागभावाप्रतियोगि। **पृथिवीपरमाणुरूपं** पृथिव्या यत्परमाणुरूपं तत्। **तु** तद्विलक्षणमेव। **न**। **नित्यम्** अविनाशि। **तत्र** रूपे। **पाकेन** विलक्षणतेजः-संयोगेन। **रूपान्तरोत्पत्तेः** रूपान्तरस्य अन्यस्यैव रूपस्य उत्पत्तेरुदयात्। तत्रानुभव-माह—**नेति**। **न**। **हि**। **घटस्य** घटद्रव्यस्य। **पाकानन्तरम्** आमघटस्य पाके सतीति। **तदवयवः** तस्य पक्वघटस्य अवयवोऽङ्गं कपालमिति। **अपक्वः आमः उपलभ्यते** प्राप्यतेऽपितु पक्व एवेति। तथा **च न**। **हि**। **रक्तकपालस्य** पाकेन रक्तवर्णतां प्राप्तस्य घटावयवस्य तस्य। **कपालिका** अवयवः। कापालिकाः इत्यपि पाठः। **नीलावयवा** नीलवर्णावयवयुक्ता। **भवति**। **एवम्**। इत्थं हि त्रसरेणुपर्यन्तावयवस्यापि पाकसाधक-प्रमाणेन। **क्रमेण** द्व्यणुके त्र्यणुके च। **परमाणौ**। **अपि**। **पाकसिद्धेः** त्रसरेणुदृष्टान्तेन पाकसिद्ध्यनुमितेः। अनुमानञ्च द्व्यणुकं पाकजन्यरूपवत् पाकजन्यरूपाश्रयसमवायि-त्वात् त्रसरेणुवदिति। कारिकागतमन्यदिति **जलतेजःपरमाणुरूपभिन्नं** जलपरमाणो-स्तेजःपरमाणोश्च यद्रूपं तदितरत्। **रूपम्**। सहेतुकमिति **जन्यं** प्रागभावप्रतियोगीति।

अनुवाद—वह रूप जल एवं तेज के परमाणुओं में नित्य होता है और उससे अन्य सहेतुक अर्थात् अनित्य होता है।

जलादीति। जल के परमाणु एवं तेज के परमाणु में जो रूप है, वह नित्य होता है। पृथ्वी के परमाणु में जो रूप है, वह नित्य नहीं होता, क्योंकि उसमें पाक से दूसरे रूप की उत्पत्ति होती है। न तो घट-पाक के बाद उसका अवयव कच्चा मिलता है। न तो लाल कपाल के अवयव नीले अवयव वाले ही होते हैं। इस प्रकार क्रम से (त्रसरेणु की तरह द्व्यणुक भी) परमाणु में भी (अनुमान प्रमाण के द्वारा) पाक की सिद्धि होती है। **अन्यदिति**। कारिका में जो अन्यत् पद है उसका अर्थ जल एवं तेज के परमाणु के रूप से भिन्न रूप है। सहेतुक का अर्थ जन्य अर्थात् अनित्य है।

रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा ॥ १०१ ॥
सहकारी रसज्ञाया नित्यतादि च पूर्ववत्।

रस निरूपयति—रसस्त्विति। सहकारीति। रासनज्ञाने रसः कारण-मित्यर्थः। पूर्ववदिति। जलपरमाणौ रसो नित्योऽन्यः सर्वोऽपि रसोऽनित्य इत्यर्थः॥ १०१ ॥

आलोकः—इत्थं रूपं निरूप्य सम्प्रति क्रमप्राप्तं रसं निरूपयति परममूले—**रस इति**। रसनाग्राह्यः तु रसः स च मधुरादिः अनेकधा रसज्ञाया सहकारी तस्य नित्यतादि च पूर्ववत् इति। **रसनाग्राह्यः** रसनया रसनेन्द्रियेण ग्राह्यः आस्वाद्यः। विषयः। तु पूर्वोक्तविलक्षणमेव। रसः रसाख्यगुण इति। स च मधुरादिः मधुरं स्वादु आदिपदात् अम्ललवणकटुकषायतिक्तानां ग्रहणम्, मधुरमादिर्यस्य तादृशो रसः। **अनेकधा** षड्विधो भवतीति। स च। **रसज्ञाया** रसनेन्द्रियस्य तज्जन्यप्रत्यक्षे। सहकारी सहयोगी। भवतीति। नित्यतादि नित्यत्वानित्यत्वे। च हि। **पूर्ववत्** पूर्वोक्तरूपवत् अर्थात् जलपरमाणुरसस्य नित्यत्वं पार्थिवरसस्यानित्यत्वम्। मूले कारिकांशं विवृणोति—**रसमिति**। **रसं निरूपयति** विवृणोति। .**रसस्त्विति**। सहकारीति सहकारीति **रासनज्ञाने** रसनाजन्यप्रत्यक्षे। **रसः**। **कारणं** हेतुः। **इत्यर्थः**। **पूर्ववदिति**। **जलपरमाणौ** जलगतपरमाणौ। **रसः**। **नित्यः** ध्वंसप्रागभावाप्रतियोगी। **अन्यः** तदितरः पृथिवीसम्बद्ध इति। **सर्वः अपि**। **रसः**। **अनित्यः** प्रागभावप्रतियोगी। **इत्यर्थः** इति।

अत्र हि रसनेन्द्रियकरणलौकिकसन्निकर्षकरसादिप्रत्यक्षं प्रति विषयविधया रसो निमित्तकारणमिति प्रतिपादितं सहकारी रसज्ञाया इति कथनेन। तत्र प्राञ्चस्तु चक्षुरादिकरणानां स्वनिष्ठगुणादिसहकारेणैव कारणत्वात् तादृशसहकारित्वमेवाऽत्र विवक्षितमिति वदन्ति। परे तु रूपादेः रासनवारणाय द्रव्यसमवेतनिष्ठलौकिकविषयतासम्बन्धेन रासनं प्रति तादात्म्येन रसः कारणमिति रीत्या रसगन्धयोः कारणत्वमिति। न च मरीचमचिकाशुण्ठ्यादीनामङ्गुल्यादिस्पर्शानन्तरं तदादिना नेत्रनासिकादौ स्पृष्टे सति तत्र तिक्तरसो भासते तथा च तिक्तस्य न केवलरसनाग्राह्यत्वमिति वाच्यं, तत्र न तिक्तरसस्यापितु ज्वलनस्यानुभवात्। तच्च दाह एव तिक्ते पदार्थे तैजसभागोऽधिक इति फलबलकल्पनीयत्वादिति किरणावल्यादौ विस्तरः। प्राचीनमते चित्ररूपवच्चित्ररसोऽपि मतः, किन्तु द्रव्ये रसनेन्द्रियसन्निकर्षस्य संयोगस्य षड्विधसन्निकर्षघटकस्य सत्त्वेऽपि रसनेन्द्रियस्य तद्ग्रहणेऽसामर्थ्यान्न सोऽङ्गीकृतो नव्यैः। अतिरिक्तचित्ररसानङ्गीकारेऽपि आम्रादेः रासनप्रत्यक्षत्वानुपपत्तेरभावादिति विस्तरोऽन्यत्र। लक्षणं तु लौकिकसन्निकर्षेण रसनाजन्यप्रत्यक्षविषयत्वे सति गुणत्वमिति ॥ १०१ ॥

अनुवाद—रस तो रसना से ग्राह्य होता है। वह मधुर आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है। वह रसनाजन्य ज्ञान में सहकारी कारण होता है। रस की नित्यता, अनित्यता आदि रूप की तरह होता है अर्थात् जलपरमाणु में नित्य एवं पार्थिव परमाणु में अनित्य होता है।

रसं निरूपयतीति। रस का निरूपण करते हैं—**रसस्तु इति**। **सहकारीति**। रासन ज्ञान में रस कारण होता है, ऐसा अर्थ है। **पूर्ववदिति**। जलपरमाणु में रस नित्य होता है, अन्य सभी रस अनित्य होते हैं, ऐसा आशय है ॥ १०१ ॥

घ्राणग्राह्यो भवेद् गन्धो घ्राणस्यैवोपकारकः ॥ १०२ ॥

सौरभश्चासौरभश्च स द्वेधा परिकीर्तितः ॥

गन्धं निरूपयति—घ्राणग्राह्य इति। उपकारक इति। घ्राणजन्यज्ञाने सहकारिकारणमित्यर्थः। सर्वोऽपि गन्धोऽनित्य एव ॥ १०२ ॥

आलोकः—परममूले क्रमप्राप्तं गन्धं निरूपयति—**घ्राणग्राह्य** इति। घ्राणग्राह्यः गन्धः भवेत्। (स च) घ्राणस्य एव उपकारकः स (च) सौरभः च असौरभः च द्वेधा परिकीर्तित इति। **घ्राणग्राह्यः** घ्राणेन घ्राणेन्द्रियेण ग्राह्यः घ्राणेन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष-विषयः। **गन्धः** गन्धाख्यगुणः। भवेत्। इति। लौकिकसन्निकर्षेण घ्राणेन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष-विषयत्वे सति गुणत्वं गन्धत्वमिति गन्धलक्षणम्। **घ्राणस्य** घ्राणेन्द्रियस्य। एव हि। **उपकारकः** इन्द्रियजन्यज्ञानप्रत्यक्षे विषयविधया निमित्तकारणमिति। **सः** गन्धः। **सौरभः** सुगन्धः। **च**। **असौरभः** दुर्गन्धः। **च**। इति भेदेन। **द्विधा** द्विप्रकारकः। **परिकीर्तितः** कथितः नव्यैरिति शेषः। प्राचीनमते तु चित्रो गन्ध इति तृतीयोऽपि भेदः। मूले कारिका-शयं विवृणोति—**गन्धं निरूपयतीति**। **गन्धं** गन्धगुणम्। **निरूपयति** विवृणोति। **घ्राण-ग्राह्य** इति। कारिकायाः प्रतीकग्रहणमिदं घ्राणग्राह्यो भवेद् गन्ध इति। उपकारक-पदं विवृणोति—**उपकारक** इति। **घ्राणजन्यज्ञाने** घ्राणेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषये। **सहका-रिकारणं** निमित्तकारणम्। **इति** इत्यम्। **अर्थः** आशयः। गन्धस्य नित्यानित्यत्वविवेक-माह—**सर्वोऽपीति**। **सर्वः** निखिलः। **अपि** च। **गन्धः**। **अनित्यः** प्रागभावप्रतियोगी। **एव** न तु नित्योऽपीति तस्य परमाणावपि पाकजत्वादुत्पत्तिध्वंसप्रतियोगित्वमिति। गन्धत्वसुरभित्वादिजातयः प्रत्यक्षसिद्धा एवेति विस्तरोऽन्यत्र ॥ १०२ ॥

अनुवाद—गन्ध वह गुण है जो घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य होता है। वह गन्ध घ्राणे-न्द्रिय का उपकारक अर्थात् घ्राणेन्द्रियजन्य ज्ञान में निमित्तकारण होता है। वह सुगन्ध एवं दुर्गन्ध के भेद से दो प्रकार का होता है (प्राचीन मत में चित्र गन्ध भी।)।

गन्ध का निरूपण करते हैं—**घ्राणग्राह्य** इति। उपकारक का अर्थ है—घ्राणजन्य ज्ञान में सहकारी कारण। सभी प्रकार के गन्ध अनित्य ही होते हैं ॥ १०२ ॥

स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यस्त्वचः स्यादुपकारकः ॥ १०३ ॥
अनुष्णाशीतशीतोष्णभेदात्स त्रिविधो मतः।
काठिन्यादि क्षितावेव नित्यतादि च पूर्ववत् ॥ १०४ ॥

स्पर्शं निरूपयति—स्पर्श इति। उपकारक इति। स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारणमित्यर्थः। अनुष्णाशीतेति। पृथिव्यां वायौ च स्पर्शोऽनुष्णाशीतः। जले शीतः। तेजस्युष्णः। काठिन्येति। कठिनसुकुमारस्पर्शौ पृथिव्यामेवेत्यर्थः। कठिनत्वादिकं तु न संयोगनिष्ठो जातिविशेषश्चक्षुर्ग्राह्यत्वापत्तेः। पूर्ववदिति। जलतेजोवायुपरमाणुस्पर्शाः नित्यास्तद्भिन्नास्त्वनित्या इत्यर्थः ॥ १०४ ॥

आलोकः—परममूले स्पर्शगुणं निरूपयति—**स्पर्श** इति। त्वगिन्द्रियग्राह्यः स्पर्शः, (स च) त्वचः उपकारकः सः अनुष्णाशीतशीतोष्णभेदात् त्रिविधः मतः काठिन्यादि क्षितौ एव नित्यतादि च पूर्ववत् इति। **त्वगिन्द्रियग्राह्यः** त्वगिन्द्रियेण ग्राह्यः लौकिक-

सन्निकर्षेण त्वगिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयः। **स्पर्शः** स्पर्शगुण इति। लौकिकसन्निकर्षेण त्वगिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयत्वे सति गुणत्वं स्पर्शत्वमिति। स च। **त्वचः** त्वगिन्द्रियस्य। **उपकारकः** सहकारी स्पार्शनप्रत्यक्षे विषयविधया निमित्तकारणमिति। **अनुष्णाशीतशीतोष्णभेदात्** अनुष्णाशीतः शीतः उष्णश्च तद्भेदात्। अनुष्णाशीतः पृथिवीवाय्वोः शीतो जलस्य उष्णस्तेजसः इति। **त्रिविधः** त्रिप्रकारः। **मतः**। **काठिन्यादि** काठिन्यं कठिनता आदिपदात् मृदुत्वम्, कठिनः स्पर्शः, मृदुः स्पर्शः इत्येते। **क्षितौ** पृथिव्याम्। **एव**। **नित्यतादि** नित्यत्वानित्यत्वे। **पूर्ववत्** जलतेजोवायुपरमाणूनां स्पर्शो नित्यास्तदितरे त्वनित्या इति। मूले कारिकाशयं विवृणोति—**स्पर्शं निरूपयतीति**। **स्पर्शं** स्पर्शगुणम्। निरूपयति विवृणोति। **स्पर्श इति**। स्पर्श इति कारिकायाः प्रतीकग्रहणमिदम्। स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्य इति। **उपकारक इति** उपकारक इत्यस्य **स्पार्शनप्रत्यक्षे** स्पर्शेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षज्ञाने। **स्पर्शः**। **कारणं** निमित्तकारणम्। **इति** इत्थम्। **अर्थः** आशयः। **अनुष्णाशीतेति**। **पृथिव्याम्**। **वायौ**। **च**। **स्पर्शः** अनुष्णाशीतः। **जले शीतः**। **तेजसि उष्णः**। **काठिन्येति**। **कठिनसुकुमारस्पर्शौ** कठिनस्पर्शः सुकुमारस्पर्शश्च। **पृथिव्यां** क्षितौ। **एव**। **इति**। **अर्थः** आशयः। पाषाणादिस्पर्शः कठिनः सुकुमारो नवनीतादिस्पर्शः नानास्पर्शवदवयवारब्धपृथिवीस्पर्शश्चित्रस्पर्श इत्यपि। कठिनत्वादिकं संयोगगतजातिविशेष इति नवीनैकदेशिमतं दूषयति—**कठिनत्वादिकमिति**। **कठिनत्वादिकं** कठिनत्वं मृदुत्वञ्च तदादिकम्। **तु** हि। **न** नैव। **संयोगनिष्ठः** संयोगगतः। कठिनः संयोगः इतिरूपः जातिविशेषः। **चक्षुर्ग्राह्यत्वापत्तेः** चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयत्वापत्तेः। काठिन्यं मृदुत्वञ्च स्पर्शस्यैव भेदौ न तु संयोगनिष्ठौ अर्थात् काठिन्यादिकं न संयोगनिष्ठजातिविशेषः तथा सति यो गुणो यदिन्द्रियेण गृह्यते तन्निष्ठजातिस्तद्गुणाभावश्च तेनैव गृह्येते इति नियमात् चक्षुरिन्द्रियग्राह्यसंयोगनिष्ठजातिकठिनत्वादीनां चक्षुरिन्द्रियप्रत्यक्षापत्तेः। तेन यदुच्यते काठिन्यादिकं संयोगनिष्ठजातिविशेषो दृढसंयोगः कठिनत्वं शिथिलसंयोगो मृदुत्वमिति तदसदिति। विशेषस्तु प्रभादौ। **पूर्ववदिति**। पूर्ववदिति पदस्यायमाशयो यद् **जलतेजोवायुपरमाणुस्पर्शाः** जलस्य तेजसो वायोश्च परमाणूनां स्पर्शाः। **नित्याः** प्रागभावध्वंसाप्रतियोगिनः। **तद्भिन्नाः** तदितरे पार्थिवस्पर्शाः। कार्यरूपस्पर्शाश्च अनित्यजलतेजोवायुस्पर्शाश्च। **अनित्याः**। **इति**। **अर्थः**। यथा पाषाणादिस्पर्शः कठिनो नवनीतादिस्पर्शः सुकुमारस्तथैव नानास्पर्शवदवयवारब्धः पार्थिवस्पर्शः चित्रस्पर्शोऽपीति ॥ १०४ ॥

अनुवाद—त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य गुण स्पर्श है। वह त्वगिन्द्रिय का उपकारक होता है। वह अनुष्णशीत, शीत एवं उष्ण भेदों से तीन प्रकार का होता है। काठिन्य आदि पूर्ववत् अर्थात् रस की तरह होता है।

स्पर्श का निरूपण करते हैं—**स्पर्श** इति। **उपकारक** इति। स्पार्शनप्रत्यक्ष में स्पर्श कारण होता है, यह अर्थ है। **अनुष्णाशीतेति**। पृथ्वी एवं वायु में स्पर्श अनुष्णाशीत होता है, जल में शीत एवं तेज में उष्ण। **काठिन्येति**। कठिन एवं सुकुमार स्पर्श पृथिवी में ही होते हैं, यह अर्थ है। कठिनत्व आदि तो संयोग में रहने वाले जातिविशेष नहीं हैं, क्योंकि वैसा होने पर उसमें चक्षुर्ग्राह्यता आ पड़ेगी। **पूर्ववदिति**। जल, तेज एवं

वायु के परमाणुओं के स्पर्श नित्य होते हैं, उनसे भिन्न तो अनित्य होते हैं, ऐसा अर्थ है ॥ १०४ ॥

एतेषां पाकजत्वं तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित् ।
तत्रापि परमाणौ स्यात्पाको वैशेषिके नये ॥ १०५ ॥

एतेषामिति । एतेषां रूपरसगन्धस्पर्शानाम् । नान्यत्रेति । पृथिव्यां हि रूपरसगन्धस्पर्शपरावृत्तिरग्निसंयोगादुपलभ्यते । न हि शतधाऽपि ध्मायमाने जले रूपादिकपरिवर्तते । नीरे सौरभमौष्ण्यं चान्वयव्यतिरेकाभ्यामौपाधिकमेवेति निर्णीयते । पवनपृथिव्योः शीतस्पर्शादिवत् । तत्रापि पृथिवीष्वपि मध्ये परमाणावेव रूपादीनां पाक इति वैशेषिका वदन्ति । तेषामयमाशयः—अवयविनाऽवष्टब्धेष्ववयवेषु पाको न सम्भवति परन्तु वह्निःसंयोगेनावयविषु विनष्टेषु स्वतन्त्रेषु परमाणषु पाकः । पुनश्च पक्वपरमाणुसंयोगाद् द्वयणुकादिक्रमेण पुनर्महावयविपर्यन्तमुत्पत्तिः । तेजसामतिशयितवेगवशात्पूर्वव्यूहनाशो झटिति व्यूहान्तरोत्पत्तिश्चेति । अत्र द्वयणुकादिविनाशमारभ्य कतिभिः क्षणैः पुनरुत्पत्त्या रूपादिमद्भवतीति शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थं क्षणप्रक्रिया । तत्र विभागजविभागानङ्गीकारे नवक्षणा तदङ्गीकारे तु विभागः किञ्चित्सापेक्षो विभागं जनयेत् । निरपेक्ष्यस्य तत्त्वे कर्मत्वं स्यात् । संयोगविभागयोरनपेक्षं कारणं कर्मेति वैशेषिकसूत्रम् । स्वोत्तरोत्पन्नभावान्तरानपेक्षत्वं तस्यार्थः । अन्यथा कर्मणोऽप्युत्तरसंयोगोत्पत्तौ पूर्वसंयोगनाशापेक्षणादव्याप्तिः स्यात् ।

तत्र यदि द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजविभागः स्यात्तदा दशक्षणा । अथ द्रव्यनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजविभागः स्यात्तदैकादशक्षणा ।

आलोकः—रूपरसादीनां विशेषान्तरमाह परममूले—**एतेषामिति** । एतेषां पाकजत्वं तु क्षितौ अन्यत्र कुत्रचित् न तत्रापि वैशेषिके नये पाकः परमाणौ स्यात् इति । **एतेषां** रूपरसगन्धस्पर्शानाम् । **पाकजत्वं** पाकजन्यत्वम् । **तु** हि । **क्षितौ** पृथिव्याम् एवेति । **अन्यत्र** तदितरेषु जलतेजोवायुषु । **कुत्रचित्** क्वचिद् परमाणौ द्वयणुकादौ वा । **न** न पाकजत्वमिति । **तत्र** पृथिव्याम् । **अपि** च । **वैशेषिके** काणादे । **नये** मार्गे । मते इति । **पाकः** रूपादिपाकः । **परमाणौ** पृथिवीपरमाणावेव न तु द्वयणुकादौ । **स्यात्** । इति । रूपादीनां पाकजत्वं पृथिव्यामेव भवति, पृथिव्या अपि काणादमतानुसारेण परमाणावेव पाको न तु द्वयणुकादाविति । मूले कारिकाशयं विवृणोति—**एतेषामिति** । एतेषामिति कारिकाया व्याख्यानाय प्रतीकग्रहणम् । कारिकायाम्—**एतेषामिति** । **रूपरसगन्धस्पर्शानां** तेषां तेषां रूपादीनाम् । **नान्यत्रेति** नान्यत्रेत्यस्यायमेवाशयो यत् **पृथिव्यां** क्षितौ । **हि** । **रूपरसगन्धस्पर्शपरावृत्तिः** रूपादीनां तेषां तेषां परावृत्तिः अन्यतमरूपोपलब्धिः[1] । **अग्निसंयोगात्** विजातीयतेजःसंयोगात् । **उपलभ्यते**

प्राप्यत इति। रूपरसगन्धस्पर्शाः ये पृथिव्यां ते विलक्षणतेजःसंयोगात्पूर्वस्वरूपमुत्सृज्य स्वरूपान्तरं गृह्णन्तीति भावः। जले तदभावमाह—नेति। **न**। **हि**। **शतधा** बहुशः। **अपि च**। **ध्मायमाने** विजातीयतेजःसंयोगेनोष्णीकृते। **जले** नीरे। **रूपादिकं** रूपरसादि। **परिवर्तते** पूर्वरूपादिनाशपूर्वकरूपान्तरं प्राप्नोतीति। तर्हि कथं तत्र सौरभमौष्ण्यञ्चेत्यपेक्षायामाह—**नीर** इति। **नीरे** जले। **सौरभं** सौगन्धम्। **औष्ण्यम्** उष्णता। **च** अपि। **अन्वयव्यतिरेकाभ्यां** पृथिवीसत्त्वे गन्धसत्त्वं पृथिवीभिन्ने च गन्धाभावसत्त्वम् इति अन्वयेन व्यतिरेकेण च। **औपाधिकं** साङ्केतिकम्। **एव**। जले गन्धप्रतीतिः पृथिवीसम्बन्धत्वादिति। **निर्णीयते** निश्चीयते। **पवनपृथिव्योः** तयोः। **शीतस्पर्शादिवत्** जलसंयोगेन पवने पृथिव्यां च यथा शीतस्पर्शः तेजःसंयोगेन यथोष्णस्पर्शस्तथेति। **तत्रापि** कारिकायां तत्रापीत्यस्य **पृथिवीषु** नित्यानित्योभयविधपृथिवीमध्ये पृथिव्यवयवे। **अपि**। **परमाणौ** सूक्ष्मतमैकके। **एव हि**। **रूपादीनां** रूपरसादीनाम्। **पाकः** अग्निसंयोगवशात्पूर्वरूपादिपरावृत्तिः। **इति** इत्थम्। **वैशेषिकाः** काणादाः। **वदन्ति** आमनन्ति। **तेषां** वैशेषिकाणाम्। **अयं** वक्ष्यमाणप्रकारः। **आशयः** अभिप्रायः। **अवयविना** अवयविभूतघटादिना। **अवष्टब्धेषु** स्वकारणीभूतसंयोगाश्रयत्वसम्बन्धेनाश्रितेषु। **अवयवेषु** कपालादिषु। **पाकः** अग्निसंयोगनिमित्तकरूपादिपरवृत्तिः। **न**। सम्भवति घटते। **परन्तु** किन्तु। **वह्निसंयोगेन**। **अवयविषु** अवयविभूतघटादिषु। **विनष्टेषु** विनाशमुपयातेषु। **स्वतन्त्रेषु** आरम्भकसंयोगरहितेषु। **परमाणुषु** सूक्ष्मतमैककेषु। **एव हि**। **पाकः** पूर्वरूपादिनाशपूर्वकविजातीयरूपाद्युत्पत्तिः। **पुनश्च** तदनन्तरम्। **पक्वपरमाणुसंयोगात्** पक्वानां परावृत्तरूपादिमतां परमाणूनां संयोगात् वह्निसंयोगाधीनद्वयणुकाद्यारम्भकक्रियाजन्यपरस्परसंयोगात्। **द्वयणुकादिक्रमेण** परमाणुद्वयसंयोगेन द्वयणुकं द्वयणुकत्रयसंयोगेन त्र्यणुकं त्र्यणुकचतुष्टयसंयोगेन चतुरणुकमित्येवंक्रमेण। **पुनः**। **महावयविपर्यन्तं** रजःकङ्करपिण्डकपालघटादिमहावयविपर्यन्तम्। **उत्पत्तिः** उद्भव इति। तत्र पाकजरूपादौ परमाणवः समवायिकारणं तेजःसंयोगोऽसमवायिकारणमदृष्टादिकं निमित्तकारणं द्वयणुकादिरूपे कारणरूपमसमवायिकारणमिति किरणावल्यादौ स्पष्टम्। **तेजसां** वह्निसूक्ष्मावयवानाम्। **अतिशयितवेगवशात्** विजातीयवेगाधीनक्रियावशात्। **पूर्वव्यूहनाशः** तादृशक्रियया झटिति क्रमेण **पूर्वव्यूहनाशः** द्वयणुकादिघटपर्यन्तनाशः। **झटिति** अविलम्बमेव। **व्यूहान्तरोत्पत्तिः** द्वयणुकप्रभृतिघटपर्यन्तोत्पत्तिः। **च**। तथा च क्षणभेदाज्ञानात् न पूर्वव्यूहनाशाद्युपलब्धिः पूर्वव्यूहसाजात्यदोषाच्च पूर्वव्यूहभेदानुपलब्धिश्चेति। **अत्र** रूपादेः पाकजत्वप्रकरणे। **द्वयणुकादि** द्वयणुकत्र्यणुकादि। **स्वविनाशं** वह्निसंयोगजनितविनाशम्। **आरभ्य**। **कतिभिः** कतिपयैरेव। **क्षणैः**। **पुनः**। **उत्पत्त्या** उद्भवेन। **रूपादिमद्** रूपरसादियुक्तम्। **भवति**। इति। **शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थं** शिष्यजिज्ञासानिवृत्तये। **क्षणप्रक्रिया** द्वयणुकनाशादिरूपाद्युत्पत्तिक्षणनिरूपणक्रियेति। तत्र त्रिविधो हि विभागः—एकक्रियाजन्यविभागः, उभयक्रियाजन्यविभागो विभागजविभागश्चेति। विभागजविभागो द्विविधः—कारणमात्रविभागाद् कारणाकारणविभागः कारणाकारणविभागात्कार्याकार्यविभागश्चेति। तत्र विभाग-

प्रकरणे । **विभागजविभागानङ्गीकारे** विभागजो यो विभागस्तस्यानङ्गीकारेऽस्वीकारे इति । विभागजविभागस्यायमेवाशयो यद्यदा परमाणुद्वयस्य विभागः सम्पद्यते तदा तन्निमित्तमादाय परमाणुराकाशाद् विभक्तो भवति। तत्परमाण्वाकाशविभागं प्रति परमाणुद्वयविभागः कारणम् । तेन परमाण्वाकाशविभागः परमाणुद्वयविभागजन्य इति । (विभागजविभागो द्विविधः—कारणमात्रविभागात्कारणमात्रविभागः, यथा कपाले कर्म, ततः कपालद्वयविभागः, ततो घटारम्भकसंयोगनाशः, ततो घटनाशः, ततः कपालविभागेन सकर्मणः कपालस्य आकाशाद् विभागो जन्यते, सोऽयं प्रथमः । कारणाकारणविभागात् कार्याकार्यविभागो यथा—करक्रियया करतलविभागस्ततः शरीरेऽपि विभक्तप्रत्ययः सोऽयमपरः । प्रकृते तु आद्यानङ्गीकारे इति ।) एतन्मते तु कपालकर्मणैव कपालद्वयविभागवत्कपालाकाशविभागोऽपि । एतद्धि प्राचीनानां मतम् । **नवक्षणा** नव क्षणाः भवन्तीति । द्वयणुकनाशमारभ्य रक्ताद्युत्पत्तिपर्यन्ता वक्ष्यमाणा इति । **तदङ्गीकारे** तस्याः परमाणुद्वयविभागात्मककारणमात्रविभागतः परमाण्वाकाशविभागात्मककारणाकारणविभागोत्पत्तेर्विभागजविभागस्य अङ्गीकारे स्वीकारे । **तु** हि । **विभागः** कारणमात्रविभागः । **किञ्चित्सापेक्षः** स्वोत्तरोत्पन्नकिञ्चिद्वस्तुसहकृतः । **एव** । **विभागं** कारणाकारणविभागम् । **जनयेत्** उत्पादयेत् । **निरपेक्षस्य** स्वोत्तरोत्पन्नकिञ्चिदसहकृतस्य कारणमात्रविभागस्य । **तत्त्वे** विभागजनकत्वे । **कर्मत्वं** कर्मलक्षणाक्रान्तत्वापत्तिः । **स्यात्** । इति । कर्मलक्षणञ्चेत्थम्—**संयोगविभागयोः** संयोगस्य विभागस्य च । **अनपेक्षम्** उदासीनम् । **कारणम्** । स्वोत्पत्त्यनन्तरोत्पत्तिकभावभूतानपेक्षमिति । **कर्म** । **इति** । **वैशेषिकसूत्रं** काणादसूत्रम् । सूत्रं तु—'एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्' (१।१।१७) इति । **तस्य** संयोगविभागानपेक्षकारणस्य । **अर्थः** आशयः । **स्वोत्तरोत्पन्नभावान्तरानपेक्षत्वं** स्वोत्तरम् उत्पन्नं यद्भावान्तरं तत्र अनपेक्षत्वं कर्मानन्तरं यद्भावान्तरमुत्पद्यते कर्म तस्यानपेक्षकं भवतीति । **अन्यथा** अतथाभावे कर्मणः स्वोत्तरोत्पन्नभावान्तरानपेक्षत्वार्थाग्रहणे । भावपदघटिततादृशार्थाकरणे इति । **कर्मणः** । **अपि** । **उत्तरसंयोगोत्पत्तौ** स्वोत्तरसंयोगे जननीये । **पूर्वसंयोगनाशापेक्षणात्** पूर्ववर्तिसंयोगनाशस्य अपेक्षणात् । **अव्याप्तिः** कर्मलक्षणे एव अव्याप्तिदोषः । स्यात् । इति । तथार्थग्रहणे तु कर्मणः स्वोत्तरं जायमानस्य पूर्वसंयोगनाशस्य भावत्वाभावेन नाव्याप्तिरिति । **अयमाशयः**—कर्मण्यपि उत्तरसंयोगोत्पत्तिः पूर्वसंयोगनाशमपेक्षत इति कथं संयोगविभागानपेक्षकारणत्वलक्षणे नाव्याप्तिरिति चेदुच्यते, तत्र भावपदग्रहणात्पूर्वसंयोगनाशस्याभावात्मकत्वान्न दोष इति । **तत्र** किञ्चित्सापेक्षविभागस्य विभागजनकत्वपक्षे । **यदि** । **द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशविशिष्टं** परमाणुद्वयसंयोगनाशव्यवहितोत्तरम् । **कालं** क्षणम् । **अवेक्ष्य** अनुसृत्य । **विभागजविभागः** परमाणुद्वयविभागजन्यः परमाण्वाकाशविभागः । स्वीक्रियते तदा । **दश क्षणाः** भवन्ति । कारणाऽकारणविभागं प्रति आरम्भकसंयोगस्य प्रतिबन्धकत्वेन कारणमात्रविभागस्य आरम्भकनाशद्वारैव हेतुत्वादिति । पक्षोऽयं न्यायकन्दलीकारसम्मतः । **अथ** पक्षान्तरे । **द्रव्यनाशविशिष्टं** द्वयणुकनाशक्षणाव्यवहितोत्तरम् । **कालं** क्षणम् ।

अपेक्ष्य अनुसृत्य। **विभागजविभागः** परमाणुद्वयविभागजन्यपरमाण्वाकाशविभागः। **स्यात्** स्वीक्रियेत। **तदा** तत्पक्षे। **एकादश**। क्षणाः। भवन्तीति। कारणाऽकारणविभागं प्रति द्रव्यस्य प्रतिबन्धकतया तदभावस्य हेतुत्वेन परमाणुद्वयविभागस्य द्वयणुकनाशद्वारैव परमाण्वाकाशविभागं प्रति हेतुत्वादिति। पक्षोऽयं नवीनैकदेशिसम्मतः।

अयमाशयः—यदि कारणमात्रविभागात् कारणाकारणविभागमस्वीकृत्य कारण-क्रिययैव कारणाकारणोपपत्तिः स्वीक्रियते तदा द्वयणुकादीनां स्वविनाशमारभ्य सजातीयद्वयणुकादिपुनरुत्पादनेन रूपादिमद्भवने नव क्षणाः भवन्ति। अथ च परमाणु-द्वयसंयोगनाशाव्यवहितोत्तरक्षणे एव विभागजविभागः स्वीक्रियते तदा तत्र भवन्ति दश क्षणाः, अथ च द्वयणुकनाशाव्यवहितोत्तरक्षणे एव विभागजविभागः स्वीक्रियते तदा भवन्ति एकादश क्षणा इति। द्वयणुकनाशश्च प्रथमं वह्निसंयोगस्ततः परमाणौ क्रिया, ततः परमाण्वन्तरेण विभागस्तत आरम्भकसंयोगनाशस्ततो द्वयणुकनाश इति।

अनुवाद—इन (रूप, रस आदि) का पाकजत्व पृथिवी में ही होता है, पृथिवी के अतिरिक्त अन्यत्र (जल आदि में) कहीं नहीं। उसमें भी वैशेषिक न्याय के अनुसार पाक परमाणु में ही होता है॥ १०५॥

एतेषामिति। **इनका**—रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श का। **नान्यत्रेति**। पृथिवी में ही अग्निसंयोग से रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श की परावृत्ति (परिवर्तन) मिलती है। सौ बार गरमाये जाने पर भी जल में रूप, रस आदि परावर्तित नहीं होते। जल में सौरभ (सुगन्धिपन) एवं उष्णता अन्वयव्यतिरेक से औपाधिक ही है अर्थात् पृथ्वी के रहने पर रहते हैं और न रहने पर नहीं रहते हैं, ऐसा निश्चित है; जैसे कि वायु एवं पृथिवी में शीत स्पर्श आदि हैं। **उसमें भी**, पृथिवी में भी पृथिवी में ही रूप आदि का पाक होता है, ऐसा वैशेषिक मानते हैं। उन लोगों का ऐसा आशय है—अवयवी (घट) के द्वारा अवष्टब्ध (स्वकारणीभूतसंयोगाश्रयत्वसम्बन्ध से आश्रित) अवयवों में पाक सम्भव नहीं होता, परन्तु वह्नि-संयोग से अवयवी के विनष्ट हो जाने पर स्वतन्त्र हुए परमाणुओं में ही पाक होता है। फिर पके हुए परमाणुओं के संयोग से द्वयणुकादि-क्रम से महावयवी पर्यन्त की उत्पत्ति होती है। तेजों के अत्यन्त वेग के कारण पूर्वव्यूह का नाश होता है, तुरन्त दूसरे व्यूह की उत्पत्ति भी होती है।

इसमें द्वयणुकादि अपने विनाश से लेकर कतिपय क्षणों में फिर सजातीय द्वयणुकों की उत्पत्ति होने से रूप आदि से युक्त होते हैं। इसे शिष्यों की बुद्धि के वैशद्य के लिए क्षण-प्रक्रिया बतलाई जाती है। उसमें विभागजविभाग (परमाणुद्वय के विभाग के द्वारा परमाणु एवं आकाश में विभाग होना) के स्वीकार न करने पर नौ क्षण होते हैं। उसके मानने पर तो विभाग (परमाणुद्वय का विभाग) किञ्चित्सापेक्ष होकर विभाग (परमाणु एवं आकाश के विभाग) का उत्पादन करता है। किञ्चिद्व-स्तुनिरपेक्ष रूप में वैसा होने पर तो कर्मत्व हो जायेगा। 'संयोग एवं विभाग का अनपेक्ष कारण कर्म है' ऐसा वैशेषिक सूत्र है। 'स्वयं के पश्चात् उत्पन्न दूसरे भाव का अनपे-क्षत्व' उस (अनपेक्षत्व) का अर्थ है। वैसा न मानने पर कर्म का भी उत्तरवर्ती

संयोग की उत्पत्ति में पूर्वसंयोग नाश की अपेक्षा होने से अव्याप्ति होती है। उसमें यदि द्रव्यारम्भ होने वाले संयोगविनाशविशिष्ट काल की अपेक्षा से अर्थात् परमाणुद्वयसंयोग नाश के अव्यवहित उत्तर क्षण में ही विभागजविभाग मानने पर दश क्षण होते हैं। और द्रव्यनाशविशिष्ट काल की अपेक्षा से अर्थात् द्वयणुकनाश क्षण के अव्यवहित उत्तर क्षण में ही विभागजविभाग मानने पर एकादश क्षण होते हैं।

अथ नवक्षणा। तथाहि—वह्निसंयोगात्परमाणौ कर्म। ततः परमाण्वन्तरेण विभागः। तत आरम्भकसंयोगनाशः। ततो द्वयणुकनाशः। १। ततः परमाणौ श्यामादिनाशः। २। ततो रक्ताद्युत्पत्तिः। ३। ततो द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया। ४। ततो विभागः। ५। ततः पूर्वसंयोगनाशः। ६। तत आरम्भकसंयोगः। ७। ततो द्वयणुकोत्पत्तिः। ८। ततो रक्ताद्युत्पत्तिः। ९। ननु श्यामादिनाशक्षणे रक्तोत्पत्तिक्षणे वा परमाणौ द्रव्यारम्भानुगुणाः क्रियास्त्विवति चेन्न, अग्निसंयुक्ते परमाणौ यत्कर्म तद्विनाशमन्तरेण गुणोत्पत्तिमन्तरेण च परमाणौ क्रियान्तराभावात्कर्मवति कर्मान्तरानुत्पत्तेर्निर्गुणे द्रव्ये द्रव्यारम्भानुगुणक्रियानुपपत्तेश्च। तथापि परमाणौ श्यामादिनिवृत्तिसमकालं रक्ताद्युत्पत्तिः स्यादिति चेन्न, पूर्वरूपादिध्वंसस्यापि रूपान्तरे हेतुत्वात्। इति नवक्षणा।

आलोकः —नवक्षणान् परिगणयति—अथेति। अथ इति प्रकरणारम्भे। नव क्षणा इति नवक्षणक्रियेति। सा हि क्रिया या नवक्षणानतीत्य पूर्णा भवति। तथा हि इति निदर्शने। **अग्निसंयोगात्** वह्निप्रतियोगिकपरमाणुसमवेतपाकात्मकसंयोगात्। **परमाणौ** द्वयणुकारम्भकपरमाणुद्वये। **कर्म** क्रिया। **ततः** तदनन्तरम्। **परमाण्वन्तरेण** द्वयणुकारम्भकपरमाण्वन्तरेण। **विभागः** द्वयणुकारम्भकपरमाणुद्वयसमवेतविभागः। **ततः** तदनन्तरम्। **आरम्भकसंयोगनाशः** द्वयणुकासमवायिकारणसंयोगनाशः। **ततः**। **द्वयणुकनाशः** परमाणुद्वयकार्यद्वयणुकनाशः असमवायिकारणनाशस्य द्रव्यनाशे हेतुत्वात्। एतत्क्षणमारभ्य क्षणगणनेति तत्संसूचनायाङ्कमाह—१ इति। **ततः** द्वयणुकनाशानन्तरम्। **परमाणौ**। **श्यामादिनाशः**। अग्न्यन्तरसंयोगजन्यः परमाणुसमवेतश्यामादिनाशः। २। इति द्वितीयो क्षणः। **ततः**। **रक्ताद्युत्पत्तिः** श्यामादिनाशकादन्यस्माद्वा वह्निसंयोगाद् रक्तस्योद्भवः। ३। इति तृतीयः क्षणः। **ततः**। **द्रव्यारम्भानुगुणाः** परमाणौ द्वयणुकारम्भानुकूला। **क्रिया** कर्म। ४। इति चतुर्थः क्षणः। **ततः**। **विभागः** सक्रियपरमाणोः देशान्तराद्विभागः। ५। इति पञ्चमः क्षणः। ततः। **पूर्वसंयोगनाशः** परमाणौ देशान्तरानुयोगिकस्य पूर्वसंयोगस्य नाशः। ६। इति षष्ठः क्षणः। ततः। **आरम्भकसंयोगः** परमाणोः द्वयणुकारम्भकसंयोगः। ७। इति सप्तमः क्षणः। ततः। **द्वयणुकोत्पत्तिः**। ८। इत्यष्टमः क्षणः। ततः। **रक्ताद्युत्पत्तिः** रक्तादिरूपोद्भवः। ९। इति नवमः क्षणः। **इति नवक्षणा**।

क्षणप्रक्रिया चैषा द्वयणुकसङ्ख्यावयवपरमाणुविभागाद् द्वयणुकनाशक्षणे कारणाकारणविभागस्वीकारपक्षे सम्भवतीति। तृतीयक्षणे परमाणौ श्यामादिनाशेन, रक्ताद्यु-

त्पत्तिर्नवमक्षणे तु द्वयणुकोत्पत्त्यनन्तरं तत्र रक्तादिरूपोत्पत्तिरिति न पौनरुक्त्यमिति। आशङ्क्य समाधत्ते—**नन्विति । ननु । श्यामादिनाशक्षणे** परमाणौ द्वयणुकनाशानन्तरं श्यामादिनाशावसरे द्वितीयक्षणे । **वा** । **रक्तोत्पत्तिक्षणे** परमाणौ रक्तोत्पत्त्यात्मके तृतीयक्षणे । **परमाणौ । द्रव्यारम्भानुगुणा** द्वयणुकारम्भानुकूला । **क्रिया** कर्म। **अस्तु** भवतु । तत्र तथाभवने बाधकाभावात् तथास्वीकारे तदर्थकल्पितचतुर्थक्षण-कल्पनानावश्यकतयाऽष्टावेव क्षणा इति लाघवाच्चेति । **इति । चेत् । न** न समीचीनम् । **अग्निसंयुक्ते** वह्नितापिते । **परमाणौ । यत् ।** कर्म । **तद्विनाशं** द्वयणुकनाशोत्पत्ति-क्षणोत्पत्तिकोत्तरसंयोगासमवायिकारणक्रियानाशम् । **अन्तरेण** विना । **गुणोत्पत्ति** रक्तादिगुणोत्पत्तिम् । **अन्तरेण** विना । **च । परमाणौ । क्रियान्तराभावात्** अन्य-क्रियोत्पत्तेरसम्भवादिति । तत्र हेतुमाह—**कर्मवतीति** । एककर्मविशिष्टे । **कर्मान्तरा-नुत्पत्तेः** अन्यकर्मानुदयात्—समवायेन क्रियान्तरं प्रति पूर्वक्रियायाः प्रतिबन्धक-त्वात् **निर्गुणे** गुणहीने । **द्रव्ये** वस्तुनि । **द्रव्यारम्भानुगुणक्रियानुपपत्तेः** द्रव्यारम्भानु-गुणक्रियायाः द्वयणुकारम्भानुकूलक्रियायाः अनुपपत्तेः उत्पत्त्यसम्भवात् । **च** । पुन-राशङ्क्य समाधत्ते—**तथापीति । तथापि** तथाभूते सत्यपि । **परमाणौ । श्यामादिनिवृत्ति-समकालं** यदा द्वयणुकनाशेन परमाणुगतश्यामादि निवर्तते तत्समकालमेव । **रक्ताद्युत्पत्तिः** रक्तगुणाद्युद्भवः । **स्यात्** । तदानीं प्रतिबन्धकीभूतपूर्वरूपादेरभावात् । **इति । चेत् । न । पूर्वरूपादिध्वंसस्य** पूर्ववर्तिरूपादिनाशस्य । **अपि च । रूपान्तरे** अन्यरूपोत्पत्तौ । **हेतुत्वात्** कारणत्वात् । समवायेन रूपं प्रति समवायेन रूपप्रतियोगिताभावस्यापि प्रति-बन्धकाभावविधया हेतुत्वात्तत्र प्रतिबन्धकस्यैव सत्त्वान्न रक्ताद्युत्पत्तिस्तदानीमिति । तेन नाष्टौ क्षणा अपितु नवैवेति सिद्धम् । **इति** इति प्रकरणसमाप्तौ । **नवक्षणा** नवक्षणात्मक-प्रक्रियेति ।

अनुवाद—अब नवक्षण की प्रक्रिया बतलाई जाती है । जैसे कि वह्निसंयोग से द्रव्यारम्भक परमाणु में कर्म होता है । उसके बाद परमाणुद्वय का विभाग । तब द्वय-णुकारम्भसंयोग का नाश । तब द्वयणुक का नाश । १ (पहला क्षण) । तब परमाणु में श्याम आदि रूप का नाश । २ (दूसरा क्षण) । तब परमाणु में रक्त आदि की उत्पत्ति । ३ (तीसरा क्षण) । तब द्रव्यारम्भ के लिए अनुकूल क्रिया । ४ (चतुर्थ क्षण) । तब सक्रिय परमाणु का देशान्तर से विभाग । ५ (पञ्चम क्षण) । तब पूर्व संयोग का नाश । ६ (षष्ठ क्षण) । तब द्वयणुकारम्भक संयोग । ७ (सप्तम क्षण) । तब द्वयणुक की उत्पत्ति । ८ (अष्टम क्षण) । तब रक्त आदि रूप की उत्पत्ति । ९ (नवम क्षण) ।

श्याम आदि रूप के नाश-क्षण अथवा परमाणु में रक्त आदि गुण के उत्पत्तिक्षण में ही परमाणु में द्रव्यारम्भ के लिए अनुगुण क्रिया हो (और वैसा होने पर आठ ही क्षण हो जायेंगे और लाघव होगा), ऐसा कहा जाय तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अग्निसंयुक्त परमाणु में जो कर्म होता है, उसके विनाश के बिना एवं गुण की उत्पत्ति के बिना भी परमाणु में क्रियान्तर का अभाव होता है और कर्मयुक्त में दूसरे

कर्म की उत्पत्ति नहीं होती और गुणरहित द्रव्य में द्रव्यारम्भ के अनुगुण क्रिया की उपपत्ति नहीं होती । तब भी तो परमाणु में श्याम आदि गुण की निवृत्ति के समकाल में ही रक्त आदि रूप की उत्पत्ति हो, ऐसा कहा जाय तो भी उचित नहीं है, क्योंकि पूर्वरूप आदि के ध्वंस भी रूपान्तर में कारण होता है। अतः आठ क्षण नहीं अपितु नौ ही क्षण होते हैं।

अथ दशक्षणा । सा चारम्भकसंयोगविनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागेन विभागजनने सति स्यात् । तथाहि वह्निसंयोगाद् द्वयणुकारम्भके परमाणौ कर्म । ततो विभागः । तत आरम्भकसंयोगनाशः । ततो द्वयणुकनाशविभागजविभागौ । १ । ततः श्यामनाशपूर्वसंयोगनाशौ । २ । ततो रक्तोत्पत्त्युत्तरसंयोगौ । ३ । ततो वह्निनोदनजन्यपरमाणुकर्मणो नाशः । ४ । ततो दृष्टवदात्मसंयोगाद् द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया । ५ । ततो विभागः । ६ । ततः पूर्वसंयोगनाशः । ७ । तत आरम्भकसंयोगः । ८ । ततो द्वयणुकोत्पत्तिः । ९ । ततो रक्तोत्पत्तिः ।१०।

आलोकः—किञ्चित्सापेक्षविभागस्य विभागजनकत्वपक्षे द्वयणुकारम्भकसंयोग-विनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजविभागसमर्थने तु द्वयणुकनाशादारभ्य रूपाद्युत्पत्ति-पर्यन्तं ये दश क्षणाः कथितास्तान् परिगणयितुमारभते—**अथेति**। अथ इति प्रकरणारम्भे। **दशक्षणा** दशक्षणप्रक्रिया व्याख्यात इति । **सा** दशक्षणप्रक्रिया । **च** हि । **आरम्भकसंयोग-विनाशविशिष्टं** परमाणुद्वयसंयोगनाशोत्पत्त्यधिकरणक्षणाव्यवहितोत्तरम् । **कालं** क्षणम् । **अपेक्ष्य** आधारीकृत्य । **विभागेन** कारणमात्रविभागेन । **विभागजनने** कारणाकारणविभागो-त्पत्तौ । **सति** । **स्यात्** सम्भवेत् । सा च कन्दलीकारमतेऽभीष्टेति । तदाह—**तथेति**। **तथाहि** इति निदर्शने । **वह्निसंयोगात्** वह्निप्रतियोगिकपरमाणुसमवेतविजातीयतेजःसंयो-गात् । **द्वयणुकारम्भके** द्रव्यारम्भहेतुभूते । **परमाणौ** । **कर्म** परमाणुद्वयविभागोपधायक-क्रिया । **ततः** । **विभागः** तादृशक्रियया परमाण्वन्तरेण द्वयणुकारम्भकपरमाणुद्वयसमवेत-विभागः । **तत आरम्भकसंयोगनाशः** आरम्भकद्वयणुकासमवायिसंयोगनाशः । **ततः** । **द्वय-णुकनाशविभागजविभागौ** द्वयणुकनाशतन्निमित्तकपरमाण्वाकाशविभागौ । १ । इति प्रथमः क्षण । **ततः** । **श्यामनाशपूर्वसंयोगनाशौ** अग्न्युत्तरसंयोगाधीनश्यामादिनाशः पर-माण्वाकाशविभागाधीनपरमाण्वाकाशसंयोगनाशश्च । २ । इति द्वितीयः क्षणः । **ततः** । **रक्तोत्पत्त्युत्तरसंयोगौ** श्यामादिनाशकाग्निसंयोगादन्यस्माद्वाग्निसंयोगात् रक्तोत्पत्तिः पर-माण्वाकाशसंयोगनाशाधीनपरमाण्वाकाशसंयोगान्तरञ्च । ३ । इति तृतीयः क्षणः । **ततः** । **वह्निनोदनजन्यपरमाणुकर्मणः** कर्मणः स्वजन्योत्तरसंयोगनाश्यत्वाद् वह्निपरमाणुसंयोग-जन्यपरमाणुक्रियायाः । **नाशः** । ४ । इति चतुर्थः क्षणः । **ततः** । **अदृष्टवदात्मसंयोगात्** अदृष्टसहकृतपरमाण्वग्निसंयोगात् । **द्रव्यारम्भानुगुणा** द्वयणुकासमवायिकारणपरमाणु-द्वयसंयोगासमवायिकारणानुकूला । **क्रिया** । ५ । इति पञ्चमः क्षणः । **ततः** । **विभागः** सक्रियपरमाणोर्देशान्तराद्विभागः । ६ । इति षष्ठः क्षणः । **ततः** । **पूर्वसंयोगनाशः** पर-माणोः देशान्तरानुयोगिकस्य पूर्वसंयोगस्य नाशः । ७ । इति सप्तमः क्षणः । **तत** । **आरम्भकसंयोगः** परमाणोर्द्वयणुकारम्भकसंयोगः । ८ । इत्यष्टमः क्षणः । **ततः**

द्व्यणुकोत्पत्तिः द्व्यणुकस्योद्भवः । ९ । इति नवमः क्षणः । ततः रक्तोत्पत्तिः रक्तादिरूपोद्भवः । १० । इति दशमः । क्षणः । इति दशक्षणा ।

अनुवाद—अब दशक्षणात्मक प्रक्रिया बतलाई जाती है। वह आरम्भकसंयोग-विनाश से विशिष्ट काल की अपेक्षा कर विभाग के द्वारा विभाग के होने पर होगी। जैसे कि वह्निसंयोग से द्व्यणुकारम्भक परमाणु में कर्म, उसके बाद विभाग, उसके बाद आरम्भक संयोग नाश, उसके बाद द्व्यणुक नाश एवं विभाग से होने वाला विभाग। १। उसके बाद श्याम आदि का नाश एवं पूर्वसंयोग का नाश। २। उसके बाद रक्त की उत्पत्ति एवं उत्तरसंयोग। ३। उसके बाद वह्निनोदन से जन्य परमाणु कर्म का नाश। ४। उसके बाद अदृष्ट से युक्त आत्मा के संयोग से द्रव्यारम्भ की अनुगुण क्रिया। ५। उसके बाद विभाग। ६। उसके बाद पूर्वसंयोगनाश। ७। उसके बाद आरम्भकसंयोग। ८। उसके बाद द्व्यणुक की उत्पत्ति। ९। उसके बाद रक्त की उत्पत्ति। १०।

अथैकादशक्षणा। वह्निसंयोगात्परमाणौ कर्म। ततो विभागः। ततो द्रव्यारम्भकसंयोगनाशः। ततो द्व्यणुकनाशः। १। ततो द्व्यणुकनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजविभागश्यामनाशौ। २। ततः पूर्वसंयोगनाशरक्तोत्पत्ती। ३। तत उत्तरदेशसंयोगः। ४। ततो वह्निनोदनजन्यपरमाणुकर्मनाशः। ५। ततोऽदृष्टवदात्मसंयोगाद् द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया। ६। ततो विभागः। ७। ततः पूर्वसंयोगनाशः। ८। ततो द्रव्यारम्भकोत्तरसंयोगः। ९। ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः। १०। ततो रक्ताद्युत्पत्तिः। ११। इति।

आलोकः—नवीनैकदेशमतानुयायिनो यथैकादशक्षणान् परिगणयन्ति द्रव्यनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजविभागं मत्वा तानेव परिगणयति—**अथेति**। **अथ** इति प्रकरणारम्भे। **एकादशक्षणाः** द्व्यणुकनाशोत्पत्त्यधिकरणक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणाद् रूपाद्युत्पत्तिपर्यन्तं क्षणा एकादश भवन्तीति। तदाह—**वह्निसंयोगादिति**। **वह्निसंयोगात्** वह्निप्रतियोगिकपरमाणुसमवेतपाकात्मकसंयोगात्। **परमाणौ** द्व्यणुकारम्भकपरमाणुद्वये। **कर्म** पाकक्रिया। **ततः**। **विभागः** द्व्यणुकारम्भकपरमाणुद्वयसमवेतविभागः। **ततः**। **द्रव्यारम्भकसंयोगनाशः** द्व्यणुकारम्भकासमवायिकारणनाशः। **ततः**। **द्व्यणुकनाशः** द्व्यणुकस्य नाशः। १। इति प्रथमः क्षणः। **द्व्यणुकनाशविशिष्टं** द्व्यणुकनाशोत्पत्त्यधिकरणक्षणाव्यवहितोत्तरम्। **कालं** क्षणम्। **अपेक्ष्य** आधृत्य। **विभागजविभागश्यामनाशौ** परमाणुद्वयविभागजन्यपरमाण्वाकाशविभागश्यामप्रभृतिगुणनाशौ। २। इति द्वितीयः क्षणः। **ततः**। **पूर्वसंयोगनाशरक्तोत्पत्ती** परमाण्वाकाशविभागाधीनपरमाण्वाकाशसंयोगनाशः रक्ताद्युत्पत्तिश्च। ३। इति तृतीयः क्षणः। ततः। **उत्तरदेशसंयोगः** आकाशादिना उत्तरदेशेन सह परमाणुसंयोगः। ४। इति चतुर्थः क्षणः। **ततः**। **वह्निनोदनजन्यः** वह्निसंयोगप्रेरितः। **परमाणुकर्मनाशः** परमाणुसम्बद्धकर्मनाशः। ५। इति पञ्चमः क्षणः। **ततः**। **अदृष्टवदात्मसंयोगात्**

अदृष्टवदात्मसंयोगसहकृतपरमाण्वग्निसंयोगात् अदृष्टसहकृतपरमाण्वग्निसंयोगाद्वा । **द्रव्यारम्भानुगुणा** द्वयणुकासमवायिकारणसंयोगानुगुणा । **क्रिया** । ६ । इति षष्ठः क्षणः । ततः । **विभागः** सक्रियपरमाण्वोर्देशान्तराद्विभागः । ७ । इति सप्तमः क्षणः । ततः **पूर्वसंयोगनाशः** परमाण्वोः देशान्तरानुयोगिकस्य पूर्वसंयोगस्य नाशः । ८ । इत्यष्टमः क्षणः । ततः । **द्रव्यारम्भकोत्तरसंयोगः** परमाण्वोर्द्वयणुकारम्भकसंयोगः । ९ । इति नवमः क्षणः । ततः । **द्वयणुकोत्पत्तिः** द्वयणुकोद्भवः । १० । इति दशमः क्षणः । ततः । **रक्ताद्युत्पत्तिः** । ११ । इत्येकादश क्षणाः ।

अनुवाद—अब नवीनैकदेशवादिसम्मत एकादश क्षणवाली प्रक्रिया बतलाई जाती है । वह्निसंयोग से परमाणु में कर्म, उसके बाद विभाग । उसके बाद द्रव्यारम्भक संयोगनाश, उसके बाद द्वयणुक नाश । १ । उसके बाद द्वयणुकनाशविशिष्ट काल की अपेक्षा से विभागजविभाग एवं श्यामनाश । २ । उसके बाद पूर्वसंयोगनाश एवं रक्तोत्पत्ति । ३ । उसके बाद उत्तरदेशसंयोग । ४ । उसके बाद वह्निनोदन जन्य परमाणु में कर्म का नाश । ५ । उसके बाद अदृष्ट से युक्त आत्मा (परमाणु) के संयोग से द्रव्यारम्भानुकूल क्रिया । ६ । उसके बाद विभाग । ७ । उसके बाद पूर्वसंयोगनाश । ८ । उसके बाद द्रव्यारम्भक उत्तरसंयोग । ९ । उसके बाद द्वयणुक की उत्पत्ति । १० । उसके बाद रक्त आदि की उत्पत्ति । ११ ।

मध्यशब्दवदेकस्मादग्निसंयोगान्न रूपनाशोत्पादौ तावत्कालमेकस्याग्नेरस्थिरत्वात् । किञ्च नाशक एव यद्युत्पादकस्तदा नष्टे रूपादावग्निनाशे नीरूपश्चिरं परमाणुः स्यात् । उत्पादकश्चेन्नाशकस्तदा रक्तोत्पत्तौ तदग्निनाशे रक्ततरता न स्यात् । इत्येकादशक्षणा ।

आलोकः—यथा हि मध्यशब्दः पूर्वशब्दनाशक उत्तरशब्दोत्पादकश्च तथैव एकस्मादग्निसंयोगात्पूर्वरूपनाशे रूपान्तरोत्पत्तौ च लाघवमेवानुसर्तव्यमित्याशङ्कायामाह—**मध्येति** । **मध्यशब्दवत्** मध्यशब्द इव अर्थात् यथा मध्यशब्द एक एव पूर्वशब्दनाशक उत्तरशब्दोत्पादकश्च तथैव । **एकस्मात्** । **अग्निसंयोगात्** अग्निप्रतियोगिकपरमाणुसमवेतपाकात्मकसंयोगात् । **न** नैव । **रूपनाशोत्पादौ** परमाणौ श्यामादिरूपनाशो रक्ताद्युत्पत्तिश्च । **तावत्कालं** श्यामनाशोत्पत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणपर्यन्तम् । **एकस्य** । **अग्नेः** । द्वयणुकनाशकाग्निसंयोगस्य । **अस्थिरत्वात्** अवर्तमानत्वात् । अत्र हि य एवाग्निसंयोगो द्वयणुकनाशकः स एव श्यामनाशे रक्तोत्पादे च हेतुरिति केषाञ्चिन्मतः, पुनरन्यतरसंयोगादिति भाष्यविरुद्धं नादरणीयमित्यत आह—यथाऽऽद्यन्तशब्दं वर्जयित्वा मध्यवर्तियावच्छब्दानां स्वपूर्वशब्दनाशं स्वोत्तरशब्दोत्पत्तिं प्रति च कारणता न तथा द्वयणुकनाशादेकस्मादेवाग्नेः श्यामनाशोत्पत्तिः रक्तोत्पत्तिश्च सम्भवतीति व्यतिरेकदृष्टान्तः । न हि श्यामादिनिवृत्तिक्षणाव्यवहितपूर्वक्षणपर्यन्तं तस्याग्नेः स्थिरत्वमिति तत्र हेतुः । तत्र युक्त्यन्तरमाह—**किञ्चेति** । किञ्च इदमपि च । **यदि** । **नाशकः** द्वयणुकनाशकः । श्यामादिनाशकश्च । **एव** नान्यः । **उत्पादकः** रक्ताद्युद्भावकः । **तदा** तत्पक्षे । **रूपादौ** श्यामादौ । **नष्टे** । **सति** । **अग्निनाशे** अग्निसंयोगस्य श्यामादिनाश-

काले नाशे च सति । **परमाणुः** । **चिरं** दीर्घकालम् । अग्निसंयोगात्मककारणस्य नष्टत्वात् रक्ताद्युत्पत्त्यसम्भवेन सर्वदा यद्वा श्यामनाशकालादारभ्य क्षणत्रयम् । **नीरूपः** रूपाभाववान् । **स्यात्** । अत्र परमाणुरिति वैशेषिकमतेन न्यायमते तु घटादेरपि नीरूपत्वम् । यदि । **उत्पादकः** रक्तरूपोत्पादकाग्निसंयोगः । **नाशकः** श्यामादिनाशकः । नाशक उत्पादकश्चेदिति योजना, तेन नाशकताऽवच्छेदकमेव यद्युत्पादकतावच्छेदकं तदेत्याशयः । **तदा** तदवस्थायाम् । **रक्तोत्पत्तौ** श्यामादिनाशकचरमाग्न्यन्तरसंयोगेन रक्ताद्युत्पत्तौ । **तदग्निनाशे** चरमाग्निसंयोगनाशे । **रक्ततरता** परमाणौ रक्ततरता रक्ततमताऽपि । **न** । **स्यात्** । रूपनाशकतावच्छेदकं विलक्षणाग्निसंयोगत्वं तदेव यद्युत्पादकतावच्छेदकं तदा कार्यतावच्छेदकमपि सामान्यतः पृथ्वीपरमाणुरूपत्वं वाच्यं तथा सति क्वचिद्रक्ततरता क्वचिन्न रक्ततरता परमाणौ न स्यात्, कार्यवैचित्र्यस्य कारणतावच्छेदकभेदाधीनत्वादिति विस्तरोऽन्यत्र । इति एकादशक्षणेति ।

अनुवाद—मध्य शब्द की तरह (जैसे कि मध्य शब्द एक ही पूर्व शब्द का नाश एवं उत्तर शब्द की उत्पत्ति का कारण होता है ।) एक ही अग्निसंयोग से श्याम रूप का नाश एवं रक्त रूप का उत्पाद नहीं होता । क्योंकि उतनी देर तक (अर्थात् द्व्यणुक के नाश से लेकर रक्त रूप के उत्पाद तक) एक ही अग्नि-संयोग स्थिर नहीं रह सकता । यदि नाशक ही उत्पादक होता तब रूप आदि के नष्ट होने एवं अग्निसंयोग के नाश होने पर चिर काल तक परमाणु नीरूप ही रहेगा । यदि उत्पादक ही नाशक माना जाय तब रक्त की उत्पत्ति में उस अग्निसंयोग के नाश होने पर रक्ततरता (कहीं रक्ततरता कहीं नहीं, ऐसा) न हो पायेगा । इस प्रकार एकादशक्षणा पूरी हुई ।

अथ परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात्पञ्चमादिक्षणेऽपि गुणोत्पत्तिः । तथा हि—एकत्र परमाणौ कर्म । ततो विभागः । तत आरम्भकसंयोगनाशपरमाण्वन्तरकर्मणी । ततस्तु द्व्यणुकनाशः । परमाण्वन्तरकर्मजश्च विभाग इत्येकः कालः । १ । ततः श्यामादिनाशः । विभागाच्च पूर्वसंयोगनाशश्चेत्येकः कालः । २ । ततो रक्तोत्पत्तिर्द्रव्यारम्भकसंयोगश्चेत्येकः कालः । ३ । अथ द्व्यणुकोत्पत्तिः । ४ । ततो रक्तोत्पत्तिः । ५ । इति पञ्चक्षणा ।

आलोकः—अथ पञ्च क्षणान् परिगणयति—**अथेति** । **अथ** प्रकरणारम्भे । **परमाण्वन्तरे** द्व्यणुकनाशक्रियावच्छिन्नपरमाणुभिन्नोत्पत्स्यमानद्व्यणुकारम्भकपरमाणौ । **कर्मचिन्तनात्** उत्पन्नद्व्यणुकारम्भकसंयोगनाशाद्युत्पत्तिक्षणे उत्पत्स्यमानद्व्यणुकारम्भककर्मोत्पत्तिस्वीकारतः । **पञ्चमादिक्षणे** द्व्यणुकनाशक्षणप्रभृतिपञ्चमषष्ठसप्तमाष्टमक्षणेषु । **अपि च** । **गुणोत्पत्तिः** रक्तादिगुणोद्भवः । भवतीति शेषः । तदुपपादयति—**तथाहीति** । **तथा हि** इति निदर्शने । **एकत्र** अग्निसंयोगादेकस्मिन् । **परमाणौ** । **कर्म** क्रिया । **ततः** । **विभागः** परमाणुद्वयविभागः । **ततः** । **आरम्भकसंयोगनाशपरमाण्वन्तरकर्मणी** द्व्यणुकासमवायिकारणसंयोगनाशः द्वितीये द्व्यणुकावयवे परमाणौ क्रिया च ।

ततः । तु एव । द्वचणुकनाशः । **परमाण्वन्तरकर्मजः** परमाण्वन्तरक्रियाजन्यः । **च** । **विभागः** परमाण्वन्तराकाशविभागः । **इति** इत्थम् । **एकः** प्रथमः । **कालः** क्षणः । १ । ततः । **श्यामादिनाशः** आकाशेन सह परमाणुपूर्वसंयोगनाशः, ततोऽग्निसंयोगात् परमाणौ श्यामादिनाशो हि तादृशविभागश्च आकाशेन सह परमाणुपूर्वसंयोगनाशः । इति । एकः अपरः द्वितीय इति । कालः । २ । ततः । **रक्तोत्पत्तिः** रक्तरूपोद्भवः परमाण्वोः । **द्रव्यारम्भकसंयोगः** द्वचणुकारम्भकसंयोगः **च** । इति । **एकः** तृतीय इति । कालः । ३ । **अथ** द्वचणुकारम्भकसयोगानन्तरम् । **द्वचणुकोत्पत्तिः** द्रव्योत्पत्तिः । इति चतुर्थः क्षणः । ४ । **ततः रक्तोत्पत्तिः** द्वचणुके रक्तोत्पत्तिः । इति पञ्चमः क्षणः । **इति** । **पञ्चक्षणा** पञ्चक्षणात्मकरूपोत्पत्तिप्रक्रिया ।

अनुवाद—यदि द्वचणुकनाशक क्रिया वाले परमाणु से भिन्न उत्पन्न होने वाले द्वचणुक के आरम्भक परमाणु में कर्म का विचार करने पर पञ्चम, षष्ठ, सप्तम, अष्टम आदि क्षण में भी गुणोत्पत्ति मानी जा सकती है। जैसे कि एक द्वचणुकावयवक परमाणु में अग्निसंयोग से क्रिया, तब दो परमाणुओं का विभाग, तब द्वचणुकात्मक संयोग का नाश तथा अन्य द्वचणुकावयवक परमाणु में क्रिया, उसके बाद द्वचणुक का नाश, परमाण्वन्तर होने वाले कर्म से परमाणु एवं आकाश का विभाग। यह एक काल । १ । उसके बाद श्यामादिनाश एवं विभाग से पूर्वसंयोगनाश। यह एक काल । २ । तब रक्तोत्पत्ति एवं द्रव्यारम्भकसंयोग। यह एक काल। ३ । तब द्वचणुक की उत्पत्ति । ४ । तब रक्त की उत्पत्ति । ५ । यह पञ्चक्षणात्मक प्रक्रिया हुई। यह प्रक्रिया आरम्भक संयोगनाश क्षण में किसी अन्य परमाणु में कर्म की उत्पत्ति होने से द्वचणुकनाशक्षण से आगे पाँच क्षण में रूप की उत्पत्ति मानने पर घटती है।

द्रव्यनाशसमकालं परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात् षष्ठे गुणोत्पत्तिः। तथा हि—परमाणुकर्मणा परमाण्वन्तरविभागः। तत आरम्भकसंयोगनाशः। अथ द्वचणुकनाशपरमाण्वन्तरकर्मणी । १ । अथ श्यामादिनाशः परमाण्वन्तरकर्मजो विभागश्च । २ । ततो रक्तोत्पत्तिः परमाण्वन्तरे पूर्वसंयोगनाशश्च । ३ । ततः परमाण्वन्तरसंयोगः । ४ । ततो द्वचणुकोत्पत्तिः । ५ । अथ रक्तोत्पत्तिः । ६ । इति षट्क्षणा ।

आलोकः—अथ षट्क्षणात्मकप्रक्रियां निर्वक्ति—**द्रव्येति** । **द्रव्यनाशसमकालं** द्वचणुकनाशक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणे एव । **परमाण्वन्तरे** द्वचणुकनाशकक्रियावच्छिन्नपरमाणुभिन्नोत्पत्स्यमानद्वचणुकारम्भकपरमाणौ । **कर्मचिन्तनात्** उत्पन्नद्वचणुकारम्भकसंयोगनाशाद्युत्पत्तिक्षणे उत्पत्स्यमानद्वचणुकारम्भककर्मोत्पत्तिस्वीकारात् । **षष्ठक्षणे** । **गुणोत्पत्तिः** रक्तादिगुणोत्पत्तिः रूपादिमत्त्वमिति । **तथा हि** इति निदर्शने । **परमाणुकर्मणा** वह्निसंयोगजन्येन एकपरमाणुकर्मणा । **परमाण्वन्तरविभागः** द्वितीयपरमाणुना सह विभागः । **ततः** । **आरम्भकसंयोगनाशः** द्वचणुकारम्भकसंयोगनाशः । **अथ** एतदनन्तरम् । **द्वचणुकनाशपरमाण्वन्तरकर्मणी** द्वचणुकनाशो द्वितीयस्मिन् परमाणौ कर्म । १ । इति प्रथमः क्षणः ।

अथ एतदनन्तरम् । **श्यामादिनाशः** एकपरमाणौ श्यामादिनाशः । **परमाण्वन्तरकर्मजः** द्वितीयस्मिन् परमाणौ यत्कर्म तज्जः । **विभागः** परमाण्वाकाशयोर्विभागः । **च** । २ । द्वितीयः क्षणः । **ततः** । **रक्तोत्पत्तिः** एकपरमाणौ रक्तोद्भवः । **परमाण्वन्तरे** द्वितीयस्मिन् परमाणौ **पूर्वसंयोगनाशः** पूर्वाकाशसंयोगनाशः । च । ३ । इति तृतीयः क्षणः । **ततः** । **परमाण्वन्तरसंयोगः** परमाण्वन्तरस्य एकपरमाणुना सह संयोगः । ४ । इति चतुर्थः क्षणः । **ततः** । **द्व्यणुकोत्पत्तिः** । ५ । इति पञ्चमः क्षणः । अथ एतदनन्तरम् । **रक्तोत्पत्तिः** । ६ । इति षष्ठः क्षणः । **इति** इत्थम् । **षट्क्षणा** षट्क्षणप्रक्रिया ।

अनुवाद—अब षट्क्षणा प्रक्रिया बतलाई जाती है । अग्निसंयोग के कारण द्रव्यनाश के समकाल में ही दूसरे परमाणु में कर्म मानने पर षष्ठ क्षण में गुण (रक्त) की उत्पत्ति होती है । जैसे—परमाणु में होने वाले कर्म से दूसरे परमाणु में विभाग होता है, उसके बाद आरम्भक संयोग का नाश होता है, उसके बाद द्व्यणुक का नाश एवं दूसरे परमाणु में कर्म । १ । यह प्रथम क्षण हुआ । उसके बाद श्याम आदि का नाश होता है और दूसरे परमाणु में होने वाले कर्म से उत्पन्न परमाण्वाकाश विभाग होता है । २ । यह दूसरा क्षण हुआ । उसके बाद रक्त की उत्पत्ति, दूसरे परमाणु में पूर्वसंयोग का नाश होता है । ३ । यह तीसरा क्षण हुआ । उसके बाद दूसरे परमाणु का आकाश के साथ संयोग । यह चौथा क्षण हुआ । उसके बाद द्व्यणुक की उत्पत्ति । यह पाँचवाँ क्षण हुआ । उसके बाद रक्त की उत्पत्ति । यह छठवाँ क्षण हुआ । यह षट्क्षणा प्रकिया बतलाई गई ।

एवं श्यामनाशक्षणे परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात्सप्तक्षणा । तथाहि—परमाणौ कर्म, ततः परमाण्वन्तरेण विभागः । तत आरम्भकसंयोगनाशः । ततो द्व्यणुकनाशः । १ । ततः श्यामादिनाशपरमाण्वन्तरकर्मणी । २ । ततो रक्तोत्पत्तिः परमाण्वन्तरकर्मजविभागश्च । ३ । ततः परमाण्वन्तरेण पूर्वसंयोगनाशः । ४ । ततः परमाण्वन्तरसंयोगः । ५ । ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः । ६ । ततो रक्तोत्पत्तिः । ७ । इति सप्तक्षणा ।

आलोकः—अथ सप्त क्षणान् परिगणयति—**एवमिति** । **एवम्** इत्थमेव । **श्यामनाशक्षणे** परमाणोः श्यामरूपनाशक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणे । **परमाण्वन्तरे** अन्यस्मिन् परमाणौ । **कर्मचिन्तनात्** क्रियाविचारात् । **सप्तक्षणा** सप्तक्षणप्रक्रिया । **तथा हि** यथा । **परमाणौ** अग्निसंयोगादेकस्मिन् परमाणौ । **कर्म** क्रिया । **ततः** । **परमाण्वन्तरेण** अन्येन परमाणुना सह । **विभागः** विभाजनम् । **ततः** । **आरम्भकसंयोगनाशः** तयोः संयोगनाशः । **ततः** । **द्व्यणुकनाशः** । १ । इति प्रथमः क्षणः । **ततः** । **श्यामादिनाशपरमाण्वन्तरकर्मणी** एकपरमाणौ श्यामनाशः द्वितीयपरमाणौ कर्म च । २ । इति द्वितीयः क्षणः । ततः **रक्तोत्पत्तिः** एकस्मिन् परमाणौ रक्तोत्पत्तिः । **परमाण्वन्तरकर्मजविभागः** द्वितीयपरमाणौ कर्मजन्यविभागः । **च** । ३ । इति तृतीयः क्षणः । **ततः** । **परमाण्वन्तरेण** द्वितीयपरमाणुना सह । **पूर्वसंयोगनाशः** आकाशस्य पूर्वसंयोगनाशः । ४ । इति चतुर्थः क्षणः । ततः । **परमाण्वन्तरसंयोग** द्वितीयेन परमाणुना सहैकपरमाणुसंयोगः । ५ । इति पञ्चमः क्षणः ।

ततः द्वयणुकोत्पत्तिः । ६ । इति षष्ठः क्षणः । ततः । रक्तोत्पत्तिः । ७ । इति सप्तमः क्षणः । इति सप्तक्षणा सप्तक्षणप्रक्रिया ।

अनुवाद—इसी तरह श्यामनाश के क्षण में दूसरे परमाणु में कर्म का विचार करने से रक्ताद्युत्पत्ति तक सात क्षण होते हैं । जैसे अग्निसंयोग से एक परमाणु में क्रिया, उसके बाद उसका दूसरे परमाणु के साथ विभाग, उसके बाद द्रव्यारम्भक संयोग का नाश, उसके बाद द्वयणुक का नाश । १ । उसके बाद एक परमाणु में श्याम आदि का नाश एवं दूसरे परमाणु में कर्म । २ । उसके बाद एक परमाणु में रक्तोत्पत्ति एवं दूसरे परमाणु में क्रिया जन्य विभाग । ३ । उसके बाद दूसरे परमाणु के साथ पूर्वसंयोगनाश । ४ । उसके बाद दूसरे परमाणु के साथ संयोग । ५ । उसके बाद द्वयणुक की उत्पत्ति । ६ । उसके बाद रक्त आदि की उत्पत्ति । ७ । इस प्रकार सात क्षण वाली प्रक्रिया बतलाई गई।

एवं रक्तोत्पत्तिसमकालं परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनादष्टक्षणा । तथा हि—परमाणौ कर्म । ततः परमाण्वन्तरविभागः । तत आरम्भकसंयोगनाशः । ततो द्वयणुकनाशः । १ । ततः श्यामनाशः । २ । ततो रक्तोत्पत्तिपरमाण्वन्तरकर्मणी । ३ । ततः परमाण्वन्तरकर्मजविभागः । ४ । ततः परमाण्वन्तरे पूर्वसंयोगनाशः । ५ । ततः परमाण्वन्तरसंयोगः । ६ । ततो द्वयणुकोत्पत्तिः । ७ । अथ रक्तोत्पत्तिः । ८ । इत्यष्टक्षणा ॥ १०५ ॥

आलोकः—अथाऽष्टक्षणान् परिगणयति—एवमिति । **एवम्** इत्थमेव । **रक्तोत्पत्तिसमकालम्** एकस्मिन् परमाणौ रक्तोत्पत्तिक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणे । **परमाण्वन्तरे** अन्यस्मिन् परमाणौ । **कर्मचिन्तनात्** क्रियाविचारात् । **अष्टक्षणा** अष्टक्षणप्रक्रिया भवतीति । तदुपपादयति—**तथा हीति** । **तथा हि** । **परमाणौ** अग्निसंयोगादेकस्मिन् परमाणौ । **कर्म** । **ततः** । **परमाण्वन्तरविभागः** अन्येन परमाणुना सह विभागः । **ततः** । **आरम्भकसंयोगनाशः** द्रव्यारम्भकसंयोगनाशः । **ततः** । **द्वयणुकनाशः** । १ । इति प्रथमः क्षणः । **ततः** । **श्यामनाशः** एकस्मिन् परमाणौ श्यामरूपनाशः । २ । इति द्वितीयः क्षणः । **ततः** । **रक्तोत्पत्तिपरमाण्वन्तरकर्मणी** एकस्मिन् परमाणौ रक्ताद्युत्पत्तिः परमाण्वन्तरे क्रिया । ३ । इति तृतीयः क्षणः । **ततः** । **परमाण्वन्तरकर्मजविभागः** अन्यस्मिन् परमाणौ क्रियाजन्यविभागः । ४ । इति चतुर्थः क्षणः । **ततः** । **पूर्वसंयोगनाशः** परमाण्वन्तरे पूर्वसंयोगनाशः । ५ । इति पञ्चमः क्षणः । **ततः** । **परमाण्वन्तरसंयोगः** अन्यपरमाणुना सह संयोगः । ६ । इति षष्ठः क्षणः । **ततः** । **द्वयणुकोत्पत्तिः** । ७ । इति सप्तमः क्षणः । **अथ** द्वयणुकोत्पत्त्यनन्तरम् । **रक्तोत्पत्तिः** रक्ताद्युत्पत्तिः । ८ । इत्यष्टमः क्षणः । इति अष्टक्षणप्रक्रियेति ॥ १०५ ॥

अनुवाद—इसी तरह रक्तोत्पत्ति के क्षण में भी दूसरे परमाणु में कर्मचिन्ता करने पर अष्टक्षणप्रक्रिया होती है । जैसे—अग्निसंयोग से परमाणु में कर्म, उसके बाद दूसरे परमाणु से विभाग, उसके बाद द्वयणुक का आरम्भकसंयोगनाश, उसके बाद द्वयणुक नाश । १ । उसके बाद एक परमाणु में श्याम रूप का नाश । २ । उसके बाद रक्त की उत्पत्ति एवं दूसरे परमाणु में कर्म । ३ । उसके बाद दूसरे परमाणु में कर्म-

जन्य विभाग । ४ । उसके बाद पूर्वसंयोग का नाश । ५ । उसके बाद दूसरे परमाणु के साथ संयोग । ६ । तब द्व्यणुक की उत्पत्ति । ७ । तब रक्तोत्पत्ति । ८ । यह हुई अष्टक्षणा प्रक्रिया ।। १०५ ।।

नैयायिकानां तु नये द्व्यणुकादावपीष्यते ।

नैयायिकानामिति । नैयायिकानां मते द्व्यणुकादाववयविन्यपि पाको भवति । तेषामयमाशयः—अवयविनां सच्छिद्रत्वाद् वह्नेः सूक्ष्मावयवैरन्तःप्रविष्टैरवयवेष्ववष्टब्धेष्वपि पाको न विरुध्यते । वैशेषिकमतेऽनन्तावयवितन्नाशकल्पनेन गौरवात् । इत्थञ्च सोऽयं घट इत्यादि प्रत्यभिज्ञाऽपि सङ्गच्छते । यत्र तु न प्रत्यभिज्ञा तत्रावयविनाशोऽपि स्वीक्रियत इति ।

आलोकः—पाकविषये पीलुपाकवादिनां वैशेषिकाणां मतं निरूप्य सम्प्रति पिठरपाकवादिनां नैयायिकानां मतमाह परममूले—**नैयायिकानामिति** । नैयायिकानां नये तु द्व्यणुकादौ अपि इष्यते इति **नैयायिकानां** गौतममतानुयायिनां न्यायशास्त्रिणाम् । **नये** सिद्धान्ते । **तु** तद्विपरीतम् । **पाकः** । **द्व्यणुकादौ** द्व्यणुकघटाद्यवयविनि । **अपि** परमाण्वात्मकेऽवयवे च । **इष्यते** समर्थ्यते ।

वैशेषिका हि स्वतन्त्रे परमाणावेव पाकं मन्यन्ते, तेन ते पीलुपाकवादिनः । पीलुर्हि परमाणुः । तदसदृशं गौतमीया हि परमाणौ द्व्यणुकात्मकावयविनि च पाकं समर्थयन्ति, तेन ते पिठरवादिनः । पिठरं हि कारणकार्यसमुदायः अवयवावयविसमुदायो वा । पीलुपाकवादिमते पीलवो हि परमाणवस्ते हि स्वतन्त्राः पच्यन्ते । तन्मते तत्रैव पूर्वरूपनाशाग्रिमरूपाद्युत्पत्तिः । तदनुसारं कारणगुणप्रक्रमेणावयविनि रूपाद्युत्पद्यते । एतन्मते परमाणुष्वेव पाको न द्व्यणुकादौ । आमनिक्षिप्ते घटे श्यामघटनाशे परमाणुषु रूपान्तरोत्पत्तौ पुनर्द्व्यणुकादिक्रमेण रक्तघटोत्पत्तिः । तत्र परमाणुरूपे परमाणवः समवायिकारणम्, तेजःसंयोगोऽसमवायिकारणमदृष्टादिकं निमित्तकारणम् । द्व्यणुकादिरूपे तु कारणरूपमसमवायिकारणम् । अतिवेगवता तेजसा परमाणूनामभिघातसंयोगे सति तेषु क्रिया जायते । ततो विभागः । तत आरम्भकसंयोगनाशे यावदवयविनाशः । ततः स्वतन्त्रेषु परमाणुषु रूपान्तरोत्पत्तौ पुनरदृष्टादिघटितसामग्रीवशात् परमाणुषु क्रियाविभागादिक्रमेण यथावस्थितमहावयविपर्यन्तमुत्पत्तिरिति ।

अस्यायमाशयः—आमनिक्षिप्ते घटेऽग्निसंयोगात् परमाण्वादिककपालपर्यन्तावयवेषु क्रिया । ततः परस्परविभागः । ततः परस्परसंयोगनाशः । ततोऽसमवायिकारणनाशाद् द्रव्यनाश इति नियमेन श्यामघटनाशे शिष्टाः परमाणवः पच्यन्ते । ततः पाकेन रूपादिचतुष्टयोत्पत्तिः । ततः परमेश्वरेण सर्गादाविव द्व्यणुकादिक्रमेण पूर्ववद्रक्तघटो निर्मीयते । परमाणुरूपेण द्व्यणुकरूपं जन्यत इत्येवं क्रमः । अन्यथा घटस्य दृढतरत्वे वह्निप्रवेशासम्भवाद्रूपाद्युत्पत्तिर्न स्यादिति । तद्विपरीतं गौतमीयानां मतम् । तच्च मूले स्फुटीभविष्यति ।

मूले कारिकाशयं विवृणोति—**नैयायिकानामिति**। नैयायिकानां नये तु द्व्यणुकादावपि इत्येतस्यायमेवाशयो यद् **नैयायिकानां** गोतमीयानाम्। **मते** नये। **द्व्यणुकादौ** इति अवयविनि घटादौ। **अपि च**। **पाकः**। **भवति** सम्पद्यते। **तेषां** तथावादिनाम्। **अयं** वक्ष्यमाणप्रकारकः। **आशयः** अभिप्रायः। तदेवाह—**अवयविनामिति**। **अवयविनां** घटादीनाम्। **सच्छिद्रत्वात्** वह्निप्रवेशयोग्यच्छिद्रयुक्तत्वात्। आमघटान्तर्निक्षिप्तस्य जलस्य बहिर्भागे स्रुतिरेव आमघटस्य सच्छिद्रत्वे मानमिति। **अन्तःप्रविष्टैः** अन्तःप्राप्तैः। **वह्नेः** अग्नेः। **सूक्ष्मावयवैः** द्व्यणुकत्र्यणुकात्मकसूक्ष्मावयवैः। **अवष्टब्धेषु** अवयविना घटेनाश्रितेषु। **अवयवेषु** कपालकपालिकाद्व्यणुकादिषु। **अपि** अपिपदात् परमाणुषु च। **पाकः** रूपान्तराद्युत्पादकविजातीयतेजःसंयोगः। **न**। **विरुध्यते** विसङ्गच्छते। घटस्य सच्छिद्रतया तस्य वह्न्यवयवसंयोगविघटकत्वादिति। अवयविनाशाङ्गीकारे बाधकमाह—**वैशेषिकमत इति**। **वैशेषिकमते** काणादमते। **अनन्तावयवितन्नाशकल्पनेन** अनेकद्व्यणुकनाशप्रयुक्तानन्तघटनाशकल्पनया अनन्तद्व्यणुकोत्पत्तिप्रयुक्तानन्तघटोत्पत्तिकल्पनया च। **गौरवात्**। इति। पिठरपाकवादिमते तु अवयविनाऽवष्टब्धेष्ववयवेष्वपि पाकाल्लाघवमिति। **नैतावन्मात्रमपितु इत्थं** पिठरपाकवादोक्तप्रकारेण पिण्डपाकस्वीकारात्। **च**। **'सोऽयं घटः'** **इत्यादि प्रत्यभिज्ञा** ज्ञानम्। **अपि च**। **सङ्गच्छते** न विरुध्यते। पूर्वघटस्य सत्त्वात्। पूर्वावयविनाशे तु उत्तरोत्पन्नावयविनि पूर्वावयविनोऽभेदाभावेनाभेदावगाहिप्रत्यभिज्ञायाः प्रमात्वं न स्यादिति। **यत्र क्वचित्** 'सोऽयं पिण्डः' इति पिण्डादौ प्रत्यभिज्ञा नोपपद्यते। **तु** तद्विपरीतमपि। **न**। **प्रत्यभिज्ञा** अयं स एवेति न ज्ञानसम्भावना। **तत्र** तादृशस्थले। **अवयविनाशः** पूर्वावयविनो नाश उत्तरावयविन उत्पत्तिश्च। **अपि**। **स्वीक्रियते** गृह्यते किन्तु तत्रापि अवयवेष्ववयविषु चोभयत्रेति।

अनुवाद—नैयायिकों के मत में तो द्व्यणुक आदि अवयवी में भी पाक माना जाता है।

नैयायिकानामिति। नैयायिकों के मत में द्व्यणुक आदि अवयवी में भी पाक होता है। उन लोगों का यह आशय है—अवयवी के सच्छिद्र होने से उसमें प्रविष्ट हुए वह्नि के सूक्ष्म अवयवों से अवयवी में अवष्टब्ध (सटे हुए) अवयवों में भी पाक विरुद्ध नहीं होता। वैशेषिकों के मत में अनन्त अवयवी एवं उसके नाश की कल्पना होने से गौरव पड़ता है। इस प्रकार 'यह वही घड़ा है' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा भी ठीक बैठ पाती है। जहाँ तो प्रत्यभिज्ञा नहीं बैठ पाती है वहाँ पूर्वावयवी का नाश एवं उत्तरावयवी की उत्पत्ति को भी स्वीकार किया जाता है। (इस प्रकार नैयायिक के मत में अवयवी से सम्बद्ध एवं स्वतन्त्र भी अवयवों का पाक होता है।)

गणनाव्यवहारे तु हेतुः सङ्ख्याऽभिधीयते ॥ १०६ ॥

सङ्ख्यां निरूपयितुमाह—गणनेति। गणनाव्यवहारासाधारणकारणं सङ्ख्येत्यर्थः ॥ १०६ ॥

आलोकः—सम्प्रति क्रमप्राप्तं सङ्ख्यां निरूपयति परममूले—**गणनेति**। गणना-

व्यवहारे हेतुः तु सङ्ख्या अभिधीयते इति । **गणनाव्यवहारे** गणना एकः द्वौ त्रय इत्यादि व्यवहारो ज्ञानं व्यवह्रियतेऽनेनेति । तत्र । हेतुः कारणम् । तु हि । **सङ्ख्या** सङ्ख्येति । **अभिधीयते** कथ्यते । इति । उक्तं यथा भाष्ये—'एकादिव्यवहारहेतुः सङ्ख्ये'ति । एकादिव्यवहारश्च एकं द्वे त्रीणि इति प्रत्ययः । मूले कारिकाशयं निर्वक्ति—**सङ्ख्यामिति । सङ्ख्यां** सङ्ख्याख्यगुणम् । **निरूपयितुं** विवेचयितुम् । आह कथयति । **गणनेति** गणनाव्यवहारे हेतुः सङ्ख्येति । तदाशयमाह—**गणनेति । गणनाव्यवहारासाधारणकारणम्** एकः **द्वौ** त्रय इत्यादिशब्दनिष्ठवाच्यतासम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नकारणत्वम् । **सङ्ख्या** सङ्ख्यात्वम् । इति । **अर्थः** आशयः । एकत्वादिव्यवहारासाधारणहेतुत्वं सङ्ख्यात्वमिति । घटादिवारणाय एकत्वादीति । कालादिवारणाय **असाधारणेति** । सङ्ख्यात्वमेकत्वादिकञ्च जातिः प्रत्यक्षसिद्धा । सङ्ख्या नवद्रव्यवृत्तिः एकत्वादिपरार्द्धपर्यन्ता सा । तथा च—

'एकं दश शतञ्चैव सहस्रमयुतं तथा ।
लक्षं च नियुतञ्चैव कोटिरर्बुदमेव च ॥
वृन्दं खर्वो निखर्वश्च शङ्खः पद्मश्च सागरः ।
अन्त्यं मध्यं परार्द्धञ्च दशवृद्धया यथाक्रमम्' ॥ इति ॥ १०६ ॥

तत्र अयुतं दशसहस्रम्, नियुतं दशलक्षकम्, अर्बुदं दशकोटिः, वृन्दं शतकोटिः । ततो दशगुणं खर्वं इति ॥ १०६ ॥

अनुवाद—गणना के व्यवहार (ज्ञान) के कारण को संख्या कहते हैं ।

गणनेति । गणना के व्यवहार का असाधारण कारण संख्या है, ऐसा अर्थ है ॥ १०६ ॥

नित्येषु नित्यमेकत्वमनित्येऽनित्यमिष्यते ॥
द्वित्वादयः परार्द्धान्ता अपेक्षाबुद्धिजा मताः ॥ १०७ ॥

नित्येष्विति । नित्येषु परमाण्वादिषु एकत्वं नित्यम् । अनित्ये घटादावेकत्वमनित्यमित्यर्थः । द्वित्वादयो व्यासज्यवृत्तिसङ्ख्या अपेक्षाबुद्धिजन्याः ॥ १०७ ॥

आलोकः—सङ्ख्यायाः प्रकृतिमाह परममूले—**नित्येष्विति** । एकत्वं नित्येषु नित्यम् अनित्ये अनित्यम् इष्यते परार्द्धान्ताः द्वित्वादयः अपेक्षाबुद्धिजाः मता इति । सा चेयं सङ्ख्या एकत्वमारभ्य परार्द्धपर्यन्ता, तत्रैकत्वं द्विविधं—नित्यमनित्यञ्च, अन्यास्त्वनित्या एव । तत्रापि नित्येषु नित्यवस्तुषु परमाण्वादिषु । **एकत्वम्** एकत्वादिसङ्ख्या । नित्यम् । **अनित्ये** घटाद्यनित्यवस्तुनि । एकत्वम् । **अनित्यमिति** । एकत्वनाशं प्रति आश्रयनाशस्य हेतुत्वादिति । **परार्द्धान्ताः** परार्द्धसङ्ख्यापर्यन्ताः । **द्वित्वादयः** द्वित्वत्रित्वादयः । **अपेक्षाबुद्धिजाः** अयमेकोऽयमेक इत्याकारिका अपेक्षाबुद्धिस्ततो जाता उत्पन्नाः । **मता इति** । वस्तुद्वयसम्पन्नं द्वित्वं प्रति समवायिकारणं वस्तुद्वयमेव तत्समवायिकारण-

गतमेकत्वं द्वित्वं प्रत्यसमवायिकारणम्। अयमेकोऽयमेक इति अपेक्षाबुद्धिर्द्वित्वोत्पत्ति प्रति निमित्तकारणमिति। कारिकां विवृणोति मूले—**नित्येष्विति। नित्येषु** नित्यवस्तुषु। परमाण्वादिषु आदिपदादाकाशादीनां ग्रहणम्। **एकत्वम्** एकत्वसङ्ख्या। **नित्यम्। अनित्ये। घटादौ** घटादिकार्यरूपे वस्तुनि समवेतम्। **एकत्वम्।** अनित्यम्। **इति। अयं:** आशयः। **द्वित्वादयः** द्वित्वत्रित्वादिसङ्ख्याः। **व्यासज्यवृत्तिसङ्ख्याः** उभयादिवृत्ति-सङ्ख्याः। उच्यन्ते। ताश्च अपेक्षाबुद्धिजन्याः अयमेकोऽयमेक इत्याकाराऽपेक्षाबुद्धिस्ततो जन्या इति तथेति। अतीन्द्रियेषु ईश्वरीयापेक्षाबुद्धिकारणाद् द्वित्वाद्युत्पत्तिरिति। प्रथम-मपेक्षाबुद्धिस्ततो द्वित्वोत्पत्तिरिति। ईश्वरीयबुद्धेर्नित्यत्वेऽपि ईश्वरीयापेक्षाबुद्धिसह-कारिक्षणविशेषस्य नाशाद् द्वित्वनाशोपपत्तिरिति विस्तरोऽन्यत्र।

उच्यते हि सङ्ख्यात्वसामान्यवती सङ्ख्या। सा चाव्यासज्याव्यासज्यवृत्तित्वेन द्विधा। तत्रैकत्वमव्यासज्यवृत्ति द्वित्वादिकं तु व्यासज्यवृत्तिः। तत्र व्यासज्यवृत्तिधर्माणां पर्याप्तिसम्बन्धेन वृत्तित्वम्। अत्र प्राभाकरास्तु द्वित्वादिकं नित्ये नित्यमनित्ये कारण-गुणपूर्वकमाश्रयनाशनाश्यमपेक्षाबुद्धिव्यङ्ग्यमाचक्षते। अन्ये तन्न मन्यन्ते। तन्मते समानदेशानां समानेन्द्रियग्राह्याणां प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यतया असम्भवेन द्वित्व-प्रत्यक्षकाले एव त्रित्वादेरपि प्रत्यक्षापत्तेरिति।

द्वित्वोत्पत्तिर्यथा लक्षणावल्याम्—

> 'आदाविन्द्रियसन्निकर्षघटनादेकत्वसामान्यधी-
> रेकत्वोभयगोचरा मतिरतो द्वित्वं ततो जायते।
> द्वित्वस्य प्रमितिस्ततोऽपि परतो द्वित्वप्रमानन्तरं
> द्वे द्रव्ये इति धीरियं निगदिता द्वित्वोदयप्रक्रिया॥' इति। ॥ १०७ ॥

अनुवाद—नित्य वस्तु में समवेत एकत्व नित्य होता है और अनित्य वस्तु में समवेत एकत्व अनित्य होता है। परार्द्धपर्यन्त की द्वित्व आदि संख्या अपेक्षाबुद्धि (यह एक, यह एक ऐसी बुद्धि) से उत्पन्न होते हैं और वे अनित्य होते हैं, क्योंकि दो वस्तुओं से बने हुए द्वित्व में समवायिकारण दो वस्तु हैं, समवायिकारणगत एकत्व द्वित्व के प्रति असमवायिकारण होता है और अपेक्षाबुद्धि द्वित्व के प्रति निमित्त-कारण है ॥ १०७ ॥

अनेकाश्रयपर्याप्ता एते तु परिकीर्तिताः।
अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च नाशस्तेषां निरूपितः॥ १०८॥

अनेकेति। यद्यपि द्वित्वादिसमवायः प्रत्येकं घटादावपि वर्तते तथाप्येको द्वाविति प्रत्ययाभावात् एको न द्वाविति प्रत्ययसद्भावाच्च द्वित्वादीनां पर्याप्ति-लक्षणः कश्चन सम्बन्धोऽनेकाश्रयोऽभ्युपगम्यते।

आलोकः—द्वित्वादिसङ्ख्यायाः प्रकृतिमाह परममूले—**अनेकेति।** एते तु अनेका-श्रयपर्याप्ताः परिकीर्तिताः अपेक्षाबुद्धिनाशात् च तेषां नाशः निरूपित इति। एते द्वित्वा-

दयः परार्द्धान्ताः । **तु** हि । **अनेकाश्रयपर्याप्ताः** अनेकेषु एकाधिकेषु आश्रयेषु अधिकरणेषु पर्याप्ता अवलम्बनाः । **परिकीर्तिताः** कथिताः । पर्याप्तिस्वरूपसम्बन्धेन नानाधिकरणावलम्बना इति । **अपेक्षाबुद्धिनाशात्** अपेक्षाबुद्ध्यात्मककारणनाशात् । **च** हि । **तेषां** द्वित्वादीनाम् । **नाशः** । **निरूपितः** प्रतिपादित इति । व्याख्यानाय कारिकाप्रतीकमादत्ते मूले—**अनेकेति** । तत्र पर्याप्तिसम्बन्धसाधनायाक्षिपति—**यद्यपीति** । **यद्यपि** सामान्यदृष्टचा । **द्वित्वादिसमवायः** द्वित्वादेः समवायरूपः सम्बन्धः । **प्रत्येकम्** । **घटादौ** एकैकघटादिव्यक्तौ । घटद्वयादौ यथा । **अपि च** । **वर्तते** । तथा च समवायेन द्वौ घटौ इति व्यवहारनिर्वाहे । तादृशव्यवहारनिर्वाहकतया समवायभिन्नं सम्बन्धान्तरं पर्याप्तिरूपं न कल्पनीयमेव । **तथापि** समवायसम्बन्धेन तादृशनिर्वाहे । **एकः द्वौ इति** । **प्रत्ययाभावात्** प्रतीतेरभावात् । **एकः न द्वौ इति** । **प्रत्ययसद्भावात्** प्रतीतेः । **च** अपि । **द्वित्वादीनां** द्वित्वादिपरार्धान्तानाम् । **कश्चन** समवायसम्बन्धभिन्नः । **पर्याप्तिलक्षणः** पर्याप्तिस्वरूपः । **सम्बन्धः** । **अनेकाश्रयः** अनेक आश्रयो यस्येति एकाधिकाधिकरणः व्यक्तिद्वयादावेव । तथा च एकत्वविशिष्टे पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वाभावात्तेन सम्बन्धेन द्वित्ववद्भेदसत्त्वात्मको द्वाविति प्रत्ययाभावः एको न द्वाविति प्रत्ययश्चोपपद्यते इति जगदीशतर्कालङ्कारादयस्तु उभयादेः प्रत्येकानतिरिक्ततया उभयादौ वर्तमानपर्याप्तिरेकैकव्यक्तावपि स्वीकर्तव्येति वदन्ति । अन्ये तु आकाशौ इति वाक्यस्य प्रामाण्यापत्त्या पर्याप्त्यङ्गीकार आवश्यक इति कथयन्ति ।

अयमाशयः—यद्यपि द्वित्वादेरसमवायाख्यसम्बन्धः यथा व्यक्तिद्वये तथा एकैकघटादिव्यक्तावपि सत्त्वात् तथा च यथा जातेः समवायेन एकव्यक्तिपर्याप्तत्वमुभयपर्याप्तत्वं न तथा द्वित्वादेरपीति पर्याप्तिस्वीकारो निरर्थक इति तथापि समवायेन इमौ द्वाविति प्रत्ययोपपत्तावपि तेन एको द्वाविति प्रतीतेरभावात् एको न द्वित्ववानिति प्रत्ययाभाववत् एको न द्वाविति एको न द्वाविति प्रत्ययोऽपि न स्यात्, एको द्वित्ववानिति प्रतीतिवत् एको द्वाविति प्रत्ययोऽपि स्यात् । अतः समवायातिरिक्तः पर्याप्ताख्यो विलक्षणः सम्बन्धः द्वौ न द्वाविति प्रतीतिविषयो वाच्य इति । केचित्तु एकत्वस्य न्यूनवृत्तितया द्वित्वाधारतानवच्छेदकत्वात् न तथा प्रत्यय इत्युक्तम् एको न द्वाविति । एकत्वावच्छेदेन द्वित्ववद्भेदाभावादेकत्वादेर्न्यूनवृत्तितया द्वित्ववद्भेदानवच्छेदकत्वादिति प्रथमहेतावस्वरसं द्वितीयहेतौ च तादृशदोषप्राप्तिरिति वदन्ति । तन्न, एको द्वित्ववानिति प्रतीतेः सर्वानुभवसिद्धतया तद्बलात् न्यूनवृत्त्येकत्वस्यापि द्वित्वाधारतावच्छेदकत्वसम्भवात् इत्यादि प्रभायां स्पष्टम् । विस्तरस्तत्रैव ।

हिन्दी—ये द्वित्व आदि नाना आधार में अवलम्बन वाले कहे जाते हैं और अपेक्षाबुद्धि के नाश होने पर उनका भी नाश प्रतिपादित है ।

अनेकेति । यद्यपि द्वित्वादिसमवाय प्रत्येक घटादि व्यक्ति में भी रहता है, तथापि उससे एक, दो ऐसी प्रतीति के न होने से 'एक दो नहीं' ऐसी प्रतीति के सद्भाव से भी द्वित्व आदि का पर्याप्तिस्वरूप कोई अनेकाश्रय सम्बन्ध का अभ्युपगम होता है ।

अपेक्षाबुद्धिनाशादिति। प्रथममपेक्षाबुद्धिस्ततो द्वित्वोत्पत्तिः, ततो विशेषणज्ञानं द्वित्वत्वनिर्विकल्पात्मकम्। ततो द्वित्वत्वविशिष्टप्रत्यक्षमपेक्षाबुद्धिनाशश्च। ततो द्वित्वनाश इति।

यद्यपि ज्ञानानां द्विक्षणमात्रस्थायित्वं योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यत्वात्, तथापि अपेक्षाबुद्धेस्त्रिक्षणावस्थायित्वं कल्प्यते। अन्यथा निर्विकल्पककालेऽपेक्षाबुद्धिनाशानन्तरं द्वित्वस्यैव नाशः स्यान्न तु द्वित्वप्रत्यक्षं, तदानीं विषयाभावात्। विद्यमानस्यैव चक्षुरादिना ज्ञानजननोपगमात्। तस्माद् द्वित्वप्रत्यक्षादिकमपेक्षाबुद्धेर्नाशकं कल्प्यते। न चापेक्षाबुद्धिनाशात्कथं द्वित्वनाश इति वाच्यं, कालान्तरे द्वित्वप्रत्यक्षाभावात्। अपेक्षाबुद्धिस्तदुत्पादिका तन्नाशात्तन्नाश इति कल्पनात्।

अत एव तत्पुरुषीयापेक्षाबुद्धिजन्यद्वित्वादिकं तेनैव गृह्यत इति कल्प्यते। न चापेक्षाबुद्धेर्द्वित्वप्रत्यक्षे कारणत्वमस्त्विति वाच्यं, लाघवेन द्वित्वं प्रत्येव कारणत्वस्यैवोचितत्वात्। अतीन्द्रिये द्व्यणुकादावपेक्षाबुद्धिर्योगिनाम्। सर्गादिकालीनपरमाण्वादावीश्वरीयापेक्षाबुद्धिर्ब्रह्माण्डान्तरवर्तियोगिनामपेक्षाबुद्धिर्वा द्वित्वादिकारणमिति ॥ १०८ ॥

आलोकः—अपेक्षाबुद्धिनाशादिति पदस्याशयोद्घाटनायोपक्रमते—**अपेक्षाबुद्धिनाशादिति**। तदुपपादयति—**प्रथममिति**। **प्रथमम्** इन्द्रियसन्निकर्षानन्तरम्। **अपेक्षाबुद्धिः** अयमेकोऽयमेक इत्याद्यनेकधर्मावच्छिन्नविशेष्यकैकत्वप्रकारकप्रत्यक्षम्। **अपेक्षाबुद्धिः** अनेकधर्मावच्छिन्नविशेष्यैकत्वप्रकारकप्रत्यक्षम्। **ततः** तदनु। **द्वित्वोत्पत्तिः** द्वित्वाद्युत्पत्तिः। **ततः** तदनन्तरम्। **द्वित्वत्वनिर्विकल्पात्मकं विशेषणज्ञानं** द्वित्वत्वद्वित्वोभयनिष्ठतुरीयविषयताशालिनिर्विकल्पकं ज्ञानम्। इमे द्वित्वद्वित्वत्वे इत्याकारकम्। **ततः**। **द्वित्वत्वविशिष्टप्रत्यक्षं** द्वित्वत्वप्रकारताकद्वित्वविशेष्यताकलौकिकप्रत्यक्षम्। **अपेक्षाबुद्धिनाशः** अयमेकोऽयमेक इत्याकारापेक्षाबुद्धिनाशः। **ततः** तदनन्तरम्। **द्वित्वनाशः** पञ्चमे क्षणे द्वित्वस्य नाश इति। द्वित्वप्रत्यक्षात्मकगुणस्यापेक्षाबुद्धेर्नाशकत्वं तु प्रतियोगितासम्बन्धेनापेक्षाबुद्धिनाशं प्रति स्वप्रागभावाधिकरणक्षणवृत्तित्वस्वसमानकालीनत्वोभयसम्बन्धेन गुणत्वस्य हेतुत्वादिति विस्तरोऽन्यत्र। तत्राशङ्क्य समाधत्ते—**यद्यपीति**। **यद्यपि** सामान्यतः। **ज्ञानानां** सर्वविधज्ञानानाम्। ज्ञानत्वावच्छिन्नस्य। **द्विक्षणमात्रस्थायित्वं** क्षणद्वयमात्रस्थितिमत्त्वं, ज्ञानस्य प्रथमक्षणे उत्पत्तिः, द्वितीयक्षणे स्थितिः, तृतीयक्षणे ध्वंस इति सिद्धान्तात्। **योग्यविभुविशेषगुणानां** योग्या ये विभूनां गगनात्मादीनां ये विशेषगुणा शब्दबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनास्तेषाम्। **स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यत्वात्** स्वस्योत्तरवर्ती यो गुणस्तेन नाश्यत्वात्। अपेक्षाबुद्ध्यात्मकज्ञानस्यापि तृतीयक्षणे स्मरणादिना नाश्यत्वात्। तथा च शब्दत्वादीनां प्रयत्नत्वान्तानां विभुयोग्यगुणानां मध्ये प्रतियोगितासम्बन्धेन स्वाश्रयप्रतियोगिकत्वकालिकविशेषणत्वोभयसम्बन्धावच्छिन्नैकैकजातिविशिष्टं प्रति स्वाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्धेन गुणत्वेन

हेतुत्वमिति नियमः। **तथापि** ज्ञानस्य तृतीयक्षणनाश्यत्वेऽपि। **अपेक्षाबुद्धेः** अयमेकोऽयमेक इति बुद्धेः। **त्रिक्षणावस्थायित्वं** चतुर्थक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम्। **कल्प्यते** स्वीक्रियते। तथाऽस्वीकारे हानिमाह—**अन्यथेति**। **अन्यथा** अपेक्षाबुद्धेस्त्रिक्षणस्थायित्वानङ्गीकारे। **निर्विकल्पककाले** द्वित्वत्वद्वित्वनिर्विकल्पकोपत्तिकाले। **अपेक्षाबुद्धिनाशानन्तरं** तृतीयक्षणेऽपेक्षाबुद्धिनाशे सति। **द्वित्वस्य** कारणनाशेन द्वित्वात्मककार्यस्य चतुर्थक्षणे। **नाशः। स्यात्। न। तु** हि। **द्वित्वप्रत्यक्षं** सविकल्पकप्रत्यक्षम्। **तदानीं** तदवसरे। **विषयाभावात्** विषयस्य द्वित्वस्य अभावात् विरहात्। **विद्यमानस्य** वर्तमानस्य। **एव** हि न तु अतीतस्य। **चक्षुरादिना** चक्षुरादीन्द्रियेण। **ज्ञानजननोपगमात्** प्रत्यक्षज्ञानोत्पादनसम्भवात्। **तस्मात्** तद्धेतोः। **द्वित्वप्रत्यक्षादिकं** द्वित्वत्वद्वित्वनिर्विकल्पकप्रत्यक्षम्। **अपेक्षाबुद्धेः** अयमेकोऽयमेक इति बुद्धेः। **नाशकं** नाशजनकम्। **कल्प्यते** स्वीक्रियते। न तु द्वितीयक्षणोत्पन्नस्मृत्यादि इति। आदिपदेन त्रित्वत्वत्रित्वनिर्विकल्पकादि ज्ञेयम्। तथा च प्रतियोगितासम्बन्धेनापेक्षाबुद्धिनाशं प्रति स्वप्रागभावाधिकरणक्षणवृत्तित्वस्वसमानकालीनत्वोभयसम्बन्धेन गुणत्वेन हेतुत्वस्य नियमाद् द्वित्वसविकल्पकक्षणे एवापेक्षाबुद्धेर्नाशान्न द्वित्वसविकल्पकानुपपत्तिरिति। अन्ये त्वाहुः—द्वित्वादिनिर्विकल्पकक्षणे अपेक्षाबुद्धिनाशस्वीकारे द्वित्वलौकिकसविकल्पकासम्भवेऽपि द्वित्वनिष्ठाऽलौकिकविषयताशालिप्रत्यक्षे बाधकाऽभावात् अपेक्षाबुद्धेः क्षणत्रयावस्थायित्वकल्पनं निष्फलमिति। तन्न। निर्विकल्पकस्याप्रत्यासत्तित्वेनालौकिकप्रत्यक्षासम्भवात् तदुत्तरजायमानद्वित्वं साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसायविरोधाच्चेति विस्तरः किरणावल्यादौ स्पष्टः। द्वित्वनाशासम्भवमाशङ्क्य समाधत्ते—**नेति। न। च** हि। **अपेक्षाबुद्धिनाशात्** अपेक्षाबुद्धेर्नाशात्। **द्वित्वनाशः**। द्वित्वस्य नित्यत्वेन (नित्ये नित्यमिति नियमात्) तद्धेतुत्वेन प्रकल्पितताया अपेक्षाबुद्धेर्नाशात्कथं तन्नाश इति मीमांसकमतम्। **इति। न। वाच्यम्। कालान्तरे** अपेक्षाबुद्धिनाशोत्पत्त्युत्तरक्षणे। **द्वित्वप्रत्यक्षाभावाद्** द्वित्वस्य लौकिकप्रत्यक्षासम्भवादिति। **अपेक्षाबुद्धिः** अयमेकोऽयमेक इति बुद्धिः। **तदुत्पाविका** तस्य द्वित्वादेः उत्पादिका उद्भाविका। **तेन। तन्नाशात्** तस्या अपेक्षाबुद्धेर्नाशात्। **तन्नाशः** तस्य द्वित्वस्य नाशः। **इति** इत्थम्। **कल्पनात्** कल्पयितुमुचितत्वात्। द्रव्यनाशं प्रति असमवायिकारणनाशस्य क्लृप्तहेतुतावद् द्वित्वनाशं प्रति असाधारणनिमित्तकारणभूतापेक्षाबुद्धिनाशस्य हेतुत्वं कल्प्यते, कारणनाशस्य कार्यनाशहेतुतायाः क्लृप्तत्वादिति। **अतः** हेतोरस्मात्। **एव** हि। **तत्पुरुषीयापेक्षाबुद्धिजन्यद्वित्वादिकं** यथा मैत्रीयापेक्षबुद्धिजन्यद्वित्वम्। **तेन मैत्रेण। एव** हि नान्येन। **गृह्यते** प्रत्यक्षं क्रियते। तदितरेण नैव गृह्यते। **इति। कल्प्यते** स्वीक्रियते। द्वित्वादिनिष्ठलौकिकविषयतासम्बन्धेन तत्पुरुषीयप्रत्यक्षव्यक्तिं प्रति तत्पुरुषीयापेक्षाबुद्धिजन्यद्वित्वादिव्यक्तेस्तादात्म्येन हेतुत्वस्वीकारात् नोक्तापत्तिरिति। पुनराशङ्क्य समाधत्ते—**नेति। न। च** हि। **अपेक्षाबुद्धेः। द्वित्वप्रत्यक्षे** द्वित्वप्रत्यक्षीकरणे। **कारणत्वं** हेतुत्वम्। **अस्तु। इति**। वाच्यं कथनीयम्। **लाघवेन** लघुतादृष्ट्या। **द्वित्वम्। प्रति। एव** न त्वपेक्षाबुद्धिं प्रति। **कारणत्वस्य** द्वित्वप्रत्यक्षहेतुत्वस्य। **उचितत्वात्** योग्यत्वात्।

लाघवञ्चोपस्थितिकृतमेव। द्वित्वप्रत्यक्षत्वापेक्षया द्वित्वत्वस्य कार्यतावच्छेदकस्य लघुत्वादिति । द्व्यणुकस्यास्मदीयप्रत्यक्षागोचरत्वेन अपेक्षाबुद्धिसम्भव इत्याशङ्कायामाह— **अतीन्द्रियेति । अतीन्द्रिये** इन्द्रियागम्ये । **द्व्यणुकादौ** द्व्यणुके परमाणौ च । **अपेक्षाबुद्धिः** अयमेकोऽयमेक इति ज्ञानम् । अस्मदादीनामसम्भवेऽपि । **योगिनां** योगसिद्धानां सर्वज्ञानाम् । भवत्येवेति । सर्गादौ योगिनामप्यभावात्कथं तदा द्वित्वाद्युत्पत्तिरत आह— **सर्गादीति । सर्गादिकालीनपरमाण्वादौ** सर्गस्य ब्रह्माण्डोत्पत्तेः आदिकालीनः पूर्वक्षणवर्तिनो ये परमाणवस्तदादौ । **ईश्वरीयापेक्षाबुद्धिः** ईश्वरस्यापेक्षाबुद्धिरिति । तस्य निरतिशयसार्वज्ञ्यबीजवत्त्वात् । **वा** पक्षान्तरे । **ब्रह्माण्डान्तरवर्तियोगिनां** भुवनान्तरालवर्तियोगिनामिति । महाप्रलयानन्तरसर्गादौ ईश्वरस्यैवापेक्षाबुद्धिस्तदा तदितरस्यानुपस्थितेः 'स एक आसीत्' इत्यादिश्रुतेः । खण्डप्रलयानन्तरसर्गादौ तु भुवनान्तरालवर्तमानयोगिनामपेक्षाबुद्धिः 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादिश्रुतेः खण्डप्रलये योगिनां विद्यमानत्वस्य स्मृत्यादावपि प्रतिपादनात् । **अपेक्षाबुद्धिः । द्वित्वादिकारणं** द्वित्वोत्पत्तिं प्रति निमित्तकारणमिति । ईश्वरीयबुद्धेर्नित्यत्वेऽपि तस्यापेक्षाबुद्धिविशिष्टक्षणस्य तु नाशसम्भवात्तथासम्भव इति ज्ञेयम् ॥ १०८ ॥

हिन्दी—अपेक्षाबुद्धिनाशादिति । पहले अपेक्षाबुद्धि होती है, उसके बाद द्वित्व की उत्पत्ति होती है, उसके बाद द्वित्वत्वनिर्विकल्पात्मक विशेषण ज्ञान अर्थात् निर्विकल्पात्मक द्वित्वद्वित्वत्व, ऐसा विशेषणज्ञान, तब द्वित्वत्वविशिष्ट द्वित्व का प्रत्यक्ष और अपेक्षाबुद्धि का नाश, तब द्वित्व का नाश ।

यद्यपि ज्ञानों का दो क्षण मात्र स्थायित्व होता है, क्योंकि विभु के योग्य गुण अपने उत्तरवर्ती गुण के द्वारा विनष्ट होते हैं, तथापि अपेक्षाबुद्धि का तीन क्षण तक स्थायित्व माना जाता है, अन्यथा निर्विकल्पक काल में ही अपेक्षाबुद्धि के नाश के बाद द्वित्व का ही नाश होगा न तो द्वित्वप्रत्यक्ष होगा, क्योंकि उस समय तब विषय का अभाव होता है और विद्यमान का ही चक्षु आदि के द्वारा ज्ञानजनन सम्भव है । इस कारण द्वित्वप्रत्यक्ष आदि को ही अपेक्षाबुद्धि के नाशक के रूप में लिया जाता है ।

न तो अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश कैसे होता है, ऐसा कहना ही उचित है, क्योंकि कालान्तर में द्वित्वप्रत्यक्ष का अभाव होता है । अपेक्षाबुद्धि उसकी उत्पादिका है और उस (अपेक्षाबुद्धि) के नाश से उस (द्वित्व) का नाश होता है, ऐसी कल्पना की जाती है । इसी कारण ही उस पुरुष की अपेक्षाबुद्धि से जन्य द्वित्व आदि उसी पुरुष के द्वारा गृहीत होता है, दूसरे के द्वारा नहीं, ऐसी कल्पना की जाती है ।

न तो अपेक्षाबुद्धि का द्वित्वप्रत्यक्ष में कारणत्व हो ऐसा कहना ही उचित है, क्योंकि लाघव के कारण द्वित्व के प्रति ही कारणत्व उचित पड़ता है अर्थात् द्वित्व प्रत्यक्षत्व की अपेक्षा कार्यतावच्छेदक द्वित्वत्व का ही लघुत्व होता है । अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से ग्रहण न किये जा सकने वाले) द्व्यणुक आदि में अपेक्षाबुद्धि योगियों की होती है, सर्गादिकालीन परमाणु आदि में ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि अथवा ब्रह्माण्ड के

अन्तराल में रहने वाले योगियों की (खण्डप्रलय में) अपेक्षाबुद्धि ही द्वित्वादि का कारण होता है (अतः द्वित्व आदि कभी नित्य नहीं होते ।) ॥ १०८ ॥

अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षाबुद्धिरिष्यते ।

अपेक्षाबुद्धिः केत्यत आह—अनेकेति । अयमेकोऽयमेक इत्याकारिका इत्यर्थः । इदं तु बोध्यम् । यत्रानियतैकत्वज्ञानं तत्र त्रित्वादिभिन्ना बहुत्वसङ्ख्योत्पद्यते, यथा सेनावनादाविति कन्दलीकारः । आचार्यास्तु त्रित्वादिकमेव बहुत्वं मन्यन्ते, तथा च त्रित्वत्वादिव्यापिका बहुत्वत्वजातिर्नातिरिच्यते । सेनावनादावुत्पन्नेऽपि त्रित्वादौ त्रित्वत्वाद्यग्रहो दोषात् । इत्थं चेतो बहुतरेयं सेनेति प्रतीतिरुपपद्यते । बहुत्वस्य सङ्ख्यान्तरत्वे तु तत्तारतम्याभावान्नोपपद्येतेत्यवधेयम् ।

आलोकः—अथ प्रसङ्गादपेक्षाबुद्धिं निरूपयति परममूले—**अनेकेति** । या अनेकैकत्वबुद्धिः सा अपेक्षाबुद्धिः इष्यते इति । **या** । **अनेकैकत्वबुद्धिः** अनेकानि एकाधिकानि एकत्वानि प्रकाराः यत्र अनेकैकत्वा सा चाऽसौ बुद्धिर्ज्ञानम् । सा तादृशी बुद्धिः । **अपेक्षाबुद्धिः** । **इष्यते** कथ्यत इति । एकत्ववदेकत्ववदित्याकारिका बुद्धिरपेक्षाबुद्धिरिति । कारिकाशयप्रस्तुतये पूर्वपीठिकामाह—**अपेक्षेति** । **अपेक्षाबुद्धिः** प्रसङ्गे द्वित्वोत्पत्तिहेतुत्वेन याऽपेक्षाबुद्धिरुक्ता सा । **का** किं स्वरूपा । **इति** । **अतः** आकाङ्क्षायाम् । **आह** । **अनेकेति** कारिकाप्रतीकमिदम् । **अनेकैकत्वबुद्धिः** इति **अयम् एकः अयम् एकः** इत्येकाधिकैकत्वाकारिका । **इति** । **अर्थः** आशयः । तत्तद्व्यक्तिमात्रनिष्ठेदन्त्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितैकत्वप्रकारताशालिनी बुद्धिरपेक्षाबुद्धिपदार्थ इति आशयः । त्रित्वबहुत्वविषये मतान्तरनिराकरणपूर्वकस्वमतोपस्थापनाय प्रकरणमारभते—**इदमिति** । **इदं** वक्ष्यमाणतथ्यम् । **तु** हि । **बोध्यं** ज्ञेयमिति । तत्र कन्दलीकारमतमाह—**यत्रेति** । **यत्र** यद्द्रव्यविशेष्यकम् । **अनियतैकत्वज्ञानं** सङ्ख्यात्वव्याप्यद्वित्वत्वावच्छिन्नाप्रकारकप्रत्यक्षम् । **तत्र** तत्तद्द्रव्ये । **त्रित्वादिभिन्ना** त्रित्वत्वादिपरार्द्धत्वत्वान्तसङ्ख्याविभाजकधर्मान्यतमशून्या । **बहुत्वसङ्ख्या** इमे बहव इत्याकारा । **उत्पद्यते** उद्भवति । **यथा** इति निदर्शने । **सेनावनादौ** सेना वनम् इत्यादौ; सेनेति रथगजतुरगपदातिसमुदायः, वनमिति वृक्षलतागुल्मादिसमुदायः । तथा च सभेति सभासदसभापतिप्रभृतिसमुदायः, तत्र त्रित्वादिभिन्ना बहुत्वसङ्ख्योत्पद्यते तत्रानियतैकत्वज्ञानस्य कारणत्वाभावादिति तथा च त्रित्वत्वादिव्यापिका बहुत्वत्वात्मिका जातिरेवेति । **इति** । **कन्दलीकारः** प्रशस्तपादभाष्यस्य न्यायकन्दल्याख्यव्याख्याकृदिति । **आचार्याः** उदयनाचार्याः किरणावलीकृतः । **तु** तद्विपरीतम् । **त्रित्वादिकं** त्रित्वादिपरार्द्धान्तान्यतमम् । **एव** हि । **बहुत्वं** बहुत्वसङ्ख्याम् । **मन्यन्ते** अनियतैकत्वज्ञानेन बहुत्वसङ्ख्योत्पद्यत इति । **तथा च** एवमेव । **त्रित्वत्वादिव्यापिका** त्रित्वत्वादिभिन्नत्वे सति त्रित्वत्वादिसमानाधिकरणाभावाऽप्रतियोगित्वरूपा । **बहुत्वत्वजातिः** । **न** । **अतिरिच्यते** अतिरिक्तत्वेन स्वीक्रियते । तथा च तत्र त्रित्वाद्यात्मकमेकबहुत्वमुत्पद्यत इति । **सेनावनादौ** सेनावनसभादौ । **उत्पन्ने** उद्भूते । **त्रित्वादौ** त्रित्व-

सहस्राद्यात्मके बहुत्वे । **अपि । त्रित्वत्वाद्यग्रहः** त्रित्वत्वादीनां न प्रत्यक्षग्रहणमिति **दोषात्** नियतानेकैकत्वज्ञानाभावात्मकदोषात् । **इत्थं** बहुत्वस्य त्रित्वादिरूपत्वस्वीकारे । **एव** हि । **इतः बहुतरा इयं सेना** बहुतमा वा । **इति । प्रतीतिः** इत्याकारकप्रमात्मक-प्रतीतिः । **उपपद्यते** उपपन्ना भवति अभ्रान्तानामिति । **बहुत्वस्य । सङ्ख्यान्तरत्वे** त्रित्वान्वादिपरार्द्धत्वत्वान्तान्यतमस्वरूपानङ्गीकारे । **तु । तत्तारतम्याभावात्** तस्य बहुत्वे स्वसजातीयोत्कर्षाभावात् । एकस्यैव बहुत्वत्वस्य तारतम्यस्य तरतमभावस्य तरपः तमपश्च तयोर्भावस्तस्य अभावाद् विरहात् । **न** नैव । **उपपद्येत** इतो बहुतरा इयं सेना इति उपपन्नं स्यात् । **इति** इत्थम् । **अवधेयं** विचार्यमिति ।

हिन्दी — अनेक एकत्व हैं जिसमें, ऐसी जो बुद्धि है वह अपेक्षाबुद्धि कही जाती है।

अपेक्षाबुद्धि क्या है ? इस पर कहते हैं—**'अनेकैकेति'** । 'यह एक, यह एक, ऐसी आकार वाली बुद्धि' ऐसा अर्थ है । यह तो समझ लेना चाहिए—जहाँ अनियत एकत्व ज्ञान है वहाँ त्रित्व आदि से भिन्न बहुत्वसङ्ख्या उत्पन्न हो जाती है । जैसे सेना, वन आदि में, ऐसा (न्याय) कन्दलीकार का मत है। आचार्य (उदयनाचार्य) तो त्रित्वादि को ही बहुत्व मानते हैं और उनके मत में त्रित्वत्व आदि में व्यापक बहुत्वत्व जाति त्रित्वत्व जाति आदि से भिन्न नहीं है । सेना, वन आदि में त्रित्व आदि के उत्पन्न होने पर भी नियतानेकैकत्वज्ञानाभावात्मक दोष से त्रित्वत्व आदि का ग्रहण नहीं होता । इस प्रकार मानने पर ही 'उस सेना से यह सेना बहुतरा है' ऐसी प्रतीति उपपन्न होती है । यदि बहुत्व को त्रित्वादि से भिन्न सङ्ख्या माना जाय तो बहुत्व का अपना ही अपने में तारतम्य अर्थात् तुलना न बन पाने से वह कथन उपपन्न नहीं होगा । यह समझ लेना चाहिए ।

परिमाणं भवेन्मानव्यवहारस्य कारणम् ॥ १०९ ॥

परिमाणं निरूपयति —परिमाणमिति। परिमितिव्यवहारासाधारणं कारणं परिमाणमित्यर्थः ॥ १०९ ॥

आलोकः—अथ क्रमप्राप्तं परिमाणं निरूपयति परममूले—**परिमाणमिति** । मान-व्यवहारस्य कारणं परिमाणं भवेत् इति । **मानव्यवहारस्य** मानं परिमितिस्तस्य यो व्यवहारस्तस्य । **कारणम्** असाधारणकारणम् । **परिमाणं** तदाख्यगुणः । **भवेत्** । इति । भाष्येऽपि—'परिमाणं मानव्यवहारकारणमि'ति । लक्षणावल्यां तु 'सङ्ख्यासमवेतत्व-रहितसङ्ख्याऽसमवायिसमवेतवत् परिमाणम्, तच्च नवद्रव्यवृत्ति नित्यगतं नित्यम-नित्यगतमनित्यमि'ति । मूले कारिकाशयं विवृणोति—**परिमाणमिति । परिमाणं** तदाख्य-गुणम् । **निरूपयति** निर्दिशति । **परिमाणमिति** कारिकाप्रतीकमिदम् । अस्य हि **परिमिति-व्यवहारासाधारणं** परिमितेर्मानस्य व्यवहारस्य प्रयोगस्य असाधारणं विशिष्टं **कारणं** हेतुः । **परिमाणम् । इति । अर्थः** आशयः । तत्र दण्डानयनप्रयुक्तवाक्ये शब्दप्रयोगात्मक-व्यवहारासाधारणकारणेऽतिव्याप्तिवारणाय मानपदम् । कालादावतिव्याप्तिवारणाय असाधारणपदम् ॥ १०९ ॥

हिन्दी—मानव्यवहार का कारण परिमाण होता है।

परिमाण का निरूपण करते हैं—**परिमाणमिति**। परिमिति सम्बन्धी व्यवहार का असाधारण कारण परिमाण है, ऐसा अर्थ है ॥ १०९ ॥

अणु दीर्घं महद्ध्रस्वमिति तद्भेद ईरितः।

तच्चतुर्विधम्—अणु, महद्, दीर्घं ह्रस्वञ्चेति।

आलोकः—परिमाणं विभजते परममूले—**अण्विति**। अणु दीर्घं महत् ह्रस्वम् इति तद्भेदः ईरितः इति। क्रमस्तु अणु, महत्, ह्रस्वं, दीर्घमिति। व्यत्ययेन विन्यासस्तु छन्दोऽनुरोधेनेति। **अणु। महत्। ह्रस्वम्। दीर्घम्।** भावप्रधानोऽयं निर्देशः, तेन अणुत्वं महत्त्वं ह्रस्वत्वं दीर्घत्वञ्चेत्यर्थः। इति इत्थम्। **तद्भेदः** तस्य परिमाणस्य भेदः। **ईरितः** कथित इति। मूले कारिकाशयमाह—**तदिति**। तत् परिमाणम्। **चतुर्विधम्। अणु। महत्। ह्रस्वम्। दीर्घम्। च। इति**। तत्र परमाणुह्रस्वत्वे परमाणुमनसोः मध्यमाणुह्रस्वत्वे द्वयणुके। परममहत्त्वदीर्घत्वे गगनादौ मध्यममहत्त्वदीर्घत्वे घटादौ। परिमाणं क्वचित्सङ्ख्याजन्यं क्वचित्परिमाणजन्यं क्वचित्प्रचयाख्यसंयोगजन्यम्। तत्राद्यं परमाणुद्वित्वजन्यं द्वयणुके द्वयणुकबहुत्वजन्यं त्र्यणुके। द्वितीयं कपालपरिमाणजन्यं घटपरिमाणम्। तृतीयं तूलावयवसंयोगजन्यं तूलपिण्डपरिमाणमयमेव। ननु अणुत्वमेवास्तु ह्रस्वत्वं महत्त्वमेव दीर्घत्वञ्च कुतश्चातुर्विध्यमिति चेन्न, तदवधिकाणुतया प्रतीयमानेऽपि तदवधिकह्रस्वत्वाव्यवहारात् तदवधिकमहत्त्ववत्तया प्रतीयमानेऽपि तदवधिकदीर्घत्वाव्यवहाराच्च ह्रस्वदीर्घत्वयोरतिरिक्तपरिमाणतया चातुर्विध्यसम्भवाच्चेति।

हिन्दी—अणु, महत्, ह्रस्व, दीर्घ—ये इस (परिमाण) के भेद बतलाये गये हैं। वह चार प्रकार का होता है—अणु, महत्, दीर्घ एवं ह्रस्व।

अनित्ये तदनित्यं स्यान्नित्ये नित्यमुदाहृतम् ॥ ११० ॥

तत्परिमाणम्। नित्यमित्यत्र परिमाणमित्यनुषज्यते ॥ ११० ॥

आलोकः—परिमाणस्य प्रकृतिमाह परममूले—**अनित्ये** इति। तत् अनित्ये अनित्यं स्यात् नित्ये नित्यम् उदाहृतम् इति। **तत्** परिमाणम्। **अनित्ये** आश्रयभूते द्रव्येऽनित्ये। **अनित्यम्। नित्ये** आश्रयीभूते द्रव्ये नित्ये। **नित्यम्। उदाहृतं** कथितमिति। तच्च परिमाणं नित्यद्रव्याश्रितं नित्यमनित्यद्रव्याश्रितमनित्यमिति। कारिकागतकतिचित्पदाशयमाह मूले—**तदिति। तत्** इति परिमाणम्। **नित्यम् इत्यत्र। परिमाणम्** इति पदम्। **अनुषज्यते** संयुज्यत इति। तच्च चतुर्विधं परिमाणं नित्यानित्यभेदेन पुनर्द्विविधं, यत्र नित्यद्रव्याश्रितं नित्यमनित्याश्रित त्वनित्यं भवति। तत्र नित्यदीर्घत्वमाकाशादौ अनित्यदीर्घत्वं जन्यमहत्त्वसमानाधिकरणमेव नित्यं ह्रस्वत्वं परमाणावेव अनित्यह्रस्वत्वं जन्याणुत्वाधिकरणद्वयणुकसमवेतम्। परमाणुद्वयणुकयोः ह्रस्वत्वेन आकाशादिविभुचतुष्टयस्य दीर्घत्वेन च केनाऽप्यननुभूतत्वाद् ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोः जन्यमहत्त्वसमानाधि-

करणत्वमेव । अतः सूची दण्डाद् ह्रस्वा ततो दण्डस्तु दीर्घ इति प्रतीतिः । अन्ये तु अणुत्वं दीर्घत्वञ्चेति द्वेधा परिमाणं ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोरवयवसंयोगविशेषात्मकत्वात्, अन्यथा वर्तुलं चतुरस्रमित्यनुभवेन वर्तुलत्वादीनामपि परिमाणान्तरतापत्तिः स्यादिति वदन्ति ॥ ११० ॥

हिन्दी—वह परिमाण उसके आश्रय द्रव्य के अनित्य होने पर अनित्य होता है और आश्रय के नित्य होने पर नित्य कहा गया है । कारिका में 'तत्' पद का अर्थ परिमाण है । 'नित्यम्' इसमें 'परिमाण' यह अनुषक्त होता है ॥ ११० ॥

सङ्ख्यातः परिमाणाच्च प्रचयादपि जायते ।
अनित्यं—

जायत इत्यत्रापि परिमाणमित्यनुवर्तते । अनित्यमिति पूर्वेणान्वितम् । तथा चानित्यपरिमाणं सङ्ख्याजन्यं परिमाणजन्यं प्रचयजन्यं चेत्यर्थः ।

आलोकः—अनित्यपरिमाणोत्पत्तिप्रकारमाह परममूले—**सङ्ख्यात** इति । अनित्यं च सङ्ख्यातः परिमाणात् प्रचयात् अपि जायते इति । **अनित्यम्** अनित्यपरिमाणम् । **च** तु । **सङ्ख्यातः** द्वित्वाद्यनित्यसङ्ख्यातः । **परिमाणात्** अनित्याश्रयपरिमाणतः । **प्रचयात्** शिथिलाऽऽख्यसंयोगात् । **अपि च** । **जायते** उत्पद्यते इति । कारिकाशयं विवृणोति—**जायत** इति । कारिकायां **'जायते'** **इत्यत्र** । **अपि** । **परिमाणम्** । **इति पदम्** । **अनुवर्तते** अनुषक्तं भवति । **अनित्यम् इति पदम्** । **पूर्वेण** पूर्वोक्तपरिमाणपदेन । **अन्वितम्** अनुगतम् । **तथा च** एवं हि । **अनित्यपरिमाणम्** अनित्यप्रकृतिकपरिमाणम् । **सङ्ख्याजन्यं** द्वित्वाद्यनित्यसङ्ख्योत्पाद्यम् । **परिमाणजन्यम्** अनित्यद्रव्याश्रितपरिमाणोत्पाद्यम् । **प्रचयजन्यं** शिथिलाख्यसंयोगोत्पाद्यम् । **च** । **इति** । **अर्थः** कारिकाया आशय इति । तत्र मात्रपदयोगेन व्यवहर्तव्य, तेन सङ्ख्यामात्रजन्यं परिमाणमात्रजन्यं प्रचयमात्रजन्यमनित्यपरिमाणमिति । अपिपदेन सङ्ख्यापरिमाणोभयत्वावच्छिन्नजन्यं सङ्ख्यापरिमाणप्रचयत्रितयत्वावच्छिन्नजन्यश्चानित्यपरिमाणमिति संसूच्यते ।

हिन्दी—अनित्य परमाणु सङ्ख्या, परिमाण एवं प्रचय से भी उत्पन्न होता है । 'जायते' इस पद में भी परिमाण यह पद अनुवर्तित है । अनित्य पद पहले के साथ अन्वित है । इस प्रकार अनित्य परिमाण सङ्ख्याजन्य, परिमाणजन्य एवं प्रचयजन्य भी होता है, ऐसा अर्थ है ।

—द्व्यणुकादौ तु सङ्ख्याजन्यमुदाहृतम् ॥ १११ ॥

तत्र सङ्ख्याजन्यमुदाहरति–द्व्यणुकादाविति । द्व्यणुकस्य त्रसरेणोश्च परिमाणं प्रति परमाणुपरिमाणं द्व्यणुकपरिमाणं वा न कारणं, परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमात् । द्व्यणुकस्याणुपरिमाणं तु न सजातीयम् । अतः परमाण्वणुत्वापेक्षया नोत्कृष्टम् । त्रसरेणुपरिमाणं तु न सजातीयम् । अतः

परमाणौ द्वित्वसङ्ख्या द्व्यणुकपरिमाणस्य द्व्यणुके त्रित्वसङ्ख्या च त्रसरेणु-परिमाणस्यासमवायिकारणमित्यर्थः ।। १११ ।।

आलोकः—अथ परिमाणस्य सङ्ख्याजन्यत्वमुदाहरति—**द्व्यणुकादाविति** । द्व्यणुकादौ तु सङ्ख्याजन्यम् उदाहृतम् इति । **द्व्यणुकादौ** द्व्यणुकत्र्यणुकप्रभृतिषु । **तु** हि । **सङ्ख्याजन्यं** सङ्ख्याजन्यपरिमाणम् । **उदाहृतं** निर्दशितम् । सङ्ख्याजन्यं हि परिमाणं द्व्यणुकत्र्यणुकादौ भवतीति । सङ्ख्या चात्र परमाणुद्वयनिष्ठद्वित्वरूपैव । त्रसरेणुपरिमाणं च द्व्यणुकत्रयनिष्ठत्रित्वसङ्ख्याजन्यमिति । कारिकाशयं विवृणोति मूले—**तत्रेति** । **तत्र** सङ्ख्यापरिमाणप्रचयजन्यपरिमाणेषु । **सङ्ख्याजन्यं** परमाणुद्वयनिष्ठद्वित्वसङ्ख्याजन्यम् । **उदाहरति** निदर्शयति । **द्व्यणुकादाविति** । **द्व्यणुकस्य** परमाणुद्वयसंयोगेन यदुत्पद्यते तस्य । **त्रसरेणोः** त्र्यणुकस्य—'अणुर्द्वौ परमाणू स्यात् त्रसरेणुस्त्रयस्तु ते' इति । तत्तत्समवेतमिति । **परिमाणं** परिमितिम् । प्रति । क्रमेण । **परमाणुपरिमाणं** परमाणुजन्यपरिमाणम् । **द्व्यणुकपरिमाणं** द्व्यणुकजन्यपरिमाणम् । **वा** इति पक्षान्तरे । **न** । **कारणम्** असमवायिकारणमिति । **परिमाणस्य** । **स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमात्** स्वसमानजातीयं यत्स्वोत्कृष्टं परिमाणं तस्य जनकत्वस्य तन्निरूपितासमवायिकारणतावत्त्वस्य नियमात् । साजात्यं परिमाणविभाजकोपाधिरूपेण उत्कर्षश्च तरतमत्वादिना बोध्यः । द्व्यणुकस्य **अणुपरिमाणं** द्व्यणुकसमवेतं यदणु परिमाणं तत् । **तु** हि । **परमाण्वणुत्वापेक्षया** परमाणुसम्बद्धाणुत्वतुलनया । **न** । **उत्कृष्टम्** । **त्रसरेणुपरिमाणं** त्रसरेणुसम्बद्धपरिमाणम् । **तु** हि । **न नैव** । **सजातीयं** समानजातीयकम् । **अतः** हेतोरस्मात् । द्व्यणुकत्र्यणुकपरिमाणयोः परिमाणप्रचयासमवायिकारणकत्वासम्भवात् । **परमाणौ द्वित्वसङ्ख्या** तत्समवेतद्वित्वसङ्ख्या । **द्व्यणुकपरिमाणस्य** द्व्यणुकसम्बद्धपरिमाणस्य । असमवायिकारणमिति । **द्व्यणुके त्रित्वसङ्ख्या** तत्समवेतत्रित्वसङ्ख्या । **च** । **त्रसरेणुपरिमाणस्य** त्रसरेणुसम्बद्धपरिमाणस्य । **असमवायिकारणम्** । **इति** । **अर्थः** ।

अयम्भावः—सङ्ख्याजन्यं परिमाणं द्व्यणुकत्र्यणुकादौ भवति । परिमाणस्य हि स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वम् । तेन द्व्यणुकस्य परिमाणं प्रति परमाणुपरिमाणं, त्र्यणुकस्य परिमाणं प्रति द्व्यणुकपरिमाणं न कारणं, यतो हि द्व्यणुकस्य अणुपरिमाणं परमाण्वणुत्वापेक्षया नोत्कृष्टं, त्रसरेणुपरिमाणं प्रति न सजातीयम् । तेन द्व्यणुकपरिमाणस्य परमाणौ द्वित्वसङ्ख्या त्रसरेणुपरिमाणस्य द्व्यणुके त्रित्वसङ्ख्या कारणमर्थादसमवायिकारणमिति ।। १११ ।।

हिन्दी—द्व्यणुक आदि में सङ्ख्याजन्य परिमाण कहा गया है ।

जन्यपरिमाणों के भेदों में से सङ्ख्याजन्य परिमाण का उदाहरण देते हैं—**द्व्यणुकादाविति** । द्व्यणुक एवं त्रसरेणु का भी परिमाण के प्रति परमाणुपरिमाण अथवा द्व्यणुकपरिमाण कारण नहीं होता, क्योंकि परिमाण का स्वसमानजातीय उत्कृष्ट परमाणुजनकत्व होता है । द्व्यणुक का अणुपरिमाण तो परमाणु के अणुत्व की अपेक्षा

उत्कृष्ट नहीं होता, त्रसरेणुपरिमाण तो सजातीय नहीं होता। अतः परमाणु में द्वित्वसङ्ख्या द्व्यणुकसमवेतपरिमाण का और द्व्यणुक में त्रित्वसङ्ख्या त्रसरेणुपरिमाण का असमवायिकारण होता है॥ १११॥

परिमाणं घटादौ तु परिमाणजमुच्यते।

परिमाणजन्यं परिमाणमुदाहरति – परिमाणं घटादाविति। घटादिपरिमाणं कपालादिपरिमाणजन्यम्।

आलोकः—परममूले परिमाणजन्यपरिमाणमुदाहरति—**परिमाणमिति**। घटादौ परिमाणं तु परिमाणजम् उच्यते इति। **घटादौ** घटादिद्रव्ये। **परिमाणं** समवायजन्यं मध्यममहत्परिमाणम्। **तु** हि। **परिमाणजं** कपालद्वयाद्यवयवनिष्ठपरिमाणजन्यम्। **उच्यते** कथ्यते इति। घटादिद्रव्ये यन्मध्यममहत्परिमाणं तदवयवनिष्ठपरिमाणजन्यमिति। कारिकाशयं विवृणोति मूले—**परिमाणजन्यमिति**। **परिमाणजन्यम्** अवयवनिष्ठं यत्परिमाणं तज्जन्यम्। **परिमाणम्**। **उदाहरति** उदाहरणेन स्पष्टयति **परिमाणं घटादाविति**। **घटादिपरिमाणं** घटादिद्रव्यसमवेतपरिमाणम्। **कपालादिपरिमाणजन्यं** कपालाद्यवयवनिष्ठं यत्परिमाणं तज्जन्यमिति। कपालद्वये शैथिल्याभावेन प्रचयस्य घटपरिमाणे न हेतुत्वसम्भवः, एवञ्च कपालद्वित्वसङ्ख्याया द्वित्वत्वेन घटपरिमाणहेतुत्वे द्व्यणुकपरिमाणस्यापि महत्त्वापत्तिः स्यात्। तेन द्वित्वसङ्ख्याया अपि घटपरिमाणाकारणत्वमिति। अतो घटपरिमाणं न प्रचयजन्यं नापि च सङ्ख्याजन्यमपि तु कपालाद्यवयवनिष्ठपरिमाणजन्यमिति।

हिन्दी—घट आदि से सम्बद्ध परिमाण तो परिमाण से ही जन्य होता है।

परिमाणजन्य परिमाण का उदाहरण देते हैं—**परिमाणं घटादाविति**। घट आदि से समवेत परिमाण कपाल आदि अवयवों में रहने वाले परिमाण से जन्य होता है। (कपालद्वय में शैथिल्य के अभाव से घटपरिमाण में प्रचय का हेतुत्व नहीं होता। कपाल द्वित्व सङ्ख्या का द्वित्वत्व के रूप में घटपरिमाण में हेतु मानने पर द्व्यणुकपरिमाण में भी महत्त्वापत्ति होगी। अतः द्वित्वसङ्ख्या का घटपरिमाण का कारण नहीं होता। अतः घटपरिमाण न तो प्रचयजन्य है न ही सङ्ख्याजन्य, किन्तु परिमाणजन्य ही है।)

प्रचयः शिथिलाऽऽख्यो यः संयोगस्तेन जन्यते॥ ११२॥
परिमाणं तूलकादौ—

प्रचयजन्यमुदाहर्तुं प्रचयं निर्वक्ति—प्रचय इति॥ ११२॥

आलोकः—प्रचयस्य निर्वचनमुक्त्वा तमुदाहरति परममूले—**प्रचय इति**। यः शिथिलाऽऽख्यः संयोगः सः प्रचयः तेन तूलकादौ परिमाणं जन्यत इति। **यः शिथिलाख्यः** अदृढः। **संयोगः** अवयवैकपिण्डीभावः। **सः**। **प्रचयः** प्रचयाख्यः। **तेन** शिथिलसंयोग-

रूपप्रचयेन । **तूलकादौ** कार्पासतूले । **परिमाणं** मध्यममहत्परिमाणं तत् । **जन्यते** उत्पाद्यते इति । मूले कारिकाशयमाह—**प्रचयेति । प्रचयजन्यं** प्रचयजन्यपरिमाणम् । **उदाहर्तुम्** उदाहरणद्वारा स्पष्टीकर्तुम् । **प्रचयं** प्रचयपदम् । **निर्वक्ति** व्युत्पादयति । **प्रचय** इति कारिकायाः प्रतीकमिदम् । प्रचयत्वमवयवसंयोगगतो जातिविशेषः । किञ्चिदवयवावच्छेद्याऽवयवान्तरसंयोगाभावविशिष्टमहावयवनिष्ठसंयोग एव प्रचय इति । प्रचयमात्रासमवायिकारणपरिमाणे मानाभावात् तूलावयवपरिमाणजन्ये परिमाणे प्रचयजन्यत्वमत्र दर्शितमिति ॥ ११२ ॥

हिन्दी—जो शिथिल संयोग है वह प्रचय कहलाता है । उसके द्वारा तूलक आदि में समवेत मध्यममहत्परिमाण उत्पादित होता है ।

प्रचयजन्य परिमाण का उदाहरण देने हेतु प्रचय का निर्वचन करते हैं—**प्रचय** इति । अवयवों के संयोग में निष्ठा वाला जातिविशेष प्रचय है । कुछ अवयवों से अवच्छेद्य अवयवों के अन्तरसंयोग के अभाव से विशिष्ट महावयव में निष्ठा वाला **संयोग प्रचय है** ॥ ११२ ॥

—नाशस्त्वाश्रयनाशतः ।

परिमाणं चाश्रयनाशादेव नश्यतीत्याह—नाश इति । अर्थात् परिमाणस्यैव ।

आलोकः—आश्रयनाशे जन्यपरिमाणपरिणाममाह परममूले—**नाश** इति । अनित्यपरिमाणस्य । **आश्रयनाशात्** जनकविनाशात् । **नाशः** तिरोभाव इति । नष्टे सत्याश्रयेऽनित्यपरिमाणमपि नश्यतीत्याशयः । द्वित्वादिसङ्ख्यानाशे सङ्ख्याजन्यस्य कपालः । अवयवनाशे परिमाणजन्यस्य प्रचयनाशे तज्जन्यस्य च परिमाणस्य स्वत एव नाश इति भावः ।

हिन्दी—आश्रय के नाश से परमाणु का नाश होता है । 'परिमाण आश्रय के नाश से ही नाश होता है' यह बतलाते हैं—**नाश इति** । अर्थात् परिमाण का ही (नाश होता है ।)

न चावयविनाशः कथं परिमाणनाशकः ? सत्यप्यवयविनि त्रिचतुरादिपरमाणुविश्लेषे तदुपचये वाऽवयविनः प्रत्यभिज्ञानेऽपि परिमाणान्तरस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति वाच्यं, परमाणुविश्लेषे हि द्व्यणुकस्य नाशोऽवश्यमभ्युपेयस्तन्नाशे च त्रसरेणुनाशः, एवं क्रमेण महावयविनो नाशस्यावश्यकत्वात् । सति च नाशकेऽनभ्युपगममात्रेण नाशस्यापलपितुमशक्यत्वात् । शरीरादाववयवोपचयेऽसमवायिकारणनाशस्यावश्यकत्वादवयविनाश आवश्यकः ।

आलोकः—आश्रयनाशात्परमाणुनाश इति यदुक्तं तत्र तदसम्मतं मीमांसकमतमुद्धृत्य खण्डयति—**न चेति । न । च** हि । **अवयविनाशः** परिमाणाश्रयत्वावयविनो नाशः । **कथम्** । **परिमाणनाशः** । अर्थात् नाश्रयनाशः परिमाणनाशं प्रति कारणं भवति । कथमिति चेदुच्यते । **अवयविनि** परिमाणाश्रयभूतावयविनि । **त्रिचतुरादिपर-**

माणुविश्लेषे त्रयाणां वा चतुर्णां परमाणूनां विभागे । **वा** । **तदुपचये** तेषां परमाणूनामुपचये वृद्धौ संयोगे । **सति** जायमाने । **अपि** । **प्रत्यभिज्ञाने** इदमेव तदिति ज्ञाने । **अपि** । **परिमाणान्तरस्य** अन्यस्यैव परिमाणस्य न्यूनाधिकपरिमाणस्य । **प्रत्यक्षसिद्धत्वात्** प्रत्यक्षप्रमाणेन सिद्धत्वात् । **इति** । **वाच्यम्** । **हि** यतः । **परमाणुविश्लेषे** परमाणुविभागे सति । परमाण्वोः संयोगनाशेन । **द्वयणुकस्य** तद्द्वयणुकस्य । **नाशः** । **अवश्यम्** अनिवार्यतः एव । **अभ्युपेयः** स्वीकार्यः । **तन्नाशे** तस्य द्वयणुकस्य नाशे । **च हि** । **त्रसरेणुनाशः** त्र्यणुकनाशः । **एवम्** इत्थम् । **क्रमेण** । **महावयविनः** महावयविभूतस्य घटादेः । **नाशस्य** । **आवश्यकत्वात्** अपरिहार्यत्वात् । तथा च । **नाशके** द्वयणुकादिनाशक्रमेणाश्रयनाशस्य परिमाणनाशकत्वे । **सति सिद्धे** । **च हि** । **अनभ्युपगममात्रेण** अस्वीकारमात्रेण । **अपलपितुम्** अन्यथयितुम् । **अशक्यत्वात्** असम्भवात् । सोऽयं घट इति प्रत्यभिज्ञायाः साजात्यावलम्बनेन निर्वाहात् अन्यथा तु तत्कालीनत्वाद्यंशे भ्रान्तित्वात् । तर्हि कथं क्षतादिना किञ्चिद्रुधिरविश्लेषिते शरीरादौ पित्रादिव्यवहार इति चेदुच्यते—**शरीरादौ** देहादौ । **अवयवोपचये** अवयवभूतद्वयणुकादिविश्लेषसंयोगादौ । **असमवायिकारणनाशस्य** परमाणुसंयोगनाशस्य । आवश्यकत्वाद् दुर्वारत्वात् । **अवयविनाशः** महावयविनाशोत्पत्त्यादिः । **आवश्यकः** अपरिहार्य इति ।

हिन्दी—न तो अवयवी के नाश से कैसे परिमाण का नाश होता है, क्योंकि अवयवी में तीन-चार परमाणुओं का विश्लेष अथवा उपचय होने पर भी अवयवी का प्रत्यभिज्ञान होने पर दूसरा परिमाण प्रत्यक्षसिद्ध होता है, ऐसा कहना उचित है (जैसा कि मीमांसक कहते हैं), क्योंकि परमाणु का वियोग होने पर द्वयणुक का नाश अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिए और उस (द्वयणुक) के नाश में त्र्यणुक का नाश भी । इसी क्रम से महावयवी का नाश आवश्यक है और नाशक के रहने पर उसके अस्वीकार मात्र से नाश का अपलाप सम्भव नहीं है । शरीर आदि में अवयवों के उपचय में असमवायिकारण रूप संयोग के नाश के आवश्यक होने से अवयवी का भी नाश आवश्यक है ।

न च पटाद्यनाशेऽपि तन्त्वन्तरसंयोगात्परिमाणाधिक्यं न स्यादिति वाच्यं, तत्रापि वेमाद्यभिघातेनासमवायिकारणतन्तुसंयोगनाशात्पटनाशस्यावश्यकत्वात् । किञ्च तन्त्वन्तरस्य तत्पटावयवत्वे पूर्वं तत्पट एव न स्यात्, तन्त्वन्तररूपकारणाभावात् । तन्त्वन्तरस्यावयवत्वाभावे च न तेन परिमाणाधिक्यं संयुक्तद्रव्यान्तरवत् । तस्मात्तत्र तन्त्वन्तरसंयोगे सति पूर्वपटनाशस्ततः पटान्तरोत्पत्तिरित्यवश्यं स्वीकार्यम् । अवयविनः प्रत्यभिज्ञानं तु साजात्येन दीपकलिकादिवत् । न च पूर्वतन्तव एव तन्त्वन्तरसहकारात्पूर्वपटे सत्येव पटान्तरमारभन्तामिति वाच्यं, मूर्तयोः समानदेशताविरोधात्तत्र पटद्वयासम्भवात् एकदा नानाद्रव्यस्य तत्रोपलम्भस्य बाधितत्वाच्च । तस्मात्पूर्वस्य द्रव्यस्य प्रतिबन्धकस्य विनाशे द्रव्यान्तरोत्पत्तिरित्यस्यावश्यमभ्युपेयत्वात् ॥ ११२ ॥

आलोकः—आश्रयनाशात्परिमाणनाशविषये पुनराशङ्क्य समाधत्ते—**न चेति**। **न । च हि । पटाद्यनाशे** पटादीनामनाशे नाशाभावे । **अपि च । तन्वन्तरसंयोगात्** पूर्वसंयुक्ताधिकतन्तुसंयोगेन । **परिमाणाधिक्यं** पूर्वपरिमाणतोऽधिकपरिमाणम् । **न । स्यात्** । पूर्वपरिमाणस्यैव व्यवहारात् । **इति** इत्थम् । **न । वाच्यम्** । परमाण्वन्तरतन्त्वन्तरादिसंयोगेनापि पटनाशादर्शनेन पूर्वपरिमाणनाशोऽधिकपरिमाणान्तरञ्च न भवतीति वक्तुं न युक्तं **तत्र** तन्त्वन्तरसंयोगे । **अपि । वेमाद्यभिघातेन** वेमा वायदण्डः आदिपदात् तुर्यादिग्रहणं, यत्र तुरीतन्तुसञ्चारकदण्डस्तयोरभिघातेन प्रहारेण । **असमवायिकारणतन्तुसंयोगनाशात्** पटस्यासमवायिकारणभूतो यस्तन्तुसंयोगस्तस्य नाशात् । **पटनाशस्य । आवश्यकत्वात्** अपरिहार्यत्वात् । वेमातुरीप्रहारोत्पत्स्यमानसंयोगान्तरार्थपटसमवायिकारणात्मकपूर्वतन्तुविभागेन तदसमवायिकारणसंयोगनाशे सति पटनाशस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति । **किञ्च** यतः । **तन्त्वन्तरस्य** अधिकतन्तूनाम् । **तत्पटावयवत्वे** तस्य पटस्य अवयवत्वे । **पूर्वं** प्रागेव । **तत्पटः** । **एव हि । न । स्यात् । तन्त्वन्तररूपकारणाभावात्** तन्त्वन्तररूपस्य कारणस्य समवायिकारणस्य अभावात् विरहात् । **तन्त्वन्तरस्य** अधिकसमवेततन्तूनाम् । **अवयवत्वाभावे** पटावयवत्वविरहे । **च हि । न । तेन** तन्त्वन्तरसंयोगेन । **परिमाणाधिक्यं** पूर्वपरिमाणतोऽधिकतरपरिमाणम् । **संयुक्तद्रव्यान्तरवत्** एकद्रव्यसंयुक्तपृथग्द्रव्यवत् । यदि हि तन्त्वन्तरं पूर्वपटावयवत्वेन गृह्यते तदा तत्संयोगात्पूर्वं पटरूपसिद्धिरेव न स्यात्समवायिकारणविरहात् तदा यदि च तस्य पटावयवत्वं न स्वीक्रियते तदा पटे परिमाणाधिक्यं न स्याद्यथा द्रव्यान्तरसंयोगेनैकस्य द्रव्यस्य भवति इत्याशयः । **तस्मात्** हेतोः । **तत्र** पटे । **तन्त्वन्तरसंयोगे** नवीनतन्तुसंयोगे । **सति** जायमाने । **पूर्वं** प्राक् । **पटनाशः** पूर्वपटरूपनाशः । **ततः** पटनाशानन्तरम् । **पटान्तरोत्पत्तिः** अन्यपटोद्भवः । **इति** इत्थम् । **अवश्यं** निश्चयमेव । **स्वीकार्यम्** अभ्युपेयमिति । **अवयविनः** अवयविभूतपटस्य । **प्रत्यभिज्ञानम्** अयमेव सः इति ज्ञानम् । **तु** हि । **साजात्येन** समानजातीयतया । **एव । दीपकलिकावत्** प्रतिक्षणभिद्यमानदीपशिखावत् । यथा हि प्रतिक्षणं भिन्नायामपि दीपकलायां साजात्येन दीपकलाव्यवहारस्तथा तन्त्वन्तरसंयोगोत्पन्नपटादेरपीति भावः । **न च । हि । पूर्वतन्तवः** प्राक्पटसमवेततन्तवः । **एव हि । तन्त्वन्तरसहकारात्** नवीनतन्तुसहयोगेन । **पूर्वपटे** प्राक्सिद्धपटे । **सति** विद्यमाने । **एव हि । पटान्तरं** नवीनपटम् । **आरभन्ताम्** अविनष्टे एव पूर्वघटे तदीयतन्तवस्तदतिरिक्ततन्तुभिर्महापटान्तरमुत्पाद्यन्ताम् । **इति । वाच्यम् । मूर्तयोः** परिच्छिन्नपरिमाणवद्द्रव्ययोः । **समानदेशताविरोधात्** समानदेशतायामभिन्नसमवायिकारणवृत्तित्वे विरोधात् । **तत्र** तादृशस्थले । **पटद्वयासम्भवात्** परस्परद्वयोत्पत्त्यसम्भवात् । **एकदा** एकस्मिन्नेव काले । **तत्र** एकस्मिन्नेव पटे । **नानाद्रव्यस्य** नानाजातीयद्रव्यस्य । **उपलम्भस्य** उपस्थितेः । **बाधितत्वात्** प्रत्यक्षविरुद्धत्वात् । **तस्मात्** पूर्वोक्तकारणात् । **एव हि । प्रतिबन्धकस्य** तत्समवायिकारणद्रव्यान्तरोत्पत्तिप्रतिबन्धकीभूतस्य । **पूर्वस्य** प्राग्वर्तिनः । **द्रव्यस्य** पटादेः परिच्छिन्नपरिमाणस्य । **विनाशे** सत्येव । **द्रव्यान्तरोत्पत्तिः** तत्सजातीय-

तत्समवायिकारणान्यद्रव्योत्पत्तिः । इति । अस्य तथ्यस्य । अवश्यम् अपरिहार्यत्वेन । अभ्युपेयत्वात् स्वीकार्यत्वादिति ।

हिन्दी—न तो पट आदि के नाश न होने पर भी दूसरे तन्तुओं के संयोग से उसके परिमाण में आधिक्य नहीं होता, ऐसा कहना ही उचित है, क्योंकि वहाँ भी वेम-तुरी आदि के अभिघात से पट के असमवायिकारण बने तन्तुसंयोग के नाश से पट का नाश आवश्यक होता है। और यह भी कि दूसरे तन्तुओं का उस पट का अवयव होने पर पहले वह पट ही नहीं होगा, क्योंकि उसमें तन्त्वन्तररूप समवायिकारण का अभाव होता है। यदि तन्त्वन्तर का पटावयवत्व न माना जाय तब उससे परिमाण में आधिक्य नहीं होगा, जैसे कि एक वस्तु के साथ दूसरी वस्तु के संयोग में होता है। इस कारण पट में तन्त्वन्तर का संयोग होने पर पहले पूर्व पट का नाश होता है तब पटान्तर की उत्पत्ति होती है। यह अवश्य स्वीकार्य है। अवयवी पट आदि की पहचान तो समानजातीय होने से दीप की कला की तरह होता है। 'न तो पहले के तन्तु ही तन्त्वन्तर के सहयोग से पूर्वपट के रहते हुए ही दूसरे पट का आरम्भ करें' ऐसा कहना उचित है, क्योंकि दो मूर्त (परिच्छिन्न परिमाणवाले) द्रव्यों का समानदेशता अर्थात् एक ही समवायिकारण में वृत्तित्व का विरोध होता है और वैसे में परस्पर दो पट सम्भव नहीं होते और एक काल में एक में नानाजातीय द्रव्यों की उपस्थिति बाधित भी होती है। इस कारण प्रतिबन्धक पूर्व द्रव्य के विनाश होने पर ही द्रव्यान्तर की उत्पत्ति होती है, यह अवश्य ही स्वीकार योग्य है।

सङ्ख्यावत्तु पृथक्त्वं स्यात्पृथक्प्रत्ययकारणम् ॥ ११३ ॥

पृथक्त्वं निरूपयति—सङ्ख्यावदिति। पृथक्प्रत्ययासाधारणं कारणं पृथक्त्वम्, तन्नित्यतादिकं सङ्ख्यावत्। तथा हि—नित्येष्वेकत्वं नित्यमनित्येष्वनित्यमनित्यमेकत्वमाश्रयद्वितीयक्षणे चोत्पद्यते आश्रयनाशान्नश्यति तथैकपृथक्त्वमपि द्वित्वादिवच्च द्विपृथक्त्वादिकमपीत्यर्थः॥ ११३ ॥

आलोकः—अथ क्रमप्राप्तं पृथक्त्वं निरूपयति—**सङ्ख्यावदिति**। पृथक्प्रत्ययकारणं पृथक्त्वं तु सङ्ख्यावत् स्यात् इति। **पृथक्प्रत्ययकारणं** पृथक्प्रत्ययः इदमस्मात्पृथगिति एकस्मादन्यस्य पार्थक्यप्रतीतिस्तस्य कारणं हेतुरसाधारणकारणमिति। **पृथक्त्वं** पृथक्त्वगुणः। तत्। तु हि। **सङ्ख्यावत्** नित्यत्वानित्यत्वादिकं सङ्ख्याया इव भवतीति। कारिकाशयं विवृणोति—**सङ्ख्यावदिति**। **पृथक्प्रत्ययासाधारणं** पृथक्प्रत्ययस्य एकस्मादन्यस्य पृथक्प्रतीतेः। **असाधारणं** सामान्येतरम्। **कारणं** हेतुः। **पृथक्त्वम्**। इति। इदमस्मात्पृथगिति व्यवहारहेतुर्गुणः पृथक्त्वम्। **तन्नित्यतादिकं** तस्य पृथक्त्वस्य नित्यताऽनित्यतादिकम्। **सङ्ख्यावत्** सङ्ख्याया इव। भवतीति। तदेव स्पष्टयति—**तथाहीति**। **नित्येषु** नित्यपदार्थेषु परमाण्वादौ। **एकत्वं** पृथक्त्वम्। **नित्यम्**। **अनित्येषु** अनित्ये द्व्यणुकादौ। एकत्वादिकम्। अनित्यम्। **अनित्यम्**। यद्। **एकत्वं** तद्। **आश्रयद्वितीयक्षणे** आश्रयोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणे। **च** हि। **उत्पद्यते** उद्भूयते इति।

नित्ये परमाण्वादौ एकत्वं पृथक्त्वं नित्यमनित्ये द्व्यणुकादौ एकत्वादयोऽनित्याः ते चाश्रयोत्पत्त्युत्तरक्षणे समुत्पद्यन्ते, गुणं प्रति गुणिनः पूर्वक्षणवृत्तित्वेनाऽपेक्षावत्त्वात्। **आश्रयनाशात्** आश्रयभूतपदार्थनाशोत्तरक्षणे। **नश्यति** अनित्यमेकत्वद्वित्वादिकञ्च नश्यति, अधिकरणनाशस्य गुणनाशं प्रति कारणत्वात्। **तथा** तद्वत्। **च** एव। **एकपृथक्त्वम् अपि च**। अर्थात् एकपृथक्त्वं नित्यगतं नित्यमनित्यगतं त्वनित्यमिति द्विपृथक्त्वादिकम्। **अपि च। द्वित्वादिवत्** द्वित्वादिकं यथा समवायिकारणगताऽनेकैकत्वासमवायिकारणकम् अयमेकः अयमेक इत्यपेक्षाबुद्धिजन्यम् अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च क्वचिदाश्रयनाशाच्च नश्यति तथा द्विपृथक्त्वादिकमपि स्वाश्रयसमवेतानेकैकपृथक्त्वासमवायिकारणकम् इदमेकपृथक् इदमेकपृथगित्यपेक्षाबुद्धिजन्यं तादृशापेक्षाबुद्धिनाशाच्च क्वचिदाश्रयनाशाच्च नश्यति। एवं त्रिपृथक्त्वादीन्यपि। इति। अर्थः ॥ ११३ ॥

हिन्दी—'यह इससे पृथक् है' ऐसी पृथक् प्रतीति का (असाधारण) कारण पृथक्त्व है और वह सङ्ख्या की तरह ही नित्य एवं अनित्य आदि होता है।

सङ्ख्यावदिति। पृथक् रूप से प्रतीति का असाधारण कारण पृथक्त्व है। उसकी नित्यता आदि सङ्ख्या की तरह होती हैं। जैसे कि नित्य में एकत्व नित्य, अनित्य में अनित्य एकत्व आश्रय के दूसरे ही क्षण में उत्पन्न होता है और आश्रयनाश से नष्ट हो जाता है। इसी तरह एक पृथक्त्व भी द्वित्व आदि की तरह द्विपृथक्त्व आदि भी होता है, ऐसा अर्थ है ॥ ११३ ॥

अन्योन्याभावतो नाऽस्य चरितार्थत्वमिष्यते।
अस्मात्पृथगिदं नेति प्रतीतिर्हि विलक्षणा ॥ ११४ ॥

नन्वयमस्मात्पृथगित्यादौ अन्योन्याभावो भासते तत्कथं पृथक्त्वं गुणान्तरं स्वीक्रियते ? न चास्तु पृथक्त्वं न त्वन्योन्याभाव इति वाच्यं, रूपं न घट इति प्रतीत्यनापत्तेः। न हि रूपे घटावधिकं पृथक्त्वं गुणान्तरमस्ति, न वा घटे घटावधिकं पृथक्त्वमस्ति येन परम्परासम्बन्धः कल्प्येतेत्यत आह - अस्मादिति। ननु शब्दवैलक्षण्यमेव न त्वर्थवैलक्षण्यमिति चेन्न, विनाऽर्थभेदं घटात्पृथगितिवद्घटो न घट इत्यत्रापि पञ्चमीप्रसङ्गात्। तस्माद्यदर्थयोगे पञ्चमी सोऽर्थो नञर्थान्योन्याभावतो भिन्नो गुणान्तरं कल्प्यत इति ॥ ११४ ॥

आलोकः—पृथक्त्वगुणस्यान्योन्याभावेऽन्तर्भावं निषेधति परममूले—**अन्योन्याभावत इति**। अस्य अन्योन्याभावतः चरितार्थत्वं न इष्यते अस्मात् पृथक् इदं न इति प्रतीतिः हि विलक्षणा इति। **अस्य** पृथक्त्वगुणस्य। **अन्योन्याभावतः** घटो न पट इत्यन्याभावतः। **चरितार्थत्वं** गतार्थता प्रयोजननिर्वाहेणान्तर्भावित्वम्। **न**। **इष्यते**। **इदम् अस्मात् पृथक्**। **न** घटो न पटः। **इति** इत्थं **प्रतीतिः** प्रतीतिद्वयम्। **हि**। **विलक्षणा** भिन्ना प्रथमापञ्चमीभेदात्। तस्मादन्योन्याभावपृथक्त्वगुणौ भिन्नावेवेति। अन्योन्याभावस्तु तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः। स चेदमेतन्न भवतीति इदमेतद्भिन्न-

मिति प्रतीतिसाक्षिकः । पृथक्त्वं तु पृथग्व्यवहारासाधारणकारणमेवेति । तेन घटो न पट इति अन्योन्याभावस्योदाहरणम्, इदमस्मात्पृथगिति पृथक्त्वस्य । उभयत्र भिन्नैव प्रतीतिः । कारिकां विवृणोति मूले—**नन्विति । ननु । अयमस्मात् पृथक् । इत्यादौ ।** अयं घटोऽस्माद् पटात्पृथक्, इमौ घटौ अस्मात्पटात्पृथक् इत्यादि प्रत्यक्षप्रतीतौ । **अन्योन्याभावः** इदमेतद्भिन्नमिति प्रतीतिसाक्षिकोऽभावः । **भासते** । तत् तस्मात् पृथक्त्वप्रतीतेरन्योन्याभावविषयत्वात् । **कथं** केनाधारेण । **पृथक्त्वम् । गुणान्तरं** क्लृप्तगुणातिरिक्तगुणत्वेन । **स्वीक्रियते** गृह्यते । **न । च** हि । **पृथक्त्वं** तादृशस्थले पृथक्त्वगुण एव । **अस्तु । न । तु** हि । **अन्योन्याभावः । इति । वाच्यम्** । तथा सति । **रूपं न घटः । इति** इत्थम् । **प्रतीत्यनापत्तेः** प्रतीत्यप्राप्तेः । **न । हि च । रूपे** रूपगुणे । **घटावधिकं** घटोऽवधिः सीमा यस्य तादृशम् । **पृथक्त्वं** रूपघटयोः पृथक्त्वरूपम् । **गुणान्तरं** क्लृप्तगुणातिरिक्तगुणः । **अस्ति** विद्यते । **न । वा** इति पक्षान्तरे । **घटे** घटद्रव्ये । **घटावधिकं** घटपरिसीमकम् । **पृथक्त्वं** गुणान्तरम् । **एव । अस्ति** सम्भवति । **येन गुणेन । परम्परासम्बन्धः** समवायघटितसामानाधिकरण्यसम्बन्धः । **कल्प्येत** रूपं न घट इत्यादिप्रतीतिविषयत्वेनाभ्युपेयेतेति । **इति । अतः** आशङ्कानिरासाय । **आह । अस्मादिति** । अस्मात्पृथगिदं न घटः पट इति प्रतीतिद्वयं विलक्षणमिति । तत्राशङ्क्य समाधत्ते—**नन्विति** । तथाविधवाक्यद्वये **ननु शब्दवैलक्षण्यं** शब्दकृतवैलक्षण्यमेव यत्प्रतीतिवैलक्षण्यम् । **एव । न । तु** हि । **अर्थवैलक्षण्यम्** अर्थगतवैलक्षण्यमिति । **इति । चेत् । न** नैवोपयुक्तम् । **अयंभेदम्** अर्थगतवैलक्षण्यम् । **विना** अर्थवैलक्षण्यानङ्गीकारे । **घटात् पृथक्** भिन्नम् । **इतिवत्** इत्यादाविव । **घटो न घटः । इत्यत्र । अपि । पञ्चमीप्रसङ्गात्** घटपदे पञ्चमीप्राप्तेः । अन्योन्याभावार्थकपदयोगस्य पञ्चमीप्रयोजकस्य तत्र सत्त्वादिति । अत्र नव्यास्त्वाहुः अन्योन्याभाव एव पृथक्त्वं न तु गुणान्तरं, न च घटो नेत्यत्र पञ्चम्यापत्तिरन्योन्याभावविशिष्टार्थकपदयोग एव 'अन्यारादितरर्ते—' (पा० सू० २।३।२९) इत्यादिसूत्रेण पञ्चमीविधानात् । नञस्तु नान्योन्याभावविशिष्टार्थकत्वं, परन्तु अन्योन्याभावार्थकत्वमित्यस्यान्यत्र सिद्धान्तितत्वादित्यन्यत्र । **तस्मात्** उक्तपञ्चम्यापत्तिरूपदोषात् । **यदर्थयोगे** 'अन्यारादितरर्ते—' इत्यनुवृत्य 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्' (२।३।३१) इति सूत्रेण पृथगर्थपदयोगे भवति **पञ्चमी** साध्वी । **सः** तादृशः । **अर्थः** पृथक्त्वात्मकः । **नञर्थान्योन्याभावतः** नञर्थद्योत्यान्योन्याभावतः । **भिन्नः** अतिरिक्तः । **गुणान्तरं** क्लृप्तगुणातिरिक्तम् । **कल्प्यते** घटात्पृथक्पट इति प्रतीत्या विषयीक्रियते । **इति** । यस्यार्थस्य योगे भवति पञ्चमी सोऽर्थः नञर्थान्योन्याभावाद्भिन्नो गुणान्तरमेवेति कल्प्यत इति उक्तवाक्यद्वये न केवलं शब्दकृतवैलक्षण्यमपितु अर्थगतमेवेति ॥ ११४ ॥

हिन्दी—इसका अन्योन्याभाव से गतार्थत्व सम्मत नहीं है । 'इससे यह भिन्न है' 'घट पट नहीं हैं' इन दोनों की प्रतीति हि विलक्षण अर्थात् भिन्न है । (पहला पृथक्त्व गुण का उदाहरण है और दूसरा अन्योन्याभाव का ।)

'यह इससे पृथक् है' इत्यादि में अन्योन्याभाव भासित होता है । इस कारण पृथक्त्व को गुणान्तर के रूप में कैसे माना जाता है ? 'न तो पृथक्त्व अन्योन्याभाव नहीं

है' ऐसा मानना ही उचित है, क्योंकि वैसा होने पर 'रूप घट नहीं है' ऐसी प्रतीति की अप्राप्ति होगी। न तो रूप में घट को अवधि बना कर पृथक्त्व गुणान्तर ही है अथवा न तो घट में घट की अवधि बना कर पृथक्त्व ही होता है, जिससे परम्परा सम्बन्ध अर्थात् समवायघटितसामानाधिकरण्यसम्बन्ध की कल्पना की जाय, इसीलिए कहते हैं—**अस्मादिति**।

'यह इससे पृथक् है' 'घट पट नहीं है' इनमें शब्दकृत वैलक्षण्य ही है न कि अर्थगतवैलक्षण्य, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि अर्थगत भेद के बिना घट से पृथक् इत्यादि में जैसे 'घट पट नहीं है' (घटो न पटः) इत्यादि में भी पट पद में पञ्चमी का प्रसङ्ग आ जायेगा। इस कारण जिस अर्थ के योग में पञ्चमी होती है वह अर्थ नञ् का अर्थ अन्योन्याभाव से भिन्न गुणान्तर के रूप में कल्पित होता है॥ ११४॥

अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः।

संयोगं निरूपयति--अप्राप्तयोरिति।

आलोकः—अथ क्रमप्राप्तं संयोगगुणं निरूपयति परममूले—**अप्राप्तयोरिति**। अप्राप्तयोः तु या प्राप्तिः सा एव संयोग ईरित इति। **अप्राप्तयोः** असम्बद्धत्वेन वर्तमानत्वात् पृथक् सिद्धयोः द्रव्ययोः। **तु** हि। **या**। **प्राप्तिः** सम्बन्धः, इमौ संयुक्ताविति यो व्यवहारः। **सा** व्यवहारप्राप्तिः। **एव** हि। **संयोगगुणः** संयोगः। इति। **ईरितः** कथित इति। इमौ संयुक्ताविति व्यवहारस्यासाधारणकारणत्वं संयोगत्वमिति। तत्र दण्डादावतिव्याप्तिर्मा भूदिति संयुक्तव्यवहारपदं कालादावतिव्याप्तिवारणायासाधारणपदम्, सादृश्यव्यवहारत्ववारणाय कारणमिति। अत्र प्राप्तिः सम्बन्धः स च समवायोऽपि। कारिकासम्बद्धविषयं सङ्केतयति मूले--**संयोगमिति**। **संयोगं** संयोगाख्यगुणम्। **निरूपयति** विवृणोति कारिकाकार इति। **अप्राप्तयोरिति** कारिकायाः प्रतीकमिदम्।

हिन्दी—असम्बद्ध रूप में वर्तमान द्रव्यों का जो सम्बन्ध है, वही संयोग कहलाता है।

संयोग का निरूपण करते हैं—**अप्राप्तयोरिति**।

कीर्तितस्त्रिविधस्त्वेष आद्योऽन्यतरकर्मजः॥ ११५॥
तथोभयक्रियाजन्यो भवेत् संयोगजोऽपरः।

तं विभजते—कीर्तित इति। एष संयोगः॥ ११५॥

आलोकः—इत्थं संयोगं निरूप्य सम्प्रति तद्भेदानाह—**कीर्तित इति**। एषः तु त्रिविधः कीर्तितः—आद्यः अन्यतरकर्मजः तथा उभयक्रियाजन्यः, अपरः संयोगजः भवेत् इति। **एषः** संयोगाख्यगुणः। **तु** हि। **त्रिविधः** त्रिप्रकारः। **कीर्तितः** अभिहितः। **तत्र आद्यः** प्रथमः। **अन्यतरकर्मजः** द्वयोरेकस्यैव कर्मणो जातः। एकस्मिन् निश्चले सति अन्यतरस्य क्रियातो जातः। यथा श्येनपर्वतयोः वृक्षपतत्त्रिणोः। **तथा** एवञ्च द्वितीयः

उभयक्रियाजन्यः उभयस्यैव क्रियया जन्यः, यथा मल्लयोर्मेषयोर्वा संयोगः। **अपरः** अन्यः तृतीय इति। **संयोगजः** यथा हस्तपुस्तकसंयोगात्कायपुस्तकसंयोगः। वस्तुतस्तु संयोगो द्विविधः—कर्मजः संयोगजश्चेति। तत्र कर्मजो द्विविधः—अन्यतरकर्मजः उभयकर्मजश्च। स च कर्मजसंयोगः क्वचिच्छब्दहेतुरभिघातः शब्दाऽहेतुस्तु नोदनाख्य इति। तथा च कर्मजसंयोगस्य द्वैविध्येन फलतः संयोगस्य त्रैविध्यपर्यवसानाभिप्रायेण संयोगास्त्रिविध इत्युक्तम्। मूले कारिकाविषयमाह—**तमिति**। तं संयोगम्। **विभजते** विभागशो निरूपयति इति। **कीर्तित इति**। कारिकायाः प्रतीकमिदम्। कारिकागतपदं विवृणोति—**एष** इति। **एषः** इति संयोगः इति ॥ १५ ॥

हिन्दी—यह संयोग तीन प्रकार का होता है। उनमें से पहला अन्यतर अर्थात् दो में से एक के कर्म से उत्पन्न होने वाला है और दूसरा दोनों की क्रिया से जन्य तथा तीसरा संयोग से उत्पन्न होने वाला। (पहले का उदाहरण है—वृक्ष एवं विहग का संयोग, दूसरे का दो साढों का संयोग तथा तीसरा हस्त एवं पुस्तक के संयोग से उत्पन्न शरीर एवं पुस्तक का संयोग है।)

संयोग का विभाजन करते हैं—**कीर्तित** इति। 'एषः' (यह) का आशय है संयोग ॥ १५ ॥

आदिमः श्येनशैलादिसंयोगः परिकीर्तितः ॥ ११६ ॥
मेषयोः सन्निपातो यः स द्वितीय उदाहृतः।
कपालतरुसंयोगात्संयोगस्तरुकुम्भयोः ॥ ११७ ॥
तृतीयः स्यात्—

सन्निपातः संयोगः। द्वितीय उभयकर्मजः। तृतीय इति। संयोगजसंयोग इत्यर्थः। तृतीयः स्यादिति पूर्वेणान्वितम्।

आलोकः—अथ त्रिविधानेव संयोगान् क्रमेणोदाहरति परममूले—**आदिम** इति। आदिमः श्येनशैलादिसंयोगः परिकीर्तितः, मेषयोः यः सन्निपातः सः द्वितीयः उदाहृतः, कपालतरुसंयोगात् तरुकुम्भयोः संयोगः तृतीयः स्यात् इति। **आदिमः** प्रथमः अन्यतरकर्मजसंयोगः। **श्येनशैलादिसंयोगः** श्येनस्य तदाख्यपतगस्य शैलस्य पर्वतस्य च तयोः, आदिपदादन्येषां चलस्थिरपदार्थानां ग्रहणं तत्संयोगः। कस्यचित्त्रिश्चलस्य चलेन सह चलसम्बद्धक्रियाजन्यसंयोग एवान्यतरकर्मजसंयोगः। **परिकीर्तितः** कथितः इति। **मेषयोः** मेषद्वयस्य चलस्योभयस्यैव। **यः**। **सन्निपातः** संयोगः। **सः**। **द्वितीयः** उभयक्रियाजन्यः। **उदाहृतः** निदर्शितः। यश्चोभयस्यैव क्रिययोत्पद्यते स उभयस्पन्दजन्य इति। **कपालतरुसंयोगात्** कपालस्य घटपूर्वरूपमृदः तरोर्वृक्षस्य च संयोगात्। **तरुकुम्भयोः** वृक्षघटयोः। **संयोगः**। **तृतीयः** संयोगजसंयोगः। **स्यात्**। इति। अत्रोच्यते—न संयोगजसंयोगे मानाभावः यत्र कपालक्रियया कपालतरुसंयोगस्ततः कुम्भतरुसंयोगस्तत्र कपालक्रियया एव तरुसंयोगस्तत्र कपालक्रियाया एव कुम्भतरुसंयोगं प्रति कारणत्वं न तु

कपालतरुसंयोगस्येति चेन्न, समवायेन संयोगं प्रति समवायेन क्रियायाः कारणत्वात् कुम्भसमवायेन क्रियाया अभावेन कुम्भे तरुसंयोगानुपपत्तेः क्रियाद्याः सामानाधिकरण्य-सम्बन्धेन हेतुत्वान्तरकल्पनापेक्षया समवायेन संयोगस्यैव हेतुत्वकल्पनौचित्यात् इत्यादि दिनकर्यादौ स्पष्टम् ।

मूले कारिकागतकतिपयपदावलीं व्याख्याति—**सन्निपात** इति संयोगः । **द्वितीय** इति **उभयकर्मजः** उभयसम्बद्धक्रियाजन्यः । तृतीय इति **संयोगजसंयोगः** इत्यर्थः । तृतीयः स्यादिति पदद्वयम् । **पूर्वेण** कपालेत्यनन्तरोक्तकारिकया । **अन्वितं** सम्बद्धम् । इति ।

हिन्दी—पहला अर्थात् अन्यतरकर्मज श्येन, शैल आदि का संयोग माना गया है, दो मेषों का जो संयोग है वह दूसरा अर्थात् उभयस्पन्दज संयोग माना गया है, कपाल एवं तरु के संयोग से होने वाला वृक्ष एवं कुम्भ का संयोग तीसरा अर्थात् संयोगज-संयोग है ॥

—कर्मजोऽपि द्विधैव परिकीर्तितः ।
अभिघातो नोदनञ्च शब्दहेतुरिहादिमः ॥ ११८ ॥
शब्दाहेतुर्द्वितीयः स्यात्—

आदिमः अभिघातः । द्वितीयो नोदनाऽऽख्यः संयोग इति ।

आलोकः—परममूले कर्मजसंयोगभेदानाह—**कर्मज** इत्यादिना । कर्मज अपि द्विधा एव परिकीर्तितः—अभिघातः नोदनं च, इह आदिमः शब्दहेतुः, द्वितीयः शब्दाहेतुः इति । **कर्मजः** कर्म क्रिया तच्चान्यतरसम्बद्धमुभयसम्बद्धं वा तस्माज्जात उत्पन्नः । अपि च । संयोगः । **द्विविधः** द्विप्रकारकः । **परिकीर्तितः** कथितः । **अभिघातः** । **नोदनम्** च । तत्राभिघातमाह—**शब्दहेतुरि**ति । **इह** प्रकरणेऽस्मिन् । **आदिमः** अभिघातः । **शब्दहेतुः** शब्दजनकः । शब्दजनकः संयोगोऽभिघातः इति । **द्वितीयः** अपरो नोद-नाख्यः । **शब्दाहेतुः** शब्दाजनकः । **स्यात्** । येन संयोगेन शब्दो नोत्पद्यते स नोदनाऽऽख्य इति । एतेन अवच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नशब्दनिष्ठकार्यतानिरूपितसमवायसम्बन्धा-वच्छिन्नकारणताश्रयत्वमभिघातत्वं तद्भिन्नत्वमर्थान्निरुक्तकारणताशून्यत्वं नोदनत्व-मिति । मूले कारिकागतकतिपयपदानि विवृणोति—**आदिम** इति । आदिमः इति अभिघातः अभिघाताऽऽख्यः । **द्वितीयः** द्वितीयपदवाच्यः । **नोदनाऽऽख्यः** नोदनसंज्ञितः । **संयोगः** इति ।

हिन्दी—कर्म से उत्पन्न संयोग भी दो प्रकार का होता है—अभिघात एवं नोदन । शब्द का कारण अभिघात होता है और जो शब्द का कारण नहीं होता वैसा संयोग नोदन कहलाता है ।

आदिम का अर्थ अभिघात है और द्वितीय का अर्थ नोदन कहा जाने वाला संयोग है ॥ ११८ ॥

—विभागोऽपि त्रिधा भवेत् ।
एककर्मोद्भवस्त्वाद्यो द्वयकर्मोद्भवोऽपरः ॥ ११९ ॥
विभागजस्तृतीयः स्यात्—

विभक्तप्रत्ययासाधारणं कारणं विभागं निरूपयति—विभाग इति । एककर्मेति । तदुदाहरणं तु श्येनशैलविभागादिकं पूर्ववद् बोध्यम् ।

आलोकः—अथ क्रमप्राप्तं विभागगुणं निरूपयति परममूले—**विभाग** इति । विभागः अपि त्रिधा भवेत्, आद्यः तु एककर्मोद्भवः, अपरः द्वयकर्मोद्भवः, तृतीयः विभागजः स्यात् । इति । **विभागः** विभागाख्यगुणः । **अपि** च । संयोगगुणवदिति । **त्रिधा** त्रिप्रकारकः । **भवेत्** । इति । तदेवाह—**एकेति** । तत्र त्रिविधेषु विभागेषु । **आद्यः** प्रथमः । **एककर्मोद्भवः** अन्यस्मिन् निष्क्रिये सति एकस्य कर्मणा उद्भव उत्पत्तिर्यस्य स तादृशः, यथा वृक्षपतगयोर्विभागः, वृक्षे सति निरपेक्षे पतगस्पन्देन तयोर्विभागः । **अपरः** अन्यः । द्वितीय इति । **द्वयकर्मोद्भवः** द्वयस्यैव कर्मत उद्भवो यस्य तादृशः, यथा मेषयोर्विभागः । **तृतीयः** तदुभयभिन्नः । **विभागजः** विभागाज्जायत इति तादृशः, यथा कपालतरुविभागात्तरुघटविभाग इति । विभागलक्षणञ्च विभागत्वजातिमद्विभागः । ह्यसम्बद्धयोः सम्बन्धः संयोगस्तद्विपरीतं संयुक्तयोरसम्बन्धो विभाग इति । मूले कारिकाविषयं निर्दिशति—**विभक्तेति** । **विभक्तप्रत्ययासाधारणम्** इमौ विभक्तौ इति प्रतीतेर्यदसाधारणम् । **कारणं** हेतुः । तथाभूतं **विभागं** विभागगुणम् । **निरूपयति** विवेचयति । कारिकाकार इति । **विभाग** इति । कारिकागतकतिपयकठिनपदं विवृणोति-**एककर्मेति** । तेषामुदाहरणानि निर्दिशति—**तदिति** । **तदुदाहरणं** तेषां प्रत्येकमुदाहरणम् । **तु** हि । **श्येनशैलविभागादिकम्** एककर्मोद्भवः श्येनशैलविभागः, द्वयकर्मोद्भवः मल्लयोर्विभागः, विभागजविभागः कपालतरुविभागाद् घटतरुविभाग इति । **पूर्ववत्** प्रागवत् संयोगे यथा कथितं तद्वत् । **बोध्यं** ज्ञेयम् । इति ।

हिन्दी—विभाग भी तीन प्रकार का होता है—पहला एक के कर्म से उत्पन्न, दूसरा दोनों की क्रिया से होने वाला और तीसरा विभाग से होने वाला विभाग। श्येनपर्वतविभाग दो मेषों का विभाग एवं घट एवं वृक्ष का विभाग क्रमशः इनके उदाहरण हैं ।

—तृतीयोऽपि द्विधा भवेत् ।
हेतुमात्रविभागोत्थो हेत्वहेतुविभागजः ॥ १२० ॥

तृतीयोऽपि विभागजविभागः कारणमात्रविभागजन्यः कारणाकारणविभागजन्यश्चेति द्विविधः । आद्यस्तावत्—यत्र कपाले कर्म, ततः कपालद्वयविभागः, ततो घटारम्भकसंयोगनाशः, ततो घटनाशस्ततस्तेनैव कपालविभागेन सकर्मणः कपालस्याकाशविभागो जन्यते, तत आकाशसंयोगनाशः, तत उत्तरदेशसंयोगः, ततः कर्मनाश इति । न च तेनैव कर्मणैव कथं देशान्तरविभागो

न जन्यत इति वाच्यमेकस्य कर्मण आरम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनकत्वस्यानारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनकत्वस्य च विरोधात्। अन्यथा विकसत्कमलकुड्मलभङ्गप्रसङ्गात्। तस्माद् यदीदमनारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागं जनयेत्तदारम्भककर्मसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागं न जनयेत्। न च कारणविभागेनैव द्रव्यनाशात्पूर्वं कुतो देशान्तरविभागो न जन्यत इति वाच्यमारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागवतोऽवयवस्य सति द्रव्ये देशान्तरविभागासम्भवात्।

आलोकः—परममूले विभागस्य तृतीयं भेदं विभागजविभागं निरूपयति—**तृतीय** इति। तृतीयः अपि द्विधा भवेत्—हेतुमात्रविभागोत्थः, हेत्वहेतुविभागज इति। **तृतीयः** विभागजविभागः। **अपि** च। **द्विधा** द्विप्रकारकः। **भवेत्** यत्राद्यः **हेतुमात्रविभागोत्थः** कारणमात्रविभागजन्यः। **हेत्वहेतुविभागजः** कारणाऽकारणविभागजन्यः। **इति** इत्थम्। **द्विविधः** द्विप्रकारकः। भवतीति शेषः। वस्तुतस्तु संयोगवद्विभागोऽपि द्विविधः—कर्मजो विभागजश्चेति। तत्र कर्मजो हि द्विविधः—अन्यतरकर्मज उभयकर्मजश्चेति। विभागजोऽपि द्विविधः—कारणमात्रविभागजः कारणाऽकारणविभागजश्चेति। तदाशयेनैव मूले विभागस्य त्रैविध्यमुक्तमिति ज्ञेयम्। तत्र प्रथमप्रकारं निरूपयति—**आद्य** इति। **तावत्** प्रथमम्। **आद्यः** प्रथमः कारणमात्रविभागजः। **यत्र** यदा। **कपाले** एककपालेऽवयवेऽदृष्टादिवशात्। **कर्म** क्रिया। **ततः**। **कपालद्वयविभागः** कपालद्वयसमवेतविभागः। एवमेव यत्र एकपरमाणौ क्रिया ततः परमाणुद्वयसमवेतविभाग इति। **ततः**। **घटारम्भकसंयोगनाशः** घटात्मकावयविनोऽसमवायिकारणसंयोगनाशः। **ततः**। **घटनाशः** असमवायिकारणनाशे सति कार्यद्रव्यस्य नाशः। **ततः**। **तेन** तथाभूतेन। **एव** हि। **कपालविभागेन** कपालद्वयविभागेन। परमाणुपक्षे परमाणुद्वयविभागेनेति। **सकर्मणः** कर्मनाशकोत्तरसंयोगाभावात् सकर्मणः। कपालस्य परमाणोर्वा। **आकाशविभागः** आकाशद्वयविभागः। विभुसामान्यविभाग इति। **जन्यते** सम्पद्यत इति। **ततः**। **आकाशसंयोगनाशः** कपालाकाशसंयोगनाशः। **ततः**। **उत्तरदेशसंयोगः** उत्तरदेशेन सह कपालस्य परमाणोर्वा संयोगः। **ततः**। **कर्मनाशः** कपालकर्मणो नाशः परमाणुकर्मणो वा। इति। सोऽयं कारणमात्रविभागज इति। तत्राशङ्क्य समाधत्ते—**नेति**। **न**। **च** हि। **तेन** कपालकर्मणा परमाणुकर्मणा वा। **एव** न तु कपालद्वयविभागेन परमाणुद्वयविभागेन वा। **कथम्**। **देशान्तरविभागः** कपालाकाशविभागः परमाण्वाकाशविभागो वा। **न**। **जन्यते** सम्पद्यते। क्रियाघटितसामग्र्याः प्राबल्यात्। **इति** इत्थम्। **न** नैव। **वाच्यं** समर्थनीयम्। **एकस्य** एकाश्रितस्य। **कर्मणः** अवयवकर्मणः। **आरम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनकत्वस्य** आरम्भको द्व्यणुकारम्भको यः संयोगः परमाणुद्वयसंयोगस्तस्य प्रतिद्वन्द्वी विरोधी यो विभागः परमाणुद्वयविभागस्तज्जनकत्वस्य संसाधकत्वस्य। तेन सहेति भावः। **अनारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनकत्वस्य** द्व्यणुकस्य अनारम्भको यः संयोगः परमाण्वाकाशसंयोगस्तस्य प्रतिद्वन्द्वी विरोधी यो विभागस्तज्जनकत्वस्य। **विरोधात्** प्रातिकूल्यात्। तथाऽनङ्गीकारे दोषमाह—**अन्यथेति**।

तथाविरोधाऽनङ्गीकारे । **विकसत्कमलकुड्मलभङ्गप्रसङ्गात्** विकसत्कमलस्य कुड्मलस्यापि नाशप्रसङ्गताऽऽपद्येत, तत्र विकसति कमले अग्रावच्छेदेन अनारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनककर्मणः सत्त्वात् तेन कर्मणा मूलावच्छेदेन आरम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पत्त्या आरम्भकसंयोगनाशे सति कमलनाशप्रसङ्गः स्यादिति विस्तरोऽन्यत्र । तस्मात् उक्तापत्तिपरिहाराय तयोर्विरोधस्वीकारावश्यकत्वात् । **यदि** । **इदं कर्म** । **अनारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागं** द्वयणुकारम्भको यः परमाण्वाकाशसंयोगस्तद्विरोधिविभागम् । **जनयेत्** उत्पादयेत् । **तदा** तदवस्थायाम् । **आरम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागं** द्वयणुकारम्भकपरमाणुद्वयसंयोगविरोधिविभागम् । **न** । **जनयेत्** उत्पादयेत् । **न** नैव । **च हि** । **कारणविभागेन** परमाणुद्वयविभागेन । **एव हि** । **द्रव्यनाशात्** द्वयणुकनाशक्षणात् । **पूर्वं** प्राग्वर्तिक्षणे । **कुतः** । **देशान्तरविभागः** परमाण्वाकाशादिविभागः । **न** । जन्यते सम्पद्यते । कारणसत्त्वात् । **इति** । **वाच्यम्** । **आरम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागवतः** परमाणुद्वयविरोधिविभागवतः । **अवयवस्य** परमाणुद्वयस्य । द्वयणुकनाशपूर्वक्षणवर्तिन इति । **सति** । **द्रव्ये** द्वयणुके । **देशान्तरविभागासम्भवात्** परमाण्वाकाशात्मकदेशान्तरस्य विभागाऽजननादिति । कारणभूतपरमाणुद्वयविभागत एव देशान्तरविभागस्य समवाय्यसमवायिकारणयोः सत्त्वेऽपि तत्र समवायेन द्रव्यस्य प्रतिबन्धकतया तदभावरूपकारणाभावात् न द्वयणुकादिनाशात्पूर्वं तादृशविभागापत्तिरिति । न च तत्र समवायेन द्रव्यस्य प्रतिबन्धकसत्त्वे मानाभाव इति वाच्यम् । एकदेशिमते सति द्रव्ये तादृशविभागाननुभवस्यैव प्रमाणत्वात्, अन्यथा दाहं प्रति मण्यादेः प्रतिबन्धकताविलयप्रसङ्गात् इत्याद्यन्यत्र प्रभादौ विस्तरः ।

हिन्दी—तीसरा भी (विभाग) दो प्रकार का होता है । पहला हेतुमात्र के विभाग से उत्पन्न तथा दूसरा कारणाकारण विभाग से उत्पन्न । तीसरा भी विभाग से उत्पन्न विभाग कारणमात्र के विभाग से जन्य एवं कारणाकारण के विभाग से जन्य, इस तरह दो प्रकार का होता है । पहला—जहाँ कपाल में कर्म होता है, उसके बाद दो कारणों (कपालद्वय अथवा परमाणुद्वय) का विभाग, उसके बाद घटारम्भक संयोग का नाश, उसके बाद घट का नाश, उसके बाद उसी कपालविभाग के द्वारा कर्म से युक्त कपाल का आकाश के साथ विभाग होता है, उसके बाद उसका आकाश के साथ संयोग का नाश, उसके बाद उत्तरदेशसंयोग, उसके बाद कपालकर्म का नाश होता है । न तो उस कर्म के द्वारा ही देशान्तरविभाग क्यों नहीं होता ? ऐसा कहना ही उचित है, क्योंकि एक कर्म का आरम्भकसंयोग अर्थात् परमाणुद्वयसंयोग का विरोधी जो विभाग है, उसके जनकत्व के साथ अनारम्भकसंयोग अर्थात् द्वयणुक के अनारम्भकसंयोग के विरोधिविभाग के जनकत्व का विरोध होता है । वैसा न होने पर खिलते हुए कमल के कुड्मल के भङ्ग होने का प्रसङ्ग आ जाता है । इस कारण यदि यह कर्म ही अनारम्भक संयोग के विरोधी विभाग का सम्पादन करता है तब तो वह आरम्भकसंयोग के विरोधी विभाग को नहीं कर पाता है । न तो कारण के विभाग से ही द्रव्यनाश से पूर्व ही देशान्तरविभाग कैसे नहीं होता ? ऐसा कहना ही उचित है, क्योंकि आरम्भक

संयोग के विरोधी विभाग से युक्त अवयव का द्रव्य के रहते हुए देशान्तरविभाग सम्भव नहीं होता।

द्वितीयस्तावत् यत्र हस्तक्रियया हस्ततरुविभागस्ततः शरीरेऽपि विभक्त-प्रत्ययो भवति, तत्र शरीरतरुविभागे हस्तक्रिया न कारणं व्यधिकरणत्वात्। शरीरे तु क्रिया नाऽस्त्येव, अवयविकर्मणो यावदवयवकर्मनियतत्वात्। अत-स्तत्र कारणाकारणविभागेन कार्याकार्यविभागो जन्यत इति। अत एव विभागो गुणान्तरम्, अन्यथा शरीरे विभक्तप्रत्ययो न स्यात्। अतः संयोगनाशेन विभागो नान्यथासिद्धो भवति ॥ १२० ॥

आलोकः—विभागजविभागस्य द्वितीयप्रकारमाह—**द्वितीय** इति। **द्वितीयः** कारणा-कारणविभागजः। **तावत्**। **यत्र** यस्मिन् क्षणे। **हस्तक्रियया** हस्तसम्बद्धकर्मणा। **हस्त-तरुविभागः** करवृक्षविभागः। **ततः** तदुत्पत्त्यधिकरणतृतीयक्षणे। **शरीरे** काये। **अपि** च। **विभक्तप्रत्ययः** विभागप्रतीतिः। **भवति** सञ्जायते। **तत्र** तत्प्रसङ्गे। **च** हि। **शरीरतरुविभागे** कायवृक्षविभागकर्मणि। **हस्तक्रिया** हस्तसम्बद्धकर्म। **न**। **कारणम्** असमवायिकारणम्। **व्यधिकरणत्वात्** भिन्नाश्रयत्वात् करक्रियायाः शरीरे वृक्षे वा समवायेनाभावात् क्रियायाः संयोगे इव विभागेऽपि समवायेन हेतुत्वादिति। **शरीरे** काये। **तु** हि। **क्रिया** कर्म। **न**। **अस्ति** विद्यते। **एव**। **अवयविकर्मणः** अवयविगत-कर्मणः। **यावदवयवकर्मनियतत्वात्** प्रत्येकावयवक्रियाधारितत्वात्। **अतः** एकावयव-क्रियामात्रेणावयविक्रियाजननाभावात्। **तत्र** अवयविभूते शरीरादौ। **कारणाकारण-विभागेन** कारणभूतकराकारणभूततरुविभागेन। **कार्याकार्यविभागः** शरीरतरु-विभागः। **जन्यते** सम्पद्यते। इति। उपसंहरति—**अत** इति। **अतः** उक्तप्रतीतिसिद्ध-त्वात्। **एव** हि। **विभागः**। **गुणान्तरं** क्लृप्तगुणातिरिक्तगुण एव। **अन्यथा** अतथा-भावे। **शरीरे**। **विभक्तप्रत्ययः** वृक्षाद्विभागप्रतीतिः। **न**। **स्यात्**। **अतः** निरुक्तप्रतीति-सिद्ध्या। **संयोगनाशेन** संयोगध्वंसेन। **विभागः** विभागपदार्थः। **न** नैव। **अन्यथासिद्धः** अपदार्थः। **भवति** सम्पद्यते इति।

हिन्दी—दूसरा जैसे—जहाँ हाथ से सम्पादित क्रिया से हाथ एवं वृक्ष का विभाग होता है तब शरीर में भी विभाग की प्रतीति होती है, वहाँ भी शरीर एवं वृक्ष के विभाग में हाथ की क्रिया कारण नहीं होती, क्योंकि दोनों के अधिकरण भिन्न हैं। शरीर में तो क्रिया नहीं ही है, क्योंकि अवयविगत कर्म किसी एक अवयव मात्र के कर्म से नियत न होकर समस्त अवयवों के कर्मों से नियत होता है। इस कारण वैसे में कारणाकारण विभाग के द्वारा कार्याकार्य विभाग उत्पादित होता है। इस शरीर एवं वृक्ष के विभाग की प्रतीति से ही यह सिद्ध होता है कि विभाग संयोग का नाश न होकर पृथक् ही स्वतन्त्र गुण है, वैसा न होने पर शरीर में विभाग की प्रतीति नहीं होती (लेकिन होती है)। इस कारण संयोग के नाश से विभाग अन्यथासिद्ध नहीं होता ॥ १२० ॥

परत्वं चापरत्वञ्च द्विविधं परिकीर्तितम ।
दैशिकं कालिकञ्चापि मूर्त एव तु दैशिकम् ॥ १२१ ॥
परत्वं मूर्तसंयोगभूयस्त्वज्ञानतो भवेत् ।
अपरत्वं तदल्पत्वबुद्धितः स्यादितीरितम् ॥ १२२ ॥
तयोरसमवायी तु दिक्संयोगस्तदाश्रये ।

परापरव्यवहारनिमित्ते परत्वापरत्वे निरूपयति—परत्वञ्चापरत्वञ्चेति। दैशिकमिति । दैशिकपरत्वं बहुतरमूर्तसंयोगान्तरितत्वज्ञानादुत्पद्यते । एवं तदल्पीयस्त्वज्ञानादपरत्वमुत्पद्यते । अत्रावधित्वार्थं पञ्चम्यपेक्षा, यथा 'पाटलिपुत्रात्काशीमपेक्ष्य प्रयागः परः, पाटलिपुत्रात्कुरुक्षेत्रमपेक्ष्य प्रयागोऽपरः' इति ।

तयोः दैशिकपरत्वापरत्वयोः । असमवायी असमवायिकारणम् । तदाश्रये दैशिकपरत्वापरत्वाश्रये ।

आलोकः—परत्वापरत्वगुणे निरूपयति परममूले—**परत्वमिति** । परत्वम् अपरत्वं च द्विविधं परिकीर्तितम्, (तच्च प्रत्येकं) दैशिकं कालिकं च अपि (द्विविधम्), (तत्र) दैशिकं मूर्ते एव । (तत्रापि) परत्वं मूर्तसंयोगभूयस्त्वज्ञानतः भवेत्, अपरत्वं तदल्पत्वबुद्धितः स्यात् इति ईरितम् । तयोः असमवायी तु तदाश्रये दिक्संयोग इति । **परत्वं** परत्वाख्यगुणः अयमस्मात्पर इति व्यवहारासाधारणकारणम् । **अपरत्वम्** अपरत्वाख्यगुणः अयमस्मादपर इति व्यवहारासाधारणं कारणं चेति द्वौ गुणौ । परत्वमपरत्वञ्चापि प्रत्येकं **द्विविधं** द्विप्रकारकम् । **परिकीर्तितम्** । तच्च यथा—**दैशिकं** दिङ्निरूपितं स्थानसम्बद्धम् । **कालिकं** कालनिरूपितञ्च । दैशिकपरत्वं दैशिकापरत्वं कालिकपरत्वं कालिकापरत्वञ्चेति भावः । **तत्र** । **दैशिकं** दिङ्निरूपितं परत्वमपरत्वञ्च । **मूर्ते** नित्यानित्यमूर्तपदार्थेषु । **एव** हि । उत्पद्यते इति । कालिके तु परत्वापरत्वेऽनित्येषु मूर्तपदार्थेष्वेव । अत्र मूर्तत्वं हि परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वम् । तत्र । **परत्वं** दैशिकपरत्वम् । **मूर्तसंयोगभूयस्त्वज्ञानतः** मूर्तसंयोगस्य भूयस्त्वस्य ज्ञानात् । **भवेत्** उत्पद्यत इति । विप्रकृष्टत्वविषयिण्यपेक्षाबुद्धिर्निमित्तकारणमिति भावः । **अपरत्वं** दैशिकापरत्वम् । तदल्पत्वबुद्धितः तस्य मूर्तपदार्थसंयोगस्य अल्पीयस्त्वज्ञानात् । स्यात् । सन्निकृष्टविषयिण्यपेक्षाबुद्धिर्निमित्तकारणमिति । **इति** इत्थम् । **ईरितं** कथितम् । मूले कारिकां विवृणोति तद्विषयनिर्देशमुखेन—**परेति** । **परापरव्यवहारनिमित्ते** अयमस्मात्पर इति परव्यवहारस्य अयमस्मादपर इत्यपरव्यवहारस्य निमित्ते कारणभूते । **परत्वापरत्वे** परत्वमपरत्वञ्च ते । तदाख्यगुणौ । **निरूपयति** विवृणोति । **परत्वमपरत्वञ्चेति** । कारिकानिर्देशाय प्रतीकमिदम् । **दैशिकमिति** दैशिकं मूर्त एवेति प्रसङ्गे । **दैशिकपरत्वं** दिङ्निरूपितपरत्वम् । **बहुतरमूर्तसंयोगान्तरितत्वज्ञानात्** बहुतरा ये मूर्तपदार्थसंयोगास्तदन्तरितत्वज्ञानात् मूर्तसंयुक्तसंयुक्तादिक्रमेण संयोगबहुतरत्वज्ञानात् । उत्पद्यते जायते । **एवम्** इत्थमेव । **तदल्पीयस्त्वज्ञानात्** तस्य मूर्तसंयोगस्य अल्पीयस्त्वज्ञानात् । **अपरत्वम्** ।

उत्पद्यते । अत्र प्रकरणेऽस्मिन् । **अवधित्वार्थम्** अवधित्वविषयकशाब्दबोधार्थम् । **पञ्चम्यपेक्षा** पञ्चम्या अपेक्षा पञ्चमीविभक्तिमत्त्वेन अवधिवाचकशब्दप्रयोग आवश्यकः इति । **यथा । पाटलिपुत्रात् । काशीम् । अपेक्ष्य । प्रयागः । परः** । अत्र पञ्चम्यर्थोऽवधित्वम् । तस्य निरूपकत्वसम्बन्धेन परपदार्थैकदेशे परत्वेऽन्वयः । काशीमपेक्ष्येति काशीनिरूपितं तेन पाटलिपुत्रावधितानिरूपककाशीनिरूपितपरत्वाश्रयप्रयाग इति बोधः । **पाटलिपुत्रात कुरुक्षेत्रम् अपेक्ष्य प्रयागः अपर** इति पाटलिपुत्रावधितानिरूपककुरुक्षेत्रनिरूपितापरत्वाश्रयः प्रयाग इति ॥ १२१–१२२ ॥

तयोः दैशिकपरत्वापरत्वयोः । **असमवायी** असमवायिकारणम् । **तु** हि । **तदाश्रये** तयोर्दैशिकपरत्वापरत्वयोराश्रये आश्रयभूतपिण्डादौ । **दिक्संयोगः** दिशां संयोगः दिक्पिण्डसंयोग इति । दिक्पिण्डसंयोग एव तयोरसमवायिकारणमिति ।

हिन्दी—परत्व एवं अपरत्व दो गुण है और वे प्रत्येक दैशिक एवं कालिक भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं । उनमें से दैशिक नित्य एवं अनित्य मूर्त पदार्थों में होता है और कालिक अनित्य मूर्त पदार्थों में ही । उसमें भी दैशिक परत्व मूर्त संयोगों के भूयस्त्व के ज्ञान से होता है और दैशिक-अपरत्व उसके अल्पीयस्त्व के ज्ञान से होता है, ऐसा कहा गया है । उन दोनों का असमवायिकारण तो उनके आश्रय के साथ दिशा का संयोग है ।

पर (यह इससे पर है) एवं अपर (यह इससे अपर) है, ऐसे व्यवहार के निमित्तकारण परत्व एवं अपरत्व का निरूपण करते हैं—**परत्वमपरत्वञ्चेति । दैशिकमिति** । दैशिकपरत्व अर्थात् दिङ्निरूपित परत्व बहुतरमूर्तसंयोगों से अन्तरितत्व ज्ञान से उत्पन्न होता है, इसी तरह उसके कम होने के ज्ञान से अपरत्व उत्पन्न होता है । यहाँ अवधित्व के लिए पञ्चमी विभक्ति की अपेक्षा होती है, जैसे 'पाटलिपुत्रात् काशीमपेक्ष्य प्रयागः परः' (पाटलिपुत्र से काशी की अपेक्षा प्रयाग पर है), 'पाटलिपुत्रात्कुरुक्षेत्रमपेक्ष्य प्रयागोऽपरः' (पाटलिपुत्र से कुरुक्षेत्र की अपेक्षा प्रयाग अपर है) आदि ॥ १२१–१२२ ॥

उन दोनो का दैशिक परत्व एवं अपरत्व का । असमवायी का अर्थ है असमवायिकारण । **तदाश्रये** का अर्थ है दैशिक परत्व एवं अपरत्व के आश्रय में ।

दिवाकरपरिस्पन्दभूयस्त्वज्ञानतो भवेत् ॥ १२३ ॥
परत्वमपरत्वं तु तदीयाल्पत्वबुद्धितः ।
अत्र त्वसमवायी स्यात्संयोगः कालपिण्डयोः ॥ १२४ ॥

दिवाकरेति । अत्र परत्वमपरत्वञ्च कालिकं ग्राह्यम् । यस्य सूर्यपरिस्पन्दापेक्षया यस्य सूर्यपरिस्पन्दोऽधिकः स ज्येष्ठः, यस्य न्यूनः स कनिष्ठः । कालिकपरत्वापरत्वे जन्यद्रव्य एव । अत्र कालिकपरत्वापरत्वयोः ॥ १२३-१२४ ॥

आलोकः—परममूले कालिकपरत्वापरत्वयोः कारणं वक्ति—**दिवाकरेति** । दिवाकरपरिस्पन्दभूयस्त्वज्ञानतः (कालिकम्) परत्वं भवेत्, अपरत्वं तु तदीयाल्पत्व-

बुद्धितः भवेत्, अत्र तु कालपिण्डयोः संयोगः असमवायी स्यात् इति। **दिवाकरपरिस्पन्दभूयस्त्वज्ञानतः** दिवाकरस्य सूर्यस्य परिस्पन्दस्य क्रिया तस्या भूयस्त्वं बहुतरत्वं तस्य ज्ञानतः। **परत्वं** कालिकपरत्वम्। **भवेत्** यस्य सूर्यक्रियापेक्षया यस्य सूर्यपरिस्पन्दोऽधिकः स ज्येष्ठः इति। **तदीयाल्पत्वबुद्धितः** सूर्यपरिस्पन्दाल्पत्वज्ञानात्। **तु** हि। **अपरत्वं** कालिकापरत्वम्। **स्यात्**। यस्य सूर्यपरिस्पन्दापेक्षया यस्य सूर्यपरिस्पन्दो न्यूनः सः कनिष्ठ इति। **अत्र** कालिकपरत्वापरत्वयोः। **असमवायी** असमवायिकारणम्। **तु** हि। **कालपिण्डयोः** कालस्य परत्वापरत्वाश्रयभूतपिण्डयोश्च संयोगः। **स्यात्**। कारिकाव्याख्यानाय प्रतीकमादत्ते मूले—**दिवाकरेति**। **अत्र** प्रकरणेऽस्मिन्। **परत्वम्**। अपरत्वम्। **च** हि। **कालिकं** कालसम्बद्धम्। **ग्राह्यम्** आदेयम्। **यस्य**। **सूर्यपरिस्पन्दापेक्षया** सूर्यस्य परिस्पन्दः क्रिया तदपेक्षया। **यस्य**। **सूर्यपरिस्पन्दः** सूर्यक्रिया। **अधिकः** भूयान्। **सः** तथाविधः। **ज्येष्ठः** परः। **यस्य न्यूनः** अल्पीयान्। **सः** तादृशः। **कनिष्ठः** अपरः। **कालिकपरत्वापरत्वे** कालसम्बद्धपरत्वापरत्वे। **जन्यद्रव्ये** उत्पाद्यवस्तुनि अत एवानित्ये। **एव**। **अत्र** इति कालिकपरत्वापरत्वयोः॥ १२३–१२४॥

हिन्दी—सूर्य की क्रिया के आधिक्य ज्ञान से (कालिक) परत्व होता है और अपरत्व तो उसके कम होने के ज्ञान से होता है। कालिक परत्व एवं अपरत्व में काल एवं पिण्ड का संयोग असमवायिकारण होता है।

दिवाकरेति। यहाँ परत्व एवं अपरत्व कालिक लेना चाहिए। जिसके सूर्य के परिस्पन्द की अपेक्षा जिस सूर्य का परिस्पन्द अधिक होता है, वह ज्येष्ठ (पर) होता है और जिसका कम होता है, वह कनिष्ठ (अपर) होता है। कालिक परत्व एवं अपरत्व उत्पाद्य द्रव्य में ही होते हैं। 'अत्र' (यहाँ) का अर्थ है—कालिक परत्व एवं अपरत्व में॥ १२३–१२४॥

अपेक्षाबुद्धिनाशेन नाशस्तेषां निरूपितः।

तेषां कालिकदैशिकपरत्वापरत्वानाम्।

आलोकः—अथैतेषां नाशहेतुमाह परममूले—**अपेक्षेति**। **अपेक्षाबुद्धिनाशेन** आदौ अपेक्षाबुद्धिस्ततः परत्वोत्पत्तिः, ततः परत्वपरत्वत्वे इति निर्विकल्पकम्। ततः परत्वत्वविशिष्टपरत्वबुद्धिरपेक्षाबुद्धिनाशश्च। ततः परत्वत्वविशिष्टपरत्वविशिष्टबुद्धिः परत्वनाशश्चापेक्षाबुद्धिनाशादिति। इदमुपलक्षणमेव संयोगनाशादपि तन्नाशः, यथाऽपेक्षाबुद्धिसमकालं परत्वाधारे कर्म तत्कर्मणा दिक्पिण्डयोर्विभागः परत्वोत्पत्तिश्च ततः परत्वपरत्वत्वयोर्निर्विकल्पकं दिक्पिण्डयोः संयोगनाशश्च। ततोऽन्यस्मिन् काले परत्वत्वविशिष्टपरत्वबुद्धिः तदेव दिक्पिण्डसंयोगनाशात् परत्वनाशोऽपेक्षाबुद्धिनाशश्चेति। एवमाश्रयनाशादपि तन्नाशः। **तेषां** दैशिककालिकपरत्वापरत्वानाम्। **नाशः**। **निरूपितः** निर्णीत इति। द्वाभ्यां द्वाभ्यां सर्वेभ्यश्चेति सप्तधा तन्नाश इति सारम्। मूले कारिकागतं तेषामिति पदं विवृणोति—**तेषामिति**। **तेषां** कालिकदैशिकपरत्वापरत्वानां कालिकपरत्वापरत्वयोः दैशिकपरत्वापरत्वयोश्चेति।

केषाञ्चिन्मते परत्वापरत्वयोरेव मानाभावः, विप्रकृष्टत्वसन्निकृष्टत्वरूपसंयुक्तभूयस्त्वतदल्पीयस्त्वयोरेव दैशिकपरत्वापरत्वव्यवहारात्। तथा च तज्ज्येष्ठत्वं तत्प्रागभावाधिकरणक्षणवृत्तित्वं तदुत्पत्तिक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगिक्षणवृत्तित्वं वा। तत्कनिष्ठत्वं तदधिकरणक्षणवृत्तिप्रागभावप्रतियोगित्वं तदधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणक्षणोत्पत्तिकत्वं वेति।

हिन्दी—अपेक्षाबुद्धि के नाश से (संयोगनाश एवं आश्रयनाश से भी) दैशिक एवं कालिक परत्व तथा अपरत्व का नाश माना गया है।

'उनका' (तेषां) का आशय कालिक एवं दैशिक परत्व तथा अपरत्व का है।

बुद्धेः प्रपञ्चः प्रागेव प्रायशो विनिरूपितः ॥ १२५ ॥

अथाऽवशिष्टोऽप्यपरः प्रकारः परिदर्श्यंते।

क्रमप्राप्तां बुद्धिं निरूपयितुमाह—बुद्धेरिति ॥ १२५ ॥

आलोकः—इत्थं परत्वापरत्वे निरूप्य सम्प्रति यथोद्देशं क्रमप्राप्तां बुद्धिं निरूपयितुमाह परममूले—बुद्धेरिति। बुद्धेः प्रपञ्चः प्राक् एव प्रायशः विनिरूपितः, अथ अवशिष्टः अपरः प्रकारः अपि परिदर्श्यंते इति। **बुद्धेः** ज्ञानस्य। **प्रपञ्चः** भेदोपभेदादिविस्तारः। **प्राक्** पूर्वमात्मनिरूपणावसरे। **एव** हि। **प्रायशः** बाहुल्येन। **विनिरूपितः** कथितः। **अथ** तथापि। **अवशिष्टः** तत्रावर्णितः। **अपरः** अन्यः प्रमाऽप्रमादिरूपः। **प्रकारः** भेदः। अत्र। **परिदर्श्यंते** निरूप्यत इति। निरूपितं च यथा—

'विभुर्बुद्ध्यादिगुणवान् बुद्धिस्तु द्विविधा मता।
अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा ॥ २१ ॥
प्रत्यक्षमप्यनुमितिस्तथोपमितिशब्दजे' । इति।

मूले कारिकाविषयं निर्दिशति—**क्रमप्राप्तामिति**। **क्रमप्राप्ताम्** उद्देशक्रमागताम्। उद्देशश्च तृतीयचतुर्थपञ्चमकारिकोक्तः। **बुद्धिं** बुद्धितत्त्वम्। **निरूपयितुं** वर्णयितुम्। **आह** कथयति। **बुद्धेरिति** कारिकाप्रतीकमिदम् ॥ १२५ ॥

हिन्दी—बुद्धि का प्रपञ्च पहले ही (आत्मनिरूपण के अवसर में) विस्तार से निरूपित है। अब यहाँ उसका जो अप्रमा, प्रमा आदि अवशिष्ट दूसरा प्रकार है, वह बतलाया जाता है ॥ १२५ ॥

क्रमप्राप्त बुद्धि-निरूपण के लिए कहते हैं—बुद्धेरिति।

अप्रमा च प्रमा चेति ज्ञानं द्विविधमिष्यते ॥१२६॥

आलोकः—यथाप्रतिज्ञातं बुद्धेरवशिष्टापरप्रकारमाह परममूले—**अप्रमेति**। अप्रमा च प्रमा च इति ज्ञानं द्विविधम् इष्यते इति। **अप्रमा** वक्ष्यमाणलक्षणा तद्विरहिते तन्मतिः। **च**। **प्रमा** तद्वति तन्मतिः भ्रमशून्यं ज्ञानं वा। **च** अपि। **इति** इत्थम्। **ज्ञानं** बुद्धिः। **द्विविधं** द्विप्रकारकम्। **इष्यते** उच्यत इति। प्रमाऽप्रमाभेदेन हि ज्ञानं द्विविधमिति ॥ १२६ ॥

हिन्दी—अप्रमा एवं प्रमा के भेद से ज्ञान दो प्रकार का माना जाता है ॥१२६॥

तच्छून्ये तन्मतिर्या स्यादप्रमा सा निरूपिता ।
तत्प्रपञ्चो विपर्यासः संशयोऽपि प्रकीर्तितः ॥ १२७ ॥

तत्राप्रमां निरूपयति—तच्छून्य इति । तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रम इत्यर्थः । तत्प्रपञ्चोऽप्रमाप्रपञ्चः ॥ १२७ ॥

आलोकः—तत्राप्रमां निरूपयति परममूले—**तच्छून्य** इति । या तच्छून्ये तन्मतिः सा अप्रमा निरूपिता स्यात् तत्प्रपञ्चः विपर्यासः संशयः अपि प्रकीर्तित इति । तच्छून्ये तेन रजतत्वादिना शून्ये नितान्तरहिते शुक्तौ । **या** । **तन्मतिः** तस्य रजतत्वादेर्मतिर्बुद्धिः इदं रजतमिति रजतत्वप्रकारकबुद्धिः । **सा** तादृशी मतिः । **अप्रमा** । इति । निरूपिता व्यवहृता । **स्यात्** । इति । **तत्प्रपञ्चः** तस्या अप्रमायाः प्रपञ्चः अवान्तरभेदः । **विपर्यासः** विपर्ययः । संशयः अनिश्चयः । **अपि च** । **प्रकीर्तितः** कथितः । इति । तदभाववति तद्भावज्ञानमप्रमा तस्याश्च विपर्ययः संशयश्चेति द्वौ भेदाविति । मूले कारिकाशयमाह—**तत्रेति** । तत्र अप्रमाप्रमयोर्मध्ये । **अप्रमाम्** । **निरूपयति** स्पष्टयति । **तच्छून्य इति** । कारिकाप्रतीकमिदम् । कारिकाशयमाह—**तदभाववतीति** । **तदभाववति** तद्विरहिते । **तत्प्रकारकं** तद्भावात्मकम् । **ज्ञानं** मतिः । **भ्रमः** इति । तदभाववन्निष्ठविषयतानिरूपकत्वे सति तन्निष्ठविषयतानिरूपकज्ञानत्वं भ्रमलक्षणमिति । **तत्प्रपञ्च** इति अप्रमाप्रपञ्चः । यद्यपि अप्रमायाः प्रमाभावरूपत्वात् प्रथमं प्रमाया एव निरूपणमुचितं तथापि प्रमायाः भ्रमभिन्नत्वघटिततया भ्रमत्वज्ञानाद्यर्थं प्रथममप्रमाया निरूपणं कृतमिति ज्ञेयम् ॥ १२७ ॥

हिन्दी—जिसमें वह नहीं है उसमें जो उसकी बुद्धि है, उसे अप्रमा कहते हैं और विपर्यय एवं संशय अप्रमा के अवान्तर भेद माने जाते हैं ।

उनमें अप्रमा का निरूपण करते हैं—**तच्छून्य** इति । उसके अभाव वाले में उस प्रकार का ज्ञान भ्रम है, ऐसा इसका अर्थ है । 'उसके प्रपञ्च' का आशय अप्रमा का प्रपञ्च है ॥ १२७ ॥

आद्यो देहेष्वात्मबुद्धिः शङ्खादौ पीततामतिः ।
भवेन्निश्चयरूपा या—

आद्य इति । विपर्यास इत्यर्थः । शरीरादौ निश्चयरूपं यदात्मत्वप्रकारकं ज्ञानं गौरोऽहमित्याकारकम् । एवं शङ्खादौ पीतः शङ्ख इत्याकारकं यज्ज्ञानं निश्चयरूपं तद्भ्रम इति ।

तत्र विपर्यासं लक्षयति—**आद्य** इति । आद्यः या निश्चयरूपा देहेषु आत्मबुद्धिः शङ्खादौ पीततामतिः भवेद् सा इति । **आद्यः** प्रथमः विपर्यास इति । **या** । **निश्चयरूपा** निश्चयात्मिका । **देहेषु** शरीरेषु । **आत्मबुद्धिः** आत्मत्वप्रकारकबुद्धिः । देह एवात्मेति निश्चयात्मकं ज्ञानमिति । **शङ्खादौ** पाण्डुरवर्णे शङ्खादौ । **पीततामतिः** पीतत्वप्रकारकनिश्चयात्मकं ज्ञानम् । **भवेत्** इति । देहे आत्मायमिति शङ्खे पीतोऽयमिति निश्चया-

त्मकज्ञानं विपर्यय इति । कारिकाशयं विवृणोति मूले—आद्य इति । **आद्य** इत्यस्य विपर्यास: इत्यर्थ: विपर्यय इत्याशय: । शरीरादौ देहादौ । **निश्चयरूपं** निश्चयात्मकम् । यत् यदेव । **आत्मत्वप्रकारकम्** आत्मैवेदमित्याकारकम् । **ज्ञानं** मति: । **गौर:** गौरवर्ण: । **अहम्** । **इत्याकारकम्** । इत्येवंविधम् । निश्चयश्चात्र शरीरात्मनोरभेदावगाही शरीरे आत्मत्वप्रकारक: शरीरमहमिति । विशिष्टाद्वैतमते आत्मन: ईश्वरशरीरतया शरीरमहमिति प्रतीतेर्यथार्थत्वादुक्तं गौरोऽहमिति, किन्तु रक्ताश्रये आत्मत्वाभावात्तस्य भ्रमत्वम् । एवमात्मनि शरीरत्वप्रकारक: अहं शरीरमिति निश्चय: अहं गौर इति निश्चयश्चेति किरणावल्यादौ । **एवम्** इत्थम् । **पीत:** पीतवर्ण: । **शङ्ख:** । **इत्याकारकम्** इत्येवंविधम् । **इति** । **निश्चयरूपं** निश्चयात्मकम् । **यत्** । **ज्ञानं** मति: । शङ्खे पीतत्वप्रकारकनिश्चय: तथैव पीतरूपवान् शङ्ख इति तादात्म्यावगाही निश्चयश्च । **तद्** तथाविधं ज्ञानम् । **भ्रम:** भ्रान्तिरेव विपर्यय इति । शङ्खादौ इत्यत्रत्येन आदिपदेन वराटिका पीता इत्यादिनिश्चयोऽपि विपर्यय एव । मिथ्याज्ञानमेव विपर्यास: स च तदभाववति तत्प्रकारकमित्येवंरूप: । एवञ्च तदभाववन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिततन्निष्ठप्रकारताशालित्वे सति संशयान्यत्वे सति ज्ञानत्वं विपर्यासत्वमिति । इति ।

हिन्दी—पहला अर्थात् विपर्यय वह है, जो निश्चयात्मक ढंग से शरीर में आत्मबुद्धि एवं शङ्ख में पीतता की बुद्धि है ।

आद्य इति । इसका अर्थ विपर्यास है । शरीर आदि में जो निश्चयरूप आत्मत्वप्रकार का 'मैं गौर हूँ' इस आकार का ज्ञान है तथा शङ्ख आदि में 'शंख पीला है' इस आकार का जो निश्चयरूप ज्ञान है, वह भ्रम है । जिसमें जो नहीं है उसमें उसके होने का ज्ञान ही भ्रम है ।

—संशयोऽथ प्रदर्श्यते ।। १२८ ।।

किंस्विन्नरो वा स्थाणुर्वेत्यादिबुद्धिस्तु संशय: ।
तदभावाप्रकारा धीस्तत्प्रकारा तु निश्चय: ।। १२९ ।।
स संशयो मतिर्या स्यादेकत्राभावभावयो: ।
साधारणादिधर्मस्य ज्ञानं संशयकारणम् ।। १३० ।।

किंस्विदिति । किंस्विदिति वितर्के । निश्चयस्य लक्षणमाह—तदभावेति । तदभावाप्रकारकं ज्ञानं निश्चय: ।। संशयं लक्षयति--स संशय इति । एकधर्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशय इत्यर्थ: । साधारणेति । उभयसाधारणो यो धर्मस्तज्ज्ञानं संशयकारणम् । यथोच्चैस्तरत्वं स्थाणुपुरुषसाधारणं ज्ञात्वाऽयं स्थाणुर्न वेति सन्दिग्धे । एवमसाधारणधर्मज्ञानमपि । यथा शब्दत्वस्य नित्यानित्यव्यावृत्तत्वं शब्दे गृहीत्वा शब्दो नित्यो न वेति सन्दिग्धे । विप्रतिपत्तिस्तु शब्दो नित्यो न वेत्यादिशब्दात्मिका न संशयकारणं, शब्दव्या-

प्तिज्ञानादीनां निश्चयमात्रजनकत्वस्वभावात्। किन्तु तत्र शब्देन कोटिद्वयज्ञानं जन्यते, संशयस्तु मानस एवेति। एवं ज्ञाने प्रामाण्यसंशयाद् विषयसंशय इति। एवं व्याप्यसंशयादपि व्यापकसंशय इत्यादिकं बोध्यम्। किन्तु संशये धर्मिज्ञानं धर्मीन्द्रियसन्निकर्षो वा कारणमिति ॥ १२८-१३० ॥

आलोकः—अप्रमाया अपरं भेदं संशयं निरूपयति परममूले—संशय इति। अथ संशयः प्रदर्श्यंते किंस्वित् नरः वा स्थाणुः वा इत्यादिबुद्धिः तु संशयः, तदभावाप्रकारा तत्प्रकारा धीः तु निश्चयः, एकत्र अभावभावयोः या मतिः सः संशयः स्यात्, साधारणादिधर्मस्य ज्ञानं संशयकारणम् इति। अथ अप्रमाया विपर्यासोपभेदनिरूपणानन्तरम्। संशयः तस्या एव संशयाख्योऽपर उपभेदः। प्रदर्श्यंते निरूप्यते। संशयस्वरूपमाह–किंस्विदिति। किंस्वित् इति वितर्के। नरः वा नरत्ववान्न वा। इत्यादिबुद्धिः नरत्ववदभावप्रकारकं ज्ञानम्। स्थाणुः वा स्थाणुत्ववान्न वेति। इत्यादि बुद्धिः स्थाणुत्वतदभावप्रकारकं ज्ञानम्। संशयः इति। नरो वा स्थाणुर्वेति भावद्वयकोटिकैकसंशयस्य अप्रसिद्धत्वात् संशयद्वयमत्र कल्प्यमिति किरणावल्यादौ स्पष्टम्। संशयवैपरीत्येन निश्चयस्य सत्त्वात्तल्लक्षणमाह–तदभावेति। तदभावाप्रकारा तदभावाविशेषणीभूता। तत्प्रकारा धर्मविशेषणीभूता। धीः ज्ञानम्। तु तद्विपरीतम्। निश्चयः इति। यथा घटे घट इति ज्ञानं घटत्वाऽभावाऽप्रकारकं घटत्वप्रकारकञ्च। एवमेव शुक्तौ रजतमिति ज्ञानञ्च रजतत्वाभावाप्रकारकं रजतत्वप्रकारकञ्च। संशयं लक्षयति—स इति। एकत्र एकस्मिन् धर्मिणि अभावाभावयोः अभावस्य भावस्य च तयोः परस्परविरुद्धयोः। या। मतिः बुद्धिः। सः। संशयः स्यात्। संशयहेतुमाह—साधारणेति। साधारणाविधर्मस्य भावाभावोभयसाधारणधर्मस्य असाधारणधर्मस्यापि। ज्ञानं मतिः। संशयकारणं संशयहेतुरिति। कारिकाशयं निर्वक्ति—किंस्विदित्यादि। कारिकायां किंस्विदिति पदं वितर्के ऊहेऽर्थे। प्रयुक्तमिति। निश्चयस्य। लक्षणं स्वरूपम्। आह विवृणोति। तदभावेति। तदभावाप्रकारकं धर्माभावविशेषणवर्जितम्। तत्प्रकारकं धर्मविशेषणकं यथा घटे घट इति। ज्ञानं मतिः। तद्धि घटत्वाभावाप्रकारकं घटत्वप्रकारकञ्च। निश्चय इति। संशयम्। लक्षयति निर्वक्ति स संशय इति। एकधर्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारकम् एकधर्मिके एकविशेष्यताके एकस्मिन्नेव धर्मिणीति विरुद्धे विरोधसंसर्गावगाहि भावाभावप्रकारकं भावोऽभावश्च प्रकारो विशेषणं यस्य तत्तादृशम्। ज्ञानं मतिः। संशयः इति। अत्र एकधर्मिकेति पदं ह्रदपर्वतौ वह्नितदभाववन्तौ इत्यादौ समुच्चयेऽतिव्याप्तिवारणाय। वृक्षः कपिसंयोगवांस्तदभावाभावपदं घटो द्रव्यं पृथिवी चेत्यादावतिव्याप्तिवारणाय। भाववांश्चेत्यादावतिव्याप्तिवारणाय विरुद्धेति पदम्। इच्छायामतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानमिति। साधारणेति। उभयसाधारणः भावाभावोभयसामान्यः। यः। धर्मः। तज्ज्ञानं तदवबोधः। संशयकारणं संशयहेतुरिति। तन्निदर्शयति – यथेति। यथा स्थाणुपुरुषसाधारणं स्थाणौ पुरुषे च साधारणम्। स्थाण्वस्थाणुसाधारणं पुरुषापुरुषसाधारणं तथा च स्थाणुत्वतदभावसहचरितं पुरुषत्वतदभावसहचरितं चेति। उच्चैस्तरत्वम् उच्चैस्तरत्वधर्मम्। ज्ञात्वा अवबुध्य। अयं दृश्यमानः। स्थाणुः न। वा स्थाणुत्ववान्न वा।

पुरुषो न वेति वा । इति इत्थम् । **सन्दिग्धे** सन्देहं करोतीत्यर्थः । संशयस्य करणान्तरमप्याह—**एवमिति । एवम्** । इत्थमेव । **असाधारणधर्मज्ञानं** कोटिद्वयसमानधर्मज्ञानम् । **अपि च** । संशयकारणमिति । **यथा । शब्दत्वस्य** शब्दत्वधर्मस्य । **नित्यानित्यव्यावृत्तत्वं** नित्ये आकाशादौ अनित्ये घटादावपि आवृत्तिकत्वेन उभयत एव व्यावृत्तत्वम् । **शब्दे । गृहीत्वा** नित्यत्वाधिकरणावृत्ति-अनित्यत्वाधिकणत्वावृत्तिशब्दत्ववानयमिति निश्चयोत्तरमिति । **शब्दो नित्यो न वा** शब्दो नित्यत्ववान् तदभाववान् वा । इति इत्थम् । **सन्दिग्धे** सन्देहं करोति इति । इत्थं हि शब्दस्यासाधारणधर्मस्य शब्दत्वस्य ज्ञाने अपि संशय उत्पद्यत इति । अथ हि 'समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षी विमर्शः संशयः' इति गौतमीयसूत्रे विप्रतिपत्तिरपि संशयहेतुत्वेन गृहीता, तत्कथमत्र साधारणासाधारणधर्मज्ञानमेव तद्धेतुत्वेनोच्यते, इत्यत आह—**विप्रतिपत्तिस्त्विति । विप्रतिपत्तिः** विरुद्धकोटिद्वयप्रतिपादकवाक्यम् । **तु** हि । **शब्दो नित्यो न वा । इत्यादिशब्दात्मिका** इति शब्दस्वरूपा, आदिपदात् अस्ति ह्यात्मा इत्येके नास्त्येवात्मेत्यपरे इति श्रुत्वा आत्माऽस्ति वा नेति मध्यस्थस्य संशय इत्यादेरपि ग्रहणम् । सा हि **न । संशयकारणं** संशयहेतुः । तत्र हेतुमाह—**शब्देति । शब्दव्याप्तिज्ञानादीनां** शब्दज्ञानस्य व्याप्तिज्ञानस्य आदिपदात् अतिदेशवाक्यार्थज्ञानस्य च । निश्चयमात्रजनकत्वस्वभावात् प्रत्यक्षान्यनिश्चयमात्रजनकत्वात्मकासाधारणधर्मवत्त्वात् इति । तर्हि कथं गौतमसूत्रे निरुक्ते विप्रतिपत्तेरिति पञ्चम्या उपपत्तिरित्यत आह—**किन्त्विति । किन्तु । तत्र** विप्रतिपत्तिस्थले **शब्देन** वृत्तिज्ञानसहकृतशब्दज्ञानेन **कोटिद्वयज्ञानं** भावाभावरूपकोटिद्वयस्मरणात्मकावबोधम् । **जन्यते** उत्पाद्यते । **संशयः । तु** तद्विलक्षणमेव । **मानसः** मनःकरणकः । **एव न तु** विप्रतिपत्तिकरणकः, तत्र कोटिद्वयसहकृतमनसा संशयस्वीकारात् । इति सूत्रे विप्रतिपत्तेरिति पञ्चम्या न जनकत्वमर्थोऽपि तु प्रयोजकत्वमिति न च सूत्रविरोधावसर इति । संशयप्रसङ्गादाह—**एवमिति । एवम्** इत्थमेव । **ज्ञाने** इदं जलमित्याकारकज्ञाने । **प्रामाण्यसंशयात्** इदं जलत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा न वेत्याकारकप्रामाण्यसंशयात् । विषयसंशयः इदं जलं वेति संशय इति । तेन न उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थेऽपि न संशयकारणमित्याशयः । यदा जले जलज्ञानमुत्पन्नं तदा सम्यग् ज्ञातमिदं जलमिति । अन्यदा तु मरुमरीचिकायां मिथ्याजलज्ञानमप्युत्पन्नम् । तदनन्तरञ्च कदाचित् क्वचिद् दूरतो लिङ्गदर्शनेन जायमानेऽपि जलज्ञाने किमिदं जलज्ञानं सम्यङ्मिथ्या वेति संशय आन्तरविषयसंशयः । ततः इदं जलं न वेति यः संशयो भवति स प्रामाण्यसंशयजन्यविषयसंशयः । इति । **एवम्** अनेनैव प्रकारेण । **व्याप्यसंशयात्** व्याप्यो धूमादिस्तत्संशयादर्थात् पर्वतो धूमवान् न वा इत्याकारकसंशयात् । **अपि च । व्यापकसंशयः** पर्वते वह्निसंशयस्तस्य व्यापकत्वात् । **इत्यादिकम्** इत्याद्यन्यदपि । **बोध्यं** ज्ञेयम् । ननु धर्मज्ञानस्येव धर्मिज्ञानस्यापि संशयहेतुत्वात् तद्विभागः कथं नोक्तः ? इत्यपेक्षायामाह—**किन्त्विति । किन्तु । संशये** संशयमात्रे । **धर्मिज्ञानं** धर्मिणो ज्ञानम् । **धर्मीन्द्रियसन्निकर्षः** धर्मिणा सह इन्द्रियस्य संयोगसंयुक्तसमवायाद्यात्मकसन्निकर्षः । **वा । कारणं** संशयसामान्यकारणम् । धर्मेन्द्रियसन्निकर्षस्य प्रत्यक्षसामान्यकारणत्वात् तज्जन्यसंशयस्य विभाज्यत्वेन परिगणनाऽसम्भवात्

पृथग्विभागो न दर्शित इति। उक्तञ्च वैशेषिके—'सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः'। (२।२।१७) इति ॥ १२८-१३० ॥

अनुवाद—अब संशय बतलाया जाता है। यह नर है अथवा स्थाणु है ('यह नर है या नहीं' 'यह स्थाणु है या नहीं') इत्यादि बुद्धि संशय है। जिसके धर्म का अभाव प्रकार अर्थात् विशेषण नहीं किन्तु धर्म ही प्रकार अर्थात् विशेषण हो, वैसा ज्ञान निश्चय है ॥

किंस्विदिति। 'किंस्वित्' इस पद का आशय वितर्क है। निश्चय का लक्षण बतलाते हैं—**तदभावेति**। तदभाव-अप्रकारक तत्प्रकारक ज्ञान निश्चय है।

संशय का लक्षण करते हैं—

एक धर्मी में अभाव एवं भाव की जो बुद्धि है, वह संशय है। साधारण एवं असाधारण धर्म का ज्ञान संशय का कारण होता है।

स संशय इति। एक धर्मी में परस्पर विरुद्ध भावाभाव-प्रकारक ज्ञान संशय है, ऐसा इसका अर्थ है। **साधारणेति**। (भाव एवं अभाव) दोनों में जो साधारण धर्म है, उसका ज्ञान संशय का कारण होता है। जैसे स्थाणु एवं पुरुष में साधारण ऊँचाई को देखकर 'यह स्थाणु है या नहीं' ऐसा सन्देह होता है।

इसी तरह असाधारण धर्म का ज्ञान भी (संशय का कारण होता है)। जैसे शब्दत्व का नित्य आकाश आदि एवं अनित्य घट आदि से व्यावृत्त होने के कारण शब्द में ही मान कर 'शब्द नित्य है या नहीं' ऐसा सन्देह होता है।

विप्रतिपत्ति (जिसे गौतमीय सूत्र में संशय का जनक कहा गया है) तो 'शब्द नित्य है या नहीं' इत्यादि शब्दात्मक है, किन्तु संशय का कारण नहीं, क्योंकि शब्द-ज्ञान व्याप्तिज्ञान एवं अतिदेशवाक्य का ज्ञान आदि का निश्चयमात्र जनकत्व स्वभाव होता है। किन्तु वहाँ शब्द से दो कोटि का ज्ञान होता है, संशय तो मनःकरणक ही होता है।

इस प्रकार ज्ञान में प्रामाण्य के संशय से विषय में भी संशय होता है। इसी तरह व्याप्य (धूम आदि) के संशय से भी व्यापक (वह्नि आदि) का संशय होता है, इत्यादि जान लेना चाहिए। किन्तु संशय में धर्मी का ज्ञान अथवा धर्मी एवं इन्द्रिय का संयोग संयुक्त समवायात्मक सन्निकर्ष भी संशय का कारण होता है। धर्मेन्द्रिय-सन्निकर्ष तो प्रत्यक्ष का साधारण कारण होता है, अतः तज्जन्य संशय भी विभाज्य होता है और उसके भेद अनगिनत होते हैं, अतः उनका पृथग्विभाग बतलाया नहीं गया ॥ १२८-१३० ॥

दोषोऽप्रमाया जनकः प्रमायास्तु गुणो भवेत्।

दोष इति। अप्रमां प्रति दोषः कारणम्। प्रमां प्रति गुणः कारणम्। तत्रापि पित्तादिरूपा दोषा अननुगताः। तेषां कारणत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धम्। गुणस्य प्रमाजनकत्वं तु अनुमानात्सिद्धम्। यथा प्रमा ज्ञानसामान्यकारणभि-

न्नकारणजन्या जन्यज्ञानत्वात् अप्रमावत्। न च दोषाभाव एव कारणमस्त्विति वाच्यं, 'पीतः शङ्खः' इति ज्ञानस्थले पित्तदोषसत्त्वाच्छङ्खत्वप्रमानुत्पत्तिप्रसङ्गाद्, विनिगमनाविरहादनन्तदोषाभावस्य कारणत्वमपेक्ष्य गुणस्य कारणताया न्याय्यत्वात्। न च गुणसत्वेऽपि पित्तेन प्रतिबन्धाच्छङ्खे न श्वैत्यज्ञानमतः पित्तादिदोषाभावानां कारणत्वमवश्यं वाच्यं, तथा च किं गुणस्य हेतुत्वकल्पनयेति वाच्यं, तथाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां गुणस्यापि हेतुत्वसिद्धेः। एवं भ्रमं प्रति गुणाभावः कारणमित्यस्यापि सुवचत्वात्।

आलोकः—अप्रमाप्रमयोः कारणमप्रमाहेतोर्दोषस्य स्वरूपञ्चाह परममूले—**दोष** इति। दोषः अप्रमायाः जनकः प्रमायाः तु गुणः भवेत्, दोषः पित्तदूरत्वादिरूपः नानाविधः स्मृत इति। **दोषः** वक्ष्यमाणपित्तादिदोषः। **अप्रमायाः** अयथार्थज्ञानस्य शङ्खे पीतत्वाद्याकारकस्य रज्जौ सर्पाकारादेर्वा। **जनकः** कारणम्। भवतीति। **प्रमायाः** यथार्थज्ञानस्य तद्वति तत्प्रकारकत्वरूपस्य। **तु** तद्विलक्षणम्। **गुणः** विशेषणम्। **जनकः**। **भवेत्**। इति। स्वविशेषणविशिष्टविशेष्यदर्शनादेव प्रमाया उत्पत्तिरिति। **दोषः** दोषपदवाच्यः। **पित्तदूरत्वादिरूपः** पित्तं दूरत्वम्, आदिपदात् तमःविद्युन्मण्डूकवसाञ्जनचाकचिक्यादीनां ग्रहणं तद्रूपः। **नानाविधः** विविधप्रकारकः। **स्मृतः** अभिहित इति। अयथार्थज्ञानमप्रमा सा च पित्तादिदोषादुत्पद्यते। तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमा सा च स्वविशेषणविशिष्टविशेष्यदर्शनादुत्पद्यत इति सारम्।

कारिकां व्याख्याति मूले—**दोष** इति। **अप्रमाम्** अयथार्थज्ञानम्। प्रति। **दोषः** पित्तादिः। **कारणं** हेतुः। **प्रमां** यथार्थज्ञानम्। **प्रति**। **गुणः** विशेषणम्। **कारणं** हेतुः। **तत्रापि** अप्रमाकारणघटकेष्वपि। **पित्तादिरूपाः** पित्तदूरत्वान्धकारतडिन्मण्डूकवसाञ्जनादिरूपाः। **दोषाः**। **अननुगताः** अनुगतकारणतावच्छेदकानवच्छिन्नाः कुत्रचित्कश्चिद्दोषः कारणं, कुत्रचित्तु कश्चिद्दोषः कारणमित्यस्यार्थः। यथा शङ्खगतपीतिमभ्रमे पित्तं चन्द्रमसः स्वल्पतायां दूरत्वं वंशोरगे मण्डूकवसाञ्जनं रज्जौ सर्पमतौ अन्धकारादिविषयगतो भयादिश्च प्रमातृगतो दोष इति दोषाणामनैयत्यमेव भवन्तीति। कथञ्चाननुगतानामपि कारणत्वमित्यपेक्षायामाह—**त्वेषामि**ति। **तेषां** तथाविधाननुगतानामपि दोषाणाम्। **कारणत्वम्** अप्रमां प्रति हेतुत्वम्। **अन्वयव्यतिरेकाभ्यां** दोषसत्त्वेऽप्रमासत्त्वं दोषाभावेऽप्रमाभाव इति अन्वयव्यतिरेकसहचारज्ञानसहकृतेन प्रत्यक्षप्रमाणेन। **सिद्धं** स्पष्टमिति। गुणस्य प्रमाजनकत्वं कथं सिध्यतीत्यत आह—**गुणस्येति**। **गुणस्य** विशेषणस्य। **प्रमाजनकत्वं** यथार्थज्ञानोत्पादकत्वम्। **तु** हि। **अनुमानात्** अनुमानबलात्। **सिद्धं** स्पष्टम्। तदेव दर्शयति—**यथेति**। प्रमा ज्ञानसामान्यकारणभिन्नकारणजन्या जन्यज्ञानत्वादप्रमावत्' इत्यनुमानं यत्र प्रमा पक्षः ज्ञानसामान्यकारणभिन्नकारणजन्यात्वं साध्यं जन्यज्ञानत्वादिति हेतुः अप्रमावदिति दृष्टान्तः। तत्र **प्रमा** यथार्थज्ञानम्। **ज्ञानसामान्यकारणभिन्नकारणजन्या** ज्ञानसामान्यस्य यानि कारणानि इन्द्रियसन्निकर्षादीनि तद्भिन्नानि यानि कारणानि विशेषणविशिष्टविशेष्यसन्निकर्षादीनि। तैर्जन्या उत्पाद्या। **जन्यज्ञानत्वात्**

तस्या **जन्यज्ञानत्वात्** उत्पाद्यज्ञानत्वात् । **अप्रमावत्** यथा अप्रमा भवति । यथा अप्रमा भवति दोषजन्येति प्रत्यक्षसिद्धा तथा हि प्रमाऽपि गुणजन्येत्यनुमानसिद्धेति । अर्थान्तरमाशङ्क्य समाधत्ते —**न चेति** । **न** । **च** हि । **दोषाभावः** पित्तादिदोषशून्यत्वम् । **एव** हि । **कारणं** प्रमाजनकहेतुः । **अस्तु किं गुणैः** । **इति** इत्थम् । **वाच्यम्** । **'पीतशङ्खः'** इति । **ज्ञानस्थले** । **पित्तदोषसत्त्वात्** पित्तदोषोपस्थित्या । **शङ्खत्वप्रमानुत्पत्तिप्रसङ्गात्** शङ्खत्ववद्विशेष्यकशङ्खत्वप्रकारकयथार्थज्ञानानुदयप्रसङ्गात् । **विनिगमनाविरहात्** प्रमायां दोषाभावो गुणो वा कारणमिति एकपक्षपातिन्या युक्तेरभावात् । **अनन्तदोषाभावस्य** असङ्ख्येयदोषरहितत्वस्य । **कारणत्वं** प्रमां प्रति हेतुत्वम् । **अपेक्ष्य** । लाघवदृष्ट्या **गुणस्य** विशेषणस्य । **कारणतायाः** हेतुतायाः । **न्याय्यत्वात्** औचित्यात् लाघवप्रमाणसिद्धत्वात् । पुनराशङ्क्य समाधत्ते —**न चेति** । **न** । **च** हि । **गुणसत्त्वे** शुक्लादिगुणभावे । **अपि च** । **पित्तेन** पित्तदोषेण । **प्रतिबन्धात्** बाधात् । **शङ्खे** । **न** । **श्वैत्यज्ञानं** श्वेतत्वावबोधः । **अतः** हेतोरस्मात् । **पित्तादिदोषाभावानां** पित्तप्रभृतिदोषविरहत्वस्य । **कारणत्वं** प्रमां प्रति हेतुत्वम् । **अवश्यम्** । **वाच्यम्** । **तथा च** एवमेव । **गुणस्य** दोषाभावातिरिक्तगुणस्य । **कल्पनया** विचारेण । **किं कोऽर्थः** । **इति** । वाच्यम् । **तथापि** गुणसत्त्वेऽपि ज्ञानं प्रति दोषस्य प्रतिबन्धकत्वे सत्यपि । **अन्वयव्यतिरेकाभ्यां** पीतरूपवद्वस्त्रादौ पीतरूपात्मकविशेषणवद्विशेष्येन्द्रियसन्निकर्षे सति पीतः पट इति प्रमेत्यन्वयः, तेजोंऽशसुवर्णस्य पीतरूपवत्त्वाभावेन तत्र पीतत्वविशेषणवद्विशेष्येन्द्रियसन्निकर्षात्मकगुणाभावेन पीतत्वप्रकारकप्रमाया अनुत्पत्तिरिति व्यतिरेकश्च ताभ्याम् । **गुणस्य** पीतत्वादेः । **अपि च** । **प्रमायाम्** । **हेतुत्वसिद्धेः** कारणत्वापरिहार्यत्वान्न तेषामन्यथासिद्धत्वमिति । तथामतेऽनिष्टान्तरमप्याह—**एवमिति** । **एवं** निरुक्तप्रकारेण यदि प्रमां प्रति गुणस्येव दोषाभावस्यापि कारणत्वं मन्येत तदा । **भ्रमं** भ्रमात्मकज्ञानं तदभाववद्विशेष्यकतत्प्रकारकनिश्चयम् । **प्रति** । **गुणाभावः** विशेषणवद्विशेष्येन्द्रियसन्निकर्षाऽभावादेः, न तु दोषस्य । **कारणम्** अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुः । **इति** । **अस्य** । **अपि च** । **सुवचत्वात्** कथयितुं सुशकत्वादिति ।

अनुवाद—दोष अप्रमा अर्थात् अयथार्थ ज्ञान का जनक होता है और प्रमा का तो गुण जनक होता है । **दोष इति** । अप्रमा के प्रति दोष कारण होता है और प्रमा के प्रति गुण कारण होता है । उसमें भी पित्त आदि (पित्त, दूरत्व, अन्धकार, बिजली, मण्डूकवसाञ्जन) रूप दोष अननुगत अर्थात् अनियत हैं (कहीं कोई कारण होता है तो कोई कहीं), तथापि उनका अप्रमा के प्रति कारणत्व अन्वय एवं व्यतिरेक से (दोष के रहने पर अप्रमा होती है और न रहने पर नहीं) प्रत्यक्षतः सिद्ध है । गुण का प्रमाजनकत्व तो अनुमान से सिद्ध होता है । जैसे—'प्रमा ज्ञानसामान्यकारणभिन्नकारणजन्या जन्यज्ञानत्वात् अप्रमावत्' ऐसा । न तो दोष का अभाव ही प्रमा का कारण हो, ऐसा कहना ही उचित है, क्योंकि वैसा मानने पर 'पीतः शङ्खः' इत्यादि ज्ञानस्थल में पित्त दोष के होने से शङ्खत्व प्रमा की अनुपपत्ति होगी और प्रमा में दोषाभाव कारण होता है अथवा गुण, इस पर किसी एक पक्ष के निर्णायक युक्ति का अभाव होने से अनन्त दोषाभाव के कारणत्व की अपेक्षा गुण की कारणता लाघव की दृष्टि से उचित

है। न तो शुक्ल आदि गुण के रहने पर भी पित्त के द्वारा प्रतिबन्ध होने से शङ्ख में श्वैत्यज्ञान नहीं होता, अतः प्रमा के प्रति पित्त आदि दोष के अभाव का कारणत्व अवश्य कहना चाहिए और गुण की हेतुकल्पना से क्या लाभ ? ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि शुक्ल आदि गुण के रहने पर भी पित्त के द्वारा प्रमा का प्रतिबन्ध होने पर भी अन्वय एवं व्यतिरेक से प्रमा के प्रति गुण का भी हेतुत्व सिद्ध होता है। इस प्रकार मानने पर भ्रम के प्रति भी गुण का अभाव (न कि दोष) कारण होता है, ऐसा भी कहा जाता है।

पित्तदूरत्वादिरूपो दोषो नानाविधः स्मृतः ॥ १३१ ॥

तत्र दोषाः के ? इत्याकाङ्क्षायामाह—पित्तेति। क्वचित् पीतादिभ्रमे पित्तं दोषः। क्वचिच्चन्द्रादेः स्वल्पपरिमाणभ्रमे दूरत्वं दोषः। क्वचिच्च वंशोरगभ्रमे मण्डूकवसाञ्जनमित्येवंरूपा दोषा अननुगता एव भ्रान्तिजनका इत्यर्थः ॥१३१॥

आलोकः—दोषाः के ? इत्यपेक्षायामाह परममूले—पित्तेत्यादि। दोषः पित्तदूरत्वादिरूपः नानाविधः स्मृतः इति। **दोषः** अप्रमाजनकदोषः। **पित्तदूरत्वादिरूपः** पित्तं चिकित्साशास्त्रप्रसिद्धो दोषविशेषः, तच्च यथा शङ्खे पीतिमभ्रमे। दूरत्वं तच्च दोषो यथा चन्द्रमसः स्वल्पतायाम्, आदिपदात् तमोमण्डूकवसाञ्जनादीनामपि ग्रहणम्, तत्र तमो दोषो यथा रज्जौ या सर्पधीस्तत्र वंशोरगे मण्डूकवसाञ्जनं दोष इति तदादिरूपः। **नानाविधः** अनेकप्रकारकः। **स्मृतः** कथितः। मूले कारिकाशयं विवृणोति विषयनिर्देशपुरःसरं—**तत्रेति**। **तत्र** अप्रमाहेतुकथनप्रसङ्गे। **दोषाः** अप्रमाजनकदोषाः। **के** किंस्वरूपाः। **इति** इत्थम्। **आकाङ्क्षायां** जिज्ञासायाम्। **आह**। **पित्तेति**। **क्वचित्**। **पीतादिभ्रमे** पीतः शङ्ख इत्यादिभ्रमे। नेत्रस्य **पित्तम्**। **दोषः** स्वाश्रयसंयुक्तत्वसम्बन्धेन शङ्खवृत्तिः सन् अप्रमायाः कारण भवतीति। **क्वचित्**। **चन्द्रादेः** महद्गोलकस्यापि स्थालीसमपरिमाणवत्तया **स्वल्पपरिमाणभ्रमे** अपकृष्टमहच्चन्द्र इति प्रत्यक्षभ्रमे। **दूरत्वं** बहुतरमूर्तसंयोगावच्छिन्नत्वम्। **दोषः**। **क्वचित्**। **च** हि। **वंशोरगभ्रमे** वक्रे वंशे उरगभ्रमे। **मण्डूकवसाञ्जनम्**। दोषः। **इति** इत्थम्। **एवंरूपाः** एवम्प्रकाराः। **दोषाः**। **अननुगताः** अनियताः। **एव** हि। **भ्रान्तिजनकाः** भ्रमोत्पादकाः। **इत्यर्थः** इत्याशयः ॥ १३१ ॥

अनुवाद—पित्तदूरत्व आदि रूप दोष अनेक प्रकार के बतलाये गये हैं। उसमें दोष कैसे होते हैं ? ऐसी आकांक्षा में कहते हैं—**पित्तेति**। कहीं पीत आदि भ्रम में पित्त दोष होता है, कहीं चन्द्र आदि के स्वल्प परिमाणभ्रम में दूरत्व दोष होता है, कहीं तो वंश में सर्प के भ्रम में मण्डूक के वसा का अञ्जन दोष होता है, इत्यादि प्रकार के दोष अनियत होते हुए भी भ्रम के कारण होते हैं, ऐसा अर्थ है ॥ १३१ ॥

प्रत्यक्षे तु विशेष्येण विशेषणवता समम्।
सन्निकर्षो गुणस्तु स्यादथ त्वनुमितौ पुनः ॥ १३२ ॥
पक्षे साध्यविशिष्टे तु परामर्शो गुणो भवेत्।
शक्ये सादृश्यबुद्धिस्तु भवेदुपमितौ गुणः ॥ १३३ ॥

शाब्दबोधे योग्यतायास्तात्पर्यस्याथ वा प्रमा।
गुणः स्यात्—

अथ के गुणाः ? इत्याकाङ्क्षायां प्रत्यक्षादौ क्रमशो गुणान् दर्शयति— प्रत्यक्षे त्विति। प्रत्यक्षे विशेषणवद्विशेष्यसन्निकर्षो गुणः। अनुमितौ साध्यवति साध्यव्याप्यवैशिष्टयज्ञानं गुणः। एवमग्रेऽप्यूह्यम् ॥ १३२-१३३ ॥

आलोकः—अथ के गुणाः ? इत्यत आह परममूले—प्रत्यक्षे इति। प्रत्यक्षे तु विशेषणवता विशेष्येण समं सन्निकर्षः तु गुणः स्यात्, अथ अनुमितौ तु पुनः साध्यविशिष्टे पक्षे परामर्शः तु गुणः भवेत्, उपमितौ तु गवये सादृश्यबुद्धिः गुणः भवेत्, शाब्दबोधे योग्यतायाः अथवा तात्पर्यस्य प्रमा गुणः स्यात् इति।

प्रमा हि यथार्थज्ञानं, सा चतुर्विधा—प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात्। तत्र प्रत्यक्षे प्रत्यक्षप्रमायाम्। साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्। प्रमा चेन्द्रियजा साक्षात्कारिणी। तस्याः करणं त्रिविधं—कदाचिदिन्द्रियं, कदाचिदिन्द्रियार्थसन्निकर्षः कदाचिज्ज्ञानं वेति। निर्विकल्पकप्रमायामिन्द्रियं करणं भवति। निर्विकल्पकानन्तरवर्ति विशेषणविशेष्यावगाहि सविकल्पकज्ञानस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षः प्रमाणम्। सविकल्पकज्ञानानन्तरभाविहानोपादानोपेक्षाबुद्धीनां निर्विकल्पकं ज्ञानं करणम्। सविकल्पकज्ञानत्ववान्तरव्यापार एव। इन्द्रियार्थसन्निकर्षः षड्विधः—संयोग-संयुक्तसमवाय-संयुक्तसमवेतसमवाय-समवाय-समवेतसमवाय-विशेष्यविशेषणभावभेदात्। तत्र यदा चक्षुषा घटविषयकं ज्ञानं जन्यते तदा चक्षुरिन्द्रियं घटोऽर्थः, यदा वा मनसा आत्मविषयकं ज्ञानं जन्यतेऽहमिति तदा मन इन्द्रियमात्मार्थः। अनयोः संयोगः सन्निकर्षोऽयुतसिद्धयभावात्। यदा चक्षुषा घटगतरूपादिकं गृह्यते घटे श्यामरूपमस्तीति तदा चक्षुरिन्द्रियं घटरूपमर्थः। अनयोः सन्निकर्षः संयुक्तसमवाय एव, चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्। एवं मनसाऽऽत्मसमवेते सुखादौ गृह्यमाणे च। यदा चक्षुषः घटरूपसमवेतं रूपत्वादिसामान्यं गृह्यते तदा चक्षुरिन्द्रियं रूपत्वादिसामान्यमर्थः। सन्निकर्षोऽनयोः संयुक्तसमवेतसमवायः चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपं समवेतं तत्र रूपत्वस्य समवायात्। यदा श्रोत्रेण शब्दो गृह्यते तदा श्रोत्रमिन्द्रियं शब्दोऽर्थः। अनयोः सन्निकर्षः समवाय एव। श्रोत्रस्याकाशात्मकत्वाच्छब्दस्य चाकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात्। यदा श्रोत्रेण शब्दसमवेतं शब्दत्वादिसामान्यं गृह्यते तदा श्रोत्रमिन्द्रियं शब्दत्वादिसामान्यमर्थः। अनयोः सन्निकर्षः समवेतसमवायः श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्। यदा चक्षुषा संयुक्ते भूतले घटाभावो गृह्यते इह भूतले घटो नास्तीति तदा विशेषणविशेष्यभावः सम्बन्धः। उक्तं हि—

> 'अक्षजा प्रमितिर्द्वेधा सविकल्पाऽविकल्पिका।
> करणं त्रिविधं तस्याः सन्निकर्षस्तु षड्विधः॥
> घट-तन्नील-नीलत्व-शब्द-शब्दत्वजातयः।
> अभावसमवायौ च ग्राह्याः सम्बन्धषट्कतः'॥ इति।

विशेषणवता विशेषणं घटत्वादि तद्वता । **विशेष्येण** घटादिना । **समं** सह । **सन्निकर्षः** चक्षुरादेः संयोगादिर्यः सः । षड्विधः । **तु** । **गुणः** । **स्यादिति** । प्रमां प्रति कारणमिति । **अथ** एतदनन्तरम् । **अनुमितौ** अनुमाप्रमायाम् । **तु** । **पुनः** । **साध्यविशिष्टे** साध्यं वह्न्यादि तद्विशिष्टे तद्युक्ते । **पक्षे** पर्वतादौ । **परामर्शः** व्याप्यवत्ताज्ञानम् । **गुणः** प्रमायाः कारणम् । **भवेदिति** । **उपमितौ** उपमाप्रमायाम् । **तु** । **शक्ये** गवयादौ । **सादृश्यबुद्धिः** गवादिसादृश्यज्ञानम् । **गुणः** कारणम् । **भवेदिति** । **शाब्दबोधे** शाब्दप्रमायाम् । **योग्यतायाः** पदानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावस्य । **अथवा** । **तात्पर्यस्य** वक्तुरभीष्टस्यार्थस्य च । **प्रमा** यथार्थज्ञानम् । **गुणः** प्रमाकारणम् । **स्यादिति** । एवं गुणो हि प्रमायाः कारणं स च प्रत्यक्षप्रमायां विषयेन्द्रियसन्निकर्षः, अनुमाप्रमायां साध्यविशिष्टे पक्षे व्याप्यवत्ताज्ञानमुपमितौ शक्ये सादृश्यधीः, शाब्द्यां तु योग्यताज्ञानं तात्पर्यज्ञानं वेति । मूले विषयनिर्देशपुरस्सरं कारिकां व्याख्याति—**अथेति** । **अथ** । **के** किं स्वरूपाः । **गुणाः** प्रमाकारणानि । **इति** । **आकाङ्क्षायां** जिज्ञासायाम् । **प्रत्यक्षादौ** प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दप्रमायाम् । **क्रमशः** । **गुणान्** । **दर्शयति** स्पष्टयति । **प्रत्यक्षे त्विति** । **प्रत्यक्षे** प्रत्यक्षप्रमायाम् । **विशेषणवद्विशेष्यसन्निकर्षः** विशेषणवता घटत्वादिमता विशेष्येण घटादिना सन्निकर्षः इन्द्रियसंयोगादिः । **गुणः** प्रमाहेतुः । **अनुमितौ** अनुमितिप्रमायाम् । **साध्यवति** साध्यं वह्न्यादि तद्युक्ते पर्वतादौ । **साध्यव्याप्यवैशिष्ट्यज्ञानं** साध्येन वह्न्यादिना व्याप्यं निरूप्यं यद्वैशिष्ट्यं वह्निमानयमित्यादि तस्य ज्ञानम् । **गुणः** । **एवम्** अनेनैव प्रकारेण । **अग्रे** आगामिपक्षे उपमितिप्रमायां शाब्द्याम् । **अपि च** । **ऊह्यं** विचारणीयम् । इति ।

हिन्दी—प्रत्यक्षप्रमा में घटत्व आदि विशेषण से युक्त घट आदि विशेष्य के साथ इन्द्रिय का संयोग गुण होता है । अनुमिति प्रमा में तो फिर वह्नि आदि साध्य से विशिष्ट पर्वत आदि पक्ष में परामर्श अर्थात् व्याप्यवत्ता का ज्ञान गुण होता है । उपमिति में गवय आदि शक्य अर्थ में गौ आदि के सादृश्य का ज्ञान गुण होता है । शाब्दी प्रमा में योग्यता अथवा तात्पर्य का ज्ञान गुण होता है ।

तो गुण कैसे होते हैं ? इस आकांक्षा में प्रत्यक्ष आदि में क्रमशः गुणों का निर्देश करते हैं—**प्रत्यक्षे त्विति** । प्रत्यक्ष प्रमा में विशेषण से युक्त विशेष्य के साथ इन्द्रिय का संयोग आदि गुण होता है । अनुमिति में साध्यवान् (पर्वत) में साध्य से व्याप्य विशेषता का ज्ञान गुण होता है । इसी प्रकार आगे भी जान लेना चाहिए ॥१३२-३३॥

—भ्रमभिन्नं तु ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा ॥ १३४ ॥

प्रमां निरूपयति—भ्रमभिन्नमिति ॥ १३४ ॥

आलोकः—अथ का सा प्रमा ? इत्यपेक्षायां प्रमां निरूपयति परममूले—**भ्रमभिन्नमिति** । अत्र भ्रमभिन्नं ज्ञानं तु प्रमा उच्यते इति । **अत्र** प्रकरणेऽस्मिन् । **भ्रमभिन्नम्** अन्यस्य अन्यथादर्शनं भ्रमस्तद्भिन्नं तदितरमर्थात् तद्वति तत्प्रकारकम् । ज्ञानं बुद्धिः । **प्रमा** यथार्थज्ञानम् । **उच्यते** कथ्यते इति । भ्रमभिन्नत्वे सति ज्ञानत्वं प्रमालक्षणमिति । मूले कारिकाया विषयनिर्देशं करोति—**प्रमामिति** । **प्रमाम्** । **निरूपयति** लक्षयति । भ्रमभिन्नमिति ॥ १३४ ॥

हिन्दी—भ्रम से भिन्न अर्थात् यथार्थ ज्ञान प्रमा है ।। १३४ ।।

अथवा तत्प्रकारं यज्ज्ञानं तद्वद्विशेष्यकम् ।
तत्प्रमा—

ननु यत्र शुक्तिरजतयोरिमे रजते इति ज्ञानं जातं तत्र रजतांशेऽपि प्रमा न स्यात्, तज्ज्ञानस्य भ्रमभिन्नत्वाभावादत आह—अथवेति । तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमेत्यर्थः । अथैवं स्मृतेरपि प्रमात्वं स्यात् । ततः किमिति चेत् तथा सति तत्करणस्यापि प्रमाणान्तरत्वं स्यादिति चेन्न, यथार्थानुभव-करणस्यैव प्रमाणत्वेन विवक्षितत्वात् । इदं तु बोध्यम् । येन सम्बन्धेन यद्वत्ता तेन सम्बन्धेन तद्वद्विशेष्यकत्वं तेन सम्बन्धेन तत्प्रकारकत्वञ्च वाच्यम् । तेन कपालादौ संयोगादिना घटादिज्ञाने नातिव्याप्तिः ।

आलोकः—प्रकारान्तरेण प्रमां निरूपयति परममूले—**अथवेति । अथवा** यदि भ्रमभिन्नत्वे सति ज्ञानत्वं प्रमात्वमिति लक्षणे कृते शुक्तिरजतयोरिमे रजते इत्यादौ रजतांशे प्रमात्मकस्य रजतज्ञानस्यापि शुक्त्यंशे रजतज्ञाने भ्रमरूपेण सम्मिश्रतया भ्रम-भिन्नत्वाभावात्तत्र तस्याव्याप्तिरित्युच्यते चेत्तदोच्यते प्रकारान्तरेण । **तद्विशेष्यकं** घटत्ववद् घटविशेष्यकम् । **तत्प्रकारकं** घटप्रकारकम् । **यद्** । **ज्ञानं** बुद्धिः । **तत्** तादृश-ज्ञानम् । **प्रमा** । इति । उक्तस्थले रजतांशे रजतत्ववद्रजतविशेष्यकरजतत्वप्रकारक-ज्ञानस्य सत्त्वान्न प्रमायारसिद्धिस्तत्रेति । मूले कारिकावतारणाय भूमिकामारचयति—**नन्विति । ननु । यत्र शुक्तिरजतयोः** रङ्गरजतयोः । **इमे रजते । इति** इत्थम् । **ज्ञानं** भ्रमाऽभ्रमात्मकं ज्ञानम् । **जातम्** । **तत्र** तादृशस्थले । **तज्ज्ञानस्य** इमे रजते इति ज्ञानस्य । **भ्रमभिन्नत्वाभावात्** रजतत्वाभाववच्छुक्तिविशेष्यकरजतत्वप्रकारकज्ञानभिन्नज्ञानत्वा-भावात् । **रजतांशे** शुक्तिविषयकत्वावच्छेदेन यथा रजतत्वप्रमात्वशून्यं तथा रजतविषय-कत्वावच्छेदेन रजतांशे । अपि च । **प्रमा** यथार्थज्ञानम् । **न** । **स्यात्** । **अतः** हेतोः । **आह** कथयति । **अथवेति** । **तद्वद्विशेष्यकत्वे** घटत्ववद्घटविशेष्यकत्वे । **सति** । **तत्प्रकारकं** घटत्वप्रकारकम् । **ज्ञानम्** । **प्रमा** । **इति** । **अर्थः** कारिकांशाशयः । लक्षणे सप्तम्या अव-च्छिन्नार्थकत्वेन तद्वद्विशेष्यकत्वावच्छिन्नतत्प्रकारकत्ववज्ज्ञानं प्रमेति सारम् । अत्र तत्प्रकारकभ्रमेऽतिव्याप्तिवारणाय तद्वद्विशेष्यकेति । इच्छायामतिव्याप्तिवारणाय ज्ञान-पदम् । **अथ** इति संशये । **एवं** निरुक्तलक्षणस्वीकारे । **स्मृतेः** संस्कारजन्यज्ञानस्य । अपि च । **प्रमात्वं** प्रमास्वरूपम् । **स्यात्** आपतेत् । **ततः** स्मृतावतिव्याप्तावपि । **किं** का हानिः । **इति** । **चेत्** । **तथा सति** स्मृतौ लक्षणस्यातिव्याप्तौ । **तत्करणस्य** संस्कारस्य पूर्वानुभवरूपस्य । यथा प्रत्यक्षप्रमायाश्चक्षुरादि अनुमितेर्व्याप्तिज्ञानमुपमितेः सादृश्यज्ञानं शाब्द्याः पदज्ञानं करणं तथैव स्मृतिरूपप्रमाया अपि पूर्वानुभवः संस्कारो वा करणं तस्य । **प्रमाणान्तरत्वं** प्रत्यक्षादिप्रमाणचतुष्टयभिन्नप्रमाणत्वम् । **स्यात्** । **इति** । **चेत्** । **न** न समीचीनम् । **यथार्थानुभवकरणस्य** यथार्थानुभवे यत्करणं तस्य । **एव** हि । **प्रमाण-**

त्वेन प्रमाणरूपेण । **विवक्षितत्वाद्** गृहीतत्वादिति । वस्तुतस्तु यथार्थानुभवः प्रमा प्रमाकरणञ्च प्रमाणम् । स्मृतिस्तु न यथार्थानुभवस्वरूपा किन्तु सा संस्कारजन्येति प्रमासंस्कारजन्या यथार्था, अप्रमासंस्कारजन्या अयथार्था इति न तस्याः करणान्तरमिति । निरुक्तस्पष्टीकरणायाह—**इदमित्यादि** । इदं वक्ष्यमाणतथ्यम् । **तु** हि । **बोध्यं** ज्ञेयम् । यस्य पदार्थस्य **येन सम्बन्धेन** यत्सम्बन्धावच्छेदेन । **यद्वत्ता** यद्धर्मनिष्ठाधेयतानिरूपिताधिकरणत्ववत्ता । भासते इति । **तेन सम्बन्धेन** तत्सम्बन्धावच्छेदेनैव । **तद्वद्विशेष्यकत्वं** तद्धर्मविशिष्टविशेष्यकत्वम् । **तेन सम्बन्धेन** । एव । **तत्प्रकारकत्वं** तद्धर्मविशेषणवत्त्वम् । **वाच्यं** प्रमालक्षणे कथनीयम् । **तेन** हेतुना । **कपालादौ** घटावयवभूतकपालादौ । **संयोगादिना** । **घटादिज्ञाने** 'संयोगेन कपालवन्तौ घटौ' इत्याकारकभ्रमज्ञाने । **न** । प्रमालक्षणस्य निरुक्तस्य । **अतिव्याप्तिः** इति । तत्र समवायसम्बन्धस्यैव तद्धर्मवत्तावच्छेदकत्वादिति ।

हिन्दी—अथवा तद्वद्विशेष्यक (उस धर्म से विशिष्ट विशेष्य वाला—घटत्व से युक्त घट है विशेष्य जिसका, ऐसा) तत्प्रकारक (घटत्वप्रकारक) जो ज्ञान है, वह प्रमा है ।

जहाँ शुक्ति एवं रजत में 'ये रजत हैं' इत्यादि ज्ञान होता है वहाँ रजत के अंश में भी प्रमा नहीं होगी, क्योंकि उस ज्ञान में भ्रमभिन्नत्व का अभाव है, इसलिए कहते हैं—**अथवेति** । तद्वद्विशेष्यकत्व (घटत्ववद्घटविशेष्यकत्व) के रहने पर तत्प्रकारक (घटत्वप्रकार का) ज्ञान प्रमा है, ऐसा अर्थ है । इस प्रकार मानने पर भी स्मृति का भी प्रमात्व बन जायेगा । तो इसमें क्या हानि है ? वैसा होने पर उस (स्मृति) के करण का भी प्रमाणान्तरत्व हो जायेगा, ऐसा कहा जाय तो ठीक नहीं है, यथार्थानुभव का करण ही प्रमाण के रूप में विवक्षित होता है । (स्मृति यथार्थानुभवस्वरूप नहीं है, अतः उसके करण का पृथक् प्रामाण्य भी नहीं होता) । यह तो जान लेना चाहिए कि जिस सम्बन्ध से जो धर्मवत्ता है उसी सम्बन्ध से तद्वद्विशेष्यकत्व, उसी सम्बन्ध से ही तत्प्रकारकत्व भी प्रमा के लक्षण में कहना चाहिए । इस कारण कपाल आदि में संयोग आदि से घट आदि के ज्ञान में भी उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि वहाँ समवायसम्बन्ध का ही तद्धर्मवत्तावच्छेदकत्व होता है ।

—न प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम् ॥ १३५ ॥

प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धानवगाहि तत् ।

एवं सति निर्विकल्पकं प्रमा न स्यात्, तस्य सप्रकारकत्वाभावादत आह—न प्रमेति । ननु वृक्षे कपिसंयोगज्ञानं भ्रमः प्रमा च स्यादिति चेन्न, प्रतियोगिव्यधिकरणसंयोगाभाववति संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वात् । न च वृक्षे कपिसंयोगाभावावच्छेदेन सयोगज्ञानं भ्रमो न स्यात्तत्र संयोगाभावस्य प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वादिति वाच्यं, तत्र संयोगाभावावच्छेदेन संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वात् । लक्ष्यस्याननुगमाल्लक्षणाननुगमेऽपि न क्षतिः ॥ १३५ ॥

आलोकः—अथ प्रमायाः सप्रकारकत्वनियमात् निष्प्रकारकस्य निर्विकल्पकज्ञानस्य कथं तत्त्वमित्यपेक्षायां निर्विकल्पकस्वरूपमाह परममूले—**न प्रमेति**। निर्विकल्पकं (ज्ञानं) न प्रमा न भ्रमः अपि तत् हि प्रकारतादिशून्यं सम्बन्धानवगाहि चेति। **निर्विकल्पकं** वैशिष्ट्यानवगाहि ज्ञानम्। **न**। **प्रमा** यथार्थज्ञानम्। **न**। **भ्रमः** अयथार्थज्ञानम्। **अपि**। **तत्** निर्विकल्पकज्ञानम्। **हि**। **प्रकारतादिशून्यं** प्रकारता विशेष्यविशेषणभावः निरूपकतासम्बन्धेन विशेषणताविषयता प्रकारता, आदिपदात् तेनैव सम्बन्धेन विशेष्यता विषयता च ताभ्यां शून्यं रहितम्। **सम्बन्धानवगाहि** सम्बन्धो निरूपकतासम्बन्धेन संसर्गताख्यविषयता तस्यानवगाहि अपरामर्शः निरूपकतासम्बन्धेन विशेषणताऽऽख्यविषयताशून्यं, तेनैव सम्बन्धेन विशेष्यताऽऽख्यविषयताशून्यं तेनैव सम्बन्धेन संसर्गताऽऽख्यविषयतानवगाहि च ज्ञानं निर्विकल्पकमिति भावः। प्रसङ्गनिर्देशपुरस्सरं कारिकां व्याख्याति मूले—**एवमिति**। **एवं सति** तद्वद्विशेष्यकतत्प्रकारज्ञानस्य प्रमात्वे सति। **निर्विकल्पकं** वैशिष्ट्यानवगाहि ज्ञानम्। **प्रमा** यथार्थज्ञानम्। **न**। **स्यात्**। **तस्य** निर्विकल्पकज्ञानस्य। **सप्रकारकत्वाभावात्** प्रकारतानिरूपकत्वशून्यत्वात्। **अतः** हेतोः। **आह**। **न प्रमेति**। अथ प्रासङ्गिकमाशङ्क्य समाधत्ते—**नन्विति**। **ननु**। **वृक्षे**। **कपिसंयोगज्ञानं** 'वृक्षः कपिसंयोगी' इत्याकारकं ज्ञानम्। **भ्रमः** अयथार्थं मूलावच्छेदेन तदभावात्। **प्रमा** यथार्थज्ञानं शाखावच्छेदेन तद्भावात्। **च**। **स्यात्**। **इति**। **चेत्**। **न** **प्रतियोगिव्यधिकरणसंयोगाभाववति** प्रतियोगिनः व्यधिकरणं विरुद्धमधिकरणं यस्य स प्रतियोगिव्यधिकरणः स चासौ संयोगस्तदभाववति। **संयोगज्ञानस्य** कपिसंयोगज्ञानस्य। **भ्रमत्वात्** अयथार्थत्वात्। यस्मिन् वृक्षे प्रतियोगिव्यधिकरणत्वेन कपिसंयोगाभावस्तस्मिन् संयोगाभाववति वृक्षे एव संयोगज्ञानं भ्रम एवेति। कपिसंयोगानधिकरणं यत्कपिसंयोगाभाववत् तद्विशेष्यककपिसंयोगप्रकारकज्ञानस्यैव कपिसंयोगभ्रमत्वस्वीकारादिति भावः। **न**। **च** **हि**। **वृक्षे**। **कपिसंयोगाभावावच्छेदेन** मूलावच्छेदेन। **संयोगज्ञानं** कपिसंयोगज्ञानम्। **भ्रमः** कपिसंयोगभ्रमलक्षणलक्षितम्। **न**। **स्यात्**। **तत्र** **वृक्षे**। **संयोगाभावस्य** वृक्षवृत्तिकपिसंयोगाभावस्य। **प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वात्** कपिसंयोगसमानाधिकरणत्वात् वृक्षस्य कपिसंयोगाभावनिष्ठकपिसंयोगसामानाधिकरण्यनिरूपकत्वादिति। **वाच्यम्**। **तत्र** **वृक्षे**। **संयोगाभावावच्छेदेन** कपिसंयोगाभावावच्छेदकावच्छेदेन अर्थात् कपिसंयोगानवच्छेदकदेशावच्छेदेनेति। **संयोगज्ञानस्य** कपिसंयोगप्रकारकज्ञानत्वावच्छिन्नस्य। **भ्रमत्वात्** कपिसंयोगभ्रमपदार्थत्वात्। एवञ्च तद्वति तद्विशेष्यक-तदनवच्छेदकावच्छेद्यतत्प्रकारकज्ञानत्वस्यैव तद्विशेष्यकतत्प्रकारकभ्रमलक्षणस्वीकारात् वृक्षविशेष्यकमूलावच्छेद्यकपिसंयोगप्रकारके मूले वृक्षः कपिसंयोगीति भ्रमेऽपि तादृशलक्षणसत्त्वान्नाव्याप्तिरिति। एवमव्याप्यवृत्तिधर्मान्तरप्रकारकभ्रममात्रेऽपि निरुक्तलक्षणमेव स्वीकार्यमिति। इत्थं व्याप्यवृत्तिधर्मप्रकारकभ्रमस्यैकविध लक्षणमव्याप्यवृत्तिधर्मप्रकारकभ्रमस्यान्यविधं लक्षणमिति लक्षणबाहुल्येन कथं तदनुगमः? इत्यत आह—**लक्ष्यस्येति**। **लक्ष्यस्य** व्याप्याव्याप्यवृत्तिधर्मप्रकारकभ्रमस्य। **अननुगमात्** विभिन्नरूपेण स्वीकारात्। **लक्षणस्य**। **अननुगमे अपि** विभिन्नरूपेण लक्षणत्वेऽपि। **न क्षतिः** अव्याप्तिरिति। अत्र हि

व्याप्यवृत्तिधर्मप्रकारकभ्रमलक्षणं निरुक्तमेव ज्ञेयम् । अव्याप्यवृत्तिधर्मप्रकारकभ्रमस्य तु तदनवच्छेदकावच्छेद्यविशेष्यकज्ञानीयतन्निष्ठप्रकारताकत्वमिति ग्राह्यम् ॥ १३५ ॥

हिन्दी—निर्विकल्पक ज्ञान न तो प्रमा है न तो भ्रम ही है, वह तो प्रकारता आदि से शून्य एवं सम्बन्ध का अनवगाही (अपरामर्शी) होता है।

इस प्रकार मानने पर निर्विकल्पक प्रमा नहीं होता है, क्योंकि उसमें सप्रकारकत्व का अभाव होता है। इस पर कहते हैं—**न प्रमेति**। वृक्ष में कपिसंयोग का ज्ञान भ्रम भी है और प्रमा भी (शाखावच्छेदेन प्रमा है और मूलावच्छेदेन भ्रम भी) ऐसा कहा जाय तो ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतियोगी का व्यधिकरण जो संयोगाभाव है, उससे युक्त वृक्ष में संयोग का ज्ञान भ्रमात्मक होता है। न तो वृक्ष में मूलावच्छेद से संयोग ज्ञान भ्रम नहीं है, क्योंकि वहाँ संयोगाभाव का प्रतियोगिसामानाधिकरण्य होता है, ऐसा भी कहना ठीक है, क्योंकि वहाँ संयोगाभाव के अवच्छेद से संयोगज्ञान भ्रमात्मक होता है। इस प्रकार व्याप्यवृत्ति धर्म वाले एवं अव्याप्यवृत्ति धर्म वाले भ्रम में पृथक्-पृथक् लक्षण मानने पर भ्रम के अनन्त लक्षण हो जायें तो हों। जहाँ लक्ष्य का ही अनुगम नहीं है, वहाँ लक्षण के अननुगम की भी कोई हानि अर्थात् अव्याप्ति नहीं होती।

अथ प्रमाण्यवादः

प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यं संशयानुपपत्तितः ॥ १३६ ॥

प्रमात्वमिति। मीमांसका हि प्रमात्वं स्वतो ग्राह्यमिति वदन्ति। तत्र गुरूणां मते ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वात्तज्ज्ञानप्रामाण्यं तेनैव गृह्यते इति। भट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियम्। ज्ञानजन्या ज्ञातता प्रत्यक्षा तथा च ज्ञानमनुमीयते। मुरारिमिश्राणां मतेऽनुव्यवसायेन ज्ञानं गृह्यते। सर्वेषामपि मते तज्ज्ञानविषयकज्ञानेन तज्ज्ञानप्रामाण्यं गृह्यते। विषयनिरूप्यं हि ज्ञानम्। अतो ज्ञानवित्तिवेद्यो विषयः। तन्मतं दूषयति—न स्वतो ग्राह्यमिति। संशयेति। यदि ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यं स्यात् तदाऽनभ्यासदशोत्पन्नज्ञाने प्रामाण्यसंशयो न स्यात्। तत्र हि यदि ज्ञानं ज्ञातं तदा त्वन्मते प्रामाण्यं ज्ञातमेवेति कथं संशयः ? यदि तु ज्ञानं न ज्ञातं तदा धर्मिज्ञानाभावात्कथं संशयः ? तस्माज्ज्ञाने प्रामाण्यमनुमेयम्। तथाहि—इदं ज्ञानं प्रमा संवादिप्रवृत्तिजनकत्वात्। यन्नैवं तन्नैवं यथाऽप्रमा। इदं पृथिवीत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा गन्धवति पृथिवीत्वप्रकारकज्ञानत्वात्। एवमिदं जलत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा स्नेहवति जलत्वप्रकारकज्ञानत्वात्। न च हेतुज्ञानं कथं जातमिति वाच्यं, पृथिवीत्वप्रकारकत्वस्य स्वतो ग्राह्यत्वात्। तत्र गन्धग्रहेण गन्धवद्विशेष्यकत्वस्यापि सुग्रहत्वात्। तत्प्रकारकत्वावच्छिन्नतद्विशेष्यकत्वं परं न गृह्यते संशयानुरोधात्।

आलोकः—प्रामाण्यविषये परमतनिरसनपूर्वकं स्वमतमुपन्यस्यति परममूले—**प्रमात्वमिति**। प्रमात्वं संशयानुपपत्तितः स्वतः न ग्राह्यमिति। **प्रमात्वं** ज्ञाननिष्ठतद्व-

द्विशेष्यकत्वावच्छिन्नतत्प्रकारकत्वम् । **संशयानुपपत्तितः** संशयस्य अनभ्यासदशायां दूरावलोकिते जले सति जलज्ञानं प्रमा न वेति अनुभवसिद्धस्यापि प्रमात्वसंशयस्य अनुपपत्तितः असिद्धेः अनुव्यवसायेन प्रामाण्यस्य निश्चितत्वात् । **न । स्वतोग्राह्यं** स्वस्मादेव ज्ञानात् आत्मन एवात्मीयादेव ज्ञानसामान्यहेत्वधीनत्वेनैव ग्राह्यं स्वीकार्यमपितु परतः अनुमानादिना ज्ञानसामान्यहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनत्वेन ग्राह्यमिति । प्रमात्वविषये हि प्रस्थानानि वैमत्यं भजन्ते । यथोक्तम्—

> 'प्रमाणत्वेऽप्रमाणत्वे स्वतः साङ्ख्याः समाश्रिताः ।
> नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः ॥
> प्रथमं परतस्त्वाहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः ।
> प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम् ॥'

यथा हि साङ्ख्याः प्रमात्वमप्रमात्वञ्च स्वतोग्राह्यं मन्यन्ते, नैयायिकास्तूभयमेव परतोग्राह्यम् । सौगतास्तु प्रमात्वं परतोग्राह्यमप्रमात्वं तु स्वतोग्राह्यं यदा मीमांसकाः प्रमात्वं स्वतोग्राह्यमप्रमात्वं परतोग्राह्यमिति । तत्र कारिकाकृत्स्वाभीष्टमतमुपन्यस्यति यत्प्रमात्वं हि न स्वतोग्राह्यं तथा सति अनभ्यासदशाया संशयस्यानुपपत्तिर्न स्यान्न चानुव्यवसायाभावात्प्रामाण्यनिश्चयश्चेति एवमप्रमात्वमपि परत एव ग्राह्यमिति भावः । 'अप्रमा च प्रमा चे'ति उद्देशक्रमेण तु प्रथममप्रमात्वस्य परतोग्राह्यत्वसिद्धान्तव्यवस्थापनमुचितं तथापि गुरुमतेऽप्रमात्वस्याऽलीकत्वात्प्रथमं प्रमात्वस्य परतोग्राह्यत्वं व्यवस्थापितमत्र । कारिकाशयोपन्यासाय प्रतीकमादत्ते—**प्रमात्वमिति** मूले । खण्डनायादौ मीमांसकमतमुद्धरति—**मीमांसका** इति । **मीमांसकाः** मीमांसाशास्त्रानुयायिनः कुमारिलप्रभाकरमुरारिप्रभृतयः । **हि । प्रमात्वम् । स्वतोग्राह्यं** ज्ञानगतप्रामाण्यमिति स्वस्माद् ज्ञानादेव ग्राह्यम् । अप्रमात्वमेव परतोग्राह्यमिति । वदन्ति । तत्रापि तेष्वपि यत्किञ्चिद् वैलक्षण्यं तद्दर्शयति—**तत्रेति** । **तत्र** तेष्वपि । **गुरूणां** गुरुः प्रभाकरमिश्रः बहुवचनमादरार्थम् । **मते** पक्षे । **ज्ञानस्य । स्वप्रकाशत्वात्** स्वस्य आत्मनः प्रकाशकत्वाद् यथा ज्ञानं घटाद्यर्थं विषयीकरोति तथैव स्वमर्यादात्मानमपि प्रकाशयति विषयीकरोतीति तत्त्वात् । **तज्ज्ञानप्रामाण्यं** तस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वनिष्ठः प्रमात्वधर्मः स्वनिष्ठज्ञानत्वादिवत् । **तेन** ज्ञानेन स्वेन । **एव हि । गृह्यते** प्रकाश्यते । **इति** । एतन्मते सर्वस्मिन्नेव ज्ञाने मितिमातृमेयैतत्त्रयं भासते । तन्मते घटत्वेन घटमहं जानामि इत्याकारक एव व्यवसायः, स च स्वयम्प्रकाशः तेनैव च स्वगतप्रामाण्यग्रह इति ।

तस्यायमाशयः - ज्ञानानुमानं हि नार्थसत्तामात्रेण भवितुमर्हति, तस्य तदविनाभावनियमाभावात् युधिष्ठिराद्यर्थाभावेऽपि ज्ञानं परं वर्तत एव । अथार्थज्ञानं लिङ्गमित्युच्यते, तदपि नोत्पत्तिमात्रेण लिङ्गमनवभासमानेऽप्युत्पन्नानुत्पन्नयोरविशेषात् । न ह्यनवभासमानं लिङ्गमनुमापकं भवति । न चार्थज्ञानस्य ज्ञानान्तराधीनमवभासनम्, ज्ञानान्तरानवगमादुक्तरीत्यानवस्थापनात् । तस्मादर्थज्ञानं स्वयम्प्रकाशमेवाभ्युपगन्तव्यम् । इति ।

भट्टानां भट्टः कुमारिलः बहुवचनमादरार्थम् । **मते** । **ज्ञानं** पर्वविधमेव ज्ञानम् । **अतीन्द्रियम्** इन्द्रियागोचरः । **ज्ञानजन्या** ज्ञानोत्पाद्या । **ज्ञातता** ज्ञातो घट इत्याकारकप्रतीतिसिद्धः घटादिविषयनिष्ठो धर्मविशेषः । **प्रत्यक्षा** इन्द्रियगोचरः । **तथा च** एवमेव । **ज्ञानम्** । **अनुमीयते** । तत्प्रकारश्च यथा—'इयं घटनिष्ठा ज्ञातता घटत्ववद्विशेष्यकघटत्वप्रकारकज्ञानजन्या घटवृत्तिघटत्वप्रकारकज्ञाततावत्त्वात्' इति । या यद्वृत्तियंत्प्रकारिका च ज्ञातता सा तद्वद्विशेष्यकतत्प्रकारकज्ञानसाध्या, यथा पटे पटत्वप्रकारिका ज्ञाततेति प्रतिबन्धसिद्धिः । तथा च येन ज्ञातता लिङ्गेनानुमानेन ज्ञानं गृहीतं तेनैव तत्प्रामाण्यस्यापि ग्रह इति तत्प्रामाण्यस्वतस्त्वम् । उक्तं यथा—

'आत्मवाची स्वशब्दोऽयं स्वतो भाति प्रमाणता ।
अर्थस्य च तथाभावः प्रामाण्यमभिधीयते' ॥ इति ।

यथोक्तम्—

'बुद्धेः स्वीयं प्रमाणत्वं स्वत एवावगम्यते ।
परतश्चाप्रमाणत्वं दोषबाधकबोधतः' ॥ इति ।

मुरारिमिश्राणां मुरारिमिश्रो हि मीमांसको यस्य भट्टप्रभाकराधिकृतमार्गविलक्षणः पन्था प्रसिद्धः मुरारेस्तृतीयः पन्थेति । आदरार्थं बहुवचनम् । **मते** । **अनुव्यवसायेन** अनुव्यवसायः घटोऽयमिति ज्ञानानन्तरं घटत्वेन घटमहं जानामीति ज्ञानविषयकमलौकिकभानं तेन । **ज्ञानम्** । **गृह्यते** प्रमाणीक्रियत इति । स्वतःप्रामाण्यवादिनां मतं समीकरोति—**सर्वेषामिति** । **सर्वेषां** पूर्वोक्तानामेषामन्येषाञ्च ज्ञानस्य स्वतःप्रामाण्यवादिनाम् । **अपि च** । **मते** । **तज्ज्ञानविषयकज्ञानेन** अनुव्यवसायात्मकेन ज्ञानेन । **तज्ज्ञानप्रामाण्यं** व्यवसायात्मकज्ञाननिष्ठं प्रमात्वम् । **गृह्यते** । ज्ञानज्ञानस्य विषयाविषयकत्वात् कथं तस्य विषये विषयघटितप्रामाण्यमित्यत आह—**विषयेति** । **ज्ञानम्** । **हि** । **विषयनिरूप्यं** विषयेन घटादिना निरूप्यं निर्द्धारणीयम् । **अतः** हेतोरस्मात् । **विषयः** घटादिः । **ज्ञानवित्तिवेद्यः** ज्ञानस्य वित्तिर्ज्ञानं तया वेद्यो ज्ञेय इति । न हि ज्ञानं निर्विषयं भवतीति सारम् । अनुमितिश्चात्रेत्थम्—ज्ञानं सविषयं प्रकाशकत्वाद् दीपवदिति । कारिकांशविषयं निर्दिशति—**तन्मतमिति** । **तन्मतं** तेषां प्रमात्वस्य स्वतःप्रामाण्यवादिनां मतम् । **दूषयति** युक्त्या निरस्यति—**न स्वतो ग्राह्यमिति** । तत्र युक्तिं निर्दिशति—**संशयेति** । **संशयानुपपत्तितः** इति । तदेव व्याख्याति—**यदीति** । **यदि** । **ज्ञानस्य** बुद्धेः । **प्रामाण्यम्** । **स्वतोग्राह्यं** निरुक्तप्रकारेण ज्ञानेनैव ग्राह्यम् । **स्यात्** सम्भवेत् । **तदा** । **अनभ्यासदशोत्पन्नज्ञाने** अनभ्यासदशायामनवधृतदशायामुत्पन्नं जातं यज्ज्ञानं तत्र । **प्रामाण्यसंशयः** प्रामाण्ये संशयः । **न** । **स्यात्** सम्भवेत् । प्रथमजलज्ञानोत्तरदशायां दूरावलोकिते जले सति जलज्ञानं प्रमा न वेति अनुभवसिद्धः प्रामाण्यसंशयो नोत्पद्येतेति । तत्रानुव्यवसायेन प्रामाण्यस्य निश्चितत्वादिति । **तत्र** तादृशस्थले । **हि** । **यदि** । **ज्ञानं** जलादिज्ञानम् । **ज्ञातमवबुद्धम्** । **तदा** तदवस्थायाम् । **त्वन्मते** तव ज्ञानस्य स्वतःप्रामाण्यवादिनां मते नये । **प्रामाण्यं** सत्यत्वम् । **ज्ञातमवबुद्धम्** । **एव** । **इति** हेतोः । **कथं** केन विधिना । **संशयः** प्रामाण्यं वा न वेति समूहः । पक्षान्तरे **यदि** । **तु** । **ज्ञानम्** । **न** । **ज्ञातम्** अव-

बुद्धम् । तदा तदवस्थायाम् । अपि । **धर्मिज्ञानाभावात्** धर्मिज्ञानस्य संशयकारणस्य अभावात् धर्मितावच्छेदकप्रकारकज्ञानाभावादिति । **कथम्** । **संशयः** किञ्च संशयो नाम एकस्मिन् धर्मिणि अनेकधर्मावगाहि ज्ञानमेव । यदा धर्मी एव न ज्ञातस्तदा कथं संशयस्तत्र । न च तथा का हानिरिति वाच्यं, तस्यानुभवसिद्धत्वेनापलपितुमशक्यत्वात् ।

स्वाभीष्टं पर्यवसितमाह—**तस्मा**दिति । **तस्मात्** ज्ञानस्य स्वतःप्रामाण्ये संशयानुपपत्त्या तस्य परतःप्रामाण्यसिद्धेः । **ज्ञाने** । **प्रामाण्यं** सत्यत्वम् । **अनुमेयम्** अनुमाविषयः । इति । अनुमानप्रकारं दर्शयितुमाह—**तथाहीति** । **तथाहि** इति निदर्शने । **इदं** मया ज्ञातम् । **ज्ञानम्** । इति पक्षः तद्व्यक्तित्वेन प्राथमिकघटादिज्ञानं पक्षः । **इद**मिति तद्व्यक्तित्वेन पक्षतालाभाय । **प्रमा** प्रमात्ववत् साध्यम् । घटत्वादिनिष्ठप्रकारतानिरूपितसमवायादिनिष्ठसंसर्गतानिरूपितघटनिष्ठविशेष्यतानिरूपकज्ञानत्वमिति । **संवादिप्रवृत्तिजनकत्वात्** इति हेतुः संवादिनी अनुकूला समर्था सफला वा या प्रवृत्तिस्तस्याः जनकत्वादुत्पादकत्वात् । यन्नैवं तन्नैवं यथा अप्रमा इति दृष्टान्तो व्यतिरेकी । यत्र साध्यं नास्ति तत्र हेतुर्नास्ति, यथा शुक्तौ इदं रजतमिति अप्रमा इत्यर्थः । एवं द्वितीयादिघटादिज्ञानेषु तु पूर्वज्ञानसजातीयत्वात्मकलिङ्गेन प्रमात्वमनुमेयं, यथा द्वितीयादिघटज्ञानं प्रमा प्रथमप्रमात्मकघटज्ञानसजातीयत्वात् प्रथमज्ञानवदिति । साजात्यं समर्थप्रवृत्तिजनकत्वेन धर्मेण । मीमांसकानां तद्विषयकप्रवृत्तिं प्रति तद्विषयकज्ञाननिष्ठप्रामाण्यनिश्चयः कारणमिति कार्यकारणभावो व्यभिचरित एव प्रवृत्तिहेतुना प्रामाण्यस्य निश्चितत्वात् । न्यायमते प्रवृत्तिं प्रति इष्टसाधनताज्ञानस्य कारणत्वे तादृशज्ञानासत्त्वेऽपि यत्र ग्रीष्मोत्तरप्राथमिकवृष्टिमत्पृथिव्यामनापत्त्या 'गन्धवती पृथिवी' इति प्रत्यक्षं जातं तत्र ज्ञाने तादृशसमर्थप्रवृत्तिजनकत्वहेतोरभावात्कथं प्रमात्वनिर्णयः ? इत्याकाङ्क्षायामाह—**इदमिति** । इदं तद्व्यक्तित्वेन पृथिवीत्वप्रकारकज्ञानस्य पक्षतालाभाय पदमिदम् । **इदं पृथिवीत्वप्रकारकं ज्ञानमिति** पक्षः । **प्रमा** इति साध्यम् । **गन्धवति पृथिवीत्वप्रकारकज्ञानत्वात्** इति हेतुः । गन्धवन्निष्ठविशेष्यतानिरूपितपृथिवीत्वनिष्ठप्रकारताकज्ञानत्ववत्वादित्यस्यार्थः । अस्याऽयं पक्षः । ननु प्रामाण्यस्य स्वतोग्राह्यत्वानङ्गीकारे लौकिकसन्निकर्षवशाद् गन्धवती पृथिवीत्याकारकगन्धवद्विशेष्यकपृथिवीत्वप्रकारकनिर्णयानन्तरकालीन-गन्धवति पृथिवीत्वं जानामीत्यनुव्यवसायोत्तरमपि निरुक्तव्यवसाये कथं न पृथिवीत्वप्रमात्वसंशयः कारणीभूतकोटिद्वयोपस्थितिसत्त्वात्तवमते पृथिवीत्वप्रमात्वस्यानुव्यवसायाविषयत्वात् पुरोवृत्तिपदार्थे इष्टसाधनताज्ञानाधीनप्रवृत्त्युत्पत्तेः पूर्वं प्रवृत्तौ विषयलाभाधीनसंवादित्वनिर्णयाभावात् पक्षे तादृशप्रवृत्तिजनकत्वहेतोरनिर्णीतत्वेनानुमानग्राह्यत्वाभावाच्चेति य आक्षेपः तत्परिहारायोक्तम्—**इदं पृथिवीत्वप्रकारकमिति** । अत्र पृथिवीत्वप्रमात्वेन निर्णीतज्ञानानन्तरं दृष्टान्तो बोध्यः । गन्धवन्निष्ठज्ञानीयविशेष्यतानिरूपितपृथिवीत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपकत्वात् स्वाश्रयनिरूपितगन्धवन्निष्ठविशेष्यतानिरूपितपृथिवीत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपकत्वसम्बन्धेन ज्ञानत्ववत्त्वान्न विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहप्रयुक्तो गौरवावकाशी न वा हेतुतावच्छेदकसम्बन्धाप्रसिद्धिरित्यादि प्रभादौ स्पष्टम् । अनयैव दिशा तद्धर्मव्याप्यधर्मावच्छिन्न-

विशेष्यताकतत्प्रकारकज्ञानमात्रे प्रामाण्यमनुमेयमिति। एवम् इत्थमेव। **इदं जलत्व-प्रकारकं ज्ञानम्** । इति पक्षः। **प्रमा** इति साध्यम्। **स्नेहवति जलत्वप्रकारकज्ञानत्वात्** इति हेतुः। तत्र स्वरूपासिद्धिमाशङ्क्य समाधत्ते—**न चेति**। न। **च हि**। **हेतुज्ञानं पक्षे** हेतुनिर्णयः, गन्धवति पृथिवीत्वप्रकारकज्ञानत्वात्मकादिहेतोः निर्णयः। **कथं केन प्रयोजकेन**। **जातं** प्रागेव सम्पन्नमपितु न केनाऽपि तेन पक्षवृत्तितया हेतुनिर्णयाभावात् निरुक्तानुमितिर्नोपपद्यते। **इति** इत्थम्। **वाच्यं** कथनीयम्। **पृथिवीत्वप्रकारकत्वस्य** पृथिवीत्वप्रकारावगाहिनो ज्ञाननिष्ठधर्मस्य। **स्वतोग्राह्यत्वात्** अनुव्यवसायवेद्यत्वात्। **तत्र** पृथिव्याम्। **गन्धग्रहेण** गन्धप्रत्यक्षेण। **गन्धवद्विशेष्यकत्वस्य** तन्निष्ठगन्धवद्विशेष्य-कत्वस्य। **सुग्रहत्वात्** अनुव्यवसायविषयत्वात्। तथा च पक्षे हेतुनिर्णयान्न प्रमात्वानु-मित्यनुपपत्तिः। **तत्प्रकारत्वावच्छिन्नतद्वद्विशेष्यकं** तत्(पृथिवी)प्रकारकत्वावच्छिन्न-त्वविशिष्टतद्वद्विशेष्यकत्वरूपप्रमात्वम्। **परं** किन्तु। **न गृह्यते** प्रथमानुव्यवसायवेद्यं न भवति। तद्वद्विशेष्यकत्वनिष्ठतत्प्रकारकत्वावच्छिन्नत्वेन सह मनःसन्निकर्षाभावात्। **संशयानुरोधात्** प्रथमानुव्यवसायोत्तरं सर्वमतसिद्धसंशयानुपपत्तेरिति। तथा च संशया-न्यथाऽनुपपत्त्या निरुक्तावच्छिन्नत्वविशिष्टतद्विशेष्यकत्वमेव प्रमात्वं तच्च न प्रथमा-नुव्यवसायवेद्यमिति। एवं हि पृथिवीत्वप्रकारावगाहिनो ज्ञाननिष्ठधर्मस्य तथा च गन्ध-वद्विशेष्यकत्वावगाहिनो ज्ञाननिष्ठधर्मस्य च तु स्वतोग्राह्यत्वमेव विशकलितयोर्विशेष्य-विशेषणयोः स्वतोग्रहे नास्ति दोषः, किन्तु संशयानुरोधेन पृथिवीत्वप्रकारकत्वावच्छिन्न-पृथिवीत्ववद्विशेष्यकत्वस्य धर्मस्य तु न स्वतो ग्रहोऽपितु परत एवेति ॥

हिन्दी—प्रमात्व (प्रामाण्य) स्वतःग्राह्य नहीं होता, वैसा होने पर संशय की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।

प्रमात्वमिति। मीमांसक प्रमात्व को स्वतःग्राह्य मानते हैं। उनमें से भी गुरु अर्थात् प्रभाकर के मत में ज्ञान स्व(आत्म)प्रकाश होता है और उस ज्ञान का प्रामाण्य उसी के द्वारा गृहीत होता है। भट्ट (कुमारिल भट्ट) के मत में ज्ञान अती-न्द्रिय होता है, ज्ञान से जन्य ज्ञातता प्रत्यक्ष होती है और ज्ञान अनुमान का विषय होता है। मुरारिमिश्र के मत में अनुव्यवसाय (ज्ञान के बाद उत्पन्न ज्ञानविषयक ज्ञान) से गृहीत होता है। सभी प्रमात्व के स्वतःप्रामाण्यवादियों (जिनमें साङ्ख्य-योग, विशिष्टाद्वैत आदि मतों के अनुयायी सम्मिलित हैं) उस ज्ञान के विषय वाले ज्ञान से उस ज्ञान का प्रामाण्य गृहीत होता है। ज्ञान विषयनिरूप्य (अर्थात् विषयता-सम्बन्ध से ज्ञान के विषय कारण) होता है और निर्विषयक ज्ञान नहीं होता। इस कारण विषय भी ज्ञानवित्तिवेद्य होता है। अर्थात् ज्ञान की ज्ञेयता से वेद्य होता है।

उक्त मत का खण्डन करते हैं—**न स्वतो ग्राह्यमिति। संशयेति।** यदि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतःग्राह्य हो तब अनभ्यास की दशा में उत्पन्न ज्ञान में प्रामाण्यसंशय नहीं होता। उसमें यदि ज्ञान जाना जाय तब आपके मत में प्रामाण्य तो जाना ही है तो फिर संशय कैसे हो सकता है? यदि ज्ञान तो नहीं जाना गया तब भी धर्मी के ज्ञान

के अभाव से संशय कैसे हो सकता है ? इस कारण ज्ञान में प्रामाण्य अनुमेय होता है। जैसे कि—'इदं ज्ञानं प्रमा संवादिप्रवृत्तिजनकत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथाऽप्रमा।' (यह ज्ञान (पक्ष) प्रमा (साध्य) है, क्योंकि यह संवादीप्र वृत्ति का जनक (हेतु) है, जो नहीं है वह नहीं है, जैसे अप्रमा (दृष्टान्त)। 'यह पृथिवीत्वप्रकारक ज्ञान (पक्ष) प्रमा है (साध्य), क्योंकि गन्धवान् में पृथिवीत्व प्रकार का ज्ञान होता है (हेतु)'। इसी तरह 'यह जलत्वप्रकारक ज्ञान (पक्ष) प्रमा है (साध्य), क्योंकि स्नेहवान् (द्रव्य) में जलत्वप्रकार का ज्ञान होता है (हेतु)'। न तो 'हेतु का ज्ञान कैसे होता हैं' यह कथन ही उपयुक्त है, क्योंकि जो पृथिवीत्वप्रकारकत्व है, वह स्वतोग्राह्य होता है। उसमें गन्ध के ग्रह से गन्धवद् विशेष्यकत्व का भी आसानी से ग्रहण होता है। किन्तु उससे तत्प्रकारकत्व से अवच्छिन्न तद्वद्विशेष्यकत्व तो संशय के अनुरोध से गृहीत नहीं होता।

(न च प्रमात्वस्य साध्यस्य प्रसिद्धिः कथमिति वाच्यम्, इदं ज्ञानप्रमात्वस्य स्वतोग्राह्यत्वात्। न च प्रकारभेदेन प्रामाण्यभेदाद् घटत्वप्रकारकत्वादेः कथं प्रसिद्धिरिति वाच्यं, घटत्वप्रकारकत्वस्य स्वविशेष्यकत्वस्य च स्वतोग्राह्यत्वात्। घटस्य च पूर्वमुपस्थितत्वाद् घटविशेष्यकं घटत्वप्रकारकमिति ज्ञाने प्रामाण्यस्य बाधकाभावः। व्यवसायपरन्तु प्रामाण्यं न गृह्यते, तत्र संशयसामग्रीसत्त्वे संशयस्यैवोपपत्तेः। किञ्चाभ्यासदशायां तृतीयानुव्यवसायादिना प्रामाण्यस्य स्वत एव ग्रहसम्भवात् प्रथमानुव्यवसायपरं न तद्ग्राहकमिति कल्प्यते, संशयानुरोधात्।

अथ प्रामाण्यानुमितौ प्रामाण्यग्रहेण तस्या विषयनिश्चयरूपत्वार्थं तत्र प्रामाण्यग्रहो वाच्यः, सोऽप्यनुमित्यन्तरेणेति फलमुखी कारणमुखी वानवस्थेति चेत् न, अगृहीतप्रामाण्यकस्यैव निश्चयरूपत्वात्। यत्र च प्रामाण्यसंशयस्तत्रैव परं प्रामाण्यानुमितेरपेक्षा यावदाशङ्कं प्रामाण्यानुमितिरिष्यत एव। सर्वत्र तु न संशयः, क्वचित् कोटचनुपस्थितेः, क्वचिद् विशेषदर्शनादितः, क्वचिद् विषयान्तरसञ्चारादिति सङ्क्षेपः ।)

आलोकः—प्रमात्वस्य प्रसिद्धिमाशङ्क्य समाधत्ते—न चेति। न। च हि। साध्यस्य साध्यत्वेन गृहीतस्य 'इदं ज्ञानं प्रमा' इत्यनुमायाम्। प्रमात्वस्य प्रामाण्यस्य। प्रसिद्धिः पूर्वज्ञानम्। कथम्। इति। वाच्यं कथनीयम्। इदं ज्ञानप्रमात्वस्य इदं ज्ञानप्रमात्वम् इत्येतस्य 'इदमनिदं वे'त्याकारकसंशयस्य कदापि नोद्भवात्। स्वतोग्राह्यत्वात् प्रमाणान्तरानपेक्षत्वादिति। प्रकारकत्वप्रसिद्धिमाशङ्क्य पुनः समाधत्ते—न चेति। न। च हि। प्रकारभेदेन धर्मभेदेन। प्रामाण्यभेदात् प्रमात्वपार्थक्यात्। घटत्वप्रकारकत्वादेः घटत्वप्रकारावगाहिज्ञाननिष्ठधर्मस्य। कथम्। प्रसिद्धिः ख्यातिः। इति। वाच्यम्। घट-

1. पाठोऽयं कतिपयपुस्तकेषु न लभ्यते।

स्वप्रकारकत्वस्य घटत्वप्रकारकपरामर्शिज्ञाननिष्ठधर्मस्य । **स्वविशेष्यकत्वस्य** स्वविशेष्यनिष्ठज्ञानस्य । **च** अपि । **स्वतोग्राह्यत्वात्** । तत्र युक्तिमाह—**घटस्येति** । **घटस्य** घटपदार्थस्य । **च** हि । **पूर्वं** प्रागेव । **उपस्थितत्वात्** प्रत्यक्षत्वात् । **घटविशेष्यकं** घटनिष्ठविशेष्यतावगाहि । **घटत्वप्रकारकं** घटत्वनिष्ठप्रकारतावगाहि । **इति** इत्थम् । **ज्ञाने** अवबोधे । **प्रामाण्यस्य** प्रमात्वस्य । **बाधकाभावः** न किञ्चिदपि बाधकमिति तथाविधज्ञाननिष्ठप्रमात्वग्रहे न किमपि बाधकमिति । एवञ्च विशकलितविशेष्यविशेषणावगाहिज्ञानगतप्रमात्वधर्मस्य स्वतोग्राह्यत्वं भवत्येव, किन्तु **व्यवसायपरं** व्यवसायः विशेष्यविशेषणोभयविशिष्टावगाहिज्ञानं, तत्र निष्ठा वृत्तिर्यस्य तत्तथाविधम् । **प्रामाण्यं** प्रमात्वम् । **तु** तद्विपरीतम् । **न** । **गृह्यते** स्वतो गृह्यते । **तत्र** तथाविधप्रामाण्ये । **संशयसामग्रीसत्त्वे** संशयघटकतत्त्वोपस्थितौ । **संशयस्य** अनिश्चयस्य । **एव** हि । **उपपत्तेः** सिद्धेरिति । तदेव प्रकारान्तरेण स्पष्टीकरोति—**किञ्चेति** । **किञ्च** । **अभ्यासदशायाम्** अभ्यस्ततत्वावस्थायाम् । **तृतीयानुव्यवसायादिना** द्वितीयानुव्यवसायानन्तरभावितृतीयचतुर्थाद्यनुव्यवसायादिनाशात् । **प्रामाण्यस्य** प्रमात्वस्य । **स्वतः** । **एव** हि । **ग्रहसम्भवात्** ग्रहणसम्भवात् । **प्रथमानुव्यवसायपरं** प्रथमज्ञानानन्तरभाव्यनुव्यवसायवृत्तिम् । **न** । **तद्ग्राहकं** तस्य प्रामाण्यस्य ग्राहकम् । **इति** इत्थम् । **कल्प्यते** समर्थ्यते । **संशयानुरोधात्** संशयसिद्धिहेतोः अभ्यासदशायां काममस्तु ज्ञानस्य स्वतःप्रामाण्यमनभ्यासदशायां तु तस्य परत एव भवति प्रामाण्यमतथाभावे संशयस्य विच्छेदः स्यात् । तत्रानवस्थामाशङ्क्य समाधत्ते—**अथेति** । **अथ** यदि तथा । **प्रामाण्यानुमितौ** प्रमात्वग्रहोऽनुमानेनेति पक्षे तथाविधज्ञाने प्रामाण्यस्य अनुमितौ । **प्रामाण्यग्रहेण** प्रमात्वनिश्चयेन । **तस्याः** प्रामाण्यानुमितेः । **विषयनिश्चयरूपत्वार्थं** विषयसत्यापनाय । **तत्र** प्रथमप्रामाण्यानुमितौ । **प्रामाण्यग्रहः** द्वितीयानुमितिस्वीकारः । **वाच्यः** । **सः** तादृशप्रामाण्यग्रहः । **अपि** च । **अनुमित्यन्तरेण** अन्ययानुमित्या तृतीयानुमित्या । **प्रमाणयितव्यः** । **इति** इत्थम् । **फलमुखी** प्रमात्वग्रहफलप्रधाना । **कारणमुखी** प्रथमानुमितिज्ञानरूपकारणपुष्ट्यै द्वितीयानुमितिकारणापेक्षा तत्सिद्धये तृतीयापेक्षेति अनुमितिज्ञानरूपकारणप्रधाना । **वा** । **अनवस्था** अव्यवस्था न तु तथा स्वतोग्रहवादे । **इति** । **चेत्** । **न** । **सामान्यतः** । **अगृहीतप्रामाण्यकस्य** अधृतप्रामाण्यानुमितेः । **प्रथमायाः** इति । **एव** हि । **निश्चयरूपत्वात्** निश्चयरूपसत्त्वात् । इदं ज्ञानमप्रमेत्याकारकाप्रमात्वग्रहाभावे तु तदेव ज्ञानं निश्चयरूपं न तत्र द्वितीयादिप्रामाण्यानुमितेरपेक्षा न चानवस्था । **यत्र** । **च** हि । **प्रामाण्यसंशयः** ज्ञाननिष्ठप्रमात्वसंशयः । **तत्र** तथाविधस्थले । **एव** हि । **परम्** । **प्रामाण्यानुमितेः** प्रामाण्यग्राहकानुमितेः । **अपेक्षा** आवश्यकता । **आशङ्कं यावत्** यावत्पर्यन्तं शङ्का न समाधीयते तावत्पर्यन्तं तु । **प्रामाण्यानुमितिः** प्रामाण्यग्राहकानुमा । **इष्यते** अपेक्ष्यते । **एव** इति । क्वचित्तु निश्चयो भवत्येवेति । **सर्वत्र** सर्वस्मिन्नेव स्थले । **तु** हि । **न** । **संशयः** संशयावसरः । यत्र हि परस्परविरुद्धधर्मावगाहिज्ञानं तत्रैव संशयः, यत्र तु न विरोधिधर्मोपस्थितिस्तत्र संशयावसरोऽपि नेति । संशयाभावस्थलमाह—**क्वचिदिति** । **क्वचित्** । **कोट्यनुपस्थितेः** परस्परविरुद्धधर्मानुपस्थितेः । **क्वचित्** । **विशेषदर्शनादितः** विशेषदर्शनजात-

स्थाण्वादिज्ञानत: । आदिपदात् विशेषश्रवणादितश्च । क्वचित् । विषयान्तरसञ्चारात् एकविषयकज्ञानसमकालमेव तदन्यविषये ज्ञानसञ्चाराच्च । न । संशयः । इति इत्यमनेकत्र संशयाभावसत्त्वात् नोक्तरीत्या सर्वत्रानवस्थोद्भावनमिति । सङ्क्षेपः सङ्क्षिप्योक्तो विस्तरस्तु ग्रन्थान्तरे द्रष्टव्य इति ।

एवं हि तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं यथार्थानुभवो वा प्रमा। प्रमात्वमेव प्रामाण्यशब्देनाऽपि व्यवह्रियते । तत्र मीमांसका वेदान्तिनश्च प्रामाण्यं स्वतोग्राह्यं मन्यन्ते, अप्रामाण्यमेव परतोग्राह्यं किन्तु नैयायिकास्तु प्रामाण्यमपि परतोग्राह्यं मन्यन्ते । तदनुसारेण प्रामाण्यस्य स्वतोग्राह्यत्वे संशयस्यानुपपत्तिः स्यात् । तत्र प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं परतस्त्वञ्च द्विविधम्, उत्पत्तिज्ञप्तिभेदात् । तत्र दोषाभावसहकृतज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यत्वमुत्पत्तिस्वतस्त्वम् । ज्ञानसामान्यसामग्री च तत्र आत्मा आत्ममनःसंयोगः इन्द्रियादिकञ्च । दोषाभावसहकृतयावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्री ग्राह्यत्वं ज्ञप्तिस्वतस्त्वम् ।

मीमांसकेषु प्राभाकरमतं त्वित्थम्—घटादिविषयं यद्यत्प्रमारूपं व्यवसायज्ञानं तद् घटत्वेन घटमहं जानामि इत्याकारकं भवति । तेन सर्वत्र व्यवसायज्ञाने मितिमातृमेयाकारा त्रिपुटी भासते, यत्र व्यवसायज्ञानं मितिः तदाश्रय आत्मा माता घटादिकं मेयमिति । व्यवसायज्ञानं हि स्वरूपं विषयीकुर्वन् स्वनिष्ठं प्रमात्वमपि विषयीकरोति, तेन प्रमात्वे यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वं स्पष्टमेवेति । मुरारिमते तु 'अयं घटः' इति व्यवसायज्ञानानन्तरं घटत्वेन घटमहं जानामि इत्याकारकं मानसं प्रत्यक्षमनुव्यवसायात्मकं जायमानं व्यवसायं तद्वृत्ति प्रमात्वञ्च विषयीकरोतीति तस्य स्वतोग्राह्यत्वं स्पष्टमेव । भाट्टमते सर्वं ज्ञानमतीन्द्रियं, तेन ज्ञानं न प्रत्यक्षमपितु 'अयं घट' इति ज्ञानानन्तरं घटादौ ज्ञेये ज्ञातताख्यो धर्मं उत्पद्यते । तदनन्तरं ज्ञातो घट इत्येवञ्जातीयकं ज्ञातताविषयकं प्रत्यक्षं ततो ज्ञातताख्याद्धेतोः तज्ज्ञानमनुमीयते—घटो घटत्ववद्विशेष्यकघटत्वप्रकारकज्ञानविषयो घटत्वप्रकारकज्ञाततावत्त्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथाऽप्रमेति । एवमिदमनुमानम् अयं घट इति ज्ञानं तद्वृत्ति प्रमात्वञ्च गृह्णाति, तदेव प्रमात्वे यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वं स्वतोग्राह्यत्वं नाम ।

वेदान्तिनां मते तु अयं घट इत्याकारकं वृत्तिज्ञानमेव प्रमात्वाश्रयभूतं तद्ग्राहकं तु साक्षिचैतन्यम् । तच्च वृत्तिज्ञानं तन्निष्ठं प्रमात्वं च विषयीकुर्वन्नेव भासत इति प्रामाण्यस्य स्वतोग्राह्यत्वमेव ।

नैयायिकमते तु प्रमात्वस्य न कथमपि स्वतोग्राह्यत्वं सम्भवति, तथासति संशयस्यानुपपत्तेः । यदि प्रमात्वं स्वतः स्यात्तदा अनभ्यासदशायामुत्पन्ने जलज्ञाने इदं जलं ज्ञानं प्रमा न वेति संशय एव न स्यात् । तत्र यदि अनुव्यवसायादिना ज्ञानं ज्ञातं तदा तेन ज्ञानप्रामाण्यमपि ज्ञातमेवेति कुतः संशयावसरः ? निश्चयस्य तत्प्रतिबन्धकत्वात् । अनभ्यासदशोत्पन्नज्ञाने संशयस्य सर्वानुभवसिद्धत्वान्न तस्यापलापः सम्भवति । तथा च इदञ्जलमिति व्यवसायानन्तरं जायमानं जलमहं जानामि इत्यनुव्यवसायज्ञानं कामं विषयीकरोतु, किन्तु तस्य कुतस्त्वं तु तन्निष्ठप्रमात्वविषयीकरणं ? संशयानुरोधात् । एवं ततः पूर्वं जलज्ञानं, ततस्तद्विषयिणीच्छा, ततो जलप्रवृत्तिः, ततः प्रवृत्त्या जलप्राप्तिः ।

संवादिप्रवृत्त्या जलज्ञाननिष्ठं प्रमात्वमनुमीयते। यथा—इदं जलज्ञानं प्रमा सफलप्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथाऽप्रमेति। एवमनुमानेन यत्प्रमात्वं निर्णीयते तदेव प्रमात्वे ज्ञप्तिपरतस्त्वमिति। ज्ञानमात्रग्राहकसामग्रीभिन्नसामग्रीग्राह्यत्वं ज्ञप्तिपरतस्त्वमिति।

हिन्दी—(उसमें साध्यरूप प्रमात्व की प्रसिद्धि कैसे होती है ? ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि यह ज्ञानप्रमात्व तो स्वतोग्राह्य होता है अर्थात् इदन्ताज्ञान में 'इदमनिदं वा' ऐसा सन्देह नहीं होता।

न तो प्रकारभेद से प्रामाण्यभेद होने से घटत्वप्रकारकत्व आदि की प्रसिद्धि कैसे होती है ? ऐसा कहना भी उचित है, क्योंकि घटत्वप्रकारकत्व और स्वविशेष्यकत्व का भी स्वतोग्राह्यत्व होता है। घट की पहले ही उपस्थिति होने से घटविशेष्यक एवं घटत्वप्रकारक ऐसे ज्ञान में प्रामाण्य का बाधक नहीं होता। व्यवसायपरक प्रामाण्य तो गृहीत नहीं होता, उसमें संशयसामग्री के रहने पर संशय की ही उपपत्ति होती है। अभ्यास दशा में तीसरे अनुव्यवसाय आदि के द्वारा प्रामाण्य का स्वतः ही ग्रहण के सम्भव होने से प्रथमानुव्यवसायपरक ज्ञान संशय के अनुरोध से उसका ग्राहक नहीं होता।

'प्रामाण्यानुमिति में प्रामाण्यग्रह से उसके विषय के निश्चय रूप के लिए वहाँ प्रामाण्यग्रह मानना चाहिए। वह भी दूसरी अनुमिति के द्वारा ही सम्भव है, अतः फलमुखी अथवा कारणमुखी अनवस्था होती है'। ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि जिसका प्रामाण्यग्रह गृहीत नहीं है, उसका भी निश्चयरूप होता है। जहाँ प्रामाण्य में संशय होता है वहाँ ही दूसरी प्रामाण्यानुमिति की अपेक्षा होती है। जब तक शङ्का रहे तब तक प्रामाण्यानुमिति अपेक्षित है ही।

सभी स्थलों में तो संशय नहीं होता। कहीं परस्पर विरुद्ध कोटि की उपस्थिति न होने से, कहीं विशेष रूप से (स्थाणु आदि के) दर्शन आदि से, कहीं एकविषयक ज्ञान के साथ-साथ विषयान्तर के ज्ञान के सञ्चार से भी संशय नहीं रह पाता। यह संक्षेप में कहा गया।)

ननु सर्वेषां ज्ञानानां यथार्थत्वात्प्रमालक्षणे तद्विशेष्यकत्वं विशेषणं व्यर्थं, न च रङ्गे रजतार्थिनः प्रवृत्तिर्भ्रमजन्या न स्यात्, तव मते भ्रमस्याभावादिति वाच्यं, तत्र हि दोषाधीनस्य पुरोवर्तिनि स्वतन्त्रोपस्थितरजतभेदाग्रहस्य हेतुत्वात्, सत्यरजतस्थले तु विशिष्टज्ञानस्य सत्त्वात्तदेव कारणम्। अस्तु वा तत्रापि भेदाग्रहः स एव कारणमिति, न चान्यथाख्यातिः सम्भवति, रजतप्रत्यक्षकारणस्य रजतसन्निकर्षस्याभावात्, रङ्गे रजतबुद्धेरनुपपत्तेरिति चेन्न, सत्यरजतस्थले प्रवृत्तिं प्रति विशिष्टज्ञानस्य हेतुतायाः क्लृप्तत्वादन्यत्रापि तत्कल्पनात्।

आलोकः—(मीमांसकेषु प्रभाकरोऽख्यातवादी । भ्रान्तिस्थले वै दशपक्षभेदाः—आत्मख्यातिः, असत्ख्यातिः, अन्यथाख्यातिः, अख्यातिः, सदसद्भिन्नख्यातिः, सत्ख्यातिः, शून्यख्यातिः, निरधिष्ठानख्यातिः, अर्थसंसर्गजाकारख्यातिः, बाह्याकारार्पिताकारख्यातिश्चेति । तत्रार्थशून्या स्वप्ने आत्मख्यातिः जाग्रति असत्ख्यातिरिति योगाचारवादिनः, कल्पिताकारिणी ख्यातिरसत्ख्यातिरिति वैभाषिकाः, असतोऽपि भ्रमे भानमन्यथाख्यातिरिति वेदान्तिनः, शून्यख्यातिरिति माध्यमिकाः, वस्तुशून्या निर्विषयख्यातिरिति पातञ्जलाः, रजतं दोषवशतो भाति स्वयमिदन्तयेति निरधिष्ठानख्यातिवादिनो वैभाषिकाः । अन्यदालम्बनमन्यत्प्रतिभासनमन्यथाख्यातिः । एवं हि रजतस्मरणं शुक्तिग्रहणं चास्ति धीद्वयम् । ग्रहणस्मरणे एते विविक्ते अपि तत्तथा । न गृह्येते इति विवेकाग्रहोऽख्यातिरुच्यते ।) अख्यातिवादिमतेनाशङ्क्य समाधत्ते—**नन्विति । ननु । सर्वेषां** सर्वविधानाम् । **ज्ञानानां** बोधानाम् । **यथार्थत्वात्** संवादिप्रवृत्तिजनकत्वात् । **प्रमालक्षणे** निरुक्तप्रमालक्षणे । **तद्विशेष्यकत्वं** 'तद्विशेष्यकत्वे सति' इति । **विशेषणम् । व्यर्थं** निष्प्रयोजनं व्यावर्त्याया अन्यथाख्यातेरभावादिति । भ्रमस्थले नैयायिका हि अन्यथाख्यातिं समर्थयन्ति । तत्र तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमेत्येतावत्येव प्रमालक्षणे स्वीकृतेऽन्यथाख्यातिरूपे भ्रमस्थले प्रमालक्षणातिव्याप्तिः स्यात् । तद्वारणाय तद्विशेष्यकत्वमिति विशेषणं दत्तम्, किन्तु नास्त्यन्यथाख्यातिः, सा च अन्यथा प्रकारान्तरेण ख्यातिर्भानमिति अन्यप्रकारवतो वस्तुनोऽन्यप्रकारेण प्रतीतिरेव किन्तु वस्तु यथा भवति तथैव प्रतीयते नान्यप्रकारेण, तस्य प्रत्ययः ज्ञानमात्रस्य यथार्थत्वात् । तेनोक्तविशेषणं निष्प्रयोजनमिति । अख्यातिवादी आशङ्क्य समाधत्ते—**न चेति । न । च हि । रङ्गे शुक्तौ । रजतार्थिनः** रजतसंस्कारवतः । **प्रवृत्तिः । भ्रमजन्या** भ्रमोद्भाविना । **न । स्यात् । तव** अख्यातिवादिनः । **मते** पक्षे । **भ्रमस्य** अन्यथाख्यातेः । **अभावात् । इति । वाच्यम् । तत्र** रङ्गगोचरविसंवादिरजतार्थिप्रवृत्तौ । **हि । दोषाधीनस्य** भेदग्रहप्रतिबन्धकचाकचिक्यादिदोषप्रयोज्यस्य तादृशभेदाग्रहस्य । **पुरोवर्तिनि** इदन्त्वेन ज्ञायमानलिङ्गात्मकपूर्ववर्तिनि शुक्तौ । **स्वतन्त्रोपस्थितरजतभेदाग्रहस्य** विशिष्टज्ञानात्मकोपस्थितिविषयरजतभेदाग्रहस्य । **हेतुत्वात्** कारणत्वात् । पुरोवर्तिनि रङ्गे—'इदं रजतमि'ति ज्ञानवतः रजतार्थिनः पुरुषस्य या निष्फला प्रवृत्तिर्जायते न तत्र नैयायिकाभिमतो भ्रमो हेतुः, किन्त्वन्धकारलोभादिदोषकारणात् स्वतन्त्रसंस्कारोपस्थितानां रजतादिपदार्थानां यो विवेकज्ञानाभावः स एव विसंवादिप्रवृत्तौ कारणमिति । यदुच्यते प्रमातृगतलोभादिदोषाणां प्रमाणमतपित्तादिदोषाणां प्रमेयगतसादृश्यादिदोषाणाञ्च यत्र भावस्तत्रैव रङ्गे रजतबुद्धिः किन्तु ज्ञानं ज्ञेयाधीनमिति नियमेन विसंवादिस्थले ज्ञानस्य ज्ञेयाधीनत्वेऽपि निरुक्तस्थले निरुक्तदोषा एव रङ्गरजतयोर्भेदाग्रहं प्रति हेतवो भवन्ति । न तु वस्तुनोऽन्यथाभावं प्रति तेनैव भेदाग्रहेण पुरुषस्य निष्फला प्रवृत्तिर्जायत इति न रङ्गे रजतार्थिप्रवृत्त्यर्थमन्यथाख्यातिः स्वीकर्तव्येति अख्यातिवादिनामाशयः । अख्यातिवादानुसारेण इदं रजतमित्यादौ सर्वत्रैव भ्रमस्थले तिमिरादिप्रमाणदोषदूषितनेत्रस्य पुरोवर्तिनि विशेष्यांशस्याग्रहात् सामान्यांशविषयकमिदमाकारं सन्निकर्षमात्रजन्यमेकं

संवादिप्रवृत्त्या जलज्ञाननिष्ठं प्रमात्वमनुमीयते। यथा—इदं जलज्ञानं प्रमा सफलप्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथाऽप्रमेति। एवमनुमानेन यत्प्रमात्वं निर्णीयते तदेव प्रमात्वे ज्ञप्तिपरतस्त्वमिति। ज्ञानमात्रग्राहकसामग्रीभिन्नसामग्रीग्राह्यत्वं ज्ञप्तिपरतस्त्वमिति।

हिन्दी—(उसमें साध्यरूप प्रमात्व की प्रसिद्धि कैसे होती है? ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि यह ज्ञानप्रमात्व तो स्वतोग्राह्य होता है अर्थात् इदन्ताज्ञान में 'इदमनिदं वा' ऐसा सन्देह नहीं होता।

न तो प्रकारभेद से प्रामाण्यभेद होने से घटत्वप्रकारकत्व आदि की प्रसिद्धि कैसे होती है? ऐसा कहना भी उचित है, क्योंकि घटत्वप्रकारकत्व और स्वविशेष्यकत्व का भी स्वतोग्राह्यत्व होता है। घट की पहले ही उपस्थिति होने से घटविशेष्यक एवं घटत्वप्रकारक ऐसे ज्ञान में प्रामाण्य का बाधक नहीं होता। व्यवसायपरक प्रामाण्य तो गृहीत नहीं होता, उसमें संशयसामग्री के रहने पर संशय की ही उपपत्ति होती है। अभ्यास दशा में तीसरे अनुव्यवसाय आदि के द्वारा प्रामाण्य का स्वतः ही ग्रहण के सम्भव होने से प्रथमानुव्यवसायपरक ज्ञान संशय के अनुरोध से उसका ग्राहक नहीं होता।

'प्रामाण्यानुमिति में प्रामाण्यग्रह से उसके विषय के निश्चय रूप के लिए वहाँ प्रामाण्यग्रह मानना चाहिए। वह भी दूसरी अनुमिति के द्वारा ही सम्भव है, अतः फलमुखी अथवा कारणमुखी अनवस्था होती है'। ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि जिसका प्रामाण्यग्रह गृहीत नहीं है, उसका भी निश्चयरूप होता है। जहाँ प्रामाण्य में संशय होता है वहाँ ही दूसरी प्रामाण्यानुमिति की अपेक्षा होती है। जब तक शङ्का रहे तब तक प्रामाण्यानुमिति अपेक्षित है ही।

सभी स्थलों में तो संशय नहीं होता। कहीं परस्पर विरुद्ध कोटि की उपस्थिति न होने से, कहीं विशेष रूप से (स्थाणु आदि के) दर्शन आदि से, कहीं एकविषयक ज्ञान के साथ-साथ विषयान्तर के ज्ञान के सञ्चार से भी संशय नहीं रह पाता। यह संक्षेप में कहा गया।)

ननु सर्वेषां ज्ञानानां यथार्थत्वात्प्रमालक्षणे तद्विशेष्यकत्वं विशेषणं व्यर्थं, न च रङ्गे रजतार्थिनः प्रवृत्तिर्भ्रमजन्या न स्यात्, तव मते भ्रमस्याभावादिति वाच्यं, तत्र हि दोषाधीनस्य पुरोवर्तिनि स्वतन्त्रोपस्थितरजतभेदाग्रहस्य हेतुत्वात्, सत्यरजतस्थले तु विशिष्टज्ञानस्य सत्त्वात्तदेव कारणम्। अस्तु वा तत्रापि भेदाग्रहः स एव कारणमिति, न चान्यथाख्यातिः सम्भवति, रजतप्रत्यक्षकारणस्य रजतसन्निकर्षस्याभावात्, रङ्गे रजतबुद्धेरनुपपत्तेरिति चेन्न, सत्यरजतस्थले प्रवृत्तिं प्रति विशिष्टज्ञानस्य हेतुतायाः क्लृप्तत्वादन्यत्रापि तत्कल्पनात्।

आलोकः—(मीमांसकेषु प्रभाकरोऽख्यातवादी । भ्रान्तिस्थले वै दशपक्षभेदाः—आत्मख्यातिः, असत्ख्यातिः, अन्यथाख्यातिः, अख्यातिः, सदसद्भिन्नख्यातिः, सत्ख्यातिः, शून्यख्यातिः, निरधिष्ठानख्यातिः, अर्थसंसर्गजाकारख्यातिः, बाह्याकारार्पिताकारख्यातिश्चेति । तत्रार्थशून्या स्वप्ने आत्मख्यातिः जाग्रति असत्ख्यातिरिति योगाचारवादिनः, कल्पिताकारिणी ख्यातिरसत्ख्यातिरिति वैभाषिकाः, असतोऽपि भ्रमे भानमन्यथाख्यातिरिति वेदान्तिनः, शून्यख्यातिरिति माध्यमिकाः, वस्तुशून्या निर्विषयख्यातिरिति पातञ्जलाः, रजतं दोषवशतो भाति स्वयमिदन्तयेति निरधिष्ठानख्यातिवादिनो वैभाषिकाः । अन्यदालम्बनमन्यत्प्रतिभासनमन्यथाख्यातिः । एवं हि रजतस्मरणं शुक्तिग्रहणं चास्ति धीद्वयम् । ग्रहणस्मरणे एते विविक्ते अपि तत्तया । न गृह्येते इति विवेकाग्रहोऽख्यातिरुच्यते ।) अख्यातिवादिमतेनाशङ्क्य समाधत्ते—**नन्विति । ननु । सर्वेषां** सर्वविधानाम् । **ज्ञानानां** बोधानाम् । **यथार्थत्वात्** संवादिप्रवृत्तिजनकत्वात् । **प्रमालक्षणे** निरुक्तप्रमालक्षणे । **तद्विशेष्यकत्वं** 'तद्विशेष्यकत्वे सति' इति । **विशेषणम् । व्यर्थं** निष्प्रयोजनं व्यावर्त्याया अन्यथाख्यातेरभावादिति । भ्रमस्थले नैयायिका हि अन्यथाख्यातिं समर्थयन्ति । तत्र तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमेत्येतावत्येव प्रमालक्षणे स्वीकृतेऽन्यथाख्यातिरूपे भ्रमस्थले प्रमालक्षणातिव्याप्तिः स्यात् । तद्वारणाय तद्विशेष्यकत्वमिति विशेषणं दत्तम्, किन्तु नास्त्यन्यथाख्यातिः, सा च अन्यथा प्रकारान्तरेण ख्यातिर्भानमिति अन्यप्रकारवतो वस्तुनोऽन्यप्रकारेण प्रतीतिरेव किन्तु वस्तु यथा भवति तथैव प्रतीयते नान्यप्रकारेण, तस्य प्रत्ययः ज्ञानमात्रस्य यथार्थत्वात् । तेनोक्तविशेषणं निष्प्रयोजनमिति । अख्यातिवादी आशङ्क्य समाधत्ते—**न चेति । न । च** हि । **रङ्गे** शुक्तौ । **रजतार्थिनः** रजतसंस्कारवतः । **प्रवृत्तिः । भ्रमजन्या** भ्रमोद्भाविना । **न । स्यात् । तव** अख्यातिवादिनः । **मते** पक्षे । **भ्रमस्य** अन्यथाख्यातेः । **अभावात् । इति । वाच्यम् । तत्र** रङ्गगोचरविसंवादिरजतार्थिप्रवृत्तौ । **हि । दोषाधीनस्य** भेदग्रहप्रतिबन्धकचाकचिक्यादिदोषप्रयोज्यस्य तादृशभेदाग्रहस्य । **पुरोवर्तिनि** इदन्त्वेन ज्ञायमानलिङ्गात्मकपूर्ववर्तिनि शुक्तौ । **स्वतन्त्रोपस्थितरजतभेदाग्रहस्य** विशिष्टज्ञानात्मकोपस्थितिविषयरजतभेदाग्रहस्य । **हेतुत्वात्** कारणत्वात् । पुरोवर्तिनि रङ्गे—'इदं रजतमि'ति ज्ञानवतः रजतार्थिनः पुरुषस्य या निष्फला प्रवृत्तिर्जायते न तत्र नैयायिकाभिमतो भ्रमो हेतुः, किन्त्वन्धकारलोभादिदोषकारणात् स्वतन्त्रसंस्कारोपस्थितानां रजतादिपदार्थानां यो विवेकज्ञानाभावः स एव विसंवादिप्रवृत्तौ कारणमिति । यदुच्यते प्रमातृगतलोभादिदोषाणां प्रमाणमतपित्तादिदोषाणां प्रमेयगतसादृश्यादिदोषाणाञ्च यत्र भावस्तत्रैव रङ्गे रजतबुद्धिः किन्तु ज्ञानं ज्ञेयाधीनमिति नियमेन विसंवादिस्थले ज्ञानस्य ज्ञेयाधीनत्वेऽपि निरुक्तस्थले निरुक्तदोषा एव रङ्गरजतयोर्भेदाग्रहं प्रति हेतवो भवन्ति । न तु वस्तुनोऽन्यथाभावं प्रति तेनैव भेदाग्रहेण पुरुषस्य निष्फला प्रवृत्तिर्जायत इति न रङ्गे रजतार्थिप्रवृत्त्यर्थमन्यथाख्यातिः स्वीकर्तव्येति अख्यातिवादिनामाशयः । अख्यातिवादानुसारेण इदं रजतमित्यादौ सर्वत्रैव भ्रमस्थले तिमिरादिप्रमाणदोषदूषितनेत्रस्य पुरोवर्तिनि विशेष्यांशस्याग्रहात् सामान्यांशविषयकमिदमाकारं सन्निकर्षमात्रजन्यमेकं

प्रत्यक्षात्मकं ज्ञानं भवति। लोभादिप्रमातृदोषसचिवसादृश्यादिदोषोद्बुद्धरजतादि-संस्कारमात्रजन्यश्च द्वितीयं ज्ञानं सत्यरजतविषयकमेव स्मृतिरूपं जायते। अर्थात् शुक्तिरजतस्थले इदं रजतमित्यत्र इदमंशः एव प्रत्यक्षप्रतीतिविषयो न रजतांशस्तस्य चक्षुराद्यसन्निकर्षात्। रजतमिति तु स्मृत्याकारदर्शनमिति। परन्तूभयोरेव ज्ञानयोर्न भवति विवेको यन्मे ज्ञानद्वयं जातमिति। तत्र विभिन्नविषयविवेकप्रतिस्पर्द्धी यः अयमेकं ज्ञानमित्यविवेकः स एवातद्रूपप्रतिष्ठो भेदाग्रहस्तेनैवान्यत्रान्यबुद्धिः। तत्र वस्तुतो न काचिद् भ्रान्तिः, प्रातिस्विकविषये ज्ञानानां सत्यत्वात्। तेन नेदं रजतमित्यादिबाधानुसन्धानेन वर्तमानस्य सत्यस्य रजतस्य न स्वरूपतो बाधः किन्तु पुरोवर्तिनि संसर्गतो बाध इष्यते। एवं प्रत्यक्षस्मरणात्मकज्ञानद्वयविवेकाभावः एव भ्रमकारणम्। अत एव पुरोवर्तिदशावच्छेदेन शुक्तिरजतादिपदार्थेषु पुरुषस्य निष्फला प्रवृत्तिरिति प्रभायां स्पष्टम्। **सत्यरजतस्थले** सत्यरजतविषयकप्रवृत्तौ। **तु** तद्विलक्षणमेव। **विशिष्टज्ञानस्य** रजतत्वप्रकारकरजतविशेष्यकस्य इदं रजतमित्याकारकज्ञानस्य। **सत्त्वात् भावात्। तत्** तादृशज्ञानम्। **एव** हि। **कारणं** हेतुः। **वा** इति पक्षान्तरे। **अस्तु** भवतु। **तत्र** सत्यरजतगोचरप्रवृत्तौ। **अपि च। भेदाग्रहः** रङ्गरजतयोः प्रत्यक्षस्मरणात्मकज्ञानद्वयविवेकाभावः। **सः। एव। कारणं** हेतुः, यथा विसंवादिप्रवृत्तौ हेतुस्तथैव सत्यरजतस्थलेऽपि भेदज्ञानाभावः कारणमस्तु। स्वस्मिन् स्वस्य भेदाभावादेव रजते रजतभेदाग्रहः सत्यरजतस्थलीयप्रवृत्तिं प्रति हेतुरिति। कार्यकारणभावद्वयकल्पनापेक्षया लाघवाद् कल्पान्तरमिदमिति प्रभादौ स्पष्टम्। **न। च** हि। **अन्यथाख्यातिः** अन्यस्यान्यरूपेण प्रतीतिः, शुक्तेः रजतरूपेण प्रतीतिरत्रेति। **सम्भवति। रजतप्रत्यक्षकारणस्य** रजतप्रत्यक्षज्ञानहेतोः। **रजतसन्निकर्षस्य** रजतचक्षुःसन्निकर्षस्य। **अभावात्** विरहात् वस्तुतो रजतस्याभावेन। **रङ्गे। रजतबुद्धेः** रजतज्ञानस्य। **अनुपपत्तेः** असिद्धेः। ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तिकल्पनं तु गौरवदोषदुष्टमेवेति। **इति। चेत्। न। सत्यरजतस्थले** सत्यरजतविषयकप्रवृत्तौ। **प्रवृत्तिं** संवादिप्रवृत्तिम्। **प्रति। विशिष्टज्ञानस्य** तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकरूपस्य ज्ञानस्य। **हेतुतायाः** कारणतायाः। **क्लृप्तत्वात्** स्पष्टसिद्धत्वात्। **अन्यत्र** रङ्गगोचररजतार्थिप्रवृत्तौ। **अपि च। तत्कल्पनात्** विशिष्टज्ञानहेतुत्वकल्पनादिति। न चात्र मानाभावः, तत्र 'रङ्गे रजतार्थिप्रवृत्तिः इष्टप्रवृत्तिविषयविशिष्टज्ञानसाध्या प्रवृत्तित्वात्, रजते रजतत्वप्रकारकप्रवृत्तिवत्' इत्यनुमानस्य तत्र मानत्वात्।

हिन्दी—'सभी ज्ञानों के यथार्थ होने से प्रमा के उक्त लक्षण में तद्विशेष्यकत्व विशेषण देना निष्फल है। न तो शुक्ति में रजतार्थी की प्रवृत्ति भ्रमजन्य नहीं होती, क्योंकि आपके मत में भ्रमत्व का अभाव होता है, ऐसा कहना उचित है, क्योंकि उसमें दोषाधीन का पुरोवर्ती पदार्थ में स्वतन्त्र रूप से उपस्थित रजत के भेद अग्रह (अविवेक) हेतु होता है, सत्य रजत-स्थल में तो विशिष्ट ज्ञान के होने से वही कारण होता है अथवा उसमें भी जो भेद का अविवेक है वही कारण हो। न तो वहाँ अन्यथाख्याति ही सम्भव है, क्योंकि रजत के प्रत्यक्ष का कारण रजतसन्निकर्ष के अभाव होने से रङ्ग में रजतबुद्धि की उपपत्ति नहीं होती' ऐसा कहा जाय तो ठीक

नहीं है, क्योंकि सत्य रजतस्थल में प्रवृत्ति के प्रति विशिष्ट ज्ञान की हेतुता के स्पष्टतः सिद्ध होने से अन्यत्र भी उसकी कल्पना हो सकती है।

न च संवादिप्रवृत्तौ तत्कारणं विसंवादिप्रवृत्तौ च भेदाग्रहः कारणमिति वाच्यं, लाघवेन प्रवृत्तिमात्रे तस्य हेतुत्वकल्पनात्। इत्थञ्च रङ्गे रजतत्व-विशिष्टबुद्ध्यनुरोधेन ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तिकल्पनेऽपि न क्षतिः, फलमुखगौरव-स्यादोषत्वात्। किञ्च यत्र रङ्गरजतयोरिमे रजते रङ्गे वेति ज्ञानं जातं तत्र न कारणबाधोऽपि। अपि च यत्र रङ्गरजतयोरिमे रजतरङ्गे इति ज्ञानं तत्रो-भयत्र युगपत्प्रवृत्तिनिवृत्ती स्यातां, रङ्गे रङ्गभेदग्रहे रजते रजतभेदग्रहे चान्य-थाख्यातिभयात् त्वन्मते दोषादेव रङ्गे रजतभेदाग्रहस्य रजते रङ्गभेदाग्रहस्य च सत्त्वात्। किञ्चानुमितिं प्रति भेदाग्रहस्य हेतुत्वे जलह्रदे वह्निव्याप्यधूमवद्-भेदाग्रहादनुमितिर्निराबाधा। यदि च विशिष्टज्ञानं कारणं तदाऽयोगोलके वह्निव्याप्यधूमज्ञानमनुमित्यनुरोधादापतितम्। सेयमुभयतः पाशा रज्जुः। इत्थञ्चान्यथाख्यातौ प्रत्यक्षमेव प्रमाणं रङ्गं रजततयाऽवेदिषमित्यनुभवा-दिति सङ्क्षेपः ॥ १३६ ॥

आलोकः—अप्रयोजकत्वमाशङ्क्य समाधत्ते—**न चेति**। **न**। **च** हि। **संवादि-प्रवृत्तौ** सफलप्रवृत्तौ। **तत्कारणं** तद् विशिष्टज्ञानं कारणं हेतुः। **विसंवादिप्रवृत्तौ** असफलप्रवृत्तौ। **भेदाग्रहः** भेदस्य रङ्गरजतभेदस्य अग्रहोऽविवेकः। **कारणं** हेतुः। **इति** इत्थम्। **वाच्यं** कथनीयम्। **लाघवेन** संवादिविसंवादिभेदेन कार्यकारणभाव-द्वयमपेक्ष्य लाघवदृष्ट्या। **प्रवृत्तिमात्रे** प्रवृत्तावेव। **तस्य** विशिष्टज्ञानस्य। **हेतुत्वकल्पनात्** कारणत्वकल्पनात्। यदुच्यते संवादिप्रवृत्तौ विशिष्टज्ञानं कारणं विसंवादिप्रवृत्तौ तु भेदाग्रह एवेति तन्नोचितं, पृथक्कार्यकारणभावद्वयकल्पनापेक्षया प्रवृत्तिमात्रं प्रति विशिष्टज्ञानस्य हेतुत्वकल्पने लाघवादिति भावः। रजतांशेऽपि सन्नि-कर्षाभावान्नान्यथाख्यातिरिति अख्यातिवादिनो मतं दूषयति—**इत्थमिति**। **इत्थम्** एवं प्रवृत्तिमात्रं प्रति विशिष्टज्ञानस्य हेतुत्वसिद्धौ। **च** हि। **रङ्गे** शुक्त्यादौ। **रजतत्व-विशिष्टबुद्ध्यनुरोधेन** रजतत्वविशिष्टा या बुद्धिस्तस्या अनुरोधेनाग्रहेण। **ज्ञानलक्षण-प्रत्यासत्तिकल्पने** ज्ञानलक्षणा स्व(चक्षुः)संयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेतस्मृतिविषयत्व-रूपज्ञानलक्षणा या प्रत्यासत्तिः तद्रूपोऽलौकिकसन्निकर्षस्तस्याः कल्पने। **अपि च**। **न**। **क्षतिः** हानिः। **फलमुखगौरवस्य** फलं प्रत्युन्मुखं यद् गौरवं तस्य आदौ लाघवमनु-सृत्यान्ते गौरवसहनस्य। **अदोषत्वाद्** दोषरहितत्वादिति। रङ्गे हि रजतस्य प्रत्यक्षा-नुपस्थितावपि तत्र रङ्गे इदं रजतमित्याकारकं चाक्षुषज्ञानं प्रति रजतानुभवजन्य-संस्कारजन्या स्मृतिरेव कारणमिति एतादृशस्थले चक्षुःसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेत-स्मृतिज्ञानविषयत्वरूपा ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिः स्वीक्रियते। न च तत्र गौरवमिति फलोन्मुखगौरवस्यादोषत्वादिति। प्रकारान्तरेण भ्रमज्ञानस्यावश्यकतां प्रतिपादयति—**किञ्चेति**। यद्येतदुच्यते यदि प्रवृत्तिमात्रं प्रति भेदाग्रहस्यैव कारणत्वे न कार्यकारण-

भावद्वयकल्पनगौरवमिति चेन्न । **किञ्च** । **यत्र** । **रङ्गरजतयोः** । **इमे रजते रङ्गे वा** । यत्र रङ्गरजतयोर्युगपदुभयसन्निकर्षे सति इमे रजते वा इमे रङ्गे । इति इत्याकारकम् । **ज्ञानम्** । **जातम्** । **तत्र** तादृशस्थले । **न** । **कारणबाधः** भ्रमज्ञानकारणीभूतज्ञानलक्षण-प्रत्यासत्तिबाधः । **अपि** । रङ्गरजतयोर्युगपदुभयसन्निकर्षे इमे रजते रङ्गे वेत्याकारक-ज्ञाने न रजते रजतभेदग्रहो रङ्गे रङ्गभेदग्रहश्च । तत्र सति युगपदिन्द्रियसन्निकर्षे सति तथाविधज्ञाने न किञ्चिदपि बाधकं रजतत्वेन रङ्गत्वेन वा समं संयुक्तसमवायस्य सत्त्वात् । न च तादृशं ज्ञानमुभयांशे प्रमात्मकं विशेषणवद्विशेष्यसन्निकर्षरूपप्रमासामग्र्य-भावात् । तत्रांशिकमेव प्रमात्वम् । एतादृशस्थले निर्वाहायान्यथाख्यातिरेष्टव्यैवेति । प्रकारान्तरेणान्यथाख्यातिमेव समर्थयति—**अपीति** । **अपि** । **च** । **यत्र** । **रङ्गरजतयोः** । **इमे रजतरङ्गे** । **इति** इत्याकारकमुभयत्रैव विपरीतम् । **ज्ञानं** जातमिति । **तत्र** तादृश-स्थले । **उभयत्र** रङ्गज्ञाने रजतज्ञाने च । **युगपत्प्रवृत्तिनिवृत्ती** एककालावच्छेदेनैव रजते रङ्गे च प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च । **स्यातां** भवेताम् । **रङ्गे** । **रङ्गभेदग्रहे** रङ्गे भेदग्रहस्वीकारे । **रजते** रजतभेदग्रहे । **च** । **अन्यथाख्यातिभयात्** भ्रमस्वीकारस्य अपरिहार्यत्वात् । **त्वन्मते** तव अख्यातिवादिनो मते । **दोषात्** लोभादिदोषवशात् । **एव हि** । **रङ्गे** । **रजतभेदाग्रहस्य** रजतभेदप्रकारकग्रहनिष्ठविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽभावस्य रङ्गविषयक-प्रवृत्तिकारणस्य । **रजते** । **रङ्गभेदाग्रहस्य** रङ्गभेदप्रकारकग्रहनिष्ठविशेष्यतासम्बन्धा-वच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽभावस्य रजतविषयकनिवृत्तिकारणस्य । **च** अपि । **सत्त्वात्** उप-स्थितेरिति । यद्युच्यते तत्तद्विशेष्ये तत्तद्विशिष्टबुद्धिं प्रति तत्तद्विशेषणात् तत्र विशेष्य-घटितसन्निकर्षः कारणं, तेन रजतघटितसंयुक्तसमवायेन रङ्गे न रजतत्वभानं न चान्यथा-ख्यातिसिद्धिरिति तन्न, तन्मतानुसारेण तु यत्र रङ्गरजतयोरिमे रङ्गरजते इति युगपदेव रङ्गरजतबुद्धिस्तत्र जनस्य युगपदेव प्रवृत्तिनिवृत्ती च स्यातां, यतो हि रजते भेदाग्रह-रूपप्रवृत्तिसामग्र्याः सत्त्वात्प्रवृत्तिरनिवार्या, रङ्गे तु अनिष्टभेदाग्रहरूपनिवृत्तिसामग्र्याः सत्त्वात्सैवापरिहार्या । इति । रङ्गे रजतभेदाग्रहप्रयोजकदोषस्य प्रतिबन्धकत्वान्न रङ्गे निवृत्तिः रजते रङ्गभेदासंसर्गग्रहप्रयोजकदोषस्य प्रतिबन्धकत्वान्न रजते प्रवृत्तिरिति कथमुच्यते उभयत्र युगपत्प्रवृत्तिनिवृत्ती स्यातामित्यत आह—**किञ्चेति** । **किञ्च** । **अनुमितिम्** अनुमां प्रति—अख्यातिवादिमते अनुमितिज्ञानं प्रति व्याप्यवद्भेदाग्रहो हेतुरस्ति विशिष्टज्ञानं वा । तत्र । **भेदाग्रहस्य** व्याप्यवद्भेदाग्रहस्य । **हेतुत्वे** कारणत्वे । **जलह्रदे** । **वह्निव्याप्यधूमवद्भेदाग्रहात्** वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतभेदाग्रहात् । **अनुमितिः** ह्रदो वह्निमानित्याकाराऽन्यथाख्यातिरूपानुमितिः । **निराबाधा** स्पष्टसिद्धा । **यदि** । **च** पक्षान्तरे । **विशिष्टज्ञानम्** । **कारणम्** । **तदा** । **अयोगोलके** लोहपिण्डे । **वह्निव्याप्य-धूमज्ञानम्** । **अनुमित्यनुरोधात्** अन्यथाख्यातिरूपानुमितिप्रेरणया । **आपतितम्** उभयत एव सिद्धाऽन्यथाख्यातिः । **सा** । **इयम्** । **उभयतः पाशा रज्जुः** न कुतोऽपि क्षेम । प्रकरण-मुपसंहरति—**इत्यमिति** । **इत्थं** निरुक्तदिशा । **च हि** । **अन्यथाख्यातौ** एकस्यान्यथा-प्रतीतिरिति मते तत्सिद्धाविति । **प्रत्यक्षम्** । **एव** । **प्रमाणम्** अनुव्यवसायात्मकमिति ।

रङ्गम् । **रजततया** । **अवेदिषम्** अजानम् । **इति** इत्थम् । **अनुभवात्** अनुभवबलात् । **इति** । **सङ्क्षेपः** । विस्तरस्त्वन्यत्रेति ॥ १३६ ॥

हिन्दी—न तो संवादी प्रवृत्ति में विशिष्ट ज्ञान कारण होता है और विसंवादी में भेद का ग्रहण न होना कारण होता है, ऐसा कहना ही उचित है, क्योंकि लाघव की दृष्टि से प्रवृत्तिमात्र में उसका (विशिष्ट ज्ञान का) हेतुत्व कल्पित है ।

इस प्रकार भी रङ्ग में रजतत्वविशिष्टबुद्धि के अनुरोध से ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति की कल्पना में भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि फलोन्मुख गौरव-दोष नहीं माना जाता।

जहाँ रङ्ग एवं रजत में 'इमे रजते रङ्गे वा' इस प्रकार का ज्ञान होता है वहाँ कारण का बाध भी नहीं होता ।

और भी रङ्ग एवं रजत में 'इमे रजतरङ्गे' इस प्रकार का ज्ञान होता है वहाँ दोनों में एक साथ प्रवृत्ति एवं निवृत्ति होंगे, क्योंकि रङ्ग में रङ्गभेदग्रह से और रजत में रजतभेदग्रह से अन्यथाख्याति के माने जाने का भय रहता है। आपके मत में तो दोष के कारण से ही रङ्ग में रजतभेद का अग्रह एवं रजत में रङ्गभेद का अग्रह रहता है ।

और यह भी कि अनुमिति के प्रति भेदाग्रह का हेतुत्व होने पर जलह्रद में वह्नि से व्याप्य धूम से युक्त पर्वत के साथ भेदाग्रह से अन्यथाख्याति रूप अनुमिति निर्बाध होती है । यदि विशिष्ट ज्ञान को कारण माना जाय तब भी अयोगोलक में वह्नि से व्याप्य धूम का ज्ञान अनुमिति के अनुरोध से आ ही जायेगा । इस तरह किसी भी प्रकार से अन्यथाख्याति माननी ही पड़ेगी ।

इस प्रकार अन्यथाख्याति में प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, क्योंकि 'रङ्ग को रजत के रूप में मैंने जाना' ऐसा अनुभव होता है । यह सङ्क्षेप में कहा गया ॥ १३६ ॥

व्यभिचारस्याग्रहोऽपि सहचारग्रहस्तथा ।
हेतुर्व्याप्तिग्रहे तर्कः क्वचिच्छङ्कानिवर्तकः ॥ १३७ ॥

पूर्वं व्याप्तिरुक्ता तद्ग्रहोपायस्तु न दर्शित इत्यतस्तं दर्शयति - व्यभिचारस्येति । व्यभिचाराग्रहः सहचारग्रहश्चेति व्याप्तिग्रहे कारणम् । व्यभिचारग्रहस्य व्याप्तिग्रहे प्रतिबन्धकत्वात्तदभावः कारणमित्यर्थः । एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां सहचारग्रहस्यापि हेतुता । भूयोदर्शनं तु न कारणं व्यभिचारास्फूर्तौ सकृद्दर्शनेऽपि क्वचिद्व्याप्तिग्रहात् क्वचिद्व्यभिचारशङ्काविधूननद्वारा भूयोदर्शनमुपयुज्यते । यत्र तु भूयोदर्शनादपि शङ्का नापैति तत्र विपक्षबाधकतर्कोऽपेक्षितः । तथा हि—वह्निविरहिण्यपि धूमः स्यादिति यद्याशङ्का भवति तदा सा वह्निधूमयोः कार्यकारणभावस्य प्रतिसन्धानान्निवर्तते । यद्ययं वह्निमान् न स्यात्तदा धूमवान् न स्यात्, कारणं विना कार्यानुत्पत्तेः । यदि च कञ्चित्कारणं विना कार्यं भविष्यति तदाऽहेतुक एव भविष्यतीति तत्राऽप्याशङ्का भवेत्तदा

सा व्याघातादपसारणीया। यदि कारणं विना कार्यं स्यात्तदा धूमार्थं वह्नेस्तृप्त्यर्थं भोजनस्य वा नियमत उपादानं तवैव न स्यादिति। यत्र स्वत एव शङ्का नावतरति तत्र न तर्कापेक्षाऽपीति तदिदमुक्तं तर्कः क्वचिच्छङ्कानिवर्तक इति ॥ १३७ ॥

आलोकः—ज्ञाने प्रामाण्यमनुमेयमिति यत्प्रतिपादितं तत्प्रसङ्गतः व्याप्तिग्रहोपायं निर्दिशति (यद्वा प्रामाण्यस्य परतोग्राह्यत्वं तदैव सम्भवति यदा व्याप्तिनिश्चयो भवति किन्तु स एव नोत्पत्तिमर्हति, निश्चायकसामग्र्यभावादित्याशङ्कायामाह) परममूले—**व्यभिचारस्येति**। व्याप्तिग्रहे व्यभिचारस्य अग्रहः तथा सहचारग्रहः अपि हेतुः तर्कः क्वचित् शङ्कानिवर्तकः इति। **व्याप्तिग्रहे** व्याप्तिः हेत्वधिकरणनिष्ठसाध्यसमानाधिकरण्यं तस्याः ग्रहो ज्ञानं तत्र। **व्यभिचारस्य** व्यभिचारो हेतुसत्त्वे साध्याभावस्तस्य। **अग्रहः** अज्ञानमग्रहणमिति। **तथा** एवमेव। **सहचारग्रहः** सहचारो हेतुना सह साध्यसामानाधिकरण्यं तस्य ग्रहो ज्ञानम्। **अपि च**। **हेतुः** कारणमित्येतद्द्वयमिति। **तर्कः** ऊहः स च व्याप्याविरोधेन व्यापकारोपः। **क्वचित्** यत्र व्याप्तिनिश्चये प्रतिबन्धकत्वं तत्र। **शङ्कानिवर्तकः** शङ्कायाः व्यभिचारशङ्कायाः निवर्तको निरासकः भवतीति। मूले कारिकाशयं विवृणोति अवसरसङ्गतिनिर्देशपुरस्सरं—**पूर्वमिति**। **पूर्वं** प्रागेव अनुमाननिरूपणावसरे। **व्याप्तिः** हेतुनिष्ठसाध्यसामानाधिकरण्यम्। **उक्ता** प्रतिपादिता—'व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्न सम्बन्ध उदाहृतः' (का० ६८) 'अथवा हेतुमन्निष्ठविरहाप्रतियोगिना। साध्येन हेतोरेकाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यते'॥ (का० ६९) इत्यादिना पूर्वपक्षव्याप्तिः सिद्धान्तव्याप्तिश्च निरूपितेति। **तद्ग्रहोपायः** तस्याः व्याप्तेः ग्रहस्य निश्चयस्य ज्ञानस्येति उपायः साधनम्। **तु** हि। **न**। **दर्शितः** निरूपितः। **इति**। **अतः** हेतोः। **तं** व्याप्तिग्रहोपायम्। **दर्शयति** प्रकाशयति। **व्यभिचारस्येति** कारिकाप्रतीकमिदम्। कारिकार्थमाह—**व्यभिचारेति**। **व्यभिचाराग्रहहेतुसत्त्वे** साध्याभावो व्यभिचारस्तस्य अग्रहोऽस्वीकारः। **सहचारग्रहः** हेतुना साध्यसामानाधिकरण्यं सहचारस्तस्य ग्रहो ज्ञानम्। **च** इत्येतद्द्वयम्। **व्याप्तिग्रहे** व्याप्तिनिश्चये। **कारणं** हेतुरिति। व्यभिचाराग्रहस्येत्येतस्याशयं प्रयोजनञ्चाह—**व्यभिचारग्रहस्येति**। **व्यभिचारग्रहस्य** हेतुसत्त्वेऽपि साध्याभावज्ञानस्य। **व्याप्तिग्रहे** व्याप्तिनिश्चये। **प्रतिबन्धकत्वात्** निरोधकत्वात्। **तदभावः** तस्य व्यभिचारस्य अभावो विरहः। **कारणं** व्याप्तिग्रहे हेतुरिति। **इति** इत्थम्। **अर्थः** आशयः व्यभिचारस्याग्रहस्येत्येतस्य। **एवम्** इत्थमपि। **अन्वयव्यतिरेकाभ्यां** सहचारज्ञानसत्त्वे व्याप्तिनिश्चय इत्यन्वयः, तदभावे तदभावो व्यतिरेकस्ताभ्याम्। **सहचारग्रहस्य** हेतुसाध्यसामानाधिकरण्यज्ञानस्य। **अपि च**। **हेतुता** कारणता। तत्र **भूयोदर्शनम्** असकृद् विलोकनम्। **न**। **कारणं** व्याप्तिनिश्चये हेतुः। यथा हि केचिदामनन्तीति। तत्र हेतुम् (व्यतिरेकव्यभिचारम्) आह—**व्यभिचारास्फूर्तौ** इति। **व्यभिचारास्फूर्तौ** व्यभिचारस्य हेतुसत्त्वेऽपि साध्याभावस्य अस्फूर्तौ अननुभवे। **सकृद्दर्शने** एकवारविलोकने। **अपि च**। **क्वचित्** कुत्रचित्तु। **व्याप्तिग्रहात्** व्याप्तिनिश्चयात्। कथं तर्हि प्राचीनैर्भूयोदर्शनस्य व्याप्तिनिश्चये हेतुताऽङ्गीकृतेत्यत आह—**क्वचिदिति**। **क्वचित्** कुत्रचित्तु। **व्यभिचार-**

शङ्काविधूननद्वारा व्यभिचारस्य शङ्का संशयस्तस्य विधूननमपाकरणं तद्द्वारा । **भूयोदर्शनम्** असकृदवलोकनम् । **उपयुज्यते** व्याप्तिनिश्चये प्रयुज्यत इति । तेन भूयोदर्शनस्य व्याप्तिग्रहेऽहेतुत्वेऽपि क्वचिद्व्यभिचारसंशयापाकरणायोपयोगितया तदादर इति । यदि भूयोदर्शनादपि दोषमाहात्म्याद् व्यभिचारशङ्का नापैति तदा व्याप्तिग्रहोपायमाह— **यत्रेति** । **यत्र** यस्मिन् स्थले । **तु** हि । **भूयोदर्शनात्** असकृदवलोकनात् । **अपि च** । **शङ्का** व्यभिचारसंशयः । **न** । **अपैति** निराकृता भवति । **तत्र** तादृशस्थले । **विपक्षे** यद्धेत्वधिकरणे साध्याभावभ्रमस्तत्र । **बाधकः** शङ्कानिवर्तकः । **तर्कः** यदि वह्निमान्न स्यात्तदा धूमवान्नपि न स्यादित्याकारको विमर्शः । **अपेक्षितः** आवश्यक इति । तदेवोपपादयति—**तथा हीति** । **वह्निविरहिणि** वह्न्यभाववति । **अपि च** । **धूमः** तरिः । **स्यात्** सम्भवेत् । **इति** इत्थम् । **यदि** । **आशङ्का** संशयः । **भवति** उत्पद्यते । **तदा** तदवस्थायाम् । **सा** वह्न्यभावाशङ्का । **वह्निधूमयोः** वह्नेर्धूमस्य च । **कार्यकारणभावस्य** हेतुहेतुमद्भावस्य धूमस्य वह्निः कारणमिति यथार्थस्य । वह्निनिष्ठकारणत्वस्य धूमनिष्ठकार्यत्वस्य च । **प्रतिसन्धानात्** विमर्शेन निश्चयात् । **निवर्तते** प्रणश्यति । कार्यकारणभावप्रतिसन्धानप्रकारमाह—**यदीति** । **यदि** । **अयं** पक्षः । **वह्निमान्** वह्निविशिष्टः । **न** । **स्यात्** । **तदा** तदवस्थायाम् । **धूमवान्** धूमविशिष्टः । **न** । **स्यात्** । **कारणं** हेतुम् । **विना** । **कार्यानुत्पत्तेः** **कार्यस्य** जन्यस्य **अनुत्पत्तेः** अनुदयात् । **यदि** । **च** हि । **क्वचित्** । **कारणं** हेतुम् । **विना** । **अपि** । **कार्यं** जन्यम् । **भविष्यति** उत्पत्स्यते । **तदा** तदवस्थायाम् । **अहेतुकः** निष्कारणः । **एव** हि । **भविष्यति** । **इति** इत्थम् । **तत्र** तादृशस्थले । **अपि च** । **आशङ्का** संशयः । **स्यात्** । **तदा** । **सा** उभयविधैवाशङ्का । **व्याघातात्** अनुपपत्तितः । **अपसारणीया** निराकरणीया । **यदि** हि । **कारणं** हेतुम् । **विना** । **कार्यं** जन्यम् । **स्यात्** । **तदा** । **धूमार्थं** धूमनिमित्तम् । **वह्नेः** अग्नेः । **वा** **तृप्त्यर्थं** तृप्तिनिमित्तम् । **भोजनस्य** । **नियमतः** । **उपादानं** ग्रहणम् । **तव** । **एव** । **न** । **स्यात्** । **इति** । कारणं विना कार्यं कुतो न मन्येतेति शङ्का व्याघातान्निवारणीयेति भावः । व्याघाताकारश्च यदि जनकं विना जन्यं भवेत्तदा धूमार्थं वह्नेस्तृप्त्यर्थं भोजनस्य चोपादानमेव न भवेदिति । अर्थात् यथा हि वह्निं विना धूमस्य भोजनं विना तृप्तेश्चासम्भवस्तथैव कारणं (जनकं) विना न कार्य(जन्य)सम्भव इति । **यत्र** यस्मिस्थले । **स्वतः** स्वसामग्रीविरहयुक्तः । **एव** हि । **शङ्का** संशयः । **न** । **अवतरति** उत्पद्यते, उत्पन्नाऽपि भूयोदर्शनादिना निवर्तते । **तत्र** तादृशस्थले । **न** । **तर्कापेक्षा** तर्कविश्यकतानुभवः । **अपि** । **इति** हेतोः । **तत्** तस्मात् । **इदम्** । **उक्तम**भिहितम् । **तर्कः क्वचिच्छङ्कानिवर्तकः** इति । यत्र व्यभिचारशङ्का तत्रैव तर्कापेक्षेति भावोऽस्य ।। १३७ ।।

हिन्दी – हेतु के रहने पर भी साध्य का अभाव व्यभिचार है और उस व्यभिचार का अग्रह एवं सहचार (हेतु के साथ का सामानाधिकरण्य) का ज्ञान, ये दोनों व्याप्ति-निश्चय के हेतु हैं । कहीं व्यभिचार की शङ्का हो तो तर्क उसका निवर्तक होता है ।

पहले व्याप्ति बतलाई गई, उसके निश्चय का उपाय तो बतलाया नहीं गया, इस कारण उसे दर्शाते हैं—**व्यभिचारस्येति** । व्यभिचार का अग्रह (शङ्का न होना)

एवं सहचार का ज्ञान (व्याप्तिनिश्चय के) कारण होते हैं। व्यभिचार-ज्ञान का व्याप्तिनिश्चय में प्रतिबन्धक होने से उसका अभाव व्याप्तिनिश्चय के कारण में आता है, ऐसा इसका अर्थ है। इसी प्रकार अन्वय एवं व्यतिरेक से व्याप्तिनिश्चय में सहचार ज्ञान की भी कारणता होती है। भूयोदर्शन (फिर देखना) तो कारण नहीं होता, क्योंकि व्यभिचार स्फूर्त न होने पर एक बार के दर्शन में भी कहीं-कहीं व्याप्तिनिश्चय होता है। कहीं तो व्यभिचार की शङ्का के निवारण के द्वारा भूयोदर्शन भी व्याप्तिनिश्चय में उपकारक होता है। जहाँ भूयोदर्शन से भी शङ्का का निवारण नहीं होता वहाँ विपक्ष अर्थात् व्यभिचार में बाधक तर्क अपेक्षित होता है। जैसे कि वह्नि न होने वाले में भी धूम होता है, ऐसी आशङ्का होती है; तब वह शङ्का वह्नि एवं धूम के कार्यकारणभाव के प्रतिसन्धान से निवृत्त हो जाती है। यदि यह वह्नि से युक्त न होता तब धूम से युक्त भी न होता, क्योंकि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। यदि फिर कहीं कारण के बिना भी कार्य हो जाय तब हेतु के बिना ही होगा, ऐसी उसमें आशङ्का हो तो उसका व्याघात (तर्क) से निवारण करना चाहिए। यदि कारण के बिना भी कार्य होता तब धूम के लिए वह्नि का एवं तृप्ति के लिए भोजन का उपादान आपका ही न होता। जहाँ स्वतः ही शङ्का नहीं उठती वहाँ तर्क की अपेक्षा नहीं होती। इसी हेतु कहा गया है—तर्क कहीं तो शङ्का का निवारक होता है ॥ १३७ ॥

साध्यस्य व्यापको यस्तु हेतोरव्यापकस्तथा ।
स उपाधिर्भवेत्तस्य निष्कर्षोऽयं प्रदर्श्यते ॥ १३८ ॥

इदानीं परकीयव्याप्तिग्रहप्रतिबन्धार्थमुपाधिं निरूपयति—साध्यस्येति। साध्यत्वाभिमतव्यापकत्वे सति साधनत्वाभिमताव्यापकत्वमुपाधिरित्यर्थः। ननु स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यत्र शाकपाकजन्यत्वं नोपाधिः स्यात्तस्य साध्यव्यापकत्वाभावाच्छ्यामत्वस्य घटादावपि सत्त्वात्। एवं वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वादित्यत्रोद्भूतरूपवत्त्वं नोपाधिः स्यात्प्रत्यक्षत्वस्यात्मादिषु सत्त्वात्तत्र च रूपाभावात्। एवं ध्वंसो विनाशी जन्यत्वादित्यत्र भावत्वं नोपाधिः स्याद्विनाशित्वस्य प्रागभावेऽपि सत्त्वात्, तत्र च भावत्वाभावादिति चेन्न। यद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वं तद्धर्मावच्छिन्नसाधनाव्यापकत्वमित्यर्थे तात्पर्यात्। मित्रातनयत्वावच्छिन्नश्यामत्वस्य व्यापकं शाकपाकजत्वं तदवच्छिन्नसाधनाव्यापकञ्च। एवं पक्षधर्मबहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्वस्य व्यापकमुद्भूतरूपवत्त्वं बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नसाधनस्याव्यापकञ्च। एवं ध्वंसो विनाशी जन्यत्वादित्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नसाध्यव्यापकं भावत्वम्। सद्धेतौ त्वेतादृशो धर्मो नास्ति यदवच्छिन्नस्य साध्यस्य व्यापकं तदवच्छिन्नस्य साधनस्य चाव्यापकं किञ्चित्स्यात्। व्यभिचारिणि तूपाध्यधिकरणं यत्साध्याधिकरणं यच्चोपाधिशून्यं साध्यव्यभिचाराधिकरणं तदन्यतरत्वा-

वच्छिन्नस्य साध्यस्य व्यापकत्वं साधनस्य चाव्यापकत्वमुपाधेरन्ततः सम्भवतीति ।। १३८ ।।

आलोकः—अथ प्रसङ्गसङ्गत्या उपाधिं निरूपयति परममूले—**साध्यस्येति** । यः साध्यस्य व्यापकः तथा हेतोः तु अव्यापकः स उपाधिः भवेत् तस्य अयं निष्कर्षः प्रदर्श्यत इति । **यः** य एव । **साध्यस्य** साध्यत्वेनाभिमतस्य यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र आर्द्रेन्धनसंयोगः इति व्याप्तौ धूमस्येति । **व्यापकः** । **तथा** । **हेतोः** हेतुत्वेनाभिमतस्य यथोक्तव्याप्तौ वह्न्यादेः । **अव्यापकः** यत्र यत्र वह्निस्तत्र तत्र आर्द्रेन्धनसंयोग इति नियमाभावात् । **सः** तादृशो धर्मः । **उपाधिः** तदाख्यव्याप्तिप्रतिबन्धको धर्मः । **भवेत्** इति । साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिरित्याशयो यद्वा यो यद्व्यापकत्वे सति यदव्यापकः स तत्रोपाधिरिति । एवं यस्य यद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वं तद्धर्मावच्छिन्नसाधनाव्यापकत्वञ्च स तत्साध्यकतद्धेतावुपाधिः । यथाऽऽर्द्रेन्धनं साध्यस्य धूमस्य व्यापकं भवति तत्साधनस्य वह्नेरव्यापकम् । आद्ये यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्रार्द्रेन्धनसंयोग इति नियमः अन्ते च तदभावो हि तप्तायःपिण्डे वह्निसत्त्वेऽप्यार्द्रेन्धनाभावात् । नव्यमते तु यदभावेन यद्वदन्यत्वेन वा साधनवति साध्याभाव उन्नीयते स उपाधिरिति । **तस्य** उपाधेः । **अयं** वक्ष्यमाणप्रकारः । **निष्कर्षः** सिद्धस्वरूपम् । **प्रदर्श्यते** निरूप्यते इति । मूले विषयनिर्देशपुरस्सरं कारिकाशयं विवृणोति—**इदानीमिति** । **इदानीं** व्याप्तिग्रहोपायनिरूपणानन्तरं व्याप्तिनिश्चयाभावप्रयोजकव्यभिचारशङ्काकारणज्ञानविषयत्वेनोपाधेः स्मरणे सति । **परकीयव्याप्तिग्रहप्रतिबन्धार्थं** परकीया स्वेतरसम्बद्धा या व्याप्तिस्तस्याः ग्रहो ज्ञानं तस्य प्रतिबन्धो निरोधस्तदर्थं तन्निमित्तम् । स्वव्याप्तिकोटौ परकीयव्याप्तिप्रवेशो मा भूदिति । **उपाधिम्** उपाधेः स्वरूपं लक्षणञ्च । **निरूपयति** प्रसङ्गसङ्गत्या विवेचयतीति । **व्याप्यस्येति** । कारिकाप्रतीकमिदम् । तदर्थमाह—**साध्येति** । **साध्यत्वाभिमतव्यापकत्वे** साध्यत्वेन साधनीयत्वेन अभिमते सम्मते व्यापकत्वे व्याप्तत्वेन स्थितत्वे । **सति** । **साधनत्वाभिमताव्यापकत्वं** साधनत्वेन कारणत्वेन अभिमते अव्यापकत्वं व्यापकत्वाभावः । **उपाधित्वम्** । **इति** । **अर्थः** आशयः । इति । उक्तलक्षणेऽव्याप्तिदोषमाशङ्क्य समाधत्ते—**नन्विति** । **ननु** । **सः श्यामो मित्रातनयत्वात्** स इति काक इति केचित्, परे तु तच्छब्दोऽत्र । श्याममित्रातनयव्यक्तिपरः इति । द्वितीयपक्षाश्रये ध्वंसो विनाशी जन्यत्वादित्यादिवक्ष्यमाणेन पौनरुक्त्यापत्तेरित्यन्ये । काकपरत्वे प्रथमहेतोः स्वरूपासिद्धत्वरूपदोषान्तरसङ्कीर्णव्यभिचारित्वात् वक्ष्यमाणजन्यत्वरूपहेतोर्बाधितत्वरूपदोषान्तरसङ्कीर्णव्यभिचारित्वाच्च न पौनरुक्त्यापत्तिरिति तन्मतम् । वस्तुतस्तु तच्छब्दस्य मित्रातनयव्यक्तिविशेषपरत्वेऽपि न पौनरुक्त्यं, मित्रातनयत्वहेतोः केवलव्यभिचारित्वात् जन्यत्वहेतोर्बाधितत्वरूपदोषान्तरसङ्कीर्णव्यभिचारित्वाच्च । न च तस्य बाधितत्वे प्रमाणाभाव इति वाच्यं, ध्वंसस्य ध्वंसस्वीकारे घटोन्मज्जनप्रसङ्गरूपबाधकस्यैव प्रमाणत्वात् इति प्रभायाम् । काकपक्षे तु मित्रातनयत्वहेतोः स्वरूपासिद्धेः उपाधिलक्ष्यबहिर्भूतत्वाद् द्वितीयपक्ष एव ग्राह्य इत्यत्र स इति मित्रातनयव्यक्तिपर एवार्थो गृह्यते । **सः** बालकः । **श्यामः** श्यामवर्णः । **मित्रातनयत्वात्** मित्रा नाम्नी

काचित् स्त्री तस्या तनयः पुत्रस्तत्वात् इति । अत्र श्यामत्वं साध्यं मित्रातनयत्वादिति हेतुः । **इत्यत्र** । **शाकपाकजत्वं** शाकाद्याहारपरिणामजन्यत्वम् । **न** । **उपाधिः** । **स्यात्** । **तस्य** शाकपाकजन्यत्वस्य । **साध्यव्यापकत्वाभावात्** साध्यं श्यामत्वे व्यापकत्वस्य अभावात् यत्र यत्र श्यामत्वं तत्र तत्र शाकपाकजन्यत्वमिति नियमाभावात् । **श्यामत्वस्य** । **घटादौ** । **अपि** । **सत्त्वात्** । **भावात्** । घटादौ यच्छ्यामत्वं न तच्छाकपाकजन्यत्वमिति न श्यामरूपसाध्यव्यापकत्वं शाकपाकजन्यस्येति । **एवम्** । **वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्** । **इत्यत्र** । **उद्भूतरूपवत्वं** प्रकटरूपयुक्तत्वम् । **न** । **उपाधिः** । **स्यात्** । **प्रत्यक्षत्वस्य** प्रत्यक्षभावस्य । **आत्मादिषु** आत्मप्रभृतिषु । **सत्त्वात्** भावात् । **तत्र** आत्मादिषु । **च** हि । **रूपाभावात्** रूपविरहात् । यत्र यत्र प्रत्यक्षत्वं तत्र तत्र रूपवत्त्वमिति न नियम आत्मादिषु प्रत्यक्षत्वसत्त्वेऽपि रूपवत्त्वाभावादिति । **एवम्** । **ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात्** । **इत्यत्र** । **भावत्वं** भावपदार्थता । **न** । **उपाधिः** । **स्यात्** । **विनाशित्वस्य** ध्वंसप्रतियोगित्वस्य । **प्रागभावे** । **अपि** । **सत्त्वात्** । **तत्र** प्रागभावे । **भावत्वाभावात्** भावत्वविरहात् । विनाश्यभावत्वं प्रागभावत्वं जन्याभावत्वं ध्वंसत्वमिति । इत्थं हि 'स श्यामः' इत्यादौ साधनावच्छिन्नसाध्दव्यापकोपाधौ वायुः प्रत्यक्ष इत्यादौ पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकोपाधौ ध्वंसो विनाशी इत्यादौ साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकोपाधौ अव्याप्तय **इति** । **चेत्** । **न** । **यद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वं** यादृशधर्मविशिष्टसाध्येनोपाधेः सहचारः । **तद्धर्मावच्छिन्नसाधनाव्यापकत्वं** तादृशधर्मविशिष्टसाधनेऽव्यापकत्वम् । **इति** एतद्रूपे । **अर्थे** आशये । **तात्पर्यात्** लक्षणाभिप्रायात् । **मित्रातनयत्वावच्छिन्नश्यामत्वस्य** मित्रातनयनिरूपितं यच्छ्यामत्वं तस्य । साध्यभूतस्य । **व्यापकम्** । **शाकपाकजन्यत्वं** शाकादिभोजनोत्पाद्यत्वम् । **तदवच्छिन्नसाधनाव्यापकं** मित्रातनयत्वावच्छिन्नश्यामत्वसाधनेऽव्यापकम् । **च** इति नाव्याप्तिरिति । सामानाधिकरण्येन मित्रातनयत्वावच्छिन्नश्यामत्वस्य व्यापकं शाकपाकजन्यत्वं तादात्म्येन मित्रातनयत्वावच्छिन्नमित्रातनयत्वरूपसाधनस्याव्यापकञ्चेति नाव्याप्तिरित्याशयः । **एवम्** । **द्वितीयापत्तौ** । **पक्षधर्मबहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्वस्य** पक्षस्य वायोर्धर्मो यद् बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्वं तस्य । **व्यापकम्** । **उद्भूतरूपत्वं** तत् । **बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नसाधनस्य** बहिर्द्रव्यत्वविशिष्टप्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्मकहेतोः । **अव्यापकम्** । **च** । इति नाव्याप्तिरिति । **एवम्** । **ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात्** । **इत्यत्र** । **जन्यत्वावच्छिन्नसाध्यव्यापकं** जन्यत्वेन उत्पाद्यत्वेन अवच्छिन्नं निरूपितं यत्साध्यं तत्र व्यापकम् । **भावत्वम्** । **बोध्यम्** । तदवच्छिन्नं यत्साधनं तत्राव्यापकमिति लक्षणसमन्वय इति । **सद्धेतौ** शुद्धहेतुस्थले । **तु** तद्विपरीतम् । **एतादृशः** एतद्विधः । **धर्मः** । **न** । **अस्ति** । **यदवच्छिन्नस्य** यादृशनिरूपितस्य । **साध्यस्य** वह्न्यादेः । व्यापकम् । **तदवच्छिन्नस्य** तादृशधर्मावच्छिन्नस्य । **साधनस्य** हेतोः । **च** अपि । अव्यापकम् । **किञ्चित्** किमपि । **स्यात्** । 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादिसद्धेतौ तु यद्धि साध्यव्यापकं तदेव साधनव्यापकमपि । **व्यभिचारिणि** व्यभिचारयुक्तहेतुस्थले धूमवान् वह्नेरित्यादौ । **तु** तद्विलक्षणम् । **उपाध्यधिकरणम्** उपाधेरधिकरणं पर्वतमहानसादि । **यत्** । **साध्याधिकरणं** साध्यस्य

धूमादेरधिकरणमाश्रयः । **यत्** । **च** । **उपाधिशून्यम्** आर्द्रेन्धनसंयोगरूपोपाधिरहितम् । अयोगोलकादि । **साध्यव्यभिचाराधिकरणं** साध्यस्य धूमादेर्व्यभिचारस्य अभावस्याधिकरणमाश्रयः । **तदन्यतरत्वावच्छिन्नस्य** तद्भिन्नत्वनिरूपितस्य पर्वतायोगोलकान्यतरत्वविशिष्टस्य । **साध्यस्य** धूमादेः । **व्यापकत्वं** साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वम् । **साधनस्य** वह्न्यादेः । **अव्यापकत्वं** साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् । **उपाधेः** । **अन्ततः** तादृशधर्मान्तरस्यास्फूर्तौ । **सम्भवति** । **इति** हेतोरेतादृश उपाधिः शुद्धसाध्यव्यापक इति ॥ १३८ ॥

हिन्दी—जो साध्य का तो व्यापक होता है लेकिन हेतु का व्यापक नहीं होता, वह उपाधि है और उस उपाधि का यह निष्कर्ष बतलाया जाता है।

अब (व्याप्तिनिश्चय के उपाय के निरूपण के बाद) परकीय व्याप्तिग्रह के प्रतिबन्ध के लिए उपाधि का निरूपण करते हैं—**साध्यस्येति** । साध्य के रूप में जो अभिमत है, उसमें व्यापक होने पर जो साधन के रूप में अभिमत है, उसमें वह उपाधि अव्यापक है, ऐसा इसका आशय है। **'स श्यामो मित्रातनयत्वात्'** इत्यादि में शाकपाक से जन्यत्व उपाधि नहीं है, क्योंकि उसकी साध्य में व्यापकता का अभाव है, क्योंकि श्यामत्व घट आदि में भी होता है, जो कि शाकपाकजन्य नहीं है। इसी तरह **'वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्'** इत्यादि में उद्भूतरूपवान् होना उपाधि नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षत्व तो आत्मा आदि में भी रहता है और उनमें रूप का अभाव होता है। इसी तरह **'ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात्'** इत्यादि में भावत्व उपाधि नहीं है, क्योंकि विनाशित्व प्रागभाव में भी रहता है, किन्तु उसमें भावत्व का अभाव होता है। यदि ऐसा कहा जाय तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि जिस धर्म से विशिष्ट साध्य का व्यापकत्व है उसी धर्म से अवच्छिन्न साधन का अव्यापकत्व लिया जाता है, ऐसे अर्थ में तात्पर्य है। मित्रातनयत्व से अवच्छिन्न श्यामत्व का व्यापक शाकपाकजत्व उसी के द्वारा अवच्छिन्न साधन में अव्यापक भी है। इसी प्रकार पक्ष का धर्म जो बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्न प्रत्यक्षत्व है, उसका व्यापक जो उद्भूतरूपवत्त्व है, वह बहिर्द्रव्यत्व से अवच्छिन्न साधन का अव्यापक भी है। इसी तरह 'ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात्' में जन्यत्व से अवच्छिन्न साध्य का व्यापक भावत्व है। (जन्यत्व से अनवच्छिन्न साध्य का नहीं)। सत् हेतु में तो इस प्रकार का धर्म नहीं होता, जो जिसके द्वारा अवच्छिन्न साध्य का व्यापक है उसी के द्वारा अवच्छिन्न साधन का अव्यापक कुछ भी हो। व्यभिचारी हेतु में तो उपाधि का अधिकरण जो साध्य का अधिकरण है और जो उपाधि से शून्य साध्य के व्यभिचार का अधिकरण है, उससे भिन्नत्व से अवच्छिन्न साध्य का व्यापकत्व एवं साधन का अव्यापकत्व उपाधि का अन्ततः सम्भव होता है ॥ १३८ ॥

सर्वे साध्यसमानाधिकरणाः स्युरुपाधयः ।
हेतोरेकाश्रये येषां स्वसाध्यव्यभिचारिता ॥ १३९ ॥

अत एव लक्ष्यमप्युपाधिस्वरूपमेतदनुसारेण दर्शयति—सर्व इति । स्वमुपाधिः स्वञ्च साध्यञ्च स्वसाध्ये तयोर्व्यभिचारितेत्यर्थः ॥ १३९ ॥

आलोकः—पूर्वकारिकायां 'तस्य निष्कर्षोऽयं प्रदर्श्यते' इति यदुक्तं तदनुसृत्योपाधेः सिद्धस्वरूपमाह परममूले—सर्वे इति। सर्वे उपाधयः साध्यसमानाधिकरणाः स्युः एकाश्रये स्वसाध्यव्यभिचारिता (भवति) इति। सर्वे निखिलाः। उपाधयः साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वधर्माः। साध्यसमानाधिकरणाः साध्यसमानाश्रयाः साध्यवद्वृत्त्यन्ताभावाप्रतियोगिनः इति। स्युः। येषाम् उपाधीनाम्। हेतोः साधनस्य। एकाश्रये यस्मिन्कस्मिँश्चिदप्यधिकरणे। स्वसाध्यव्यभिचारिता स्वमुपाधिः साध्यं धूमवान् वह्नेरित्यादौ धूमः तयोर्व्यभिचारिता साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्। भवतीति। येषामुपाधीनां हेतोरेकाश्रये स्वस्य च साध्यस्य च व्यभिचारिता ते सर्वे उपाधयः साध्यसमानाधिकरणवृत्तयो भवन्तीति। यथा हि धूमवान् वह्नेरित्यादौ आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधिर्धूमरूपसाध्यश्च समान एवाधिकरणे विद्येते। तथैव हेतोः कस्मिँश्चिदेकस्मिन्नाश्रये उभावेव न विद्येते। यथा हेतुभूतवह्नेरधिकरणे अयोगोलके नार्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधिर्न च धूमरूपसाध्यमेवेति। कारिकागतविषयनिर्देशं करोति मूले—अत इति। अतः यतो हि साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिरित्येतस्य यद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वं तद्धर्मावच्छिन्नसाधनाव्यापकत्वमुपाधिरिति तात्पर्यं तस्मात्। एव हि। एतदनुसारेण निरुक्तलक्षणानुसारेण। उपाधिरूपम्। लक्ष्यम्। अपि। दर्शयति उपस्थापयति। सर्वे इति। कारिकागतपदं विवृणोति—स्वसाध्येति। स्वसाध्यव्यभिचारिता इत्यत्र स्वमिति उपाधिः। स्वम् उपाधिश्च साध्यश्च स्वसाध्ये तयोः व्यभिचारिता। इति। अर्थः ॥ १३९ ॥

हिन्दी—जिन उपाधियों की हेतु के किसी एक आश्रय में अपनी और साध्य की व्यभिचारिता होती है, वे सभी उपाधियाँ साध्य के साथ समान अधिकरण में वृत्ति वाली होती हैं।

इस कारण निरुक्त-लक्षण के अनुसार उपाधिरूप लक्ष्य को दिखलाते हैं - सर्वे इति। स्वसाध्येति। स्व का अर्थ उपाधि है। स्व एवं साध्य दोनों की व्यभिचारिता, ऐसा अर्थ है ॥ १३९ ॥

व्यभिचारस्यानुमानमुपाधेस्तु प्रयोजनम्।

उपाधेर्दूषकताबीजमाह—व्यभिचारस्येति। उपाधिव्यभिचारेण हेतौ साध्यव्यभिचारानुमानमुपाधेः प्रयोजनमित्यर्थः। तथाहि—यत्र शुद्धसाध्यव्यापक उपाधिस्तत्र शुद्धेनैव उपाधिव्यभिचारेण साध्यव्यभिचारानुमानम्। यथा धूमवान् वह्नेरित्यादौ वह्निर्धूमव्यभिचारी, तद्व्यापकार्द्रेन्धनसंयोगव्यभिचारित्वादिति। व्यापकव्यभिचारिणो व्याप्यव्यभिचारावश्यकत्वात्। यत्र तु किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक उपाधिस्तत्र तद्धर्मवति उपाधिव्यभिचारेण साध्यव्यभिचारानुमानम्। यथा स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यादौ मित्रातनयत्वं श्यामत्वव्यभिचारि, मित्रातनये शाकपाकजत्वव्यभिचारित्वादिति। बाधानुन्नीतपक्षेतरस्तु साध्यव्यापकताग्राहकप्रमाणाभावात्स्वव्याघातकत्वाच्च नोपाधिः।

बाधोन्नीतस्तूपाधिर्भवत्येव। यथा वह्निरनुष्णः कृतकत्वादित्यादौ प्रत्यक्षेण वह्नावुष्णत्वग्रहे वह्नीतरत्वमुपाधिः। यत्र तूपाधेः साध्यव्यापकता सन्दिह्यते स सन्दिग्धोपाधिः। पक्षेतरस्तु सन्दिग्धोपाधिरपि नोद्भावनीयः, कथकसम्प्रदायानुरोधात्। केचित्तु सत्प्रतिपक्षोत्थापनमुपाधिफलम्। तथाहि—अयोगोलकं धूमवद् वह्नेरित्यादौ अयोगोलकं धूमाभाववदार्द्रेन्धनाभावादिति सत्प्रतिपक्षसम्भवात्। इत्थञ्च साधनाव्यापकोऽपि क्वचिदुपाधिः। यथा करका पृथिवी कठिनसंयोगवत्त्वादित्यादावनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वम्। न चात्र स्वरूपासिद्धिरेव दूषणमिति वाच्यं, सर्वत्रोपाधेर्दूषणान्तरसाङ्कर्यात्। अत्र च साध्यव्यापकः पक्षावृत्तिरुपाधिरित्याहुः।

आलोकः—इत्थमुपाधिस्वरूपं निरूप्य सम्प्रति उपाधिफलमाह परममूले—**व्यभिचारस्येति**। उपाधेः प्रयोजनं तु व्यभिचारस्य अनुमानम् इति। **उपाधेः** साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिरिति लक्षितस्य धर्मस्य। **प्रयोजनं** फलम्। **तु** हि। **व्यभिचारस्य** साध्यव्यभिचारस्य साध्याभाववद्वृत्तित्वस्य। **अनुमानं** व्याप्तिज्ञानकरणकज्ञानमिति मूले कारिकाविषयं निर्दिशति—**उपाधेरिति**। **उपाधेः** साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वधर्मस्य। **दूषकताबीजं** दूषणहेतुम्। **आह** कथयति। **व्यभिचारस्येति**। कारिकाशयमाह—**उपाधिव्यभिचारेणेति**। **उपाधिव्यभिचारेण** उपाधिगतव्यभिचारेण। **हेतौ** साधने। **साध्यव्यभिचारानुमानं** साध्ये धूमादौ व्यभिचारस्य अनुमानम्। **उपाधेः**। **प्रयोजनं** फलम्। **इति**। **अर्थः** आशयः। तदेवोपपादयति—**तथाहीति**। **तथाहि** इति निदर्शने। **यत्र** यस्मिन्स्थले। **शुद्धसाध्यव्यापकः** केवलसाध्यव्यापकः। **उपाधिः**। **तत्र** तादृशस्थले। **शुद्धेन** धर्माविशिष्टेन। **एव** हि। **उपाधिव्यभिचारेण** उपाधिगतव्यभिचारेण। **साध्यव्यभिचारानुमानं** साध्ये व्यभिचारस्य अनुमानम्। तन्निदर्शयति—**यथेति**। **यथा**। **धूमवान् वह्नेः इत्यादौ**। **वह्निः** हेतुभूतवह्निः। **धूमव्यभिचारी** धूमे व्यभिचारी अयोगोलकादौ वह्निसत्त्वेऽपि धूमाभावात्। **तद्व्यापकार्द्रेन्धनसंयोगव्यभिचारित्वात्** धूमव्यापको य आर्द्रेन्धनसंयोगस्तत्र व्यभिचारित्वात्। **इति हेतोः**। **व्यापकव्यभिचारिणः** साध्यव्यापकव्यभिचारिणः। **व्याप्यव्यभिचारावश्यकत्वात्** व्याप्यभूतसाध्यव्यभिचारस्यापरिहार्यत्वात्। **यत्र**। **तु** तद्विपरीतम्। **किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकः** यत्किञ्चिद्धर्मविशिष्टसाध्यव्यापकः। **उपाधिः**। **तत्र** तथाविधस्थले। **तद्धर्मवति** तद्धर्मविशिष्टे। **उपाधिव्यभिचारेण**। **साध्यव्यभिचारानुमानं** साध्यव्यभिचारस्य अनुमानम्। तन्निदर्शयति—**यथेति**। **यथा**। **स श्यामो मित्रातनयत्वात्**। **इत्यादौ**। **मित्रातनयत्वम्**। **श्यामत्वव्यभिचारि** न हि सर्वे मित्रातनयाः श्यामा इति। **मित्रातनये**। **शाकपाकजत्वव्यभिचारित्वात्**। इति। न हि सर्वेषु मित्रातनयेषु शाकपाकजन्यत्वमिति। **बाधानुन्नीतपक्षेतरः** बाधदोषसहकृतपक्षेतरत्वरूपधर्मः। **तु**। **साध्यव्यापकताग्राहकप्रमाणाभावात्** साध्यव्यापकताया ग्राहकं यत्प्रमाणं तस्याभावात्। **स्वव्याघातकत्वात्** स्वस्य पक्षस्य व्याघातकत्वाद् विरोधित्वात्। **च** हि। **न**। **उपाधिः**। **बाधोन्नीतः**

आलोक:—पूर्वकारिकायां 'तस्य निष्कर्षोऽयं प्रदर्श्यते' इति यदुक्तं तदनुसृत्योपाधेः सिद्धस्वरूपमाह परममूले—सर्वे इति। सर्वे उपाधयः साध्यसमानाधिकरणाः स्युः एकाश्रये स्वसाध्यव्यभिचारिता (भवति) इति । सर्वे निखिलाः । उपाधयः साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वधर्माः । साध्यसमानाधिकरणाः साध्यसमानाश्रयाः साध्यवद्वृत्त्यन्ताभावाप्रतियोगिनः इति । स्युः । येषाम् उपाधीनाम् । हेतोः साधनस्य । एकाश्रये यस्मिन्कस्मिश्चिदप्यधिकरणे । स्वसाध्यव्यभिचारिता स्वमुपाधिः साध्यं धूमवान् वह्नेरित्यादौ धूमः तयोर्व्यभिचारिता साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् । भवतीति । येषामुपाधीनां हेतोरेकाश्रये स्वस्य च साध्यस्य च व्यभिचारिता ते सर्वे उपाधयः साध्यसमानाधिकरणवृत्तयो भवन्तीति । यथा हि धूमवान् वह्नेरित्यादौ आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधिर्धूमरूपसाध्यञ्च समान एवाधिकरणे विद्येते । तथैव हेतोः कस्मिश्चिदेकस्मिन्नाश्रये उभावेव न विद्येते । यथा हेतुभूतवह्नेरधिकरणे अयोगोलके नार्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधिर्न च धूमरूपसाध्यमेवेति । कारिकागतविषयनिर्देशं करोति मूले—अत इति । अतः यतो हि साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिरित्येतस्य यद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वं तद्धर्मावच्छिन्नसाधनाव्यापकत्वमुपाधिरिति तात्पर्यं तस्मात् । एव हि । एतदनुसारेण निरुक्तलक्षणानुसारेण । उपाधिरूपम् । लक्ष्यम् । अपि । दर्शयति उपस्थापयति । सर्वे इति । कारिकागतपदं विवृणोति—स्वसाध्येति । स्वसाध्यव्यभिचारिता इत्यत्र स्वमिति उपाधिः । स्वम् उपाधिश्च साध्यञ्च स्वसाध्ये तयोः व्यभिचारिता । इति । अर्थः ॥ १३९ ॥

हिन्दी—जिन उपाधियों की हेतु के किसी एक आश्रय में अपनी और साध्य की व्यभिचारिता होती है, वे सभी उपाधियाँ साध्य के साथ समान अधिकरण में वृत्ति वाली होती हैं ।

इस कारण निरुक्त-लक्षण के अनुसार उपाधिरूप लक्ष्य को दिखलाते हैं - सर्वे इति । स्वसाध्येति । स्व का अर्थ उपाधि है । स्व एवं साध्य दोनों की व्यभिचारिता, ऐसा अर्थ है ॥ १३९ ॥

व्यभिचारस्यानुमानमुपाधेस्तु प्रयोजनम् ।

उपाधेर्दूषकताबीजमाह—व्यभिचारस्येति। उपाधिव्यभिचारेण हेतौ साध्यव्यभिचारानुमानमुपाधेः प्रयोजनमित्यर्थः। तथाहि—यत्र शुद्धसाध्यव्यापक उपाधिस्तत्र शुद्धेनैव उपाधिव्यभिचारेण साध्यव्यभिचारानुमानम् । यथा धूमवान् वह्नेरित्यादौ वह्निर्धूमव्यभिचारी, तद्व्यापकार्द्रेन्धनसंयोगव्यभिचारित्वादिति। व्यापकव्यभिचारिणो व्याप्यव्यभिचारावश्यकत्वात्। यत्र तु किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक उपाधिस्तत्र तद्धर्मवति उपाधिव्यभिचारेण साध्यव्यभिचारानुमानम् । यथा स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यादौ मित्रातनयत्वं श्यामत्वव्यभिचारि, मित्रातनये शाकपाकजत्वव्यभिचारित्वादिति । बाधानुन्नीतपक्षेतरस्तु साध्यव्यापकताग्राहकप्रमाणाभावात्स्वव्याघातकत्वाच्च नोपाधिः ।

बाधोन्नीतस्तूपाधिर्भवत्येव। यथा वह्निरनुष्णः कृतकत्वादित्यादौ प्रत्यक्षेण वह्नावुष्णत्वग्रहे वह्नीतरत्वमुपाधिः। यत्र तूपाधेः साध्यव्यापकता सन्दिह्यते स सन्दिग्धोपाधिः। पक्षेतरस्तु सन्दिग्धोपाधिरपि नोद्भावनीयः, कथकसम्प्रदायानुरोधात्। केचित्तु सत्प्रतिपक्षोत्थापनमुपाधिफलम्। तथाहि—अयोगोलकं धूमवद् वह्नेरित्यादौ अयोगोलकं धूमाभाववदार्द्रेन्धनाभावादिति सत्प्रतिपक्षसम्भवात्। इत्थञ्च साधनाव्यापकोऽपि क्वचिदुपाधिः। यथा करका पृथिवी कठिनसंयोगवत्त्वादित्यादावनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वम्। न चात्र स्वरूपासिद्धिरेव दूषणमिति वाच्यं, सर्वत्रोपाधेर्दूषणान्तरसाङ्कर्यात्। अत्र च साध्यव्यापकः पक्षावृत्तिरुपाधिरित्याहुः।

आलोकः—इत्थमुपाधिस्वरूपं निरूप्य सम्प्रति उपाधिफलमाह परममूले—**व्यभिचारस्येति**। उपाधेः प्रयोजनं तु व्यभिचारस्य अनुमानम् इति। **उपाधेः** साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिरिति लक्षितस्य धर्मस्य। **प्रयोजनं** फलम्। **तु** हि। **व्यभिचारस्य** साध्यव्यभिचारस्य साध्याभाववद्वृत्तित्वस्य। **अनुमानं** व्याप्तिज्ञानकरणकज्ञानमिति मूले कारिकाविषयं निर्दिशति—**उपाधेरिति**। **उपाधेः** साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वधर्मस्य। **दूषकताबीजं** दूषणहेतुम्। **आह** कथयति। **व्यभिचारस्येति**। कारिकाशयमाह—**उपाधिव्यभिचारेणेति**। **उपाधिव्यभिचारेण** उपाधिगतव्यभिचारेण। **हेतौ** साधने। **साध्यव्यभिचारानुमानं** साध्ये धूमादौ व्यभिचारस्य अनुमानम्। **उपाधेः**। **प्रयोजनं** फलम्। **इति**। **अर्थः** आशयः। तदेवोपपादयति—**तथाहीति**। **तथाहि** इति निदर्शने। **यत्र** यस्मिन्स्थले। **शुद्धसाध्यव्यापकः** केवलसाध्यव्यापकः। **उपाधिः**। **तत्र** तादृशस्थले। **शुद्धेन** धर्माविशिष्टेन। **एव** हि। **उपाधिव्यभिचारेण** उपाधिगतव्यभिचारेण। **साध्यव्यभिचारानुमानं** साध्ये व्यभिचारस्य अनुमानम्। तन्निदर्शयति—**यथेति**। **यथा**। **धूमवान् वह्नेः इत्यादौ**। **वह्निः** हेतुभूतवह्निः। **धूमव्यभिचारी** धूमे व्यभिचारी अयोगोलकादौ वह्निसत्त्वेऽपि धूमाभावात्। **तद्व्यापकार्द्रेन्धनसंयोगव्यभिचारित्वात्** धूमव्यापको य आर्द्रेन्धनसंयोगस्तत्र व्यभिचारित्वात्। **इति हेतोः**। **व्यापकव्यभिचारिणः** साध्यव्यापकव्यभिचारिणः। **व्याप्यव्यभिचारावश्यकत्वात्** व्याप्यभूतसाध्यव्यभिचारस्यापरिहार्यत्वात्। **यत्र**। **तु** तद्विपरीतम्। **किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकः** यत्किञ्चिद्धर्मविशिष्टसाध्यव्यापकः। **उपाधिः**। **तत्र** तथाविधस्थले। **तद्धर्मवति** तद्धर्मविशिष्टे। **उपाधिव्यभिचारेण**। **साध्यव्यभिचारानुमानं** साध्यव्यभिचारस्य अनुमानम्। तन्निदर्शयति—**यथेति**। **यथा**। **स श्यामो मित्रातनयत्वात्**। **इत्यादौ**। **मित्रातनयत्वम्**। **श्यामत्वव्यभिचारि** न हि सर्वे मित्रातनयाः श्यामा इति। **मित्रातनये**। **शाकपाकजत्वव्यभिचारित्वात्**। इति। न हि सर्वेषु मित्रातनयेषु शाकपाकजन्यत्वमिति। **बाधानुन्नीतपक्षेतरः** बाधदोषसहकृतपक्षेतरत्वरूपधर्मः। **तु**। **साध्यव्यापकताग्राहकप्रमाणाभावात्** साध्यव्यापकताया ग्राहकं यत्प्रमाणं तस्याभावात्। **स्वव्याघातकत्वात्** स्वस्य पक्षस्य व्याघातकत्वाद् विरोधित्वात्। **च** हि। **न**। **उपाधिः**। **बाधोन्नीतः**

बाधदोषयुक्तः । **तु** हि । **उपाधिः** । **भवति** सम्पद्यते । **एव** । यथा **वह्निरनुष्णः कृतकत्वात्** **इत्यादौ** । **प्रत्यक्षेण** । **वह्नौ** । **अनुष्णत्वग्रहे** अनुष्णत्वनिश्चये । **वह्नीतरत्वं** वह्निभिन्नत्वम् । उपाधिः । उपाधेरेवं लक्षणे कृतेऽपि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यादौ पक्षेतरत्वे उपाधिलक्षणातिव्याप्तिर्भवत्येव । यतो हि निश्चितसाध्यवति महानसादौ पक्षेतरत्वमस्त्येव, पक्षस्तु सन्दिग्धसाध्यवानेवेति । तथा च साधनीभूतधूमस्तु पक्ष एव तिष्ठति यत्र नास्ति पक्षेतरत्वमिति यद्युच्यते तन्न, यस्मिन् पक्षे न साध्याभाववत्वरूपबाधनिश्चयस्तत्र न पक्षेतरत्वमुपाधिः । एकतस्तु एतादृशोपाधेर्न साध्यव्यापकताग्राहकं किञ्चित्प्रमाणं पक्षे साध्याभावनिर्णयस्यैव पक्षेतरत्वे साध्यव्यापकतानिर्णायकत्वात् । अत्र तु पक्षे साध्यसन्देह एव न तु पक्षे पक्षेतरत्वसम्भवः । पक्षे साध्यसन्देहे पक्षान्तरत्वे साध्यव्यापकत्वसन्देहेन उपाधिलक्षणभावसन्देहान् सन्दिग्धोपाधिर्मन्यते चेत्तदोपाधेरेव विलोपः स्याद्यतो हि सर्वेष्वेवानुमानेषु एतादृशोपाधिसत्त्वमपरिहार्यमेव । तथा च न तदोपाधिर्दूषणमिति । तेन बाधासहकृतपक्षेतरत्वस्य नोपाधित्वमङ्गीकर्तव्यम् । इति । बाधनिश्चयो हि यस्मिन् पक्षे **तत्र** पक्षेतरत्वमुपाधिरेवेति । **यत्र** । **तु** । **उपाधेः** । **साध्यव्यापकता** साध्याभिमतव्यापकता । **सन्दिह्यते** संशयविषयीक्रियते । **सः** । **सन्दिग्धोपाधिः** पक्षे साध्यसन्देहेन साध्यव्यापकतासन्देहस्य पक्षेतरत्वे सम्भवात् । **पक्षेतरः** । **तु** हि । **सन्दिग्धोपाधिः** । **अपि च** । **न** । **उद्भावनीयः** आदरणीयः । **कथकसम्प्रदायानुरोधात्** विचारकसम्प्रदाये तथाविधोपाधिव्यवहारनिषेधात् । मतान्तरमाह—**केचिदिति** । **केचित्** परे । **तु** । **सत्प्रतिपक्षोत्थापनं** सत्प्रतिपक्षस्य संश्चासौ प्रतिपक्षस्तस्योत्थापनम् । **उपाधिफलम्** उपाधेः प्रयोजनमिति । **तथा हि** । **अयोगोलकं धूमवद्वह्नेः** । **इत्यादौ** । **अयोगोलकं धूमाभाववत् आर्द्रेन्धनाभावात्** । **इति सत्प्रतिपक्षसम्भवात्** सत्प्रतिपक्षोत्थापनात् । पक्षान्तरमाह—**इत्थमिति** । **इत्थम्** एवमेव । **च** हि । **क्वचित्** कुत्रचित् । **साधनव्यापकः** यथा साध्यस्य व्यापकः किन्तु साधनस्याव्यापक उपाधिस्तद्विपरीतं साधनस्य व्यापकः किन्तु साध्यस्य अव्यापकः । **अपि च** । **उपाधिः** । **यथा** । **'करका पृथिवी कठिनसंयोगवत्त्वात्'** । **इत्यादौ** । **अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वम्** अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वं हि पृथिव्यामेवेति साधनव्यापकत्वं कठिनसंयोगवत्त्वस्य सर्वत्र सत्त्वात् साध्याव्यापकत्वमपि । **न** । **च** । **अत्र** अनुमाने । **स्वरूपासिद्धिः** करकायां कठिनसंयोगवत्त्वस्याभावात् पक्षस्य स्वरूपस्यैवासिद्धिः । **एव** हि । **दूषणं** दूषकताबीजं किमुपाधिकल्पनेन । **इति** । **वाच्यम्** । **सर्वत्र** सर्वस्मिन्नेव स्थले । **उपाधेः** । **दूषणान्तरसाङ्कर्यात्** अन्यान्यदूषणभावस्य स्वाभाविकत्वात् । **अत्र** प्रकृते । **च** । **साध्यव्यापकः** साध्यत्वेनाभिमतस्य व्यापकः । **पक्षावृत्तिः** पक्षे अवृत्तिर्व्यापारशून्यः । **उपाधिः** । **इति** । **आहुः** साध्यव्यापकः पक्षावृत्तिरुपाधिरित्युपाधिलक्षणं कथयन्तीति ।

हिन्दी—व्यभिचार का अनुमान ही उपाधि का प्रयोजन है । उपाधि के दूषकताबीज (दूषण) का निर्देश करते हैं—**व्यभिचारस्येति** । उपाधिव्यभिचार से हेतु में साध्यव्यभिचार का अनुमान उपाधि का प्रयोजन है, ऐसा इसका अर्थ है । जैसे कि जहाँ शुद्ध साध्य का व्यापक उपाधि है वहाँ शुद्ध ही उपाधिव्यभिचार से साध्यव्यभि-

चार का अनुमान होता है। जैसे 'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि में वह्नि धूम का व्यभिचारी है, क्योंकि वह धूम में व्यापक आर्द्रेन्धनसंयोग का व्यभिचारी है। इस कारण व्यापक व्यभिचारी को व्याप्य व्यभिचार भी आवश्यक होता है।

जहाँ कुछ धर्म से अवच्छिन्न साध्यव्यापक उपाधि है वहाँ उस धर्म से युक्त में उपाधिव्यभिचार से साध्य के व्यभिचार का अनुमान होता है। जैसे—'स श्यामो मित्रातनयत्वात्' इत्यादि में मित्रातनयत्व श्यामत्वव्यभिचारी है, क्योंकि मित्रातनय में शाकपाकजत्व व्यभिचारित्व होता है।

बाध से अनुन्नीत जो पक्ष से भिन्न है, वह तो साध्य की व्यापकता के ग्राहक प्रमाण का अभाव होने से और अपने ही व्याघातक होने से भी उपाधि नहीं है। बाध से उन्नीत तो उपाधि होता ही है। जैसे 'वह्निरनुष्णः कृतकत्वात्' इत्यादि में प्रत्यक्षरूप से वह्नि के उष्णत्व के निश्चय में वह्नि से इतरत्व उपाधि है।

जिस उपाधि की साध्यव्यापकता सन्दिग्ध होती है, वह सन्दिग्धोपाधि है। पक्षेतर तो सन्दिग्धोपाधि भी स्वीकार्य नहीं होती, ऐसा ही विचारकों के सम्प्रदाय का विचार है। कुछ के मत में तो सत्प्रतिपक्ष का उत्थापन ही उपाधि का फल है। जैसे **'अयोगोलकं धूमवद् वह्नेः'** इत्यादि में **'अयोगोलकं धूमाभाववत् आर्द्रेन्धनाभावात्'** इस प्रकार का सत्प्रतिपक्ष सम्भव है।

इसी तरह साधन का व्यापक भी कहीं उपाधि है। जैसे **'करका पृथिवी कठिनसंयोगवत्त्वात्'** इत्यादि में अनुष्णशीतस्पर्शत्व। न तो यहाँ (करका की) स्वरूपासिद्धि ही दूषण है, ऐसा मानना उचित है, क्योंकि सभी जगह उपाधि में कुछ न कुछ दोष का साङ्कर्य तो रहता ही है। यहाँ भी साध्य का व्यापक पक्षावृत्ति उपाधि है, ऐसा कहते हैं।

शब्दोपमानयोर्नैव पृथक्प्रामाण्यमिष्यते ।। १४० ।।
अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम् ।
तन्न सम्यग् विना व्याप्तिबोधं शब्दाविबोधतः ।। १४१ ।।

शब्दोपमानयोरिति। वैशेषिकाणां मते प्रत्यक्षमनुमानञ्च प्रमाणम्। शब्दोपमानयोस्त्वनुमानविधयैव प्रामाण्यम्। तथाहि– दण्डेन गामानयेत्यादिलौकिकपदानि यजेतेत्यादिवैदिकपदानि वा तात्पर्यविषयस्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापूर्वकाणि आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बत्वाद् घटमानयेति पदकदम्बवत्। यद्वा एते पदार्था मिथः संसर्गवन्तो योग्यतादिमत्पदोपस्थापितत्वात् तादृशपदार्थवत्। दृष्टान्तेऽपि दृष्टान्तान्तरेण साध्यसिद्धिरिति। एवं गवयव्यक्तिप्रत्यक्षानन्तरं गवयपदं गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकम्, असतिवृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात्। असति च वृत्त्यन्तरे वृद्धैर्यत्र यत्प्रयुज्यते तत्र तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्तकम्। यथा गोपदं गोत्वप्रवृत्तिनिमित्तकम्। यद्वा गवयपदं सप्रवृत्तिनिमित्तकं

साधुपदत्वादित्यनुमानेन पक्षधर्मताबलाद् गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकं सिद्ध्यति। तन्मतं दूषयति—तन्न सम्यगिति। व्याप्तिज्ञानं विनाऽपि शाब्दबोधस्यानुभवसिद्धत्वात्। न हि सर्वत्र शब्दश्रवणानन्तरं व्याप्तिज्ञाने प्रमाणमस्तीति। किञ्च सर्वत्र शाब्दस्थले यदि व्याप्तिज्ञानं कल्प्यते तदा सर्वत्रानुमितिस्थले पदज्ञानं कल्पयित्वा शाब्दबोध एव किं न स्वीक्रियतामिति ध्येयम् ॥१४०-१४१॥

आलोकः—अथानुमानप्रसङ्गे शब्दोपमानप्रमाणयोस्तत्रान्तर्भावनिरासायाह परममूले—**शब्दोपमानयोरिति**। अनुमानगतार्थत्वात् शब्दोपमानयोः पृथक् प्रामाण्यं न दूष्यते एव इति (यत्) वैशेषिकं मतं तत् व्याप्तिबोधं विना शब्दादिबोधतः न सम्यक् इति। **अनुमानगतार्थत्वात्** अनुमानेन व्याप्तिकरणकज्ञानेन गतार्थत्वादन्यथासिद्धत्वात्। **शब्दोपमानयोः** शब्दस्य उपमानस्य च। **पृथक्** पार्थक्येन स्वातन्त्र्येणेति। **प्रामाण्यं** प्रमाणान्तरत्वम्। **न**। **इष्यते** न स्वीक्रियते। **इति** इत्थम्। **यत्**। **वैशेषिकं** कणादप्रोक्तवैशेषिकशास्त्रसम्मतम्। **मतम्**। **तत्**। **व्याप्तिबोधं** व्याप्तिः साध्यसाधनयोः साहचर्यनियमस्तस्या बोधं ज्ञानम्। **विना** विनैव। **शब्दादिबोधतः** शब्दमात्रज्ञानात् आदिना आदिपदादुपमानमात्रज्ञानाच्च शब्दोपमानप्रमाणयोः सिद्धेः सम्भवात्। **न** नैव। **सम्यक्** युक्तियुक्तमिति। यद्धि वैशेषिका आमनन्ति यत्प्रत्यक्षानुमाने एव प्रमाणे शब्दोपमाने तु तयोरनुमानेऽन्तर्भावान्न स्वातन्त्र्येण प्रमाणे इति तन्न युक्तियुक्तं, यतो हि अनुमानं व्याप्तिज्ञानं विना न सम्भवति किन्तु तदभावेऽपि शाब्दबोधः उपमानज्ञानञ्च सम्भवत इति तयोर्नानुमानेऽन्तर्भाव इति। मूले कारिकाशयं विवृणोति—**शब्दोपमानयोरिति**। **वैशेषिकाणां** काणादानाम्। **मते** नये। **प्रत्यक्षं** विषयेन्द्रियसन्निकर्षजन्यं ज्ञानम्। **अनुमानं** व्याप्तिज्ञानकरणकज्ञानम्। **च** एव। **प्रमाणं** प्रमासाधनम्। **शब्दोपमानयोः** पदज्ञानकरणत्वेनाभिमतस्य शब्दस्य सादृश्यज्ञानकरणकस्योपमानस्य। **तु** हि। **अनुमानविधया** व्याप्तिज्ञानकरणकानुमानप्रकारेण। **एव** हि। **प्रामाण्यम्**। तदेवोपपादयति—**तथेति**। **तथाहि**। **दण्डेन गामानय**। **इत्यादिलौकिकपदानि** लोकव्यवहारप्रयुक्तपदानि। **वा** इति पक्षान्तरे। प्रभाकरमते लौकिकः शब्दोऽनुवादको वैदिक एव प्रमाणमिति तद्दूषणायोक्तः पक्षोऽयम्। **यजेतेत्यादिवैदिकपदानि** यजेत इत्यादीनि श्रुतिवाक्यगतपदानि। **तात्पर्यविषयस्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापूर्वकाणि** तात्पर्यस्य वक्तृतात्पर्यस्य विषयो विषयभूतो यः स्मारितः शक्तिलक्षणान्यतरसम्बन्धात्मकवृत्त्योपस्थापितः पदार्थानां परस्परसंसर्गः तस्य या प्रमा यथार्थज्ञानं तत्पूर्वकाणि। **आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बत्वात्** आकाङ्क्षायोग्यताऽऽसत्तियुक्तपदसमूहत्वात्। **घटमानयेति पदकदम्बवत्** यथा घटमानयेति पदसमूहे। अर्थात् शाब्दबोधश्चेत्थमनुमानेनैव। अनुमानप्रकारस्तु यथा—'दण्डेन गामानये'त्यादिलौकिकपदानि वा 'यजेते'त्यादिवैदिकपदानि (पक्षः) तात्पर्यविषयस्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापूर्वकाणि (साध्यम्) आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बकत्वाद् (हेतुः) घटमानयेति पदकदम्बवत् (दृष्टान्तः)।

अनुमितेर्व्यापकतावच्छेदकप्रकारकत्वनियमात् प्रमापूर्वकत्वत्वेन प्रमापूर्वकत्वसिद्धावपि रजतत्वप्रकारकज्ञानस्य तस्मादनुपपत्तितः शब्दप्रामाण्यस्वीकार एवावश्यक इत्य-

रुचेः कल्पान्तरमाह—**यद्वेति**। **यद्वा** इति पक्षान्तरे। **एते** निरुक्ताः। **पदार्थाः** पदबोध्यार्थाः **मिथः** परस्परम्। **संसर्गवन्तः** सम्पर्कमागताः। **योग्यतादिमत्पदोपस्थापितत्वात्** योग्यताऽऽसत्याकाङ्क्षादियुक्तपदबोधितत्वात्। **तादृशपदार्थवत्** योग्यतादिविशिष्टपदबोध्यार्थवत्। अत्र एते पदार्था इति पक्षः मिथः संसर्गवन्तः इति साध्यं योग्यतादिमत्पदोपस्थापितत्वात् इति हेतुः तादृशपदार्थवत् इति दृष्टान्तः इत्यनुमानसिद्धिः। **दृष्टान्ते** यदि दृष्टान्तस्थले न साध्यसिद्धिस्तदा तमेव पक्षीकृत्य। **दृष्टान्तान्तरेण** अन्येनैव दृष्टान्तेन। **साध्यसिद्धिः** साध्यस्य सिद्धिः कर्तव्येति। एवं शब्दस्यानुमानेऽन्तर्भावं प्रदर्श्य सम्प्रति उपमानस्यानुमानेऽन्तर्भावं दर्शयति—**एवमिति**। **एवम्**। **गवयव्यक्तिप्रत्यक्षानन्तरं** गवयश्चासौ व्यक्तिस्तस्या प्रत्यक्षानन्तरम्। **गवयपदम्**। **गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तं** गवयत्वस्य प्रवृत्तेर्निमित्तकम्। **वृत्त्यन्तरे** अन्यस्यां वृत्तौ। **असति** अविद्यमाने। **वृद्धैः** शिष्टैः। **तत्र** गवयेऽर्थे। **प्रयुज्यमानत्वात्** व्यवह्रियमाणत्वात्। **वृत्त्यन्तरे** अन्यवृत्तिज्ञाने। **असति** अविद्यमाने। **वृद्धैः** शिष्टैः। **यत्र** यस्मिन्नर्थे। **यत्** यत्पदम्। प्रयुज्यते व्यवह्रियते। **तत्र** तादृशस्थले। **तत्** तादृशपदम्। **तत्प्रवृत्तिनिमित्तकं** तस्य पदस्य प्रवृत्तौ निमित्तकं हेतुः। **यथा**। **गोपदम्**। **गोत्वप्रवृत्तिनिमित्तकं** गोत्वस्य प्रवृत्तौ निमित्तकम्। इति। अत्र प्रवृत्तिनिमित्तकमिति शक्यतावच्छेदकं शक्यवृत्तिधर्मः इति। तस्यैव कल्पान्तरमाह—**यद्वेति**। **यद्वा** इति पक्षान्तरे। **गवयपदम्**। **सप्रवृत्तिनिमित्तकं** प्रवृत्तिनिमित्तकविशिष्टं शक्यतावच्छेदकम्। **साधुपदत्वात्**। **गवयपदं सप्रवृत्तिनिमित्तकं साधुपदत्वात्**। **इति** इत्थम्। **अनुमानेन**। **पक्षधर्मताबलात्** पक्षधर्मतावशात्। **गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वं** गवयत्वस्य प्रवृत्तौ निमित्तकत्वं हेतुत्वम्। **सिद्ध्यति**। इति। अत्र प्रशस्तपादभाष्यम्—'शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात्। यथा प्रसिद्धसमयस्यासन्दिग्धलिङ्गदर्शनप्रसिद्धानुस्मरणाभ्यामतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमानमेवं शब्दादिभ्योऽपीति। श्रुतिस्मृतिलक्षणोऽप्याम्नायो वक्तृप्रामाण्यापेक्षस्तद्वचनादाम्नायप्रामाण्यप्रामाण्यं लिङ्गाच्चानित्यो बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे बुद्धिपूर्वो ददातिरित्युक्तत्वात्।' इति। (तत्र न्यायकन्दलीकारः—'शब्दादीनामनुमानेऽन्तर्भावोऽनुमानाव्यतिरेकित्वं समानविधित्वात् समानप्रवृत्तिप्रकारत्वात् यथा व्याप्तिग्रहणबलेनानुमानं प्रवर्तते तथा शब्दादयोऽपीत्यर्थः। शब्दोऽनुमानं व्याप्तिबलेनार्थप्रतिपादकत्वाद्धूमवत्। समानविधित्वञ्च यथा—प्रसिद्धः समयेऽविनाभावो यस्य पुरुषस्य तस्य लिङ्गदर्शनप्रसिद्धानुस्मरणाभ्यां लिङ्गदर्शनं यत्र धूमस्तत्राग्निरित्येवम्भूतायाः प्रसिद्धेरनुस्मरणञ्च ताभ्यां यथाऽतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमानं तथा शब्दादिभ्योऽपीति। तावद्धि शब्दो नार्थं प्रतिपादयति यावदयमस्या व्यभिचारीत्येवं नावगम्यते। ज्ञाने त्वव्यभिचारे प्रतिपादयन् धूम इव लिङ्गं स्यात्। ... ...' इति।) प्रसिद्धाभिनयस्य चेष्टया प्रतिपत्तिदर्शनात्तदप्यनुमानमेव। आप्तेनाऽप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयप्रतिपादनादुपमानमाप्तवचनमेव। इति। अवशिष्टकारिकांशव्याख्यानाय सङ्गतिमाहरति—**तन्नेति**। **तन्मतं** तेषां वैशेषिकाणां मतं शब्दोपमानयोरनुमानेऽन्तर्भावसमर्थकपक्षम्। **दूषयति** युक्त्या खण्डयति। **तन्न** सम्यगिति। विवृणोति—**व्याप्तिज्ञानमिति**। **व्याप्तिज्ञानं** व्याप्तिनिश्चयम्। **विना**। **अपि च**। **शाब्द-**

बोधस्य शब्दबोध्यार्थस्य । **अनुभवसिद्धत्वात्** अनुभूतत्वात् । **न** । **हि** । **शब्दश्रवणानन्तरं** गामानयेत्यादिशब्दश्रवणानन्तरम् । **सर्वत्र** अनुभूयमानगोकर्मकानयनानुकूलकृतिमानिति बोधपूर्वक्षणे सर्वत्र । **व्याप्तिज्ञाने** व्याप्तिनिश्चये । **प्रमाणम्** । **अस्ति** । **इति** । सर्वत्र व्याप्तिज्ञानकल्पनायां प्रमाणाभावेन व्यभिचारदुर्वारत्वाद् व्याप्तिज्ञानं न हेतुरिति । गवयादिशब्दो हि गुणत्वादाकाशे तिष्ठति व्यक्तिविशेषपिण्डस्तु वने । तेन यत्र शब्दस्तत्रार्थ इति नास्ति व्याप्तिः । सर्वदा हि व्याप्तिज्ञानसापेक्षेऽनुमाने व्याप्तिनिरपेक्षस्य शब्दस्य उपमानस्य च न कदाप्यन्तर्भावः । ननु शब्दश्रवणानन्तरमनुमितिरूपकार्यान्यथानुपपत्त्या व्याप्तिज्ञानं कल्पनीयमित्यत आह—**किञ्चेति** । **किञ्च** । **शाब्दस्थले** शाब्दबोधादिस्थले । **सर्वत्र** शाब्दबोधप्राक्स्थले । यदि अनुमित्यन्यथानुपपत्त्या । **व्याप्तिज्ञानं** व्याप्तिनिश्चयः । **कल्प्यते** । **तदा** । **अनुमितिस्थले** व्याप्तिज्ञानकरणकानुमितिस्थाने । **पदज्ञानं** पदविषयमाकाङ्क्षादिविषयकं स्मरणञ्च । **कल्पयित्वा** । **शाब्दबोधः** शाब्दप्रमामङ्गीकृत्य शाब्दबोधः । **एव** न त्वनुमितिः । **किम्** । **न** । **स्वीक्रियताम्** अपि त्ववश्यमेव स्वीक्रियतामिति । **ध्येयं** विचारणीयम् ।

अयमाशयः—गवादेर्हि पदस्मारितत्वाद्यभावग्रहदशायामुत्पन्नस्य गौरस्तीत्याद्यन्वयबोधस्य नान्येन केनापि हेतुना निष्पत्तिः । पदजन्या हि पदार्थस्मृतिः स्वरूपसत्येवान्वयबुद्धावुपयुज्यते नान्यथा प्रमाणाभावात् । पदैरस्मारितस्यापि तत्स्मारितत्वग्रहदशायामन्वयधीप्रसङ्गाच्च । वाक्यार्थस्यापूर्वत्वेन तद्गर्भसाध्यस्य प्रायशः प्रागनुपस्थित्याऽनुमानायोगात् । वस्तुतो वाक्यार्थबोधस्यानुमितित्वे सत्येव साकाङ्क्षपदत्वादिलिङ्गकमनुमानं कल्प्यं तदेव त्वसिद्धे प्रमाणाभावात् । अस्तित्वेन गामनुमिनोमीत्यादेरनुव्यवसायस्य तत्रासत्त्वात् । प्रत्युत गौरस्तीति वाक्याद् अस्तित्वेन गौरहो न त्वनुमितिरित्यनुभवाच्च । **श्रोतव्यः** इत्यादिप्रयोगदृष्टया शाब्दत्वस्यापि शृणोतेः शक्यतावच्छेदकत्वात् शाब्दबोधो नानुमितिः किन्तु पदज्ञानात्मकप्रमाणजन्यः स्वतन्त्रोऽनुभव इति प्रभादौ स्पष्टम् ॥ १४०-१४१ ॥

हिन्दी—अनुमान से ही गतार्थ होने के कारण शब्द एवं उपमान का पृथक् प्रामाण्य नहीं होता (अतः दो ही प्रमाण होते हैं—प्रत्यक्ष एवं अनुमान), ऐसा वैशेषिकों का जो मत है वह ठीक नहीं है, क्योंकि व्याप्तिज्ञान के बिना भी शाब्दबोध एवं उपमानबोध होता है (जब कि व्याप्तिज्ञान के बिना अनुमान नहीं होता) ।

शब्दोपमानयोरिति । वैशेषिकों के मत में प्रत्यक्ष एवं अनुमान दो ही प्रमाण हैं । शब्द एवं उपमान का तो अनुमान के द्वारा ही प्रामाण्य होता है । जैसे कि 'दण्डेन गामानय' इत्यादि लौकिक पद अथवा 'यजेत' इत्यादि वैदिक पद तात्पर्यविषय से स्मारित पदार्थ-संसर्ग प्रमापूर्वक वाले होते हैं, आकाङ्क्षादि से युक्त पदसमूह होने से 'घटमानय' इत्यादि पदसमूह की तरह । अथवा ये पदार्थ परस्पर संसर्ग वाले हैं, योग्यता आदि से युक्त पदों से उपस्थापित होने के कारण उसी प्रकार के पदार्थ जैसे । दृष्टान्त में भी अन्य दृष्टान्तों से साध्य की सिद्धि कर लेनी चाहिए । इसी तरह गवयव्यक्ति के प्रत्यक्ष के बाद गवय पद गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तक होता है । क्योंकि वृत्त्यन्तर का अभाव होने पर वृद्धों के द्वारा वह उसी अर्थ में प्रयुक्त है । वृत्त्यन्तर के न रहने

पर शिष्ट जहाँ जिसका प्रयोग करते हैं, वहाँ वह उसी का प्रवृत्तिनिमित्तक होता है। जैसे गो-पद गोत्वप्रवृत्तिनिमित्तक है। अथवा गवय पद प्रवृत्तिनिमित्त से युक्त होता है, क्योंकि वह साधु पद है, इत्यादि अनुमान से पक्षधर्मता के बल से गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्व सिद्ध होता है।

उनके मत को दूषित करते हैं—**तन्न सम्यगिति**। क्योंकि व्याप्तिज्ञान के बिना भी शाब्दबोध अनुभवसिद्ध है। शब्द के श्रवण के अनन्तर सर्वत्र व्याप्तिज्ञान के होने में कोई भी प्रमाण नहीं है। और यह भी कि शाब्दबोधस्थल में सभी जगह यदि व्याप्तिज्ञान की कल्पना की जाय तब अनुमानस्थल में सर्वत्र पदज्ञान अर्थात् पदस्मरण की कल्पना करके शाब्दबोध ही क्यों न स्वीकृत किया जाय? इस प्रकार समझ लेना चाहिए ॥ १४०-१४१ ॥

त्रैविध्यमनुमानस्य केवलान्वयिभेदतः।

त्रैविध्यमिति। अनुमानं हि त्रिविधं – केवलान्वयिकेवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेकिभेदात्। तत्रासद्विपक्षः केवलान्वयी। यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वादित्यादौ। तत्र हि सर्वस्यैवाभिधेयत्वाद्विपक्षासत्त्वम्। असत्सपक्षः केवलव्यतिरेकी। यथा पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वादित्यादौ। तत्र हि जलादित्रयोदशभेदस्य पूर्वमसिद्धतया निश्चितसाध्यवतः सपक्षस्याभावः। सत्सपक्षविपक्षोऽन्वयव्यतिरेकी। यथा वह्निमान् धूमादित्यादौ। तत्र सपक्षस्य महानसादेर्विपक्षस्य जलह्रदादेश्च सत्त्वादिति।

आलोकः—अथ प्रसङ्गादनुमानं विभजते परममूले—**त्रैविध्यमिति**। केवलान्वयिभेदतः अनुमानस्य त्रैविध्यम् इति। **केवलान्वयिभेदतः** केवलान्वयि-केवलव्यतिरेकि-अन्वयव्यतिरेकिभेदात्। यत्र असद्विपक्षः केवलान्वयी, असत्सपक्षः केवलव्यतिरेकी, सत्सपक्षविपक्षोऽन्वयव्यतिरेकी। यत्र सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः, निश्चितसाध्यवान् सपक्षः, निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः। **अनुमानस्य** व्याप्तिज्ञानकरणकप्रमाणस्य। **त्रैविध्यं** त्रिविधता भवतीति। कारिकां विवृणोति मूले—**त्रैविध्यमिति**। **अनुमानं** व्याप्तिकरणज्ञानम्। **हि**। **त्रिविधं** त्रिप्रकारकम्। **केवलान्वयिकेवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेकिभेदात्**। तदेव विवृणोति —**तत्रेति**। **तत्र** त्रिविधेष्वनुमानेषु। **असद्विपक्षः** न सन् विद्यमानः विपक्षः निश्चितसाध्याभाववान् यस्य तादृशः अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकः। **केवलान्वयी** तदाख्यः। **यथा। घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् इत्यादौ**। अत्र घटः पक्षः, अभिधेयत्वं साध्यं, प्रमेयत्वं हेतुः। लक्ष्ये लक्षणं संयोजयति—**तत्रेति**। **तत्र** तदुदाहरणे। **हि**। **सर्वस्य** पदार्थमात्रस्य। **एव** हि। **अभिधेयत्वात्** अभिधाशक्तिविषयत्वात्। **विपक्षासत्त्वं** विपक्षस्य अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वस्य साध्ये असत्त्वमिति। **असत्सपक्षः** न सन् सपक्षो निश्चितसाध्यवान् यस्य स तादृशः साध्यतावच्छेदकरूपेणानिर्णीतसाध्यकः। **केवलव्यतिरेकी**। **यथा**। **पृथिवी** (पक्षः) **इतरेभ्यो** द्रव्यान्तरेभ्यः। **भिद्यते** विलक्षणैव (साध्यम्)। **गन्ध-**

वत्त्वात् गन्धविशेषगुणयुक्तत्वात् (हेतुः)। इत्यादौ। तत्र तदुदाहरणे। **हि**। **जलादि-त्रयोदशभेदस्य** त्रयोदशसु जलादयोऽष्टौ गुणाद्याः पञ्चेति तेषु भेदस्त्रयोदशभेदः जला-दीनां जलादिद्रव्याणां गुणादीनाञ्च त्रयोदशभेदस्तस्य। जलादिचतुर्दशभेदस्येति वक्तव्ये परमतेऽभावस्याधिकरणात्मकतया तथोक्तमाशयस्तु जलादिचतुर्दशभेदस्येति। **पूर्वम्** अनु-मितिपूर्वम्। **असिद्धतया** क्वाप्यप्रसिद्धतया, पृथिवीभिन्ने कुत्राप्यवर्तमानत्वात्। **निश्चित-साध्यवतः** निश्चितसाध्ययुक्तस्य। **सपक्षस्य**। **अभावः** साध्यतावच्छेदकतादृशचतुर्दशत्वे किञ्चिन्निष्ठविशेष्यतानिरूपितनिश्चयबोधप्रकारतावच्छेदकत्वस्याभाव इति। **सत्सपक्ष-विपक्षः** सन् विद्यमानः सपक्षः निश्चितसाध्यवान् विपक्षः निश्चितसाध्याभाववान् यस्य स तादृशः। **अन्वयव्यतिरेकी**। **यथा**। **वह्निमान् धूमात्**। **इत्यादौ**। **तत्र**। **सपक्षस्य** निश्चितसाध्यवतः। **महानसादेः**। **विपक्षस्य** निश्चितसाध्याभाववतः। **जलह्रदादेः**। **च**। **सत्त्वात्** भावात्। इति।

हिन्दी—केवलान्वयी इत्यादि भेदों से अनुमान तीन प्रकार का होता है।

त्रैविध्यमिति। अनुमान केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी एवं अन्वयव्यतिरेकी भेद से तीन प्रकार का होता है। उसमें जिसका विपक्ष नहीं होता वह केवलान्वयी होता है, जैसे '**घटः अभिधेयः प्रमेयत्वात्**' इत्यादि में। इसमें सभी पदार्थ के अभिधेय अर्थात् अभिधा के विषय होने से विपक्ष नहीं होता। जिसका सपक्ष न हो वह केवलव्यति-रेकी होता है, जैसे '**पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्**' इत्यादि में। इसमें भी जल आदि तेरह भेदों (जल आदि आठ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय। अभाव को भी लेने पर चौदह हो जाते हैं।) अनुमितिपूर्व अप्रसिद्ध होने से निश्चित-साध्यवान् सपक्ष का अभाव है। सपक्ष एवं विपक्ष वाला अन्वयव्यतिरेकी होता है। जैसे '**वह्निमान् धूमात्**' इत्यादि में। इसमें सपक्ष महानस आदि एवं विपक्ष जलह्रद आदि के होने से हेतु अन्वयव्यतिरेकी होता है।

द्वैविध्यं तु भवेद् व्याप्तेरन्वयव्यतिरेकतः।
अन्वयव्याप्तिरुक्तैव—

आलोकः—अथ प्रसङ्गाद् व्याप्तेः प्रकारमाह परममूले—**द्वैविध्यमिति**। अन्वय-व्यतिरेकतः व्याप्तेः तु द्वैविध्यम्। (तत्र) अन्वयव्याप्तिः उक्ता एव इति। **अन्वयव्यति-रेकतः** अन्वयात् व्यतिरेकात् च। व्याप्तेः। **तु**। **द्वैविध्यं** भवतीति। **तु** इति एवार्थे। तेन व्याप्तेर्द्वैविध्यमेवेत्याशयो न तु त्रैविध्यमिति। केचिद्धि अन्वयव्याप्तिर्व्यतिरेकव्याप्ति-रन्वयव्यतिरेकव्याप्तिरिति व्याप्तेस्त्रैविध्यमधिवदन्ति, यत्र अन्वयसहचारमात्रप्रयोज्या-ऽन्वयव्याप्तिः, व्यतिरेकसहचारमात्रप्रयोज्या व्यतिरेकव्याप्तिः, उभयसहचारप्रयोज्या अन्वयव्यतिरेकव्याप्तिरिति। चिन्तामणिकारस्तु तन्नानुमन्यते। तमेवानुसृत्य कारिका-कारेणाऽपि द्वैविध्यमेवोक्तं तस्याः। अत्र तु अन्वयाभिन्ना व्याप्तिरन्वयव्याप्तिर्व्यतिरेका-भिन्ना व्याप्तिर्व्यतिरेकव्याप्तिः, पञ्चम्या अभेदार्थकत्वात्। **अन्वयव्याप्तिः** अन्वयाभिन्ना व्याप्तिः। **उक्ता** प्रागेव 'व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्ध उदाहृतः' (का० ६८)

'अथवा हेतुमन्निष्ठविरहाप्रतियोगिना। साध्येन हेतोरैकाधिकरणं व्याप्तिरुच्यते ॥' (का० ६९) इति कारिकाभ्यां निरूपिता। एव। इति। वचनञ्चेदं व्यतिरेकव्याप्ति-निरूपणप्रासङ्गिकीकरणार्थमेव ॥ १४२ ॥

हिन्दी—अन्वय एवं व्यतिरेक से व्याप्ति के दो प्रकार हैं। उनमें अन्वयव्याप्ति तो पहले ही बतलाई जा चुकी है ॥ १४२ ॥

—व्यतिरेकादिहोच्यते।
साध्याभावव्यापकत्वं हेत्वभावस्य यद्भवेत् ॥ १४३ ॥

तत्र हि व्यतिरेकिणि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानं कारणं तदर्थं व्यतिरेक-व्याप्तिं निर्वक्ति—साध्याभावेति। साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व-मित्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्—यत्सम्बन्धेन यदवच्छिन्नं प्रति येन सम्बन्धेन येन रूपेण व्यापकता गृह्यते तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतद्धर्मावच्छिन्नाभाव-वत्ताज्ञानात् तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतद्धर्मावच्छिन्नाभावस्य सिद्धि-रिति। इत्थञ्च यत्र विशेषणतादिसम्बन्धेनेतरत्वव्यापकत्वं गन्धात्यन्ताभावे गृह्यते तत्र गन्धाभावाभावेनेतरत्वात्यन्ताभावः सिध्यति। यत्र तु तादात्म्य-सम्बन्धेनेतरव्यापकत्वं गन्धाभावस्य गृह्यते तत्र तादात्म्यसम्बन्धेनेतरस्य अभावः सिध्यति। स एवान्योन्याभावः। एवं यत्र संयोगसम्बन्धेन धूमं प्रति संयोगसम्बन्धेन वह्नेर्व्यापकता गृह्यते तत्र संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक-वह्न्यभावेन जलह्रदे संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकधूमाभावः सिध्यति। अत्र च व्यतिरेकव्याप्तिग्रहे व्यतिरेकसहचारज्ञानं कारणम्। केचित्तु व्यतिरेक-सहचारेणान्वयव्याप्तिरेव गृह्यते न तु व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमपि कारणम्। यत्र व्यतिरेकसहचाराद् व्याप्तिग्रहस्तत्र व्यतिरेकीत्युच्यते। साध्यप्रसिद्धिस्तु घटा-दावेव जायते, पश्चात् पृथिवीत्वावच्छेदेन साध्यत इति वदन्ति ॥ १४३ ॥

आलोकः—भूमिकापुरस्सरं व्यतिरेकव्याप्तिं निरूपयति परममूले—**व्यतिरेकाविति। व्यतिरेकात्** व्यतिरेकसहचारात्। या। व्याप्तिः। सा। **इह** प्रसङ्गेऽस्मिन्। **उच्यते** युक्त्या निरूप्यत इति। तदेवाह—**साध्येति**। हेत्वभावस्य यत् साध्याभावव्यापकत्वं भवेत् इति। **हेत्वभावस्य** हेतुरभावो यत्र तस्य हेतुमद्भेदस्य। यत्। **साध्याभावव्यापकत्वं** साध्यमभावो यत्रेति साध्याभावः साध्यवद्भेदस्तस्य व्यापकत्वम्। तत् व्यतिरेकव्याप्ति-त्वमिति। कारिकाप्रयोजनमाह मूले—**तत्रेति**। **तत्र** लिङ्गत्रयमध्ये। **व्यतिरेकिणि** व्यति-रेकिलिङ्गकानुमितौ। **व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानं** व्यतिरेकव्याप्तिः साध्याभावव्यापकीभूता-भावप्रतियोगित्वं तस्य ज्ञानम्। **कारणमसाधारणं** कारणम्। **तदर्थं** तादृशव्याप्तिज्ञाना-र्थम्। **व्यतिरेकव्याप्तिं** व्यतिरेकव्याप्तिस्वरूपम्। **निर्वक्ति** निरूपयति। **साध्याभावेति**। कारिकाशयमाह—**साध्येति**। साध्याभावस्य व्यापकीभूतो योऽभावस्तस्य प्रतियोगित्वं यत्र साध्यं वह्न्यादिस्तदभावस्य व्यापकीभूतोऽभावो धूमाद्यभावस्तस्य प्रतियोगित्वं धूमा-

दाविति । साध्याभावहेत्वभावयोः साहचर्यं व्यतिरेकस्तत्प्रयोज्या व्याप्तिर्व्यतिरेकव्याप्तिः । यद्वा तदभावे तदभावो व्यतिरेकस्तन्निरूपिता व्याप्तिर्व्यतिरेकव्याप्तिः । यथा 'पर्वतो वह्निमान् धूमादि'त्यादौ वह्न्यभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूपा यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमो नास्ति, यथा महाह्रद इति धूमे वह्नेर्व्यतिरेकव्याप्तिः । अथवा पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात् इत्यादौ यदितरभिन्नं न भवति न तद्गन्धवद्यथा जलादिरिति व्यतिरेकव्याप्तिः ।

उक्तञ्च—

'व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते ।
तयोरभावयोस्तस्माद्विपरीतः प्रतीयते ॥
अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते ।
साध्याभावोऽन्यथाव्याप्यो व्यापकः साधनाश्रयः' ॥ इति ।

इति । अर्थः कारिकावाक्याशयः । साध्याभावश्चात्र साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको बोध्यः । तेन समवायेन वह्न्यभावाधिकरणे पर्वतादौ धूमाभावसत्त्वाद् धूमाभावस्य च व्यापकत्वविरहेऽपि न क्षतिः । व्यापकीभूताभावश्च हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकः तेन समवायेन धूमाभावस्य वह्न्यभावव्यापकत्वविरहेऽपि न क्षतिरिति । निरुक्तस्पष्टीकरणायाह—**अत्रेदमिति** । **अत्र** प्रकरणेऽस्मिन् । **इदं** वक्ष्यमाणतत्त्वम् । **अवधेयं** निभालनीयम् । विवक्षितमाह—**यत्सम्बन्धेनेति** । **यत्सम्बन्धेन** येन यादृशेन सम्बन्धेन । **यदवच्छिन्नं** यादृशरूपावच्छिन्नम् । **प्रति** । **येन** यादृशेन । **सम्बन्धेन** । **येन** यथाविधेन । **रूपेण** । **व्यापकता** व्यापकभावः । **गृह्यते** स्वीक्रियते । **तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतद्धर्मावच्छिन्नाऽभाववत्ताज्ञानात्** तेन तादृशेन सम्बन्धेन अवच्छिन्ना विशिष्टा प्रतियोगिता विरोधिता यस्य तत् तादृशञ्च तेन धर्मेण अवच्छिन्ना निरूपिता या अभाववत्ता तस्याः ज्ञानं तस्मात् तत्सम्बन्धावच्छिन्नतद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगित्वात्मकतत्प्रतियोगिस्वरूपव्यतिरेकव्याप्तिप्रकारतानिरूपिततदाश्रयप्रकारतानिरूपितपक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यताशालिपरामर्शात् इति प्रभादौ स्पष्टम् । **तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतद्धर्मावच्छिन्नाभावस्य** तेन सम्बन्धेन अवच्छिन्ना विशिष्टा प्रतियोगिता विरोधिता यस्य तादृशश्च तेन धर्मेण अवच्छिन्नो निरूपितो योऽभावस्तस्य । **सिद्धिः** अनुमितिः । अस्यायमाशयः—यत्संयोगसम्बन्धेन यद्धूमत्वावच्छिन्नं प्रति येन संयोगसम्बन्धेन येन वह्नित्वेन रूपेण व्यापकता अर्थात् धूमसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वात्मिका गृह्यते तत्संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकवह्नित्वावच्छिन्नात्यन्ताभाववत्ताज्ञानात् जलह्रदे संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकधूमत्वावच्छिन्नाभावस्यानुमितिर्भवतीति न तु तादात्म्यसमवायाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकधूमाद्यभावस्येति किरणावल्यां स्पष्टम् । **इत्थं** व्याप्यतावच्छेदकसम्बन्धधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावानुमितिस्वीकारे । **च** अपि । **यत्र** यदा । **विशेषणताविसम्बन्धेन** स्वरूपतासम्बन्धेन । पृथिवी इतरभिन्ना गन्धादित्यत्र । **इतरत्वव्यापकत्वं** पृथिवीतरत्वव्याप्यत्वेनाभिमतद्रव्यविभाजकोपाधिपदार्थविभाजको-

पाधिव्यापकत्वम् । **गन्धात्यन्ताभावे । गृह्यते** अर्थात् यदि स्वरूपसम्बन्धेन इतरत्वावच्छिन्नं प्रति येन स्वरूपसम्बन्धेन येन गन्धाभावत्वेन रूपेण गन्धाभावस्य व्यापकता यत्र स्वरूपेणेतरत्वं तत्र स्वरूपेण गन्धाभाव इति गृह्यते । **तत्र** तादृशस्थले । **गन्धाभावाभावेन** गन्धाभावप्रतियोगिना । **इतरत्वात्यन्ताभावः** भेदः । **सिध्यति** अनुमितिर्भवति पृथिवी इतरभिन्ना इति । **यत्र** यदा । **तु** तद्विलक्षणमेव । **तादात्म्यसम्बन्धेन । गन्धाभावस्य** जलादौ गन्धाभावस्य । **इतरव्यापकत्वं** पृथिवीतरव्यापकता । **तत्र** तदा । **तादात्म्यसम्बन्धेन । इतरस्य । अभावः । सिध्यति** । सः तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः । **एव हि । अन्योन्याभावः** । इत्युच्यत इति । एवं साध्यांशे अत्यन्ताभावान्योन्याभावौ सिध्यतः । स्वरूपसम्बन्धाश्रयेऽत्यन्ताभावस्तादात्म्यसम्बन्धाश्रयेऽन्योन्याभावः । इति । **एवम्** इत्थम् । **यत्र** यदा । **संयोगसम्बन्धेन । धूमम् । प्रति । संयोगसम्बन्धेन । व्यापकता । गृह्यते**—यत्र संयोगेन धूमस्तत्र संयोगेन वह्निरिति व्यापकता गृह्यते । **तत्र** तदा । **संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकवह्न्यभावेन** संयोगसम्बन्धनिरूपितप्रतियोगिताकवह्न्यभाववत्ताज्ञानात्मकपरामर्शात् । **जलह्रदे । संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकधूमाभावः । सिध्यति** तदाकारानुमितिर्जायते न तु समवायेन धूमाद्यभावानुमितिरिति ।

प्रकृतेऽन्वयसहचारज्ञानाभावात्कथं व्याप्तिग्रहः ? इत्यत आह—**अत्रेति । अत्र** व्यतिरेकव्याप्तिप्रकरणे । **च** हि । **व्यतिरेकव्याप्तिग्रहे** साध्याभावहेत्वभावयोः साहचर्यं व्यतिरेकस्तज्ज्ञापिता या व्याप्तिस्तस्या ग्रहे निश्चये । **व्यतिरेकसहचारज्ञानं** व्यतिरेकस्य यत्र साध्याभावस्तत्र हेत्वभाव इत्येतस्य सहचारः सहघटितत्वं तस्य ज्ञानं परामर्शः । **कारणं** हेतुः । तेन नान्वयसहचारभावेऽपि क्षतिरिति । तत्र मतान्तरमाह—**केचिदिति । केचित्** कतिपये आचार्या विशेषत उदयनाचार्यः । **तु । व्यतिरेकसहचारेण** व्यतिरेकस्य साध्याभावस्थले धूमाभावस्य सहचारेण सहघटितत्वेन । **अन्वयव्याप्तिः** साध्यस्थले हेतुभावोऽन्वयस्तज्ज्ञापिता व्याप्तिः । **एव** हि । **गृह्यते । न । तु** हि । **व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानं** व्यतिरेकज्ञापितव्याप्तिपरामर्शः । **अपि च । कारणम्** अनुमितिं प्रति हेतुः । अनुमितिसामान्यं प्रति अन्वयव्याप्तिज्ञानमेव हेतुरिति । **यत्र** यदा । **व्यतिरेकसहचारात्** व्यतिरेकसहघटनेन । **व्याप्तिग्रहः** व्याप्तिनिश्चयः । **तत्र** तदा । **व्यतिरेकी** व्यतिरेकविशिष्टः हेतुरिति । **इति । उच्यते** । तेन न लिङ्गत्रैविध्यानुपपत्तिरिति । व्यतिरेकसहचारस्थले साध्यतावच्छेदकेन इतरभेदत्वेन रूपेण साध्यस्येतरभेदादेः कुत्राऽप्यप्रसिद्धत्वात् कथमन्वयव्याप्तिग्रहः ? इत्यत आह—**साध्येति । साध्यप्रसिद्धिः** साध्यस्य साध्यतावच्छेदकेतरभेदत्वेन रूपेणेतरभेदस्य प्रसिद्धिः ख्यातिः । **तु । घटादौ** पक्षैकदेशे घटादौ घटो जलादिप्रतियोगिकभेदचतुर्दशत्वाद्यवच्छिन्नवान् इत्याप्तवाक्यात् यद्वा तद्वान् गन्धात् इत्यनुमानाद्वा । **एव** हि । **जायते** सम्पद्यते । **पश्चात् । पृथिवीत्वावच्छेदेन । साध्यते** पृथिव्यामितरभेदोऽनुमीयत । **इति । वदन्ति** । घटादौ साध्ये निर्णीतेऽपि पश्चादितरभेदानुमितिः अवच्छेदकावच्छेदेनानुमितौ सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धेः प्रतिबन्धकत्वाभावादिति बोध्यम् ॥

हिन्दी—व्यतिरेक से जो व्याप्ति होती है, उसे यहाँ बतलाया जाता है—हेत्वभाव का जो साध्याभाव व्यापकत्व है, वही व्यतिरेकव्याप्ति है।

उसमें से व्यतिरेकी अनुमान में व्यतिरेकव्याप्ति का ज्ञान कारण होता है, उसी के ज्ञान हेतु व्यतिरेकव्याप्ति का निरूपण करते हैं—**साध्याभावेति**। साध्याभाव का जो व्यापकीभूत अभाव है, उसका प्रतियोगित्व, ऐसा इसका आशय है। यहाँ यह जान लेना चाहिए—जिसके सम्बन्ध से जिस अवच्छिन्न के प्रति जिस सम्बन्ध से जिस रूप से व्यापकता का ग्रहण किया जाता है, उस सम्बन्ध से विशिष्ट प्रतियोगिता वाले उसी धर्म से अवच्छिन्न अभाववत्ता के ज्ञान से तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता वाले तद्धर्मावच्छिन्न अभाव की सिद्धि होती है। इसी तरह से जहाँ 'पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्' इत्यादि में विशेषणता अर्थात् स्वरूप आदि के सम्बन्ध से गन्धाभाव में इतरत्व के व्यापकत्व का ग्रहण होता है, वहाँ गन्धाभाव के अभाव से इतरत्व का अत्यन्ताभाव सिद्ध होता है। जहाँ तो तादात्म्यसम्बन्ध से गन्धाभाव की इतरव्यापकता गृहीत होती है वहाँ तादात्म्यसम्बन्ध से इतर का अभाव सिद्ध होता है। वही अन्योन्याभाव है।

यहाँ भी व्यतिरेकव्याप्ति के निश्चय में व्यतिरेक के सहचार का ज्ञान कारण होता है। कुछ आचार्य तो—'व्यतिरेकसहचार से अन्वयव्याप्ति का ग्रहण होता है, व्यतिरेकव्याप्ति का नहीं। न तो अनुमिति में व्यतिरेकव्याप्ति का ज्ञान ही कारण होता है। जहाँ व्यतिरेकसहचार से व्याप्तिग्रह होता है वहाँ हेतु व्यतिरेकी कहा जाता है। साध्य की प्रसिद्धि तो घट आदि में ही हो जाती है और बाद में पृथिवीत्व के अवच्छेद से इतर भेद सिद्ध होता है (सिद्धि अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धक होती है तथापि अवच्छेदकावच्छेद के सामानाधिकरण्य से साध्यसिद्धि प्रतिबन्धक नहीं होती)' ऐसा कहते हैं॥ १४३॥

अर्थापत्तिस्तु नैवेह प्रमाणान्तरमिष्यते।
व्यतिरेकव्याप्तिबुद्धया चरितार्था हि सा यतः॥ १४४॥

अर्थापत्तिरिति। अर्थापत्तिः प्रमाणान्तरमिति केचन मन्यन्ते। तथाहि—यत्र देवदत्तस्य शतवर्षजीवित्वं ज्योतिःशास्त्रादवगतं जीविनो गृहासत्त्वञ्च प्रत्यक्षादवगतं तत्र शतवर्षजीविनो गृहासत्त्वं बहिःसत्त्वं विनाऽनुपपन्नमिति बहिःसत्त्वं कल्प्यत इति। तदप्यनुमानेन गतार्थत्वान्नेष्यते। तथाहि—यत्र जीवित्वस्य बहिःसत्त्वगृहसत्त्वान्यतरव्याप्यत्व गृहीतं तत्रान्यतरसिद्धौ जायमानायां गृहसत्त्वबाधाद् बहिःसत्त्वमनुमितौ भासते। एवं 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादौ पीनत्वस्य भोजनव्याप्यत्वावगमाद् भोजनसिद्धौ दिवाभोजनबाधे रात्रिभोजनं सिध्यतीति।

अभावप्रत्यक्षस्यानुभविकत्वादनुपलम्भयोऽपि न प्रमाणान्तरम्। किञ्चानुप-

लम्भस्याज्ञातस्य हेतुत्वे ज्ञानाकरणकत्वात्प्रत्यक्षत्वम्। ज्ञातस्य हेतुत्वे तु तत्राऽप्यनुपलम्भान्तरापेक्षेत्यनवस्था।

एवं चेष्टाऽपि न प्रमाणान्तरं, तस्याः सङ्केतग्राहकशब्दस्मारकत्वेन लिप्यादिसमशीलत्वाच्छब्द एवान्तर्भावात्। यत्र च व्याप्त्यादिग्रहस्तत्रानुमितिरेवेति ॥ १४४ ॥

आलोकः—मीमांसकभाट्टादिसम्मताया अर्थापत्तेः पृथक्प्रामाण्यनिरासायाऽऽह परममूले—**अर्थापत्तिरि**ति। इह अर्थापत्तिः तु नैव प्रमाणान्तरम् इष्यते, यतः सा व्यतिरेकव्याप्तिबुद्धया चरितार्था। हि। **इह** न्यायशास्त्रे। **अर्थापत्तिः** अर्थस्य आपत्तिः कल्पनं यस्मादिति। उक्तं यथा—'अन्यथानुपपत्त्या यदुपपादककल्पनम्। तदर्थापत्तिः—' 'तथोपपाद्यज्ञानेन ह्युपपादककल्पनम्। अर्थापत्तिः—' इति। **तु** हि। **न**। **एव**। **प्रमाणान्तरं** पृथक्प्रमाणम्। **इष्यते** मन्यते। **यतः**। **सा** अर्थापत्तिः। **व्यतिरेकव्याप्तिबुद्धया** व्यतिरेकव्याप्तेर्ज्ञानेन। **चरितार्था** गतार्था तस्यास्तत्रान्तर्भावात्। **हि**। इति। मीमांसकेषु भाट्टाः अद्वैतवेदान्तिनश्चार्थापत्तिं पृथक्प्रमाणत्वेन स्वीकुर्वन्ति। तत्रानुपपद्यमानेनार्थेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिः। सा द्विविधा—दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्च। तत्र दृष्टार्थापत्तिर्यथा—इदं रजतमिति पुरोवर्तिनि प्रतिपन्नस्य रजतस्य नेदं रजतमिति तत्रैव निषिध्यमानत्वं सत्यत्वे सत्यनुपपन्नमिति रजतस्य मिथ्यात्वं कल्पयति। श्रुतार्थापत्तिर्यथा—यत्र श्रूयमाणवाक्यस्य स्वार्थानुपपत्तिमुखेन अर्थान्तरकल्पनं सा। यथा 'तरति शोकमात्मविदि'त्यत्र श्रुतस्य शोकशब्दवाच्यबन्धजातस्य ज्ञाननिर्वर्त्यस्यानुपपत्त्या बन्धस्य मिथ्यात्वं कल्प्यते। नैयायिकमते तस्या उभयविधार्थापत्तेर्व्यतिरेकव्याप्तिमुखेनानुमानेऽन्तर्भावान्न तस्याः पृथक्प्रामाण्यमिति। कारिकाशयं विवृणोति मूले—**अर्थापत्तिरि**ति। **अर्थापत्तिः** उपस्थितेनार्थेनानुपस्थितार्थकल्पना। **प्रमाणान्तरं** पृथक्प्रमाणम्। **इति** इत्थम्। **केचन** कतिपये विचारकाः विशेषतो मीमांसकेषु भाट्टाः अद्वैतवेदान्तिनश्च। **मन्यन्ते** समर्थयन्ति। तदेवोपपादयति—**तथाही**ति। **तथाहि**। **यत्र** यदा। **देवदत्तस्य** तदाख्यस्य कस्यचित्पुरुषस्य। **शतवर्षजीवित्वं** शतवर्षावधिकदीर्घायुष्यत्वम्। **ज्योतिःशास्त्रात्**। **अवगतं** ज्ञातम्। **जीविनः** जीवतश्च तस्य। **गृहासत्त्वं** गृहाऽवर्तमानत्वम्। **प्रत्यक्षात्** प्रत्यक्षत एव। **अवगतं** ज्ञातम्। **तत्र** तदा। **शतवर्षजीविनः** शतवर्षावधिकायुष्मतः। **गृहाऽसत्त्वं** गृहेऽवर्तमानत्वम्। **बहिःसत्त्वं** बहिर्वर्तमानत्वम्। **विना**। **न**। **अनुपपन्नम्** असिद्धम्। **इति** हेतोः। **बहिःसत्त्वं** बहिर्वर्तमानत्वम्। **कल्प्यते**। इति। **तत्** अर्थापत्तेः पृथक्प्रामाण्यम्। **अपि च**। **अनुमानेन** व्यतिरेकव्याप्तिकरणकानुमित्या। **गतार्थत्वात्** सिद्धत्वात्। **न**। **इष्यते** समर्थ्यते। तदुपपादयति—**तथाही**ति। **तथा हि**। **जीवित्वस्य**। **बहिःसत्त्वगृहसत्त्वान्यतरव्याप्यत्वं** बहिर्वर्तमानत्वगृहवर्तमानत्वाभ्यामन्यतरेण व्याप्यत्वम्। **गृहीतम्**। **तत्र** तदा। **अन्यतरसिद्धौ**। **जायमानायां** सत्याम्। **गृहसत्त्वबाधात्** गृहवर्तमानत्वबाधेन। **बहिःसत्त्वं** बहिःप्रदेशवर्तमानत्वम्। **अनुमितौ** अनुमाने। **भासते** द्योतते। अनुमितिप्रकारश्च यथा—देवदत्तः गृहसत्त्वबहिःसत्त्वान्यतरवान् जीवित्वादिति। तेन देवदत्तो बहिरस्ति गृहेऽसत्त्वाद् इति। तत्र च बहिःसत्त्वगृहसत्त्वान्यतराभावव्यापकी-

भूताभावप्रतियोगिजीवितत्वमिति व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानं तेन च बहिःसत्त्वगृहसत्त्वान्यतराभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगिहेतुमान् पक्ष इति परामर्शः। **एवम्** इत्थम्। **पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते। इत्यादौ।** पीनत्वस्य पीवरत्वस्य। **भोजनव्याप्यत्वावगमात्** भोजनं विना न पीनत्वमिति भोजनस्य पीनत्वे व्याप्यत्वस्य अवगमात्। **भोजनसिद्धौ। दिवाभोजनबाधे** दिवसकालभोजननिषेधजन्यबाधेन। **रात्रिभोजनं** निशाकालभोजनम्। **सिध्यति** अनुमान इति। अत्र भाट्टाः—पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इति ज्ञाते पीनत्वस्य भोजनं विनाऽनुपपत्तेर्दिवाभोजनस्य निषेधाच्च अर्थापत्तिप्रमाणेन रात्रिभोजनमाक्षिप्यत इति। नैयायिकास्तु तस्यापि अनुमानेऽन्तर्भावमिच्छन्ति। अनुमानप्रकारश्च यथा—पीनो देवदत्तः रात्रिभोजनदिवाभोजनान्यतरवान् पीनत्वादिति। भोजनाभावपीनत्वाभावयोः सहचारज्ञाने सति पीनत्वस्य हेतोः भोजनव्याप्यत्वावगमेन दिवाभोजनरात्रिभोजनान्यतरानुमितौ दिवाभोजनबाधात् रात्रिभोजनं भवति विधेयतया विषय इति।

मीमांसकेषु भाट्टा हि अभावस्य प्रत्यक्षत्वं निषिध्य तस्य अनुपलब्धिज्ञेयत्वं समर्थ्य अनुपलब्धिमपि प्रमाणान्तरत्वेन स्वीकुर्वन्ति। यथोक्तं—'यथोपलभ्ययोग्यत्वे सत्यप्यनुपलम्भनम्। अभावाख्यं प्रमाणं स्यादभावस्यावबोधकम्'। इति। अभावरूपार्थबोधकमनुपलब्धिप्रमाणमिति। तन्निरासायाऽऽह—**अभावप्रत्यक्षस्येति। अभावप्रत्यक्षस्य** अभावस्य यत्प्रत्यक्षं तस्य। **आनुभविकत्वात्** अनुभवसिद्धत्वात् येनेन्द्रियेण या व्यक्तिर्गृह्यते तद्गता जातिस्तदभावश्च तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते इति नियमाद् विशेषणतासन्निकर्षेण चक्षुरादिभिरेव घटाभावादेर्ग्रहणसम्भवात्। **अनुपलम्भः** अनुपलब्धिः। **अपि च। न। प्रमाणान्तरम्।** किन्तु इन्द्रियेणाभावप्रत्यक्षे योग्यानुपलब्धिः सहकार्येव, यद्यपि तस्याः स्वतन्त्रप्रामाण्येऽपि न काचिदापत्तिस्तथापि योग्यानुपलब्धिः स्वयमेव न स्वतन्त्ररूपेण प्रमाणकोटावापतति। **किञ्च। अज्ञातस्य। अनुपलम्भस्य** अनुपलब्धेः। **हेतुत्वे** कारणत्वे। अभावप्रमाया इति। स्वरूपतो विद्यमानप्रतियोगिनोऽनुपलब्ध्या अभावप्रत्यक्षे। **ज्ञानाकरणकत्वात्** ज्ञानाकरणकज्ञानात्। **प्रत्यक्षत्वं** प्रतियोग्यनुपलब्धेरिति ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति लक्षणात्। **यदि। ज्ञातस्य** अनुपलम्भस्येति अभावप्रत्यक्षेण **हेतुत्वे। तत्र** अनुपलम्भे। **अपि च। अनुपलम्भान्तरापेक्षा** अन्यानुपलम्भापेक्षा प्रतियोग्यनुपलब्ध्य**भाव**ज्ञानस्यापि अभावज्ञानत्वात्। इत्थञ्च भवेत् **अनवस्था** अविश्रान्तिरेवेति। किन्त्विन्द्रियाणां हेतुत्वे न स दोषः। अतो न्यायनये नानुपलब्धिः प्रमाणान्तरमपितु विशेषणतासन्निकर्षवशात् अभावस्य प्रत्यक्षत्वमेवेति।

एवम् इत्थमेव। **चेष्टा** हस्तनेत्रादिव्यापारो भावसंसूचकः। **अपि। न। प्रमाणान्तरं** पृथक्त्वेन प्रमाणं यथाऽऽमनन्त्यालङ्कारिकाः। **तस्याः** चेष्टायाः। **सङ्केतग्राहकशब्दस्मारकत्वेन** सङ्केतग्राहकस्य शब्दस्य स्मारकत्वेन। **लिप्यादिसमशीलत्वात्** लिपितुल्यस्वरूपत्वात्। **शब्दे। एव। अन्तर्भावात्** इति। चेष्टा हि न पृथक् प्रमाणं यथा वदन्त्यालङ्कारिकाः। सा हि सङ्केतग्राहकशब्दस्मारिका, तेन लिपितुल्यस्वरूपा शब्दे एवान्तर्भूता। **यत्र। च** हि। **व्याप्त्यादिग्रहः** व्याप्तिपरामर्शादिनिश्चयः। **तत्र। अनु-**

मितिः । एव । इति । यथा हस्तेनाह्वाने आहूतोऽनुमिनोति––अयं मामाह्वयति तदनुकूलहस्तव्यापारवत्त्वादिति ॥ १४४ ॥

हिन्दी––इस न्यायशास्त्र में अर्थापत्ति पृथक् प्रमाण नहीं माना जाता, क्योंकि वह व्यतिरेकव्याप्ति के ज्ञान से ही गतार्थ हो जाता है।

अर्थापत्तिरिति । कुछ आचार्य (मीमांसक एवं मायावादी) अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानते हैं। जैसे कि जब देवदत्त का सौ वर्ष तक की आयु होना ज्योतिषशास्त्र से जाना गया और उसका घर में जीवित न होना प्रत्यक्ष रूप से जाना गया, वहाँ सौ वर्ष तक आयु वाले का घर में न होना बाहर होने के बिना उपपन्न नहीं होता, इस हेतु उसका बाहर होने की कल्पना की जाती है। उसका भी अनुमान से गतार्थ होने से उसे पृथक् प्रमाण के रूप में माना नहीं जाता। जैसे कि जब जीवित्व का बाहर होना एवं घर में होना दो में से किसी एक से व्याप्यत्व गृहीत होता है, तब अन्यतर की सिद्धि हो जाने पर घर में होने में बाधा होने के कारण बाहर होना अनुमिति में भासित होता है। जैसे कि––'देवदत्तः बहिरस्ति जीवित्वे सति गृहेऽसत्त्वात्'।

इस प्रकार 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादि में पीनत्व के भोजन-व्याप्यत्व के ज्ञान से भोजन की सिद्धि होने पर दिवाभोजन के बाध होने पर रात्रिभोजन सिद्ध होता है। जैसे 'देवदत्तो रात्रिभोजनवान् दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्'।

अभाव प्रत्यक्ष का भी अनुभव का विषय होने के कारण अनुपलब्धि पृथक् प्रमाण नहीं है। यदि अज्ञात अनुपलम्भ को अभाव ज्ञान का हेतु मानने पर ज्ञानाकरणक होने से उसका प्रत्यक्षत्व हो ही जायेगा (क्योंकि ज्ञानाकरणक ज्ञान प्रत्यक्ष होता है)। ज्ञान के हेतुत्व में तो वहाँ भी दूसरे अनुपलम्भ की अपेक्षा होती है और इस प्रकार अनवस्था होती है।

इसी प्रकार चेष्टा भी पृथक् प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसका सङ्केत ग्राहक शब्द के स्मारक होने के कारण लिपि आदि के समान शील होने से शब्द में ही अन्तर्भाव हो जाता है। जहाँ व्याप्ति आदि का ग्रहण हो वहाँ अनुमिति होगी ही। जैसे 'अयं मामाह्वयति तदनुकूलहस्तव्यापारवत्त्वात्' ॥ १४४ ॥

सुखं तु जगतामेव काम्यं धर्मेण जायते ।

सुखं निरूपयति––सुखं त्विति। काम्यमभिलाषविषयः। धर्मेणेति। धर्मत्वेन सुखत्वेन कार्यकारणभाव इत्यर्थः।

आलोकः––अथ क्रमप्राप्तं सुखं निरूपयति परममूले––**सुखमिति**। जगताम् एव काम्यं सुखं तु धर्मेण जायते इति। **जगतां** सर्वेषामेव जनानाम्। **काम्यम्** अभिलाषविषयः। **सुखम्**। सर्वाभिलाषविषयत्वं सुखत्वमिति सुखलक्षणम्। **तत् सुखम्**। **तु** हि। **धर्मेण** शास्त्रोक्तकृत्यसम्पादनेन। **जायते** उत्पद्यते इति। मूले कारिकाविषयं निर्दिशति––**सुखमिति**। **सुखं** सुखगुणम्। **निरूपयति** लक्षयति। **सुखं त्विति**। कारिकागतकतिपयपदं व्याख्याति––**काम्यमिति**। **काम्यमिति अभिलाषविषयः** अभिलाषस्य

मनोरथस्य विषयः । **धर्मेणेति** । धर्मेण इति **धर्मत्वेन** । सुखत्वेन । च । तयोः । **कार्यकारणभावः** उत्पाद्योत्पादकभावः । समवायेन सुखत्वावच्छिन्नं प्रति समवायेन धर्मत्वावच्छिन्नं कारणमिति । 'आनन्दं ब्रह्मे'ति श्रुतेः ईश्वरे जन्यसुखत्वाङ्गीकारे तु समवायेन जन्यसुखत्वावच्छिन्नम्प्रति समवायेन धर्मत्वावच्छिन्नस्य कारणत्वमिति । सुखलक्षणं तु इतरेच्छाऽनधीनेच्छाविषयत्वमिति । अहं सुखीत्यनुभवसिद्धसुखत्वजातिमत्त्वमेव सुखलक्षणं धर्ममात्रासाधारणकारणत्वे सति गुणत्वं वा । अनुकूलवेदनीयं सुखमिति च । सुखं हि वैषयिकमानोरथिकभेदाद् द्विविधम् । तत्राद्यं भोगादिनिमित्तकं तत्सम्पादको धर्मः द्वितीयं तु ज्ञाननिमित्तकम् ।

हिन्दी—जगत् के लिए काम्य विषय सुख होता है और वह धर्म के द्वारा उत्पन्न होता है ।

सुख का निरूपण करते हैं—**सुखं त्विति** । काम्य अर्थात् अभिलाषा का विषय जो दूसरी इच्छा की अनधीन इच्छा का विषय हो । **धर्मेणेति** । धर्मत्व एवं सुखत्व से कार्यकारणभाव बनता है, ऐसा अर्थ है अर्थात् सुख के प्रति धर्म कारण होता है ।

अधर्मजन्यं दुःखं स्यात् प्रतिकूलं सचेतसाम् ॥ १४५ ॥

दुःखं निरूपयति—अधर्मेति । अधर्मत्वेन दुःखत्वेन कार्यकारणभाव इत्यर्थः । प्रतिकूलमिति । दुःखत्वज्ञानादेव सर्वेषां स्वाभाविकद्वेषविषय इत्यर्थः ॥१४५॥

आलोकः—दुःखगुणं निरूपयति परममूले—**अधर्मजन्यमिति** । सचेतसां प्रतिकूलं दुःखम् अधर्मजन्यं स्यात् इति । **सचेतसां** चित्तविशिष्टानां लोकानां शरीरिणामिति । **प्रतिकूलं** प्रातिकूल्येन वेदनीयं यत् तत् । **दुःखं** दुःखाख्यगुणो भवतीति । तत् । **अधर्मजन्यम्** अधर्मो निन्दितकर्माचरणं, तेन कारणभूतेन जन्यमुत्पाद्यं भवतीति । प्रतिकूलवेदनीयं दुःखमिति दुःखलक्षणं तच्च अधर्मादुत्पद्यत इति । कारिकाविषयमाह परममूले—**दुःखमिति** । **दुःखं** दुःखगुणम् । **निरूपयति** विवेचयति—**अधर्मेति** । कारिकागतकठिनपदं व्याख्याति—**अधर्मेति** । अधर्मजन्यमिति **अधर्मत्वेन दुःखत्वेन** । **च** । **कार्यकारणभावः** समवायेन दुःखत्वावच्छिन्नं प्रति समवायेन अधर्मत्वावच्छिन्नं कारणमिति । **इति** इत्थम् । **अर्थः** आशयः । **प्रतिकूलमिति** । **दुःखत्वज्ञानात्** इदं दुःखमिति दुःखत्वप्रकारकमानसप्रत्यक्षात् । **एव** हि । **सर्वेषां** शरीरिणाम् । **स्वाभाविकद्वेषविषयः** अन्यगोचरद्वेषानधीनद्वेषविषयः । **इति** । **अर्थः** आशयः । तेन अन्यगोचरद्वेषानधीनद्वेषविषयत्वं दुःखत्वमिति दुःखलक्षणम् । दुःखं कण्टकादिविषयजन्यं वैषयिकं चिन्ताजन्यं मानोरथिकमिति द्विविधम् ॥ १४५ ॥

हिन्दी—सचेतन के लिए जो प्रतिकूल विषय है, वह दुःख है और वह अधर्म से उत्पन्न होता है ।

दुःख का निरूपण करते हैं—**अधर्मेति** । अधर्मत्व एवं दुःखत्व से कार्यकारणभाव बनता है, ऐसा अर्थ है । **प्रतिकूलमिति** । दुःखत्व के ज्ञान से सभी का स्वाभाविक द्वेष का विषय, ऐसा अर्थ है ॥ १४५ ॥

निर्दुःखत्वे सुखे चेच्छा तज्ज्ञानादेव जायते।
इच्छा तु तदुपाये स्यादिष्टोपायत्वधीर्यदि ॥ १४६ ॥

इच्छां निरूपयति—निर्दुःखत्व इति। इच्छा द्विविधा—फलविषयिणी उपायविषयिणी च। फलं तु सुखं दुःखाभावश्च। तत्र फलेच्छां प्रति फलज्ञानं कारणम्। अत एव पुरुषार्थः सम्भवति। यज्ज्ञातं सत्स्ववृत्तितयेष्यते स पुरुषार्थ इति तल्लक्षणात्। इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वं फलितोऽर्थः। उपायेच्छां प्रतीष्टसाधनताज्ञानं कारणम् ॥ १४६ ॥

आलोकः— अथ क्रमप्राप्तमिच्छागुणं निरूपयति परममूले—**निर्दुःखत्व** इति। निर्दुःखत्वे सुखे च इच्छा तज्ज्ञानात् एव जायते तदुपाये इच्छा तु यदि इष्टोपायत्वधीः स्यात् इति। **निर्दुःखत्वे** दुःखाभावे। **सुखे** अनुकूलवेदनीये। **च**। **इच्छा**। **तज्ज्ञानात्** तयोर्दुःखाभावसुखभावयोर्ज्ञानाद् बुद्धितः। **एव** हि। **जायते** उत्पद्यते। **तदुपाये** तयोर्दुःखाभावसुखभावयोः उपाये। **इच्छा**। **तु**। **यदि**। **इष्टोपायत्वधीः** इष्टस्य दुःखाभावसुखभावयोः उपायः साधनं तस्य भावस्तस्य धीर्ज्ञानम्—इदं मदिष्टदुःखाभावसुखभावान्यतरसाधनमिति ज्ञानम्। **तदा**। **स्याद्** भवेदिति। इष्टव्यवहारहेतुर्गुण इच्छा इच्छामीत्यनुभवसिद्धा। तेन अहमिच्छामीति। प्रत्यक्षसिद्धेच्छात्वजातिमत्त्वमिच्छात्वम्। कारिकाविषयमाह मूले—**इच्छामिति**। **इच्छाम्** इच्छागुणम्। **निरूपयति** विवृणोति। **निर्दुःखत्व** इति। कारिकाशयमाह—**इच्छेति**। **इच्छा**। **द्विविधा** द्विप्रकारा। **फलविषयिणी** फलसम्बद्धा। **उपायविषयिणी** उपायसम्बद्धा। च। **फलम्**। **तु** हि। **सुखम्** अनुकूलवेदनीयविषयः। **दुःखाभावः** प्रतिकूलवेदनीयविषयराहित्यम्। **च**। **तत्र**। **फलेच्छां** दुःखाभावसुखभावेच्छाम्। **प्रति**। **फलज्ञानम्** इदमनुकूलवेदनीयं प्रतिकूलवेदनीयरहितञ्चेति धीः। **कारणं** हेतुः। फलेच्छाफलज्ञानयोः कार्यकारणभाव इत्यर्थः। **अतः** कारणादस्मात्। **एव**। **पुरुषार्थः** चतुर्वर्गात्मकपुरुषार्थः। **सम्भवति**। फलविशेष्यकेच्छात्वं पुरुषार्थत्वमिति। पुरुषार्थमिच्छामीति प्रतीतिसाक्षिकेच्छात्वव्याप्यजातिविशेषवत्त्वं फलेच्छालक्षणमिति। **यत्**। **ज्ञातमवगतम्**। **सत्** वर्तमानम्। **स्ववृत्तितया** आत्मव्यापारतया। **इष्यते** इष्टं भवति। **सः**। **पुरुषार्थः**। **इति**। **तल्लक्षणात्** तस्य पुरुषार्थस्य लक्षणात्। **इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वं** इतरेच्छाया अन्यविषयेच्छाया अनधीना या इच्छा तस्याः विषयत्वं फलेच्छात्वमिति। **फलितः** निष्कृष्टः। **अर्थः** आशयः। **उपायेच्छाम्** उपायस्य-फलप्राप्तिसाधनस्य इच्छाम्। **प्रति**। **इष्टसाधनताज्ञानम्** इष्टस्य दुःखाभावसुखभावात्मकेष्टस्य साधनता प्राप्तिसमुपायत्वं तस्या ज्ञानमवबोधः। **कारणं** हेतुः। उपायेच्छेष्टसाधनत्वज्ञानयोः कार्यकारणभाव इत्यर्थः। फले सुखं मुख्यं दुःखाभावस्तु गौण इति ॥ १४६ ॥

हिन्दी— दुःख का अभाव एवं सुख में इच्छा उस दुःखाभाव एवं सुख के ज्ञान से ही होता है, उसके उपाय में इच्छा तो इष्ट उपायत्व का ज्ञान होने पर ही होता है।

इच्छा का निरूपण करते हैं—**निर्दुःखत्व** इति। इच्छा दो प्रकार की होती है—फलविषयिणी एवं उपायविषयिणी। फल तो सुख (मुख्य) एवं दुःख का अभाव

(गौण) भी है । उसमें फलेच्छा के प्रति फल का ज्ञान कारण होता है । इसी कारण (फलेच्छा के प्रति फलज्ञान का कारणत्व होने के कारण) पुरुषार्थ सम्भव होता है। क्योंकि जो ज्ञात होते हुए आत्मवृत्ति के रूप में अभीष्ट है वही पुरुषार्थ है, ऐसा पुरुषार्थ का लक्षण होता है। अन्य इच्छा की अनधीन इच्छा का विषय होना, इसका फलित अर्थ है । उपायेच्छा के प्रति इष्टसाधनता का ज्ञान कारण होता है ॥ १४६ ॥

चिकीर्षा कृतिसाध्यत्वप्रकारेच्छा च या भवेत् ।
तद्धेतुः कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिर्भवेत् ॥ १४७ ॥

चिकीर्षेति । कृतिसाध्यत्वप्रकारिका कृतिसाध्यविषयिणीच्छा चिकीर्षा पाकं कृत्वा साधयामीति तदनुभवात् । तद्धेतुरिति । चिकीर्षां प्रति कृतिसाध्यताज्ञानमिष्टसाधनताज्ञानं च कारणम् । अत एव वृष्टयादौ कृतिसाध्यताज्ञानाभावान्न चिकीर्षा ॥ १४७ ॥

आलोकः—चिकीर्षाश्रद्धासङ्कल्पादय इच्छाविशेषास्तेषु श्रद्धामाह परममूले—**चिकीर्षेति** । या कृतिसाध्यत्वप्रकारेच्छा सा चिकीर्षा भवेत् कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिः तद्धेतुः भवेत् इति । **या** । **कृतिसाध्यत्वप्रकारेच्छा** इदं मत्कृत्या साधयितुं शक्या इत्याकारिका इदन्त्वावच्छिन्नविशेष्यिका विशेषेच्छा । **भवेत्** । **सा** तादृशी विशेषेच्छा । **चिकीर्षा** कर्तुमिच्छा चिकीर्षा तदाख्य इच्छाविशेषः । भवतीति । **कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिः** कृतिसाध्यत्वस्य यत्नसम्पाद्यत्वस्य इष्टसाधनत्वस्य अभीष्टसिद्ध्युपायत्वस्य च मतिः कृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञानमिष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञानञ्चेति । **तद्धेतुः** तस्यास्तादृशचिकीर्षायाः समवायेन हेतुः कारणम् । **भवेदिति** । कारिकाशयं विवृणोति—**चिकीर्षेति** । **कृतिसाध्यत्वप्रकारिका** कृतिः प्रयत्नस्तया साध्यं सम्पाद्यं तस्य भावस्तत्त्वं तस्य प्रकारोऽस्ति अस्यामिति तादृशी इदं मत्प्रयत्नसाध्यमित्याकारिका । **कृतिसाध्यविषयिणी** प्रयत्नसाध्यपदार्थविशेष्यिका । **इच्छा** । **चिकीर्षा** तदाख्य इच्छाविशेषः । तेन कृतिसाध्यत्वप्रकारकेच्छात्वं चिकीर्षात्वमिति । **पाकं कृत्वा** सम्पाद्य । **साधयामि** सिद्धं करोमि । पचनेन साध्यत्वप्रकारेण इच्छामि **इति** । **तदनुभवात्** । **तद्धेतुरिति** । **चिकीर्षाम्** । **प्रति** । **कृतिसाध्यताज्ञानं** यागो मत्कृतिसाध्य इति मतिः । **इष्टसाधनताज्ञानं** यागो मदिष्टस्य विजयादेः स्वर्गादेर्वा साधनमिति च मतिः । **कारणं** हेतुः । **अतः** यतो हि चिकीर्षां प्रति कृतिसाध्यतेष्टसाधनताज्ञानं हेतुस्तस्मात् । **एव** हि । **वृष्ट्यादौ** वर्षादौ । **कृतिसाध्यताज्ञानाभावात्** प्रयत्नसाध्यत्वज्ञानस्य विरहात् वृष्टयादेः । **न** । **चिकीर्षा** तत्र कर्तुमिच्छोदेति इति ॥ १४७ ॥

हिन्दी—जो कृति अर्थात् प्रयत्न से साध्यत्व प्रकार वाली इच्छा है, वह चिकीर्षा कहलाती है । प्रयत्न से साध्य होने एवं इष्टसाधन होने का ज्ञान उस चिकीर्षा का कारण होता है ।

चिकीर्षेति । कृतिसाध्यत्वप्रकारक एवं कृतिसाध्यविषयक इच्छा चिकीर्षा है, क्योंकि 'पाक करके सिद्ध करता हूँ' यह अनुभव से सिद्ध है । **तद्धेतुरिति** । चिकीर्षा के

प्रति कृति से साध्य होने का ज्ञान एवं इष्टसाधनता का ज्ञान भी कारण है। इसी कारण वृष्टि आदि में कृति से साध्य होने के ज्ञान के अभाव के कारण चिकीर्षा नहीं होती ॥ १४७ ॥

बलवद्द्विष्टहेतुत्वमतिः स्यात् प्रतिबन्धिका ।

बलवदिति। बलवद्द्विष्टसाधनताज्ञानं तत्र प्रतिबन्धकमतो मधुविषसम्पृक्तान्नभोजने न चिकीर्षा। बलवद्द्वेषः प्रतिबन्धक इत्यन्ये।

आलोकः—चिकीर्षाप्रतिबन्धकमाह परममूले—**बलवदिति**। बलवद्द्विष्टहेतुत्वमतिः प्रतिबन्धिका स्यात्। इति। **बलवद्द्विष्टहेतुत्वमतिः** बलवत् प्रबलं यद् द्विष्टं द्वेषविषयस्तस्य हेतुत्वं साधनता तस्य मतिर्ज्ञानम्। **प्रतिबन्धिका** चिकीर्षाया निरोधिका। **स्यात्**। कारिकांशं विवृणोति—**बलवदिति**। **बलवद्द्विष्टसाधनताज्ञानं** बलवत्प्रबलं यद् द्विष्टं द्वेषविषयस्तस्य साधनता तस्या ज्ञानं धीः। **तत्र** चिकीर्षयाम्। **प्रतिबन्धकं** बाधकम्। **अतः** हेतोरस्मात्। **मधुविषसम्पृक्तान्नभोजने** मधुविषमिश्रितान्नभक्षणे। **न**। **चिकीर्षा** प्रयत्नसाध्यप्रकारकेच्छा। **अन्ये** अपरे। **तु बलवद्द्वेषः** प्रबलद्वेषः। **प्रतिबन्धकः** चिकित्साया निरोधक इति।

हिन्दी—बलवान् द्वेषविषय की साधनता का ज्ञान चिकीर्षा में प्रतिबन्धक होता है।

बलवदिति। बलवान् जो द्वेषविषय है, उसकी साधनता का ज्ञान चिकीर्षा के प्रति प्रतिबन्धक होता है। इसी कारण मधु एवं विष मिश्रित अन्न खाने में चिकीर्षा नहीं होती। दूसरों के मत में बलवान् द्वेष ही चिकीर्षा का प्रतिबन्धक है।

तदहेतुत्वबुद्धेस्तु हेतुत्वं कस्यचिन्मते ॥ १४८ ॥

तदहेतुत्वेति। बलवदनिष्टाजनकत्वज्ञानं कारणमित्यर्थः। कृतिसाध्यताज्ञानादिमतो बलवदनिष्टसाधनताज्ञानशून्यस्य बलवदनिष्टाजनकत्वज्ञानं विनाऽपि चिकीर्षायां विलम्बाभावात् कस्यचिन्मते इत्यस्वरसो दर्शितः॥१४८॥

आलोकः—चिकीर्षाया हेतोर्विषये मतान्तरमाह परममूले—**तदहेतुत्वेति**। कस्यचित् मते तु तदहेतुत्वबुद्धेः हेतुत्वम् इति। **कस्यचित्** आचार्यस्य। **मते** विचारे। **तु** तद्विपरीतम्। **तदहेतुत्वबुद्धेः** तस्य बलवद्द्विष्टस्य अहेतुत्वमजनकत्वं तस्य बुद्धेर्ज्ञानस्य। हेतुत्वं चिकीर्षा प्रति कारणत्वम्। इति। कारिकाशयं विवृणोति मूले—**तदहेतुत्वेति**। **बलवदनिष्टाजनकत्वज्ञानं** बलवद् यदनिष्टमप्रियं तस्य अजनकत्वमनुत्पादकत्वं तस्य ज्ञानं धीः। **कारणं** हेतुः चिकीर्षा प्रतीत्यर्थः। कस्यचिदित्येतस्याशयमाह—**कृतिसाध्यतेति**। **कृतिसाध्यताज्ञानादिमतः** कृत्या प्रयत्नेन साध्यतायाः सम्पाद्यतायाः ज्ञानादिमतः धीसम्पन्नस्य। **बलवदनिष्टसाधनताज्ञानशून्यस्य** बलवत् प्रबलं यदनिष्टमहितं तस्य साधनतायाः हेतुतायाः ज्ञानेन धिया शून्यस्य रहितस्य। **बलवदनिष्टाजनकत्वज्ञानं** बलवत् यदनिष्टं तस्य अजनकत्वं तस्य ज्ञानम्। **विना**। **अपि**। **चिकीर्षायां** कृति-

साध्यत्वप्रकारेच्छायाम् । **विलम्बाभावात्** विलम्बस्य अभावात् । **कस्यचिन्मते इति । अस्वरसः । दर्शितः** न तत्र कारिकाकृतः स्वारस्यमिति ॥ १४८ ॥

हिन्दी—किसी के मत में तो उस बलवान् द्विष्ट की अजनकता की बुद्धि का चिकीर्षा के प्रति हेतुत्व होता है ।

तद्धेतुत्वेति । बलवान् अनिष्ट के अजनकत्व का ज्ञान चिकीर्षा के प्रति कारण होता है, ऐसा अर्थ है । कृतिसाध्यता के ज्ञान आदि से युक्त बलवान् अनिष्ट के साधनत्व के ज्ञान से शून्य को बलवान् अनिष्ट के अजनकत्व के ज्ञान के बिना भी चिकीर्षा में विलम्ब का अभाव होने से 'किसी के मत में' ऐसा कहकर उस पर असहमति दर्शाई गई है ॥ १४८ ॥

द्विष्टसाधनताबुद्धिर्भवेद् द्वेषस्य कारणम् ।

द्वेषं निरूपयति—द्विष्टसाधनतेति । दुःखोपायविषयकं द्वेषं प्रति बलवद्द्विष्टसाधनताज्ञानं कारणमित्यर्थः । बलवदिष्टसाधनताज्ञानं च प्रतिबन्धकम् । तेन नान्तरीयकदुःखजनके पाकादौ न द्वेषः ॥

आलोकः—अथ क्रमप्राप्तं द्वेषगुणं निरूपयति परममूले—**द्विष्टेति** । द्विष्टसाधनताबुद्धिः द्वेषस्य कारणं भवेत् इति । **द्विष्टसाधनताबुद्धिः** द्विष्टस्य बलवदनिष्टस्य साधनताया बुद्धिर्ज्ञानम् इदं बलवद् द्विष्टसाधकमिति ज्ञानम् । **द्वेषस्य** द्वेषगुणस्य । **कारणं** निमित्तकारणं हेतुः । **भवेत्** इति । द्विष्टव्यवहारहेतुर्गुणो दोष इति । द्वेष्मीत्यनुभवसिद्धद्वेषत्वजातिमत्त्वं वा । कारिकाविषयमाह मूले—**द्वेषमिति** । द्वेषं द्वेषगुणम् । **निरूपयति** विवृणोति । **द्विष्टसाधनतेति** । कारिकाशयमाह—**दुःखोपायेति** । **दुःखोपायविषयकं** दुःखविषयकं दुःखोपायविषयकञ्च । **द्वेषं** द्वेषगुणम् । **प्रति** । **बलवद्द्विष्टसाधनताज्ञानं** बलवतो द्विष्टस्य साधनताया ज्ञानम् । **कारणम्** । **बलवदिष्टसाधनताज्ञानं** बलवतः इष्टस्य हितस्य साधनताया ज्ञानम् । **च** । **प्रतिबन्धकं** द्वेषस्येति । **तेन** हेतुना बलवदिष्टसाधनताज्ञानस्य द्वेषप्रतिबन्धकत्वात् । **नान्तरीयकदुःखजनके** आनुषङ्गिकानिवार्यदुःखहेतौ । **पाकादौ** पाकक्रियादौ । **न** । **द्वेषः** कारणसत्त्वेऽपि कार्याभावव्यभिचारापत्तिर्नेति ।

हिन्दी—जो द्विष्ट है, उसके साधनत्व की बुद्धि द्वेष का कारण होती है । **द्विष्टसाधनतेति** । दुःखविषयक एवं दुःखोपायविषयक द्वेष गुण के प्रति बलवत् जो द्विष्ट है, उसकी साधनता का ज्ञान कारण होता है, ऐसा आशय है । बलवान् जो इष्ट है, उसकी साधनता का ज्ञान द्वेष का प्रतिबन्धक है । इस कारण आनुषङ्गिक एवं अनिवार्य दुःख का जनक पाक आदि में द्वेष नहीं होता ।

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तथा जीवनकारणम् ॥ १४९ ॥
एवं प्रयत्नत्रैविध्यं तान्त्रिकैः परिकीर्तितम् ।

प्रयत्नं निरूपयति—प्रवृत्तिश्चेति । प्रवृत्तिनिवृत्तिजीवनयोनियत्नभेदात् प्रयत्नस्त्रिविध इत्यर्थः ॥ १४९ ॥

आलोकः—क्रमप्राप्तं प्रयत्नगुणं निरूपयति—**प्रवृत्तिरिति**। तान्त्रिकैः प्रवृत्तिः च निवृत्तिः च तथा जीवनकारणम् एवं प्रयत्नत्रैविध्यं परिकीर्तितम् इति। **तान्त्रिकैः** न्यायतन्त्राचार्यैः। **प्रवृत्तिः** निरतिः। च। **निवृत्तिः** विरतिः। **च**। तथा एवमेव। **जीवनकारणं** जीवनयोनित्वं साहजिकप्राणसञ्चारविषयकयत्नत्वम्। इति। **एवम्** इत्थम्। **प्रयत्नत्रैविध्यं** प्रयत्नस्य त्रैविध्यं त्रिप्रकारता। **परिकीर्तितं** कथितम्। इति। मूले कारिकाविषयमाह—**प्रयत्नमिति**। **प्रयत्नं** प्रयत्नगुणम्। **निरूपयति** विवृणोति। **प्रवृत्तिरिति**। कारिकाशयमाह—**प्रवृत्तीति**। **प्रवृत्तिनिवृत्तिजीवनयोनियत्नभेदात्** तत्तद्भेदेन। **प्रयत्नः** प्रयत्नगुणः। **त्रिविधः** त्रिप्रकारकः। **इति**। **अर्थः** आशयः। प्रयत्न आत्मधर्म उत्साहः। यथोक्तं—'प्रयत्नस्त्वात्मधर्मः स्यादुत्साहो भावना च सः' इति।

हिन्दी—प्रवृत्ति, निवृत्ति एवं जीवनकारण, ये तीन प्रयत्न नैयायिकों के द्वारा बतलाये गये हैं।

प्रयत्न का निरूपण करते हैं—**प्रवृत्तिश्चेति**। प्रवृत्ति, निवृत्ति एवं जीवनयोनियत्न के भेद से प्रयत्न तीन प्रकार का होता है, ऐसा इसका अर्थ है॥ १४९॥

चिकीर्षा कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिस्तथा॥ १५०॥
उपादानस्य चाध्यक्षं प्रवृत्तौ जनकं भवेत्।

चिकीर्षेत्यादि। मधुविषसम्पृक्तान्नभोजनादौ बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानेन चिकीर्षाभावान्न प्रवृत्तिरिति भावः। कृतिसाध्यताज्ञानादिवद् बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानमपि स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तौ कारणमित्यपि वदन्ति।

आलोकः—अथ प्रवृत्तिं प्रति कारणमाह परममूले—**चिकीर्षेति**। प्रवृत्तौ चिकीर्षा कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिः तथा उपादानस्य अध्यक्षं च जनकं भवेत् इति। **प्रवृत्तौ** प्रवृत्तिरभिमुखीभवनं तत्र। **चिकीर्षा** कृतिसाध्यत्वप्रकारेच्छा। **कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिः** कृतिसाध्यत्वमतिः इष्टसाधनत्वमतिः इदं मत्कृतिसाध्यमिति ज्ञानम् इदं मदिष्टसाधकमिति धीश्च। **तथा** एवमेव। **उपादानस्य** समवायिकारणस्य। **अध्यक्षं** प्रत्यक्षम्। **च** अपि। एतच्चतुष्टयं मिलित्वा। **जनकं** कारणम्। **भवेत्** इति। एतेष्वेकस्याऽप्यभावे न प्रवृत्त्युदयः यथा कृतिसाध्यताज्ञानाभावान्मेरुशृङ्गस्योत्पाटने इष्टसाधनताज्ञानाभावान्समुद्रमज्जने उपादानप्रत्यक्षाभावाद् द्व्यणुकादिनिर्माणे च न प्रवृत्तिः। तन्तुवायस्य पटे कुलालस्य घटे तच्चतुष्कस्यैव सत्त्वात् प्रवृत्तिः। कारिकाशयं विवृणोति—**चिकीर्षेत्यादि**। **मधुविषसम्पृक्तान्नभोजनादौ** माक्षिकविषमिश्रितभोजनादौ। **बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानेन** बलवतः प्रबलस्यानिष्टस्याहितस्य अनुबन्धित्वं साधकत्वं तेन। **चिकीर्षाभावात्** चिकीर्षा कृतिसाध्यत्वप्रकारेच्छा तस्या अभावाद् विरहात्। **न**। **प्रवृत्तिः** निरतिः। **इति**। **भावः** आशयः। मतान्तरमाह—**कृतीति**। **कृतिसाध्यताज्ञानादिवत्** कृत्या प्रयत्नेन साध्यता सम्पाद्यता तस्या ज्ञानम् आदिपदात् इष्टसाधनत्वज्ञानादीनां ग्रहणम्। तद्वत्। **बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानं** बलवद्यदनिष्टमहितं तस्य अननुबन्धित्वमसम्बद्धत्वं तस्य ज्ञानमवबोधः। **अपि च**। **स्वतन्त्रान्वयव्य-**

तिरेकाभ्यां स्वतन्त्रौ किञ्चिद्द्वारकौ यौ अन्वयव्यतिरेकौ ताभ्यां तज्ज्ञानसहकृतमनस्सन्निकर्षात् । **प्रवृत्तौ** । **कारणम्** । **इति** । **अपि** । **वदन्ति** केचिदिति । बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानसत्त्वे चिकीर्षाद्वारैव हेतुत्वं न तु साक्षादिति तत्रास्वरस इति वदन्तीत्यनेन सूच्यते ।

हिन्दी—चिकीर्षा, कृतिसाध्यता का ज्ञान, इष्टसाधनता का ज्ञान एवं उपादान अर्थात् समवायिकारण का प्रत्यक्ष होना, ये मिलित चार प्रवृत्ति के जनक होते हैं ।

चिकीर्षेति । मधु एवं विष से मिले हुए अन्न के भोजन आदि में जो बलवान् अनिष्ट है, उसके अनुबन्धी ज्ञान से चिकीर्षा के अभाव में प्रवृत्ति नहीं होती, ऐसा आशय है । कृतिसाध्यताज्ञान आदि की तरह बलवान् अनिष्ट का अननुबन्धी ज्ञान भी स्वतन्त्र रूप से अन्वय एवं व्यतिरेक से प्रवृत्ति के प्रति कारण होते हैं, ऐसा कुछ विचारक कहते हैं । (लेकिन बलवदनिष्टानुबन्धी ज्ञान में चिकीर्षा के न हो पाने से बलवदनिष्टाननुबन्धित्व ज्ञान चिकीर्षा के द्वारा ही प्रवृत्ति का कारण होता है, स्वतन्त्र रूप से नहीं । अतः उसमें अस्वरस होने से कहते हैं । इससे उपस्थापित किया गया ।)

कार्यताज्ञानं प्रवर्तकमिति गुरवः । तथाहि—ज्ञानस्य प्रवृत्तौ जननीयायां चिकीर्षातिरिक्तं नापेक्षितमस्ति । सा च कृतिसाध्यताज्ञानसाध्या, इच्छायाः स्वप्रकारप्रकारकधीसाध्यत्वनियमात् । चिकीर्षा हि कृतिसाध्यत्वप्रकारिकेच्छा । तत्र कृतिसाध्यत्वं प्रकारस्तत्प्रकारकज्ञानं चिकीर्षायां तद्द्वारा च प्रवृत्तौ हेतुर्न त्विष्टसाधनताज्ञानं तत्र हेतुः (नित्ये तदभावात्) । कृत्यसाध्येऽपि चन्द्रमण्डलानयनादौ प्रवृत्त्यापत्तेः । ननु कृत्यसाध्यताज्ञानं प्रतिबन्धकमिति चेन्न, तदभावापेक्षया कृतिसाध्यताज्ञानस्य लघुत्वात् । न च द्वयोरपि हेतुत्वं, गौरवात् । ननु त्वन्मतेऽपि मधुविषसम्पृक्तान्नभोजने चैत्यवन्दने च प्रवृत्त्यापत्तिः, कार्यताज्ञानस्य सत्त्वादिति चेन्न, स्वविशेषणवत्ताप्रतिसन्धानजन्यकार्यताज्ञानस्य प्रवर्तकत्वात् । काम्ये हि यागपाकादौ कामना स्वविशेषणम् । ततश्च बलवदनिष्टाननुबन्धिकाम्यसाधनताज्ञानेन कार्यताज्ञानम् । ततश्च प्रवृत्तिः । तृप्तश्च भोजने न प्रवर्तते, तदानीं कामनायाः पुरुषविशेषणत्वाभावात् । नित्ये च शौचादिकं पुरुषविशेषणम् । तेन शौचादिज्ञानाधीनकृतिसाध्यताज्ञानात् तत्र प्रवृत्तिः । ननु तदपेक्षया लाघवेन बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनताविषयककार्यताविषयकज्ञानत्वेनैव हेतुत्वमस्तु बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं चेष्टोत्पत्तिनान्तरीयकदुःखाजनकत्वं बलवद्द्वेषविषयदुःखाजनकत्वं वेति चेन्न, इष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्वयोर्युगपज्ज्ञातुमशक्यत्वात्साध्यत्वसाधनत्वयोर्विरोधात् । असिद्धस्य हि साध्यत्वं सिद्धस्य च साधनत्वम् । न चैकमेकेनैकदा सिद्धमसिद्धञ्चेति ज्ञायते, तस्मात्कालभेदादुभयं ज्ञायत इति । नैवं, लाघवेन बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वे सति कृतिसाध्यताज्ञानस्य हेतुत्वात् । न च

साध्यत्वसाधनत्वयोर्विरोधो यदा कदाचित्साध्यत्वसाधनत्वयोरविरोधादेकदा साध्यत्वसाधनत्वयोश्च ज्ञानात् ।

आलोकः—कार्यताज्ञानमात्रस्य प्रवर्तकत्वसमर्थकं गुरुमतमनूद्य दूषयति—**कार्यताज्ञानमिति । कार्यताज्ञानं** कृतिसाध्यताज्ञानम् । एव न त्वन्ये । **प्रवर्तकं** प्रवृत्तिहेतुः । **इति** इत्थम् । **गुरवः** प्राभाकरमीमांसकाः । मीमांसकेषु प्राभाकरा हि स्वकीयमौलिकचिन्तनेन तत्र विशिष्टं स्थानमाहरन्ति । तन्मते हि केवलं कृतिसाध्यताज्ञानमेव प्रवृत्तिं प्रति हेतुर्न तु तदितरदपि । तन्मतमुपपादयति—**तथाहीति । तथाहि । ज्ञानस्य । प्रवृत्तौ** उन्मुखीभावे । **जननीयायाम्** उत्पादनीयायाम् । **चिकीर्षातिरिक्तं** चिकीर्षा कृतिसाध्यत्वप्रकारकेच्छा तदतिरिक्तं तदधिकम् । **न । अपेक्षितम्** आवश्यकत्वेन सम्मतम् । **अस्ति । सा चिकीर्षा । च हि । कृतिसाध्यताज्ञानसाध्या** कृत्या यत्नेन साध्यतायाः सम्पादनीयतायाः यज्ज्ञानं धीस्तेन साध्या कृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञानजन्या । चिकीर्षायाः इच्छाविशेषत्वात् **इच्छायाः । स्वप्रकारप्रकारकधीसाध्यत्वनियमात्** स्वमिच्छैव प्रकारो विशेषणं तदेव प्रकारो यस्याः तादृशी या धीस्तदा साध्यत्वस्य जन्यत्वस्य नियमात्—या यद्विशेष्यकयत्प्रकारिकेच्छा सा नियमेन तद्विशेष्यकतत्प्रकारकज्ञानजन्या भवतीति । **चिकीर्षा । हि । कृतिसाध्यत्वप्रकारिकेच्छा** यत्नसम्पाद्यप्रकारकेच्छा । **तत्र** तस्यां चिकीर्षारूपेच्छायाम् । **कृतिसाध्यत्वं** यत्नसम्पाद्यत्वम् । **प्रकारः** धर्मः । **तत्प्रकारताज्ञानं** तादृशकृतिमत्साध्यत्वप्रकारत्वधीः । **चिकीर्षायाम् । तद्द्वारा** चिकीर्षाद्वारा । **च । प्रवृत्तौ । हेतुः । न । तु । इष्टसाधनताज्ञानम्** अभीष्टसाधनत्वधीः । **तत्र प्रवृत्तौ । हेतुः** कारणम् । **नित्ये** नित्यकर्मादौ । **तदभावात्** तस्येष्टसाधनताज्ञानस्य अभावाद् विरहात् । नित्यकर्मणः फलजनकत्वाभावात्तत्रेष्टसाधनताज्ञानाभावेन प्रवृत्त्यनुपपत्तेरिति । **कृत्यसाध्ये** कृत्या यत्नेन असाध्येऽसम्पाद्ये । **अपि हि । चन्द्रमण्डलानयनादौ** चन्द्रमण्डलस्य आनयनकर्मादौ । **प्रवृत्त्यापत्तेः** प्रवृत्त्युत्पत्तिसम्भवात् । किन्तु न तत्र प्रवृत्तिस्तस्य इष्टसाधनताज्ञानेऽपि कृत्यसाध्यत्वात् । तत्राशङ्क्य समाधत्ते—**नन्विति । ननु** । तत्र चन्द्रमण्डलानयनादौ **कृत्यसाध्यताज्ञानं** कृत्या असाध्यताया ज्ञानम् । **प्रतिबन्धकं** निरोधकम् । **इति । चेत् । न । तदभावापेक्षया** तस्य कृतिसाध्यत्वस्य योऽभावो विरहस्तदपेक्षया । **कृतिसाध्यताज्ञानस्य** प्रयत्नसम्पाद्यताधियः । **लघुत्वात्** लाघवात् । **न । च । द्वयोः** कृतिसाध्यताज्ञानकृत्यसाध्यताज्ञानयोः । **हेतुत्वं** कारणत्वम् । **गौरवात्** तथा सति गौरवापत्तेः । पुनराशङ्क्य समाधत्ते—**नन्विति । ननु । त्वन्मते** तव मीमांसकस्य मते । **अपि च । मधुविषसम्पृक्तान्नभोजने** मधुविषमिश्रितानां ग्रहणे । **चैत्यवन्दने** तथागतप्रतिमादिनमस्कारे । **च । प्रवृत्त्यापत्तिः** प्रवृत्त्युदयप्राप्तिः । **कार्यताज्ञानस्य** कृतिसाध्यत्वज्ञानस्य । **सत्त्वात्** भावात् । **इति । चेत् । न । स्वविशेषणवत्ताप्रतिसन्धानजन्यकार्यताज्ञानस्य स्वं प्रवर्तमानः** पुरुषः तद्विशेषणं काम्ये पुत्रेष्टियागादौ कामना नित्ये सन्ध्यावन्दनादौ तात्कालिकशौचादि तद्वत्ता तद्विशिष्टता तस्याः प्रतिसन्धानं ज्ञानं तज्जन्यं तदुत्पाद्यं यत्कार्यतायाः कर्तृसाध्यतायाः ज्ञानं धीस्तस्य । **प्रवर्तकत्वात्** प्रवृत्तिं प्रति हेतुत्वात् । न हि कार्यता ज्ञानमात्रं प्रवर्तकमपि तु स्वविशेषणवत्ताप्रतिसन्धानजन्य-

कार्यताविशेषज्ञानस्य प्रवर्तकत्वेन नोक्तस्थले प्रवृत्त्यापत्तिः। उक्तविशेषणवत्ताज्ञानमपि लिङ्गविधयैव कार्यताज्ञानकारणम्। तथा हि 'पाको मत्कृतिसाध्यः मत्कृतिं विनाऽसत्त्वे सति मदिष्टसाधनत्वात्' इत्यनुमानेन जन्यं कार्यताज्ञानं काम्यस्थले प्रवृत्तिं प्रति हेतुः। एवम्—'अहमिदानीन्तनकृतिसाध्यसन्ध्यावन्दनकः द्विजत्वे सति विहितसन्ध्याकालिकशौचादिमत्त्वात्' इत्यनुमानगम्यं कार्यताज्ञानं नित्यकर्मणि प्रवृत्तिम्प्रति कारणमिति प्रभायां स्पष्टम्। स्वविशेषणवत्तादिग्रन्थं विवृणोति—**काम्ये** इत्यादिना। **यागपाकादौ** यागे यज्ञविशेषे पाके पाचनकर्मणि आदिपदादेतद्विधेऽन्ये। **काम्ये** काम्यकर्मणि कामनया कर्त्तव्ये। **हि**। **कामना** स्पृहा। **स्वविशेषणम्**। **ततः** तदनन्तरम्। **च** हि। **बलवदनिष्टाननुबन्धिकाम्यसाधनताज्ञानेन** बलवतोऽनिष्टस्य अननुबन्धि यत् काम्यसाधनं तस्य भावस्तत्ता तस्या ज्ञानेन। **कार्यताज्ञानं** कृतिसाध्यताधीः। **ततः** तादृशकृतिसाध्यताज्ञानानन्तरम्। **प्रवृत्तिः** कार्ये अभिमुखीभवनम्। व्यतिरेकेणापि एतदेव साधयति—**तृप्त** इति। **तृप्तः** पूरितोदरः। **सद्य** एव। **च** हि। **भोजने** भोजनकर्मणि। **न** नैव। **प्रवर्तते** प्रवृत्तो भवति। **इदानीं** तदा। **कामनायाः** स्पृहायाः। **पुरुषविशेषणत्वाभावात्** पुरुषविशेषणताविरहात्। न हि कामना तदा पुरुषविशेषणमिति। **नित्ये** नित्यकर्मणि सन्ध्यावन्दनादौ। **शौचादिकं** स्नानादिना शुद्ध्यादि। **पुरुषविशेषणम्**। **तेन** हेतुना। **शौचादिज्ञानाधीनकृतिसाध्यताज्ञानात्** शौचादीनां ज्ञानस्य अधीना अनुबन्धिनी या कृतिसाध्यता कार्यता तस्याः ज्ञानात्। **तत्र** नित्यकर्मणि। **प्रवृत्तिः** व्यापारः। पुनराशङ्क्य समाधत्ते—**नन्विति**। **तदपेक्षया** तस्य स्वविशेषणवत्ताप्रतिसन्धानजन्यकार्यताज्ञानस्य प्रवर्तकत्वस्वीकारस्य अपेक्षया। **लाघवेन** लाघवदृष्ट्या। **बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनताज्ञानविशिष्टकार्यताज्ञानं** बलवदनिष्टस्य प्रबलाहितस्य अननुबन्धिनी असाधिका या इष्टसाधनता तस्याः ज्ञानं तेन विशिष्टं यत्कार्यसाधनता कृतिसाध्यता तस्याः ज्ञानम्। **एव** हि। **हेतुः** कारणम्। **अस्तु**। लाघवञ्च तत्र जन्यत्वज्ञानत्वयोरनिवेशादेव। बलवदनिष्टाननुबन्धित्वस्य तात्पर्यमाह—**बलवदिति**। **बलवदनिष्टाननुबन्धित्वम्**। **च** हि। **इष्टोत्पत्तिनान्तरीयकदुःखाधिकदुःखाजनकत्वम्** इष्टस्य हितत्वेन सम्मतस्य उत्पत्तौ नान्तरीयकमानुषङ्गिकम् (अपरिहार्यम्) यद्दुःखं कष्टं तस्मादधिकं यद् दुःखं तस्य अजनकत्वमनुत्पादकत्वम्। वा इति पक्षान्तरे। **बलवद्द्वेषविषयदुःखाजनकत्वं** बलवद् यद् द्वेषविषयदुःखं तस्य अजनकत्वमसाधकत्वम्। **इति**। **चेत्**। **न**। न तत्समीचीनम्। **इष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्वयोः** यच्च इष्टसाधनत्वं यच्च कृतिसाध्यत्वं तयोः। **युगपत्** समकालमेव। **ज्ञातुम्** अनुभवितुम्। **अशक्यत्वात्** असम्भवात्। **साध्यत्वसाधनत्वयोः** यच्च साध्यत्वं यच्च साधनत्वं तयोः। **विरोधात्** एकक्षणावच्छेदेनैकत्राऽवर्तमानत्वात्। विरोधमुपपादयति—**असिद्धस्येति**। **असिद्धस्य** आद्यक्षणसम्बन्धस्य। **हि** एव। **साध्यत्वम्**। **सिद्धस्य** आद्यक्षणान्यक्षणवृत्तिविशिष्टस्य। **च** हि। **साधनत्वम्**। कृत्यव्यवहितोत्तरक्षणसम्बन्धघटितकृतिसाध्यत्वस्य उत्पत्तिक्षणे एव यागादिवृत्तित्वात् स्वर्गादिरूपेष्टसाधनत्वस्य कालान्तरभाविस्वर्गाव्यवहितपूर्वक्षणसम्बन्धित्वघटितस्य चोत्पत्तिक्षणावच्छेदेन यागाद्यवृत्तित्वाच्च तयोरेकक्षणावच्छेदेनैकत्रावर्तमानत्वरूप-

विरोधो दुर्वार इति प्रभायां स्पष्टम् । न । च । एकं वस्तु । एकेन एकया व्यक्त्या । एकदा एककालावच्छेदेन । सिद्धं सम्पन्नम् । असिद्धम् असम्पन्नम् । च । इति इत्यम् । ज्ञायते अनुभूयते । तस्मात् हेतोः । कालभेदात् भिन्नभिन्नकाले एकैकस्य ज्ञानस्योदय-सम्भवात् कालभेदेन एकमनु एकम् । ज्ञायते अवबुध्यते । इति । अनूदितं प्रभाकरमतं दूषयति—मैवमिति । एवं निरुक्तप्रभाकरगुरुमतम् । मा न समीचीनम् । तत्र हेतुमाह—लाघवेनेति । लाघवेन लाघवदृष्टया । बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वे बलवद्यदनिष्टं तस्य अननुबन्धि यदिष्टसाधनं तस्य भावस्तत्त्वे । सति । कृतिसाध्यताज्ञानस्य कार्यता-बुद्धेः । हेतुत्वात् प्रवृत्तिं प्रति कारणत्वात् । बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वाभावे तु न कार्यताज्ञानस्य हेतुत्वमिति । न । च । सदा । साध्यत्वसाधनत्वयोः । विरोधः सम्भ-वति । यदा कदाचित् यत्किञ्चित्कालीनयोः कालविशेषघटितयोः साध्यत्वसाधनत्वयोः । अविरोधात् विरोधाभावात् । एकदा एककालावच्छेदेन । साध्यत्वसाधनत्वयोः । च । ज्ञानात् ज्ञानसम्भवात् ।

एकतस्तु कालविशेषघटितयोः साध्यत्वसाधनत्वयोरेकत्र वृत्तौ न किमपि बाधकं तथा च एककालावच्छेदेन साध्यत्वसाधनत्वयोरेकत्रावृत्तित्वेऽपि न क्षतिः तज्ज्ञानस्य प्रवर्तकत्वानभ्युपगमात्, किन्तु साध्यत्वसाधनत्वयोरवच्छिन्नयोरविरुद्धयोर्ज्ञानमेव प्रवर्तकमव्याप्यवृत्तिज्ञानस्यावच्छेदकावगाहित्वनियमे मानाभावादिति प्रभायां स्पष्टम् ।

हिन्दी—कार्यता का ज्ञान अर्थात् कृतिसाध्यता का ज्ञान ही प्रवर्तक होता है, ऐसा प्रभाकर गुरु का मत है। जैसे कि ज्ञान के लिए प्रवृत्ति के जननीयत्व में चिकीर्षा के अतिरिक्त और किसी की अपेक्षा नहीं होती। वह चिकीर्षा भी कृतिसाध्यता के ज्ञान से साध्य होती है, क्योंकि इच्छा का अपना प्रकार ही प्रकार है, जिसमें ऐसी बुद्धि से साध्य होने का नियम है। चिकीर्षा कृतिसाध्यत्वप्रकारक इच्छा ही है। उसमें कृति-साध्यत्व प्रकार है, तत्प्रकारक ज्ञान चिकीर्षा में होता है, उसके द्वारा ही प्रवृत्ति में हेतु होता है, न तो उसमें इष्टसाधनता का ज्ञान हेतु होता है। क्योंकि (नित्य कर्म में उसका अभाव होता है) वैसा होने पर कृति से असाध्य भी चन्द्रमण्डल के आनयन आदि में प्रवृत्ति की आपत्ति हो सकती है। यदि यह कहा जाय कि उसमें कृति से असाध्यता का ज्ञान प्रतिबन्धक होता है तो ठीक नहीं है, उसके अभाव की अपेक्षा कृतिसाध्यता के ज्ञान में ही लाघव है। न तो दोनों को हेतु मानना उचित है, क्योंकि वैसा करने पर गौरव पड़ेगा। यदि यह कहा जाय कि तुम्हारे मत में भी तो मधु एवं विष से सम्पृक्त अन्न खाने में एवं चैत्य आदि के प्रणाम करने में प्रवृत्ति हो सकती है, क्योंकि उसमें भी कार्यता ज्ञान रहता है ? तो उचित नहीं है, क्योंकि स्वविशेषणवत्ता के प्रतिसन्धान से जन्य कार्यता ज्ञान का प्रवर्तकत्व होता है, केवल कार्यता ज्ञान मात्र का नहीं। याग, पाक आदि काम्य कर्म में कामना स्वविशेषण है, उसके बाद प्रबल अनिष्ट की असम्बन्धी काम्यसाधनता के ज्ञान से कार्यता का ज्ञान होता है, तब प्रवृत्ति होती है। तृप्त व्यक्ति तत्काल भोजन में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि उस समय कामना का पुरुषविशेषणत्व नहीं रहता। नित्य कर्म में शौच आदि पुरुष-विशेषण है। इससे शौच

आदि ज्ञान के अधीन कृतिसाध्यताज्ञान से उसमें प्रवृत्ति होती है। यदि यह कहा जाय कि उसकी अपेक्षा लाघव से बलवदनिष्ट के अननुबन्धी इष्टसाधनताविषयक कार्यताज्ञान के रूप में ही हेतुत्व हो। उसमें जो बलवदनिष्टाननुबन्धित्व है, वह इष्ट की उत्पत्ति में अनिवार्य दुःख से अधिक दुःख का अजनकत्व अथवा बलवद्द्वेषविषयकदुःख का अजनकत्व है, तो उचित नहीं है, क्योंकि इष्टसाधनत्व एवं कृतिसाध्यत्व दोनों एक ही बार में जाने नहीं जा सकते, क्योंकि साध्यत्व एवं साधनत्व का परस्पर विरोध होता है। असिद्ध का ही साध्यत्व होता है और सिद्ध का ही साधनत्व भी। न तो एक वस्तु एक ही व्यक्ति द्वारा एक काल में सिद्ध एवं असिद्ध भी जाना जाता है। काल के भेद से तो दोनों जाने जा सकते हैं।

यह कथन उचित नहीं है, लाघव के कारण बलवदनिष्ट के अननुबन्धी इष्टसाधनत्व रहने पर कृतिसाध्यता ज्ञान का हेतुत्व हो सकता है। न तो साध्यत्व एवं साधनत्व का विरोध ही होता है, कालविशेष में घटित साध्यत्व एवं साधनत्व का विरोध नहीं होता और एक ही समय में भी साध्यत्व एवं साधनत्व का ज्ञान हो भी सकता है।

नव्यास्तु 'ममेदं कृतिसाध्यमि'ति ज्ञानं न प्रवर्तकमनागते तस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्। किन्तु यादृशस्य पुंसः कृतिसाध्यं यद्दृष्टं तादृशत्वं स्वस्य प्रतिसन्धाय तत्र प्रवर्तते। तेनौदनकामस्य तत्साधनताज्ञानवतस्तदुपकरणवतः पाकः कृतिसाध्यस्तादृशश्चाहमिति प्रतिसन्धाय पाके प्रवर्तत इत्याहुस्तन्न, स्वकल्पितलिप्यादिप्रवृत्तौ यौवने कामोद्भेदादिना सम्भोगादौ च तदभावात्।

आलोकः—तत्र प्रभाकरानुयायिनां नवीनानां मतमाह—**नव्या** इति। **नव्याः** नवीनप्राभाकराः। अस्य आहुरित्यनेनान्वयः। **तु** हि। **मम** प्रवर्तमानस्य पुरुषस्य। **इदं** कार्यम्। **कृतिसाध्यं** यत्नसम्पाद्यम्। **इति** इत्थम्। **ज्ञानं** धीः। **न**। **प्रवर्तकं** कार्यप्रवृत्तिनिमित्तम्। **अनागते** भविष्यति। **तस्य** कृतिसाध्यत्वस्य। **ज्ञातुम्**। **अशक्यत्वात्** असम्भवात्। **किन्तु** प्रत्युत। **यादृशस्य** यद्विधस्य। **पुंसः** जनस्य। **कृतिसाध्यं** यत्नसम्पाद्यम्। **यद्** यदेव कार्यम्। **दृष्टमवज्ञातम्**। **तादृशत्वं** तथाविधत्वम्। **स्वस्य** प्रवर्तमानस्येति। **प्रतिसन्धाय** विचार्य। **तत्र** तस्मिन् कार्ये। **प्रवर्तते** प्रवृत्तो भवति। **तेन** हेतुना। **ओदनकामस्य** भक्तेच्छुकस्य। **तत्साधनताज्ञानवतः** भक्तसम्पादनसाधनताधीमतः। **तदुपकरणवतः** तत्सामग्रीमतः। **पाकः** पचनकर्म। **कृतिसाध्यः** प्रयत्नापाद्यः। **तादृशः** तथाविधज्ञानसाधनयुक्तः। **च**। **अहम्**। **इति** इत्थम्। **प्रतिसन्धाय** सुविचार्य। **पाके** पचनकर्मणि। **प्रवर्तते** प्रवृत्तो भवति। **इति** इत्थम्। **आहुः** कथयन्ति। **तत्** तादृशं तेषां कथनम्। **न** न समीचीनम्। **स्वकल्पितलिप्यादिप्रवृत्तौ** स्वसङ्केतितलिपिप्रभृतिषु। तादृशप्रतिसन्धानाभावेऽपि प्रवृत्तिदर्शनात् तादृशज्ञानं प्रवृत्तिं प्रति व्यभिचारीति। तथैव **यौवने** तारुण्ये। **कामोद्भेदादिना** कामप्रादुर्भावेन। **सम्भोगादौ** मैथुनादौ। **च** अपि। **तदभावात्** तस्य तादृशज्ञानस्य अभावात् तदभावेऽपि अर्थात् कृतिसाध्यदर्शनमन्तरैव कामवेगेन स्वत एव तत्र प्रवृत्तिदर्शनात् तत्रापि व्यभिचारीति।

हिन्दी—नवीन प्राभाकर तो—"यह मेरा कृतिसाध्य है, ऐसा ज्ञान प्रवर्तक नहीं होता, क्योंकि भविष्यत् पदार्थ में कृतिसाध्यत्व रूप ज्ञान होना सम्भव नही है। किन्तु जैसे पुरुष के प्रयत्न से जिस पदार्थ की सिद्धि जिसने देखी, वह अपना सामर्थ्य वैसा समझकर उस कार्य में प्रवृत्त होता है। जैसे—भात चाहने वाले तथा भात बनाने की विधि जाननेवाले और आवश्यक उपकरण वाले के लिए पाक करना कृतिसाध्य है वैसा ही भात चाहने वाला, विधि जानने वाला और आवश्यक उपकरणवाला मैं भी हूँ, ऐसा समझकर पाक में प्रवृत्त होता है"। ऐसा कहते हैं, किन्तु यह मत ठीक नहीं है। क्योंकि जिस व्यक्ति ने स्वयं किसी लिपि की कल्पना की हो, अथवा यौवन में कामवासना की प्रबलता में सम्भोग के लिए प्रवृत्ति होना और उपर्युक्त प्रवृत्ति के कारणों का न होना ही सिद्ध करता है कि नवीन प्राभाकरों का मत ठीक नहीं है।

इदन्तु बोध्यम्। इदानीन्तनेष्टसाधनत्वादिज्ञानं प्रवर्तकं तेन भावियौवराज्ये बालस्य न प्रवृत्तिस्तदानीं कृतिसाध्यत्वाज्ञानात्। एवं तृप्तश्च भोजने न प्रवर्तते तदानीमिष्टसाधनत्वाज्ञानात्। प्रवर्तते च दोषदूषितचित्तो विषादिभक्षणे तदानीं बलवदनिष्टानुबन्धित्वाज्ञानात्। न चास्तिकस्यागम्यागमनशत्रुवधादिप्रवृत्तौ कथं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वबुद्धिर्नरकसाधनत्वज्ञानादिति वाच्यम्, उत्कटरागादिना नरकसाधनताधीतिरोधानात्। वृष्ट्यादौ तु कृतिसाध्यताज्ञानाभावान्न चिकीर्षाप्रवृत्ती, किन्त्विष्टसाधनताज्ञानादिच्छामात्रम्। कृतिश्च प्रवृत्तिरूपा बोध्या। तेन जीवनयोनियत्नसाध्ये प्राणपञ्चकसञ्चारे न प्रवृत्तिः। इत्थञ्च प्रवर्तकत्वानुरोधाद् विधेरपीष्टसाधनत्वादिकमेवार्थः।

आलोकः—केवलेष्टसाधनतादित्रितयविषयकज्ञानस्य प्रवर्तकत्वे दोषाशङ्कापरिहारायाह—**इदमित्यादि**। **इदम्** अनुपदं वक्ष्यमाणमेव प्रवर्तकमिति। **तु** हि। **बोध्यं** ज्ञेयम्। तदेवाऽऽह—**इदानीमिति**। **इदानीन्तनेष्टसाधनत्वादिज्ञानम्** इदानीन्तनं वर्तमानकालविशिष्टं यदिष्टसाधनत्वस्य तदादेश्च ज्ञानं धीः। **प्रवर्तकं** चिकीर्षाद्वारा प्रवृत्तिं प्रति हेतुः। **तेन** हेतुना। **भावियौवराज्ये**। **बालस्य** अर्भकस्य। **न**। **प्रवृत्तिः** उन्मुखीभावः। **तदानीं** तदवसरे। **कृतिसाध्यत्वाज्ञानात्** कृत्या साध्यत्वस्य अज्ञानात्। प्रयत्नसाध्यत्वधीविरहादिति। **एवम्**। **तृप्तः** पूरितहृदयः। **च** हि। **भोजने**। **न**। **प्रवर्तते** उन्मुखो भवति। **तदानीं** तदवसरे। **इष्टसाधनत्वाज्ञानात्** इष्टसाधकमिदमिति धियोऽभावात्। तद्विपरीतम्। **प्रवर्तते** प्रवृत्तो भवति। **च**। **दोषदूषितचित्तः** दोषेण सुरापानादिना नैराश्यादिना च दूषितं गर्हितं चित्तं चेतो यस्य सः। **विषादिभक्षणे** विषादिमरणसाधनौषधभक्षणे। **तदानीं** तदवसरे। **बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानात्** बलवदनिष्टाननुबन्धिज्ञानस्य सम्भवात्। **न**। **च** हि। **आस्तिकस्य** सदाचारिणः। **अगम्यागमनशत्रुवधादिप्रवृत्तौ** अगम्यागमनं निषिद्धस्त्रीसम्भोगः शत्रुवध आततायिनाशः तदादि निषिद्धकर्मकरणपरपीडनादि तत्र प्रवृत्तौ। **कथम्**। **बलवदनिष्टाननुबन्धित्वबुद्धिः** प्रबलाहितसाधकत्वधीः। **नरकसाधनत्वज्ञानात्** नरकस्य साधनत्वं तस्य ज्ञानादवबोधात्। **इति**।

वाच्यम् । **उत्कटरागादिना** उत्कटोऽदम्यः रागः पुनः पुनः विषयानुरञ्जनेच्छा, आदिपदात् उत्कटत्वरूपवैजात्यावच्छिन्नसंहारेच्छारूपजिहीर्षादीनां ग्रहणं तेन । **नरकसाधनताधीतिरोधानात्** नरकसाधनताया धियः तिरोधानात् अगम्यागमनादिविशेष्यकबलवदनिष्टानुबन्धित्वप्रकारकज्ञानोत्पत्त्यसम्भवात् । **वृष्ट्यादौ** वृष्टिर्वर्षा, आदिपदात् रम्भासंयोगादेः परिग्रहस्तत्र । **तु** । **कृतिसाध्यताज्ञानाभावात्** कृत्या प्रयत्नेन साध्यतायाः ज्ञानस्य अभावात् । **न** । **चिकीर्षाप्रवृत्ती** चिकीर्षा तद्द्वारा प्रवृत्तिश्च । **किन्तु** । **इष्टसाधनताज्ञानात्** इष्टस्य साधनताया ज्ञानात् । **इच्छामात्रं स्यादेतदिति** इच्छैव न तु तत्र प्रवृत्तिरिति । **कृतिः** कृतिसाध्यताज्ञानमित्यत्र कृतिः । **च** हि । **प्रवृत्तिरूपा** प्रवृत्तिस्वरूपा । **बोध्या** ज्ञेया । **तेन** हेतुना । **जीवनयोनियत्नसाध्ये** जीवनयोन्याख्ययत्नमात्रसाध्ये प्रवृत्त्यसाध्ये । **प्राणपञ्चकसञ्चारे** प्राणापानसमानोदानव्यानवायुसञ्चारे । **न** । **प्रवृत्तिः** । फलितसिद्धान्तमाह—**इत्थञ्चेति** । इत्थं निरुक्तयुक्त्या प्रवृत्तिं प्रति बलवदनिष्टाननुबन्धित्वेष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्वेति त्रितयविषयकज्ञानस्य कारणत्वे सिद्धे । **च** हि । **प्रवर्तकत्वानुरोधात्** प्रवृत्तिकारणत्वान्वयव्यतिरेकवत्त्वात् । विधेः 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादौ यजेतेत्यादिविधेः । **अपि च** । **इष्टसाधनत्वादिकं** बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वविशिष्टकृतिसाध्यत्वम् । **एव हि** । **अर्थः** वाच्य इति ।

उच्यते हि न विधिः साक्षात्प्रवर्तकज्ञानोत्पादकं किन्तु विधिवाक्यादिष्टसाधनत्वे कृतिसाध्यत्वे च ज्ञाते स्वर्गकामादिपदसमभिव्याहारेण स्वर्गसाधनमिष्टमिति आनुमानिकं मानसं ज्ञानं मानसे उत्पद्यते । अन्यथा विशेषरूपेण फलज्ञानाभावात्प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । एवमिदानीन्तनत्वान्तर्भावेण कृतिसाध्यत्वादिज्ञानमनुमानात् । एवं विधिजन्यज्ञानजन्यं ज्ञानं प्रवर्तकमिति । भाट्टास्त्वाहुः—स्वेच्छाधीना परप्रेरणाजन्या चेति लोके प्रवृत्तिर्द्वेधा । तत्राद्यायां प्रवर्तनाया नोपयोगः, द्वितीयायां तु स आचार्यप्रेरणया इदं करोमीति व्यवहारात् । प्रवर्तना च प्रवर्तयितुः प्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारविशेषः । स च चेतनस्याभिप्राय एव अचेतनस्य वेदस्य तु अभिधानामकः कश्चिच्छब्दसमवेतः । यथाऽऽचार्याभिप्रायज्ञानाच्छिष्यः प्रवर्तते तथाऽभिधाज्ञानाद् विधिस्थले जनस्य प्रवृत्तिः । सैव लिङर्थः शब्दभावना लिङ्त्वांशेनोच्यते । अर्थभावना तु आख्यातत्वांशेन । यथोक्तम्—

'अभिधा भावनामाहुमन्यामेव लिङादयः ।
अर्थातमभावना त्वन्या सर्वाख्यातस्य गोचरः ॥
लिङोऽभिधा सैव च शब्दभावना यागादिकात्माश्रितवृत्तिरार्थी ।
शाब्द्यामथार्थात्मिकयैव भाव्या फलं हि स्वर्गादिकमेव चार्थ्याः' ॥

तथैव—

'पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात्क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः ।
प्रवृत्तिहेतुं धर्मश्च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम्' ॥

इत्यादिविस्तरोऽन्यत्र ।

हिन्दी—यह तो जान लेना चाहिए । वर्तमान का इष्टसाधनत्व आदि का ज्ञान प्रवर्तक है, इस कारण होने वाले (भावी) यौवराज्य में बालक की प्रवृत्ति नहीं होती,

क्योंकि उस समय कृतिसाध्यता का ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार तृप्त व्यक्ति भोजन में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि उस समय उससे इष्टसाधनत्व ज्ञान नहीं होता। मद्य आदि दोष से दूषित चित्त वाला व्यक्ति विष आदि के भक्षण में प्रवृत्त होता है, क्योंकि उस समय उसमें प्रबल अनिष्ट के अनुबन्धित्व का ज्ञान नहीं रहता। न तो आस्तिक कामुक के अगम्यागमन में, शत्रुवध आदि की प्रवृत्ति में भी नरक के साधनत्व का ज्ञान होने से कैसे बलवदनिष्टाननुबन्धित्व बुद्धि होती है? ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि उत्कट राग आदि से उसका नरक का साधन होने की बुद्धि तिरोहित हो जाती है। वृष्टि आदि में तो कृतिसाध्यता के ज्ञान के अभाव से चिकीर्षा-प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु इष्टसाधनता के ज्ञान से इच्छा मात्र होती है। कृतिसाध्यता में कृति प्रवृत्तिरूप समझ लेनी चाहिए। इस कारण जीवनयोनियत्न से साध्य प्राणपञ्चक (प्राण, अपान आदि) के सञ्चार में प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार प्रवर्तकत्व के अनुरोध से विधि का भी इष्टसाधनत्व आदि ही अर्थ होता है।

इत्थञ्च 'विश्वजिता यजेत' इत्यादौ यत्र फलं न श्रूयते तत्रापि स्वर्गः फलं कल्प्यते। ननु 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यादौ इष्टानुत्पत्तेः कथं प्रवृत्तिः? न चार्थवादिकं ब्रह्मलोकादि प्रत्यवायाभावो वा फलमिति वाच्यं, तथासति काम्यत्वे नित्यत्वहान्यापत्तेः। कामनाभावे चाकरणापत्तेः। इत्थञ्च यत्र फल-श्रुतिस्तत्रार्थवादमात्रमिति चेन्न। ग्रहणश्राद्धादौ नित्यत्वनैमित्तिकत्वयोरिव (भरणीश्राद्धे काम्यत्वनैमित्तिकत्वयोरिव) नित्यत्वकाम्यत्वयोरप्यविरोधात्। न च कामनाभावेऽकरणतापत्तिः, त्रिकालस्तवपाठादाविव कामनासद्भावस्यैवं कल्पनात्, न तु वेदबोधितकार्यताज्ञानात्प्रवृत्तिरिति सम्भवति, स्वेष्टसाधनत्व-मविज्ञाय तादृशकार्यताज्ञानसहस्रेणाऽपि प्रवृत्तेरसम्भवात्। यदपि षण्डापूर्वं फलमिति तदपि न कामनाभावेऽकरणतापत्तेस्तौल्यात्। कामनाकल्पने त्वार्थ-वादिकफलमेव रात्रिसत्रन्यायात् कल्प्यतामन्यथा प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तेनानुत्पत्ति प्रत्यवायस्यान्ये मन्यन्ते। एवम् —

'सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संशितव्रताः।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम्'॥

एवम् —

'दद्यादहरहः श्राद्धं पितृभ्यः प्रीतिमावहन्'।

इत्यादिवचनप्रतिपादितब्रह्मलोकप्रीत्यात्मकमेव फलमस्तु। न च पितृप्रीतिः कथं फलं व्यधिकरणत्वादिति वाच्यं, गयाश्राद्धादाविवोद्देश्यत्वसम्बन्धेनैव फलजनकत्वस्य क्वचित्कल्पनात्। अत एवोक्तं शास्त्रदर्शितफलमनुष्ठान-कर्तरीत्युत्सर्ग इति। पितॄणां मुक्तत्वे तु स्वस्य स्वर्गादिफलं यावन्नित्यनैमित्ति-कानुष्ठानस्य सामान्यतः स्वर्गजनकत्वात्। षण्डापूर्वार्थं प्रवृत्तिश्च न सम्भवति, न हि तत्सुखदुःखाभाववत् स्वतः पुरुषार्थो न वा तत्साधनं, प्रत्यवायानुत्पत्तौ

कथं प्रवृत्तिरिति चेदित्थम्—यथा हि नित्ये कृते प्रत्यवायाभावस्तिष्ठति तदभावे तदभावः । एवं प्रत्यवायाभावसत्त्वे दुःखप्रागभावसत्त्वं तदभावे तदभाव इति योगक्षेमसाधारणकारणताया दुःखप्रागभावं प्रत्यपि सुवचत्वात् । एवमेव प्रायश्चित्तस्यापि दुःखप्रागभावहेतुत्वमिति ।

आलोकः—ननु फलाश्रवणस्थले कथमिष्टसाधनताऽऽपत्तिरित्यत आह—**इत्थमिति । इत्थं** प्रवृत्तिमात्रे इष्टसाधनताज्ञानस्य हेतुत्वसिद्धौ । **च** । 'विश्वजिता यजेत' **इत्यादौ** विधिप्रत्ययस्येष्टसाधनत्वादिरूपेऽर्थे ज्ञाते सतीति । **यत्र** यस्मिन् वाक्ये । **फलम्** इष्टसाधनताज्ञापकफलम् । **न । श्रूयते** शाब्दबोधविषयतावद् भवति । **तत्र** तथाविधवाक्ये तादृशवाक्यजन्यशाब्दबोधोत्तरम् । **अपि । स्वर्गः फलं कल्प्यते** फलत्वेन स्वर्गप्राप्तिः अनुमीयते अर्थात् मानसविषयीक्रियते इति । तत्रापि स्वर्गस्यैवेष्टत्वाद् यागस्य तत्साधनत्वाच्च । 'स स्वर्गः सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्' (४।३।१३) इति मीमांसासूत्रम् । यत्र विश्वजिदादिवाक्येषु फलं न श्रूयते तत्र सर्वाभिलषणीयत्वात्स्वर्ग एव फलं कल्प्यत इत्यस्याशयः । यत्र चेष्टानुत्पत्तिस्तत्र कथं प्रवृत्तिरिति प्राभाकरमतेनाशङ्कते—**नन्विति । ननु । अहरहः सन्ध्यामुपासीत इत्यादौ । इष्टानुत्पत्तेः** इष्टस्य स्वर्गादिरूपफलस्य अनुत्पत्तेरनुदयात् । तादृशकर्मणा फलानुत्पत्तेः । **कथं** केन प्रयोजकेन । **प्रवृत्तिः** उन्मुखीभावः । तत्र **न । च** हि । **अर्थवादादिकम्** अर्थवादः अर्थस्य प्रयोजनस्य वादो वादनमिति विध्यर्थप्रशंसापरं वचनम् । अर्थवादो हि स्तुत्यादिद्वारा विध्यर्थे शीघ्रं प्रवृत्तये प्रशंसति निषिद्धार्थे शीघ्रं निवृत्तये निन्दति इत्युक्तेः । तेन विध्यसमभिव्याहृतवाक्यमेवार्थवादः । स चतुर्विधः—स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्पश्च । प्रकारान्तरेण स त्रिविधः—गुणवादोऽनुवादो भूतार्थवादश्चेति । यथोक्तं—'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते । भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः' ॥ इति । तदादिकं तत्प्रभृतिवाक्यम् । अत्र तद्यथा—'सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संशितव्रताः । विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम्' ॥ इत्यादि । **ब्रह्मलोकादि** ब्रह्मलोकावाप्तिः । **प्रत्यवायाभावः** नित्याकरणे यः प्रत्यवायस्तत्करणे न स इति प्रत्यवायस्य अभावः । **वा** इति पक्षान्तरे । **फलम्** इष्टसाधनतारूपफलम् । **इति । वाच्यं** कथयितुं योग्यम् । **तथा** तस्य तादृशफलसाधनत्वे । **सति । काम्यत्वेन** काम्यकर्मत्वसिद्धेः । सन्ध्यादेः । **नित्यत्वहान्यापत्तेः** नित्यत्वस्य हानेः प्राप्तेः नित्यत्वकाम्यत्वयोर्विरोधात् । **कामनाभावे** कामनाया फलप्राप्त्याशाया अभावे । अकरणे प्रत्यवायानुत्पत्तेः । **च । अकरणापत्तेः** त्यागापत्तेः । **इत्यम् । च** हि फलश्रुतेरप्रयोजकत्वात् । **यत्र फलश्रुतिः** फलस्य शाब्दबोधविषयता । **तत्र । अर्थवादमात्रं** स्तुत्यादिविषयमात्रम् । न तु प्रवर्तिका । **इति** इत्थम् । कथ्यते । **चेत् । न** । तद्दूषयति—**नेति । न** नित्यत्वकाम्यत्वयोर्विरोध इति कथनं **न** नैव समीचीनम् । तत्र हेतुमाह—**ग्रहणेति । ग्रहणश्राद्धादौ** ग्रहणनिमित्तकश्राद्धे आदिपदात् स्नानादेश्च ग्रहणं तत्र श्राद्धस्य स्नानस्य च । **नित्यत्वनैमित्तिकत्वयोः** 'उपरागे श्राद्धं कुर्वीत' 'उपरागे स्नायात्' इति विधिवाक्येन ग्रहणावसरकश्राद्धस्नानयोः नित्यत्वप्रतिपादनात् उपरागनिमित्तकत्वप्रतिपादनाच्च तत्र नित्यत्वस्य नैमित्तिकत्वस्य च तयोः । **इव** यथा । **भरणीश्राद्धे**—'भरणीपितृपक्षे तु

महती परिकीर्तिता । तस्यां श्राद्धं कृतं येन स गयाश्राद्धकृद् भवेत्' ।। इति वचनेन प्रतिपाद्यभरणीनिमित्तकश्राद्धे । **काम्यत्वनैमित्तिकत्वयोः** गयाश्राद्धफलप्राप्त्या काम्यत्वस्य भरणीनिमित्तकत्वेन नैमित्तिकत्वस्य (अनिवार्यत्वेन नित्यत्वस्य च) सिद्धेस्तयोः । **इव** । **नित्यत्वकाम्यत्वयोः** सन्ध्यावन्दनादिनित्यकर्मस्वपि नित्यत्वकाम्यत्वरूपधर्मद्वयस्य समावेशे इति । '**अपि** । **अविरोधात्** विरोधाभावात् । एवञ्च 'नित्यश्राद्धं न कुर्वीत प्रसङ्गाद्यदि सिद्ध्यति । श्राद्धान्तरे कृतेऽन्यत्र नित्यत्वात्तन्न हापयेत्' ।। इति वचनेन नित्यत्वनैमित्तिकत्वयोरेककर्मविच्छेद्यत्वकथनाच्च न तयोरपरिहार्यो विरोधः इति । **न** नैव । **च** हि । **कामनाऽभावे** कामनायाः फलेच्छाया अभावे । **अकरणापत्तिः** अनिर्वाहसिद्धिः । **त्रिकालस्तवपाठादौ** कालत्रयविधेयस्तोत्रपाठादौ, आदिपदात् कालद्वयविधेयाग्निहोत्रादीनां परिग्रहः । **इव** यथा । **कामनासद्भावस्य** कामनायाः फलाशायाः सद्भावस्य वर्तमानत्वस्य । **एव** हि । **कल्पनात्** । यथा हि त्रैकालिकः शिवमहिम्नस्तोत्र-विष्णुसहस्रनामादिपाठः विधिप्राप्तत्वान्न काम्यं कर्म तथापि 'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं यः पठेन्नरः । त्रिसन्ध्यं कीर्तयेद्यस्तु सर्वान् कामानवाप्नुयात्' ।। इत्यादिफलनिर्देशात्फलकामनाया अपि तत्र सत्त्वं तथैव 'अकुर्वन् विहितं कर्म नरो भवति किल्बिषी' इति वचनात् प्रत्यवायाभावकामना कल्पनीयैवेति । मीमांसकमतेन पुनराशङ्क्य समाधत्ते—**न त्विति** । **न** । **तु** हि । **वेदबोधितकार्यताज्ञानात्** सन्ध्यावन्दनादिनित्यकर्मणि श्रुतिघटकविधिबोध्यकृतिसाध्यताज्ञानेन । **एव** । **प्रवृत्तिः** न तु तत्रेष्टसाधनताज्ञानरूपकारणस्यावश्यकता तथा च फलकल्पनमनुचितम् । **इति** इत्थम् । **सम्भवति** । **स्वेष्टसाधनत्वं** स्वस्याभीष्टस्य साधनत्वम् । **अविज्ञाय** अविमृश्य । इदं मेऽभीष्टसाधकमित्यविचिन्त्य । **तादृशकार्यताज्ञानसहस्रेण** तथाविधसहस्राधिककार्यताज्ञानेन । **अपि** । **प्रवृत्तेः** कर्मणि समुन्मुखीभावस्य । **असम्भवात्** । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तित्वावच्छिन्नं प्रति इष्टसाधनताज्ञानस्य हेतुत्वादिति । पुनः प्राभाकरमतमनूद्य दूषयति—**यदपीति** । **यत्** । **अपि** च प्राभाकरा वदन्ति । **षण्डापूर्वं** षण्डो नपुंसकः स इव अपूर्वम् । **फलं नित्यकर्मणः** । नित्यकर्मणः स्वर्गाद्यजनकमत एव षण्डवत् अपूर्वं नाममात्रेण जायते इति । **इति** इत्थमुच्यते । **तत्** तादृशं कथनमपि । **न** नैवोपयुक्तम् । **कामनाऽभावे** फलाशाविरहे । **अकरणापत्तेः** कार्याकरणप्राप्तेः । **तौल्यात्** समानत्वात् । तथा सति तेषां कर्मणां नित्यत्वमेव व्याहन्येतेति । **कामनाकल्पने** फलाशापरिकल्पने । **तु** हि । **आर्थवादिकम्** अर्थवादनिर्दिष्टम् । **फलम्** । **एव** । **रात्रिसत्रन्यायात्** ज्योतिर्गौरायुरित्यादिवाक्योत्पादितानि सौत्वानि कर्माणि रात्रिशब्दवाच्यानि । तानि च त्रयोदशरात्रसंज्ञकानि सत्रनाम्नाऽपि व्यवह्रियन्ते । तेषाञ्च फलं 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति' इत्यर्थवादबोधितप्रतिष्ठारूपं फलं विश्वजिन्न्यायापनोदेन यत्कल्प्यते स रात्रिसत्रन्यायस्तस्मात् । **कल्प्यतां** तथाविधकल्पनमेव वरमिति । **अन्यथा** अतथाभावे इष्टसाधनताज्ञानाभावेन । **प्रवृत्त्यनुपपत्तेः** प्रवृत्त्युदयासम्भवादिति । **तेन** अत्यन्ताश्रुतस्वर्गफलकल्पने गौरवात् लाघवेन तत्र अर्थवादोपस्थितब्रह्मलोकाप्तिरूपफलस्वीकारेण । **अन्ये** इतरे कतिपये नवीना आचार्याः । **प्रत्यवायस्य** प्रायश्चित्तविषयकपापस्य । **अनुत्पत्ति** सन्ध्यादिकरणे प्रागभाव-

परिपालनम् । **मन्यन्ते** इति । सन्ध्यादिनित्यकर्मणामार्थवादिकफलबोधकवाक्यमुद्धरति—**एवमिति । एवम्** । तदेवाह—**सन्ध्यामिति** । ये संशितव्रताः सन्ध्यां सततम् उपासते ते विधूतपापाः अनामयं ब्रह्मलोकं यान्ति इति । **ये । संशितव्रताः** धृतव्रता गृहीतनियमा इति । सन्तः । **सन्ध्यां** गायत्रीम् । **सततं** त्रिकालमेव । **उपासते । ते** तादृशाः सन्ध्योपासिनो जनाः । **विधूतपापाः** प्रक्षालित(प्रणष्ट)दुरिताः । सन्तः । **अनामयं** दुःखरोगादिरहितं सदानन्दमयम् । **ब्रह्मलोकम् । यान्ति** प्राप्नुवन्तीति । अनेन सन्ध्यादिनित्यकर्मणां ब्रह्मलोकः फलमिति संसूच्यते । नित्यश्राद्धस्यार्थवादमनुवदति—**एवमिति**। तदेवाह—**दद्यादिति** । प्रीतिम् आवहन् पितृभ्यः अहरहः श्राद्धं दद्यात् इति । **प्रीतिं** तृप्तिम् । **आवहन्** प्रापयन् । **पितृभ्यः** । इत्यादिवचनप्रतिपादितब्रह्मलोकप्रीत्यात्मकं इत्यादिकार्थवादनिरूपितं सन्ध्योपासनादेर्ब्रह्मलोकप्राप्तिरूपं नित्यश्राद्धस्य पितृप्रीतिरूपम् । **अहरहः** प्रतिदिनम् । **श्राद्धं** श्राद्धेन पितृप्रसादनम् । **दद्यात्** । इति । **एव हि** । **फलम्** । अस्तु । श्राद्धस्य पितृप्रीत्यात्मकफलानुपपत्तिमाशङ्क्य समाधत्ते—**न चेति । न** नैव । **च** हि । **पितृप्रीतिः** पितृप्रीणनम् । **कथम्** । **फलं** श्राद्धस्येति । श्राद्धस्य पितृप्रीतेश्च **व्यधिकरणत्वात्** भिन्नाश्रयत्वात् श्राद्धस्य हि कर्ताऽऽश्रयः प्रीतेस्तु पितर एवाश्रया इति तयोर्व्यधिकरणत्वम् । **इति** इत्थम् । **वाच्यं** कथनीयम् । **गयाश्राद्धादौ । इव** । नित्यश्राद्धादौ । अपि । **उद्देश्यत्वसम्बन्धेन** उद्देश्यतावच्छेदकसम्बन्धद्वारा । **एव हि । फलजनकत्वस्य** फलोत्पादकत्वस्य । **क्वचित्** । कल्पनात् । यदुद्देश्यतावच्छेदकसम्बन्धेन यत्कर्म क्रियते तस्य फलस्य स एवाधिकारी भवति, यथा पितृकृतस्य जातकसंस्कारस्य ओजस्वितादिफलं पुत्रनिष्ठमेव न तु तत्कर्तृत्वेन पितृनिष्ठम् । तेनैवोक्तं—पितॄनुद्दिश्य यत्नतः इति । तदेव द्रढयितुमाह—**अत इति । अतः** यतो हि कर्मफलमुद्देश्यानुसारि तस्मात् । **एव हि । उक्तं** कथितम् । **शास्त्रदर्शितं** तत्तत्कर्मानुष्ठानोपदेशकशास्त्रनिर्दिष्टम् । **फलम्** । **अनुष्ठानकर्तरि** तत्सम्पादके । भवति **इति** । **उत्सर्गः** सामान्यनियम एव सापवाद इति । यदि पितृप्रीतिरेव श्राद्धफलं तदा मुक्तेषु पितृषु तेषां तदनाकाङ्क्षित्वात्तत्फलस्य का गतिरित्यपेक्षायामाह—**पितॄणामिति । पितॄणाम् । मुक्तत्वे** मुक्तावस्थायाम् । **तु । स्वर्गादिफलं** श्राद्धजन्यस्वर्गादिफलम् । **स्वस्य** कर्तुरेव । **यावन्नित्यनैमित्तिकानुष्ठानस्य** समस्तनित्यनैमित्तिकशास्त्रोक्तकर्मविधानस्य । **सामान्यतः** साधारणतया । **स्वर्गजनकत्वात्** स्वर्गतिप्रापकत्वात् । पुनः प्राभाकरमतं निरस्यति—**षण्डापूर्वार्थमिति** । यथोच्यते प्राभाकरैर्नित्यकर्मणः षण्डापूर्वं फलमिति तत्रोच्यते **षण्डापूर्वार्थं** फलानवगाह्यपूर्वनिमित्तम् । **प्रवृत्तिः । च** अपि । **न । सम्भवति** तस्याकिञ्चित्करत्वेन इष्टसाधनताकोटौ प्रवेशासम्भवात् । तत्र हेतुमाह—**न हीति । न** नैव । **हि** । **तत्** षण्डापूर्वम् । **स्वतः** स्वयमेव । **सुखदुःखाभाववत्** सुखमिव दुःखाभाव इव च । **पुरुषार्थः** यदर्थं हि कश्चिद्यतेत । **न । वा । तत्साधनं** तयोः सुखभावदुःखाभावयोः साधनमेवेति । न हि षण्डापूर्वं स्वतः पुरुषार्थो यथा सुखं दुःखाभावो वा न च सुखसाधनं न वा दुःखाभावसाधनमिति, तदर्थं न हि कस्यापि प्रवृत्तिरिति । प्राभाकरमतेन पुनराशङ्क्य समाधत्ते—**प्रत्यवायेति । प्रत्यवायानुत्पत्तौ प्रत्यवायस्य** प्रायश्चित्तीयपापस्य कर्माकरणजन्यस्य अनुत्पत्तौ प्रागभावे ।

कथम् । **प्रवृत्तिः** । यदि पण्डापूर्वं न सुखं न दुःखाभावः न च तत्साधनं, तेन न तदर्थं प्रवृत्तिरित्युच्यते तदा प्रत्यवायानुत्पत्तिरपि तथैव । साऽपि न सुखं न दुःखाभावो न च तत्साधनमिति कथं तदर्थं कर्मणि प्रवृत्तिरिति । **इति** । **चेत्** । **इत्थं** वक्ष्यमाणप्रकारेण तत्र प्रवृत्तिरुदेतीति । **यथा हि** । **नित्ये** नित्यकर्मणि । **कृते** विहिते । **प्रत्यवायाभावः** पापाभावः । **तिष्ठति** । **तदभावे** नित्यकर्मसम्पादनाभावे । **तदभावः** तस्य प्रत्यवायाभावस्याभावः । **एवम्** इत्थम् । **प्रत्यवायाभावस्य** प्रत्यवायविरहस्य । **सत्त्वे** भावे । **दुःखप्रागभावसत्त्वं** दुःखस्य प्रागभावस्य विनाश्यभावस्य सत्त्वं भावः । **तदभावे** प्रत्यवायाभावाभावे । **तदभावः** दुःखप्रागभावाभावः । **इति** इत्थम् । **योगक्षेमसाधारणकारणतायाः** योगः अप्राप्तस्य प्राप्तिः क्षेमो लब्धस्य परिरक्षणं तदुभयसाधारणकारणत्वस्य । **दुःखप्रागभावम्** । **प्रति** । **अपि च** । **सुवचत्वात्** वक्तुं शक्यत्वात् । प्रत्यवायाभावस्य असत्यपि स्वतः पुरुषार्थत्वे तत्साधनत्वे च दुःखप्रागभावेन सह तस्य व्याप्तिरस्तीति कृत्वा तस्यापि प्रवृत्तिं प्रति कारणता भवत्येवेति योगः, इष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवृत्तिं प्रति हेतुता तस्या ग्रहणं क्षेमः । एतेन दुःखप्रागभावेऽपि योगक्षेमसाधारणकारणता सिद्ध्यतीति । **एवम्** इत्थम् । **एव हि** । **प्रायश्चित्तस्य** प्रत्यवायविनाशकव्रतादेः । **अपि चं** । **दुःखप्रागभावहेतुत्वं** दुःखस्य प्रागभावे हेतुत्वमिति तत्र प्रवृत्तिरिति ।

नव्यास्तु सन्ध्योपासनादेः प्रत्यवायप्रागभावः प्रत्यवायप्रागभावस्य तु स्वप्रागभावो वा न फलं प्रागभावे एव मानाभावात्, किन्तु सन्ध्योपासनादेः प्रत्यवायात्यन्ताभावस्तस्य च दुःखात्यन्ताभावः फल तयोरपि क्षेमसाधारणकारणत्वसम्भवादिति वदन्ति इति प्रभादौ ।

हिन्दी—इस प्रकार 'विश्वजिता यजेत' इत्यादि में जहाँ फल शब्द से नहीं बतलाया गया है वहाँ भी स्वर्गप्राप्ति रूप फल की कल्पना की जाती है । तो 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' (प्रतिदिन सन्ध्यावन्दन करना चाहिए) इत्यादि में इष्ट की उत्पत्ति न होने से कैसे प्रवृत्ति होती है ? न तो वहाँ अर्थवाद में प्रस्तुत ब्रह्मलोक प्राप्ति आदि अथवा प्रत्यवाय (कर्तव्य के न करने से उत्पन्न होने वाला पाप) का अभाव ही फल होता है, ऐसा कहना ही उचित है । वैसा मानने से उसका काम्यत्व रूप हो जायेगा और उसके नित्यत्व की हानि होगी । कामना के अभाव में अकरणता आ जायेगी । इस प्रकार जहाँ फलश्रुति है वहाँ अर्थवाद मात्र है, ऐसा कहना उचित नहीं, ग्रहणनिमित्तक श्राद्ध आदि में नित्यत्व एवं नैमित्तिकत्व की तरह ('ग्रहण में श्राद्ध करें' ऐसे विधिवाक्य के होने से ग्रहण-श्राद्ध नित्य भी है और ग्रहण के अवसर पर सम्पाद्य होने के कारण नैमित्तिक भी है), भरणीश्राद्ध आदि में काम्यत्व एवं नैमित्तिकत्व की तरह नित्यत्व एवं काम्यत्व का भी कोई विरोध नहीं होता । न तो कामना के अभाव में अकरणता की प्राप्ति ही होती है, त्रिकालस्तव (तीनों कालों में किया जाने वाला स्तोत्रपाठ) आदि में जैसे कामना के सद्भाव की ही कल्पना की जाती है । वैसे में वेदबोधित कार्यता के ज्ञान से ही प्रवृत्ति सम्भव होती है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि इष्टसाधनत्व के बिना जाने ही उस तरह के हजारों ज्ञान से भी प्रवृत्ति सम्भव

नहीं होती। जो यह कहा जाता है कि 'षण्ड अर्थात् फल का अजनक अपूर्व ही नित्य-कर्म का फल है' वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि कामना के अभाव में अकरणता की प्राप्ति समान ही है। कामना की कल्पना कर लेने पर तो रात्रिसत्रन्याय (रात्रिसत्र में प्रतिष्ठा फल अर्थवाद से ज्ञेय है) से आर्थवादिक फल की ही कल्पना उचित है, न कि विश्वजिन्न्याय से स्वर्गफल की कल्पना करना। वैसा न होने पर उसमें प्रवृत्ति की उपपत्ति नहीं होगी। इस कारण दूसरे आचार्य प्रत्यवाय की अनुत्पत्ति को ही प्रवृत्ति का कारण मानते हैं। इस प्रकार—'जो नियम में रहकर प्रतिदिन सन्ध्या करते हैं वे पाप से रहित होकर अनामय ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं।' इसी तरह तृप्ति पहुँचाते हुए प्रतिदिन पितरों का श्राद्ध करना चाहिए। इत्यादि वचनों से प्रतिपादित ब्रह्मलोक की प्राप्ति एवं पितरों की प्रीतिरूप ही फल हो। न तो पितृप्रीति कैसे फल होता है, क्योंकि वह असमान आश्रय वाली है (अर्थात् श्राद्ध कर्ता करे और उसका फल पितरों को मिले, यह कैसे हो सकता है ? क्योंकि कर्तृत्व एवं फल के अधिकरण भिन्न हो जाते हैं), ऐसा कहना ही उचित है, क्योंकि गयाश्राद्ध आदि में जैसे उद्देश्यतासम्बन्ध से ही कहीं-कहीं फलजनकत्व की कल्पना की जाती है। इसी कारण कहा गया है—'शास्त्र से निर्दिष्ट फल अनुष्ठानकर्ता में रहता है' ऐसा कहना सामान्य नियम मात्र है अर्थात् अपवाद रहित नहीं है। पितरों के मुक्त होने की अवस्था में तो कर्म का स्वर्ग अनादिफल कर्ता में ही रहता है, क्योंकि सामान्यतः नित्यनैमित्तिक अनुष्ठान का स्वर्ग-जनकत्व ही फल होता है। न तो षण्ड (फल का अजनक) अपूर्व के लिए प्रवृत्ति ही सम्भव होती है। न तो वह (षण्ड अपूर्व) सुख एवं दुःखाभाव की तरह पुरुषार्थ ही है, न तो उसका साधन ही। तो फिर प्रत्यवाय की अनुत्पत्ति में कैसे प्रवृत्ति होती है (क्योंकि वह भी न तो सुख है, न दुःखाभाव है, न तो उनका साधन ही है) ? ऐसा कहना है तो उसे इस तरह समझ लेना चाहिए, जैसे कि नित्यकर्म करने पर प्रत्य-वाय का अभाव रहता है, नित्य कर्म के अभाव में प्रत्यवाय के अभाव का अभाव रहता है। इसी तरह प्रत्यवायाभाव के रहने पर दुःखप्रागभाव का भाव होता है। उसके (प्रत्यवायाभाव के) अभाव में उसका दुःखप्रागभाव का अभाव रहता है। इस तरह योग और क्षेम की साधारण कारणता को दुःखप्रागभाव के प्रति भी कहा जा सकता है। (जो उपलब्ध नहीं है उसका पाना योग है और प्राप्त का संरक्षण क्षेम है।) इसी तरह प्रायश्चित्त का भी दुःख के प्रागभाव में हेतुत्व होता है।

ननु न कलञ्जं भक्षयेदित्यत्र विध्यर्थे कथं नञर्थान्वयः ? इष्टसाधनत्वा-भावस्य कृतिसाध्यत्वाभावस्य च बोधयितुमशक्यत्वादिति चेन्न, तत्र बाधा-दिष्टसाधनत्वं कृतिसाध्यत्वञ्च न विध्यर्थः, किन्तु बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-मात्रं तदभावश्च नञा बोध्यते। अथवा बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्ट-साधनत्वे सति कृतिसाध्यत्वं विध्यर्थः, तदभावश्च नञा बोध्यमानो विशिष्टा-भावो विशेष्यवति विशेषणाभावे विश्राम्यति।

आलोकः—इष्टसाधनत्वरूपे विध्यर्थे नञर्थान्वयस्यासम्भाव्यतामाशङ्क्य समा-

धत्ते—नन्विति । **ननु** । **'न कलञ्जं भक्षयेत्'** । **इत्यत्र** इत्यादिवाक्ये । **विध्यर्थं** भक्षणरूपविध्यर्थे । **कथम्** । **नञर्थान्वयः** नञर्थस्य नञो निषेधरूपार्थस्य नञर्थाः षडुक्ताः—'सादृश्यं तदभावश्च तदन्यत्वं तदन्यता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट्—' ॥ अपि च—'नञभावे निषेधेन स्वरूपार्थेऽप्यतिक्रमे । ईषदर्थे च सादृश्ये तद्विरुद्धतदन्ययोः' ॥ इति । अपि च—'अप्राशस्त्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता । प्रसज्यप्रतिषेधोऽयं क्रियया सह यत्र नञ्' ॥ इति । **अन्वयः** ? विध्यर्थनिषेधार्थयोः कथमन्वयः ? इति विध्यर्थे भक्षणरूपे नञर्थस्याभावस्य कथमन्वय इत्याशयः । तयोरनन्वये हेतुमाह—**इष्टेति** । **इष्टसाधनत्वाभावस्य** यदि विध्यर्थो हि इष्टसाधनत्वं कृतिसाध्यत्वमर्थस्तदा नञा निषेधार्थकेन इष्टसाधनत्वस्याभावस्य । **कृतिसाध्यत्वाभावस्य** कार्यताज्ञानाभावस्य । **च** । **बोधयितुम्** । **अशक्यत्वात्** भक्षणे हि तृप्तिरूपेष्टसाधनतायाः कृतिसाध्यतायाश्च सत्त्वात् । **इति** । **चेत्** । **न** न तत्समीचीनम् । तत्र हेतुमाह—**तत्रेति** । **तत्र** तादृशवाक्ये । **बाधात्** निषेधार्थकेन नञा बाधात् । **इष्टसाधनत्वम्** । **कृतिसाध्यत्वम्** । **च** । **न** । **विध्यर्थः** विधिरूपार्थः । **किन्तु** तद्विपरीतम् । **बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमात्रं** बलवतः प्रबलस्यानिष्टस्याहितस्य अननुबन्धित्वमात्रमसम्बद्धत्वमात्रं विध्यर्थः । **तदभावः** तादृशबलवदनिष्टाननुबन्धित्वाभावः तेन बलवदनिष्टानुबन्धित्वम् । **च** **हि** । **नञा** नञ्पदेन । **बोध्यते** उपस्थाप्यते इति । **अथवा** पक्षान्तरे । तत्र **बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वे** बलवदनिष्टस्य अननुबन्धित्वविशिष्टं यदिष्टसाधनं तत्त्वे । **सति** । **कृतिसाध्यत्वं** प्रयत्नसम्पाद्यत्वम् । **विध्यर्थः** विधिरूपोऽर्थः । **तदभावः** तस्य तादृशस्यार्थस्याभावः । **नञा** नञ्पदेन । **बोध्यमानः** उपस्थाप्यमानः । **विशिष्टाभावः** विशिष्टः बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वविशिष्टकृतिसाध्यतारूपः अभावः । **विशेष्यवति** कृतिसाध्यत्वात्मकविशेष्यवति कलञ्जभक्षणे वर्तमानः सन् नातिरिक्तः किन्तु **विशेषणाभावे** बलवदनिष्टाननुबन्धित्वाभावे । **विश्राम्यति** विशेषणाभावात्मको भवतीति । इष्टसाधनत्वादिमति कलञ्जभक्षणादौ विशिष्टाभावो बोध्यमानो बलवदनिष्टाननुबन्धित्वाभावे पर्यवस्यतीति । एवंविधस्थले विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावलाभ इति सारम् ।

हिन्दी—"तो 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि में विध्यर्थ में नञर्थ का कैसे अन्वय होगा, क्योंकि उसके द्वारा इष्टसाधनत्व के अभाव का एवं कृतिसाध्यत्व के अभाव का भी बोध कराना सम्भव नहीं होता' ? ऐसा कहा जाय तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ बाध होने से इष्टसाधनत्व एवं कृतिसाध्यत्व भी विध्यर्थ नहीं है, किन्तु बलवान् अनिष्ट का अननुबन्धित्वमात्र विध्यर्थ है और उसका अभाव नञ् से बोधित होता है। अथवा बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्ट इष्टसाधनत्व के रहने पर कृतिसाध्यत्व विध्यर्थ है और उसका अभाव नञ् से बोधित होता हुआ विशिष्ट (बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-विशिष्ट इष्टसाधनत्वविशिष्ट कृतिसाध्यता का) अभाव विशेष्य से युक्त विशेषण के अभाव में पर्यवसित होता है । अर्थात् इष्टसाधनत्व आदि से युक्त कलञ्जभक्षण आदि में विशिष्ट अभाव बोधित होता हुआ बलवदनिष्टाननुबन्धित्वाभाव में पर्यवसित होता है ।

ननु श्येनेनाभिचरन् यजेतेत्यादौ कथं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमर्थः? श्येनस्य मरणानुकूलव्यापारस्य हिंसात्वेन नरकसाधनत्वात्, न च वैधत्वान्न निषेध इति वाच्यमभिचारे प्रायश्चित्तोपदेशात्, न च मरणानुकूलव्यापारमात्रं यदि हिंसा तदा खडगकारस्य कूपकर्तुश्च हिंसकत्वापत्तिर्गललग्नान्नभक्षणजन्यमरणे स्वात्मवधत्वापत्तिश्चेति वाच्यं, मरणोद्देश्यकत्वस्यापि विशेषणत्वात्, अन्योद्देश्यकक्षिप्तनाराचहतब्राह्मणस्य तु वाचनिकं प्रायश्चित्तमिति चेन्न, श्येनवारणायादृष्टाद्वारकत्वेन विशेषणात्। अत एव काशीमरणार्थं कृतशिवपूजादेरपि न हिंसात्वम्। न च साक्षान्मरणजनकस्यैव हिंसात्वं श्येनस्तु न तथा किन्तु तज्जन्यापूर्वमिति वाच्यं, खड्गाघातेन ब्राह्मणे व्रणपाकपरम्परया मृते हिंसात्वानापत्तेः। केचित्तु श्येनस्य हिंसा फलं न तु मरणम्। तेन श्येनजन्यखड्गघातादिरूपा हिंसाऽभिचारपदार्थः। तस्य च पापजनकत्वम्। अतः श्येनस्य वैधत्वात्पापाजनकत्वेऽपि अग्रिमपापं प्रतिसन्धाय सन्तो न प्रवर्तन्त इत्याहुः।

आलोकः-श्येनयागे विशिष्टस्य विध्यर्थत्वसिद्धिमाशङ्क्य समाधत्ते—**नन्विति**। **ननु**। **'श्येनेनाभिचरन् यजेत' अभिचरन्** वैरिमारणं कामयमानः **श्येनेन** श्येनाख्ययागविशेषेण तद्व्यपदेशञ्चेति न्यायेन। यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते यमभिचरति श्येनेन, इत्युक्तः उपमानोपमेयभावो न ह्येकस्मिन् पक्षिणि युज्यते न चैवात्रानन्वयः। तस्मादुपमानस्य पक्षिणः गुणा उपमेये कर्मणि अस्तीति श्येनशब्दस्याभिचारकर्मनामत्वं तद्व्यपदेशेन बोध्यमिति। **यजेत**। **इत्यादौ**। **कथम्**। **बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं** बलवतोऽनिष्टस्य अननुबन्धित्वमसाधकत्वम् **अर्थः** विध्यर्थः। **श्येनस्य** तदाख्ययागस्य। **मरणानुकूलव्यापारस्य** शत्रुमरणानुकूलव्यापारस्य। **हिंसात्वेन** हिंसारूपत्वात् हिंसायाः—'मा हिंस्यात्सर्वभूतानि' इति निषेधविधिना हिंसासामान्यस्य निषिद्धत्वप्रतिपादनेन निषिद्धाचरणत्वात्। **नरकसाधनत्वात्** नरकसाधनत्वावश्यकत्वात्। **न**। **च** हि। **वैधत्वात्** विधिप्राप्तत्वात् 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि विधिचोदिताग्निषोमीययागस्य पशुहिंसासाधनत्वेन तस्या नरकसाधनत्वानापत्त्या न हिंस्यादिति सामान्यशास्त्रस्य विधिचोदितयागीयहिंसातिरिक्तहिंसासामान्यनिषेधपरत्वावश्यकतया प्रकृते शत्रुनाशस्यापि विधिचोदितयागीयत्वेन सामान्यशास्त्राप्रवृत्त्या श्येनयागस्यापि नरकसाधनत्वाभावात्। **न**। **निषेधः** हिंसाया निषेधः। **इति**। **वाच्यम्**। **अभिचारे** अभिचारकर्माचरणे। **प्रायश्चित्तोपदेशात्** कर्तुः प्रायश्चित्तविधानात्। 'अभिचारमहीनञ्च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति' इति विधानादिति। **न**। **च**। **मरणानुकूलव्यापारमात्रं** साक्षात्परम्परया मरणानुकूलव्यापारत्वावच्छिन्नमात्रम्। **यदि हिंसा** यदि साक्षात्परम्परासाधारणः सर्वोऽपि व्यापारो हिंसा। **तदा** तादृशावधारणे। **खड्गकारस्य** खड्गस्य निर्मातुः। **कूपकर्तुः** कूपोत्खनकस्य। **हिंसकत्वापत्तिः** हिंसकत्वावश्यकता खड्गनिर्माणकूपोत्खननयोरपि परम्परया मरणानुकूलव्यापारत्वात्। **गललग्नान्नभक्षणजन्यमरणे** गले लग्नमवरुद्धं यदन्नं तस्य भक्षणजन्यं यन्मरणं तत्र। **आत्मवधत्वापत्तिः** आत्महत्या-

प्राप्तिः । **च** । **इति** । **वाच्यं** कथनीयम् । **मरणोद्देश्यकत्वस्य** मरणानुकूलव्यापारे मरणोद्देश्यत्वस्य । **अपि विशेषणत्वात्** विशेषावधारणत्वात् । न केवलं मरणानुकूलव्यापारस्यैव हिंसात्वमपितु मरणोद्देश्यकृतमरणानुकूलव्यापारमात्रस्य हिंसात्वेन न खड्गकृतः कूपोत्खनकस्य च हिंसकत्वमित्याशयः । **अन्योद्देश्यकक्षिप्तनाराचहतब्राह्मणस्य** अन्यत् उद्देश्यं लक्ष्यं यत्र तथाविधत्वेन क्षिप्तेन नाराचेन बाणेन हतो यो ब्राह्मणस्तस्य । **तु** । **वाचनिकं** वचनेन सिद्धं तादृशस्थले हिंसात्वाभावात् । वचनं तु—'सेतौ च स्नानमात्रेण ब्रह्महत्यां व्यपोहति' । **प्रायश्चितम्** । कामतो ब्राह्मणवधस्य तु न निष्कृतिः । यथोक्तं--'ब्रह्महा द्वादशसमाः कुटिं कृत्वा वने वसन् । भैक्ष्याश्यात्मविशुद्धयर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम् ।। इत्थं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् । कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते' ।। इति । **इति इत्थम्** । **चेत्** कथ्यते चेत् । **न** न तत्समीचीनम् । **तत्र** तादृशवाक्ये । **बलवदनिष्टाननुबन्धित्वस्य** प्रबलाहितसाधकत्वस्य । **विध्यर्थत्वाभावात्** विध्यर्थरूपेणास्वीकारात् । **वस्तुतः** यथार्थतः । **श्येनवारणाय** श्येनस्य बलवदनिष्टानुबन्धित्ववारणाय । हिंसालक्षणम् **अदृष्टाद्वारकत्वेन** अदृष्टस्य नियतेः अद्वारकत्वेन अप्रयोजकत्वेन । **विशेषणीयं** विशेषतायुक्तं कर्तव्यम् । अर्थात् हिंसालक्षणेऽदृष्टाद्वारकत्वं विशेषणत्वेन संयोजनीयं, तथा च अदृष्टाद्वारकत्वे सति मरणोद्देश्यकत्वे सति मरणानुकूलव्यापारत्वं हिंसात्वमिति हिंसालक्षणम् । श्येनयागेऽदृष्टद्वारकत्वेनोक्तलक्षणागमनान्न हिंसात्वं, तस्य तथा च हिंसारहितकर्मणि बलवदनिष्टाननुबन्धित्वरूपविध्यर्थस्य न बाधः, तज्ज्ञानस्य तत्र सहजतो जायमानत्वादिति । **अतः** हिंसालक्षणेऽदृष्टाद्वारकत्वविशेषणयोगात् । **एव हि** । **काशीमरणार्थं** काश्यां या निधनेच्छा तस्याः सिद्धयर्थम् । **कृतशिवपूजनादेः** विहितशिवपूजादिकर्मणः । **अपि** । **न** । **हिंसात्वं** तत्रादृष्टद्वारकत्वस्य सत्त्वात् । तटस्थदृष्ट्या पुनराशङ्क्य समाधत्ते—**न चेति** । **न** । **च हि** । **साक्षान्मरणजनकत्वं** साक्षान्मृत्युसाधकत्वम् । **एव हि** । **हिंसात्वम्** । येन हि साक्षान्मृत्युर्भवति तदेव हिंसापदवाच्यमिति । **श्येनस्य** श्येनयागस्य । **तु हि** । **न** । **तथा** साक्षान्मरणजनकत्वम् । **किन्तु** । **तज्जन्यापूर्वं** तदुत्पाद्यमपूर्वम् । श्येनयागेनापूर्वमुत्पाद्यते ततश्च भवति वैरिमारणमिति तस्य परम्परयैव हिंसकत्वं साक्षान्मरणजनकत्वस्यैव हिंसात्वस्वीकारे तु न श्येनस्य तथात्वम् । **इति** । **वाच्यम्** । **खड्गघातेन** असिप्रहारेण । **व्रणपरम्परया** तज्जन्यव्रणविकारेण । **ब्राह्मणे** विप्रे । **मृते** निधनं गते । **हिंसात्वानापत्तेः** हिंसात्वाप्राप्तेः । वस्तुतस्तु तथाविधव्रणपरम्परया मृतेऽपि हिंसा भवत्येव । तत्र तादृशविशेषणं विनाऽपि श्येनस्य बलवदनिष्टाननुबन्धित्वोपपादकमतमुपस्थापयति--**केचिदिति** । **केचित्** कतिपये आचार्याः । **तु** तद्व्यतिरिक्तम् । **श्येनस्य** श्येनयागस्य । **हिंसा** वैरिहिंसा । **फलम्** उपलब्धिः । **न** । **तु हि** । **मरणं** मृत्युरेव । **तेन** हेतुना । **श्येनजन्यखड्गघातादिरूपा** श्येनक्रियाजन्या या खड्गाघातादिरूपा क्रिया सैव । **हिंसा** । **अभिचारपदार्थः** अभिचारपदस्याशयः । **तस्य** खड्गाघातादिरूपाभिचारस्य । **च हि** । **पापजनकत्वं** पापोत्पादकत्वम् । **अतः** हेतोरस्मात् । **श्येनस्य** श्येनयागस्य । **वैधत्वात्** विधिसम्मतत्वात् । **पापाजनकत्वे** पापस्यानुत्पादकत्वे । **अपि च** । **अग्रिमपापं** घातजन्यपापम् । **प्रतिसन्धाय** विचार्य ।

सन्तः सत्त्वगुणविशिष्टा जनाः । तत्र । न । प्रवर्तन्ते प्रवृत्ता भवन्ति । इति । आहुः । इति । अत्र केचित्पदेनोपस्थापनं तत्रास्वारस्याद्योतनाय । यद्यपि श्येनस्य शत्रुवधः फलं न तु नरकं तथापि तस्य वधस्य नरकहेतुत्वाद् वधद्वारा श्येनोऽनर्थं इति मीमांसकमतम् ।

हिन्दी—'अभिचार (वैरि-मारण) को चाहने वाला श्येननामक याग करे' इत्यादि में कैसे बलवदनिष्टाननुबन्धित्व विध्यर्थ होगा, क्योंकि श्येन याग के मरणानुकूलव्यापार का हिंसारूप होने से नरक का साधनत्व होता है ? न तो विधिसम्मत होने के कारण निषेध नहीं है, ऐसा कहना ही उचित है, क्योंकि अभिचार कर्म करने पर प्रायश्चित्त करने का विधान है । 'न तो यदि मरणानुकूल व्यापार मात्र को हिंसा कहा जाय तब तो खड्ग आदि बनाने वाले तथा कूप आदि का उत्खनन करने वाले को भी हिंसक मानना पड़ेगा और गले में रुके हुए अन्न के कारण होने वाले मरण में आत्महत्या माननी पड़ेगी, ऐसा कहना ही ठीक है, क्योंकि मरणोद्देश्यकत्व (मरण के ही उद्देश्य से सम्पादित) का उसमें विशेषण के रूप में प्रयोग होता है । दूसरे उद्देश्य से आक्षिप्त बाण से मारे गये ब्राह्मण के वध का तो प्रायश्चित्त वाचनिक अर्थात् शास्त्र-वचन से सिद्ध है (जब कि वध के ही उद्देश्य से किये गये ब्राह्मणवध का कोई प्रायश्चित्त नहीं है) । यदि इस प्रकार कहा जाय तो उचित नहीं है, क्योंकि श्येनयाग के वारण के लिए हिंसा में अदृष्टाद्वारक विशेषण दिया जाता है । (जो अदृष्ट के द्वारा न हो वह अदृष्टाद्वारक है ।) (अतः अदृष्टाद्वारक होने पर मरण का ही उद्देश्य होने पर किया गया मरणानुकूल व्यापार हिंसा है ।) इसी कारण काशी में मरण पाने के लिए किया गया शिवपूजन आदि हिंसा नहीं है । 'न तो साक्षात् मरणजनक को हिंसा मानना चाहिए, श्येनयाग तो वैसा नहीं है अर्थात् साक्षात् मरणजनक नहीं है, किन्तु तज्जन्य अपूर्व ही हिंसा का साधन है, अतः श्येन याग हिंसापरक नहीं है' ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि वैसा मानने पर खड्ग के प्रहार से हुए व्रण के विकार से ब्राह्मण का निधन होने पर हिंसा नहीं बन पायेगी । कुछ आचार्य तो—'श्येनयाग का फल हिंसा है, न कि मरण । इस कारण श्येनयाग से जन्य खड्गघात आदि रूप हिंसा ही अभिचार पद का अर्थ है । उसका पापजनकत्व है । अतः श्येन के वैध होने से पाप का जनक न होने पर भी अग्रिम पाप का विचार कर सज्जन उसमें प्रवृत्त नहीं होता' । ऐसा कहते हैं ।

आचार्यस्तु आप्ताभिप्रायो विध्यर्थः । 'पाकं कुर्याः' इत्यादौ आज्ञादिरूपेच्छावाचित्ववल्लिङ्मात्रस्येच्छावाचित्वं लाघवात् । एवञ्च स्वर्गकामो यजेतेत्यादौ यागः स्वर्गकामकृतिसाध्यतया आप्तेष्ट इत्यर्थः । ततश्चाप्तेष्टत्वेन इष्टसाधनत्वादिकमनुमाय प्रवर्तते । कलञ्जभक्षणे तदभावान्न प्रवर्तते ।

आलोकः—विध्यर्थविषये उदयनाचार्यमतमाह—**आचार्या** इति । **आचार्याः** उदयनाचार्याः । पूजार्थं बहुवचनम् । **तु** हि । वदन्ति यत् इति शेषः । **आप्ताभिप्रायः** आप्तो यथार्थवक्ता तस्य अभिप्राय आशयस्तात्पर्यमिति । स एव **विध्यर्थः** । स च स्वेष्टसाधनतानुमापकः इष्टसाधनताज्ञानञ्च प्रवर्तकमिति । यथा **पाकं कुर्याः इत्यादौ** । **आज्ञा-**

दिरूपेच्छावाचिवत् पाकसम्पादनरूपाया आज्ञा तदादिरूपा या इच्छा विध्यर्थस्तद्वत्। **लिङ्मात्रस्य** लिङ्लकारस्यैव । **इच्छावाचित्वम्** इच्छाया बोधकत्वम् । **लाघवात्** बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वाद्यपेक्षया इच्छात्वेन विधिशक्तौ लाघवादिति । तथाविधेऽर्थे शाब्दबोधमाह—**एवमिति । एवम् । च । 'स्वर्गकामो यजेत'** इत्यादौ । **यागः** यज्ञः । **स्वर्गकामकृतिसाध्यतया** स्वर्गेच्छुकप्रयत्नसम्पाद्यत्वरूपेण । **आप्तेष्टः** आप्तस्य इष्टः सम्मतः । **इति । अर्थः** विध्यर्थ इति । **ततः** याग आप्तेष्ट इति बोधानन्तरम् । **च** हि । **आप्तेष्टत्वेन** आप्तसम्मतत्वेन । **ततः** यागात् । **इष्टसाधनत्वादिकम्** अभीष्टसम्पादनसाधनरूपादिकम् । **अनुमाय** विचार्य । **तत्र प्रवर्तते** कश्चिदपि प्रवृत्तो भवति । **कलञ्जभक्षणे** कलञ्जादिभक्षणादिकर्मणि । **तदभावात्** तस्य आप्तेष्टत्व अभावात् तद्धेतुकेष्टसाधनत्वज्ञानाभावात् । **तत्र । न । प्रवर्तते** इति । यथोक्तम्—

'विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः ।
अभिधेयोऽनुमेया तु कर्तुरिष्टाऽभ्युपायता' ॥ इति ।(कुसुमाञ्जलौ ५।१५)

हिन्दी—उदयनाचार्य के मत में तो आप्त का अभिप्राय अर्थात् तात्पर्य ही विध्यर्थ है । 'पाकं कुर्याः' इत्यादि में आज्ञा आदि रूप इच्छावाचित्व की तरह लाघव होने से सर्वत्र लिङ्मात्र का इच्छावाचित्व मानना चाहिए । इस प्रकार 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि में याग स्वर्गेच्छु के लिए कृतिसाध्यत्व के रूप में आप्त को इष्ट है, ऐसा अर्थ है । फिर आप्त को इष्ट होने से उससे इष्टसाधनत्व आदि का अनुमान कर पुरुष उसमें प्रवृत्त होता है । कलञ्जभक्षण आदि में तो आप्तेष्टत्व के न रहने से इष्टसाधनत्व आदि का अभाव होने के कारण पुरुष प्रवृत्त नहीं होता ।

यस्तु वेदे पौरुषेयत्वं नाभ्युपैति तं प्रति विधिरेव तावद्गर्भ इव श्रुतिकुमार्याः पुंयोगे मानम् । न च कर्त्रस्मरणं बाधकं कपिलकणादादिकमारभ्याद्यपर्यन्तं कर्तृस्मरणस्यैव प्रतीयमानत्वात् । अन्यथा स्मृतीनामप्यकर्तृकत्वापत्तेः । तत्रैव कर्तृस्मरणमस्तीति चेद् वेदेऽपि 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' इत्यादिकर्तृस्मरणमस्त्येव । एवम्—

'प्रतिमन्वन्तरञ्चैषा श्रुतिरन्या विधीयते' ।

इत्यपि द्रष्टव्यम् ।

'स्वयम्भूरेष भगवान् वेदो गीतस्त्वया पुरा ।
शिवादिऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः' ॥

इति तु वेदस्य स्तुतिमात्रम् । न च पौरुषेयत्वे भ्रमादिसम्भवात् अप्रामाण्यं स्यादिति वाच्यं, नित्यसर्वज्ञत्वेन निर्दोषत्वात् । अत एव पुरुषान्तरस्य भ्रमादिसम्भवान्न कपिलादेरपि कर्तृत्वं वेदस्य । किञ्च वर्णानामेवानित्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् सुतरां तत्सन्दर्भस्य वेदस्यानित्यत्वमिति सङ्क्षेपः ।

आलोकः—यदि आप्ताभिप्राय एव विध्यर्थस्तदा वेदे वक्तुरभावात्कस्येच्छा लिङा

बोध्यः ? इत्यपेक्षायामाह—**यस्त्विति**। **यः** जनः। **तु** हि। मीमांसक इति। **वेदे** श्रुतौ। **पौरुषेयत्वं** पुरुषप्रणीतत्वम्। **न**। **अभ्युपैति** स्वीकरोति। **तं** तादृशं जनम्। **प्रति**। **विधिः** आप्ताभिप्रायरूपविधिः। **एव** हि। **तावत्**। **श्रुतिकुमार्याः** श्रुतिरूपकुमार्याः। **पुंयोगे** पुरुषसहवासे। **गर्भः** दोहदः। **इव**। **मानं** प्रमाणम्। विधेर्हि वक्तृभिन्नेच्छाबोधनेन सामर्थ्यं तेन विधिरेव वेदवक्तुरीश्वरे मानम्। यथा पुंयोगं विना कुमारी न सगर्भा भवति तथैव वेदवक्तुरभावे वेदे विधिरेव भवितुं नार्हतीति विधिसत्त्वेन तत्कर्तुरीश्वरस्यापि भावानुमानमिति। **न**। **च**। **कर्त्रस्मरणं** कर्तुः प्रणेतुरस्मरणम्। **बाधकं** तत्कर्त्रनुमाने बाधकम्। **कपिलकणादादिकं** कपिलः साङ्ख्यप्रवक्ता कणादो वैशेषिकदर्शनप्रवक्ता आदिपदान्न्याससूत्रकृद्गौतमादीनां ग्रहणम्। **आरभ्य**। **अद्यपर्यन्तं** वर्तमानकालावधि। **कर्तृस्मरणस्य** सकर्तृकत्वबोधकस्मृतेः। **प्रतीयमानत्वात्** प्रमाबोधकत्वेन प्रणयनादिति। **अन्यथा** वेदस्य सकर्तृकत्वानङ्गीकारे। **स्मृतीनां** मन्वादिप्रणीतत्वेन ख्यातानां स्मृतीनाम्। **अपि**। **अकर्तृकत्वापत्तेः** कर्त्रप्रणीतत्वप्राप्तेः। तथा सति **स्मृतिः पौरुषेया वाक्यसमूहत्वात्** इत्यनुमानस्यापि अप्रयोजकत्वात्। **तत्र स्मृतौ**। **एव** हि। **कर्तृस्मरणं** प्रणेत्रुल्लेखः। **अस्ति** यथा—'मनुमेकाग्रमासीनम्' 'योगीश्वरं याज्ञवल्क्यम्' इत्यादि। **इति**। **चेत्**। **वेदे** श्रुतौ। **अपि च**। **छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्** तस्माद् यज्ञपुरुषात्। **छन्दांसि** वेदाः। **जज्ञिरे** अजायन्त। **इत्यादिकर्तृस्मरणं** कर्त्रुल्लेखः। **अस्ति**। **एव**। **एवम्** इत्थमेव। **प्रतिमन्वन्तरम्**। **च** हि। **एषा श्रुतिः अन्या विधीयते** क्रियते। चतुर्युगानामेकसप्ततिर्मन्वन्तरं भवति। मनवो हि चतुर्दश। प्रत्येकमन्वन्तरे भगवता अन्या श्रुतिः प्रणीयते इत्यस्याशयः। **इति** इत्यादिस्मृतिवचनम्। **अपि**। **द्रष्टव्यं** विचारणीयम्। वेदानां सकर्तृकत्वे प्रमाणमिति। स्मृत्यादौ तु वेदस्य नित्यत्वप्रतिपादकवाक्यमपि दृश्यते वेदानामनित्यत्वे तु तस्य का गतिरित्याशङ्कायामाह—**स्वयम्भूरिति**। एषः स्वयम्भूः भगवान् त्वया पुरा वेदः गीतः अस्य शिवादिऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारः न कारकाः इति। **एष स्वयम्भूः** अजन्मा। **भगवान्**। **त्वया** भवता। **पुरा** सृष्ट्यादौ। **वेदः** निखिल आम्नायः। **गीतः** उक्तः। **अस्य** वेदस्य। **शिवादिऋषिपर्यन्ताः** शिवादय ऋषयश्चान्ये। **स्मर्तारः** आध्यापकाः। **न**। **कर्तारः** प्रणेतार इति। **इति** इत्यादिवचनम्। **तु**। **वेदस्य**। **स्तुतिमात्रं** स्तवपरकवचनमेव। वेदस्य पौरुषेयत्वे प्रामाण्यं न स्यात्पुरुषमात्रस्य भ्रमादिसम्भवादित्याशङ्क्य समाधत्ते—**न चेति**। **न**। **च**। **पौरुषेयत्वे** वेदस्य पुरुषकृतत्वे। **भ्रमादिसम्भवात्** पुरुषस्य भ्रमादिदोषसम्भवात्। **अप्रामाण्यं** प्रामाण्याभावः। **स्यात्**। **इति** इत्थम्। **वाच्यम्**। तस्येश्वरस्य वेदकर्तृत्वेन सम्मतस्य। **नित्यसर्वज्ञत्वेन** नित्यत्वेन सर्वज्ञत्वेन च। **निर्दोषत्वात्** दोषरहितत्वात्। **अतः** हेतोरस्मात्। **एव** हि। **पुरुषान्तरस्य** ईश्वरभिन्नपुरुषस्य। **भ्रमादिसम्भवात्** भ्रान्त्यादिदोषसम्भवात्। **वेदस्य**। **कपिलादेः** कपिलप्रभृतिमुनेः। **कर्तृत्वं** प्रणेतृत्वम्। **न** न सिध्यति। वेदानां सकर्तृकत्वेऽपि न तेषां मुन्यादिप्रणीतत्वं भगवद्भिन्नानां भ्रमादिसम्भवात्तथा सति तेषामप्रामाण्यापत्तेः। वेदस्यानित्यत्वे स्वमतमाह—**किञ्चेति**। **किञ्च**। **वर्णानां** कखादीनाम्। **एव** हि। **अनित्यत्वस्य** नित्यत्वाभावस्य। **वक्ष्यमाणत्वात्** प्रतिपाद्यमानत्वात्। **सुतरां** निश्चयेन।

तत्सन्दर्भस्य वर्णसमूहात्मकस्य। **वेदस्य। अनित्यत्वम्। इति। सङ्क्षेपः** सारम्। यथोक्तम्—

'कृत्स्न एव हि वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः।
स्वार्थद्वारैव तात्पर्यं तस्य स्वर्गादिवद्विधौ'॥ इति। (कुसु० ५।१६)

इत्थं हि नैयायिकानां मते वेदस्य पौरुषेयत्वमीश्वरप्रणीतत्वात् तस्य भ्रमप्रमादविषयलिप्सादिदोषराहित्यं किन्त्वनित्यत्वमेव। मीमांसकानां नये वेदस्यापौरुषेयत्वमेव तस्य कर्त्रस्मरणात्।

हिन्दी—जो वेद में पौरुषेयत्व (पुरुषप्रणीतत्व) स्वीकार नहीं करता, उसके लिए यह विधि ही श्रुतिरूप कुमारी के पुरुष के साथ सहवास में गर्भ की तरह पुरुषप्रणीतत्व में प्रमाण है। (अर्थात् वक्तृभिन्न इच्छा को विधि व्यक्त नहीं करती। अतः जब वेद में विधि है तो उसका वक्ता का होना अनिवार्य है। जैसे कि स्त्री जब गर्भवती होती है तो उसका पुरुष के साथ सहवास होना अनिवार्य है।) न तो कर्ता का स्मरण न होना वेद के पुरुष-प्रणीत होने में बाधक है, क्योंकि कपिल, कणाद आदि मनीषियों से लेकर आज तक कर्ता का स्मरण ही प्रतीयमान है। वैसा न होने पर स्मृतियों का भी अकर्तृकत्व (कर्ता का न होना) सिद्ध हो जायेगा। यदि यह कहा जाय कि स्मृतियों में तो उन्हीं में कर्ता का स्मरण किया गया है तो वेद में भी 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' (उससे वेद निकले) कह कर कर्ता का स्मरण किया गया ही है। इसी तरह 'प्रत्येक मन्वन्तर में दूसरी ही श्रुति बनाई जाती है' आदि कथन पर भी ध्यान देना चाहिए। 'आप ही स्वयम्भू भगवान् है' और आपने ही पहले वेदों को गाया। 'शिव आदि से लेकर ऋषि तक के जो हैं वे केवल वेद के स्मर्ता हैं, किन्तु कर्ता नहीं' आदि तो वेद की स्तुति मात्र है। 'न तो पौरुषेयत्व में भ्रम आदि (प्रमाद आदि) के सम्भव होने से उसका प्रामाण्य नहीं होता' ऐसा कहना ही उचित है, क्योंकि वह नित्य एवं सर्वज्ञ होने से निर्दोष है। इसी कारण अन्य पुरुषों में भ्रम, प्रमाद आदि के सम्भव होने से कपिल आदि ऋषियों का भी वेदकर्तृत्व सम्भव नहीं है। वर्णों का ही अनित्यत्व बतलाये जाने के कारण उनके सन्दर्भ रूप वेद का भी अनित्यत्व होता है। यह सङ्क्षेप में बतलाया गया।

उपादानस्येति। उपादानस्य समवायिकारणस्याध्यक्षं प्रत्यक्षं प्रवृत्तौ कारणमिति।

आलोकः—कारिकांशं विवृणोति—**उपादानस्येति। उपादानस्य समवायिकारणस्य** यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तस्य। **अध्यक्षमिति। प्रत्यक्ष**मिन्द्रियगोचरीभवनम्। तच्च **प्रवृत्तौ। कारणं** हेतुः। इति।

हिन्दी—**उपादानस्येति**। उपादान का अर्थ समवायिकारण है, अध्यक्ष का आशय प्रत्यक्ष है, वह प्रवृत्ति में कारण होता है।

निवृत्तिस्तु भवेद् द्वेषाद् द्विष्टसाधनताधियः ॥ १५१ ॥

निवृत्तिरिति । द्विष्टसाधनताज्ञानस्य निवृत्तिं प्रति जनकत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यामवधारितमिति भावः ॥ १५१ ॥

आलोकः—निवृत्तिरूपप्रयत्ने हेतुमाह परममूले—**निवृत्तिरिति** । निवृत्तिः तु द्विष्टसाधनताधियः द्वेषात् भवेत् इति । **निवृत्तिः** विरतिः । **तु** । **द्विष्टसाधनताधियः** द्विष्टस्यानिष्टस्य साधनता सामग्रीत्वं तस्या धीर्ज्ञानं यत्र तादृशात् तज्जन्यात् । **द्वेषात्** द्विष्टभावनातः । **निवृत्तिः** विरतिः । **भवेत्** सम्पद्यत इति । द्विष्टसाधनताज्ञानाद् द्वेषो भवति द्वेषाच्च निवृत्तिरित्यस्याशयः । तेन द्वेषजनितः प्रयत्नविशेषो निवृत्तिरिति । साङ्ख्यानां मते तु संयोगाभाव एव निवृत्तिः । परे तु प्रवृत्त्यभाव एव निवृत्तिरित्यपि वदन्ति । कारिकाशयं विवृणोति मूले—**निवृत्तिरिति** । कारिकाया अयमेवाशयो यद् **द्विष्टसाधनताज्ञानस्य** द्विष्टस्यानिष्टस्य साधनता सामग्रीत्वं तस्या ज्ञानस्यावबोधस्य । **निवृत्तिं** विरतिम् । **प्रति** । **जनकत्वमुत्पादकत्वम्** । **अन्वयव्यतिरेकाभ्यां** द्विष्टसाधनताज्ञाने सति निवृत्तिसत्त्वं तदभावे तदभाव इति । **अवधारितं** निश्चितम् । **इति** । **भावः** आशयः । इति ॥ १५१ ॥

हिन्दी – द्विष्ट की साधनता के ज्ञान से उत्पन्न द्वेष से निवृत्ति होती है ।

निवृत्तिरिति । द्विष्ट के साधन होने के ज्ञान का प्रवृत्ति के प्रति जनकत्व अन्वय एवं व्यतिरेक से निश्चित होता है, ऐसा आशय है ॥ १५१ ॥

यत्नो जीवनयोनिस्तु सर्वदाऽतीन्द्रियो भवेत् ।
शरीरे प्राणसञ्चारे कारणं परिकीर्तितम् ॥ १५२ ॥

यत्न इति । जीवनयोनियत्नो यावज्जीवनमनुवर्तते । स चातीन्द्रियः । तत्र प्रमाणमाह—शरीर इति । प्राणसञ्चारो हि अधिकश्वासादिः यत्नसाध्यः । इत्थञ्च प्राणसञ्चारस्य सर्वस्य यत्नसाध्यत्वानुमानात्प्रत्यक्षयत्नबाधाच्चातीन्द्रिययत्नसिद्धिः । स एव जीवनयोनिर्यत्नः ॥ १५२ ॥

आलोकः—तृतीयं प्रयत्नमाह—**यत्न** इति । जीवनयोनिः यत्नः तु सर्वदा अतीन्द्रियः भवेत् (सः) शरीरे प्राणसञ्चारे कारणं परिकीर्तितम् इति । **जीवनयोनिः** तदाख्यः । **यत्नः** प्रयत्नः । **तु** हि । **सर्वदा** सदाकालमेव । **अतीन्द्रियः** इन्द्रियासम्पाद्यः । **भवेत्** । (सः) **शरीरे** देहे । **प्राणसञ्चारे** श्वासप्रश्वासक्रियायाम् । **कारणं** हेतुः । **परिकीर्तितं** कथितमिति । कारिकाशयं विवृणोति मूले—**यत्न** इति । **जीवनयोनियत्नः** जीवनयोन्याख्यप्रयत्नः । **यावज्जीवनं** यावदायुः । **अनुवर्तते** अनवरतरूपेण प्रचलतीति । **सः** तादृशयत्नः । **च** हि । **अतीन्द्रियः** इन्द्रियासाध्यः । भवतीति । **तत्र** जीवनयोनियत्ने । **प्रमाणम्** । **आह** । **शरीर** इति । **प्राणसञ्चारः** **हि** **अधिकश्वासादिः** समधिकश्वासप्रश्वासादिः । **यत्नसाध्यः** प्रयत्नसम्पाद्यः । **इत्थम्** । **च** । **सर्वस्य** समग्रस्य । **प्राणसञ्चारस्य** श्वासप्रश्वासक्रियायाः । **यत्नसाध्यत्वानुमानात्** यत्नसम्पाद्यत्वानुमितेः ।

प्रत्यक्षयत्नबाधात् इन्द्रियगम्यप्रयत्नबाधेन । जीवनयोनेः **अतीन्द्रिययत्नसिद्धिः** इन्द्रियातीतप्रयत्नसिद्धिः । **सः** तादृशोऽतीन्द्रियः । **एव** हि । **जीवनयोनिः** तदाख्यः । **यत्नः** प्रयत्न इति । जीवनयोनियत्नो हि प्राणसञ्चारानुमेयस्तेनैव सुषुप्त्यवस्थायामपि श्वासप्रश्वासगतागतमिति । नेत्रनिमीलनोन्मीलनयोरिव श्वासप्रश्वासयोरपि यत्नसाध्यत्वमेव । स चानुमानविषयः तत्प्रकारश्च यथा—अधिकश्वासादिप्राणसञ्चारः प्रयत्नसाध्यः कार्यत्वात् इति प्राणसञ्चारस्य यत्नसाध्यत्वे सिद्धे प्रत्यक्षत एवेतरप्रयत्नसाध्यत्वस्य बाधेनास्यातीन्द्रियत्वसिद्धिरित्याशयः ॥ १५२ ॥

हिन्दी—जीवनयोनियत्न तो सदा ही अतीन्द्रिय होता है । यही शरीर में प्राण के सञ्चार में कारण माना गया है ।

यत्न इति । जीवनयोनियत्न जीवनपर्यन्त चलता रहता है । वह अतीन्द्रिय भी होता है । उसमें प्रमाण बतलाते हैं—**शरीर** इति । अधिक श्वास आदि प्राणसञ्चार यत्न से साध्य है । इस तरह सभी प्राणसञ्चार के यत्नसाध्य होने के अनुमान से प्रत्यक्षयत्न में बाधा पड़ने के कारण अतीन्द्रिय यत्न की सिद्धि होती है । वही जीवनयोनियत्न है ॥ १५२ ॥

अतीन्द्रियं गुरुत्वं स्यात् पृथिव्यादिद्वये तु तत् ।
अनित्ये तदनित्यं स्यान्नित्ये नित्यमुदाहृतम् ॥ १५३ ॥
तदेवासमवायि स्यात् पतनाख्ये तु कर्मणि ।

अतीन्द्रियमिति । अनित्य इति । अनित्ये द्व्यणुकादौ तद् गुरुत्वमनित्यम् । नित्ये परमाणौ नित्यम् । गुरुत्वमित्यनुवर्तते । तद्गुरुत्वमसमवायि, असमवायिकारणम् । पतनाख्य इति । आद्यपतन इत्यर्थः ॥ १५३ ॥

आलोकः—अथ क्रमप्राप्तं गुरुत्वगुणं निरूपयति परममूले—**अतीन्द्रियमिति ।** गुरुत्वम् अतीन्द्रियं स्यात् तत् तु पृथिव्यादिद्वये भवति तत् अनित्ये अनित्यं नित्ये नित्यम् उदाहृतम्, पतनाख्ये कर्मणि तु तत् एव असमवायि स्यात् इति । **गुरुत्वं** गुरुत्वाख्यगुणः आद्यपतनासमवायिकारणं गुरुत्वमिति । **अतीन्द्रियम्** इन्द्रियाग्राह्यम् । **स्यात्** । तत् गुरुत्वम् । **तु** । **पृथिव्यादिद्वये** पृथिवीजलयोः । वृत्तिकमिति । **तत्** गुरुत्वम् । **अनित्ये** द्व्यणुकादौ । **अनित्यम्** । **स्यात्** । **नित्ये** परमाण्वादौ । **नित्यम्** । **उदाहृतं** कथितम् । **पतनाख्ये** आद्यपतनसंज्ञिते । **कर्मणि** क्रियायाम् । **तु** । **तत्** गुरुत्वम् । **एव** हि । **असमवायि** असमवायिकारणं भवतीति द्वितीयादिपतनक्रियायां तु वेगस्यैव तथात्वात् । कारिकाविषयं विवृणोति मूले—**गुरुत्वमिति । गुरुत्वं** गुरुत्वगुणम् । **निरूपयति** विवृणोति । **अतीन्द्रियमिति** । कारिकांशं विवृणोति—**अनित्ये इति** इति । **अनित्ये** इति **द्व्यणुकादौ** द्व्यणुकत्रसरेणुकादौ । **तद्** इति **गुरुत्वम्** । **अनित्यम्** । **नित्ये** । **परमाणौ** पृथिवीपरमाणौ जलपरमाणौ । **नित्यम्** । **गुरुत्वमिति** गुरुत्वमिति पदम् । **अनुवर्तते** । **तत्** गुरुत्वम् । **असमवायि** असमवायिकारणम् । **पतनाख्ये इति** आद्यपतने प्रथमवारपतने । **इति** । **अर्थः**

आशय:। अनन्तरपतने तु वेगस्य द्रव्यक्रियादेरपि तथात्वात्। पतनासमवायिकारणतावच्छेदकतया गुरुत्वत्वजाति: सिध्यति। यथा पतनासमवायिकारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वादिति विस्तरोऽन्यत्र। अतीन्द्रियत्वञ्च गुरुत्वस्य तस्यानुमानेन सिध्यति ॥ १५३ ॥

हिन्दी—गुरुत्व गुण अतीन्द्रिय होता है। वह पृथिवी आदि दो द्रव्यों में (पृथिवी एवं जल में) होता है। वह अनित्य (द्वयणुक आदि) में अनित्य होता है और नित्य में नित्य कहा गया है। वह पतन कर्म (आद्यपतनक्रिया) में असमवायिकारण होता है।

गुरुत्व का निरूपण करते हैं—**अतीन्द्रियमिति**। **अनित्य इति**। अनित्य द्वयणुक आदि में वह गुरुत्व अनित्य होता है। नित्य परमाणु में नित्य होता है। गुरुत्व की अनुवृत्ति है। वह गुरुत्व **असमवायि** असमवायिकारण होता है। **पतनेति**। पहली बार के पतन में, ऐसा अर्थ है ॥ १५३ ॥

सांसिद्धिकं द्रवत्वं स्यान्नैमित्तिकमथापरम् ॥१५४॥
सांसिद्धिकं तु सलिले द्वितीयं क्षितितेजसो:।
परमाणौ जले नित्यमन्यत्रानित्यमुच्यते ॥ १५५ ॥
नैमित्तिकं वह्नियोगात् तपनीयघृतादिषु।
द्रवत्वं स्यन्दने हेतुर्निमित्तं सङ्ग्रहे तु तत् ॥ १५६ ॥

द्रवत्वं निरूपयति - सांसिद्धिकमिति। द्रवत्वं द्विविधं—सांसिद्धिकं नैमित्तिकञ्चेति। द्वितीयं नैमित्तिकम्। परमाणाविति। जलपरमाणौ द्रवत्वं नित्यमित्यर्थ:। अन्यत्र पृथिवीपरमाण्वादौ जलद्वयणुकादौ च द्रवत्वमनित्यम्। कुत्रचित्तेजसि कुत्रचित्पृथिव्याञ्च नैमित्तिकं द्रवत्वम्। नैमित्तिकमिति। वह्नीति। अग्निसंयोगजन्यं नैमित्तिकं द्रवत्वम्। तच्च सुवर्णादिरूपे तेजसि घृतजतुप्रभृतिपृथिव्याञ्च वर्तत इत्यर्थ:। द्रवत्वमिति। हेतुरिति। असमवायिकारणमित्यर्थ:। सङ्ग्रहे सक्तुकादिसंयोगविशेषे तद्द्रवत्वं स्नेहसहितमिति बोद्धव्यम्। तेन द्रुतसुवर्णादीनां न सङ्ग्रह: ॥ १५४-१५६ ॥

आलोक:—अथ क्रमप्राप्तं द्रवत्वगुणं निरूपयति परममूले—**सांसिद्धिकमिति**। द्रवत्वं सांसिद्धिकम् अथ अपरं नैमित्तिकं तु सलिले द्वितीयं क्षितितेजसो: जले परमाणौ नित्यम् अन्यत्र अनित्यम् उच्यते तपनीयघृतादिषु वह्नियोगात् नैमित्तिकं द्रवत्वं सङ्ग्रहे हेतु:, सङ्ग्रहे तु तत् निमित्तम् इति। **द्रवत्वं** द्रवत्वगुण: आद्यस्यन्दनासमवायिकारणत्वेन लक्षणीकृत:। **सांसिद्धिकं** स्वभावसिद्धम्। **अथ**। **अपरम्** अन्यत्। **नैमित्तिकं** वह्न्यादिनिमित्तजन्यम्। **इति**। **द्विविधं स्यात्**। तत्र **सलिले** जले। **सांसिद्धिकं** स्वभावसिद्धम्। **द्वितीयं** नैमित्तिकम्। **क्षितितेजसो:** पृथिवीतेजसो:। तच्च

जले जलीये । **परमाणौ** । **नित्यम्** । **अन्यत्र** तदितरस्मिन् । तत् । **अनित्यम्** । **इष्यते** । **तपनीयघृतादिषु** तपनीये घृतादौ घृते सुवर्णे च । **वह्नियोगात्** अग्निसंयोगात् । **नैमित्तिकं** द्रवत्वं भवति । **द्रवत्वं** द्रवत्वगुणः । **स्यन्दने** प्रवहणे । आद्यस्यन्दने । **हेतुः** असमवायिकारणम् । **सङ्ग्रहे** पिण्डीकरणे । **तु** । तत् द्रवत्वम् । **निमित्तं** निमित्तकारणमिति । कारिकाविषयमाह मूले—**द्रवत्वमिति** । **द्रवत्वं** द्रवत्वगुणम् । **निरूपयति** । **सांसिद्धिकमिति** कारिकाप्रतीकमिदम् । कारिकाशयमाह—**द्रवत्वमिति** । **द्रवत्वम्** आद्यस्यन्दनासमवायिकारणं गुणः । **द्विविधं** द्विप्रकारकम् । **सांसिद्धिकं** स्वभावसिद्धम् । **नैमित्तिकं** निमित्तजन्यम् । **च** । **इति** । **अर्थः** आशयः । **द्वितीयम्** इति नैमित्तिकम् । **परमाणाविति** **जलपरमाणौ** जलीयपरमाणौ । **द्रवत्वम्** । **नित्यम्** । **इति** । **अर्थः** । **अन्यत्र** **पृथिवीपरमाण्वादौ** । **जलद्व्यणुकादौ** । **द्रवत्वम्** **अनित्यम्** । **कुत्रचित्** क्वचित् । **तेजसि** । **कुत्रचित्** । पृथिव्याम् । **च** । **नैमित्तिकं** निमित्तजन्यम् । द्रवत्वम् । **तत्र** । **नैमित्तिकपदार्थः** नैमित्तिकपदबोध्यार्थः । **कः** । **वा** । तद् **दर्शयति** स्पष्टयति । **नैमित्तिकमिति** । वह्नियोगादित्यत्रत्यं वह्नीति पदम् । **तेजोऽर्थकं** तेजोऽर्थे प्रयुक्तम् । **तथा च** । **अग्निसंयोगजन्यं** विजातीयतेजःसंयोगोत्पाद्यम् । **नैमित्तिकं** निमित्तजन्यम् । **द्रवत्वम्** । **तत्** नैमित्तिकं द्रवत्वम् । **च** । **सुवर्णादिरूपे** हाटकादिरूपे । **तेजसि** तेजोद्रव्ये । **घृतजतुप्रभृतिपृथिव्यां** सर्पिर्लाक्षादिपृथिवीभागे । **च** । **वर्तते** । **इति** । **अर्थः** । **द्रवत्वं** **स्यन्दने** **हेतुरिति** **असमवायिकारणम्** । **इति** । **अर्थः** । **सङ्ग्रहे** इति सक्तुकादिसंयोगविशेषे सक्तुकादीनां यः संयोगस्तद्विशेषे । **तत्** इति द्रवत्वम् । **स्नेहसहितं** स्नेहगुणसहितम् । **इति** । **बोद्धव्यं** ज्ञेयम् । **तेन** हेतुना । **द्रुतसुवर्णादीनाम्** आदिपदाद् द्रुतरजतादीनाञ्च । **न** । **सङ्ग्रहः** पिण्डीभावः ॥ १५६ ॥

हिन्दी—द्रवत्व दो प्रकार का होता है—एक सांसिद्धिक (स्वभावसिद्ध) और दूसरा नैमित्तिक । द्रवत्व जल में सांसिद्धिक (स्वभावसिद्ध) होता है और दूसरा अर्थात् नैमित्तिक पृथिवी एवं तेज में । वह जलपरमाणु में नित्य होता है और अन्यत्र तो अनित्य ही कहा जाता है । तपनीय घृत आदि में अग्नि के योग से नैमित्तिक होता है । स्यन्दन (बहाव) में असमवायिकारण होता है और चूर्ण आदि के पिण्डीभाव में निमित्तकारण होता है ।

सांसिद्धिकमिति । द्रवत्व दो प्रकार का होता है—सांसिद्धिक एवं नैमित्तिक । जलपरमाणु में द्रवत्व नित्य होता है, ऐसा अर्थ है । अन्यत्र पृथिवी के परमाणु आदि में जल के द्व्यणुक आदि में भी द्रवत्व अनित्य होता है । कहीं तेज में और कहीं पृथिवी में भी नैमित्तिक द्रवत्व होता है । अग्नि के संयोग से जन्य नैमित्तिक द्रवत्व है । वह सुवर्ण आदि रूप तेज में एवं घृत-जतु आदि पृथिवी में भी रहता है, ऐसा इसका आशय है । स्यन्दन में हेतु—इसका अर्थ असमवायिकारण है । सत्तु आदि के संयोग-विशेष संग्रह में वह द्रवत्व स्नेहसहित होता है, ऐसा समझना चाहिए । इस कारण द्रुत, सुवर्ण आदि का पिण्डीभाव नहीं होता ॥ १५६ ॥

स्नेहो जले स नित्योऽणावनित्योऽवयविन्यसौ ।
तैलान्तरे तत्प्रकर्षाद् दहनस्यानुकूलता ॥ १५७ ॥

स्नेह इति । जल इति । जल एवेत्यर्थः । असौ स्नेहः । ननु पृथिव्यामपि तैले स्नेह उपलभ्यते, न चासौ जलीयस्तथा सति दहनप्रातिकूल्यं स्यादत आह— तैलान्तर इति । तत्प्रकर्षात् स्नेहप्रकर्षात् । तैले उपलभ्यमानस्नेहोऽपि जलीय एव । तस्य प्रकृष्टत्वादग्नेरानुकूल्यम् । अपकृष्टस्नेहं हि जलं वह्निं नाशयतीति भावः ।

आलोकः—इदानीं क्रमप्राप्तं स्नेहगुणं निरूपयति परममूले—स्नेह इति । स्नेहः जले सः अणौ नित्यः असौ अवयविनि अनित्यः तैलान्तरे तत्प्रकर्षात् दहनस्य अनुकूलता इति । **स्नेहः** स्नेहगुणः पिण्डीभावासाधारणनिमित्तहेतुर्गुणः इति । जले जले एव भवति जलमात्रवृत्तिरिति । **सः** स्नेहः । **अणौ** परमाण्वादौ । **नित्यः** । **असौ** स्नेहः । अवयविनि अवयविभूते द्व्यणुकादौ । अनित्यः । **तैलान्तरे** तैलाभ्यन्तरे । **तत्प्रकर्षात्** तस्य स्नेहस्य प्रकर्षादौत्कृष्ट्यात् । **दहनस्य** दाहकर्मणः । **अनुकूलता** आनुकूल्यमिति । कारिकाविषयं विवृणोति मूले—**स्नेह** इति । कारिकांशं विवृणोति—**जले इति** इति । जले इत्यस्य **जले एव नान्यत्रेति । इति । अर्थः** आशयः । कारिकायां यद् **असौ** इति पदं तस्य स्नेह इत्यर्थः । स्नेहस्य जलमात्रवृत्तित्वमाशङ्क्य समाधानायाह—**नन्विति । ननु । पृथिव्यां** पृथिवीद्रव्ये । **तैले । स्नेहः** स्नेहगुणः । **उपलभ्यते** प्राप्यते । **न । च** हि । **असौ** तैलगत-स्नेहः । **जलीयः** जलसम्बद्धः । **तथा** तैलीयस्नेहस्य जलीयत्वे । **सति । दहनप्रातिकूल्यं** ज्वलनविरोधित्वेन तत्प्रतिकूलत्वम् । **स्यात् । अतः** हेतोः । **आह । तैलान्तर** इति । **तत्प्रकर्षादिति स्नेहप्रकर्षात्** स्नेहस्य प्रकर्षादौत्कृष्ट्यात् । **तैले । उपलभ्यमानस्नेहः** प्राप्य-स्नेहगुणः । **अपि** च । **जलीयः** जलसम्बद्धः । **एव** न तद्भिन्नः । **तस्य** स्नेहस्य । **प्रकृष्ट-त्वात्** औत्कर्ष्यात् । **तस्य । अग्नेः** वह्नेः । **आनुकूल्यम्** अनुकूलता । **अपकृष्टस्नेहं** न्यून-स्नेहमात्रम् । **हि । जलम् । वह्निं** ज्वलनम् । **नाशयति । इति । भावः** आशयः इति । तेन तैले घृतादौ च स्नेहो जलीय एवेति ॥ १५७ ॥

हिन्दी—स्नेह गुण जलमात्र में वृत्ति वाला होता है । वह अणु में नित्य होता है । वह स्नेह अवयवी द्व्यणुक आदि में अनित्य होता है । तेल में स्नेह के प्रकर्ष से जलने के लिए अनुकूलता होती है ।

स्नेह इति । जले इति । इसका अर्थ जल में ही, अन्यत्र नहीं । 'असौ' का अर्थ स्नेह है । 'पृथिवी रूप तैल में भी स्नेह गुण पाया जाता है । वह जलीय नहीं होता, क्योंकि यदि वह जलीय होता तो उसमें दहन के लिए प्रतिकूलता रहती' । ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं—**तैलान्तर इति** । तत्प्रकर्ष का अर्थ स्नेह का प्रकर्ष है । तेल में पाया जाने वाला स्नेह भी जलीय ही है । उसके प्रकृष्टत्व से उसमें अग्नि के लिए अनुकूलता रहती है । कम स्नेह वाला जल ही आग को बुझाता है, ऐसा भाव है ॥

संस्कारभेदो वेगोऽथ स्थितिस्थापकभावने ।

संस्कारं निरूपयति—संस्कारेति। वेगस्थितिस्थापकभावनाभेदात् संस्कारस्त्रिविध इत्यर्थः ।

आलोकः—अथ क्रमप्राप्तं संस्कारगुणं निरूपयति परममूले—**संस्कारभेद** इति । अथ संस्कारभेदः वेगः अथ स्थितिस्थापकभावने इति । **संस्कारभेदः** संस्कारः सामान्यगुणात्मविशेषगुणोभयवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमान् गुणः तस्य भेदः । **वेगः** । **अथ** । **स्थितिस्थापकभावने** स्थितिस्थापकः भावना चेति। वेगस्थितिस्थापकभावनाभेदात्संस्कारस्त्रिविध इति । कारिकाविषयमाह मूले—**संस्कारमिति** । **संस्कारं** संस्कारव्यवहारासाधारणकारणगुणम् । **निरूपयति** विवृणोति । **संस्कारेति** । कारिकाविषयमाह—**वेगेति** । **वेगस्थितिस्थापकभावनाभेदात्** वेगः स्थितिस्थापकः भावना चेति भेदात् । **संस्कारः** संस्कारगुणः । **त्रिविधः** त्रिप्रकारकः । **इति** । **अर्थः** आशयः ।

हिन्दी—संस्कार गुण वेग, स्थितिस्थापक एवं भावना भेद से तीन प्रकार का होता है ।

मूर्तमात्रे तु वेगः स्यात् कर्मजो वेगजः क्वचित् ॥१५८॥

मूर्तमात्र इति । कर्मजवेगजभेदाद् वेगो द्विविध इत्यर्थः । शरीरादौ हि नोदनजनितेन कर्मणा वेगो जन्यते । तेन च पूर्वकर्मनाशस्ततः उत्तरं कर्म । एवमग्रेऽपि । विना च वेगं कर्मणः कर्मप्रतिबन्धकत्वात् पूर्वकर्मनाश उत्तरकर्मोत्पत्तिश्च न स्यात् । यत्र वेगवता कपालेन जनिते घटे वेगो जन्यते स वेगजो वेगः ॥ १५८ ॥

आलोकः—अथ प्रथमं संस्कारभेदं वेगं निरूपयति परममूले—**मूर्तमात्र** इति । वेगः तु मूर्तमात्रे स्यात्, सः कर्मजः क्वचित् वेगजः इति । **वेगः** वेगाख्यसंस्कारः । **तु** हि । **मूर्तमात्रे** परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वं मूर्तत्वम् । तद्विशिष्टद्रव्यमात्रे । मूर्तानि पञ्च—पृथिवी, आपः, तेजः, वायुः मनश्चेति । तेष्वेव । **स्यात्** । अमूर्तावृत्तिर्वेग इति । **कर्मजः** क्रियासमुत्पन्नः । **क्वचित्** । **वेगजः** वेगोद्भव अपि । अमूर्तावृत्तिर्वेगः । स च कर्मजो वेगजश्चेति द्विविध इति । कारिकाशयं विवृणोति—**मूर्तमात्र** इति । **कर्मजवेगजभेदात्** कर्मजो वेगजश्चेति भेदेन । **द्विविधः** द्विप्रकारकः । **इति** । **अर्थः** आशयः । **शरीरादौ** देहादौ । **हि** । **नोदनजनितेन** नोदनाख्यसंयोगजनितेन । **कर्मणा** क्रियया । **वेगः** । **जन्यते** उत्पद्यते । **तेन** वेगेन । **च** हि । **पूर्वकर्मनाशः** स्वजनककर्मनाशः । **ततः** पूर्वकर्मनाशानन्तरम् । **उत्तरं कर्म** कर्मान्तरोत्पत्तिः । **एवम्** । **अग्रे** अपि द्वितीयादिकर्मणि पूर्ववेगनाशः ततो वेगान्तरोत्पत्तिश्च भवतीत्याशयः । वेगस्य कर्मनाशकत्वे किं मानमित्यपेक्षायामाह—**विना** इति । **वेगम्** । **विना** । वेगाभावे **कर्मणः** पूर्वकर्मणः । **कर्मप्रतिबन्धकत्वात्** उत्तरकर्मनिरोधकत्वात् । **पूर्वकर्मनाश** प्राक्कर्मध्वंसः । **उत्तरकर्मोत्पत्तिः** द्वितीयादिकर्मोत्पत्तिः । **न** । **स्यात्** । पूर्वकर्मनाशं विना उत्तरकर्मोत्पत्तेरभावात् । **वेगज-**

वेगमाह—यत्रेति । यत्र । वेगवता वेगयुक्तेन । कपालेन घटावयवेन । जनिते उत्पादिते । घटे । वेग: । जन्यते उत्पद्यते । स: तादृशो घटसम्बद्ध इति । वेगज: वेगोत्पन्न: । वेग: । इति । क्रियाजन्यत्वे सति क्रियाजनकत्वं वेगत्वं द्वितीयपतनासमवायिकारणं वा।

स च द्विविध:—कर्मजो वेगजश्च । तत्राद्य: शरीरादौ नोदनजनितेन कर्मणा जायमान: । अपरस्तु वेगवत्कपालजन्यघटे प्रसिद्ध: । मीमांसकमते तु निरन्तरो गतिसन्तान एव वेग: इति । नैयायिकमते तु स न केवलं क्रियासन्ततिमात्रमपितु गुणान्तरमपि ॥

हिन्दी—उनमें से वेग तो मूर्त द्रव्य मात्र (पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं मन) में रहता है । वह कर्मज अर्थात् क्रिया से उत्पन्न तथा कहीं वेग से उत्पन्न भी होता है ।

मूर्तमात्र इति । 'कर्मज एवं वेगज भेद से वेग दो प्रकार का होता है' ऐसा इसका आशय है । शरीर आदि में नोदनाख्य संयोग से जनित कर्म से वेग उत्पन्न होता है । उस वेग से पूर्व कर्म का नाश होता है, तब उत्तर कर्म होता है । इसी तरह आगे भी जान लेना चाहिए । वेग के बिना पूर्व कर्म का उत्तर कर्म के प्रति प्रतिबन्धक होने से पूर्वकर्मनाश एवं उत्तरकर्म की उत्पत्ति भी नहीं होगी । जहाँ वेगवान् कपाल से जनित घट में वेग उत्पन्न होता है, वह वेगज-वेग कहलाता है ॥ १५८ ॥

स्थितिस्थापकसंस्कार: क्षितौ केचिच्चतुर्ष्वपि ।
अतीन्द्रियोऽसौ विज्ञेय: क्वचित्स्पन्देऽपि कारणम् ॥१५९॥

स्थितिस्थापकेति । अतीन्द्रिय इति । आकृष्टशाखादीनां परित्यागे पुनर्गमनस्य स्थितिस्थापकसाध्यत्वात् । केचिदिति । चतुर्षु क्षित्यादिषु स्थितिस्थापकं केचिन्मन्यन्ते तदप्रमाणमिति भाव: । असौ स्थितिस्थापक: । क्वचिदाकृष्टशाखादौ ॥ १५९ ॥

आलोक:—द्वितीयं संस्कारभेदं स्थितिस्थापकं निरूपयति परममूले—**स्थितीति** । स्थितिस्थापकसंस्कार: क्षितौ केचित् चतुर्षु अपि असौ अतीन्द्रिय: विज्ञेय:, क्वचित् स्पन्दे अपि कारणम् इति । **स्थितिस्थापकसंस्कार:** क्रियाविशेषजनक: क्रियाविशेषजन्य: स्वजन्यक्रियानाश्यो गुणविशेष: । **क्षितौ** पृथिव्यामेव वृत्तिक इति । **केचित्** कतिपये आचार्या: । **चतुर्षु** क्षित्यप्तेजोवायुषु चतुर्षु । **अपि** हि । तस्य वृत्तिं मन्यन्ते । **असौ** स्थितिस्थापक: । **अतीन्द्रिय:** इन्द्रियाग्राह्य: अनुमेय इति । **विज्ञेय:** । **क्वचित्** कुत्रचित् आकृष्टशाखादौ । **स्पन्दे** गतौ । **अपि** च । **कारणं** हेतु: । भवतीति । अन्यथाकृतस्य पुनस्तदस्यापादक: स्थितिस्थापक: । यथा करेणाकृष्टा शाखा करवियोगे स्थितिस्थापकसंस्कारवशात् प्रागवस्थितिमाप्नोति । मूले व्याख्यानाय कारिकाया: प्रतीकमादत्ते—**स्थितिस्थापकेति** । कारिकांशं विवृणोति—**अतीन्द्रिय इति** इति । **आकृष्टशाखादीनां** करादिनाऽऽकृष्टतरुशाखादीनाम् । **परित्यागे** विमोचने । **पुनर्गमनस्य** पुन: पूर्वावस्थाप्राप्तिकर्मण: । **स्थितिस्थापकसाध्यत्वात्** स्थितिस्थापकसंस्कारसम्पाद्यत्वात् । **केचिदिति** केचिच्चतुर्ष्वपि इत्यंशस्य **चतुर्षु क्षित्यादिषु** पृथिवीजलतेजोवायुषु । स्थितिस्थापकं

स्थितिस्थापकसंस्कारम् । **केचित्** कतिपये आचार्याः । **मन्यन्ते** । तत् तादृशं तेषां कथनम् । **अप्रमाणं** मानशून्यम् । **इति** । **भावः** आशयः । कारिकागतस्य **असौ** इति पदस्य **स्थितिस्थापकः** इत्यर्थः । **क्वचिदिति आकृष्टशाखादौ** करादिनावनम्रतां नीतायां शाखादौ ॥ १५९ ॥

हिन्दी—स्थितिस्थापक संस्कार पृथिवी में रहता है । कुछ तो उसे पृथिवी आदि चारों में वृत्तिवाला मानते हैं । वह अतीन्द्रिय होता है । कहीं तो यह स्पन्द में भी कारण होता है ।

स्थितिस्थापकेति । **अतीन्द्रिय** इति । आकृष्ट शाखा आदि के छोड़ देने पर फिर अपनी स्थिति में पहुँचना स्थितिस्थापक संस्कार से साध्य है । **केचिदिति** । कुछ आचार्य पृथिवी आदि चारों में ही स्थितिस्थापक मानते हैं । यह अप्रमाण है, ऐसा इसका भाव है । 'असौ' (यह) का अर्थ स्थितिस्थापक है । 'क्वचित्' का अर्थ आकृष्ट शाखा आदि में ॥ १५९ ॥

भावनाख्यस्तु संस्कारो जीववृत्तिरतीन्द्रियः ।
उपेक्षानात्मकस्तस्य निश्चयः कारणं भवेत् ॥ १६० ॥

भावनाख्य इति । तस्य संस्कारस्य । उपेक्षात्मकज्ञानात् संस्कारानुत्पत्ते-रुपेक्षानात्मक इत्युक्तम् । तत्संशयात्तस्यानुत्पत्तेर्निश्चय इत्युक्तम् । तेनोपेक्षा-न्यनिश्चयत्वेन संस्कारं प्रति हेतुतेति भावः । ननु स्मरणं प्रत्युपेक्षान्यनिश्चयत्वेन हेतुत्वं, तेनोपेक्षादिस्थले न स्मरणम् । इत्थञ्च संस्कारं प्रति ज्ञानत्वेनैव हेतुता-स्त्विति चेन्न, विनिगमनाविरहेणापि संस्कारं प्रति उपेक्षान्यनिश्चयत्वेन हेतु-तायाः सिद्धत्वात् । किञ्चोपेक्षास्थले संस्कारकल्पनाया गुरुत्वात्संस्कारं प्रति चोपेक्षान्यनिश्चयत्वेन हेतुतायाः सिद्धत्वात् ॥ १६० ॥

आलोकः—तृतीयं संस्कारगुणभेदं निरूपयति परममूले—**भावनाख्य** इति । भावनाख्यः संस्कारः तु जीववृत्तिः अतीन्द्रियः तस्य उपेक्षानात्मकः निश्चयः कारणं भवेत् इति । **भावनाख्यः** भावना अनुभवजन्यः स्मृतिहेतुर्गुणविशेषः तदाख्यः । **संस्कारः** । **तु** । **जीववृत्तिः** जीवमात्रवृत्तिकः । अत एव **अतीन्द्रियः** इन्द्रियाविषयः स्मृतिरूपकार्या-नुमेयः । **तस्य** भावनाख्यसंस्कारस्य । **उपेक्षानात्मकः** उपेक्षा असावधानतया वस्तुनो ज्ञानं तदनात्मकः सावधानतात्मकः । **निश्चयः** तदभावाप्रकारकत्वे सति तत्प्रकारकज्ञानं संशयविरोधिज्ञानं वा । **कारणं** हेतुः । **भवेत्** । इति । मूले व्याख्यानाय कारिका-प्रतीकमादत्ते—**भावनाख्य** इति । कारिकांशं विवृणोति—**तस्येति** । तस्य इति संस्कार-स्य । उपेक्षानात्मकपदस्याशयमाह—**उपेक्षेति** । **उपेक्षात्मकज्ञानात्** असावधानतया वस्तुनो ज्ञानमुपेक्षा तदात्मकं यज्ज्ञानं तस्मात् । **संस्कारानुत्पत्तेः** संस्कारस्य अनुत्पत्ते-रनुदयात् । **उपेक्षानात्मकः** इति उक्तं कारिकायामिति । **तत्संशयात्** तस्य उपेक्षानात्म-कस्य । संशयादनिश्चयतः । **तस्य** संस्कारस्य । **अनुत्पत्तेः** अनुदयात् । **निश्चयः इत्युक्तम्** ।

तेन हेतुना । **उपेक्षान्यनिश्चयत्वेन** उपेक्षान्यः उपेक्षाभिन्नः अपेक्षात्मक इति तादृशो यो निश्चयस्तत्त्वेन । **संस्कारम्** । प्रति । हेतुता कारणता । इति । भावः । उपेक्षान्य-निश्चयत्वापेक्षया ज्ञानत्वस्य कारणतावच्छेदकत्वे लाघवमाश्रित्य शङ्कते—**नन्विति** । **ननु** । **स्मरणं** स्मृतिम् । प्रति । **उपेक्षान्यनिश्चयत्वेन** अपेक्षात्मकनिश्चयत्वेन । **हेतुत्वं** कारणता । **तेन** । **उपेक्षादिस्थले** यत्रोपेक्षा तत्र । न । स्मरणम् । इत्थम् एवमेव । **च** हि । **संस्कारम्** । **प्रति** । **ज्ञानत्वेन** उपेक्षाद्यन्यत्वाविशेषितज्ञानत्वेनैव । हेतुता लाघवात् कारणता । **अस्तु** । इति कथ्यते । **चेत्** । समाधत्ते—नेति । न न तत्समीचीनम् । **विनिगमनाविरहेण** युक्त्यभावेन । अपि च । **संस्कारम्** । **प्रति** । **उपेक्षान्यनिश्चयत्वेन** अपेक्षात्मकनिश्चयत्वेन । **हेतुतायाः** कारणतायाः । **सिद्धत्वात्** । किञ्च संस्कारं प्रति केवलज्ञानत्वेन हेतुतास्वीकारे । **उपेक्षास्थले** उपेक्षाविशिष्टात्मनि । **संस्कारकल्पनायाः** संस्कारविचारस्य । **गुरुत्वात्** तत्प्रयुक्तगौरवदोषात् इति । **संस्कारम्** । **प्रति** । **च** तु । **उपेक्षान्यनिश्चयत्वेन** अपेक्षात्मकनिश्चयत्वेनैव । **सिद्धत्वात्** हेतुत्वात् ॥ १६० ॥

हिन्दी—भावनाख्य संस्कार जीवात्मा में वृत्तिवाला एवं अतीन्द्रिय होता है और उसका उपेक्षानात्मक अर्थात् उपेक्षा नहीं है स्वरूप जिसका, ऐसा निश्चय कारण होता है ।

भावनाख्य इति । उसका संस्कार का । उपेक्षात्मक ज्ञान से संस्कार की उत्पत्ति न होने से उपेक्षानात्मक कहा गया है । वैसे अर्थात् उपेक्षानात्मक संशय से उस (संस्कार) की उत्पत्ति न होने से 'निश्चय' कहा गया । इस कारण उपेक्षा से इतर निश्चय के रूप से संस्कार के प्रति हेतुता होती है, ऐसा आशय है । 'तो जैसे स्मरण के प्रति उपेक्षा से भिन्न निश्चयत्व से हेतुत्व होता है इस कारण उपेक्षा आदि स्थल में स्मरण नहीं होता, इसी तरह संस्कार के प्रति उपेक्षान्यज्ञानत्व के रूप में ही हेतुता हो' ऐसा कहना उचित नहीं है । युक्ति के अभाव में संस्कार के प्रति उपेक्षान्यनिश्चयत्व से हेतुता सिद्ध है अर्थात् आवश्यक है । उपेक्षास्थल में संस्कार की कल्पना में गौरव होने से संस्कार के प्रति उपेक्षान्यनिश्चयत्व से हेतुता सिद्ध ही है ॥ १६० ॥

स्मरणे प्रत्यभिज्ञायामप्यसौ हेतुरुच्यते ।

असौ संस्कारः । तत्र प्रमाणं दर्शयति—स्मरण इति । यतः स्मरणं प्रत्यभिज्ञानञ्च जनयत्यतः संस्कारः कल्प्यते । विना व्यापारं पूर्वानुभवस्य स्मरणादिजननासामर्थ्यात् स्वस्वव्यापारान्यतराभावे कारणत्वासम्भवात् । न च प्रत्यभिज्ञायाः संस्कारजन्यत्वेन स्मृतित्वापत्तिरिति वाच्यमप्रयोजकत्वात् । परे त्वनुद्बुद्धसंस्कारात्प्रत्यभिज्ञानुदयादुद्बुद्धसंस्कारस्य हेतुत्वापेक्षया तत्तत्स्मरणस्यैव प्रत्यभिज्ञां प्रति हेतुत्वं कल्प्यत इत्याहुः ।

आलोकः—भावनाख्यसंस्कारस्य कार्यमाह—**स्मरणे** इति । स्मरणे प्रत्यभिज्ञायाम् अपि असौ हेतुः उच्यते इति । **स्मरणे** घटमहं स्मरामीत्याकारके स्मरणे । **प्रत्यभिज्ञायाम्** इन्द्रियसहकृतसंस्कारजन्यज्ञाने सोऽयं घट इत्याकारके । **अपि च** । **असौ** भावनाख्य-

संस्कारः । **हेतुः** कारणम् । **उच्यते** कथ्यते । भावनाऽऽख्यसंस्कारः संस्कारमात्रजन्यज्ञानं स्मरणं प्रति इन्द्रियसहकृतसंस्कारजन्यज्ञानं प्रत्यभिज्ञां प्रति च हेतुर्भवतीति सारम् । कारिकां विवृणोति मूले—**असाविति**। **असौ** इति संस्कारः। **तत्र** संस्कारसत्त्वे। **प्रमाणम्** । **दर्शयति** उपस्थापयति । **स्मरण इति** इति । तदाशयमाह—**यत इति** । **यतः** यतो हि । **स्मरणं** संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं घटमहं स्मरामीत्याकारकम् । **प्रत्यभिज्ञाम्** इन्द्रियसहकृतसंस्कारजन्यज्ञानं सोऽयं घट इत्याकारकम् । **च** । **जनयति** उत्पादयति । **अतः** अस्माद्धेतोः । **संस्कारः** संस्कारगुणः । **कल्प्यते** अनुमीयते इति । तत्र हेतुमाह—**विनेति** । **व्यापारं** कारणम् । **विना** । **पूर्वानुभवस्य** प्राक्कृतानुभवस्य । **स्मरणाविजननासामर्थ्यात्** स्मरणप्रत्यभिज्ञानोत्पादनसामर्थ्याभावात् । **स्वस्वव्यापारान्यतराभावे** स्वं कारणं स्वव्यापारः कारणव्यापारस्तयोरन्यतरस्य अभावे । **कारणत्वासम्भवात्** हेतुत्वासम्भवात् । प्रत्यभिज्ञायाः स्मृतित्वमाशङ्क्य समाधत्ते—**न चेति** । **न** । **च** हि । **प्रत्यभिज्ञायाः** सोऽयं घट इत्याकारकज्ञानस्य । **संस्कारजन्यत्वेन** संस्कारगुणोत्पाद्यत्वेन । **स्मृतित्वापत्तिः** स्मरणत्वप्राप्तिः । **इति** । **वाच्यम्** । **अप्रयोजकत्वात्** संस्कारजन्यत्वस्य स्मृतित्वे प्रयोजकत्वाभावात् । तत्त्वचिन्तामणिकारमतमुपस्थापयति—**परे त्विति** । **परे** इतरे तत्त्वचिन्तामणिकाराः । **तु** । **अनुद्बुद्धसंस्कारात्** सुषुप्तसंस्कारात् । **प्रत्यभिज्ञानुदयात्** प्रत्यभिज्ञानस्यानुत्पत्तेः । **उद्बुद्धसंस्कारस्य** जागरितसंस्कारस्य । **हेतुत्वापेक्षया** । **तत्तत्स्मरणस्य** सम्बद्धस्मृतेः । **एव** । **प्रत्यभिज्ञां** प्रत्यभिज्ञानम् । **प्रति** हेतुत्वं कारणत्वम् । **कल्प्यते** निर्द्धार्यते । **इति** इत्थम् । **आहुः** कथयन्ति । **इति** ।

आहुरित्यनेनास्वरसो दर्श्यते अन्तराकल्पनीयस्मृतिव्यक्तावुद्बुद्धसंस्कारस्य हेतुत्वकल्पनं प्रत्यभिज्ञायां तद्धेतुत्वकल्पनञ्च समानमेव । अन्तरास्मृतिव्यक्तिकल्पने प्रत्यभिज्ञायां तद्धेतुत्वकल्पने च पूर्वमते गौरवमित्यस्वरसबीजमिति प्रभादौ स्पष्टम् ।

हिन्दी—स्मरण एवं प्रत्यभिज्ञान (पहचान) में भी यह संस्कार हेतु माना जाता है ।

कारिका में 'असौ' पद का अर्थ है संस्कार । उसमें प्रमाण दिखलाते हैं—**स्मरण इति** । क्योंकि संस्कार ही स्मरण एवं प्रत्यभिज्ञान को भी उत्पन्न करता है अतः संस्कार की कल्पना की जाती है, क्योंकि व्यापार के बिना पूर्वानुभव का स्मरण आदि के जनन में सामर्थ्य न होने से अपने और अपने व्यापार में से किसी एक के भी अभाव में कारणत्व असम्भव होता है । न तो प्रत्यभिज्ञा के भी संस्कारजन्य होने से उसमें स्मृतित्व की प्राप्ति ही मानना उचित है, क्योंकि संस्कारजन्यत्व का स्मृतित्व में प्रयोजकत्व नहीं होता । दूसरे आचार्य तो 'अनुद्बुद्ध अर्थात् सुषुप्त संस्कार से प्रत्यभिज्ञा का उदय न होने से उसके प्रति उद्बुद्ध संस्कार के हेतुत्व की अपेक्षा उन-उन स्मरणों का ही प्रत्यभिज्ञा के प्रति हेतुत्व की कल्पना उचित है' ऐसा कहते हैं ।

धर्माधर्मावदृष्टं स्यात्—

अदृष्टं निरूपयति—धर्माधर्माविति ।

आलोक:—अथ क्रमप्राप्तमदृष्टगुणं निरूपयति—धर्मेति । धर्माधर्मौ अदृष्टं स्यात् इति । **धर्माधर्मौ** धर्मः स्वर्गादिहेतुः अधर्मो नरकादिहेतुः तौ । **अदृष्टम्** अदृष्टाऽऽख्य-गुणः । **स्यात्** । इति ।

हिन्दी—धर्म एवं अधर्म अदृष्ट गुण है ।

—धर्मः स्वर्गादिसाधनम् ॥ १६१ ॥

गङ्गास्नानादियागादिव्यापारः स तु कीर्तितः ।

स्वर्गादीति । स्वर्गादिसकलसुखानां स्वर्गसाधनीभूतशरीरादीनां च साधनं धर्म इत्यर्थः । तत्र प्रमाणं दर्शयितुमाह—यागादीति । यागादिव्यापारतया धर्मः कल्प्यते । अन्यथा यागादीनां चिरविनष्टतया निर्व्यापारतया च कालान्तर-भाविस्वर्गजनकत्वं न स्यात् । तदुक्तमाचार्यैः—

'चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना' । इति ।

ननु यागध्वंस एव व्यापारः स्यात् । न च प्रतियोगितद्ध्वंसयोरेकत्रा-जनकत्वं सर्वत्र तथात्वे मानाभावात् । न च त्वन्मते फलानन्त्यं मन्मते चरमफलस्यापूर्वनाशकत्वान्न तथात्वमिति वाच्यं, कालविशेषस्य सहकारित्वा-दित्यत आह—गङ्गास्नानेति । गङ्गास्नानस्य हि स्वर्गजनकत्वेऽनन्तानां जल-संयोगध्वंसानां व्यापारत्वमपेक्ष्यैकमपूर्वमेव कल्प्यते लाघवादिति भावः ।

आलोक:—तत्र धर्मं निरूपयति—**धर्म** इति । स्वर्गादिसाधनं धर्मः, सः तु गङ्गा-स्नानादियागादिव्यापारः कीर्तित इति । **स्वर्गादिसाधनं** स्वर्गादेः स्वर्गस्य स्वर्गप्राप्तेः आदिपदादपवर्गप्रभृतीनां ग्रहणं तस्य साधनं प्राप्तिहेतुः निमित्तकारणम् । **धर्मः** धर्माख्य-गुणः । स्वर्गादिप्राप्तिनिमित्तकारणत्वं धर्मत्वमिति । विहितकर्मजन्यो धर्म इति । **सः** धर्मः । **तु** हि । **गङ्गास्नानादियागादिव्यापारः** गङ्गायां स्नानमादिपदाद्दानादीनां ग्रहणं यागः यज्ञ आदिपदाद् देवार्चनादीनां ग्रहणम् । गङ्गास्नानादिः यागादिश्चासौ व्यापारः स्वजन्यफलोत्पत्तिं प्रति यो व्यापारः सः । **कीर्तितः** कथित इति । कारिकाशयं विवृणोति—**स्वर्गादीति** । धर्मः स्वर्गादिसाधनमित्येतस्य **स्वर्गादिसकलसुखानां** स्वर्ग-प्राप्तिप्रभृतिनिखिलशर्मणाम् । **स्वर्गसाधनीभूतशरीरादीनां** स्वर्गस्य स्वर्गप्राप्तिसुखावा-प्त्यादेः साधनीभूतं साधकत्वेनाभिमतं यच्छरीरादि तेषाम्' । **च** । **साधनम्** । **धर्मः** । **इति** । **अर्थः** । **तत्र** धर्मे । **प्रमाणम्** । **दर्शयितुं** साधयितुम् । **आह** । **यागादीति** । **यागादि-व्यापारतया** यागादेर्व्यापाररूपेण । **धर्मः** । **कल्प्यते** अनिवार्यत्वेन गृह्यते । **अन्यथा** अतथाभावे । **यागादीनां** यज्ञप्रभृतीनाम् । **चिरविनष्टतया** चिरकालपूर्वमेव समाप्ततया । **निर्व्यापारतया** व्यापाररहितत्वेन । **च** । **कालान्तरभाविस्वर्गजनकत्वं** कालान्तरे बहु-कालानन्तरं भावि यः स्वर्गः तज्जनकत्वम् । **न** । **स्यात्** सम्भवेत् । यदि हि धर्मो न स्यात् तर्हि शास्त्रादौ प्रतिपादितं यागादेः स्वर्गादिकं प्रति कारणत्वं नोपपद्येत तेषां चिरविन-ष्टत्वेन कालान्तरभाविस्वर्गादिफलं प्रति पूर्ववृत्तित्वाभावात् स्वाव्यवहितपूर्ववर्तिन एव

कारणत्वात् । तेन स्वर्गादिफललाभार्थं यागादेर्व्यापारतया धर्मः स्वीकर्तव्य एवेति । अत्रार्थे उदयनाचार्यसम्मतिसमुपन्यासेन स्वमतदार्ढ्यायाह—**तदिति** । **तत्** तदेव । **उक्तं** कथितम् । **आचार्यैः** उदयनाचार्यवरैः । तदेवाह—**चिरध्वस्तमिति** । अतिशयं विना चिरध्वस्तं कर्म फलाय न अलम् इति । **अतिशयं** मध्येऽपूर्वं व्यापारम् । **विना** । **चिरध्वस्तं** चिरकालप्रणष्टम् । **कर्म** यागादि । **फलाय** स्वर्गादिप्रापणाय । **न** । **अलं** समर्थं कारणं भवतीति । तेन व्यापारोऽवश्यमेव कल्पनीय इति । धर्मस्य व्यापारत्वमाशङ्क्य समाधत्ते—**नन्विति** । **ननु** । **यागध्वंसः** यज्ञप्रणाशः । **एव हि** । **व्यापारः** फलसाधक-व्यापारः । **स्यात्** । **न** । **च हि** । **प्रतियोगितद्ध्वंसयोः** प्रतियोगितदभावयोः यज्ञतत्प्रणाशयोरिति । **एकत्र** स्वर्गे । **अजनकत्वमसाधकत्वम्** । **सर्वत्र** स्थले । **तथात्वे** अजनकत्वे । **मानाभावात्** प्रमाणविरहात् । **न** । **च** । **त्वन्मते** यागध्वंसस्य व्यापारत्वसमर्थकमते । **फलाऽऽनन्त्यं** फलस्यासीमितत्वं ध्वंसस्य सार्वदिकत्वेन सार्वदिकत्वात्मकाऽऽनन्त्यापत्तिः **मन्मते** । **चरमफलस्य** स्वर्गस्यान्तिमभोगरूपस्य । **अपूर्वनाशकत्वात्** अपूर्वात्मकधर्मनाशकत्वात् । **न** । **तथात्वं** सार्वदिकत्वम् । **इति** इत्थम् । **वाच्यं** कथनीयम् । **कालविशेषस्य** येन यज्ञेन स्वर्गे यावती स्थितिः तादृशकालविशिष्टयागध्वंसः स्वर्गं प्रति कारणमिति दोषाभावेन । **सहकारित्वात्** । न फलानन्त्यदोष इति । **इति** । **अतः** । **आह** । **गङ्गास्नानेति** । **गङ्गास्नानस्य** गङ्गायां विहितस्य स्नानस्य । **हि** । **स्वर्गजनकत्वे** स्वर्गप्राप्तिसाधकत्वे । **अनन्तानाम्** अनेकेषाम् । **जलसंयोगध्वंसानां** जलावगाहनप्रणाशानाम् । **व्यापारत्वं** व्यापारभावम् । **अपेक्ष्य** । तदपेक्षयेति । **एकम्** । **अपूर्वम्** अपूर्वाख्यव्यापारम् । **एव हि** । **कल्प्यते** अनुमीयते । **लाघवात्** । **इति** । भावः । सर्वत्र करणध्वंसस्य व्यापारत्वे गङ्गास्नानात्मकानन्तजलसंयोगध्वंसानां व्यापारत्वापेक्षया गङ्गास्नानजन्य एको धर्मः लाघवदृष्ट्या व्यापार उचित इति ।

हिन्दी—स्वर्ग आदि का साधन धर्म है । वह गङ्गास्नान आदि एवं यज्ञ आदि का व्यापार कहा गया है ।

स्वर्गादीति । स्वर्ग आदि समस्त सुखों का एवं स्वर्ग के साधनीभूत शरीर आदि का भी साधन धर्म है, इसका ऐसा आशय है । उसमें प्रमाण दिखलाने के लिए कहते हैं—**यागादीति** । याग आदि के व्यापार के रूप में धर्म कल्पित है, अन्यथा याग आदि के चिरकाल से विनष्ट होने से, व्यापार का अभाव होने के कारण उसका कालान्तरभावी स्वर्ग का जनकत्व न होता । जो कि आचार्य (उदयनाचार्य) ने भी कहा है—

'अतिशय अर्थात् अपूर्व के बिना चिरकाल से ध्वस्त कर्म फल के लिए समर्थ नहीं होता' ।

तो फिर यागध्वंस को ही व्यापार माना जाय, न तो प्रतियोगी एवं उसके अभाव का एकत्र अजनकत्व ही होता है, क्योंकि सभी जगह वैसा होने में कोई प्रमाण नहीं है ? न तो तुम्हारे मत में फल का आनन्त्य होता है और मेरे मत में चरम फल का अपूर्व के द्वारा नाशित होने से वैसा नहीं होता; ऐसा भी कहना उचित है, क्योंकि वहाँ कालविशेष का सहकारित्व होता है, इसलिए कहते हैं—**गङ्गास्नानेति** ।

गङ्गास्नान के स्वर्गजनकत्व में अनन्त जलसंयोगध्वंसों का व्यापारत्व मानने की अपेक्षा लाघव की दृष्टि से एक अपूर्व की ही कल्पना उचित है, ऐसा इसका आशय है।

कर्मनाशाजलस्पर्शादिना नाश्यस्त्वसौ मतः ॥ १६२ ॥

ननु ध्वंसोऽपि न व्यापारोऽस्तु, न च निर्व्यापारस्य चिरध्वस्तस्य कथं कारणत्वमिति वाच्यम्, अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वस्य तत्रापि सत्त्वात्, अव्यवहितपूर्ववर्तित्वं हि चक्षुःसंयोगादेः कारणत्वे न तु सर्वत्र कार्यकालवृत्तित्वमिव समवायिकारणस्य कारणत्वे इत्यत आह—कर्मनाशेति। यदि ह्यपूर्वं न स्यात्तदा कर्मनाशाजलस्पर्शादिना नाश्यत्वं धर्मस्य न स्यात्, न हि तेन यागादेर्नाशः प्रतिबन्धो वा कर्तुं शक्यते, तस्य पूर्वमेव वृत्तत्वादिति। एतेन देवताप्रीतिरेव फलमित्यपास्तम्। गङ्गास्नानादौ सर्वत्र देवताप्रीतेरसम्भवाच्च। देवतायाश्चेतनत्वेऽपि तत्प्रीतेरनुद्देश्यत्वात्। प्रीतेः सुखस्वरूपत्वेन विष्णुप्रीत्यादौ तदसम्भवात्। जन्यसुखादेस्तत्राभावात्। तेन विष्णुप्रीतिजन्यत्वेन पराभिमतस्वर्गादिरेव विष्णुप्रीतिशब्देन लक्ष्यते ॥ १६२ ॥

आलोकः—अपूर्वसद्भावे प्रमाणमाह परममूले—**कर्मेति**। **कर्मनाशाजलस्पर्शादिना** कर्मनाशा तदाख्या नदी तस्याः जलस्पर्शस्तद्वारिसेचनम् आदिपदात् करतोयाविलङ्घनं गण्डकीबाहुतरणञ्च तेन। **असौ** धर्मः। **नाश्यः** क्षरणीयः। **मतः** कथितः। इति। यथोक्तम्—

'कर्मनाशाजलस्पर्शात् करतोयाविलङ्घनात्।
गण्डकीबाहुतरणाद्धर्मः क्षरति कीर्तनात्' ॥ इति।

मूले कारिकाशयव्याख्यानाय भूमिकामारचयति—**नन्विति**। **ननु**। **ध्वंसः** यागध्वंसः। **अपि च**। **न**। **व्यापारः**। **अस्तु**। **न**। **च** हि। **निर्व्यापारस्य** व्यापाररहितस्य। **चिरध्वस्तस्य** चिरात्रप्रणष्टस्य। **कथम्**। **कारणत्वं** हेतुत्वम्। **इति**। **वाच्यं** कथनीयम्। **अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वस्य** अनन्यथासिद्धम् अन्यथासिद्धिशून्यं नियतपूर्ववर्तित्वं कारणलक्षणं तस्य। **तत्र** चिरध्वस्ते यागादौ। **सत्त्वात्** भावात्। न कारणत्वानुपपत्तिरिति। **अव्यवहितपूर्ववर्तित्वम्** अव्यवहितत्वे सति पूर्ववृत्तित्वम्। **हि**। **चक्षुःसंयोगादेः** आदिपदात् त्वक्संयोगादेर्ग्रहणम्। **कारणत्वे** हेतुत्वे कारणत्वघटके इति। **न**। **सर्वत्र** व्यापारभिन्ननिष्ठकारणत्वघटकं नेति। तत्र दृष्टान्तमाह—**समवायिकारणस्येति**। **कारणत्वे** हेतुत्वे। **कार्यकालवृत्तित्वं** कार्यकाले कार्यावसरे वृत्तित्वम्। **इव**। यथा समवायिकारणस्य हेतुत्वे कार्यावधिवृत्तित्वमपेक्ष्यते न तु प्रागभावादौ सर्वत्र नियम इति। **इति**। **अतः**। **आह**। **कर्मनाशेति**। कारिकाशयं विवृणोति—**यदीति**। **यदि**। **हि**। **अपूर्वं** तदाख्यकर्मफलम्। **न**। **स्यात्**। **तदा** तदवस्थायाम्। **धर्मस्य**। **कर्मनाशाजलस्पर्शादिना** कर्मनाशावारिसेचनकरतोयाविलङ्घनगण्डकीबाहुतरणादिना। **नाश्यत्वं** क्षरणीयत्वम्। **न**। **स्यात्**। **न**। **हि**। **तेन** कर्मनाशाजलस्पर्शादिना। **यागादेः** यज्ञदान-

पूजनादेः । **नाशः** ध्वंसः । **वा** । **प्रतिबन्धः** विघ्नः । **कर्तुं** विहितुम् । **शक्यते** । **तस्य** यागादेः । **पूर्वं** प्राक् । **एव हि** । **वृत्तत्वात्** घटितत्वात् । **इति** इत्थम् । **भावः** आशयः । केचिद्धि देवताप्रीतिरेव यागादेः फलमित्यामनन्ति, तद्दूषणायाह—**एतेनेति** । **एतेन** निरुक्तविवरणेन । **देवताप्रीतिः** देवविशेषयुत् । **एव हि** । **फलत्वं** यागादिसत्कर्मफलम् । **इति** इत्थं मीमांसैकदेशिमतम् । **अपास्तं** निराकृतम् । तत्र हेतुमाह—**गङ्गास्नानादौ** गङ्गानिमज्जनादिकर्मणि । **सर्वत्र** । **देवताप्रीतेः** देवविशेषमुदः । **असम्भवात्** अभावात् । न हि सर्वदा स्नानं देवताप्रीतिमुद्दिश्य क्रियत इति । ननु देवता चेतना कथं तस्याः प्रीतिर्न फलमित्याकाङ्क्षायामाह—**देवताया इति** । **देवतायाः** देवविशेषस्य । **चेतनत्वे** चैतन्ययुक्तत्वे । **अपि च** । **तत्प्रीतेः** तस्या देवतायाः प्रीतेर्मुदः । **अनुद्देश्यत्वात्** उद्देश्य-विषयत्वेनाग्रहणात् । **प्रीतेः** मुदः । **सुखस्वरूपत्वेन** सुखात्मकत्वेन । **विष्णुप्रीत्यादौ** विष्णुमुदादौ । **तदसम्भवात्** तस्य सुखात्मकत्वस्य । असम्भवात् । **जन्यसुखादेः** उत्पाद्य-सुखादेः । **तत्र** विष्णौ । **अभावात्** विरहात् । **तेन** यतो हि विष्णौ जन्यसुखत्वं न तेन । **विष्णुप्रीतिजन्यत्वेन** यत्रापि विष्णुप्रीतिजन्यत्वमुल्लिखितमस्ति यथा 'प्रीत्यर्थं तव देवेश दामोदर मया सहे'त्यादौ । तादृशशब्देन । **विष्णुप्रीतिशब्देन** । **पराभिमतस्वर्गादिः** परैरभिमतः स्वर्गादिः । **एव हि** । **लक्ष्यते** लक्षणया उपस्थाप्यत इति ॥ १६२ ॥

हिन्दी—कर्मनाशा के जलस्पर्श आदि (करतोयाविलङ्घन गण्डकीबाहुतरण) से वह धर्म नाश्य माना गया है ।

तो यागध्वंस भी व्यापार न हो, न तो चिरकाल से ध्वस्त याग का निर्व्यापार होने पर कैसे स्वर्ग आदि के प्रति कारणता हो सकती है ? ऐसा कहना ही उचित है, क्योंकि उसमें भी अनन्यथासिद्ध (दूसरे से सिद्ध न होने वाला) नियतपूर्ववर्तित्व ही है । अव्यवहित पूर्ववर्तित्व तो चक्षुःसंयोग आदि के कारणत्व में ही होता है, न कि सभी स्थानों में, जैसे कि समवायिकारण के कारणत्व में कार्यकालवृत्तित्व । इस हेतु कहते हैं—**कर्मनाशेति** । यदि अपूर्व न हो तब कर्मनाशा के जलस्पर्श आदि से धर्म का नाश्यत्व न होता । 'न तो उससे (करतोयाजलस्पर्श आदि से) याग आदि का नाश अथवा प्रतिबन्ध भी किया जा सकता है, क्योंकि वह पहले ही घटित होता है' ऐसा भाव है । इस विवरण से देवताप्रीति ही स्नानादि का फल मानने वाला पक्ष भी खण्डित हो जाता है, क्योंकि गङ्गास्नान में सर्वत्र देवताप्रीति सम्भव नहीं होती । देवता के सचेतन होने पर भी उसकी प्रीति मात्र उद्देश्य नहीं होता । प्रीति के सुख-स्वरूप होने के कारण विष्णुप्रीति आदि में वह (सुखस्वरूप) सम्भव नहीं होता, क्योंकि विष्णु में जन्यसुख आदि का अभाव होता है । इस कारण विष्णु की प्रीति-जन्य के रूप में विष्णुप्रीति शब्द से पराभिमत स्वर्ग आदि ही लक्षणा के द्वारा बतलाया जाता है ॥ १६२ ॥

अधर्मो नरकादीनां हेतुर्निन्दितकर्मजः ।
प्रायश्चित्तादिनाश्योऽसौ—

अधर्म इति । नरकादिसकलदुःखानां नारकीयशरीरादीनाञ्च साधनमधर्म इत्यर्थः । तत्र प्रमाणमाह—प्रायश्चित्तेति । यदि ह्यधर्मो न स्यात्तदा प्रायश्चित्तादिनाश्यत्वं न स्यात् । न हि तेन ब्रह्महननादीनां नाशः प्रतिबन्धो वा विधातुं शक्यते, तस्य पूर्वमेव विनष्टत्वादिति भावः ।

आलोकः—अथ क्रमप्राप्तमधर्मगुणं निरूपयति परममूले—**अधर्म** इति । अधर्मः निन्दितकर्मजः स नरकादीनां हेतुः असौ प्रायश्चित्तादिनाश्यः । इति । **निन्दितकर्मजः** निन्दितं निषिद्धं यत्कर्म तस्माज्जायते उत्पद्यते असौ इति निषिद्धाचरणजन्यः । **अधर्मः** अधर्माख्यगुण इति । नरकशरीरक्षयादिरोगविशिष्टेदानीन्तनशरीरप्रभृतिलभ्यदुःखानामसाधारणनिमित्तकारणमधर्मः । स च शास्त्रनिषिद्धाचरणजन्यो भवतीति । निषिद्धकर्मजन्यस्त्वधर्म इति । **स** अधर्मः । **नरकादीनां** नरको निरय आदिपदात्पीडादीनां ग्रहणं **तेषाम्** । **हेतुः** कारणं भवतीति । **असौ** अधर्मः । **प्रायश्चित्तादिनाश्यः** प्रायश्चित्तादिना पापनाशनव्रतादिना । **नाश्यः** । यथोक्तम्—

'विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् ।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥
तस्मात्तेनेह कर्तव्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये' ॥ इति ।

तथा च—'प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत् ।
कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते' ॥ इति ।

तथा च—'विहितं यदकामानां कामात्तद्द्विगुणं भवेत्' ।
'अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।
कामचारकृतेऽप्याहुरेवं श्रुतिनिदर्शनात्' । इति ॥

कारिकाशयं विवृणोति—**अधर्म** इति । **नरकादिसकलदुःखानां** नरकप्रभृतिसमस्तपीडानाम् । **नारकीयशरीरादीनां** नरकसम्बद्धदेहादीनाम् । **च** । **साधनम्** । **अधर्मः** अधर्माख्यगुण इति । **तत्र** अधर्मे । **प्रमाणम्** । **आह** । **प्रायश्चित्तेति** । **यदि** । **हि** । **अधर्मः** अधर्माख्यगुणः । **न** । **स्यात्** । **तदा** तस्य । **प्रायश्चित्तादिनाश्यत्वं** प्रायश्चित्तादिना विनाश्यत्वम् । **न** । **स्यात्** । **न हि** । **तेन** प्रायश्चित्तादिना । **ब्रह्महननादीनां** ब्रह्महत्याप्रभृतिपापानाम् । **नाशः** । **वा** । **प्रतिबन्धः** निरोधनम् । **विधातुम्** । **शक्यते** । **तस्य** अधर्मकृत्यस्य । **पूर्वं** प्राक् । **एव** हि । **विनष्टत्वात्** प्रणष्टत्वात् । **इति** । **भावः** कारिकांशस्य आशयः ।

हिन्दी—अधर्म निन्दित कर्म से उत्पन्न होता है और वह नरक आदि का निमित्त-कारण होता है, यह अधर्म प्रायश्चित्त आदि से नाश किया जाने वाला होता है ॥

अधर्म इति । 'नरक आदि समस्त दुःखों का एवं नारकीय शरीर आदि का भी साधन अधर्म है' ऐसा आशय है । अधर्म के होने में प्रमाण बतलाते हैं—**प्रायश्चित्तेति** । यदि अधर्म न होता तब उसका प्रायश्चित्त आदि से नाश्यत्व न होता । न तो प्रायश्चित्त से ब्रह्महत्या आदि का नाश अथवा प्रतिबन्ध किया जा सकता है, क्योंकि वह तो पहले ही घटित हुआ होता है, यह आशय है ।

—जीववृत्ती त्विमौ गुणौ ॥ १६३ ॥
इमौ तु वासनाजन्यौ ज्ञानादपि विनश्यतः ।

जीवेति । ईश्वरस्य धर्माधर्माभावादिति भावः । इमौ धर्माधर्मौ । वासनेति । अतो ज्ञानिना कृतेऽपि सुकृतदुष्कृतकर्मणी न फलायालमिति भावः । ज्ञानादपीति । अपिना भोगपरिग्रहः । ननु तत्त्वज्ञानस्य कथं धर्माधर्मनाशकत्वं 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इति वचनविरोधात् । इत्थञ्च तत्त्वज्ञानिनां झटिति कायव्यूहेन सकलकर्मणां भोगेन क्षय इति चेन्न, तत्र भोगस्य वेदबोधितनाशकोपलक्षकत्वात्, कथमन्यथा प्रायश्चित्तादिना कर्मणां नाशः । तदुक्तं —'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' । इत्यादिना । श्रूयते च— 'क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' । इति । ननु तत्त्वज्ञानिनस्तर्हि शरीरावस्थानं सुखदुःखादि च न स्याज्ज्ञानेन सर्वेषां कर्मणां नाशादिति चेन्न, प्रारब्धेतरकर्मणामेव नाशात् । तत्तच्छरीरभोगजनकं हि यत्कर्म तत्प्रारब्धं तदभिप्रायमेव नाभुक्तमिति वचनमिति ।

आलोकः—धर्माधर्मयोः प्रकृतिमाह परममूले—**जीवेति** । इमौ गुणौ तु जीववृत्ती वासनाजन्यौ इमौ तु ज्ञानात् अपि विनश्यतः इति । **इमौ** निरुक्तौ इदमा प्रत्यक्षगतबोधात् धर्माधर्माख्यौ । **गुणौ** । **जीववृत्ती** जीवे आत्मनि वृत्तिर्ययोस्तौ तादृशौ ईश्वरे तदभावादिति । **वासनाजन्यौ** वासना मिथ्याज्ञानजन्योऽसत्संस्कारः तया जन्यौ उत्पाद्यौ वासनात्मकनिमित्तकारणजन्यौ । **इमौ** धर्माधर्मौ । **ज्ञानात्** तत्त्वावबोधात् । **अपि** च । **विनश्यतः** प्रणष्टौ भवत इति । कारिकाशयं विवृणोति मूले—**जीवेति** । **ईश्वरे** परमात्मनि । **धर्माधर्माभावात्** धर्मस्याधर्मस्य च विरहात् । इति । अवच्छेदकतासम्बन्धेन शरीरस्य समवायेन विहितनिषिद्धकर्मणोश्च धर्माधर्मकारणतया ईश्वरे शरीरकर्माभावात् न तत्र धर्माधर्माविति । उक्तञ्च—'नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः । अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' ॥ इति । **इति** इत्थम् । **भावः** आशयः । कारिकायाम् **इमौ** इति **धर्माधर्मौ** । **वासनेति** । **अतः** धर्माधर्मयोर्वासनाजन्यत्वात् । **ज्ञानिनां** तत्त्वदर्शिनाम् । **कृते** । **अपि** च भोगादेश्चेति । **न** । **सुकृतदुष्कृतकर्मणां** सुकृतं पुण्यं दुष्कृतं दुरितं तादृशकर्मणाम् । **न** । **फलाय** फलप्राप्त्यै । **अलं** सामर्थ्यम् । **इति** । **भावः** । **ज्ञानादपीति** । ज्ञानादपि इत्यत्र **अपिना** अपिपदेन । **भोगपरिग्रहः** भोगस्यापि ग्रहणम् । ज्ञानस्य धर्माधर्मनाशकत्वमाशङ्क्य समाधत्ते—**नन्विति** । **ननु** । **तत्त्वज्ञानस्य** परमयथार्थज्ञानस्य । **कथम्** । **धर्माधर्मनाशकत्वं** धर्मस्याधर्मस्य च प्रणाशकत्वम् । तत्र प्रमाणमाह— **नाभुक्तमिति** । **अभुक्तम्** अभोगविषयीकृतम् । **कर्म** । उपार्जितफलम् । **कल्पकोटिशतैः** असङ्ख्यकल्पैः । **अपि** च । **न** । **क्षीयते** प्रणश्यति । **इति** इत्थम् । **वचनविरोधात्** । **इत्थम्** । **च** । **तत्त्वज्ञानिनां** परमतत्त्वद्रष्टॄणाम् । **झटिति** द्रागेव । **कायव्यूहेन** अनेकशरीरस्वीकारेण । **सकलकर्मणां** सर्वविधकर्मणाम् । **भोगेन** भोगद्वारा सुखदुःखात्मकभोगेनेति ।

क्षयः नाशः । **इति । चेत् । न । तत्र** 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' इति वाक्ये । **भोगस्य** भोगपदस्य । **वेदबोधितनाशकोपलक्षकत्वात्** वेदबोधितनाशकहेतूपलक्षकम् । वेदबोधितनाशकात्मकतत्त्वज्ञानप्रायश्चित्तादिकं विना न क्षीयते इत्यर्थादिति । विपर्यये बाधकमाह—**कथमिति । कथम् । अन्यथा** अतथाभावे । **प्रायश्चित्तादिना** दुरितापहारकव्रतादिना । **कर्मणां** दुरितानाम् । **नाशः** । तत्र प्रमाणमाह—**तदिति । तत्** तदेव । **उक्तं** कथितम् । **ज्ञानाग्निरिति** । हे अर्जुन ! **ज्ञानाग्निः** ज्ञानरूपवह्निः । **सर्वकर्माणि** सर्वविधसुकृतदुष्कृतकर्माणि । **भस्मसात् कुरुते** निश्शेषेण दहतीति । **इत्यादिना** इत्यादिवाक्येन । **श्रूयते** आकर्ण्यते । **च । क्षीयन्त** इति । **तस्मिन्** सर्वातिशायिनि । **परावरे** परमरहस्ये । **दृष्टे** अनुभूते । **अस्य** ज्ञानिनः । **सर्वाणि कर्माणि । क्षीयन्ते** । स्वत एव प्रणश्यन्ति । **चेति** । तत्राशङ्क्य समाधत्ते—**नन्विति । ननु । तत्त्वज्ञानिनः** तत्त्वविदः । **तर्हि** तथात्वे । **शरीरावस्थानं** कायग्रहणम् । **सुखदुःखादि** सुखदुःखाद्यनुभवः । **च** अपि । **न । स्यात् । ज्ञानेन** तत्त्वाववबोधेन । **सर्वेषां** निखिलानाम् । **कर्मणां** सुकृतदुष्कृतरूपाणाम् । **नाशात् । इति । चेत् । न** न समीचीनम् । **प्रारब्धेतरकर्मणां** प्रारब्धभिन्नकर्मणाम् । **एव हि** । ज्ञानेनापि । नाशात् । तत्र प्रारब्धमाह—**तत्तदिति । तत्तच्छरीरभोगजनकं** तच्छरीरावच्छेदेन भोगजनकम् । **हि । यत् कर्म । तत्** तदेव । **प्रारब्धं** प्रारब्धपदवाच्यमिति । **तदभिप्रायेण** प्रारब्धकर्माभिप्रायकम् । **एव हि । नाभुक्तम् । इति । वचनम्** । इति । तेन नाभुक्तमित्यत्र कर्मेति प्रारब्धकर्म ज्ञानाग्निरित्यत्र सर्वकर्माणीति प्रारब्धेतरकर्माणि इत्याशयकत्वात् प्रारब्धभिन्नकर्मणां सञ्चितानामेव ज्ञानेन नाशो न तु प्रारब्धस्यापीति भावः ।

हिन्दी—ये दो गुण जीव में रहने वाले हैं । ये दो वासना से जन्य होते हैं और ज्ञान, भोग आदि से नष्ट होते हैं ।

जीवेति । ईश्वर में धर्म एवं अधर्म का अभाव होता है, ऐसा आशय है ॥ १६३ ॥

कारिका में 'इमौ' पद का अर्थ है—धर्म एवं अधर्म । **वासनेति** । इसी कारण ज्ञानी के द्वारा किये गये सुकृत एवं दुष्कृत कर्म भी फल के लिए नहीं होते, ऐसा आशय है । **ज्ञानादपीति** । यहाँ 'अपि' पद से भोग का ग्रहण किया गया है । तत्त्वज्ञान का धर्माधर्मनाशकत्व कैसे होता है, क्योंकि वैसा होने पर 'कोटि-कोटि कल्पों से भी अभुक्त कर्म क्षीण नहीं होता' ऐसे वाक्य से विरोध आ जाता है । इस प्रकार मानने पर भी तत्त्वज्ञानियों का तत्काल ही अनेक कायग्रहण होने से सभी कर्मों का भोग के द्वारा ही नाश होता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें भोग वेदबोधित प्रायश्चित्त आदि से नाशकत्व का सूचक है । नहीं तो प्रायश्चित्त आदि से कर्म का नाश कैसे होता ? कहा भी है—'हे अर्जुन ! ज्ञान रूप अग्नि सभी कर्मों का निश्शेष दहन करता है ।' सुना भी जाता है—'उस परम पद ब्रह्म को देख लेने पर इसके सभी प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते हैं ।' तब तो तत्त्वज्ञानियों के शरीर का अवस्थान एवं सुख-दुःख आदि भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि ज्ञान से सभी कर्मों का नाश होता है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञान से प्रारब्ध से भिन्न कर्मों का ही नाश होता है, प्रारब्ध कर्म का नहीं । उन-उन शरीरों का भोगजनक जो कर्म है, वही प्रारब्ध है । उस प्रारब्ध के अभिप्राय से युक्त है—'नाभुक्तं' यह वचन ।

शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्च मृदङ्गादिभवो ध्वनिः ॥ १६४ ॥
कण्ठसंयोगादिजन्या वर्णास्ते कादयो मताः ।
सर्वः शब्दो नभोवृत्तिः श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्यते ॥ १६५ ॥
वीचीतरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता ।
कदम्बगोलकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते ॥ १६६ ॥
उत्पन्नः को विनष्टः क इति बुद्धेरनित्यता ।
सोऽयं क इति बुद्धिस्तु साजात्यमवलम्बते ॥ १६७ ॥
तदेवौषधमित्यादौ सजातीयेऽपि दर्शनात् ।
तस्मादनित्या एवेति वर्णाः सर्वे मतं हि नः ॥ १६८ ॥

इति प्रत्येकगुणनिरूपणखण्डम् ।

इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यकृता कारिकावली समाप्ता ॥

शब्दं निरूपयति—शब्द इति । नभोवृत्तिराकाशसमवेतः । दूरस्थशब्दस्याग्रहणादाह—श्रोत्रेति । ननु मृदङ्गाद्यवच्छेदेनोत्पन्ने शब्दे श्रोत्रे कथमुत्पत्तिरत आह—वीचीति । आद्यशब्दस्य बहिर्दशदिगवच्छिन्नोऽन्यः शब्दस्तेनैव शब्देन जन्यते । तेन चापरस्तद्व्यापकः । एवं क्रमेण श्रोत्रोत्पन्नो गृह्यत इति । कदम्बेति । आद्यशब्दाद्दशदिक्षु दश शब्दा उत्पद्यन्ते । तैश्चान्ये दश शब्दा उत्पद्यन्त इति भावः । अस्मिन् मते गौरवादुक्तं—कस्यचिन्मत इति । ननु शब्दस्य नित्यत्वादुत्पत्तिकथनमसङ्गतमत आह—उत्पन्न इति । शब्दानामुत्पादविनाशप्रत्ययशालित्वादनित्यत्वमित्यर्थः । ननु स एवायं ककार इत्यादिप्रत्यभिज्ञानाच्छब्दानां नित्यत्वम् । इत्थञ्चोत्पादविनाशबुद्धिर्भ्रमरूपैवेत्यत आह—सोऽयं क इति । साजात्यमिति । तत्र प्रत्यभिज्ञानस्य तत्सजातीयत्वं विषयो न तु तद्व्यक्त्यभेदो विषयः, उक्तप्रतीतिविरोधात् । इत्थञ्च द्वयोरपि प्रतीत्योरभ्रमत्वमिति । ननु सजातीये सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा कुत्र दृष्टेत्यत आह—तदेवेति । यदौषधं मया कृतं तदेवौषधमन्येनापि कृतमित्यादिदर्शनादिति भावः ।१६४-६८।

इति श्रीमहामहोपाध्यायविद्यानिवासभट्टाचार्यसुतश्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचिता न्यायसिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा ।

॥ इत्यन्तिमा मुक्ता ॥

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

आलोकः—अथ क्रमप्राप्तं शब्दगुणं निरूपयति परममूले—**शब्द** इति। **शब्दः** शब्दगुणः। श्रोत्रग्राह्यत्वे सति गुणत्वं शब्दस्य लक्षणम्। श्रोत्रेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयो गुणः शब्दः। स द्विविधः—**ध्वनिः**। **च**। **वर्णः चेति**। तत्र तयोर्मध्ये। **मृदङ्गादिभवः** मृदङ्गप्रभृतिवाद्योत्पन्नः। **ध्वनिः**। मृदङ्गादिवाद्यभवरवः ध्वनिरित्याशयः। ध्वन्यात्मकः शब्दश्च त्रिविधः—संयोगजः, विभागजो शब्दजश्चेति। **कण्ठसंयोगादिजन्याः** कण्ठ-ताल्वोष्ठपुटसंयोगोत्पन्नाः। **ते** स्फुटाः। **कादयः** क-खप्रभृतयः। **वर्णाः**। **मताः**। वर्णोऽपि द्विविधः—संयोगजो वर्णजश्चेति। **सर्वः** निखिलः। **शब्दः**। **नभोवृत्तिः** आकाशसमवेतः। **श्रोत्रोत्पन्नः** श्रोत्रे कर्णविवरे उत्पन्नः जातः। **तु** हि। **गृह्यते** श्रुतिपथमागच्छति इति। **तदुत्पत्तिः** तस्य शब्दस्य उत्पत्तिः। **वीचीतरङ्गन्यायेन** स्वजन्यजन्यादिन्यायेन स्वल्प-तरङ्गो वीचिः, यथा हि वीचितस्तरङ्गोत्पत्तिस्ततश्च तरङ्गान्तरस्य तथैव शब्दः स्व-सन्निहितशब्दान्तरमारभते स च शब्दान्तरमिति। यथाऽऽद्यशब्देन दिक्चतुष्टये एकशब्दो-त्पत्तिः ततश्च शब्दान्तरोत्पत्तिरिति। **मता**। **कस्यचित्** आचार्यस्य। **मते** नये। **तु**। **कदम्बगोलकन्यायात्** यथा गोलाकारकदम्बपुष्पस्य गोलके यथा सर्वावयवेषु युगपत्पुष्पा-णामुत्पत्तिरेवं शब्दस्यापि। आद्यशब्दाद्दशदिक्षु दशशब्दानामुत्पत्तिस्तेभ्योऽप्यन्ये शब्दाः इति। मतेऽस्मिन् गौरवादस्वारस्येन कस्यचिदिति सामान्येन वचनम्। **उत्पत्तिः**। **कः** कवर्णः। **उत्पन्नः** जातः। **कः** कवर्णः। **विनष्टः**। **इति** इत्थम्। **बुद्धेः** मतेः। **अनित्यता** न नित्यत्वमिति। **सः**। **अयं कः** कवर्णः। **इति**। **बुद्धिः** मतिः। **तु** हि। **साजात्यं** सजातीयत्वम्। **अवलम्बते** आश्रयते न तु तद्व्यक्त्यभेदम्। सोऽयं क इति प्रत्यभिज्ञानस्य सजातीयत्वं विषयो न तु तद्व्यक्त्यभेदः। इदं **तत्** मया सेवितपूर्वम्। **एव**। **औषधं** भेषजम्। **इत्यादौ**। **सजातीये** समानजातीये। **अपि च**। **दर्शनात्** प्रत्य-भिज्ञानस्य दर्शनात्। **तस्मात्**। **सर्वे** निखिलाः। **वर्णाः** कादयः। **अनित्याः**। **एव**। **इति**। **नः** अस्माकं नैयायिकानाम्। **मतं** नय इति।

कारिकाविषयमाह मूले—शब्दमिति। **शब्दं** शब्दगुणम्। **निरूपयति** विवृणोति। **शब्द** इति। कारिकायां **नभोवृत्तिरिति** आकाशसमवेतः आकाशे समवायसम्बन्धेन स्थितः। **दूरस्थशब्दस्य** विप्रकृष्टस्थशब्दस्य। **अग्रहणात्** श्रोत्रेणाग्रहणसम्भवात्। **आह**। **श्रोत्रेति**। श्रोत्रे य उत्पद्यते श्रोत्रपर्यन्तं य आगच्छति सः श्रोत्रविवरेण गृह्यत इति। **ननु**। **मृदङ्गाद्यवच्छेदेन** मृदङ्गप्रभृतिसम्बद्धत्वेन। **उत्पन्ने**। **शब्दे**। **कथम्**। **श्रोत्रे** कर्ण-विवरे। **उत्पत्तिः**। **अतः** हेतोः। **आह**। **वीचीति**। वीचीतरङ्गन्यायेनेत्यस्यायमर्थो **यत्**। **आद्यशब्दस्य** प्रथमशब्दस्य **बहिर्दशदिगवच्छिन्नः** दशस्वेव दिक्षु विस्तृतः। **अन्यः** अपरः। **शब्दः**। **तेन**। **एव** हि। **शब्देन**। **जन्यते** उत्पाद्यते। **तेन** तच्छब्देन। **च**। **अपरः** अन्यः। **तद्व्यापकः** ततोऽपि विस्तृतोऽतस्तस्य व्यापकः। **एवं क्रमेण** परम्परया। **श्रोत्रोत्पन्नः** कर्णविवरोत्पन्नः। **गृह्यते**। इति। **कदम्बेति**। कदम्बगोलकन्यायस्यायमेवाशयो यत् **आद्यशब्दात्** प्रथमशब्दात्। **दशदिक्षु**। **दश**। **शब्दाः**। **उत्पद्यन्ते** जायन्ते। **तैः** तादृशैः **शब्दैः**। **च** अपि। **दश**। **शब्दाः**। **उत्पद्यन्ते**। **इति**। **भावः**। **अस्मिन्** निरुक्ते। मते कदम्बगोलकन्यायाख्ये नये। **गौरवात्** एकस्य दश दशानां च प्रत्येकं दश दश इति

बहुत्वाद् गौरवेण । **उक्तम्** । **कस्यचिन्मते** इति । अस्वारस्यादिति । । **ननु शब्दस्य** । **नित्यत्वात्** मीमांसकादीनां मते नित्यत्वेनाभिमतत्वात् । तस्य नित्यस्य । **उत्पत्तिकथनं** शब्द उत्पद्यत इति कथनम् । **असङ्गतम्** अनुपपन्नम् । **अतः** । **आह** । **उत्पन्न** इति । **शब्दानाम्** । उत्पादनविनाशप्रत्ययशालित्वात् उत्पत्तिविनाशज्ञानविषयत्वात् कः उत्पन्नः कः विनष्ट इति । **अनित्यत्वम्** । इति । ननु । **स** मया पूर्वं ज्ञातः । एव हि नान्यः । **अयम्** । **ककारः** । **इत्यादिप्रत्यभिज्ञानात्** इति पूर्वपरिचितस्यैव प्रत्यभिज्ञातः । **शब्दानाम्** । **नित्यत्वम्** । इत्थं तत्प्रत्यभिज्ञानतो हि । **च** अपि । **उत्पादविनाशबुद्धिः** उत्पत्तिप्रणाशमतिः । **भ्रमरूपा** भ्रान्त्यात्मिका । **इति** । **अतः** इत्याशङ्कानिरासाय । **आह** । **सोऽयं कः** इति । **साजात्यमिति** । **तत्र** सोऽयं क इत्यत्र । **प्रत्यभिज्ञानस्य** प्रपरिचयस्य । तत्सजातीयत्वं तस्य पूर्वपरिचितस्य सजातीयत्वं समानजातीयत्वम् । **विषयः** । **न** । **तु** हि । **व्यक्त्यभेदः** कव्यक्तेरभेदः कपार्थक्यमिति । **विषयः** । **उक्तप्रतीतिविरोधात्** । उत्पादविनाशशालिप्रत्ययविरोधात् । इत्थं सोऽयं क इति बुद्धेः सजातीयविषयकत्वे । **च** । **द्वयोः** उत्पादविनाशप्रत्ययस्य प्रत्यभिज्ञानस्य चोभयोः । **अपि च** । **प्रतीत्योः** प्रत्यययोः । **अभ्रमत्वं** यथार्थत्वम् । इति । **ननु** । **सजातीये** सजातीयवस्तुनि । **सः** पूर्वपरिचितः । **अयम्** अयमेव । **इति** इत्थम् । **प्रत्यभिज्ञा** प्रत्यभिज्ञानम् । **कुत्र** । **दृष्टा** । **इति** । **अतः** इत्याशङ्कानिरासाय । आह । **तदेवेति** । यद् यत्प्रकारकम् । **औषधं** भेषजम् । **मया** । **कृतं** विहितं गृहीतमिति । **तत्** । **एव** नान्यत् । **औषधम्** । **अन्येन** अपरेण । **अपि** । **कृतम्** । **इत्यादिदर्शनात्** इत्यादिव्यवहारदर्शनात् । **इति** । **भावः** । इति । सजातीये प्रत्यभिज्ञा सिध्यतीति भावः ।

इति श्रीवत्सगोत्रीयषट्कर्मनिरतपरशुरामात्मजविष्णुमायागर्भजलोकमणिदाहालप्रणीतायां सिद्धान्तमुक्तावलीसहितकारिकावल्याः आलोकाख्यटीकायां गुणप्रकरणखण्डं समाप्तम् ।
समाप्ता चाष्टमी मुक्ता गुणप्रकरणात्मिका ॥

विश्वरूपाय विभवे नीरूपाय महात्मने ।
गुणाश्रयाय नित्याय निर्गुणाय नमो नमः ॥

हिन्दी—शब्द दो प्रकार का होता है—ध्वनि एवं वर्ण । उसमें मृदङ्ग आदि से उत्पन्न शब्द ध्वनि है । कण्ठ, तालु आदि के संयोग से जन्य क, ख आदि वर्ण माने गये हैं । सभी शब्द आकाशसमवेत हैं और उनमें से कान में जो उत्पन्न होता है उसी का श्रवणेन्द्रिय से ग्रहण होता है । शब्द की उत्पत्ति वीचीतरङ्ग न्याय से मानी गई है, किसी के मत में तो कदम्बगोलक न्याय से भी । 'क' उत्पन्न हुआ और 'क' विनष्ट हुआ, ऐसी बुद्धि होने के कारण शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है । 'यह

वही ककार है' ऐसी बुद्धि तो सजातीयता को ही अपना विषय बनाती है, न कि 'क' व्यक्ति के अभेद को। 'यह वही औषध है' इत्यादि में सजातीयत्व में ही प्रत्यभिज्ञा पाई जाती है। इस कारण हमारे (नैयायिकों के) मत में सभी वर्ण अनित्य होते हैं।

शब्द इति। कारिका में नभोवृत्ति का अर्थ आकाशसमवेत अर्थात् आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला है। दूरस्थ शब्द के ग्रहण न हो पानें के कारण कहा गया—**वीची** इति। आद्य शब्द का बाहर दश दिशाओं में अवच्छिन्न दूसरा शब्द उसी शब्द से जनित होता है। उसके द्वारा दूसरा एवं उससे भी व्यापक शब्द होता है। इसी क्रम से श्रोत्र में उत्पन्न का ग्रहण होता है। **कदम्बेति**। आद्य शब्द से दश दिशाओं में दश शब्द उत्पादित होते हैं और उनके द्वारा दश शब्द और उत्पन्न होते हैं, ऐसा भाव है। इस मत में गौरव पड़ने के कारण कहा गया—**'किसी के मत' में**। **उत्पन्न** इति। शब्द के उत्पत्ति एवं विनाश की प्रतीति का विषय होने से अनित्यत्व होता है, ऐसा अर्थ है। 'यह वही ककार है' इत्यादि प्रत्यभिज्ञान से शब्दों का नित्यत्व होता है। इस प्रकार शब्द की उत्पाद एवं विनाश की बुद्धि भ्रमरूप है। इस पर कहते हैं—**सोऽयं क इति**। **साजात्यमिति**। उसमें प्रत्यभिज्ञान का सजातीयत्व विषय है, न कि उसकी व्यक्ति का अभेद। क्योंकि व्यक्त्यभेद विषय होने पर उक्त प्रतीति का विरोध होता है। इस प्रकार उत्पाद-विनाश बुद्धि एवं प्रत्ययभिज्ञान दोनों का ही अभ्रमत्व सिद्ध होता है। तो सजातीय में 'यह वही है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा कहाँ देखी गई है? इस पर कहते हैं—**यदिति**। 'जो औषध मैंने ग्रहण किया वही औषध दूसरे ने भी ग्रहण किया' इत्यादि देखे जाने से, इसका ऐसा आशय है।

गुणनिरूपण प्रकरण समाप्त हुआ।

यह ग्रन्थ समाप्त हो गया।

कारिकाऽनुक्रमणिका

वही ककार है' ऐसी बुद्धि तो सजातीयता को ही अपना विषय बनाती है, न कि 'क' व्यक्ति के अभेद को। 'यह वही औषध है' इत्यादि में सजातीयत्व में ही प्रत्यभिज्ञा पाई जाती है। इस कारण हमारे (नैयायिकों के) मत में सभी वर्ण अनित्य होते हैं।

शब्द इति। कारिका में नभोवृत्ति का अर्थ आकाशसमवेत अर्थात् आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला है। दूरस्थ शब्द के ग्रहण न हो पाने के कारण कहा गया—**वीचो** इति। आद्य शब्द का बाहर दश दिशाओं में अवच्छिन्न दूसरा शब्द उसी शब्द से जनित होता है। उसके द्वारा दूसरा एवं उससे भी व्यापक शब्द होता है। इसी क्रम से श्रोत्र में उत्पन्न का ग्रहण होता है। **कदम्बेति**। आद्य शब्द से दश दिशाओं में दश शब्द उत्पादित होते हैं और उनके द्वारा दश शब्द और उत्पन्न होते हैं, ऐसा भाव है। इस मत में गौरव पड़ने के कारण कहा गया—**'किसी के मत' में**। **उत्पन्न इति**। शब्द के उत्पत्ति एवं विनाश की प्रतीति का विषय होने से अनित्यत्व होता है, ऐसा अर्थ है। 'यह वही ककार है' इत्यादि प्रत्यभिज्ञान से शब्दों का नित्यत्व होता है। इस प्रकार शब्द की उत्पाद एवं विनाश की बुद्धि भ्रमरूप है। इस पर कहते हैं—**सोऽयं क इति**। **साजात्यमिति**। उसमें प्रत्यभिज्ञान का सजातीयत्व विषय है, न कि उसकी व्यक्ति का अभेद। क्योंकि व्यक्त्यभेद विषय होने पर उक्त प्रतीति का विरोध होता है। इस प्रकार उत्पाद-विनाश बुद्धि एवं प्रत्ययभिज्ञान दोनों का ही अभ्रमत्व सिद्ध होता है। तो सजातीय में 'यह वही है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा कहाँ देखी गई है? इस पर कहते हैं—**यदिति**। 'जो औषध मैंने ग्रहण किया वही औषध दूसरे ने भी ग्रहण किया' इत्यादि देखे जाने से, इसका ऐसा आशय है।

गुणनिरूपण प्रकरण समाप्त हुआ।

यह ग्रन्थ समाप्त हो गया।

कारिकाऽनुक्रमणिका